ओ३म

जनवरी से दिसम्बर १९५४

१२ अंक

जनवरी १९४४
पौष सं. २०००

विषयसूची।

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २८९

दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है । द्वितीय भाग छप रहा है ।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह दैवत-संहिता बनवायी गयी है । प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ अग्निदेवता	२४८३	३४६	३) रु.	।॥)
२ इंद्रदेवता	३३६३	३७६	३) रु.	।॥)
३ सोमदेवता	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
४ मरुद्देवता	४६४	७२	१) रु.	॥)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १॥) है ।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं । इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी ।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु. तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें । ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है ।

वेदकी संहिताएं ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

	मूल्य	डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	डा० व्य० १।)
२ यजुर्वेद	२)	,, ,, ॥)
३ सामवेद	३)	डा० व्य० ।॥)
४ अथर्ववेद (द्वितीय संस्करण)	५)	,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १५) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य १८) रु. है । परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १०) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है । इसलिए डाकसे मंगानेवाले १३) तेरह रु० पेशगी भेजें ।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

	मूल्य	डाकव्यय
१ काण्व संहिता (तैयार है)	३)	डा० व्य० ।॥)
२ तैत्तिरीय संहिता	५)	,, ,, १)
३ काठक संहिता (तैयार है)	५)	डा० व्य० १)
४ मैत्रायणी संहिता ,,	५)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, डा. व्य. ३॥।) है अर्थात् २१॥) डा. व्य. समेत है । परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १८) रु० में दी जायंगीं । डाकव्यय माफ होगा ।

- मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २८९

वर्ष २५ : : : : अङ्क १

पौष संवत् २०००

जनवरी १९४४

सूर्यप्रकाशसे रोगजन्तुनाश

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु
निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥

(अथर्व २।३२।१)

' उदय को प्राप्त हुआ सूर्य रोगक्रिमियों का नाश करे, इसी तरह अस्त होनेवाला सूर्य भी रोग-जन्तुओं को नष्ट करे। जो भूमिके ऊपर रोगजन्तु हैं वे सब इस तरह सूर्य-प्रकाशसे नष्ट हों। '

इस प्रकार मनुष्य सूर्य-प्रकाशसे रोगबीजों का नाश करके आरोग्य का संवर्धन करता है।

वेद का नित्य पाठ करो

वेद का नित्य पाठ करने के लिये यह ' दैवतसंहिता ' बनायी है। प्रथम भाग तैयार हो चुका, अब द्वितीय भाग भी तैयार हो रहा है, जिसका यह ' आयुर्वेद-प्रकरण ' एक भाग है। इसका परिचय पढनेसे पाठकों को मालूम होगा कि दैवत-संहिताके नित्यपाठ करनेसे पाठकों को अपने आरोग्य रक्षण के संबंध में कितना लाभ हो सकता है। यदि आप नित्यपाठ करेंगे तो ही आप लाभ उठावेंगे।

' संपादक '

आयुर्वेद-प्रकरण का परिचय

इस अंक में 'आयुर्वेद-प्रकरण' का परिचय दिया है। दैवत-संहिता के द्वितीय विभाग में 'अश्विनौ' देवता के पश्चात् यही आयुर्वेद-प्रकरण आता है। आर्योंके आयुर्वेद का यही मूल है। सोम देवता के मन्त्र दैवत-संहिता के प्रथम विभाग के तृतीय प्रकरण में हैं। द्वितीय विभाग में प्रारंभ में अश्विनौ देवता है। इस देवता में औषधि-प्रयोग तथा शस्त्रक्रिया दोनोंका वर्णन पर्याप्त है। वंध्या गौको दुधारू बनाना, वृद्धको तरुण बनाना, लोहे की टांग लगाकर घायल मनुष्य को ठीक चलने-फिरने योग्य बनाना, आंख दुरुस्त करके दृष्टि देना, दीर्घजीवन देना आदि अनेक वैद्यक विद्या के चमत्कार अश्विदेवों के सूक्तों में पाठक देख सकते हैं।

सोम के मंत्रों में केवल सोमरस के गुणों का पर्याप्त वर्णन है। सोम रस एक उत्तम बलवर्धक, दीर्घायु देनेवाला, आनन्दवर्धक, नीरोगिता देनेवाला उत्तम रस है। वह दूध दही तथा सत्तु के साथ खाया और पीया जाता है। इत्यादि विधान इन सूक्तों में पाठक देख सकते हैं।

सोम और अश्विनौ के मंत्रोंमें नाना प्रकार की चिकित्साएं सूचित हुई हैं। परन्तु प्रत्यक्ष आयुर्वेद का विषय इस प्रकरण में संग्रहित हुआ है। सब आयुर्वेद का यही मूल है। अर्थात् इस मंत्रभाग का विस्तार ही चरक सुश्रुतादि वैद्यक ग्रन्थ है। इस दृष्टिसे यह आयुर्वेद-प्रकरण विशेष मनन करनेयोग्य है।

इस प्रकरण में जैसी औषधि-चिकित्सा है, वैसीहि हवनसे चिकित्सा है, मन्त्र-चिकित्सा है, प्रार्थना से चिकित्सा है, दैवीचिकित्सा, जलचिकित्सा, सूर्यकिरण चिकित्सा आदि नाना प्रकार की चिकित्साएं हैं। मणिधारण से चिकित्सा जो है, वह एक अपूर्व बात है। यह बडा गहन और खोज करनेयोग्य विषय है।

वैदिक समय में मणि-धारण की प्रथा एक विशेष महत्त्व रखती थी ऐसा इन सूक्तों के देखने से प्रतीत होता है। इस की खोज अब विशेष रीतिसे करना योग्य है। आजकल विश्वास से चिकित्सा की जाती है, हस्तस्पर्श से चिकित्सा करने का प्रचार इस समय में बहुत है। ये सभी प्रकार मानस शक्ति की सहायता से चिकित्सा करने के हैं। जिसका सुदृढ विश्वास होता है उसी को इनसे लाभ होता है, अतः विश्वास बढाने के सब उपाय इस चिकित्सा के साधन होते हैं। विश्वासचिकित्सा कोई अन्ध विश्वास की बात नहीं है, यह औषधिचिकित्सा के समान ही प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाली चिकित्सा है, परन्तु इस में मन की सुप्त शक्तिकी सहायता ली जाती है।

कई पाठक मानसचिकित्सा पर विश्वास नहीं रखते, और वह धोखा देना है ऐसा भी कहते हैं। परन्तु ऐसा अविश्वास करनेयोग्य यह विषय नहीं है। मनुष्य का मन बडा प्रभावशाली है, अतः वह शरीर में बिगाड भी करता है और सुधार भी करता है। इस मनकी शक्ति की सहायता से यह चिकित्सा होती है, अतः इसको धोखा कहना युक्तियुक्त नहीं है।

पाठकों के सामने वेद का यह आयुर्वेद है। इन मंत्रोंका अच्छी तरह पाठक मनन करें और इनमें जितने चिकित्साके मार्गों का वर्णन है, उसका अच्छी तरह विचार करें। ये सभी मार्ग मनुष्य के लिये उपयोगी हैं, ऐसा हमारा विश्वास है। जहां तक हमने विचार किया और अनुभव लिया है, वहां तक हमारा विश्वास दृढ हो जाता है कि, इस वैदिक आदेश से ही विश्व का कल्याण होनेवाला है। पाठक विचार करें और लाभ उठावें।

'संपादक'
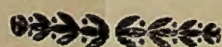
आयुर्वेद-प्रकरण

चारों वेदोंमें आयुर्वेद–विषयक मन्त्र इधर उधर बिखरे हैं। उन सब को इस प्रकरण में इकट्ठा किया है। इन में करीब ७५ ऋषियों के देखे मन्त्र हैं और ये मन्त्र करीब ८२ शीर्षकों में विभक्त हुए हैं। इनका ब्यौरा देखिये–

आयुर्वेद-प्रकरण के ऋषि क्रमानुसार मन्त्र

ऋषि	सूक्तसंख्या	मन्त्रसंख्या
१ अथर्वा	५८	५९८
२ ब्रह्मा	४२	२७२
३ यमः	१३	१६७
४ भृगुः	१०	१४७
५ भृग्वंगिराः	१९	११८
६ शुक्रः	७	७५
(यजुः)	३१	६२
७ गरुत्मान्	७	५९
८ शन्तातिः	१२	५९
९ चातनः	७	४४
१० मृगारः	६	४२
११ विश्वामित्रः (गाथिनः)	६	४१
१२ वसिष्ठः (मैत्रावरुणिः)	१०	४१
१३ बृहस्पतिः	१	३५
१४ मातृणामा	२	३५
१५ प्रस्कण्वः (काण्वः)	८	३३
१६ प्रत्यङ्गिराः	१	३२
१७ अथर्वाङ्गिराः	६	२७
१८ अगस्त्यो (मैत्रावरुणिः)	२	२७
१९ भिषग् (आथर्वणः)	१	२३
२० देवश्रवाः (यामायनः) (मथितश्च)	३	२२
२१ त्रिशिराः (त्वाष्ट्रः) सिन्धुद्वीप (आंबरीषः)	५	२०
२२ उन्मोचनः	२	२०
२३ कवष (ऐलूषः)	१	१५
२४ ऋभुः	२	१४
२५ भरद्वाजो (बार्हस्पत्यः)	१	१४
२६ सविता	१	१४
२७ अंगिराः (प्रचेताः)	४	१४
२८ शंखो (यामायनः)	१	१३
२९ सर्पः (काद्रवेय आर्बुदिः)	१	१४
३० यमो यमी च	१	१४
३१ विवृहा (काश्यपः)	२	१३
३२ बादरायणिः	२	१३
३३ शौनकः	४	११
३४ शुनःशेपः	३	११
३५ अत्रिः (भौमः)	१	१०
३६ सप्तवध्रिः (आत्रेयः)	१	९
३७ भिक्षुः (आंगिरसः)	१	९
३८ मेधातिथिः (काण्वः)	१	८
३९ संकुसुको (यामायनः)	१	८
४० सर्प (ऐरावतो जारत्कर्णः)	१	८
४१ भगः	२	८
४२ वामदेवः	२	८
४३ कुमारो (यामायनः)	१	७
४४ प्रजापतिः	१	७
४५ रक्षोहा	१	६
४६ अंगिराः	१	६
४७ वीतहव्यः	२	६
४८ हविर्धान (आंगिः)	१	५
४९ यक्ष्मनाशनः	१	५
५० शंभुः	१	५
५१ ऋषभो (वैराजः)	१	५
५२ सूर्या (सावित्री)	२	४
५३ द्रविणोदाः	१	४
५४ मनुः (वैवस्वतः)	१	४
५५ ऊर्ध्वग्रावा (आर्बुदिः)	१	४
५६ गृत्समद (आंगिरसः)	२	४

५७ कबंधः	१	४
५८ भागलिः	१	३
५९ जाटिकायनः	१	३
६० बभ्रुपिंगलः	१	३
६१ वरुणः	१	३
६२ कौशिकः	१	३
६३ गोतमो (राहूगणः)	३	३
६४ मधुच्छंदा (वैश्वामित्रः)	१	३
६५ उपरिबभ्रवः	१	३
६६ शिरिंबिठिः	१	२
६७ इन्द्राणी	१	२
६८ प्रजावान् (प्राजापत्यः)	१	२
६९ कौरुपथिः	१	२
७० कक्षीवान् (दैर्घतमसः)	२	२
७१ कण्वो (घौरः)	१	२
७२ कूर्मो (गार्त्समदः)	१	१
७३ वसुक्रः (ऐंद्रः)	१	१
७४ दीर्घतमा (औचथ्यः)	१	१
७५ गार्ग्यः	१	१

आयुर्वेद-प्रकरण के मंत्रों की विषयानुसार गणना

आयुर्वेद-प्रकरण में नानाविषयों के शीर्षकों के नीचे जो मंत्र इकट्ठे किये गये हैं उनकी विषयानुसार गणना इस प्रकार है—

	मंत्र-संख्या
१ दीर्घ-आयुष्य की प्राप्ति	१६०
अरिष्टानि अंगानि	२
सुमंगलौ दन्तौ	३
१ यक्ष्मनाशन	१५०
३ ओषधिवनस्पतयः	७७
अन्न	३
सोम	४
वनस्पतिसूर्यगावः	३
वनस्पतयः	२
अपामार्ग	२७
अरुंधती	३
कुष्ठ औषधि	३
कुष्ठनाशनी	२०
पिप्पली	३
पृश्निपर्णी	८
रोहिणी	८
लक्षा	९
केशवर्धनी	९
अक्षिरोगनाशनी	४
मधुवनस्पति	५
रामायणी	१
अजशृंगी	१२
४ पापनाशनं	१२८
आस्रावभेषजं	६
रक्तस्रावनिवृत्तये धमनीबंधनं	४
निर्ऋतिनाशनं	४
हृद्रोग-कामिला-नाशनं	४
कासनाशनं (बलासनाशनं)	६
क्लीबत्वनाशनं	५
सौभाग्यवर्धनं	५
सपत्नीबाधनं	७
ज्वरनाशनं (तक्मनाशनं)	१८
गण्डमाला-चिकित्सा	१०
श्वेतकुष्टनाशनं	८
रोगात् उन्मोचनं	३
रोगनिवारणं	२५
स्वापनं	७
मूत्रमोचनं	९
सूर्यः	३
५ इषुनिष्कासनं	३
६ अञ्जनं	३३
ईर्ष्याविनाशनं	४
उन्मत्ततामोचनं	४
७ विषनाशनं	८६

आयुर्वेद-प्रकरण के २३३५ मन्त्रों यह ब्यौरा है। यहां यज्ञ-प्रकरण के अत्यावश्यक मन्त्र ही लिये हैं। यज्ञके विषय में कहा है—

ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते।
ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते॥
(गो. ब्रा. उ. १।१९; कौ. ब्रा. ५।१)

अर्थात् ऋतु के संधिकाल में व्याधियां उत्पन्न होती हैं, अतः उनके शमन के लिये यज्ञ किये जाते हैं। यह प्रक्रिया वैदिक ग्रन्थों में दीखती है। इस प्रक्रिया के अनुसार यज्ञ-विषयक जितने मन्त्र लेनेकी आवश्यकता थी, उतने ही मन्त्र यहां लिये हैं। यज्ञ-प्रकरण के अन्य मन्त्र और अन्य यज्ञविधि का मन्त्र-संग्रह अन्यत्र किया जायगा।

दीर्घ आयु की प्राप्तिके मन्त्र यहां सबसे प्रथम दिये हैं। क्योंकि आयुर्वेद की उत्पत्ति इसी इच्छा से ही हुई है। दीर्घ आयु का उपभोग करने की प्रबल इच्छा प्रत्येक मानव में रहती है और यही इच्छा आयुर्वेद की उत्पत्ति और उन्नति करती रहती है।

दीर्घ आयु की इच्छा का घात करनेवाला यक्ष्म है। यक्ष्म का अर्थ नाना प्रकार के क्षयरोग हैं। मुख्य यक्ष्म का नाम क्षयरोग है, परन्तु सभी रोग क्षय उत्पन्न करते हैं, इसलिये गौण दृष्टि से सभी रोग यक्ष्म ही कहलाते हैं। दीर्घ आयु चाहिये, तो यक्ष्म का दूर करना अत्यावश्यक ही है।

इसी कार्य के लिये नाना प्रकार की औषधियों की खोज हो गयी। वेद में जो औषधियां मिलती हैं, वे सोम, अपामार्ग, अरुंधती, कुष्ट, पिप्पली, पृश्निपर्णी, रोहिणी, लाक्षा, केशवर्धनी, मधुला, रामायणी, अजशृंगी इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त यज्ञप्रकरण में ऋषभ, तारके, वचः आदि भी औषधियां मिलती हैं। इन औषधियों के वर्णन पाठक इन सूक्तों में देख सकते हैं। ये वर्णन पढने से निश्चयपूर्वक हम कह सकते हैं कि इन औषधियों का अनुभव इस समय हो चुका था।

औषधिवनस्पतियोंके विषयमें ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्नलिखित प्रकार वर्णन मिलते हैं—

ब्राह्मणग्रंथोंमें औषधिवनस्पतियाँ ।

१ ओषं धयेति तत ओषधयः समभवंस्तस्मा-दोषधयो नाम । (श. ब्रा. २।२।४।५)

२ प्रजापतेर्विस्रस्तस्य यानि लोमानि अशीयन्त, ता इमा ओषधयोऽभवन् । (श. ७।४।२।११)

३ द्वय्यो वा ओषधयः पुष्पेभ्यो अन्याः फलं गृह्णंति । मूलेभ्योऽन्या ॥ (तै. ब्रा. ३।८।१७।४)

४ उभय्यो (ओषधयो) ऽस्मै स्वादिताः पच्यन्तेऽकृष्टपच्याश्च कृष्टपच्याश्च । (तां. ब्रा. ६।९।९)

५ ततोऽसुरा उभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति, याश्च पशवः...ते (देवा) होचुर्हन्तेदमासां (ओषधीनां अपजिघांसामेति केनेति यज्ञेनैवेति । (श. २।४।३।२-३)

६ एतद्धैतासां (ओषधीनां) समृद्धं रूपं यत्पुष्पवत्यः सुपिप्पलाः । (श. ब्रा. ६।४।४।१७)

७ पशूनां ओषधयः, ओषधीनां आपः । (जै. उ. १।५९।१४)

८ आपो ह वा ओषधीनां रसः । (श. ३।६।१।७)

९ अपां ओषधः, ओषधीनां पुष्पाणि, पुष्पाणां फलानि (रसः) । (श. १४।९।४।१)

१० तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्ति, ओषधय उ हापां रसः । (श. ३।६।१।७)

११ एष ह वै सर्वासामोषधीनां रसो यत्पयः । (कौ. ब्रा. २।१)

१२ तस्माद्दक्षिणतो अग्र ओषधयः पच्यमाना आयन्ति, आग्नेय्यो ह्यौषधयः । (ऐ. ब्रा. १।७)

१३ अग्नेर्वा एषा तनूः, यदोषधयः । (तै. ब्रा. ३।२।५।७)

१४ यदुग्रो देव ओषधयो वनस्पतयः । (कौ. ब्रा. ६।५)

१५ ओषधयो वै पशुपतिः, तस्माद्यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयंति । (श. ६।१।३।१२)

१६ ओषधयो वै मुदः । ओषधीभिर्हीदं सर्वं मोदते । (श. ९।४।१।७)

१७ ओषधयः खलु वाजः । (तै. ब्रा. १।३।७।१)

१८ ओषधयो मधुमतीः । (तै. ३।२।८।२)

१९ रसो वा एष ओषधिवनस्पतिषु यन्मधु । (श. ११।५।४।१८)

२० सौम्या ओषधयः । (श. १२।१।१।२)

२१ सोम ओषधीनामधिराजः । (गो. ब्रा. उ. १।१७)

२२ सोमो वै राजौषधीनाम् । (कौ. ४।१२; तै. ३।९।१७।१)

२३ या ओषधीः सोमराज्ञीः । (मं. ब्रा. २।८।३,४)

२४ औषधो हि सोमो राजो । (ऐ. ब्रा. ३।४०)

२५ विष्णोरध्योषधीरसृज्यत । (तै. २।३।२।४)

२६ ओषधिलोको वै पितरः । (श. १३।८।१।२०)

२७ जगत्य ओषधयः । (श. १।२।२।३)

२८ सप्त ग्राम्या ओषधयः सप्तारण्याः । (तै. १।३।८।१)

२९ वर्षवृद्धा वा ओषधयः । (तै. ३।२।२।५; ३।२।५।१०)

३० ओषधयो वै देवानां पत्न्यः । (श. ६।५।४।४)

३१ तस्मात् शरदं ओषधयोऽभिषिच्यन्ते । (तां. ब्रा. २१।१५।३)

३२ शरदि हि खलु वै भूयिष्ठा ओषधयः पच्यन्ते । (जै. उ. १।३५।५)

३३ सेनान्यं वा एतदोषधीनां यद्यवाः । (ऐ. ८।२६)

३४ साम्राज्यं वा एतदोषधीनां यन्महाव्रीहयः । (ऐ. ८।१६)

३५ ओषधीवनस्पतयो मे लोमसु श्रिताः । (तै. ३।१०।८।७)

३६ वनस्पतयो वै द्रु । (तै. ब्रा. १।३।९।१)

३७ भौज्यं वा एतद्वनस्पतीनां (यदुदुम्बरः) (ऐं. ब्रा. ७।३२; ८।१६)

३८ अथो सर्वे एते वनस्पतयो यदुदुम्बरः । (श. ७।५।१।१५)

३९ तेजो ह वा एतद्वनस्पतीनां यद्बाह्या शकलः, तस्माद्यदा बाह्याशकलमपतक्ष्णुवन्त्यथ शुष्यन्ति।
(श. ३।७।१।८)

४० वनस्पतयो हि यज्ञिया, न हि मनुष्या यजेरन् यद्वनस्पतयो न स्युः। (श. ३।२।२।९)

४१ अग्निर्वै वनस्पतिः (कौ. ब्रा १०।६)

४२ प्राणो वनस्पतिः। (कौ. १२।७)

४३ स (वनस्पतिः) उ वै पयोभाजनः।
(कौ. १०।६)

४३ यद् भेषजं तदमृतम्। (गो. पू. ३।४)

४४ शान्तिर्वै भेषजमापः।
(कौ. ३।६,७,८,९। गो. उ. १।२५)

ये ओषधिवनस्पतियोंके संबन्ध में ब्राह्मणग्रंथोंके वचन हैं, अब इस आयुर्वेद-प्रकरण में आयुके सम्बन्ध के ब्राह्मण-वचन देखने योग्य हैं, वे ये हैं—

१ वरुण एव आयुः। (श. ४।१।४।१०)

२ अग्निर्वा आयुः। (श. ६।७।३।७; ७।२।१।१५)

३ अग्निर्वा आयुष्मानायुष ईष्टे। (श. १३।८।४।८)

४ संवत्सर आयुः। (श. ४।१।४।१०; ४।२।४।४)

५ यज्ञो वा आयुः। (तां. ६।४।४)

६ असौ लोकः (= द्युलोकः) आयुः। (ऐ. ४।१५)

७ असावुत्तमः (लोकः) आयुः। (तां. ४।१।७)

८ अन्नमु वा आयुः। (श. ९।२।३।१६)

९ आयुर्वा उद्गाता। आयुः क्षत्तसंगृहीतारः।
(तै. ३।८।५।४)

१० प्राणो वा आयुः। (ऐ. २।३८)

११ यो वै प्राणः स आयुः। (श. ५।२।४।१०)

१२ आयुर्वा उष्णिक्। (ऐ. १।५)

१३ स यो हैवं विद्वान् सायंप्रातराशी भवति, सर्वं हैवायुरेति। (श. २।४।२।६)

१४ य एवं विद्वान्, स्यात् न मृण्मये भुञ्जीत। तथा हास्य आयुर्न रिष्येत तेजश्च। (आर्षेय ब्रा. १।१)

१५ आयुर्वै दीर्घम्। (तां. १३।११।१२)

आयु के सम्बन्ध में ये वचन ब्राह्मण ग्रंथोंमें हैं। अब औषधियोंके नामनिर्देश से जो वचन ब्राह्मण ग्रन्थों में आते हैं, उन्हें देखिये—

अपामार्ग औषधि।

१ अपामार्गैरपमृज्यते। (श. १३।८।४।४)

२ अपामार्गहोमं जुहोति। अपामार्गैर्वै देवा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षांसि अपामृजत, ते व्यजयन्त।
(श. ५।२।४।१४)

३ यदपामार्ग होमो भवति, रक्षसामपहत्यै।
(तै. १।७।१।८)

४ प्राचीनफलो वा अपामार्गः।
(श. ५।२।४।२)

रोहिणी।

१ तत ऊर्ध्वाऽरोहत्। सा रोहिण्यभवत्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्। (तै. १।१।१०।६)

२ ततो वै ते सर्वान्रोहानरोहन् तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्। (तै. १।१।२।२)

इस आयुर्वेद-प्रकरण के कुछ विषयों के विषय में ब्राह्मण वचन ये हैं। ये आयुर्वेद-प्रकरण की बातें विशेषसी खोलते नहीं हैं। इनका आशय प्रायः स्पष्ट है, अतः इन सब का अर्थ यहां देनेकी आवश्यकता नहीं है। अब आयुर्वेद-प्रकरण में आए अनेक विषयों के सम्बन्ध में थोडासा वर्णन करके परिचय कराना आवश्यक प्रतीत होता है—

दीर्घ आयुष्य।

सब से प्रथम 'दीर्घायुष्य' का प्रकरण है, इसमें करीब १६० मन्त्र हैं। इनमें दीर्घायुष्य की कामना मुख्य विषय है। पहिले ही सूक्त में 'मन्यु' अर्थात् क्रोध आदि मनोविकार आयु की क्षीणता करते हैं, उन से बचने की सूचना मुख्य है। द्वितीय सूक्त में बोध प्रतिबोध (ज्ञान-विज्ञान), निद्रा और जाग्रति, ये सब मनुष्य को सुरक्षित रखें ऐसा कहा है, वह बडे महत्त्व का विषय है। क्योंकि मनुष्य का ज्ञान ही उस को ऐसे फंदे में फंसाता है कि जो उसकी आयु क्षीण करता है। अतः मानव का ज्ञान तथा व्यवसाय उस की आयु क्षीण न करें। यह सूचना बडी महत्त्वपूर्ण है।

पञ्चम सूक्त में 'दाक्षायण सुवर्ण' आयुष्य बढानेवाला है, ऐसा कहा है। इस सुवर्ण की सिद्धता किस तरह करना चाहिये, यह एक बडा महत्त्वपूर्ण खोज का विषय है। आर्य वैद्यक में सुवर्ण विषघ्न है और हृदय का बल बढाता

है ऐसा कहा है। इस से सुवर्ण दीर्घायु देनेवाला है, ऐसा हम अनुमान कर सकते हैं। निःसंदेह दीर्घायु देनेवाले धातुओं में सुवर्ण की प्रमुखता से गणना हो सकती है।

सप्तम सूक्त में जंगिडमणि के धारण से दीर्घायु की प्राप्ति होने का वर्णन है। यह अरण्य से लाया और कृषिके रसों से बना मणि है (मं. ५)। इस का विचार करके इस का प्रयोग सिद्ध करना चाहिये।

अष्टम सूक्त में हवन से दीर्घ जीवन का विषय पाठक देख सकते हैं। हवन से राजयक्ष्मा, ज्वर तथा अन्यान्य रोग दूर हो जाते हैं। घृतके हवन से वायुकी शुद्धता होती और वहां के रोगबीज दूर होते हैं। नाना प्रकार की ओष-धियों के हवन करने से उन के सूक्ष्म अणु नासिका मुख आदि स्थान से शरीर में जाते, और वहां बडा प्रभाव करते तथा मानव की नीरोगता सिद्ध करते हैं। हवन से जैसे रोग दूर होते हैं वैसे बुरे पदार्थों के हवन से रोग उत्पन्न भी होते हैं। चरक ग्रन्थ में अतिसार-चिकित्सा में कहा है कि गौका मेध करने की प्रथा पृषध्र राजाने अपनी इच्छा से शुरू की, पहिले नहीं थी। उस यज्ञ से 'अतिसार' की उत्पत्ति हुई। वह अतिसार रोग अब तक जनता को सता रहा है। पृषध्रराजा के पूर्व गोमेध नहीं था, अतः अतिसार भी नहीं था। यह उस कथा का तात्पर्य है। बुरे यज्ञों का यह कुप्रभाव है। शत्रु के राज्यों में ऐसे कुयज्ञ करके नाना प्रकार के रोगों का फैलाव शत्रु देशोंमें करने के भी विधान कई ग्रन्थों में हैं। ये बुरे यज्ञ हैं, इसी तरह अच्छे यज्ञ करने से जनता को आरोग्य प्राप्त होकर उनकी दीर्घायुता भी सिद्ध हो सकती है। यह बडा शास्त्र है और खोज करने योग्य यह विषय है।

नवम सूक्त में 'दशवृक्ष' का वर्णन है। ये दशवृक्ष नाम से दस वनस्पतियां हैं; जो दीर्घकालीन रोग को दूर करती हैं और मानव को दीर्घजीवी बना देती हैं।

तेरहवें सूक्त में अंगस्थ ज्वरों का वर्णन है। इस सूक्त में विशेषतः रोगी मनुष्य के मनको विश्वास दिलाकर आरोग्य-प्राप्ति में सहायता करने का विधान है। 'हे रोगी मानव! ज्ञान विज्ञान तथा निद्रा और जाग्रति ये सब तेरे प्राणों की रक्षा कर रहे हैं। यह अग्नि (यहां हवन कुण्ड में) जल रहा है, यह सूर्य उदय को प्राप्त हो रहा है। ये तेरी रक्षा करें, इनकी सहायता से तू गंभीर मृत्यु से अब ऊपर उठा है, (अब तेरी मृत्यु नहीं होगी;) (मन्त्र १०-११)' इस तरह रोगी को विश्वास दिलाया जाता है। इस मन्त्रपर दृढ विश्वास रखनेवाला रोगी इस से लाभ उठा सकता है।

पंध्रहवें सूक्त में 'सौ वर्षों से भी अधिक जीवन' की इच्छा धारण करने की सूचना है। इस पृथ्वीपर मनुष्य सौ वर्षोंसे भी अधिक जीवित रहे, यह वैदिक विचारधारा थी। आगे पच्चीसवें सूक्त तक सूक्तों में दीर्घायुष्यप्राप्ति के प्रार्थना समेत अनेक उपयोगी निर्देश हैं। विशेषकर चोवीसवें सूक्त में उत्तम अवयवों की धारण और पच्चीसवें सूक्तमें उत्तम स्वच्छ दांतों का होना दीर्घायु के लिये अत्यंत आवश्यक है ऐसा जो कहा है, वह विशेष रीतिसे द्रष्टव्य है। दांत बिग-डनेसे शरीर का स्वास्थ्य बिगडता है और उसके बिगडनेसे आयुष्य का नाश होता है। इस तरह इन सूक्तों में जो उप-युक्त निर्देश हैं, उन का विचार पाठकों को करना चाहिये।

यक्ष्म-नाशन।

यक्ष्म-नाशन इस आयुर्वेद-प्रकरण का दूसरा विभाग है। इस में करीब करीब डेढ सौ मन्त्र हैं। छब्बीसवें सूक्तसे इस प्रकरण का प्रारंभ होता है। छब्बीसवें सूक्तमें शरीर के नाना अवयवों का उल्लेख करके प्रत्येक अवयव से यक्ष्मरोग दूर करने का विषय है। मानस-चिकित्सा का यह सूक्त दीखता है। चिकित्सक रोगी को विश्वास दिलाता है कि, इस प्रयोग से तेरा यक्ष्मरोग निःसन्देह दूर होगा और तू निर्दोष होगा। इस सूक्त से यह बात सिद्धसी दीखती है कि यक्ष्मरोग शरीरके प्रत्येक अवयवमें हो सकता है और उसको वहां से हटाना चाहिये। इस सूक्त का '**अङ्गादङ्गा-ल्लोम्नो लोम्नो०**' यह मन्त्र अंतिम है, वह मन्त्र प्राचीन काल से मृत्तिकास्नान के समय बोलने की परिपाठी महा-राष्ट्र में तथा दक्षिण भारत में श्रावणी पर्व के समय है। अच्छी स्वच्छ मिट्टी जिस में खाद आदि कुछ भी मिला नहीं, ऐसी शुद्ध मृत्तिका जल में मिलाकर शरीरपर लगायी जाती है और शरीरपर लेप देकर कुछ देरके बाद स्वच्छ जल से स्नान किया जाता है। इस मिट्टी में खाद मूत अथवा कंकर आदि कुछ भी नहीं रहना चाहिये। यह मिट्टी स्वच्छ शुद्ध मलरहित मक्खन जैसी मृदु रहनी चाहिये। खादवाली मिट्टी हानिकारक होती है। खेत की मिट्टी लेनी

हो तो, तो एक हाथ के नीचे की लेनी उचित है। अन्यथा जहां खेती नहीं होती, वहां से शुद्ध मिट्टी ली जाय तो वह इस प्रयोग के लिये अच्छी है। मिट्टी के प्रयोग से नाना रोगबीज शरीरसे दूर हो जाते हैं। अन्तिम मन्त्रका उपयोग मिट्टी शरीरपर मलने के लिये करते हैं। इस से हम अनु-मान कर रहे हैं कि यह सब सूक्त मृत्तिका से यक्ष्म-दोष हटाने के लिये होना संभव है। पाठक इस का अधिक विचार करें।

आगे का सताईसवां सूक्त भी इसी दृष्टि से विचार करने योग्य है। इस सूक्त का अन्तिम ग्यारहवाँ मन्त्र पर्जन्य की वृष्टि से प्राप्त जल का उपयोग करके अ-मृत अर्थात् नीरोग बनने के कार्य के लिये स्पष्ट है। सब पाप, सब यक्ष्म और सब प्रकार के मरणकारक रोग-बीज वृष्टिजल के प्रयोग से दूर होते हैं। पर्जन्य के पहिले नक्षत्रों की वृष्टि होनेके पश्चात्, उस वृष्टि से वायु पवित्र होनेके पश्चात् की वृष्टि का जल लेना उचित है। प्रायः हस्त, चित्रा, स्वाती नक्षत्रों की वृष्टि का जल लेकर घडे भरकर घरमें अच्छी तरह बंद करके रख देनेसे, यह वृष्टि-जल सालभर इस प्रयोग के लिये मिलता रहता है। ख्याल इस बात का रखना चाहिये कि प्रथम वृष्टि होकर शुद्ध वायु में जो वृष्टि होगी, उसी का जल लेना चाहिये। नहीं तो वायु के दोष जल में आवेंगे और वैसे जल का परिणाम ठीक नहीं निकलेगा। यह जल पीनेसे भी अंदर की शुद्धता होती है। उपवास या लंघन में यह वृष्टि-जल पीनेसे बहुत ही लाभ होते हैं। वृष्टि का जल घडों में भर कर रख देना और सालभर पीनेके लिये बर्तना, इससे लाभ होगा, परन्तु अच्छी युक्ति से जल लेना चाहिये।

अठाईसवें सूक्त में तक्मा नामक ज्वर का उल्लेख है। जिस ज्वर में बडी रूक्षता होती है, वह तक्मा ज्वर है। इस ज्वर से कामिला (हरिमा) होती है, पण्डुरोग का यह एक प्रकार है। इस रोग के निवारण के लिये कई औषधियाँ हो सकती हैं। रक्त की क्षीणता करनेवाला यह ज्वर है। यह ज्वर (अ-व्रत) नियमरहित व्यवहार करनेवाले को अधिक कष्ट देता है। पाठक इस सूचना का विचार अवश्य करें।

उनत्तीसवें सूक्त में ' वृत्र ' नाम आता है। पसीना न छोडनेवाला यह ज्वर है। जिसमें ज्वर आता है, पर पसीना नहीं आता, इस तरह के ज्वर को दूर करने के लिये अग्नि का ही प्रयोग कहा है। (वृत्रः आपः तस्तंभ) वृत्र जल-प्रवाह को रोकता है, वैसा यह ज्वर पसीने को रोकता है, इस कारण रोगी ज्वरमुक्त नहीं होता। इस यक्ष्म को दूर करने के लिये (वैश्वानरेण अग्निना वारये) वैश्वानर अग्नि का प्रयोग कहा है। इस प्रयोग का पता हमें अभी तक लगा नहीं, परन्तु भांप से शरीर को सेक देकर पसीना निकालने का यह प्रयोग होगा। द्वितीय मन्त्र में (वाचा यक्ष्मं वारयामहे) मन्त्र-प्रयोग से रोग दूर करने का भी विधान है।

आगे के तीसवें सूक्तमें रक्तयुक्त कफमिश्रित खांसी अर्थात् कफक्षय-नामक रोगों का उल्लेख है। इसमें (पिशितं) रक्त-दोष, (हृदयामय) हृदय का रोग इसी तरह अन्यान्य रोगों का उल्लेख है। (वेदाहं तस्य भेषजं) उन रोगों की दवा मैं जानता हूं, ऐसा भी यहां कहा है। मन्त्रों का विचार करके विशेष खोजपूर्वक इस सूक्त के प्रत्येक पद का विचार करना उचित है। तब रोगनिवृत्ति के उपाय का पता लगना संभव है।

इकत्तीसवें सूक्त में हवन-चिकित्सा दीखती है। बत्तीसवें सूक्त में हरिण के सिर में उगनेवाले सींगसे रोगविशेष की चिकित्सा लिखी है। आजकल सिर की गर्मी हटानेके लिये सिर पर हरिण के सींग को पत्थर पर घिसकर उससे उत्पन्न विलेपन का लेप करते हैं। इससे सिर की गर्मी हटती है, मस्तक शान्त होता है। चतुर्थ मन्त्र में ' तारके ' नामकी दो औषधियाँ कहीं हैं।

' तारके ' नामक दो औषधियां इकट्ठी सेवन की जाती हैं। इस के नंतर जल को सब रोग निवारण करनेवाला बताया है। क्षेत्रिय रोग अर्थात् वंशपरंपरासे प्राप्त रोग और इसी शरीर में उत्पन्न ऐसे दोनों प्रकार के रोगों को हटाने के लिये जल उपयोगी है। इस तरह जल-चिकित्सा का वर्णन यहां है। अगले (३३ वें) सूक्त में भी जल का वर्णन बडे प्रभावी शब्दों से किया है।

तैंतीसवें सूक्त में अष्टायोग और षड्योग से उत्पन्न यव का उपयोग लिखा है। अष्टायोग और षड्योग का आज समझा जानेवाला अर्थ आठ बैल जोतने योग्य और छः बैल जोतने योग्य हल से उत्पन्न जव। परन्तु यदि वैद्यकीय

परिभाषा ली जाय, तो आठ अथवा छः वनस्पतियों के योग से सिद्ध किया औषध। इस विषय में निश्चय वैद्यों को विचारपूर्वक करना चाहिये।

चौतीसवें सूक्त में सुगंधवाली गुल्गुलु औषधिका वर्णन है। अरुंधति, गुल्गुलु आदि औषधियों के प्रयोगसे चिकित्सा होती है। अरिष्टताति अर्थात् नीरोगता की वृद्धि करने के ये उपाय इस सूक्तमें हैं।

पैंतीसवें सूक्त में हवन-चिकित्सा से यक्ष्म, राजयक्ष्म, पुराना रोग आदि सब दूर होते हैं, ऐसा कहा है। मृत्युके पाश से मुक्त करके रोगी को शतायुषी करता हूं, ऐसा निश्चयपूर्वक यहां कहा है। हवन-चिकित्साका विचार करने के समय यह सूक्त अधिक विचार करने योग्य है। पुनः नवीन शरीर देने का अर्थात् मृत्यु से पुनरुत्थान होने का यहां का वर्णन देखने योग्य है।

छत्तीसवें सूक्त में शरीर के प्रत्येक अंगसे रोग को दूर करने का उल्लेख है। छब्बीसवें सूक्तके साथ इस छत्तीसवें सूक्त का विचार करना योग्य है। ये दोनों सूक्त कुछ पाठ-भेद के साथ एक जैसे ही हैं। एक ऋग्वेद का है, दूसरा अथर्व का है। अथर्ववेद के सूक्त में एक मन्त्र अधिक है और पदोंके क्रम में पर्याप्त भिन्नता है। अतः पाठक इन दो सूक्तों का विचार इकठ्ठा करें। आगे उनचालीसवां सूक्त भी यहीं से पुनरुक्त हुआ है। केवल ऋषि की और देवताकी भिन्नता है। इस सूक्त की चन्द्रमा देवता सर्वानुक्रमणीकार देते हैं। मन्त्रों से वह देवता हमें प्रतीत नहीं होती। तथापि भिन्न देवता और भिन्न ऋषि होने से ही केवल यह सूक्त यहां पुनः लिया है। हमारे विचार से इस का देवता केवल यक्ष्मनाशन ही है। चन्द्रमा का कोई सम्बन्ध हमें यहां प्रतीत नहीं होता। परन्तु अथर्ववेद की बृहत्सर्वानुक्रमणी में जहां तहां 'चन्द्रमा' देवता लिखी मिलती है। कदाचित् कोई अपूर्वता उस में हो, ऐसी कल्पना करके यहां देवता-भेद के कारण यह सूक्त पुनः लिया है। वास्तव में इसके यहां पुनः लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। विद्वान् पाठक इस का विचार करें।

सैंतीस और अठत्तीस ये दो सूक्त नाना प्रकार के शरीरस्थ रोग दूर करने के लिये हैं। मृत्यु से पुनर्जीवन प्राप्त होनेतक वर्णन यहां पाठक देख सकते हैं। अठ्तीसवें सूक्त में सिरकी पीडा का विशेष वर्णन देखने योग्य है।

इस तरह यह यक्ष्मनाशन विभाग यहां समाप्त होता है। शरीरसे यक्ष्म दूर होने से दीर्घ जीवन मिलता है, यह इस प्रकरण का पूर्व प्रकरण से सम्बन्ध है। अब रोग दूर करने के लिये औषधियों का उपयोग करने के विषय में तीसरा विभाग है, उसे अब देखिये—

औषधि वनस्पतियाँ

चालीसवें सूक्तसे करीब दो सौ मन्त्र औषधिवनस्पतियों के हैं। चालीसवाँ और इक्यालीसवाँ दोनों सूक्त सामान्यतः सर्वसाधारण औषधियों का वर्णन करने के लिये हैं। पहिला सूक्त ऋग्वेद का है और दूसरा अथर्ववेद का है। जिनके पास औषधियां सिद्ध रहती हैं उसको भिषक् कहते हैं (मं. ६), वह वैद्य रोगबीजरूप राक्षसों का नाश करता है और आमसे उत्पन्न सब रोगोंको दूर करता है। इस मंत्र में 'रक्षः' पद रोगक्रिमियों का वाचक है। रक्षः, राक्षस ये पद रोगजन्तुओं के लिये वेद में आते हैं। मन्त्र २२ में ओषधियों की प्रतिज्ञा लिखी है, वह यह है कि जिस रोगी को औषधियाँ दी जाती हैं, वह रोगमुक्त हो जाता है, निःसन्देह आरोग्य प्राप्त करता है।

इकतालीसवें सूक्त में अंशुमती, जीवला, काण्डिनी आदि-कोंका उल्लेख है। गौओं के तथा मनुष्यों के रोग औषधियों से दूर होते हैं, ऐसा भी १५ वें मन्त्र में कहा है। पशु-चिकित्सा का इस तरह यहां मूल है। यमके पाश से रोगी को मुक्त करने की प्रतिज्ञा औषधियां करती हैं, यह विषय इस सूक्त के अन्त में पाठक देख सकते हैं।

छियालीसवें सूक्त में अन्न का विषय है। अन्नसे बल और बलवीर्य से वीर संतान उत्पन्न होनेका विषय इस सूक्त में देखनेयोग्य है। आगे सूक्त ५५ तक वनस्पतियों का ही सर्व सामान्य वर्णन है। किसी विशेष वनस्पति का वर्णन नहीं है, तथापि सर्वसाधारणतः वनस्पतियों के प्रभाव का वर्णन यहां है।

छप्पनवें सूक्तसे उनसाठ सूक्त तकके चार सूक्तोंमें अपामार्ग वनस्पति का वर्णन है। इस को औषधियों में मुख्य कहा है। हजारहां दवाइयां इस से बनती हैं। अनेक रोगोंपर उन का उपयोग होता है। क्षुधा की न्यूनता, तृष्णाके कष्ट,

पुत्र न होना इन सब दोषोंपर इस औषधि का प्रयोग किया जाता है। कृत्या नामक मारक प्रयोग के हटाने के लिये, गौके रोग दूर करने के लिये, इस औषधिका उपयोग होता है।

आगे के सूक्तों में अरुन्धती, पिप्पली, पृश्नीपर्णी, रोहिणी, लक्षा, कुष्ठ, कुष्ठनाशनी, यक्ष्मनाशीनी, केशवर्धनी, नितत्नी, अक्षिरोगनाशनी, शमी, सोम, मधु इन वनस्पतियों का क्रमशः वर्णन है। यहां यह औषधि-प्रकरण समाप्त होता है। दश वृक्ष, तारके आदि अनेक औषधियोंके प्रयोग छोड दिये जायँ, तो शेष सब प्रयोग एक एक औषधिके ही हैं। इसके पश्चात् रोग-चिकित्सा-विभाग शुरू होता है—

रोगोंकी चिकित्सा

नाना प्रकार के रोगों का नाम लेकर उनकी चिकित्सा कई सूक्तों में कही है। ये सूक्त इस विभाग में संग्रहित हुए हैं, करीब करीब २१० मन्त्र इस विभागमें संग्रहित हुए हैं।

सत्तरवां सूक्त इस प्रकरण का प्रथम सूक्त है। कफ, बलगम, कास श्वास का यहां प्रथम स्थान है। उनासीवें सूक्त में हृद्रोग, हृदय का रोग और कामिलाका विचार हुआ है। आनुवंशिक क्षेत्रिय रोग को दूर करने का विचार अस्सीवें सूक्त में हुआ है। आगे एकासीवें सूक्तसे क्रमपूर्वक क्षेत्रिय रोग, क्लीबत्व, गण्डमाला, श्वेतकुष्ट, ज्वर, रुधिरस्राव, स्राव, मूत्र-प्रतिबन्ध आदि रोगों की चिकित्सा ९६ सूक्त तक है। बीच में ८४ वे सूक्त में रोहिणी, रामायणी आदि औषधियों का भी वर्णन है।

इसके नंतर १०२ सूक्त तक 'अंजन' का विषय है। नेत्र का सुधार, दृष्टिके दोष को दूर करना आदि अञ्जन का विषय सुप्रसिद्ध है। साथ साथ अञ्जन के अन्यान्य गुण भी इन सूक्तों में देखने योग्य हैं।

सूक्त १०३ में निद्रानाश को दूर करके उत्तम निद्राप्राप्ति होने के लिये मन्त्रप्रयोग हैं। १०४ सूक्त में शरीर से बाण को निकालने का विषय है, आगे ७ सूक्तोंमें दुष्ट स्वप्न न होनेके लिये मन्त्रप्रयोग लिखा है। ११३ वें सूक्त में क्रोध का शमन करने का विषय है। क्रोध का शमन भी आरोग्यदायी है।

११४ वें सूक्त में बैल के रोग का शमन है। आगे के सूक्त में मधुला वनस्पति का वर्णन है। ११९ वें सूक्त में सौभाग्यवर्धन का विषय है। १२० वें सूक्त में ईर्ष्याविनाशन और १२२ वें सूक्त में उन्मत्तता-निवारण है। इस तरह यह विभाग इस सूक्त के साथ समाप्त होता है।

रोगक्रिमी का नाश

इस विभाग में रोग उत्पन्न करनेवाले क्रिमियों का नाश करने के विषय का विवेचन है। इस विवेचनके लिये करीब ८० मन्त्र हैं। रक्षः, राक्षस, यातुधान, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरस्, आदि अनेक नाम रोगक्रिमियोंके यहां दिये हैं। प्रत्येक नाम का अर्थ रोगक्रिमि का विशेष लक्षण बताता है। अतः यह विषय बडा महत्त्वपूर्ण है।

ये रोग के कृमी (अ-दृष्ट) न दीखनेवाले होते हैं और कई दीखनेवाले-(दृष्ट) भी होते हैं, इन सब को दूर करना चाहिये। ये रोग आँतों में, सिरमें, फेफडों में, पीठ की रीढमें, हड्डीमें होते हैं। ये कीडे पर्वतों, वनों, औषधियों, पशुओं, तथा हमारे शरीरों में भी होते हैं। इन सब को दूर करना चाहिये और आरोग्य की सिद्धता करनी चाहिये (सूक्त १२३)।

ये कृमी आंखों, नाकों, दांतों में रहकर कष्ट देते हैं, अतः इनका नाश करना आवश्यक है। ये कृमी नाना प्रकार के रंगरूप और आकारोंके होते हैं। सूर्य के प्रकाश से इन का नाश होता है (सूक्त १२४)।

ये कृमि सूर्य-किरण से नष्ट होते हैं। अन्धकारमें इनकी वृद्धि होती है, इसलिये सूर्य उदय से कृमियों का नाश होता है (सू० १२५)।

अजशृंगी औषधि इन राक्षसों अर्थात् रोगकृमियों का नाश करती है। राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरस् इन सब कृमियों का नाश इस वनस्पति से होता है। अश्वत्थ, न्यग्रोध (वट) ये वृक्ष भी इन रोगकृमियों का नाश करते हैं। जिन से क्षीणता होती है, वे रक्षस् हैं, जो खून खाते उन को पिशाच कहा है, जो जल के आश्रय से रहते हैं उनको अप्सरस् कहते हैं, तथा जो मिट्टी में बढते हैं, वे गन्धर्व हैं। ये सब मनुष्य के आरोग्य को दूर करते हैं, इस लिये इन का नाश करना चाहिये (सू० १२६)।

अग्नि भी इन कृमियों का नाश करता है, अग्निमें विशिष्ट द्रव्यों का हवन करने से और अधिक लाभ होता है। घृत के हवन से सब रोगबीज नष्ट हो जाते हैं। अग्नि में नाना

औषधियां, घृत आदि के हवन से, सूर्य प्रकाश से, केवल अग्नि से भी ये रोग-कृमि नष्ट होते हैं।

विष को दूर करना

आगे करीब करीब ८० मन्त्र विषनाशन के हैं। १३६ वां सूक्त सर्वविश दूर करने के लिये है। मन्त्र के जाप से विष दूर होता है, ऐसा इस का वर्णन है, परन्तु इस के लिये जाप करके सिद्धि प्राप्त करना चाहिये। इक्कीस मोरनियाँ सर्पका विष दूर करती हैं, ऐसा यहां (मं० १४ में) कहा है। इस विषय में महाराष्ट्र में अनुभव यह है कि नाग सर्प का जहां दंश होता है, उस स्थान पर जीवित मुर्गी को पकडकर उस का गुदद्वार लगाया जाता है। मुर्गी विष खींचती है और मर जाती है। इस तरह लगातार एक के पीछे दूसरी ऐसी लगाते जाना चाहिये। विष के प्रमाण के अनुसार मुर्गियां मरती हैं। जब मुर्गी की गुदा वहां लगानेपर मुर्गी न मरेगी, तो समझना चाहिये कि वहां विष रहा नहीं है और रोगी ठीक नीरोग हुआ है। इस मन्त्र में २१ मोरनियां विष दूर करती हैं, ऐसा कहा है। सम्भव है मुर्गियां न्यून वा अधिक लगतीं हों। यह प्रयोग करके देखना चाहिये। महाराष्ट्र में सर्वत्र यह कहते हैं कि मुर्गी के योग से विष हटता है। बिच्छू के विष के विषयमें इसी सूक्त में कुछ कहा है (सू० १३६)। सर्प के विषय में निम्नलिखित मन्त्र बडा देखने योग्य है–

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः।
(अथर्व. ६।१३९।५)

' नेवला सांपको काटता है और फिर से उसको जोडता है। ' यह अथर्ववेदका मन्त्र है। क्या यह सत्य हो सकता है ? महाराष्ट्र के पिण्ड पिण्ड में यह विश्वास है, परन्तु इसपर हमारा विश्वास नहीं बैठता। निःसन्देह यह खोजका विषय है। नेवला सांप को पकडता और काटता है, परन्तु फिर जोड देता है, यह मानना कठिन है।

जलचिकित्सा

इसके पश्चात् करीब अढाई सौ मन्त्र जलका वर्णन करने वाले हैं। इन में कुछ जल-चिकित्सा के भी हैं। जल में अनेक औषधिगुण हैं। जलप्रयोग से बहुत से रोग दूर हो जाते हैं। जलप्रयोगसे रोग-बीज शरीरसे बह जाते हैं।

जल वृष्टि से मिलता है, कूवा खोदकर जल प्राप्त होता है, स्वयं निर्झर से जल मिलता है, नदीका भी जल प्रसिद्ध हैं, जल सुख देनेवाला और दोष दूर करनेवाला है।

आवर्तन, निवर्तन, न्ययन, परायण, अभिषिंचन, प्रसिंचन, उपसिंचन आदि जल के प्रयोग हैं, जिन से जल-चिकित्सा होती है।

हिमालयपर्वत से जो जल आता है, वह बर्फ का जल होनेसे वह बडा ही शुद्ध रहता है। गंगानदी का जल इसी कारण अतिपवित्र है। इसी तरह हिमालय से चलनेवाली सब नदियों का जल उत्तम है।

सूर्य के किरणों से जल की भांप बनकर वह ऊपर जाती है। उसके मेघ बनते हैं। मेघों से वृष्टि होती है। वृष्टिका जल दिव्य जल कहा जाता है। सचमुच यह दिव्य आरोग्य देनेवाला जल है। इस कारण पर्जन्य को पिता कहते हैं, क्योंकि वही सब प्राणी और वृक्षवनस्पतियों का पालन करता है।

सब नदियां वृष्टि से ही भरती और चलती हैं। वृष्टि न हुई तो नदी चलेगी नहीं। केवल हिमालय से चलनेवाली नदियां गर्मी से बर्फ पिघल कर चलती हैं। इसलिये इन नदियों को महापूर गर्मी के दिनों में आता है।

अन्न

इसके आगे करीब सवादो सौ मन्त्र अन्न के वर्णन के लिये हैं। अन्न सब विश्वरूप में हमारे सम्मुख है। सभी अन्न है और सभी अन्न खानेवाले हैं। ओदन सूक्त (२०७–२१४ तक) पाठक देख सकते हैं। अन्न का महत्त्व जितना इन सूक्तोंमें बताया है, उतना सबका सब मननके योग्य है।

वाजीकरण तथा गर्भाधान।

आगे ये विषय हैं- गर्भधारणा होने के पश्चात् ' गर्भदोष-निवारण ' सूक्त २२३ में है। ' गर्भस्राव ' का उपाय सू० २२३ में पाठक देख सकते हैं। ' सुख-प्रसूति ' का विषय सू० २२६ में है। आगे के ४ सूक्तों में ' मेधाजनन ' का महत्त्वपूर्ण विषय है, जो बालक के हित होने के लिये अत्यंत आवश्यक है।

मणिधारण

आगे दस सूक्तों में 'मणिधारण' का विषय है। प्रतिसर,

वरण, काल, दर्भ, औदुम्बर, जंगिड, शतवार, अस्तृत ये मणि यहां वर्णन किये हैं। जैसे तावीज बांधते हैं, वैसे ही ये मणि हैं। इनके वर्णन में अन्यान्य विषय भी बडे मनोरंजक हैं। किस को किसने यह मणि बांधा था, यह भी यहां इन सूक्तों में बताया है। किसी किसी मणि में सैंकडों सामर्थ्य हैं, ऐसा भी वर्णन है। ये मणि कैसे बनाये और धारण किये जाते हैं, यह बडी खोज का विषय है। इस कार्य के लिये अथर्ववेदके वेदाङ्ग ग्रन्थों का तथा तदंगभूत विविध ग्रन्थों की खोज करनी चाहिये। भाष्य में जो इस समय लिखा मिलता है, उस से हमारे हाथ में कुछ भी विशेष बात नहीं पडती।

इसके पश्चात् अरिष्टनिवारण, पापनाशन, कृत्यादूरीकरण, यज्ञादि विषय के मन्त्र हैं। इससे इस प्रकरण की समाप्ति होती है। इस आयुर्वेद-प्रकरण के कुल मन्त्र २३४५ हैं। करीब करीब सवा दो हजार हैं। आयुर्वेद का यह वैदिक मूल है। इस मूलका विस्तार आयुर्वेद है, जो चरक सुश्रुत के रूप में आज हमें उपलब्ध है।

इस सवा दो हजार के मन्त्रसंग्रह में आयुर्वेद के अनेक विषय हैं। इस का विचार करते समय पद पद का सूक्ष्म और खोजपूर्ण विचार करना चाहिये और आयुर्वेदके ग्रन्थों के साथ इन वेदमन्त्रों का मिलान करना चाहिये। तब जाकर इस विषय का समझने योग्य विवरण हो सकता है।

इस भूमिका में इस आयुर्वेद-प्रकरण के साथ पाठकों का केवल परिचय ही कराना था। वह इतने लेख से किया है। आशा है कि पाठक आयुर्वेद के इस मूल का कहां कैसा विस्तार हो गया है, इसका विचार करेंगे और लाभ उठावेंगे।

औंध (जि. सातारा)
१ पौष
सं. २०००

निवेदनकर्ता
श्री. दा. सातवलेकर
अध्यक्ष, स्वाध्याय-मण्डल

मरुद्देवता मंत्रोंके समन्वयकी भूमिका

(लेखक — श्री० प्राध्यापक हरि दामोदर वेलणकरजी, एम्० ए०, विल्सन कालेज, बंबई)
(अनुवादक- श्री० द०गा० धारेश्वर, बी. ए., औंध)

किसीभी राष्ट्रके विचारशील तथा मनीषी पुरुष जब महानता प्राप्त करके संसारकी विचारधाराको प्रभावित कर शाश्वतिक शान्तता एवं प्रगति प्रस्थापित करनेकी क्षमता बढाते हैं, तभी वह राष्ट्र महान् सिद्ध होगा। हाँ, यह सच है कि संपत्तिका प्रचंड भाण्डार और प्रबल शस्त्रसंभार अपने अधीन रखकर कोईभी राष्ट्र विश्वविजेता बननेकी साध पूरी कर सकता है; लेकिन यह विजय स्थायी नहीं हो सकता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इस भाँतिका तथाकथित विजयी राष्ट्र यह दावा कर सकता कि अपने एवं विजित लोगोंका शान्तिमय जीवन और अभ्युदय उसी राष्ट्रपर निर्भर है, पर ध्यानमें रहे कि जेता राष्ट्रनिवासियों तथा जित अन्य लोगोंकी वह शांति और उन्नति केवल बाहरी दिखावा मात्र ही है, क्योंकि उसकी नींव बेशक सुदृढ नहीं है। वास्तवमें देखा जाय तो, विजयी राष्ट्रकी वैसी शान्तता और प्रगतिशीलता, स्वार्थपरायणता और लोलुपतासे कलुषित बनी रहती है और विजित जनता यद्यपि शांतिपूर्ण एवं वैभवसंपन्न जीवनका उपभोग लेती रहे तोभी वैसा जीवन अन्तर्निगूढ असंतोषसे अवश्यही दूषित बनता है। हाँ, यह हो सकता कि केवलमात्र आत्यन्तिक अगतिकता और आत्मग्लानीके कारण यह असंतोषका ज्वालामुखी बाहर फूट न पडे। बस, यही बलिष्ठ राष्ट्रोंकी स्वार्थान्धता और लोभासक्ति एक ओर तथा दूसरी ओर दुर्बल राष्ट्रोंकी असंतुष्टता एवं आत्महानि ही मिलकर सभी प्रमुख युद्धोंका सृजन शाश्वत कालसे करती आ रही है, जिनसे अनेक आपदाओं तथा दुःखोंको झेलना मानवमात्रके लिए अनिवार्य हुआ है। ध्यानमें रहे कि जबतक मानव अपने स्रष्टाने उसपर रखी हुई उत्तरदायिताको भली भाँति हृदयंगम नहीं कर पाता, तबतक ये युद्ध तथा तज्जन्य विविध विपत्तियाँ इस हमारे अभागे भूमंडलपर बारंबार अवतीर्ण हुए बिना न रहेंगी।

दिव्य तथा दानवीय अंशोंके संमिश्रण करनेपर ही मानवका सृजन हुआ है और उसमें दोनोंही गुण एक दूसरेसे सटे हुए पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, उसे स्वतंत्र विचार तथा इच्छाशक्तिका वरदान भी मिला हुआ है, जिससे वह चाहे तो मुक्ति पा सकता है या अपना विनाशतक कर बैठता है। सचमुच यह वरदान महत्त्वपूर्ण तथा उतनाही भीषणभी है। चूँकि मानव अपनेको उन मोहमें डालनेवाले आनन्दों एवं उपभोगोंके मध्य रखा हुआ पाता है जोकि अति निकट भविष्यमें ही प्राप्त हुएसे दीख पडते हैं, अतः मानवमें विद्यमान दानवीय प्रकृति उसे हठात् अपनी बहुमूल्य विचार एवं इच्छाशक्तिका उपभोग उनकी प्राप्तिमें ही करने के लिए विवश कर देती है और इसका अनिवार्य नतीजा यही होता है कि उसका आत्मिक अधःपतन टाले नहीं टलता। हाँ, यह ठीक है कि कभी एकाध मौकेपर महान विचारशील पुरुष इस बातकी जानकारी रखते हैं और धर्म तथा तत्त्वज्ञान के रूपमें इस पतनके शमनार्थ एवं चिकित्सा के नाते चेष्टा करते हैं। लेकिन असल बात तो यह है कि इस अध्यवसायका परिणाम क्षणिक तथा सिर्फ दिखावा मात्रके लिए होता है और वहभी जनताके उस श्रेणीतकही सीमित होता है जिसका वास्तविक मूल्य नगण्यसा होता है। जनताके वे नेता लोग, जो संख्या में न्यून पर सूक्ष्म बुद्धिवाले होते हैं तथा जो अपने अनुयायियोंकी मनोवृत्तिको ठीक तरह पहचानते हैं, प्रायः उपर्युक्त उपायोंसे प्रभावित होते हों ऐसा नहीं जान पडता और वे अपना विनाश एवं विध्वंसका दानवीय कार्य, भूमंडलस्थ जो कुछभी सुन्दर तथा उपयुक्त वस्तु है उसकी दुहाई देदेकर विविध बहानों एवं युक्तियोंके सहारे, जारी रखते हैं तथा अपने निकटवर्ती लोगोंके अन्तस्तलमें स्वार्थपूर्ण भावों एवं लालचभरी विचारधाराको उकसाकर अपना उल्लू सीधा कर लिया करते हैं। अब दूसरी ओर ये इनेगिने लोकनेता अगर कहीं सच्चे दिलके एवं समझदार पुरुष हों तो वे भरसक चेष्टा कर जनताके मनोभावों तथा उसकी विचारधाराको निरे निजी उत्कर्ष को पानेके उद्योगसे हटाकर उसे संतोष एवं प्रेमके दिव्य गुणोंके प्रति सम्मुखीन बना देते हैं। परन्तु इसमें भी एक भय छिपा रहता है जिसे पहलेही जानना असंभव प्रतीत होता है। अतः पहले उधर किसीकी निगाह नहीं

पड़ता है। यह तो स्वीकार करनाही पडेगा कि जनसाधारण में उपर्युक्त दिव्य गुणोंके वास्तविक अर्थको जाननेकी क्षमता नहींके बराबर होती है और दिव्य गुणोंका उपयोगभी अक्सर अविचारपूर्वक और तर्कविरुद्ध ढंगसे किया जाता है। इसका परिणाम यूं होता है कि शारीरिक दौर्बल्य, मानसिक दबैलपन और आत्मिक ढीलापन अधिक प्रबल हो उठता है।

हाँ, अगर कहीं समूची मानवजातिकाही हृदयपरिवर्तन बिना रोकटोकके इस तरह इन दिव्य गुणोंके उपयोगके पक्षमें किया जाय तो शायद भयका कोई कारण बिलकुलही न रहे। परन्तु यह तो अत्यन्तही असंभव दीख पडता है, कमसे कम वर्तमान युगमें जब कि प्रबल एवं अतीव क्षमतावाले राष्ट्र दानवीय विध्वंसक शक्ति पानेकी वजह उन्मत्तसे होचुके हैं और अत्यंत ही अविचारपूर्वक, मानवजातिको प्रकृतिसे जो वस्तुएँ देनके रूप में मिली हैं उन्हें सिर्फ पारस्परिक विध्वंस तथा सुन्दर कलाकृतियोंको बिगाडने में व्यर्थ बर्बाद करते हैं। पर उस युगके आनेतक राष्ट्रको तथा उसके नेताओंको अत्यन्त सतर्क एवं सावधान रहना चाहिए और पर्याप्त रूपसे ध्यान देना चाहिए कि संतोष एवं प्रेम तथा वात्सल्य जैसे दिव्य गुणोंकी वृद्धि करनेसे कहीं राष्ट्रवासियोंमें ऊपर बतलाये हुए दुर्गुण न बढने लगें और घर करते न जायँ। क्योंकि यदि ऐसी सावधानता न रखी जाय तो निस्सन्देह उनकी वही हालत हो जायगी जो वैदिक युगके उपरान्त भारतवर्षकी तथा अन्य शान्तताके उपासक पौर्वात्य राष्ट्रोंकी हुई है। उन्हें चाहिए कि वे तबतक अपने अन्दर विद्यमान दानवोचित भावोंको निर्मूल एवं विनष्ट करनेमें न लगें, जबतक कि अन्य स्वार्थनिरत मानवी समुदायों तथा राष्ट्रों में पाये जानेवाले दानवी गुणों एवं मनोभावोंको जडमूलसे उखाड फेंक देनेका गुरुतर कार्य संपूर्ण न होने पाय। सिर्फ अनिर्बंध रूपसे दिव्य गुणोंके प्रयोगमात्रसे दानवी गुणोंके शमनार्थ प्रयत्न करना केवल राजनैतिक अदूरदर्शिता और व्यावहारिक दृष्ट्या मूर्खता है। ध्यानमें रखना चाहिए कि यह ढंग कुछ इनेगिने व्यक्तियों और केवल ऋषितुल्य मानवोंमेंही उपयुक्त है। अतः ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं कि राष्ट्र तभी महान् हो सकता है जब कि उसके निवासी लोग अपने विचारशील नेताओंके तत्त्वावधानमें देवोचित संतोष, समाधान, प्रेम एवं वात्सल्यकी वृद्धि करते रहें और उसी समय दूसरे राष्ट्रों तथा जातियोंकोभी अपने उदाहरणसे वैसी शिक्षा देनेको कटिबद्ध हों तथा ऐसा करते हुए आवश्यक सैनिक मनोवृत्ति एवं प्रबल शारीरिक सामर्थ्यकी तनिकभी अवहेलना न करें, ताकि जब उनकी शांतताप्रिय प्रकृति एवं कार्यवाहीको देखकर दूसरे लोग या राष्ट्र अपने दानवी लोभके शिकार इन्हें बनाने लगें तो उनका दानवी गुण दबाया जा सके।

वैदिक युगमें भारतवर्ष इस भाँतिका महान् राष्ट्र था। वेदकालीन आर्य सादा, आडंबरशून्य जीवन बिताते थे और जब कभी कोई जटिल समस्याएँ तथा घटनाएँ उनके सामने उपस्थित हुआ करतीं तो वे धैर्यपूर्वक सामना करनेकी क्षमता रखते थे। उनकी शरीरसंपदा सुदृढ एवं नीरोग थी और मन भी उसी तरह आरोग्यसंपन्न था। वे नीतिमत्ता सिखानेका दावा न करते हुएही स्वयंही बिना अनाकानीके उसे कार्यान्वित कर लिया करते थे। बुराइयाँ चाहे किसी भी रूपमें आयँ वेदकालीन लोग भरसक उन्हें नष्ट करनेमें लग जाते और वे सचेष्ट रहा करते कि मानवोंके मध्य भलाई फलती फूलती रहे। संहिताकालमें उन्होंने प्रतिपल प्रगतिशील एवं अनवरत ढंगसे सोचकर अपने इर्दगिर्द प्राकृतिक शक्तियोंमें विद्यमान और मानवजातिपर बुरा एवं भला परिणाम करनेवाली बातोंके आदि स्रोतको ढूँढनेका प्रयत्न किया। उसी तरह ब्राह्मणकालमें अपनेही अच्छे या बुरे कृत्योंके बारेमें और अन्तमें उपनिषत्कालमें अपनेही मानसिक प्रवृत्तियों तथा मनोभावोंकी छानबीन उन्होंने की थी। ऐसे लोगोंके विषयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करनेकी कोशिश करना किसीके लिए और किसी भी युगको निस्सन्देह सहायक एवं शिक्षाप्रद होगा, विशेषतया भौतिक प्रगतिप्रधान इस आधुनिक युगमें जब कि प्रायः मानवमें विद्यमान दिव्य एवं आविष्कृतिप्रधान बुद्धिने जो कुछ भी ढूँढ निकाला है, उसका उपयोग मानवमें पाये जानेवाली दानवी स्वार्थपरायणता एवं लोलुपता अधिकांशतया विध्वंसके साधनोंकी हैसियतसे करती है।

वैदिक युगके भारतीयोंके विचारों एवं कार्योंका लेखा वेदोंमें उपलब्ध है। इस भाँतिके पुरातन ग्रन्थोंका अध्ययन अनेक उद्देश्यों एवं कारणोंसे प्रभावित होकर किया जा सकता है। इनमें सर्वोपरि ध्येय यही है कि अतीतकी उन घटनाओं एवं परिस्थितियोंकी जानकारी एवं अनुभूति प्राप्त की जाय, जिनमेंसे गुजरना अब हमारे लिए असंभव है और यह ज्ञान तथा अनुभव वर्तमान कालमें विभिन्न दशाओंके रहनेपर भी लाभकारी एवं उपयुक्त सिद्ध हो सकता है। यह नितान्त सत्य है कि

पूर्वजोंके प्रशस्ततम कार्यों एवं कथनोंके बारेमें स्तुतिपाठ किया जाता है और उन यशस्वी कार्यकलापों और सूक्तियोंकी तरफ मनका झुकाव बारबार सानन्द हो जाता है। इसीलिए कि उनसे हमें सान्त्वना तथा प्रोत्सहन मिल जाए। विशेषतया यह बात उन जातियोंके लिए अत्यधिक रूपमें सत्य है जिनका वर्तमान न तो सुखदही है और नाहिं किसी भाँति स्पृहणीयही है, अपितु दुर्दैवके मारे अन्धकारमय है, या अपनेही कार्यमालिकाओं एवं भूलोंसे कालकलूटा दीख पडता हो।

यह भी बात बिलकुल सचही है कि पददलित जातियोंके अन्तस्तलमें मुरझाई हुई आशालताको लहलहाती करनेके लिए तथा उत्साह एवं आवेशमय भावोंको जगानेके लिए पूर्वजोंके अतीत वैभवकी ओर साभिमान तथा सहर्ष प्रवृत्त होना या उस संबंधमें गीत गाना अतीव उपयुक्त है लेकिन ऐसी प्रवृत्तिमें भी एक खतरा है जो कि इस भाँति अतीतपर मंत्रमुग्धसे होनेवाले लोगोंकी मनोभावनामें छिपा रहता है। यदि ऐसे लोग अपने अनुसन्धान एवं अर्थ बतलानेके कार्यमें अत्यन्त बुद्धिमानी तथा शान्तिपूर्वक सुदीर्घ कालतक परिश्रम करनेकी तैयारीसे काम लें तो उन्हें ज्ञान तथा अनुभवका एक बृहत् भाण्डार मिलेगा यद्यपि पूर्वजोंके कार्य एवं वक्तव्य उनकी अपनी इच्छाके अनुसार उतने भव्यतम न भी हों। पर जब विद्वान् लोग, मारे जोशके पहलेही ऐसी धारणा बनाकर कि अपने पूर्वजों के सभी कार्य हरहालत में उत्कृष्ट तम थे, अतीत की झाँकी लेना शुरु करते हैं, तब बहुधा यह संभव है कि जो वास्तवमें पूर्वकालीन कार्यसमूहमें न पाया जा सके उसे भी वे ढूँढ निकालनेका दम भरने लगें।

व्याख्या या विवरण करना एक प्रबल साधन है जिसकी सहायतासे साधारण बातोंको असाधारण ढंगका और असाधारण बातोंको साधारण स्वरूपका बतलाया जा सकता है। जो कोई भी अपने पूर्वजोंके कार्यों तथा कथनोंमें येन केन प्रकारेण हरएक बात को भव्यतम स्वरूपमेंही देखने और ढूंढनेका निर्धार कर बैठे हों, उनके लिए सत्यसे अनुप्राणित दीर्घ परिश्रम कुछभी मूल्य नहीं रखता है और ऐसे व्यक्तियोंके लिए वह बडाही अनुकूल मौका मिलता है जब कि पूर्वजों की रचना ऐसी भाषामें हुई हो जो शब्दसंग्रह तथा वाक्यविन्यासमें वर्तमानकालीन प्रचलित भाषासे सर्वथैव विभिन्न हो। ऐसी दशामें, जब कि शब्दों एवं वाक्योंके उचित अर्थ पानेके लिए अत्यन्त सतर्कतापूर्वक दीर्घ परिश्रमसे किये जानेवाले अन्वेषण एवं अनुसंधान की आवश्यकता होती है; तो गलत व्याख्याके लिए, चाहे वह सचाईपूर्वक हुई हो या मिथ्यात्वसे प्रेरित हुई हो, पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। परन्तु साधारणतया, ऐसे दीर्घ परिश्रमकी अपेक्षा रखनेवाले अध्ययनकी ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता है और इस उपेक्षाके दो कारण हैं। पहला कारण तो यूं है कि ऐसी खोज करनेके लिए अति महान् परिश्रमकी आवश्यकता है, लेकिन निकट भविष्यमें या तुरन्तही उससे उतनाही महान् लाभ होगा ऐसा नहीं प्रतीत होता है और दूसरा कारण ऐसा है कि प्रायः अन्वेषणके फलस्वरूप कभी कभी अनपेक्षित और अवांच्छित निर्णयोंके सम्मुखीन होना पडता है। पूर्वजोंके अतीतकालीन कार्यों तथा साहित्यके बारेमें इस भाँति अशुद्ध दृष्टिकोण तथा मनोभाव रखनेका अन्तिम नतीजा यहीं होता कि जनतामें वृथाभिमान एवं घमंड फैल जाता है, और जिन अन्य जातियोंके संपर्कमें वह आती है, उनकी सभ्यतामें विद्यमान अच्छे अतएव अनुकरणीय बातों की जानकारी पानेकी ओर वह उदासीनता दर्शाने लगती है।

भारतीय आर्य जनताके लिए वेदसाहित्यका अर्थात् संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ एवं उपनिषद् का महत्त्व बहुमूल्य भाण्डार या रत्नकोषके नाते है और उसमें उन बलिष्ठ आर्यों की विचारधारा तथा कार्यवाही की कथा पाई जाती है, जिन्होंने सचाई से प्रेरित होकर बाह्य या इन्द्रियग्राह्य संसारमें अथवा आन्तरिक या मानसिक जगत्में उनकी राहमें रुकावट डालनेवाली बुराइयोंके विनाशार्थ कोशिश की थी। अतएव वैदिक साहित्यका विशुद्ध एवं वैज्ञानिक विवरण अत्यन्त अभीष्ट है चाहे वर्तमान के पददलित, उपेक्षित और उदास लोगोंमें, जो कि उन्हीं आर्योंके वंशज हैं, आशा एवं उत्साह जगानेके लिए हो, चाहे इन्हें बहुमूल्य अनुभव एवं बुद्धिमत्ता सिखानेके लिए ही हो ताकि इनकी वर्तमानकालीन दयनीय दशासे ऊपर उठनेके कार्यमें वीरतापूर्ण अध्यवसाय दर्शानेके लिए प्रोत्साहन मिले। इस प्रकारकी व्याख्या तभी संभव हो सकती है जब कि वैदिक भाषाके हरएक पहलूका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय और उसके शब्दसंग्रह, व्याकरण, वाक्यविन्यास तथा उसकी शैली एवं अलंकारोंके प्रयोगपर यथेष्ट प्रकाश डाला जाय। इस कार्यके लिए इस साहित्यके अत्यन्त व्यापक विश्लेषणका सूत्रपात करना चाहिए। सभी वैदिक ग्रन्थोंमें पुरातनतम और अत्यन्त कठिन ऋग्वेदसंहिताका उदाहरणही विशेषतया सामने

रखा जाय तो हमें चाहिए कि इसमें उपलब्ध देवताओंका पृथक् पृथक् संपूर्ण अध्ययन कर लें जिससे प्रत्येकका स्वरूप निश्चित हो जाय और साथही उनकी पूजा या उपासना, उपासक या भक्तके दिलमें उपास्य देवताके प्रति उमडनेवाले भाव एवं इस भाँति उपासना, भक्ति करके भक्त किस प्रकारके फल या परिणाम की अपेक्षा रखता है, सो पूरी तरह स्पष्ट हो जाय। ऋग्वेदसे प्राप्य इस भाँतिके तथा अन्य भी विचारसमूहोंका जैसे कि उस काल में प्रचलित सभ्यताका विवरण और सामाजिक दशाका चित्रण भी सतर्कतापूर्वक एवं अध्ययन के साथ विश्लेषण एवं पृथक्करणद्वारा किया जाना चाहिए। उसी प्रकार, ऋग्वेदकी भाषा तथा साहित्यिक गुणदोषों का व्यापक एवं व्यवस्थापूर्वक अध्ययन अभी करनेका शेष रहा है। संस्कृत वाङ्मयके अलंकारशास्त्र या लेखनकला की जैसी झलक वैदिक साहित्यमें तथा तदुपरान्त वीरगाथाप्रचुर महान् साहित्यमें पाई जाती है उसका इतिहास अभी लिखा नहीं गया है। ऋग्वेद में तथा अन्य वेदों में उपलब्ध उपमाएँ इकट्ठी करनी चाहिए और उनकी रचना एवं विकास तथा काव्यमय निरीक्षणके जिस क्षेत्रमें वे पाई जाती हैं, उस संबंधमें अध्ययन करना आवश्यक है। उपमाओंके संग्रहके पश्चात् उनका वर्गीकरण करना चाहिए जैसे कि वैज्ञानिक एवं परिभाषिक साहित्य में केवल दृष्टान्त के तौरपर प्रयुक्त होनेवाली उपमाएँ उन अन्य उपमाओंसे विभिन्न श्रेणीमें रखनी चाहिए जोकि पुराने या बीते अनुभवकी ओर संकेत करती हैं और तनिक कल्पना शक्तिसे युक्त या प्रभावित हुआ करती हैं, अतः जिन्हें शोभादायक उपमा नाम देना ठीक प्रतीत होता है। इसी प्रकार रूपक एवं उत्प्रेक्षाओंका भी अध्ययन करना आवश्यक है और शब्दों तथा वाक्योंका अन्य दूसरा कोई भूषात्मक ढंगसे प्रयोग हुआ हो तो उसे भी भली भँति देख लेना चाहिए, क्योंकि ऐसे स्थलोंपरही संभव है कि पश्चात्वर्ती अलंकारोंके पूर्वकालीन प्राथमिक स्वरूप हमें मिल जायँ।

वैदिक साहित्यका और विशेषतया ऋग्वेदका महत्त्व यद्यपि इतना बडा है तथापि यह अत्यन्त खेदकी बात है कि बहुतही थोडे व्यक्ति इसके अध्ययनमें दिलचस्पी लेते हैं। हमारे विश्वविद्यालयोंके छात्र-गण अभिजात संस्कृत साहित्यके अध्ययनमें शिक्षाकालकी प्रारंभिक दशासेही यथेष्ट रूपसे प्रवृत्त होते हैं और उनके पाठ्य क्रममें वैदिक संस्कृतका अन्तर्भाव बहुतही उपान्त्य दशामें किया जाता है तथा यह भी अत्यंत अधूरे ढंगसे पढाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक साधारण छात्र जो संस्कृत भाषा लेकर परीक्षामें बैठता है, वह ऋग्वेदके पर्चेके बारेमें एक तरहकी अनिच्छा या भीति व्यक्त करने लगता है। साधारणतया, प्रौढ पुरुष भी इस बात से अपरिचितसे रहते हैं कि कालिदासकृत 'शाकुन्तलम्' नाटक के तुल्य वेदभी उतनीही सुगमता एवं दिलचस्पीसे पढे जा सकते हैं। निस्सन्देह, ऐसी हालत को सुधारनेकी बडी आवश्यकता है और यह बडेही हर्षकी बात है कि इस दिशामें यथोचित ढंगसे प्रयत्न किये जा रहे हैं। वैदिक साहित्यमें पाई जानेवाली नैतिक उपदेशप्रचुर कथाएँ बालकोंके लिए प्रान्तिक भाषाओंमें लिखी जा रही हैं। मराठी भाषामें वेद ग्रंथोंके परीक्षण एवं अनुवाद प्रकाशित किये जा रहे हैं और अन्यभी कई उपायोंसे वेदोंके विषय साधारण पाठकोंको समझानेके लिए प्रयत्न हो रहे हैं। परन्तु, वैदिक ग्रन्थोंके अध्ययन सुचारु रूपसे संपन्न होते रहें इसलिए भट्टाचार्यजी पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी, सातारा जिलेके अन्तर्गत औंधमें स्वाध्याय-मंडल द्वारा वेदाध्ययनकी नींव डाल रहे हैं।

बडी बडी कठिनाइयोंके उपस्थित होनेपर भी, पंडितजी कई वैदिक ग्रन्थोंके विभिन्न सूचियों सहित अच्छे ढंगसे सम्पादित संस्करणोंमें प्रकाशित कर रहे हैं और वे ग्रन्थ बडे परिश्रमसे अत्यन्त सतर्कतापूर्वक तैयार किये जाते हैं, तथा इस समय भी बडा भारी मूल्य देकर मुद्रित किये जा रहे हैं। कठिन प्रतीत होनेवाले वैदिक ग्रन्थोंके स्पष्टीकरण एवं विशुद्ध विवरणकी दिशा में पंडितजीके प्रयत्न जारी हैं, ऐसा देखकर बडा आनन्द प्रतीत होता है। स्वाध्याय-मंडलद्वारा प्रकाशित संस्करणोंको तैयार करनेमें अत्यन्त सावधानता रखी गयी है और वे बडे सुन्दर ढंगसे मुद्रित हुए हैं। जो कोई वेदका अध्ययन करना चाहें उनके लिए पंडित सातवलेकरजीके तत्त्वावधानमें प्रकाशित ये वैदिक ग्रन्थ हर्ष एवं प्रोत्साहनका सृजन करते हैं, क्योंकि निष्पक्षपात दृष्टया सुदीर्घ कालतक हमारे पुरातन वैदिक भण्डार के विषयों तथा यथोचित अर्थके संबंधमें अनुसन्धान करनेके कार्यमें इनसे पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है।

कई वर्षोंके पहले ऐसी कोशिश की गयी थी कि वैदिक ग्रन्थोंके सस्ते संस्करण प्रकाशित किये जायँ, लेकिन ऐसा जान पडता था कि प्रकाशकोंका प्रमुख इरादा स्यात् यही हो कि

वैदिक धर्मके अनुयायियोंको ये वैदिक ग्रन्थ ऐसे रूपमें दिये जायँ कि वे उन्हें साभिमान संपत्ति मानकर सुरक्षित रख लें, न कि चिकित्सापूर्वक एवं व्यवस्थितरूपसे उन पुस्तकोंका अध्ययन करने लगें। कभी एकाध वक्त हिन्दी अनुवाद भी दिया जाता था पर जो पाठक स्वतंत्र रूपसे वेदोंको पढना चाहते थे उनके लिए चिकित्सक एवं नियमपूर्वक रीतिसे स्वाध्याय करनेमें सहायता पहुँचा सके ऐसी सामग्री शायदही दी जाती थी। हाँ, अपने पूर्वजोंके निष्पादित कार्यके बारेमें अभिमान प्रतीत होना अवश्यमेव सराहनीय तथा किन्हीं अंशोंमें आवश्यक भी है, लेकिन सदैव यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि पूर्वजोंके कार्यों तथा शब्दोंके बारेमें जो गर्व एवं अभिमान हो वह उनकी उचित जानकारी एवं साहसपूर्वक उसके सम्मुखीन होनेकी प्रवृत्तिरूपी दृढ भित्तिपरही निर्भर रहे। तभी जनताको उनसे लाभ उठाना संभव है।

यह समन्वय ग्रन्थ पंडित सातवलेकरजीने इस भाँतिका एक प्रयत्न करनेके रूपमें तैयार किया है। अबतक जो वैदिक संहिताएं पृथक् प्रकाशित हो चुकी हैं, उन्हींमें पाये जानेवाले सभी मरुतोंके सूक्तोंकी अकारानुक्रमसे शब्दसूची इसमें दी गयी है। सभी शब्द, चाहे वे सादे हों या समासोंके प्रथम या उत्तर पदके रूपमें हों, यथोचित प्रकारसे इस समन्वयमें दर्ज किये गये हैं। नामपदोंके नीचे अनुक्रमसे सभी विभक्तियोंके रूप दिये हैं और क्रियापदोंके नीचे उनके विभिन्न रूप देनेमें उसी ढंगकी व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक शब्दके नीचे एक पूर्ण वाक्य दिया है ताकि बिना किसी कठिनाईके उस शब्दका अर्थ स्पष्ट हो जाय। इसलिए अब मरुद्देवताके सभी सूक्तोंका विस्तारपूर्वक अध्ययन करना अतीव सुगम हो चुका है। यह अध्ययन चाहे भाषाविषयक दृष्टिकोणसे किया जाय अथवा साहित्यिक तौरपर किया जाय, इस समन्वय ग्रन्थसे अवश्य सुगमता प्रतीत होगी। मराठी और हिन्दी भाषामें पृथक् अनुवाद भी प्रकाशित किया है तथा पदपाठसहित मंत्रोंकी अनुक्रमणिका एवं प्रभावोत्पादक ढंगसे लिखी भूमिका भी साथमें विद्यमान है। स्थान स्थानपर टिप्पणियाँभी जोड दी गयी हैं।

वैदिक संहिताओंमें दर्शाये ढंगपरसे निबन्धकला या साहित्यशास्त्रका विकास कितना और कहाँतक हुआ था, इसका अध्ययन करना वैदिक अनुसन्धानकार्यका एक लाभदायक क्षेत्र है और इस अध्ययनके लिए वेदमें पाई जानेवाली उपमाओं एवं दृष्टान्तोंका संग्रह तथा उनका निश्चित ज्ञान आवश्यक है। अब निम्न स्तम्भोंमें मैं यह दिखानेकी चेष्टा करूँगा कि वैदिक कवियोंने किस काव्यमय पार्श्वभूमिपर मरुतोंका चिन्तन किया था। मैं चाहता कि इस कोशिशसे मरुतोंके प्रमुख गुणोंको स्पष्टतया पाठकोंके सामने रखूँ जिन्होंने वैदिक युगके कवियोंकी काव्यमय दृष्टिकोणको प्रभावित किया था। साथही यह भी संभव हो कि जिस विस्तृत काव्यमय निरीक्षणके द्वारा उन कवियोंने वैदिक जगत्के विभिन्न क्षेत्रों एवं प्रान्तोंसे अपने उपमानोंको प्रस्तुत किया था, उसके बारेमें किसी निर्णयपर हम पहुँच सकें।

अपने आशयको सुगम एवं लालित्यपूर्ण ढंगसे किसी अन्यको बतलानेके लिए कल्पनाशील मन जिन प्राथमिक युक्तियोंका सहारा लेता है, उनमें उपमाका स्थान है। प्रारंभिक दशामें शायद इसका यही उपयोग हुआ हो कि जानकारी पानेमें केवल सहायता मिले, क्योंकि किसी वस्तुको स्पष्ट करनेके लिए, उस वस्तुसे संबंधित किसी गुणविशेषको बतलानेके लिए उसे उस उपमानके समीप रखनेकी चेष्टा की जाती है, जो उस विशिष्ट गुणके कारण विख्यात हुआ है। इसे हम स्पष्टीकरणात्मक उपमा कह सकते हैं अर्थात् आशय अत्यधिक सुगमता, प्रबलता एवं सचाईसे श्रोताके मनमें पैठ जाय इसलिएही प्रमुखतया ऐसी उपमा दी जाती है। इस तरहकी उपमाके कारण श्रोताकी कल्पनाका महत्त्व नहीं के बराबर या नगण्यसा हुआ करता है और बहुधा ऐसी उपमाएँ तत्त्वज्ञानविषयक एवं लाक्षणिक साहित्यमें तथा पुरातन पौराणिक कविताके विशुद्ध कथनात्मक विभागोंमें पायी जाती हैं। स्वाभाविकतया ऋग्वेदके सूक्तोंमें इस भाँतिकी उपमाएँ न्यूनतर मात्रामें पाई जाती हैं, क्योंकि ऋग्वेदिक सूक्त कविकी वर्णनकुशल शक्तियोंकी अपेक्षा उसकी कल्पनाशक्तिसे ज्यादह संपर्क रखते हैं। ऋग्वेदके सूक्त काव्यमय रचनाएँ हैं जिनमें दूसरे ढंगकी उपमाएँ दीख पडती हैं जिन्हें भूषात्मक नाम देना ठीक होगा। इसका प्रमुख उद्देश्य यही है कि श्रोताकी कल्पनाशक्ति जागृत हो जाए और उस प्रबुद्ध कल्पनाके सहारे सादृश्यके कारण मानसिक चित्र या प्रतिबिम्बका निर्माण हो। तब वर्ण्य वस्तुको अधिक सुरम्य स्वरूप देने और उसे अधिक आनन्ददायक एवं संतोषजनक बनानेका कार्य वह मूर्ति या चित्र सफलतापूर्वक कर देता है। उदाहरणार्थ, जब मरुतोंकी तुलना बाज पंछी या हंसोंसे की जाती है, तो उस उपमाके कारण उन पंछियोंका एक मानस चित्र तुरन्त अवश्य उठ खडा होता है, जो मरुतोंसे संलग्न

रहकर, जिस सुगमता एवं लालित्यपूर्ण ढंगसे मरुत् अन्तरिक्ष-पथसे यात्रा करते हैं या हविर्भाग लेनेके लिए भूमिपर उतर पडते हैं, उसे सानन्द समझनेमें श्रोताको सहायता देता है। इस तरह निरीक्षण से या दीर्घकालतक अध्ययन द्वारा प्राप्त शिक्षासे मानवी मन जिन प्रमुख गुणोंको सामान्य रूपसे विशिष्ट वस्तुओंके साथ संलग्न करता है, वेही उसकी कल्पनाशक्तिके सहारे दूसरे सदृश वस्तुओंसे जुडाये जाते हैं, या अन्य सदृश वस्तुओंमें संक्रमित किये जाते हैं। संक्रमित या संलग्न होनेकी दशामें वे दूसरोंके संपर्कमें आ जानेसे आनन्ददायक हुआ करते हैं। यही भूषात्मक उपमा अन्य अलंकारों में विभक्त या विकसित रूप ले लेती है, क्योंकि एकही मानसिक मूर्ति या चित्र विभिन्न ढंगोंसे जनताके सम्मुख उठ खडा होता है और यदि सब प्रकारसे देखनेपर इसे हम अलंकारशास्त्रकी बुनियाद कहें, तो किसीभी तरहकी अनुचितता नहीं होगी।

यह तो स्वाभाविक ही है कि कवि जब प्रारम्भिक दशाओंमें इस भूषात्मक उपमाका प्रयोग करता हो, तो वह व्यक्तीकरण प्रणालीके लिहाजसे कुछ दोषों एवं विचित्रता या अनोखेपन को प्रकट कर दे और जोशीला पाठक या श्रोता इससे अपरिचितभी रहे, क्योंकि उसका प्रमुख ध्येय यही होता है कि अपनी कल्पनाशक्ति इस कदर जागृत होने पाय कि आनन्ददायक चित्र या प्रतिबिम्ब उठ खडा रहे और अपूर्णतया प्रदर्शित उपमाकी सहायतासे भी यह हो सकता है। इस तरह, पहलेपहल दी हुई भूषात्मक उपमाओंमें सामान्य गुण अनिर्दिष्ट है ऐसा दिखाई देगा या इनमें संभवतः व्याकरणविषयक, वाक्यविन्याससंबंधी अथवा रचनाविषयक अनियम भी पाये जायँ। लेकिन कुछ कालके उपरान्त इन अनियमितताओं में सुधार प्रस्तुत होने लगा था, क्योंकि पाठक या श्रोता, जोकि धीरेधीरे समालोचक बनने लगते हैं, अधिकाधिक मात्रामें इन विषयों के संबंधमें सूक्ष्म दृष्टिवाले एवं विशुद्धताकी अपेक्षा करनेवाले बन गये। ध्यानमें रहे कि, पूर्ववर्ती भूषात्मक उपमाओंका अध्ययन परिणामकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयुक्त है तथा प्रकटीकरणमें निश्चितता पानेके लिए कविके मनमें कैसी खलबली जारी रहती है इसपर भी पर्याप्त प्रकाश पड जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं। कविमानस के अन्दर कार्य करती हुई वह प्रक्रियाभी, जो आगे चलकर अभिजात साहित्यके उपमा एवं अन्य अलंकारोंके सुन्दर प्रासादका सृजन कर गयी, इस अध्ययनके कारण अधिक स्पष्ट हो जायगी। यह सच है कि केवल वेही, जिन्होंने वैदिक साहित्यका ध्यानपूर्वक एवं चिकित्सक दृष्टिसे अध्ययन किया है, उपर्युक्त ढंगसे प्रारंभ कर सकते हैं और इस समन्वय ग्रन्थ जैसे पुस्तकोंसे उन्हें बडी भारी सहायता मिल जायगी।

इन भूषात्मक उपमाओंके साथही विशेषतया ऋग्वेदमें एक दूसरेही प्रकारकी उपमा उपलब्ध होती है, जो स्वतंत्र श्रेणीमेंही रखने योग्य दीख पडती है। इसे हम यूं कहें कि मनोवेगोंसे संबंध रखनेवाली उपमा है-तो ठीक होगा और इस उपमाका प्रमुख उद्देश्य यही है कि प्रतिविम्ब या चित्र खडा करके सिर्फ सुरम्यताका सृजनही न करके एक पग और आगे बढना है। इस मानसचित्र या मूर्तिके सहारे श्रोताके मनोवेगों एवं भावनाओंको उत्तेजित करना इस उपमाका कार्य है और श्रोताका हृदय इससे अधिक प्रभावित हो उठता है। ऋग्वेदमें इस भाँति की मनोवेगोंको प्रभावित करनेवाली उपमाओंका प्रयोग एक विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिए है और वह उद्देश्य है देवताकी जिह्वा तथा मनको प्रभावित कर चुकनेपर उसके हृदयको भी विचलित करना। ऋग्वेदसूक्तोंकी रचना करनेवाले कवि जब इन्द्रसदृश किसी देवताके प्रीतिकटाक्षोंके पानेके लिए पारस्परिक होड लगाते थे, तो वे पहले बाह्य साधनोंकी सहायता लिया करते थे जैसे कि नये एवं अपेक्षाकृत अधिक चेतोहारी सूक्तोंका सृजन करके या ज्यादह सुस्वादु या मीठा सोम देकर अथवा अन्य कुछ ऐसेही हविर्भाग अर्पण करते थे। परन्तु इन बाह्य साधनोंका प्रयोग किसी विशिष्ट सीमातकही ज्यादह आकर्षक किया जा सकता था और एक विशिष्ट दशामें पहुंचनेपर स्पर्धाके उद्देश्यको सफलित नहीं कर पाते थे। उस हालतमें वैदिक कवि स्वाभाविक तथा आन्तरिक प्रेम, मैत्री या संबंध द्योतक भावनाओंकी ओर झुक जाते और बाह्य साधनोंकी तथा दानोंकी न्यूनताकी पूर्ति इनकी सहायतासे कर लेते थे। यही कारण है कि हम साधारणतया देखते हैं, ऋग्वेदके कवि देवतासे प्रार्थना करते हैं कि वह उनपर उसी तरह प्रीतिसुधाकी वर्षा करे जैसे कि पिता अपने पुत्रपर करता है, या माता जैसे अपनी संतानकी सेवा करती है वैसेही वह उपासकोंकी सेवा करे। कई बार देवताके सख्य या नातेका उल्लेख किया गया है जिसे पानेके लिए वैदिक कवि समुत्सुक दीख पडते हैं। मरुतोंकेही इन सूक्तोंमेंसे एकमें कवि अपनी तुलना प्रेमिकासे करता है जो कि अपने साथ निजी

उपहार लेकर प्रेमीसे किसीकी अपेक्षा न करती हुई अतः असाधारण वधूकी तरह अपने प्रेमपात्रके निकट जो कि स्नेहासक्त हुआ है, चली जाती है (देखो ऋ ५।५२।२४ और उसपर रायल एशियाटिक सोसायटीकी बंबई शाखावाले नियतकालिक १९४० में लिखी हुई टिप्पणी, पृष्ठ २४)

अच्छ ऋषे मारुतं गणं दाना मित्रं न योषणा। ऋ.५।५२।१४

अन्य सूक्तमें वह नवजात शिशुसे अपनी तुलना करता है और मरुतोंसे विनति करता है कि पिता जिस तरह अपने बालकको हाथोंमें उठा लेता वैसेही वेभी उसे अपने हाथोंसे सप्रेम उठा लें, जैसे-

कद्धः नूनं... पिता पुत्रं न हस्तयोः। दधिध्वे वृक्तबर्हिषः।
(ऋ. १।३८।१)

एक कवि मरुतोंको अपने चिरपरिचित मित्रोंकी तरह बतलाता है। तो दूसरा कवि चाहता है कि वे मरुत् उसकी ओर उतनी ही उत्सुकतापूर्वक आ जायँ जैसे कि एक गौ अपने बछडेके पास चली जाती है, जैसे-

यतः पूर्वाँ इव सखीँरनु ह्वय ... ॥ (ऋ. ५।५३।१६)
धेनुर्न शिश्वे स्वसरेषु पिन्वते
जनाय रातहविषे महीमिषम्। (ऋ. २।३४।८)

वेदकालमें इस भाँति बाह्य खाद्य पेय वस्तुओंके प्रदानको आन्तरिक भावनासे जोडनेकी जो प्रवृत्ति दिखाई देती है, वही आगे चलकर उचित ढंगसे पश्चात्कालीन भक्तिभावमें परिणत एवं विकसित हो गयी और इस भक्तिभावनाको संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि यह एक 'सर्वोपरि स्वार्थरहित प्रेमभाव' है। ऐसा माना जाता है कि इस भक्तिभावमें ऐसी क्षमता है जो उपास्य देवके अर्पित किए हुए वस्तुओंके पूरकही नहीं बनती, अपितु संपूर्णतया उनके स्थानापन्न भी हो सकती है। यानें भक्तिकी पूर्णता होनेपर किसी बाह्य वस्तुके अर्पण करनेकी आवश्यकता हट जाती है। हाँ, ऋग्वेदके सूक्तोंमें तो ऐसे भक्तिभावके दर्शन नहीं के बराबर हैं, परंतु ऐसा कहा जा सकता है कि इन मनोवेगोंको उत्तेजित करनेवाली उपमाओंमें ऐसे भक्तिभावकी बुनियाद निश्चयपूर्वक रखी गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत असेंतक इसका नैसर्गिक विकास रुकसा गया था, क्योंकि वैदिक विचारशील पुरुषोंके भाव इन देवताओंकी ओरसे साधारणतया बदल गये थे। ब्राह्मण-कालमें यज्ञके प्रति जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाव प्रसृत हो गये थे, तथा उपनिषत्कालमें आत्मज्ञान एवं आत्म-प्रतीतिके संबंधमें जो प्रबल विचारधारा बहने लगी, उसीके फलस्वरूप वैदिक देवताओंका महत्त्व बहुत कुछ घटसा गया था, लोगोंमें इनकी ओर उदासीनता बढ गयी। अस्तु, ऋग्वेदमें यह जो अतिमनोरंजक मनोवेगोत्थापक उपमाका विषय है, उसका अति विस्तार न करके मैं यहींपर बंद रखना चाहता हूं, क्योंकि निकट भविष्यमेंही किसी अन्य लेखमें मैं इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन करूँगा। इस लेखमें मैं केवल यही बतलाना चाहता कि ऋग्वेदिक कवियोंने मरुतोंके काव्यमय वर्णनमें तथा उनके काल्पनिक सृजनशक्तिद्वारा सजाए वस्तुसंभारमें किन उपमाओंका प्रयोग किया है चाहे वे भूषात्मक हों या मनोवेगों को चालना देनेवाले हों।

उपमानोंके स्वरूपके अनुसार मैंने उन उपमाओंका विभिन्न शीर्षक देकर वर्गीकरण किया है और प्रथम मानवोंसे प्रारंभ करके क्रमशः पशु, पंछी एवं निर्जीव सृष्टि या जड प्रकृतिका निर्देश किया है। ऋचाके आवश्यक विभागका शब्दशः अनुवाद दिया है और कोष्ठके भीतर ऋग्वेदके पतेभी दिये हैं। बहुतही थोडे स्थलोंपर अपने विवरणकी पुष्टिके लिए संक्षिप्त टिप्पणियाँ जोड दी हैं। मैंने बंबई रायल एशियाटिक सोसायटीके जर्नलमें सन् १९४० ई० में पृष्ठ २३ पर लगभग ५५ उपमाओंका (सभी पंचममंडलस्थ मरुत्सूक्तोंसे इकट्ठे किये हुए) विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अनुवादके अन्त में मैं संक्षेपसे परिणामों या निर्णयोंका उल्लेख करूंगा।

मरुतोंकी काव्यमय पार्श्वभूमि।

१. मानव प्राणी।

(१)...राजानो न चित्राः सुसंदृशः...। (ऋ० १०।७८।१)
राजान इव त्वेषसंदृशो नरः। (ऋ० १।८५।८)

ये मरुत् नरेशों के समान अनूठे हैं तथा उनकी तरह बडे सुन्दर दीख पडते हैं और प्रेक्षकोंके दिलमें भीतियुक्त आदर का निर्माण करनेवाली मुखाकृति से युक्त हैं।

मर्या इव श्रियसे चेतथा नरः। (ऋ० ५।५९।३)
...क्षितीनां न मर्या अरेपसः। (ऋ० १०।७८।१)

उत्साही युवकोंके तुल्य वे शोभायुक्त दिखाई देते हैं और उनकी नाईं निर्दोष एवं निष्कलंक पहनावा पहने हुए हैं।

शुभंयवो नाञ्जिभिर्व्यश्वितन्...। (ऋ० १०।७८।७)
वरा इवेद्रैवतासो हिरण्यैः ... श्रिये श्रेयांसः।
...स्रा महांसि चक्रिरे तनूषु॥ (ऋ० ५।६०।४)

वे अपने आभूषणों से शुभ मंगल अवसरोंपर मानव जैसे अत्यधिक सुहाने लगते और धनाढ्य दूल्होंके तुल्य अपने शरीरों को सुवर्णमय गहनोंसे विभूषित तथा अलंकृत करते हैं।

यक्षदृशो न शुभयन्त मर्याः ... । (ऋ० ७।५६।१६)
...मर्या इव सुवृधो वावृधुर्नरः...। (ऋ० ५।५९।५)

तिलिस्माती प्रदर्शन देखनेके लिए चले जानेवाले मनुष्योंकी नाईं वे जगमगानेवाली वेषभूषा करते हैं तथा धनाढ्य युवकोंके समान श्रीसंपन्न दिखाई देते हैं।

...वरेयवो न मर्या घृतप्रुषो ... । (ऋ० १०।७८।४)

दूल्हनकी खोज में लगे हुए युवक जैसे समाज में महार्घ वस्तु दे डालते हैं, वैसे ही ये मरुत् अपने कीमती उपहारों को जनता में बाँट देते हैं।

(२) **रिशादसो न मर्या अभिद्यवः ।** (ऋ० १०।७७।३)
...जिगीवांसो न शूरा अभिद्यवः । (ऋ०१०।७८।४)

विजयी शूर एवं वीरोंके समान जो कि दुश्मनोंको मानों खाजाते हों, हे मरुत् स्वर्ग एवं यशको ढूँढने लगते हैं।

...वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः । (ऋ १०।७८।३)
...प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव... । (ऋ. १।३९।५)

कवचधारी योद्धाओंके समान वे तीव्रता एवं कडाई से पूर्ण हैं और अदम्य लडाके भावोंसे प्रेरित वीरोंके तुल्य वे सतत आगेही बढते जाते हैं।

...पाजस्वन्तो न वीराः पनस्यवो... । (ऋ.१०।७७।३)
...शूरा इव प्रयुधः प्रोत युयुधुः... (ऋ० ५।५९।५)
शूरा इवेद् युयुधयो न जग्मयः... । (ऋ.१।८५।८)

उत्साह एवं उमंग से भरे योद्धाओंके समान वे यश पानेके लिए लालायित रहते हैं और वीरोंकी नाईं पीछे पैर न रखते हुए अनवरत रूपसे लडनेके आदी हैं।

नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरो... । (ऋ० ५।५४।८)
...सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः । (ऋ०१।६४।२)

वे शूर घुडसवार जैसे दीख पडते हैं, जो मानवी संघोंको जीत लेते हैं और उनके शरीर झंडा ले चलनेवाले योद्धाओंके जैसे प्रतीत होते हैं।

श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे... । (ऋ० १।८५।८)
साहा ये सन्ति मुष्टिहेव हव्यो... । (ऋ. ८।२०।२०)
अर्चत्रयो धुनयो न वीरा... । (ऋ. ६।६६।१०)

यशस्विता खोजनेवाले वीरोंके समान बडी भारी सेनाओंमें वे अपनी शक्ति धर देते हैं, मुष्टियोद्धाके समान वे सहायताके लिए बुलाने योग्य हैं और गरजनेवाले वीरोंके समान वे युद्ध गीत ऊँची आवाजमें गाते फिरते हैं।

(३) मरुतोंसे विनन्ति की गयी है कि वे उपासकको इस तरह अपने हाथमें उठा लें जैसे कि पिता अपने नवजात शिशुको हाथोंसे उठाता है (...पिता पुत्रं न हस्तयोः दधिध्वे वृक्तबर्हिषः। (ऋ. १।३८।१) यहाँपर नवजात शिशुकाही निर्देश है, जैसे कि ऋ. ६।१६।४० में पाये जानेवाले मंत्रसे– स्पष्ट होता है।

आ यं हस्ते न खादिनं शिशुं जातं न बिभ्रति ।
विशामग्निं स्वध्वरम् ।

(विशां सु-अध्वरं) जनतामें अच्छे यज्ञोंके निष्पादक (यं खादिनं अग्निं) जिस हवि खानेवाले अग्निको अध्वर्यु लोग (जातं शिशुं न) उत्पन्न शिशुको जैसे सावधानतया उठा लेते हैं वैसेही (हस्ते आ बिभ्रति) हाथ में पूर्णतया धर देते हैं।

नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीळन्ति क्रीळा... ।
(ऋ. १।१६६।२)

वे उसके समीप खेलते हुए उसके दिये हुए मीठे हविर्भाग को उसी तरह सप्रेम स्वीकार कर लेते हैं जैसे कोई अपने औरस पुत्रको अपने समीप रख लेना चाहे।

...उक्षन्त्यस्मै मरुतो हिता इव पुरू रजांसि पयसा मयोभुवः।
(ऋ. १।१६६।६)
...यतः पूर्वां इव सखीँ... । (ऋ. ५।५३।१६)

चिरकाल तक जिनकी मित्रता की जाँच हुई है, ऐसे मित्रोंकी तरह वे मरुत् हितकारक होते हुए उपासकके लिए बहुतसे स्थानोंको जलवर्षासे भिगो देते हैं और बुलानेपर पुराने मित्रोंकी नाईं उसकी मदद करनेके लिए चले जाते हैं। 'हितः' का अर्थ है 'हिताः सखायः।' तुलना करो –

....सौकृत्याय सखा हितः । (ऋ. १०।१३६।४) तथा
...हितं मित्रं इव....बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त...।
(ऋ. १०।७।५)
उपक्षेति हितमित्रो न राजा । (ऋ.३।५५।२१; १।७३।३)
...विश्वे शर्धो अभितो मा नि षेद ।
नरो न रण्वाः सवने मदन्तः । (ऋ. ७।५९।७)

वे मरुत् उपासकके चारों ओर बैठते हैं और छुट्टीके दिन दिलबहलाव करनेवाले मानवोंके समान उसकी हवियोंका सानन्द स्वीकार करते हैं।

(४) ते मे के चिन्न तायव ऊमा आसन् दृशि त्विषे ।
(ऋ. ५।५२।१२)

...उज्जिघ्नन्त आपथ्योऽ न पर्वतान् । (ऋ. १।६४।११)

अज्ञात एवं अनोखे डाकुओंकी तरह वे मरुत् तीव्रतासे यकायक दृष्टिगोचर हुआ करते और शीघ्रगामी यात्रियोंकी तरह (रथमें बैठे हुए) पहाडोंको तोडते तथा धूल या गर्द उडाते चलते हैं। यहाँपर 'उज्जिघ्नन्तः' के बाद 'रेणुं' अध्याहृत समझना चाहिए। तुलनाके लिए—

...उतो पृति पृथिव्या रेणुमस्यन् । (ऋ. १०।११८।१)

(५)...ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीळिनः पयोधाः । (ऋ. ७।५६।१६)

...शिशूला न क्रीळयः सुमातरः... । (ऋ. १०।७८।६)

वे मरुत् प्रासादों, महलों एवं ऊँची अट्टालिकाओंमें रहनेवाले छोटे छोटे बालकोंकी तरह और दुधमुँहे शिशुगणके तुल्य जगमगानेवाले एवं खिलाडी हैं।

...यम इव सुसदृशः सुपेशसः । (ऋ.५।५७।४)

जुडवा बालकोंकी तरह वे समानरूपसे दर्शनीय एवं सुन्दर हैं।

...भर्तेव गर्भं स्वमित् शवो धुः... । (५।५८।७)

उन मरुतोंने भूमिमें अपना वीर्य याने वर्षाजल उस तरह रखा जैसे कि पति गर्भाशयमें गर्भ की स्थापना करता है।

सोमासो न ये सुताः ... हृत्सु पीतासो दुवसो नासते ।
(ऋ. १।१६८।३)

मानवोंके अन्तस्तलों में वे मरुत् इसी तरह अपना स्थान पा लेते हैं जैसी कि आज्ञापालक सेवक या पिये हुए सोम।

अच्छ... मारुतं गणं दाना मित्रं न योषणा... ।
(ऋ. ५।५२।१४) तथा तुलनाके लिए—

भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् । (ऋ १०।२७।१२)

इस मंत्रको लीजिए, 'मरुतोंके निकट उपासक साथमें दान या उपहारकी वस्तु लेकर (निरपेक्ष बुद्धिसे, बदलेमें कुछ न चाहता हुआ) पहुंचे जैसे कि प्रेम करती हुई युवती अपने प्रेमपात्र प्रेमी युवकके पास चली जाती है। (दूसरे मंत्रमें स्वयंवरप्रथाका या गान्धर्व विवाह प्रणालीका स्पष्ट निर्देश है और उसका अर्थ है ' वह वधू सुन्दर वेषभूषावाली होकर जनतामेंसे खुदही अपने मित्रका वरण करती है ।)

(६) येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वान् इव विश्पतिः ।
भिया यामेषु रेजते । (ऋ. १।३७।८)

प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु...।(ऋ.१।८७।३)

दुडावसे जीर्णशीर्ण नरेशकी नाईं यह पृथ्वी मरुतोंकी वीरयात्रामें काँप उठती है और वृद्धा नारीके तुल्य हिलने लगती है।

...वो अज्मन्... रथीयन्तीव प्रजिहीत ओषधिः ।
(ऋ. १।१६६।५)

मरुतोंके सर्वकष अभियानके समय झाड झंखाड इस तरह हट जाते हैं, जैसे कि रथपरसे जानेवाली नारी शीघ्र चली जाती है।

...मरुतो यद्वर्णसं मोषथा वृक्षं कपनेव... (ऋ.५।५४।६)

जैसे फल बेचनेवाली कन्या फलोंसे लदे वृक्ष को हिलाती है, वैसेही वे तरंगयुक्त मेघको लूटते हैं।

... वि सक्थानि नरो यमुः । पुत्रकृथे न जनयः ।
(ऋ. ५।६१।३)

मरुत् घुडसवारीमें अपने पैरोंको इसी तरह फैलाते हैं जैसे कि प्रसूतिके मौकेपर नारियाँ ।

अन्वेनाँ अह विद्युतो मरुतो जज्झतीरिव ।
भानुरर्त त्मना दिवः । (ऋ. ५।५२।६)

फैशनेबुल नारियोंके समान ये विद्युत् मरुतों के पीछे पीछे चली जाती है।

गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक् । (ऋ.१।१६७।३)

... ऐषामंसेषु रम्भिणीव रारभे ...। (१।१६८।६)

उनकी रोदसी उनके कंधोंसे वेगपूर्वक इस भाँति चिपक जाती है मानों उत्तेजित मनोविकारवाली कन्या हो या मानवकी प्रेमिका जैसी।

(२) पशु-समुदाय

(७) सिंहा इव नानदति प्रचेतसः । (ऋ० १।६४।८)
सिंहा न हेषक्रतवः सुदानवः । (ऋ० ३।२६।५)

मरुत् बारबार सिंहोंकी नाईं गरजते हैं और उनके समान ही उनकी शक्ति अपने दहाडने में छिपी रहती है।

मृगा इव हस्तिनः खादथा वना... । (ऋ० १।६४।७)

वन्य हाथियों की तरह वे मरुत् जंगलों को तोडमरोड एवं विध्वस्त कर मानों खा जाते हों।

...मरुतो धृष्णवोजसो मृगा न भीमास्तविषीभिरर्चिनः...।
(ऋ० ३।३४।१)

भयावह पशुओंकी तरह वे मरुत् साहसमय भावों से पूर्ण हैं।

अत्यासो न ये मरुतः स्वञ्चः ॥ (ऋ० ७।५६।१६)

मरुत् घोडोंकी नाईं इठलाते चलते हैं ।

अश्वा इवेदरुषासः सबन्धवः । (ऋ० ५।५९।५)

अश्वा इव सुभ्व१श्चारवः स्थन... । (ऋ० ५।५९।३)

वे मरुत् अश्वोंके समान रक्तिम आभावाले,सुदृढ एवं सुन्दर हैं।

अश्वासो न ये ज्येष्ठास आशवो... । (ऋ० १०।७८।५)

घुडदौडमें भाग लेनेवाले घोडोंकी तरह वे बहुत शीघ्र छलाँग मारनेवाले हैं ।

...ते अक्रा न वावृधुः । (ऋ० १०।७७।२)

वे मरुत् प्रबल घोडोंके समान शक्तिमान् हुआ करते तथा बढते हैं ।

(८) **...गावो वन्द्यासो नोक्षणः ।** (ऋ. १।१६८।२)

वृषणश्चन्द्रान्त्सुश्रवस्तमान् गिरा वन्दस्व मरुतो...। (ऋ. ८।२०।२०)

वे मरुत् साँडोंके समान वन्दनीय हैं; सुन्दर एवं अतिख्यातिमान् साँडोंके तुल्य इन मरुतोंकोभी उपासक प्रणाम करे ।

नि ये रिणन्त्योजसा वृथा गावो न दुर्धुरः। (ऋ. ५।५६।४)

न सिखाये हुए (शब्दशः देखा जाय तो जिन्हें गाडीमें जोतना कठिन है) बैलोंके समान वे मरुत् बडी सुगमतापूर्वक दुश्मनोंको जडमूलसे उखाड देते हैं ।

...मरुतः शिमीवाँ अमो दुध्रो गौरिव भीमयुः।(ऋ.५।५६।३)

मरुतोंका वेगपूर्वक आगे बढना उतनाही भीषण है, जितना न सिखाया हुआ बैल हुआ करता है । " दुध्रः गौः " का अर्थ है जिसे सिखाना या गाडीमें जोतना कठिन है ।

ते स्पन्द्रासो नोक्षणोऽति ष्कन्दन्ति शर्वरीः । (ऋ. ५।५२।३)

वे मरुत् यात्रा करनेवाले बैलोंकी नाईं रात्रियोंमें भी लगातार चलते रहते हैं ।

गवामिव श्रियसे शृङ्गमुत्तमं । (ऋ. ५।५९।३)

...मरुतां पुरुतममपूर्व्यं गवां सर्गमिव ह्वये । (ऋ.५।५६।५)

गायके ऊँचे सींगकी तरह वे बडे सुन्दर दिखाई देते हैं और गायोंके झुंडके समान वे असाधारण रूपसे सुन्दर दीख पडते हैं ।

...वाश्रेव सुमतिर्जिगातु । (ऋ. २।३४।१५)

धेनुर्न शिश्वे स्वसरेषु पिन्वते
जनाय रातहविषे महीमिषम् । (ऋ. २।३४।८)

उपासकके प्रति उनकी सुबुद्धि इसी तरह चली जाती है जैसे कि रँभाती हुई गाय (अपने बछडेके समीप) जाती है और वे उसके लिए वैसेही अन्नको पुष्ट बना देते हैं जैसे कि गाय अपनी गौशालामें बछडेके लिए पुष्टिकारक दूध दे डालती है । ('स्वसरेषु' पद बहुधा उपमान एवं उपमेय दोनोंके लिए प्रयुक्त हुआ दीख पडता है। आशय यही है कि अपने उपासकोंके लिए मरुत् पर्याप्त पुष्टिकारक भोजन ला देते हैं, चाहे किधर भी अपने घरोंमें रहें ।)

अश्वामिव पिप्यतं धेनुमूधनि कर्ता धियं जरित्रे ... । (ऋ. २।३४।६)

अपने भक्तोंकी प्रार्थनाको मरुत् उसी तरह पुष्ट एवं फलदायक बना देते हैं जैसे कि वे घोडी या गायके लेवेको पुष्ट करते हैं ।

स्तुवतो अस्य यामनि रणन् गावो न यवसे। (ऋ.५।५३।१६)

उपासकोंके यज्ञमें उन्हें उतनाही आनन्द आता है जितना कि तृणाच्छन्न चरागाहोंमें चरते समय गायोंको हर्ष होता है ।

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति । (ऋ. १।३८।८)

रँभानेवाली गायके समान उनकी विद्युत् वर्षा करनेवाले मेघसे लिपट जाती है, मानों गाय अपने बछडेसे चिपकती है ।

(९) **पिशा इव सुपिशो विश्ववेदसः ।** (ऋ. १।६४।८)

धब्बेवाले हिरनोंके तुल्य वे तेजस्वी छविवाले हैं ।

...मृगा न यामे अगृभीतशोचिषो...। (ऋ. ५।५४।५)

उनका तेज ऐसा है कि कोई उसे पकड नहीं पाता, मानों वे चपल बारहसींगे हों ।

...मृगा न येतिरे... । (ऋ. १०।७७।२)

हरणोंके तुल्य वे मरुत् दौडनेमें एक दूसरेसे चढाऊपरी करते हैं ।

ऋक्षो न वो मरुतः शिमीवाँ अमो... (ऋ. ५।५६।३)

हे मरुतो ! आपका आक्रमण रीछकी नाईं प्रबल है ।

(३) पंछियोंका संसार

(१०) **श्येनासो न पक्षिणो वृथा नरो हव्या नो वीतये गत ।** (ऋ. ८।२०।१०)

भक्तोंके दिये हुए हविर्भागोंका सेवन सानन्द करनेके लिए वे आकाशपथमेंसे बाजपंछियोंके तुल्य बडी सुगमतासे आ बैठते हैं।

श्येनाँ इव ध्रजतो अन्तरिक्षे... । (ऋ. १।१६५।२)

..श्येना अस्पृध्रन्..। (ऋ. ७।५६।३)

बाजपंछकी नाई वे अन्तरिक्षमें चले जाते हैं और एक दूसरेसे स्पर्धा करने लगते हैं।

श्येनासो न...रिशादसः... । (ऋ. १०।७७।५)

बाजके तुल्य वे दुश्मनोंपर टूट पडते हैं और उन्हें मानों खा जाते हैं।

वयो न ये श्रेणीः पप्तुरोजसा अन्तान् दिवो...।(ऋ. ५।५९।७)

वे आकाशके एक छोरसे दूसरे छोरतक अपनी शक्तिसे जैसे कि पंछी (हंस या बाज) कतार बनाकर उडते हैं।

...वयो न पप्तता सुमायाः । (ऋ. १।८८।१)

.. वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये । (ऋ. १।८५।७)

पंछियोंके समान (उदाहरणार्थ, हंस) वे मरुत् लालित्य-पूर्ण ढंगसे नीचे उत्तर आते हैं और उपासकके दिये हुए प्रिय कुशासनों पर बैठ जाते हैं।

आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय... ।

(ऋ. २।३४।५)

जिस तरह हंस पक्षी अपने घोंसलोंकी ओर चले जाते हैं, उसी तरह वे मधुरिमामय सोमरसके सेवनार्थ लालित्यपूर्ण एवं उत्सुकतामय दिलसे चले जाते हैं।

...तन्वः शुम्भमानाः आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन् ।

(ऋ.७।५९।७)

अपने शरीरोंकी सजावट करते हुए वे कृष्ण डैनोंवाले हंसोंकी तरह दिखाई देनेवाले मरुत् नीचे उतर आते और भक्तोंके निकट बैठ जाते हैं।

उपह्वरेषु यदचिध्वं ययिं वय इव मरुतः केन चित् पथा।

(ऋ० १।८७।२)

पंछियोंकी तरह चाहे जिस राहसे यात्रा करते हुए वे छिद्रोंमें पेड हुए दौडते हुए मेघको ढूँढ सके।

"यो न पक्षान् व्यनु श्रियो धिरे । (ऋ. १।१६६।१०)

उन्होंने अपनी शोभाको अपने चतुर्दिक् उसी तरह फैलाया जैसे कि अपने डैनोंको फैलाते हुए पंछी (क्या मोरोंका निर्देश है ?) कर लेते हैं।

(४)जड एवं निर्जीव सृष्टि या अचेतन प्रकृति

(११) ... महिना द्यौरिवोरवः । (ऋ० ५।५७।४)

...बृहो द्यावो यतीरिव । (ऋ० ५।५३।५)

आकाश के तुल्य वे अति विशाल हैं और उनके रथ भी आस्मान की तरह वर्षा बिन्दुओंसे युक्त हो जनता के समीप जाते हैं।

...दूरेदृशो ये दिव्या इव स्तृभिः । (ऋ० १।१६६।६)

...द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो । (ऋ०२।३४।२)

अपने सुनहले खादि एवं अन्य विभूषणोंके पहनने से वे सुदूरसेही दिखाई देने लगते हैं और नक्षत्रविभूषित द्युलोककी नाईं स्पष्टतया पहचाने जाते हैं।

...अञ्जिभिर्व्यानञ्जे केचिदुस्रा इव स्तृभिः । (ऋ. १।८७।१)

वे अनूठे रूपवाले देव गहनोंसे वैसेही विभूषित हैं जैसे कि लालिमामय प्रातःकाल ताराओंसे अलंकृत होते हैं।

(१२) ...रुक्मो न चित्रः... । (ऋ. १।८८।२)

...विभ्राजन्ते रथेष्वा । दिवि रुक्म इवोपरि ।

(ऋ. ५।६१।१२)

मरुतोंका संघ सुनहले गेंदके तुल्य (सूर्य) अनोखा है और अपने रथमें उसी तरह जगमगाता है जैसे कि ऊपर आकाशमें वह सुवर्णकन्दुकवत् प्रतीयमान सूर्य प्रकाशता है।

...सूर्यो न चक्षू रजसो विसर्जने ...। (ऋ. ५।५९।३)

मेघोंसे मुक्त होनेपर सूर्यकी चक्षू जिस तरह निष्कलंक है वैसे ही वे धब्बोंसे रहित है।

विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः ...। (ऋ. ५।५५।३)

सूर्यकिरणोंके तुल्य वे तेजःपुञ्ज हो जगमगाते हैं।

प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः ।

(ऋ.१०।७७।३)

अपनी महानतासे वे द्युलोक एवं भूलोकपर हावी हो जाते हैं जैसेकि सूर्य मेघमालापर हावी हुआ करता है।

तत् वो...द्रविणं... येना स्वर्ण ततनाम नॄँरभि ।

(ऋ. ५।५४।१५)

न यो युच्छति तिष्योऽ यथा दिव्यो३॥(ऋ. ५।५४।१३)

वे उपासकको धन देते हैं जिससे वह मानवोंमें उसी तरह चमकने लगता है जैसे कि सूर्य और वे उसे धनभाण्डार दे डालते हैं, जो आकाशमें नक्षत्रतुल्य कभी क्षीण नहीं होने पाता।

-उषसां न केतवोऽध्वरश्रियः... । (ऋ. १०।७८।७)

उषःकालीन किरणोंकी तरह वे नियमित रूपसे यज्ञमें उपस्थित रहते हैं।

पावकासः शुचयः सूर्या इव...। (ऋ. १।६४ २)

वे सूर्य किरणोंके समान शुद्ध एवं पवित्रता करनेहारे हैं।

...अहेव प्रप्र जायन्ते...। (५।५८।५)

दिनोंके तुल्य वे कभी समाप्त न होनेवाले क्रमसे प्रकट होते हैं।

मरुतो वर्षनिर्णिजः । (ऋ. ५।५७।४)

वे मरुत् जलधाराओंको मानों कपडोंकी तरह पहन लेते हैं।

...विद्युन्न तस्थौ मरुतो रथेषु वः। (ऋ. १।६४।९)

उनके रथोंमें वह बिजली की तरह बैठ जाती है।

...आ...गन्ता वृष्टिं न विद्युतः। (ऋ. १।३९।९)

मरुत् उपासकके निकट उसी तरह चले जाते हैं, जैसे कि दामिनियाँ वर्षाकालीन मेघकी ओर चली जाती हैं।

...खादिनः व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः। (२।३४।२)

खादी पहननेवाले मरुत् इस तरह सुहाने लगते हैं मानों मेघोंसे आनेवाली वर्षाएँ (दामिनीकी दमकके कारण) हैं।

वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना...। (७।५६।१३)

वर्षाकालीन मेघोंसे लिपटी हुई विद्युत् जिस तरह सुहाती है वैसेही मरुतोंके कंधोंपर खादी सुहाती है।

(१३) **मीळ्हुष्मतीव पृथिवी पराहता मदन्त्येत्यस्मदा...।** (ऋ ५।५६।३)

वर्षाजलसे भरी होनेपर पृथ्वी जैसे संकुचित होती है, वैसेही वे हमसे प्रसन्न होकर चले जाते हैं।

...अध्रिगावः पर्वता इव। (ऋ० १।६४।३)

...गिरयो न स्वतवसो...। (१।६४।७)

...अधृष्टासो न अद्रयः। (ऋ. ५।८७।२)

ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि...। (५।८७।९)

मरुत् पर्वतोंके समान अप्रतिहत रूपसे आगे बढनेवाले, रुकावटका तनिकभी अनुभव न लेनेवाले अजेय एवं सुदृढ हैं।

वभ्रासो न ये स्वजाः स्वतवसः...। (१।१६८।२)

पहाडी गुफाओंके समान वे स्वयंही उत्पन्न एवं निजी शक्तियोंसे युक्त हैं।

यूयं ह भूमिं किरणं न रेजथ। (ऋ. ५।५९।४)

हे मरुतो ! तुम भूमिको धूलिकणकी तरह ऊपर उडाते हो, हिला देते हो।

(१४) **अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः...।** (ऋ. ५।५४।११)

'धधकते हुए अग्नियोंकी तरह वे तेजस्वी एवं निजी तेजसे चमकनेवाले हैं।

ये अग्नयो न शोशुचन्। (ऋ. ६।६६।२)

...अग्नयो न स्वविद्युतः ..। (ऋ. ५।८७।३)

अग्निर्न ये भ्राजसा ॥

मरुत् अग्निवत् तेजभरे एवं जगमगानेवाले हैं।

अग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः।.... (ऋ. १०।७८।३)

उरुक्षयाः निदः शुशुक्वांसो नाग्नयः (ऋ. ।८७।६)

अग्निकी लपटोंके समान वे मरुत् आभामय हो चमकने लगते हैं और उपासकके निन्दक लोगोंसे उसी तरह बचते हैं जैसे धधकनेवाले अग्नि ही हों।

ते रुक्मासः... अग्नयो यथा...। (ऋ. ।८७ ७)

तृषुच्यवसो जुह्वो३ नाग्नेः। (ऋ. ६।६६।१०)

अग्नितुल्य वे वीर अच्छे लडाके हैं और अग्निकी फैलनेवाली लपटोंकी तरह शत्रुओंको अच्छी तरह पछाड देनेवाले हैं।

त्विषीमन्तो अध्वरस्येव दिद्युत। (ऋ ६।६६ १०)

यज्ञके जगमगानेवाले हाथियार यानि आग्नकी तरह वे मटियामेट करनेवाले तेजसे युक्त हैं।

पावतः शोचिर्न मानमस्यथ। (ऋ १ ३९।१)

अग्निकी घुसनेवाली ज्वालाके समान टटोलनेवाला साधन वे आगे बढाते हैं। ' मानं ' शायद वेगवान् वायु हो जो वास्तविक आँधीके पहले चलने लगती है; कल्पना यूं है कि आक्रमण करनेके पहले वे मरुत् हमला चढानेयोग्य वस्तुओंकी शक्तिकी जाँच करनेके लिए अपना आगमन बतानेवाली वायुको भेज देते हैं जैसे अग्नि अपनी समिधाकी शक्ति जाननेके लिए अपनी ज्वाला आगे बढाता है।)

(१५) **...आप इव सध्र्यञ्चो धवध्वे।** (ऋ ५।६०।३)

समूहमें दौडनेवाले जलोंके समान बडे वेगसे मरुत् आगे बढ जाते हैं।

सिन्धवो न ययियो ..। (ऋ १०।७८।७)

आपो न निम्नैरुदभिः.... (१०।७८।५)

नदियोंके तुल्य वे अविराम गतिसे चले जाते हैं और पहाडी नदियोंके तुल्य जोकि ढलती जगहोंसे गिरती हैं, वे बडी उत्सुकतापूर्वक निकल आते हैं।

अर्णो न द्वेषो धृषता परि ष्ठुः। (ऋ. १।१६७।९)

तिर आप इव स्रिधः...। (ऋ. ८।९४।७)

जलौघोंके समान वे धैर्यपूर्वक शत्रुओंको घेर लेते हैं और शत्रुदलमेंसे इस भाँति निकल जाते हैं जैसे कोई पानीको चीरकर आगे बढता है।

सहस्रियासो अपां नोर्मयः ...। (ऋ. १।१६८।२)

येषामर्णो न सप्रथो ...। (८।२०।१३)

पानीके ऊपर उठनेवाली तरंगोंके समान वे हजार गुना हुआ करते हैं और उनकी कीर्ति वैसेही फैलती है जैसे पानीकी बाढ।

(१६)...भूमिरेजति नौर्न पूर्णा क्षरति व्यथिर्यती।

(ऋ. ५।५९।२)

मरुतोंके आक्रमणमें भूमि उसी तरह भीगीभीगी हुआ करती है और टपकाती है जैसे कि लबालब लदी हुई नाव पानीमें इधरउधर ठहरठहरकर लुढकती है।

(१७) रथानां न येऽराः सनाभयो...। (ऋ.१०।७८।४)

अरा इवेदचरमा...। (५।५८।५)

पहियोंके आरोंकी तरह जो मरुत् एकही पुट्ठी या नाभिवाले हैं, और उन्हीं के तुल्य मरुतोंके संघमें एकभी ऐसा नहीं कि जिसे छोटा कहा जा सके।

...वोऽन्तर्मरुतः...रेजति त्मना हन्वेव जिह्वया ...।

(ऋ. १।१६८।५)

उपासक अपने सूक्तोंसे इन मरुतोंको उसी तरह हिलाता है जैसेकि कोई अपनी जिह्वासे जबडोंको हिलाए।

...चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगं...। (ऋ. ५।५।४६)

जैसी आँख चलनेवालेको ठीक राहपरसे ले चलती है उसी तरह मरुत् भक्तों की पूज्य बुद्धिको अच्छे मार्गपर प्रतिष्ठापित करते हैं।

...मेधा वना न कृणवन्त ऊर्ध्वा...। (ऋ. १।८८।३)

वे अपने सुनहले कुठारोंको उसी तरह ऊपर उठाते हैं जैसे कि याज्ञिक लोग यज्ञीय काष्ठोंको ऊपर धर देते हैं।

...चर्मेवोदभिः व्युन्दन्ति भूम। (ऋ. १।८५।५)

वे भूमिको गीली करके इस तरह नरम बनाते हैं जैसे कि कोई कठिण चमडेको नर्म बनाए।

इस भाँति उपर्युक्त अवतरण देखनेसे स्पष्ट दीख पडता है कि वेदकालीन कवियोंने अपने वर्ण्य विषयको अधिक हृदयंगम करने के लिए जीवन एवं प्रकृतिके विभिन्न क्षेत्रों एवं विभागोंसे अपने उपमान ले लिये हैं। यह देखना उपयुक्त होगा कि मानवप्राणियोंमेंसे वे किन विशिष्ट गुणोंके लिए विभिन्न पुरुषों या व्यक्तियोंको चुन लेते हैं। (१) भव्य आकृति एवं आज्ञासूचक भाव दर्शाने को नरेश, (२) वैयक्तिक वेषभूषा एवं भली भाँति प्रदर्शनकी उत्सुकता बतलानेके लिए शूरवीर नवयुवक, (३) बेपर्वाहीसे युक्त साहसिकता एवं धैर्य सूचित करनेके लिए योद्धा, (४) दुर्बलका पक्ष लेनेके कारण मुष्टियोद्धा, (५) निस्स्वार्थ सहायता सूचित करनेको मित्र, (६) निर्धन प्रेमीका स्वार्थरहित भावसे स्वीकार करना बतलानेके लिए प्रेम करनेवाली कन्या, (७) निरागसता की सजीव मूर्ति होनेसे छोटी अवस्थावाले बालक और (८) नवजात शिशुका उत्सुकतापूर्वक स्वागत करनेकी वृत्ति होनेसे पिताका चुनाव वैदिक कवियोंने किया है।

पशुओंमें (९) घोडा तथा (१०) गौ वैदिक कवियोंकी निगाहमें अतीव प्रिय हैं क्योंकि उपयुक्तता तथा सुन्दर स्वरूप दोनोंमेंही बराबर उपलब्ध होता है तथापि वे (११) सिंहकी भीषण दहाड और (१२) गजराजकी वन भक्षण तत्परतासे भी आकर्षित हुए हैं। वे (१३) साँडके लिके लिए विशेष ध्यान देते हुए प्रतीत होते हैं और (१४) गायका अपने बछडेके प्रति जो मातृप्रेम होता है उससे तो वैदिक कविगण अत्यधिक मात्रामें प्रभावित हुए हैं। (१५) बारहसींगेकी सुन्दरता एवं चपलताकी ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ है। हाँ, जब पंछियोंकी बारी आती है तो (१६) अत्युच्च गगनमें विहार करनेवाला श्येन या बाज तथा (१७) मनमोहक हंस ही वैदिक कविने चुन लिए हैं। शायद (१८) मयूरसेभी उनकी कल्पनाशक्ति प्रभावित हो उठी है। श्येनों एवं हंसोंका सामुदायिक ढंगसे उडते चले जाना और गायोंकी संघमें घुसनेकी प्रवृत्ति भली भाँति वेदकालीन लोगोंने देख ली थी।

जड प्रकृतिमें या अचेतन संसारमेंसे (१९) आकाशके असीम विस्तारसे तथा (२०) नक्षत्रमण्डित गगनतलकी चारुतासे वैदिक कवि प्रभावित हुआ है और उसी प्रकार (२१) उदीयमान सूर्यकी सुनहली छवि एवं दुपहरके गगनमंडल-मध्यवर्ति सूर्यकी चौंधियानेवाली तेजस्वितासेभी उसका चित्त बराबर हिल उठा है। (२२) उषाओंका नियमित रूपसे पधारना देखकर वैदिक सूक्त निर्माताका हृदय आश्चर्य एवं आनन्दविभोर हो उठा है और अन्ततोगत्वा (२३) पर्वतोंकी नैसर्गिक स्वतंत्रता एवं बलिष्ठता, (२४) अग्निकी संरक्षक तथा विध्वंसक शक्ति, (२५) नदियोंकी अविरत गति, (२६) वर्षाकालमें नदीजलोंमें संचार करनेवाली छोटी नावकी अस्थिरता और (२७) पहियेके आरोंकी पूर्ण समतापूर्वक अवस्थिति एवं उनका धुरासे संबंधका भी पूरी तरह

हमारे मंत्रनिर्माता कवियोंने निरीक्षण किया है और काव्यमय ढंगसे प्रयोग भी किया है।

मरुतोंके कल्पनाजनित चित्रमें वैदिक कवियोंने उनकी (१) भास्वर तेजस्विता, (२) प्रकाशवलय, (३) सौवर्ण आभूषण एवं आयुध, (४) बलिष्ठ एवं भव्य शरीराकृति, (५) शुद्धता एवं पवित्रता, (६) अनूठी एवं उग्र चितवन तथा साथही साथ चारुतामय एवं खिलाडीपनसे सनी मुखाकृति, (७) बृहदाकार शरीरसौष्ठव और अनगिनती संख्या तथा अन्तमें (८) बडी भारी पारस्परिक समानता एवं नितान्त अविषम भावका निरीक्षण किया है। मरुतोंके वैशिष्ट्यसूचक गुणों तथा क्रियाओंका वर्णन करते हुए वैदिक कवि उनकी (१) ऊँची उडान, वेगपूर्वक नीचे उतरना एवं अपनी जगह बैठ जाना, (२) संघ बनाकर उडते जाना और कतारों में घूमना, (३) चारुतामय एवं आसानी से किए हुए भ्रमण, (४) रुकावटोंको हटाते हुए आगे बढना, (५) अविरत यात्रा करना, (६) उग्र एवं उध्वस्त करनेवाले भाव, (७) अतिवेगशालिता, साहसिकता एवं भीषणता, (८) अजेय मनोवृत्ति तथा अदम्य उत्साह, (९) अविकल आत्मविश्वास, (१०) कीर्तिके लिए लालायित रहना और आभूषण तथा शरीरसज्जाकी चाह, (११) दुर्बलोंकी रक्षा एवं सहायता देनेको तत्पर रहना, (१२) खिलाडीपन एवं चैन करना, (१३) समयपर कार्य करनेकी तैयारी और, (१४) गंभीर गर्जनवाली दहाड या सिंहनाद का निर्देश करते हैं।

*

वेदका रहस्य

[अध्याय २१ वाँ]

दस्युओं पर विजय

[लेखक- श्रीअरविंद; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी,]

दस्यु आर्य-देवों तथा आर्य-ऋषियों दोनोंके विरोध में खडे होते हैं। देव पैदा हुए हैं 'अदिति' से वस्तुओं के उच्चतम (परम) सत्य में, दस्यु या दानव पैदा हुए हैं 'दिति' से निम्नतर (अवर) अन्धकार में, देव हैं प्रकाश के अधिपति तथा दस्यु रात्रि के अधिपति हैं और पृथिवी, द्यौ तथा मध्य के लोक-शरीर, मन तथा इनको जोडनेवाले जीवन-प्राण-इस त्रिगुण लोक के आरपार इन दोनों का आमना-सामना होता है। सूक्त १०।१०८ में सरमा सर्वोच्च लोक से, (पराकात्), उतरती है; उसे 'रसा' के जलों को पार करना पडता है, उसे 'रात्रि' मिलती है जो अपने अतिलंघन किये जाने के भय से - (अतिष्कदो भियसा) उसे स्थान दे देती है; वह दस्युओंके घर को पहुंचती है, (दस्योरोको न सदनम् । १।१०४।५), जिस घर को स्वयं दस्युओं ने ही इस रूप में वर्णित किया है कि वह 'रेकु पदम् अलकम्' (१०।१०८।७) है, अर्थात् अनृत का लोक जो कि वस्तुओं की सीमा से परे है। है तो उच्च लोक भी वस्तुओं की सीमा से परे गया हुआ क्योंकि वह इस सीमा से आगे बढा हुआ या इस सीमा को लांघे हुए है; है यह भी 'रेकु पदम्,' पर 'अलकम्' नहीं किन्तु 'सत्यम्' है, सत्य का लोक है न कि अनृत का लोक। अनृत का लोक है अन्धकार जो कि ज्ञानरहित है, (तमो अवयुन ततन्वत्) जब इन्द्र की विशालता बढकर द्यौ तथा पृथिवी और मध्यलोक (अन्तरिक्ष) लांघ जाती है (रिरिचे), तब वह (इन्द्र) आर्य के लिए इस (अनृत-लोक) के विपरीत सत्य के और ज्ञान के लोक, (वयुनवत्) को रचता है, जो ज्ञान और सत्य का लोक इन तीन लोकों से परे है और इसलिए 'रेकु पदम्' है।

इस अन्धकार को, इस अधोलोक को जो कि रात्रि और अचेतना का है (इस रात्रि और अचेतना का प्रतीक के तौर पर वर्णन किया गया है इस रूपमें कि यह वह पर्वत है जो पृथिवी के आभ्यन्तर से उठता है और द्यौ के पृष्ठ तक जाता है) निरूपित किया गया है उस गुप्त गुफा से जो पहाडी के अधोभाग में है, जो गुफा अन्धकार की गुफा है।

पर वह गुफा पणियों का केवल घर है, पणियों का क्रिया-क्षेत्र है पृथिवी तथा द्यौ और मध्य-लोक। पणि अचेतना के पुत्र हैं, पर स्वयं अपनी क्रिया में वे पूरे-पूरे अचेतन नहीं हैं; वे प्रतीयमान ज्ञान के रूपों, (मायाः) को रखते हैं, पर ये रूप वस्तुतः अज्ञान के रूप हैं जिन का सत्य अचेतन के अन्धकार में छिपा हुआ है और उनका उपरितल या अग्र-भाग अनृत है, न कि सत्य। क्योंकि संसार जैसा यह हमें दीखता है, उस अन्धकार में से निकला है जो कि अन्धकार में छिपा हुआ था (तम आसीत् तमसा गूढम्), उस गम्भीर तथा अगाध जल-प्रवाह में से निकला है जिसने सब वस्तुओं को आच्छादित किया हुआ था, अचेतन समुद्र, (अप्रकेतं सलिलम्,) में से निकला है (देखो, १०।१२९-३ *)। उस असत् के अन्दर द्रष्टाओं (कवियों) ने हृदय में इच्छा करके और मन में विचार के द्वारा उसे पाया जिस से कि सत्य सत्ता रचित होती है ×। वस्तुओं के सत्य का यह 'असत्' उन का प्रथम रूप है जो अचेतन समुद्र से उद्भूत होता है; और इसका महान् अन्धकार ही वैदिक रात्रि है जो रात्रि 'जगतो निवेशनी' है, जगत् को तथा जगत् को सारी अव्यक्त संभाव्य वस्तुओंको अपने अन्धकार-

* तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

× सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ (ऋ. १०।१२९।४)

मय हृदय (वक्षःस्थल) में धारण किये हुए है, (**रात्रि जगतो निवेशनीम्**) यह **रात्रि** हमारे इस त्रिगुण लोक के ऊपर अपने राज्य को फैलाती है और उस **रात्रि**के अन्दर से **द्यौ में**, मानसिक सत्ता में, **उषा** पैदा होती है जो **उषा सूर्य** को अन्धकारमें से छुडाती है जहां कि वह छिपा हुआ तथा ग्रहण को प्राप्त हुआ पडा था, और जो ' असत् ' में, **रात्रि** में, परम **दिन** के दर्शन को रचती है, (**असति प्र केतुम्**) इसलिये यह इन तीन लोकों के अन्दर होता है कि **प्रकाश** के अधिपतियों (देवों) तथा **अज्ञान** के अधिपतियों (दस्युओं) के बीच युद्ध चलता है, अपनी सतत परिवृत्तिओं, पर्यायों में से गुजरता हुआ चलता है।

' पण ' शब्द का अर्थ है व्यवहारी, व्यापारी जो कि ' पण ' धातु से (तथा ' पन ' + से, तुलना करो तालिम ' पण ' करना और ग्रीक ' पोनोस (Ponos) ' श्रम करना] बनता है और पणियों को हम संभवतः यह समझ सकते हैं कि ये वे शक्तियां हैं "जो जीवन की उन सामान्य अप्रकाशमान इन्द्रिय-क्रियाओं की अधिष्ठात्रियां हैं जिन का संनिकृष्ट मूल अन्धकारमय अवचेतन भौतिक सत्ता में होता है न कि दिव्य मन में। मनुष्य का सारा संघर्ष इस के लिये है कि वह इस क्रिया को हटा कर उस के स्थान में मन और प्राण की प्रकाशयुक्त दिव्य क्रिया को ले आये जो कि ऊपर से और मानसिक सत्ता के द्वारा आती है। जो कोई इस प्रकार की अभीप्सा रखता है, इस के लिये यत्न करता है, युद्ध करता है, यात्रा करता है, जीवन की पहाडी पर आरोहण करता है, वह है **आर्य** (आर्य, अर्य, अरि के अनेक अर्थ हैं, श्रम करना, लडना, चढना या उदय होना, यात्रा करना, यज्ञ रचना)। आर्य का कर्म है यज्ञ, जो कि एक साथ एक युद्ध और एक आरोहण तथा एक यात्रा है, एक युद्ध है अन्धकार की शक्तियों के विरुद्ध, एक आरोहण है पर्वत की उन उच्चतम चोटियों पर जो द्यावापृथिवी से परे ' स्व ' के अन्दर चली गई हैं, एक यात्रा है नदियों तथा समुद्र के परले पार की, वस्तुओं की सुदूरतम **असीमता** के अन्दर। **आर्य** में इस कर्म के लिये संकल्प होता है, वह इस कर्म का कर्ता (कारु, किरि इत्यादि) है, देव जो कि उस के कर्म में अपने बल को प्रदान करते हैं ' सुक्रतु ' हैं, यज्ञ के लिये अपेक्षित शक्ति में पूर्ण हैं; **दस्यु** या **पणि** इन दोनों से विपरीत है, वह ' अक्रतु ' है। **आर्य** है यज्ञकर्ता ' **यजमान,** ' ' **यज्यु;** ' **देव** जो कि उसके यज्ञ को ग्रहण करते हैं, धारण करते हैं, प्रेरित करते हैं, ' **यजत** ' ' **यजत्र** ' हैं, यज्ञ की शक्तियाँ हैं, **दस्यु** इन दोनों से विपरीत है। वह ' **अयज्यु** ' है।

आर्य यज्ञ में दिव्य शब्द, **गीः, मन्त्र, ब्रह्म, उक्थ,** को प्राप्त करता है, वह **ब्रह्मा** अर्थात् **शब्द** का गायक है; **देव** शब्द में आनन्द लेते हैं और शब्द को धारित करते हैं, (**गीर्वाहसः, गिर्वणसः**) दस्यु शब्दसे द्वेष करनेवाले और उस के विनाशक हैं (**ब्रह्मद्विषः**) वाणी को दूषित या विकृत करनेवाले हैं, (**मृध्रवचसः**)। दस्युओंके पास दिव्य प्राण की शक्ति नहीं है या मुख नहीं है जिस से कि वे शब्द को बोल सकें, वे **अनासः** (५-२९-१०) हैं और उनके पास **शब्द** को तथा **शब्द** के अन्दर जो सत्य रहता है उसे विचारने की, मनोमय करने की शक्ति नहीं है, (**अमन्यमानाः**) हैं; पर आर्य **शब्द** के विचारक हैं, (**मन्यमानाः**) हैं विचार को, विचारशील मन को और द्रष्टा-ज्ञान को धारण करनेवाले, **धीर मनीषी कवि हैं;** साथ ही देव भी **विचार** के अत्युच्च विचारक हैं, (**प्रथमो मनोता धियः, काव्यः**) आर्य देवत्वोंके इच्छुक, (**देवयुः, उशिजः**) हैं, वे **यज्ञद्वारा, शब्द** द्वारा, **विचार** द्वारा, अपनी सत्ता को तथा अपने अन्दर के देवत्वों को वृद्धिंगत करना चाहते हैं। दस्यु हैं देवों के द्वेषी (**देवद्विषः**), देवत्व के बाधक (**देवनिदः**), जो कि किसी वृद्धि को नहीं चाहते, (**अवृधः**) 'देव' आर्य पर दौलत बरसाते हैं, आर्य अपनी दौलत देवों को देता है, दस्यु अपनी दौलत को आर्य के पास जाने से रोकता है जब तक कि वह उस से जबर्दस्ती

+ सायन ' पन ' धातु का अर्थ वेद में ' स्तुति करना ' यह लेता है, पर एक स्थान पर उसने ' व्यवहार ' अर्थ भी स्वीकार किया है। मुझे प्रतीत होता है कि अधिकांश सन्दर्भों में इस का अर्थ क्रिया है। क्रियार्थक ' पण ' से ही, हम देखते हैं, कर्मेंद्रियों के प्राचीन नाम बने हुए हैं, जैसे ' पाणि ' अर्थात् हाथ, पैर या खुर। लैटिन पेनिस (penis) इसके साथ ' पायु ' की भी तुलना कर सकते है।

नहीं छीन ली जाती और वह देवों के लिये अमृतरूप सोम-रस को नहीं निचोडता जो देव इस सोम के आनन्द को मनुष्य के अन्दर पैदा करना चाहते हैं; यद्यपि वह 'रेवान्' है, यद्यपि उस की गुफा गौओं से और घोडों से और खजानों से भरी पडी है, (गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टम्) तो भी वह अराधस् है, क्योंकि उस की दौलत मनुष्य को या स्वयं उसे किसी प्रकार की समृद्धि या आनन्द नहीं देती, पणि सत्ता का कृपण है और आर्य तथा दस्यु के बीच संघर्ष में पणि सदा आर्य की प्रकाशमान् गौओं को लूट लेना और नष्ट कर देना, चुरा लेना तथा उन्हें फिर से गुफा के अन्धकार में छिपा देना चाहता है। " भक्षक को, पणि को, मार डालो; क्योंकि वह भेडिया है (विदारक, 'वृक' है) ×। "

यह स्पष्ट है कि ये वर्णन आसानी के साथ मानवीय शत्रुओं की ओर भी लगाये जा सकते हैं और यह कहा जा सकता है कि दस्यु या पणि मानवीय शत्रु थे जो आर्य के संप्रदाय से तथा उसके देवों से द्वेष किया करते थे, पर हम देखेंगे कि इस प्रकार की कोई व्याख्या बिल्कुल असंभव है, क्योंकि सूक्त १. ३३ में जहां कि ये विभेद अत्यधिक स्पष्टता के साथ चित्रित किये गये हैं और जहां इन्द्र तथा उस के मानवीय सखाओं का दस्युओं के साथ युद्ध बडे यत्नपूर्वक वर्णित किया गया है, वह सम्भव नहीं है कि ये दस्यु, पणि और वृत्र मानवीय योद्धा, मानवीय जातियाँ या मानवीय लुटेरे हो सकें। हिरण्यस्तूप अंगिरस के इस सूक्त में पहली दस ऋचायें स्पष्टतया गौओं के लिये होनेवाले युद्ध के विषय में हैं और अतएव पणियों के विषय में हैं।

एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति। अनामृणः कुविदादस्य रायो गवां केतं परमावर्जते नः॥ (१. ३३. १)

आओ, गौओं की इच्छा रखते हुए हम इन्द्र के पास चलें; क्योंकि वही है जो हमारे अन्दर विचार को प्रवृद्ध करता है; वह अजेय है और उस की सुख-समृद्धियां (रायः) पूर्ण हैं, वह प्रकाशमान गौओं के उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन को हमारे लिये मुक्त कर देता है (अन्धकार से जुदा कर देता है) गवां केतं परमावर्जते नः [ऋचा १]

उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि। इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन्॥ (१. ३३. २)

मैं अधर्षणीय ऐश्वर्यप्रदाता (इन्द्र) की ओर शीघ्रता से जाता हूं, जैसे कोई पक्षी अपने प्यारे घोंसले की ओर उडकर जाता है, प्रकाश के परम शब्दों के साथ इन्द्र के प्रति नत होता हुआ, उस इन्द्र के प्रति जो कि अपने स्तोताओं द्वारा अपनी यात्रा में अवश्य पुकारा जाता है [ऋचा २]

नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि। चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध॥ (१. ३३. ३)

वह (इन्द्र) अपनी सब सेनाओं के साथ आता है और उस ने अपने तूणीरों को दृढता से बांध रखा है; वह योद्धा है (आर्य है) जो कि जिस के लिए चाहता है गौओं को ला देता है। (हमारे शब्द द्वारा) प्रवृद्ध हुए हुए ओ इन्द्र ! अपने प्रचुर आनन्द को हम से अपने लिये मत रोक रख, हमारे अन्दर पणि मत बन। **चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिरिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध।** (ऋचा ३)

यह अन्त का वाक्यांश एक आकर्षक वाक्यांश है पर प्रचलित व्याख्या में इसे यह अर्थ देकर कि " हमारे लिये तू कृपण मत हो " इस के वास्तविक बल को खो दिया गया है। इस अर्थ से यह तथ्य ध्यान में नहीं आता कि पणि दौलत के अवरोधक हैं, वे दौलत को अपने लिये रख लेते हैं और इस दौलत को न वे देव को देते हैं न ही मनुष्य को। इस वाक्यांश का अभिप्राय स्पष्टतः यही है कि, " आनन्द की अपनी भरपूर दौलत को रखता हुआ तू पणि मत बन, अर्थात् ऐसा मत बन जैसा कि पणि होता है कि वह अपने हाथ में आई दौलतों को केवल अपने ही लिये रखता है और मनुष्य के पास जाने से बचाता है; अभिप्राय हुआ कि आनन्द को हमसे दूर छिपाकर अपनी पराचेतन गुहा में मत रख जैसे कि पणि अपनी अवचेतन-गुफा में रखे रखता है। "

× जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः॥ ६-५१-१४

इस के बाद सूक्त पणि का, दस्यु का, तथा पृथिवी और द्यौ को अधिगत करने के लिये उस पणि या दस्यु के साथ इन्द्र के युद्ध का वर्णन करता है।

वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एक श्चरन्नुपशाके-
भिरिन्द्र। धनोरधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वानः
सनकाः प्रेतिमीयुः ॥ (१. ३३. ४)

नहीं, अपनी उन शक्तियों के साथ जो कि तेरे कार्य को सिद्ध करती हैं एकाकी विचारता हुआ तू, हे इन्द्र! अपने वज्र द्वारा दौलत से भरे दस्यु का वध कर डालता है; वे जो (बाणरूप शक्तियां) तेरे धनुष पर चढी हुईं थीं पृथक्-पृथक् सब दिशाओं में तेजी से गईं और वे जो दौलतवाले थे फिर भी यज्ञ नहीं करते थे अपनी मौत मारे गये। (ऋचा ४)

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽयज्वानो
यज्वभिः स्पर्धमानाः। प्र यद् दिवो हरिवः
स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः॥ (१.३३.५)

वे जो कि स्वयं यज्ञ नहीं करते थे और यज्ञकर्ताओं से स्पर्धा करते थे, उनके सिर उनसे अलग होकर दूर जा पडे, जब कि, ओ चमकीले घोडों के स्वामिन्! ओ द्यौ में दृढता से स्थित होनेवाले! तूने द्यावापृथिवी से उन्हें बाहर निकाला जो तेरी क्रिया के नियम को पालन नहीं करते (अव्रतान्)। [ऋचा ५]

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो
नवग्वाः। वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भि-
रिन्द्राच्चितयन्त आयन्॥ (१।३३।६)

उन्होंने निर्दोष (इन्द्र) की सेना से युद्ध ठाना था; नवग्वाओं ने उस (इन्द्र) को प्रयाण में प्रवृत्त किया; उन बधिया बैलों की तरह जो कि सांड (वृषा) से लडते हैं वे बाहर निकाल दिये गये, वे जान गये कि इन्द्र क्या है और ढलानों से उसके पाससे नीचे भाग आये। [ऋचा ६]

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र
पारे। अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः
स्तुवतः शंसमावः॥

ओ इन्द्र! तूने उन से युद्ध किया जो मध्यलोक के परले किनारे पर (रजसः पारे, अर्थात् द्यौ के सिरे पर) हंस रहे थे और रो रहे थे, तूने उच्च द्यौ से दस्युको बाहर निकाल कर जला डाला, तूने उसके कथन की पालना की जो तेरी स्तुति करता है और सोम अर्पित करता है। [ऋचा ७]

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना
शुम्भमानाः। न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं
परि स्पशो अदधात् सूर्येण॥ (१।३३।८)

पृथिवी के चारों ओर चक्र बनाते हुए वे सुनहरी मणि ('मणि' यह सूर्य के लिये एक प्रतीक-शब्द है) के प्रकाश में चमकने लगे; पर अपनी सारी दौड-धूप करते हुए भी वे इन्द्र को लांघ कर आगे नहीं जा सके, क्योंकि उस (इन्द्र) ने सूर्यद्वारा चारों तरफ गुप्त चर बैठा रखे थे। [ऋचा ८]

परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजी र्महिना
विश्वतः सीम्। अमन्यमानाँ अभि मन्यमानै-
र्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र॥ (१।३३।९)

जब तू ने द्यावापृथिवी को चारों तरफ अपनी महत्ता से व्याप्त कर लिया तब जो (सत्य को) नहीं विचार सकते उन पर विचार करनेवालोंद्वारा आक्रमण करके. (अमन्यमानान् अभिमन्यमानैः), तू ने ओ इन्द्र! शब्द के वक्ताओंद्वारा (ब्रह्मभिः) दस्यु को बाहर निकाल दिया। [ऋचा ९]

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभि-
र्धनदां पर्यभूवन्। युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो
निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्॥ (१।३३।१०)

उन्होंने द्यौ और पृथिवी के अन्त को नहीं पाया और वे अपनी मायाओं से ऐश्वर्य-प्रदाता (इन्द्र) को पराजित नहीं कर सके; वृषभ इन्द्र ने वज्र को अपना सहायक बनाया, प्रकाश द्वारा उसने जगमगाती गौओंको अन्धकार में से दुह लिया। [ऋचा १०]

यह युद्ध पृथिवी पर नहीं किन्तु अन्तरिक्षके परले किनारे पर होता है, दस्यु वज्र की ज्वालाओं द्वारा द्यौ से बाहर निकाल दिये जाते हैं, वे पृथिवी का चक्कर काटते हैं और द्यौ तथा पृथिवी दोनों से बाहर निकाल दिये जाते हैं; क्योंकि वे द्यौ में या पृथिवी में कहीं भी जगह नहीं पा सकते, क्योंकि द्यावापृथिवी सारा का सारा अब इन्द्र की महत्ता से व्याप्त हो गया है, नही वे इन्द्र के वज्रों से बचकर कहीं

छिप सकते हैं; क्योंकि **सूर्य** अपनी किरणों से इन्द्र को गुप्तचर दे देता है और उन गुप्तचरों को वह इन्द्र चारों तरफ नियुक्त कर देता है, और उन किरणों की चमक में पणि ढूंढ लिये जाते हैं। यह आर्य तथा द्रविड जातियों के बीच हुए किसी पार्थिव युद्ध का वर्णन नहीं हो सकता; न यह वज्र ही भौतिक वज्र हो सकता है क्योंकि भौतिक वज्र का तो रात्रि की शक्तियों के विनाश से तथा अन्धकार में से **उषा** की गौओं के दुहे जाने से कोई संबन्ध नहीं है। तब यह स्पष्ट है कि ये यज्ञ न करनेवाले, ये शब्द के द्वेषी जो कि इसके विचारने तक में असमर्थ हैं, कोई आर्य सम्प्रदाय के मानवीय शत्रु नहीं हैं। ये तो शक्तियां हैं जो स्वयं मनुष्य के ही अन्दर द्यौ तथा पृथिवी को अधिगत करने का यत्न करती हैं। ये दानव हैं, द्रवीडी नहीं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वे शक्तियां "पृथिवी तथा द्यौ की सीमा" को पाने का यत्न तो करती हैं, पर पाने में असफल रहती हैं; हम अनुमान कर सकते हैं कि ये शक्तियां पृथिवी तथा द्यौ से परे स्थित उस उच्चतर लोक को जो कि केवल **शब्द** और **यज्ञ** के द्वारा ही जीता जा सकता है, **शब्द** या **यज्ञ** के बिना ही अधिगत कर लेना चाहती हैं। वे **अज्ञान** के नियम से शासित हो कर **सत्य** को अधिगत करना चाहती हैं; पर पृथिवी या द्यौ की सीमा को पाने में असमर्थ रहती हैं; केवल **इन्द्र** और **देव** ही हैं जो इस प्रकार मन, प्राण और शरीर के विधि नियम को पार कर के आगे जा सकते हैं; जब कि पहले वे इन तीनों को अपनी महत्ता से परिपूर्ण कर लेते हैं। सरमा (१०. १०८. ६ में) पणियों की इसी महत्वाकांक्षा की तरफ संकेत कर रही प्रतीत होती है– "हे पणियो! तुम्हारे वचन प्राप्त करनेमें असमर्थ रहें, तुम्हारे शरीर पापी और अशुभ हो; अपने चलने के लिये तुम मार्ग को धृष्ट न कर सको; बृहस्पति तुम्हें (दिव्य तथा मानुष) दोनों लोकों के सुख को न दे।" +

पणि सचमुच गर्व के मद में यह प्रस्ताव रखते हैं कि 'हम इन्द्र के मित्र हो जायेंगे, यदि वह हमारी गुफा में आ जायगा और हमारी गौओं का रखवाला बन जायगा।' × जिस का सरमा यह उत्तर देती है कि 'इन्द्र तो सब को पराजित करनेवाला है, स्वयं वह पराजित तथा पीडित नहीं हो सकता।' ❀ और फिर पणि सरमा से यह प्रस्ताव करते है कि 'हम तुझे बहिन बना लेंगे यदि तू हमारे साथ रहने लगेगी और उस सुदूर लोक को नहीं लौटेगी जहां से तू देवों की शक्ति द्वारा सब बाधाओं का मुकाबला करके, **(प्रबाधिता सहसा दैव्येन)**, आई है।' ॐ सरमा उत्तर देती है, 'न मैं भाईपने को जानती हूं, न बहिनपने को, इन्द्र और घोर अंगिरस जानें; **गौओं** की कामना करते हुए उन्होंने मेरा पालन किया है जो कि मैं आई हूं; चले जा ओ यहांसे, ओ पणिओं! किसी प्रशस्त स्थान को' (मन्त्र १०)। 'यहां से कहीं दूर प्रशस्त स्थान को चले जाओ, ओ पणिओ! **गौएं** जिन्हें कि तुमने बन्द कर रखा है **सत्य** द्वारा ऊपर चली जायें, वे छिपी हुई **गौएं** जिन्हें बृहस्पतिने ढूंढा है और सोम ने व अभिषव के पत्थरों (ग्रावाणः) ने तथा प्रकाशयुक्त द्रष्टाओं ने (ढूंढा है)।" [मन्त्र ११] ॐ

सूक्त ६. ५३ में, जो कि पुष्टिकर्ता पूषा के नाम से सूर्य

+ असेन्या वः पणयो वचांसि, अनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था, बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥ (१०. १०८. ६)

× आ च गच्छान् मित्रमेना दधाम, अथा गवां गोपतिर्नो भवाति।

❀ नाहं तं वेद दभ्यं दभत् स, यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।

ॐ एवा च त्वं सरम आ जगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥ (१०-१०८-९)

ॐ नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः॥ (१०।१०८।१०)
दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥ (१०।१०८।११)

को संबोधित किया गया एक सूक्त है, हम यह विचार भी पाते हैं कि पणि स्वेच्छा से अपने खजाने को दे दें।

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये।
धिये पूषन्नयुज्महि ॥ (ऋ. ६. ५३. १)

"हे मार्ग के अधिपति पूषन्! हम ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के लिए, **विचार** के लिये, रथ की न्याईं तुझे नियुक्त करते हैं। [मन्त्र १]

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय।
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः ॥ (६. ५३. ३)

हे प्रकाशमान ! पूषन् उस पणि को भी जो कि नहीं देता है, तू देने के लिये प्रेरित कर; पणि के भी मन को तू मृदु कर दे। (मन्त्र ३)

वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि।
साधन्तामुग्र नो धियः। (६।५३।४)

उन मार्गों को तू चुनकर पृथक् कर दे जो मार्ग ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने के लिये हैं, आक्रान्ताओं का वध कर डाल, हमारे विचारपूर्णता को प्राप्त हो जावें। [मन्त्र ४]

परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे।
अथेमस्मभ्यं रन्धय। (६।५३।५)

हे द्रष्टः ! अपने अंकुश से पणियों के हृदयों को विद्ध कर; इस प्रकार उन्हें हमारे वश कर दे। (मन्त्र ५)

वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम्।
अथेमस्मभ्यं रन्धय। (६।५३।६)

अपने अंकुश से, हे पूषन् ! तू उन पर प्रहार कर और पणि के हृदय में हमारे आनन्द की इच्छा कर, इस प्रकार उसे हमारे वश कर दे। [मन्त्र ६]

यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे।
तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु ॥
(६. ५३. ८)

जिस ऐसे अंकुश को तू धारण करता है जो शब्द को उठने के लिये प्रेरित करनेवाला है उस से, हे प्रकाशमान पूषन् ! तू सब के हृदयों पर अपनी पंक्ति को लिख दे और उन हृदयों को चीर दे, (इस प्रकार उन्हें हमारे वश कर दे)। [मन्त्र ८]

या ते अष्ट्रा गोओपशाऽऽघृणे पशुसाधनी।
तस्यास्ते सुम्नमीमहे ॥ (६. ५३. ९)

जो तेरा अंकुश ऐसा है जिस में तेरी किरण नोक का काम करती है और जो पशुओं को पूर्ण बनानेवाला है (अभिप्राय है, ज्ञान दर्शन के पशुओं को, **पशुसाधनी**, तुलना करो चतुर्थ ऋचा में आये "**साधन्तांधियाः**" से) उस (अंकुश) के आनन्द को हम चाहते हैं। (मन्त्र ९)

उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत।
नृवत् कृणुहि वीतये ॥ (६. ५३. १०)

हमारे लिये उस विचार को रच जो गौ को जीत लेनेवाला है जो घोडे को जीत लेनेवाला है, और जो दौलत की पूर्णता को जीत लेनेवाला है। [मन्त्र १०]

पणियों के इस प्रतीक की हम ने जो व्याख्या की है यदि वह ठीक है तब इस सूक्त में वर्णित विचार पर्याप्त रूप से समझ में आ सकते हैं और इस के लिए ऐसी आवश्यकता नहीं है, जैसा कि सायण ने किया है कि पणि शब्द में जो सामान्य आशय अन्तर्निहित है उसे अलग कर दिया जाय और पणि का अर्थ केवल 'कृपण, लुब्ध मनुष्य' इतना ही समझा जाय और यह समझा जाय कि इस कृपण के ही सम्बन्ध में भूख से मारा हुआ कवि इस प्रकार दीनतापूर्वक **सूर्य-देवता** से प्रार्थना कर रहा है कि तू इसे मृदु कर दे और देनेवाला बना दे। वैदिक विचार यह था कि अवचेतन अन्धकार के अन्दर तथा सामान्य अज्ञान के जीवन में वे सब ऐश्वर्य छिपे पडे हैं जो दिव्य जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और इन गुप्त ऐश्वर्यों को फिर से प्राप्त किया जाना आवश्यक है और उस का उपाय यह है कि पहले तो अज्ञान की अनुतापरहित शक्तियोंका विनाश किया जाय और फिर निम्न जीवन को उच्च-जीवन के अधीन किया जाय।

इन्द्र के सम्बन्ध में, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह कहा गया है कि वह दस्यु का या तो वध कर देता है या उसे जीत लेता है और उस की दौलत आर्य को दिलवा देता है। इसी प्रकार सरमा भी पणियों के साथ बन्धुत्व कायम कर सन्धि कर लेने से इन्कार कर देती है, बल्कि उन्हें यह सलाह देती है कि तुम अपने आप को समर्पण

कर दो और देवों तथा आर्यों के आगे झुक जाओ, और कैद की हुई गौओं को ऊपर आरोहण करनेके लिये छोड दो और तुम स्वयं इस अन्धकार को छोडकर किसी प्रशस्त स्थान को चले जाओ (आ वरीयः)। और यह प्रकाशमान द्रष्टा, सत्य के अधिपति पूषा का जो अंकुश है उस के अविरत स्पर्श से होता है कि पणि का हृदय-परिवर्तन हो जाता है– उस अंकुश के जो कि बन्द हृदय को चीर कर खोल देता है और इस की गहराइयों से पवित्र शब्द को उठने देता है, उस चमकीली नोकवाले अंकुश के जो कि जगमगाती गौओं को पूर्ण बनाता है, प्रकाशमान विचारों को सिद्ध करता है; तब सत्य का देवता इस पणि के अन्धकारपूर्ण हृदय में भी उसी की इच्छा करने लगता है, जिस की आर्य इच्छा करता है। इस प्रकार प्रकाश तथा सत्य की इस गहराईतक पहुंचनेवाली क्रिया द्वारा यह होता है कि सामान्य अज्ञानमय इन्द्रिय-क्रिया की शक्तियां आर्य के वशवर्ती हो जाती हैं।

परन्तु साधारणतः पणि आर्य के शत्रु, दास हैं। 'दास' अधीनता या सेवा के अर्थ में नहीं बल्कि विनाश या क्षति के अर्थ में (दास का अर्थ सेवक भी है जब कि वह करणार्थक 'दस्' से बनता है; 'दास' या 'दस्यु' का दूसरा अर्थ है शत्रु, लुटेरा और यह उस 'दस्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है विभक्त करना, चोट मारना, क्षति पहुंचाना; पणि आर्य के दास इस दूसरे अर्थ में ही हैं)। पणि लुटेरा है जो कि प्रकाश की गौओं को, वेग के घोडों को और दिव्य ऐश्वर्य के खजानों को बलपूर्वक छीन ले जाता है, वह भेडिया है, भक्षक है, 'वृक' है 'अत्रि' है; वह शब्द को बाधा डालकर रोकनेवाला, (निद्) और शब्द को विकृत करनेवाला है। वह शत्रु है, चोर है, झूठा या बुरा विचार करनेवाला है जो कि अपनी लूटमारों से और बाधाओंसे मार्ग को दुर्गम बना देता है; " शत्रु को, चोर को, कुटिल को जो कि विचार को झूठे रूप में स्थापित करता है, हम से बहुत दूर बिलकुल परे कर दे; हे सत्ता के पति! हमारे मार्ग को आसान यात्रावाला कर दे। ... ... पणि का वध कर दे, क्योंकि वह भेडिया है जो कि खा जानेवाला है। " * (६।५१।१३–१४)।

यह आवश्यक है कि उसका आक्रमण के लिये उठना देवोंद्वारा रोका जाय। " इस,देव (सोम) ने जन्म पा कर, सहायक के रूप में इन्द्र को साथ लेकर बल के जोर से पणि को रोक दिया " + और स्वः को सूर्य को, तथा सब ऐश्वर्यों को जीत लिया (६।४४)। पणियों को मार डालना या भगा देना अभीष्ट है जिससे कि उन के ऐश्वर्य उन से छीने जा सकें तथा उच्चतर जीवन को समर्पित किये जा सकें। " तू जिसने कि पणि को लगातार भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभक्त कर दिया, तेरे ही ये जबर्दस्त दान हैं, हे सरस्वति। सरस्वति ! देवों के बाधकों को कुचल डाल " × (६।६१)। " हे अग्नि और सोम ! तब तुम्हारी शक्ति जागृत हुई थी जब कि तुम ने पणि के पास से गौएं लूटी थीं और बहुतोंके लिए एक ज्योति को पा लिया था। " ÷ (१.९३.४)

जब कि देव यज्ञ के लिए उषा में जागृत होते हैं, तब कहीं ऐसा न हो कि पणि भी यज्ञ की सफल प्रगति में बाधा डालने के लिए जाग उठें, सो उन्हें अपनी गुफा के अन्धकार में सोया पडा रहने दो। " हे ऐश्वर्यों की सम्राज्ञी उषः ! उन्हें तू जगा दे जो हमें परिपूर्ण करते हैं, (अर्थात् जो देव हैं), पर पणियों को न जगाते हुए सोया पडा रहने दे। हे ऐश्वर्यों की सम्राज्ञी ! ऐश्वर्य के अधिपतियों के लिये तू ऐश्वर्यों को साथ लेकर उदित हो, हे सत्यमयी उषः ! उस के लिये तू ऐश्वर्यों को साथ लेकर (उदित हो) जो तेरा स्तोता है। यौवन में भरी हुई वह

---

* अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्। दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥
... ... जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः॥ (६।५१।१३,१४)

\+ " अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत् "। (६. ४४. २२)

× या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति। (६. ६१. १)
सरस्वति देवनिदो निबर्हय। (६. ६१. ३)

÷ अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
[अवातिरतं बृसयस्य शेषः] अविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः॥ (१. ९३. ४)

(उषा) हमारे आगे चमक रही है, उस ने अरुण गौओं के समूह को रच लिया है, असत् दर्शन में वह विशाल रूप में उदित हो गई है " * (१. १२४. १०-११)। या फिर इसी बात को ४. ५१ में देख सकते हैं- " देखो, हमारे आगे वह ज्ञान से परिपूर्ण श्रेष्ठतम प्रकाश अन्धकार में से उदित हो गया है, द्यौ की पुत्रियां विशाल रूप में चमक रही हैं, इन उषाओं ने मनुष्य के लिये मार्ग रच दिया है (मन्त्र १)। उषायें हमारे आगे खडी हुई हैं जैसे कि यज्ञों में स्तम्भ; विरुद्ध रूप में उदित होती हुई और पवित्र करनेवाली उन (उषाओं) ने बाडे के, अन्धकार के द्वारों को खोल दिया है (मन्त्र २)। आज उदित होती हुई उषायें सुख-भोक्ताओं को ज्ञान में जागृत कर रही हैं, अन्धकार के मध्य में जहां कि प्रकाश क्रीडा नहीं करता पणि जागते हुए सोये पडे रहें (मन्त्र ३) ×।" इसी निम्न अन्धकार के अन्दर थे पणि उच्च लोकों से निकाल कर डाल दिये जाने चाहिये और उषाओं को जिन्हें कि पणियों ने उस रात्रि में कैद कर रखा है चढा कर सर्वोच्च लोकों में पहुंचा देना चाहिये। इस लिये वेद में कहा है-

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्। प्र प्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥ (७-६-३)

" जो पणि कुटिलता की गांठ पैदा करनेवाले हैं, जो कर्मों को करने का संकल्प नहीं रखते, जो वाणी को विकृत करनेवाले हैं, जो श्रद्धा नहीं रखते, जो वृद्धि को नहीं प्राप्त होते, जो यज्ञ नहीं करते, उन पणियों को अग्नि ने दूर बहुत दूर खदेड दिया; उस पूर्व अर्थात् प्रकृष्ट या उच्च (अग्नि) ने जो यज्ञ नहीं करना चाहते उन (पणियों) को सब से नीचे अपर कर दिया ॥३॥

यो अपाचीने तमसि मदन्तीः प्राचीश्चकार नृतमः शचीभिः ...।

और उन को (गौओं को; उषाओं को) जो कि निम्न अन्धकार में आनन्द ले रही थीं, अपनी शक्तियों से उस नृतम (अग्नि) ने सर्वोच्च (लोक) की तरफ प्रेरित कर दिया ॥ ४ ॥

यो देह्यो अनमयद् वधस्नैर्यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार।

उस ने अपने आघातों से उन दीवारों को जो कि सीमित करनेवाली थीं तोड गिराया, उस ने उषाओं को आर्य की सहचारिणी कर दिया।" **अर्यपत्नीरुषसश्चकार।** नदियां और उषायें जब 'वृत्र' या 'बल' के कब्जे में होती हैं तब वे 'दासपत्नी' कही गई हैं, देवों की क्रिया द्वारा वे 'अर्यपत्नी' बन जाती हैं, आर्य की सहचारिणी हो जाती हैं।

अज्ञान के अधिपतियों का वध कर देना चाहिये या उन्हें सत्य का और सत्य के अन्वेष्टाओं का दास बना देना चाहिये, परन्तु पणियों के पास जो दौलत है उसे पा लेना मानवीय परिपूर्णता के लिये अनिवार्य है; इन्द्र मानो " पणि के दौलत से अधिकतम भरे मूर्धा पर " खडा हो जाता है, **(पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्।** ऋ. ६. ४५. ३१) वह

---

* प्र बोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु।
रेवदुच्छ मघवद्भ्यो मघोनि रेवत् स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती ॥ १० ॥
अवेयमश्वैद् युवतिः पुरस्ताद् युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।
वि नूनमुच्छादसति [प्र केतुर्गृहं गृहमुप तिष्ठाते अग्निः] ॥ ११ ॥ (ऋ. १-१२४)

× इदमु त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ॥
अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥
उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधोदेयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ॥ ४।५१।१-२-३

❀

स्वयमेव प्रकाश की गौ और वेग का घोडा बन जाता है ※ और सदा प्रवृद्ध होती रहनेवाली सहस्रों गुणा दौलत को बरसा देता है +। पणिवाली उस प्रकाशमान दौलत की परिपूर्णता और द्यौ की तरफ आरोहण, जैसा कि हमें पहले से ही मालूम है अमरत्व का मार्ग है और अमरत्व का जन्म है। " अंगिरा ने (सत्य की) सर्वोच्च अभिव्यक्ति (वयः) को धारण किया, उन (अंगिरसों) ने जिन्होंने कर्म की पूर्ण सिद्धि द्वारा अग्नि को प्रज्वलित किया था; उन्होंने पणि के सारे सुख-भोग को, इस के घोडोंवाले और गौओंवाले पशु-समूह को, अपने हस्तगत कर लिया (१. ८३. ४)। सर्वप्रथम अथर्वा ने पथ का निर्माण किया, उस के बाद सूर्य पैदा हुआ जो कि ' व्रतपा ' और ' वेन, ' अर्थात् नियम का रक्षक और आनंदमय तथा (ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि) उशना काव्यने गौओं को ऊपर की तरफ हांक दिया। इन के साथ हम चाहते हैं कि यज्ञ द्वारा उस अमरत्व को पा सकें जो कि नियम के अधिपति के पुत्र के तौर पर उत्पन्न हुवा है, (१. ८३. ५)। ×" यमस्य जातममृतं यजामहे।

अंगिरा द्रष्टा-संकल्प (seer-will) का द्योतक ऋषि है, अथर्वा दिव्य पथ पर यात्रा का ऋषि है, उशना काव्य उस द्युमुखी इच्छा का ऋषि है जो इच्छा द्रष्टा-ज्ञान में से पैदा होती है। अंगिरस उन ज्योतियों की दौलत को और सत्य की शक्तियों को जीतते हैं जो कि निम्न जीवन के तथा निम्न जीवन की कुटिलताओं के पीछे छिपी पडी थीं; अथर्वा उनकी शक्ति में पथ का निर्माण कर देता है और तब प्रकाश का अधिपति सूर्य पैदा हो जाता है जो कि दिव्य नियम का तथा यम-शक्ति का संरक्षक है, उशना हमारे विचार की प्रकाशात्मक गौओं को सत्य के उस पथ पर हांकता हुआ ऊपर उस दिव्य आनंद तक पहुंचा देता है जो कि सूर्य में रहता है; इस प्रकार सत्य के नियम में से वह अमरत्व पैदा हो जाता है जिस की आर्य- आत्मा यज्ञ द्वारा अभीप्सा किया करता है।

(अध्याय २२ वाँ)

परिणामोंका सार

अब हम ऋग्वेद में आनेवाले अंगिरस कथानक की, सभी सम्भव पहलुओं को लेकर तथा इस के मुख्य प्रतीकों सहित, समीपता के साथ परीक्षा कर चुके हैं और अब इस स्थिति में हैं कि इस से हमने जिन परिणामों को निकाला है उन्हें यहां निश्चयात्मकता के साथ संक्षेप से वर्णित कर दें। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, अंगिरसों का कथानक तथा वृत्र की गाथा ये दो वेद के आधारभूत रूपक हैं, ये सारे वेद में पाये जाते हैं और बार-बार आते हैं, ये सूक्तों में इस रूप में आते हैं मानों ये प्रतीकात्मक अलङ्कारवर्णना के दो घनिष्ठतया आपस में जुडे हुए तार हैं और इन्हीं के चारों ओर से अवशिष्ट सारा वैदिक प्रतीकवाद ताने की की तरह ओतप्रोत हुआ हुआ है। यही नहीं कि ये इस के केंद्रभूत विचार हैं बल्कि ये इस प्राचीन रचना के मुख्य स्तम्भ हैं। जब हम इन दो प्रतीकात्मक रूपकों के अभिप्राय को निश्चित कर लेते हैं तो मानो हमने सारी ही ऋक् संहिता का अभिप्राय निश्चित कर लिया। क्योंकि यदि वृत्र और जल बादल और वर्षा के तथा पञ्जाब की सात नदियों के प्रवाहित हो पडने के प्रतीक हैं और यदि अंगिरस भौतिक उषाके लानेवाले हैं तो वेद प्राकृतिक घटनाओं का एक प्रतीकवाद है जिस में कि इन प्राकृतिक

※ गौरसि वीर गव्यते, अश्वो अश्वायते भव। (ऋ. ६।४५।२४)

+ यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्रिणी। (६।४५।३२)

× आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ॥ ४ ॥
यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ ५ ॥

घटनाओं को देवों और ऋषियों तथा उपद्रवी दानवों का सजीव रूप देकर वर्णन किया गया है। और यदि 'वृत्र' और 'वल' द्रवीडी देवता हैं तथा 'पणि' और 'वृत्र' मानवीय शत्रु हैं तो वेद द्राविड भारत पर प्रकृतिपूजक जंगलियोंद्वारा किये गये आक्रमण का एक कवितामय तथा कथात्मक उपाख्यान है। किन्तु इस सब के विपरीत यदि वेद **प्रकाश** और **अन्धकार, सत्य** और **अनृत, ज्ञान** और **अज्ञान, मृत्यु** और **अमरता** की आध्यात्मिक शक्तियों के मध्य होनेवाले संघर्ष का एक प्रतीकवाद हैं तो यही असली वेद है, यही सम्पूर्ण वेद का वास्तविक आशय है।

हमने यह परिणाम निकाला है कि अंगिरस ऋषि उषा के लानेवाले हैं, सूर्य को अन्धकार में से छुडानेवाले हैं, पर ये उषा, सूर्य, अन्धकार प्रतीकरूप हैं जो कि आध्यात्मिक अर्थमें प्रयुक्त किये गये हैं। वेद का केन्द्रभूत विचार है **अज्ञान** के अन्धकारमें से **सत्य** की विजय करना तथा **सत्य** की विजयद्वारा साथ में **अमरता** की भी विजय कर लेना। क्योंकि वैदिक **ऋतम्** जहां मनोवैज्ञानिक विचार है वहां आध्यात्मिक विचार भी है। यह 'ऋतम्' अस्तित्व का सत्य सत्, सत्य चैतन्य, सत्य आनन्द है जो कि इस शरीररूप पृथिवी, इस प्राणशक्तिरूप अन्तरिक्ष, इस मनरूप सामान्य आकाश या द्यौ से परे है। हमें इन सब स्तरों को पार करके आगे जाना है ताकि हम उस परा चेतन **सत्य** के उच्च स्तर में पहुंच सकें जो कि देवों का स्वकीय घर है और **अमरत्व** का मूल है। यही '**स्वः**' का लोक है जिस तक पहुंचने के लिये अंगिरसोंने अपनी आगे आनेवाली सन्ततियों के लाभार्थ मार्ग को ढूँढा है।

अंगिरस एक साथ दोनों हैं, एक तो दिव्य द्रष्टा जो कि देवों के विश्वसम्बन्धी तथा मानवसम्बन्धी कार्यों में सहायता करते हैं, और दूसरे उनके भूमिष्ठ प्रतिनिधि, पूर्वज पितर, जिन्होंने कि सर्व प्रथम उस ज्ञान को पाया था जिस के वैदिक सूक्त गीत हैं, संस्मरण हैं और फिर से नवीन रूप में अनुभव करनेयोग्य सत्य हैं। सात दिव्य अंगिरस **अग्नि** के पुत्र या **अग्नि** की शक्तियां हैं, **द्रष्टा-संकल्प** की शक्तियां हैं और यह 'अग्नि' या 'द्रष्टा-संकल्प' है दिव्य **शक्ति** की दिव्य ज्ञान से उद्दीप्त वह ज्वाला जो विजय के लिए प्रज्वलित की जाती है। भृगुओं ने तो पार्थिव सत्ता की वृद्धियों (उपचयों) में छिपी हुई इस **ज्वाला** को ढूंढा है, पर अंगिरस इस **ज्वाला** को यज्ञ की वेदी पर प्रज्वलित करते हैं और यज्ञ को यज्ञिय वर्ष के काल-विभागों में लगातार जारी किये रखते हैं, जो कि काल-विभाग उस दिव्य प्रयास के काल विभागों के प्रतीक हैं जिसके द्वारा **सत्य** का **सूर्य** अन्धकारमें से निकाल कर पुनः प्राप्त किया जाता है। वे जो इस वर्ष के नौ महीनों तक यज्ञ करते हैं **नवग्वा** हैं, नौ गौओं या किरणों के द्रष्टा हैं, जो कि **सूर्य** की गौओं की खोज को आरंभ करते हैं और पणियों के साथ युद्ध करने के लिए इन्द्र को प्रयाण में प्रवृत्त करते हैं। वे जो दस महीनों तक यज्ञ करते हैं **दशग्वा** हैं, दस किरणोंके द्रष्टा हैं, जो कि इन्द्रके साथ पणियों की गुफा के अन्दर घुसते हैं और खोई हुई गौओंको वापिस ले आते हैं।

यज्ञ यह है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है उसे वह उच्चतर या दिव्य स्वभाव को अर्पित कर दे, और इस यज्ञ का फल यह होता है कि उसका मनुष्यत्व देवों के मुक्त हस्त दान के द्वारा और अधिक समृद्ध हो जाता है। दौलत जो इस प्रकार यज्ञ करने से प्राप्त होती है आध्यात्मिक आनन्द की अवस्था को निर्मित करती है और यह अवस्था स्वयं यात्रा में सहायक होनेवाली एक शक्ति है और युद्ध की शक्ति है। क्योंकि यज्ञ एक यात्रा है, एक प्रगति है; यज्ञ स्वयं यात्रा करता है जो उसकी यात्रा 'अग्नि' को नेता बनाकर दिव्य मार्ग से देवों के प्रति होती है और 'स्वः' के दिव्य लोक के प्रति अंगिरस पितरों का आरोहण इसी यात्रा का आदर्श रूप (नमूना) है। अंगिरस पितरों की यह आदर्श यज्ञ-यात्रा एक युद्ध भी है क्योंकि पणि, वृत्र तथा पाप और अनृत की अन्य शक्तियां इस यात्रा का विरोध किया करती हैं और इस युद्ध का इन्द्र तथा अंगिरस ऋषियों की पणियों के साथ लडाई एक मुख्य कथांग है।

यज्ञके प्रधान अंग हैं दिव्य ज्वाला को प्रज्वलित करना, 'घृत' की तथा सोमरस की हवि देना और पवित्र **शब्द** का गान करना। स्तुति तथा हवि के द्वारा देव प्रवृद्ध होते हैं, उनके लिए कहा गया है कि वे मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होते हैं; रचे जाते हैं या अभिव्यक्त होते हैं, तथा यहां

अपनी वृद्धि और महत्ता से वे पृथिवी और द्यौ को अर्थात् भौतिक और मानसिक सत्ता को इनका अधिक से अधिक जितना ग्रहण सामर्थ्य होता है उतना बढा देते हैं और फिर, इन्हें अतिक्रान्त करके, अवसर आने पर उच्च तर लोकों या स्तरों की रचना करते हैं। उच्च तर सत्ता दिव्य है, असीम है, जिसका चमकीली गौ, असीम माता, **अदिति** प्रतीक है; निम्न सत्ता उसके अन्धकारमय रूप **दिति** के अधीन है।

यज्ञ का लक्ष्य है उच्च या दिव्य सत्ता को जीतना, और निम्न या मानवीय सत्ता को इस दिव्य सत्ता से युक्त कर देना तथा इसके नियम और सत्य के आधीन कर देना। यज्ञ का '**घृत**' चमकीली गौ की देन है, यह 'घृत' मानवीय मनोवृत्ति के अन्दर और प्रकाश की निर्मलता या चमक है। '**सोमरस**' है सत्ता का अमृतरूप आनन्द जो कि जलों में और सोम नामक पौधे (लता) में निगूढ रहता है और देवों तथा मनुष्योंद्वारा पान करने के लिए निचोडा जाता है। **शब्द** है अन्तःप्रेरित वाणी जो कि सत्य के उस विचार-प्रकाश को अभिव्यक्त करती है जो आत्मा में से उठता है, हृदय में निर्मित होता है और मनद्वारा आकृति युक्त होता है। 'अग्नि' घृत से प्रवृद्ध होकर और 'इन्द्र' प्रकाशमय शक्ति से तथा सोम के आनन्दसे सबल और शब्दद्वारा प्रवृद्ध होकर, सूर्य की गौओं को फिर से पा लेने में अंगिरसों की सहायता करता है।

बृहस्पति सर्जनकारी शब्द का अधिपति है। यदि अग्नि प्रथम अंगिरा है, वह ज्वाला है, जिससे कि अंगिरस ऋषि पैदा हुए हैं तो बृहस्पति वह एक अंगिरा है, जो सातमुखवाला अर्थात् प्रकाशकारी विचार की सात किरणोंवाला और इस विचार को अभिव्यक्त करनेवाले सात शब्दोंवाला एक अंगिरा है जिसकी ये सात ऋषि (अंगिरस्) उच्चारण-शक्तियां बने हैं। यह **सत्य** का सात सिरोंवाला अर्थात् पूर्ण विचार है जो कि मनुष्य के लिए यज्ञ की लक्ष्यभूत पूर्ण आध्यात्मिक दौलत को जीत कर उसके लिए चौथे या दिव्य लोक को जीत लाता है। इसलिए अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, सोम सभी इस रूप में वर्णित किये गये हैं कि वे **सूर्य** की गौओं को जीत लानेवाले हैं और उन दस्युओं के विनाशक हैं जो कि इन गौओं को छिपा लेते हैं और मनुष्य के पास आने से रोकते हैं। सरस्वती भी, जो कि दिव्य शब्द की धारा या सत्य की अन्तःप्रेरणा है, दस्युओं का वध करनेवाली और चमकीली गौओंको जीतनेवाली है, उन गौओं को ढूंढा है इन्द्र की अग्रदूती सरमाने जो कि सूर्य की या उषा की एक देवी है और सत्य की अन्तर्ज्ञानमयी शक्ति की प्रतीक मालूम होती है। उषा एक साथ दोनों है, स्वयं वह इस महान् विजय में एक कार्यकर्त्री भी है और पूर्ण रूप में उसका आगमन इस विजय का उज्ज्वल परिणाम है।

उषा दिव्य अरुणोदय है क्योंकि **सूर्य** जो कि उसके आगमन के बाद प्रगट होता है **परा चेतन सत्य का सूर्य** है; दिन जिसको वह **सूर्य** लाता है सत्यमय ज्ञान के अन्दर होनेवाला सत्यमय जीवन का दिन है, रात्रि जिसे वह विध्वस्त करता है अज्ञान की रात्रि है जो कि अब तक उषा को अपने अन्दर छिपाये रखती है। उषा स्वयं सत्य है, **सूनृता** है और सत्य की माता है। दिव्य उषा के इन सत्यों को उषा की गौएं, उषा के चमकीले पशु कहा गया है, जब कि सत्य के वेगवान् बलों को जो कि उन गौओं के साथ-साथ रहते हैं और जीवन को अधिष्ठित करते हैं, उषाके घोडे कहा गया है। गौओं और घोडों के इस प्रतीक के चारों ओर वैदिक प्रतीकवाद का अधिकांश घूम रहा है, क्योंकि ये ही उन सम्पत्तियों के मुख्य अंग हैं जिनको मनुष्य ने देवों से पाना चाहा है। उषा की गौओं को अन्धकार के अधिपति दानवों ने चुरा लिया है और ले जाकर गूढ अवचेतना की अपनी निम्नतर गुफा में छिपा दिया है। वे गौएं ज्ञान की ज्योतियां हैं, सत्य के विचार हैं, (**गावो मतयः**), जिन्हें उन की इस कैद से छुटकारा दिलाना है। उनके छुटकारे का अभिप्राय है दिव्य उषाकी शक्तियों का वेगसे ऊर्ध्वगमन होने लगना।

साथ ही इस छुटकारे का अभिप्राय उस **सूर्य** की पुनः प्राप्ति भी है जो कि अन्धकार में छिपा पडा था, क्योंकि यह कहा गया है कि **सूर्य** अर्थात् दिव्य सत्य, "सत्यं तत्," ही वह वस्तु थी जिसे इन्द्र और अंगिरसों ने पणियों की गुफा में पाया था। उस गुफा के विदीर्ण हो जानेपर दिव्य उषा की गौएं जो कि **सत्य के सूर्य** की किरणें हैं आरोहण करके सत्ता की पहाडी के ऊपर जा पहुंचती हैं और **सूर्य**

स्वयं दिव्य सत्ता के प्रकाशमान ऊर्ध्व समुद्रमें ऊपर चढ़ता है, जो विचारक हैं वे जल में जहाज की तरह इस ऊर्ध्व समुद्र में इस सूर्य को आगे-आगे ले जाते हैं जबतक कि वह इस के दूरवर्ती परले तटपर नहीं पहुंच जाता।

पणि जो कि गौओं को कैद कर लेनेवाले हैं, जो निम्न गुफा के अधिपति हैं दस्युओंकी एक श्रेणी में के हैं, जो दस्यु वैदिक प्रतीकवाद में आर्य देवों और आर्य द्रष्टाओं तथा कार्यकर्ताओं के विरोध में रखे गये हैं। आर्य वह है जो यज्ञ के कार्य को करता है, प्रकाश के पवित्र शब्द को प्राप्त करता है, देवों को चाहता है और उन्हें बढाता है तथा स्वयं उनसे बढाया जाकर सच्चे अस्तित्वकी विशालता को प्राप्त करता है; वह प्रकाश का योद्धा है और सत्य का यात्री है। 'दस्यु' है अदिव्य सत्ता जो किसी प्रकारका यज्ञ नहीं करती, दौलत को बटोर बटोर कर जमा तो कर लेती है पर उसका ठीक प्रकार उपयोग नहीं कर सकती, क्योंकि वह शब्द को नहीं बोल सकती या पराचेतन सत्य को मनोगत नहीं कर सकती, शब्द से देवों से और यज्ञ से द्वेष करती है और अपने पास से कोई वस्तु उच्च सत्ताओं को नहीं देती, बल्कि आर्य की उसकी अपनी दौलत को उससे लूट लेती है और अपने पास रोक रखती है। वह चोर है, शत्रु है, भेडिया है, भक्षक है, विभाजक है, बाधक है, अवरोधक है। दस्यु अन्धकार और अज्ञान की शक्तियां हैं जो सत्य के तथा अमरत्व के अन्वेष्टा का विरोध करती हैं। देव हैं प्रकाश की शक्तियां, असीमता (अदिति) के पुत्र, एक परम देव के रूप और व्यक्तित्व जो अपनी सहायता के द्वारा तथा मनुष्य के अन्दर अपनी वृद्धि और मानुष व्यापारोंके द्वारा मनुष्य को ऊँचा उठाकर सत्य और अमरता तक पहुंचा देते हैं।

इस प्रकार आंगिरस-गाथा का स्पष्टीकरण हमें वेदके सम्पूर्ण रहस्य की कुञ्जी पकडा देता है। क्योंकि वे गौएं और घोडे जो आर्यों से खो गये थे और जिन्हें उनके लिए देवोंने फिरसे प्राप्त किया, वे गौएं और घोडे जिनका इन्द्र स्वामी और प्रदाता है और वस्तुतः स्वयं गौ और घोडा है यदि भौतिक पशु नहीं है, यज्ञ द्वारा चाही गई दौलत के ये अंग यदि आध्यात्मिक सम्पत्तियों के प्रतीक हैं तो इसी प्रकार इसके अन्य अंग पुत्र, मनुष्य, सुवर्ण, खजाना आदि भी जो कि सदा इनके साथ सम्बद्ध आते हैं, इन्हीं अर्थों में होने चाहिये। यदि गौ जिससे 'घृत' पैदा होता है कोई भौतिक गाय नहीं है बल्कि जगमगानेवाली माता है तो स्वयं घृतको भी जोकि जलों में पाया गया है और जिस के लिए यह कहा गया है कि पणियों ने उसे गौ के अन्दर त्रिविध रूपमें छिपा दिया था, भौतिक हवि नहीं होना चाहिये; नहीं सोमका मधु-रस भौतिक हवि हो सकता है जिस के विषय में यह भी कहा गया है कि वह नदियों में होता है और समुद्र से एक मधुमय लहर के रूप में उठता है तथा ऊपर देवों के प्रति धारारूप में प्रवाहित होता है। और यदि ये प्रतीकरूप हैं तो यज्ञ की अन्य हवियों को भी प्रतीकरूपही होना चाहिए, स्वयं बाह्य यज्ञ भी एक आन्तर प्रदान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। और यदि अंगिरस ऋषि भी अंशतः प्रतीक रूप हैं या देवों के सदृश यज्ञ में अर्ध दिव्य कार्य कर्ता और सहायक हैं तो वैसेही भृगुगण, अथर्वण, उशना और कुत्स तथा अन्य होने चाहिये जोकि उनके कार्य में उनके साथ सम्बद्ध आते हैं। यदि अंगिरसों की गाथा तथा दस्युओंके साथ युद्धकी कहानी एक रूपक है, तो वैसाही अन्य आख्यायिकाओं को भी होना चाहिये जोकि ऋग्वेद में उस सहायताके विषय में पाई जाती हैं जो दानवों के विरुद्ध लडाई में ऋषियों को देवों द्वारा प्रदान की गई थी, क्यों कि वे आख्यायिकायें भी उन्हीं जैसे शब्दों में वर्णित की गई हैं और वैदिक कवियों ने उन्हें सतत रूपसे अंगिरसों के कथानक के साथ इस तरह एक श्रेणीमें रखा है जैसे कि ये इनके समान आशयवालीं हों।

इसी प्रकार ये दस्यु जो दान और यज्ञका निषेध करते हैं और शब्द से तथा देवों से द्वेष करते हैं और जिनके साथ आर्य निरन्तर युद्धमें संलग्न रहते हैं, ये वृत्र, पणि व अन्य, यदि मानवीय शत्रु नहीं हैं, बल्कि अन्धकार, अनृत और पापकी शक्तियां हैं, तो आर्योंके युद्धों का आर्य-राजाओंका तथा आर्यों की जातियोंका सारा विचार आध्यात्मिक प्रतीक और आध्यात्मिक उपाख्यान का रूप धारण करने लगता है। वे अविकल रूपमें ऐसे हैं या केवल अंशतः यह अपेक्षाकृत अधिक ब्यौरेवार परीक्षाके विना

निर्णीत नहीं किया जा सकता, और यह परीक्षा इस समय हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा वर्तमान उद्देश्य केवल यह देखना है कि हमारे पास हमारे इस विचार की पुष्टि के लिए प्राथमिक पर्याप्त सामग्री हैं या नहीं, जिसको लेकर हम चले हैं अर्थात् यह विचार कि वैदिक-सूक्त प्राचीन भारतीय रहस्यवादियों की प्रतीकात्मक पवित्र पुस्तकें हैं और उनका अभिप्राय आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकारकी प्राथमिक पर्याप्त सामग्री है यह हमने स्थापित-कर दिया है क्यों कि अबतक हमने जितना विचार-विवेचन किया है उस से ही हमारे पास इसके लिए पर्याप्त आधार है कि वेदके पास हमें गंभीरता के साथ इसी दृष्टिकोण को लेकर पहुंचना चाहिए तथा वेद भावनामय काव्यमें लिखे गये इसी प्रकारके प्रतीकवाद के ग्रन्थ हैं इस दृष्टिको ही सामने रखकर इनकी ब्यौरेवार व्याख्या करनी चाहिए।

तो भी अपने पक्षको पूर्णतया सुदृढ करने के लिए यह अच्छा होगा कि वृत्र तथा जलों सम्बन्धी दूसरी सहचरी गाथा की भी परीक्षा कर ली जाय जिसे हमने अंगिरसों तथा प्रकाश की गाथा के साथ इतना निकट रूपसे सम्बद्ध पाया है। इस सम्बध में पहली बात यह कि वृत्रहन्ता 'इन्द्र' अग्निके साथ, वैदिक विश्वदेवता गणके मुख्य दो देवताओं में से एक है और उसका स्वरूप तथा उसके व्यापार यदि समुचित रूपसे निर्धारित हो सके तो आर्यों के देवोंका सामान्य रूप सुदृढतया नियत हो जायगा। दूसरे यह कि मरुत् जो इन्द्र के सखा हैं, पवित्र गान के गायक हैं, वैदिक पूजाके विषयमें प्रकृतिवादी मतके सबसे प्रबल साधक-बिन्दु हैं; वे निःसन्देह आँधीके देवता हैं और अन्य बडे-बडे वैदिक देवोंमें से दूसरे किसी का भी, अग्नि का या मित्र-वरुणका या त्वष्टा का और वैदिक देवियोंका या यहाँतक कि सूर्य का भी या उषाका भी ऐसा कोई प्रख्यात भौतिक स्वरूप नहीं है। यदि इन आँधी के देवताओं के विषय में यह दर्शाया जा सके कि ये एक आध्यात्मिक स्वरूप और प्रतीकवाद को रखे हुए हैं तब वैदिक-धर्म तथा वैदिक कर्मकाण्ड के गम्भीरतर अभिप्राय के सम्बन्धमें कोई सन्देह अवशिष्ट नहीं रह सकता। अन्तिम बात यह कि वृत्र और उसके सम्बद्ध दानव, शुष्ण, नमुचि तथा अवशिष्ट अन्योंकी निकट रूपसे परीक्षा किये जानेपर यदि पता चले कि ये आध्यात्मिक अर्थ में दस्यु हैं तथा यदि वृत्र द्वारा रोके जानेवाले आकाशीय (दिव्य) जलों के अभिप्राय का और अधिक गहराई में जाकर अनुसन्धान किया जाय तब यह विचार कि वेद में ऋषियों और देव तथा दानवों की कहानियाँ रूपक हैं एक निश्चित आरम्भ-बिन्दुको लेकर चलाया जा सकता है और वैदिक लोकों का प्रतीकवाद एक सन्तोषजनक व्याख्याके अधिक समीप लाया जा सकता है।

इससे अधिक प्रयत्न करना इस समय हमारे लिए संभव नहीं; क्यों कि वैदिक प्रतीकवाद जैसा कि सूक्तों में प्रपञ्चित किया गया है अपने अंग-उपांगों में अत्यधिक पेचीदा है, अपने दृष्टि-बिन्दुओं की अत्यधिक विविधता को रखता है, अपनी प्रतिच्छायाओं में और अवान्तर निर्देशों में व्याख्या करनेवाले के लिए अति ही अधिक अस्पष्टताओं तथा कठिनाइयों को उपस्थित करता है और सबसे बढकर यह कि अविस्मृति और अन्यथा ग्रहण के पिछले युगों द्वारा यह इतना अधिक धुंधला हो चुका है कि एकही लेख-मालामें इसपर समुचित रूपसे विचार कर सकना शक्य नहीं है। इस समय हम इतनाही कर सकते हैं कि मुख्य मुख्य मूलसूत्रोंको ढूँढ निकालें और जहाँतक हो सके उतना सुरक्षित रूपमें ठीक-ठीक आधारों को स्थापित कर दें।

अन्तिम वक्तव्य।

पाठक देखेंगे कि इस लेखमाला में अंगिरस गाथाके विचार को ही कथंचित् पूरा किया गया है। इसके अन्तिम लेखमेंही इन्द्र-वृत्रकी तथा जलोंकी जिस सहचरी गाथा के विषयमें गवेषणा करनेकी बात लिखी गई है और उसके लिए तीन विचारणीय विषयभी प्रस्तुत किये गए हैं, वह गवेषणा श्री अरविन्द की लेखनीद्वारा होनी अभी बाकी ही है। इस लेखमाला को समाप्त करते हुए उन्होंने आशा भी दिखाई थी कि वे इस विषयकी अगली चर्चा फिर शुरू करेंगे और विषयको समाप्त करेंगे, क्योंकि पाण्डीचेरी से निकलनेवाले उनके जिस आर्य पत्रमें अंग्रेजीमें यह लेखमाला पहले दो वर्षों तक लगातार प्रकाशित होती रही है वहाँ इसे समाप्त करते हुए उन्होंने नीचे टिप्पणी में सूचना दी है–

" इस समय तो ' वेदका रहस्य ' लेखमाला को हम बन्द करते हैं जिससे कि आर्य के तृतीय वर्षमें अन्य लेखों के लिए स्थान रिक्त हो सके, पर हमारा विचार है कि बादमें इस अधूरी लेखमाला को हम फिर आरंभ करेंगे और पूरा करेंगे ।"

पर यह तो १९१६ में उन्होंने आशा प्रकट की थी, उसके बाद चार वर्ष 'आर्य' भी प्रकाशित होता रहा, पर वे वेदपर अभी तक आगे नहीं लिख सके हैं। अब तो लगभग २७ वर्ष बीत चुके हैं। इसलिए हमने यह उचित समझा कि यह लेखमाला जैसी भी है इसे हिन्दी जाननेवालोंके लिए प्रकाशित कर दिया जाय और उनसे (श्री अरविन्दसे) अनुमति लेकर हमने यह प्रकाशित भी कर दी है। पर पाठक ख्याल रखें कि उनकी तरफसे यह लेखमाला अधूरी है और अब भी उनका विचार है कि कभी समय मिलनेपर वे इसे पुनः देखेंगे और इसे पूरा करेंगे। पर हमारे लिए तो, मेरी समझमें, जो कुछ इस अधूरीसी लेखमाला में उन्होंने लिखा है, वह भी बहुत महत्त्वका है। विद्वान् लोग उसी से और बहुत कुछ ग्रहण कर सकते हैं। उनकी शैली थोडेमें बहुत कुछ और गहराई में जाकर लिखनेकी है। इस लिए २२ अध्यायों में उन्होंने जो लिखा है, उसे बारबार पढनेसे पाठकोंका बहुत लाभ हो सकता है। —अभय

कुर्आन और सत्यासत्यविवेक

खण्ड २ (खण्ड १ के प्रश्न ५ से सम्बन्धित)

(लेखक— श्री० **गणपतराव वा० गोरे**, औंध [सातारा])

(१) एक प्रश्न और उसका उत्तर

प्रश्न— जब तक किसी मत की प्रमाणिक धर्मपुस्तक से ऐसा सिद्ध नहीं किया जाता कि वह अपने अनुयायियों को स्पष्ट शब्दों में केवल सत्य के ही ग्रहण करने की और असत्य को सर्वथा छोडने की आज्ञा देती है, तब तक कोईभी बौद्धिक युक्तियों अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों के बल पर अपने मन्तव्यों को सहज में छोड नहीं सकता। मुसलमानों का तो मत ही यह है कि **मजहब में अक्ल को दख्ल नहीं**! अर्थात् मुसलमानों के माने हुए सिद्धान्तों को बौद्धिक आदि युक्तियों से काटा नहीं जा सकता!

मिरजा गुलाम अहमद कादियानी 'सुर्मये-चश्मे-इस्लाम' में लिखते हैं कि- ' दर्शन (Philosophy) को धर्म की आंखसे देखनेवाला निपट अन्धा है, फिर चाहे वह (स्वयं भी बैकन या बूअली सैना (ऐसा महान् दार्शनिक ही क्यों न हो)। ×

उदाहरण— कहते हैं कि किसी कट्टर मौलवी का लडका स्कूल में पढता था। घर में बैठे भूगोलका पाठ कर रहा था कि पृथिवी गोल है-पृथिवी गोल है।' ज्यों ही ये शब्द मौलवीजीने सुने, एक चपेट लडके को धर जमाई और कहने लगे, 'क्या तुझे काफिर बनानेके लिये स्कूलमें भेजा था? बेवकूफ! कुर्आन के रू से जमीन गोल नहीं चपटी है! कह, 'जमीन चपटी है' लडका विचारा रोते रोते ' जमीन चपटी है- जमीन चपटी है ' ऐसा पाठ कंठस्थ करने लगा। दूसरे दिन जब स्कूल मास्टरने पूछा तो कहा ' जमीन चपटी (Flat) है। ' इस पर मास्टरजी ने भी दो बेंत लगाए!! लडका बिचारा आश्चर्य-चकित रह गया, और रहस्य क्या है यह कुछभी समझ न पाया। दुर्दैव से परीक्षामें भी यही प्रश्न सामने आया। अब तो लडका बहुत ही घबराया! कुछ विचार करने के पश्चात् उसने परीक्षकमहोदय से कहा कि ' श्रीमान् जी! जब मैं घर में जाता हूं तो पृथिवी चपटी÷ हो जाती है, और जब स्कूल में आता हूं तो गोल। '

इसी प्रकार मुसलमान केवल वही बात मानेंगे जो यातो कुर्आन में मानी गयी है, या मुस्लिम विद्वानों ने मानी है। आप दार्शनिक, बौद्धिक, वैद्यक, सामाजिक, आर्थिक आदि युक्तियोंके बल पर यदि गौ की महिमा गायेंगे, तो मजहबी मुसलमान इन्हें कभी न अपनायेंगे!!

२. यही नहीं उन्हों ने तो " **हर् कि शक् आरद् काफिर् गर्दद्** ' का एक ऐसा जबरदस्त फतवा (मौलवियों का लिखित निर्णय) पास किया हुआ है कि जिस के डर से बडे बडे मुस्लिम विद्वान् मन में सत्य को समझते हुए भी मुख से बोल नहीं सकते— इस डर से कि कहीं काफिर न कहलाए जायँ!!! इन शब्दों का अर्थ है "**जिसे शक् (संशय) आता है, वह काफिर (नास्तिक) बन जाता है!** " इसका अर्थ यह हुआ कि मुसलमान् आपकी युक्तियों से यदि प्रभावित हो भी जायें तो काफिर कहलाएं! इस अवस्था में गोज्ञान-कोशसे मुसलमानों को क्या लाभ? और यदि उन्हें लाभ नहीं तो आपका श्रम भी व्यर्थ ही गया!!

३. संसार में सत्यासत्य के विवेक करनेवाले अत्यल्प हैं। अधिक संख्या तो अन्ध विश्वासियों की ही है!

उत्तर— १. मजहब (सम्प्रदाय) में यदि अक्लका दख्ल

× फिल्सफे रा चश्मे हक् बीं सख्त् नाबीना बुवद्। गरचे बैकन बाशदो या बुअली सेना बुवद्।

सर फ्रन्सिस बैकन (१५६१-१६२६) आंग्ल देश के और बूअली सेना ईरान के महान् दार्शनिक हो चुके हैं।

÷ कुर्आन २।२२ में पृथिवी को 'फिराश'= बिछोना = Carpet कहा है। ७८।६ में पृथिवी को ' महाद = फरश= Even expanse कहा है। महाद शब्द संस्कृत के ' महि' 'मही' वा 'महत्' शब्द सेही निकला है। दोनों का अर्थ 'पृथिवी' है। महातल = पृथिवी के नीचे छठा तल।

(बुद्धि का गमन) नहीं, तो सिद्ध हुआ कि मजहब केवल अन्धविश्वासियों के लिये ही है ! फिर तो मजहब की जाल में बुद्धिमान् फंसने ही क्यों लगें ? परंतु आप देखेंगे कि कुर्आन की यह शिक्षा ही नहीं है !

२. कुफ्रबाजी (एक दूसरेको काफिर बनाना) तो मौलवियोंका शग्ल (व्यवसाय) है ! बताइये कि क्या शीओं ने सुन्नियों के और सुन्नियोंने शीओं के विपरीत कुफ्रके फतावे पास नहीं किये ? क्या आजतक इन दोनों ने अहमदियों को और अहमदियों ने इन दोनों को काफिर नहीं बनाया ? ऐसा फिर्का (संप्रदाय) इस्लाम में मिलना ही कठिन है, जो किसी दूसरे द्वारा किसी न किसी अवसरपर " काफिर " न बनाया गया हो !! परंतु इतना होते हुए भी सभी अपने अपने को मूमिन (आस्तिक) समझते हैं, और दूसरे की दी हुई उपाधि की तानिक भी परवाह नहीं करते !!

इसी प्रकार यदि कुर्आन सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की शिक्षा देता है, तो मुसलमानों को इस पर आचरण करते हुए इस कुफ्र के फत्वेसे जरा भी घबराना न चाहिए !!!

३. संख्या यदि सत्यासत्य की निर्णायक समझी जाती, तो संसार में मूर्खों की संख्या अधिक होने से विद्वानों को भी बहुमतानुसार मूर्ख बनकर ही रहना पडता !!

भाई ! मौलवियों ने तो इतना ही कहा ना कि 'जिसे संशय होता है वह काफिर बन जाता है " परंतु गीता तो कहती है कि " ऐसा पुरुष नाश हो जाता है। " यथा-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति॥ (गी० ४।४०)

अर्थ— जिसे न ज्ञान है, न श्रद्धा है और जो सदा संशय-ग्रस्त रहता है, उसका नाश हो जाता है।

अब बताइये कि गीताका फत्वा मौलवियोंके फत्वेसे भी अधिक भयानक है वा नहीं ? अवश्य है ! परंतु जहां गीता नाश होने का डर बता कर मनुष्य को ज्ञान और श्रद्धा प्राप्ति की प्रेरणा करती है, वहां मौलवी लोग केवल इस कारण दूसरे को काफिर कहते हैं कि वह किसी अंश में उनसे सहमत नहीं !! कितना अन्तर है ! हिंदू लोग तो सत्य और ज्ञान जहां कहीं से मिले, लेने को तयार रहते हैं। +

उपर्युक्त कट्टर मौलवी के समान कट्टर ब्राह्मण भी भारतमें मिलते ही हैं, परंतु हमारे लेख विचारशील विद्वानों के लिये हैं, कट्टरपंथियों के लिये नहीं।

आज लाखों मुसलमान विद्यार्थी इन कट्टर पंथियों के माने हुए सिद्धान्तों के विपरीत विज्ञान की शिक्षा स्कूलों और कालेजों में प्राप्त कर रहे हैं ! आओ ! अब इस विषय में कुर्आन की सम्मति देखें—

(२) कुर्आनमें सत्य-प्रशंसा और असत्य-निन्दा

१. कुर्आन की प्रारंभिक सूरत फातिहा में ही अल्लाह से प्रार्थना है कि-

इह्दिना अस्सिरातल्मुस्तक़ीम × (१।५)

अर्थात्- [हे अल्लाह !] हमें सीधा रस्ता दिखा। Guide us on the right path. सत्यासत्य के विवेक किये बिना क्या किसी को सन्मार्ग मिल सकता है ?

२. जिन्हों ने [अल्लाह पर] ईमान [विश्वास] किया, शुभ कर्म किये तथा परस्पर सत्य और धैर्य की शिक्षा दी, ऐसों के सिवा मनुष्य [जाति] निःसन्देह घाटे में (Loser) है। (१०३।२-३)

इस्लाम तथा वैदिक धर्म दोनों ही को आस्तिकता, सत्य और शुभ कर्म प्रिय हैं !!

३. ..जो बातिल् = असत्य को मानते हैं और अल्लाह को नहीं मानते वही घाटे में रहते हैं। (२९।५२)

+ श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ १३८ ॥ स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १४० ॥ (मनु०अ० २)

अर्थ- श्रद्धायुक्त होकर उत्तम विद्या शूद्र से भी ग्रहण कर लें; चण्डाल से भी परम धर्म ग्रहण कर ले; और स्त्रीरत्न अपने से अधम कुल का भी हो, तो भी उसे (विवाह के निमित्त) अङ्गीकार कर ले ॥१३८॥ स्त्री, रत्न, विद्या, सत्य वा धर्म, शौच, अच्छे वचन, और अनेक प्रकारकी शिल्पविद्याएं जहां कहीं से भी मिलें, ले लेनी चाहिएं॥१४०॥

× वेद कहता है- अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् (य० ४०।१६) ॥ हे (अग्ने) अग्रणी, पथप्रदर्शक परमात्मा (अस्मान्) हमें (राये) ऐश्वर्य (प्राप्ति) के लिये (सुपथा) सन्मार्ग से। आप्त पुरुषोंके मार्ग से (नय) ले चल॥१६॥ असतो मा सद् गमय॥ (श. ब्रा. १४।३।१।३०) हमें असत् से निकालकर सत्य के प्रकाश में ले चल।

कुर्आन का तात्पर्य है कि बातिल् वा असत्य को माननेवाला कभी भी अल्लाह को माननेवाला नहीं हो सकता। वैदिक धर्मी इसी बात को इस प्रकार कहेगा – "असत् या प्रकृति का उपासक परमात्मा का उपासक हो नहीं सकता।" क्यों? इसलिये कि कुर्आन और वेद दोनों केवल आत्मतत्त्व को ही 'हक्' वा सत्य× मानते हैं!

(३) कुर्आन में अल्लाह का सत्य स्वरूप।

१. अल्लाह हु वल् हक ॥ (कुर्आन ३१।३०)

अर्थ- वह अल्लाह हक [सत्य] है ॥३०॥

ऋग्वेद ४।३१।२में परमात्मा को **सत्यः**, ऋ. ११६४।४६ में **एकम् सत्** और कई स्थानोंपर **सत्यम्** भी कहा है। पाठको! कुर्आन और वेद की शिक्षा में कितना साम्य है, यह देखते जाइये। अब बताइये कि क्या अल्लाह जो स्वयं सत्य स्वरूप है, कभी मुसलमानों को सत्य की (अपनी ही) बौद्धिक आदि अनेक युक्तियोंसे खोज करने की मना कर सकता है?

२. अल्लाह, ला इलाह इल्ला हुवल्हय्युल्कय्यूमु ॥३।२

अर्थ- अल्लाह के अतिरिक्त कोई उपास्य नहीं, और वह सदा-जीवित (Ever-living) स्वयंभूः (Selfsubsisting) है ॥ २ ॥

ऋग्वेद ८।२१।१३ में '**सनादसि** = तू सनातन है। अ० १०।८।४४में **अजरं युवानं** अजर और सदा जवान, ऋ.६।४९।१० में **अजरं** = तू अजर (जिसमें बुढापा या क्षीणता कभी नहीं आती ऐसा) कहा है। ऋ. ५।१४।२में **अमर्त्यं देवं**=अमर देव परमात्माको कहा है। अ० १०।८।२२में परमात्माको **सनातनम् देवम्** = नित्य देव (Ever lasting God) कहा है। अ० १०।८।४४ में **स्वयंभू** = अपनी सत्ता से रहनेवाला कहा है।

(४) अल्लाह सत्यसे ही [अपनेमें से ही] ज्ञानका प्रकाश, सृष्टि-रचना और प्रलय आदि कार्य करता है!

१. सत्य का प्रकाशक- नज़्ज़ल अलैक इल्किताब बिल् हक॥ ३।३

[हे पैगम्बर! अल्लाह ने] तेरे ऊपर सत्य से युक्त पुस्तक उतारी ॥ ३ ॥

य० ३४।५८ में परमात्मा को **ब्रह्मणस्पते** = वेद ज्ञान का स्वामी करके पुकारा है।

काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः । अ० ५।११।३

काव्य से सत्य को उत्पन्न करके मैं वेद (ज्ञान)का प्रकट-कर्ता बनता हूं ॥ ३ ॥

२. आकाश और पृथिवी सत्य से उत्पन्न हुवे-

अल्लाह खलक् अस्समावाति व अल् अर्ज़ बिल हक॥ १४।१९

अर्थ- अल्लाहने आकाशों और पृथिवी को सत्य से उत्पन्न किया+ ॥ १९ ॥

३. कियामत् (प्रलय वा मृत्यु) भी सत्यके प्रकाशनार्थ ही आती है !!!

× जीव और प्रकृति परमात्मा में से उत्पन्न होकर उसी में प्रलयकाल में लीन हो जाते हैं। अतः एक परमात्मा ही त्रिकालाबाधित एकरस सत्य है, जीव और प्रकृति **स्वरूप से एक-रस-सत्य** = अनश्वर नहीं। वेद कहता है—

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः। असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अ० १०।७।१०

अर्थ- (यत्र) जिसमें (लोकान्) सब लोकों की (च कोशान्) और सब कोशों की (च आपः ब्रह्म) और मूल प्रकृति और ब्रह्मज्ञान वा वेद की (जना) उत्पत्ति (Birth, Production-Apte), और (यत्र) जहां (असत् च सत् च अन्तः) असत्, इस नश्वर जगत् और सत् इस अनश्वर जीव जगत् की (अन्तः) समाप्ति (End, termination-Apte) (विदुः) जानते हैं (स्कंभं तं ब्रूहि) वही सर्वाधार है, ऐसा तू कह! और (सः) वही (कतमः स्वित् एव) अत्यंत आनंदस्वरूप है ॥ १० ॥

कुर्आन भी इसी वेद आज्ञा के अनुसार २९।५२ में कहता है कि जो असत्य (प्रकृति) को मानते हैं, वे अल्लाह के माननेवाले नहीं! क्यों? इस लिये कि अल्लाह का स्वरूप सत्य है- अल्लाह हक है ॥ ३१।३०॥

+ **सत्येनोत्तभिता भूमिः**। (ऋ० १०।८५।१) पृथिवी सत्य से उत्पन्न हुई है ॥ १ ॥ **द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**। ऋ० १०।८१।३॥ एक ही देव द्युलोक और पृथिवी लोक को उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥ आकाश और पृथिवी ही नहीं, अपितु सारी सृष्टिही उसी एक सत्य से उत्पन्न हुई है! (देखो तै० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक १)

अल्-हाक्कः । ६९।१ = कियामत; The sure Calamity. इमाम फखरुद्दीन रजी कहते हैं- "हाक्कः एक कठिन आपदा है, जो कभी टलᅠ* नहीं सकती। अथवा वह समय जब कृत्य कर्मों का फल दिया जायगा।" (क्या यह मृत्यु तथा पुनर्जन्म की ओर संकेत नहीं ?)

अजहारीका मत है- "अल हाक्कः उस समय का नाम है जब सत्य की विजय होगी।"

सत्य की विजय वैयक्तिक अवस्थामें मृत्यु के पश्चात् तथा सामूहिक अवस्था में प्रलय के पश्चात् होती है, जब सारा नश्वर पदार्थ नाश को प्राप्त होकर केवल त्रिकालाबाधित-एकरस-रहनेवाला आत्म-तत्त्वही अपनी कभी न बदलनेवाली अवस्था में सर्व प्राकृत पदार्थों को अपने में विलीन करके शेष रहता है। इस सत्य के विजयका अरबी नाम अल्हाक्कः है।

४. अल्हाक्कः के लिये ही देवदूत (अरबी मलाइक, फिरिश्ते; आंग्ल Angels) पृथिवीपर उतरते हैं।

[अल्लाहका कथन है] हम हक्क [सत्य] के [निर्णय करने के कार्यके बिना] मलाइकों को पृथिवीपर नहीं उतारा करते। १५।८॥

यमदूत का आंग्ल पर्याय है Angel of Death, तथा आरबी में इसे इजराईल् अथवा मलकल्मौत कहते हैं। ये यमदूत भी पृथिवीपर सत्यकी स्थापना और असत्य के नाश करने के लिये ही उतरा करते हैं- निष्प्रयोजन मृत्यु भी नहीं आती- ऐसा कुर्आन और वेदका सम्मत मत है। और देखिए !

५. मलाइकों की पापियों से बातचीत।

...जब अन्यायी मृत्यु की घबराहट में होंगे, और मलाइक

* कुर्आन के मराठी भाष्यकार इसी को "खचित घडून येणार" अर्थात् 'अटल' कहते हैं। ६९।३ के भाष्य में वे कहते हैं- "यह एक आकस्मिक संकट है, जो सब को घबरा देगा, अर्थात् पुनरुत्थान।" अरबी में हाक्कः अथवा कियामत के अन्य पर्याय **यौमुल-हश्र, हश्रोनश्र,** हैं। कुर्आन के ६९ वीं सूरत का नामही **सूरतुल हाक्कः** है। यहूदी और ईसाई लोग इसेही Day of Judgment = न्याय का दिवस अथवा Day of Resurrection फिरसे जी उठने का दिन, पुनरुत्थान कहते हैं। उनके मतसे ह० ईसा का पुनरुत्थान उस समय हो चुका है, जब वे सलीब (त्रिकोण; Cross; crucifix) पर चढाये जाने और कब्र में डाले जाने के तीन दिन पश्चात् जिवन्त होकर कब्र से बाहर निकल गए !

वैदिक धर्म में पुनरुत्थान (उसी शरीर को प्राप्त करके खडे हो जाना) तो नहीं मानते, अपितु **पुनर्जन्म** को मानते हैं, और पुनर्जन्म भी जीवात्मा का होता है, शरीर का नहीं, ऐसा मानते हैं। कुर्आन भी इस विचार से सहमत है, यह आगे बताएंगे।

सारांश यही निकला कि मनुष्य का **अल-हाक्कः** = न्याय का दिवस अवश्य आना है-अटल है। परंतु हिंदुओं और मुसलमानों के मन्तव्यों में इतना भेद अवश्य है कि हिंदू ऐसा मानते हैं कि परमात्मा मनुष्यके मरने के पश्चात् तुरन्त ही उसका न्याय करके दूसरी योनी में भेज देते हैं। इस के विपरीत यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों का मत है कि परमात्मा प्रलय के पश्चात् सृष्टि में मरे हुए सब मानवों का न्याय सामूहिक रूपेण एकही समयमें करेंगे। परंतु कुर्आन इस बात की पुष्टि नहीं करता- देखिये— **अल्लाह सरीउल् हिसाबि॥** ३।१८

अर्थ- १. Allah is quick in reckoning (Muhammad Ali) २. अल्लाह शीघ्र हिसाब लेनेवाला है (शाह अब्दुल कादिर उर्दू भाष्यकार) ३. परमेश्वर को (उससे) हिसाब लेते हुए (और उसे अवज्ञा करने के कारण शिक्षा देते हुए) कुछ भी देर नहीं लगती। (मीर मोहंमद मराठी भाष्यकार)

अब यदि अल्लाह शीघ्रही कृत्य कर्मोंका फल दिया करते हैं, तो उन्हें हिंदुओंके सिद्धान्तानुसार मरनेके पश्चात् प्रत्येक मनुष्य को शीघ्रही फल देना चाहिए ! हम कुर्आन के प्रमाणों से यह बात सिद्ध कर सकते हैं कि अल्लाहने प्रलय से पूर्वही कई जातियों और व्यक्तियों को उनके कर्मों का फल दे भी दिया है !! परंतु लेख बढ जायगा, अतः अधिक नहीं लिखते। मुसलमानों को स्वयं विचार करना चाहिए कि एक मनुष्य सृष्टि के आदि में मरा और दूसरा सृष्टि के अन्त में। दूसरे का न्याय तो चट से हो गया और पहिला बिचारा अब्जों वर्षोंतक एक जेरे तहकीकात (Under trial) कैदी की तरह कब्र के अजाब (दुःख) भुगतता रहा !!! क्या ऐसा मनुष्य अल्लाह को कभी **सरीउल् हिसाब** कह सकता है ? और ऐसी अवस्थामें यह कुर्आन का वचन क्या प्रमाणिक माना भी जा सकता है ?

अपना हाथ पसारकर कहेंगे- "अपना जीव छोड दो ! आज× तुम्हें इस बात की शिक्षा दी जायगी कि तुम अल्लाह के विपरीत असत्य बोलते रहे हो... ।" ६।९४ ॥

मरते समय यमदूत दीखते हैं, इशारे (संकेत) करते हैं तथा बोलते हैं, ऐसा मत केवल मुसलमानों का ही नहीं, अपितु ईसाइयों, यहूदियों तथा हिंदुओं में भी पाया जाता है ! थामस टिक्केल नामके एक आंग्ल कवि (१६८६-१७४०) हो चुके हैं, उनकी कवितामें आता है- " मैं एक शब्द सुन रहा हूं, जो तुम सुन नहीं सकते । वह कहता है कि मुझे अधिक विलंब न करना चाहिये । मैं एक हाथ देख रहा हूं, जो तुम देख नहीं सकते, वह मुझे कहीं दूर ले जाने के संकेत दे रहा है।"+

६. अल्लाह न्यायकारी है—

(१) काइमन् बिल् किस्ति ।३।१७।

[अल्लाह] खडा है साथ इन्साफ [न्याय] के ॥१७॥❀

(२) और कियामत के दिन हम न्याय की तराजू (तुला) खडी करेंगे, और किसी जीव पर जरा भी अन्याय न होगा। यदि किसी का कर्म राई के दाने जितना भी होगा, तो भी हम उसे [हिसाब में] लाएंगे और हिसाब करने में हम पूर्ण (Perfect) हैं ॥२१।४७॥÷

×"आज" शब्द हमारे इस कथन की पुष्टि करता है कि कियामत का अर्थ मृत्यु है, और अल्लाह वैदिक धर्म के सिद्धान्तानुसार मनुष्य को मरने के पश्चात् एकदम कर्म-फल दिया करता है ! अर्थात् जैसे जैसे मनुष्य मरते जाते हैं, वैसे वैसेही उनका न्याय भी होता रहता है !! अगली आयत में इस बात को और अधिक स्पष्ट किया है- यथा ...."पहिले जैसे हमने तुम्हें [एक एक करके] उत्पन्न किया था, वैसे ही तुम अकेले अकेले हमारे पास आए.... ॥६।९५॥"

इस आयत द्वारा अल्लाह सृष्टिमें प्रतिदिन प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेवाले प्राणियोंके जन्म और मृत्युका दृष्टांत देकर मुसलमानों को अपने सरो उल् हिसाब् होने का एक अकाट्य प्रमाण देते हैं। अल्लाह कहते हैं कि जैसे प्रत्येक प्राणीका जन्म उसके अपने ही कर्मों के कारण अलग अलग होता रहता है और किसी दूसरे प्राणी के जन्म की अपेक्षा नहीं रखता, इसी प्रकार उसकी मृत्यु भी अपनेही कृत्य कर्मों के कारण हुआ करती है और मरने के पश्चात् वह प्रलय आदि तक न्याय के लिये न ठहरता हुआ सीधा हमारे पास पहुंच जाता है !!! यही (वेदानुकूल) हिन्दुओं का मत है ! कुर्आन और वेद की इस समानता को देखकर हमें जो आनन्द होता है, वह शब्दों में प्रकट किया नहीं जा सकता !!!

+ I hear a voice you cannot hear, Which says I must not stay;
I see a hand you cannot see, Which beckons me away. (Thomas Tickell)

❀ हर किसी को कर्म फल ठीक समयपर (in due time) पहुंचाना ही न्याय है ।

÷ न्याय की पूर्णता इस में भी है कि पहिले आये हुए का न्याय पहिले और पीछे आये हुओं का पीछे किया जाय । अब्जों वर्ष पहिले मरे हुओं का न्याय सबसे पीछे मरे हुए पुरुष के साथ करना न्याय नहीं- अन्याय है !

पाठको ! इतने प्रमाणों से सिद्ध है कि कुर्आन और वेद की शिक्षाओं में कितना साम्य है ! कियामत को मुसलमान एक आफत (Calamity), हंगामा, शोर व गुल (Tumult) मानते हैं परंतु कुर्आन कहता है कि वह हाक्कः अर्थात् हक या सत्य का प्रकाशन ही है ! वेद के अनुसार भी सृष्टि-रचना-और प्रलय करना परमात्मा का स्वाभाविक गुण ही है । इसीलिये सृष्टि को 'प्रवाह से अनादि' वेद ने माना है। यथा- **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः** (ऋ.१०।१९०।३) **अर्थ**- विधाता ने सूर्य और चंद्र (स्वप्रकाश और परतः प्रकाश लोकों) को द्युलोक और पृथिवी को, अन्तरिक्ष और (स्वः) तज्जन्य सुख को (यथा पूर्वमकल्पयत्) पूर्व की भांति रचा ॥ ३ ॥ इसी का समर्थन कुर्आन इन शब्दों में करता है—

(१) क्या हम [सृष्टि को] पहिले निर्माण करके थक चुके हैं, कि पुनः निर्माण नहीं कर सकते ? ॥५०।१५॥ (२) (ऐ पैगम्बर ! इन लोगों को) पूछ कि आपके उपास्य देवों में कोई ऐसा है कि जो सृष्टिको प्रथम उत्पन्न करके फिर उसे (लय करके) पुनरपि निर्माण कर सके ? (तू इन्हें) कह कि अल्लाह सृष्टि को प्रथम उत्पन्न करता है, फिर (वही) उसे (प्रलय में लाकर) पुनः भी निर्माण करेगा ॥१०।३४॥ (३) हे अल्लाह ! तू ने हमें दो बार मारा दोबार जिवंत किया ॥४०।११॥ इस प्रकार कुर्आन में भी

इसी प्रकार यजुर्वेद ३६।९ में परमात्मा को **अर्यमा** = न्यायकारी और ऋग्वेद ८।४३।२४ में उसे **धर्मणां अध्यक्षं** = सब धर्मकार्यों का अधिष्ठाता कहा है।

असत्यको हटाकर सत्य की स्थापना करने का ही दूसरा नाम न्याय है! जो अल्लाह स्वयं सत्यासत्य की छानबीन करता है, वह मुसलमानों को क्योंकर रोक सकता है? अतः मजहब में अक्ल को दख्ल अवश्य ही है !!

(५) कुर्आन के पर्यायोंपर विचार।

१. अल्लाह के समान कुर्आन भी हक़ है।

(१) [ऐ पैगम्बर! कह कि] सत्य आया है और असत्य नष्ट हुआ है ॥१७।८१॥×

२. कुर्आन विवेचक है।

२।५३ तथा २५।१में कुर्आनको अल् फ़ुर्क़ान् =+ सत्यासत्य की छान बीन करनेवाला — सत्यासत्य का फर्क = अन्तर = Difference बतानेवाला कहा गया है! अब बताइये कि 'मजहब में अक्ल को दख्ल नहीं' का सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता है? क्या इसका अर्थ ऐसा होगा कि स्वयं कुर्आन और अल्लाह तो सत्यासत्य की विवेचना करें, परंतु यह आज्ञा मुसलमानों को नहीं?

३. कुर्आन प्रकाश-तथा-वाद-विवाद स्वरूप है!

(कुर्आन) बुर्हान व नूर (है) ४।१७५

बुर्हान = वाद, युक्ति; दलील, बहस; Argument, Controversy.

नूर = प्रकाश, Light, ज्ञान, Wisdom; यदि 'मजहब में अक़्ल को दख्ल नहीं' यह सिद्धान्त कुरान का होता तो उसे 'बुर्हान' नाम क्योंकर शोभा देता! वादविवाद करने से ही सत्यासत्य का निर्णय होता है और यह काम अक़्ल वा बुद्धि के विना हो नहीं सकता!※

कुर्आन 'नूर' = प्रकाश होने के कारण, इस से अज्ञान का अन्धेरा‡ भी कटना चाहिए। परंतु यह भी तभी संभव होगा जब मजहब में अक़्ल का दख्ल होगा !! और तबही कुर्आन के ये दोनों नाम सार्थक भी होंगे।

४. कुर्आन सत्य का धारक है।

कुर्आनको १८।२में **क़य्यीम्**= सत्यका धारक॥ Maintainer of truth कहा है।

अब यहां प्रश्न हो सकता है कि यदि सत्यके धारकका नाम कुर्आन है, तो सत्यको झुटलानेवालों को कुर्आन क्या पदवी देता है?

(६) काफिर कौन है?

१...काफिर लोग सत्य को निष्फल करनेके लिये असत्य वाद खडा करते हैं॥ १८।५६

अपने सिवा संसार की समस्त जातियों को काफिर समझनेवाले मुसलमान और वकील लोग जरा कान देकर सुनें!

सृष्टि और प्रलय को प्रवाह से अनादि माना गया है! वेद और कुर्आन की शिक्षा में कितनी समानता है !! फिर भला हिन्दू मुसलमानों में विरोध क्यों होना चाहिए?

× वैदिक धर्मीभी वेद को सत्य = अनश्वर मानते हैं। स्वयं वेद में है- **देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।** (१०।८।३२) **अर्थ**- ईश्वर के काव्य को देखो जो न पुराना होता है न मरता है ॥ **३२** ॥ ज्ञान परमात्मा का गुण है। गुण गुणीसे कभी पृथक् नहीं होता। अतः अल्लाह के सदृश ही उसका ज्ञान नित-नया और सदा-पुराना अथवा सर्वदा-युवा रहता है! 'सत्य आया' = 'वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ'! यथा- तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋ. १०।९०।९

+ सत्यासत्य का विवेक ज्ञान से होता है और संस्कृत भाषा में **वेद** शब्दका अर्थ ही ज्ञान (Knowledge, holy learning, the scriptures of the Hindus- Apte) है। अर्थात् **'अल फ़ुर्क़ान्' वेद** का भी अरबी नाम है!!

※ **कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण। अ० १९।७२।१** इष्ट कर्म ज्ञान के वीर्य = बल से ही होता है ॥ १ ॥

‡ तमसो मा ज्योतिर्गमय। शत० ब्रा० १४।३।१।३० (हे प्रभु! हमें अविद्यारूपी) अंधकार से निकालकर (विद्या के) प्रकाश में ले चल ॥३०॥

॥ अल्लाह हक्क = सत्य है, अतः उसका ज्ञान (वेद वा कुर्आन) भी सत्य ही होना चाहिए। ऋग्वेद १०।९०।९ में चारों वेदों का परमात्मा से उत्पन्न होना लिखा ही है।

(२) ...काफिर बहिरे, गुंगे और अन्धे हैं।...॥२।१७१॥ पाठको ! कुर्आन ऐसे मनुष्योंको ' बधिर ' कहता है, जो सत्य उपदेश सुन कर भी उसे क्रिया में ला नहीं सकते। वे जो सत्य को स्वयं समझते हुए भी दूसरोंको नहीं सिखाते, ऐसे पुरुष ' गुंगों ' के सदृश हैं। जो सत्य को देखकर भी उसे ग्रहण नहीं कर सकते, ऐसों को कुर्आन ' अन्धों ' की उपमा देता है। अधिक यह कि इन तीनों प्रकार के मनुष्यों को कुर्आन ' काफिर ' समझता है !!!

अब कुर्आन के अनुसार काफिर कौन हैं और मुसलमान किन्हें काफिर समझते हैं, यह भेद भी पाठकों के सामने अंशतः आही गया !!! विस्तार से आगे दिखावेंगे। सत्य क्रिया से विमुख होनेवालों को कुर्आन कितना फटकारता है, यह भी मनन करने योग्य है !!

इस वचन से सिद्ध होता है कि सत्य ही मजहब वा धर्म है, और यह हक वा सत्य कानों से सुनकर मुखसे वाद-विवाद करके, और आंखों से पुस्तकें पढकर प्राप्त किया जाता है। और जो ऐसा नहीं करते वे ' काफिर = नास्तिक हैं !!! अर्थापत्ति से यह सिद्ध हुआ कि जो इन तीनों प्रकार से सत्य-ज्ञान की प्राप्ति करके उस पर आचरण भी करते हैं, उन्हें कुर्आन मूमिन = आस्तिक कहता है !!! इतने पर भी यदि कोई यह माने कि कुर्आन बौद्धिक आदि युक्तियों से सत्यासत्य के निर्णय करने की आज्ञा नहीं देता, तो उसकी इच्छा। कुर्आन् तो वाद-विवाद न करनेवालों को गुंगा और काफिर कहता है !!! और देखिये !

(७) अल्लाह की आज्ञाएं।

१...(हे पैगम्बर ! इन्हें) कह कि ज्ञानवान् और अज्ञानी भी कहीं (आपसमें) बराबर हो सकते हैं ? बुद्धिसम्पन्न मनुष्योंको ही बोध होता है ॥३९।९॥ अर्थात् इस सृष्टि में अज्ञानी मनुष्य का को कोई भी काम सिद्ध नहीं होता ![@]

२. अन्धा और आंखवाला बराबर नहीं (हो सकते)।४०।५८॥

३. और तुम सत्यको असत्य से नहीं मिलाओ और जान बूझकर सत्य को नहीं छिपाओ ॥२।४२॥

" हराकि शक आरद् काफिर गर्दद " से डर कर जो सत्य बात बोल नहीं सकते, उन्हें इस वचन से बोध लेना चाहिए !!

(८) मुस्लिम विद्वानों का मत

(१) अल्लाह कुर्आन द्वारा मुसलमानों को सत्य के ग्रहण और असत्यके त्याग की आज्ञा देता है वा नहीं ? मजहबमें अक्ल को दखल है वा नहीं? क्या केवल किसी सिद्धान्त पर संदेह करने से मनुष्य को काफिर की उपाधि लग सकती है ? इन तीन प्रश्नों का उत्तर हम ने स्वयं अल्लाह और कुर्आन के प्रमाणों से देनेका प्रयत्न किया है, और साथ साथ इन वचनों का वैदिक धर्म से साम्य भी बतलाया है।

(२) कुर्आन के ज्ञाता जानते हैं कि स्वयं कुर्आन ने बौद्धिक आदि युक्तियों, तौरेत तथा इन्जील के प्रमाणों, तथा आप्त पुरुषों के वचनों से अपने विपक्षियों के मत का खण्डन अनेक स्थानों पर किया है ! फिर भला यह कैसे संभव हो सकता है कि कुर्आन मुसलमानों को दार्शनिक आर्थिक बौद्धिक आदि युक्तियों के व्यापार से मना कर दे ?

(३) हक्क (सत्य) से उत्पन्न सृष्टि में कोई भी वस्तु सर्वथा नाहक्क (व्यर्थ) उत्पन्न नहीं की गई। एक फारसी कवि का कथन है कि " प्रत्येक वस्तु काम में आती है, फिर वह सर्प-विष ही क्यों न हो। " × जिस प्रकार धन, बल, शस्त्र, विज्ञान आदि के उपयोग और दुरुपयोग दानों होते हैं, उसी प्रकार शक, संदेह वा संशय के भी होते हैं। मित्र पर संदेह करना बुरा है+। परंतु यदि सन१८०४ई०में जार्ज स्टीफन्सन* को यह संशय उत्पन्न न होता कि "भाप की शक्तिसे चाय की किटली का ढक्कन क्यों ऊपर उठता है," तो रेल गाडी का अविष्कार क्योंकर होता? गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त यद्यपि 'वेद'॥॥में उपस्थित

[@] यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति ॥ ऋ. १।१८।७॥ **अर्थ**- (सः) वह साधक (धीनां योगम्) बुद्धियों के योग को (इन्वति) प्राप्त करता है (यस्मादृते) जिस बुद्धि की सहायता के बिना (विपश्चितः चन) दूर-दर्शी विद्वानों का भी (यज्ञः) सत्कर्म (न सिध्यति) सफल नहीं होता ॥ ७ ॥ इतनी बुद्धि की महिमा वेद ने भी गाई है !

× हर् इक शै आयद् बकार्। गर्चि बाशद् जहरे मार्॥

+ Suspicion is the poison of friendship.

* George Stephenson (1781-1848)

॥॥ देखो ऋग्वेद १०।१४९।१; १।१६४।११ तथा ४८ इत्यादि

था, तथापि संसार उसे भूल चुका था। न्यूटन साहेबको* "वृक्ष से सेब का फल टूटकर पृथिवीपर क्यों गिरा ?" यह शंका उत्पन्न हुई ! इस शंका को बुद्धि के योग से निवृत्त करने का फल यह निकला कि आज वे संसार में गुरुत्वाकर्षण (Law of Gravitation) के आविष्कारकर्ता माने जाते हैं !

पाठक वृन्द ! शंका तो बुद्धिमानों को उत्पन्न हुआ करती है–मूर्खों को नहीं ! और शंका-निवृत्ति से ही हक्क, विज्ञानादि की प्राप्ति होती है !! अतः शंका बुरी नहीं । शंका तो सत्यप्राप्ति का प्रारंभ है !

४. "सत्य की प्राप्ति और असत्य का त्याग" यह तो मुसलमानोंके बडे बडे उलमाओं (विद्वानों) का उसूल् (मत= Principle) रहता आया है। शेख सअदीने तो "सत्य की महिमा" और "असत्य की बुराई"× पर फारसी भाषा में कविताएं रची हैं। एक दूसरे फारसी कवि कहते हैं कि "पुरुष को भलाई की बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए फिर वह एक दीवार (भीत) पर ही क्यों न लिखी हुई हो।"+

५. मौलाना रोमका कथन है कि "हमने तो कुर्आन से मज्जा (तत्त्व) को उठा लिया है, और हड्डियें कुत्तों (केवल शब्दार्थपर झगडनेवालों) के सामने फेंक दी हैं।"※ वेद हो अथवा कुर्आन, इन्जील हो वा तौरेत, इन सब में से तत्त्व वा सत्य को ही ग्रहण करना बुद्धिमानों का काम है। सत्य तो आत्मस्वरूप होने के कारण सारे मानव जाति की सम्पत्ति है, फिर चाहे वह कहीं से भी उपलब्ध क्यों न हो ! और असत्य किसका ? असत्य के मालक वे जो उसे मानें !

६. ये तो हुए भूतकाल के उलमाओंके मत। अब वर्तमान काल के कुर्आन के आंग्ल भाषा के भाष्यकार मौलवी मुहम्मद अली साहेब, एम्. ए. एलूएल्. बी. के विचार जो उन्होंने कुर्आन के द्वितीय संस्करण (१९२०) की भूमिका पृ० ९५ पर प्रकट किये हैं, वे उनके ही शब्दों में पाठकों की जानकारी के लिये उपस्थित करते हैं—

"Earlier authorities have also to be respected, but reports and comments contradicting the Quran itself cannot but be rejected .... Many of the stories generally accepted by the commentators find no place in my commentary, except in cases where there is either sufficient historical evidence or the corroborative testimony of some reliable saying of the Holy Prophet.. Many of these stories, were I believe, incorporated into the Islamic literature by the flow of converts from Judaism and Christianity into Islam. Nor have I placed much reliance upon the stories of SHAN-I-NAZUL (i. e. the occasion on which a particular verse was revealed), accepting their evidence when necessary as affording an illustration of the significance underlying a verse. A full discussion as to the principles and rules of interpretation I reserve for a seperate exposition. But I must add that the present tendency of the Muslim theologians to regard the commentaries of the middle ages as the final word on the interpretation of the Holy Quran is very injurious, and practically shuts out the great treasures of knowledge which an exposition of the Holy Book in the new light reveals. A study of the old commentators, to ignore whose great labours would indeed be a sin, also shows how freely they commented upon the Holy Book. The great service which they have done to the cause of truth

---

* Sir Issac Newton (1642--1727).

× देखो गुलिस्तां में "दर सिफते रास्ती" तथा "दर मजम्मते किजब्"

+ मर्द बायद् कि पंद गोश कुनद् । गर् निविश्तस्त पंद बर दीवार् ॥

※ मा ज कुर्आं मग्ज रा बर्दाश्तेम् । उस्तख्वां पेशे सगां अन्दाख्तेम् ॥

would indeed have been lost to the world, if they had looked upon their predecessors as uttering the final word on the exposition of the Holy Quran, as most theologians do today."

(Page XCV of 'preface' to the Holy Quran by Maulana Muhammad Ali, M. A., LLB., 2nd Edition 1920.)

अर्थ- [१] पहिली पुस्तकों को भी मानना चाहिए, परंतु जो कथाएं और टीकाएं कुर्आन×को झुटलानेवाली हैं वे अस्वीकृतही रहेंगी।

[२] ऐसी कई बातों को जिन्हें (भूतकालीन) टीकाकारों ने प्रायः स्वीकार किया था, मेरी टीका में स्थान नहीं मिला, उन अवस्थाओं के सिवा जहां या तो इनके लिए समाधानकारक ऐतिहासिक प्रमाण मिला, या पवित्र पैगम्बरके किसी विश्वसनीय वाक्य की समर्थनकारी साक्ष प्राप्त हुई। मेरा मत है कि इन में से बहुतेक कथाएं यहूदियों और ईसाईयों के इस्लाममें धर्मान्तर के प्रवाह द्वारा इस्लामी साहित्य में मिलाई गई हैं।+

[३] मैंने शाने नजूल (अर्थात आयत विशेष के प्रकटी-करण के समय) की कथाओंपर भी अधिक विश्वास नहीं* रखा है। परंतु जहां उन्होंने किसी वाक्य के गुप्त अर्थ का चित्रण किया है, वहां आवश्यकतानुसार उनकी साक्ष को मान लिया है।

[४] भाषान्तर किन उसूलों (मतों) और किन निर्बन्धों के नीचे करना चाहिए, इसपर पूरा वाद-विवाद तो मैं किसी स्वतंत्र लेख के लिये रख छोडता हूं। परंतु मुझे इतना अवश्य कहना चाहिए कि मुस्लिम ब्रह्मज्ञानियों के विचार का झुकाव कि पवित्र कुर्आनपर की गई मध्यकालीन टीकाओं को ही अन्तिम शब्द मानना चाहिए- अत्यंत हानिकारक है। [ऐसा मन्तव्य] ज्ञान के उन महान् कोशों को व्यवहार में आने से बंद कर देता है, जो कोश उस पवित्र पुस्तक की व्याख्या अर्वाचीन प्रकाश में करनेसे प्रकट होते हैं।☛

[५] प्राचीन टीकाकारों - जिन के किये हुए परिश्रम से मुख मोडना निःसंदेह पाप है - के पुस्तकों का पाठ भी हमें यही बताता है, कि किस स्वतन्त्रता से उन्हों ने भी उस पवित्र पुस्तक पर टीका की थी! वह महान् सेवा जो उन्हों ने सत्य के पक्षकी की है, निःसंदेह संसार को अप्राप्त रहती, यदि वे भी अपने पूर्व के टीकाकारों को पवित्र कुर्आन की व्याख्या पर इसी प्रकार अन्तिम शब्द कहनेवाले समझते, जिस प्रकार आज के मुस्लिम ब्रम्हज्ञानी [मध्यकालीन टीकाकारोंको] समझ रहे हैं।"※

(७) अन्तिम शब्द

पाठको! इस से अधिक लिखने की अवश्यकता नहीं। अलह, कुर्आन, और मुस्लिम उलमा (विद्वान) एक मत से सत्यप्राप्ति और असत्य त्याग का पाठ पढा रहे हैं! हमने तो अपनी तुच्छ बुद्धयनुसार कुछ अधिक ही लिखा है, परंतु एक फारसी विद्वान का कथन है - "गर दर खाना कस अस्त यक् हर्फ बस अस्त" अर्थात (शरीररूपी) घर में (विवेक करने वाला) पुरुष यदि निवास करता है तो उसके लिये एक अक्षर भी पर्याप्त है॥

× "कुर्आन को झुटलानेवाली" के स्थानमें "सत्य को झुटलानेवाली" लिखना अधिक युक्तियुक्त होता। कारण १७।८१ में कुर्आन को हक्क = सत्य कहाही है।

+यहूदियों और ईसाइयों को मौलाना साहेब मुसलमान बननेके पश्चात् भी अविश्वसनीय समझे रहे हैं। इस से यह अनुमान होता है कि कुरेश जाति जिन की अरबी भाषामें कुर्आन उतारा, वह हिन्दूही थी!!

* स्वच्छ सत्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक विद्वान् को अपने पराये का भेद भुलाकर ऐसाही करना उचित है। क्यों? इस लिये कि- (१) सत्यादुत्पद्यते धर्मो॥ सूक्तावली ११२ सत्य से ही धर्म (मजहब) उत्पन्न होता है। (२) नास्ति सत्यसमो धर्मः॥ महा० आदि० अ० ७४।१०५ सत्य (हक्क) के समान उत्तम कोई धर्म नहीं।

☛ अहा! कितने सत्य से भरे वचन हैं! केवल मुसलमानों को ही नहीं, अपितु वैदिक धर्मियों को भी वेद-भाष्य करने से पूर्व वाद-विवाद करके इन सर्व-सम्मत मतों और निर्बंधों को निश्चित कर लेना उचित है।

※ कुर्आन हो, वेद हो वा इन्जील्—स्वच्छ सत्य की प्राप्ति सर्वदा स्वतंत्र बुद्धि से निष्पक्ष विद्वानों द्वारा की गई टीकाओं से ही होना संभव है। हमें प्रसन्नता है कि मौलाना रोम के वचन अनुसार मौलाना अबुल कलाम आजाद, सर सय्यद अहमद खान, मौलाना अबु मुहम्मद अब्दुल् हक, सय्यद खुदा बख्श M A., मौलाना अहमदबख्श आदि अनेक मुस्लिम विद्वान् कुर्आन में से स्वच्छ सत्य को ही लेने के पक्षपाती हैं।

श्रेयः और प्रेयः

(लेखक— योगिराज परिव्राजक श्रीश्रीमत् ब्रह्मचारी, **गोपाल चैतन्य देव**,
पीयूषपाणि आयुर्वेदचिकित्सा मन्दिर, २१८ गिरगाँवरोड, केलेवाडी, बंबई नं० ४)

उपनिषदादि ग्रन्थ की आलोचना करने से श्रेयः और प्रेयः दो पथ का संधान मिलता है। जगद्रहस्यके मूल के अनुसंधान में जाकर, शांति और आनन्दके शाश्वत-उत्सके अनुभवमें जाकर कृत-युगके भारत के मनीषिवृन्द उपर्युक्त दोनों पथ श्रेयः और प्रेयः के अस्तित्व की उपलब्धि कर चुके थे। श्रेयः नित्यानन्दका पथ तथा प्रेयः क्षणिक सुख का है। श्रेयः लाता है एक रसकी अनुभूति, प्रेयः लाता है- इन्द्रियवर्ग के सामने विचित्र अखाद्य वस्तुओं का विविध-संभार। श्रेयः ले जाता है, अन्तर (हृदय) को पथपर, अन्तर को अन्तरतम प्रदेश में, प्रशांतिकी निस्तरंग भूमिमें; फिर प्रेयः ले जाता है, बाह्य से बाह्य की अशांति व अतृप्ति की चञ्चल भूमि में, क्षणिक के मोहावर्त में। श्रेयः ला देता है, प्रसाद, स्थैर्य, वीर्य; फिर प्रेयः ला देता है लोलुपता (लालस), अस्थिरता, प्रमाद। श्रेयः चाहता है, क्षुद्र ममत्व की गण्डी तोडकर विश्वमय आत्म-सम्प्रसारण; प्रेयः चाहता है स्वार्थ की गण्डी आकर्षण कर आत्म-संकोचन। श्रेयः चाहता है, इन्द्रिय-शक्ति को सम्पूर्ण रूपसे निराश कर, बाधा-निर्मुक्त अन्तःकरणमें स्वरूप की अपरोक्ष-अनुभूति, फिर प्रेयः चाहता है, क्षुद्र-इन्द्रिय की क्षुद्र-शक्ति की सहायतासे खंडित जगत् का विचित्र रसास्वादन। प्रेयः का कारोबार सिर्फ इस जगत को लेकर, तो श्रेयः का कारोबार है इस जगत् के साथ अनंत जगत् को हृदय में धारण कर। प्रेयः देखता है सिर्फ वर्तमान जीवन, और श्रेयः की आँखों में प्रकाशित हो उठती है अनंत-जीवन की असीम विस्तृति। प्रेयः की साधना से समृद्ध होता है यह जड जगत्, वृद्धि पाती है सुख-सम्पद्, श्रेयः की साधना से समृद्ध होता है अध्यात्म-जगत्, संधान पाता है जीव शाश्वत सम्पद का। प्रेयः ला देता है भोगलोलुपता, परश्रीकातरता, स्वार्थ-परता और श्रेयः ला देता है त्याग-परायणता, विश्वमैत्री, परार्थपरता। प्रेयःका पर्यवसान (अंत) काम में, और श्रेयः का विश्रांतिप्रेममें।

जीव-जगत् का सभी जीव सुखका कांगाल (गरीब) है। सभी चाहते हैं शांति आनन्द एवं सुख। प्रत्येक जीव का प्रत्येक कर्म ही उसी उद्देश्य साधन की पूर्ति के लिए है और जो चेष्टा हो रही है, उसीका बहिःप्रकाश है कर्म। साधु के साधन-भजन में, सांसारिक संसार की सेवा में, असाधु की असत् वृत्तिमें वही एकही उद्देश्य विद्यमान है। लक्ष्य एक होनेपर भी पन्था भिन्न भिन्न, फिर पन्था का तारतम्य से फल भी भिन्न-भिन्न है।

प्राचीन-भारत के मनीषिवृन्द श्रेयः और प्रेयः दोनोंके ही अन्तःस्थल में पहुंच कर श्रेयः को ही परम श्रेयस्कर कहकर मुक्त-कण्ठसे घोषणा कर गये हैं। उन्होंने अनुभव किया है, कि श्रेयः ही जीवन में निःश्रेयस ला देता, और लाता है शाश्वत-सुख, शांति-शमत्त्व एवं शाश्वत-आनन्द। प्रेयः इसे नहीं ला सकता; प्रेयः का फल क्षणिक, वह अंत में लाता है ऐकांतिक (विशेषही) अवसाद। इस कारण प्राचीन भारतके राजाधिराज में भी देखने में आता है, कि वे राजमुकुट परित्याग कर परिणत-उम्र में बनवासी होते हैं, राजपुत्र भी भविष्य-सिंहासन का मोह परित्याग कर यौवन में ही संन्यासी बन जाते हैं। जड का मोह, ऐहिक (सांसारिक) माया चिरकाल के लिए उन्हें मोहग्रस्त कर रख नहीं सकी। सच्चिदानन्द का आकर्षण उन्हें खींच कर घर-संसार से बाहर लाया है।

भारत का यही चिरंतन-आदर्श है। पुण्यभूमि भारतने अनुभव किया, उनके जीवन सिर्फ इस जगत्में ही सीमाबद्ध नहीं थे, इस ससीम आयांतयुक्त सार्ध त्रिहस्त-परिमित देह की गण्डी में ही वह सीमाबद्ध नहीं है; वह लोक-लोकांतर-जन्म-जन्मांतरमें असीम की ओर चिर सञ्चरणशील है। इस दिग्-दिगंत-विस्तृत उदार-दृष्टि से ही उसने इस जागतिक व्यापारसमूहको छोटा समझना सीखा है; उसने और सीखा है, " भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति। " क्षुद्र इन्द्रिय की क्षुद्र शक्ति की सहायतासे, अनित्य विषय-वस्तु से आहरित (लब्ध) जागतिक सुख स्वल्प, अनित्य, क्षण-भंगुर है; उससे शाश्वत-सुख एवं शांति नहीं मिलती है, वह क्षणिक सुख के मोह में गोते खाकर पर- मुहूर्त में ही अतृप्ति के दानव-दाहसे हृदय को दग्ध करता है। उसने सीखा

है कि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति" काम्य-वस्तु के उपभोग से कामना की तृप्ति नहीं होती है, वरना घृताहुत-अग्नि की भांति उसकी लक्-लक् जिह्वा उत्तरोत्तर बढती ही रहती है। उसने सीखा है, "त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" केवल मात्र त्यागके पथ में, वासना-निर्मुक्ति के पथमें, कामना वर्जन के पथमें, निःस्पृहता के पथ में ही अमृतत्व लाभ हो सकता है। अमृत-लाभ करने का दूसरा और कोई मार्ग नहीं है। सारांश यह है, कि श्रेयः त्याग का पथ है, प्रेयः भोगका पथ। श्रेयः विद्याश्रित है, प्रेयः अविद्याकी गोदमें पलता है।

आज समग्र जगत् श्रेयः को परित्याग कर प्रेयः के पथपर श्रेयः के अनुसंधान में दौड रहा है, उद्दाम गतिसे-भीषण उन्मादना से जिसका अनित्य फल "महती विनष्टिः" यानी महाविनाश। परस्वापहरण की लोलुपता (लालस) में, पर-राज्य ग्रासकी मादकतामें, प्रभुत्व विस्तारकी प्रबल-पिपासा (प्यास) में आज सारा जगत् अधीर चञ्चल है। शस्त्रों के झनझनाहटसे, तोप के गर्ज्जनसे, विमानके घर्घर शब्दसे, शोणित प्लावन (बाढ) से, कल्पनातीत सफलता से हिंसाका उत्सव अच्छा जम रहा है, उस उत्सव- अग्नि में इच्छा-अनिच्छासे स्वेच्छासे या परेच्छासे कोटि-कोटि नरनारी-आत्महुति दे रहे हैं। आज समग्र-जगत् ध्वंस की ओर चल रहा है।

प्रेयः के पथपर चलकर, जड विद्याके महासमुद्र के मन्थन से उठ रहा है जो कालकूट-जो हलाहल (विष), आज उसी कालकूट-हलाहल से विश्ववासी जलकर खाक हो रहे हैं, सुधा (अमृत) के भ्रमसे हलाहल पानकर विषकी ज्वालासे काटछाँट कर रहे हैं। श्रेयःके पथमें आकर्षित कर उस हलाहलसे समग्र जगत्की आज रक्षा करेगा कौन? कहां वे नीलकण्ठ विराजते हैं, जो एक दिन समुद्र-मन्थन से उत्पन्न हलाहल आकण्ठ पानकर समग्र-जगत् को ध्वंसके हाथसे रक्षा कर गये थे एवं अमृत-को परिवेषण कर मृत-जगत् को पुनः नई जिन्दगीमें सञ्जीवित कर उठाये थे?

यह पुण्यभूमि भारत ही वे नीलकण्ठ हैं; सर्व-प्रकारसे मर-कर भी वे भी अमृत परिवेषणके लिए सारे विश्वके तृषित-कण्ठमें शांति की अमियधारा (अमृत-धारा) देने के लिए श्रेयः के पथ पर सारे विश्वको परि चलित करने के लिए बडे धैर्य-स्थैर्य के साथ उपनिषदों की वाणी हृदयमें धारण कर जिन्दा है। वह अभी तक जिन्दा है आत्मा अमरत्व की वाणी सुनाने के लिए, जीवित है वह अनन्त-जीवन की वार्ता समझानेके लिए, जीन्दा है वह शाश्वत सुख-शाश्वत-शांति-आनन्द का पथ बतलाने के लिए।

भारतने सब गुमाया है, परंतु अध्यात्मसम्पद् अब भी उसने नहीं खो डाली। श्रेयः की साधनता से सिद्ध-सम्पद् रूपसे कृत-युग के भारतने जो कुछ अर्जन (लाभ) किया था, उत्तराधिकार सूत्रसे आज वह उस सिद्ध सम्पदा के अधिकारी है, इसीसे वह सौभाग्यवान् महापुरुष की भविष्य-वाणी—"अदूर भविष्य में यह भारत ही होगा समग्र-जगत् का अध्यात्म-गुरु, उसका पथ-प्रदर्शक; समग्र जगत् एक दिन आकर भरत का चरण वन्दन करेगा। भारत से ही उन्हें मिलेगा शांति, तृप्ति एवं आनन्द!"

प्रेयः के पथ से घुमाकर श्रेयः के पथ का संधान देगा समग्र जगत्को यह चिर-हृतसर्वस्व अभागा भारत। अतः वर्तमान दुर्दिन में भी सनातन भारत के जीवित रहनेकी जरुरत है। और केवलमात्र जिन्दा रहने से नहीं चलेगा, उस महान्-कर्तव्य का पालन करने के लिए उसे तैयार भी होना पडेगा अध्यात्म-सम्पदा की ज्योति में।

श्रीनिगमानन्द
की
जीवनी और वाणी×

[लेखक— योगीराज परिव्राजक, श्रीमत् ब्रह्मचारी **गोपाल चैतन्य देव**, बम्बई]

जीवनी
अवतरणिका

मेरे जीवन में जो कितने ही दुःख-कष्ट आ गये हैं, उनकी कोई सीमा नहीं है। निश्चित मनसे बैठकर उन सब विषयोंपर चिंता करने से मन में एक आश्चर्यभाव का उदय हो जाता है। सोचता- क्या मैंने ही वे सब सहन किये हैं? प्रथम जीवन का बालक मैं हूँ, परिव्राजक मैं हूँ, योगी मैं हूँ, फिर गुरु भी मैं हूँ- इन सब में प्रत्येक अवस्था के साथ दूसरी अवस्था का कितना फर्क है! वर्तमान अवस्था का 'मैं' और पूर्वावस्था का वही 'मैं'– ये दोनों जो एक ही मैं- यह बात मैं सोच ही नहीं सकता हूँ। उस समय शीत-ऋतु में पहाड -पर्वत में, वन, जंगल में कितने ही कष्ट निर्विवाद सहन किये हैं। एक-एक रोज कितने ही रास्तोंपर केवल पैदल चलकर कितनेही देश, कितनेही नद–नदी, कितनेही पहाड पर्वत को देखा। कितने ही ऊँचे-नीचे टीलों को अति क्रम कर पर्वत पर भ्रमण किया! शरीर की ओर उस समय बिलकुल ही लक्ष्य नहीं रहता था। उस समय की वे सब बातें अब चिंतनसे भी स्मरण नहीं कर सकता हूं। अब सोचता हूं कि कैसे वे सब काम करता था!

प्रथम-जीवन में मैं नास्तिक था, परंतु वही नास्तिकत्व मेरे जीवन की चरम उन्नति का कारण हो गया है। तब मन ही मन सोचता था कि 'किसी भी प्रकार से इस जीवन का अन्त हो जाय तो उत्तम! मृत्युके बाद क्या होगा या नहीं होगा, उसे तो मैं नहीं जानता हूं, या देखने को भी नहीं मिलेगा। परंतु काल के दारुण आघात और पार-लौकिक कईएक घटनाओं (वह विशेष ही आश्चर्यजनक था) को देखकर परलोक के ऊपर मेरा विश्वास उत्पन्न हुआ। मैं समझ गया- "परलोक नामवाला ऐसा कोई स्थान है, मृत्यु के बाद जहां अवश्य ही जाना पडता है; फिर वहाँ स्वकृत कर्मानुसार फल भोग करना पडता हैं। कर्मानुसार फिर पुनः-पुनः जन्म-ग्रहण भी करना पडता है। तब उपाय क्या है? उस समय हृदय में वैराग्य की आग जल उठी। सद्ग्रन्थ-पाठ, साधुसंग और गुरु-का अन्वेषण- ये सब करने लगा। ...पहले गया वामा-क्षेपा के पास, वहाँ उनकी कृपा से माता का दर्शन मिला और जो तत्त्वज्ञान जानने के लिए प्राण में व्याकुलता की उत्पत्ति हो गई थी, उसे सब माँ के मुखसे सुना। बाद में-वहाँ से घर पर वापस लौटा। कुछ दिन के बाद फिर हृदय में एक प्यास जग उठी; सोचा- माता का दर्शन मिला, तत्त्वकथा भी सुनी, परंतु क्या हुआ? कुछ भी तो नहीं हुआ! जितनी तत्त्वकथाएं सुनी हैं उन सब का प्रत्यक्ष रूपसे अनुभव करना होगा, फिर गुरु न मिलने से कुछ भी नहीं होता है।

× सद्गुरु– महाराज की "जीवनी और वाणी" को बंग भाषा में मेरे सतीर्थ श्रीमत् सत्य चैतन्य ब्रह्मचारी तथा श्रीमत् शक्ति चैतन्य ब्रह्मचारी महाशयद्वयने बंगाब्द १३४३ (वर्तमान १३५०) में पुस्तकरूप से प्रकाशित किया है; जो विशेषही हृदयग्राही तथा धर्मके सूक्ष्म-तत्त्व से पूर्ण है। उसकी भावग्राहिता से मैं मुग्ध होकर मेरे दूसरे प्रान्तों के हिंदुस्थानी भाईयों के आनन्द, शांति व मंगलार्थ उसे अनुवादित कर प्रकाशन के लिए "वैदिक-धर्म"में भेज रहा हूं। विश्वास है, कि आप लोग भी उनकी 'जीवनी व वाणी' पढकर परम संतोष लाभ करेंगे तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

एक दिन श्री श्री सद्गुरु महाराज ने स्वयं श्रीमुख से अपनी जीवन-कथा जिस ढंग व भावसे प्रकाशित की थी। ठीक उसी ढंग व भाव और भाषा को कायम रखकर इसे अनुवाद किया गया है। यह घटना आसाम मठमें हुई थी। इसमें उनका जन्म बाल्य-लीला व अन्तिम लीला, उनके शब्दोंमें नहीं मिलेगी। उनकी कथा सम्पूर्ण होते ही अन्त में मैं उनका जन्म, बाल्यलीला, अन्तिम लीला की कथाएँ भी प्रकाश करूँगा। अब तो उनकी श्रीमुखकी कथाएँ ही सुनिए —

अतः गुरु का अनुसंधान करने लगा । कुछ दिन के बाद अनेक अनुसंधान से सावित्री पहाड के स्वामी सच्चिदानन्द परमहंसदेव को सद्गुरु रूपसे लाभ कर, उनके पास ज्ञानकी साधना कर तत्त्वज्ञान का तत्त्व तो मिला, परंतु हृदय में वे अनुभव नहीं प्राप्त हुए। फिर प्रत्यक्ष अनुभव न होने से प्रकृत ज्ञान का उदय नहीं होता । इसी कारण उनकी आज्ञा से योगीगुरु का अनुसंधान कर योग की साधना की। योगी गुरु सुमेरदासजी की कृपासे थोडे दिन के भीतर ही योग-साधना में मुझे सिद्धि मिली। योग-सिद्धि के बाद भाव की साधना कर उसमें भी सिद्धि लाभ की।

मेरे ४ गुरु थे । उन चारों के पास से जो कुछ मिला है, उसे चार पुस्तकों* में लिपिबद्ध किया है । किसी भी गुरुसे मैंने अपनी पूर्वसाधना की बात नहीं कही थी और भी आश्चर्य की बात यह है कि जब जिस साधना में प्रवृत्त हुआ तब पहिली साधना समूची भूल जाता था। ऐसा नहीं करता तो संस्कार में विघ्न बाधा उत्पन्न होती, तंत्र की साधना में सिद्धि लाभ कर माता का दर्शन लाभ किया । परंतु ज्ञानी गुरु के समीप पहुंचकर वह बात नहीं बोला। ऐसा आत्म-गोपन करनेका कारण था, फिर ऐसी गोपनीयता मेरी इच्छासे भी नहीं हुई है। मेरे गुरुदेव कहते थे कि "मैं जगत् का सार्वभौम गुरु हूँगा, इस कारण से सब-पथ की साधना करना मेरी आवश्यकता थी जब जो साधना की है, तब उस साधना-पथ की बात के सिवा दूसरी कोई भी बात मैं स्वीकार नहीं करता था। ज्ञान लाभ के पीछे मैं शक्ति को पास में ही पहुँचने नहीं देता था। लीला जगत् को अस्वीकार करता था। बाद में काशी में प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया, काशी की अधिष्ठात्री देवी अन्नपूर्णा के साथ मेरा मिलन हुआ। उनकी बातों से लीला-जगत् की ओर मेरी दृष्टि झुकी। इस कारण से गौरी-माँ × के पास जाकर भाव की साधना ली। इस प्रकार से क्रमानुसार तंत्र, ज्ञान, योग और प्रेम की साधना में सिद्धि-लाभ कर मैं पूर्ण हो गया, ... गुरुत्व में मेरी प्रतिष्ठा हुई।

नौकरी-जीवन

मैं स्कूल से विदा लेकर ही दिनाजपुर (बंगाल) के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में ओवरसियर की नौकरीमें प्रवेश किया। वही मेरा जीवन में सर्व-प्रथम नौकरी-प्रवेश है। कुछ दिन के बाद ही उसमें वितृष्णा (घृणा) पैदा हो गई। इस नौकरी में क्या सुख है, वह मैं भली-भाँति समझ गया। सोचता था कि बाकी जीवन क्या ऐसा ही बितता रहेगा? इञ्जीनियर साहेब था, अतुल कृष्ण मुखरजी। उनके पास नौकरीके लिए सदा-सर्वदा तटस्थ रहना पडता था, तथा "हुजुरे-हुजुर" कहना पडता था। अथच समाज में उनसे मेरा आधिपत्य किसी भी प्रकार से कम नहीं था,-क्यों कि मैं कुलीन वंश ब्राह्मण का लडका था। अतः इस प्रकार से नौकरी करना मुझे अच्छा नहीं लगा। यह नौकरी असह्य होने से दूसरे स्थान पर नौकरी की तलाश में था-इस समय सेटेलमेण्ट का काम शुरु हुआ। उस समय मेरे साथ उनकी (इञ्जिनियर साहेब का) लडाई हो गयी- मैंने नौकरी छोड दी। बाद में उस समय के कलकत्ता के जान-बाजार के जमींदार के दिनाजपूर जिले में जमीन्दारी के काम में नौकरी मिली, यह नौकरी अच्छी सम्मान की नौकरी थी। १० आमिन के ऊपर मैं अफसर बन गया। थोडे दिनोंके बाद यह नौकरी भी गयी। उसके बाद कलकत्ता के राजा दिगम्बर मित्र की पौत्री कृष्ण प्रमदा दासी की जमींदारी के अन्तर्गत दिनाजपूर जिला के दाँतिया पर्गना का सुपरवाईजर बन गया। यह नौकरी पहिली नौकरी से बहुत ज्यादा सम्मान की थी। सभी व्यक्ति मेरा विशेष संमान करते थे। उस समय मेरा Camp था पार्वतीपुर स्टेशनसे २।३ मील दूर पर नारायणपुर नामक स्थानपर। उस स्टेट के मैनेजर प्रभृति अफसरों को 'सार्थे' विभाग की अभिज्ञता नहीं थी। इस कारण उन लोगोंके आफिस से मेरा आफिस अलग था। वास्तव में मैं अपने डिपार्टमेण्ट में अद्वितीय व्यक्ति था। अतः सर्वसाधारण की भाँति रहन-सहन नहीं था। उन देशवासियोंके तुल्य भद्र तथा उच्च-शिक्षित रहा।

प्रायः सभी व्यक्ति ब्राह्मण और कायस्थ थे। मैं एक ब्राह्मण के घरपर रहता था। वे मुझे विशेष आदर यत्नके साथ रखते थे। उस बाडी की गृहिणी की माँ तथा उनकी लडकी को "दिदि" कहकर पुकारता था। वे मुझे विशेष आदर यत्न के

* योगीगुरु, ज्ञानीगुरु, तांत्रिकगुरु और प्रेमिकगुरु, ये चार पुस्तकें।

× "गौरी माँ" स्वर्गभूमि हिमाचल के गहन प्रदेश में विराजती थी तथा 'भाव-तत्त्व' की साधना सिद्धि लाभकर, कल्याण में निमग्न रहती थी।

साथ रखती थीं। ग्राम के दूसरे सज्जन भी मुझपर विशेष विश्वास रखते थे। सेटेलमेण्ट के जरिए (माप) के समय जमींदार महाशय बडे ही आफत में गिरे। उनके पास पुराना नकशा (Map) नहीं था। प्रजाओं के साथ बार-बार बेईमानी करने के कारण सभी प्रजाएँ इकट्ठी हो गयीं थीं। लोग अपना सिमाना बताने में एकदम नाराज हो गये। अतः जमींदार महाशय विशेष आफत में गिरे। जमीन का सिमाना किसी भी प्रकारसे ठीक नहीं कर सकते थे। उस समय में उनके 'सार्थे' करने का प्रधान अफसर था, अतः मैं भी विशेष चिंता में गिरा। सोचने लगा, किस विधि से यह काम सम्पन्न कर सकते हैं। उस गांव के एक सज्जन से मेरी विशेष मित्रता हो गई थी, वे मेरे साथ विशेष ही सद्भावसे नित्यही कई बार मिलते थे। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि, "सेटेलमेंटण्का Map तुम्हारे पास है क्या ?" वे बोले कि– "है, परंतु वह तो हमारा ही है।" तब मैंने उन्हें और आत्मीयता दिखाकर प्रेम-पूर्वक कहा कि, "तुम्हें मैं १० रुपया पुरस्कार दूंगा, अगर तुम कृपा कर सिर्फ एकबार मुझे वह नकशा दिखाओ। दिखा सकोगे क्या?" उन्होंने उत्तर किया कि "अवश्य मैं दिखा सकूंगा।"

तब मैंने कहा "अच्छी बात, अभी ले आओ।"...... वे नकशा लाकर मुझे दे गये। मैं उसे देखकर सीमाना ठीक कर चुका। उन्हें अपने पास से बकसिस दे दिया। नायेब तथा मैनेजर साहेबको यह खबर सुनायी, तो वे मेरा विशेष आदर-यत्न करने लगे तथा मुझे अपना ही व्यक्ति समझ कर Settlement के work के प्रायः सारे कामही मुझे दे डाले। मैं उस समय सर्वोपरि Supervisor बन गया। उस सेटेलमेण्ट के समय उपर्युक्त नायेब और मैनेजर प्रजाओं को धोखा देकर रिश्वत लेनेको तथा चीज वस्तुएँ लेनेके लिए मुझे विशेष रूपमें अनुरोध करने लगे। इनमें से नायेब महाशय ही ज्यादा अनुरोध करने लगे थे। इसका दूसरा कारण यह था, कि वे मैनेजर साहेब की बहिन के स्वामी थे। इस कारण से वे निर्भयता के साथ ऐसी बेईमानी करने के लिए मुझे विशेष जोर करने लगे थे। इस व्यवहारसे मैं नाराज हो गया। तथा उन्हें जोर के साथ सुना दिया कि "ऐसा करनेसे जमींदार का या प्रजाका नुकसान होगा। इससे किसी का भी उपकार नहीं होगा। दूसरे, ऐसा काम करना मेरा स्वभाव नहीं है।" ......नौकरी के लिए मुझे जरा भी पर्वाह नहीं थी। नौकरी रहे या न रहे, दोनों उत्तम।

अशरीरी दर्शन

उपर्युक्त नारायणपुर Camp में रहते समय में अत्यंत चिंतायुक्त रहता था। उस समय मुझे अशरीरी का दर्शन मिला। उस समय मैं नास्तिक था, जन्मांतरवाद नहीं मानता था। उस समय एक दिन रात में मैं अकेला एक कमरे के भीतर सेटेलमेण्ट के अनेक-काज की चिंता में व्यस्त था। अचानक उस समय देखा, कि मेरे टेबिल के पास मुझे घिपकर मेरी स्त्री खडी है। उस समय वहां उनका आना असंभवसी बात थी। क्योंकि थोडेही दिन पहले ही तो उन्हें कुतुबपुर भेजा गया। अतः मनही मन सोचा कि "क्या यह मेरे मन का भ्रम है?" फिर सोचा कि, "अगर भ्रम ही हो तो बार-बार देखनेपर भी वही मूर्ति स्थिर कैसी रह सकती है? यह मूर्ति तो स्थिर ही देख रहा हूं। परंतु स्वाभाविक-मूर्ति से यह मूर्ति बहुत ही ज्योतिर्मय। किंतु उनका मुख विषाद-पूर्ण है।" देखते देखते भय हो गया, चिल्ला उठा। तब धीरे धीरे वह मूर्ति अदृश्य हो गई। चिल्लाना सुनकर मेरा नौकर दूसरे घरसे भाग आया, मुझे क्या हुआ देखने के लिए। थोडे समय रहकर वह चुपचाप चला गया; परंतु मेरा मन न मालूम कैसे किंभूत किमाकार बन गया!

परलोक का तत्त्वानुसंधान

थोडे दिनके बाद अपने घर जाकर सब समझ गया। सुना– उस दिन वह मूर्ति देखने के चार चार दण्ड पहले वह मर गई थीं। परलोक-जन्मांतर का अस्तित्व कवि की कल्पना है, यह बात फिर मनमें स्थान ही नहीं दे सका, इसके बादसे मैं 'प्रेततत्त्व' और 'परलोकतत्त्व' समझने के लिए उत्कंठित हो उठा। अब देखो! मेरे जीवनमें जब जिस विषयपर जानने के लिए मुझमें प्रबल अनुसन्धित्सा-वृत्ति जग उठती थी। इस कारण उस नारायणपुर में रहनेके समय ही मैं मद्रास पहुंच गया। वहां अडयारम की थिओसाफिकल सोसायटी में घूस कर परलोक तत्त्व-विषयपर गंभीर गवेषणामें लिप्त हो गया।........ वहां रहते समय प्लानचेट–प्लानलेट सभी कुछ किया, तीन पैर-वाले टेबिलपर मिडियम की सहायतासे आत्मा को भी बुलाया। उनकी जो कुछ विद्याएँ थीं, थोडे दिनके भीतर ही सीख लीं। वे एक एक Task देते हैं, और मैं सिर्फ दो दिनों के भीतर ही सीख लेता। वे मेरी ग्रहण करनेकी शक्ति को देखकर चकित

हो गये । मैं Go to sleep कहकर उनके नेता को ही मुहूर्त समय के भीतर Hypnotise कर देता था। परंतु वे मुझे कभी भी Hypnotise नहीं कर सके। जो हो, थोडे दिनके भीतर ही उनकी आज्ञानुसार साधन करने से मुझे हाथों-हाथ फल मिला। जिसकी प्रेतात्मा लाने की चेष्टा करता था, वह आ जाता। मिडियमके मारफत उस प्रेतत्मासे बात की। अनेक गुह्य-विषय जो मेरे सिवाय और किसी को मालूम नहीं थे, वे सब बातें सच्ची-सच्ची बता दीं।

उन की जीवितावस्था में वे एक अति सुन्दर गाना गाती थीं, उसे सुनने में मुझे विशेष आनन्द मिलता था। मैंने उन्हें अनुरोध किया कि, तुम तुम्हारे पूर्वस्वर से वही गाना गाओ तो सही। आश्चर्य! वे उसी स्वरसे वही गाना सुनाने लगी। मैं सुनकर मुग्ध बन गया। ... इसी भाव से थोडे दिन बीत गये। बाद में क्रमशः इस विषय पर तत्त्वानुलोचना कर समझ गया कि, वह मेरे आत्मा के स्फुरण के सिवा और कुछ भी नहीं है। मानव जो कुछ सुनता है या बोलता है, उसका प्रत्येक शब्द वायु-मंडल में रेकर्ड हो रहता है, जभी मनः संयम कर उसी स्तर में अवस्थान किया जाता है, तभी पूर्ववत् वे सब श्रुत होता रहता है। अतः उससे मुझे तृप्ति नहीं हुई। मैं चाहता हूं प्रत्यक्ष रूपसे उनका दर्शन करना-उनके साथ बात-चीत करवाउँ-मिडियम के मारफत नहीं!... थोडे दिन के बाद समझा कि उनके पास से मेरा अभीष्ट-वस्तु लाभ नहीं हो सकता। अतः कलकत्ता में चला आया।

स्वामी पूर्णानन्दके साथ भेंट

कलकत्ता में पहुंच कर सुनी- स्वामी पूर्णानन्द परमहंस की बात। उनके पूर्वनाम पूर्णचन्द्र दत्त। वे M. A. पास कर Duff College में Science के Professor थे। विशाल पण्डित होकर भी वे साधु हुए, यह बात सुन कर मेरा चित्त क्रमशः हिन्दू-धर्म पर आकृष्ट हुआ। उनके दर्शन के लिए मेरी प्रबल-इच्छा हुई। एक दिन उनके पास पहुंचा। उस दिन वे अपने शिष्यवर्ग और बडे-बडे शिक्षित (विद्वान्) लोगों के साथ आलाप-आलोचना कर रहे थे और उपदेश देते थे। मैं एक कोने पर प्रबल आकुलता लेकर बैठा रहा। वे मुझ पर दृष्टि डालते ही मेरी अवस्था को समझ गये। तब सब लोकोंको विदा कर दिया। सब को विदा करके ही उनके सस्नेह आह्वान से मैं उनके पास पहुंचा। वे मुझे शांत कर अनेक उपदेश देने लगे। उनका उपदेश सुन कर मेरे मन की आग बुझ गई। वे बोले कि- "तुम जो तुम्हारी स्त्री को लाभ करना चाहते हो, उसी स्त्री एवं स्त्रीमात्र से ही वही आदि शक्ति महामाया का छायामात्र है। तुम छाया के अनुसंधान में जितनी साधना और शक्ति का व्यय करोगे, उतनी साधना तथा शक्ति के व्यय से ही महामाया को प्राप्त कर सकोगे। तब देखोगे सभी तुम्हारे करायत्त (अधीन) है।' परमानन्द लाभ किया- उनके इस उपदेश को सुनकर। बाद में उनके पास क्षमा की प्रार्थना कर कहा कि, 'मैंने आप को पहले प्रणाम नहीं किया है, मुझे क्षमा कीजिए।' वे बोले, कि "क्या साधु-लोग प्रणाम चाहते हैं?" हृदय पिघल गया, उनकी बात सुनकर। मैंने उनका शिष्य बनकर उनके साथ रहने के लिए प्रार्थना की, वे उत्तर दे गये कि "मैं तो हिमालय जा रहा हूँ।" उस समय मेरे मन की स्थिति ऐसी हो गई थी कि मैंने व्याकुलता के साथ प्रार्थना की कि, "मैं भी जाऊंगा, मुझे संन्यास दीजिए।" वे उत्तर देने लगे कि "पहले किसी सद्गुरु के पाससे ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेलो, बादमें संन्यास लेना। और सुनो, तुम इस बार कुंभ-मेला में जाना, वहां अनेक अच्छे अच्छे साधु-महन्त का दर्शन लाभ करोगे। मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूं, तुम्हारा गुरु निर्दिष्ट है ही, समय पर उनका दर्शन लाभ करोगे। उपर्युक्त गुरु के पास से मंत्र का ग्रहण कर महाशक्ति की साधनामें लिप्त हो जाओ।"

गुरु-प्राप्तिके लिए व्याकुलता

स्वामीजीके पास पहुँचनेसे मुझे विविध ज्ञान प्राप्त हुआ। समझ गया कि "गुरु के सिवा कुछ भी नहीं होनेवाला है।" गुरु को लाभ करने के लिए मैं व्याकुल हो उठा। परंतु गुरु कहाँ है? पिताजी से कहा। वे मेरी व्याकुलता को देखकर कुल-गुरु के पास से मंत्र लेने को बोले। परंतु उस में मेरा चित्त नहीं लगा। क्योंकि कुल-गुरु के ऊपर मेरा विश्वास बिलकुल ही नहीं था। तथापि प्रतिवाद भी कुछ नहीं किया, मन ही मन सोचा, कि मैं उनके पास से मंत्र नहीं लूंगा। गुरु प्राप्ति के लिए विशेष व्याकुल हो उठा। अनेक अनेक स्थानोंपर साधु-संन्यासियोंका अनुसंधान करने लगा। ऐसे समयपर ऐसी व्याकुलता के भीतर ही मेरे कर्म-स्थल, उसी नारायणपुरमें ही अलौकिक भावसे मुझे एक मंत्र का लाभ हुआ। (क्रमशः)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

पुस्तक	मूल्य	डा. व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता	मू. ५)	डा. व्य. १)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद ,,	३)	।॥)
४ अथर्ववेद ,,	५)	१)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥।)
४ मंत्रसमन्वय	२)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥।)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ वै. प्राणविद्या ।	॥)	=)
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	।-)
६ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति	६)	१।)
अक्षरविज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मूल्य	डा. व्य.
देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ भाग १ -) तथा भाग २	=)	-)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेदपरिचय-(परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला १ से ६ भाग	५)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग १	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	३)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० ९) रु० डाक व्यय १॥) म० आ० से ९) रु० भेजनेवालोंको डाकव्यय माफ होगा।

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज मू० १) सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।=), डा० व्य० =)

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आना है। म० आ० से २।≡) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इंच मू० ≡) रु., डा. व्य. -)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध

माघ सं. २००० फर्वरी १९४४

विषयसूची।

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९०

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

१ ऋग्वेद-संहिता मू. ५) डा. व्य. १)
२ यजुर्वेद-संहिता २) ॥)
३ सामवेद ,, ३) ।॥)
४ अथर्ववेद ,, ५) १)
५ काण्व-संहिता। ३) ॥=)
६ मैत्रायणी सं० ५) १)
७ काठक सं० ५) १)
८ दैवत-संहिता १ म भाग ५) १॥)

मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद मू. ६) १॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद ४) १)
३ हिंदी अनुवाद ३) ॥)
४ मंत्रसमन्वय ३) ॥)

संपूर्ण महाभारत ६५)
महाभारतसमालोचना (१-२) १) ॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण ३०) ६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) ९) १॥)
गीता-समन्वय १॥) ॥)
,, श्लोकार्धसूची ।=) =)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य। २४) ४॥)
संस्कृतपाठमाला। ६॥) ।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १ १) ।)
छूत और अछूत (१-२ भाग) १॥।) ॥)

योगसाधनमाला।
१ संध्योपासना। १॥) ।-)
२ वै. प्राणविद्या। ॥) =)
३ योगके आसन। (सचित्र) २) ।≡)
४ ब्रह्मचर्य। १) ।-)
५ योगसाधनकी तैयारी। ।॥) ।-)
६ सूर्यभेदन-व्यायाम ॥) =)

यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय ॥=) ≡)
शतपथबोधामृत ।) -)
वैदिक संपत्ति ६) १।)
अक्षरविज्ञान १) ।=)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला
१ रुद्रदेवतापरिचय ॥) =)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता ॥=) =)
३ देवताविचार ≡) -)
४ अग्निविद्या १॥) -)

बालकधर्मशिक्षा
१ भाग १ -) तथा भाग २ =) -)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक ≡) -)

आगमनिबंधमाला।
१ वैदिक राज्यपद्धति ।-) -)
२ मानवी आयुष्य ।) -)
३ वैदिक सभ्यता ।॥) ≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा ॥) =)
५ वैदिक सर्पविद्या ॥) =)
६ शिवसंकल्पका विजय ॥) =)
७ वेदमें चर्खा ॥) =)
८ तर्कसे वेदका अर्थ ॥) =)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र ≡) -)
१० वेदमें लोहेके कारखाने ।-) -)
११ वेदमें कृषिविद्या ≡) ।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न =) -)
१३ इंद्रशक्तिका विकास ॥) =)

उपनिषद्-माला।
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद् १) ।-)

१ वेदपरिचय-(परीक्षाकी पाठविधि)
१ भाग १ ला १॥) ॥)
२ ,, २ रा १) ॥)
३ ,, ३ रा १) ॥)

२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि) ४) ।॥)
३ गीता-लेखमाला १ से ६ भाग ५) १॥)
४ गीता-समीक्षा =) -)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग १ १) ।=)
६ सूर्य-नमस्कार ॥) =)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा) ३) ॥)
८ Sun Adoration १) ।=)

क्रमाङ्क २९०

वर्ष २५ : : : : अङ्क २

माघ संवत् २०००

फर्वरी १९४४

वीर पुत्र चाहिये

तं नो दात मरुतो वाजिनं रथ आपानं ब्रह्म चितयद्दिवेदिवे ।
इषं स्तोतृभ्यो वृजनेषु कारवे सनिं मेधामरिष्टं दुष्टरं सहः ॥

(ऋ० २।३४।७)

हे वीर मरुतो ! हमें (रथे वाजिनं) रथमें बैठनेवाला बलवान् वीर और (दिवे दिवे आपानं ब्रह्म चितयत्) प्रतिदिन प्राप्तव्य ज्ञानका संवर्धन करनेवाला पुत्र दे दो. (वृजनेषु कारवे) युद्धों में पराक्रम करने हारे वीरको धनकी (सनिं) देन (मेधां) बुद्धि तथा (अरिष्टं) अविनाशी एवं (दुष्टरं) अजेय (सहः) सहन शक्ति भी दे दो ।

हमें शूर, ज्ञानी, रथी तथा सत्यनिष्ठ पुत्र मिलें । हमें पर्याप्त अन्न मिले, लडाई में वीरतायुक्त कार्य कर के दिखलाने वालेको मिलने योग्य देन, बुद्धी की प्रबलता और अविनाशी अजेय शक्ति भी हमें मिले ।

गो-ज्ञान-कोश

पूनामें श्रीमती गोवर्धन संस्था है, इसकी शाखाएं वाई, मुंबई आदि स्थानों में हैं। इस संस्था के प्रमुख संचालक श्री चौंडे महाराज हैं। इस संस्थाने गौके संबंधमें उपलब्ध संपूर्ण ज्ञानका भण्डार प्रकाशित करनेकी एक बृहत् आयोजना की है। इसके संबंध में श्री. महात्मा गांधीजी लिखते हैं—

(वर्धा ३.९.४२)- "आप की गोमाता के बारे में सर्व ज्ञान-संग्रह प्रकट करने की आयोजना मुझे पसंद है। आशा है, संग्रह जल्दी प्रकट हो सकेगा।"

मो० क० गांधी

श्रीमान पं. मदन मोहन मालवीयजी, काशी, हिंदुविश्व विद्यालय से (ता. २९।११।४३ के पत्र में) लिखते हैं- "गोज्ञानकोश संग्रह करने और छापने की योजना सराहनीय है। वह गोरक्षा के प्रचार में अत्यंत सहायक होगा। मैं आशा करता हूं कि सर्व साधारण जनता इस के छापने में सहायता देगी और यह ग्रंथ शीघ्र प्रकाशित हो जायगा।

मदनमोहन मालवीय

इस तरह इस 'गो ज्ञान-कोश' का महत्त्व सब विद्वान मान रहे हैं और इसकी आवश्यकता तो सबही अनुभव कर रहे हैं। अतः इस कार्य की ओर हम पाठकों का चित्त आकर्षित करना चाहते हैं--

इस ज्ञानकोश के मुख्यतः तीन विभाग होंगे। (१) प्राचीन, (२) मध्ययुगीन और (३) अर्वाचीन। (१) प्राचीन कालके विभागके वैदिक और पौराणिक ऐसे दो खण्ड होंगे। वैदिक काल के खण्ड में वेदसंहिता, ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् तथा श्रौतग्रंथ आदिके प्रमाण इकट्ठे किये जायेंगे और पौराणिक काल के खण्डमें इतिहास और पुराण ग्रंथों के वचन इकट्ठे होंगे।

इन दोनों ग्रंथोंके मुख्य संपादक श्री पं० **श्रीपाद दामोदर सातवळेकर** हैं, वेदके मंत्र इकट्ठे किये गये हैं और उनके विषयनुसार वर्गीकरण हो चुका है। इसके लेखों में से दो लेखोंके छः पृष्ठ इसी अंकमें पृष्ठ १०५ पर पाठक देख सकेंगे। वैदिक विभागकी अनुक्रमणिका यहां दी है जो पृष्ठ १०३-१०४ पर पाठक देख सकेंगे।

यह वैदिक विभाग अगले वर्ष सन १९४५ में छपकर तैयार होगा। अगले विभागोंमें से प्रतिवर्ष एकएक प्रकाशित होता रहेगा। अर्थात् १९५० तक सब पांचों विभाग ग्राहकों के पास पहुंचेंगे।

अगले विभागोंके मुख्य संपादक **श्री. चिं. गो. कर्वे**, B.A. हैं, जिन्हों ने अनेक मराठी ज्ञानकोशों का संपादन किया है। ऐसे अनुभवी विद्वान के आधीन यह सब कार्य दिया है।

यह **गोज्ञानकोश** प्रथम 'हिंदी' भाषा में प्रकाशित होगा, तत्पश्चात् अन्यान्य भाषाओंमें उलथा होता रहेगा। इस संपूर्ण ज्ञानकोश के पांचों विभागों का मूल्य १२५) होगा जो पेशगी मिलना चाहिये।

१००००) रु. देनेवाले '**आश्रयदाता**,' ५०००) रु. देनेवाले '**सहायक**', १०००) रु. देनेवाले '**सदस्य**', ५००) रु. देनेवाले '**सहकारी**' और १००) रु. देनेवाले '**साधारण सभासद**' कहे जायंगे और दान के अनुसार उनको गोज्ञानकोश के विभाग प्राप्त होते रहेंगे। इस विषय के नियम श्री मंत्रीजीसे पाठक मंगवाकर अवश्य देखें।

ऐसे बडे कार्य बारबार नहीं होते इसलिये 'गौ' की रक्षा के विषय में सोचनेवालोंको इस कार्य की हर प्रकारकी सहायता करनी चाहिये। विशेषतः आग्रिम मूल्य भेजकर सहायता करनी चाहिये।

इस '**गोज्ञानकोश**' के विषय में सब प्रकार का पत्रव्यवहार श्री. **अनन्तदास रामदासी** [गोवर्धनभुवन, ११ खेतवाडी, बंबई ४] से करना चाहिये। ये ही '**मुख्य मंत्री**' इस गोज्ञानकोश के हैं।

— निवेदककर्ता

उषाका परिचय

(१)

उषदेवता के सूक्तोंमें साधारणतया प्राकृतिक दृश्यका अत्यन्त मनोरम एवं काव्यमय वर्णन किया हुआ है ऐसा प्रथमतः मनमें विचार उठ खडा होता है, और यह धारणा है भी ठीक, क्योंकि उषादेवता के लगभग २०० मंत्रोंमें करीब ८० मंत्र भाग स्पष्ट तया प्रातःकालीन स्फूर्तिप्रद तथा प्रकाशमय दृश्य का बखान करते हुए पाये जाते हैं। इस उषावेलाके सजीव एवं आन्दोलनमय वर्णन के अतिरिक्त पचास से अधिक बार इन मंत्रोंमें आर्थिक और सांपत्तिक समृद्धि एवं वैभव के देने और पानेका उल्लेख पाया जाता है। इसलिये ऐसा निस्सन्देह कहा जा सकता है कि, इन मंत्रोंमें भौतिक संपन्नता और उषःकालीन प्राकृतिक सुरम्यता का ही अत्यधिक चित्रण एवं निर्देश किया है।

अँधेरे का हट जाना और उजेलेका आविर्भाव मंत्रोंमें इस भाँति चित्रित किया है।

१. ज्योतिः कृणोति सूनरी। (ऋ. १।४८।८)

२. ज्योतिः विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती ... उषा तमः वि आवः। (ऋ. १।९२।४)

३. अप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति। (ऋ.१।११३।१६)

४. ...वि आवः ज्योतिषा तमः। उषः अनु स्वधां अव। (ऋ. ४।५२।६)

५. अप ... बाधमाना तमांसि उषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्। (ऋ. ५।८०.५)

६ पुरः ज्योतिः युवतिः पूर्वथा अकः। (ऋ. ५।८०।६

७ ... चित्रं भान्ति उषसः ... वि ता बाधन्ते तम ऊर्म्यायाः। (ऋ. ६।६५।२)

८. ...अकः ज्योतिः बाधमाना तमांसि। (ऋ. ७।७७।१

९. उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिता अप देवी। (ऋ. ७।७८।२)

१०. एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि। (ऋ. ७।८०।२)

११. अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी। (ऋ. ७।८१।१)

१२. अपो महीं वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी। (साम॰ ३०३ पूर्व. आ.)

१३. सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिः यच्छन्ति...। (ऋ. ७।७९।२)

१४. ...त्याः प्रत्यदृश्रन् पुरस्तात् ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः। ...अवाचीनं तमो अगादजुष्टम्। (ऋ.७।७८।३)

१५. ...उषा ज्योतिः यच्छत्यग्रे अह्नाम्। (ऋ ५।८०।२)

१६. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्। (ऋ १।११३।१)

१७. इदं ...त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो ... अस्थात्। (ऋ. ४।५१।१)

१८. अस्थुः ...चित्रा उषसः पुरस्तात् ...वि ...तमसो द्वारोच्छन्तीः। (ऋ. ४।५१।२)

१. "यह भली भाँति ले चलनेवाली उषा प्रकाशका सृजन करती है; २. समूचे संसार के लिए उजाला निर्माण करती हुई उषा अँधेरा हटाचुकी है; ३. अँधेरा बिलकुल दूर हटगया और अब उजाला चला आरहा है; ४. हे उषे! तू उजालेसे अँधेरा हटा चुकी है और अब स्वकीय धारक शक्तिके अनुकूल रक्षा कर; ५. द्युलोक की मानों कन्यासी यह उषा अंधःकार के पुञ्ज को दूर भगाती हुई उजालेके साथ आचुकी है; ६. इस युवती उषाने फिर पहले जैसेही उजाला बनाया है; ७. उषाएँ अनूठे ढंगसे जगमगाती हैं और वे रात्रीके अँधेरेको विशेषरूपसे हटाती हैं; ८. अंधःकार हटाती हुई उषा उजाला करचुकी है; ९. द्योतमान उषा सारे अँधेरे एवं बुराइयोंको उजालेसे दूर भगाती हुई चली आती है; १०. यही वह उषा जागृत हुई है जो उजालेसे अँधेरा छिपाकर नवीन जीवनका धारण करलेती है; ११. सुन्दर ढंगसे ले चलनेवाली उषा देखना संभव हो इसलिये बडा भारी अँधेरा दूर करती है; १२. हे उषे! तेरी किरणें अँधेरेको ठीक तरह हटाती हैं और उजेला दे डालती हैं; १३. वे जगमगानेवाली उषाएँ प्रकाश देती हुई सामने दीख पडीं और असेवनीय अंधेरा नीचा मुंह कर चला गया, १४. दिन के आरम्भ में ही

उषा उजाला देती है; १५. यह सभी प्रकाशोंमें उच्च कोटिका प्रकाश आपहुँचा है १६. अँधेरेमेंसे यह विशालतम प्रकाश सामने उठखडा हुआ है; १७. सामने ये जगमगाती हुई उषाएँ विशेषरूपसे अँधःकारको हटाती हुई खडी हो चुकी हैं।"

इसभाँति अँधियारीके दूर हो जानेपर और सभी जगह प्रकाश का पूर्ण संचार हो चुकनेपर प्राणिमात्रमें जागृति तथा हलचल शुरु होती है जिसका वर्णन निम्न मंत्रोंमें किया दीख पडता है—

१. सूनरी उषा आयाति, पद्वत् ईयते, पक्षिणः उत्पातयति।
(ऋ. १।४८।५)

२. उत्ते वयश्चित् वसतेरपप्तन् नरश्च...व्युष्टौ।
(ऋ. १।१२४।१२;६।६४।६)

३. वयो नकिष्टे पप्तिवांस आसते व्युष्टौ (ऋ.१।४८।६).

४. वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि ।
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवः अन्तेभ्यस्परि (ऋ.१।४९।३)

"१. सुन्दर रूपवाली या अच्छे ढंगसे ले चलनेवाली उषा चली जाती है तब जो कोई पैरोंसे युक्त होता है, वह चलने-लगता है और पंछी उडने लगते हैं; २. हे उषे ! तेरे उठ-आनेपर मानव तथा पंछी भी अपने निवासस्थानसे उठ बाहर निकल आये; ३. हे उषे! तेरे उदय होनेपर उडनेवाले पंछी कभी नहीं बैठ जाते हैं याने तुरन्त उडना शुरु करते हैं; ४. हे (अर्जुनि उषः) श्वेतवर्णवाली उषे! (ते ऋतून् अनु) तेरी हलचल होनेके उपरान्तही (द्विपत् चतुष्पत्) मानव, चौपाये (पतत्रिणः वयः चित्) और डैनोंवाले पंछी भी (दिवः अंतेभ्यः परि) आकाशके एक छोरसे ले दूसरे छोरतक चारों ओरसे (प्रआरन्) जाने आने लगे।" तथा और भी देखिए-

१. अचेति दिवो दुहिता...विश्वं पश्यन्त्युषसं विभातीम्।
(ऋ. ७।७८।४)

२. उषो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै।
(७।७७।१)

३. आविष्कृण्वती भुवनानि विश्वा। (ऋ. ७।८०।१)

४. अविरकर्भुवनं विश्वमुषाः। (ऋ. ७।७६।१)

५. विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्य...उर्विया वि भाति।
विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती... ॥ (ऋ. १।९२।९)

६. विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगत्...। (१।४८।८)

७. विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरी।
(ऋ. १।४८।१०)

८. दभ्रं पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा। (ऋ. १।११३।५)

९. ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्...। (ऋ. १।१२४।४)

१०. यूयं हि देवीः...परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः।
प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम्॥
(ऋ. ४।५१।५)

१. द्युलोककी कन्या इस उषाका पता लगा, अब सभी विशेष-रूपसे जगमगाती हुई उषाको देख लेते हैं; २. यह उषा समूचे प्राणिमात्रको संचारके लिए प्रेरित करती हुई युवती महिलाके तुल्य समीप आकर जगमगाती है; ३. सारे विश्वको प्रकट करती है; ४. समूचे संसारको स्पष्ट कर चुकी है; ५. समूचे जीव-लोकको संचारार्थ जगाती हुई द्योतमान उषा अखिल जगत्को देखकर अत्यन्त अधिक रूपसे सुहाती है; ६. सारा संसार इसे देखनेके लिए नम्र हुआ है; ७. हे सुन्दरी उषे! जो तू ऊपर उठ आती है तो सचमुच सबकी प्राणशक्ति तथा जीवनशक्ति तुझपर निर्भर है, ८. जो तनिकसा देख रहे हों वे विस्तृत रूपमें देख सकें इसलिए उषाने सारे संसारको जगाया है; ९. सोने-वालोंको जगाती हुई उषा हमेशा आती है; १०. तुम द्योतमान उषाओ! तुरन्तही तुम अखिल विश्वमें संचार करती हो और मानव एवं चौपाये जीवोंको जो कि सोये पडे हैं, संचार करनेके लिए जगाती हो।

उपर्युक्त अवतरणोंसे स्पष्ट हुआ कि उषाके आगमनमात्रसे सारे संसारमें जागृति एवं संचरणशीलताका सूत्रपात होता है। निद्राधीन प्राणीमात्रको जागृत करना उषाकाही कार्य है। तेजस्विता, सूर्यकिरणों एवं विविध वर्णोंका चेतोहारी दर्शन उषःकालमें हमें होता है। इस संबंधमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैं-

१. उष आभाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।
(ऋ. १।४८।९)

२ उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः।
(ऋ. १।४८।१५)

३. अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्विभाहि। (ऋ. ७।७७।४)

४. एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः।
(ऋ. ७।७५।३)

" १. हे द्युलोककन्ये उषे ! तू आल्हाददायक किरणसे जगमगाती रह; २. हे उषे । आज तू किरणकी सहायतासे मानों द्युलोकके दरवाजोंको खोल चुकी है; ३. हमारे लिए उच्च कोटिके किरणोंसे युक्त हो जगमगाने लगो; ४. देखनेयोग्य उषाके येही वे अनूठे एवं अमृतत्वके गुणोंसे पूर्ण किरण आ पहुँचे हैं। "

१. व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्विश्वमा भासि रोचनम्।
(ऋ. १।४९।४)

२. सूर्यस्य चेति रश्मिभिर्दशाना। (ऋ. १।९२।१२)

३. आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षं उरु प्रियं।
उषः शुक्रेण शोचिषा (ऋ. ४।५२।७)

१. हे उषे ! तू ऊपर उठती हुई अपने किरणोंसे सारे जगत्को कान्तिमान् बनादेती है; २. सूर्यकिरणोंसे दर्शनीय उषाका पता लगा; ३. हे उषे ! तू दीप्त तेजसे तथा किरणोंसे विशाल अन्तरिक्ष एवं द्युलोकको व्याप्त करलेती है।

उषाके आगमनके फलस्वरूप जनताको पथज्ञान भली भाँति हो जाता है, जिसके बारेमें निम्न निर्देश पाये जाते हैं-

१. एषा जनं दर्शता बोधयन्ती सुगान् पथः कृण्वती याति अग्रे। (ऋ. ५।८०।२)

२. कृणोति विश्वा सुपथा सुगानि...। (ऋ. ६।६४।२)

३. वि उषा आवः पथ्या जनानाम्...। (ऋ. ७।७९।१)

४. एषा...पथो रदन्ती सुविताय देवी...वि भाति।
(ऋ. ५।८०।३)

५. ...दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय।
(ऋ. ४।५१।१)

६. भास्वती...अचेति चित्रा वि दुरो न आवः।
(ऋ. १।११३।४)

१. यह दर्शनीय उषा जनताको जगाती हुई और मार्गोंको आसानीसे यात्रा करने योग्य बनाती हुई आगे बढती है; २. सारे अच्छे मार्गोंको सुगमतापूर्वक जाने योग्य बनाती है; ३. जनताकी सडकोंको उषाने विशेष ढंगसे व्यक्त किया है; ४. यह द्योतमान उषा भलाईके लिए मार्गोंको खोदती हुई विशेषरीतिसे कान्ति युक्त दिखाई देती है; ५. जगमगानेवाली द्युलोक कन्या उषाओंने जनताके लिए गमनके लिए सडक बनाई है; ६. जगमगाती हुई अनोखी उषा ज्ञात हुई और उसने हमारे लिए द्वार खोलदिये हैं।

शुभ्र वस्त्र पहनी हुई नारीके समान उषा दीख पडती है ऐसा उल्लेख वेदमंत्रोंमें पाया जाता है—

१. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः
(ऋ १।११३।७)

२. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना...।
(ऋ. १।१२४।३)

३. ...रुशद्वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत्। (ऋ. ७।७७।२)

४. ...इयं अश्वैत् युवतिः पुरस्तात्...। (ऋ. १।१२४।११)

५. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात्। (१।११३।२)

१. यह द्युलोककी कन्या श्वेतवस्त्र पहनी हुई युवतीकी तरह ऊपर उठती हुई सबको दीखपडी; २. ज्योतिसे मानों ढकी हुई इस आकाशकन्याका दर्शन हुआ; ३ श्वेत एवं चमकीला वस्त्र धारण करती हुई उषा विकसित तथा शुभ्र हुई; ४. यह युवती नारीके समान आभावाली उषा सामने श्वेतवर्णवाली हुई, ५. जगमगानेवाली एवं चमकीले सूर्यबिम्बको साथ ले शुभ्र उषा आपहुँची है।

प्रातःकालके समय पूर्वदिशाका दृश्य कितना मनोरम एवं हृदयंगम होता है सो नीचे दिये हुए मंत्रोंमें बताया है-

१. यस्या रुशन्तो अर्चयः प्रति भद्रा अदृक्षत...सा ..उषा।
(ऋ. १।४८।१३)

२. ...त्या उषसः केतुं अक्रत पूर्वे अर्धे...भानुं अञ्जते।
(ऋ. १।९२।१)

३. चित्रं केतुं कृणुते चेकिताना (ऋ. १।११३।१५)

४. पूर्वे अर्धे रजसः... अक्रत प्रकेतुम् (ऋ. १।१२४।५)

" १. जिसकी जगमगानेवाली कल्याणकारक ज्वालाएँ सामने दीख पडीं वह उषा है; २. वे उषाएँ पूर्व गोलार्धमें मानों झंडा खडा करचुकीं और रश्मिजालको सुशोभित करती हैं; ३. जागृत होती हुई उषा मानों अनोखा झंडा-ज्ञापक चिन्ह कर लेती है; ४. विश्वके पूर्व विभागमें झंडा ऊँचा किया गया है।"

पूर्व दिशामें रक्तिमाका दृश्य कैसे होता है सो बताया है।

१. एषा गोभिः अरुणेभिः युजाना...। (ऋ. ५।८०।३)

२. ...इयं...युवतिः...युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।
(ऋ० १।१२४।११)

३. उदपप्तन् अरुणा भानवो...स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत।
... उषासो...रुशन्तं भानुं अरुषीः अशिश्रयुः।
(ऋ. १।९२।२)

४. युक्ष्वा हि... अश्वान् अद्य अरुणान् उषः
(ऋ. १।९२।१५)

५. निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावो अरुषीः यन्ति ...(ऋ. १।९२।१)

६. प्रति अर्चिः रुशत् अस्या अदर्शि, वितिष्ठते बाधते कृष्णं अभ्वम्। चित्रं दिवो दुहिता भानुं अश्रेत्।(ऋ. १।९२।५)

७. गूहन्तीरभ्वमसितं रुशद्भिः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः ...दिवो दुहितरो विभातीः... । (ऋ, ४।५१।९)

८. द्युतद्- यामानं...अरुणप्सुं विभातीं, देवीं उषसं ..
(ऋ.५।८०।१)

९. उत्ते शोचिर्भानवो द्यामपप्तन्...उषो देवि रोचमाना महोभिः (ऋ. ६।६४।२)

१० एषा स्या...दुहिता दिवोजाः ...या भानुना रुशता राम्यासु अज्ञायि तिरस्तमसश्चिदक्तून् ।(ऋ. ६।६५।१)

११. प्रति द्युतानां अरुषासो अश्वाः चित्रा अदृश्रन्नुषसं वहन्तः । (ऋ. ७।७५।६)

१२. ऊर्ध्वा अस्या अञ्जयो वि श्रयन्ते । (ऋ. ७।७८।१)

१३. प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् । (ऋ. ३।६१।५)

१४. उषा अदर्शि रश्मिभिः व्यक्ता । (ऋ. ७।७७।३)

१५. दिवो अर्कैः अबोधि । (ऋ. ३।६१।६)

" १ यह उषा लालरंगवाले किरणोंसे युक्त होती हुई दीखपडती है; २. यह नवयौवन संपन्न नारीके तुल्य मोहकरूपवाली उषा रक्तिमामय किरणोंके समूहको जोडदेती है; ३. रक्तवर्णवाले किरण ऊपर उठ आये और लालिमामय एवं स्वयंही जुटजानेवाले रश्मिसमूह को जोड दिया तथा रक्तिम आभावाली उषाएँ दीप्तिमान सूर्य किरणके सहारे खडी हैं; ४. हे उषे ! आज तू रक्तिम कान्तिवाले तथा व्याप्त होनेवाले किरणोंको जोड दे;५. ये लाल किरण चारों ओर चले जाते हैं तो ऐसा जान पडता है कि, मानों साहसी वीर अपने हथियार खींच निकालते हों; ६. इस उषाकी दैदीप्यमान ज्वालासी कान्ति दिखाई दी और यह विशेष रूपसे खडे रहकर काले कलूटे तथा प्रचंड अंधःकारको विनष्ट करडालती है पश्चात् यह द्युलोककन्या उषा विचित्ररूपवाले या अद्भुत सूर्यके सहारे रहती है; ७. ये द्युलोक की कन्यारूप उषाएँ सुशोभित होती हुई तथा पवित्र एवं विशुद्ध हो चमकती हुई और दीप्त बनकर तेजस्वी रूपोंसे बडे भारी कृष्ण वर्णको मानों छिपाती हैं; ८. द्योतमान उषाको जो कि रक्तिम आभावाली होकर भासमान होती है, तथा जिसका मार्ग जगमगारहा है; ९. हे द्योतमान् उषे ! तेरी आभा तथा रश्मियाँ आकाशमें उपर उठ चुकी हैं और तू तेजस्वितासे बडी सुहावनी प्रतीत होती है; १०. यही वह द्युलोकमें उत्पन्न कन्या है जो तेजस्वी किरण की बदौलतही-रात्रियोंमें अँधेरा एवं तारागण की टिमटिमाहट की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतीत होती है; ११. अनूठे, लाल रंगवाले, व्यापकशक्तिसे युक्त किरण द्योतमान उषाको उठाकर लेचलते हुएसे दीख पडे; १२. इस उषाके विभूषण ऊपरवाली दिशामें टिके हुए दिखाई देते हैं; १३. देखनेमें रमणीय प्रतीत होनेवाली उषा आभामय हो यथेष्ट सुहाने लगी; १४. किरणोंके कारण स्पष्ट होकर उषा दृष्टिगोचर हुई, १५. द्युलोकमें अर्चनीय किरणोंसे वह जागृत हुई ।"

उषाके बारेमें मंत्र क्या कहते हैं सो देख लीजिए-

१. उषो देवि अमर्त्या वि भाहि । (३।६१।२)

२. उषः...ऊर्ध्वा तिष्ठसि अमृतस्य केतुः (ऋ. ३।६१।३)

१. हे द्योतमान उषे ! तू अमरणशील होकर विशेषतया जगमगाती रह; २. तू अमरपनकी पताकासी है और ऊँची जगह ठहरती है ।" इसीलिए यह उषा जो कि—

१. भास्वती ... दिवः...दुहिता । (ऋ. १।९२।७)

२. शुक्रा कृष्णात् अजनिष्ट श्वितीची । (ऋ. १।१२३।९)

३. उषा याति स्वसरस्य पत्नी...आ अन्तात् दिवः पप्रथे आ पृथिव्याः । (ऋ. ३।६१।४)

अर्थात् '१. जगमगाती हुई द्युलोककन्या तथा २. कृष्णवर्ण अंधकारमेंसे तेजस्विनी और शुभ्रवर्णवालीके रूपमें उत्पन्न हुई एवं ३. दिनकी मानों पत्नीसी बनकर यात्रा करती है, अतः द्युलोक एवं भूलोकके एक कोनेसे लेकर दूसरे कोनेतक फैलचुकी है' और

व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्ती उषा मृतं कंचन बोधयन्ती।
(ऋ. १।११३।८)

"उषा ऊपर उठते समय जीवमात्रको ऊपर उठनेके लिए प्रेरित करती हुई किसी भी निश्चेष्ट पडे हुए को जगाती हुई" दीख पडती है जब उदित होती है तो लोग कहने लगते कि-

अतारिष्म तमसः पारं अस्य । (ऋ. १।९२।६)

' हम इस अंधःकारको पार कर गये हैं ' क्योंकि अब तो

उषा उच्छन्ती...स्मयते विभाती सुप्रतीका (ऋ. १।९२।६)

' ऊपर उठानेवाली उषा सुन्दर स्वरूपवाली होकर और प्रकाशमान बनकर हँस रही है ।' यह उषा

व्यूर्ण्वती दिवो अन्ताँ अबोधि, अप स्वसारं सनुतर्युयोति।

(१।९२।११)

आकाशकी चरम सीमाको खोलती हुई उठगयी है और अपनी मानों बहनसी रात्रिको हमेशाही दूर हटाती है।'

वि अञ्जिभिः दिव आतासु अद्यौत् अप कृष्णां निर्णिजं देवी आवः।

(१।११३।१४)

'द्योतमान उषा ऊपरकी दिशाओंमें किरणजालसे चमकने लगी और रात्रिके कालेकलूटे स्वरूपको दूर कर चुकी है।

पूर्वा विश्वस्माद्भुवनादबोधि..उच्चा व्यख्यद्युवतिः पुनर्भूः...।

(१।१२३।२)

'सारे संसारके पहलेही यह जागृत हुई और नवयौवनसंपन्न तथा बारबार उत्पन्न होनेवाली यह उषा उच्च पदपर चढकर खूब सुहाने लगी।'

पुनर्पुनः जायमाना पुराणी समानं वर्णं अभिशुम्भमाना।

(ऋ. १।९२।१०)

'यह उषा पुरानी है पर बारबार उत्पन्न होती हुई वर्णको समान रूपसे साफसुथरा एवं परिमार्जित करती हुई दिखाई देती है।'

पुराणी देवी युवतिः पुरन्धिः अनु व्रतं चरसि विश्ववारे।

(ऋ. ३।६१।१)

'हे दीप्तियुक्त तथा सबके स्वीकरणीय उषे! तू पुरानी है लेकिन नवयौवनयुक्त और बहुतोंका धारण करनेवाली महिला जैसी है तथा व्रत-नियम-के अनुकूल संचार करती है।'

१. **संस्मयमाना युवतिः पुरस्तात्...।** (१।१२३।१०)
२. **सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषा...** (१।१२३।११)

१. यह उषा जनताके सम्मुख सुहास्य वदनी युवतीकी नाईं दिखाई देती है; २. यह उषा मानों माताने विभूषित की हुई सुस्वरूप युवती नारीके तुल्य है।

१. **एषा...आविष्कृण्वाना तन्वं पुरस्तात्।** (ऋ.५।८०।४)
२. **एषा...ऊर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।**(ऋ.५।८०।५)
३. **आविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती।** (ऋ. १।१२३।१०)
४. **आविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम्।** (ऋ. १।१२३।११)

१. यह उषा सामने शरीरको व्यक्त करती हुई और २. ऊँची जगह मानों जलमग्न हुईसी हमारे दर्शनार्थ खडी है; "हे उषे! तू सुहाती हुई जनताके दर्शनार्थ अपना सुन्दर शरीर भलीभांति स्पष्ट अनावृत करती है।"

ऊपरके वचनोंसे स्पष्ट हुआ होगा कि विश्वके पुरातनतम साहित्य--अर्थात् वेदमें प्राभातिक वेलाका कितना काव्यमय, रसिकतापूर्ण एवं सौन्दर्यग्राही वर्णन किया हुआ उपलब्ध होता है। ऐसा निस्सन्देह कहा जा सकता है कि, उषादेवताके सूक्त वास्तवमें वेदकालीन प्रतिभाशाली कवियोंकी रसिकता तथा सौन्दर्य लोलुपताका भलीभाँति परिचय करानेकी क्षमता रखनेवाले काव्य हैं।

उषा सूक्तोंको ध्यानपूर्वक पढलेनेसे जहाँ एक ओर वैदिक कवियोंकी सौन्दर्यासक्ति तथा सहृदयताका ज्वलन्त उदाहरण दीख पडता है, वहां इस बातका भी स्मरण हुए बिना नहीं रहा जाता कि, वैदिक सूक्तोंके सृजन करनेकी क्षमतासे युक्त वे प्राचीन कवि आर्थिक सुसमृद्धि एवं भौतिक वैभवको प्राप्त करनेकी आवश्यकताके बारेमें पर्याप्त रूपसे सतर्क और सचेष्ट रहा करते थे। बात भी बिलकुल ठीक जँचती है, क्योंकि साधारणतया ऐसा दिखाई देता है कि, जिस समाजमें पर्याप्त मात्रामें वैभव-संपन्नता विद्यमान है, वहींपर रसिकता सहृदयता एवं प्रतिभा-संपन्न सुरुचिताका प्रादुर्भाव हुआ करता है। वैदिक सूक्त पढलेनेसे साफ जाहिर होता कि वैदिक समाज व्यवस्थामें सांपत्तिक सुविधा एवं भौतिक ऐश्वर्यको अक्षुण्ण बनाये रखनेकी ओर तत्कालीन जनताका ध्यान किस तीव्रतासे आकृष्ट हो चुका था। अस्तु, अब हमें उन मंत्र भागोंकी ओर दृष्टिपात करना चाहिए जहाँ आर्थिक प्रगति करलेनेके स्पष्ट निर्देश पाये जाते हैं।

१. **दिवः दुहितर्! रथेभिः वाजेभिः आगहि, रयिं अस्मे नि धारय।** (ऋ. १।३०।२२)
२. **सा न आवह....रयिं दिवो दुहितर्...।** (ऋ. ६।६४।४)
३. **उच्छा दिवो दुहितः प्रत्नवत्...सुवीरं रयिं गृणते रिरीहि..।** (ऋ. ६।६५।६)
४. **महे नो अद्य सुविताय बोधि उषो...चित्रं रयिं यशसं धेहि अस्मे...।** (ऋ. ७।७५।२)
५. **एषा नेत्री राधसः...उषा...दीर्घश्रुतं रयिं अस्मे दधाना...।** (ऋ. ७।७६।७)
६. **वामेन सह, बृहता द्युम्नेन राया सह नः वि उच्छ।** (ऋ. १।४८।१)
७. **सा अस्मासु धा गोमदश्वावदुक्थ्यं उषो वाजं सुवीर्यम्।** (ऋ. १।४८।१२)

८. बृहता विश्वपेशसा राया, इळाभिः वाजैः द्युम्नेन नः सं मिमिक्ष्व (ऋ. १।४८।१६)

९. उषो अद्येह...रेवदस्मे व्युच्छ । (ऋ. १।९२।१४)

१०. उषस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं ...येन तोकं तनयं च धामहे । (ऋ. १।९२।१३)

११.... अस्मे आयुर्नि दिदीहि प्रजावत् (ऋ. १।११३।१७)

१२. ताः प्रत्नवन्नव्यसीर्नूनमस्मे रेवदुच्छन्तु सुदिना उषासः। (ऋ. १।१२४.९)

१३. तेभ्यो द्युम्नं बृहद्यश उषो मघोन्यावह । (ऋ. ५।७९।७)

१४. रयिं दिवो दुहितरो विभातीः प्रजावन्तं यच्छतास्मसु देवीः ।

१५. स्योनादा वः प्रतिबुध्यमानाः सुवीर्यस्य पतयः स्याम। (ऋ. ४।५१।१०)

१६. महे नो अद्य बोधय उषो राये दिवित्मती । (ऋ. ५।७९।१)

१७. ...नो गोमतीरिषः आ वहा दुहितर्दिवः...। (ऋ. ५।७९।८)

१८. तच्चित्रं राध आभरोषो ... यत्ते दिवो दुहितर्मर्तभोजनं तद्रास्व भुनजामहै । (ऋ. ७।८१.५)

"१. हे द्युलोककन्ये ! उन अन्नों या बलोंके साथ इधर आजा और हममें धन रख दे; २. तू हमतक धन पहुँचा दे; ३. पहले जैसेही तू उदित होती रह और स्तोताको अच्छी वीरतासे युक्त धन देडाल; ४. हे उषे ! हमारी बडी भारी भलाई हो इसलिए तू आज जाग तथा हमारे बीच अनूठे वैभव और यशकी स्थापना कर; ५. यह उषा बहुत दूरतक विख्यात धन हमारे मध्य रखती हुई धनको पहुँचानेवाली है; ६. हमारेलिए तू सुन्दरताके साथ बडे भारी धन एवं वैभवको साथ ले उदित होजा; ७. गायों और घोडोंसे युक्त, अच्छी वीरता से परिपूर्ण एवं सराहनीय अन्नसामग्री या बल हममें धरदे; ८. बडे प्रचंड, विश्वभरमें सुन्दर धन, अन्न सामग्रियों, बलों तथा वैभवसे तू हमें भली भाँति संयुक्त कर; ९. उषे ! आज तू हमारे लिए धनसंपन्न हो उदित हो; १० वह अनूठा धन हमें दे डाल ताकि हम पुत्र पौत्रोंका धारण करसकें; ११. हमें संतानयुक्त दीर्घजीवन दे डाल; १२. वे उषाएँ हमारेलिए पहले जैसे अबभी अच्छे दिनवाली एवं धनसंपन्न हो उदित हों; १३. हे ऐश्वर्य संपन्न उषे ! उन्हें बडा भारी यश और धन पहुंचादे; १४. वे द्योतमान द्युलोक कन्याएँ हमारे मध्य संतानयुक्त धन का प्रदान करें; १५. हे उषओ ! आपके दिये हुए सुखसे हम जागृत होकर अच्छी वीरताके अधिपति बनें; १६. हे द्योतमान उषे ! आज हमें बडा भारी धन मिले इसीलिए जागृत कर १७. हे द्युलोककन्ये ! हमारे समीप गोधन युक्त अन्नसामग्रियाँ पहुंचादे; १८. वह अनूठा धन देदे और जो तेरे निकट मानवोंके उपभोग योग्य वस्तु हो उसे प्रदान कर ताकि हम उपभोग लें "

उषाके संबंधमें वैदिक कवि कहते हैं-

१. चित्रामघा राय ईशे वसूनाम् । (ऋ. ७।७५।५)

२. अग्रं अग्रमित् भजते वसूनाम् । (ऋ. १।१२३।४)

३. विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ। (ऋ. ९।११३।७)

४. ... उतोषो वस्व ईशिषे । (ऋ. ४।९२।३)

५. धनानां सनये उषा एति । (ऋ. १।१२४।७)

६. एषा ..अस्रेधन्ती रयिं अप्रायु चक्रे (ऋ. ५।८०।३)

७...ता भद्रा उषसः पुरा आसुः...यास्वीजानः...स्तुवन् शंसन् द्रविणं सद्य आप । (ऋ० ४।५१।७)

८. अभूदुषा...मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि । (ऋ. ७।७९।३)

१. "यह उषा अनोखे धनसे संपन्न है और संपत्तियोंपर प्रभुत्त्व रखती है; २. धनोंमें जो परले दर्जेका हो उसेही ले लेती है; ३. हे सुंदर ऐश्वर्यवाली उषे ! तू समूचे भूमंडलस्थ धनपर प्रभुत्त्व रखती हुई आज उदित हो; ४. तेरे आधीन धन है; ५ धनोंका दान करनेके लिए उषा आती है; ६. यह उषा क्षीण न होती हुई धनको स्थिर कर चुकी है; ७. पहले वे सुन्दर हितकारक उषाएँ थीं जिनमें यज्ञ करनेवाला सराहना एवं भाषण करता हुआ तुरन्त धन पा सका; ८. उषा ऐश्वर्यसंपन्न हुई और भलाईके लिए अन्नोंका उत्पादन करचुकी ।"

अच्छे कार्य करनेवाले तथा दानशूर पुरुषकोही धन देनेके बारेमें निम्न मंत्रोंमें निर्देश मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक कवि संपत्तिके विकेन्द्रीकरणके अनुकूल थे और ऐसी समाज व्यवस्था चाहते थे जहाँ आर्थिक विषमता न हो तथा अधिकांश जनता निर्धन और कुछ इनेगिने व्यक्ति अत्यधिक संपन्न एवं धनशाली हैं ऐसी दशा न होने पाय ।

१. ...वहसि भूरि वामं उषो देवि दाशुषे मर्त्याय।
(ऋ. १।१२४।१२)

२. या वहसि पुरु स्पार्हं...रत्नं न दाशुषे मयः।
(ऋ. ७।८१।३)

३. वि दिवो देवी दुहिता दधाति...सुकृते वसूनि।
(ऋ. ७।७९।३)

४. याति शुभ्रा...दधाति रत्नं विधते जनाय।
(ऋ. ७।७५।६)

५. श्रवो वाजं इषं ऊर्जं वहन्तीः नि दाशुषे उषसो मर्त्याय...अवो धात विधते रत्नं अद्य। (ऋ. ६।६५।३)

६. एषा...दुहिता दिवो...व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि।
(ऋ. ५।८०।६)

७. या गोमतीरुषसः...व्युच्छन्ति दाशुषे मर्त्याय... ता अश्वदा अश्नवत् सोमसुत्वा। (ऋ १।११३।१८)

१. "हे उषे! देवि! तू दानशूर मानवके लिए प्रचंड सुन्दर धन पहुँचाती है; २. तू दान देचुकनेपर उसे यथेष्ट, स्पृहणीय रत्नतुल्य सुख पहुँचाती है; ३. दानशूर द्युलोककन्या सुन्दर कार्य करनेवालेके लिए धनसमूह रखती है; ४. श्वेत-वर्णवाली उषा कार्यकर्ता लोगोंके लिए रत्न धरदेती हुई चली आती है; ५. दानी मानवके लिए उषाएँ अन्न, यश तथा बल पहुंचाती हैं, आज कार्यकर्ताके लिए रक्षा एवं रत्न रख दो; ६. यह द्युलोककन्या दानीके लिए स्वीकरणीय वस्तुओंको खोल देती है; ७. दानी पुरुषके लिए जो उषाएं गोधनयुक्त हो उदित होती हैं उन अश्व देनेवाली उषाओंको सोम निचोडनेवाला पाता है।"

वैदिक कवि उषासे क्या अपेक्षा रखते हैं सो देखलीजिए-

१. उष आ भाहि भानुना...आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगम्।
(ऋ. १।४८।९)

२. अथा नो विश्वा सौभगान्यावह (ऋ. १।९२।१५)

३. सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसं उषा ददातु सुग्म्यम्।
(ऋ. १।४८।१३)

४. ...प्र नो यच्छतादवृकं पृथु छर्दिः प्र देवि गोमतीरिषः।
(ऋ. १।४८।१५)

५. उषस्तमश्यां यशसं सुवीरं...रयिं... (ऋ. १।९२।८)

६. ... भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।
उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छ अस्मासु रायो मघवत्सु च स्युः। (ऋ. १।१२३।१३)

७. युष्माकं देवीरवसा सनेम सहस्रिणं च शतिनं च वाजम्।
(ऋ. १।१२४।१३)

८. एतावद् वेदुषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि।
(ऋ. ५।७९।१०)

९. नू नो गोमद्वीरवद्धेहि रत्नं उषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे।
(ऋ. ७।७५।८)

१०. .... उरुगायमधि धेहि श्रवो नः (ऋ. ६।६५।६)

११. .... उषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः।
इषं च नो दधती.... गोमदश्वावद्रथवच्च राधः
(ऋ. ७।७७।५)

१२. तावदुषो राधो अस्मभ्यं रास्व यावत् स्तोतृभ्यो अरदो गृणाना। (ऋ. ७।७९।४)

१३. उषो अर्वाचा बृहता रथेन ज्योतिष्मता वामं अस्मभ्यं वक्षि। (ऋ. ७।७८।१)

१. "हे उषे! रश्मिसे तू जगमगाती रह और हमारे लिए बहुतसा अच्छा भाग्य पहुँचाती रह; २. अच्छा, अब तो हमें सभी सौभाग्य प्राप्त करा; ३. वह उषा हमें सुस्वरूप, सबके स्वीकरणीय एवं सुखदायक धनवैभव देवे; ४. हे द्योतमान! हमें विस्तीर्ण, वृकरहित (जिसमें भेडिया नहीं घुस सकता हो) घर तथा गोधनयुक्त अन्नसामग्रियाँ यथेष्ट दे दे; ५ हे उषे! मैं अच्छी वीरतासे युक्त एवं यशसे पूर्ण धनसंपदाको प्राप्त कर लूं; ६. हममें अच्छे अच्छे कर्योंको धरदेती चल और हे उषे! तू आज हमारे लिए सुखपूर्वक बुलाने योग्य है अतः उदित हो तथा हममें और धनिकोंमें संपत्तियाँ रहें ऐसा प्रबंध कर; ७. हे द्योतमान उषाओ! तुम्हारी रक्षाके फलस्वरूप हम सैकडों और हजारोंकी संख्यामें अन्न प्राप्त करें; ८. हे उषे! इतना तो जरूरही लेकिन और भी फिर, तू हमें दे दे; ९. अब हमें गोधन, वाजिधन एवं वीरोंसे युक्त और बहुतोंको भोगसाधन मिलसके ऐसा रत्न दे डाल; १०. बहुतसे लोक जिनके बारेमें गायन करते हों ऐसा यश हममें धर दे; ११. हे देवतारूपी उषे! हमारा जीवन बढाती हुई और गौओं; घोडों तथा रथादि वाहनोंसे युक्त धन एवं अन्न हमें देती हुई..; १२. हे उषे! स्तोताओंको जितना धन तूने दिया उतना तू हमें देदे; १३. हे उषे! प्रकाशयुक्त और बडे रथको, जो कि हमारी ओरही आ रहा है साथ लेकर तू सुन्दर धन हमें देती रह।"

उषासे ऐसी प्रार्थना इसलिए की जाती है कि-

स्पार्हा वसूनि तमसा अपगूळ्हा आविष्कृण्वन्ति उषसो विभातीः। (ऋ. १।१२३।६)

' चमकती हुई उषाएं अंधेरेसे गुप्तरूपसे ढकी हुई स्पृहणीय धनोंको खोलदेती हैं । ' और भी एक बात है कि,

प्राच्या जगद्व्यु नो रायो अख्यत् । (ऋ. १।११३।४)

' जगत्को अच्छी तरह दृष्टिगोचर कराके उषाने हमारे धनोंको विशेषरीतिसे खोलदिया, चमकादिया ।' यह उषा हमारे लिए '(आवहन्ती पोष्या वार्याणि) ऋ. १।११३।१५ ' पोषणीय तथा स्वीकरणीय वस्तुओंको पहुंचाती रहती है। और ' अस्मभ्यं गोमतः वाजान् सूरिभ्यः अमृतं वसुत्वनं श्रवः चोदयित्री ।(ऋ. ७।८१।६)' अर्थात् , हमें गौओंसे युक्त अन्न और विद्वानोंको अमरपन , धनाढ्यता एवं यश देनेकी प्रेरणा करनेवाली है ।

केवल पर्याप्त मात्रामें प्रकाश, अन्न, बल, धन देनेसेही देवता का कार्य पूर्ण नहीं होता, किन्तु द्वेष्टा, विरोधियों तथा शत्रुओंको हटानाभी अत्यन्त आवश्यक है। देखिए, वैदिक कवियोंने इस संबंधमें क्या कहा है-

... उषा स्निधः अप उच्छत् । (ऋ. ७।८१।६)

अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्निधः । (ऋ. १।४८।८)

अर्थात् ' द्युलोककन्या एवं ऐश्वर्यसंपन्न उषा द्वेषकरनेवालों को और शत्रुओंको हटानेके लिए उदित हो जाए ।'

अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं गव्यूतिमभयं कृधी नः ।
यावय द्वेष आ भरा वसूनि चोदय राधो गृणते मघोनि। (ऋ० ७।७७।४)

'हे (मघोनि) ऐश्वर्यसंपन्न उषे ! तू (अन्ति-वामा) अपने समीप हमें देनेके लिए धन रखनेवाली है, अब (अमित्रं दूरे उच्छ) शत्रुको दूर हटादे और (नः) हमारे लिए (उर्वीं गव्यूतिं) विशाल मार्ग तथा (अभयं कृधि) निर्भयतामय वातावरणका सृजन कर; पश्चात् (द्वेषः यावय) द्वेषको हटादे और (वसूनि आ भर) हमें धन ला दे एवं (गृणते राधः चोदय) स्तोताके लिए धन प्रेरित कर । '

वि उषा आवो...आविष्कृण्वाना महिमानमागात् ।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टं... ॥ (ऋ. ७।७५।१)

' उषा प्रकट हुई है, वह महिमाको साफ तौरसे व्यक्त करती हुई आ चुकी है और द्वेष करनेवालेको एवं असेवनीय अँधेरेको दूर भगाया है ।'

उषःवेलामें अनूठेपनके रहनेपरभी अनोखी समानरूपता पाई जाती है जिसका उल्लेख यूं है--

सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वो...। (ऋ. १।१२३।८)

शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न वि ज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः॥ (ऋ. ४।५१।६)

' आज ये उषाएँ समानरूपवाली हैं तो कलभी उसी तरह रूपवाली दिखाई देती हैं; ये शुभ्रवर्णवाली एवं जीर्ण न होनेवाली उषाएँ भलीभाँति हितके लिए संचार करती हैं और समान स्वरूपवाली होनेसे पृथक् पृथक् नहीं जानी जाती हैं ।''

विख्यात ऋषि उषाकी सराहना करते थे ऐसा निम्न मंत्रोंसे सूचित होता है-

१. प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः । (ऋ. ७.७६।६)
२. एषा...उषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः (ऋ. ७।७६।७)
३. प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् । (ऋ ७।८०।१)
४. ऋषिष्टुता...मघोन्युषा उच्छति वह्निभिर्गृणाना । (ऋ. ७।७५।५)
५. देवीमुषसं स्वरावहन्तीं प्रति विप्रासो मतिभिर्जरन्ते। (ऋ. ५।८०।१)
६. यावयद् द्वेषसं त्वा...प्रति स्तोमैरभुत्स्महि । (ऋ. ४।५२।४)
७. अभि ये त्वा विभावरि स्तोमैर्गृणन्ति वह्नयः । (ऋ. ५।७९।४)
८. उषो... स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि ।(ऋ. ३।६१।१)
९. व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम् ।
तां त्वामुषर्वसूयवो गीर्भिः कण्वा अहूषत॥(ऋ. १।४९।४)

१. " हे सुन्दर ऐश्वर्यवाली उषे ! सुबह जाग उठनेवाले एवं स्तुति करनेवाले वसिष्ठ परिवारके लोग स्तुतिमय काव्योंसे तेरी प्रशंसा करते हैं; २. उदित होनेवाली उषाकी स्तुति वसिष्ठ वंशके ऋषियोंसे की जाती है; ३. प्रथम श्रेणीके तथा ज्ञानी वसिष्ठ कुलके ऋषि उषाके आगमनके मौकेपर स्तोत्रपाठ कर चुके; ४. यह ऐश्वर्यसंपन्न एवं ऋषियोंद्वारा प्रशंसित उषा उदित होती है जबकि हव्योंको ढोनेवाले यजमान उसकी स्तुति करने लगते हैं; ५. स्वर्गतुल्य तेज पहुँचानेवाली तथा देदीप्यमान उषाकी स्तुति विद्वान लोग मननीय काव्योंसे करते हैं; ६. द्

उदित होनेपर द्वेषभाव हटाती है इसलिए हम स्तोत्रोंसे तुझको मानों जगाते हैं; ७. हे विशेष तेजवाली उषे ! हवनीय वस्तुओंको इष्टस्थानतक पहुँचानेवाले जो यजमान हैं वे स्तोत्रोंसे तेरी स्तुति करते हैं; ८. हे ऐश्वर्यसंपन्न उषे ! स्तोताके स्तुतिमय काव्यका स्वीकार कर, ९ हे उषे ! उदित होती हुई तू समूचे जगत्को सुन्दर करती है, ऐसे तुझको धन चाहनेवाले कण्व वंशके ऋषि भाषणोंसे बुलाते हैं ।'

उषा सुन्दर रथपर चढकर आती है और बलिष्ठ घोडे उसे खींचते हैं ऐसा वर्णन पाया जाता है जैसे,

१. उषो देवि... चन्द्ररथा ..ईरयन्ती ।

२. आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥ (ऋ. ३।६१।२)

१. 'हे द्योतमान उषे ! तू सुन्दर, आल्हाद दायक रथवाली है और दूसरोंको प्रेरणा देनेवाली है इसलिए; २. जो विशाल बलयुक्त तथा भलीभाँति नियमित घोडे हैं वे सुवर्ण कान्तिवाली तुझको इधर ले आयँ ।'

सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम् । (ऋ. १।४९।२)

'हे उषे ! जिस सुन्दररूपवाले एवं सुखदायक रथपर तू चढचुकी थी ।'

सा नो रथेन बृहता.... श्रुधि चित्रामघे हवम् ।

(ऋ. १।४८।१०)

'हे अनोखे ऐश्वर्यसे युक्त उषे ! बडे भारी रथपर चढकर आती हुई तू हमारी पुकार सुनले ।'

एषा अयुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि ।
शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान् ॥

(ऋ. १।४८।७)

'यह उषा सूर्योदयके पहलेही सुदूर स्थानमें रथोंको घोडे जोत चुकी है, ताकि शीघ्र यात्राका प्रारंभ हो; यह सुन्दर ऐश्वर्यवाली उषा मानवोंके समीप मानों सैकडों रथोंसे चली जाती है ।

... अद्योतुषाः शोशुचता रथेन । (ऋ. १।१२३।७)

'उषा जगमगाते हुए रथके कारण चमकनेलगी ।

बृहद्रथा बृहती.... उषा ज्योतिर्यच्छाति.... ।

(ऋ. ५।८०।२)

'महान उषा बडे भारी रथसे आती हुई उजेला देडालती है ।

... अरुणासो अश्वाश्चित्रा अदृश्रन्नुषसं वहन्तः ।

याति शुभ्रा विश्वपिशा रथेन.... (ऋ. ७।७५।६)

"रक्तिम आभावाले अनूठे घोडे उषाको ले आते हुए दीखपडे और यह तेजस्वी उषा सभीरूप धारण करनेवाले रथपरसे चली जाती है ।"

.... दिवो दुहिता.... आस्थात् रथं स्वधया युज्यमानं आ यं अश्वासः सुयुजो वहन्ति । (ऋ. ७।७८।४)

'द्युलोककन्या उषा, स्वकीय धारणशक्तिसे तैयार होनेवाले रथपर, जिसे भली भाँति जोते हुए घोडे लेचलते हैं, चढगई ।

आश्विनौ जैसे अथकरूपसे लोक सेवा करनेवालोंसे मित्रता पूर्ण बर्ताव रखना और और गौओंकी माता बनना उषाकी विशेषता है, देखिए-

हिरण्यवर्णा सुदृशीकसंदृग् गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि ।

(ऋ. ७।७७।२)

'सुवर्णकी कान्तिवाली अतः जिसका दर्शन बडाही रमणीय है ऐसी यह गौओंकी माता उषा जो कि दिनोंकी नेत्री है जगमगाने लगी ।'

...अरुषी माता गवां...सखा अभूदश्विनोरुषाः ।
उत सखा असि अश्विनोरुत माता गवामसि...।

(ऋ. ४।५२।२-३)

'लालिमामय आभावाली उषा गौओंकी माता एवं अश्विनौ की मित्रा है ।'

लोगोंके दिलमें उषाके प्रति कैसी आदरमय भावना रहा करती थी सो निम्न मंत्रोंसे स्पष्ट होगा—

उच्छन्ती या कृणोषि मंहना महि प्रख्यै देवि स्वर्दृशे ।
तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः ॥

(ऋ. ७।८१।४)

'हे (महि देवि) महनीय देवतारूपी उषे ! (या उच्छन्ती) जो तू उदित होती हुई (मंहना) अपने तेजसे (स्वः) स्वर्गको (दृशे) दर्शनके योग्य तथा (प्रख्यै कृणोषि) विशेष स्पष्टताके अनुकूल बनाती है उस (तस्याः ते) तुझको जो कि (रत्नभाजः) रत्न साथ रखनेवाली है हम (ईमहे) चाहते हैं, या प्रार्थना करते हैं कि (वयं) हम तेरी निगाहमें (मातु सूनवः न) माताके लिए उसके पुत्र जैसे प्यारे होते हैं, वैसेही (स्याम) प्रिय हों ।'

उषो भद्रेभिरागहि दिवश्चिद्रोचनादधि । (ऋ० १।४९।१)

हे उषे ! तू (रोचनात् दिवः चित्) चमकीले द्युलोक से

भी (भद्रेभिः अधि आगहि) कल्याणप्रद किरणों से युक्त हो हमें प्राप्त होजा।

तद्वो दिवो दुहितरो विभातीरुप ब्रुव उषसः ...
वयं स्याम यशसो जनेषु ... (ऋ० ४।५१।११)

'हे चमकती हुई, द्युलोककी कन्यासी उषाओ ! मैं तुमसे यही कहना चाहता हूं कि हम जनता में यशस्वी हों।'

यां त्वा दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः सुजाते मतिभिर्वसिष्ठाः।
सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।
(ऋ० ७।७७।६)

'हे (सुजाते) सुन्दर ढंगसे उत्पन्न ! द्युलोककन्ये उषे ! (यां त्वा) जिस तुझको वसिष्ठवंशोत्पन्न लोग (मतिभिः वर्धयन्ति) बुद्धि से निष्पादित काव्योंद्वारा वृद्धिंगत करते हैं ऐसी (सा) वह तू (अस्मासु) हममें (बृहन्तं ऋष्वं रयिं धा) बडे देदीप्यमान धन रख दे और तुम हमें सदैव कल्याणकारक बातोंसे सुरक्षित रखो।'

उषा में इन्द्रशक्ति एवं अंगिरसोंकी शक्ति बढनेका उल्लेख मिलता है जैसे—

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोनी ... दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि। (७।७९।३)

...समानेन योजनेना परावतः। ... इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे ... ॥ (ऋ० १।९२।३)

'यह ऐश्वर्यसंपन्न उषा इन्द्रशक्तिकी खूब वृद्धि कर चुकी है और अंगिरसोंकी सामर्थ्य यथेष्ट बढाकर सुकर्मकर्ताको धन दे डालती है; ये उषाएं सुदूर देशसे भी सदृश आयोजनाके अनुकूल अच्छे दानी एवं सुन्दर कार्यकर्ता को अन्न पहुंचाती हैं।'

इस तरह उषा के सूक्तोंमें हमें एक सुरम्य प्राकृतिक दृश्य का और शाश्वतिक मानवी आकांक्षाका संमिश्र वर्णन देखने मिलता है। इन सूक्तोंमें इस बातका परिचय मिलता है कि मानवी मन प्राचीन कालमें मनोहर प्राकृतिक घटना से किस भाँति प्रभावित हुआ करता था और साथही यह भी ज्ञात होता है कि उत्साहवर्धक एवं नयनमनोरम प्राकृतिक दृश्य से प्रभावित होने और उस में रस लेनेकी दशामें भी अनिवार्य सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका भी ख्याल रखना पडता है। वैदिक सुकवियोंके विशाल एवं व्यापक दृष्टिकोणका इससे बढकर और क्या अधिक परिचायक हो सकता है कि प्रतिदिन दृश्यमान एक नैसर्गिक दृश्य का सौन्दर्यग्राही वर्णन करते हुए भी शाश्वतिक मानवी आवश्यकताओं का बारंबार उल्लेख करना वे नहीं भूलते।

लेखक
दयानंद गणेश धारेश्वर
स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

(२)

उषा सूक्तोंमें अतीन्द्रिय ज्ञान

योगी श्री अरविंदजी महाराज अपने वेद रहस्य में उषा के स्वरूपका वर्णन अत्यंत हृदयंगम करते हैं, उसे अब यहां देखिये—

" **गोमद् वीरवद् धेहि रत्नम् उषो अश्ववत्** " उस समय कर्मकाण्डपरक व्याख्याकार को इस प्रार्थना में केवल उस सुखमय धन-दौलत की ही याचना दीखती है, जो गौओं, वीर मनुष्यों (या पुत्रों) और घोडों से युक्त हो। दूसरी तरफ यदि ये शब्द प्रतीकरूप हों, तो इसका अभिप्राय होगा— "हमारे अन्दर आनन्द की उस अवस्था को स्थिर करो, जो ज्योति से, विजयशील शक्ति से और प्राण-बलसे भरपूर हो।" इसलिये यह आवश्यक है कि एक वार सभी स्थलों के लिये वेद-मंत्रों में आनेवाले, 'गौ' शब्द का अर्थ क्या है, इस का निर्णय कर लिया जाय। यदि यह सिद्ध हो जाय, कि यह प्रतीकरूप है, तो निरन्तर इस के साथ आनेवाले अश्व (घोडा), वीर (मनुष्य या शूरवीर), अपत्य या प्रजा (औलाद), हिरण्य (सोना), वाज (समृद्धि, या सायण के अनुसार अन्न). इन दूसरे शब्दों का अर्थ भी अवश्य प्रतीकरूप और इसका सजातीय ही होगा।

'गौ' का अलंकार वेद में निरन्तर **उषा** और **सूर्य**के साथ सम्बद्ध मिलता है। इसे हम उस कथानक में भी पाते हैं, जिस में **इन्द्र** और **बृहस्पति** ने **सरमा** कुतिया (देवशुनी) और अङ्गिरस ऋषियों की मदद से पणियों की गुफा में से खोई हुई

गौओं को फिर से प्राप्त किया है। उषा का विचार और अङ्गिरसों का कथानक ये मानो वैदिक सम्प्रदायके हृदयस्थानीय हैं और इन्हें करीबकरीब वेद के अर्थों के रहस्य की कुञ्जी समझा जा सकता है। इसलिये ये ही दोनों हैं, जिन की हमें अवश्य परीक्षा कर लेनी चाहिये, जिस से आगे अपने अनुसंधान के लिये हमें एक दृढ आधार मिल सके।

अब उषासंबन्धी वेद के सूक्तों को बिल्कुल ऊपर ऊपर से जांचने पर भी इतना बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि, उषा की गौएं या सूर्यकी गौएँ 'ज्योति' का प्रतीक हैं, इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकतीं। सायण खुद इन मन्त्रों का भाष्य करते हुए विवश होकर कहीं इस शब्द का अर्थ 'गाय' करता है और कहीं 'किरणें,' हमेशा की अपनी आदत के अनुसार परस्पर संगति बैठाने की भी कुछ पर्वाह नहीं रखता; कहीं वह यह भी कह जाता है कि, 'गौ' का अर्थ सत्यवाची 'ऋत' शब्द की तरह पानी होता है। असल में देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि इस शब्दसे दो अर्थ लिये जाने अभिप्रेत हैं, (१) 'प्रकाश' इस का असली अर्थ है और (२) 'गाय' उस का स्थूल रूपक-रूप और शाब्दिक अलंकारमय अर्थ है।

ऐसे स्थलों में गौओं का अर्थ 'किरणें' इस में कोई मतभेद नहीं हो सकता, जैसे कि इंद्र के विषय में मधुच्छन्दस् ऋषिके सूक्त (१.७) का तीसरा मन्त्र है– 'इंद्रने दीर्घ दर्शन के लिये सूर्य को द्युलोक में चढाया उसने उसे उसकी किरणों (गौओं) के द्वारा सारे पहाड पर पहुंचा दिया– **वि गोभिः अद्रिम् ऐरयत्***।' परन्तु इस के साथ ही सूर्य की किरणें 'सूर्य' देवता की गौएं हैं, हीलियस (Helios) की वे गौएँ हैं, जिन्हें ओडिसी (Odyssey) में ओडिसस (Odysseus) के साथियोंने वध किया है, जिन्हें हर्मिज (Hermes) के लिये कहे गये होमर के गीतों में हर्मिजने अपने भाई अपोलो (Apollo) के पास से चुराया है। ये वे गौएँ हैं, जिन्हें 'वल' नामक शत्रूने या पणियोंने छिपा लिया था। जब मधुच्छन्दस् इंद्रको कहता है-'तूने वलकी उस गुफाको खोल दिया, जिस में गौएँ बंद पडी थीं'– तब उस का यही अभिप्राय होता कि, वल गौओं को कैद करनेवाला है, प्रकाश को रोकनेवाला है और वह रोका हुआ प्रकाश ही है, जिसे इन्द्र यज्ञ करनेवालों के लिये फिर से ला देता है। खोई हुई या चुराई हुई गौओं को फिर से पालने का वर्णन वेद के मन्त्रों में लगातार आया है और इस का अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट हो जायगा, जब कि हम पणियों और अङ्गिरसोंके कथानककी परीक्षा करना शुरू करेंगे।

एक बार यदि यह अभिप्राय, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है, स्थापित हो जाता है, तो 'गौओं' के लिये की गई वैदिक प्रार्थनाओं की जो भौतिक व्याख्या की जाती है, वह एकदम हिल जाती है। क्योंकि खोई हुई गौएं, जिन्हें फिर से पा लेने के लिये ऋषि इंद्र का आह्वान करते हैं, वे यदि द्रविड लोगों द्वारा चुराई गई भौतिक गौएं नहीं हैं, किंतु सूर्य की ज्योति की चमकती हुई गौएं हैं, तो हमारा यह विचार बनाना न्यायसंगत ठहरता है कि, जहां केवल गौओं के लिये ही प्रार्थना है और साथ में कोई विरोधी निर्देश नहीं है, वहां भी यह अलंकार लगता है, वहां भी गौ भौतिक गाय नहीं है। उदाहरण के लिये ऋ० १,४,१,२ × में इंद्र के विषय में कहा गया है कि, वह पूर्ण रूपों को बनानेवाला है और वह गौओं के दोहने में ऐसा चतुर है कि, उस का सोम-रस से चढनेवाला मद सचमुच गौओंको देनेवाला है, '**गोदा इद् रेवतो मदः**'।

निरर्थकता और असंगतताकी हद हो जायगी, यदि इस कथनका यह अर्थ समझा जाय कि, इन्द्र कोई बडा समृद्धिशाली देवता है और जब वह पिये हुए होता है. उस समय गौओं के दान करने में बडा उदार हो जाता है। यह स्पष्ट है कि जैसे पहली ऋचा में गौओं का दोहना एक अलंकार है, वैसे ही दूसरी में गौओं का देना भी अलंकार ही है। और यदि हम वेद के दूसरे सन्दर्भों से यह जान लें कि 'गौ'

---

* इस का अनुवाद हम यह भी कर सकते हैं कि, "उसने अपने वज्र (अद्रि) को उस से निकलती हुई चमकों के साथ चारों ओर भेजा" पर यह अर्थ उतना अच्छा और संगत नहीं लगता। पर यदि हम इसे ही मानें, तो भी 'गोभिः' का अर्थ 'किरणें' ही होता है, गाय पशु नहीं।

× सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि।
उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद्रेवतो मदः॥ (ऋ० १।४।१-२)

प्रकाश का प्रतीक है तो यहां भी हमें अवश्य यही समझना चाहिये कि, इंद्र जब सोम-जनित आनन्द में भरा होता है, तब वह निश्चित ही हमें ज्योतिरूप गौएं देता है।

उषा के सूक्तों में भी, गौएं ज्योति का प्रतीक हैं, यह भाव वैसा ही स्पष्ट है। उषा को सब जगह 'गोमती' कहा गया है, जिस का स्पष्ट ही अवश्य यही अभिप्राय होना चाहिये कि, वह ज्योतिर्मय या क्रिरणोंवाली है, क्योंकि यह तो बिल्कुल मूर्खतापूर्ण होगा कि, उषा के साथ एक नियत विशेषण के तौरपर 'गौओं से पूर्ण' यह विशेषण उस के शाब्दिक अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाय। पर गौओं का प्रतीक वहां पर विशेषण में है, क्योंकि उषा केवल 'गोमती' ही नहीं है, वह '**गोमती अश्वावती**' है, वह हमेशा अपने साथ अपनी गौएं और अपने घोडे रखती है।

'वह सारे संसारके लिये ज्योति को रचकर देती है और अन्धकार को, जो गौओं का बाडा है, खोल देती है, १.९२.४.+' यहां हम देखते हैं कि, बिना किसी भूलचूक की सम्भावना के गौएं ज्योति का प्रतीक ही हैं। हम इस पर भी ध्यान दे सकते हैं कि, इस सूक्त (१.९२) में अश्विनों को कहा गया है कि, वे अपने रथ को उस पथपर हांक कर नीचे ले जायें, जो ज्योतिर्मय और सुनहरा है-× '**गोमद् हिरण्यवद्**' इस के अतिरिक्त उषा के संबंध में कहा गया है कि, उस के रथ को अरुण गौएं खींचतीं हैं और कहीं यह भी कहा है कि, अरुण घोडे खींचते हैं।

'वह अरुण गौओंके समूह को अपने रथ में जोतती है। **युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।** ऋ.१.१२४.११' यहां 'अरुण किरणों के समूह को' यह दूसरा अर्थ भी स्थूल अलंकार के पीछे स्पष्ट ही रखा हुआ है। उषा का वर्णन इस रूप में हुआ है कि, वह गौओं या किरणों की माता है. '**गवां जनित्री अकृत प्रकेतुम्** ऋ.१.१२४.५. गौओं (किरणों) की माता ने दर्शन (Vision) को रचा है।' और दूसरे स्थानपर उस के कार्य के विषय में कहा है, 'अब दर्शन या बोध उदित हो गया है। जहां पहले कुछ नहीं (असत्) था'।※ इस से पुनः यह स्पष्ट है कि, 'गौएं' प्रकाश की ही चमकती हुई किरणें हैं। उस की इस रूप में भी स्तुति की गई है कि, वह चमकती हुई गौओं का नेतृत्व करनेवाली है (**नेत्री गवाम्** ७.७६.६) और एक दुसरी ऋचा इस पर पूरा ही प्रकाश डाल देती है, जिस में ये दोनों ही विचार इकट्ठे आ गये हैं, 'गौओं की माता दिनों की नेत्री '(**गवां माता नेत्री अह्नाम्।** ऋ. ७.७७.२) अन्तमें मानो इस अलंकार पर से आवरण को कतई हटा देने के लिये ही, वेद स्वयं हमें कहता है कि, गौएँ प्रकाश की किरणों के लिये एक अलंकार है, "उसकी सुखमय किरणें दिखाई दीं, जैसे छोडी हुई गौएँ"- **प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः।** ऋ. ४.५२.५ हमारे सामने इससे भी अधिक निर्णयात्मक एक दूसरी ऋचा (ऋ. ७.७९.२) है- 'तेरी गौएँ (किरणें) अन्धकार को हटा देती हैं और ज्योति को फैलाती हैं: **सं ते गावस्तम आवर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति**●।

लेकिन उषा इन प्रकाशमय गौओंद्वारा केवल खींची ही नहीं जाती, वह इन गौओं को यज्ञ करनेवालों के लिये उपहाररूप में देती है। वह इन्द्र की ही भांति, जब सोम के आनन्द में होती है, तो ज्योति को देती है वसिष्ठके एक सूक्त (७.७५) में उसका वर्णन इस रूपमें है कि, वह देवों के कार्य में हिस्सा लेती है और उससे वे दृढ स्थान जहां गौएं बन्द पडी हैं, टूट कर खुल जाते हैं और गौएं मनुष्यों को प्राप्त हो जाती हैं। "वह * सच्चे देवोंके साथ सच्ची है, महान् देवों के साथ

+ ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः॥ (ऋ० १.९२।४)

× अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद् दस्रा हिरण्यवत्। अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम्। (ऋ० १।९२।१६)

※ वि नूनमुच्छाद् असति प्रकेतुः। (ऋ० १।१२४।१६)

● निस्संदेह इसमें मतभेद हो सकता कि वेद में गौ का अर्थ प्रकाश है, उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि, 'गवा,' 'गौ' से, प्रकाश से, वृत्र को मारा गया, तो यहां गाय पशुका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, प्रश्न यह है कि, यहां द्व्यर्थक प्रयोग है और गौ यहां प्रतीकरूप है।

* सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः।
रुजद् दृळ्हानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त॥ (ऋ० ७।७५।७)
नू नो गोमद् वीरवद् धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे॥ (ऋ० ७।७५।८)

महान् है, वह दृढ स्थानों को तोड कर खोलती है और प्रकाश मय गौओंको छोड देती हैं, गौएं उषाके प्रति रँभाती हैं" **रुजद् दृळहानि ददद् उस्रियाणाम्, प्रति गाव उषसं वावशन्त।** (ऋ. ७.७५.७) और ठीक अगली ही ऋचामें उससे प्रार्थना की गई है कि, वह यज्ञकर्ता के लिये आनन्द की उस अवस्था को स्थिर करे या धारण करावे, जो प्रकाश से (गौओं से), अश्वों से (प्राण-शक्ति से) और बहुत से सुख-भोगों से परिपूर्ण हो- "**गोमद् रत्नम् अश्वावत् पुरुभोजः ।**" इसलिये जिन गौओं को उषा देती है, वे गौएं ज्योतिकी ही चमकती हुई सेनायें हैं, जिन्हें देवता और अङ्गिरस ऋषि वल और पणियोंके दृढ स्थानों से उद्धार करके लाये हैं। साथ ही गौओं (और अश्वों) की सम्पत्ति जिस के लिये ऋषि लगातार प्रार्थना करते हैं उसी ज्योति की सम्पत्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती; क्योंकि यह कल्पना असंभवसी है कि, जिन गौओं को देने के लिये इस सूक्त की सातवीं ऋचा में उषा को कहा गया है, वे उन गौओं से भिन्न हों जो ८ वीं में मांगी गई हैं, कि पहले मन्त्र में 'गौ' शब्द का अर्थ है 'प्रकाश' और अगले में 'गाय,' और यह कि ऋषि मुखसे निकालते ही उसी क्षण यह भूल गया कि किस अर्थ में वह शब्द का प्रयोग कर रहा था।

कहीं कहीं ऐसा है कि प्रार्थना ज्योतिर्मय आनन्द या ज्योतिर्मय समृद्धिके लिये नहीं है, बल्कि प्रकाशमय प्रेरणा या बल के लिये है, 'हे द्यु की पुत्री उषः ! तू हमारे अन्दर सूर्य की रश्मियों के साथ प्रकाशमय प्रेरणाको ला'-'**गोमतीरिष आवहा दुहितर्दिवः, साकं सूर्यस्य रश्मिभिः।** ५.७९.८ सायणने '**गोमतीः इषः**' का अर्थ किया है 'चमकता हुआ अन्न' ×। परन्तु यह स्पष्ट ही एक निरर्थक सी बात लगती है कि उषा से कहा जाय कि, वह सूर्य किरणों के साथ किरणों से युक्त अन्नों को लाये। यदि 'इष्' का अर्थ अन्न है, तो हमें इस प्रयोग का अभिप्राय लेना होगा।

इन नमूने के उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि, प्रकाश की गौओं का यह अलंकार कैसा व्यापक है और कैसे अनिवार्य रूप से यह वेदके लिये एक अध्यात्मपरक अर्थ की ओर निर्देश कर रहा है। एक सन्देह भी बीच में आ उपस्थित होता है। हमने माना कि, यह एक अनिवार्य परिणाम है कि 'गौ' प्रकाश के लिये प्रयुक्त हुआ है, पर इससे हम क्यों न समझें कि, इसका सीधासाधा मतलब दिन के प्रकाश से है, जैसा कि, वेद की भाषा से निकलता प्रतीत होता है ? वहां किसी प्रतीक की कल्पना क्यों करें, जहां केवल एक अलंकार ही है ? हम उस दूसरे अलंकार की कठिनाई को निमंत्रण क्यों दें, जिस में 'गौ' का अर्थ तो हो 'उषा का प्रकाश' और उषाके प्रकाश को 'आन्तरिक ज्योति' का प्रतीक समझा जाय ? यह क्यों न मान लें कि ऋषि आत्मिक ज्योति के लिये नहीं, बल्कि दिन के प्रकाश के लिये प्रार्थना कर रहे थे ?

ऐसा माननेपर अनेक प्रकार के आक्षेप आते हैं और उन में कुछ तो बहुत प्रबल हैं। यदि हम यह मानें कि, वैदिक सूक्तों की रचना भारत में हुई थी और यह उषा भारत की उषा है और यह रात्रि वही यहां की दस या बारह घण्टे की छोटीसी रात है, तो हमें यह स्वीकार कर के चलना होगा कि, वैदिक ऋषि जंगली थे, अन्धकार के भय से बडे भयभीत रहते थे और समझते थे कि, इस में भूत-प्रेत रहते हैं, वे दिन-रात की परम्परा के प्राकृतिक नियम से जिसका अब तक बहुत से सूक्तों में बडा सुन्दर चित्र खिंचा मिलता है- भी अनभिज्ञ थे और उनका ऐसा विश्वास था कि, आकाश में जो सूर्य निकलता था और उषा अपनी बहिन रात्रि के आलिङ्गन से छूटकर प्रकट होती थी, वह सब केवल उन की प्रार्थनाओं के कारण से ही होता था। पर फिर भी वे देवोंके कार्यमें अटल नियमों का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि, उषा हमेशा शाश्वत सत्य व दिव्य नियम के मार्ग का अनुसरण करती है ! हमें यह कल्पना करनी होगी कि, ऋषि जब उल्लास में भरकर पुकार उठता है 'हम अन्धकार को पार करके दूसरे किनारे पहुंच गये हैं !' तो यह केवल दैनिक सूर्योदय पर होनेवाला सामान्य जागना ही है।

जिस की ऋषि ऐसी उत्कण्ठा से स्तुति कर रहा है। हमें यह कल्पना करनी होगी कि, वैदिक लोग उषा निकलने पर यज्ञ के लिये बैठ जाते थे और प्रकाश के लिये प्रार्थना करते थे, जबकि वह पहले से ही निकल चुका होता था। और यदि हम इन सब असंभव कल्पनाओं को मान भी लें, तो आगे हमें यह एक स्पष्ट कथन मिलता है

× गोमतीर्गोभिरुपेतानि इषोऽन्नानि आवह आनय— सायण

कि, नौ या दस महीने बैठ चुकने के उपरान्त ही यह हो सका कि आङ्गिरस ऋषियों को खोया हुआ प्रकाश और खोया हुआ सूर्य फिर से मिल पाया। और जो पितरों के द्वारा 'ज्योति' के खोजे जाने का कथन लगातार मिलता है, उस का हम क्या अर्थ लगायेंगे।

"हमारे पितरों ने छिपी हुई ज्योति को ढूंढकर पा लिया, उनके विचारों में जो सत्य था, उस के द्वारा उन्होंने उषा को जन्म दिया- **गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्, सत्यमन्त्रा अजनयन् उषासम्।** (ऋ. ७।७६।४) यदि हम किसी भी साहित्य के किसी कविता संग्रह में इस प्रकार का कोई पद्य पावें, तो तुरन्त हम उसे एक मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक रूप दे देंगे, तो फिर वेद के साथ हम दूसरा ही बर्ताव करें, इस में कोई युक्तियुक्त कारण नहीं दीखता।

फिर भी यदि हमें वेद के सूक्तों की प्रकृतिवादी व्याख्या ही करनी है और कोई नहीं, तो भी यह बिलकुल साफ है कि, वैदिक उषा और रात्रि कम से कम भारत की रात्रि और उषा तो नहीं हो सकतीं। यह केवल उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशों में ही हो सकता है कि इन प्रकृति की घटनाओं के संबंध में ऋषियों की जो मनोवृत्ति है और अंगिरसों के विषय में जो बातें कही गई हैं, वे कुछ समझ में आनेलायक बन सकें। प्राचीन वैदिक आर्य उत्तरीय ध्रुव से आये, इस कल्पना (वाद) को क्षणभर के लिये मान लेनेपर भी यद्यपि यह बहुत अधिक सम्भव हो सकता है कि, उत्तरीय ध्रुव की स्मृतियां वेद के बाह्य अर्थ में आ गई हों, फिर भी इस कल्पना से प्रकृति से खींचे हुए इन प्राचीन अलंकारों के पीछे जो एक आन्तरिक अर्थ है, उस का निराकरण नहीं हो सकता, नहीं इस के मान लेने से यह सिद्ध हो जाता है कि, उषासंबंधी ऋचाओं की इस की अपेक्षा और अधिक सुसंबद्ध और सीधी किसी दूसरी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

उदाहरण के लिये हमारे सामने अश्विनों को कहा गया प्रस्कण्व काण्वका सूक्त [१४६] है, जिस में उस ज्योतिर्मय अन्तःप्रेरणा का संकेत है, जो हमें अन्धकार में से पार कर के परले किनारे पर पहुंचा देती है। उस सूक्त का उषा और रात्रिके वैदिक विचार के साथ घनिष्ट संबंध है; इस में वेद में नियतरूप से आनेवाले बहुत से अलंकारों का संकेत मिलता है; जैसे ऋत के मार्ग का, नदियों को पार करने का, सूर्य के उदय होने का, उषा और अश्विनों में परस्पर संबंध का, सोम-रस के रहस्यमय प्रभाव का और उसके सामुद्रिक रस का।

'देखो', आकाशमें उषा खिल रही है, जिस से अधिक उच्च और कोई वस्तु नहीं है, जो आनन्द से भरी हुई है। हे अश्विनो! तुम्हारी मैं महान् स्तुति करता हूं। + (१) तुम जिन की सिंधु माता है, जो कार्य को पूर्ण करनेवाले हो, जो मन में से होते हुए उस पार पहुंचकर ऐश्वर्यों (रयि) को पा लेते हो, जो दिव्य हो और उस ऐश्वर्य (वसु) को विचार के द्वारा पाते हो। (२) हे समुद्रयात्रा के देवो जो शब्द को मनोमय करनेवाले हो! यह तुम्हारे विचारों को भंग करनेवाला है- तुम प्रचण्ड रूपसे सोम का पान करो (५) हे अश्विनो! हमें वह ज्योतिष्मती अन्तःप्रेरणा दो, जो हमें तमस् से निकाल कर पार पहुंचा दे। (६) हमारे लिये तुम अपनी नावपर बैठकर चलो, जिस से हम मन के विचारों से परे परले पार पहुंच सकें। हे अश्विनो! तुम अपने रथ को जोतो (७) अपने उस रथ को जो द्युलोक में इसकी नदियों को पार करने के लिये एक बडे पतवारवाले जहाज का काम देता है। विचार के द्वारा आनन्द की शक्तियां जोती गई हैं। (८) जलों के स्थान पर द्युलोक में आनन्दरूपी सोम-शक्तियां ही वह ऐश्वर्य [वसु] है। पर अपने उस आवरण को तुम कहां रख दोगे, जो तुमने अपने आपको छिपने के लिये बनाया है? [९] नहीं,

---

+ एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्। [ऋ० १।४६।१]
या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा ॥ २ ॥
आदारो वां मतीनां नासत्या मतवचसा। पातं सोमस्य धृष्णुया ॥ ५ ॥
या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम् ॥ ६ ॥
आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम् ॥ ७ ॥
अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः ॥ ८ ॥
दिवस्कण्वास इन्दवो वसु सिन्धूनां पदे। स्वं वव्रिं कुह धित्सथः ॥ ९ ॥

सोम का आनंद लेने के लिये प्रकाश उत्पन्न हो गया है,- सूर्य ने जो कि, अन्धकारमय था, अपनी जिह्वा को हिरण्य की ओर लपलपाया है [१०] ऋत का मार्ग प्रकट हो गया है, जिस से हम उस पार पहुंचेंगे; द्यु के बीच का सारा खुला मार्ग दिखलाई पड गया है। [११] खोजनेवाला अपने जीवन में अश्विनों के ज्यों ज्यों सोम के आनन्दमें तृप्ति-लाभ करते हैं, त्यों त्यों उनके निरन्तर एक के बाद दूसरे आविर्भाव की ओर प्रगति किये जा रहा है। [१२] उस सूर्य में जिस में ज्योति ही ज्योति है, तुम निवास करते हुए [या चमकते हुए] सोम-पानके द्वारा, वाणीके द्वारा हमारी मानवीयता में सुख का सर्जन करनेवाले के तौरपर आओ। [१३] तुम्हारी कीर्ति और विजयके अनुरूप उषा हमारे पास आती है, जब तुम हमारे सब लोकों में व्याप्त हो जाते हो और रात्रि में से सत्यों को विजय कर लाते हो। [१४] दोनों मिलकर हे अश्विनो! सोम-पान करो, दोनों मिलकर हमारे अन्दर शक्ति को प्राप्त कराओ उन विस्तारों के द्वारा जिन की पूर्णता सदा अविच्छिन्न रहती है। [१५]×

यह इस सूक्त का सीधा और स्वाभाविक अर्थ है और हमें इस का भाव समझने में कठिनाई नहीं होगी, यदि हम वेद के मूलभूत विचारों और अलङ्कारों को स्मरण रखेंगे। 'रात्रि' स्पष्ट ही आन्तरिक अन्धकार के लिये आलंकारिक रूप से कहा गया है; उषा के आगमन के द्वारा रात्रि में से 'सत्यों' को जीतकर हस्तगत किया जाता है। यही उस सूर्यका, **सत्यके सूर्य** का, उदय होना है, जो अन्धकार के बीच में खो गया था- वही खोये हुए सूर्य का हमारा परिचित अलंकार जिस में उसे देवों और ऋषियोंने फिर से पाया है। और अब यह अपनी अग्नि की जिह्वा को स्वर्णिल **ज्योति** के प्रति- 'हिरण्य' के प्रति लपलपाता है।

सुवर्ण उच्चतर ज्योति का स्थूल प्रतीक है, यह सत्य का सोना है और यही वह निधि है, न कि कोई सोनेका सिक्का, जिस के लिये वैदिक ऋषि देवों से प्रार्थना करते हैं। आन्तरिक अन्धकार में से निकाल कर ज्योति में लाने के इस महान् परिवर्तन को अश्वी करते हैं, जो मन की और प्राण-शक्तियों की प्रसन्नतायुक्त ऊर्ध्वगति के देवता हैं, और इसे वे इस प्रकार करते हैं कि, आनन्द का अमृतरस मन और शरीर में उण्डेला जाता है और वहां वे इस का पान करते हैं। वे व्यंजक शब्द को मनोमय रूप देते हैं, वे हमें विशुद्ध मन के उस स्वर्ग में ले जाते हैं, जो इस अन्धकार से परे है और वहां वे विचार के द्वारा **आनन्द** की शक्तियों को काम में लाते हैं।

पर वे द्यु के जलों को भी पार कर के उससे भी ऊपर चले जाते हैं, क्योंकि सोम की शक्ति उन्हें सब मानसिक रचनाओं को तोड डालने में सहायता देती है और वे इस आवरण को भी उतार फेंकते हैं। वे मन से परे चले जाते हैं और सबसे अन्तिम चीज जो वे प्राप्त करते हैं वह 'नदियों का पार करना' कही गई है, जो कि विशुद्ध मनके द्युलोकमें से गुजरने की यात्रा है, वह यात्रा है, जिस से सत्य के मार्ग पर चलकर किनारे पर पहुंचा जाता है और जब तक अन्त में हम उच्चतम पद, परमा परावत्पर नहीं पहुंच जाते, तब तक हम इस महान् मानवीय यात्रा से विश्राम नहीं लेते।

हम देखेंगे कि, न केवल इस सूक्त में बल्कि सब जगह उषा सत्य को लानेवाली के रूप में आती है, स्वयं वह सत्य की ज्योति से जगमगानेवाली है। वह दिव्य उषा है और यह भौतिक उषा (प्रभात होना) उस की केवल छायामात्र है और प्राकृतिक जगत् में उस का प्रतीक है।

उषा सत्य के पथ की दृढ अनुगामिनी है और चूंकि इस बात का उसे ज्ञान या बोध रहता है, इसलिये वह असीमता को, बृहत् को, जिसकी कि वह ज्योति है, सीमित नहीं करती। यही इस मन्त्र का असली अभिप्राय है, यह बात ५ मण्डल की एक ऋचा (ऋ. ५।८०।१) से निर्विवाद स्पष्ट रूपसे सिद्ध

× अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः। व्यख्यज्जिह्वयासितः ॥ १० ॥
अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया। अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः ॥ ११ ॥
तत्तदिदश्विनोरवो जरिता प्रति भूषति। मदे सोमस्य पिप्रतोः ॥ १२ ॥
वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा। मनुष्वच्छंभू आ गतम् ॥ १३ ॥
युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत्। ऋता वनथो अक्तुभिः ॥ १४ ॥
उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः ॥ १५ ॥

हो जाती है और इस में भूलचूक की कोई संभावना नहीं रह जाती। इस में उषा के लिये कहा है- **द्युतद्यामानं बृहतीम् ऋतेन ऋतावरीं, स्वरावहन्तीम्।** "वह प्रकाशमय गतिवाली है, ऋतसे महान् है, ऋत में सर्वोच्च (या ऋत से युक्त) है, अपने साथ स्वःको लाती है।" यहाँ हम बृहत् का विचार, सत्य का विचार, स्वर्लोक के और प्रकाश का विचार पाते हैं; और निश्चय ही वे सब विचार इस प्रकार घनिष्ठता और दृढता से एकमात्र भौतिक उषा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते। इसके साथ हम ७।७५।१ के वर्णन की भी तुलना कर सकते हैं- **व्युषा आवो दिविजा ऋतेन, आविष्कृण्वाना महिमानमागात्।** "द्यौमें प्रकट हुई उषा सत्यके द्वारा वस्तुओं को खोल देती है, वह महिमा को व्यक्त करती हुई आती है।" यहाँ पुनः हम देखते हैं कि, उषा सत्य की शक्ति के द्वारा सब वस्तुओं को प्रकट करती है और इसका परिणाम यह बताया गया है कि, एक प्रकार की महत्ता का आविर्भाव हो जाता है।

अन्तमें इसी विचार को हम आगे भी वर्णित किया गया पाते हैं, बल्कि यहाँ सत्यके लिए 'ऋत' के बजाय सीधा 'सत्य' शब्द ही है, जोकि 'ऋतम्' की तरह दूसरा अर्थ किये जा सकने की सम्भावनामें डालनेवाला भी नहीं है- **सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिः।** (ऋ० ७।७५।७) 'उषा अपनी सत्ता में सच्चे देवों के साथ सच्ची है, महान् देवों के साथ महान् है।' वामदेव ने अपने एक सूक्त ४.५१ में उषा के इस 'सत्य' पर बहुत बल दिया है; क्योंकि वहाँ वह उषाओं के बारे में केवल इतना ही नहीं कहता कि, 'तुम सत्य के द्वारा जोते हुए अश्वों के साथ जल्दी से लोकों को चारों ओर से घेर लेती हो, ×' ऋतयुग्भिः अश्वैः (तुलना करो ऋ. २।६५।२ +) परन्तु वह उनके लिए कहता है- **भद्रा ऋतजातसत्याः** (ऋ. ४।५१।७) 'वे सुखमय हैं और सत्यसे उत्पन्न हुई सच्ची हैं।' और एक दूसरी ऋचा में वह उनका वर्णन इस रूप में करता है कि, वे देवी हैं जो कि ऋतके स्थानमें प्रबुद्ध होती हैं।*"

'भद्रा' और 'ऋत' का यह निकट सम्बन्ध अभीको कहे गये मधुच्छन्दस् के सूक्त में इसी प्रकार का जो विचारों का परस्पर सम्बन्ध है, उस का हमें स्मरण करा देता है। वेद की अपनी आध्यात्मिक व्याख्या में हम प्रत्येक मोड पर इस प्राचीन विचार को पाते हैं कि 'सत्य' आनन्द को प्राप्त करने का मार्ग है। तो उषाको, सत्य की ज्योति से जगमगाती उषा को, भी अवश्य **सुख** और **कल्याण** को लानेवाला होना चाहिए। उषा **आनन्द** को लानेवाली है, यह विचार वेद में हम लगातार पाते हैं और वसिष्ठने (ऋ. ७।८१।३) में इसे बिल्कुल स्पष्ट रूप में कह दिया है- **या वहसि पुरुस्पार्हं रत्नं न दाशुषे मयः।** "तू जो देनेवाले को कल्याण-सुख प्राप्त कराती है, जो कि अनेक रूप है और स्पृहणीय आनन्द रूप है"

वेद का एक सामान्य शब्द '**सूनृता**' है जिसका अर्थ सायण ने 'मधुर और सत्य वाणी' किया है, परन्तु प्रतीत होता है कि, इसका प्रायः और भी अधिक व्यापक अभिप्राय 'सुखमय सत्य' है। उषा का कहीं कहीं यह कहा गया है कि, वह '**ऋतावरी**' है, सत्य से परिपूर्ण है और कहीं उसे '**सूनृतावती**' कहा गया है। वह आती है सच्चे और सुखमय शब्दों को उच्चरित करती हुई "**सूनृता ईरयन्ती**"। जैसे उस का वह वर्णन किया गया है कि, वह जगमगाती हुई गौओं की नेत्री है और दिनों की नेत्री है, वैसे ही उसे सुखमय सत्यों की प्रकाशवती नेत्री कहा गया है। **भास्वती नेत्री सूनृतानाम्।** (ऋ० १।९२।७) और वैदिक ऋषियों के मनमें ज्योति, किरणों या गौओं के विचार और सत्य के विचार में जो परस्पर गहरा सम्बन्ध है, वह एक दूसरी ऋचा (ऋ० १।९२।१४)में और भी अधिक स्पष्ट तथा असन्दिग्ध रूप से पाया जाता है- **गोमति अश्वावति विभावरि... ... ... सूनृतावति।** "हे उषा, जो तू अपनी जगमगाती हुई गौओंके साथ है, अपने अश्वोंके साथ है अत्यधिक प्रकाशमान है और सुखमय सत्योंसे परिपूर्ण है।" इसी जैसा पर तो भी इससे अधिक स्पष्ट वाक्यांश (ऋ. १।४८।२)में है, जो इन विशेषणों के इस प्रकार रखे जानेके अभिप्राय को सूचित

× यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः। (ऋ. ४।५१।५)

+ वि तद् ययुररुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं भान्त्युषसश्चन्द्ररथाः। (ऋ. ६।६५।२)

* ऋतस्य देवीः सदसो बुधानाः। (ऋ. ४।५१-८)

कर देता है- **गोमतीरश्वावतीर्विश्वसुविदः** । " उषाएं जो अपनी ज्योतियों (गौओं) के साथ हैं, अपनी त्वरितगतियों (अश्वों) के साथ हैं और जो सब वस्तुओं को ठीक प्रकार से जानती हैं । "

वैदिक उषा के आध्यात्मिक स्वरूपका निर्देश करनेवाले जो उदाहरण ऋग्वेद में पाये जाते हैं, वे किसी भी प्रकार वहीं तक परिमित नहीं हैं । उषा को निरन्तर इस रूप में प्रदर्शित किया गया है कि, वह दर्शन, बोध, ठीक दिशामें गति को जागृत करती है । गोतम रहूगण कहता है, " वह देवी सब भुवनोंको सामने होकर देखती है, वह दर्शनरूपी आँख अपनी पूर्ण विस्तीर्णता में चमकती हैं, ठीक दिशा में चलने के लिए सम्पूर्ण जीवन को जगाती हुई वह सब विचारशील लोगों के लिए वाणी को प्रकट करती है । " × **विश्वस्य वाचमविदन् मनायोः** । (ऋ० १।९२।९)

वहां हम उषा को इस रूप में पाते हैं कि, वह जीवन और मनको बंधन मुक्त करके अधिकसे अधिक पूर्ण विस्तार में पहुंचा देती है और यदि हम इस उपर्युक्त निर्देश को वहीं तक सीमित रखें कि, यह केवल भौतिक उषा के उदय होने पर पार्थिव जीवन के पुनः जाग उठने का ही वर्णन है, तो हम ऋषि के चुने हुए शब्दों और वाक्यांशों में जो बल है, उस सारे की उपेक्षा ही कर रहे होंगे और यदि यह हो कि, उषा से लाये जानेवाले दर्शन के लिए यहाँ जो शब्द प्रयुक्त किया गया है, 'चक्षुः' उसे केवल भौतिक दर्शनशक्ति को ही सूचित कर सकनेयोग्य माना जाय, तो दूसरे सन्दर्भोंमें हम इसके स्थान पर ' केतु ' शब्द पाते हैं, जिसका अर्थ है बोध, मानसिक चेतना में होनेवाला बोधयुक्त दर्शन, ज्ञान की एक शक्ति । उषा है ' प्रचेताः ' इस बोधयुक्त ज्ञान से पूर्ण । उषाने जो कि ज्योतियों की माता है, मन के इस बोधयुक्त ज्ञान को रचा है, **गवां जनित्री अकृत प्र केतुम्** (ऋ. १.१२४.५) । वह स्वयं ही दर्शनरूप है- "अब बोधमय दर्शनकी उषा खिल उठी है, जहाँ कि पहले कुछ नहीं (असत्) था, " **वि नूनमुच्छादसति प्र केतुः** (ऋ. १.१२४-११) । वह अपनी बोधयुक्त शक्ति के द्वारा सुखमय सत्योंवाली है, **चिकित्वत सूनृतावरि** । (ऋ. ४.५२.४)

यह बोध, यह दर्शन, हमें बताया गया है, अमरत्व का है- **अमृतस्य केतुः** (ऋ.३.६१.३) । दूसरे शब्दोंमें यह उस सत्य और सुख की ज्योति है, जिनसे उच्चतर या अमर चेतन का निर्माण होता है । रात्रि वेद में हमारी उस अन्धकारमयी चेतना का प्रतीक है जिस के ज्ञान में अज्ञान भरा पड़ा है और जिसके संकल्प तथा क्रिया में स्खलन पर स्खलन होते रहते हैं और इसलिए जिसमें सब प्रकार की बुराई, पाप तथा कष्ट रहते हैं । प्रकाश है ज्योतिर्मयी उच्चतर चेतना का आगमन जो कि सत्य और सुख को प्राप्त कराता है । हम निरन्तर 'दुरितम्' और ' सुवितम् ' इन दो शब्दों का विरोध पाते हैं । 'दुरितम्' का शाब्दिक अर्थ है स्खलन, गलत रास्ते पर पर जाना और औपचारिक रूप से यह सब प्रकार की गलती और बुराई, सब पाप, भूल और विपत्तियों का सूचक है । ' सुवितम् ' का शाब्दिक अर्थ है, ठीक और भले रास्ते पर जाना और यह सब प्रकारकी अच्छाई तथा सुख को प्रकट करता है और विशेषकर इस का अर्थ वह सुख-समृद्धि है, जो कि सही मार्ग पर चलनेसे मिलती है । सो वसिष्ठ इस देवी उषाके विषयमें (ऋ.७.७८.२) में इस प्रकार कहता है- " दिव्य उषा अपनी ज्योति से सब अन्धकारों और बुराइयों को हटाती हुई आ रही है* " (**विश्वा तमांसि दुरिता**) और बहुतसे मन्त्रोंमें इस देवीका वर्णन इस रूपमें किया गया है कि, यह मनुष्योंको जगा रही है, प्रेरित कर रही है, ठीक मार्ग की ओर, सुख की ओर (**सुविताय**) ।

इसलिये वह केवल सुखमय सत्यों की ही नहीं, किंतु हमारी आध्यात्मिक समृद्धि और उल्लास की भी नेत्री है, उस आनन्दको लानेवाली है, जिस तक मनुष्य सत्य के द्वारा पहुँचता है या जो सत्यके द्वारा मनुष्य के पास लाया जाता है, (**एषा नेत्री राधसः सूनृतानाम्** । (ऋ. ७.७६.७) यह समृद्धि जिन के लिए ऋषि प्रार्थना करते हैं, भौतिक दौलतों के अलङ्कार से वर्णन की गई है; यह ' **गोमद् अश्वावद् वीरवद्** ' है, या यह ' **गोमद् अश्वावद् रथवच्च राधः** ' है । गौ (गाय), अश्व (घोडा), प्रजा या अपत्य (सन्तान), नृ या वीर (मनुष्य या शूरवीर), हिरण्य (सोना), रथ (सवारीवाला रथ), श्रवः

× विश्व नि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुरुर्विया वि भाति ।
विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः ॥ (ऋ० १।९२।९)

* उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी । (ऋ० ७।७८।२)

(भोजन या कीर्ति)- याज्ञिक साम्प्रदायवालों की व्याख्या के अनुसार ये ही उस सम्पत्ति के अंग हैं, जिस की वैदिक ऋषि कामना करते थे। यह लगेगा कि, इससे अधिक ठोस दुनियावी पार्थिव और भौतिक दौलत कोई और नहीं हो सकती थी, निस्सन्देह ये ही वे ऐश्वर्य हैं, जिन के लिए कोई बेहद भूखी, पार्थिव वस्तुओं की लोभी, कामुक, जंगली लोगोंकी जाति अपने आदि देवोंसे याचना करती। परन्तु हम देख चुके हैं कि 'हिरण्य' वेदमें भौतिक सोने की अपेक्षा दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हम देख आए हैं कि ' गौएं ' निरन्तर उषा के साथ सम्बद्ध होकर बार बार आती हैं, कि यह **प्रकाश** के उदय होने का आलङ्कारिक वर्णन होता है और हम यह भी देख चुके हैं कि, इस प्रकाश का सम्बन्ध मानसिक दर्शन के साथ है और उस सत्य के साथ है जो कि सुख लाता है। और अश्व, घोडा, आध्यात्मिक भावों के निर्देशक इन मूर्त अलंकारों में सर्वत्र गौ के प्रतीकात्मक अलंकार के साथ जुडा हुआ आता है; उषा '**गोमती अश्वावती**' है। वसिष्ठ ऋषिकी एक ऋचा (ऋ० ७।७७।३) है, जिसमें वैदिक मंत्र का प्रतीकात्मक अभिप्राय बडी स्पष्टता और बडे बल के साथ प्रकट होता है-

> **देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती, श्वेतं नयन्ती**
> **सुदृशीकमश्वम् । उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता,**
> **चित्रमघा विश्वमनु प्रभूता ॥**

'देवों की दर्शनरूपी आँख को लाती हुई, पूर्ण दृष्टिवाले सफेद घोडेका नेतृत्व करती हुई सुखमय उषा रश्मियोंद्वारा व्यक्त होकर दिखाई दे रही है, यह अपने चित्रविचित्र ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण है, अपने जन्मको सब वस्तुओंमें अभिव्यक्त कर रही है।' यह पर्याप्त स्पष्ट है कि 'सफेद घोडा' पूर्णतया प्रतीकरूप ही है × (सफेद घोडा यह मुहावरा अग्निदेवता के लिए प्रयुक्त किया गया है, जो कि अग्नि + 'द्रष्टा का संकल्प' है कविक्रतु है, दिव्य संकल्पकी अपने कार्यों को करने की पूर्ण दृष्टि-शक्ति है। (ऋ.५।१।४) और ये "चित्र-विचित्र ऐश्वर्य' भी आलंकारिक ही हैं, जिन्हें कि वह अपने साथ लाती है, निश्चय ही सबका अभिप्राय भौतिक धन-दौलत से नहीं है।

उषाका वर्णन किया गया है कि यह '**गोमती अश्वावती वीरवती**' है और क्योंकि उसके साथ लगाये गये 'गोमती' और 'अश्वावती' ये दो विशेषण प्रतीकरूप हैं और इन का अर्थ यह नहीं है कि, यह 'भौतिक गौओं और भौतिक घोडोंवाली' है, बल्कि यह अर्थ है कि यह ज्ञान की ज्योति से जगमगानेवाली और शक्ति की तीव्रतासे युक्त है, तो 'वीरवती' का अर्थ भी यह नहीं हो सकता कि यह 'मनुष्योंवाली है या शूर वीरों, नौकरचाकरों या पुत्रों से युक्त' है, बल्कि इस की अपेक्षा इस का अर्थ यह होगा कि, यह विनय शील शक्तियों से संयुक्त है अथवा यह शब्द बिलकुल इसी अर्थ में नहीं, तो कमसे कम किसी ऐसे ही और प्रतीकरूप अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात (ऋ० १.११३.१८)में बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। '**या गोमतीरुषसः सर्ववीरा ... ... ता अश्वदा अश्नवत् सोम सुत्वा।**' इस का यह अर्थ है कि, 'ये उषाएं जिन में कि भौतिक गायें हैं और सब मनुष्य या सब नौकर-चाकर हैं, सोम अर्पित कर के मनुष्य उन का भौतिक घोडों को देनेवाली के रूप में उपभोग करता है।' उषा देवी यहाँ आन्तरिक उषा है, जो कि मनुष्य के लिए उस की बृहत्तम सत्ता की विविध पूर्णताओं को, शक्ति को, चेतना को और प्रसन्नता को लाती है; यह अपनी ज्योतियों से जगमग है, सब संभव शक्तियों और बलों से युक्त है, यह मनुष्य को जीवन-शक्तिका पूर्ण बल प्रदान करती है, जिस से कि यह उस बृहत्तर सत्ता के असीम आनन्द का स्वाद ले सके।

अब हम अधिक देर तक '**गोमद् अश्वावद् वीरवद् राधः**' को भौतिक अर्थों में नहीं ले सकते; वेदकी भाषा ही हमें इस से बिलकुल भिन्न तथ्य का निर्देश कर रही है। इस कारण

× घोडा प्रतीकरूप ही है, यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है दीर्घतमस् के सूक्तों में जो कि यज्ञ के घोडे के सम्बन्ध में हैं, अश्वदधिक्रावन् विषयक भिन्न भिन्न ऋषियों के सूक्तों में और फिर बृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ में जहां यह जटिल आलङ्कारिक वर्णन है, जिसका आरम्भ " उषा घोडे का सिर है, " (उषा या अश्वस्य मेध्यस्य शिरः,) इस वाक्य से होता है।

+ अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति ।
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम् ॥ (ऋ० ५।१।४)

देवोंद्वारा दी गई इस सम्पत्ति के अन्य अंगों को भी हमें इसी की तरह अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थों में ही लेना चाहिए; सन्तान, सुवर्ण, रथ ये प्रतीकरूप ही हैं; 'श्रवः' कीर्ति या भोजन नहीं है, बल्कि इस में आध्यात्मिक अर्थ अन्तर्निहित है और इस का अभिप्राय है, वह उच्चतर दिव्य ज्ञान जो कि इंद्रियों या बुद्धि का विषय नहीं है, बल्कि जो **सत्य** की दिव्य श्रुति है और सत्य के दिव्य दर्शन से प्राप्त होता है; '**रयिं दीर्घश्रुत्तमम्**' '**रयिं श्रवस्युम्**' सत्ता की यह सम्पन्न अवस्था है, यह आध्यात्मिक समृद्धि से युक्त वैभव है, जो कि दिव्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है (**श्रवस्यु**) और जिस में उस **दिव्य शब्द** के कम्पनों को सुननेके लिये सुदीर्घ, दूर तक फैली श्रवणशक्ति है, जो **दिव्य शब्द** हमारे पास **असीम** के प्रदेशों (**दिशः**) से आता है। इस प्रकार उषाका यह उज्ज्वल अलंकार हमें वेदसम्बन्धी उन सब भौतिक, कर्मकाण्डिक, अज्ञानमूलक भ्रांतियों से मुक्त कर देता है, जिनमें कि यदि हम फंसे रहते तो वे हमें असंगति और अस्पष्टता की रात्रि में ठोकरों पर ठोकरें खिलाती हुई एक से दूसरे अन्धकूपमें ही गिराती रहतीं, वह हमारे लिए बन्द द्वारों को खोल देती है और वैदिक ज्ञान के हृदय के अन्दर हमारा प्रवेश करा देती है।

उषा सूक्तों का यह आध्यात्मिक रहस्य श्री योगी अरविन्द जी की खोजसे प्राप्त हुआ है जिसे पाठकोंको मननपूर्वक अपनाना योग्य है।

(३)

उषादेवताका वर्णन

उषा देवताका वर्णन कई विभिन्न रीतियोंसे भी देखने योग्य है। उषाके सूक्तों में काव्य का आलंकारिक वर्णन तो बडा ही मनोरंजक और हृदयंगम है हि परंतु इसकी अन्यभी कुछ विशेषताएं हैं जो देखने योग्य हैं।

सूर्योदयके पूर्व उषाएँ

(वसिष्ठो मैत्रावरुणिः)

तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।
यतः परि जार इवाचरन्ती उषः ददृक्षे न पुनर्यतीव॥

(१४९) ऋ. ७।७६।३)

'(सूर्यस्य प्राचीनं या उदिता) सूर्यके पूर्व जो उदय हुए थे, (तानि अहानि बहुलानि इत् आसन्) ऐसे वे उषःकाल निःसन्देह बहुत ही थे।'

इस मंत्र में 'सूर्योदयके पूर्व अनेक उषःकाल अथवा (अहानि) अनेक दिन व्यतीत हुए' ऐसा वर्णन किया है। क्या कभी हमें इसका अनुभव है? नहीं, हमें अपनें देशमें तो एक उषःकाल आनेके बादही उसी दिन प्रत्यक्ष सूर्य उगता हुआ दिखाई देता है। सूर्य उदयके पूर्व बहुत दिन व्यतीत हुए और बहुत दिन व्यतीत होनेतक सूर्य का उदय नहीं हुआ, ऐसा इस देशमें कभी नहीं होता है। ये बहुत दिन उषःकालके ही हैं, जैसी उषा लाल वर्णके प्रकाशसे युक्त होती है, वैसेही ये दिन हैं। सूर्यप्रकाशवाले ये दिन नहीं हैं। क्यों कि इस सूक्तकी देवता उषा है और इस मंत्रमें भी 'उषः' संबोधन करके ही वर्णन है, देखिये इसी मंत्रका उत्तरभाग-

'हे उषा देवी! तूं जारके समान आचरण करनेवाली दीखती है, संन्यासिनी यती स्त्रीके समान तूं दीखती नहीं। ऐसा उषाको संबोधन करके कहा है। यार की प्रतीक्षा करती हुई जैसी कोई स्त्री रहती है; वह अपने प्रियकी प्रतीक्षा करती रहती है, वह पति न आया तो भी आतुरताके साथ वह स्त्री प्रतीक्षा करतीही रहती है, परंतु अपने प्रियपर क्रोध करके संन्यासिनी बन कर उसको नहीं छोडती, तद्वत् यह उषा है।

यहां सूर्य उदय होनेतक अनेक दिन उषःकाल ही उषःकाल रहनेका स्पष्ट वर्णन है। हमारे देशमें घण्टाभर तक उषःकाल रहता है, पश्चात् सूर्यका उदय होता है। अतः यह वर्णन यहां के उषःकालपर घटता ही नहीं। यहां तो सूर्योदयके पूर्व बहुत उषःकाल आते नहीं, प्रतिदिन उषा सूर्य की प्रतीक्षा करती रहती है, पर सूर्य देव उसके पास नहीं आते, ऐसा

यहां नहीं होता, अतः उषा अपने प्रियकी प्रतीक्षा बहुत दिन करती रही, पर सूर्य देव नही आये तथापि वह उषा यती (संन्यासिनी) बनी नहीं, अपने प्रिय पर पूर्ववत् प्रेमही करती रही, यह वर्णन यहांके उषःकालका नहीं हो सकता।

जिस देशमें सूर्योदयके पूर्व अनेक दिन उषःकाल रहता होगा, वहीं पर ऐसी कल्पना कवि कर सकता है। और वहीं यह कल्पना प्रत्यक्ष सृष्टीमें दीख सकती है। जहां घण्टाभर ही उषःकाल रहता होगा, वहां सूर्योदय के पूर्व बहुत दिन उषःकाल रहा, ऐसा वर्णन नहीं हो सकता।

यहां 'बहुलानि अहानि' पद है, अनेक दिन व्यतीत होनेके पश्चात् वहां सूर्यदेवका दर्शन होता है। यहां दिनका अर्थ पृथ्वीका अपने इर्दगिर्द भ्रमणका काल है। आकाशमें जो तारका मण्डल दीखता है वह भ्रमण करतासा दीखता है। उसके २४ घण्टोंके परिभ्रमणसे दिनकी कल्पना होती है! ऐसे बहुत दिन व्यतीत होने तक यह उषा सूर्यकी प्रतीक्षा करती रहती है, और पश्चात् सूर्य देव आते हैं और उषा सूर्यदेवके साथ संलग्न होती है।

यहां 'बहुलानि अहानि' पद है। इस वर्णनसे कितने दिन लेने योग्य हैं, इसका भी यहां विचार करना चाहिये। यदि ३० दिन व्यतीत हो जायँ, तो एक महिना व्यतीत हुआ ऐसा कहेंगे, इसलिये जिस कारण यहां 'अहानि' अर्थात् 'दिन' ही व्यतीत हुए ऐसा कहा है, उस कारण हम कह सकते हैं कि, तीस दिनोंसे कम ही ये उषःकाल होंगे। यदि आठ दस दिनतक ही यह उषःकाल रहता होगा, तो उसके लिये 'बहुत दिन' ऐसा प्रयोग कोई नहीं करेगा, क्योंकि सात संख्यातक संख्या 'बहुत दिन' कहने योग्य नहीं होती। इसलिये ३० दिन भी नहीं और दस दिन तक भी नहीं, अर्थात् बीससे कुछ अधिक दिन ऐसा यह उषाका अवधि 'बहुलानि अहानि' पदोंसे लेना योग्य है।

संस्कृत व्याकरणके अनुसार 'बहुलानि अहानि' (बहुत दिन) का अर्थ कमसे कम तीन दिन और अधिकसे अधिक जितने भी होंगे उतने दिन बोधित होंगे। अतः व्याकरण हमारी इतनीहि यहां सहायता करता है और कहता है कि इन पदोंसे कमसे कम तीन दिनोंका अवधि निर्धारित हो सकता है, ज्यादा कितने दिन ले सकते है यह व्याकरण नहीं कह सकता। पर केवल तीन ही दिनोंके लिये 'बहुतही दिन' ऐसा कोई भी नहीं कहता। इसलिये यह अवधि निश्चयसे तीन दिनोंसे अधिक है इसमें संदेह नहीं, अनेक उषाओंका वर्णन वेदमंत्रोंमें भी है, अतः उषाका बहुवचनमें प्रयोग अनेक वेदमंत्रोंमें दिखाई देता है—

स्पार्हा वसूनि तमसाऽपगूळ्हा

आविष्कृण्वन्त्युषसो विभातीः॥ (६४; ऋ.१।१२३।६)

'स्पृहणीय पदार्थ जो गूढ अन्धकारसे ढंके थे, उन सबको ये अनेक (विभातीः उषसः आविष्कृण्वन्ति) प्रकाशनेवाली उषायें प्रकट कर रही हैं।' अर्थात् ये अनेक उषायें आकर सूर्य आनेके पूर्वही विश्वान्तर्गत नाना पदार्थोंको हमारे सामने प्रकट करती हैं। इसी सूक्तका अगला मंत्र इस मंत्रका आशय अधिक स्पष्ट कर रहा है-

परा च यन्ति पुनरा च यन्ति

भद्रा नाम वहमाना उषासः। (७०; ऋ.१।१२३।१२)

'ये (उषासः) उषायें (भद्रा नाम वहमानाः) कल्याणकारक यशका धारण करती हुई (परा यन्ति) जातीं हैं और (पुनः च आयन्ति) फिर वापस आतीं हैं।' उषःकाल चला गयासा दीखता है और उसी समय फिर नया शुरू होने लगता है। यह वर्णन बडा महत्त्व रखनेवाला वर्णन है। हमारे देशमें एक बार उषःकाल गया तो दिन आता है, दिनके बाद सायंकाल और उसके बाद रात्री व्यतीत होती है, इसतरह २४ घण्टे व्यतीत होते हैं, तत्पश्चात् दूसरी उषा आती है। अतः यह वर्णन यहांका नहीं है जिस भूभाग पर एकवार उषा गयी तो उसी समय पुनः दूसरी उषःकाल आनेकी संभावना हो, वहीं यह वर्णन प्रत्यक्ष दीख सकता है, और वहीं सूर्योदयके पूर्व अनेक उषाओंका होना भी संभव हो सकता है। ऐसी कई उषायें लगातार आतीं हैं और पश्चात् सूर्य देव उगते हैं, वहीं कवि कह सकता है कि, 'एक उषा गयी और फिरसे दूसरी उषा पुनः आगयी।' इसी तरह और भी वर्णन देखिये-

क स्विदासां कतमा पुराणी? (९६; ऋ.४।५१।६)

'इन सब उषाओंमें कौनसी भला उषा पुरानी है?' यह प्रश्न तब हो सकता है कि, जब अनेक उषःकाल साथसाथ आते हों। हमारे भारतवर्षमें तो एकही उषःकाल रहता है इसलिये इसमें पुराना और नया ऐसा भेद नहीं हो सकता, परंतु न्यून प्रकाशवाला और अधिक प्रकाशवाला ऐसे अनेक क्रमपूर्वक

उषःकाल जहां होंगे, वहीं एक उषःकाल पुराना और दूसरा नया यह भाषा संभवनीय हो सकती है । इसीतरह और भी–

ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुः । (८०; ऋ. ४।५१।७)

'वे निःसंदेह वे कल्याणकारक उषःकाल (पुरा आसुः) पहिले हो चुके थे ।' यहां अनेक संख्यामें कुछ उषःकाल पहिले हो चुके ऐसा कहा है । अनेक संख्यामें उषःकालोंका होना यह जहां संभवनीय होगा, वहीं यह वर्णन हो सकता है। ये सब मंत्र किसी देशमें प्रत्यक्ष दीखनेवाले दृश्यका वर्णन कर रहे हैं । उषा दृश्यमान है, हमारे देशमें प्रतिदिन आती है, परंतु यहां अनेक उषाएं सूर्योदयके पूर्व नहीं आतीं और नहीं इनमें एक प्राचीन और दूसरी अर्वाचीन कही जा सकती है । और जो वर्णन इन उषा सूक्तोंमें है, वहां अनेक उषाएं सूर्योदयके पूर्व होती हैं, और ये उषाएं एकके पीछे दूसरी ऐसी क्रमपूर्वक आती हैं, देखिये—

क्रमसे उषाओंका आना

आसां पूर्वासां अहसु स्वसॄणां
अपरा पूर्वां अभ्येति पश्चात् ।
ताः प्रत्नवन्नव्यसीः नूनं अस्मे
रेवदुच्छन्तु सुदिना उषासः ॥ (८०; ऋ. १।१२४।९)

'(आसां पूर्वासां स्वसॄणां अहसु) इन पहिले बहिनरूपी अनेक उषाओंके दिनोंमें (पूर्वां पश्चात् अपरा अभ्येति) पहिली उषाके पश्चात् ही दूसरी उषा उसके पीछेसेही लगातार आती रहती है । (ताः) वे (नव्यसीः उषासः) नयीं उषाएं (प्रत्नवत्) पुराणी उषाओंके समानही निश्चय पूर्वक (अस्मे) हमें (रेवत् सुदिना उच्छन्तु) ऐश्वर्य युक्त उत्तम दिन देवें ।'

इस मन्त्रमें '**पूर्वां पश्चात् अपरा अभि एति**' यह वाक्य बडे महत्त्वका है इसका आशय ऐसा है कि– 'पूर्व उषाके पश्चात् ही, उस उषाके पीछेसेही दूसरी उषा सब प्रकारसे आती है। एक उषा समाप्त हुई तो दूसरी उषा शुरू होती है । यह दृश्य इस देशका नहीं है ।

यहां 'उषा' पद अनेक वचनमें है, इससे अनेक उषाओं का होना सिद्ध है, अनेक उषाएं होनेके कारण ही उनको इस मंत्रने (स्वसॄः) बहिनें कहा है । एक पिताकी अनेक पुत्रियाँ आपसमें बहिनें होती हैं। सूर्य आनेवाला है, उसके कारण उत्पन्न होनेवाली अनेक उषाएं आपसमें बहिनें कहीं जा सकती हैं । बहिन कहनेसे भी एक सूर्य देवके कारण उत्पन्न होनेवाली सूर्यकी अनेक पुत्रियां, ये उषाएँ हैं, अतः वे आपसमें बहिनें हैं यह सिद्ध है । इससे सूर्योदयके पूर्व अनेक उषाओंका होना सिद्ध हुआ है ।

उषाओंका क्रमसे और एकके पीछे दूसरीका आना सिद्ध कर रहा है कि ऐसा दृश्य किसी दूसरे देशमें होगा, इस भारत वर्षमें तो ऐसा दृश्य कदापि नहीं होता ।

पहिले दिनको जाननेवाली उषा

जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम
शुक्रा कृष्णादजनिष्ट श्वितीची ॥ (६७; ऋ.१।१२३।९)

'यह उषा (प्रथमस्य अह्नः जानती) पहिले दिनका नाम जानती है, और (शुक्रा श्वितीची) यह प्रकाश देनेवाली तेजस्विनी उषा (कृष्णात् अजनिष्ट) कृष्ण वर्ण अन्धकारसे उत्पन्न हुई ।'

हमारे देशमें पहिले दिनकी उषा ऐसा कोई भेद नहीं है, क्योंकि सभी उषाएं एकसी होती हैं, पर जहां जिस प्रदेशमें बडे अन्धकारके पश्चात् पहिलाही उषःकाल शुरू होता है और वह उषःकाल अनेक दिनोंतक लगातार रहता है वहीं यह संभव हो सकता है कि यह उषा प्रथम दिनकी है और यह दूसरे दिनकी है, पर वे आपसमें बहिनें हैं और एकके पीछे एक आती रहती हैं । इस मंत्र में प्रथम दिनकी उषा (प्रथमस्य अह्नः उषा) कही है, यह वर्णन विशेष महत्त्व का है । इसी तरह के वर्णन के ये मन्त्र हैं—

१. शश्वतीनां विभातीनां प्रथमा उषा व्यश्वैत् । (५३, ऋ. १।११३।१५)
२. शश्वतीनां आयतीनां प्रथमा उषा व्यद्यौत् । (७३, ऋ. १।१२४।२)
३. परायतीनां अन्वेति पाथः
आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम् ।(४६;ऋ. १।११३।८)
४. उषा अगन् प्रथमा पूर्वहूतौ । (६०; ऋ. १।११३।८)
५. उषः सूनृते प्रथमा जरस्व । (६३; ऋ. १।१२३।२)
६. उषः सुजाते प्रथमा जरस्व । (१५२; ऋ. ७।७६।६)

(१) शाश्वत चमकनेवाली उषाओंमें यह पहली उषा प्रकाशित हुई है । (२) शाश्वत आनेवाली उषाओंमें पहिली उषा उदित हुई है (३) जानेवाली उषाओंके मार्गका अनुसरण करनेवाली और आनेवाली उषाओंमें पहिली यह उषा

है (४) यह पहिली उषा आगई है । (५-६) हे उत्तम निर्माण हुई उषा ! तू पहिली उषा है ।

(१,३) कुत्स आंगिरसः, (२,४-५) कक्षीवान् दैर्घतमसः, (६) वासिष्ठ के देखे ये मंत्र हैं । इन में यह पहिली उषा है ऐसा कहा है ।

यहां पहिली उषा करके उसमें कोई विशेषता नहीं होती । पर जहां बडे प्रदीर्घ अन्धेरेके पश्चात् वर्षमें प्रथमही उषाके प्रकाशका दर्शन होता होगा, वहांका आनन्द इन मंत्रोंमें वर्णित हुआ दीखता है ।

तीस बहिनें

त्रिंशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतं । (तै. सं. ४।३।२।६)

' तीस बहिनें नियत स्थानपर चलती हैं । ' बहिनें उषायें हैं यह जो ऋग्वेदमें कहा था, वे तीस बहिनें हैं ऐसा इस मंत्रने कहा है । तीस ही उषाएं क्यों हैं ? क्योंकि छः मास की रात्री के पश्चात् तीस उषाएं आकर ही सूर्यका उदय होता है ।

भयानक रात्री

न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद्विश्वमस्यां नि विशते यदेजति । अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥ (अथर्व. १९।४७।२)

(न यस्याः पारं ददृशे) जिस रात्रीका पार अर्थात् समाप्ति का समय हम देखते नहीं, इतनी यह विशाल रात्री है ।

(न योयुवत्) उस रात्री में भिन्नता भी नहीं दीखती, एक जैसी अखण्ड यह रात्री रहती है (विश्वं अस्यां निविशते) सब कुछ इस रात्री में प्रविष्ट होता है (यत् एजति) जो कुछ हिलता है वह सब भी इस रात्रीमें ही रहता है । (अ-रिष्टासः) हम विनष्ट न होते हुए, हे (उर्वि तमस्वति रात्रि) बडी अन्धेरी रात्री ! तेरे पार (अशीमहि) हम होंगे । हे कल्याणि रात्री ! तेरे पार हम होंगे ।

यह विशेष दीर्घकालीन रात्रीका ही वर्णन दीखता है । यह हमारी १२ घण्टोंकी रात्री नहीं है, यह छः मासकी रात्री है जो संवत्सर जैसी है इसका वर्णन देखिये—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥

(अ. ३।१०।३)

(यां संवत्सरस्य प्रतिमां रात्रीं त्वां) संवत्सरकी प्रतिमा-रूपी रात्रीकी (उपास्महे) हम उपासना करते हैं । (सा नः) वह रात्री हमारी (आयुष्मतीं प्रजां) दीर्घायुवाली प्रजाको (रायः पोषेण संसृज) धन और पुष्टीके साथ पूर्ण करो ।

संवत्सरस्य प्रतिमा रात्री= ये पद निःसंदेह वर्षकी दीर्घरात्रीको अर्थात् अर्धसंवत्सर तक चलनेवाली रात्रीको बता रहे हैं । नहीं तो ' संवत्सरकी प्रतिमा रात्री'का कोई विशेष तात्पर्य ही नहीं है ।

ऐसे बडे अन्धकारके पार होनेको हीं अन्धेरेसे पार होना कहते हैं—

अन्धकारका पार होना

बडे अन्धकारका पार होना भी इन उषा सूक्तोंमें दीखता है-

अतारिष्म तमसस्पारं अस्य
उषा उच्छन्ती वयुना कृणोति । (२९; ऋ. १।९२।६)

' (अस्य तमसः पारं अतारिष्म) इस अन्धकारको हमने पार किया, अब यह (उषा उच्छन्ती) उषा अपना प्रकाश करती हुई अपने उद्देश प्रकट करती है ।'

इस मंत्रमें (**अस्य तमसः पारं अतारिष्म**) इस अन्धकारके पार हम हो चुके, यह वाक्य प्रगाढ और दीर्घकालके अन्धेरे की सूचना दे रहा है । प्रतिरात्रीके अन्धकारके विषयमें ऐसा कोई नहीं कहेगा, क्योंकि हमें पता है कि छः सात बजे यह अन्धेरा दूर होनेका निश्चय है । यदि अन्धेरा ऐसा हो कि जो कई महिने रहनेवाला हो, तो उस अन्धकारकी समाप्तिपर ऐसा वाक्य बोला जाना सर्वथा संभव है कि ' इस दुस्तर अन्धकारसे अब हम पार हो चुके हैं ।' इतने मंत्रोंका आशय मनन पूर्वक देखनेसे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि बडे अन्धकारके व्यतीत होनेपर कई उषायें लगातार आतीं, उनमें पहिली और अन्तिम ऐसी भी उषाएं रहती हैं, ऐसे अनेक उषःकाल व्यतीत होनेपर दिनका प्रारंभ होता है, जहां ऐसा होता हो वहाँका यह वर्णन है ।

हमें विदित है कि अपनीही पृथ्वीपर ऐसे प्रदेश हैं कि जहां करीब पांच महिनोंकी प्रचण्ड रात्री रहती है, इस निबिड गाढ अंधेरी प्रचण्ड रात्रीके पश्चात् करीब तीस दिनका उषःकाल और प्रभात होता है, पश्चात् करीब पांच महिनेका दिन होता है और पश्चात् वैसा ही एक मासका सायंकाल होता है । दिन और रात्रीका प्रमाण न्यूनाधिक भी कई

प्रदेशोंमें रहता है। नार्वे स्वीडन के प्रदेशोंमें इस तरहके प्रचण्ड दिन रात आज भी होते हैं। महाभारतकारने ध्रुव पर्वतका वर्णन दिया है वहां छः महिनोंका दिन और वैसी ही प्रचण्ड रात्री होनेका वर्णन है। अगस्ति ऋषि वहां गये थे ऐसा भी महाभारतमें लिखा है देखो-

> एवं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम्।
> प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन ॥
> ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वतः।
> परियन्ति महाराज गिरिराजं प्रदक्षिणम् ॥
> (म. भा. वन. १६३।३७-३८)

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य महौषधीनां च तथा प्रभावात्। विविक्तभावो न बभूव कश्चिदहोनिशानां पुरुष प्रवीर ॥ बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां संवत्सरेणैव समान रूपः।
(म. भा. वन. १६४।११,१३)

> दैवे राज्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
> अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् (मनु. १।६७)
> एकं वा एतद्देवानां अहः। यत्संवत्सरः। (तै. ब्रा. ३।९।२२।१)

'मेरुपर्वत है, उसकी प्रदक्षिणा सूर्य, चन्द्र, तथा सब नक्षत्र करते हैं। उस मेरुपर्वत पर दिन और रात्रीका ऐसा भेद नहीं (जैसा यहां हमारे देशमें प्रतिदिन दिखाई देता है।) वहां दिन और रात्री वर्ष जैसी होती है (अर्थात् वहां छः मासोंकी रात्री और छः मासोंका दिन होता है, इसमें उषःकाल और सायंकालके संधिसमय अन्तर्भूत हुए हैं।) यह महाभारतका वर्णन है।

मनुस्मृतिमें कहा है कि उत्तरायण दिवस है और दक्षिणायन रात्री है। (अर्थात् छः मासोंका उत्तरायण दिन है और छः मासोंका दक्षिणायण रात्री है।)

इस तरह मेरुपर्वतका वर्णन हमारे ग्रंथोंमें है। मेरुपर्वतही उत्तरीय ध्रुव है। आज भी वहां छः मासोंकी प्रचण्ड घन अन्धकारमयी रात्री है और छः मासोंका प्रचण्ड दिन है। उत्तरीय ध्रुवके नीचे दक्षिण दिशामें नार्वे और स्वीदन देश हैं, इसलिये वहां यह प्रमाण थोडा न्यूनाधिक रहता है। उत्तरीय ध्रुवमें सूर्य चन्द्र तथा नक्षत्र चक्रीके समान घूमते हुए नजर आते हैं, हमारे देशमें जैसे सिरपर आकर अस्त होनेका दृश्य है वैसा वहां नहीं है, वहां किसी देवताको प्रदक्षिणा करनेके समान ये सब सूर्य चन्द्र और नक्षत्र घूमते हैं और मेरुको प्रदक्षिणा करते दीखते हैं।

संक्षेपसे यहां ५ महिनोंकी निबिड गाढ अन्धकारवाली प्रचण्ड रात्री होती है, इसके बाद पहिली उषा चमकती है, इस कारण वह (प्रथम उषा) पहिली उषा कही जाती है, इसके नंतर करीब सत्ताईस उषाएं क्रमपूर्वक एकके पीछे दूसरी ऐसी आती हैं, अतः ये परस्पर बहिनें होती हैं, पश्चात् सूर्य देव प्रकाशते हैं। ये करीब ५ महिने प्रकाशते ही रहते हैं, तथापि कभी ये मध्याह्नके समय जैसे आकाशमध्यमें नहीं चढते। नौ बजने जितने ऊपर चढते हैं यह अधिकसे अधिक ऊंचाई होती है। जिस किसी ऊंचाई पर हो दिनभर उसी ऊंचाईपर रहते हुए ये ध्रुवपर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं, पश्चात् सायं समय भी करीब उषःकाल जितनाही होता है और पश्चात् रात्री होती है। इस तरह छः मास सूर्य दर्शन नहीं और छः मास गाढ अन्धकार नहीं ऐसी वर्षकी अवधि काटी जाती है। नक्षत्रोंके एक परिभ्रमणसे एक दिन समझा जाता है, तथा वहां विद्युत्प्रकाश इस छः मासकी रात्रीमें कुछ रोशनी करता रहता है। यह वहां की परिस्थिति ध्यानमें धारण करके पूर्वोक्त मंत्रोंके निम्नलिखित वाक्य पुनः देखिये—

१. **अस्य तमसः पारं अतारिष्म।** (२९; ऋ. १।९२।६)= अब हम इस गाढ निबिड और प्रचंड अन्धकारके पार हो चुके।
२. **कृष्णात् शुक्रा प्रथमस्य अह्नः (उषा) अजनिष्ट।** (६७; ऋ. १।१२३।३)= गाढ अन्धेरी रात्रीके पश्चात् प्रथम दिनकी यह पहिली उषा अब प्रकाशित हुई है।
३. **विभातीनां प्रथमा उषा व्यश्चैत्।** (७३; ऋ. १।१२४।२)= प्रकाशित होनेवालियोंमें यह पहिली उषा प्रकाशित हुई।
४. **आसां स्वसॄणां पूर्वा पश्चात् अपरा अभ्येति।** (८०; ऋ. १।१२४।९)= ये बहिनें जैसी अनेक उषाएं एकके पीछे दूसरी क्रमसे आती हैं।
५. **भद्रा उषसः पुरा आसुः।** (८०; ऋ. ४।५१।७)=कल्याण कारक अनेक उषाएँ (सूर्य उदयके) पूर्व प्रकाशित हो चुकी हैं।
६. **उषसः परा यन्ति, पुनः आयन्ति।** (७०; ऋ. १। १२३।१२)= इन उषाओंमेंसे कई जाती हैं और नयीं आती हैं।

७. उषसः विभातीः (६४; ऋ. १।१२३।६) = अनेक उषायें (क्रमशः आकर) प्रकाशती हैं।

८. **सूर्यस्य प्राचीनं उदिता अहानि बहुलानि आसन्।** (१४९; ऋ० ७।७६।३)= सूर्य उदयके पूर्व उदय को प्राप्त होनेवाली उषाएं अनेक हैं।

इस तरह किसी ऐसे प्रदेशमें मंत्रों के ये पद अत्यंत सार्थक दीखते हैं। पाठक इसका विचार करें।

इतना होनेपर भी उषःकाल जाग्रतिका सूचक है। यह जाग्रति आध्यात्मिक मानना उचित है। क्यों कि आत्मिक जाग्रति में सब अन्य जाग्रतियां समाविष्ट होती है। यह भाव इन मंत्रों में पाठक देख सकते हैं और उससे आध्यात्मिक उन्नति के मार्गका बोध भी प्राप्त कर सकते है। यह आध्यात्मिक उन्नति वेदकी मुख्य उन्नति है इस की सिद्धि करनेकी आवश्यकता बिलकुल नहीं है। क्योंकि यह बात सबको स्वीकृत ही है।

इस तरह उषाके हृदयंगम सूक्तोंका विचार पाठक कर सकते हैं।

निवेदक

१ पौष विक्रमीय संवत २०००

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
अध्यक्ष स्वाध्याय मण्डल
औंध (जि० सातारा)

बाइबल, कुर्आन् स्मृत्यादि धर्मग्रंथों के भाष्य नये प्रकाशमें करना उचित है वा मौलिक प्रकाशमें ?

(लेखक— श्री० गणपतराव बा० गोरे, औंध, जि. सातारा)

खण्ड ३

नये, पुराने, तथा मौलिक वा शाश्वत प्रकाश की व्याख्या

खण्ड २ रे के अन्त में हमने मौ० मुहम्मदअली साहेब का मत दर्शाया है कि कुर्आन की व्याख्या वर्तमान समय के विकसित ज्ञानविज्ञान के प्रकाश में करने से कुर्आन के आज तक छुपे हुए रहस्य प्रकट होंगे। यह विचार सर्वथा तो नहीं, अपितु किसी सीमातक ही ठीक है। क्यों? इसलिए कि

१ मानवीय— ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश और अन्धकार दिन और रात की भांति सदा बदलता रहता है, और परमेश्वरीय ज्ञान सदा एकरस रहता है। इस सिद्धान्त को ईसाई, मुसलमान, और हिंदू तीनों मानते हैं, अतः कुर्आन का भाष्य नये प्रकाश में होने से उतना शुद्ध नहीं होगा, जितना शुद्ध और सर्वांगसम्पूर्ण सृष्टि के आदि में दिये गये परमेश्वरीय ज्ञान वेद के प्रकाश में करने से होगा!

२ परमात्मा के कार्यों में तोड मरोड, अदला बदली नहीं हुआ करती। वह सृष्टि के आदि में एक बार ही प्राणियों के सुख दुःख की व्यवस्था कर दिया करता है, और प्रलय कालतक वही व्यवस्था स्थिर रहती है! जिस प्रकार सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल, पृथिवी अन्न ओषधियां हमारी शारीरिक अवश्यकताओं का भरण पोषण प्रलयकालतक करती रहेंगी, उसी प्रकार जो वेद (ज्ञान) सृष्टिके आदि में परमात्माने मनुष्यों की बौद्धिक और मानसिक उन्नति के लिए प्रकट किया वही शाश्वत ज्ञान आजतक मनुष्य-जाति का किसी न किसी रूपमें पथ प्रदर्शक बना रहा हैं, और प्रलय कालतक बना रहेगा!!

इस ईश्वरीय ज्ञान के जिस २ अंश का लोप जब २ संसार में होता है, उस २ अंश की पुनःस्थापना करनेके लिये तब २ परमात्मा GOD वा अल्लाह स्वयमेव अपने ऋषियों, Prophets वा पैगम्बरों को भेजकर किया करते हैं- ऐसा हिन्दुओं, ईसाईयों, मुसलमानों तथा निष्पक्ष ब्रह्म-ज्ञानियों का साँझा मत है!

यदि यह जगद्व्यवस्था में प्रत्यक्ष दीखनेवाली युक्ति और सर्वमान्य सिद्धान्त सत्य है, तो इसके अनुसार भी हमें धर्म पुस्तकों के अनुवाद करते समय सृष्टि के मौलिक ज्ञान वेद की सम्मति लेना अनिवार्य हो जाता है!

३ जिसे हम वर्तमानकाल कहते हैं, उस का तो संस्कृत साहित्य में अभाव सा माना गया है! क्यों? इसलिये कि बीते हुए एक सेकंद (Second) की भी भूतकालीन संज्ञा हो जाती है!

वर्तमानकाल तो छुरे की तीक्ष्ण धारा के समान अत्यंत सूक्ष्म और अदृश्य रहता है, जिस की एक ओर भूत और दूसरी ओर भविष्यत निरन्तर चिपटे रहते हैं!

इन तीनों कालों के एकत्रीकरण वा सम्मिलन का ही दूसरा नाम है सत्य वा शाश्वतकाल, जिसे अरबी भाषा में अबद और आंग्ल भाषा में (Eternity) कहते हैं! सृष्टि के आरंभ से इसी का नाम मौलिक, (Original) अथवा इब्तदाई समय पडा।

परमात्मा शाश्वत है, और उस का ज्ञान भी शाश्वत है। अतः फिर एक बार सिद्ध हुवा कि धर्म ग्रंथों के भाष्य इस शाश्वत ज्ञान के अनुसार ही होने चाहिएं।

४ ' वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है, ' और संसार के समस्त धर्म ग्रंथ सद्विद्याओं के ही सिखाने का दावा करते हैं! इसलिये भी बुद्धिमान मनुष्यों को उचित है कि इन धर्म ग्रन्थों के भाष्य करते हुए वेद की सम्मति पर भी

विचार कर लें– विशेषतः जब कि सभी विद्वान् परमात्मा की एकता को माननेवाले हैं फिर एक के ज्ञान में भिन्नता क्यों होनी चाहिए ?

५ इतने कथन से कोई यह न समझे कि धर्मग्रन्थों के भाष्य आज के ज्ञान–विज्ञान के अनुकूल करने के हम सर्वथा विरोधी हैं। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है, कि जहां, आज के प्रकाश में किये हुए भाष्य स्पष्टतया वेद विरुद्ध हों वहां वेद को ही प्रमाणिक मानना चाहिए। क्यों ? इसलिए कि मनुष्य बुद्धि ही वादविवाद अथवा सम्यक् विज्ञान से प्रभावित होती है, और कभी कभी परमात्मा वा अल्लाह के अभिप्राय को न समझते हुए उसके आदि ज्ञान के विरुद्ध भी अर्थ कर देती है ! ! आज संसार में जो सहस्त्रों मत मतान्तर दीखते हैं, उन की बनावट में मनुष्य की अल्पज्ञता का बडा भारी हाथ है ! कारण ? बस यही कि हम इस बात को भूल गये कि वेद का ज्ञान आज भी हमारे लिए उतना ही अनिवार्य (Indispensable) है जितना कि पूर्व समय में था ! वह तो प्रलयतक अनिवार्य रहेगा ! ! क्यों ? वेदोऽखिलो धर्म मूलम् ॥ मनु महाराजका कथन है कि 'सारे धर्मकी नींव वेद ही है'। अतः वेदकी ओर दुर्लक्ष्य करके धर्म ग्रंथोंका भाष्य करना ऐसा है, जैसा बिना नींव का भवन बांधना !

६ पाठको ! संसार की सभी धर्म पुस्तकें, और सभी निष्पक्ष ब्रह्मज्ञानी एक मत से वेद को ही संसार का मौलिक ज्ञान, तथा सृष्टि की सर्व प्रथम संपादित धर्म पुस्तक समझते आये हैं ! अतः इस मौलिक ज्ञान की सम्मति लिये बिना धर्म ग्रन्थों का भाष्य जो भी करेगा उस में अवश्य त्रुटियां रहेंगी !

खण्ड ४

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टि का मौलिक वा आदि धर्म है

(१) वेद के प्रमाण

[वेद के आदि सृष्टि में उत्पन्न होनेपर]

ऋषि बृहस्पति राङ्गिरसः। देवता ज्ञानम् ॥

१ बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं, यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ (ऋ. १०।७१।१)

अर्थ– [स्वा० वेदानन्द] (बृहस्पते) हे वेदाधिपते ! (प्रथमं) उत्पत्यनंतर इतर वाणियों के उच्चारण से पूर्व ही (नामधेयं दधानाः) पदार्थों के नामकरण करने के अभिलाषी ऋषियों ने (यत्) जिस (वाचः अग्रम्) वाणियों के अग्रगण्या वाणी = वेद वाणी को (प्रैरत) उच्चारण करते हैं, (यत् एषां श्रेष्ठं) जो इन सब वचनों में श्रेष्ठ है और (यत् अरिप्रं) जो दोषरहित है, (तत् एषां) वह इन महात्माओं के (गुहा निहितं) हृदय गुहा में डाला हुआ ज्ञान (प्रेणा) इन के प्रेम के कारण (आविः) प्रकट होता है ॥ १ ॥

भावार्थ– जब मनुष्यों की सृष्टि हुई, तो उन्होंने अपने चारों ओर नाना प्रकार के पदार्थ देखे। मनुष्योंने उनके गुणादि जानने और नाम रखने की इच्छा की। उस समय परमात्माने वाणी तथा ज्ञान की उनके हृदयों में प्रेरणा × की। ज्ञान और वाणी का संसार में यही प्रथम प्रकाश है– इसे ही वेद कहते हैं !

पूर्व–कल्पकृत सुकृतों के कारण जो मनुष्य श्रेष्ठ और सुसंस्कारी थे, और जिन के हृदय में भगवदाज्ञा के प्रचार की प्रबल प्रीति थी, उनके ही हृदय में भगवान् ने प्रेरणा की। उन्हीं से फिर यह शुभ्र ज्योति सारे जगत में जगमगाई।

२ वेदोत्पत्ति सृष्टि के आदि काल में पशुओं तथा मनुष्यों के उत्पन्न होनेके साथ साथ हुई इसपर पुरुषसूक्त के निम्न मंत्र अच्छा प्रकाश डालते हैं, देखो ऋग्वेद १०।९०.

पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥९॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।

× कुर्आन में है– १: और अल्लाहने आदम [सृष्टि के सर्व प्रथमोत्पन्न मनुष्य = आदिमः] को सब पदार्थों के नाम सिखाए...।२।३१॥ २. [अल्लाहने] मनुष्य को उत्पन्न किया ॥ ५५।३॥ फिर उसने उसे वाणी सिखाई ॥५५।४॥

उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥

अर्थ [पं० सातवळेकर]- (वायव्यान्) वायुमें संचार करनेवाले पक्षि, (आरण्यान्) अरण्य में रहनेवाले पशु और (ये च ग्राम्याः) जो ग्राममें रहनेवाले पशु हैं (तान् पशून्) उन सब पशुओंको भी यज्ञ पुरुषने (चक्रे) बनाया ॥ ८ ॥ उस सर्व पवित्र यज्ञपुरुष से (ऋचः) ऋग्वेद मंत्र, (सामानि) सामगान (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए (छन्दांसि) छन्द अथवा अथर्ववेद (तस्मात् जज्ञिरे) उसी से उत्पन्न हुआ और (यजुः तस्मात् अजायत) यजुर्वेद उसी से उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ ब्राह्मण उसका मुख है, (राजन्यः) क्षत्रिय उसके (बाहू कृतः) बाहु किये गये हैं। (यत् वैश्यः) जो वैश्य हैं (तत् अस्य उरू) वे उसकी जंघाएं हैं और उसके (पद्भ्यां) पावों के लिए (शूद्रः अजायत) शूद्र उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

वेद शास्त्रों के अनेक प्रमाण देकर हम अधिक विस्तार करना नहीं चाहते। अतः आगे बाइबल की सम्मति लिखते हैं।

(२) बाइबल के प्रमाण

[आदि सृष्टि में वेदोत्पत्ति के होनेपर]

बाइबल का तो आरंभ ही उत्पत्ति अध्याय १ के निम्न आयतों से होता है—

आदिमें परमेश्वरने आकाश और पृथिवी को सृजा ॥१॥ और पृथिवी सूनी और सुनसान पडी थी, और गहिरे जल के उपर अन्धियारा था, और परमेश्वर का आत्मा जल के ऊपर ऊपर मंडलाता + था ॥२॥ तब परमेश्वरने कहा 'उजियाला ॐ हो', सो उजियाला हो गया ॥ ३ ॥

यह प्रमाण कुछ संदिग्ध माना जा सकता है, अतः दूसरा लीजिये, जिस से उपर्युक्त आयतों के अर्थ अधिक खुलेंगे यथा—

आदि में वचन था और वचन ईश्वर के संग था और वचन ईश्वर था ॥ १ ॥ वह आदि में ईश्वर के संग था ॥२॥ सब कुछ उसके × द्वारा सृजा गया, और जो सृजा गया है, कुछ भी उस बिना नहीं सृजा गया ॥ ३ ॥ उसमें जीवन

+ वेद का वर्णन इस प्रकार है–

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रे...... तुच्छयेनाभ्वपिहितं
यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ (ऋ० १०।१२९।३)

अर्थ— (अग्रे) प्रारंभ में (तमः) मूल प्रकृति (तमसा) अन्धकार के कारण (गूढम्) छिपी हुई अवस्था को प्राप्त (आसीत्) थी। ...... (यदा) जिस समय (तुच्छयेन = शून्येन = ब्रह्मणा) ब्रह्म से वह (आभू) सब ओर अस्तित्व रखनेवाली प्रकृति (अपि हितं आसीत्) भी ढकी हुई थी, उस समय ब्रह्मके (महिना तपसः) बुद्धि, ज्ञान वा वेद की उष्णता से (तत एकम्) वह एक [सूर्यम्] (अजायत) उत्पन्न हुवा ॥ ऋ० १०।१२९।३ पिछली बात यजुर्वेद १३।५१ तथा ऋग्वेद १।६७।३ से भी प्रकाशित होती है। देखिए, बाइबल तथा वेद की समान वर्णन शैली !

ॐ हमारे विचार में यह 'उजियाला' वेद का है, क्योंकि सूर्य तथा चंद्र की उत्पत्ति आगे चलकर १४ से १६ तक की आयतों में बताई है ! वेद में भी ऐसा क्रम मिलता है, यथा—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत (ऋ. १०।१९०।१)

अर्थ— (ऋतं) त्रिकालाबाधित नियम वा वेद तथा (सत्यं) कारणरूप प्रकृति परमात्मा के प्रदीप्त तप से उत्पन्न हुए ॥ १ ॥ इसके आगे चलकर- "सूर्याचन्द्रमसौ०" वाले मंत्र ३ में सूर्य और चन्द्र की उत्पत्ति कही है। देखिए। वेद का आश्रय लेने से बाइबल का अर्थ भी किस प्रकार समझने और खुलने लगता है !!!

× अर्थात् वेद से सृष्टि उत्पत्ति हुई ! यहभी वैदिक सिद्धान्त ही है, देखो अथर्ववेद १०।२।२०-२५ तथा केनोपनिषद् जहां 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'वेद' है। छान्दोग्य उपनिषद प्रपाठक ३ खण्ड १ से ४ तक में चारों वेदों के नाम ले लेकर कहा गया है कि उन वेदोंके मन्थन करने से यश, तेज, इन्द्रिय, बल, खाद्य अन्न, और पेय रस उत्पन्न हुए। ऋ. १०।८५।१ में है सत्येनोत्तभिता भूमिः अर्थात् सत्य वा वेद से भूमि उत्पन्न हुई। इत्यादि।

था और वह जीवन मनुष्योंका उजियाला था ✱ ॥ ४ ॥ और वह उजियाला अंधकारमें चमकता है, और अंधकारने उसको ग्रहण न किया ॥ ५ ॥ योहन रचित सुसमाचार अध्याय १ ॥

यही बात इब्रियों ११।३ में लिखी है।

पाठको ! देखिए किस प्रकार बाइबल भी वेदको सृष्टि उत्पत्ति के समय स्वयं परमात्मा से उत्पन्न हुआ मानता है ! आङ्ग्ल भाषा के WORD का अर्थ वचन वाणी वा शब्द है। वैदिक साहित्य में शब्दको अनादि और प्रमाण माना गया है। शब्द का अनादित्व तो ग्रामोफोन तथा रेडिओ द्वारा वैज्ञानिक लोग भी सिद्ध कर चुके हैं ! पहली दो आयतों की तुलना गीता से भी कीजिए यथा- ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूं ॥ ९।१० ॥ मैं सबके हृदयों में रहता हूं। मेरे कारण ही स्मरण और ज्ञान, तथा विस्मरण और अज्ञान मनुष्यों को होता है। वेदोंद्वारा जानने योग्य पदार्थ मैं ही हूं। और मैं ही वेदज्ञानको अपने अंदर समेट लेनेवाला और वेदका जाननेवाला भी हूं ॥१५।१५॥

पाठको ! देखिये, वेद तथा बाइबल के सिद्धान्त कितने मिलते जुलते हैं !

प्रश्न १- आप वेदको वेद तथा बाइबलके प्रमाणोंसे सृष्टिके आदि में उत्पन्न सिद्ध कर रहे हैं। परन्तु यह सर्व मान्य सिद्धान्त है कि जिस की उत्पत्ति होती है वह विनाश भी पाता है ! वैदिकधर्मी तो वेद को अपौरुषेय, अनश्वर, तथा शाश्वत ईश्वरीय ज्ञान समझते हैं, फिर उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? वेद तो परमात्मा का स्वभाविक गुण माना गया है अतः वेद परमात्मा के समान ही सदा शाश्वत, सनातन है, उस की कभी न उत्पत्ति होती है, और न उस का विनाश !

उत्तर १- आप का कथन सर्वथा ठीक है। वेद तथा परमात्मा का गुण-गुणी संबन्ध होने से वे पृथक किये जा नहीं सकते और न ही उन में से किसी एक की उत्पत्ति और विनाश दूसरे को छोडकर हो भी सकता है ! वैदिक परिभाषा में उत्पत्ति का अर्थ केवल प्रकटीकरण ही है। इस अर्थ में सृष्टि उत्पत्ति के साथ केवल वेद का ही नहीं अपितु स्वयं परमात्मा का भी प्रकटीकरण होता है, अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति के पश्चात् ही परमात्मा का भी प्रत्यक्ष + होता है-प्रलय में नहीं ! ! अतः वेद अनादि हैं, परन्तु सृष्टि उत्पत्ति के समय वे प्रकट [Reveal] होने के कारण ही आदि वा मौलिक (Original) भी कहे जाते हैं ! ! !

प्रश्न २- यह ठीक है वैदिक साहित्य में परमात्मा के सदृश ही वेद को भी अनादि (Eternal) अनश्वर, प्राचीन, सनातन, शाश्वत आदि कहा गया है। परन्तु क्या बाइबल तथा कुर्आन भी इसी प्रकार परमात्मा तथा वेद का अंग-अंगी अथवा गुण-गुणी संबन्ध समझते हैं ? क्या इन पुस्तकों में इस सृष्टि के आदि ज्ञान (वेद) को मानने की आज्ञाएं ईसाइयों तथा मुसलमानों के लिये दी गई हैं !

उत्तर २- बाइबल तथा कुर्आन दोनों अपने अनुयायियों को सृष्टि के आदिमें दिये गये वेद को माननेका उपदेश करते हैं ! ! दोनों मुक्त कंठ से कहते हैं कि वे कोई नया पंथ नहीं चलाते, अपितु, उसी वैदिक धर्म का प्रचार करनेवाले हैं ! ! ! प्रथम हम बाइबल के ही प्रमाण लिखते हैं-देखिए !

(३) बाइबल वेदोंका ही प्रचारक है !

१ हे भ्राताओ ! मैं तुम्हें कोई नयी आज्ञा नहीं लिखता परंतु एक प्राचीन आज्ञा ही [लिखता हूं], जो [सृष्टि के] आरंभ से ही तुम्हारे पास थी। पुरानी आज्ञा [The old Testament = पुराना करार] वही वचन है, जो आप

✱ अर्थात् वेदमें जीवन भरा हुआ था, जो कि मनुष्योंका उजियाला= प्रकाश= पथ प्रदर्शक था। " था " इसलिए कहा कि बाइबल के समय वेद लुप्त सा हो गया था और नये मत मतान्तर खडे हो चुके थे।

उत्पत्ति १।३ में ' उजियाले ' का अर्थ हमने ' वेद किया ' था। इन योहन की आयतों से हमारे अर्थ की पुष्टि होती है। इनका आंग्ल भाष्य देखिए।

In the beginning was the Word and the Word was with God and the Word was God ॥ 1 ॥ The same was in the beginning with God ॥ 2 ॥

+ त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि ॥ (तै. उ. १।१।१)

सृष्टिके आरंभ से सुनते आ रहे हो। १ योहन २।७

पाठको ! सृष्टिके आरंभ से मनुष्यों के पास वेद ही तो चला आता है ! **बाइबल के पुराने करारको वेद ही बताना क्या इस बातको सिद्ध नहीं करता कि बाइबल वेद सम्मत होने ही में अपनी प्रतिष्ठा समझ रहा है ?**

२ परंतु हम परमात्माके ज्ञानको एक रहस्यद्वारा कहते हैं। वह गुप्त ज्ञान भी [बताते हैं] जो कि परमात्माने (before the world) सृष्टि उत्पत्तिसे [भी] पूर्व (ordained unto our glory) हमारे यश और वैभव के लिए स्थिर किया। १ कारिन्थियों २।७

पाठको ! यह दूसरी बार यहां वेद को सृष्टि उत्पत्ति के भी पूर्व का उत्पन्न हुआ, माना जा रहा है ! पहली बार हम योहन रचित सुसमाचार अध्याय १ के वाक्य ३ में बता चुके हैं कि वचन वा वेद से ही सृष्टि उत्पत्ति हुई।

३ यहोवा [परमात्मा] का सत्य सदा टिका रहता है। भजन ११७।२; वेद ही तो परमात्मा का शाश्वत सत्य है !

४. क्योंकि यहोवा भला है, उसकी करुणा शाश्वत है, और उसका सत्य = सचाई समस्त पीढियों तक बनी रहती है। भजन १००।५; समस्त पीढियां = प्रलय से पूर्व के अन्तिम मनुष्य की उत्पत्तितक, यहोवा वा परमेश्वर का वेदज्ञान स्थिर रहनेवाला है ! यही नहीं ! अपितु—

५. यह अधिक सहज है कि आकाश तथा पृथिवी (Pass) गुजर जायें– इस बात से कि [ईश्वरीय] व्यवस्था [the Law = वेद] का एक शून्य [Tittle = बिन्दु भी fail] छुट जाए, चूक जाए वा कम हो जाए॥ लूक १६।१७

आहा ! वेदकी शाश्वतिकता पर बाइबलका कितना असीम विश्वास है ! अचल आकाश चलायमान हो जाए, चल पृथिवी अपने मार्ग को छोड दे, परन्तु अनादि ज्ञान वेद का एक शून्य भी बदल नहीं सकता !!! जो मुसलमान अल्लाह के ज्ञान में घटती बढती होना मानते हैं, जो ऐसा मानते हैं कि अल्लाह कुर्आन् की आयतों को मनसूख वा रद्द करके उनकी जगह दूसरी आयतें उतारा करता है, वे बाइबल के इस वचन से बोध लें ! आर्यों के इस सिद्धान्त का कि वेद सनातन हैं, बाइबल भी खुले दिल से समर्थन करता है, यह देख कर कौन है, जो कह सके कि बाइबल तथा वेद एक दूसरे के विरोधी हैं ? बाइबल तो वेद को अपना पिता वा पूर्वज मान रहा है, और उस का अनुगामी होने में ही अपनी धन्यता समझता है !

ह० ईसा जन्म के यहूदी थे। जब यहूदी धर्ममें बिगाड उत्पन्न हुआ तो आपने ईसाई धर्म को खडा किया। यह ऐसा ही है जैसा प्राचीन वैदिक धर्म के बिगडने से महात्मा गौतम बुद्ध का बौद्धधर्म खडा करना, वा ऋषि दयानन्द का आर्य समाज की स्थापना करना ! जो लोग समझते हैं कि ईसाई मत यहूदियों के धर्म का विरोधी है, वे उपर्युक्त वचन को जरा ध्यान से पढें। ईसाई धर्म यहूदियों के कुरीतियों का भले ही विरोधी हो, परन्तु सत्य-अनादि ज्ञान का तो वह समर्थक ही था ! उपरी वचनसे मिलता जुलता महात्मा ईसा का एक और वचन भी देखिए–

६. मत समझो कि मैं व्यवस्था (Law) अथवा भविष्यद्वक्ताओं (Prophets = पैगम्बरों) [के कथन का] लोप करने आया हूं। मैं नाश करने नहीं आया अपितु-उनके [कार्य को] पूरा करने (to fulfil) आया हूं। १७। क्योंकि मैं तुमसे सत्य कहता हूं कि जब तक आकाश तथा पृथिवीका लय (pass) नहीं होता, तबतक व्यवस्था से एक मात्रा अथवा एक बिंदू [भी] बिना पूरा हुए न टलेगा ॥ १८ ॥ ॥ मति अ० ५ ॥

अनादि ज्ञान अथवा वेद में ह० ईसा का कितना अगाध विश्वास है ! आप स्पष्ट कह रहे हैं कि मैं पूर्व के ऋषि, मुनियों के ही कार्य को पूरा करने आया हूं- कोई नया पंथ वा मत खडा करने नहीं आया !! आप का विश्वास है कि जो अनादि ज्ञान सृष्टिके आदि में मनुष्य को मिला है, उसी के अनुसार सृष्टि के प्रलय तक ईश्वरीय व्यवस्था चलती रहेगी, और कि उस में कांट-छांट, फेर-बदल कदापि न होगा !!! पाठको ! ह० ईसा वैदिक धर्मका ही तो प्रचार कर रहे हैं !! और हम लोग व्यर्थ ही झगड रहे हैं।

प्रश्न ३. बाइबल के वचन विस्पष्ट हैं और हृदयग्राही हैं। जिस प्रकार सृष्टि के आरंभ में सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि की एकबारही की गई व्यवस्था सृष्टि के प्रलयतक बिना फेर बदल के चलती रहेगी, उसी प्रकार

सृष्टि के आदि में दिया हुआ ज्ञान भी बिना कांट-छाट वा फेर बदल के सृष्टि के अन्त तक मनुष्यमात्र का पथ प्रदर्शक बना रहेगा, यह सर्वथा युक्ति युक्त ही है। परंतु इसके विपरीत हम यह भी तो संसार में देख रहे हैं, कि सृष्टि में सहस्रों मतमतान्तर एक दूसरेसे भिन्न मन्तव्योंवाले उत्पन्न हो चुके हैं, और हो भी रहे हैं! यदि अनादि सत्यका वा सृष्टि के प्रारंभ में दिये जानेके कारण जिसे आदि ज्ञान भी कहते हैं, उसका अखण्ड अस्तित्व अब भी है, तो उसके विरुद्ध इन असत्य मत मतान्तरों को अपना अस्तित्व स्थिर करने की सफलता क्योंकर हुई? यह बात समझाइये।

उत्तर- ३ (१) पहले तो जिन मत मतान्तरों को हम एक दूसरे के विरोधी समझते हैं, उनमें भी सत्य ज्ञान का अंश रहता ही है। फिर सिद्धान्त में समानता होते हुए भी केवल व्यवहारिक विरोध के कारण भी प्रायः ये मत एक दूसरे से विभिन्न प्रतीत होने लगते हैं! हिंदुओं में अनेक ऐसे मत हैं!!!

(२) संसारमें सत्यासत्य दोनोंका ही अस्तित्व है- भेद केवल इतना कि असत्य की प्रबलता हो भी जाए तो क्षणिक होती है, जिसके कारण वह सत्यको कुछ समय के लिए दबा भी देता है! परंतु अंत में **सत्यमेव जयते नानृतम्**

(३) सर्वांगपूर्ण तो सृष्टि के आदि में दिया हुआ धर्म ही होता है! शेष सब उसी के किसी न किसी अंग वा अंश से अपना अस्तित्व स्थिर किये हुए रहते हैं!! सर्वथा नया ज्ञान व नया धर्म उत्पन्न करना तो ऐसा है, जैसा एक नया परमात्मा बनाना!!! आर्यों वा हिंदुओं का ही नहीं अपितु पाश्चात्य ब्रह्मज्ञानियोंका भी ऐसा ही मत है देखिए!

७ स्व० प्रो० मोक्षमूलरका मत

"सृष्टिके प्रारंभ के पश्चात् ऐसा कोई धर्म उत्पन्न नहीं हुआ है, जो सर्वथा नया हो।" ×

८ स्वर्गीय माता बलवत्स्की का मत

"एक से अधिक महान विद्वानों का कथन है कि आर्य सेमेटिक अथवा तूरानी जातियों में से कोई एक भी ऐसा धर्म का संस्थापक उत्पन्न नहीं हुआ, जिसने किसी नये धर्मका आविष्कार किया हो, अथवा कोई नया सत्य ढूंढ निकाला हो। धर्म के ये सारे संस्थापक [केवल सनातन धर्म के] पहुंचाने वाले [पैगम्बर; दूत] ही हैं, मौलिक शिक्षक नहीं" ※

९ संत आगस्ताइन का मत

सन्त आगस्ताईन + एक ईसाई धर्म के महान् प्रचारक

× "There has been no entirely new religion since the beginning of the world." Max Muller in 'Chips from a German workshop' vol. I Preface Page X.

※ "More than one great scholar has stated that there never was a religious founder, whether Aryan, Semetic or Turanian who had INVENTED a new religion or revealed a new truth. These Founders are all TRANSMITTERS not original teachers".

Madame H. P. Blavatsky in 'Secret Doctrine' vol. I, Introduction P. XXXVI

+ "St. Augustine was a missionary monk who was sent to Britain by Gregory the Great in 597...... He became the first Archbishop of Canterbury. He died in 604." Pears Cyclopaedia, Prominent People.

He says-"What is now called the christian religion, has existed among the ancients and was not absent from the beginning of the human race, until Christ came in the flesh, from which time the true religion, which existed already, began to be called christianity."

Quoted in "The Fountain Head of Religion"
Chapter II, by Ganga Prasad M. A. M. R. A. S.

साधु जो कँटर्बरीके देवल के प्रथम लाट पादरी बनाये गये थे और उन्हें महाराज ग्रेगरीने ई० सन ५९७ में ब्रिटन में प्रचारार्थ भेजा था, और जो सन ६०४ ई० में स्वर्गवास हुए, उन का कथन है—

' जिसे अब ईसाई धर्म कहते हैं, सोई प्राचीन पुरुषों में विद्यमान था, और मानव जाति के प्रारंभ से कभी लोप न होने पाया। महात्मा ईसा के शरीर धारण करने के पश्चात्, वही सत्य धर्म जो पूर्वसे ही चला आता था, ईसाई धर्म के नाम से पुकारा जाने लगा । '

पं० गङ्गा प्रसाद M. A. M. R. A. S कृत
' फाउन्टेन हेड् आव. रिलिजन ' से ॥

पाठको ! यह है बाइबल तथा उस के अनुयायियों वा प्रचारकों का मत ! सभी मुक्त कंठ से वेद की ओर ही घोषणा कर रहे हैं ! सन्त अगस्तीनने तो बाईवल तथा वेद को अभिन्न ही बता दिया ! ! केवल नाम ही बदला है- वे कहते हैं ! और जब ऐसी बात है, तो क्या यह हमारा प्रस्ताव उचित नहीं, कि बाइबल का भाष्य अब की बार तो अवश्य ही किसी वेद के निर्पक्ष विद्वान को करना चाहिए ? अद्वितीय भाष्य होगा, इस में क्या सन्देह ? सहस्रों वर्षों के दबे हुए सत्य सिद्धान्त अपनी मातृ ज्योति के प्रताप से चमक उठेंगे, और संसार विस्मित रह जायगा ! !

(४) बाईबलके अनुसार वैदिक ज्ञान की परंपरा प्रणाली

पाठक वृन्द ! विभाग (२) में हमने बाइबलके प्रमाणों से यह बात सिद्ध की कि ज्ञान का प्रथम प्रकाश अथवा वेद का आविर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ ।

विभाग (३) में हमने बाइबल के प्रमाणों तथा पाश्चात्य ब्रह्मज्ञानियों के कथन से यह बात सिद्ध की है कि संसार में नया ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ करता, अतः बाईबल भी उसी सनातन वैदिक सिद्धान्तों का ही आजतक प्रचार [अपनि बुद्धिके अनुसार] करता आया है, और आगे भी करता रहेगा । इतने विवेचन के पश्चात् अब हम यह दिखाना चाहते हैं, कि बाइबल के कथनानुसार सृष्टि के आदि से आरंभ करके इस सनातन वैदिक धर्म का प्रचार किन किन महात्माओं ने किया । विस्मरण न हो कि यह बाइबलोक्त वैदिक धर्म का प्रचार, आरमीनिया, सीरिया, मेसोपोटेमिया, मिश्र वा ईजिप्त, फिलस्तीन वा पेलेस्टाइन, अर्बस्थान, लिबिया, इताली वा इटली, ग्रीस वा यूनान आदि देशों में हुआ था- भारतवर्ष में नहीं ! विस्तार न करते हुए हम केवल बाइबलोक्त इन के नाम ही बतायेंगे-

१ आदम [सृष्टि का आदिम पुरुष], २ शेत, ३ एनोश, ४ केनान ५ महललेल, ६ येरेद, ७ हनोक, ८ मतुशेलह, ९ लेमेक, १० नूह [मनु] यह ह० आदम की वंशावली बाइबल उत्पत्ती अध्याय ५ के अनुसार है । आगे अध्याय ६ से ९ तक मनु के जलप्रलय का वर्णन देकर अध्याय १० में नूह वा मनु की वंशावली इस प्रकार बताई गई हैं-

नूह [मनु] । मनु के तीन पुत्र शेम हाम येपेत । येपेत के पुत्र गोमेर, मागोग, मादै, यावान, तूबल, मेशेक, तथा तीरास । गोमेर के पुत्र अशकनज, रीपत और तोगर्मा । यावान के वंश में एलीशा, तर्शीश और कित्ती तथा दोदानी लोग । हाम के पुत्र कूश, मिस्र, पूत, तथा कनान । कूश के पुत्र सबा, हवीला, सबता, रामा, तथा सबतका । रामा के पुत्र शबा तथा ददान हुए । कूश के वंश में निम्रोद भी हुआ । मिस्र के वंश में लूदी, अनामी, लहाबी, नप्तूही, पत्रुसी, कस्लूही, और कप्तोरी हुए । कसलूहियों में से तो पलिश्ती लोग निकले । किनान के वंश में उसका जेठा सीदोन, तब, हित्त, तथा यबूसी एमोरी, गिर्गाशी, हिव्वी, अर्की, सीनी, अर्वदी, समारी, और हमाती लोग हुए।

फिर शेम [संस्कृत क्षेम ?×] जो सब एबेर * वंशियों का मूल पुरुष हुआ, और येपेत का जेठा भाई था, उसके

× इसी मनु के पुत्र क्षेम से सेमेटिक (Semetic) जातियों अर्थात् यहूदियों, ईसाईयों तथा मुसलमानों की उत्पत्ति मानी गई है ! अतः ये सब उनकी ही धर्म पुस्तकों बाइबल कुर्आन आदि के अनुसार आर्य जाति के ही अंग सिद्ध होते हैं- अनार्य नहीं !!! यही वंशावली कुर्आन को भी मान्य है !

* बाइबल के कंकार्डन्स में E-ber अथवा He-ber शब्द का इब्रानी भाषाका अर्थ "a shoot" अर्थात उप-जाति, पोट-जाति, Sub-caste, आदि किया है । परंतु आर्य शब्दही बिगड कर अनेक रूप धारण कर चुका, है यथा-

भी पुत्र उत्पन्न हुए ॥१०।२१॥ शेम के पुत्र एलाम, असहुर, अर्पक्षद, लूर, तथा अराम हुए ॥२२॥ और आराम के पुत्र ऊस, हूल, गेतेर और मश हुए ॥२३॥ और अर्पक्षद्ने शेलह को और शेलहने एबर को जन्माया ॥२४॥ एबर के दो पुत्र हुए एक पेलेग और दूसरा योक्तान ॥२५॥ और योक्तानने अल्मोदाद, शेलेप हसर्मावेत, येरह, यदोराम, ऊजाल, दिक्ला, ओबाल, अबीमाएल, शबा, ओपीर, हवीला, और योबाव को जन्माया ॥१०।२६-२९॥ शेम के पुत्र येही हुए, और ये भिन्नभिन्न कुलों, भाषाओं, देशों और जातियों के अनुसार अलग अलग हो गये ॥३१॥ नूह [मनु] के पुत्रों के कुल ये ही हैं, और उन की जातियों के अनुसार उनकी वंशावलियां ये ही हैं। और जलप्रलयके पीछे पृथिवी भर की जातियां इन्हीं से होकर बंट गईं ॥ उत्पत्ति अ०१०।३२

प्रिय पाठको ! ३१ ३२ आयतों से यह बात प्रमाणित हो रही है, कि इस समय की पृथिवी की समस्त जातियां मनु वा नूह की संतान होने के कारण न केवल आर्य हैं, परंतु मूलतः वैदिक धर्मी भी हैं !

२. हमने मनु की वंशावली के उपर्युक्त नाम उन्हीं वर्ण-योजनाओं (Spellings) में लिखे हैं जैसे कि वे हिंन्दी भाषा के बाइबल × में लिखे गये हैं। परंतु इस पर भी संस्कृतज्ञ पुरुषों को इन नामों में अनेक नाम संस्कृत भाषाके बिगाडी ही प्रतीत होंगे !!! आंग्ल भाषाके बाइबल में लिखे हुए नामों का उच्चारण कुछ बदला हुआ है, परंतु उनका झुकाव भी संस्कृतकी ओर ही है ! विस्तार भय से हमने यह नहीं दिखाया कि ये नाम संस्कृत भाषा के किन नामों के बिगाड अथवा पुनर्लिपि हैं।

३. बाईबल तथा कुर्आन में आदिपुरुष आदम से नूह वा मनु तक केवल १० पीढियां ही दिखाई हैं !!! क्यों? इसलिये कि वे सृष्टि की उत्पत्ति आजसे केवल सात सहस्र वर्ष पूर्व ही मानते हैं !! आर्यों के लेखे अनुसार यह समय १,९७,२९,४९०४४ - १२,०५,३३,०४४ = १,८५,२४,१६००० वर्ष हैं !!!+

४. इतिहास के नीति-निपुण लेखकों ने आर्यों तथा सेमेटिक जातियों को एक दूसरी से विभिन्न वंश, धर्म तथा संस्कृति रखनेवाली बता कर जो फूट संसार की मनुष्य जाति में डलवाई है वह सर्वथा निन्दनीय है, और बाइबल के अर्थ का अनर्थ है। भारत में आये दिन के मुस्लिम- हिंदू झगडे, तथा सिखों का फूटकर हिंदुओंसे पृथक होना इन्हीं के कारण है !

५. नूह वा मनु की उपर्युक्त वंशावली उत्पत्ति १०।३२ में समाप्त हुई आगे ११ वें अध्याय की पहली आयत में कहा है किः—

"सारी पृथिवीपर एक ही भाषा (इब्रानी शब्द 'लिप'= संस्कृत'लिपि') और एक ही बोली थी॥ उत्पत्ति ११।१॥"

अब यह स्वयं-सिद्ध ही है कि वह एक लिपि देवनागरी वर्णों की थी, और वहएक बोली 'संस्कृत' ही थी ! इसी लिपि और बोलीमें वेदका प्रकटीकरण हुआ था ! और इसी वैदिक धर्मका प्रचार उपर्युक्त नूहकी वंशावली करती आई।

६. बाइबल से इतनी बातें सिद्ध करने के पश्चात् फिर एक वार हम अपनी मनोकामना प्रकट करना उचित समझते हैं, कि बाइबल का एक भाष्यकार तो अवश्य ही कोई वेद का निर्पक्ष विद्वान ही होना चाहिए– वह विद्वान जो उत्पत्ति ११।१के अनुसार आदि सृष्टि की ईश्वर-प्रदत्त लिपि तथा बोली आज भी जानता हो !

---

१. ईरान (Persia) २. एरिन = Erin = आर्यन्द=Ireeland; ३. Irwin = आर्यविन; ४. E–ber = He-ber-Hebrew एबेर, इब्रानी भाषा वा जाति इत्यादि। अतः E–ber वा He–ber = एबेर वा हीबेर मूल में एक आर्य जाति की शाखा (Shoot-branch) ही समझी जाती थी, ऐसा दीखता है। ५–६. इसी प्रकार आरमीनिया (Armenia) तथा सिरिया (Syria) भी आर्य शब्द से ही बने हैं।

× यह बाइबल ब्रिटिश एंड फारेन बायबल सोसायटी (नार्थ इण्डिया आग्जिलिअरी) द्वारा सन १९१९ में मिशन प्रेस अलाहाबाद में छपा है।

+ अर्थात् सातवें वैवस्वत मनु की उत्पत्ति, उस समय का जलप्रलय, तथा प्रलय के पूर्व के मनुस्मृति ग्रंथ का संपादन आज से लगभग १२,०५,३३,०४४ वर्ष पूर्व बीत चुका है !! हमारा विचार है कि वेद के पश्चात प्राचीनता में दूसरा दर्जा मनुस्मृति का है।

कर्मकी हिंसा

(लेखक— पं० वसिष्ठजी)

स्तेय ।

काम, क्रोधादि रोगोंके वशीभूत होकर दूसरेके परिश्रम से उपलब्ध हुई, दूसरेके द्वारा उपार्जित, उसकी अधिकृत वस्तु को बल, छल अथवा छिपाकर हस्तगत करनेका नाम स्तेय (चोरी) है। इन बल, छलसे वा परोक्ष हरणसे दोनों पक्षों के मन में क्षोभ, चंचलता, व्यथा होती है । दोनों क्रोध, भय चिंता व शोक से आवृत होते हैं । अतः यह 'स्तेय' मन, शरीर आत्माको व्यथा देनेवाली हिंसा ही है।

हिंसा

काम क्रोधादिके वशीभूत होकर वैर वा स्वार्थवश किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट देना, मारना अथवा हत्या करना उसको दुःख देना है और यही प्रत्यक्ष हनन टुकडे करनेवाली हिंसा है । यहां मुख्य रूप से हमारा तात्पर्य इसी हिंसा से है । अर्थात् क्या यह कर्म हिंसा श्रेय है ? इस कर्म हिंसा से क्या स्थायी लाभ हो सकता है ? इस-लिए अब हम उन उद्देश्यों पर प्रकाश डालना जरूरी समझते हैं जिनकी पूर्ति के लिए इस कर्म हिंसा को अपनाया जाता है।

आत्म रक्षा

आत्म रक्षा के लिए हिंसा कर्म को स्वीकार करने से पूर्व यह विचारना जरूरी है कि कोई हम पर आक्रमण क्यों करता है या किसी को हम से वैर क्यों हुआ क्योंकि कार्य मिटाने की अपेक्षा कारणको दूर करना श्रेष्ठ होता है। यदि आक्रमणकारी का वैर उसकी किसी भ्रांति के कारण है तो हमें उनसे मिलकर, आत्मीयतासे प्रेम पैदा करके, मृदु भाषण और धैर्य से उस की भ्रांति को दूर करना चाहिये। यदि हमारे द्वारा वह सताया गया है तो हमें निसंकोच होकर अपनी भूल को मान लेना चाहिये और यथाशक्ति उस की हानि को पूरा कर देना चाहिये । यदि हम उस हानि को पूरा कर देने में समर्थ नहीं हैं तो हमें अपनी विवशता प्रकट करते हुए उसे समझाना चाहिये कि हमें हानि पहुंचाकर अपनी क्षतिको वह पूरा नहीं कर सकता, इसलिए वह हमें क्षमा कर दे । यदि इतने पर भी हम सफल न हों और वह आक्रमण कर ही बैठे तो हमें उसके आक्रमण को स्वीकार कर लेना चाहिये किसी प्रकार का हिंसामय प्रतिरोध, प्रति आक्रमण न करना चाहिये किन्तु अन्तिम मुहूर्त तक आक्रमणकारी के क्रोध तथा वैर को प्रेम और मधुरता से दूर करने में तत्पर रहना चाहिये। हमें यह न भूल जाना चाहिये कि हम एक दुःखी, रोगी भाई की चिकित्सा कर रहे हैं और उसके रोग के दौरेकी चोट भी खा गये हैं। हमें सतर्क रहना चाहिये कि संक्रामक क्रोधादि रोग का आवेश हम पर न हो जावे । इतने पर भी हम सफल न हों तो हमें धैर्य सहित दृढ विश्वास रखना चाहिये कि ' को अत्र दोषः ' इस में कहीं न कहीं हमारे उपचार की त्रुटि है जिस के कारण हम सफल न हो सकें, अपने रोगी बन्धु के क्रोध को दूर न कर सके । लोगों के उत्तेजनापूर्ण उपालम्भों के वशीभूत होकर अपने इस अनुष्ठान को कायरता पूर्ण न समझना चाहिये और सतर्क रहना चाहिये कि हम मान अपमान के प्रलोभन रोग की झपेट में न आ जावें । आक्रमणकारी रोगी है, हमारा भाई है, आत्मीय है। रोगी भाई द्वारा की गई हमारी कोई भी क्षति अनादर नहीं है और अपने रोगी भाई के प्रति हमारी सहिष्णुता कायरता नहीं । पागल रोगी से पिटकर भी कोई चिकित्सक, डाक्टर अपने को अपमानित नहीं समझता नाहीं दुनिया उसे कायर कहती है।

जो हो, हमें सदैव याद रखना चाहिये कि आक्रमण-कारी मानसिक रोगी है और हमारा भाई है "आत्म-वत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" सब प्राणियों को जो अपने समान देखता है वह पण्डित है, यह हमें हर दशा में स्मरण रखना चाहिये।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आक्रमणकारी रोगी भाई जो कुछ कर रहा है रोगके वशीभूत कर रहा है और एक कुपथ्य कर रहा है जिससे उस का रोग बढेगा । हमें

अपने रोगी भाई को रोग मुक्त करना है, साध्य वा असाध्य रोगी नहीं बनाना है। इसलिए उसकी उन तमाम चेष्टाओं को, जो कुपथ्य हों, रोग वृद्धि करें, असफल कर देना चाहिये। चिकित्सा करते समय हमें सतर्क रहना चाहिये कि कहीं इस चिकित्सा अनुष्ठान में हम स्वयं क्रोधादि रोग की झपेट में न आ जावें। भाई की आत्मा से अपनी आत्मा अधिक प्रिय है। कहीं भाई की आत्मा को रोग मुक्त करने की धुन में हम अपनी आत्मा को रोगी, हिंसक, पतित न बनालें।

संसार की वस्तुएं नश्वर हैं और हमारा यह शरीर भी नश्वर है। संसार की समस्त वस्तुओं में, यहांतक कि इस शरीर में भी, हमारा केवल प्रयोगाधिकार है। प्रयोग समाप्त हो जाने पर समस्त वस्तुएं व हमारा शरीर रहें या नष्ट हों, इस से हमें कुछ प्रयोजन नहीं किन्तु प्रयोग समाप्त होने तक, इन समस्त प्रयोगाधिकृत वस्तुओं, शरीरों की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। अपनी शक्तिपर इनकी रक्षा करनी चाहिये। यदि इतने पर भी ये नष्ट हो जावें (नश्वर तो ये हैं ही) तो हमें ' को अत्र दोषः ' को खोजना चाहिये। कहां त्रुटि रही यह ढूंढ निकालना चाहिये ताकि हम न सही हमारे उत्तराधिकारी तो दीर्घ कालीन रक्षा कर सकें।

हमारे शुभ व हितकर प्रयत्नों पर भी यदि आक्रमणकारी का रोग (काम, क्रोधादि) बढता ही जाता है, घटता नहीं तो इसके दो कारण हैं (१) आक्रमणकारी में रोग का उग्र प्रकोप (२) हम में चिकित्सा की त्रुटि। हमारे रोगी भाई का रोग कितना ही उग्र क्यों न हो वह शान्त हो सकता है यदि उसकी उग्रताके अनुरूप ही हममें चिकित्सा की क्षमता हो। सांसारिक पदार्थों की नश्वरता से हम यही ज्ञान प्राप्त करते हैं कि संसार के समस्त पदार्थों से अधिक प्रिय और उपयोगी हमारा शरीर है। अपने शरीरसे अधिक प्रिय हमको अपनी आत्मा है। हमारी आत्मा काम क्रोधादि रोगों से मुक्त रहे, इनकी झपेट में आकर मलीन, पतित और दुःखी न हो, यह हमारा उद्देश्य है। शरीर नश्वर है। किन्तु हमें पता नहीं कि इसने कब नष्ट होना है। हमें अपने शरीर से ममता मोह न होना चाहिये केवल प्रयोगाधिकार की भावना रहे और प्रयोगाधिकारके लिए ही इसकी रक्षा हमारा कर्तव्य बना रहे। किन्तु हम इसके नाश का कारण स्वयं न बनें। हम से कोई मानसिक, शारीरिक कुपथ्य न हो जिससे यह शरीर रोगी, क्षत होकर न्युनायु हो जावे। इस जागरुकता को लेकर हमें इस शरीर रक्षण में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि निज शरीर रक्षण की धुन में तल्लीन हमारे प्रयत्नों से किसी दूसरे की क्षति तो नहीं हो रही। कोई हमारा प्राणी भाई तो हमारे इस प्रयत्नसे क्षत नहीं हो रहा है क्योंकि हमारा प्राणी भाई आत्मीय है। निज आत्मा की प्रियता के बाद अपना आत्मीय भाई हमें अपने शरीर से भी अधिक प्रिय होना चाहिये '**आत्मवत् सर्व भूतेषु**' अपनी आत्मा के समान सब प्राणियों को मानते हुए हमें वह व्यवहार नहीं करना चाहिये जो हम अपने प्रति नहीं चाहते। हम नहीं चाहते कि कोई हमारे मन आत्मा को काम क्रोधादि हिंसाओं से व्यथित करके मलीन, क्षुब्ध, पतित करे। हम नहीं चाहते कि कोई हमारे शरीर को प्रत्यक्ष वा परोक्ष क्षति पहुंचावे तब हम वह काम क्यों करें जो हम अपने प्रति नहीं चाहते ? अतः आत्म रक्षा की धुन में हमारा कोई प्रयत्न ऐसा न हो जिस से दूसरों को कष्ट हो। शारीरिक जीवन की स्वाभाविक चेष्टाओं से यदि किसी प्राणी को परोक्ष बाधा हो रही है तो वह हमारी क्षमता से बाहर है। हम अभी क्षमता की उस भूमिका को प्राप्त नहीं हुए हैं कि जहां हम उस बाधा को निर्मूल कर दें किन्तु हम हैं उस भूमिका प्राप्ति के प्रयत्न में। **हमें सदैव दूसरों के प्रति वही व्यवहार करना चाहिये जो हम अपने प्रति चाहते हैं।**

हम क्या करें ? इस का उत्तर हम स्वयं हैं। हम वही करें जो हम दूसरों से चाहते हैं। हम बुराई करके भी दूसरों से भलाई चाहते हैं, हम दुःख देकर भी दूसरों से सुख चाहते हैं, हम अनादर करके भी दूसरों से आदर चाहते हैं, हम प्राणियों का वध करके भी वध होना नहीं चाहते। हम दूसरों का मांस खाकर भी दूसरों को अपना मांस खिलाना नहीं चाहते। हम चोरी करके दूसरों को छल, बलसे लूटकर भी अपना कुछ भी चुराया जाना या लुटना नहीं चाहते। अतः हम जो नहीं चाहते उससे बाज रहें और जो दूसरों से चाहते हैं वही दूसरों के प्रति करें।

यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि काम क्रोधादि के कारण ही हमें दुःख होते हैं। जब तक ये विकार रहेंगे दुःख होंगे। काम लोभादि की अधिकृत प्रिय वस्तु एक न एक दिन नष्ट होगी और हमें दुःख होगा। हम इस नाश को सदा के लिए टाल तो नहीं सकते किन्तु नश्वर पदार्थों की आयु में न्यूनाधिक्य कर सकते हैं। हम प्रिय वस्तु की अमरता और अप्रिय का नाश चाहते हैं। इसी राग द्वेष के वशीभूत होकर हम रक्षा और क्षय को अपनाते हैं। संसार की समस्त वस्तुओं का नाश हमारे और दूसरे प्राणी जगत् के विकार, कुपथ्य तथा क्षयद्वारा, अनन्त, अदृश्यशक्ति के विप्लवद्वारा तथा आयु समाप्ति पर हतवीर्य होकर होता है। प्रयोगाधिकार के निमित्त प्रयोग अवधि तक कायम रखने के लिए ममता युक्त रहकर जो रक्षा की जाती है उस रक्षामें सफल न होनेपर हमें दुःख नहीं होता और "को अत्र दोषः" के अनुसन्धान को लेकर हम पुनः रक्षा में लग जाते हैं "**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**" के ध्रुव सत्य को अनुभव करते हुए। विनाश अनिवार्य है किन्तु प्रयोगाधिकार के लिए प्रयोग अवधि तक प्रयोग निमित्त वस्तुओं का रहना जरुरी है यही उद्देश्य रक्षा का वास्तविक हेतु है। ममता मोह के वशीभूत होकर रक्षा करने में जो असफलता होती है वह दुःख का कारण हो जाती है।

नश्वर वस्तु नष्ट होगी यदि हमने आज रक्षा कर ली तो कल या परसों उसका वियोग अनिवार्य होगा और तभी ममता के कारण हमें दुःख होगा। हम हिंसित, विकृत, रोगी होकर नाश कर्ता से द्वेष, वैर करेंगे चाहे वह नाश-कर्ता प्रकृति का अटल नियम, भगवान् की व्यवस्था ही क्यों न हो। जितनी अधिक ममता होगी उतना ही उग्र वैर व क्रोध नाशकर्ता के प्रति होगा किन्तु यदि ममता नहीं है तो हम रक्षा में असफल होकर "**को अत्र दोषः**" को ढूंढेंगे क्योंकि हमारा अधिकार कर्तव्य कर्म में है स्थक की ममता में नहीं। त्रुटि कर्तव्य पालन में हुई है इसलिए "**को अत्र दोषः**" को ढूंढना है। और यदि प्रयोग अवधि समाप्त हो चुकी है, अपने वा दूसरों के उपयोग के लिए वस्तु की आवश्यकता नहीं रही तो हमारी बला से वस्तु रहे या नष्ट हो। प्यास बुझ जाने पर तथा कोई प्यासा पास न होने पर हम स्वयं शुद्ध, स्वादु, शीतल जल को फेंक देते हैं। हमारे ज्ञान और शक्ति परिमित हैं। हम नहीं जानते कि किसी वस्तु की आयु कितनी है, कौन कब उसे नष्ट करने का उपक्रम कर रहा है तथा नाशकर्ता की शक्ति कितनी है। हमें इतना तो पता है ही नहीं कि हमारी अपनी शक्ति ठीक ठीक कितनी है। इसीलिए प्रत्येक असफलता के बाद हमें "**को अत्र दोषः**" को ढूंढने की जरूरत है।

हममेंसे अनेकोंका विश्वास है हि कि हमें जो हानि पहुंचाई जा रही है वह हमारे जन्म जन्मान्तर के उन कुकर्मों, हिंसाओं का बदला है जो हमने जन्मान्तर में दूसरों के प्रति की हैं। हमने जन्मान्तर में दूसरों के साथ उपकार किये हैं तो उनके बदले में उपकार लेने को आंचल फैलाए बैठे हैं। हमने जन्मान्तर में दूसरों को हानि पहुंचाई है, अपकार किया है अतः हमें दूसरोंके द्वारा हानिको, अपकार को स्वीकार करना चाहिये, यह सत्य होने पर भी पूर्णतः निश्चित नहीं। यह अनिवार्य नहीं कि हमें जो हानि हो रही है या पहुंचाई जा रही है वह निश्चय से जन्मान्तर के हमारे ही कुकर्म का प्रतिकार है। कौन जाने कि यह आक्रमणकारी की भ्रान्तिवश नयी चेष्टा है या पुरानी प्रसक्त प्रतिहिंसा। हो सकता है आनेवाली आपत्ति हमारे जन्मान्तर के कुकर्मों का, हिंसाओं का प्रतिकार हो इस अनिश्चित आधार पर सन्तोष करके प्रयत्न से विरत हो जाना उत्साह हीनता, निराशा, हताशा, आत्मघात है। इस अनिश्चित विश्वास के आधार पर जब हम आक्रमणकारी वा किसी दूसरे प्रकार के हानि कर्ता के अपकार को अपनी जन्मान्तर की भूल का प्रतिकार मानकर हाथ पर हाथ रखे प्रयत्न में प्रवृत्त न होंगे तो हम किसी के उपकार के प्रति कृतज्ञता भी प्रकट न करेंगे क्योंकि हमारा यह विश्वास कि हमारे द्वारा किया गया जन्मान्तर का उपकार ही प्रत्युपकार के रूप में हमें मिल रहा है, हमें कृतज्ञता प्रकाशनसे विमुख रख सकता है।

हम अपनी भूल से, कुपथ्य से रोगी हुए हैं अतः हमें रोग मुक्त होने की भी चेष्टा नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह भी तो हमारे ही कुपथ्य का परिणाम है किन्तु हम रोगनिवृत्ति की चेष्टा करते हैं और उस प्रयत्न से रोग मुक्त

हो जाते हैं। अतः हमें आनेवाली आपत्तियों से, जो दूसरे प्राणियों अथवा दैवी घटनाओं (विप्लव, भूकम्पादि) द्वारा आती हैं, बचने की चेष्टा करनी चाहिये। प्रयत्न द्वारा हम उनसे बच सकते हैं चाहे वे आपत्तियें जन्म जन्मान्तर के कुकर्मों (प्रारब्ध) का परिणाम हों या दूसरे प्राणियों की भ्रान्तिवश नई चेष्टाएं। जब हम, दूसरों के द्वारा मिलनेवाले उपकार को, जो हमारे प्रारब्ध के सुकर्म का फल भी हो सकता है, अस्वीकार कर सकते हैं तो हम जन्मान्तर की अपनी हिंसा के प्रतिकार को सुप्रयत्न से अन्यथा भी कर सकते हैं। यदि सफल न हो सकें तो "**को अत्र दोषः**" ही इसमें मुख्य कारण है क्योंकि हम अल्पज्ञताके कारण आपत्ति की भयंकरता तथा अपनी शक्ति न्यूनता का ठीक ठीक संतुलन नहीं कर सके और "**को अत्र दोषः**" की समस्या ज्यों की त्यों रह गई। जिसने हमें हानि पहुंचाई है हम उससे अपकार का बदला न लेकर उसे क्षमा करके उसके अपकार के प्रतिकार को अन्यथा कर सकते हैं। उसको दुःख न देकर उसके कुकर्म के परिणाम से उसे वंचित कर सकते हैं तो क्या हम क्षमा याचना करके अपने विरोधी से क्षमा पाकर आनेवाले प्रतिकार-प्रतिहिंसा-दुःख से वंचित नहीं हो सकते ? हम कहेंगे हो सकते हैं। यदि क्षमा कर सकते हैं तो क्षमा पा भी सकते हैं केवल विरोधी को मित्र बनाने की बन्धुत्व शक्ति हममें होनी चाहिये।

यद्यपि अपने विरोधी को क्षमा करने और आत्मसंतोष के लिए आनेवाली आपत्ति को अपने जन्म जन्मान्तर की हिंसा का प्रतिकार मानना, जो अधिकांश घटनाओंमें यथार्थ भी है, अत्युत्तम है किन्तु जब हम प्रतिहिंसा वश किसी को हानि पंहुचाने को, किसी को कष्ट देने को उद्यत होंगे तो यही विश्वास हमारी हिंसा भावना को उग्रतर, असाध्य भी बना देगा। काम, क्रोधादि के वशीभूत होकर जब हम किसी को हानि पंहुचावेंगे तब यही विश्वास हमारी प्रतिकार भावना को अपरिहार्य बना देगा। "**इसने मुझे जन्मान्तर में ऐसी हानि पहुंचाई थी जिसका मैं प्रतिकार कर रहा हूं।**" इस भावना से हम एक ओर अपनेको औचित्य की सीमा में मानकर प्रतिहिंसा, प्रतिकार को बुरा न समझेंगे तो दूसरी ओर हमें, बदले की भावना आ घेरेगी जिसके फल स्वरूप हमारा रोग साध्यसे याप्य हो जायगा और यही दशा हमारे विरोधी आक्रमणकारी की होगी यदि उसका भी विश्वास इस प्रारब्धवाद में दृढ रहा।

आक्रमणकारी लोभ के वशीभूत होकर धनादि की प्राप्ति के लिए हम पर आक्रमण कर रहा है, हम धन देकर, उसे स्नेह से समझा कर शान्त कर सकते हैं किन्तु यदि उसके मन में यह भावना आ गई कि इसने जन्मान्तर में मेरा धन हरण करके मुझे मारा था जिसका प्रतिकार करने के लिए मैं आक्रमण व अपहरण के लिए उद्यत हुआ हूं तो उसमें लोभ के साथ साथ द्वेष से प्रतिहिंसा भी जागृत हो जावेगी। पहले लोभ विकार था, अब लोभ और द्वेष दो हो गये। लोभ का निराकरण धन देकर हो सकता था किन्तु क्रोध वश प्रतिहिंसा का निराकरण याप्य है। इस लिये हमें ऐसे विश्वास में, चाहे वह सत्य ही क्यों न हो, तल्लीन नहीं होना चाहिये जिस से रोग के कारणों की वृद्धि हो। जब हम प्रयत्न से रोग को दूर कर सकते हैं तो रोग को अवश्यम्भावी मानकर सिर झुका लेना, प्रयत्न से विमुख हो जाना आत्मघात है। अतः हमें प्रयत्नशील रहना चाहिये अन्तिम मुहूर्ततक।

हानि से, विकार से, रोगों से बचने के लिए हानि, विकार दुःख व रोगों की सृष्टि करना प्रयत्न चिकित्सा नहीं है, विष प्रभाव से बचनेके लिए विष प्रसार उपयुक्त औषधि नहीं।

हम कह आये हैं कि काम क्रोधादि मानसिक दुःख हैं। जितने भी दुःख हैं वे इन ही मानसिक विकारों के कारण होते हैं। यदि ये मानसिक विकार न हों तो हमें किसी क्षति से दुःख नहीं हो सकता। असत्य, आत्मक्षय, स्तेय, परिग्रह हिंसा कर्म के द्वारा ही हम अपनी व दूसरों की क्षति अपहरण करते हैं। इस क्षति व अपहरण से हमें वा दूसरे प्राणियों को अपने मनस्तत्व में प्रतिष्ठित काम, क्रोध, लोभादि की मात्रा के अनुरूप ही दुःख होता है। यदि किसी वस्तु से हमें ममता नहीं है, चाहे वह वस्तु हमारी ही क्यों न हो, तो उसके नष्ट होने से हमें दुःख नहीं होता। अतः दुःख का मूल मानसिक विकार हैं वस्तुओं का नाश नहीं। किन्तु प्रिय वस्तुओं के नाश

व अपहरण से ममत्व के कारण मानसिक विकारों में कुपथ्य की वृद्धि होती है इसलिए ये पांच कर्म हिंसाएँ उन मूल कारणों के लिए कुपथ्य तथा उत्तेजक हैं। हमें दुःख मुक्त होना है अतः जो मानसिक, कायिक कर्म इन मूलकारणों को बढावें, वर्जित हैं।

हम यहां कुछ विषयांतर में आ गये थे किन्तु आत्मरक्षा की समस्यापूर्ति के लिए ऐसा करना जरूरी था। अब हम आत्मरक्षा की ओर पुनः आते हैं। आत्मरक्षा से हमारा अभिप्राय केवल निज शरीर रक्षा ही नहीं है बल्कि उन समस्त वस्तुओं से है जो हमारे उपयोगाधिकार के लिए उपयुक्त हैं और जिन की रक्षा कर के हम उन से अपना और दूसरों का कल्याण कर सकते हैं। हमारा शरीर, परिवार, देश व सम्पत्ति सब की रक्षा करना आत्मरक्षा है। यहांतक कि अपने विचारों, वाणियों की रक्षा करना भी आत्मरक्षा ही है।

हमें निम्न बातें सदैव स्मरण रखनी चाहिये—

(१) काम क्रोधादि रोग हिंसाएं हम सब में विद्यमान हैं। अतः हमारा कोई प्रयत्न ऐसा न हो जिससे ये विकार, रोग भड़क उठें, बढकर उग्र हो जावें। इन रोगोंको घटाना और घटाते घटाते निर्मूल कर देना ही रोग मुक्त होना है और यही हमारे जीवन का उद्देश्य है।

(२) जो व्यक्ति हम पर किसी प्रकार का आक्रमण कर रहा है। हमारे शरीर, परिवार, सम्पत्ति देश आदि को छीनना वा नष्ट करना चाहता है, वह मानसिक रोगी है।

(३) हमें उस रोगी की चिकित्सा करनी है।

(४) हम को ऐसा प्रयत्न करना है कि हम खुद रोग की झपेट में न आ जावें और नाही उस रोगी का रोग बढे।

(५) हम को उन वस्तुओं की रक्षा करनी है जिनको वह अपहरण करना चाहता है।

इन बातों को लक्ष्य में रखते हुए हमने अपने प्रतिद्वन्द्वी से युद्ध करना है। ऋण को धन से, विघातक को रचना से पूरा करना है। विचार ही कर्म का प्रवर्तक है। काम क्रोधादि विकारों से दूषित विकारोंने आक्रमणकारी रोगी को हिंसामय कर्म में प्रवृत्त किया है। अतः उसके दूषित, रुग्ण विचारों को ठीक कर देने से हिंसा कर्म स्वतः मर जायगा। वह काम क्रोधादिके वशीभूत होकर हम पर आक्रमण कर रहा है अतः हम को चाहिये कि हम प्रेम, स्नेहयुक्त व्यवहार से उस से मालूम करें। (क) वह क्या चाहता है? (२) उस की चाह कहां तक नैसर्गिक है? (ग) उस की चाह को हम कहां तक पूरी करदें ताकि न तो उस का ही रोग बढे और ना ही हम में विकार आ जावे? (घ) उस की चाह को पूरा करने से हमें क्या क्षति होगी?

यह जान कर हमें चिकित्सा का उपक्रम करना चाहिये।

(१) उसे हम पर रोष है, वह हम से वैर रखता है और इसी कारण से हिंसाकर्म में प्रवृत्त हुआ है तो हमें जानना चाहिये कि हमारे द्वारा उसे कब और क्या हानि पहुंची है। यदि सचमुच हमारे द्वारा हानि पहुंची है तो हमें तुरन्त अपनी भूल स्वीकार करके क्षमा याचना कर लेनी चाहिये। यथाशक्ति उस हानि को पूरा कर देना चाहिये। स्वयं निष्कपट होकर उसे विश्वास दिलाना चाहिये कि हम को कष्ट पहुंचाकर उस की नष्ट वस्तु नहीं लौटेगी। भविष्य के लिए उसे मैत्री द्वारा अभय दान देना चाहिये किन्तु यह सब सच्ची सहृदयता से हो, आत्महानि से भयातुर होकर आत्मरक्षा की ममता के लिये ही नहीं। और यदि हमने उसे हानि नहीं पहुंचाई है, उसे भ्रम हो गया है कि उस को हानि हम से हुई है या भविष्यमें होने की सम्भावना है तो हमें उस के इस मिथ्या विश्वास का निराकरण कर देना चाहिये। यदि इतनें पर भी वह हिंसा कर्म से विमुख न हो तो हमारा प्रयत्न बराबर चलता रहना चाहिये। मृदु व उग्र किसी प्रकार की हिंसा अपनाने से उस का रोग बढ जायगा और हम में भी विकार का कोप हो जायेगा जिस का परिणाम हम दोनों के लिए घातक होगा। **आक्रमणकारी रोगातुर है, दुखी है, व्यथित है, उस की दशा दयनीय है, वह हमारा भाई है** ऐसा मानते हुए हम उस से द्वेष न करके उसपर दया, प्रेम ही करेंगे।

हमें ऐसी औषधियों (प्रयोगों) को उपयोग में लाना चाहिये जिस से उस के कुविचार सुविचार हो जावें। इस शिव प्रयत्न को स्थगित करके उस की प्रतिहिंसामें अपना

बलिदान दे देना आत्महत्या है। कुपथ्य, अनुपयुक्त चिकित्सा है यदि अपना बलिदान कर देने पर भी उस का रोग बढ जावे। उद्देश्य रोगी को रोगमुक्त करना है अपने को कुरबान करना नहीं। बायें गालपर थप्पड खाकर दांया गाल पेशकर देना लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य है थप्पड मारने-वाले के कोप ज्वर को दूर करना। यदि दायां गाल थप्पड के लिए पेश करने से कोप ज्वर को स्वेद आ सकता है तो गाल पेश करने में ननूनच नहीं करनी चाहिये। भेड की तरह बधिक के आगे फिर झुका देना आत्महत्या है। हमें चाहिये कि हम बधिक को तब तक सुविचारों की ओर लाने की चेष्टा करते रहें जब तक हम में जीवन रहे।

सहिष्णुता एक अचूक औषधि है मुख्य करके क्रोध रोग के लिए। इसलिए दूसरा गाल पेश करने से आक्रमणकारी के क्रोध शमन की पूर्ण सम्भावना है और थप्पड मार लेने पर तो उस का शमन होना अनिवार्य सा ही है क्योंकि विरोधी थप्पड मारना चाहता है, उसकी चाह गालपर थप्पड मार कर पूरी हो गई। गाल को बचाने के उपक्रम द्वारा उस की चाह में बाधा डालकर उस के क्रोध को बढाने का हमने प्रयत्न भी नहीं किया बल्के गाल को खुद पेश करके उस के काम को सरल कर दिया है। थप्पड खाकर हमने दो कष्ट उठाये हैं (१) अपमान, अनादर (२) थप्पड की पीडा, अपमान, अनादर एक कल्पित भावना है तथा थप्पड की पीडा भी मानसिक रोग का प्रभाव मात्र है। (जितने जोर से विरोधीने थप्पड मारा है उतने ही जोर से यदि हम अपने गाल पर थप्पड मारें या हमारा मित्र विनोद में थप्पड मारे तो उस से हमें केवल शारीरिक पीडा होगी। क्रोधातुर विरोधी की थप्पड की पीडा व अपने वा मित्रके थप्पड की पीडा में जो मानसिक वेदनाका अन्तर है यही अहंकार का विष है जो अपमान की थोथी भावना पर अवलम्बित है। इच्छुक तो हम अपने मित्र के विनोदमय थप्पड के लिए भी नहीं हैं किन्तु उसके थप्पड को हम अपमान नहीं मानते।)

आत्मरक्षा के निमित्त प्रतिआक्रमण हिंसा को अपना कर भी हम उपर्युक्त कष्टोंसे नहीं बच सकते। हमारे हिंसा-मय प्रतिरोध से आक्रमणकारी हमें आदर प्रेम सम्मान से अलंकृत नहीं कर सकता। जिसने विनय, स्नेह, करुणा तथा शील के प्रदर्शन पर भी हमें हृदय से न लगाकर थप्पड मारा है वह घूसे का जवाब जूते से पाकर हमारी स्तुति, पूजा नहीं करेगा। यदि वह हमसे बलवान हुआ तो हमारी शारीरिक, मानसिक व्यथा, दुर्दशा शतगुणी होगी और यदि वह हमसे निर्बल हुआ तो हमारा गाल थप्पड खानेवाली भूमिका से कईगुणा व्यथित, क्षुब्ध होगा। अतः थप्पड-मारनेसे थप्पड खाना मुनाफे की चीज है।

अपने सब प्रयत्नों (चिकित्साओं) में असफल होनेपर यदि हम यह अनुभव करें कि रोग का वेग बढ रहा है। रोगी कुपथ्य करता ही जा रहा है तो हमें "**सत्याग्रह**" औषधि का उपयोग करना चाहिए।

सत्याग्रह

सत्य (वास्तविक) कर्तव्य के दृढतापूर्वक अनिवार्य पालन का नाम सत्याग्रह है। रोगीको रोगमुक्त करना ही हमारा उद्देश्य है। आत्मरक्षा तो एक गौण कर्म बन गया है और वह भी उपयोगाधिकार के लिए इस कारण कि हमें उपयोगकी जरुरत है। यदि हमने मानसिक रोगियों की उपेक्षा न की होती, उनकी बराबर चिकित्सा करते रहते तो रोग के उग्र कोपकी सम्भावना ही न होती। हमारी उपेक्षा के कारण ही रोगियों का रोग उग्रतम होकर हमपर भी हाथ साफ करने लगा है। इसीलिए हमें आत्मरक्षा की जरुरत पडी है।

रोगी कुपथ्य करके आत्मघात कर रहा है और उसके साथ साथ हमारी उपयोगी वस्तु भी नष्ट हो रही है। यदि रोगी किसी दूसरे व्यक्ति वा स्त्री आदि पर आक्रमण करता है तब भी हम उसको रोकते हैं, कुविचारोंसे उसको बचाते हैं हालाकि वह हमारी कोई हानि नहीं कर रहा है। इतना ही नहीं यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या, मद्यसेवन वा कोई ऐसा कुकर्म करता है जिसका प्रभाव केवल उस. पर ही पडता हो, तब भी हम उसे रोकते हैं यद्यपि उसका कुकर्म किसी दूसरे व्यक्तिपर किसी प्रकार भी अत्याचार नहीं है। राजव्यवस्था भी कोकीन भक्षण, हस्तमैथुनादि अनैसर्गिक व्यभिचारको अपराध ठहराती है क्योंकि ये सब कुपथ्य आत्मघातक हैं। प्रत्येक व्यक्ति बिनापूछेही अन-भिज्ञ बटोही को सचेत कर देती है कि मार्ग में कहां सिंह, चोर आदि का भय है, कहां नदीमें जल गहरा है

जहां डूबनेका खतरा है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य मात्रको कुपथ्यों, आपत्तियों से रोकना मानवता की स्वाभाविक प्रेरणा है। अतः आत्मरक्षा आदि गौण लक्ष्य हैं मुख्य लक्ष्य है आक्रमण कारी रोगीको कुपथ्य से पृथक् रखना।

कुपथ्य से पृथक् रखनेके लिए सत्याग्रह की जरुरत पडी है अतः सत्य के आग्रह पूर्ण पालन के लिए रोगी की कुपथ्य चेष्टाओं में हमें बाधक बन जाना चाहिए, मनसा, कर्मणा मधुर, विनीत, नम्र, कोमल, करुण, स्नेही रहते हुए स्नेहमयी मधुरभाषिणी माता की तरह, चाहे इस प्रयत्नमें हमारी अन्तिम क्षति (हत्या) ही क्यों न हो जावे। मनसे रोगी के लिए मित्र, शुभचिन्तक रहते हुए वाणी और कर्म से भी हमें अहिंसक, मधुर ही रहना चाहिए क्योंकि वाणी और कर्म में कटुता लाकर हम रोगी भाई की चिकित्सा नहीं कुपथ्य वृद्धि करेंगे और स्वयं भी रोग विकार की झपेटमें आ जावेंगे।

सत्याग्रह के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सत्याग्रहसे आक्रमणकारी रोगीको बाधा होगी। उसे दुःख होगा। हम मानते हैं रोगी को बाधा होगी। क्रोध उत्पन्न होगा। इस क्रोधका कुछ उत्तरदायित्व हमपर है, कुछ रोगी पर। हमपर तो इसलिए है कि हम काम, क्रोध, लोभादि विकारों से मुक्त होकर अभी उस भूमिका को प्राप्त नहीं हुए हैं जिस की विभूति से रोगी के कुविचार सुविचारोंमें बदलकर आक्रमण आदि कुपथ्यों से विमुख हो जाते, और रोगीपर इसलिए है रोगी के मन, इंद्रियें दूषित हैं और इसीलिए उसे काम क्रोधादि का दुःख हो रहा है क्योंकि दुःख का अर्थ है दूषित इंद्रिय (दुः = दूषित = ख = इंद्रिय) किन्तु यदि उसके कुपथ्यों को सत्याग्रह से न रोका जाता तो उस के रोग का कोप अति उग्र हो जाता।

सत्याग्रहद्वारा रोगी को कुपथ्यों से वंचित करके ही हमारी चिकित्सा समाप्त नहीं हो जाती। भयीरोगी के कुविचारों को सुविचारों में बदलना है। शराबी को शराब से वंचित करके शराब की ममता भी नष्ट करनी है नहीं तो वह फिर उस विष में जा डूबेगा।

अनेकों का विश्वास है कि क्रूर का स्वभाव नम्र नहीं हो सकता किन्तु यह विश्वास मिथ्या है। क्रूरता, स्वभाव नहीं, निमित्त है। जिन हिंसक मांसाहारी प्राणियों को स्वभावतः क्रूर समझा जाता है वे सदैव और सब पर क्रूर नहीं होते। कारण उपस्थित हो जानेपर क्रूर हो जाते हैं। अपनी सन्तानपर वे क्रूर नहीं होते क्योंकि उन से उन्हें आत्मीयता होती है। लेकिन हम भी तो उनके प्रति, जिन से हमें आत्मीयता नहीं होती, हिंसक प्राणियों की तरह क्रूर हो जाते हैं। प्रायः क्षुधातुर होकर हिंसक प्राणी क्रोधोन्मत्त होते हैं किन्तु ऐसा विकार तो हम, निरामिषभोजी अहिंसावादियोंमें भी देखते हैं जब वे क्षुधातुर होकर क्रोधोन्मत्त हो जाते हैं। देखा गया है कि पिञ्जर आदि में शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। सिंह और मृग, सांप और मेंढक तथा श्येन और शुक एक दूसरे को छूते हुए पास पास बैठे देखे गये हैं। इससे प्रमाणित है कि क्रूरता किसीकी स्वाभाविक भूमिका नहीं है।

किन्तु किसी मानसिक रोगी को कुपथ्य से रोकनेके लिए हम अपने जीवनको सत्याग्रह द्वारा खतरे में क्यों डालें ?

जिनको जन्मान्तर के कर्मफल में विश्वास है उनके लिए यह निस्सार है क्योंकि यदि आक्रमणकारी को उन्होंने इस जन्म वा जन्मान्तर में नहीं मारा वा सताया है तो वह लाख कुपित होनेपर भी उनका बाल बांका नहीं कर सकता और यदि उन्होंने उसे जन्मान्तर में मारा वा सताया है तो उनकी शुभ सहायता पाकर भी वह बदला लेगा। अतः उनके विश्वास के अनुसार सत्याग्रह खतरे का उत्पादक नहीं है। खतरा या अखतरा तो उनके जन्मान्तर का अनिवार्य संचित फल है जो किसी उनके ही जन्म जन्मान्तर के वैर का भुगतान है जिसे वे सहिष्णुता से या क्षमा याचना से दूर कर सकते हैं। यह इस जीवनका नहीं अनेक जीवनों का लेन देन है। यदि उन्होंने उपकार और मैत्री दी है तो उपकार, सहायता और मैत्री उन्हें मिल रही है। यदि उन्होंने दूसरों के साथ वैर, अपकार बर्ता है तो उन्हें वैर और अपकार ही मिलेगा। उनके विश्वास के अनुसार जो खतरा आवेगा वह सत्याग्रह के कारण से नहीं बल्के उनके संचित पाप के भुगतान के लिए आवेगा और इस भुगतान से मुँह छिपाकर उन्हें बेईमान न बनना चाहिये। यह उनकी बुरी नीयत है कि वे उपकार का अपना पुरस्कार तो लेना चाहते हैं किन्तु

दूसरों का उन पर जो अभीष्ट है उसे भुगतान करना नहीं चाहते। इन प्रारब्धवादियों के सिद्धान्तानुसार तो आत्म-रक्षा की जरूरत ही नहीं क्योंकि जो आपत्ति हो रही है वह तो जन्म जन्मान्तर के कुकर्मों का अमिट परिणाम है। इन्होंने सुख दिया था तो सुख लेने को आंचल फैलाए बैठे हैं। दुःख दिया था, दुःख लेने से बचना चाहते हैं। जो भाग कर बचना चाहते हैं उन्हें ये कायर कहते हैं और जो हेकडी, हठ, उद्दण्डता करके हिंसा द्वारा उस भुगतान को रोक देते हैं उन्हें वीर कहते हैं।

रही दूसरे विश्वासवालों की बात सो यदि वे सत्याग्रह के स्थानमें प्रति आक्रमण को अपनावेंगे तो क्या वे खतरे से बच जावेंगे? जिस तरह प्रति आक्रमण में अपना जीवन खतरे में होते हुए भी अनिवार्य कोई मृत्यु को प्राप्त नहीं होता उसी तरह सत्याग्रह में खतरा होते हुए भी मृत्यु अनिवार्य नहीं है।

आत्मबलि देकर आत्मरक्षा का कुछ अर्थ नहीं होता जो ऐसा कहते हैं उनके विश्वास की भूल है। आत्मरक्षा का अर्थ केवल शरीरको क्षति वा मृत्यु से बचा लेना ही नहीं है बल्के अन्तस्तल की उन स्वाधीन वृत्तियों, भावना-ओं को उत्साहित, हर्षित व पवित्र रखना है जो आत्मा को ऋजु पन्थमें ले जा रही हैं तथा रोग, कुपथ्य से मुक्त भूमिका में हैं। याद रहे आत्मा की पवित्रता शरीर से सहस्र गुणी कीमती है। इसके अतिरिक्त हिंसा मार्ग अपना कर भी तो आत्मवध का खतरा है तब आत्मरक्षा के लिए हिंसा मार्ग (जिसमें आत्मवध का खतरा है) से कोई लाभ नहीं। यदि कहा जाय कि हिंसा मार्ग में आत्मवध अनिवार्य नहीं है तो अहिंसा मार्ग में भी आत्मबलि अनिवार्य नहीं है।

कुछ व्यक्ति हमसे धन छीनने आये हैं। हमें देखना चाहिये कि वे धन क्यों चाहते हैं? यदि वे क्षुधातुर हैं, निर्वाह के लिए चिंतित हैं और हमारे पास प्रचुर सम्पत्ति है तो हमें मित्रभाव से, प्रेम व्यवहार से मधुर भाषणसे जिस से उनके परवित्तहरणविचार का शमन हो ऐसे सदुपदेश के साथ धन दे देना चाहिये। धन देते समय आत्मभय न हो बल्के अपहरण कर्ता के प्रति सहृदयता, सद्भावना। प्रति आक्रमण के उत्कट कुपथ्य द्वारा आक्रमणकारी तथा अपने आप को अत्यंत क्षुब्ध करने की अपेक्षा आत्मभय, प्राणममता आदि के वशीभूत होकर धन देकर अपनी व धन की रक्षा कर लेना कम बुरा है यद्यपि सर्वथा निर्दोष नहीं, किन्तु यदि आक्रमणकारी कुकर्म के लिए धन चाहता है तो सत्याग्रहद्वारा अपने जीवनकी बाजी तक लगा देना ही यथार्थ है क्योंकि उसके पास पहुंच कर धन कुपथ्य को, रोग को एक से अनेकों में उत्तेजित करेगा। चाहे हमें उस सम्पत्ति को नष्ट कर देना पडे किंतु उस कुपथ्य सेवी के हाथों में न जाने देना चाहिये। हमारा, उसका तथा मानव समाज का कल्याण इसीमें है।

हमारा कोई रोगी भाई हम पर आक्रमण करके हमारे शरीर द्वारा अपना कोई कार्य कराना चाहता है। पहला प्रयत्न हमारी ओर से उस के कुविचारों को सुविचारों में बदलने के लिए सहृदयता पूर्ण मधुर भाषण द्वारा सदुपदेश केरूप में होना चाहिये। इसमें सफलता न मिलने पर हमें बन्धुत्वके नाते उस के कार्य में सहयोगी बन जाना चाहिये यदि वह कार्य उसके, हमारे वा दूसरोंके लिए कुपथ्य दुःख-दाई नहीं है किन्तु यह सहयोग हमारी स्वाधीन मनोवृत्ति से हो। हम हितभाव से सहयोगी बनें, पराधीन बेबसी से नहीं क्योंकि पराधीन भाव से सहयोगी बनकर उसके कल्याणकारी काम से भी हमारा मन पतित ही होगा। अतः हम अपने मन को बेबसी की ओर पतित न होने दें। फिर भी अपने को पराधीन, बेबस मानकर उस के कल्याणकारी कार्य में सहयोगी बन जाना आक्रमणकारी भाई के विरुद्ध हिंसामय प्रति आक्रमण से कम बुरा है यद्यपि निर्दोष नहीं।

इसी के अनुरूप व्यवस्था अपने बलि आदि होने पर है। व्यक्तित्व से आगे हमारा परिवार, समाज देश और यह पृथिवी है। व्यक्तित्व का हित अहित प्रायः व्यक्ति द्वारा होता है। उसी प्रकार समूह का हित अहित समूह द्वारा होता है। परिवार, समाज, देश, तथा पृथिवी की रक्षा परिवार, समाज, देश तथा अन्तर्राष्ट्रोंद्वारा सिद्ध हो सकती है। परिवार, समाज, देश और पृथिवी पर जो आक्रमण कर रहे हैं वे रोगी हैं। उन की चिकित्सा करना परिवार, समाज, देश और राष्ट्रों का कर्तव्य है। प्रति आक्रमण से रोगियों, आक्रमणकारियों का मानसिक रोग बढेगा और उसकी आँचसे आक्रांत भी रोगग्रस्त हो जायेंगे।

गोरक्षण

हमारे पुण्यों का फल प्राप्त हुआ ।
गोवध का निषेध सार्वत्रिक होनेमें आधी सफलता मिलगयी !!

श्री गोवर्धन संस्थाके आश्रयदाता, गौमाताके निष्ठावान उपासक और दूकानोंमें सन्दूक रखकर संस्थाके प्रति लगातार द्रव्य का प्रवाह भेजनेवाले गोभक्त सहायकों को आनन्ददायक शुभ समाचार !

उदार–धी गोभक्त सज्जनो !

लगभग चालीस वर्षोंतक श्री चौण्डेमहाराजजीने जो तपस्या जारी रखी थी उसे सफलता मिल गयी। श्री गोवर्धनसंस्थाने चालीस सालतक राष्ट्रव्यापी प्रचार प्रचलित रखा था वह निष्फल नहीं हुआ। आप जैसे आश्रयदाताओं एवं कार्यकर्ताओं ने ४० संवत्सरोंतक अविरतरूपसे जो कष्ट उठाये थे तथा द्रव्य निधि की पूर्ति की थी उसके सुमधुर फल आज चखने को मिलेंगें इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यह आपकी संस्था गला फाडफाडकर कहती थी कि गोधन का 'अनिर्बंध संहार' चल रहा है, उस कथन को मानकर अब **सरकारनेही गोवध का प्रतिबन्ध किया है।** इस कार्य के लिए संस्थाने गोवध के प्रति तीव्र निषेध व्यक्त करनेवाले एक लाख हस्ताक्षरों से युक्त प्रार्थनापत्रक सरकारके निकट भेज दिया था। सरकार की ओर से नियुक्त कर्नल ऑलिव्हर साहब के, जो कि पशुविद्यामें निष्णात हैं, कृषिविभाग के डाइरेक्टर महोदय मि० ब्रुइन्के तथा माननीय खेर, बंबई सरकारके भूतपूर्व प्रधान मंत्री के समीप प्रतिनिधि–मंडल भेजे गये थे। और धारा सभामें प्रश्नोत्तर करवाये गये। म्युनिसिपल संस्थाओं और प्रांतिक सरकारों से पत्र व्यवहार किया गया।

गतवर्ष, भारत के वायसराय महोदय लार्ड लिनलिथगो साहबने ऐसी सूचना की थी कि दुग्धदान करनेवाली तथा गर्भवती गौओं एवं १० वर्ष से कम अवस्थावाले बैलों का बध न किया जाय। लेकिन खेद की बात है, वह सूचना कार्यरूप में परिणत नहीं हुई। तब से इस गोवर्धनसंस्थाने माननीय वायसराय महोदय से लगातार लिखा पढी की और जब उन्होंने प्रांतीय सरकारों की ओर अंगुलिनिर्देश किया तो बंबई सरकार के दरवाजे खटखटाना शुरु किया। फलतः उस से ज्ञात हुआ कि 'संस्था का पत्र-व्यवहार रेवेन्यू (मालगुजार) विभाग के पास भेजा जा चुका है।' अन्त में दिनांक २० डिसेंबर सन् १९४३ ई० को **बंबई सरकारने एक अधिक गजट प्रकाशित** किया। जिस में भारत संरक्षण कानून के अनुसार संख्या ९२२७२४ की आज्ञा व्यक्त हुई है जैसे,

An order issued by the Government of Bombay under the Defence of India Rules

BANS THE SLAUGHTER OF COWS

In milk and cows in calf and draft bullocks physically fit and below the age of ten. The purchase and transport of these animals for slaughter are also prohibited,

दुधारु एवं गर्भवती गौओं और दस साल से कम आयुवाले बैलों का वध करनेवाला, और वैसे कार्य के लिए बिक्री तथा यातायत करनेवाला सभी तीन सालतक कैद और जुर्माना देनेके दण्ड भोगनेके अधिकारी होंगे।

NO INDISCRIMINATE CATTLE SLAUGHTER, BOMBAY ORDER

The Government of Bombay have been seriously perturbed by the threat to the cattle wealth of the country caused by the indiscriminate slaughter of cattle, including milch cattle and young plough cattle to satisfy the very much increased demand for meat, says a press note issued by the public Relations Officer. (Rationing)

The Government of India had issued instructions over a year ago that so far as the supply of meat to the defence forces is concerned, Cows in milk and pregnant cows should not be accepted for slaughter, and instructions were issued that in all future contracts for the supply of beef, a clause should be inserted to the effect that working cattle used for transportation would not be accepted and should not be tendered for inspection.

The U. P. Government recently issued an order under the defence of India Rules prohibiting INTER-ALIA the slaughter of milking cattle, young bullocks, and the Govt. of Bombay have followed suit by proclaiming the order......

The intention is to safeguard future supplies of milk and meat for the civilian market by prohibiting the slaughter of useful milking cattle and also to ensure that agricultural operations should not in future be jeopardised by the indiscriminate slaughter which has recently been taking place of young and useful animals whose owners were tempted to sell by the prevailing high prices.

THE TIMES OF INDIA 24-12-43

बंबई सरकारकी आज्ञा से अब से आगे अविचारपूर्वक होनेवाला गोवध पूर्णतया निषिद्ध ।

सार्वजनिक बातोंके बारेमें कार्य करनेवाले अफसरने एक समाचार प्रकाशित किया है, जिसमें बताया है कि मांसकी अत्यधिक बढी हुई माँग को पूर्ण करने के लिए दुधारु गायों तथा कृषिकर्मोपयुक्त जवान बैलों का भी अन्तर्भाव करके जो इन दिनों अत्यन्त ही अविचारपूर्वक गोवंश का वध एवं संहार हो रहा है उस से देश के गोधन की दशा भयानक हो रही है अतः बंबई सरकार यथेष्टरूप से प्रक्षुब्ध हो उठी है ।

एक वर्ष पहले भारत सरकारने सूचनाएँ प्रकाशित की थीं कि जहाँतक संरक्षणात्मक सेनाके लिए मांस की पूर्ति करने का मामला है, दूध देनेवाली और गर्भवती गायों का हत्या के लिए स्वीकार बिलकुल नहीं करना चाहिए । ऐसी भी चेतावनी दी गयी थी कि सभी भविष्यकालीन गोमांसपूर्त्यर्थ लिये जानेवाले ठेकोंमें एक यह वाक्य रखना चाहिए कि यातायात के लिए कामों में लगाये हुए कर्मण्य बैलों का स्वीकार न किया जाय और निरीक्षणार्थ भी न दिये जायँ।

संयुक्त प्रांतीय सरकारने भी भारतरक्षाविधानके अनुसार हाल में ही ऐसी आज्ञा प्रसृत कर दी है कि जवान बैलों एवं दुग्धदात्री गायों का वध भी अन्य प्रतिषिद्ध बातोंमें अन्तर्भूत माना जाय और बंबई सरकारने भी तदनुसार हुकुम इस तरह जारी कर रखा है ।

कहनेका अभिप्राय यही है कि उपयुक्त तथा दुग्ध देनेवाली गौओंका वध निषिद्ध करके नागरिक जनताके भविष्यकालीन दुग्ध तथा मांस की पूर्तियाँ सुरक्षित रहें । और भी, आजकल बाजारोंमें महँगे दाम प्रचलित होनेसे आकर्षित होकर गोवंशके मालिक अपना गोधन बेचने लगते हैं अतः हाल में उपयुक्त एवं कार्यक्षम गायों का वध बिना किसी सोच विचार के धडल्ले से हो रहा है जिस के परिणामस्वरूप कृषिकर्म का भविष्य अन्धकारमय दीखने लगा है, इसलिए इसके विरुद्ध उपाययोजना तुरन्त काममें लाई जाय।

टाईम्स ऑफ इन्डिया २४-१२-४३

TRUE COPY

The Bombay Government gazette extra-ordinary published by Authority.

ORDER

Defence of India rules No. 1257|24

In exercise of the powers conferred by rule 81 of the defence of India rules, The Government of Bombay is pleased to order that draft bullocks physically fit and below the age of ten years, Cows in milk and cow sin calf, shall not be slaugh-

tered or acquired for or transported for purposes of slaughter.

(2) If any person contravenes the provisions of this order, any court trying the offence may order, that any animal in respect of which the court is satisfied that the offence has been committed shall be forfeited to His Majesty.

by order of the Governor of Bombay.
(sd.) M. J. Desai I. C. S. Secretary

सौभाग्यशाली गोपाल सज्जनो एवं महानुभावो !

तनिक ठहर जाइए और अत्यानन्दवश चुपचाप न रहिए क्योंकि महाशयजी ! ' दिल्ली अभी बहुत दूर है । ' सरकारी हुक्म से समूची गो माताएँ ' स्वतंत्रता ' का उपभोग लेने लगी हों, सो बात नहीं । दस वर्ष से कम आयुवाली गौएँ सहमीसहमी आगे भी कसाई की छुरी से काटी जायेंगी । और वे नितान्त अल्पवयस्का गौएँ ! उन की जान बचानेके लिए उपर्युक्त कानून पर्याप्त नहीं है ।

यह तो गोरक्षाकी केवल नींव मात्र है, विशाल मन्दिर के ऊपर विराजमान कलश सुतरां नहीं ।

यह तो सिर्फ कलियों का खिलना है, परिपक्व फल नहीं प्राप्त हुआ ।

यूं कहो कि यह निरी अरुणोदयकी झलक है, सूर्योदयके होनेमें अभी पर्याप्त देरी है ।

इसे तो केवल औपनिवेशिक स्वराज्य कहिए क्योंकि यह पूर्ण स्वतंत्रता तनिक भी नहीं ।

समूची हिंदु जातिके लिए मानबिन्दु की नाईं जो हरएक गौ है वह इस गोपालकृष्णकी भूमिमें तो सुरक्षित अवश्यमेव रह सके ऐसी सुव्यवस्था का सुप्रबन्ध होना चाहिए । तभी न आगे चलकर समाज का आरोग्य एवं कृषिकर्म का सौभाग्य अक्षुण्ण रह सकेगा ।

तो भी, ' जो मिल सकता है उस का स्वीकार करके अधिक मिल जाए इस हेतु से प्रभावित हो प्रयत्नशील बनो । ' कई कानून तो सिर्फ कागजपर ही लिखे पडे रहते हैं और रत्ती भर भी अमल में नहीं लाये जाते हैं । अगर कहीं गोहत्यानिषेधक कानून की भी यही हालत रही तो हम जैसे ओछे और दुर्भागी भला और कहाँ मिलेंगे ? इसीलिए–

निष्ठायुक्त और लगनसे कार्य करनेवालो !

बडी भारी कोशिश एवं अथक परिश्रमसे जो यह कानून मिल गया है वह निष्फल न हो और भलीभाँति कार्यरूपमें परिणत हो जाय ऐसा प्रयत्न करते रहो । इस दृष्टि से हर ग्राम, नगर, तहसील में बडी सतर्कता से निरीक्षण करते रहो । हर बाजार की देखभाल करनेमें प्रतिपल निरत रहो । अगर एक प्रचारक यह कार्य लगन से करता रहे तो वह आसानीसे हरमास ५०० गोमाताओं की प्राणरक्षा कर सकेगा ।

बिहार, युक्तप्रान्त आदि प्रांतिक सरकारोंने भी इसी भाँति सीमित ढंग से गोहत्यापर रोक लगारखी है ।

इस सरकारी हुकुम से उन सभी लोगों को जो इस आन्दोलन से संपर्क रखते हैं, आनन्द होना स्वाभाविक है । हाँ बेशक इस आज्ञा से लक्षावधि गौओं एवं वृषभों के प्राण कसाइयों के छुरिकाघात से सुरक्षित होंगे; लेकिन तुम जागरूकता न छोडो क्योंकि आप की सावधानतासे ही गोधन की प्राणरक्षा होगी ।

इस पुण्य के सहभागी वे गोभक्त महानुभाव हैं जो संस्थाकी सहाय पेटिका रखकर हर महीने नियमितरूप से द्रव्य की सहायता करते हैं और दान के रूप में संस्था के आश्रयदाता होनेवाले सज्जन भी हैं ।

भविष्यकालीन पर्वतप्राय कार्य, भावुक गोसेवको !

श्री गोवर्धन संस्था अपने प्रचारकों को महाराष्ट्रके गोधन के बाजारों में भेजकर विशेषरूप से इस बातपर ध्यान देगी कि कसाई लोग कानून का भंग करके गौओं तथा बैलों को खरीदना बंद करेंगे । बान्द्रा, कुर्ला तथा अन्य कई जगहों के कत्तलखानोंपर कडी निगाह रखकर, कोई भी कानून तोडकर अगर गोहत्या कर लें तो तुरन्त ही उसे कठिन सजा देने की व्यवस्था संस्था की ओरसे की जायगी । महाराष्ट्रके १० जिलोंमें ही कार्य करनेपर हर जिले में ५ प्रचारक इस ढंग से इस कार्य के लिए ५० प्रचारकों को भेजना संस्था को आवश्यक है । और हरएक प्रचारक को

प्रतिमास कम से कम ५० रु० वेतन दिया जाय तो हर महीने २५०० रुपयों की आवश्यकता होगी। एक धनाढ्य सज्जन यदि ६०० रुपयों का दान दे तो एक प्रचारक उस सहायता से एक वर्ष में ६००० गायों की प्राणरक्षा करेगा।

गौ--प्रेमी धनाढ्य सज्जनो !

सरकारी कानूनकी सहायता मिल चुकी है। अब गोरक्षा भलीभाँति हो जाय तथा गायों की गर्दनपर छुरी फेरना बन्द हो इसलिए धनिक लोग संस्थापर द्रव्यधाराकी अविरत वर्षा करने लगें ऐसी प्रार्थना है। प्रचार के लिए प्रतिमास हमें न्यूनातिन्यून २५०० रु० चाहिए। गोशालाओंका खर्च चलाकर संस्था इस समय हर महिने ५०० रुपयों का व्यय उठा सकती है। शेष २०००) दो सहस्र की मासिक सहायता देनेके लिए परमात्मा दानशूर सज्जनों को प्रेरित करे और शीघ्रही ऐसा सुदिन उदित हो कि इस पवित्र भारतभूमें गोरुधिर की एक बूँद भी गिरने न पाय, यही उस जगन्नियामक सर्वान्तर्यामी परमपिता परमात्मा से नम्र प्रार्थना है।

मंत्री- श्रीगोवर्धन संस्था, सदाशिव पेठ पूना

गायका वध न कर

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥
(ऋ. ८।१०१।१५)

(चिकितुषे जनाय) चिकित्सक बुद्धि से युक्त ज्ञानी लोगोंसे मैं (प्र नु वोचं) प्रकर्ष से अभी कह चुका हूँ कि यह गौ (रुद्राणां माता) रुद्रों की माता है, (वसूनां दुहिता) वसुनामक देवतागण की कन्यावत् है, (आदित्यानां स्वसा) आदित्यों बहन ही है तथा (अमृतस्य नाभिः) अमृत का खजानाही है, अतः (अन्-आगां) निष्पाप, पापरहित (अ-दितिं गां मा वधिष्ट) अवध्य गौका वध न कर।

गो-ज्ञान-कोश के 'वैदिक विभाग'

की

संक्षिप्त विषय-सूची

गो-ज्ञान-कोश के वैदिक विभाग में जो अनेक विषय आये हैं, उन की अति संक्षिप्त सूचियें नीचे दी गयी हैं ।

१. गौके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करो ।

२. गोमाता का विश्वरूप, सब विश्वही गोमाता रूप है ।

३. गौ अवध्य है । गौका वध न होने पाय । गौका वध करनेवाला हथियार सदा दूर रहे ।

४. गोवध करनेवाले को वध दण्ड । गौवें बलिदान के स्थानपर नहीं जातीं । गाय का अपमान करना भी दण्डनीय है ।

५. गौ की अग्रपूजा करो । गौ वन्दनीय है । गौ की बडे आदरसे बुलाओ । गौ का सम्मान करने से सुख बढता है ।

६. गौ की सेवा करो । गौ को सुख दो । गौवें आनन्द से रहें । गौ को संतुष्ट करने के लिये किसान गाता है । पशुओं के लिये हितकारी बनो ।

७. गौमें क्षय रोग । गाय यक्ष्म रहित हो । गौ की चिकित्सा, गाय के रोग को दूर करो । गाय को रोगरहित अन्न दो । गौएँ औषधियाँ खाती हैं । गौओं को सूर्य प्रकाश में रखो ।

८. गौओं की वृद्धि करो । गाय को दुधारू बनाओ । गाय अपने दूधसे हौज भर देवे । गौ का निर्माता सोम ।

९. गोचर भूमि । गौ घास की ओर जाती है । गौ के लिये जौका खेत । गौ घास में रमती है । गौओं को पर्वत पर ले जाना ।

१०. उत्तम, बहुत और सुखसे दूध देनेवाली गौवें । दिन में तीनवार दोहन । उत्तरोत्तर गाय का दूध बढता जाय ।

११. गौओं का पोषण करनेवाला दीर्घजीवी होता है ।

१२. गौ संसार को तृप्त करती है । गौ अपने घृत से सब को पुष्ट करती है ।

१३. दिव्य स्तनों का दोहन । शीघ्र न सूखनेवाली गौ । हर-साल बछडा जननेवाली गौ । सहज दुही जानेवाली गौ ।

१४. अमृतरस देनेवाली गौ । गाय का दूध दुहनेवाली कन्या ' दुहिता ' । तीनों लोकों में गाय के दूध की प्रतिष्ठा ।

१५. सौ लोगों को अन्न देनेवाली गौ- ' शतौदना ' । कामधेनु ।

१६. गोदुग्ध का सेवन । गोदुग्ध से भरे घर । गाय का ताजा दूध- ' अमृत ' । दोहन के समय गाय को बुलाना ।

१७. गोरस का अन्न । गोदुग्ध से बहुतसी खाने की चीजें बनती हैं ।

१८. गौ में पोषण करने का सामर्थ्य है । कृश और दुर्बल को गौ पुष्ट करती है । गोदुग्ध से बल का संवर्धन होता है । वीर्य बढानेवाला गाय का दूध है ।

१९. गाय के दूध से तृप्ति, तेजस्विता, सुंदरता और निरोगिता प्राप्त होती है ।

२०. गाय का दूध औषधियों का ही रस है । इस से हृद्रोग और कामिला रोग दूर होते हैं ।

२१. घर में दही और घी के घडे भरे रहें । अन्न दूध और घी घर में भरपूर रहे ।

२२. गाय का घी बडा पवित्र है । उस का पान करो । घृत युक्त अन्न खाओ । घी और शहद के घडे घरमें रहें ।

२३. गौएँ मानो बडा धन है । गाय संपत्ति का घर है । गोधन से सुख की प्राप्ति । गोधन से यश मिलता और कल्याण होता है ।

२४. गौएँ और बैल हमारे पास रहें । गौओं से परिपूर्णता होती है । निर्बुद्ध मानव ही गौओं को दूर करता है ।

२५. गाय का दान करो। 'गाय का दान करूंगा' ऐसा ही बोलो। देव, प्रभु, इन्द्र, अग्नि सभी गौओं का दान करते हैं। गौओं का दान करना धनिकों के लिये आनन्ददायी है। बहुत दूध देनेवाली गौओं का दान कर।

२६. गोदान करनेसे किसी को रोकना नहीं। गोदान करनेवालों की सुरक्षा होती है। २०; १००;१२०; २००; १०००; ४०००; १०,०००; ६०,००० गायों का दान। गौओं के झुण्डों का दान। राजा को गौओंका भाग कर रूप में देना।

२७. ब्राह्मण की गाय पर किसी दूसरे का अधिकार नहीं है।

२८. गाय का चोर दण्डनीय है। गोदुग्ध चुरानेवाला भी दण्डनीय है।

२९. शत्रु से गायों को छुडाना। पणि और बल से गायों की मुकता करना। शत्रु के कीले से, गुफासे, बन्धनसे कारावास से गायों को छुडाना।

३०. गायों के निमित्त युद्ध। शत्रु को जीतकर गायों को वापस लाना। वीरोंकी माता गौ है, बहन भी गौ है।

३१. गौओं की खोज करना और उनको प्राप्त करना। गौओंको न बेच डालो।

३२. गौओं के कानोंपर चिन्ह करो।

३३. उत्तम गोशाला। गोशाला में गौवें रहें। काली, लाल और अनेक रंगवाली गौवें। गौओं के बाडे। गोकुल। गौओं के झुण्ड।

३४. गायों का वंश शुद्ध रखो।

३५. गौवें उषः काल का स्वागत करती हैं। सूर्योदय में गौवें चरने के लिये बाहर जाती हैं।

३६. गौओं की रक्षा सर्वस्वकी रक्षा है। गोरक्षण करना स्वराज्य प्राप्ति के लिये सहायक है। मेघ, पर्वत, अग्नि, इन्द्र तथा सब वीर गौ की रक्षा करते हैं।

३७. गोपालन पराक्रम की बुनियाद है। गौओं को निर्भय रखो। गौ के पालन के लिये जागता रह।

३८. गौओं से भरा घर। गौवें कूदती हुई घर के पास आ जायँ।

३९. गौओं से दुर्गती दूर होगी। गौओं से सब प्रकार की उन्नति होती है।

४०. गौके घृत का हवन। घी से भीगे हविर्द्रव्यों का हवन, घृत का लगातार तीन वर्षतक हवन। घृत के हवन से रोग बीजों का नाश।

४१. बैलों की प्रशंसा। बैल अन्न उत्पन्न करता है। बैल पर सब के पोषण का भार है। बैल हल चलाता है। दूध घी और शहद से नाली का सिंचन करना।

४२. गौ और बछडा। गौ प्रेम का प्रतीक है।

४३. अग्नि और इन्द्र वृषभ हैं।

४४. सोमरस दूध दही शहद अथवा सत्तू के साथ पीना।

४५. गौएँ यज्ञ के लिये हैं। गौओं से यज्ञ की पूर्तता। दूध और घीसे यज्ञ की परिपूर्णता।

४६. वशा गौ। गाय को कष्ट देनेवालेको दुःख की प्राप्ति।

४७. भूतों के निर्माता ईश्वरने गाय की उत्पत्ति की है। गाय मानव को कम समझती है।

४८. गोमाता वीर-माता है।

संक्षेप से ये विषय वैदिक विभाग में आये हैं।

इस तरह अनेकानेक विषय वेद मंत्रों के आधार पर इस वैदिक विभाग में लिखे मिलेंगे। इनमें से 'गौओं का दान' और 'गौ अवध्य है' इन दो विषयों के संक्षिप्त लेख पाठक यहाँ देख सकते हैं–

गौओंका दान

गौओं का दान करने के विषय में वेद में सर्वत्र अनेक-वार कहा है। दक्षिणा में गोदान करने के विषय में निम्न लिखित मन्त्र देखने योग्य है-

दक्षिणाऽश्वं दक्षिणा गां ददाति
दक्षिणा चन्द्रं उत यद् हिरण्यम्।
दक्षिणाऽन्नं वनुते यो न आत्मा
दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥ (ऋ. १०।१०७।७)

(दक्षिणा अश्वं) दक्षिणा घोडे को तथा (दक्षिणा गां ददाति) दक्षिणा गाय को देती है। दक्षिणा (हिरण्यं उत यत् चन्द्रं) सुवर्ण और चाँदी को देती है। (यः नः आत्मा) जो हमारा आत्मा है, वह (विजानन्) दक्षिणा का तत्व जानता हुआ (दक्षिणा अन्नं वनुते) दक्षिणा में अन्न प्राप्त करता है और (दक्षिणां वर्म कृणुते) दक्षिणा को अपना संरक्षक कवच बनाता है।

इस मन्त्र में कहा है कि दक्षिणा में घोडा, गाय, सुवर्ण, चाँदी, और अन्न दिया जाता है और दक्षिणा में इन पदार्थों को देने से वह दान कचव बनकर दाता की सुरक्षा करता है। इस विषय में और देखिये-

इति वा इति मे मनो गां अश्वं सनुयामिति।
कुवित् सोमस्यापामिति॥ (ऋ. १०।११९।१)

(इति वै इति) ऐसा ही (मे मनः) मेरे मन का विचार होता है कि, (गां अश्वं सनुयां इति) मैं गाय का दान करूं और घोडेका भी दान करूं क्योंकि मैंने बहुतवार सोमरस का पान किया है।

सोमरस का दान देनेवाले को गाय का दान इसलिये करना चाहिये कि वह उस के दूध को सोमरसमें मिला सके। सोमरस दूध मिलाकर पिया जाता है। घोडा भी इसलिये दिया जाता है कि उस पर बैठकर वह सोम के स्थान के प्रति अति शीघ्र पहुंच जावे। अब अनेक गौओं का दान करने के विषय में निम्न लिखित अनेक मन्त्र देखने योग्य हैं-

२० गौओं का दान

द्वयां अग्ने रथिनो विंशतिं गाः वधूमतो मघवा मह्यं सम्राट्। अभ्यावर्ती चायमानो ददाति दूणाशेयं दक्षिणा पार्थवानाम्॥ (ऋ. ६।२७।८)

(मघवा सम्राट्) धनवान् सम्राट् अभ्यावर्ती चायमान ने (मह्यं) मुझे (रथिनः वधूमतः) रथ और स्त्रियों के साथ (विंशतिं गाः) बीस गौओं की (द्वयां) जोडियां (ददाति) प्रदान कीं (पार्थवानां इयं दक्षिणा) राजाओं के द्वारा दी हुई यह दक्षिणा (दु-णाशा) अविनाशी है।

इस मन्त्र में बीस गौओं की जोडियां और रथ में बैठी स्त्रियां दान में प्राप्त होने का स्पष्ट उल्लेख है। उक्त राजाने भरद्वाज को यह दान दिया था। अब सौ गौओं के दान का मन्त्र देखिये—

१०० गौओं का दान

यो मे धेनूनां शतं वैददश्विर्यथा ददत्।
तरन्त इव मंहना। (ऋ. ५।६१।१०)

(यः वैददश्विः) जो वैददश्वि राजा (यथा) जिस तरह (मे धेनूनां शतं ददत्) मुझे सौ गौवें देता रहा, वैसे ही तरन्त राजाने भी मुझे (मंहना) महनीय धन दिया।

इस मन्त्र में सौ गौओं के दान का उल्लेख है। तथा-

सप्त मे सप्त शाकिनः एकमेका शता ददुः।
(ऋ. ५।५२।१७)

(सप्त सप्त) उनचास वीरोंमें से (शाकिनः) शक्तिवाले (एकं एका) प्रत्येक वीरने (मे शता ददुः) मुझे सौ गौवें दीं।

मन्त्र में उनचास वीरोंमेंसे प्रत्येक वीरने १०० गौओंका दान किया ऐसा कहा है, अर्थात् यहां कुल गौवें ४९०० दान में देने का उल्लेख है।

१२० गौओं का दान

यो मे शता च विंशतिं च गोनां हरी च युक्ता सुधुरा ददाति। वैश्वानर सुष्टुतो वावृधानोऽग्ने यच्छ त्र्यरुणस्य शर्म॥ (ऋ. ५।२७।२)

हे वैश्वानर अग्ने! (सुष्टुतः वावृधानः) उत्तम स्तुति की जाने पर बढनेवाला तू (मे) मुझे (गोनां शता च विंशतिः च) १२० गौवें तथा (युक्ता सुधुरा हरी च) उत्तम जोते हुए सुशिक्षित दो घोडे (यः ददाति) जो देता

है, उस (ञ्यरुणाय शर्म यच्छ) त्र्यरुण के लिये सुख देदो।

यहां १२० गौओं के दान का उल्लेख है। साथ साथ रथ के साथ घोडे भी दिये हैं। कइयों के मत से यहांका 'गो' शब्द बैल का वाचक है। उस अर्थ को लेने पर १२० बैलों का दान होगा।

२०० गौओंका दान

द्वे नप्तुर्देववतः शते गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः। अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन्॥ (ऋ. ७।१८।२२)

(देववतः नप्तुः पैजवनस्य) देववान् नरेश के पौत्र पिजवन के पुत्र (सुदासः) सुदास राजासे (गोः द्वे शते) दो सौ गौवों और (वधूमन्ता द्वा रथा) स्त्रियों से युक्त दो रथ (दानं अर्हन्) दान प्राप्त करनेवाला मैं (होता इव रेभन्) हवन कर्ता के समान प्रशंसा करता हुआ (सद्म परि एमि) घर चला आता हूं।

इस मन्त्र में २०० गौओं का दान स्त्रियों के साथ करने का उल्लेख है। और देखिये-

१००० गौओं का दान

पुरोळाशं नो अन्धस इन्द्र सहस्रं आ भर। शता च शूर गोनाम्॥ (ऋ. ८।७८।१)

हे इन्द्र! (नः अन्धसः पुरोळाशं) हमारे अन्न का पुरोळाश ले लो और हे शूर प्रभो! (गोनां शता सहस्रं च) सैकडों और हजारों गौएं हमें दो।

इस मन्त्र में सैकडों और हजारों गौओं का दान मांगा है। अर्थात इतनी गौओं का इकट्ठा दान होने की संभावना थी, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

४००० गौओं का दान

चतुःसहस्रं गव्यस्य पश्वः
प्रत्यग्रभीष्म रुशमेष्वग्ने।
घर्मश्चित्तप्तः प्रवृजे य आसीद्
अयस्मयः तम्वादाम विप्राः। (ऋ. ५।३०।१५)

(रुशमेषु) रुशम लोगों के बीचमें हमें (गव्यस्य पश्वः चतुः सहस्रं) गाय नामक पशु चार हजार की संख्या में (प्रत्यग्रभीष्म) दान के रूप में प्राप्त किये और (अयस्मयः घर्मः) लोहे की बडी कढाई दूध तपानेके लिये (तं आदाम) प्राप्त की।

इस मंत्र में ४००० गौओं का दान मिलने का उल्लेख है और दूध तपाने के लिये लोहे की बडी कढाई भी प्राप्त होने का उल्लेख है।

१०००० गौओंका दान

अध प्लायोगिरति दासदन्यान्
आसंगो अग्ने दशभिः सहस्रैः।
अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो
नळा इव सरसो निरतिष्ठन्॥ (ऋ. ८।१।३३)

(प्लायोगि आसंगः) प्लायोगि आसंग नरेशने (अन्यान् अति) दूसरों से भी बढकर (दशभिः सहस्रैः दासत्) दस हजार गौओं का दान दिया, तथा (दश उक्षणः) दस बैल-साँड--भी दिये, जो (रुशन्तः) बडे तेजस्वी थे और जैसा घास तालाब की भूमि से उगता है वैसे वे मेरे साथ चलने के लिए खडे रहे। तथा-

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता। दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा॥ (ऋ. ८।४६।२२)

उस दान में (अश्वस्य षष्टिं सहस्रा) घोडे साठ हजार, (उष्ट्राणां अयुता विंशतिं शता)ऊंट दस हजार और दो हजार, (श्यावीनां दश शता) कालीघोडियां एक हजार, (त्र्यरुषीणां गवां दशदश सहस्रा) तीन धब्बोंवाली गौवें दसदस हजार (असनम्) दानमें प्राप्त हुईं। यहां दसदस हजार गौओं का दान मिलने का उल्लेख है। ऊंट, घोडियाँ, और घोडोंके भी बडे दान इस मन्त्र में कहे हैं। हमें यहां केवल गौओंके दान का ही विचार करना है। दसदस हजार गौवें एक एक को मिलने की बात यहां लिखी है अर्थात् इससे स्पष्ट हो जाता है कि कई हजार गायों का इकट्ठा दान होनेका यहां स्पष्ट उल्लेख है।

× × ×

इस तरह अनेकानेक प्रकार के गोप्रदानों का उल्लेख वेद मंत्रों में पाया जाता है। एक गाय से लेकर साठ हजार गायों के दान का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में कहा है।

गाय अ-वध्य है

गौके वधका निषेध वेदने किया है अनेक मंत्रोंमें यह निषेध है, उनमेंसे कुछ मंत्र यहां देखिये-

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानां अमृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गां अनागां अदितिं वधिष्ट॥

ऋ. ८।१०१।१५; तै० आ. ६।१२।१; आ० गृ० १।२४।३२; साम. मं. ब्रा. २।८।१५; पा. गृ. १।३।२७; आप. मं. ब्रा. २।१०।९; आ. गृ. ५।१३।१७; हि. गृ. १।१३।१२; मा. गृ. १।९।२३; (प्रतीकं) शां. गृ. ४।२१।२४; ९।२८।६ (टीका); गो. गृ. ४।१०।२०; ऋग्वि. २।३५।६; बृहद्दे. ६।१२७

यह मंत्र इतने ग्रन्थोंमें इतने स्थानोंपर आया है। इसका यह अर्थ है–

'यह गौ रुद्रोंकी माता, वसुओंकी कन्या और आदित्यों की बहन है। यह गौ (अमृतस्य नाभिः) अमृत रस की नाभी है। इस कारण ज्ञानी मनुष्य के लिये (प्रवोचं) मैं मैं कहता हूं, (अनागां अ-दितिं गां) निष्पाप अवध्य गौ का (मा वधिष्ट) वध न कर।'

गौ में किसी प्रकार का कोई पाप नहीं है अतः वह अवध्य है। किसीमें पाप रहा, तो ही उसका वध किया जा सकता है। निष्पाप का वध होना उचित नहीं है। गौ निष्पाप है अतः वह अवध्य है। इस मंत्रका पद 'अ-दिति' है यह महत्त्व का है। 'दिति' अर्थ 'टुकडा, खंड, काटना' है, इसका निषेध 'अ–दिति' करता है, इसका अर्थ ही 'अखंडित रहने योग्य, अवध्य, काटनेके लिये अयोग्य' ऐसा है। 'अ–दिति' यह नामही गौका है जिसका अर्थ 'अ–वध्य' है।

इस मंत्रमें 'अ–दितिं गां मा वधिष्ट' (गौ अवध्य है इसलिये गौका वध न कर) ये पद बडे महत्त्वके हैं। 'अदिति' शब्द दो प्रकारके अर्थ बताता है, (१) अदितिः (अदनात्) खाने पीनेके दूध, दही, घृत आदि पदार्थ देती है, इसीलिये वह (२) अ–दिति अर्थात् अ–वध्य है। एकही पदके ये दो अर्थ गायकी उपयुक्तता बताकर उसकी अवध्यता सिद्ध करते हैं। गायके वधका निषेध निम्न लिखित मंत्र अधिक स्पष्टताके साथ कर रहे हैं—

गां मा हिँसीरदितिं विराजम्॥ वा० य० १३।४३

महीं साहस्रीं असुरस्य मायां अग्ने मा हिँसीः परमे व्योमन्॥ वा० य० १३।४४

इमं साहस्रं शतधारं उत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानां अदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥

वा० य० १३।४९; काण्व सं० १४।४५; ४६;५१; काठक १६।२०९; २१६ मै० सं० २।७।१७।२४१; २४२; २४४; तै० सं० ४।२।१०

(वि-राजं) तेजस्वी गौ का (मा हिंसीः) वध न कर क्यों कि या अवध्य है। (असु-रस्य मायां) जीवन देनेवाले प्रभुकी अद्भुत कारीगरी यह गौ है, यह (साहस्रीं) सहस्रों मनुष्यों का पालनपोषण करती है, इस लिये इस (महीं) बडी महत्त्ववाली गौका वध, हे अग्ने! तू न कर। यह इस गौके शरीरके बीचमें (शतधारं साहस्रं उत्सं) सैकडों धाराओंसे अमृत रस देनेवाला हजारों की तृप्ती करनेवाला हौज है, और यह मानवों के लिये घी देती है, अतः यह गौ अवध्य है, इसलिये हे अग्ने! इस गौका वध न कर। (परमे व्योमन्) इस बडे आकाश के किसी स्थानपर अथवा किसी स्थानमें गायका वध न होने पावे।

मा नो गोषु रीरिषः। ऋ. १।११४।८

'हे रुद्र! तू हमारी गौओं की हिंसा न कर।' तथा और देखो–

रुद्रस्य अस्तां हेतिं गोभ्यः दूरं नयतु।

अथर्व ६।५९।३

'रुद्र का शस्त्र गौओंसे दूर रहे' अर्थात् शस्त्रसे गौका वध न होने पावे। गौवें सदा सुरक्षित रहें। तथा और देखो–

ओर ते गोघ्नं। ऋ. १।११४।१०

'गायका वध करनेवाला तेरा हथियार गौओंसे दूर रहे।' वह गौका वध करने न पावे। रुद्र के शस्त्रसे गौवें सुरक्षित रहें। तथा और देखो—

आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु। ऋ, ७।५६।१७

हे मरुतो! 'आपका हथियार गौओं और मनुष्यों से दूर

रहे।" अर्थात् तुम्हारे शस्त्रसे गौवों और मनुष्यों का वध न होवे।

इस तरह शस्त्र तथा वध प्रयोग गौओंसे दूर रखने के लिये वेदकी आज्ञा स्पष्ट है। गोवधकर्ताको मृत्युका ही दण्ड है, देखो—

अन्तकाय गोघातम्।
क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति ।
वा० य. ३०।१८; काण्व. ३४।१८

(गो-घातं अन्तकाय) गौका वध करनेवाले को मृत्युके अधीन करो। तथा (यः) जो (गां विकृन्तन्तं भिक्षमाणः) गायको काटनेवालेके पास भीख माँगता हुआ (उप तिष्ठति) उसके सामने खडा रहता है उसको (क्षुधे) भूखके आधीन करो। अर्थात् गोवधकर्ताको मृत्युका दण्ड दो और गौ काटनेवालेके पास जो भीख मंगा खडा रहेगा उसको भूखा रखो। गोघातकके लिये ये दण्ड वेदने कहे हैं। गोघातक के घरकी भिक्षा भी नहीं लेनी चाहिये।

गौ 'अवध्य' होनेके विषयमें वेदके मंत्र निःसन्देह गौकी अवध्यता कहते हैं। वेदमंत्रोंमें 'अ-घ्न्या' पद गायके लिये ही प्रयुक्त होता है। 'अ-घ्न्या' का अर्थ 'अ-वध्य' है। इस विश्वमें अवध्य अथवा 'अघ्न्या' पदसे केवल 'गौ' का ही बोध होता है। गौ ही केवल इस विश्वमें अवध्य है, इसीलिये 'अघ्न्या' पद वेदमें 'गौ' के लिये प्रयुक्त होता है, देखिये—

१ इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां।
ऋ० १।१६४।२७; अथर्व०शौ० ७।७७।८; ९।१०।५

'यह अवध्य [गौ] अश्वि देवोंको अर्पण करनेके लिये दूध देवे।' अर्थात् गौके दूधसे अश्विदेवोंके लिये अर्पण किया जाता है।

२ अघ्न्ये ! विश्वदानीं तृणं आद्धि।
ऋ० १।१६४।४०; अथर्व० शौ०७।७७।१०; ९।१५।२०

'हे अवध्य [गौ]! सदा घासका भक्षण कर।' अर्थात् गाय घास खावे, अन्य अभक्ष्य पदार्थ न खावे।

३ अघ्न्यायाः तप्तं घृतं शुचि। ऋ ४।१।६

'इस अवध्य [गौ] का तपा घी शुद्ध है।' अर्थात् गौके घीसे शुचिता होती है और वह घी शुद्ध रहता है।

४ सुप्रपाणं भवतु अघ्न्याभ्यः। (ऋ. ५।८३।८)

'अवध्य [गौओं] के लिये पीनेका उत्तम पानी मिले।' अर्थात् गौओं के लिये पानी सदा ही उत्तम शुद्ध मिलता रहे।

५ यौ अघ्न्यां अपिन्वतं, अपो न स्तर्यं।
(ऋ. ७।६८।८)

'दोनों अश्विदेवोंने अवध्य [गौ] को पुष्ट किया और पात्र में जल भरने के समान [दूध भर दिया]।'

६ अध्या पयोभिः तं वर्धत्। (ऋ. ७।६८।९)

'अवध्य [गौ] अपनी दुग्धधाराओंसे उसको बढा देवे।' कृश को पुष्ट करे। अर्थात् गौ कृश को अपने दूध से पुष्ट करती है।

७ अघ्न्या त्रिः सप्त नामा बिभर्ति। ऋ० ७।८७।४

'अवध्य [गौ] इक्कीस नामोंको धारण करती है। यजुर्वेदमें गौके ये नाम गिनाये हैं—

८ इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता ते अघ्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥
वा. य. ८।४३; श. ब्रा. ४।५।८।१०
हव्ये काम्य इळे रन्ते चन्द्रे०। काण्व. ९।३३

(१ इडा) अन्न देनेवाली, (२ रन्ता) रमणीयता देनेवाली, (३ हव्या) हवनीय घृतादि देनेवाली, (४ काम्या) अपने पास रखने योग्य, (५ चन्द्रा) आनन्ददायिनी (६ ज्योती) तेजस्विनी, पूजाके योग्य, (७ सरस्वती) रस, दूध आदि देनेवाली, (८ मही) महत्त्ववाली, (९ विश्रुती) प्रसिद्ध, (१० अदिती) अन्न देनेवाली अतएव अवध्य, ये दस नाम हे (११ अघ्न्ये) हे अवध्य गौ! तेरे हैं।

यहां ग्यारह नाम हैं। इन में गौ की अवध्यता दर्शानेवाले 'अ-दिति और अ-घ्न्या' ये दो नाम हैं। निघण्टु वैदिक कोशमें गौके नौ नाम दिये हैं। उनमें उक्त नामोंमें नहीं आये ऐसे नाम ये हैं—

गोज्ञानकोश

मध्ययुगीन विभाग, इतिहासखंड

साधारणतया इस विभागमें बौद्धकालसे अर्थात् इ० सन्के पूर्व ५०० से लेकर भारतवर्षीय तथा प्रागैतिहासिक ज्ञानकालसे प्रारंभ करके अन्य देशविदेशोंमें पाई जानेवाली गौविषयक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक जानकारी दी जायगी। इस कालके ऐतिहासिक सभी अंगोंकी छानबीन करके इकठ्ठी की हुई जानकारी निम्नलिखित ढंगसे वर्गीकरणद्वारा दर्शायी जायगी।

१. **सांस्कृतिक इतिहास**. अ भारतीय. (१) प्राचीन, (२) मुस्लिमकालीन, (३) द्रविड, (४) मराठोंका शासनकाल, (५) अन्य शासक। आ. भारतीयोंसे विभिन्न भूविभागों तथा देशदेशान्तरोंमें उपलब्ध जानकारी।

२. **भौगोलिक**. प्रदेश, ग्राम, पर्वत, नदियाँ आदि स्थल नामोंमें पाये जानेवाला गोनिर्देश।

३. **भाषा-साहित्य**. अ. भाषाशास्त्रीय गोविषयक संज्ञाएँ, आ वाङ्मयीन (१) द्रविड, (२) अरबी, (३) पर्शियन, (४) जेंद अवेस्ता (५) पाश्चिमात्य, (६) अन्य, इ. संतवाणी।

४. **धार्मिक एवं सामाजिक**. अ. संस्कार, विधि, आ. त्यौहार इ. जानपद कथा, दन्तकथा, लोकधारणाएँ, ई. रहनसहन एवं रूढियाँ. उ. देवता, ऊ. संप्रदाय तथा मत।

५. **जाति**. उदाहरणार्थ. गोप, गोपाल, आभीर आदि।

६. अ. चित्रकला. आ. शिल्पकला (वास्तु मूर्ति). इ. वस्त्र पात्र तथा अन्य वस्तुएँ।

७. **गणित-ज्योतिष**. अ. कालवाचक संज्ञाएँ. आ. मापन प्रमाण निदर्शक. इ. योग।

८. **वैद्यक एवं वनस्पति**. औषधिद्रव्य तथा पेड वनस्पति आदि।

९. **शासनविषयक**. जैसे, कानून, नियम।

१०. **औद्योगिक**. कृषि, दूध एवं तज्जन्य अन्य पदार्थ, चमडा तैयार करना आदि।

११. संकीर्ण।

सुमेरियन सभ्यता

संसारके इतिहासमें वन्य दशामेंसे पहले ऊपर उठे हुए राष्ट्रोंमें पश्चिम एशियाके सुमेर राष्ट्रकी गणना की गयी है। आसुरी तथा बैबिलोनियन राष्ट्रोंका संवर्धन सुमेर राष्ट्रकी बुनियादपर हो चुका था और भारतवर्षमें भी मोहेंजदडो नामक स्थानमें उसी सुमेरियन सभ्यताके भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। ध्यानमें रखनेयोग्य बात है कि ईसवी सनके पहले लगभग पंच सहस्रवर्षपूर्वके इस कालमें बैलकी उपासना की जाती थी, ऐसा प्रतीत होता है। खुदाईमें जो कई मुद्राएँ मिल गयी थीं, उनपर वृषभ अर्थात् बैलकी आकृतिकी छाप दीख पडती है। शिवजीकी एक प्रतिमापर शीर्षस्थानमें सींग दिखाये हैं। टेलेलओबीडमें सुमेरियन जनताके देवालयमें दीवारपर सीपके टुकडोंसे ग्वालोंके बाडेको चित्रित कर दिया है। गौका दूध दुहते समय समीप ही मुँह बाँधकर रखा हुआ बछडा, दूध छान लेनेकी क्रिया और बैलोंका जुलूस आदि दृश्य बडेही मनोरम हैं (देखो युनिव्हर्सल हिस्टरी, पृष्ठ ५२२)

प्राचीन प्रतिमा

पाषाणयुग में याने लगभग ६०००० वर्षों के पहले आखेट करके उपजीविका पानेवाले लोग जिन चित्रों का सृजन कर लिया करते थे, उनमें से कुछ आज दिन उपलब्ध हैं। स्पेन के वायव्य विभाग में कैंटाब्रियन जिले में अल्टामिरा नाम से विख्यात शिला-चित्रों में बायझन जाति के बैलों का रंगीन चित्र देखकर मन अचम्भे में आ जाता है। ट्यूक डोडोबर्ट शिलाचित्र में मिट्टी के बनाये एक बायझन जाति के गोयुग्म के (नर एवं मादा) ज्योंके त्यों अभीतक पडे रहने का दृश्य है और यह बलिदान के

उद्देश्य से तैयार किया गया था। समीप ही पडौस में भूमि के भीतर बहनेवाली नदी के कारण वायु मण्डल में गीलापन है जिस के फल स्वरूप ये मिट्टी के चित्र सहस्त्रों वर्षों तक अच्छी हालत में रहे हैं। निओक्स के पत्थर पर खुदाये चित्रों में भी बालू पर पडी हुई बैल की एक आकृति है जो कि पाषाणयुग की है। ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकारने पत्थर पर हमेशा के लिए चित्र खोदने के पहले नमूने के तौर पर (As a model) यह तैयार किया हो।

चाँदीका बनाया बैल

ईजियन समुद्र के तटपर बसे हुए प्राचीन मायासिनी राष्ट्र के जीवन में बैलों का बडा भारी सम्मान किया जाता था। चाँदी के बनाये हुए बैलका सर एक कब्र में पाया गया है और उसके सींग तथा माथे पर का फूल सुवर्ण के बनाये हैं। चूँकि ई. स. के पहले ३१०० वर्षों के कालमें यह वृषभावशेष पाया जाता है इसलिए इसका महत्त्व अत्यधिक है। इससे अधिक प्राचीनकालकी गो-मूर्ति अभी तक हमें उपलब्ध नहीं है या देखने में नहीं आयी। मायसिनी जाति के अलंकारों में भी बैलों की प्रतिमा का दर्शन होता है और यह जाति यूनानियों के पहले विख्यात हो चुकी थी।।

यहूदी लोग

येरुसलेम के इर्दगिर्द बैलों की एक नन्ही सी जाति पाई जाती थी। जार्डन नदी के उत्तरी कछार में बडे ही अच्छे तगडे बैल काफी तादाद में पाये जाते थे। बाशान के चरागाह में पाया जानेवाला बैल सर्वोपरि माना जाता था। ज्यू जाति की निगाह में वह बडा ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। यहुदियों में हल खींचने के लिए गाय तथा बैल दोनों जोते जाते थे। गायों का तथा बैलोंका सींग बल दर्शानेवाला चिन्ह है ऐसी धारणा प्रचलित थी। यहुदियोंकी वेदी पर सींगोंके खुर रखे जाते थे। हिब्रू वर्णमालामें पहला जो अलेफ अक्षर है उसका अर्थ बैल है। दुग्ध तथा तज्जन्य पनीर जैसी चीज यहुदियों को बहुत प्रिय लगती थी। बाईबिल में निर्देश है कि माम्र कछार में देवदूतों को अब्राहम ने मक्खन देदिया था। यद्यपि धार्मिक कल्पनाओं के वशीभूत होकर यहुदी लोग पशुयाग कर लिया करते थे तोभी उन्होंने गोरक्षाकी ओर पर्याप्त ध्यान दिया था। यशया (५५-३) में एक वचन है कि 'जो मानव बैल को काट डाले वह पशु का हत्यारा है। ''

पारसिक जातिका धर्म

झरथुष्ट्र के प्रस्थापित धर्म का सर्वोपरि सिद्धान्त अर्थातही कृषिकर्म एवं गोपालन। उसने आदर्श जीवन की व्याख्या यूं की है कि जिस के घर में गोधन, बालक तथा धर्मपत्नी विराजमान है, गोधन की लगातार प्रगति हो रही हो; कुत्ता, पत्नी, शिशुगण तथा अग्निका भी उत्कर्ष दीख पडे वही सच्चा घर। ऐसी दन्तकथा प्रचलित है कि अहुरमज्द ने पहले ही एक भीषण बैल का सृजन किया था जिसे मिथ्रने मार डाला तब उसके रुधिरसे से धान्य एवं प्राणी की सृष्टि हुई। पशुओं को दुःख देना पारसी धर्म में महापाप माना गया है।

इस्लाम में गौकी रक्षा

महमदने कुराण में प्राणिवध का निषेध किया है (देखो सूरा ५८) और उसी के अनुसार अनेक इस्लामी नरेशों ने आचरण रखा है। उनकी ऐसी धारणा कदापि नहीं थी कि धर्मविधि के लिए गोवध अनिवार्य है। बाबर गोमांस भोजी नहीं था और मरते समय उसने अपने पुत्रको यों उपदेश दिया कि, 'देख बेटा, भारत में कई तरह के धर्मपंथ मौजूद हैं इसलिए हरएक के धर्म के अनुसार उसे न्यायदान करना। हिन्दुओं के लिए पूज्य तथा प्रिय गायों का वध करना तू टाल दे। तभी वह रियाया राजभक्ति का प्रदर्शन कर तुझसे एकनिष्ठता दर्शायेगी।' अकबरने गोरक्षणार्थ कई कायदेकानून बनाये थे। इस्लामी शासन में लगभग २०० वर्षोंतक, गोहत्या कर चुकनेपर हर गौके लिए बारह ' जेताल ' जुर्माना देना पडता। इसे बाद में फेरोजशहा तुघलक ने हटाया लेकिन अकबर के शासन काल में इस का कुछ भी कारण नहीं रहा। क्योंकि गोवध संपूर्णतया निषिद्ध एवं बंद था। इस संबंध का फर्मान अभीतक शत्रुंजय टीलेपर जैनों के आदीश्वर के देवालय में देखने मिलेगा। हाँ, औरंगजेब के शासनकाल में प्राणि वध बहुत अधिक अनुपात में हुआ करता जो कि सैन्य के लिए अनिवार्य माना गया था। इस का दुष्परिणाम ऐसे भोगना पडा कि कई भूविभाग वीरान एवं उजाड हो गये। अगले

मुगल बादशाहोंने ऐसी नीति बना रखी कि प्राणिहिंसा न हो और गौका संरक्षण हो जाए। सन् १७९० ई० में महादजी सिंधिया ने शाह आलम बादशाहसे गोवध निषेध फर्मान जारी कराया।... आज भी कई मुस्लिम रियासतों में (जुनागाढ, काठिवाड) गोवध का सख्त निषेध है। संधिपत्रों में गोवध न करने के बारे में स्तंभ रखे गये हैं।

सनदमें रखी हुई शपथ

'इस इनाम को जो हिन्दु होता हुआ इस्कील करेगा उसे गाय मारने की शपथ लेनी पडेगी' शिवाजी महाराज की मोर गोसावी को दी हुई सनद (सनद कागजात ११२) "मऱ्हाष्ट्र होकर जो खलेल लगाये उसे श्री वाराणसीमें गोहत्या का पाप" राजाराम महाराज की सिदपूरकर ब्राह्मणको दी गयी सनद (सनद कागजात १३७)

गोवन का प्रबंध

गोवनका प्रबंध मध्ययुगीन काल में (हर्षके जमानेमें) गायोंके चरनेके लिए हर देहातमें गोवनकी हैसियतसे सामुदायिक भूमि सुरक्षित रखी जाती थी जिसके इर्दगिर्द अच्छा प्राकार और अन्दर उच्चकोटिका तृण ऐसे चरागाहों के उल्लेख स्मृतिग्रन्थोंमें पाये जाते हैं जिन्हें 'विनीत' नाम दिया गया है। ऐसे चरागाहोंमें विद्यमान घास अगर अपनी निजी गायके लिए आवश्यक हो तो मुफ्तमें मिल जाता पर बेचनेके लिए हाट बाटमें ले जानेपर उसपर निश्चित अनुपातमें कर देना पडता (देखो, श्री. चिं० वि० वैद्यकृत मध्ययुगीन भारत, भाग १ पृ० १९५)। जिस भूमिमें कृषिकर्म करना असंभव जान पडे ऐसी जमीनमें पशुओंके लिए गोचरभूमि रहे जो सर्वथा स्वतंत्र बनी होगी, ऐसा कौटिलीय अर्थशास्त्रमें कहा है। बौद्धोंके युगमें उपज ले चुकनेपर गौएँ स्वाधीनतापूर्वक खेतोंमें विचरती रहती थीं। विशेषरूप से रखे चरागाह विद्यमान थे। सब गायोंको इकट्ठा करके एक चरवाहे के साथ घास खाने भेजदेते। एक जातककथामें ऐसे चरवाहेका बखान किया गया है। मुस्लिम शासनकालमें एक कानूनं इसभाँति बनाया था कि प्रत्येक दस एकडवाली कृषिकर्मोचित भूमिके पीछे एक एकड जमीन गोचर भूमिके नाते रखी जाय। मराठा शासनकालमें हरग्राममें गोवन था। वहाँपर गौएँ विना मूल्य विचरती थीं। सातारा जिलेके अन्तर्गत जकातवाडी ग्रामकी ऐसी आख्यायिका सुनी जाती है, छत्रपतिने एक बार पूछताछ की थी कि वहाँवाली सरकारी गोचर भूमिमें तृण क्यों नहीं पैदा होता तो रखवालेने कहदिया 'ब्राह्मणकी गौएँ चरनेके लिए आती हैं तो हमें कानूनके अनुसार उन्हें हकाल देना पडता है अतः उनके शापसे यहाँपर तृण नहीं उगता है। तुरन्तही महाराजजीने आज्ञा देदी कि वहाँका कर लेनेवाला गाँव बसादे। चुँगी लेनेवालेने बसाया इसलिए जकातवाडी नाम मिला (परचुरे-देहाती यात्रा)

गोधन

अतिप्राचीनकाल से गौओं से विनिमय का कार्य लिया जाता था। भारत में 'दक्षिणा' शब्द का प्रचलन इसलिए हुआ कि सोमयाग में दान देनेयोग्य गौका नाम वैसे था। लैटिन भाषा में पेक्यु-पेक्युस= पशु, जिस से अँग्रेजी भाषा का पेक्युनियरी Pecuniary शब्द बनपडा। वह शब्द गोवाचक ही है। कैपिटल Capital शब्द भी cattle कॅट्ल से निकला ऐसी धारणा है। हुंडा, खंडणी आदि का दान सभी जातियोंमें गायोंके रूप से दिया जाता। इस गोधन को चुराले जाने की बडी भारी कोशिश हुआ करती। इस चौर्यकर्म की कहानियाँ बहुत पुरानी हैं। चुराई जानेवाली गायों के संरक्षण करते हुए धराशायी बने वीरों के स्मारक उठाये जाते थे। (गोकल्प)

अब यहाँ बानगी के तौरपर कुछ प्रकरणों के शीर्षक दिये जाते हैं।

त्यौहार

गोसहस्री– बंगालमें दिनांक३० आषाढको बडी भारी स्नानयात्रा हुआ करती है जब कि लोग समझते हैं गंगा नदी में नहाधोलेनेसे सहस्र गोदानका पुण्य मिलता है। इस त्यौहारको **गोसहस्री** नाम दिया गया है।

गोवत्सद्वादशी

भाद्रपद शुक्ल पंचमीको बैलके परिश्रमसे उत्पन्न अन्नका सेवन नहीं करते हैं और उसे ऋषिपंचमी नाम दिया गया है। आश्विन वद्य १३ को सवत्स गायका पूजन विहित है और उसे **गोवत्सद्वादशी** नाम है।

गोपाष्टमी

कार्तिक शुक्ल अष्टमीको **गोपाष्टमी** कहते हैं। गुजरातमें श्रावण वद्य ११ को **गोवाळी आग्यारस** कहते हैं।

गोज्ञानकोश

तृतीय खण्ड

यह ' अर्वाचीन खण्ड ' है और इसमें प्रमुखतया उन्नी सवी शताब्दीके पश्चात्के कालकाही विचार किया है, तथापि केवल पिछले डेढसौ वर्षों के काल में ही संसार के दुग्ध-व्यवसाय में इतनी आश्चर्यजनक एवं बडी भारी क्रान्ति व्यक्त हो चुकी है कि ऐसा निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उसके पहले के दस सहस्र वर्षों में भी ऐसी उथल पुथल न हुई होगी।

मि. टी. आर. पटेल् महोदयने अपने विश्वकोशरूपी ' History of Dairying ' नामक ग्रन्थ में ऐसी राय देदी है कि ' कल्पनातीत ढंगसे संसार में गोदुग्धव्यवसाय का विस्तार हो चुका है।' (The extent of Dairying in the world is beyond the imagination even) अब इस तीसरे विभाग का प्रथम कर्तव्य यही है कि, हिन्दी भाषा-भाषी साधारण पाठक की कल्पनामें इस भाँतिका विश्वव्यापी विषय सुगमतया आ जाय, ऐसे ढंगसे विवरण करना।

संसार की लोकसंख्या का एक पंचमांश तो भारत में विद्यमान है और यहाँ का पशुधन भी दुनिया के एकतिहाई है तो भी खेदजनक बात यही है, लंडन न्यूयार्क से भी यहाँ पर दूध महंगा बिकता है और उपयोग भी वहाँ की अपेक्षा एक अष्टमांश ही पाया जाता है। यह दुर्दशा शीघ्र ही हट जाय, इस कारण गोहत्या का निषेध, गोसंवर्धन, तृणजल की सुविधा आदि उपाययोजनाओं को किस ढंग से तथा क्यों कार्यरूप में परिणत करना चाहिए, इस विषयका विवरण इस खण्ड में उपलब्ध होगा।

भारतके वायसराय लार्ड लिनलिथगोने स्पष्टरूपसे अपना अभिप्राय यों व्यक्त किया है कि भारतीय दुग्ध व्यवसाय में किसी भी तरह का साफसुथरापन तनिक भी नहीं पाया जाता है। (Sanitation, in any accepted sense of the word, is practically non-existent) शोक की बात है कि इस दुरवस्था के दूर होने की आशा की झलक अभी तक नहीं दिखाई दे रही है। अतः, जनता में आवश्यक जागृति फैलाने का शुभ कार्य इस तृतीय खण्ड से पूर्ण होगा ऐसी आशा है। भारतीय दुग्ध व्यवसाय की हीनदीन एवं शोचनीय दशा से सभी परिचित हैं। निम्न अवतरणों से वर्तमानकालीन गिरी हालत का स्वरूप स्पष्ट होगा और वैसे ही आगे बानगी के तौर पर यह भी बतलाया है कि अमरीका तथा इँग्लैंड में गोनिरीक्षक और गोदुग्धप्रसारक संस्थाएँ कितनी बडी हैं एवं वे बिलकुल नये और वैज्ञानिक साधनों तथा ढंगों से अपना कार्य किस भाँति चलालेती हैं। तृण काट लेनेका यन्त्र, दुहलेने का यन्त्र, दूध में मिलाया हुआ जल परख लेनेका यन्त्र, दूध की मलई निकालने का मशीन; दूध को ' परितप्त' (Pasteurize) करनेवाला यंत्र, समशीतोष्ण वायुमण्डल में दूध पहुंचानेवाला यंत्र, मक्खन चीझ आदि सभी तरह की गव्य चीजें बनानेवाला, तैयार करनेवाला एवं पहुँचानेवाला यंत्र इत्यादि भाँति भाँति के यंत्रों की सामग्री सेवकतुल्य, भारत में भी दुग्धव्यवसाय को मदद देने लगे तो कैनेडा, ऑस्ट्रेलिया या डेनमार्क, स्विट्झरलंड देशों के तुल्य सिर्फ ५० वर्षों में ही भारत में १००००० कोटि रुपयों का दुग्ध व्यवसाय फलनेफूलने लगेगा। इसके फलस्वरूप संसार भरके बाजारों में भारतीय गव्यवस्तुओं की बिक्री होने लगेगी और खुद भारतभूमि में ही हरेक देहात गोकुल में तथा वहाँ का प्रत्येक निवासी भारतीय, व्रजभूमि के वज्रदेही वीर में परिवर्तित होगा।

इस ध्येय की पूर्तता के लिए इस खण्ड की तैयारी में अँग्रेजी भाषा के अनेक उपलब्ध ग्रन्थों का उपयोग किया है। उन पुस्तकों के आधार पर इकट्ठी की हुई जानकारी इस खण्ड में मिलेगी। प्रथम वैज्ञानिक ढंग पर गोदुग्ध का पृथक्करण एवं गुणधर्मों का विवेचन किया है। ऐसे दर्शाने की चेष्टा की गयी है कि भैंस के दूध की अपेक्षा या मांसाहार से भी गोदुग्धमें ही शरीर पोषणार्थ आवश्यक घटकावयव अधिक विद्यमान हैं। तदुपरान्त, संसार के लगभग ५० प्रमुख राष्ट्रों के दुग्धव्यवसाय का विस्तारपूर्वक ऐति-

हासिक वर्णन देकर भारतीय दुग्ध उद्योग की आँकडोंसहित जानकारी दी गयी है। पिछली शताब्दि में गव्य पदार्थों का उपयोग संसार में तथा भारत में किस अनुपात में था और अन्य देशों में वह कैसे बढता गया एवं इस देशमें ही उस में कितनी न्यूनता हुई, यह भी संख्यासहित दिखाया है। आज विश्व के सभी राष्ट्रों में पददलित माने गये भारत में भी कल या निकट भविष्य में ही गोदुग्धव्यवसाय की दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति होने के लिए शाश्वतरूपसे गोहत्या निषेध होना कैसे आवश्यक है सोभी इस ग्रन्थ में स्पष्ट कर बतलाया है। हमेशाके लिए गोवध रोकने के संबंध में मुस्लिमादिकों के आक्षेपों का खण्डन किया है। जिन रियासतों के नरेशोंने गोवध बंद कर डाला है उनके कानूनों का भी अन्तर्भाव इसमें किया है।

म्हैसूर दरबारने तो भारतरक्षाकानूनका वज्र फेंककरही गोवध बंद करदिया और कृषिकर्म सुधारनेका राजमार्ग न केवल अन्य नरेशोंकोही लेकिन ब्रिटिश शासकोंको भी दर्शाया। आगे चलकर वर्णन किया है कि वैदेशिक राष्ट्र-शासकोंने कौन कौनसे गोवर्धनोपयोगी उपायोंका अवलंब किया है। पश्चात्, गौओंके तृण आदि खाद्यवस्तुओं एवं गौवोंके रोगोंको हटानेकी जानकारी संकलित की गयी है। कृषिकर्म तथा गोरक्षणका निकट संबंध दिखाकर डेन मार्कमें सरकारने किन किन उपायोंसे वहाँके कृषकोंकी हालत सुधारनेकी चेष्टा की और भारतमें क्या करना संभव है, इसका चित्रण किया है। मानवी निरोगिता अक्षुण्ण बनी रहे एतदर्थ गोदुग्धकी आवश्यकताके बारेमें वैज्ञानिक जानकारी एवं विशेषज्ञोंके मतोंका संग्रह किया है। भूमंडलपर गायके लिए कार्य करनेवाली जो संस्थाएँ एवं व्यक्ति विद्यमान हैं तथा होचुके उनका सचित्र परिचय करानेका प्रयत्न किया गया है। अन्तमें जिन जिन लोगोंने गौका श्रेष्ठत्व मुक्तकंठसे स्वीकृत किया है उनकी सम्मतियोंको एकत्रित किया है। कहनेका आशय यही कि इस ग्रन्थमें, उन्नीसवी शताब्दिके पश्चात् संसारमें और भारतमें गो विषयक जो घटनाएँ हुई उनका पथप्रदर्शक तथा प्रत्यक्ष रूपमें उपयुक्त विस्तृत ऐतिहासिक एवं प्रायोगिक जानकारी का महत्त्वपूर्ण संग्रह इस पुस्तकमें देखने मिलेगा।

अमरीकामें गोवंश सुधारक संस्था

सन् १९०६ ई० में अमरीकामें इस संस्थाकी प्राणप्रतिष्ठा हुई और वह अत्यन्त उपयुक्त तथा लोकप्रिय सिद्ध हुई। इस संस्थाका कार्य सहकारी प्रणालीके अनुसार चलता है। इसके कार्यको भलीभाँति चलानेके लिए एक विशेषज्ञ गो निरीक्षककी नियुक्ति की गयी थी, जो मासमें एकबार हर-एक गोशालामें पधारकर गौके दुग्ध एवं मक्खनकी जाँच कर लेता है। वह दुपहरके समय आकर सायंकालीन और दूसरे दिनके प्रातःकालका हरगौका दूध तथा उसके लिए रखा तृण परख लेता है। वह एक बहीमें अपने परीक्षणका फल लिख लेता है और वह दुग्धशालामें रखी जाती है।

तृणके अनुपातमें जो गौएँ दूध नहीं देती हैं उन्हें उस दुग्धशालासे बाहर दूर भेज देते हैं, यह ठीक है पर जड-वादी अमेरिकन उन गायोंको बुढापेमें पोषणार्थ जंगलोंमें रखनेकी भी कृतज्ञता नहीं दर्शाते हैं। हाँ, भारतमें अहिंसा तत्वज्ञानके प्रभावसे, भूतदयासे प्रेरित हो तथा आत्माका ख्याल करके उस वृद्धा गोमाताकी मातृतुल्य सेवा की जाती है। लेकिन अमरीकन ग्वाला उन निरुपयोगी गौओंको कसाई के हाथ बेच देता।

दुर्बल एवं दुग्धहीन गायोंको चुनकर अलग करनेसे शेष गोधन बडा लाभकारी सिद्ध हो जाता है। अमेरीकामें गौएँ औसतन् हरसाल, प्रत्येक गायसे ४६०० पौं. दूध और १८० पौं. मक्खन के अनुपातमें दुग्धदान करती हैं। पर निरीक्षक की देखभालमें रखी गौएँ ७४१० पौं. दूध और २९२ पौं. मक्खन अर्थात् डेढ गुना ज्यादह उत्पादन करती हैं। जैसे कि एक पाठशालामें थोडे अंक पानेवाले अपरिपक्व छात्रों को छोड दें और शेष चुने हुए छात्रोंके अध्ययनकी ओर व्यक्तिगत रूपसे ध्यान देकर विशेष ढंगकी पढाई की व्यवस्था की जाय तो उस पाठशालाकी परीक्षाओंमें सफलता उच्च कोटिकी रहेगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। वैसेही दुग्धहीन गायोंको हकालकर दुधारु गायोंको उचित तृण देकर दुग्धशालाका संचालन करनेपर अवश्यमेव व्यवसायमें लाभ होगा।

न्यून योग्यतावालोंका बहिष्कार एवं पुष्टिकारक खाद्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतनाही संवर्धन भी संस्थाके कार्य-क्षेत्रमें प्रमुख स्थान रखता है। कई पुश्तोंतकका इतिहास

देखकरही अच्छे साँड चुने जाते हैं। अग्रिम ५ पुश्तोंकी गायोंकी दूध देनेकी क्षमता देखकर ६०० साँडोंको रजिस्टरमें दर्ज किया है। अच्छे साँडोंकी वजहसे गायोंका दुधारूपन बढता है यह अनुभवसिद्ध बात है।

इसभाँति तीन साधनोंसे दुग्धशाला व्यवसायको लाभदायक करनेवाली गोवंशसुधारक संस्थाका प्रचार होना स्वाभाविक है। सन् १९०६ ई० में १ संस्था तो १९१० में ४० तथा १९२० में ४६८ और १२२९ में एक सहस्रसे अधिक संस्थाएँ अमरिकामें गोधनकी प्रगति करनेमें और राष्ट्रीय धन बढानेमें लगी हुई थीं। सन् १९२८ ई० में लगभग ५ लाख गायोंका निरीक्षण इन संस्थाओंने किया और उनके कार्यका वर्णन इन शब्दोंमें किया जाता है–

चुनाव देखभाल और उत्पादन।

दी डिट्रायट क्रीमरी कंपनी फार्म
The Detroit Creamery Company Farm

स० १९१२ ई० में इस कंपनीका प्रारंभ हुआ। शुरूमें १६० एकड जमीन उसने खरीदली। उसका ध्येय था कि 'बढिया दूध साफसुथरे ढंगसे वितीर्ण करना।' १९२९ में उसका क्षेत्रफल २२०० एकड था। ८२५ गायोंमेंसे ५०० गौएँ दूध देती थीं हरसाल; प्रत्येक गऊ ९००० पौंड दूध देती थी। ४० गौएँ ऐसी हैं जो २०००० पौंड दूध देती हैं। तृणके लिए भूमि और ट्रैक्टर हैं। कुल ३००० टन तृण इकट्ठा रखनेके स्थान हैं। गौ तथा गौशाला साफसुथरी रखनेके लिए हरगौके पीछे ४ आदमी रखे जाते हैं। कार्यकर्ताओंके आरोग्यकाभी निरीक्षण मासमें एकबार डाक्टरोंद्वारा किया जाता है। हाथोंसेही दूध दुहा जाता है सो विशेष बात है। दुहतेसमय हरबार गाय धुली जाती है और ग्वाला भी अपने हाथ धोडालता है। दुहतेवक्त वह सफेद और साफसुथरा गणवेश पहनलेता है। ३६० फॅ० पर दूध ठंढा किया जाता है। वैसी दशामेंही वह बोतलोंमें भरा जाता है। सारे वर्तन भाप द्वारा स्वच्छ किये जाते हैं। मक्खियाँ पास फटकने नहीं पातीं।

इस दुग्धशालामें हरसाल २½ लक्ष डालर मूल्यवाला दूध बेचा जाता है। केवल ५००० गौएँ इतना दूध देडालती हैं। २५ लाख क्वार्ट दूधकी उपज वर्षभरमें होजाती है। एक क्वार्टकी जिन बोतलोंमें इस दूधका वितरण सालभर चालू रहता है वे बोतलें अगर एकके पीछे एक रखी जायँ तो उनकी लंबाई १६० मील होगी।

दी युनाइटेड डेरीज लिमिटेड
(The United Dairies Limited)

इँग्लैंड में तीन बडी दुग्धव्यवसाय में पडी संस्थाओं के एकत्री करण से सन् १९१५ ई. में उपर्युक्त कंपनी प्रस्थापित हुई थी और उसकी पूँजी १० लाख पौंड की थी। दूध का बँटवारा करने के लिए तीन कंपनियों के लिए पहले की अपेक्षा अब आधे ही घोडों से काम निकलता था। एक ही सडकपर से तीनों कंपनियों के कर्मचारियों को जाने का कारण नहीं रहा। सन् १९२१ ई. में लंडन होल्सेल डेअरीज़ लिमिटेड नामक छोटीसी शाखा प्रस्थापित हुई जो थोक दुग्ध-बिक्री की तरफ ध्यान देती है। अकेले लंडन नगर में उस की पाँच दुकानें हैं। एक घंटे में ४००० गैलन दुग्ध को 'परितप्त' करलेने की सुविधा बनाई गयी है। हर दिन दो बार १० लाख घरों में दूध बाँटने का कार्य इस कंपनी के सिपुर्द है। प्रतिदिन १००० टन दूध की पूर्ति हुआ करती है। खेतोंमें से प्रतिदिन सैकडों मोटारों परसे दूध लाकर डाकघर की चिट्ठियों की तरह १० लाख घरों में बोतलों द्वारा भेजा जाता है। पहुँचाते समय निरीक्षक लोग दूधकी जाँच करते हैं।

केन्द्रस्थान में सभी तरह से दूध की परीक्षा की जाती है। रासायनिक एवं जन्तुशास्त्रीय प्रयोग शालाएँ हैं और १०० रसायनशास्त्रवेत्ताओं को संस्थाने नियुक्त किया है। अन्त में दूध परितप्त किया जाता है और बोधवाक्यसहित ढक्कन लगाकर यन्त्रद्वारा बोतलों में भरा जाता है। महायुद्ध के पश्चात् पाँच लाख पौंड व्यय करके बोतलों में बंद दूध शुद्धतापूर्ण ढंग से घरघर पहुँचाने की प्रणाली अस्तित्व में आगयी। फुटकर दुग्धविक्रयार्थ १०० पूर्तिकेन्द्र विद्यमान हैं। सिवाय इसके ७०० दूध की दुकानें हैं जिनकी गिनती अलग करनी चाहिए। हर सप्ताह १ कोटि २० लाख दुग्ध-भरी बोतलें घरों में पहुँचा दी जाती हैं। २७०० मनुष्य प्रतिदिन दूध देने के कार्य पर नियुक्त हैं। इस संस्था में लगभग १३००० लोग कार्यकर्ता के नाते रहते हैं।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

वैदिकधर्म

फाल्गुन सं. २०००
मार्च १९४४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९१

विषयसूची।

दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है । प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।।।)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।।।)
३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	।।)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु.	।।)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १।।) है ।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं । इन सब सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी ।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु. तथा डा. व्य. १।।) है पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें । ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है ।

वेदकी संहिताएं ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

	मूल्य	डा० व्य०
१ **ऋग्वेद** (द्वितीय संस्करण)	५)	डा० व्य० १।)
२ **यजुर्वेद**	२)	,, ,, ।।)
३ **सामवेद**	३)	डा० व्य० ।।)
४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	५)	,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १५) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य १८) रु. है । परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १०) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है । इसलिए डाकसे मंगानेवाले १३) तेरह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

	मूल्य	डा० व्य०
१ **काण्व संहिता** (तैयार है)	३)	डा० व्य० ।।।)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	५)	,, ,, १)
३ **काठक संहिता** (तैयार है)	५)	डा० व्य० १)
४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	५)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, डा. व्य. ३।।।) है अर्थात् २१।।) डा. व्य. समेत है । परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १८) रु० में दी जायंगी । **डाकव्यय माफ होगा।**

- मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

क्रमाङ्क २९१

वर्ष २५ : : : : अङ्क ३

फाल्गुन संवत् २०००

मार्च १९४४

यज्ञपुरुषसे वेदोंकी उत्पत्ति

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत ॥

(ऋ० १०।९०।९)

उस सर्व पूज्य यज्ञपुरुष परमेश्वरसे ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद ये चार वेद उत्पन्न हुए अर्थात् प्रकट हुए ।

ये चार वेद मिलकर एकही वेद है । और इस एक वेदके ही ये चार वेद यज्ञकी सुविधाके लिये माने गये हैं । संपूर्ण वेदमंत्रोंका राशी वेदही कहलाता है । यह वेदराशी एकही है । जो पद्यमंत्र हैं उनका नाम ऋक् है, जो उन पद्योंका स्वरोंके आलापों से गान होता है वह साम है और जो गद्यभाग है वह यजुः है ।

वेदका स्वरूप

वेदके विषय में बहुतही अशुद्ध विचार संसार में फैले हैं, अतः इसके विषय में योग्य और प्राचीन शास्त्रों के अनुसार जो निश्चित विचार हैं, उन्हें पाठकों के सम्मुख रखने के लिये इस अंक से वेदविषयक लेख प्रकाशित करनेका संकल्प किया है।

पहिले वेद एक हैं या दो, तीन अथवा चार हैं, यह एक समस्याही है। इसी तरह वेद अपौरुषेय हैं, पौरुषेय हैं अथवा कैसे हैं? यदि अपौरुषेय हैं तो किस तरह वे प्रकट हुए हैं? यदि इनमें मानवी कवित्व का प्रयत्न नहीं है, तो मंत्रों के ऋषियों का तात्पर्य क्या है? अनुक्रमणीकार कहते हैं कि 'जिसका जो वाक्य हैं, उसका वह ऋषि है।' यदि इस तरह प्रत्येक मंत्र ऋषिका वाक्य है, तब तो परमेश्वर से वेद उच्छ्वास के समान प्रकट हुए इसका तात्पर्य क्या है? यदि वेद परमेश्वर का श्वास है, तब तो वह ऋषिका वाक्य किस तरह हो सकता है?

यदि प्राचीन समय में ऋषियों को वेदोंका स्फुरण हुआ तो वैसा अब भी हो सकता है वा नहीं? इसीतरह प्राचीन काल में ऋषियों के अन्तःकरण में मंत्रोंका स्फुरण हुआ, अथवा अर्थोंका स्फुरण हुआ और उन अर्थों को प्रकट करते हुए उसी स्फुरण से मन्त्र बन गये?

यदि केवल अर्थों का स्फुरण हुआ, और उस स्फुरण के ही जरिये जो वाणी स्वयंस्फूर्ति से निकली वह मंत्र हुए, तब तो वेद कब बने? यदि वेद नित्य हैं, तब तो वे अर्थकी दृष्टि से नित्य हैं अथवा शब्दों के पूर्वापर्य के अनुसार शब्दरूप वेद नित्य है? यदि अर्थ ही वेद है तब तो शब्द का नित्यत्व नहीं सिद्ध होता। और यदि शब्द भी नित्य माना जाय, तब तो वह शब्दरूप वेद जैसा प्राचीन समय में प्रकट हुआ था वैसाही आज भी प्रकट होना चाहिये।

यदि इस तरह वेदका प्रकटीकरण होना संभव होगा, तब तो किस विधि से और किस अनुष्ठानसे वह होगा?

जैसा 'ब्रह्म' पद का अर्थ 'परमात्मा अथवा परब्रह्म' है उसी तरह उसका अर्थ 'वेद अथवा वेदमंत्र' भी है। यह कितना आश्चर्य है? क्या इस से वेद ब्रह्मरूप हैं और ब्रह्म वेदरूप है? यदि ऐसा नहीं है तब तो वेद और आत्मा के लिये समानरूप से ब्रह्मपद का प्रयोग क्यों हुआ?

वाणी और अर्थ सर्वथा पृथक् हैं अथवा एकरूप ही हैं? क्या कभी कोई शब्दों के विना विचार कर सकता है? यदि कर सकता है तब वह कैसे? और यदि नहीं कर सकता तो क्यों? वाणी का आत्मा के साथ क्या संबंध है?

क्या वेद लौकिक संसार का विचार करते हैं और उस विषय में कुछ आदेश देते हैं अथवा परब्रह्मका ही स्वरूप बतलाते हैं? यदि वे वेद परब्रह्म काही विचार कहते हैं, तो वह कैसे? क्योंकि जो ब्रह्म वाणीका विषय नहीं है, वह ब्रह्म वाणीद्वारा कैसे व्यक्त होगा? और यदि वेदवाणीद्वारा ब्रह्मका निरूपण न होगा, तो फिर वेदका उपयोग ही क्या है? क्योंकि दुनयवी बातोंके विषय में आदेश देने के लिये तो मनुष्य को कोई शास्त्र नहीं चाहिये, अग्नि उष्ण है यह कथन करनेके लिये वेदकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु जो ब्रह्म अनुभव से परे है उसका यदि वर्णन वेद करेगा, तब तो वेद अपूर्व बात का उपदेश करता है ऐसा प्रतीत होगा।

इस तरह सैंकडों समस्याएं वेदके विषय में हमारे सामने आकर खडी होती हैं। शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा इनका उत्तर पाठकोंको इस लेखमाला में मिलेगा। पाठक विचारपूर्वक इस वेदविषयक लेखका मनन करेंगे तो उनके वेदविषयक नाना प्रकार के संदेह निवृत्त हो जांयगे।

वेदवेदिका

(श्रीपण्डितवर्येण वेदमार्तण्डेन गोकर्णस्थब्रह्मचर्याश्रमप्रतिष्ठापनाचार्येण दैवरातेन गजानन्दशर्मणा लिखिता।)

ईशशासनरूपं ऋगादिशास्त्रम्

विदितमस्तु तत्रभवताम्, यदिह प्रपञ्चे परिदृश्यमानायामस्यामीशसृष्टौ सदसद्विवेकशालिनीं मनुष्यजातिमधिकृत्य, सदसदात्मकेषु कर्तव्याकर्तव्यावबोधादिविषयेषु प्रवृत्तं हितशासनात्मकं विधि-निषेध-अध्यात्मविचारादिविषयकं नियतप्रवृत्ति-निवृत्ति--आत्मनिष्ठादिप्रयोजकं ईशशासनरूपं चेति सर्वत्र सुप्रसिद्धं ऋग्वेदादिशास्त्रम्। तदेव ऋगादिशास्त्रमनुसृत्य पूर्वे महर्षयः ज्ञानोपासना-कर्मयोगात्मकेन तपसा, यज्ञरूपेण धर्मेण, विश्वस्यापि जगतः प्रतिष्ठया, स्वतन्त्रं शाश्वतं सुखं तत्परमं पदमुपप्राप्ताः। तथैव पुनरिदानीमपि तत्प्राप्तुं शक्यमिति शास्त्रसिद्धं वस्तुतत्वम्। तदर्थमेवास्माकं उपनयनसंस्कारपूर्वकं ऋगादिवेदाध्ययनं, तदर्थज्ञानं, तथैवाचरणं, तत्प्रचारणं च अवश्यकर्तव्यतया विहितम्। तच्च प्राचामृषीणामाचार्याणां च सद्विद्याशिक्षणाचारादिपरम्परया अद्यापि समागतमित्यत्र भारतीयानामस्माकं बीजक्षेत्रादिनिसर्गसिद्धा वैदिकसद्विद्यात्मकसत्यधर्मपरायणतैव प्रत्यक्षं प्रमाणम्।

तच्च ऋग्वेदादिशास्त्रं ईशशासनात्मकं सर्वविद्यानिधिरूपं, प्रदीपवत् स्वतन्त्रेण सर्वार्थज्ञानप्रकाशकं, सर्वेषामपि विषयाणां, विश्वस्यापि जगतः, तथा तत्कारणीभूतस्य परब्रह्मणोऽपि यथार्थतत्वाधिगमे प्रत्यक्षं प्रमाणभूतं चेति, तदिदं प्राचां सर्वेषां, प्रामाणिकानां अभिमतं, तथा अविरुद्धं च विद्याविनीतानां आधुनिकानां पाश्चात्यविपश्चितां चेति निर्विवादमभ्युपगन्तव्यं भवति।

वेदके संबन्धमें ज्ञान

(अनुवादक- पं० दयानंद गणेश धारेश्वर बी. ए.)

ऋग्वेदादि शास्त्र ईश्वरका आदेश है

सब को यह विदित है कि, इस संसारमें, इस दिखाई देनेवाली ईश्वर की सृष्टीमें, सत् और असत् का विचार करनेवाली इस मानव जातिमें, सत् और असत् का तथा कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध करानेके लिये प्रवृत्त हुआ, सबके लिये हितकारक शासन करनेवाला, विधि निषेध बताकर अध्यात्मविचार की जाग्रति करनेवाला, सत्कर्ममें नियमानुसार प्रवृत्ति और असत्कर्मसे निवृत्ति करनेवाला, ऋग्वेदादि शास्त्र है और वह ईश्वर द्वारा प्रवर्तित हुआ है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। उसी ऋग्वेदादि शास्त्रके अनुसार आचरण करके प्राचीन महर्षियोंने ज्ञान–उपासना–कर्म–योग आदि तपसे, यज्ञरूप धर्मसे, संपूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा सुस्थिर करके न केवल स्वतंत्र शाश्वत सुख को ही प्राप्त किया, अपितु उस परमपद को भी प्राप्त किया था। वैसा आज भी प्राप्त करना शक्य है, यह बात शास्त्रसे सिद्ध है! उसी कार्य की सिद्धिके लिये हमारा उपनयन संस्कारपूर्वक ऋग्वेदादि वेदाध्ययन, उसके अर्थका ज्ञान प्राप्त करना और उसके अनुसार आचरण करना है, तथा उसका प्रचार करना भी अवश्य कर्तव्य के रूपमें कहा गया है। प्राचीन ऋषियों और प्राचीन आचार्योंकी विद्या तथा शिक्षाका यह परंपरासे आजतक वैसाही प्रचार चला आया है, इसविषयमें हम सब भारतीयोंका बीज और क्षेत्र के समान ही निसर्ग सिद्ध वैदिक सत्य विद्या और सत्यधर्मके विषयमें जो हमारी निसर्ग सिद्ध तत्परता है, वही इस समयमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वह संपूर्ण ऋग्वेदादि शास्त्र ईश्वरके शासनका आदेश बताने वाला है, वह सब विद्याओंका खजाना जैसा है, दीपके समान स्वतंत्रतासे सब अर्थोंका और सब विषयोंका प्रकाश करानेवाला है, संपूर्ण जगत् का और उसके आदि कारण परब्रह्मका भी यथार्थ तत्त्व जाननेके लिये प्रत्यक्ष जैसा यह प्रमाण है, यह बात सब संपूर्ण प्राचीन धार्मिक श्रद्धालु लोगों को मान्यही है, वैसा ही यह आधुनिक पाश्चात्य विद्याविभूषित विद्वानोंकी रायके भी विरुद्ध नहीं है। यह बात सबको सहजहीसे विदित हो सकती है।

ब्राह्मणग्रन्था मन्त्रार्थानुवादकाः

अथ तादृशानां ऋग्वादिमन्त्राणां प्रत्यक्षब्रह्मरूपाणां गूढार्थप्रकाशनाय प्रवृत्तः, गद्यगाथाद्यात्मकः ब्राह्मणारण्यकोपनिषदादिनामभिः प्रसिद्धः ब्राह्मणभागग्रन्थोऽपि वेदमन्त्रार्थानुवादकत्वेन क्वचित्तद्विनियोगादिविधायकत्वेन च वेदानां साक्षात् सम्बन्धात् वेदे एवान्तर्गतः, वेद एवेत्यपि व्यवह्रियते। " मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् " इत्यादिसूत्रवचनात्।

सर्वेषां वेदाश्रयणम्

अत्र वेदानामर्थविषये तथा पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वादिना नित्यत्वानित्यत्वादिनाऽपि हेतुना, तत्प्रामाण्ये च बहूनां बहुधा मतभेदेऽपि, भौतिक–दैवत-अध्यात्मादितत्वविज्ञानाय सर्वविद्याप्रतिपत्तये च, यथाकथञ्चिद्वेदाश्रयणं तु सर्वेषामप्यावश्यकतया समभिलषितं तत्समानमेवेति सन्तोषास्पदम्। तद्यथा वैदिकानां समाजे वेदनास्तिकत्वेन गण्यमाना अपि जैनाः, वेदस्य ईश्वरोक्तत्वानङ्गीकारेऽपि, सर्वज्ञमहर्षिप्रोक्तत्वादेव तत्प्रामाण्यस्वीकारेण गायत्र्यादीनां वेदमन्त्राणां अवलम्बनेन भाष्यादिमुखेन तदर्थप्रकाशनात् तदुपदिष्टसूर्यादिदेवतोपासनादिना च तत्वज्ञानोदयादिसर्वाभीष्टसिद्धिं मन्यन्ते। तथा इंग्लन्दजर्मनअमेरिकादिदेशान्तरीया मतान्तरावलम्बिनोऽपि सुप्रसिद्धा भट्टमोक्षमुल्लरप्रभृतयः पाश्चात्यपण्डिता अपि स्वस्वप्रज्ञानुसारेण स्वाभिमतानुरोधेन भौतिकादितत्वविमर्शनेन च आंग्लग्रीकप्रभृतिभाषान्तरेण भाष्यादिरचनया स्वजनाङ्गेषु स्वकीयज्ञाननिधित्वाभिमानेन वेदार्थप्रचारं चक्रुः। तथैव इदानीमपि तत्र तत्र विदेशेषु प्रायोगिकेन विधानेन च वेदानां तत्वसंशोधनं भौतिकऐतिहासिकादिदृष्ट्या तत्वविमर्शनं तद्व्याख्यानं अध्ययन-ग्रन्थप्रकाशनादिमुखेन च विशेषतः प्रचारणं च प्रचलितमिति, अत्रत्याः प्रायः सर्वेऽपि विद्वांसो जानन्ति। अत्रापि पुनः वैदिकेषु जनाङ्गेषु पौराणिकशैववैष्णवादिविषयकमतभेदेऽपि वेदे तु सर्वेषां समानतन्त्रमेव प्रचलितं प्रसिद्धम्।

मन्त्रोंके अर्थका अनुवाद करनेवाले ब्राह्मणग्रन्थ

अब इस भौतिक प्रत्यक्ष ब्रह्मरूपवाले उन ऋग्वेदादि मंत्रों में विद्यमान गूढ अर्थको बतलानेके लिए अस्तित्वमें आया हुआ, तथा गद्य और गाथा जैसे रूपमें दिखाई देनेवाला एवं ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध जो ब्राह्मण साहित्य है, उसे भी वेद नामसे पुकारते हैं, क्योंकि वेदमंत्रोंके अर्थका स्पष्टीकरण और कहीं कहीं उन मंत्रों के विनियोगका निर्देश होनेसे वेदोंके प्रत्यक्ष संबंधके बारेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, और वेदसाहित्यमें ही उनका अन्तर्भाव किया जाता है। "**मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।**" जैसे सूत्रोंसे इसी बातकी पुष्टि हो जाती है।

सबको वेदकाही सहारा लेना पडता है

हाँ, यह बात सच है कि, वेदोंके अर्थके बारेमें तथा क्या वे मनुष्यरचित हैं, या अपौरुषेय हैं, और क्या वे नित्य हैं, या अनित्य हैं, आदि प्रश्नोंसे वेदप्रामाण्यके संबंधमें कई लोगोंके विभिन्न मतोंके रहनेपर भी, सन्तोषकी बात यही है कि, आधिभौतिक, आधिदैविक एवं अध्यात्मके तत्त्वोंको भलीभाँति जाननेके लिए, और सभी विद्याओंकी जानकारीके लिए, किसी न किसी तरह वेदोंपरही निर्भर रहना सभी विद्वानों के लिए अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, वैदिकधर्मानुयायी जनतामें जैनोंको नास्तिक माना जाता है, क्यों कि वे वेदोंको ईश्वरप्रोक्त नहीं समझते, तथापि वे इतना तो स्वीकार करते ही हैं, कि सर्वज्ञ महर्षियों द्वारा प्रकट होनेसे वेदप्रामाण्य मान लेना ठीक है, और गायत्री जैसे मंत्रोंका स्वीकार कर भाष्यादिकोंके द्वारा उसके अर्थका ज्ञान होनेसे उसमें बतलाये सूर्यसदृश देवताओंकी उपासना करके तत्त्वज्ञानका आविर्भाव जैसे सभी अभीष्ट वस्तुओंकी पूर्तता होती है, ऐसी उनकी राय है। उसी तरह, इँग्लैंड, जर्मनी, अमेरीका आदि देशोंमें निवास करनेवाले तथा विभिन्न संप्रदायोंके अनुयायी, प्रथित यश मोक्षमूलर भट्ट सदृश पाश्चात्य विद्वान भी अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार, एवं अपनी कल्पनाके अनुकूल, भौतिक सिद्धान्तोंका विचार करके अँग्रेजी, जर्मन जैसी अन्य भाषाओंमें भाष्य टिप्पणियोंकी रचनाद्वारा अपनी जातियोंमें वेदके अर्थका प्रचार कर चुके हैं, क्यों कि अपने निजी विद्यमान ज्ञान भाण्डार के कारण उन्हें अभिमान प्रतीत होता था। वर्तमानमें भी उसी प्रकार यहाँके बहुधा सभी विद्वान इस बात से परिचित हैं कि, विभिन्न प्रदेशोंमें, एवं प्रान्तोंमें प्रयोगोंकी आयोजना करके, वेदोंमें विद्यमान तत्त्वोंकी खोज, वेदमें वर्णित विषयोंका भौतिक ऐतिहासिक आदि निराले दृष्टिकोणोंसे विवरण,

अपि च भूताद्यर्थानां देवताद्यलौकिकतत्वानां चाधिगमे प्रमाणभूतेभ्यः सर्ववाङ्मयेभ्यः अतिप्राचीनानां वेदानामभावे, प्राक् च सृष्टेः स्वतःसिद्धस्य वस्तुतत्वस्य, तथा उत्तरत्रापि तदानीमेवाविर्भूतानां वस्तुविषयादीनां तत्वविशेषाणां च इदानीं अस्माकं बोधाय, तत्र प्राचां वसिष्ठादीनां महर्षीणामनुभवस्याप्यन्येषां पुनरवबोधाय च प्रमाणान्तराभावात्, तद्विषये इदानींतनानामन्धकार एवाभविष्यत्। अथवा क्वचित्तु तत्परिकल्पनेऽपि तस्य कल्पनामात्रत्वपर्यवसायित्वेन अप्रामाण्यमेव परिशिष्येत। एवं च आदिसृष्टिमारभ्य वेदाविर्भावादनन्तरं च एतावत् पर्यन्तं एकरूपेण स्थितं,तथा उपदेशपरम्पराप्रवाहेण चिरात्समागतमपि "ब्रह्मवस्तुवत्" अविकलितं सत् सुप्रतिष्ठितं अनादिसिद्धं सर्वेषामपि प्रत्यक्षप्रमाणभूतं इहलोके यत् किञ्चिदस्ति चेत्, तथा अस्तीति वक्तव्यं चेत्, वक्तुं च शक्यं चेत् "प्रत्यक्षब्रह्मरूपः स वेद एक एवेति" वक्तव्यमापतति। तस्मात् सर्वविद्यानिधिरूपः सर्वजगदादिभूतः "ब्रह्मवस्तुवत्" नित्यसिद्धः सर्वप्रमाणास्पदीभूतः "वेद एव" सर्वथा प्रतिष्ठितः इति प्रतिज्ञेयं सुतरां सम्पद्यते।

वेदस्वरूपविचारः

अथ पुनर्वेदस्य किं स्वरूपं ? किं च तद्वास्तवं तत्वम् ? कथं कुतश्च तस्याविर्भावः ? किं तत्र निमित्तम् ? किं च तत्प्रयोजनं कीदृशी च तत्प्रामाण्यप्रतिष्ठा ? किं तन्महत्वम् ? कथं कुतश्च तदुपलब्धिरस्मिंल्लोके मनुष्याणां ? कस्तत्र विशेष इतरेभ्यः सर्वेभ्यो वाङ्मयेभ्यः ? एतेषु विषयेषु प्राचामृषीणामाचार्याणां च, तथा भाष्यकृतः सायनस्यापि किमभिप्रेतम् ? तद्भाष्ये च किं नियतं तत्वम् ? का च तत्र वस्तुस्थितिरिति चावश्यं विवेक्तव्यम्। येन ब्राह्मणादिग्रन्थेन महता प्रबन्धेन तदङ्गोपाङ्गादिरूपैः वेदांग--दार्शनिकादिसूत्रप्रमुखैः, तद्भाष्यादिमुखेन च वेदार्थसमर्थनेन सर्वेऽप्येकमुखेन तत्प्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्ति आस्तिकत्वेन प्रसिद्धाः, अन्यथा नास्तिकतापवादार्हा भवन्ति।

तथा उनका स्पष्टीकरण, एवं पठनीय पुस्तकोंके प्रकाशनसे अत्यधिक प्रचार भी जारी है। भारतवासी वैदिक जनताके विभिन्न विभागों में भी, पौराणिक, शैव, वैष्णव सदृश मतभेद प्रचलित हैं, तोभी वे सभी वेदके बारेमें समानरूप से एकमत्य दर्शाते हैं, यह बात किसीसे छिपी नहीं।

एक दूसरी बात ध्यानमें रखने योग्य है कि यदि भौतिक पदार्थों एवं देवतासदृश अलौकिक तत्त्वोंकी जानकारीके लिए प्रमाणरूप समझें हुए सभी साहित्यों से भी अत्यन्त प्राचीन वेदोंका अभाव हो; और सृष्टि के पहले विद्यमान स्वयंसिद्ध वस्तुतत्त्वके एवं सृष्टिनिर्मिति के उपरान्तही अस्तित्वमें आये हुए वस्तुविषयादिकोंके विशिष्ट तत्त्वोंके बोधको पाना हमारे लिए असंभव हो, उनके बारेमें वर्तमानकालीन जनता शायद अँधेरेमें रह जाती, क्योंकि प्राचीन वसिष्ठादि महर्षियोंके अनुभवके लिए तथा दूसरोंके पुनर्ज्ञानके लिए अन्य प्रमाण न रह जाते। या, ऐसा मान भी लें कि, कहीं एकाधवक्त उनके बारेमें कल्पना की जासकती है, तो भी वह निरी कल्पनामात्र होनेके कारण उसकी अप्रामाणिकता शेष रह जाती। और आदिसृष्टिसे लेकर वेदोंके प्रकटी करणके पश्चात अबतक एकरूपमें पायी जानेवाली तथा उपदेशपरंपराके जरिये बहुत कालसे उपलब्ध होनेपर भी 'ब्रह्मवस्तु' तुल्य अखंडरूपसे विद्यमान, प्रतिष्ठित, अनादि सिद्ध, सबके लिए प्रत्यक्षप्रमाण रूपमें दिखाई देनेवाली अगर कोई वस्तु इस लोकमें हो, वैसी चीज है ऐसा यदि कहना हो, और कहना भी संभव हो, तो बस यही कहना पडता है कि '**प्रत्यक्ष ब्रह्म स्वरूप वह अकेला वेद ही**' है। अतः निर्विवाद सिद्ध हुआ कि समूची विद्याओंके मानों भण्डारके तुल्य, अखिल विश्व के प्रारम्भमें विद्यमान, '**ब्रह्मवस्तुतुल्य**' नित्यसिद्ध, सारे प्रमाणोंके आधारभूत वेदकी ही प्रतिष्ठा हरतरहसे हो जाती है।

वेदके स्वरूपका विचार

अच्छा, तो फिर वेद किस भाँतिके हैं ? उसका वास्तविक तत्त्व क्या है ? कैसे और कहाँसे उसका सृजन हुआ ? उसकी निर्मितिमें भला कारण क्या था ? उसका प्रयोजन क्या था और उसकी प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा भला कैसे की जाय ? उसका महत्त्व किस ढंगका है ? इस संसारमें मानवोंको कैसे और कहाँसे वह मिलसकता है ? अन्य सभी साहित्योंसे भी उसमें कौनसी विशेषता पाई जाती है ? इन प्रश्नोंके बारेमें प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों और भाष्यकार सायणका क्या अभिप्राय था। उस भाष्यमें कौनसा तत्त्व निर्धारित हुआ है ? और उसमें वास्तविकता कहाँतक है इसका विवेचन अवश्य करना चाहिए। क्यों कि सभी आस्तिक कहलानेवाले विद्वान

तथा सर्वेष्वपि विषयेषु वैदिकेषु लौकिकेष्वपि वेदावलम्बेनैव प्रवर्तन्ते सर्वेऽपि लोकाः, यद्विज्ञानाय सर्वविद्यापरिशीलन-प्रवृत्तिः प्रामाणिकानां श्रद्धालूनाम्; कचित्तु तत्प्रामाण्यानङ्गीकारेऽपि नास्तिकानामपि तत्त्वज्ञानार्थं तत्र प्राचामनुभवादिनि-दर्शने वेद एव सर्वथा शरणं तदनिवार्यं भवति। एवं वेदैकशरणानां सर्वेषामपि एकमुखेन सर्वापि प्रवृत्तिरनर्थायैव स्यात् इति।

अत्रोच्यते— "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।" (ऋ. मं. १।१६४।३९; अथर्व० ९।१०।१८) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत। (ऋ० १०।९०।९) अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय। यमृषयस्त्रयीविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि। (तै० ब्रा० १।१।१०।३,५; २।१।२६; आप० श्रौ० ५।१८।२)

इत्यादि श्रुतिनिर्दिष्टाः गायत्र्यादिच्छन्दोनिबद्धाः ऋग्यजुःसामशब्दार्हाः प्रसिद्धास्ते ऋगादयो मन्त्राः छन्दःपुरुषात्मक-ब्रह्मवाचकत्वात् सर्वत्रापि वेदे ब्रह्मशब्देनैव निर्दिष्टाः श्रूयन्ते—

मन्त्रा ब्रह्मवाचकाः

विश्वामित्रस्य रक्षति "ब्रह्मेदं" भारतं जनम्। (ऋ० ३।५३।१२)
"ब्रह्माणि" मन्दन्गृणतामृषीणाम्। (ऋ० १०।८९।१६)
"ब्रह्मणा" ते ब्रह्मयुजा युनज्मि"। (ऋ० ३।३५।४; अथ० २०।८६।१)
नि "ब्रह्मभि" रधमो दस्युमिन्द्र। (ऋ० १।३३।९)
ज्येष्ठराजं "ब्रह्मणां" ब्रह्मणस्पते"। (ऋ० २।२३।१; तै० सं० २।३।१४।३; का० १०।१३)
गूळ्हं सूर्यं तमसाऽपव्रतेन तुरीयेण "ब्रह्मणा"ऽविन्ददत्रिः॥ इति (ऋ० ५।४०।६)

ब्राह्मणसदृश बडे भारी ग्रन्थोंकी रचनासे एवं उसके अंग उपांग स्वरूप ग्रन्थोंको बनाकर, वेदांग, दार्शनिक सूत्रोंकी निर्मितिसे और उनके भाष्यों द्वारा वेदके अर्थका समर्थन करते हुए पाये जाते हैं, अतः वे सभी मुक्तकंठसे वेदप्रामाण्यका अंगीकार कर लेते हैं। यदि वे ऐसा न करते हों, तो नास्तिकताका कलंक उनपर लग जाता है।

ठीक इसीतरह, सभी विषयोंमें, चाहे वे लौकिक हों या वैदिक हों, सभी लोग वेदपर निर्भर होकर ही प्रवृत्त होते हैं, तथा सभी सच्चे दिलके श्रद्धालु पुरुष वेदकी जानकारी मिलजाय इसलिए सभी विद्याओंका व्यासंग जारी रखते हैं, और नास्तिकोंके बारे में भी यह देखा गया है कि, एकाध समय वेदप्रामाण्य का अस्वीकार करनेपर भी तत्त्वज्ञानके बोधको पानेके लिए प्राचीनोंके अनुभवका दृष्टान्त देनेके लिए वेदके शरणमें जाना उनके लिए अनिवार्य हुआ करता है। यदि ऐसा न होगा तो वेदोंकी पूर्णरूपसे शरण लेनेवालों की प्रवृत्ति व्यर्थ ही होगी।

यहाँपर बतलाना चाहता हूँ कि वेदमें निर्दिष्ट, गायत्री सदृश छन्दोंमें रचित, ऋक् यजुः साम ऐसे नाम धारण करनेवाले जो ऋचा आदि विख्यात मंत्र हैं, वे छन्दः पुरुषरूपी ब्रह्मके वाचक ही हैं,

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। ऋ. १।१६४।३९, अथर्व. ९।१०।१८
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत। ऋ. १०।९०।९
अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय। यं ऋषयस्त्रयी विदा विदुः।
ऋचः सामानि यजूंषि। तै. ब्रा. १।१।१०।३; ५; २।१।२६;
आप श्रौ. ५।१८।२

अतः वेदोंमें हर जगह ऐसे मंत्रोंके लिए ब्रह्म नामही दिया गया है जैसे,

मंत्र ब्रह्मवाचक हैं

विश्वामित्रस्य रक्षति " ब्रह्मेदं " भारतं जनम्।
ऋ. ३।५३।१२
" ब्रह्माणि " मन्दन्गृणतामृषीणाम्। ऋ. १०।८९।१६
" ब्रह्मणा " ते ब्रह्मयुजा युनज्मि। ऋ. ३।४५।४;
अथर्व. २०।८६।१
नि " ब्रह्मभि "रधमो दस्युमिन्द्र। ऋ. १।३३।९
ज्येष्ठराजं " ब्रह्मणां " ब्रह्मणस्पते। ऋ. २।२३।१;
तै. सं. २।३।१४।३; काठक. १०।१३
गूळ्हं सूर्यं तमसाऽपव्रतेन तुरीयेण "ब्रह्मणा" ऽविन्ददत्रिः॥
इति ऋ. ५।४०।६

ते च ऋगादयो मन्त्राः वाग्रूपाः वाच एव प्रत्यक्षब्रह्मरूपाः परोक्षेण परमेण ब्रह्मात्मना मिथुनीभूताः, सत्याः, ब्रह्मवस्तुवत् नित्याः, सत्यधर्मयुक्ताः, परोक्षस्यापि परब्रह्मणो यथावत् स्वरूपतत्वावगमे प्रत्यक्षप्रमाणभूताश्च भवन्ति। तथा च ऋङ्मन्त्रवर्णे "यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्" इति (ऋ० मं० १०।११४।८; ऐ० आ० १।३।८) तस्येदमुपव्याख्यानब्राह्मणम्– "यत्र ह क्व च ब्रह्म तद् वाक्, यत्र वा वाक् तद्वा ब्रह्मेत्येतदुक्तं भवति" इति(ऐ० आ० १।३।८) वाच्यवाचकयोरभेदस्तादात्म्यं च कचित्तु तदन्यतरद्वा सर्वेषां शास्त्रचिन्तकानां शब्दप्रामाण्यवादिनामभिमतं न्यायसिद्धं प्रसिद्धतरं वस्तुतत्वम्। अत एव प्रत्यक्षं ब्रह्मैव वाक्, वागेव प्रत्यक्षं ब्रह्म, परोक्षं परं ब्रह्मैव, तस्याः अधिपतिः परमः पुरुषः इति, तत्वदर्शनेन वाग्–ब्रह्मणोस्तयोः, ब्रह्म-ब्रह्मणस्पतिशब्दाभ्यां, वेदेषु असकृदभिष्टुतिः सर्वथा सङ्गच्छते।

'वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये। (ऋ० मं० १०।८१।७); ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मस्पते। (ऋ० मं० २।२३।१)'

'एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः, वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिः' इति च औपनिषदं ब्राह्मणम्। (बृ० उ०१।३।२१)

अस्मिन्नेवार्थे कवीन्द्रस्य कालिदासस्य काव्यराशेः शिरोभूतं मङ्गलवचनं सुप्रसिद्धम्–

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।' इति। एवं 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। ॐ खं ब्रह्म ; ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं। ओंकार आत्मैव। तस्य वाचकः प्रणवः' इत्यादीनि श्रुतिस्मृतिवचनान्येतदेव समर्थयन्ति।

" विश्वामित्र का ' ब्रह्म ' इस भारत जनताकी रक्षा करता है; स्तुति करनेवाले ऋषियोंके ' ब्रह्मोंको ' सुनकर हर्षित होता हुआ; तेरे दो घोडोंको जो कि ' ब्रह्मसे ' जुडजानेवाले हैं मैं ' ब्रह्मसे ' रथमें जोतता हूँ; हे इन्द्र ! तूने दस्युको ' ब्रह्मोंकी ' सहायतासे मारडाला है; व्रत रहित अँधेरेसे ढँके हुए सूर्यको अत्रिने चौथे 'ब्रह्म' से प्राप्त किया है। "

ध्यान में रखना चाहिये कि ये ऋचासदृश मंत्र वाणीके रूप हैं, अर्थात् यूँ कह सकते हैं, कि, स्वयं वाणियाँ ही प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप धारण कर ऋचाओं में व्यक्त हुई हैं, तथा परोक्ष में विद्यमान परम ब्रह्मसे जुडी हुई हैं, और सत्य, ब्रह्मवस्तुतुल्य नित्य, सत्यधर्मयुक्त हैं, एवं यद्यपि पर ब्रह्म परोक्ष है, तो भी उसके यथार्थ स्वरूप को भली भाँति जाननेके लिए, प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूपही हैं। उदाहरणार्थ, एक ऋचा देख लीजिए " यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् " (ऋ० १०।११४।८; ऐ० आ० १।३।८) अर्थात् ' जितनी ब्रह्म की व्याप्ति है उतनी वाणी भी व्याप्त है ' और ब्राह्मणग्रन्थकी इसपर व्याख्या है कि ' यत्र ह क्व च ब्रह्म तद् वाक्, यत्र वा वाक् तद्वा ब्रह्मेत्येतदुक्तं भवति। ' (ऐ० आ० १।३।८) अर्थात् जहाँ कहीं ब्रह्म है वह वाणीरूप ही है और जिधर वाणी पायी जाती है, वह ब्रह्मही है, ऐसा कहा है। ' अब वाच्य एवं वाचक के मध्य पायी जानेवाली अभिन्नता तथा एकरूपताको शास्त्रों के बारे में सोचनेवाले और शब्दप्रामाण्यवादी सभी लोग स्वीकार करते हैं, और यह वाच्यका वाचक से तादात्म्य तो अत्यन्त विख्यात एवं न्यायसिद्ध है ही। इसलिए यों प्रतिपादन किया जा सकता है कि, वाणी प्रत्यक्ष ब्रह्म ही है, प्रत्यक्ष ब्रह्म वाणी ही है, वही परोक्ष परब्रह्म ही है, उस वाणीका पति परमपुरुष है; अतः वाक् एवं ब्रह्मके तत्त्व जाननेके कारण वेद में बारंवार ' ब्रह्म एवं ब्रह्मणस्पति ' शब्दों से स्तुति की गयी है, जो कि पूर्णतया सुसंगत है–

' वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये। (ऋ. १०।८१।७)
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ' ब्रह्मणस्पते '। (ऋ. २।२३।१)
एष उ एव ' ब्रह्मणस्पतिः, ' वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिः
इति औपनिषदं ब्राह्मणम् (बृ. उ. १।३।२१)

' सभी कार्य करनेवाले एवं वाणीके अधिपतिको मैं रक्षणार्थ बुलाता हूँ। '

कविकुलगुरु कालिदासका भी इसी अर्थ में सुप्रसिद्ध श्लोक उनके विख्यात काव्य में शुरूहीमें रखा गया है जैसे,–

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

' मैं विश्वके मातापितातुल्य शिवजी एवं पार्वतीको, जो कि वाणी और अर्थ के तुल्य अभिन्न रूपसे जुडे हुए हैं, प्रणाम करता हूँ ताकि मुझे वाणी और उसके अर्थ की जानकारी भली भाँति मिल जाय।'

इसीतरह ' ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। ' ॐ खं ब्रह्म। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। ओंकार आत्मैव। तस्य वाचकः प्रणवः ' आदि वचन जो श्रुतियों तथा

‘ छन्दः । गायत्री । दैव्येकं । ’ इति पिङ्गलछन्दःसूत्रात्; तथा ‘ **प्रणवस्य ब्रह्मा ब्रह्मा दैवी गायत्री** ’ इति. (आ० गृ० प०) सूत्राच्च यथोक्तैकाक्षरब्रह्मरूपस्य प्रणवस्य गायत्रीछन्दोनिबन्धनसिद्धं प्रसिद्धं मन्त्रत्वम् । तस्माद् ब्रह्मात्मकः प्रणवः प्रणवात्मकं च ब्रह्मेति सम्पद्यते । तथा च औपनिषदं वचनम्– ‘ **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । अग्निर्देवता ब्रह्म इत्यार्षम् । गायत्रं छन्दं परमात्मं सरूपं सायुज्यं विनियोगम्** ’ इति (म० ना० उ० ३३) । एवं गायत्री छन्दोनिबद्धत्वात् ब्रह्मवाचकस्य प्रणवाक्षरस्य, गायत्रीछन्दोमयाक्षरब्रह्मप्रणवोद्भूतत्वाच्च, ऋगादिमन्त्राणां तादृशगायत्र्यादिछन्दःशरीरं प्रत्यक्ष-ब्रह्मरूपऋगादिमन्त्रात्मकं, तत्परं ब्रह्म, ब्रह्मात्मकं छन्दः, ब्रह्मात्मकाः छन्दोमयाः ऋगादिमन्त्राः इति च अर्थात् सिध्यति ।

वस्तुतस्तु वागात्मकस्य छन्दोमयस्य मन्त्ररूपस्य वेदस्यैव मुख्यो ब्रह्मशब्दः प्रत्यक्षब्रह्मरूपत्वात्; निर्गुणस्य परमात्म-वस्तुनः परब्रह्मणस्तु गौणो ब्रह्मशब्दः ब्रह्मणस्पतेस्तस्य नामरूपातीतत्वात् इत्येव वक्तुं युक्तम् इति प्रतीयते ।

‘**आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्मसम्मितम् । गायत्री छन्दसां मातेदं ब्रह्म जुषस्व मे** ।’ इति (म०ना०उ०३४)

अयं औपनिषदः गाथात्मकः याजुषो मन्त्ररूपः श्लोकः तदेव समर्थयति । तस्मात् प्रत्यक्षब्रह्मात्मकवाग्रूपाः गायत्र्यादिमन्त्राः वाचकात्मानः, तथा परोक्षं परं ब्रह्मैव तद्वाच्यार्थात्मकं इति सामरस्ययोगेन उभयोरपि तयोः वेद–ब्रह्मरूपयोः वाक्-पुरुषयोः तादात्म्यं ऐक्यं च नाम्ना रूपेण तत्वेन चेति वस्तुसिद्धं शास्त्रतत्वम् । अत एवाचार्येन्द्रः ‘ **शास्त्रयोनित्वात्** ’ इत्यत्र ऋगादिवेदस्य सर्वज्ञब्रह्मसमानत्वं प्रदीपवत् स्वातंत्र्येण सर्वार्थप्रकाशकत्वं सर्वविद्यास्पदत्वं परब्रह्मणः यथार्थतत्वावबोधे प्रत्यक्ष-

---

स्मृतियोंमें पाये जाते हैं, उपर्युक्त बात का ही समर्थन करते हैं !

पिंगलरचित छन्दः सूत्र ‘ छन्दः । गायत्री । दैव्येकं । ’ से तथा ‘ **प्रणवस्य ब्रह्मा ब्रह्मा दैवी गायत्री** ’ सूत्र से जो कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में है, पहले कहे अनुसार एक अक्षर ब्रह्मरूपवाले प्रणव या ओंकारका गायत्री छन्द में व्यक्त होने से मन्त्रत्व सुस्पष्ट है। इससे हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि, प्रणव ब्रह्मरूप ही है, और ब्रह्म प्रणवरूपी है । देखिए उपनिषद् का वचन ‘ **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । अग्निर्देवता ब्रह्म इत्यार्षम् । गायत्रं छन्दं परमात्मं सरूपं सायुज्यं विनियोगम्** । (म. ना. उ. ३३)

इस तरह ‘ प्रणव ’ (अर्थात् ॐ, ओंकार, ओं अथवा ओ३म्) यह अक्षर ब्रह्मवाचक है और यही एक अक्षर गायत्री छन्दमें बंधा हुआ है, अर्थात् यही गायत्री छन्दमें संनिबद्ध अक्षर ब्रह्मवाचक है और प्रणवाक्षर से बोधित ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार जितने भी ऋगादि मन्त्र हैं, वे ऐसे ही गायत्री आदि छन्दोंके शरीरों में बंधे हैं और वे सब साक्षात् ब्रह्मवाचक हैं और ब्रह्मरूप ही हैं, अर्थात् ये सब मन्त्र छन्दोमय हैं, और ब्रह्मरूप हैं, साक्षात् ब्रह्म ही मन्त्रोंका रूप है । इससे यह सिद्ध हुआ कि, एक पर ब्रह्म है, उस परब्रह्मात्मक छन्द है, और छन्दोमय ऋगादि मन्त्र भी ब्रह्मात्मक ही हैं ।

वास्तवमें ऐसा कहनाही ठीक जानपड़ता है कि, ‘ ब्रह्म ’ शब्द छन्दोमय मन्त्ररूप वेदके लिए ही मुख्यतः उपयुक्त है, क्यों कि वह वेद वाणीरूप, छन्दोमय मंत्रोंकाही बना है, अतः वह प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप ही है । निर्गुण, परम–आत्मास्वरूप परब्रह्म के लिए ‘ ब्रह्म ’ शब्दका प्रयोग गौण रूपसे होता है, क्यों कि वह ब्रह्मणस्पति का वाचक तो है, परंतु वह नाम एवं रूप से परे है । कहा है–

आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्मसम्मितम् ।
गायत्री छन्दसां माता इदं ब्रह्म जुषस्व मे ॥

म. ना. उ ३४

यह उपनिषदमें पाये जानेवाला गाथारूपी एवं यजुःरूपी मंत्रतुल्य श्लोक ऊपर कहे हुएका ही समर्थन करता है । अतः यह शास्त्र का तत्त्व स्वयंसिद्ध हुआ है कि, प्रत्यक्ष ब्रह्ममयी वाणीका रूप धारण करनेवाले गायत्री सदृश छन्दोमय मंत्र वाच्य ब्रह्मसे एकरूप हैं, और उसी प्रकार परोक्ष परब्रह्म भी उस वाचक वेदवाणी रूप अर्थसे अभिन्न ही हैं । इस तरह दोनों में एकत्व होनेसे वेद एवं ब्रह्म रूपी वाणी तथा पुरुष के मध्य विद्यमान तादात्म्य तथा ऐक्य नाम, रूप एवं तत्त्व में है । इसीलिए श्री शंकराचार्यजीने ‘ **शास्त्रयोनित्वात्** ’ पर व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है, कि ऋग्वेदादि वेद सर्वज्ञ ब्रह्मके समकक्ष हैं, प्रदीपतुल्य स्वतंत्रतासे सभी अर्थों को बतलाते हैं, सभी विद्याओं के मूलस्थान हैं और परब्रह्मके यथावत् तत्त्वको जतलाने में प्रत्यक्ष प्रमाण ही हैं । उनका वाक्य देखिए–

प्रमाणत्वं च स्पष्टं निर्वर्णयामास भाष्यमुखेन । ' महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । इति । अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं अस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः । इति (ब्र० सू० १।१।३) तदिदं सर्वमपि प्रत्यक्षब्रह्म–परब्रह्मात्मकयोः वाचक-वाच्यार्थरूपयोः वेदवाग्–ब्रह्मवस्तुनोः तादात्म्ये ऐक्ये एव सङ्गच्छते ।

अत एव सर्ववेदाध्ययन-तदर्थज्ञानाद्यधिकारसिध्यर्थं दिव्येन द्वितीयजन्मरूपेण स्वरूपज्ञानोदयेन द्विजत्वसिद्धये, परब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण शास्त्रोक्तपूर्णब्राह्मणत्वयोगाभ्युदयार्थं च वेदमातृरूपप्रत्यक्षब्रह्मात्मकब्रह्मगायत्रीमन्त्रमुखेनैव ब्रह्मोपदेशः, तथा पूर्णज्ञानोदयेन ब्रह्मसाक्षात्काराय नित्यं तदुपासनायोगश्च प्राधान्येन विहितः, तदर्थज्ञानमुखेन आत्मसाक्षात्कारश्च उपदिष्टः, सोऽयं पूर्वेषामृषीणां आचार्याणां च ब्रह्मोपदेशपरम्परया समागतः अद्यापि प्रचलतीति सर्वत्र सुप्रसिद्धम् । तथा च औपनिषदं वचनम्– "गायत्र्या गायत्री छन्दो, विश्वामित्र ऋषिः, सविता देवता, अग्निर्मुखं, ब्रह्मा शिरो, विष्णुर्हृदयं, रुद्रः शिखा, पृथिवी योनिः, प्राणापानव्यानोदानसमाना सप्राणा श्वेतवर्णा सांख्यायनसगोत्रा गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदा, षट् कुक्षिः, पञ्च शीर्षा, उपनयने विनियोग इति । (म० ना० उ० ३५)

"गायत्र्या ब्राह्मणमुपनयीत । अहरहः सन्ध्यामुपासीत । जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात् । सन्ध्यां प्राक् प्रातरेवं हि तिष्ठेदासूर्यदर्शनात् ।" (या० स्मृ०) इति उपनयनसन्ध्योपासनयोर्गायत्र्या विनियोगः । एवं गायत्रीमुखेन ब्रह्मात्मैक्यतत्वज्ञानं तदनुसन्धानं च उपदिष्टं शास्त्रे प्रसिद्धम् ।

' न भिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह । सोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केनचित् । ' इति ।—

महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । इति । अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं अस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः । ' (ब्रह्मसूत्र १।१।३)

ध्यान में रहे कि यह सारा प्रतिपादन तभी सुसंगत प्रतीत होगा, जब कि हम इस बातको ठीक समझ लें कि, प्रत्यक्ष ब्रह्म एवं परब्रह्मरूपी तथा वाचक और वाच्यार्थ रूपी वेदवाणी के मध्य अभिन्नत्त्व, तादात्म्य एवं ऐक्य का संबंध है ।

इसीकारण से, सभी वेदोंके अध्ययन तथा उनके अर्थज्ञानादि अधिकार को पानेके लिए, अपने निज स्वरूपके बोधरूपी दिव्य द्वितीय जन्म से सिद्ध होनेवाले द्विज बनने को और परब्रह्ममय आत्मसाक्षात्कार से शास्त्रमें कहे ढंगसे संपूर्ण ब्राह्मणत्त्व के मिलने तथा उन्नत होने को वेदमातारूप धारण करनेवाली प्रत्यक्ष ब्रह्ममयी ब्रह्मगायत्री मंत्रद्वारा ही ब्रह्मोपदेश किया जाता है । गायत्री की उपासनाका योग प्रमुखतया नित्यकर्मों में रखा गया है । ताकि पूर्णज्ञानका उदय हो ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाय और कहा है कि उसके अर्थज्ञानद्वाराही आत्मसाक्षात्कार होगा । बस यही अबतक पूर्वकालीन ऋषियों एवं आचार्योंके ब्रह्मोपदेश का परंपरासे चला आया प्रकार जारी है तथा सबको ज्ञात है । इस संबंध में यह उपनिषद्का वचन देखने योग्य है,

गायत्र्या गायत्री छन्दो, विश्वामित्र ऋषिः, सविता देवता, अग्निर्मुखं, ब्रह्मा शिरो, विष्णुर्हृदयं, रुद्रः शिखा, पृथिवी योनिः, प्राणापानव्यानोदानसमाना सप्राणा श्वेतवर्णा सांख्यायन सगोत्रा गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदा, षट् कुक्षिः पञ्च शीर्षा, उपनयने विनियोग इति । (म. ना. उ. ३५).

' गायत्र्या ब्राह्मणमुपनयीत । अहरहः सन्ध्यामुपासीत । जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात् । सन्ध्यां प्राक् प्रातरेवं हि तिष्ठेदासूर्यदर्शनात् । (याज्ञ. स्मृ.)

इस प्रकार उपनयन एवं संध्योपासनामें गायत्रीका विनियोग स्पष्ट है । इस भाँति ब्रह्म एवं आत्माके मध्य विद्यमान ऐक्यके बोधको तथा उस तत्त्वके अनुसंधान को शास्त्रमें गायत्री द्वारा बतलाया है और यह सुप्रसिद्ध है ।

न भिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह ।
सोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केनचित् ।

एवं सर्वसंन्यासयोगेन केवलं ब्रह्मसाक्षात्कारार्थं आश्रयितव्ये सुप्रसिद्धे चतुर्थाश्रमेऽपि गायत्रीप्रवेश एवोपदिष्टः।

'ॐ भूः तत्सवितुर्वरेण्यम् गायत्रीं प्रविशामि। ॐ भुवः भर्गो देवस्य धीमहि सावित्रीं प्रविशामि।

ॐ स्वः धियो यो नः प्रचोदयात् सरस्वतीं प्रविशामि।'

इति तत्प्रयोगविधानात् तथैवाचाराच्च (बौद्धायन धर्मसूत्रे) गायत्र्याश्च ब्रह्मात्मैक्यमेव परमः प्रधानोऽर्थः इति प्राञ्चः सर्वेऽपि ऋषयः आचार्याः, तथा अर्वाचीनाश्च वेदविदः एकमुखेन अङ्गीकुर्वन्ति, समर्थयन्ति च तत्तद्भाष्यमुखेन। तस्माद् ब्रह्मणः सकाशात् सर्वेषां छन्दसामाविर्भावः; तथा छन्दोमुखेनैव विश्वतो रूपेण ब्रह्माविर्भावः; ब्रह्मतत्त्वज्ञानोदयश्च श्रुतिनिर्दिष्टः, तयोर्वेदब्रह्मणोः वाक्–पुरुषात्मकयोः अन्योऽन्यात्मत्वे एवोपपद्यते। तथा च मन्त्रवर्णः 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु०।' इति। (तै० आ० ७।४।१;१०।६।१; तै० उ० १।४।१)

वेदाविर्भावः

अथेदं सर्वं जगत् नाम्ना रूपेण च व्याकृतं, पुनर्विनष्टं सत् नामशेषतां गतमिति भण्यते, नाम्नैवात्रशिष्टमिति यावत्। 'यथा सर्वोऽपि जन्तुर्मृतः सन् नामशेषोऽभूदित्युच्यते, तथैव प्राक् च सृष्टेरपि परमे ब्रह्मणि अव्यक्तबीजरूपेण शब्दात्मकेन नाम्नैवावशिष्टं सत्, सर्वमेतत् प्रथमतः नाम्नैव शब्दतन्मात्रात्मकेन आविर्भूतं, ततः नामत एवोद्भूतं सत् स्वेन स्वेन रूपेण युज्यते, साकारेण स्वरूपतः आविर्भवतीति यावत्। एवं वाग्रूपाः नामात्मकास्ते च शब्दाः स्वयं वाचकरूपाः सन्तः ज्ञानरूपेण विलीनाः, प्रज्ञानात्मकेन परेण ब्रह्मणा एकीभूताः ब्रह्मण्येव प्रतितिष्ठन्ति। वाचैव मुखेन पुनस्तज्ज्ञानं ज्ञातमर्थजातं च व्याक्रि

"गायत्री ब्रह्मसे पृथक् कोई निराली वस्तु है, ऐसा नहीं मानना, अपितु प्रयत्न करके इस ढंगसे उपासना करे कि, वह परब्रह्म मैं ही हूँ।" अर्थात् 'ब्रह्म', ब्रह्मवाचक गायत्री मंत्र, और उपासना करनेवाला मैं उपासक, तत्त्वतः एक ही हैं।

इतनाही क्यों किन्तु उस चतुर्थ आश्रममें भी, जिसमें सर्व संन्यासके द्वारा सिर्फ ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए प्रयत्नशील बनना पडता है, गायत्री प्रवेशका ही उपदेश दिया है। तथा और भी देखिए–

ॐ भूः तत्सवितुर्वरेण्यम् गायत्रीं प्रविशामि।
ॐ भुवः भर्गो देवस्य धीमहि सावित्रीं प्रविशामि।
ॐ स्वः धियो यो नः प्रचोदयात् सरस्वतीं प्रविशामि।

बौधायन धर्म सूत्रके इस विधान एवं आचारसे यह स्पष्ट होता है कि गायत्री एवं ब्रह्मकी एकरूपता बतलाना प्रमुख उद्देश्य है, जिसे सभी पूर्वकालीन ऋषि एवं आचार्य और आधुनिक युगके वेदवेत्ता सज्जन भी निर्विवाद स्वीकार करते हैं, तथा उस उस भाष्यद्वारा उसकी पुष्टी करते है। अतः कहसकते हैं कि, सभी छन्दोंका सृजन ब्रह्मसे हुआ है। और छन्दके द्वारा ही सभी रूपोंसे ब्रह्मका प्रकटीकरण हुआ है, इस तरह वेदमें ब्रह्मके तत्त्वकी जानकारीका उदय सूचित हुआ है। यह सारा तभी ठीक जान पडता जब कि, वाणीरूपधारी वेद तथा ब्रह्मरूपी परमात्म पुरुषके मध्य अभिन्नताका बोध होजाय। इस संबंधमें वैदिक मंत्र भाग देख लीजिए—

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छान्दोभ्योऽध्यमृतात्सं बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु०। (तै. आ. ७।४।१;१०।६।१; तै. उ. १।४।१)

छन्दो का वर्षण करनेवाला विश्वरूपी पुरुष है, वह छन्दोंसे और अमृतसे प्रकट हुआ प्रतीत होता है, वह प्रभु मुझे मेधाका प्रदान करे।

वेदका आविर्भाव

यह तो स्पष्ट है कि, यह सारा जगत् नाम एवं रूपसे हमारे सम्मुख स्पष्टरूपसे पृथक्करणीय बनगया है और इसका विनाश होनेपर कहा जाता है कि यह '**नामशेष**' होचुका है अर्थात् कहनेका मतलब यही कि प्रलयके उपरान्त इसका सिर्फ नामही शेष रहगया है। जिस तरह सारा प्राणिवर्ग मौतके मुंहमें समाजानेपर नामशेष हुआ ऐसा कहलाया जाता है, ठीक उसी तरह सृष्टिके पूर्वभी परम ब्रह्ममें अस्फुट बीजरूपसे मौजूद रहता हुआ '**श[illegible]य वेद**' नामसे ही शेष रहा हुआ पाया जाता है। [illegible] सबका सब प्रथम तो केवल शब्दमय नामके द्वारा ही प्रकट हुआ, पश्चात् नामसे ही उत्पन्न होता हुआ अपने [illegible]ने रूपसे जुडजाता है अर्थात् आकारवाले अपने रूपसे व्यक्त होजाता है। इस भाँति

यते। यथा आत्मनः स्वं ज्ञानं स्वरूपेणैव प्रतिष्ठितं सत् वाचैव मुखेन आविर्भूतं नाम्ना शब्देनैव प्रकाशते, प्रकाशयति च स्वं सन्तमर्थमिति सर्वानुभूतिसिद्धम्। एवमेव प्राग् विश्वविसृष्टेरपि निर्विशेषे केवले प्रज्ञानरूपे सर्वज्ञे परमे ब्रह्मणि सर्वज्ञकल्पः प्रत्यक्षब्रह्मरूपः छन्दोमयः ऋगादिवेदराशिरपि परावाग्रूपेण उपसम्पन्नतरः सामरस्ययोगेन ब्रह्मात्मना एकीभूतः, प्रज्ञानरूपेण अवशिष्टः ब्रह्मस्वरूपेणैव प्रतितिष्ठति। तथा तत्प्रज्ञानप्रकाशनेन विश्वविकासार्थं तत एवाविर्भवति। तथा समाविर्भूतः सोऽयं वेदः सर्वं स्वं अर्थं प्रकाशयन् सर्वज्ञं तत्परं ब्रह्म, तद्वस्तुतत्वमपि स्वार्थतः समर्थयति।

विश्वरूपः परमात्मा वेदरूपः

यः खलु परमात्मा स्वयं नित्यसिद्धः, अस्माकं सर्वेषामपि पितृस्थानीयः सर्वसाक्षी स्वयं यज्ञरूपः सन्, सर्वं यज्ञं यजमानः निर्विशेषः प्रत्यग्दृशा आत्मन्येवान्तर्विलीनः " मौनीव " सर्वथा अनेकव्यपदेशास्पदीभूतः, इमानि इदानीं परिदृश्यमानानि सर्वाण्यपि भूतानि तदानीं तु केवलं ब्रह्मात्मना बीजरूपेणावशिष्टानि, उत्तरत्र बहिर्विसृज्यमानानि स्वीये यज्ञीये केवले प्रज्ञान-रूपे तपोऽग्नौ आजुहाव; तथा अन्ततः आत्मानमपि तस्मिन्नेव तपोऽग्नौ जुहवांचकार। यज्ञमुखेनैव विश्वस्य विसृष्टयै स्वयं यजमान इव प्रज्ञानेन स्वरूपेण प्रज्वलन्नेव आस; तस्मिन् स्वीये केवले प्रज्ञाने एव विश्वं भावयामास।

स च पुनस्तस्मिन् सर्वहुति विश्वहवनपूर्णे आत्मयज्ञे आत्मनोऽपि हवनेन नामावशेषतामुपप्राप्तोऽपि सत्तामात्रेण प्रज्ञान-रूपेण स्वयं प्रकाशमानः सन्, आशीर्वागुच्चारमात्रेण आत्मविभूतियोगपूर्णं विश्वविकासमभिलषन् आदिभूतः स्वयमनादिसिद्ध-प्रज्ञानात्मा स छन्दःपुरुषः छन्दोमुखेन विश्वमुत्सृज्य, तत्र स्वयं प्रज्ञानात्मना आविष्टः सन्, विश्वकारणादिव्यपदेशार्हो बभूव। तथा च विश्वकर्मणः आर्षं ऋङ्मन्त्रदर्शनम्।

वे वेदरूप शब्द भी वाणी का रूप धारण करते हुए, तथा नामसे अभिन्न होते हुए, खुदही ब्रह्मके वाचकरूप बने हुए, ज्ञानके रूपमें विलीन रहते हुए भी प्रज्ञानमय पर ब्रह्मसे एकरूप होकर, ब्रह्ममें ही अपना ब्रह्मरूप अस्तित्त्व बनाये रखते हैं। फिर वह ज्ञान भी और विदित ज्ञात अर्थका भाण्डार भी वाणीसे ही मुख्यतः व्यक्त होता है। जैसे आत्माका निज ज्ञान अपने ही आत्मा के रूपमें रहता हुआ, वाणीके द्वारा ही प्रकट होकर, नामसे, शब्दसे ही प्रकाशित होता है, और अपने अर्थको भी सुस्पष्ट करता है; यह सबके अनु-भवकी बात है, अतः निर्विवादरूपसे सिद्ध है। इसी प्रकार विश्व-रचना के पहले छन्दमय ऋग्वेदादि वेद भाण्डार भी, जो कि सर्वज्ञ-तुल्य एवं प्रत्यक्ष ब्रह्मरूपी ही है, केवल प्रज्ञानमय, अखंड एवं सर्वज्ञ परम ब्रह्ममें परा वाणीके रूपमें समृद्ध बनकर, ब्रह्मसे अभिन्न होकर, प्रज्ञानरूपमें शेष रहकर, ब्रह्मके स्वरूप में ही विद्यमान रहता है। पश्चात् उस प्रज्ञानके प्रकाशन द्वारा विश्वका विकास हो जाए इसलिए उसी ब्रह्मसे प्रकट होता है। उस तरह प्रकट हो यह वेद अपने सभी अर्थको प्रकाशित करता हुआ, उस सर्वज्ञ परब्रह्म को और उस वस्तु के तत्त्वको भी अपने अर्थसे पुष्टि देता है।

परमात्मा विश्वरूप तथा वेदरूप है

जो परमात्मा स्वयंही नित्यसिद्ध है, हम सभीका पिता तुल्य है और सर्वद्रष्टा तथा स्वयं यज्ञरूपी है, वह सभी यज्ञोंका यजन करता हुआ, अखंड, अन्दर की ओर देखता हुआ, अपने अन्दर विलीन रहकर, ' मौन धारण करनेवालेके समान ' सब तरह के अनेक नामोंसे युक्त है। ये अब दिखाई देनेवाले सभी वस्तुसमूह जो कि पहले निरे ब्रह्म रूपमें बीजावस्थामें अवशिष्ट थे, उन्हें वह पश्चात् अपनेसे बाहर सृजन करते समय, अपने यज्ञमय, केवलमात्र प्रज्ञान-रूपी तपोमय अग्निमें मानों आहुतिरूपमें डाल चुका और अंतमें उसी तपोमय अग्निमें अपनी आत्मा का भी हवन कर गया। यज्ञके ही जरिये विश्वनिर्मिति करनेके लिए, स्वयं ही यजमान की तरह, प्रज्ञानमय स्वकीय रूपसे मानों धधकता रहा और उसी निजी संपूर्ण प्रज्ञानमें विश्वकी भावना करने लगा।

फिर वह ब्रह्म भी उस सबकी आहुति डाले हुए, विश्वके हवनसे परिपूर्ण आत्मयज्ञमें आत्माकी भी आहुति डालनेसे **' नामशेष '** हुआ, तथापि प्रज्ञानमय निरी सत्ता के सहारे स्वयं प्रकाशमान होता हुआ, आशीर्वादमय वचनके कहनेमात्रसे, अपनी विभूति को प्रकट करनेके योगसे युक्त विश्वविकासकी चाह करता हुआ, सबके प्रारंभ में अवस्थित, खुदही अनादि सिद्ध प्रज्ञानसे पूर्ण, छन्दः पुरुष बन कर, छन्दके जरिये विश्वका सृजन कर, वहाँ स्वयंही प्रज्ञानमय रूपसे घुसकर, विशेष कारण आदि नाम पाने योग्य बना। इस संबंधमें विश्वकर्मा ऋषिका यह ऋग्वेद मंत्र देखना चाहिए—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश।' इति। (ऋ० १०।८१।१)
स परमः पुरुषः स्वयं न जातः, तथा कदाचिदपि न जायमानः, न च पुनर्जनिष्यमाणोऽपि, विश्वविभूतियोगेन सर्वज्ञान-क्रियाशक्तियोगाच्च एक एव बहुधा नामभिः रूपैश्च युक्तः सन् प्रकाशते।
" अजायमानो बहुधा विजायते " इति च श्रुतिः (वा० य० ३१।१९; तै. आ. ३।१३।१)
तथा स विश्वतः प्राचीनतमः प्रथमः परः पुरुषः स्वीयेनैव प्रज्ञानप्रकाशशक्तिविशेषेण पूर्णः आत्मयज्ञाद् बहुधा विश्वरूपेण स्वयं आविर्भवन्, विश्वमेतदुत्सृजन्, विश्वमूलबीजभूतां छन्दोमयीं वाचं छन्दोनिबद्धं काव्यरूपं सर्वार्थवाचकस्वरूपं शब्दराशिं सन्दधार, आत्मविभवाय विश्वविभूतिविजयाय च बाणसन्धानमिव प्रज्ञानरूपेण सिद्धां सर्वज्ञानक्रियाशक्तिपूर्णां मन्त्रमयीं वाचं आत्मन्यन्तः धारयामासेति यावत्। तथा च कुत्सस्य आर्षं दर्शनम्—

'स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा।
आपश्च मित्रं धिषणा च साधन्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥' इति। (ऋ० १।९६।१)

तथा सर्वज्ञानप्रकर्षाय प्रज्ञानरूपेण सन्धृतां तां छन्दोमयीं वाचं, स परमः पुरुषः प्रथमतः सर्वहुन्नामकात्पूर्वोक्तात् आत्मयज्ञरूपात्तपसः उच्छ्वासरूपेण बहिरुत्ससर्ज। सा परा वागेव गायत्र्यादिच्छन्दोनिबन्धनक्लृप्ता मन्त्रमयी ऋगादिरूपा आसीत्।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥
ऋ. १०।८१।१

"(यः ऋषिः होता) जो अतीन्द्रियद्रष्टा एवं आहुति देनेवाला ब्रह्म (नः पिता) हमारा पिता है, वह (इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्) इन सारे भुवनोंकी आहुति देकर, (नि असीदत्) अपने स्वरूपमें अवस्थित हुआ है, (सः) वह ब्रह्म (आशिषा) आशीर्वचनसे (द्रविणं इच्छमानः) द्रव्यकी कामना करता हुआ, (प्रथमच्छत्) अपने मूल रूपको छिपाकर (अवरान्) निम्नकोटिकी वस्तुओंमें (आ विवेश) पूर्णतया प्रविष्ट हुआ, जिस तरह मिट्टी घडेमें पूरी तरह प्रविष्ट हो जाती है।"

वह परम पुरुष स्वयं पैदा नहीं हुआ और वैसेही कभी न जन्मता हुआ, फिर कभी पैदा होनेवाला नहीं है, तो भी सभी तरहके विश्व-रूप बननेके योगसे सभी ज्ञान, क्रिया एवं शक्तियोंके सहारे अकेला एक रहनेपर भी बहुतसे नामों एवं रूपोंसे युक्त होकर विराजता है। वेद भी यही बतलाता है कि ' अजायमानो बहुधा विजायते ' (वा. य. ३१।१९; तै. आ. ३।१३।१) अर्थात् वह परब्रह्म जन्म न लेता हुआ भी विविध ढंगोंसे विशेष तरह प्रकट हो जाता है।

उसीप्रकार, वह सभी ओरसे प्राचीनतम प्रथम एवं परम पुरुष, अपनेही प्रज्ञान, प्रकाश एवं विशेष ढंगकी शक्तिसे संपूर्ण होकर, आत्मयज्ञद्वारा बहुतप्रकारसे विश्वका नाना रूप धारण कर प्रकट होकर, इस विश्वका सृजन करता है, और विश्वके मौलिक बीज स्वरूप छन्दमयी वेदवाणी एवं छन्दमें निबद्ध काव्यरूपी, सभी अर्थोंके बतलाने हारे वेदके शब्दभाण्डारको धारण कर चुका है। इसका मतलब यही है कि, आत्मवैभवके लिए, तथा विश्वके ऐश्वर्य के विजय के लिए, प्रज्ञानरूपसे सिद्ध, संपूर्णज्ञान क्रिया एवं शक्ति से युक्त मंत्रमयी वाणीको अपने अन्दर इस भाँति धर दिया जैसे कि कोई धनुषपर बाण रख दे। इस संबंधमें कुत्स ऋषिका देखा मंत्र यूं है—

स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा। आपश्च मित्रं धिषणा च साधन् देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ ऋ. १।९६।१

" (सहसा जायमानः सः) बलपूर्वक पैदा होता हुआ वह ब्रह्म (प्रत्नथा) पहलेके समानही (सद्यः) उसी क्षण (विश्वा काव्यानि) सभी काव्योंको (वट् अधत्त) सहजही धारण कर चुका है। (आपः च धिषणा च) जलोंने तथा वाणीने उसे (मित्रं साधन्) मित्रके रूपमें सिद्ध किया तथा (द्रविणोदा अग्निं देवा धारयन्) द्रव्य देनेवाले अग्निको देवोंने धरदिया।"

उस प्रकार, सभी तरहके ज्ञानके प्रकर्षके लिए प्रज्ञानके नाते रखी हुई उस छन्दोमयी वेद वाणीको उस परम पुरुषने सर्व प्रथम, पहले बतलाये हुए सर्वहुत् नामवाले आत्म यज्ञरूपी तपसे, बाहरी साँसके तौरपर, बाहर छोडदिया। वह परा वाणीही गायत्री जैसे छन्दोंसे घिरी जाकर मंत्रमय ऋचा आदि रूपोंमें प्रकट हुई। इस

तथा च ऋङ्मन्त्रवर्णः नारायणार्षेयः। 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' इति (ऋ० १०।९०।९)

'उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि।' (ऋ०२।२३।२); 'प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थम्।' इति (ऋ० १।४०।५) 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः०' इत्याद्यौपनिषदं ब्राह्मणम्। (बृ० उ० २।४।१०) तथैव स परमः पुरुषः छन्दोनिबद्धया काव्यरूपया तथा आदिमया परया वाचैव देवादिमानवान्ताः स्वसरूपाः सचेतनाः इमाः सर्वाः प्रजाः जनयामास। तथा च कुत्सः- 'स पूर्वया निविदा कव्यताऽऽयोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्' इति। (ऋ० १।९६।२) प्रज्ञानचेतनाशक्तेः सञ्चालनेन उच्छ्वासरूपेण वागुच्चारमात्रेण विश्वमेतदुत्ससर्जेति श्रूयते। अविद्यमानवद् बीजरूपेण ब्रह्मण्यन्तर्हितस्य अनुन्मिषतोऽस्य जगतः स एव प्रथमतः, सङ्घटितः आविर्भावः इति च। तथा च बृहस्पतेरार्षं दर्शनम्—

'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।' इति (ऋ० १०।७२।२) तत्तद्वाचकात् वैदिकाच्छब्दादेव सर्वजगदाविर्भाव श्रूयते। 'एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभि सौभगा' इति (ऋ० ९।६२।१ साम० ८३०); तस्येदमौपनिषदमुपव्याख्यानब्राह्मणम्—

संबंधमें नारायण ऋषिका देखा ऋग्वेदका मंत्र देखना ठीक होगा-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥

ऋ. १०।९०।९

"उस सर्वहुत यज्ञसे ऋचाएँ तथा साम उत्पन्न हुए, उससे छन्दों का प्रकटीकरण हुआ और यजुः भी उससे उत्पन्न हुआ।"

उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि। ऋ. २।२३।२

"तू सचमुच सभी ब्रह्मों याने वेदवाणियोंका सृजन कर्ता है, ठीक उसी तरह जैसे कि ज्योति अर्थात् प्रकाश से महनीय सूर्य किरणोंका निर्माण करता है।"

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। ऋ, १।४०।५

"यह ब्रह्मोंका पति सचमुच प्रशंसनीय मंत्र उत्कृष्टतया कहता है।"

अब बृहदारण्यक उपनिषदका भी वचन इसकी पुष्टिमें देख लीजिए- '**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व वेदः...** (बृ. उ. २।४।१०) "ये चारों वेद तो इस परम ब्रह्मके मानों साँस लेनेके समान सहज-साध्य हैं।"

उसीतरह, ध्यान में रखना चाहिए कि उस परम पुरुषने छन्दोबद्ध, काव्यमय एवं आदिम उसी परम वाणीसेही देवोंसे लेकर मानवों तक दीखनेवालीं, अपने ही स्वरूपवालीं, चेतनायुक्त ये सारी प्रजाएं उत्पन्न करडालीं। इस संबंध में ऋषि कुत्सका देखा मंत्र बताता है-

स पूर्वया निविदा कव्यता आयोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।... (ऋ. १।९६।२)

'वह पूर्वकालीन मानवीय स्तोत्रसे प्रशंसित होता हुआ इन मानवी प्रजाओंका सृजन कर चुका।' ऐसा वेदमंत्रोंमें सुना जाता है कि, प्रज्ञान एवं चेतनाशक्ति के आन्दोलन से सिर्फ साँस छोडनेके तुल्य, वाणी के उच्चारण मात्र से ही इस समूचे विश्वका सृजन किया गया है और जोकि पहिले अस्तित्व में न रहते हुए के समान ही था, परन्तु जो बीजरूपसे उस समय में भी ब्रह्म में अन्तर्लीन था तथा जिसकी थोडीसी भी झाँकी नहीं दिखलाई देती थी, इस जगत् का वही सर्व प्रथम संगठित प्रकटीकरण था इस विषय में ऋषि बृहस्पति का देखा मन्त्र बताता है-

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥ (ऋ. १०।७२।२)

"ब्रह्मणस्पतिने (कर्मार इव) धौंकनी फूँकनेवाले के समान (एता सं अधमत) इन जन्मों को भलीभाँति श्वासपूरित कर दिया और देवों के पूर्व युगमें असत् से सत् प्रकट हुआ अर्थात् विश्वकी अप्रकटित स्थिति से विश्वकी प्रकट स्थिति हो गयी।

उस उस वस्तुके लिए प्रयुक्त वैदिक शब्दसे ही समूचे जगत्का आविष्करण स्पष्ट होता है जैसे कि-

एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः।
विश्वान्यभि सौभगा। (ऋ. ९।६२।१; साम. ८३०)

' एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यान् इन्दव इति पितॄन् तिरः पवित्रमिति ग्रहान् आशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रं अभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः । इति । (ब्र० सू० भा० १।३।२८) 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।' इति च स्मृतिः। तदेतन्निर्णीतं विस्तरशश्च प्रपञ्चितमुभयत्रापि मीमांसायाम् । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ।' इति. (पू० मी० सू० १।१।५) 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। अत एव च नित्यत्वम् ।' इत्यादिभिः सूत्रैः (ब्र० सू०) कथं वागुद्वारमात्रेण विश्वाविर्भावः ? इति वचनमुपपद्यते– " ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनु धावति " इति सिद्धमन्त्राणां सत्यवचनानां च तादृशसामर्थ्ययोगात् । किं पुनः सर्वेश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतः स्वतःसिद्धसत्यमन्त्रवचनस्य " स भूरिति व्याहरद् भुवमसृजत, तत्पृथिव्येव समपद्यत " इत्यादिश्रुतेः । " ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः० " इति च स्पष्टम् । एवं संसिद्धसत्यमंत्रवचनानां ऋषीणामपि तादृशं सामर्थ्यं श्रूयते– " युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः । ऋभवो विष्ट्यक्रत । " इति (ऋ० १।२०।४) सत्यमंत्रा ऋजुगामिनः ऋभवः-- सुधन्वनः पुत्राः " ऋभुः विभ्वा वाजः" इत्येते त्रयःऋषयः वृद्धौ मातापितरौ कर्मणा तपसा सिद्धमंत्रसामर्थ्याच्च पुनः युवानौ चक्रुरिति वेदे प्रसिद्धम्। 'अमन्यमानाँ अभिमन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्यु-

---

' ये शीघ्रगामी सोम पवित्र के परे सृजन कर छोडे गये हैं और विश्वके सभी सौभाग्यों को निर्माण करनेके लक्ष्यमें रखे गये हैं । ' उपनिषदमें उसका इस भाँति विवरण किया है...

एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत, असृग्रमिति मनुष्यान्, इन्दव इति पितॄन, तिरः पवित्रमिति ग्रहान्, आशव इति स्तोत्रं, विश्वानीति शस्त्रं, अभि सौभगेत्यन्याः प्रजाः । इति । (ब्र. सू. भा. १।३।२८)

और स्मृति भी कहती है–

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

' स्वयंभू परमात्माने प्रथम नित्य, एवं आदि अन्तरहित वाणी काही सृजन किया, जिसे दिव्य एवं वेदमयी कहते हैं और जहाँसे सभी प्रवृत्तियों का उद्गम हुआ है '

इस संबंधमें दोनों मीमांसाओंमें विस्तारपूर्वक कहा है तथा निर्णय भी करलिया है । ' औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणे बादरायणस्यानपेक्षत्वात् । ' ((पू. मी. सू. १।१।५)

' शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।
अत एव च नित्यत्वम् । ' (ब्रह्म सूत्र) आदि सूत्र देखने योग्य हैं ।

भला सिर्फ वाणीके उच्चारण से ही विश्वका प्रकटीभवन कैसे हो सकता ? यह प्रश्न ठीक ही है 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनु धावति ' इस तरह, सिद्धमन्त्र तथा सत्यवचनी सिद्ध पुरुषोंमें उस ढंग का सामर्थ्य विद्यमान रहता है; तो फिर उस सबके प्रभु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं स्वयंसिद्ध सत्य-मंत्रों तथा सत्य वचनों से युक्त परम ब्रह्मके संबंध में क्यों आशंका की जाय ? क्योंकि श्रुति भी इस प्रकार प्रतिपादन करती है ' स भूरिति व्याहरद् भुवमसृजत, तत्पृथिव्येव समपद्यत । ' अर्थात् उसने ' भूः ' शब्द का उच्चार किया, तुरन्त भूमि का सृजन किया, वही पृथिवी में परिवर्तित हुई। यह भी साफ ज्ञात है 'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः० ' जो सब विद्याओं का प्रभु है, सब भूतोंका जो ईश्वर है, जो सब मंत्रों और ज्ञानों का प्रभु हैं वही सब का अधिपति ब्रह्मा है । इस भाँति जो ऋषि सत्य मंत्रों एवं सत्य वचनों में सिद्धि प्राप्त कर चुके हों; वे ही उस ढंग का सामर्थ्य रखते हैं ऐसा सुना जाता है जैसे, ' युवाना पितरा पुनः सत्यमंत्रा ऋजूयवः । ऋभवो विष्ट्यक्रत । ' ऋ. १।२०।४. अर्थात् सत्यमन्त्रवाले सरलताको चाहनेवाले ऋभुओंने पितरोंको फिर युवक बना दिया । सत्यमंत्रोंसे युक्त तथा सरल मार्ग से जानेवाले ऋभुनामक सुधन्वाके पुत्र जो संख्यामें ३ थे और ' ऋभुः, विभ्वा, वाजः ' नाम धारी थे, वे ऋषि बनकर अपने वृद्ध मातापिताओं को कर्म, तपस् एवं सफल मन्त्र सामर्थ्य के जरिये फिर युवक बना चुके सो बात वेद में विख्यात है । दूसरा मन्त्र देखिए–

अमन्यमानाँ अभिमन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र।
(ऋ. १।३३।९.)

मिन्द्र (ऋ० १।३३।९) इति च अर्थज्ञानरहितानपि रक्षितुं स्वकीयत्वेन अभिमन्यमानैर्मन्त्रैः इन्द्रः दस्युं निर्जघानेति। प्रसिद्धं चेदमिदानीमपि लोके तथा शास्त्रे च सिद्धमन्त्राणां सत्यवचनानां महात्मनां तपस्विनां तथा गुरुजनानां च शापेन आशिषा च तद्वचनमात्रेण निग्रहानुग्रहादिरूपः तदर्थः फलतः प्रत्यक्षं सिध्यतीति।

तस्माद्विश्वाविर्भावकारणीभूतत्वात् परब्रह्मणः स्वतःसिद्धं सर्वशक्तिमत्त्वादिकमिव, तत एव हेतोः तदात्मकस्य प्रत्यक्षब्रह्मरूपस्य ऋगादिवेदस्यापि सर्वार्थबोधकत्वात्सर्वज्ञकल्पत्वं, सर्वकार्यकारित्वात् सर्वशक्तिरूपत्वं, सर्वप्रकाशकत्वं, तथा अनन्यसापेक्षकं प्रत्यक्षं प्रामाण्यं च स्वतःसिद्धमेवेति यथोक्तं सर्वं सम्पन्नतरम्।

अत्रायं कश्चित्पुनर्विचारप्रसङ्गः, कथमेतदुपपद्यते– तत्स्वरूपाधिगमे तद्वचनमेव प्रमाणं भवितुमर्हतीति। तथा चेत् स्वमुखेनैव स्वपाण्डित्योपवर्णनमिव, क्वचिदहङ्कारादिस्तवनमिव, क्वचिद् वृथाजल्पनमिव, क्वचिदुन्मत्ताद्युद्घोषणमिव, वेदवचनमपि प्रामाणिकानामप्रमाणार्हं आस्तिकानामश्रद्धार्हं च भवेत्। तथा आस्तिकानामपि चिरात्प्रतिष्ठिता दृढतरा वेदश्रद्धाऽपि अन्धपरम्परागतैवेति नास्तिकप्रसिद्धिरेव चिरतरप्रतिष्ठार्हा स्यात्। तथा च एतावता महता प्रबन्धेन स्वतः प्रत्यक्षं प्रमाणं इति साधितोऽपि वेदः सर्वेषामप्यश्रद्धेयवचन एव भवेत्।

तेन सदसद्विषयकयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रयोजकप्रमाणान्तराभावात् सर्वेषामपि सर्वत्र विषयेषु यथेच्छाचारप्रवृत्तिरनिवार्या स्यात्, तेनैव च सर्वेषामप्यनर्थपरम्परया सर्वदा सर्वथैव दुःखानुभवप्रसङ्गः समापद्येतेति अत्यन्तं शोचनीयमेवेदम्। सत्यमेवैतत्, तथापि अत्रास्ति कश्चिद्विवेकः समाधानकारणीभूतः, तत्तत्पुरुषविदितार्थानां स्वरूपप्रज्ञानानुभवादीनां अन्यस्मै वितरणेन प्रकाशने तत्तत्पुरुषवचनमेव प्रमाणमिति ब्रूमः, तदेतद्वस्तुसिद्धं तत्त्वमिदानीमपि सर्वेषां तत्समानम्। सुविदितशास्त्रतत्त्वानां विदुषामपि वचनं अहङ्कारादिप्रख्यापननिमित्तेन अप्रमाणं चेत्, एकस्यानुभूतं विदितं चार्थं को वाऽन्यो विज्ञातुं समर्थः ?

अर्थात् इन्द्रने अर्थ ज्ञान से शून्य लोगोंकी भी रक्षा करनेके लिए अपनेपनका गौरव जाननेहारे मंत्रों से दस्यु का वध किया। आज दिन भी लोकव्यवहार तथा शास्त्र में यह अत्यन्त प्रसिद्ध बात है कि, सिद्धमंत्रों से युक्त, सत्यवचन कहनेवाले महात्मा, तपस्वी तथा गुरुजनों के शापवचन या आशीर्वाद से, तुरन्त वह वचन बोलते ही निग्रह या अनुग्रह आदि स्वरूपवाला फल कार्यरूपमें देखते देखते ही परिणत हो जाता है।

विश्वके सृजनमें कारणीभूत उसपर ब्रह्मके स्वयं सिद्ध सर्वशक्तिमत्व आदि अनेक गुण हैं, इसीतरह, उसीके हेतु होनेसे उससे अभिन्न, प्रत्यक्षब्रह्मरूपवाले ऋग्वेदादि वेदों का भी सभी अर्थ बतलाने के कारण सर्वज्ञतुल्यत्व, सभी कार्य करनेके फलस्वरूप सर्वशक्तिरूपत्व, सर्व प्रकाशकत्व और किसी अन्यकी अपेक्षा न रखनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाणत्वतक स्वयं सिद्धही है, इसलिए पूर्वोक्त सब विधान सुसंगत ही है।

अब यहाँ फिर एक विचार करने योग्य अवसर आता है– यह कैसे ठीक जान पडता है कि, उस ब्रह्मके स्वरूपको जाननेमें उसीका वचन प्रमाण माना जाय ? यदि ऐसा हो तो अपनेही मुँहसे निजी विद्वत्ताका बखान करलेनेके समान, कहींपर अहंकार आदिकी सराहना करने जैसे, कहीं निरर्थक बकवास करनेके तुल्य तो एकाध जगह पागल आदिके गर्जन की नाईं वेदवचन भी सत्यभक्तोंके लिए अप्रमाणिक और आस्तिकोंकी दृष्टिमें श्रद्धा न रखने योग्य होगा। और दूसरे, नास्तिकों की जो यह प्रसिद्ध धारणा है कि, आस्तिकोंमें बहुत काल से चली आयी एवं दृढमूल वेदविषयक श्रद्धा भी सिर्फ अन्धपरंपरासे ही प्रचलित है, वही अत्यधिक प्रतिष्ठित मानने योग्य बनेगी। उसीप्रकार, इतने बडे प्रबंधसे वेद स्वतःप्रमाण है, ऐसा सिद्ध करनेपर भी सबकी श्रद्धा प्राप्त करनेमें अयोग्य ठहरेगा।

इसका एक अत्यन्त खेदजनक नतीजा यूं होगा कि, बुराईसे निवृत्त होने एवं भलाईमें प्रवृत्त होनेमें प्रयोजक दूसरा कोई प्रमाण न रहनेसे सभी लोगोंकी सभी विषयोंमें यथेच्छ आचार करनेकी प्रवृत्ति अवश्य बढ जायगी, और उसीके फलस्वरूप सबपर अनर्थपरंपरा के टूट पडनेसे हमेशा दुःख भोगना पडेगा। हाँ, यह ठीक है, तोभी समाधान करनेके लिए हम यों कहते हैं कि, इस भाँति विचार कर लो कि किसी पुरुषके समझे हुए अर्थोंके तथा उसके स्वरूप, प्रज्ञान एवं अनुभव आदि बातोंके दूसरोंको प्रदान करनेमें उस उस पुरुषका वचनही तो प्रमाण माना जाता है, यह तो सबकी समानरूपसे मानी हुई बात है। शास्त्रों के तत्त्वको भली भाँति जाननेवाले विद्वानोंके वचनोंको भी अहंकारका बखान करना जैसे कारण बतलाकर अप्रमाण समझा जाय, तो किसी एककी अनुभूति को और उसके समझे हुए अर्थको भला दूसरा कोई कैसे समझ सके? उन वचनोंके न रहनेपर या उन्हें अप्रमाणिक मान लेनेपर उन

तद्वचनस्याभावे तदप्रामाण्ये च तद्विज्ञातार्थादिप्रकाशे तद्वचनमन्तरेण साधनान्तरस्यासम्भवात् अशक्यत्वादयोग्यत्वाच्च ज्ञानोपदेशादेरनवकाशः, तथा आनर्थक्यप्रसङ्गश्च प्रसज्येत।

तद्यथा मौनिनो मूकस्य च वचनाभावेन तद्विदितार्थप्रकाशः सर्वथाप्यशक्यसम्पाद एवेति प्रत्यक्षसिद्धम्। कथं तर्हि एकेन विदितस्यार्थस्य उपलब्धिरन्येषाम्, तद्वचनाभावे तदर्थं किमन्यत्साधनं भवितुमर्हति? ततः किम्? यदि एकस्य वचनमन्यस्य प्रमाणं न भवेत्, तर्हि सर्वैरपि स्वयम्प्रज्ञैः सर्वज्ञैरेव भवितव्यं, अज्ञैर्वा स्थातव्यमिति ज्ञानोपदेशाद्यनवकाशात् अन्धपरम्परैव समापद्येत। तद्यथा भिषग्वराणां वचनमौषधं च अप्रमाणं चेत् रुग्णैरेव स्वानुभवेन औषधं शोधनीयं, सर्वदा रोगदुःखं वा अनुभाव्यं भवेत्। तथा च औषधसेवनमन्तरेण न तदनुभवः, अनुभवं विना औषधमप्रयोजनकरमिति अनर्थ एव तत्र प्रसज्येत। एवमेव प्राग्विश्वविसृष्टेः अन्यस्याभावात् स्रष्टुर्वचनस्याभावे तदप्रामाण्ये च विश्वस्रष्टुस्तस्य वस्तुतत्वे सृष्ट्यादेश्च विषये अत्यन्तमप्रसिद्धेऽर्थे किमन्यत्प्रमाणं भवितुमर्हति, उत्तरत्र इदानींतनैर्यथा कथञ्चित् तत्परिकल्पनेऽपि तस्य कल्पनामात्रार्थपर्यवसायित्वेन सर्वथा अज्ञानमेव व्याप्रियेत।

एवं प्राचामृषीणां ईशस्य वा वेदादिरूपं शास्त्रवचनं अप्रमाणमिति मन्यमानः अन्यवचनाप्रामाण्यवादेन स्ववचनस्यैव प्रामाण्यमनुवदन् अहंकारवादीव अश्रद्धेयवचन एव भवेत्, कथं तर्हि "**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**" (तै० उ० २।४; ब्रह्मो० २२) "**मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्वं युवानम्**" इति च श्रुतिनिर्दिष्टं तस्य ब्रह्मणः वाचा अनिर्वचनीयत्वं तथा मौनेनैव तत्प्रकाशनीयत्वं च प्रसिद्धम्।

कथं अनिर्वचनीयस्य निर्गुणस्यापि ब्रह्मणः श्रुत्या निर्वचनम्, कथं च वेदवाचा तदुपदेशः कर्तुं शक्यः, येन तत्प्रामाण्यमभ्युपगम्येत? उच्यते— तस्य शब्दमुखेन श्रुतस्यापि अनुभवैकगम्यत्वोपदेशोऽयम्, नहि तावता तद्वचनस्य वेदस्याभावः, तदप्रा-

---

विद्वानोंके समझे हुए अर्थके प्रकाशनके संबंधमें उन वचनोंके सिवा दूसरा कोई साधन न रहनेसे, ज्ञान उपदेशादि देना असंभव होनेसे अनर्थपरंपरा टूट पडेगी।

यह तो अनुभवसिद्ध वात है कि मौनव्रतधारी और गूँगेका कोई वचन न होनेसे, उनके समझे हुए अर्थका प्रकटन किसी तरह संभव नहीं है। तो फिर भला एकके विदित अर्थको दूसरा कैसे समझसके? यदि उसका वचन न मिल सके तो उस अर्थको जाननेके लिए भला दूसरा साधन क्या होसकता है? फिर आगे क्या किया जाय? यदि किसीका वचन दूसरेके लिए प्रमाण न होसके, तो या तो सभी स्वयंप्रज्ञायुक्त, सर्वज्ञ वनजायँ, अथवा सव लोग अज्ञान दशामें ही रहें। क्यों कि ज्ञान या उपदेशादिके लिए वचनका प्रामाण्य न होनेसे मौकाही नहीं रहता, तव केवल अन्धपरंपरा ही जारी रहेगी। जैसे यदि किसी विद्वान वैद्योंका वचन या औषध प्रमाण नहीं है, ऐसा मानने लगें, तो रोगियोंको चाहिए कि वे खुदही अपने अनुभवसे औषधको खोज लें, नहीं तो हमेशाके लिए रोगपीडितही रहें। और भी, विना औषधि पीलेनेके वह अनुभव नहीं मिल सकता, और सिवा अनुभव के हरएक दवाई निरुपयोगी ठहरेगी, इस तरह वडा अनर्थ हो जायगा। इसी प्रकार, विश्वके सृजनके पहले, दूसरा कोई न था इसलिए, सृजनकर्ताका वचन न हो और उसे अप्रमाणिक माना जाय, तो उस विश्वनिर्माता के वास्तविक ज्ञानके एवं सृष्टि आदिके वारेमें अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थमें भला दूसरा क्या प्रमाण हो सकता है? और पश्चात् आधुनिक लोग जिस किसी तरह उसकी कल्पना भी कर लें, तो भी उसका अन्त केवल कल्पनामें होजानेसे सभी प्रकारसे अज्ञानही फैल जायगा।

इस प्रकार प्राचीन ऋषियों या ईश्वरके वेद आदि के रूपमें विद्यमान शास्त्रवचनको अप्रमाण मानता हुआ, दूसरेका वचन अप्रमाण है, ऐसा समझनेवाला, पर अपने ही वचनका प्रमाणत्व प्रस्थापित करनेवाला अहंमन्य जिस तरह अविश्वसनीय ठहरता है, वैसेही अप्रमाणित होगा। तो फिर उस ब्रह्मका, श्रुतिमें वतलाये ढंगसे, वाणीसे अवर्णनीयत्व एवं मौनसे ही उसका प्रकाशन संभव होना, किस तरह सिद्ध होसकता? देखो ये मंत्र इस वारेमें क्या कहते हैं— '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' (तै. उ. २।४।५ ब्रह्मो० २२) और "**मौनव्याख्या प्रकटित परब्रह्मतत्वं युवानम्।**"

निर्गुण तथा अनिर्वचनीय ब्रह्मका विवरण श्रुति के द्वारा कैसे होसकता और वेदवाणीसे कैसे उसका उपदेश किया जासकता है जिससे कि हम उसकी प्रामाणिकताको समझसकें? इसका उत्तर इस तरह है— शब्दके द्वारा उसका श्रवण होनेपर भी यह उपदेश

माण्यं चेत्युक्तं भवति । यतः निर्गुणस्यापि ब्रह्मणस्तस्य शब्दस्पर्शादिभ्यो भूतगुणेभ्यो भिन्नाः विशिष्टाः सत्यज्ञानानन्तत्वादयः स्वभावतो नित्यसिद्धाः धर्माः प्रसिद्धाः श्रूयन्ते ' सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ' इति (तै० उ० २।१।१)। ते च श्रुत्यैवोपदेष्टुं शक्या अनुभवैकगम्याश्च भवन्तीति। अन्यथा ' यतो वाचो निवर्तन्ते ' इति तदनिर्वचनीयश्रुतिवचनमपि मृषैवेति तदप्रामाण्येन च सर्वथाप्यनवस्थैव प्रसज्येत ।

अपि च वेदस्य ईशवचनाभावे कृतकत्वे च अभ्युपगम्यमाने ।—

' अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च । विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे ।

तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति। तत्पुरुषस्य विश्वमाजानमग्रे। (वा० य० ३१।१७; मै० सं० २।७।१९, का० सं० ३९।२१; तै० आ० ३।१३।१)

इत्यादिकमादिसृष्टिविषयं प्रत्यक्षमेवानुवदद्वेदवचनमपि 'स्वयमहमद्राक्षं मम पितुर्जन्म' इतिवत् अप्रमाणमश्रद्धेयमेव भवेत्। तस्माद्ब्रह्मणः यथावत् स्वरूपाधिगमे तदुच्छ्वसितं ऋगादिवेदवचनमेव प्रमाणमिति सर्वथा सम्पद्यते । तथैव साक्षात्कृतात्मनामृषीणामपि वचनस्य प्रामाण्यं वेदितव्यम् ।

'अहं मनुरभवं सूर्यश्च ।' इति वामदेवः (ऋ० मं० ४।२६।१)

'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः' इति विश्वामित्रः । (ऋ० मं० ३।२६।७)

'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि । ' इति वागांभृणी (ऋ० मं० १०।१२५।१)

इत्यादिवचनासिद्धं वेदैकवेद्यं तत्तत्त्वं वामदेवादिमहर्षीणामनुभवसिद्धं ब्रह्मात्मैक्यं दर्शयितुमन्यथा अशक्यमेव । अत एव ' प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व ' इति (कौ० ब्रा० ३।२) इन्द्रप्रतर्दनसंवादे इन्द्रस्याभिमानव-

---

केवल अनुभवसे ही ज्ञात होसकता है, उतनेसेही उसके वचनरूपी वेदका अभाव एवं उसकी अप्रमाणिकता हुई, सो बात नहीं । क्यों कि उस ब्रह्मके निर्गुण-रहनेपर भी उसके विशिष्ट, स्वभावसेही नित्यसिद्ध सत्य, ज्ञान, अनन्तत्व जैसे गुण शब्द, स्पर्श आदि भौतिक गुणोंसे भिन्न जो इस तरह वर्णित हैं ' सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ' (तै. उ. २।१।१) श्रुतिही इन गुणोंका उपदेश कर सकती है और अनुभवके सहारेही उनकी जानकारी हुआ करती है । नहीं तो ' यतो वाचो निवर्तन्ते ' इस प्रकार अनिर्वचनीय श्रुति वाक्य भी झूठा साबित होगा और उसकी अप्रामाणिकतासे सर्वत्र अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होनेसे अनर्थही होगा ।

यदि इसपर भी वेदवचनोंको कृत्रिम, मनुष्यकृत तथा परमात्मा के वचन नहीं, ऐसा मानलें, तो जो वेदके वाक्य प्रत्यक्षके तुल्य आदिसृष्टि विषयक उल्लेख करते हैं, जैसे कि–

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च । विश्वकर्मणः समवर्तताधि । तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति । तत्पुरुषस्य विश्वमाजानमग्रे । (वा. य. ३१।१७; मै. सं. २।७।१९; का. सं. ३९।२१; तै. आ. ३।१३।१)

सभी उसीतरह अप्रमाणिक एवं श्रद्धा न रखने योग्य बनेंगे। जैसे कोई कहने लगे 'मैं खुद अपने पिताका जन्म देख चुका हूँ ।' वैसेही वे वाक्य बनेंगे अतः संपूर्णतया सिद्ध हुआ कि ब्रह्मके यथावत् स्वरूपको भली भाँति जाननेके लिए उसके साँस बाहर छोडनेके तुल्य ऋग्वेदादि वेदोंके वचनही सब प्रकारसे प्रमाण हैं । उसीतरह जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार करनेमें सफलता पायी हो, ऐसे ऋषियोंके वचनोंको भी प्रमाण माननेमें कुछ हर्ज नहीं । देखिए उन ऋषियोंके वचनोंको—

वामदेव ऋ. ४।२६।१ में कहता है कि—

' अहं मनुरभवं सूर्यश्च । ' मैं मनु एवं सूर्य हो चुका।'

विश्वामित्र प्रतिपादन करता है कि—

' अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः । ' ऋ. ३।२६।७

मैं जन्मसे ही उत्पन्न हुए पदार्थोंको जाननेवाला या जतानेवाला अग्नि हूँ ।

वागाम्भृणी ऋषिका कहती है कि—

' अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि ।' ऋ. १०।१२५।१

मैं रुद्रों एवं वसुओंके साथ घूमती हूँ।

ऐसे वाक्योंसे सिद्ध, वेदोंसेही जानने योग्य वह तत्त्व, वामदेव जैसे महर्षियोंके अनुभवोंसे निश्चित, ब्रह्म एवं जीवका अभिन्नत्व अन्य ढंगसे दर्शाना सरासर असंभव है । इसीलिए **' प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व '** (कौ. ब्रा.) " मैं प्रज्ञायुक्त प्राण हूं अतः ऐसे मुझको अमृत, जीवन समझ मेरी उपासना कर । " इन्द्र एवं प्रतर्दनके बीच वार्तालापमें इन्द्रके सगर्व वचनोंका

चनाक्षेपेण 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेवादिवत्।' इति (ब्र० सू० १।१) विदुषां साक्षात्कृतात्मनां तादृशानुभवोपदेशः नाभिमानादिरूपः नाप्यप्रमाणभूतः इति निर्णीतम् ब्रह्ममीमांसायाम्। 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति' इति च औपनिषदं ब्राह्मणम् (बृ० उ० १।४।१०)

तथैव सर्वेषां विदुषां इदानींतनानामपि वचनं तद्विदितार्थविबोधे प्रमाणमेव। अज्ञानां तु 'अहं प्राज्ञः अहं सर्वज्ञः' इत्यादिकमयथार्थवचनमप्रमाणमेवेति निर्विवादम्।

प्रत्युत अज्ञानामपि यथार्थवचनं तद्विदितार्थविबोधे प्रमाणमेव "बालादपि सुभाषितम्" इति च न्यायसिद्धम्, तद्विदितार्थस्य तु सत्यत्वासत्यत्वयोरेवास्ति विवादः। तस्मात् सर्वदा समस्वरूपस्य परब्रह्मणः समुदितं प्रत्यक्षब्रह्मरूपं नित्यसिद्धं सर्वथा हिततमं यथार्थावबोधकत्वात् वेदवचनं प्रमाणम्, तद्वत् सद्विद्यापरिशीलनेन तपसा सदसद्विवेकेन सुविदितसत्यवस्तुतत्वानां साक्षात्कृतात्मनां ब्रह्मभावोपपन्नानां सर्वत्र समदृष्टीनां विश्वहितैषिणामृषीणां विदुषामपि श्रुतिस्मृत्यादिसद्वचनं प्रमाणार्हमिति सर्वेषां शास्त्रचिन्तकानां सिद्धान्तः।

अत्र केचिदेवं प्रत्यवतिष्ठन्ते– विश्वस्यास्य जडप्रपञ्चस्य भौतिकादितत्वबोधविषये वेदवचनं प्रमाणं भवितुमर्हतीत्युच्यतां नाम, भौतिकप्रपञ्चस्य वेदकार्यत्वात्। न तु निर्विशेषस्य स्वतःसिद्धस्य चेतनात्मनः परब्रह्मणः बोधे तत्प्रमाणं भवितुमर्हति, ततोऽपि परत्वात्। तथैव सर्वेषामप्यन्तर्हृदये अहमिति स्फुरणतः प्रसिद्धस्य ब्रह्मात्मनो ज्ञानं तत्साक्षात्कारः तन्निष्ठा च येन केनचित् साधनविशेषेण तपसा वाक्यार्थविचारादिना सेत्स्यति, सुषुप्तिवत् समाधिरपि एकाग्रतातिशये सति स्वयमेव सम्पद्यते, तत्र श्रुतिरन्यथासिद्धैव भवेत्, सिद्धार्थानुवादकत्वेन वा चरितार्थेति वक्तव्यमापतति। तदा तस्य सत्यत्वादिकं

तिरस्कार करनेके लिए '**शास्त्र दृष्ट्या तूपदेशो वामदेवादिवत्**' (ब्र. सू १।१) ऐसा कहा है अर्थात् शास्त्रकी दृष्टिसे देखनेपर तो वामदेव जैसे उपदेश प्रमाणित ही है। ब्रह्म मीमांसामें ऐसा ठहराया है कि, जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया है, ऐसे विद्वानोंका उस तरहका अनुभव युक्त उपदेश 'अभिमान युक्त है या प्रमाणिक नहीं है' ऐसा नहीं मानलेना चाहिए। '**तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति**' (बृ. उ.) अर्थात् उस इस बातको देखता हुआ ऋषि वामदेव कहने लगा कि, मैं मनु एवं सूर्य बनगया। यह उस ऋषिका अनुभव है।

उसी प्रकार आजदिन भी सभी विद्वानोंके समझे हुए अर्थ की जानकारी होनेमें उनका वचन प्रमाण मानलेना ही पडता है। हाँ, अगर अज्ञानी लोग 'मैं सर्वज्ञ हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ' ऐसा कहें तो निस्सन्देह वह मिथ्या तथा अविश्वसनीय है।

उल्टे, यदि अज्ञ जन भी वास्तविक बात कह दें, तो ज्ञात अर्थको जतलानेमें वह प्रमाणभूत समझा जाय, जैसे 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यं' यह वचन प्रसिद्ध है, केवल बहस इतनीही है कि, क्या वह समझा हुआ मतलब सत्य है या असत्य। अतः वेदवचनको इसलिए प्रमाण मानना चाहिए कि वह हमेशा समस्वरूप रहनेवाले परब्रह्मसे प्रकट हुआ है, स्वयंही प्रत्यक्ष ब्रह्म स्वरूप है, नित्यसिद्ध है और वास्तविक बात बतलानेके कारण संपूर्णरूपसे अत्यन्त हितप्रद है। उसी प्रकार, सुविद्यामें व्यासंग रखनेसे, तपश्चर्यासे, सत् और असत्के विवेकसे जिन्होंने सत्यज्ञानको भली भाँति प्राप्त किया, आत्मसाक्षात्कारमें सफलता पायी, ब्रह्मभावसे जिनका अन्तःकरण पूर्ण हुआ है, तथा सभी जगह समदृष्टिसे जो देखसकते हैं, ऐसे विश्वका हित चाहनेवाले विद्वान ऋषियोंका वचन भी श्रुति स्मृति आदिवत् प्रमाण मानना चाहिए, यह सिद्धान्त सभी शास्त्रविचारकोंको मान्य है।

यहाँपर कोई इस भाँति आक्षेप करते हैं कि,– आप भलेही ऐसा प्रतिपादन करें, इस समूची जडसृष्टिमें विद्यमान भौतिक आदि तत्त्वोंकी जानकारी पानेमें वेदवचन प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि वेदका कार्य भौतिक प्रपञ्चके विस्तारमें समाप्त होता है; परन्तु अखंड, स्वतःसिद्ध चेतनमय, परब्रह्मका बोध करानेमें वह प्रमाण नहीं होसकता, क्योंकि वह ब्रह्म उस वेदसे भी परे विद्यमान है। उसी प्रकार, सभीके अन्तस्तलमें 'मैं' इस ढंगके स्वयंसिद्ध स्फुरणसे प्रसिद्ध ब्रह्ममय आत्माका ज्ञान एवं उसका साक्षात्कार और उसकी निष्ठा जिस किसी विशेष साधनसे, तपसे और वाक्यके अर्थपर सोचने आदिसे स्वयंही होगी, जैसी सुषुप्ति- है वैसी ही समाधिभी तीव्रप्रकारकी एकाग्रता होनेपर खुदही सिद्ध हो जाती है, इसीतरह आत्मज्ञान भी स्वयं होगा और वहाँ इससे ऐसा होगा कि श्रुति अन्य ढंगसे सिद्ध होगी, अर्थात् उसका कोई प्रयोजन नहीं रहेगा,

वस्तुतत्वं तु अविदितमपि तन्निष्ठया अनुभूतमेव भवेदिति ।

अत्रेदं रहस्यम्- अन्तरात्मनः अहमिति प्रत्ययस्फुरणे वस्तुसिद्धमपि ब्रह्मतत्वं न विज्ञायते, नापि तत्सर्वानुभवसिद्धम्, तथा नो चेत् सर्वेऽपि कृतकृत्याः स्वतःसिद्धाः साक्षात्कृतात्मान एवेति, न तत्र साधनान्तरापेक्षा भवेत्, तत्तु विशिष्टाधिकारिणामितिचेत् यथा वामदेवस्य गर्भे एव ज्ञानोदयः प्रसिद्धः, तथास्तु तर्हि; तेषां तथा तत्परं ब्रह्मतत्वं स्फुरतीति कथं ज्ञायेत अन्यैः? किं तत्र प्रमाणम् ? तेषामनुभूतिनिनदितं वचनमेव प्रमाणमिति चेत्, नहि तत् ऋषीणामनुभवोदिताद्वेदवचनाद्विशिष्टम्, ज्ञानिनां वचनमेव तदनुभूतार्थविबोधे प्रमाणं चेत् वेदवचनमेवाप्रमाणमिति वचने को हेतुः ? अन्यानुभूतिवचनस्य वेदवचनस्य वा अप्रामाण्यवादेन स्ववचनैकप्रमाणवादी पुरुषोऽपि परेषामश्रद्धेयवचन एव भवेत् ।

अथ पुनः स्वानुभवैकतत्वपराणां तेषां तादृशानुभूतिज्ञानस्य परेषामलाभेऽपि, स्वसुखायालं भवति । किं तत्र अन्येषां ज्ञानलाभादिचिन्तनानुसन्धानेन ? तदिदं स्वयं श्रुतिरेवानुश्रावयति-

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ।' इति (बृ० उ० ४।४।१२)

तथा चेत् मौनिमूकादीनां ज्ञातार्थस्येव ज्ञानिनोऽपि ज्ञानस्य वाङ्मुखेन उपदेशाभावे तत्प्रकाशाभावात् प्रज्ञानाभिवृद्धिस्तत्सन्ततिश्च विच्छिद्येत । अथवा सर्वं वस्तुतत्वज्ञानं सर्वैरपि स्वयमेव सम्पादनीयं इति सर्वैरपि स्वयम्प्रज्ञैरेव भवितव्यं, नो चेत् अज्ञैर्वा स्थातव्यं भवेत् इत्यापद्येत । श्रुतिस्तु आत्मज्ञानिनां स्वभावतः सिद्धां ज्ञानतः सम्पन्नां च आत्मसुखानुभवै-

---

या ऐसा कहना पडेगा कि, वह उसी सिद्ध बात को ही दुहराती है, अर्थात जो स्वयंसिद्ध है उसको कहती है, इसलिए ऐसी ही श्रुति सफल मानली पडेगी । उस दशामें उसका सत्यत्त्व आदि वास्तविकत्त्व तो न समझनेपर भी उसकी निष्ठासे अनुभवमें आये समान ही होगा । अर्थात् श्रुतिका कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहेगा ।

यहाँ आन्तरिक रहस्यकी बात यह है, यद्यपि ' मैं ' इस ढंग से अन्तरात्मा की जानकारीका स्फुरण होजाय, तो भी वास्तवमें सिद्ध ब्रह्मके तत्त्वका बोध नहीं होने पाता, और न वह सबके अनुभव द्वारा निश्चित होता, नहीं तो सबके सभी कृतकृत्य, आत्मसाक्षात्कार किये हुए एवं स्वयंसिद्ध ही दीखते, उसके लिए किसी अन्य योगादि साधनकी जरूरत नहीं रहती, वह तो केवल विशिष्ट ढंगके अधिकारियोंके लिए ही है, जैसे कि वामदेवको गर्भावस्थामें ही ज्ञान प्राप्त होना प्रसिद्ध है, यदि ऐसी ही बात हो तो भलेही वैसे हो, उनमें उस ढंगसे उस परंब्रह्मतत्त्वका स्फुरण होता है, इस बात की जानकारी दूसरोंको भला कैसे हो ? उस में किसे प्रमाण मानलें ? यदि ऐसा कहें कि उनकी अनुभूतिसे गूँजता हुआ वह वचन ही प्रमाण है, तो फिर वह उस वेदवचनसे विभिन्न तो है नहीं, जो कि ऋषियोंके अनुभवके सहारे उठ खडा होता है; यदि यूँ कहो कि ज्ञानी जनका वचन ही उनके अनुभूत अर्थके समझनेमें प्रमाण हो सकता है, तो फिर भला वेदवचनही अप्रमाण है, ऐसा प्रतिपादन करनेमें क्या कारण है ? दूसरेकी अनुभूतिकी अभिव्यंजना करनेवाला वचन या वेदवचन अप्रमाण है, ऐसी राय प्रकट करनेवाला मानव भी जो अपने वचनको ही प्रमाणभूत मानले, दूसरोंकी श्रद्धा पानेमें अक्षमही होगा । अर्थात् उसके वचनपर भी कोई अन्य विश्वास नहीं रखेगा ।

यहाँ और एक बात ध्यानमें रखने योग्य है कि, जिनके निकट अपना निजी अनुभवरूपी एकमात्र तत्त्व मौजूद रहता हो, उनके उस भाँतिके अनुभवका बोध दूसरोंको न भी मिले, तो भी, स्वान्तः सुखाय वह पर्याप्त ठहरता है । वहाँपर, दूसरोंके ज्ञान लाभ होने आदिके बारेमें सोच एवं अन्वेषणसे क्या लाभ ? इसे तो खुद श्रुतिही इसतरह बतलाती है कि—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।
(बृ. उ. ४।४।१९)

" यदि मानव इस बातको समझले कि, मेरा आत्मा वही ब्रह्म है, तो फिर किसकी इच्छा करता हुआ और किस प्रयोजनके लिए शरीरको कष्ट दे ? "

उस दशामें मौनव्रतधारी तथा गूँगे आदिकोंके विदित अर्थकी तरह, ज्ञानसंपन्न पुरुषके ज्ञानका वाणी द्वारा उपदेश न होनेसे उसका प्रकाशन बंद होकर प्रकृष्ट ज्ञानकी अभिवृद्धि एवं उसका सतत विस्तार रुक जायगा । नहीं तो, सभीतरहका ज्ञान सबको स्वयंही प्राप्त करना पडेगा, अतः सबको या तो स्वयंप्रज्ञावान बनना पडेगा,

कतत्वपरतां यथा येन मुखेनानुवदति, तथा तेनैव मुखेन ज्ञानोपदेशात् तत्प्रकाशेन ज्ञानाभिवृद्धिं तत्सन्ततिं चानुश्रावयति। तथाहि—

'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥' इति० (मुं० उ० १।१)
'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुप ससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच०।'
इति (तै० भृ० उ० १)

'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः ॥' इति (छां० उ० ७।२६।२)
'एतावदेवाहं तत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति (प्रश्नो०६।७); अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। (बृ०उ०४।२।४)
इत्यादीनि वचनान्युदाहर्तव्यानि ॥

यथा मनुष्याणां प्रसव-गर्भाधानादिकं स्त्रीत्वपुंस्त्वादिलिङ्गं, अन्यथा तयोः स्त्रीपुरुषयोः स्वात्मसुखसिद्धावपि वन्ध्यात्वनपुंसकत्वादिप्रसिद्धिरनिवार्या स्यात्, तत्सन्ततिविछित्तिश्च। तथा स्त्रीपुरुषयोगेन आत्मप्रजासन्तत्या अमृतत्वप्रतिष्ठेव जिज्ञासोर्ज्ञानिनश्च योगेन ज्ञानसन्तत्या उत्तमामृतत्वप्रतिष्ठापि भवतीति सम्पद्यते।

'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् (ऋ० ५।४।१०); त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (कै०उ० २; महानि० १०।५) इति। तथा उभयविधममृतत्वमेकस्यैव सेत्स्यति उभययोगात्।

या अज्ञदशामें ही समय बितना पडेगा। श्रुति भी जैसे और जिस ढंगसे आत्मज्ञानसंपन्न लोगोंकी सहज सिद्ध और ज्ञानपूर्ण आत्मसुखतत्त्वमें तल्लीन बननेकी प्रवृत्ति बतलाती है, वैसे और उसी ढंगसे कहती है कि, ज्ञान के उपदेशसे ज्ञानवृद्धि तथा उसका सतत विस्तार हुआ करता है। जैसे—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह। (मुं. उ. १।१)

"विश्वका सृजनकर्ता और भुवनोंका संरक्षक ब्रह्मा देवोंमें अगुआ बनगया और उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वणको सभी विद्याओंमें गौरवास्पद समझी जानेवाली ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया।"

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच० (तै. उ. भृ. १)

"वरुणके पुत्रने पिता वरुणके निकट जाकर 'भगवन् ब्रह्मविद्याका पाठ पढाओ' ऐसा कहा उसे इस ढंगसे उपदेश दिया।"

तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः। (छान्दोग्य उ. ७।२६।२)

'भगवान सनत्कुमार उस शुद्ध शिष्यको अँधेरेके परे विद्यमान तत्व का दर्शन कराता है।

एतावदेवाहं एतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति। (प्रश्न उ. ६।७)

"परब्रह्मकी जानकारी मुझको इतनीही है; इससे अधिक मैं नहीं जानता।"

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। (बृ. उ.)

'हे जनक राजन्! तू निर्भय होचुका है।'

इस तरह ज्ञानोपदेश द्वारा ज्ञान प्रसार करनेके ऊपर दिये हुए वचन उदाहरणके तौरपर दिये जासकते हैं। जैसे मानव जातिमें स्त्रीत्व एवं पुरुषत्त्वका लक्षण प्रसूति तथा गर्भाधान करना आदिही है; नहीं तो निजी सुखोपभोग करलेनेपर भी उन नर नारियोंकी नपुंसकत्त्व, वन्ध्यात्त्व आदिकी प्रसिद्धी होना अनिवार्य है और गर्भधारणा न होनेसे उनकी सन्तानपरंपराभी टूट जायगी। उसी प्रकार स्त्री पुरुषके संयोगसे अपनी प्रजा एवं सन्तानके उत्पादनद्वारा अमरपनकी प्रतिष्ठा हुआ करती है, ठीक उसीतरह जिज्ञासु एवं ज्ञानी पुरुषके मिलनसे ज्ञानसातत्य एवं ज्ञान विस्तार द्वारा बडी उच्च कोटिकी अमृतत्त्वस्थिति प्राप्त की जासकती है, ऐसा वेदमंत्रसे सिद्ध होता है।

प्रजाभिरग्ने अमृतत्त्वमश्याम्। (ऋ. ५।४।१०)
त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः। (यजु.)

"हे अग्ने। मैं प्रजाओंसे अमरपनको प्राप्त करूं"
"कुछ लोगोंने त्याग द्वारा अमरपन प्राप्त किया है।"

उस प्रकार, यह दोनों प्रकारका अमरपन अर्थात् सन्तानद्वारा एक और दूसरा ज्ञानका शिष्यमंडलीमें प्रचार करनेसे प्राप्य अमृतत्व

'त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥' (ऋ० १।३१।७) इति मन्त्रवर्णात्
'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति० ॥' इति (मुं० उ० ३।२।९)
'इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् '(छां० उ० ३।११।५)
इति च उभयविधामृतत्वनिर्देशात् । अत एव ज्ञानोदयाय विद्वदविदुषोर्योगोपदेशः—
"अविद्वाँसो विदुष्टरं सपेम " (ऋ० ६।१५।१०) " अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते " इति (ऋ० १०।३४।९)
यथा च परब्रह्मणः स्वतःसिद्धमपि सर्वज्ञत्वं सर्वक्रियाशक्तिमत्त्वं च सर्वज्ञानपूर्णवेदवागुद्गारेण, तथा वेदवाङ्मुखेन विश्वभूतसृष्ट्या, स्वसरूपसचेतनजीवराशिविसृष्ट्या च प्रकाश्यते । तथैव सर्वज्ञानां सर्वज्ञकल्पानां च ऋषीणामपि—
" अहं ब्रह्मास्मि " इत्यादिकं ज्ञानमपि " अहं मनुरभवं सूर्यश्च " (ऋ० ४।२६।१)
'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः ' [ऋ० मं० ३।२६।७)
इत्यादि वेदवागुद्गारेण प्रकाश्यं गतं सत्, सर्वेषामपि तादृशज्ञानोदयाय कारणं भवति । तस्मात् तत् सर्वज्ञं परं ब्रह्मापि स्वात्मप्रज्ञानप्रकाशायैव सर्वज्ञानपूर्णं वेदं प्रकाशयति, वेदमुखेन स्वं परं ब्रह्मरूपं तथा विश्वरूपं च तत्वं प्रकाशयति । अत एव वेदमुखेनैव तत्परब्रह्मप्रकाश इति सम्पद्यते, तथा च मन्त्र वर्णः—

एकही साधक प्राप्त कर सकेगा अगर वैसे दोनों प्रकारकी क्षमता उसमें मौजूद हो ।

इस भाँतिके द्विविध अमरपनका उल्लेख वैदिक साहित्यमें मिलता है, जैसे—

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे ।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये॥
(ऋ. १।३१।७)

" हे अग्ने ! (त्वं तं मर्तं) तू उस मानवको (यः) जो (उभयाय जन्मने तातृषाणः) द्विविध जन्मके लिए अर्थात् संतानोत्पादन द्वारा मिलनेवाला तथा शिष्योंमें ज्ञान दान द्वारा प्राप्य द्वितीय जन्म पानेके लिए अत्यन्त लालायित हो उठा है, (उत्तमे अमृतत्वे) उच्चकोटिके अमरपनमें तथा (श्रवसे) यश, अन्न में (दिवे दिवे दधासि) प्रतिदिन धर देता है अर्थात् उस प्रकारकी सफलता पानेमें सहायता देता है (सूरये च) और उस विद्वान पुरुषके लिए तू (मयः प्रयः आकृणोषि) सुख एवं अन्न का पूर्ण सृजन करता है ।"

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति० । (मुं. उ. ३।२।९)

" वह जो सचमुच उस परम ब्रह्मको भलीभाँति जानलेता है, ब्रह्महो बनजाता है, और इसके कुल में ब्रह्मज्ञानशून्य संतानका जन्म नहीं होने पाता ।"

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्र ब्रूयात् ।
(छान्दोग्य उ. ३।११।५)

' पिता निश्चयपूर्वक अपने ज्येष्ठ पुत्रको इस ब्रह्म विद्याका भली भाँति उपदेश करे ।' इस तरह दोनों प्रकारके अमृतत्त्वका उल्लेख वेदमें पाया जाता है ।

इसीलिये ज्ञानका उदय होनेके लिए विद्वान एवं अविद्वानका मिलन तथा उपदेश आवश्यक है ।

अविद्वाँसो विदुष्टरं सपेम । (ऋ. ६।१५।१०)
" हम अज्ञ हैं अतः अत्यन्त विद्वानकी सेवा करते हैं ।"
अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते । (ऋ० १०।३४।९)
' हाथ न रहनेपर भी हाथवालेका पराभव करते हैं ।'

जिसप्रकार यद्यपि परब्रह्मकी सर्वज्ञता एवं सभी क्रियाओंको पूर्ण करनेकी शक्तिमत्ता स्वयंसिद्ध है तो भी, सब प्रकारके ज्ञानोंसे परिपूर्ण वेदवाणीके उच्चारणसे और वेदवाणीके द्वारा समूचे भूतोंका सृजन करनेसे तथा अपनेही समान रूपवाले चेतनमय विविध जीवोंका संसार रचनेसे ही, वह प्रकट होजाती है, ठीक उसीप्रकार, सब कुछ जाननेहारे अतः सर्वज्ञतुल्य ऋषियोंमें विद्यमान 'अहं ब्रह्मास्मि' ऋ.४।२६।१ (मैं ब्रह्म हूं) इस भाँतिका ज्ञान भी " अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (मैं मनु और सूर्य बना हूं) "अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः" ऋ.३।२६।७ (मैं जन्मसे जातवेद अग्नि हूं) इस तरह की वेदवाणियोंके उच्चारणसे प्रकट हुआ इसलिए अन्य सभी लोगोंमें वैसे ज्ञानका आविर्भाव होना संभव होता है । अतएव वह सर्वज्ञ पर ब्रह्म भी अपने अन्दर विद्यमान प्रकृष्ट ज्ञानका प्रकाशन करनेके लिए सर्वज्ञानमय वेदको प्रकट करता है, वेदके द्वारा अपना परम ब्रह्मरूप और विश्वरूपमें व्यक्त होनेवाले तत्त्वका प्रकाशन करता है । इसीकारण

' यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य
देवधारणो भूयासम्' इति । (तै० आ० ७।४।१;१०६।१)
एवं प्रज्ञानात्मकपरावाग्रूपेण ब्रह्मणि नित्यसिद्धः सन् तत्प्रज्ञानप्रकाशनाय ब्रह्मणः सकाशात् प्राग्विश्वसृष्टेरपि आविर्भूतो
वेदः तत्परं ज्ञानं प्रकाशयन् अद्यापि वरीवर्ति, इतः परमपि आप्रपञ्चप्रविलयं यथायथमेव चिरं प्रतिष्ठास्यति, सर्वप्रपञ्च-
प्रविलयेऽपि, स वेदो न प्रविलीयते, तदानीमपि प्रज्ञानात्मना परावाग्रूपेण तस्मिन्परमे व्योमन्यक्षरे ब्रह्मण्येवान्तर्हितः सन्,
कल्पान्तरेऽपि यथापूर्वमेव पुनराविर्भविष्यति ।-तथा तत्परं ब्रह्म सर्वत्र पूर्णमपि वेदमुखेनैव विदुषां तपस्विनां अन्तर्हृदये
स्वरूपतस्तत्वेन प्रकाशते ।

एवं पूर्वे महर्षयः साक्षात्कृतात्मानः कीर्तिशेषा अपि स्वयममृतात्मानः सन्तः, आदिसृष्टिं वेददर्शनं चारभ्य अद्ययावत्
वेदरूपेणैव प्रतितिष्ठन्ति, स्वात्मीयवेदवाङ्मुखेनैव उपदेशतः प्रत्यक्षवत् स्वं ज्ञानं प्रकाशयन्तः, इदानीमपि वेदरूपेणैव
जीवन्ति, इतः परमपि आप्रपञ्चप्रलयं वेदरूपेणैव चिरं प्रतिष्ठास्यन्ति। प्रत्यक्षब्रह्मरूपो वेद एव तेषामृषीणां प्रज्ञानात्मा शरीरं
च, वेदवागेव तेषां सर्वापि ज्ञानक्रियादिशक्तिः । वेद एव तेषां सर्वस्वमिति च मुक्तकण्ठेनानुनिनादयन् सोऽयं चिरं विजयते
दिव्यो वेददुन्दुभिः ।

वेददर्शनम्

कथं ब्रह्मवचनात्मकस्य ऋगादिवेदानामुपलब्धिर्मनुष्याणाम् ? न च निर्गुणं तत्परं ब्रह्म सशरीरीभूतं सत् मनुष्येभ्यो वेदानुपादिदेशेति श्रूयते वेदे, क्वचित् श्रुतमपि अर्थवाद इव न साक्षात् प्रमाणार्हं तस्मिन्नर्थे, नापि तथा लोके प्रसिद्धिरस्ति, पार्थसारथिर्नराय, गीताशास्त्रमिव, न च अनवरतं वेदः उद्गीर्यते ब्रह्मणा, नापि तदुद्गीर्णोऽपि श्रूयते सर्वैः

से वह सिद्ध होता है कि, उस परब्रह्मका प्रकाश वेदके जरिये ही होता है; देखिए वह मंत्र भाग—

' यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् ।' (तै. आ. ७।४।१; १०६।१)

इस भाँति प्रज्ञानमय परा वाणीके स्वरूपमें ब्रह्ममें नित्यसिद्ध होकर, उस प्रज्ञानको प्रकाशित करनेके लिए ब्रह्मसे ही विश्वके सृजनके पहल भी प्रकट हुआ यह वेद अभीतक उस परम ज्ञानको जाहिर करता हुआ, भली प्रकार विद्यमान है, इसके आगे भी संसारका प्रलय होनेतक ज्योंका त्यों चिरकाल रह जायगा और समूचे संसारका प्रलय होनेपर भी उस वेदका लोप नहीं होता, उल्टे तब भी प्रज्ञानमय परा वाणीके रूपमें उस परम ' व्योमन् ' अक्षर ब्रह्ममेंही गुप्तरूपमें रहकर, दूसरे कल्पमें पहले जैसेही फिरसे प्रकट होगा । उसी भाँति वह परब्रह्मभी सर्वत्र पूर्णरूपमें मौजूद रहनेपर भी वेदके द्वारा ही विद्वान् तपस्वियोंके अन्तस्तलमें स्वरूप से और तत्त्वतः विराजमान होता है ।

इस ढंगसे, पूर्वकालीन महर्षि जो कि आत्मसाक्षात्कार करनेमें सफलता प्राप्त कर चुके थे, और उनकी केवल कीर्ति ही शेष रही है, तथापि वे अमर बने हुए हैं, तथा सृष्टिके प्रारंभ और वेदके दर्शन से लेकर अवतक वेदके रूपसे ही अपना अस्तित्त्व अक्षुण्ण बनाये हुए हैं, अपने आत्मारूप वेदवाणीके द्वारा ही उपदेशसे प्रत्यक्ष की तरह निजी ज्ञानको प्रकट करते हुए, इस समय भी वेदके रूपमें ही जीवित हैं, और इसके आगे भी विश्वका प्रलय होनेतक वेदके रूपद्वाराही सुदीर्घ कालतक अपना अस्तित्त्व सुरक्षित रखेंगे। ब्रह्मके प्रत्यक्षरूप को धारण करनेवाले वेदही उन ऋषियोंका प्रज्ञानमय आत्माही शरीर है, और वह वेदवाणीही उनकी सारी ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियोंका मूर्तिमान रूप है । उन ऋषियोंका सर्वस्व प्रत्यक्ष वेद ही है, ऐसा ऊँची आवाजसे घोषित करता हुआ यह दिव्य वेददुन्दुभि सदैव विजयी रहेगा, इसमें सन्देह नहीं ।

वेदका दर्शन

अच्छा, एक प्रश्न उठखडा होता है कि भला जो ऋग्वेदादि वेद हैं, वे ब्रह्मके वचनरूपही तो हैं, फिर वे मानवोंको कैसे उपलब्ध होगये ? क्योंकि वेदमें कहीं ऐसा कहा हुआ नहीं सुनाई देता कि निर्गुण परब्रह्मने शरीरयुक्त होकर मनुष्योंको वेद का उपदेश किया, कहीं ऐसा कहा हुआ मिल भी जाय तो भी अर्थवादकी तरह मानकर, उस अर्थमें वह वचन साक्षात् प्रमाण मानने योग्य नहीं होता,

आकाशवाणीव, असामर्थ्यमेव तत्र कारणमिति चेत्, किं तत्सामर्थ्यं कीदृशं, किं तत्तादृशसामर्थ्योदये साधनं चेति निर्वक्तव्यम्। उच्यते, परस्माद्ब्रह्मणः प्रणवात्मनः ब्रह्मणस्पतेः सकाशात्, उच्छ्वासतः प्राणशक्तेरिव, वैद्युतज्योतिरात्मनः अग्निना मुखेन समाविर्भूतानां तथा परमे व्योमन्यन्तरखण्डस्वरनादशब्दाद्यात्मनाऽन्तर्हितानां तेषामृगादिवेदानामुपलब्धिर्ऋषिमुखेनैवास्माकं भवितुमर्हति। तत्र यथा येनैव च रूपेण ब्रह्मणः सकाशादाविर्भावः वेदानां, तथा तेनैव च रूपेण ऋषीणामपि मुखाद् भवितव्यः इति सिद्धवस्तुनोऽयं तत्त्वसिद्धो न्यायः प्रसिद्धः। तेन यथोक्तेन सर्वहुन्नामकेन ब्रह्मणि सर्वहवनरूपेण आत्मयज्ञेन तपसा आविर्भूतस्वरूपाणां ऋषीणां ब्रह्मभावसम्पत्या समाधौ प्रत्यग्दृशैव तत्तादृशं वेददर्शनं भवितुमर्हति। तथा च बृहस्पतेरार्षं ऋङ्मन्त्रदर्शनम् '**यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्**' इति (ऋ० १०।७१।३) तस्यायमर्थः-ज्ञानकामाः प्राञ्चः ऋषयः 'यज्ञेन' निर्विषयात्मविमर्शरूपेण धर्मसंज्ञकेन तपसा 'वाचः' सर्वार्थबोधकवाचकशब्दराशेः 'पदवीयं' मार्गं तदर्थरूपं मूलस्थानं 'आयन्' प्राप्तवन्तः अनुभूतवन्त इति यावत्। अतः तेषु अतीन्द्रियार्थद्रष्टृषु 'ऋषिषु प्रविष्टां' अनुभवतः ज्ञानरूपेण स्थितां अनुभूतार्थानुवादिनीं तां वाचं 'अन्वविन्दन्' प्राप्तवन्तः ऋषिमुखेन इतरे सर्वे जनाः लब्धवन्त इति। एतेन अतीन्द्रियार्थद्रष्टार ऋषयः तपसा यमर्थमनुद्दिश्य तदर्थावबोधिनीं छन्दोनिबन्धसहितां वाचं अनुश्रावयन्ति, स एव वेदो भवतीत्यर्थः सम्पद्यते।

तादृशं मन्त्रद्रष्टृत्वमेव ऋषित्वे प्रधानं लक्षणम् "**ऋषिर्विप्रः काव्येन**" इति मन्त्रवर्णात् (ऋ० ८।७९।१) विप्रः सम्यग्दर्शी काव्येन गायत्र्यादिछन्दोनिबद्धकाव्यरूपमन्त्रदर्शनेन ऋषिर्भवतीति। '**ऋषिर्दर्शनात्**' इति च यास्कनिरुक्तम्।

और जिस भाँति श्रीकृष्णजीने अर्जुनका सारथी बनना स्वीकार कर उसे गीताशास्त्र बतलाया, वैसे वेदके बारेमें कोई समाचार जनतामें प्रसिद्ध नहीं, ब्रह्म लगातार तो वेदका उच्चारण नहीं करता और यदि ऐसा उच्चार होता भी रहे, तो नभोवाणीकी तरह वह सबको सुनाई देता है ऐसी बात नहीं, अगर ऐसा कहो कि, न सुननेका कारण सिर्फ हमारी असमर्थता है, तो बताओ तो सही कि वह सामर्थ्य क्या है, और किस भाँतिका है, तथा उसतरहकी क्षमता प्राप्त करनेका साधन भी क्या है, सो बतलाना चाहिए। कहा जाता है कि, प्रणव अर्थात् ओंकार रूपी ब्रह्मणस्पति परम ब्रह्मसे उच्छ्वासके रूपमें, प्राण शक्तिसे जिसतरह विद्युत् ज्योति उसी प्रकार आत्मासे अग्निके द्वारा इकट्ठे प्रकट हुए और परम व्योमन्के भीतर लगातार स्वर, आवाज एवं शब्दरूपमें छिपे हुए उन ऋग्वेद सदृश वेदोंको हमें प्राप्त करना तो केवल ऋषियोंके मुखद्वारा ही संभव है। वैसी दशामें, जैसे और जिस ढंगसे ब्रह्मसे वेदोंका प्रकटीकरण हुआ हो, वैसे और उसी ढंगसे ऋषियोंके मुखसे होना चाहिए, यह तो निश्चित वस्तुका तत्त्वदृष्टया ठहरा नियम सर्वश्रुत है। अतः जैसे पहले कहा, सर्वहुत् नामक ब्रह्ममें समूचेका हवन करने रूप आत्मयज्ञ से एवं तपसे स्वरूप प्रकट करलेनेपर ऋषियोंने ब्रह्मसे तादात्म्य पानेमें यथेष्ट सफलता पायी थी, अतः समाधिमें अन्तर्दृष्टिसे ही उस भाँतिका वह वेदका दर्शन होसकता है। इस संबंधमें बृहस्पति ऋषिका देखा यह मंत्र देखिए—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
(ऋ. १०।७१।३)

इसका अर्थ ऐसा है। ज्ञानकी चाह रखनेवाले पूर्वकालीन ऋषि (यज्ञेन) विषयोंसे शून्य अर्थात् केवल आत्मरूप धर्म नामक तपसे (वाचः) सभी अर्थ बतलानेहारे एवं सभी अर्थोंके वाचक शब्द समूहके (पदवीयं) मार्ग को, उसके अर्थरूप मूलस्थानको (आयन्) पहुँच गये अर्थात् उसका अनुभव लेचुके। इस कारण उन अतीन्द्रिय अर्थोंको देखनेहारे (ऋषिषु प्रविष्टां) ऋषियोंमें अनुभूतिद्वारा, ज्ञानरूपमें मौजूद और अनुभवमें आये अर्थोंको बतलानेहारी उस वाणीको (अन्वविन्दन्) प्राप्त कर चुके अर्थात् ऋषिके मुखसे दूसरे सभी लोगोंको वह वाणी मिलगयी। इससे यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध हुआ कि, इंद्रियग्राह्य वस्तुओं के सिवा जो अन्य सत्ताएँ हैं, उन्हें देखनेवाले सूक्ष्मदर्शी ऋषि तपके जरिये जिस अर्थ को देखकर उसे बतलानेवाली और छन्दरूप में बँधी वाणी को सुनाते हैं, वही वेद का रूप धारण करलेती है, वेद ही वन जाती है।

उस भाँति का मंत्रों को देखलेना ही ऋषि पद प्राप्त करलेने का प्रमुख लक्षण है जैसे '**ऋषिर्विप्रः काव्येन**' ऋ. (८।७९।१.) इस ऋचा से स्पष्ट होता है। विप्र अर्थात् भलीभाँति देखनेवाला (काव्येन) गायत्री सदृश छन्दों में रचित काव्यमय मंत्रोंके दर्शन से ऋषि वनता है। निरुक्त में यास्कमुनि इसी बातकी पुष्टि करते हैं, जब वे कहते हैं कि '**ऋषिर्दर्शनात्**' और स्मृति का कथन

युगान्तेऽन्तर्हितान्मन्त्रान्सेतिहासान्महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥ इति च स्मृतिः ।
अत एव गायत्र्यादीनां मन्त्राणां विश्वामित्रादयो मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः प्रसिद्धाः श्रूयन्ते । " गायत्र्या गायत्री छन्दो,
विश्वामित्र ऋषिः, सविता देवता " इति । (ना० उ० ३५)
एवं ब्रह्मात्मनि प्रज्ञानरूपेण नित्यसिद्धानां मन्त्राणां उच्छ्वासतः बहिरुत्स्रष्टृत्वं ब्रह्मणः, तपसा केवलं तद् द्रष्टृत्वं, श्रोतृत्वमेव
ऋषीणामिति विवेकः ।
"उत नो ब्रह्मन्नविष इति शंसति श्रोत्रं वै ब्रह्म श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति" इति च ब्राह्मणम् (ऐ०ब्रा०२।४०)
'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते; अथ ... तद्यदिदमन्तः पुरुषे ज्योतिः, ...तदेतद् दृष्टं च श्रुतं
चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति' (छां० उ०३।१३।७–८) इत्याद्याः श्रुतय एव प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।
अथ पुनः कीदृशं तन्मन्त्रदर्शनं–विद्वद्वरेण्यकवीन्द्रादिविरचितकाव्यादेरपि तन्मन्त्रदर्शनमेव विशिष्टं प्रत्यक्षप्रमाणभूतं च
मन्यन्ते शास्त्रविदः, तच्चेत्थम्भूतम्– तपसा पवित्रीकृतत्रिकरणानां साक्षात्कृतात्मनामृषीणां सन्निवृत्तशरीरेन्द्रियादिसर्व-
विषयवृत्तीनां अन्तर्दशा समाधौ निर्विषयात्मास्थितौ केवलं प्रज्ञानात्मस्फूर्तिपूर्णे निर्मलेऽन्तर्हृदये ईशशक्त्यावेशेन अतीन्द्रिये-
ष्वर्थेषु यत्तत्त्वार्थानुस्फुरणं, तथा सुषुप्तौ स्वप्ने वा अश्रुतपूर्वमन्त्रोपदेशादिश्रवणवत्, यदनुश्रवणम् । यच्च वाचापि तदनु-
वचनं तदेतद्दर्शनपदार्हं भवति । तत्रापि गायत्र्यादिछन्दोनिबद्धवागनुश्रवणे '**मन्त्रदर्शनं**', गद्यगाथाद्यात्मके '**ब्राह्मण-
दर्शन**'– मिति विवेकः । तथा तदनुश्रवणानुसारेण बुद्धिपूर्वकं तदनुस्मरणेन विरचिते '**स्मार्त दर्शन**'– मिति प्रसिद्धिः ।
अत्र मन्त्रब्राह्मणयोरनुश्रवणात् तयोः '**श्रुति**' संज्ञा प्रसिद्धा, कल्पसूत्रादीनां तु स्मरणेन रचितत्वात् '**स्मृति**' संज्ञेति

भी इसके अनुकूल है, देखिए–

युगान्तेऽन्तर्हितान्मन्त्रान्सेतिहासान्महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥

अर्थात् युगसमाप्ति के अवसरपर छिपे हुए मंत्रों को इतिहास-सहित दशामें पहले महर्षियोंने तपस्या करके स्वयंभूकी आज्ञा से प्राप्त किया।

इसीकारण, गायत्री सदृश मंत्रोंके विश्वामित्र जैसे मंत्रद्रष्टा ऋषि विख्यात एवं सर्वश्रुत हैं. ना. उ. २५ में यही कहा है '**गायत्र्या गायत्री छन्दो, विश्वामित्रः ऋषिः सविता देवता**' इ० ।

हम अब इस निर्णयपर पहुँच चुके हैं कि, उक्त प्रकार ब्रह्म में प्रज्ञानरूप से नित्यसिद्ध मंत्रों को साँस छोडने की तरह बाहर छोडना ब्रह्म का कार्य है और ऋषियों का तो तपके द्वारा केवल उनका दर्शन एवं श्रवण करना है । इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण के तौरपर नीचे दिये हुए जैसे श्रुतिवचन देखने चाहिए–

'**उत नो ब्रह्मन्नविष इति शंसति श्रोत्रं वै ब्रह्म श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति**' (ऐ. ब्रा. २।४०।४; ४।१६)
'**अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते; ... तद्यदिदमन्तः पुरुषे ज्योतिः, ...तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति ।**'
(छा. उ. ३।१३।७–८)

अच्छा, वह मंत्रदर्शन फिर किस भाँति का है ? विद्वानों में श्रेष्ठ एवं कवियों में सर्वोपरि स्थान पानेवाले के बनाये काव्य आदि के बारे में भी वह मन्त्र का दर्शन ही विशेष एवं प्रत्यक्षप्रमाणरूप है ऐसी शास्त्रवेत्ताओंकी राय है, और वह इस तरह है– जिन्होंने तपस्याद्वारा तीनों करण पवित्र बनाये हैं और आत्मसाक्षात्कार कर लिया है ऐसे ऋषियों को जब शरीर, इंद्रिय आदि सभी विषयों से पूर्णतया निवृत्त होने में सफलता मिलती है, तब अन्तर्दृष्टि से समाधि-युक्त अखंड आत्मस्थिति में, केवल प्रज्ञानमय स्फूर्ति से परिपूर्ण एवं निर्मल अन्तस्तलमें, ईशशक्ति के जोश में आने से, इंद्रियोंकी ग्रहण-शक्ति के परे विद्यमान अर्थों में जो वास्तविकता है, उसका अनुकूल ढंग से स्फुरण होना, वैसे ही सुषुप्तिदशा में या स्वप्न में पहले कभी न सुने हुए मंत्रोंपदेश आदि के श्रवण तुल्य, जो लगातार सुनाई देता है, और जिस का वाणी से निरन्तर कहना संभव है, उसे ' दर्शन ' नाम होना ठीक जान पडता है । वहाँपर भी, गायत्री सदृश छन्दों में नियंत्रित वाणी का जो श्रवण हो, उसे '**मंत्रदर्शन**' और जो वाणी गद्य गाथा आदि रूप धारण करले उसे '**ब्राह्मण-दर्शन**' नाम देना उचित प्रतीत होता है । वैसे ही उस सुनाई देनेवाले अनुसार बुद्धिपूर्वक स्मरण करके जो रचा गया है वह '**स्मार्तदर्शन**' नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि, श्रवण होने से मन्त्र एवं ब्राह्मण को श्रुति नाम दिया है, तथा कल्प सूत्र आदि रचनाओं को

विशेषः । एवं तत्र मन्त्रदर्शने द्रष्टुर्ऋषेः वाग्बुध्यादीन्द्रियकृतेरभावात् 'अपौरुषेयत्वं'; ऋषिमुखोदितत्वात् 'तदार्षेयत्वम्'; ईशावेशानूदितत्वात् 'ईशकृतित्वं' च समासेनोपपद्यन्ते। शास्त्रार्थमीमांसादौ तु एतेषामपौरुषेयत्वादीनां विभागेनापि अस्ति व्यवहारप्रसिद्धिः । तथा च बृहस्पतेरार्षं ऋङ्मन्त्रदर्शनम्—

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ इति (ऋ० १०।७१।८)

अन्तर्हृदयेन निर्णीतेषु मनसोऽपि सूक्ष्मेषु अतीन्द्रियेष्वर्थेषु समानज्ञानाः सखायः ब्राह्मणाः ब्रह्मविदः यत् संयजन्ते तद्विचारार्थं संमिलन्ति, अत्र अस्मिन्विषये त्वं एकं वेद्याभिः वेदितव्यत्वेन अवशिष्टाभिः विद्याभिः त्वं एकं विजहुः त्यक्तवन्तः त्वे एके सर्वज्ञाः ऋषयः " ओहब्रह्माणः " तपसा ऊहितमन्त्राः विचरन्ति सर्वविषयकज्ञानस्वातन्त्र्येण तिष्ठन्ति। इति " यदेव किञ्चाननूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति " इति यास्कनिरुक्तम् ।

वेदस्यापौरुषेयत्वम्

कथं तर्हि ऋषिभिर्विरचितानामपि वेदमन्त्राणां अपौरुषेयत्वं, ईशकृतित्वं च सिध्यति? "गायत्र्याः गायत्री छन्दो विश्वामित्र ऋषिः " इति गायत्र्यादीनां विश्वामित्रादयः ऋषयः श्रूयन्ते । प्रत्युत " यस्य वाक्यं स ऋषिः " इति परिभाषया वेदस्य स्पष्टं तत्तदृषिवाक्यत्वमेवेति वक्तव्यमापतति । अत्रास्ति कश्चिद्विशेषः– यथा च बालोन्मत्तदैवतपिशाचसुषुप्तादीनां अज्ञानोन्माददेवतावेशभूतावेशनिद्रावेशादिवशेनोच्चरितानां वचनानां तदर्थानां च, बुद्धिपूर्वकृतत्वाभावात्, तत्र गुणदोषादिकं तत्कृतित्वं च न गण्यते, नापि प्रमाणार्हता च । प्रत्युत क्वचित्तु 'बालादपि सुभाषितम्' इति न्यायेन तादृशाज्ञबालवाक्येऽपि श्रद्धागौरवाद्यनुसरणं दृश्यते, तथाभूतदेवताद्यावेशोच्चरितानां भूतदेवतादिकृतित्वमेवाङ्गीक्रियते, न तु तत्पुरुषकृतित्वम् ।

स्मरणपूर्वक बनाने से '**स्मृति**' नाम मिल गया है उसी प्रकार उस मन्त्रदर्शन में द्रष्टा ऋषि के वाणी, बुद्धि आदि इंद्रियों की कृति न रहने से '**अपौरुषेयत्त्व,**' ऋषि के मुखसे निकलनेसे '**आर्षेयत्त्व,**' और ईशके जोशमें उदय होनेसे '**ईश्वरकर्तृत्व**' संक्षेप में ठीक प्रतीत होते हैं । शास्त्रके अर्थ एवं मीमांसा आदिके प्रारंभमें तो विभागशः इन अपौरुषेयत्त्व आदि नामोंका व्यवहार किया हुआ प्रसिद्ध है । ऋषि बृहस्पतिका देखा हुआ यह मंत्र यही बात कहता है—

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोह ब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥
(ऋ. १०।७१।८)

(हृदा तष्टेषु) " अन्तर्हृदयसे जिनका निर्णय किया गया है ऐसे (मनसो जवेषु) मनकी अपेक्षा सूक्ष्म, इन्द्रियोंसे परे विद्यमान वस्तुओं के बारेमें (यत् सखायः ब्राह्मणाः) जब समान ज्ञानवाले ब्रह्मवेत्ता (संयजन्ते) उसका विचार करनेके लिए इकट्ठे होते हैं, (अत्र अह त्वं) इस विषयमें एकको (वेद्याभिः विजहुः) जानने की दृष्टिसे शेष रही विद्याओंसे जिन्होंने छोड दिया है, ऐसे (त्वे ओह ब्रह्माणः) कुछ सर्वज्ञ ऋषि जो कि, तपसे मंत्रोंका अनुमान कर चुके हैं, (वि चरंति) सभी प्रकारके ज्ञानोंमें स्वतंत्रतासे रहते हैं । निरुक्तमें यास्कमुनिका कथन है " यदेव किञ्चाननूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति ।"

वेदका अपौरुषेयत्त्व

तो फिर भला किसतरह ऋषियोंके बनानेपर भी वेदमंत्रोंका अपौरुषेयत्त्व तथा परमात्मकृतत्त्व सिद्ध होता है ? '**गायत्र्याः गायत्री छन्दो विश्वामित्र ऋषिः**' इस प्रकार गायत्री आदि ऋचाओंके विश्वामित्र जैसे ऋषि सुनाई देते हैं। इतना क्यों अपितु, '**यस्य वाक्यं स ऋषिः**' इस व्याख्याके अनुसार तो साफसाफ उन उन ऋषियोंके वाक्योंका समूह वेद है, ऐसा कहना पडता है। यहाँपर एक ध्यान देने योग्य विशेष बात है कि, जिसतरह बालक, पागल, दैवत, पिशाच, सुषुप्त आदि लोगोंके अज्ञान पागलपन, देवता और भूतका झपटना, नींदकी प्रबलता आदि कारणोंसे कहे हुए वचनों तथा उनके अर्थोंमें भी बुद्धिपूर्व रचनाका सर्वथा अभाव होनेसे, वहाँपर गुण एवं दोषकी चर्चा और उस कृतिकी भी कोई गिनती नहीं की जाती है, नाहि उसे प्रमाण मानते हैं । उल्टे, यदि कहीं कहीं '**बालादपि सुभाषितं**' इस नियमके अनुसार वैसे अज्ञ बालकके वाक्यके प्रति श्रद्धा एवं गौरव दर्शाया जाय, तो भी वैसे भूत पिशाच आदिके झपटेनेसे कहे हुए वचनोंका कर्तृत्व भूत देवता आदिपर ही मढा जाता है, न कि उन मानवोंका है ऐसा

क्वचित्तु निधिरूपेण गुप्तानां नष्टानां च द्रव्यादीनां बोधकत्वेन भूतावेशाद्युच्चरितस्यापि प्रामाण्यमेव स्वीक्रियते, प्रत्यक्षं प्रतिपद्यते च तदर्थः। तथैव समाधौ ब्रह्मभावोपपन्नैर्ऋषिभिरीशावेशेनोच्चरितानां छन्दोवचनानामपि ऋषिकृतित्वे एवं विधैव भवितुमर्हति। ततश्च अपौरुषेयत्वेन वेदानां ऋषिदर्शनमात्रत्वमेव पर्यवस्यति। एतेन—

" यामृषयो मन्त्रकृतो ... अन्विच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ॥ (तै० ब्रा० २।८।८।५)

"अह२ँ श्लोककृत्" (तै० उ०भृ०१०।६) इत्यादावपि ऋषीणां मन्त्रकृतिः केवलं दर्शनश्रवणादिरूपैव,न तु काव्यादिकृतिरिव पुरुषकृतिरूपेत्यवगन्तव्यम्।

वस्तुतस्तु परब्रह्मणोऽपि वेदकृतिः भूतादिजडवस्तूत्पत्तिरिव वा कवीनां काव्यादिकृतिरिव वा अभूतपूर्वा भवितुं नार्हति, ब्रह्मणि तादात्म्येन नित्यसिद्धस्यैव वेदस्य उच्छ्वासतः उत्सर्गश्रवणात्। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः।। (बृ० उ० २।४।१०) " अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ॥ " इति च कठकौथुमशाकलादीनां शाखाप्रवर्तकानामपि ऋषीणां प्रवचनमात्रेणेव वेदस्य सम्बन्ध इति निर्णीतं मीमांसायाम् " शाखा-प्रवचनात् " इत्यादि सूत्रैः। एवमेव ब्रह्मणः सकाशादाविर्भूता एतादृशाः प्रत्यक्षाः परब्रह्ममूर्तिरूपाः इन्द्रादिदेवताधिष्ठानभूता ऋगादयो वेदमन्त्राः, परमे व्योमनि परावाग्रूपेण अखण्डशब्दात्मनाऽन्तर्हिताः, अनवरतं अतिसूक्ष्मं शब्दायमानाः प्रतितिष्ठन्ति। तांश्च तदधिष्ठाता ब्रह्मणस्पतिः स परमः पुरुष एव स्वयमुच्चरतीति वेदे श्रूयते, ये खलु मन्त्राः पूर्वं ऋषिभिः श्रुताः अश्रुताश्च पुनः श्रूयन्ते, तथा अनुश्राव्याश्च भवन्ति। तथा च मन्त्रवर्णः—

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकाँसि चक्रिरे ॥

इति ॥ (ऋ० १।४०।५; वा० य० ३४।५७)

एतेन प्रसिद्धेभ्योऽपि ऋगादिमन्त्रेभ्यो भिन्ना असङ्ख्याताः मन्त्राः स्वयंसिद्धाः विद्यन्ते परमे व्योमन्यन्तर्हिता इति सिध्यति। अतएव " अनन्ता वै वेदाः " इति वचनमपि एतदेव समर्थयति। तस्मात् प्राचामृषीणां मन्त्रदर्शनश्रवणा-

---

कहते हैं। कहीं कहीं द्रव्यभाण्डारोंके गुम होने और लापता होनेपर, सूचना मिलजाय, तो भूताविष्ट पुरुषके कहे हुए का प्रामाण्य स्वीकृत होता है, और उसका मतलब ठीक है, ऐसा समझते हैं। उसीतरह, समाधिमें ब्रह्मभावसे युक्त होनेपर ऋषियोंने ईश्वर के आवेशमें ईशमय अन्तःकरण होजानेसे जो छन्दोबद्ध वचन कहे थे, उनका ऋषिकृतत्व भी इसी ढंगका होसकता है। दूसरी बात यह है कि, अपौरुषेयत्वके प्रतिपादनसे वेदोंका ऋषियोंद्वारा देखा जानाही सिद्ध होता है। अतः '**यामृषयो मन्त्रकृतो अन्विच्छन् देवास्तपसा श्रमेण ॥**' (तै. सं.) '**अहं श्लोककृत्**' इत्यादि स्थानोंपर भी ऋषियोंका मंत्रकर्तृत्व सिर्फ देखने सुनलेने आदितकही सीमित है अतः काव्यादि रचनाके समान वेदरचना पुरुषरचना है, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

वास्तवमें देखा जाय तो, परब्रह्मका वेदोंका बनाना तो कोई भौतिक आदि जड वस्तुओंके निर्माण तुल्य या कवियोंकी काव्य रचना सदृश पहले न हुई घटनासी नहीं होसकती, क्योंकि सुना है कि ब्रह्ममें अभिन्नरूपसे नित्यसिद्धही बनकर रहे हुए वेद केवल उच्छ्वासके तौरपर बाहर निकल आये। देखो ये वचन '**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः**' (बृ. उ. २।४।१०) '**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।**' मीमांसामें भी '**शाखाप्रवचनात्**' जैसे सूत्रोंसे निश्चितरूपसे ठहराया है कि कठ, कौथुम, शाकल जैसे शाखाओंके प्रवर्तक ऋषियोंका भी वेदसे संबंध सिर्फ प्रवचन करनेमात्रसे है। इस ढंगपर ब्रह्मसे प्रकट हुए, इस भौतिके प्रत्यक्ष परब्रह्म की मूर्तिरूप और इन्द्र इत्यादि देवताओंके अधिष्ठान बने हुए ऋचा आदि वेदमंत्र परम व्योममें परा वाणीके रूपमें अखंड शब्दमय स्वरूपमें छिपे हुए, लगातार बहुतही सूक्ष्म तौरपर गूँजते हुए मौजूद हैं। अब वेदमें सुना जाता है कि उन वेदमंत्रोंको उनका अधिष्ठाता वह परम पुरुष ब्रह्मणस्पतिही स्वयं उच्चारित करता है, जो कि मंत्र पहले ऋषियोंके सुने हुए हैं, और न सुने हुए होनेपर फिर सुनाई देते हैं, तथा दूसरोंको सुनाने योग्य होते हैं। देखिए वह मंत्र भाग—

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकाँसि चक्रिरे॥

— (ऋ. १।४०।५; वा. य. ३४।५७)

इससे यही सिद्ध होता है कि, इन विख्यात ऋचा आदि मंत्रोंसे अलग अनगिनती मंत्र स्वयं सिद्धरूपमें परम व्योमन्में इसी ढंगसे मौजूद हैं। बस यही कारण है कि, '**अनन्ता वै वेदाः**' यह

दिवत् इदानीमपि तपसा तादृशं मन्त्रदर्शनं शक्यं भवितुमिति प्रतीयते । तथा च मन्त्रवर्णः—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥ इति (ऋ० १।१।२)

अत्र ' ऋषिभिः ' इति पदं देहलीदीपवन्मध्यस्थं सत् ' पूर्वेभिः नूतनैः ' इत्युभयत्रापि सम्बध्यते, तेन सः अग्निः पूर्वैः नूतनैश्च ऋषिभिः ईड्यः इत्युक्तं भवति । तत्तादृशं ऋषित्वं मन्त्रदर्शनादेव भवतीत्युक्तं, तत्र नूतनर्षित्वं च नूतनमन्त्रदर्शनादेव भवितुं शक्यं नान्यथेति न पुनर्वक्तव्यम् । ' उत ' इत्येतत्पदमपि यथापूर्वमेव नूतनर्षित्वं बोधयति । ' अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः ' इत्येतन्मन्त्रभाष्ये ' श्रीवासिष्ठगणपतिमुनेः ' भाष्यवचनमपि एतदेवोपोद्बलयति । ' पूर्वेभिः पुरातनैः नूतनैः उत नवीनैश्च ऋषिभिः मन्त्रद्रष्टृभिः ईड्यः ईडितुं शक्यः, सोऽग्निर्देवानिहावहतु' । ' ऋषिभिरित्यनेनैतदाह-नानृषिर्यथावद् भगवन्तं स्तोतुं शक्नुयादिति । ' नूतनै '— रित्यनेनैतदाह-नार्षित्वं कालसापेक्षमिति । तस्मात् तादृशतपःसामर्थ्याभावमन्त्रदर्शनाभावे अनृषित्वे च कारणं, तादृशं मन्त्रदर्शनमेव ऋषित्वे प्रधानं साधनमिति च सम्पद्यते। ' **ऋषिर्विप्रः काव्येन**' इति मन्त्रवर्णात् ।

अथ पुनः कुत एतदकस्मादुद्भूतम्— इदानीमपि यथापूर्वं तादृशं मन्त्रदर्शनं भवितुं शक्यमिति, तदेतददृष्टपूर्वं अश्रुतपूर्वं सर्वथाप्यप्रसिद्धं नूतनमेव । कथं च पुनर्ब्रह्मैककर्तृकं ऋष्यैकविषयकं च तत्तादृशं मन्त्रदर्शनं इदानीमपि भवितुं शक्यमित्युच्यते, " ब्रह्मात्मदर्शनमिवैवेति" ब्रूमः, तद्यथा "**अहं मनुरभवं सूर्यश्च**" इति वामदेवस्य ऋङ्मन्त्रदर्शनमुखे नोपदिष्टं ब्रह्मात्मभावदर्शनं प्रसिद्धम्। तच्च "**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्। तथर्षीणां तथा मनुष्याणां, तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति**'

वचन इसी बातकी पुष्टि करता है । अतएव ऐसा अनुमान करना असंभव नहीं कि, प्राचीनकालके महर्षि जिस भाँति मंत्रदर्शन श्रवणादि करलेते थे, उसीतरह आज दिन भी तपके द्वारा वैसा मंत्र. दर्शन होसकता है । देखो एक मंत्र—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति । (ऋ. १।१।२)

यहाँपर ' ऋषिभिः ' पद ड्योढीपर रखे हुए दीपकी नाईं बीचमें रहता हुआ ' पूर्वेभिः नूतनैः ' इन दोनोंसे जुडजाता है । इससे यह प्रतिपादन किया है कि, उस अग्निकी सराहना पूर्वकालीन तथा नये ऋषियोंको करनी चाहिए और यह भी कहा जाचुका है कि, उस भाँतिका ऋषित्व सिर्फ मंत्रदर्शनसे ही प्राप्त होता है । अब यहाँ दुबारा यूं कहनेकी कोई अवश्यकता नहीं दीख पडती है कि, वह नया ऋषित्व केवल नये मंत्रोंको देख लेनेसे ही मिलसकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है । ' उत ' पदभी पूर्ववत् नये ऋषिपनकी ओर संकेत करता है । ' अग्निःपूर्वेभिः ऋषिभिः' इस मंत्रपर भाष्य करते हुए ' श्रीवासिष्ठगणपति मुनिजी ' का वचन भी इसी बातकी पुष्टि करता है । ' पूर्वकालमें विद्यमान और पश्चात् उत्पन्न हुए नये ऋषियों अर्थात् मंत्रद्रष्टाओंद्वारा प्रशंसनीय वह अग्नि देवोंको इधर ले आए । ' ऋषिभिः ' पदसे साफ तौर पर सूचित होता है कि, जो ऋषिपदपर अधिष्ठित नहीं हो पाया, वह भली भाँति भगवानकी स्तुति नहीं कर सकेगा । ' नूतनैः ' इस पदसे कह दिया कि, ऋषित्व किसी युगविशेष की अपेक्षा नहीं रखता । इससे सिद्ध हुआ कि, उस भाँतिके तपःसामर्थ्य के एवं मंत्रदर्शन के अभाव और अ–ऋषिपनमें कारण तथा ऋषि बननेमें प्रमुख साधन उसतरहका मंत्रदर्शन ही है । वेदमंत्र भी ऐसा ही प्रतिपादन करता है जैसे, ' ऋषिर्विप्रः काव्येन ' ।

अच्छा, यह आपका प्रतिपादन भला अचानक कहाँ से निकल पडा ? ' आजदिन भी पहले जैसे ही उसतरहका मंत्र दर्शन हो सकता है ' यह तो सचमुच पहले कभी न देखा हुआ, न सुना हुआ, किसीभीतरह प्रसिद्ध न हुआ बिलकुल नया मत दीख पडता है । भला आज भी कैसे वह एक मात्र ब्रह्मकी रचना और सिर्फ ऋषियोंसे संबंध रखनेवाली वह मंत्र देखलेनेकी बात व्यवहार या अनुभवमें आ सकती है ? इस प्रश्नका यूं उत्तर देते हैं कि, ' जिस तरह ब्रह्म एवं आत्माका दर्शन होता है, उसी प्रकार ।' उदाहरणार्थ, वामदेवऋषिके देखे मंत्रमें मुखसे कहा हुआ ' **अहं मनुरभवं सूर्यश्च** ' यह ब्रह्म अथवा आत्माका दर्शन सबको विदित है । और यह बृहदारण्यक उपनिषदमें याज्ञवल्क्यके वचन द्वारा अधिक सुदृढ हुआ, वह वामदेवका ब्रह्म आत्मभावका दर्शन आज भी पहले कहे

इति (बृ०उ० १।४।१०) याज्ञवल्क्यस्य उपनिषद्वचनेनोपबृंहितं च वामदेवस्य तद् ब्रह्मात्मभावदर्शनं इदानीमपि यथोक्त-साधनेन तपसा विदुषां यथापूर्वमेव भवितुमर्हति; तथा भवतीत्यप्यभ्युपगम्यते सर्वैरपि शास्त्रज्ञैः, "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इति (ब्र० सू० १।१) ब्रह्ममीमांसानिर्णयात् । अन्यथा ब्रह्मदर्शनार्थं सर्वशास्त्रानुचिन्तनं सर्वविद्याशिक्षणं तत्परिशीलनं च सर्वथानर्थकमेव स्यात् ।

सुप्रसिद्धाः तदनन्तरमपि सम्भूताः श्रीशङ्करदेशिकेन्द्रप्रभृतयः साक्षात्कृतात्मानो ब्रह्मतत्वविदः आचार्याः, तथैव इदानीमपि विद्यन्ते केचित् चतुर्थाश्रमिणः अतिवर्णाश्रमिणश्च ब्रह्मतत्वज्ञाः आत्मसाक्षात्कारेण प्रसिद्धाः । तदिदं शास्त्रसिद्धं वस्तुतत्वं इदानींतनैरप्यभ्युपगम्यते । एवं परोक्षस्य परब्रह्मण एव दर्शनं भवतीत्यभ्युपगम्यमाने, ब्रह्मकार्यस्य प्रत्यक्षब्रह्मरूपस्य वेदस्यैव दर्शनं भवितुं न शक्यमिति को हेतुः ?

कारणैकविज्ञाने कार्यरूपसर्वविज्ञानप्रतिज्ञेव सर्वकारणीभूतपरब्रह्मात्मदर्शने तत्कार्यभूतप्रत्यक्षब्रह्मरूपवेदमन्त्रदर्शनप्रतिज्ञापि अर्थात् सिद्धैवेति न पुनर्वक्तव्यम् । भूतवस्तूनामिदं स्वभावसिद्धं तत्त्वं यत् साधनसम्पत्तौ सिद्धायां साध्यसिद्धिरपि स्वयमेव भविष्यतीति । 'प्रमाणसिद्धौ प्रमेयसिद्धि,रिति यावत् । तद्यथा नेत्रार्थसन्निकर्षेण तदर्थज्ञानं सम्पद्यते । तस्मात् परब्रह्मणः प्रत्यक्षब्रह्मरूपवेदस्यापि दर्शने तत्त्वं तत् समानमेवेत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

अथ पूर्वेभ्यो वसिष्ठादिमहर्षिभ्योऽनन्तरं एतावत्पर्यन्तं ब्रह्मात्मदर्शनं वेददर्शनं यस्य कस्यचिद् ज्ञानिनोऽपि अभवदिति शास्त्रे लोके च प्रसिद्धिर्नास्ति, येन तथाऽभ्युपगम्येत । तस्मात् आदिसृष्टौ विश्वाविर्भाव इव ब्रह्मणः सकाशात् वेदानामाविर्भावः, तथा ऋषीणां मुखेन तत्प्रकाशश्च यद्बभूव ,तदेव प्रधानं न च तत्पुनर्भवितुं शक्यमिति न्याय्यमिति चेत्, सत्यमेवैतत् तथा चेत् केवलं वेदान्तवाक्यार्थविचारसाध्यात् ब्रह्मदर्शनादपि वेददर्शनमेवासामान्यं परमतपःसाध्यं अनन्यसाधारणं विशिष्ट-

---

साधनोंसे और तपसे विद्वानोंको पूर्ववत् होसकता है। याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक १।४।१० में कहते हैं " पहले यह सारा ब्रह्म था, यह अपने आपको 'मैं ब्रह्म हूँ' इस तौरपर समझ गया, इस कारण वह समूचा ब्रह्म बनगया, अतः देवोंमें जिस जिसको ऐसा बोध होगया, वही ब्रह्मरूप होगया, यही बात ऋषियों एवं मानवोंके संबंधमें ठीक है, और सचमुच इसेही देखकर ऋषि वामदेवने यों प्रतिपादन किया कि, 'मैं मनु एवं सूर्य बनगया' तो यह सब कुछ जो कोई जानले कि, 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' वह इस सबसे अभिन्न होता है।" सभी शास्त्रवेत्ता स्वीकार करते हैं कि, वैसेही अब भी दर्शन होता है। ब्रह्ममीमांसामें इसका निर्णय किया है 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र. सू. १।१) इससे। अगर ऐसा न हो तो, ब्रह्मके दर्शनके लिए सभी शास्त्रोंके बारेमें सोच लेना, सारी विद्याओंको सीख लेना, एवं उनका दृढ्याभ्यासंग करना, साराका सारा बेकार हो जायगा।

तदुपरान्त भी अति विख्यात श्री शंकर देशिकेन्द्र जैसे आचार्य उत्पन्न हुए, जो ब्रह्मके तत्त्वको जानते हुए आत्मसाक्षात्कार करचुके थे। उसीतरह आज भी कई ब्रह्मवेत्ता चतुर्थ आश्रमका अंगीकार किये हुए, वर्णाश्रमके परे रहते हुए, आत्मसाक्षात्कारके कारण प्रसिद्ध हुए मौजूद हैं। यह शास्त्रसिद्ध वस्तुतत्त्व आधुनिकोंको भी मान्य है। इस भाँति जब परोक्षमें विद्यमान परब्रह्मका ही दर्शन होता है, ऐसा मानलेनेपर, भला क्या कारण है कि ब्रह्मके कार्यरूप एवं प्रत्यक्ष ब्रह्मरूपवाले वेदकाही दर्शन होना असंभव बना रहे?

एक कारणका विशेष ज्ञान होनेपर जिसतरह समूचे कार्यरूपकी जानकारी हुआ करती है, वैसेही सबके कारणभूत परब्रह्ममय आत्माके दर्शन होनेपर उसके कार्यरूप तथा प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूप वेदमंत्रोंके दर्शन होजानेकी बात भी सिद्ध है, ऐसा फिर कहनेकी कोई जरूरत नहीं। भौतिक वस्तुओंके बारेमें यह तत्त्व निसर्ग सिद्ध माना है कि, यदि साधनोंका इकट्ठा करना पूर्ण होजाय, तो साध्य खुद ही पूर्ण होजायगा। प्रमाणोंकी सिद्धता कीजिए, प्रमेय सिद्ध होजाता है। जैसे, आँख एवं वस्तु समीप रहें, तो वह अर्थ ज्ञान होजाता है। इस कारण, परब्रह्मसे प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूपधारी वेदोंका भी दर्शन होनेमें वही तत्त्व लागू है, ऐसा समझना चाहिए।

अच्छा, यदि कहो कि पूर्वकालीन वसिष्ठ आदि महर्षियोंके पश्चात् अबतक ब्रह्ममय आत्माका दर्शन तथा वेदका दर्शन जिस किसी ज्ञानी पुरुषको हुआ हो, ऐसा न शास्त्रमें अथवा जनतामें प्रसिद्ध हुआ दीख पडता है, जिससे कि उसे मानलिया जाय। इसीलिए सृष्टिके प्रारंभमें, विश्वके प्रकटीकरणके तुल्य, ब्रह्मसे वेद व्यक्त हुए और ऋषियोंके मुँहसे जो उसका प्रकाश होचुका, वही प्रमुख

तरमित्यर्थादुक्तं भवति । तावता 'साधनसिद्धौ साध्यसिद्धि'रिति न्यायः कदाचिदपि न व्यभिचरति । तद्यथा—सर्ववेदमूलभूतस्य ज्ञानराशेश्चेतनात्मनः परोक्षस्य परब्रह्मणः वस्तुतत्त्वबोधकत्वात् गुरुरेव प्रत्यक्षं तत्परं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणोऽपि गुरुरेव श्रेष्ठः प्रत्यक्षत्वादिति श्रुतिस्मृतिन्यायादिसिध्दं तत्त्वम्–

"अविद्वांसो विदुष्टरं सपेम" इति ॥ (ऋ० ६।१५।१०)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ॥ गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ इति ।

परोक्षादपि प्रत्यक्षमेव विशिष्टतरमिति न्याय्यम् । परोक्षस्य परब्रह्मणः प्रत्यक्षीकरणार्थमेव सर्वोऽपि प्रयत्नः; तद्वदेव परोक्षब्रह्मणः यथार्थतत्त्वबोधकत्वेन तत्साक्षात् कारणत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणभूतत्वाच्च प्रत्यक्षब्रह्मरूपो वेदः 'गुरुरिव' परब्रह्मसमानः, ततोऽपि गरीयानिति पर्यवस्यति । वस्तुतस्तु गुरोरपि तद्गुरुत्वं अग्नेरिवात्मसात्करणसामर्थ्ययोगात्, वचनमुखेन ज्ञानदातृत्वाच्च । तस्मात् तत्सन्निधावसन्निधौ च क्वचिदत्यन्तं तद्वियोगेऽपि तदनुशासनवचनस्यैव प्राधान्यात् चिरस्थायित्वाच्च प्रामाण्येन तद्वचनानुसरणमेव सर्वथा शरणम् । तद्वदेव परब्रह्मनिष्ठार्थं तच्छासनरूपं ऋषिभिरनुशासितं गुरुणाऽपि पित्रादिना गायत्र्यादिमुखेनोपदिष्टं प्रत्यक्षब्रह्मरूपं वेदवचनमेव शरणम् । अतएव ईश्वरस्यापि सर्वगुरुत्वं प्रसिद्धम् ।

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ इति ॥ (पा० यो० सू० १।२४)

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति । (मनु० स्मृ०) "उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ॥

समझना चाहिए, तथा वैसा फिर नहीं होसकता यही ठीक जान पडता; हाँ, यह सच है कि, वैसा होनेपर, केवल वेदान्तवाक्योंके अर्थपर सोचनेसे सिद्ध होनेवाले ब्रह्मदर्शनसे भी वेददर्शनही पाना असाधारण कोटिका, बडी तपस्यासे सिद्ध होनेवाला, अद्वितीय तथा अत्यन्त अनोखा है, ऐसा कहना पडता । पर उतनेसे 'साधनोंकी तैयारी हो तो साध्यके तैयार होनेमें देर नहीं' यह न्याय झूठा नहीं ठहरता । जैसे, सभी वेदोंके मूलभूत, ज्ञानभाण्डार एवं चेतनमय परोक्ष पर ब्रह्मके वास्तव तत्त्वको बतलानेसे गुरुही वह प्रत्यक्ष ब्रह्म है, इसलिए गुरुही ब्रह्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है, ऐसा श्रुति, स्मृति न्याय आदि से सिद्ध तत्त्व है ।

अविद्वाँसो विदुष्टरं सपेम । (ऋ. ६।१५।१०)
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

यह बिलकुल ठीक है कि प्रत्यक्ष ही परोक्षसे भी अधिक अनोखा है, क्योंकि परब्रह्म परोक्ष है, अतएव उसको प्रत्यक्ष करनेके सभी प्रयत्नोंकी पराकाष्ठा की जाती है; उसीतरह, परोक्ष ब्रह्मके वास्तविक तत्त्वको भली भाँति जतलानेमें साक्षात् कारण रूप होनेसे और प्रत्यक्ष प्रमाण ही होनेसे वेद जो कि प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप धारण करनेवाला है, 'गुरुके तुल्य' पर ब्रह्म समान होताहुआ, उससे भी उच्चकोटिका है, ऐसे निर्णयपर हम पहुँचते हैं । सच बात तो यह है कि, गुरु का वह गुरुत्व तो अग्निकी नाईं आत्मसात् करनेकी क्षमतासे युक्त होनेसे और वचनके जरिये ज्ञान देनेकी शक्ति होनेसे है । इसीकारण, गुरु समीप रहे या न रहे अथवा उसके सदाके लिए बिछुडनेपर भी, उसके उपदेशपूर्ण वचनको ही प्रमुखता एवं बहुत समयतक टिकाव मिलनेसे, उसेही प्रमाण मानकर तदनुसार बर्ताव रखनाही सब प्रकारसे उचित है । ठीक इसीतरह, परब्रह्मकी निष्ठाके लिए उसके शासनमय, ऋषियों द्वारा उपदेशके लिए फिर दुहराया हुआ और गुरुसे या पिता आदिसे गायत्री आदि द्वारा बताया हुआ प्रत्यक्ष ब्रह्म स्वरूप वेदवचनकी शरणमें जानाही ठीक प्रतीत होता है । इसीलिए तो परमात्माको भी सबके गुरु मानलेनेमें कोई आपत्ति नहीं उठाई जाती है। देखिए महर्षि पतंजलि का कथन—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥
(पातं. योगसूत्र)

"जो दुःख, कर्मफल आदि बातोंसे बिलकुल दूर रहता है उस विशिष्ट पुरुषको, ईश्वर नाम दिया जाता है, जो कि प्रवाहसे अनादि समयसे पूर्वकालीनोंका भी गुरु माना गया है ।"

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति । (मनु.)

"वह गुरु है जो उपनयनादि कर्म कर चुकनेपर इस शिष्यको वेद देडालता है ।"

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।

" त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति ॥ इति च (प्रश्नोप० ६ प्रश्नः)
एवमादीनि वचनानि ब्रह्मदातृत्वेन गुरोः श्रेष्ठत्वं दर्शयन्ति । अस्मिन्वेददर्शनविषये वासिष्ठस्य गणपतिमुनेः विश्वमीमांसा-श्लोकाः—

१. वेदश्छन्दोमयो मन्त्रो दिव्यदृष्ट्यनुभूतिकः । प्रत्यक्षं तत्प्रमाणं स्यात्तपसा दर्शनादृषेः ॥
२. वेदो ब्रह्मात्मविज्ञानं नित्यं तस्यानुभूतितः । तपसा तत्प्रकाशार्थमुदीर्णा वागपि श्रुतिः ॥
३. समष्टेः करणेनेव ऋषीणामात्मनीरितम् । हृदाऽनूदितमेवान्तरार्षं तद्दर्शनं श्रुतम् ॥
४. अनन्ता वै स्थिता वेदाः व्योम्न्यखण्डस्वरात्मकाः । तपसाऽन्तः समाधौ च श्रूयन्ते ते महर्षिभिः ॥
५. स्वभावः सिद्धवस्तूनां द्रष्टुर्दर्शनयोग्यता । सामर्थ्यं तादृशं यत्र तत्र स्यात्स्फुरणं स्वयम् ॥
६. ददृशुर्ऋषयो वेदं पूर्वं वै तपसा यथा । इदानीमपि तच्छक्यं तथैव द्रष्टुमन्तरे ॥
७. ब्रह्मात्मदर्शनं यद्वत् यथापूर्वं प्रमाणतः । इदानीमपि सम्पाद्यमृषीणामिव तत्त्वतः ॥
८. तपसाऽन्तर्दृशा चैव पूर्णसद्वस्तुदर्शनात् । वेदवाचामपि तथा दर्शनं हि भवेत्सताम् ॥
९. परस्यापि ब्रह्मणश्चेद्दर्शनं शास्त्रतो भवेत् । किं शब्द ब्रह्मरूपस्य वेदस्य नेति वादतः ॥
१०. बहुधाऽपि तपस्तप्त्वा प्राप्तुं तन्मन्त्रदर्शनम् । नाशक्नवमहं पूर्णं सँस्कर्तुं हृदयं तथा ॥
११. तथापि तपसैवाप्तुं शक्यं तन्मन्त्रदर्शनम् । इति मे सुदृढो यत्नो निश्चयोऽप्यस्ति शास्त्रतः ॥

त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति । (प्रश्न. उ. ६)

' जन्म देनेवाले एवं ब्रह्मका बोध करानेवालोंमें ब्रह्मज्ञान दे देनेवाले पिताको ही सर्वोपरि समझना चाहिए ।- तू हमारे पिताके समान है जिसने हमारी अविद्यासे हमें पार पहुँचाया है ।'

ऊपर दिये ढंगके वचन साफ दर्शाते हैं कि, ब्रह्मदान देनेके कारण गुरुका बडप्पन निर्विवाद है । इस वेददर्शनके बारेमें श्री वासिष्ठ गणपति मुनिके बनाये श्लोक विश्वमीमांसामें पाये जाते हैं—

१. दिव्य दृष्टिकी अनुभूतिसे युक्त तथा छन्दोंमें बँधे हुए मंत्र भागको वेद कहते हैं और ऋषिके तप एवं दर्शनसे वह प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा समझना ठीक है ।

२. हमेशा अनुभूति मिलनेसे ब्रह्म तथा जीवका अभिन्नत्व जान लेना वेद है और तपके द्वारा उस बोधका प्रकटन करनेके लिए व्यक्त हुई वाणी श्रुति कहलाई जाती है ।

३. समष्टि भावके उदय होनेसे ऋषियोंके आत्मामें स्फुरित हुआ तथा अन्तस्तलसे निकला हुआ आर्षेय दर्शन सबको विदित है।

४. आकाशमें अखंड स्वररूपसे विराजमान अनन्त वेद मौजूद हैं, जिनको सुनलेना उन महर्षियोंके लिए संभव है जो तप द्वारा समाधिमें अन्तर्लीन होजाते हैं ।

५. वह स्फुरण वहींपर होता है जहाँ सिद्ध वस्तुओंका स्वभाव, द्रष्टामें मौजूद दर्शन पानेकी क्षमता एवं उसतरहका सामर्थ्य पाया जाता है ।

६. जिस तरह तपस्याके जरिये पूर्वकालीन ऋषियोंने वेद का दर्शन पालिया था उसीतरह अन्तस्तलमें वैसा दर्शन पाना आज भी संभव है ।

७. पहले जिस ढंगसे ऋषियोंने ब्रह्म एवं जीवात्ममें अभेद भाव देखलिया था उसीप्रकार उस तत्त्वका बोध आज दिन भी करना चाहिए ।

८. तपसे, अन्तर्दृष्टिसे जब सत् वस्तुका संपूर्ण दर्शन सज्जनोंको होजायगा तो वैसेही वेदवाणियोंका दर्शन पाना कोई कठिन बात नहीं है ।

९. यदि शास्त्रके कथनानुसार, परब्रह्मका दर्शन होना असंभव नहीं तो फिर यह बहस किसलिए कि शब्द ब्रह्मरूपी वेदका दर्शन नहीं होसकता ।

१०. अनेक ढंगसे तपश्चर्या करचुकनेपर भी मैं उस मंत्रदर्शन को प्राप्त करनेमें और हृदयका भी संपूर्ण संस्कार करनेमें पूरी तरह से सफलता नहीं प्राप्त कर सका ।

११. तो भी, मेरा यह अतिदृढनिश्चय एवं प्रयत्न जारी है कि वह मंत्रदर्शन सिर्फ तपश्चर्यासेही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि वैसा शास्त्रका सहारा उपलब्ध है ।

१२. इदानीमपि मन्त्राख्यां सत्यसन्धो महायशाः। प्रदिशन्नात्मदृष्टिभ्यो दैवरातः प्रदृश्यते ॥
१३. एवं यो यतते योगात् मनोवाक्कायकर्मणाम्। सोऽप्यन्तस्तपसाऽवश्यं मन्त्रद्रष्टा भवेदृषिः ॥

वेदैकत्वविचारः

मनुष्याणां हितार्थं सर्वज्ञानप्रकाशनाय ऋगादिवेदरूपं शास्त्रं प्रवृत्तमित्युक्तम्, सोऽयं शास्त्ररूपो वेदः शब्दरूपः अर्थरूपश्चेति द्विधा प्रसिद्धः। तत्र अर्थरूपं शास्त्रं ज्ञानात्मकं अनुभवादिरूपम्। शब्दरूपं तु विदित-अनुभूताद्यर्थानुवादकं वाग्रूपमिति विवेकः। तदिदं शब्दशास्त्रमेव स्वार्थावबोधे अनन्यनिरपेक्षं स्वतःसिद्धं प्रत्यक्षं प्रमाणं प्रदीपवदेव। तदेतदुभयविधमपि शास्त्रं विद्याशब्देन व्यवह्रियते, तत्र अर्थरूपा विद्या तावत् (वेदश्च) विद्यतेऽनेन तत्त्वं जिज्ञासुभिरिति विद्या (वेदः) इति व्युत्पत्तिसिद्धः ज्ञानरूपः, शब्दरूपा तु वेदयति स्वं वाच्यमर्थमिति सिद्धा वाग्रूपा। एवं शब्द-तदर्थज्ञानयोरुभयोरपि सदर्थप्रापकत्वेन वेदः विद्या इति संज्ञाद्वयं शास्त्रे लोके च प्रसिद्धम्। तदिदं संज्ञाद्वयमपि अर्थज्ञानरूपस्य शास्त्रस्य मुख्यया वृत्त्या प्राप्तं, शब्दरूपस्य तु गौणवृत्त्येति विशेषः। तत्र ज्ञानरूपविद्याप्रापकत्वात् शब्दविद्यारूपस्य वेदस्य प्रधानं विद्यात्वमिति केचित्। शब्दविद्याफलरूपत्वात् ज्ञानरूपस्यैव प्रधानं विद्यात्वमित्यन्ये। वाच्यवाचकयोः साध्यसाधनभूतयोः तादात्म्यात् शब्द-तदर्थज्ञानयोरुभयोरपि तुल्यं विद्यात्वमित्यपरे।

वस्तुतस्तु शब्द-तदर्थज्ञानरूपयोः शास्त्रयोर्विद्यात्वे तुल्येऽपि ज्ञानरूपैव परा विद्या फलरूपत्वात्, प्रधाना श्रेष्ठा च, शब्दरूपा तु अपरा विद्या तत्साधनभूतत्वात् इत्येव युक्तम्। तथा च औपनिषदं ब्राह्मणवचनम्– **“द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च, तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।”** (मुण्ड० १।१।४) इति शब्दविद्यायाः ज्ञानविद्यायाश्च परापरत्वेन पृथङ्निर्देशात्।

---

१२. आजदिन भी, श्री दैवरात मुनिजी जो कि भारी यशस्वी एवं सत्यप्रतिज्ञावाले हैं, आत्मदृष्टिसंपन्न लोगोंको मंत्रका आख्यान देता हुआ दीख पडता है।

१३. इस ढंगसे जो कोई मन, वाणी, शरीर एवं कर्म द्वारा प्रयत्न करने लगे वह तपकी सहायतासे अवश्यही अन्तर्दृष्टिसे मंत्रद्रष्टा ऋषि बनजायगा।

वेद एक है या अनेक इसपर कुछ विचार

यह पहले कहा जाचुका है कि ऋग्वेद आदि वेदोंका रूप धारण कर यह शास्त्र मानवोंके हितके लिए और सभीतरहके ज्ञानके प्रकाशनार्थ अस्तित्त्वमें आया है। यह वेदशास्त्र शब्दरूपसे एवं अर्थ रूपसे दो प्रकारका है सो प्रसिद्ध है। अब जो अर्थरूप शास्त्र है वह ज्ञानमय तथा अनुभूति इत्यादिसे पूर्ण है और शब्दरूप विभाग तो समझे हुए एवं अनुभवके क्षेत्रमें आये हुए मतलबको दुहराता हुआ वाणीका रूप धारण करता है ऐसा निर्णय किया जा सकता है। तो इसभाँति यह शब्दशास्त्र ही अपने अर्थको बतलानेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा न रखता हुआ, स्वयंसिद्ध, प्रत्यक्ष प्रमाण बनकर प्रदीप की नाईं मौजूद है और इस दोहरे ढंगके शास्त्रको विद्या नामसे पुकारते हैं। अब अर्थरूपसे विद्यमान विद्या को वेदभी कहते क्योंकि जिज्ञासु लोग इससे तत्त्वका बोध पाते हैं। यह व्युत्पत्तिसे सिद्ध ज्ञानरूप वेदका अर्थ है और शब्दरूप विभाग वाणीरूपसे अपने वाच्य अर्थ को बतलाता है। इस तरह शब्दज्ञान एवं उस शब्दके अर्थज्ञान दोनोंको बतानेसे शास्त्रमें एवं जनतामें वेद और विद्या ऐसे दो नामों का प्रयोग किया जाता है। इसमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यही है कि दोनों नाम अर्थज्ञानमय शास्त्रको प्रमुखतया दिये हैं; शब्दरूपके तो गौणरूपमें प्रयुक्त हैं। अब यहाँ पर कइयोंकी राय है कि ज्ञानमय विद्या दे देनेसे शब्दविद्यामय वेदको विद्या नाम प्रमुखतया देना ठीक है, तो कुछ ऐसा मानते हैं कि, शब्दविद्याका फलरूप होनेसे ज्ञानमय कोही प्रधानतया विद्या नाम देना ठीक है। परन्तु ऐसा माननेवाले भी कई हैं कि वाच्य एवं वाचक जो कि साध्य और साधक बने हुए हैं अभिन्न होनेसे शब्द तथा उसके अर्थज्ञान दोनोंके लिए विद्या शब्दका प्रयोग समानरूपसे करना चाहिए।

वास्तविक बात ऐसी है कि, यद्यपि विद्या नाम दोनों शब्दमय शास्त्र एवं अर्थज्ञानमय शास्त्रके लिए समान रूपसे दिया गया हो; तथापि यह ठीक जान पडता है ज्ञानरूप परा विद्याही प्रमुख एवं श्रेष्ठ है, क्योंकि वह फलरूप है और जो दूसरी शब्दमय अपरा विद्या है वह पहलीके साधनभूत होनेसे उच्चकोटिकी ठहरती है। इस संबंध में उपनिषदमें पायाजानेवाला यह ब्राह्मणवचन देखनेयोग्य हैं– ‘दो विद्याओंकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए जिनमें

यथा ज्ञानात्मा वाच्योऽर्थरूपः परब्रह्मसंज्ञकः ईश्वरः एकरूपः एक एव नित्यसिद्धः, तथैव वाच्यवाचकयोस्तादात्म्यात् तदुच्छ्वासात्मकः वाचकरूपः सर्वोऽपि शब्दात्मकः सः वेदोऽपि दर्शनश्रवणादिना आविर्भूतः एकरूपः स एक एवेति प्रतीयते। "यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये। (ऋ० ८।१९।५) इत्यविशेषेण एकवचनेन एकरूपनिर्देशानुगमात्। कथं तर्हि " सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।" (कठो० १।२।१५)

इति वेदस्य सर्वशब्देन सह बहुवचनेन च निर्देशः, तथा ऋग्यजुःसामाथर्वनामभेदतः चतुःसंख्याप्रसिद्धिश्च, अवान्तर-भेदापेक्षयेति ब्रूमः, तद्यथा एक एव, वृक्षः मूलं शाखा पर्णं पुष्पं फलं चेति अवान्तरभेदेन बहुधा दृश्यते, तत्र वृक्षात्मना मूलपर्णादयः एकात्मान एव पर्णाद्यात्मना तु भिन्ना इव दृश्यन्ते। फले बीजे च सर्वात्मकत्वप्रसिद्धेः। एव-मेकस्मिन्नेव वेदे अवान्तरभेदेन विशिष्टाः केचन शब्दसमूहाः 'सर्वे वेदाः' इत्युच्यन्ते, नहि तावता वेदस्य एकत्वं एकरूपत्वं च हीयते, नाप्यनेकरूपत्वं प्रतिष्ठाप्यते। एवं क्वचिद् गुणधर्मवृत्तिक्रियादिभेदेनापि अवान्तरभेदो दृष्टः, यथा प्राणः एक एव सन्नपि वृत्तिस्थानादिभेदमात्रेण भिन्ननामतः पञ्चधा प्रसिद्धः।

तत्र "**योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणः, यः प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः। योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानः, य ऊर्ध्वः सुषिः स उदानः, य उदङ्सुषिः स समानः**" इति श्रुतेः (छां०उ०३।१३।१) हृदयादिस्थानभेदेनापि "**हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्यात् व्यानः सर्वशरीरगः।** इति। अत्र एतेषां

एकका नाम परा है और दूसरीका नाम परा अपरा है। अपरा नामसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का बोध होता है तथा परा विद्या वह है जिससे उस अक्षर पर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।' इस भाँति, परा और अपरा दो नाम देकर अलगअलग शब्दविद्या और ज्ञान विद्याका उल्लेख किया है।

जिस प्रकार, ज्ञानमय, वाच्यअर्थमय परब्रह्म नामक ईश्वर अखंड एकरूप होता हुआ नित्यसिद्ध है, ठीक उसी प्रकार वाच्य एवं वाचकके मध्य संपूर्ण अभिन्नता होनेसे परमात्माके उच्छ्वासरूप, समूचा शब्दमय वेद भी, जो कि परब्रह्मका वाचक है, तथा दर्शन श्रवण आदिसे प्रकट हुआ है, अखंड एकरूप ही है, ऐसा प्रतीत होता है। वेदमेंही अभिन्नताद्योतक एकवचनसे वेदके एकरूपका उल्लेख किया हुआ पाया जाता है जैसे—

'यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये' (ऋ. ८।१९।५)

अर्थात् जो मानव वेदके पठनपूर्वक अग्निमें हविका दान कर चुका हो। यदि ऐसा है, तो फिर भला कैसे **'सर्वे वेदा यत्पद-मामनन्ति'** (कठ. १।२।१५) यह वचन ठीक होगा ? क्योंकि यहाँ तो साफ तौरपर सर्व पदके साथ अनेकत्वबोधक ढंगसे वेदका उल्लेख किया है और ऋक्, यजुः, साम, अथर्व जैसे विभिन्न नामोंसे वेदके चार विभाग होना तो सर्वश्रुतही है। इसपर हमारा उत्तर यूं है कि, यह भिन्नता छोटे एवं गौणरूपसे विद्यमान भेदोंको ध्यानमें रखनेसे दीख पडती है, उदाहरणार्थ- पेड एकही है तो भी, उसकी जडें, टहनियाँ, पत्तियाँ और फलसंपत्ति आदि गौण बातोंकी ओर देखनेसे वह विविध रूपी दीख पडता है, परन्तु वृक्षके रूपमें सारे मूल, पत्ते वगैरह एकरूपी हैं, यद्यपि वे अपने पत्ते, जडें आदिके स्वरूपमें पृथक्से दीख पडते हैं। फल एवं बीजमें तो किसी भी तरहकी भिन्नता नहीं दिखाई देती है, क्योंकि उस में सारी विभि-न्नताएँ एकत्वमें विलीन रहती हैं। ठीक इसीतरह, एकही वेदमें गौण भेदोंके कारण विशिष्ट एवं अलग प्रतीत होनेवाले कुछ शब्द-समूहोंका निर्देश **'सर्वे वेदाः'** कहकर किया गया है। सिर्फ इतने से वेदके एकरूपत्व या एकत्वमें कुछ भी न्यूनता नहीं पैदा होजाती, और नाहि वेदका विभिन्नरूपत्व सिद्ध होता है। इसीतरह, कहींपर गुण, धर्म, प्रवृत्ति, क्रिया आदि भेद मौजूद होनेपर गौण विभिन्नताएँ दिखाई देने लगती हैं, जैसे प्राण एकहोनेपर भी वृत्ति, स्थान वगैरह विभेदोंके होनेसेही पाँच तरहके पृथक् नामोंसे एकही प्राण पहचाना जाता है, जैसे कि छान्दोग्य उपनिषदके अवतरण से विदित होता है " जो इसका पूर्वकी ओर झुकनेवाला है वह प्राण, जो पीछे की ओर प्रवृत्त हो वह अपान है। जो इसके दक्षिण में मौजूद है वह व्यान और जो ऊपर विद्यमान है वह उदान कहलाया जाता है तथा जो ऊपरकी ओर प्रवृत्त है वह समान है।" (छां. उ. ३।१३।१)

अब हृदय इत्यादि विभिन्न स्थानोंके अनुसार कहा गया है कि 'हृदयमें रहनेवाला प्राण, गुदामें अपान, नाभिप्रदेशमें समान, कण्ठमें उदान और समूचे शरीरको व्यापनेवाला व्यान कहलाया

प्राणादीनां वृत्तिस्थानादिभेदेन भेदव्यवहारः, एवं वेदोऽपि वस्तुतः एकरूपः एक एव सन्नपि केनचिद्विशेषेण अनेकधा व्यवह्रियते ऋगादिसंज्ञाभिः। तथा च ब्राह्मणम्–'**सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः एकैव व्याहृतिः प्राणा एव प्राणः ऋच इत्येव विद्यात्**' इति (ऐ०आ० २।२।२)। अत्र सर्वे वेदाः इति यद् बहुधा निर्देशः तदिदं " सर्वे घोषाः " घोषरूपाः अभिव्यक्ताः शब्दसमूहाः सर्वे अनेके इति यावत्। तेषां सर्वेषां शब्दसमूहरूपाणां वेदानां "एकैव व्याहृतिः" दर्शनादिना अभिव्यक्तिरेकरूपा एकैवेत्यर्थः। "प्राणा एव प्राणः" वृत्तिस्थानादिभेदेन पञ्चधा भिन्नाः प्रसिद्धा अपि प्राणाः "प्रा ाः" प्राणात्मना तु एक एवेति भावः। 'ऋच इत्येव विद्यात्' एवं ऋचः ऋगादेः सर्वस्यापि शब्दराशेः दर्शनादिना अभिव्यक्तिरूपेण एकत्वं वृत्तिविषयादिभेदेन अनेकधा व्यवहारः प्राणवदिति ज्ञेयम्। अत्र " ऋचः " इत्युपलक्षणं ऋक्प्राधान्याभिप्रायम्। तेन " सर्वे वेदाः " इति वेदबहुत्वनिर्देशोऽपि स्थानवृत्तिविषयनामादिबहुत्वाभिप्रायमेव बोधयति। तथा च- "यत्पदमामनन्ति" इति च अविशेषेण सर्वेषामपि वेदानां यत्पदनिर्दिष्टस्य एकस्यैव सद्वस्तुनः एकरूपेणैव बोधकत्वेन निर्देशात्। प्रत्युत " सर्वे वेदाः " इत्येतद्वचनं तथा तद्गतं बहुवचनमपि वेदैकत्वस्यैवोपोद्बलकं, न तु वेदबहुत्वस्य, तदाम्नातार्थैकत्वात्। सर्वेषामपि वेदानां साक्षात् परम्परया वा एकार्थपरत्वात् वेदैकत्वमिति भावः। अत्र " **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** " इति स्मृतिवचनमप्युदाहरणीयम्।

कथं तर्हि वेदे श्रुतानां अग्नीन्द्रसूर्याद्यनेकदेवतास्तुतीनां एकार्थपरत्वम्, येन एकार्थपरत्वेन वेदानामेकत्वमध्यवसीयेत।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ० १।१६४।४६)

इति एकस्यैव सद्वस्तुनः अग्न्यादिबहुधाविभूतियोगनिर्देशात्। तस्मादीशनिःश्वासादाविर्भूतः तथा ऋषिभिश्च तपसा

जाता है।' अब यहाँपर देखिए कि इन प्राण आदिकोंको वृत्ति, स्थान इत्यादि विभिन्नताओंके पैदा होनेसे विभिन्न नाम दिये हैं, इसीभाँति, वेद भी वास्तवमें एकरूप तथा एकही है, लेकिन किसी खास विशेषताको देखकर ऋक् इत्यादि नामोंसे विभिन्न ढंगसे पुकारा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थका अवतरण भी इसीकी पुष्टि करता है जैसे—

'**सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः एकैव व्याहृतिः प्राणा एव प्राणः ऋच एवं विद्यात्।**' (ऐ. आ. २।२।२)

यहाँपर सभी वेद ऐसा जो अनेकत्व बोधक निर्देश है, वह इतना ही है, 'सभी घोष' याने घोषणाके रूपमें प्रकट हुए सभी अर्थात् कई शब्द-समूह। उन सभी शब्दसमुदायोंके रूपमें मौजूद वेदोंकी 'एकही व्याहृति' अर्थात् दर्शन आदि प्रकारोंसे हुई अभिव्यंजना एकरूप एकही है। 'कई प्राणही प्राण है' अर्थात् वर्तन, स्थान इत्यादि विभिन्नताओंके कारण पाँच तरहसे विभिन्न प्रसिद्ध प्राण भी 'प्राण' के स्वरूप में देखनेपर एकहीसे प्रतीत होते हैं। 'ऋचाओंको इसीतरह जाने' मतलब यही, इसी तौरपर ऋचा आदि समस्त शब्द राशिकी इकाईको, जो कि दर्शन आदिसे प्रकटीकरण द्वारा स्पष्ट है जानले और उसे वर्तन, विषय आदि बातोंमें भेद होनेसे व्यवहारमें प्राणकी नाईं कई तरहसे देखते हैं। ऋचाओंको प्रधान पद देनेके मतलबसे '**ऋचः**' पद रखा है और उसी आशयसे '**सभी वेद**' ऐसा वेद बाहुल्यका निर्देश भी सिर्फ स्थान, प्रवर्तन, विषय, नाम इत्यादि बाताकी विचित्रता एवं विविधता को ही बतलाता है। उसीतरह, '**यत् पदं**' जिस पदको, ऐसा कहकर अखंडरूपसे सूचित किया है कि, सभी वेद उपर्युक्त 'यत्' पदसे निर्दिष्ट एक सत् वस्तुका एकरूपसेही बोध कराते हैं। उल्टे, 'सभी वेद' ऐसा प्रयोग और उसमें दिखाई देनेवाला अनेक वचन भी वेदकी इकाईपर ही अधिक बल देता है, न कि वेद बाहुल्यका समर्थन करता है, क्यों कि उसमें जिसका विचार हुआ है, वह एकही अर्थ है। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि, साक्षात् रूपसे या परंपरासे एकही अर्थको बतलानेके कारण सभी वेदोंका एक वेदमें अन्तर्भाव होजाता है, याने वेद एकही हैं अनेक नहीं। इस बारेमें प्रसिद्ध स्मृति वचन, '**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**' अर्थात् धर्मकी नींव समूचा वेद है, उदाहरणके तौरपर पेश किया जासकता है।

अब सवाल उठखडा होता है कि, वेदमें यथेष्टतया वर्णित अग्नि, इन्द्र, सूर्य इत्यादि अनेक देवताओंकी स्तुतियाँ भला किसतरह एकही अर्थका प्रतिपादन करती होंगी? यह सिद्ध होजाए तो एकही अर्थका विवरण करनेके कारण वेदोंका एकत्व निश्चित होजायगा।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ. १।१६४।४६)

इस तरह एकही सत् वस्तुका निर्देश अग्नि इत्यादि अनेक

दृष्टः श्रुतश्च वाग्रूपः सर्वोऽपि छन्दोमयः शब्दराशिः शास्त्रसंज्ञितो वेदः एकरूपः एक एव, साक्षात् परम्परया वा एकार्थप्रतिपादनपरत्वादिति सर्वथा सम्पद्यते। अत एव सोऽयं सर्वोऽपि वेदराशिः प्राधान्येन ऋक् शब्देनैवाभिधीयते। तथा च दीर्घतमसः आर्षं ऋङ्मन्त्रदर्शनम्—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ इति (ऋ० १।१६४।३९; अथर्व० शौ० ९।१०।१८; तै०ब्रा० ३।१०।९।१४; तै० आ० २।११।१; नि० १३।१०)

तस्यायमर्थः– 'ऋचः' वाचकात्मना सिद्धस्य ऋगादिसमग्रछन्दोराशेः 'यस्मिन्' कारणभूते वाच्यार्थरूपे 'अक्षरे' अक्षरात्मके 'परमे व्योमन्' परमाकाशाभिन्ने सद्वस्तुनि 'विश्वे देवाः' सर्वे देवाः ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनो जीवात्मानः सर्वजगद्रूपाः, तथा तद्वाचकरूपाः शब्दसमूहाश्च 'अधि निषेदुः' प्रतितिष्ठन्ति। 'यः' मनुष्यः 'तत्' ऋगादिसर्वशब्दवाच्यं अक्षरब्रह्मरूपं परं अर्थं 'न वेद' न जानाति, 'ऋचा' केवलेन वाचकेन ऋगादिशब्दराशिना 'किं करिष्यति' न किंचित्प्रयोजनमित्यर्थः। 'य इत्तद्विदुस्त इमे समासते' ये एव तद्वाच्यं परं अर्थं जानन्ति, ते यथार्थज्ञानेन वेदफलं लब्ध्वा अमृतात्मानो भवन्तीति भावः।

विभूतियोंके उल्लेखसे हुआ है, अतः इसमें कोई संशय नहीं है। इसलिए ऐसा प्रतिपादन करना ठीक जान पडता है कि, परमात्माके निश्वाससे प्रकट हुआ, और ऋषियोंके तपसे जिसका दर्शन एवं श्रवण हुआ था, ऐसा वह वाणीका रूप धारण करनेवाला समूचा छन्दमय शब्दसमूहरूपी वेदशास्त्र एकरूप एकही है और यह एकत्व साक्षात्‌रूपसे, परंपरासे तथा एकही अर्थका विवरण करनेसे स्पष्ट है। यही कारण है कि इस समूचे वेद राशी को 'ऋक्' नामसे ही कहा जाता है। इस विषयमें दीर्घतमा ऋषिका देखा मंत्र देखो–

ऋचो अक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः॥
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

(ऋ. ११६४।३९; अथर्व. शौ. ९।१०।१८; तै. ब्रा. ३।१०।९।४; तै. आ. २।११।१; निरु. १३।१०

इसका यह अर्थ है– (ऋचः) वाचक रूपसे सिद्ध ऋक् इत्यादि समूची छन्दराशिके (यस्मिन्) कारणरूप एवं वाच्यार्थमय (अक्षरे) अक्षररूप (परमे व्योमन्) परम आकाशसे अभिन्न सत् वस्तुमें (विश्वे देवाः) सभी देव, ब्रह्मसे लेकर तिनकेतकके समूचे जगत्‌के रूपमें मौजूद प्राणयुक्त जीव और उनके वाचक शब्दसमूह भी (अधि निषेदुः) ठीकतरह बैठ जाते हैं; (यः) जो मानव (तत्) ऋक् आदि सभी शब्दोंके अक्षरब्रह्ममय परम अर्थ को (न वेद) नहीं जानता है वह (ऋचा) सिर्फ वाचकरूप ऋचा आदि शब्दराशिसे (किं करिष्यति) भला क्या कर पायेगा याने वह उससे तनिक भी लाभ नहीं उठा सकता। (ये इत् तत् विदुः) जो सचमुच उस वाच्य परम अर्थको भली प्रकार जानलेते हैं वे यथावत् विद्यमान वस्तु एवं अर्थको जानकर वेदका फल प्राप्त करके अमर बनजाते हैं।

(अपूर्ण)

आदित्यों के कार्य और उनकी लोकसेवा

[लेखक- श्री० दयानन्द गणेश धारेश्वर, बी. ए.]

जिस प्रकार अश्विनौ सदैव जनताके हितके लिए कार्य करनेमें लगे रहते हैं वैसे ही आदित्य अर्थात् अदिति के पुत्र भी जनसेवाको बडे ही स्पृहणीय ढंग से प्रचलित रखते हैं। अदिति याने अदीनता, अखंडता एवं पूर्णता के इन पुत्रोंने वीरतापूर्वक और साहस से कार्य करके एवं जनताकी रक्षा करके लोगोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करलिया है अतः भक्त तथा उपासक इन आदित्यों से क्या कहते हैं सो वेदके शब्दोंमें देखना ठीक होगा।

जनताके सम्मुख अपनी रक्षाकी समस्या सदैव उठखडी होती है। अतः अपना संरक्षण भलीभाँति हो ऐसी तीव्र लालसा हमेशा जनमनमें जागृत रहती है और देवतारूपी सभी सुयोग्य एवं कार्यक्षम व्यक्तियों से इसी संबंधमें बारंबार निवेदन किया जाता है। जसे --

त्यान् नु क्षत्रियान् अव आदित्यान् याचिषामहे।
(ऋ. ८।६७।१)

'उन विख्यात आदित्यों के सम्मुख, जो कि क्षत्रिय हैं, हम संरक्षणकी माँग पेश करते हैं।'

महि वो महतामवो ... अवांस्यावृणीमहे।
(ऋ. ८।६७।४)

आप जैसे महान लोगोंके संरक्षण बहुत बडे होते हैं इसलिए हम आपकी संरक्षण आयोजनाओं को स्वीकृत करते हैं।'

'महि वो महतामवो ... दाशुषे। यं आदित्या अभि द्रुहो रक्षथा न ईं अघं नशत् ...।
(ऋ. ८।४७।१)

'आप जैसे बडे वीरोंका दानी पुरुषके लिए दिया हुआ संरक्षण बडा है क्योंकि जिसे आदित्य द्वेष्टाओं से बचाते हैं उसे पाप या बुराई घेर नहीं सकती है।'

स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि आदित्यानामुतावसि।
(ऋ. ८।४७।५)

'हम लोग प्रभु इन्द्रके सुखकी या आदित्योंके संरक्षण की छत्रछाया में रहें।'

... अनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः।
(ऋ. ८।४७।१)

'आप आदित्योंकी रक्षाएं निर्दोष, निष्पाप एवं सुन्दर हैं।'

आदित्या विश्वे ... तुष्टुवाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।
(ऋ. ७।५१।३)

'आप सारे आदित्य प्रशंसित होनेपर हमेशा कल्याणकारक बातों से हमारी रक्षा कीजिए।'

आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शन्तमेन।
(ऋ. ७।५१।१)

'हम लोग आदित्योंकी नई रक्षासे एवं अत्यन्त शक्तिदायक सुखसे जुडजायँ।'

आदित्यासो अदितिर्मादयन्तां ...अस्माकं सन्तु भुवनस्य गोपाः पिबन्तु सोमं अवसे नो अद्य।
(ऋ. ७।५१।२)

'अदिति और आदित्य हर्षित हों और हमारे भुवन के संरक्षक बनें तथा आज हमारी रक्षा करनेमें उत्साह मिल जाय इसलिए सोमरसका पान करें।'

युष्मे देवा अपि ष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु।
यूयं महो न एनसो यूयमर्भादुरुष्यथ। (ऋ.८।४७।८)

"हे दानी या द्योतमान आदित्यो! तुम्हारे सहारे हम ऐसे रहते हैं मानों कवचधारी लोग लडते हों, याने वे जैसे निर्भय हुआ करते वैसेही हम हैं और आप हमें बडे एवं छोटे पापसे बचाते हैं।"

शश्वत् हि वः सुदानव आदित्या ऊतिभिर्वयं पुरा नूनं बुभुज्महे॥ (ऋ. ८।६७।१६)

"हे अच्छे दानी! अदितिके पुत्रो! हमेशाही हम लोग आपकी रक्षाओं से पहले तथा अब भी सुखोंका उपभोग लेते रहते हैं।"

ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत ।
स्तेनं बद्धं इवादिते । (ऋ. ८।६७।१४)

' हे अदिति एवं वे ऐसे विख्यात आदित्यो । हमें भेडिये जैसे क्रूर तथा लालची लोगोंके मुँहसे ऐसे छुडाओ जैसे बाँधकर रखे हुए चोरको छुडाया जाता है । '

ये मूर्धानः क्षितीनां अदब्धासः स्वयशसा ।
व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥ (ऋ. ८।६७।१३)

' जो आदित्य द्वेष न करते हुए अपनी आर्जित यशस्विता के कारण न दबाये हुए होकर मानवों के अग्रभाग में रहते हैं और व्रतोंकी रक्षा करते हैं । '

धारयन्त आदित्यासो जगत् स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः......रक्षमाणा असुर्यम्......।
(ऋ. २।२७।४)

" ये देवतारूपी आदित्य अखिल भुवनके संरक्षक होते हुए जंगम तथा स्थावर का धारण करते हैं और प्राणशक्ति को बचाते हैं । '

विद्यां आदित्या अवसो वो अस्य ...यत्...भय आ चित् मयोभु ! (ऋ. २।२७।५)

' हे अदितिके पुत्रो ! मैं चाहता हूँ कि आपकी इस रक्षासे परिचित हो जाऊँ जो रक्षा भय के अवसरपर भी सुखदायक बनी रहती है । '

इन ऊपर दिये हुए मंत्रों और मन्त्रभागोंसे स्पष्ट दिखाई देता है कि जनताकी रक्षा करनेमें अदिति केपुत्र बडे सिद्ध हस्त थे, अतः लोग भी आदित्यों की संरक्षण आयोजना से लाभ उठानेमें अत्यन्त उत्सुक रहा करते थे। वेद में ऐसे निर्देश मिलते हैं कि लोगों का नेतृत्व भी आदित्य सफलतापूर्वक कर लिया करते थे और जो लोग मार्ग भूले भटके होते हैं तथा जो अन्धकार में रहते हैं उनके पथ-प्रदर्शन तथा प्रकाशदान का कार्य आदित्य सफलतापूर्वक पूर्ण करते हैं, जैसे-

आदित्या... युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ।
(ऋ. २।२७।११)

' हे आदित्यो ! तुम्हारे नेतृत्वमें मैं निर्भयता से पूर्ण प्रकाश को प्राप्त कर लूँ । '

...पुत्रासो अदितेः... मर्त्याय ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् । (ऋ. १०।१८५।३)

' आदित्य मानव को लगातार उजेला या प्रकाशपुंज देते हैं । '

मृळ यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः । उरु अश्यां अभयं ज्योतिः... मा नो दीर्घा अभि नशन् तमिस्राः (ऋ. २।२७।१४)

' यद्यपि हम से आप का कुछ अपराध हुआ हो तोभी हमें सुख दो; मैं विशाल एवं निर्भयतामय प्रकाश को प्राप्त हो जाऊँ और सुदीर्घ अन्धियारी हमें न घेर ले । '

नकिष्टं घ्नन्त्यन्तितो न दूरात् य आदित्यानां भवति प्रणीतौ । (ऋ २।२७।१३)

' जो कोई आदित्योंके श्रेष्ठ नेतृत्वके तत्त्वावधानमें रहता है उसे न कोई दूरसे या समीपसे होकर मार सकते हैं । '

...आदित्या..; युष्माकं... प्रणीतौ परि श्वभ्रेव दुरितानि वृज्याम् । (२।७७।५)

' हे आदित्यो ! तुम्हारे श्रेष्ठ नेतृत्व में मैं बुराइयों को इस तरह टाल दूँ जैसे कोई ग ढोंको टाल देता हो अर्थात् जहाँ नेता की धुरा आदित्य उठा लेते हैं वहाँ बुराइयों का भय रहता ही नहीं । '

सभी बुराइयों को हटाने की क्षमता आदित्यों में विद्यमान है ऐसा निम्न मन्त्रभागों से ज्ञात होता है ।

यत् आविः यत् अपीच्यं... अस्ति दुष्कृतं... तत् विश्वं... आरे अस्मत् दधातन...
(ऋ. ८।४७।१३)

' जो कोई बुरा कृत्य चाहे प्रकटरूपसे या गुप्तरूपसे विद्यमान हो उस सारी बुराई को हम से दूर रखो । '

अपामीवामपस्रिधं अप सेधत दुर्मतिं । आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥ (ऋ. ८।१८।१०)

' हे आदित्यो ! रोग, शत्रु तथा दुष्ट बुद्धि को दूर हटा दो और हमें पाप से पृथक् रखो । '

अपो षु ण इयं शरुरादित्या अप दुर्मतिः । अस्मदेत्वजघ्नुषी ॥ (ऋ. ८।६७।१५)

' हे आदित्यो ! यह हिंसक हथियार तथा यह दुष्ट विचारधारा हमें पीडा न देती हुई, भलीभाँति हम से दूर हो जाए । '

मा नो हेतिः... आदित्यः कृत्रिमा शरुः पुरा नु जरसो वधीत् । (ऋ. ८।६७।२०)

' हे आदित्यो ! वृद्धावस्था के पहले यह शस्त्र तथा बनाया हुआ हथियार हमें न मारडाले ऐसा प्रबंध करो । '

ते नो भद्रेण शर्मणा युष्माकं नावा.. अति विश्वानि दुरिता पिपर्तन । (ऋ. ८।१८।१७)

' वे ऐसे विख्यात तुम कल्याणकारक सुखसे और आप की नौका से हमें सभी बुराइयों के पार ले चलो– । '

युयोत शरुमस्मत्.. आदित्यास उतामतिं ।
स्रुधग् द्वेषः कृणुत विश्ववेदसः । (ऋ. ८।१८।११)

' हे सर्वज्ञ आदित्यो ! हमसे हिंसक शस्त्र, कुमति एवं शत्रुओंका पृथक् करदो । '

वैदिक सूक्तोंके दर्शन कर्ता सुकवि आदित्यों से कैसी प्रार्थना करते हैं सो निम्न मंत्रोंमें देखने योग्य है–

तत् सु नः शर्म यच्छत आदित्या यन्मुमोचति ।
एनस्वन्तं चिदेनसः सुदानवः ॥ (८।१८।१२)

' हे अच्छे दानशूर आदित्यो ! हमें भलीभाँति वह सुख दे डालो जो पापीको भी पाप से छुडा सकता है ।"

यद् वः श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति यच्छर्दिः ।
तेना नो अधि वोचत । (ऋ. ८।६७।६)

" कार्य करके थके हुए और उपयुक्त वस्तुका उत्पादन करनेवाले के लिए आप के पास जो वरणीय धन तथा घर है उसे साथ लेकर हमसे बार्तालाप करो । " इस प्रार्थनासे स्पष्ट हुआ कि परिश्रमी तथा आवश्यक मानी हुई वस्तुओं के उत्पादक को ये आदित्य स्वीकार करने योग्य धन देते एवं निवास करनेके लिए योग्य गृहका प्रबंध भी कर डालते ।

जीवान् नो अभि धेतन आदित्यासः पुरा हथात् ।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः । (ऋ. ८।६७।५)

"हमारी पुकार सुननेवाले हे आदित्यो ! भला तुम किधर हो ? जबतक हम जीवित हैं, और मृत्युके पहले ही हमारे निकट चले आओ । " इस मंत्र में वैदिक ऋषि आदित्यों के संपर्क में आनेके लिए कितने उत्सुक हैं सो स्पष्ट दिखाई देता है ।

ये चिद्धि मृत्युबंधव आदित्या मनवः स्मसि ।
प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन । (ऋ. ८।१८।२२)

" हे आदित्यो ! हममें जो कोई मृत्यु के अत्यन्त निकट चले गये हों तो भी जीवनके लिए हमारी आयु बढाइये ।'

दीर्घ जीवन की कुंजी आदित्योंके समीप थी ऐसा जान पडता है और वे सूमुर्षु लोगोंको मृत्युपाशसे छुडानेकी चेष्टा करते थे । जनसेवाके गुरुतर कार्यमें आयुर्वृद्धिका बहुत ऊँचा स्थान है अतः आदित्य इसविषय में पूर्ण सतर्क रहा करते ।

तुचे तुनाय तत् सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे ।
आदित्यासः सुमहसः कृणोतन ॥ (ऋ. ८।१८।१८)

' हे आदित्यो ! तुम भलीभाँति महनीय तेजसे युक्त हो इसलिए हमारी सन्तानके लिए जीवनार्थ उस दीर्घ आयुष्यका प्रबंध करो ।"

शतं नो रास्व शरदो विचक्षेऽश्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा । (ऋ. २।२७।१०)

" हमें विशेष दर्शनके लिए सौ वर्ष प्रदान करो (उतना दीर्घ जीवन मिले) और हम भलीभाँति रखी हुई पूर्वकालीन आयुर्मर्यादाको प्राप्त कर लें ।"

वेदकालीन कवि आदित्यों से कष्टनिवारण के लिए प्रार्थना करते थे और अदितिके पुत्र जनताके सुखको बढाने का प्रयत्न करते थे ऐसा निम्न मंत्रों से व्यक्त होता है—

इदं ह नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः ।
आदित्यानां... (ऋ. ८।१८।१)

" अब इन आदित्यों के सामने मानव इन सुखकी माँग पेश करे ।

तत् सु नः ... शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे ।
(ऋ. ८।१८।३)

" हमें वही विस्तृत सुख जिसकी चाह हम करते हैं आदित्य हमें दे दें । "

विद्या देवा अघानामादित्यासो अपाकृतिम् ।
पक्षा वयो यथोपरि व्यस्मे शर्म यच्छत...
(ऋ. ८।४७।२)

" हे दानी आदित्यो ! तुम पापों को हटाना जानते हो और जैसे पंछी ऊपर से डैनों को फैलाते हैं ताकि पक्षिशावकोंको सुख मिले, उसी तरह तुम हमें विशेष ढंग से सुखका प्रदान करो ।"

व्यस्मे अधि शर्म तत् पक्षा वयो न यन्तन
विश्वानि विश्ववेदसो वरूथ्या मनामहे ...।
(ऋ. ८।४७।३)

" हे सर्वज्ञ आदित्यो ! हम सारे स्वीकरणीय वस्तुओं

को पाना चाहते हैं अतः विशेष रूपसे हमें वह सुख देदो जिस तरह पंछी अपने शिशुओं पर सुखके लिए पर फैलाते हैं।"

यद् देवा शर्म शरणं यद् भद्रं यदनातुरम्।
त्रिधातु यद् वरूथ्यं१ तदस्मासु वि यन्तन ...
(ऋ. ८।४७।१०)

"हे देवो आदित्यो ! जो कल्याणकारक, रोगरहित एवं सुखप्रद निवासस्थान है और जो तीन प्रकार के धातुओं से युक्त स्वीकरणीय धन है उसे हम लोगोंमें दे डालो।"

इन आदित्यों की निरीक्षण शक्ति बडी सूक्ष्म है और इनके मार्गमें कोई रुकावट खडी नहीं होती है इसीलिए बडी सफलता से ये जनसेवा कर सकते हैं और लोगोंकी सुखवृद्धि करना इनके लिए बडी सुगम एवं साधारणसी बात है।

त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो...
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु, सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति। (ऋ. २।२७।३)

"वे अदितिके पुत्र विशाल, गंभीर तथा न दबे हुए हैं और भली एवं बुरी बातोंकी थाह पूरीतरह पालेते हैं, समूची घटनाओं की तहतक देखते हैं क्योंकि इन विराजमान आदित्यों के लिए सभी दूरस्थित वस्तुएँ मानों समीपवर्ति ही हैं।" इसलिए आदित्यों को सभी जानकारी अनायासही मिलजाती है जैसे,

... देवा द्वत्सु जानीथ मर्त्यम्।
उप द्वयुं चाद्वयुं च ... (ऋ. ८।१८।१५)

"हे देवतारूपी आदित्यो ! तुम अपने दिलमें कपटी एवं अ-कपटी मानवको समीप से याने अच्छी तरह जानते हो।"

आदित्या अव हि ख्यताधि कूलादिव: ...
(ऋ. ८।४७।११)

"हे आदित्यो ! जैसे कोई तटपर खडे रहकर नीचे पानीकी ओर देखते हैं वैसेही तुम ऊँचे पदपर आरूढ हो नीचे हम मानवोंको देखलो।"

... ते धामान्यमृता मर्त्यानामदब्धा अभि चक्षते। (ऋ. ८।१०१।६)

"वे न दबे हुए एवं अमर आदित्य मानवोंके स्थानोंको देखते हैं।"

सुगः पन्था अनृक्षरः आदित्यासः ... नात्रावखादो अस्ति वः। (ऋ. १।४१।४)

"हे आदित्यो ! तुम्हारा मार्ग सुगम एवं कंटकरहित है, यहाँपर तुम्हारे लिए कोई नीचे गिराने योग्य गर्त आदि नहीं है।"

सुगो हि वो...पन्था अनृक्षरो... साधुः अस्ति। तेनादित्या अधि वोचता नो यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म॥ (ऋ. २।२७।६)

हे आदित्यो ! आपका मार्ग बडा सुगम, निष्कलंक और भला है, उस मार्ग परसे आकर आप हम से भाषण कीजिए और हमें ऐसा सुख दो कि जिसे विनष्ट करना शत्रुके लिए दूभर एवं बडा कठिन हो।"

आदित्या...सुतीर्थमर्वतो यथानु नेषथा सुगं...।
(ऋ. ८।४७।११)

"हे आदित्यो ! जैसे घोडोंको बिना कठिनाई के सुगमतापूर्वक जाने योग्य स्थानमें ले चलते हैं वैसेही हमें आसानीसे ले चलो।"

या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ताः। अश्वीव ताँ अति येषं रथेनारिष्टा उरावा शर्मन् स्याम। (ऋ. २।२७।१६)

'हे (यजत्राः) पूजनीय आदित्यो ! (वः) आपकी (याः मायाः) जो शक्तियाँ तथा (पाशाः) जाल (अभिद्रुहे रिपवे विचृत्ताः) हमसे द्वेष करनेवाले एवं शत्रुको पकडनेके लिए फैलाये गये हैं (तान्) उन्हें मैं (रथेन) रथसे यात्रा करता हुआ (अश्वी इव अति येषं) जैसे एक घुडसवार लाँघकर चला जाता है वैसेही पार निकल जाऊँ और हम लोग (अ-रिष्टाः) अहिंसित होकर, बिना किसी क्षतिके (उरौ शर्मन् आ स्याम) विशाल सुखमें निवास करते रहें।" इससे स्पष्ट है कि वीर आदित्य अपनी अद्भुत युक्तियों तथा जालों से शत्रुको पकड लेते थे। परन्तु जो दानी एवं सरल मार्गपरसे चलनेवाले होते उनकी हरतरह की मदद करना आदित्यों का कार्य था, जैसे-

यो राजभ्य ऋतनिभ्यो ददाश यं वर्धयन्ति पुष्टयश्च नित्याः। स रेवान् याति प्रथमो रथेन वसुदावा विदथेषु प्रशस्तः। (ऋ. २।२७।१२)

'(यः) जो मानव (ऋतनिस्थः राजस्थः) ऋतके नेता एवं विराजमान आदित्यों को (ददाश) दे चुका हो और (नित्याः पुष्टयः च यं वर्धयन्ति) शाश्वत टिकनेवाली पुष्टियाँ जिसे वृद्धिंगत करते हैं (सः) वह (विदथेषु प्रशस्तः) सभामण्डपों में प्रशंसित होकर (प्रथमः रेवान्) प्रथमश्रेणी का धनाढ्य बनकर (वसुदावा रथेन याति) धन का दानी होता हुआ रथ पर से संचार करता है । ''

...हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः अस्वप्नजो...
अदब्धाः उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय । (ऋ. २।२७।९)

'' सुवर्णमय आभावाले, विशुद्ध तथा जलधाराओं से पवित्र होते हुए आदित्य (अस्वप्नजः) स्वप्नशीलता से दूर रहकर और कठिनाइयों से न दबकर (ऋजवे मर्त्याय) सरल बर्ताव रखनेवाले मानव के लिए (उरुशंसाः) अत्यधिक मात्रा में उपदेश देनेवाले या भाषण करनेवाले हैं ।'' अर्थात् जिस मानवमें सरलता तथा निष्कपटता पाई जाती है उसके समीप आकर आदित्य सहायता करने के लिए या पथप्रदर्शनार्थ बहुत सारी बातें कहनेवाले होते हैं ।

शुचिरपः सूयवसा अदब्ध उपक्षेति वृद्धवयाः
सुवीरः ।... य आदित्यानां भवति प्रणीतौ ॥
(ऋ. २।२७।१३)

'जो अपने आपको आदित्यों के नेतृत्व के नीचे रखता है वह अच्छा वीर होकर (वृद्ध वयाः) अन्नभाण्डारों की वृद्धि करता हुआ (अदब्धाः) विपत्तियोंसे न दबकर (सुयवसाः) अच्छे तृणों से, युक्त (शुचिः अपः उप क्षेति) निर्मल जलों– जलाशयोंके निकट निवास करता है ।' इससे स्पष्ट हुआ कि आदित्य जनताके नेता बनकर उन्हें वीर बनाने का प्रयत्न करते तथा अन्नों की वृद्धि कैसे करनी चाहिए सो बतलाकर अच्छे तृण, शुद्ध जल आदि बातों से युक्त स्थानोंके निकट घर बनाकर रहने का प्रबंध क[illegible] ।

अनर्वाणो ह्येषां पन्था आदित्यानाम् । अदब्धा
सन्ति पायवः सुगेवृधः ॥ (ऋ. ८।१८।२)

इन आदित्यों का मार्ग (अन्–अर्वाणः) हिंसारहित है और इनके संरक्षण सुगमतापूर्वक बढनेवाले तथा शत्रुओं से न दबाये हुए हैं ' आदित्यों की योग्यता का अच्छा परिचय इसमें मिलता है । आदित्यों के कार्य करने के मार्ग इस ढंगके हुआ करते कि यथा संभव हिंसा न हो और स्वयं ही अपनी आन्तरिक शक्ति से संरक्षण की आयोजनाएँ फलती फूलती रहें ।

अब अदितिके संबन्धमें क्या कहा है सो देखना चाहिए, क्योंकि इन आदित्यों को– अदिति के पुत्रों को उसी से प्रेरणा मिलती है ।

अदितिर्न उरुष्यत्वदितिः शर्म यच्छतु ।
माता मित्रस्य रेवतोऽर्यम्णो वरुणस्य च ॥ ...
(ऋ. ८।४७।९)

' धनाढ्य मित्र, अर्यमा एवं वरुणकी माता जो अदिति है वह हमारी रक्षा करे और सुख दे दे । '

पिपर्तु नो अदितिः राजपुत्रा अति द्वेषांस्यर्यमा सुगेभिः । बृहन्मित्रस्य वरुणस्य शर्मोप
स्याम पुरुवीराः अरिष्टाः । (ऋ. २।२७।७)

' जिसके पुत्र विराजमान हैं ऐसी वह अदिति हमारा पालन करे, अर्यमा हमें सुगमतापूर्वक या सुखकर मार्गों से शत्रुओंके परे पहुँचादे; मित्र एवं वरुण का दिया हुआ सुख सचमुच बडा प्रचंड है अतः हम अनेक वीरोंसे युक्त होकर बिना क्षति उठाये उसके समीप रहें । '

महीं... मातरं सुव्रतानां ऋतस्य पत्नीमवसे हुवेम । तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् । (वाजसनेयी यजु. २१।५
अथर्व. ७।६।२)

' हम अदिति को अपनी रक्षा का प्रबंध करनेके लिए बुलाएँ, जो महनीय, अच्छे व्रतधारी आदित्यों की माता, ऋत की पत्नी, अत्यधिक क्षत्रियोचित वीरता से युक्त, जीर्ण न होनेवाली, विशालता से पूर्ण, सुन्दर सुख देनेवाली एवं भलीभाँति आगे ले चलनेवाली, है । '

अदितिर्नो दिवा... अदितिर्नक्तं... अदितिः
पातु अंहसः सदावृधा (ऋ. ८।१८।६)

' हमेशा बढनेवाली अदिति हमें दिन और रात पाप से बचाए '

उत स्या नो दिवा... अदितिरूत्या गमत् ।
सा... मयस्करदप स्रिधः ॥ (ऋ. ८।१८।७)

' और वह अदिति दिन के समय संरक्षण की आयोजनाके साथ हमारे निकट चली आए और वह शत्रुओंको

दूर हटाकर सुखमय वायुमण्डल का सृजन करें।'

आदित्यों की असाधारण योग्यता का परिचय होने के कारण वैदिक कवि इस प्रकार उनकी सराहना करते हैं-

इमा गिरः आदित्येभ्यो... सनात् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि। शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नः तुविजातो वरुणो... (ऋ. २।२७।१)

'मैं सनातनकाल से विराजमान आदित्योंके लिए इन भाषणों का मानों हविर्भागसा अपनी ओरसे अर्पण करता हूँ, हमारी इन वक्तृताओंको ये आदित्यमंडलके सदस्य जैसे मित्र, वरुण, अर्यमा एवं भग सुन लें।'

इमं स्तोमं सक्रतवो मे अद्य ...जुषन्त।
आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः। (ऋ. २।२७।२)

"आज मेरे इस स्तुतिमय भाषणका स्वीकार, कार्यशील आदित्य, जोकि विशुद्ध, पवित्र, पापरहित, निर्दोष और स्वस्थ हैं, करलें।"

ऐसा प्रतीत होता है कि अदिति के पुत्र, आदित्य ऐसः नाम अबतक बतलाये हुए गुणों से युक्त कुछ चुने हुए देवोंको दिया जाता था जिनका सर्वोपरि कार्य केवलमात्र लोकरक्षा तथा लोकसेवा करना ही था। इस आदित्य-मण्डल के सदस्य वेही हो सकते जो संपूर्णतया निर्दोष एवं पूर्णतया विकसित हों, जिन में किसी भी प्रकार की त्रुटि न पाई जाती हो, क्योंकि त्रुटि होनेसे वे अदिति अखण्डता, अदीनता के पुत्र कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते। यद्यपि एक स्थान में कहा है कि-

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिः...। (अथर्व. २।१२।४)

जिससे ज्ञात होता है कि आदित्यों की संख्या ८०×३= २४० थी और इन्हें सामगान विदित था, तथापि इस आदित्यमण्डल में प्रमुखतया मित्र, वरुण, अर्यमा, भग एवं सविता का स्थान था। क्योंकि अपने वैशिष्ट्यपूर्ण कार्यों से शायद इनकी ही अमिट छाप वैदिक कवियों के अन्तस्तलपर पडी हुई हो। आदित्यों के निश्चित कार्य को संभवतः मित्र, वरुण एवं अर्यमा ही अविकलभाव से संपूर्ण करने की क्षमता से युक्त हों, अतः इन तीनों का उल्लेख आदित्यों के सूक्तों में बार बार पाया जाता है। जैसे कि निम्न मंत्रों से स्पष्ट होगा—

मित्रो नो अत्यंहतिं वरुणः पर्षदर्यमा।
आदित्यासो यथा विदुः॥ (ऋ. ८।६७।२)

'आदित्य जैसे जानते हैं वैसे ही कार्य करके हमें मित्र, वरुण तथा अर्यमा दुर्गति या पापके पार ले चलें।'

महि वो महतामव वरुण मित्रार्यमन्...। (ऋ. ८।६७।४)

'हे वरुण! मित्र! अर्यमन्! आप जैसे बडे आदित्यों का संरक्षण बडा है।'

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः।
दुराधर्षं वरुणस्य॥' (१०।१८५।१)

'तीनों अर्थात् मित्र, वरुण तथा अर्यमा का संरक्षण महान्, दिव्य तथा शत्रुओंके अपराभवनीय हो जाए।'

अनेहो मित्रार्यमन् नृवद् वरुण शंस्यं।
त्रिवरूथं मरुतो यन्त नश्छर्दिः॥ (ऋ. ८।१८।२१)

'हे वीर मरुतो! हे मित्र, वरुण तथा अर्यमन्! हमें निष्पाप, नेताओं से युक्त, प्रशंसनीय और तीन प्रकार के स्वीकरणीय धन से पूर्ण घर दे डालें।'

... मित्रमीमहे वरुणं स्वस्तये। (ऋ. ८।१८।२०)

'हम कल्याण के लिए मित्र तथा वरुणको चाहते हैं।'

महि वो महतामवो वरुण मित्र दाशुषे। (ऋ. ८।४७।१)

'हे वरुण और मित्र! दानीके लिए जो तुम बडे आदित्य रक्षा का प्रबंध कर डालते हो वह बडा है।'

वयं ते वो वरुण मित्रार्यमन्स्यामेदृतस्य रथ्यः। (ऋ. ८।१९।३५)

'हे वरुण, मित्र तथा अर्यमन्! हम अवश्य ही आपके ऋतको ले चलनेवाले हों।'

तत् सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा।
शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे।' (ऋ. ८।१८।३)

'वह विस्तारशील सुख जिसे हम चाहते हैं मित्र, वरुण, अर्यमा, सविता और भग हमें भली प्रकार से दे डालें।'

यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा। सुवाति सविता भगः (ऋ. ७।६६।४)

'आज जब कि सूर्य का उदय होनेपर (अनागाः)

निष्पाप मित्र, अर्यमा, भग एवं सविता (सुवाति) कार्य निष्पन्न कर दिखाता है । '

...सूर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम्। अर्यमणं रिशादसम् ॥ (ऋ. ७।६६।७)

' सूर्योदय के पश्चात् मित्र, वरुण एवं हिंसकोंके वध-कर्ता अर्यमा की सराहना करता हूँ । '

ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह। इषं स्वश्च धीमहि । (ऋ. ७।६६।९)

' हे द्योतमान वरुण तथा हे मित्र ! हम विद्वानोंके साथ तेरेही बनकर रहें तथा अन्न एवं तेजको पानेके उपाय सोचें ।

अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत । (ऋ. ७।६६।११)

तीनों विराजमान वरुण, मित्र एवं अर्यमा को ऐसा क्षत्रियोचित बल मिला कि जो दूसरोंको पाना असंभव प्रतीत हुआ । '

ऊपर दिये हुए मन्त्रोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आदित्यों के संगठित दल में मित्र, वरुण और अर्यमा का स्थान बडा ही ऊँचा था। हो सकता है कि आदित्यदल के कार्यकारी मंडल के सत्ताधारी सदस्य उक्त नाम धारण करते हों। वेद में इन तीनों आदित्य दल के प्रमुख सदस्यों के बारेमें कहा है कि-

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति । इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥ (ऋ. ७।६०।५)

' ये मित्र, अर्यमा एवं वरुण अदिति के (अदब्धाः शग्मासः) न दबे हुए शक्तिशाली पुत्र हैं और ये ऋत के (दुरोणे ववृधुः) घरमें पले हुए हैं तथा (भूरेः अनृतस्य चेतारः) बडे भारी असत्यको पहचाननेवाले हैं । ' अर्थात् ये कभी मिथ्या बातों में फँस नहीं सकते और इनकी शिक्षादीक्षा ऋतके घरमें हुई है । इस प्रकार शिक्षित होकर ये आदित्यदलके संगठनकार्य में ऊँचे पदपर विराजमान होते हैं । इन के कार्य का स्वरूप बताया है कि ये-

....तिरश्चिदंहः सुपथा नयन्ति । (ऋ. ७।६०।६)

' अच्छे मार्ग से लोगोंको पाप के परे ले चलते हैं । '

... अचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः ।
... चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति ॥ (ऋ.७।६०-६७)

' अच्छे उपायों से अज्ञानी को भी ज्ञानसम्पन्न बनाते हैं और चिकित्सक बुद्धिवाले होकर अनजान को ठीक मार्ग पर ले चलते हैं । '

अब विचार करना चाहिए कि आदित्यों के लिये कौन से विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जिन से ज्ञात होगा कि आदित्य दल में प्रवेश पाने के लिए योग्यता का मानदंड कितना ऊँचा रखा था ।

१. **सुकृतवः** = कार्योंसे युक्त, कभी खाली हाथ या निठल्ले न बैठे हुए ।

२. **शुचयः, धारपूताः** = विशुद्ध एवं जलधाराओंमें नहा धोकर साफसुथरे रहनेवाले ।

३. **अ-वृजिनाः, अनवद्याः** = पापरहित, अनिन्द्य ।

४. **अरिष्टाः, अदब्धासः** = अहिंसित, न दबे हुए ।

५. **उरवः, गभीराः** = बृहदाकार, गंभीर मुखाकृतिवाले ।

६. **अस्वप्नजः, अनिमिषाः** = निद्रासुख का उपभोग न लेनेवाले और पलक न मारनेवाले। यह दूसरा विशेषण अथक परिश्रम करने की सूचना देता है ।

७. **दीर्घाधियः** = विशाल बुद्धिवाले या महान् कार्यक्रम रखनेवाले ।

८. **ऋणानि चयमानाः** = ऋणोंको बटोरनेवाले ताकि उऋण हो सकें ।

९. **ऋजवे मर्त्याय उरुशंसाः** = सरल, निष्कपट आचरणवाले मानव को खूब उपदेश की बातें कहनेवाले ।

१०, **राजभ्यः (आदित्येभ्यः) राजानः** = विराजमान आदित्यों के लिए; लोक सेवकों को जनता के मध्य विराजमान होने की चेष्टा करनी चाहिए ।

११. **सु-दानवः** = अच्छे दानशूर । कृपणतासे कोसों दूर रहनेवाले ।

१२. **यजत्राः** = पूजनीय ।

१३. **रजिष्ठाः** = लोकोंके मध्य खूब संचार करनेवाले ।

१४. ये अंहः अतिपिप्रति = जो पाप के परे ले जाते हैं, जनता को निष्पाप करनेका प्रयत्न करते हैं।

१५. ये अदब्धस्य व्रतस्य ईशते = जो न दबे हुए व्रतके अधिपति हैं।

१६. ऋतावृधः, घोरासो अनृतद्विषः = ऋत की वृद्धि करनेवाले और असत्य के भीषण विरोधी।

१७. ऋतजाताः ऋतस्य दुरोणे ववृधुः = ऋत से या ऋतके लिए उत्पन्न, ऋत के घर में पले हुए।

१८. विश्व-वेदसः = सब कुछ जाननेहारे।

१९. सु-महसः = बडे अच्छे तेजस्वी।

२०. प्र-चेतसः = प्रकृष्ट ज्ञानवाले।

२१, सुमृळीकाः = बहुत अच्छे ढंगसे सुख देनेवाले।

२२. हवनश्रुतः = जनता की पुकार सुननेवाले।

२३. अ-द्रुहः = द्वेष न करनेवाले।

२४. क्षितीनां मूर्धानः = मानवोंके प्रमुख।

२५. अक्रुत-एनसः = जिन्होंने पहले पापकृत्य किया ही न हो।

इन ऊपर दिये हुए विशेषणों से आदित्यदलके सदस्यों की योग्यतापर बहुत अच्छा प्रकाश पडता है। जो निरलस कार्यकर्ता, सत्यप्रेमी, उत्कृष्ट ज्ञानी, सेवातत्पर, निष्पाप, साफ सुथरे, दानशूर, विशालचेता और लोकरक्षक बननेके इच्छुक होते वेही आदित्यदल में प्रवेश पासकते थे और अदिति अर्थात् अदीनता, स्वतंत्रता, पूर्णता के पुत्र कहलानेके अधिकारी बन सकते थे।

इस आदित्यदल में मित्र का स्थान बहुत ही ऊँचा है, इसलिए वेदमें मित्र के बारे में क्या कहा है सो देखना चाहिए—

... मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत। (ऋ. ३।५९।१)

'मित्रके लिए घृतयुक्त हवनीय वस्तुका अर्पण करो।'

तस्मा एतत् पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविराजुहोत (ऋ. ३।५९।५)

'उस अत्यन्त प्रशंसनीय मित्र के लिए यह सेवनीय हविर्भाग अग्नि में डाल दो।' इसभाँति मित्र का सुस्वागत करनेके पश्चात् कवि कहते हैं—

अनमीवास इळया मदन्तो... वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम। (ऋ. ३।५९।३)

'हम नीरोगी और अन्न मिलनेके कारण हर्षित होते हुए मित्र की प्रसन्न बुद्धि की छत्रछायामें रहें।'

अयं मित्रो नमस्यः... राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट... तस्य वयं सुमतौ... भद्रे सौमनसे स्याम। (ऋ ३।५९।४)

'यह मित्र विराजमान, अच्छे क्षत्रियोचित बल से युक्त एवं नमन करनेयोग्य हो प्रकट हुआ है अतः हम उस की कल्याणकारक प्रसन्नताके तत्वावधान में रहें। अर्थात् कभी ऐसा न होनेपाय कि मित्र को क्रोधित होना पडे।

महाँ आदित्यो नमसोपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः। (ऋ. ३।५९।५)

'यह मित्र बडा भारी आदित्य है जो जनता को प्रेरित करता हुआ प्रशंसा करनेवाले को सुन्दर ढंग से सुख देता है और जिस के समीप नमनपूर्वक बैठना चाहिए।'

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो...। (ऋ. ३।५९।१)

'मित्र लोगों को उपदेश की बातें कहता हुआ कार्यप्रवृत्त करता है।'

मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे...। (ऋ. ३।५९।१)

"मित्र टकटकी लगाकर कृषिकर्म में लगे लोगों को देखता है" ताकि कहीं काम में भूल न होनेपाय।

...मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्। (ऋ. ३।५९।१)

...स देवान् विश्वान् बिभर्ति। (ऋ. ३।५९।८)

"मित्र द्युलोक एवं भूलोक की धारणा करता है और सभी देवों का भरणपोषण करता है।" अर्थात् समूचे विश्व में सुव्यवस्था हो ऐसी कोशिश करता है।

न हन्यते न जीयते त्वोतो, नैनं अंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्। (ऋ. ३।५९।२)

"हे मित्र! तू जिसकी रक्षा कर चुका है वह न मारा जाता है और नाहि जीता जाता है, इसे न समीप से न दूर से ही पाप व्याप्त कर पाता है।"

अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः। अभि श्रवोभिः पृथिवीम्॥ (ऋ. ३।५९।७)

'जो मित्र विशाल होकर अपने महनीय तेज से द्युलोक को तथा अन्नोंसे भूमण्डलको व्याप्त कर चुका है।'

मित्रो... जनाय... इष... अकः। (ऋ. ३।५९।९)

'मित्रने जनताके लिए अन्न बनाया है।'

इस प्रकार मित्र की योग्यता बडी है, परन्तु वह स्वयं अकेलाही प्रकट न होकर बहुधा वरुण के साथ मिलकर कार्य करता है। अतः वेद में दोनोंका संयुक्त उल्लेख पाया जाता है। जैसे -

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् ...
...मित्रावरुणौ ऋतावृधौ ऋतस्पृशा...
कवी... मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया ...
(ऋ. १।२।७-९)

'शुद्ध बलवाले मित्र और शत्रुविध्वंसक वरुण को बुलाता हूँ; मित्र एवं वरुण ऋत के संपर्क में रह उस की वृद्धि करनेवाले हैं; मित्र और वरुण विद्वान्, विशालता में उत्पन्न और विस्तृत स्थल में निवास करनेवाले हैं।'

मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये ...
... यौ... ऋतस्य ज्योतिषस्पती ता मित्रा-
वरुणा हुवे। वरुणः प्राविता भुवन् मित्रो
विश्वाभिरूतिभिः। करतां नो सुराधसः।
(ऋ. १।२३।४-६)

'हम मित्र और वरुण को सोम पीनेके लिए बुलाते हैं; जो ऋत एवं प्रकाशके अधिपति हैं, उन मित्र एवं वरुण को मैं बुलाता हूँ; वरुण उत्कृष्ट संरक्षक बने तथा सभी संरक्षणसाधनों से युक्त होकर मित्र भी रक्षणकर्ता हो और दोनों मिलकर हमें अच्छे धनिक बना दें।'

मित्र और वरुण के स्वागत का वर्णन वैदिक कवियोंने इस तरह किया है-

आ नो गन्तं रिशादसा वरुण मित्र... उपेमं
चारुमध्वरम्। (ऋ. ५।७१।१)

'हे शत्रुविध्वंसक मित्र एवं वरुण! इस सुन्दर, हिंसा-रहित कार्य के समीप आने के लिए हमारे पास आओ।'

उप नः सुतमा गतं वरुण मित्र दाशुषः...
सोमस्य पीतये। (ऋ. ५।७१।३)

'हे मित्र और वरुण! हमारे निचोडे हुए सोमके निकट आओ, ताकि दानीके सोमका पी जाना संभव हो।'

आ यातं मित्रावरुणा जुषाणावाहुतिं नरा।
पातं सोममृतावृधा। (ऋ. ३।६२।१८)

'हे नेता एवं ऋत की वृद्धि करनेवाले मित्र और वरुण! हमारे दान का स्वीकार करते हुए तुम दोनों आओ तथा सोम पी जाओ।'

...आयातं...गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो...
आ राजाना दिविस्पृशाऽस्मत्रा गन्तमुप नः
इमे वां मित्रावरुणा गवाशिरः सोमाः शुक्राः...।
(ऋ. १।१३७।१)

'हे विराजमान एवं द्युलोक के छूनेवाले मित्र एवं वरुण! आओ, हमारी ओर आओ; क्योंकि आपके लिए ये तेजस्वी सोम दुग्धमिश्रित बनाकर रखे हैं।'

अस्मत्रा गन्तमुप नोऽर्वाञ्चा सोमपीतये।
अयं वां मित्रावरुणा नृभिः सुतः सोम आ
पीतये सुतः। (ऋ. १।१३७।३)

'हे मित्र तथा वरुण! सोम पीनेके लिए हमारी ओर आओ; क्योंकि यह सोम तुम्हारे पीने के लिए मनुष्यों से निचोडा गया है।'

इससे स्पष्ट है कि आदित्यों का स्वागत तथा सत्कार करने के लिए दुग्धमिश्रित सोम का रस दिया जाता था। अब देखना चाहिए कि वैदिक कवि मित्र एवं वरुण से किस तरह की प्रार्थना करते हैं, या उनके सम्मुख कौनसी माँग पेश करते हैं-

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्रिणो
नुदतं प्रतीचः। मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त
मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्॥
(अथर्व. ३।३२।३)

'हे मित्र और वरुण! हमारे लिए इधर निर्भयता रहे और अपने तेज से तुम स्वार्थी लोगों को पराङ्मुख बनाकर दूर कर दो। ध्यानमें रहे कि वे किसी भी बतानेवाले ज्ञानी को और मानसम्मान को न पा सकें, अपितु आपसमें ही एक दूसरे की राह में रोडे अटकाते हुए मौत के मुँह में समाविष्ट हो जायँ।'

... मित्रावरुणा ... प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह
पिन्वतम्। बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं
चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्॥ (अथर्व. ६।९७।२)

'हे मित्र एवं वरुण ! सन्तानयुक्त क्षत्रियोचित वीरताको तुम मधु से पुष्ट करो, बुराई को दूर से ही हटा दो और जो कुछ पाप किया हो, उसे हम से अलग कर दो।'

यो अद्य सेन्यो... उदीरते। युवं तं मित्रा-वरुणौ अस्मद्यावयतं परि॥ (अथर्व. १।२०।२)

'आज जो कोई हत्यारा सेना साथ ले ऊपर उठ जाता हो, हे मित्र और वरुण ! उसे तुम हम से दूर भगा दो।'

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम्।
(अथर्व. ५।२४।५)

'वे दोनों मित्र और वरुण जो स्वामी हैं, वर्षा से मेरी रक्षा करें।'

... मित्रावरुणा धारयत्क्षिती ... युवो ... सख्यैरभिष्याम रक्षसः। (ऋ. १०।१३२।२)

'हे मानवोंके धारणकर्ता मित्र एवं वरुण! तुम्हारी मित्रता मिलनेपर हम राक्षसों को पराभूत करेंगे।'

एष स्तोमो वरुण मित्र तुभ्यं ... अविष्टं धियो जिगृतं पुरन्धीः। ...
(ऋ. ७।६५।५; ७।६४।५)

'हे मित्र एवं वरुण ! तुम्हारे लिए यह स्तोत्र तैयार किया है; तुम हमारे कर्मों को सुरक्षित रखो और बहुतों के धारणक्षम बातों को जागृत करो।'

इयं... पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणा-वकारि। विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो...।
(ऋ. ७।६०।१२; ७।६१।७)

'यज्ञों में, हे मित्र और वरुण ! तुम्हारे लिए यह पुरस्क्रिया कर डाली है; अतः सभी बीहड स्थानों को पार करके हमारी पुष्टि करो।'

आ मां मित्रावरुणेह रक्षतं ... (ऋ. ७।५०।१)
... हुवे वां मित्रावरुणा सबाधः।
(ऋ ७।६१।६)

'हे मित्र तथा वरुण ! यहाँ मेरी रक्षा करो; बाधा से घिर जानेपर तुम्हें मैं पुकारता हूँ।'

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूति-मुक्षतं घृतेन। आ नो जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा॥ (ऋ. ७।६२।५)

'हे मित्र एवं वरुण ! अपने बाहुओं को खूब फैलाओ ताकि हम जीवित रहें और घृतसे हमारे मार्गको सींच दो, युवकतुल्य तुम जनता में हमें विख्यात करो; मेरी इन पुकारोंको तुम सुन लेना।'

राजाना ... ऋतस्य गोपा सिन्धुपती क्षत्रिया यातमर्वाक्। इळां नो मित्रावरुणोत वृष्टिमव दिव इन्वतं जीरदानू॥ (ऋ. ७।६४।२)

'हे विराजमान मित्र एवं वरुण ! तुम ऋत के संरक्षक, क्षत्रिय, शीघ्रदानी और समुद्रपर प्रभुत्व रखनेवाले हो, इसलिए हमारे अभिमुख आओ और द्युलोक से हमें वृष्टि एवं अन्न प्रेरित करो।'

सम्राजावस्य भुवनस्य राजथो मित्रावरुणा विदथे स्वर्दृशा। वृष्टिं वां राधो अमृतत्व-मीमहे ... ... (ऋ. ५।६३।२)

'हे भलीभाँति विराजमान तुम इस भुवनपर प्रभुत्व रखनेवाले मित्र और वरुण ! यज्ञमें स्वकीय शक्ति से सब कुछ देखनेवाले हो; तुम से हम अमरपन और धन तथा वृष्टि चाहते हैं।'

यत् बंहिष्ठं... सुदानू... अच्छिद्रं शर्म भुवनस्य गोपा। तेन नो मित्रावरुणावविष्टं सिषासन्तो जिगीवांसः स्याम॥ (ऋ. ५।६२।९)

'हे अच्छे दानशूर एवं विश्वके पालनकर्ता मित्र और वरुण ! जो कुछ भी छिद्ररहित (त्रुटिरहित, अखंड) और अत्यधिक सुख है, उससे हमारी रक्षा करो; ताकि हम धन का वितरण करते हुए जिगीषु बनें।'

... मित्रवरुणा... दिवः सम्राजा पयसा न उक्षतम्। (ऋ. ५।६३।५)

'हे द्युलोक के सम्राटतुल्य मित्र और वरुण ! हमें दूध एवं जलसे सींच दो अर्थात् हमारे यहाँ दुग्ध एवं जल की न्यूनता न हो।'

सम्राजा या...मित्रश्चोभा वरुणश्च देवा देवेषु प्रशस्ता। ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य। महि वां क्षत्रं देवेषु॥
(ऋ. ५।६८।२-३)

'जो ये सम्राट्तुल्य, दानी, देवतागण में प्रशंसित मित्र एवं वरुण हैं, वे हमें भूमंडल एवं द्युलोकस्थ महनीय धन दे डालें, क्योंकि देवताओं में तुम्हारा क्षत्रियोचित बल

महान् है।'

नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु। सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु ... ॥ (ऋ ७।६२।६)

'अब अर्यमाके साथ मित्र और वरुण हमें तथा बालबच्चों को धन दे डाले और हमारे लिए सभी मार्ग सुन्दर एवं सुगम हों।'

मा हेळे भूम वरुणस्य ... मा मित्रस्य नृणाम्। (ऋ. ७।६२।४)

'हम लोग वरुण के तथा मानवोंके अत्यन्त प्यारे मित्र के भी द्वेष में न रहें' अर्थात् ऐसा कभी न होने पाय कि वे हमारा द्वेष करने लगें। इस से स्पष्ट है कि मित्रावरुणों का कितना भारी प्रभाव जनतापर पडा था।

मित्रस्तन्नो वरुणो देवो...प्र साधिष्ठेभिः पथिभिर्नयन्तु। (ऋ. ७।६४।३)

'तो हमें मित्र एवं देवतारूपी वरुण अत्यन्त सुगम मार्ग से अधिकाधिक ले चलें।'

मित्रस्तन्नो वरुणो मामहन्त शर्म तोकाय तनयाय गोपाः। मा वो भुजेमान्यजातमेनो मा तत् कर्म ... यच्चयध्वे॥ (ऋ. ७।५२।२)

'संरक्षक मित्र एवं वरुण उस सुख को हमारी सन्तान के लिए देदें; हम आप के ही हैं, इसलिए दूसरों से उत्पन्न पाप का भार हमें न उठाना पडे और नाहि हम वह कार्य करें कि जिसे तुम नष्ट करना चाहो।'

यत् गोपा अवदत् अदितिः शर्म भद्रं मित्रो यच्छन्ति वरुणः। तस्मिन्ना तोकं तनयं दधाना मा कर्म देवहेळनं...॥ (ऋ. ७।६०।८)

'संरक्षक अदितिने जो कहा था कि मित्र एवं वरुण कल्याणकारक सुख देते हैं, उसीमें हम अपनी सन्तान रखते हुए ऐसा कर्म न करें कि जिससे देवोंका क्रोध प्रतीत हो।'

ता नः स्तिपा तनूपा वरुण जरितॄणाम्। मित्र साधयतं धियः। (ऋ. ७।६६।३)

'हे विख्यात गृहरक्षक तथा शरीरसंरक्षक मित्र और वरुण! हम स्तोताओं के कर्मों को या बुद्धियोंको सफलता दो।'

ऋतस्य मित्रावरुणा पथा वामपो न नावा दुरिता तरेम। (ऋ. ७।६५।३)

'हे मित्रावरुणो! तुम्हारे ऋतके मार्गसे हम बुराइयों को इस भाँति लाँघकर आगे बढें, जैसे नौकाके सहारे लोग जलोंको तैर जाते हैं।'

वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे ... ॥ (ऋ. ५।६५।५)

'हम अत्यन्त विस्तृत एवं चौडे मित्रके संरक्षणमें रहें'

इन ऊपर दिये हुए मंत्रभागों से मित्र और वरुणके कार्योंका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जनताकी सेवा वे कितनी लगनसे करते थे, सो सूर्यप्रकाशवत् सुस्पष्ट होता है। वेदमें अन्यत्र इनके बारेमें जो उल्लेख पाये जाते हैं उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती है। जैसे-

यां मे धियं ... देवा अददात वरुण मित्र यूयं। तां पीपयत पयसेव धेनुं कुवित् गिरो अधि रथे वहाथ॥ (ऋ. १०।६४।१२)

'हे द्योतमान मित्र एवं वरुण! तुमने जो बुद्धि मुझे प्रदान की है, उसे तुम ऐसी पुष्ट करो जैसे कोई गायको अत्यन्त दुग्धवती बनाए अर्थात् बुद्धि यथेष्ट सफल हो। क्योंकि तुम अपने रथोंमें बहुतसी वक्तृताओं को ले चलते हो।' इससे स्पष्ट होता है कि रथारोही होकर जहाँ जहाँ ये पहुँचते, उधर लोग इनके लिए भाषण किया करते थे। निस्सन्देह इन भाषणोंमें मित्रावरुणकी योग्यताका यथोचित वर्णन रहता अतः वैदिक कवि उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे दोनों तथा अन्य देवभी उन्हें भलीभांति लाभ पहुँचायँ। मित्र और वरुण तथा अन्य आदित्य लोकसेवामें अनवरत रूपसे लगे हैं, इसलिए वैदिक कवि कहते हैं-

आ नो बर्हीं रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा। सीदन्तु मनुषो यथा॥ (ऋ. १।२६।४)

आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्। (ऋ. १।४४।१३)

"शत्रुहिंसक तीन प्रमुख आदित्य मित्र, वरुण और अर्यमा हमारे बिछाए हुए दर्भासनपर अन्य मानवोंके तुल्य बैठें। प्रातःकाल ही अहिंसक कार्यमें उपस्थित रहनेके लिए जानेवाले मित्र एवं अर्यमा कुशासनपर बैठ जाएँ।"

वैदिक कवि अग्निसे कहते हैं कि-

त्वमादित्याँ आवह तान् ह्युश्मसि । अग्ने...
(ऋ. १।९४।३)

"हे अग्ने ! तू अदितिके पुत्रोंको इधर ले आ, क्योंकि हम उन्हें बहुत चाहते हैं।" आदित्योंकी योग्यताके बारेमें कहा है कि-

ते हि पुत्रासो अदितेर्विदुर्द्वेषांसि योतवे
अंहोश्चिदुरुचक्रयोऽनेहसः ॥ (ऋ. ८।१८।५)

"वे तो अदितिके पुत्र निष्पाप और विशाल मात्रा में कार्य करनेवाले हैं और जानते हैं किस ढंगसे हमें पापसे दूर रखा जाय तथा द्वेष्टाओं को हमसे पृथक् किया जाय।"

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुः ... दधिरे दिवि क्षयम् । (ऋ. १०।६३।५)

"जो सम्राटतुल्य भली भाँति बढनेवाले आदित्य हैं वे यज्ञमें आचुके हैं तथा द्युलोकमें निवासस्थान बना चुके हैं।"

आदित्यों से जनताको कैसे लाभ पहुँचता था इस विषय में कहा है कि—

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते...
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥ (ऋ. १०।६३।१३)

"जिस मानव को आदित्य अच्छी नीतियों से सारी बुराइयों के पार सुख के लिए ले चलते हैं, वह अखंडरूप से अहिंसित होता हुआ वृद्धिंगत होता है और संतानों द्वारा विशेष रूप से जन्म लेता है।"

इस कारण वैदिक कवि इन से प्रार्थना करते हैं कि—

त आदित्या अभयं शर्म यच्छत । सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥ (ऋ. १०।६३।७)

"ऐसे वे विख्यात आदित्यो ! तुम भयरहित सुख प्रदान करो और भलाई के लिए हमारे लिए सुन्दर मार्ग सुखपूर्वक गमन करने योग्य कर दो।"

त आदित्या आगता सर्वतातये... (ऋ.१०।३५।११)

"ऐसे वे तुम आदित्यो ! सबके विस्तार या वृद्धिके लिए आओ।"

तन्नो देवा यच्छत सुप्रवाचनं छर्दिरादित्याः सुभरं नृपाय्यम् । (ऋ. १०।३५।१२)

"हे देवतारूपी आदित्यो ! तो हमें ऐसा घर दो कि जिसे नेताओं का संरक्षण प्राप्त हो, जो भलीभाँति भरण करता हो तथा अत्यन्त प्रशंसनीय हो।"

...स्वस्तये आदित्यासो भवन्तु नः। (ऋ. ५।५१।११)

"हमारे कल्याण के लिए आदित्य प्रयत्नशील रहें।"

ऐसे विख्यात आदित्यों के दलमें प्रमुखतया विराजमान मित्र, वरुण एवं अर्यमा के संबंधमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैं—

प्रातर्यं वरुणं मित्रं... कृण्वावसे नो अद्य।
(ऋ. ६।२१।९)

"आज विशेष ढंग से संरक्षण हो इसलिए मित्र एवं वरुण को तैयार कर ले।"

ते नः सन्तु युजः सदा वरुणो मित्रो अर्यमा।
वृधासश्च प्रचेतसः ॥ (ऋ. ८।८३।२)

"वे वर्धनशील तथा प्रकृष्ट ज्ञानवाले मित्रावरुण एवं अर्यमा हमेशा हमारे साथ रहनेवाले हों।"

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ (ऋ. १।९०।१)
शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं नो भवत्वर्यमा...
(ऋ. १।९०।९)

"सरल एवं निष्कपट नीतिसे प्रेरित होकर जाननेवाला मित्र, वरुण तथा देवताओं से युक्त अर्यमा हमें ले चलें।"
"तीनों आदित्य हमारे लिए हितकारक बनें।"

आ नो...गमन्तु देवा मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः । (ऋ. १।१८६।२)

"हमारे निकट तीनों देवतारूपी मित्रावरुण तथा अर्यमा मिल कर आजायँ।"

वामं नो अस्त्वर्यमन् वामं वरुण शंस्यम्।
वामं हि आवृणीमहे ॥ (ऋ. ८।८३।४)

हे वरुण एवं अर्यमन् ! हमें प्रशंसनीय एवं सुन्दर धन मिल जाय, क्योंकि हम तो सुन्दर चीजकों ही सर्वथा स्वीकार कर लेते हैं।"

ते हि श्रेष्ठवर्चसस्त नतिरो विश्वानि दुरिता नयन्ति । सुक्षत्रासो वरुणो.... । (ऋ ६।५१।१०)

"वे उत्तम क्षत्रियोचित बलसे पूर्ण मित्र एवं वरुण उच्च कोटि के तेजवाले हैं और निश्चय से हमें सारी बुराइयोंके पार ले चलते हैं।"

त आगमन्तु त इह श्रवन्तु सुक्षत्रासो वरुणो मित्रो... । (ऋ. ६।४९।१)

" वे अच्छे क्षत्रिय मित्रावरुण इधर आ जायँ और हमारे कथन को सुनलें । "

इसभाँति, मित्र और वरुण जिन्हें आदित्य दल में सर्वोपरि स्थान मिल गया है अपनी तीव्र लगन एवं अदम्य उत्साहसे जनसेवा को इतने अच्छे ढंग से निभाते हैं कि वैदिक कवि प्रसन्नचेता होकर उनकी खूब सराहना करते हैं, देखिए-

इमां वां मित्रावरुणा सुवृक्तिमिषं न कृण्वे असुरा नवीयः ॥ (ऋ. ७।३६।२)

' हे बल तथा प्राण शक्ति देनेवाले मित्र और वरुण ! तुम दोनोंके लिए मैं इस नयी सुन्दर वक्तृता को बना देता हूँ, मानों जैसे कि कोई अन्न बनाता हो अर्थात् सोच विचार के उपरान्त परिश्रमपूर्वक तैयार कर देता हूँ । '

सविता देवताका परिचय

सविता के संबन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों में निम्न निर्देश मिलते हैं जैसे—

सविता वै देवानां प्रसविता । (शत. १।१।२।१७)
(जै. उ. ३।१८।३)

सविता वै प्रसविता । (कौ. ६।१४)

" सविता सचमुच देवोंको उत्पन्न करनेवाला है, उत्पादक है । "

सविता वै प्रसवानामीशे । (कौ. १।३०;७।१६)

सविता प्रसवानामीशे । (कौ. ५।२)

" सविता विशेष उत्पादनोंका प्रभु है । " इस से स्पष्ट हुआ कि उत्पादन या सृजनक्रिया से सविताका घनिष्ठ संबंध है । यही बात निम्न निर्देश में दिखाई देती है—

एताभिर्वै (रात्रिभिः) सविता सर्वस्य प्रसवमगच्छत् । (ताण्ड्य. २४।१५।२)

' इन्हीं से युक्त हो सविता सबके उत्पादन के निकट चला गया । '

सविता प्राजनयत् । (तै. ब्रा. १।६।२।२)

प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत । (तै. ब्रा. १।६।४।१)

' सविताने प्रकृष्टतया उत्पन्न किया, प्रजापतिने सविता बनकर प्रजाओं का सृजन किया । "

अब देखना चाहिए कि वेदमंत्रोंमें उत्पादक सविताके संबंधमें कौनसे निर्देश पाये जाते हैं-

दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः ... विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वजीजनत् सविता सुम्नमुक्थ्यम् । (ऋ. ४।५३।२)

" विश्वकी प्रजाओंका पालनकर्ता, द्युलोकका धारण करनेवाला और विशेष ढंगसे द्रष्टा सविता फैलानेका तथा भरनेका कार्य करता हुआ प्रशंसनीय एवं विशाल सुखका सृजन कर चुका । "

...प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे । (ऋ. ५।८१।२)

' मानवों तथा चौपायोंके लिए सविताने हितका निर्माण प्रकृष्ट रूपसे किया । '

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इत् ... (ऋ. ५।८१।५)

" हे सवितर् ! तू अकेला ही उत्पादन कार्यपर प्रभुत्व रखता है । '

स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः ।
तं भागं चित्रमीमहे ॥ (ऋ. ५।८२।३)

" वह सेवनीय या ऐश्वर्यवान् सविता तो दानी पुरुषके लिए रत्नोंका सृजन करता है और हम उस अनूठे भागको पाना चाहते हैं । "

... देवः सविता दमूना ... आ दाशुषे सुवति भूरि वामम् । (ऋ. ६।७१।४)

" दान देनेकी इच्छा मनमें रखता हुआ द्योतमान सविता दानी पुरुषको देनेके लिए सुन्दर धन को प्रचुरमात्रा में बना देता है । "

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु ...। (अथर्व. ५।२४।१)

' प्रकृष्ट उत्पादनोंका स्वामी जो सविता है वह मेरी रक्षा करे।''

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः । (ऋ. ६।७१।६)

" हे सवितर् ! आज हमारे लिए सुन्दर धनका सृजन कर, कल के दिन भी और प्रतिदिन धनका निर्माण कर।''

अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम्। (५।८२।४)

" हे देवतारूपी सवितर् ! आज तू हमारे लिए सन्तानयुक्त अच्छे ऐश्वर्यका सृजन कर।''

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् । (४।५४।२)

" हे सवितर् ! पहले तो तू पूजनीय देवोंके लिए उत्कृष्ट तथा भजनीय धनका और अमरपनका निर्माण करता है।''

य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन । प्र च सुवाति सविता ॥ (ऋ. ५।८२।९)

" जो सविता इन सभी वस्तुओं को प्रकर्ष से उत्पन्न करता है और उत्पादित होनेपर श्लोक द्वारा चारों ओर सुनाता है।

उदु तिष्ठ सवितः श्रुध्यस्य ... व्युर्वीं पृथ्वीं... सृजानः आ नृभ्यो मर्तभोजनं सुवानः ॥ (ऋ. ७।३८।२)

' हे सवितर् ! तू उठ खड़ा रह, इस प्रार्थना को सुन के और तू विशाल पृथ्वी को बनाता है तथा मानवों के लिए मनुष्योपभोग्य धन-संपदा को प्रेरित करता है।'

इन उपर्युक्त मन्त्रों से भी स्पष्ट होता है कि उत्पादन एवं प्रेरण सविता के प्रमुख कार्यों में गिने जाते थे। दोनों कार्य निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण हैं और वैदिक कवि सविता से निम्न प्रकार प्रार्थना करते हैं—

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे । तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥ (ऋ. १।३५।११)

' हे (देव सवितर्) द्योतमान ! उत्पादक तथा प्रेरक सवितर् ! अन्तरिक्ष में (ते ये पूर्व्यासः) तेरे जो पूर्वकाल से विद्यमान (अरेणवः सु कृताः) बिना धूलि के अर्थात् निर्मल एवं भली भाँति बनाये हुए (पन्थाः) मार्ग हैं (तेभिः) उनपर से, (सुगेभिः पथिभिः) जो कि सुगमतापूर्वक यात्रा करनेयोग्य हैं, आकर (अद्य नः रक्ष) आज हमारी रक्षा कर (अधि ब्रूहि च) और हमसे वार्तालाप कर, कुछ उपदेश की बातें हम से कह दे।'

अस्मभ्यं तद्दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राधः आ गात् । शं यत् स्तोतृभ्य आपये भवात्युरुशंसाय सवितर्जरित्रे ॥ (ऋ. २।३८।११)

' हे (सवितर्) उत्पादक तथा प्रेरक देव ! (त्वया दत्तं) तूने दिया हुआ (तत् काम्यं राधः) वह कमनीय धन (दिवः अद्भ्यः पृथिव्याः) द्युलोक से, जलोंसे तथा भूमंडलपर से (अस्मभ्यं आ गात्) हमारे लिए आजाय, (यत्) जो धन, (स्तोतृभ्यः) स्तोताओं के लिए तथा (उरुशंसाय जरित्रे) विस्तारपूर्वक कहनेवाले प्रशंसक के लिए (शं आपये भवति) शान्तिदायक तथा आप्तवत् बन जाता है।'

बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी । स नो देवः सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः ॥ (ऋ. ४।५३।६)

' (देवः सविता) दानी सविता (यः वशी) जो सब को वश में रखनेवाला, (जगतः स्थातुः) जंगम एवं स्थावर (उभयस्य जगतः निवेशनः) द्विविध संसार को ठीक बिठानेवाला, (प्रसवीता) प्रकर्ष से प्रेरित या उत्पन्न करनेवाला और (बृहत्सुम्नः) प्रचंड सुख या धन साथ रखनेवाला है (सः नः) वह हमें (शर्म यच्छतु) सुख दे डाले और (अस्मे) हमारे लिए (अंहसः क्षयाय) पाप का विनाश हो इसलिए (त्रिवरूथं) तीन विभागवाले घर का दान करे।' इससे विदित होता है कि सविता का कार्यक्षेत्र समूचे विश्व में फैला हुआ है।

आगन् देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयं, दधातु नः सविता सुप्रजामिषम् । स नः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु, प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु ॥ (ऋ. ४।५३।७)

' देवतारूपी सविता (ऋतुभिः आगन्) विभिन्न

मौसम में आजाए और (क्षयं वर्धतु) हमारे निवास-स्थल को बढाए तथा (सुप्रजां इषं) अच्छी सन्तान तथा अन्न (नः दधातु) हमें देदे; वह सविता (क्षपाभिः अहभिः च) रातदिन (नः जिन्वतु) हमें संतुष्ट रखे और (अस्मे) हमारी ओर (प्रजावन्तं रयिं सं इन्वतु) सन्तानयुक्त धन भलीभाँति प्रेरित करे । '

अभूद्देवः सविता वन्द्यो नु नः... वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत् ॥ (ऋ. ४।५४।१)

'हमारे लिए द्योतमान सविता वन्दनीय हुआ है, इसमें सन्देह नहीं; जो मानवों को रमणीय धन बाँटकर देता है वह जैसे इधर हमारे लिए उच्च कोटि का द्रव्य रखे ऐसा प्रबंध करो । '

गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्. वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना । पतिरिव जायामभि नो न्येतु, धर्ता दिवः सविता विश्ववारः । (ऋ. १०।१४९।४)

" जैसे गौएँ सायंकाल अपने ग्राम की ओर सहर्ष लौट आती हैं, योद्धा जिस तरह उत्सुकतापूर्वक घोडों के पास जा पहुँचता है, अच्छी मनवाली गौ दुहते समय रँभाती हुई अपने बछडे के निकट जिस प्रकार शीघ्र जाती है और पतिदेव अपनी पत्नी के निकट जैसे तीव्रतया जाता है वैसे ही यह सविता, जो कि द्युलोक का धारणकर्ता और सब लोगों के लिए वरणीय है, हमारे समीप अत्यन्त अधिक मात्रा में आ जाए । "

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि, श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने । यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः । (ऋ. ६।७१।२)

(वयं) हम लोग देवतारूपी सविता के उच्चकोटि के (सवीमनि) उत्पादन-कार्य की तथा (वसुनः दावने) धनवितरण-कार्य की छत्रछाया में रहें, हे सवितर् ! जो तू अखिल मानव तथा चौपायों के यथेष्ट सृजन एवं प्रस्थापन-कार्य में लगा हुआ है । " इस मन्त्र में सविता के विशाल कार्यक्षेत्र की झलक मिलती है । वह केवल श्रेष्ठ ढंग के उत्पादन-कार्य में ही लगा हो सो बात नहीं अपितु धनके विभाजन में भी उसका ध्यान बराबर लगा रहता है, क्योंकि यदि उत्कृष्ट उत्पादन की ओर ही ध्यान दिया जाय और उचित वितरण का कुछ भी ख्याल न रखा जाय तो बडी विकट समस्याएँ उठ खडी होती हैं जैसे कि वर्तमान आर्थिक संगठन से स्पष्ट होता है । समूचे विश्व के उत्पादन तथा ठीक जगह बिठाने के कार्य को सविता सुचारुरूप से निभाता है ।

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वं शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम् । हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत ॥ (ऋ. ६।७१।३)

" हे सवितर् ! तू आज (नः गयं) हमारे धन तथा गृहको (शिवेभिः अदब्धेभिः पायुभिः) हितकारक तथा न दबाये गये संरक्षणसाधनों से (परि पाहि) चतुर्दिक् सुरक्षित रख और तू (हिरण्यजिह्वः) हितरमणीय वाणी से कहनेवाला है इसलिए हम तेरे सामने यह माँग पेश करते हैं कि हमें (नव्यसे सुविताय) नई भलाई के लिए बचा दे एवं हमपर (अघ-शंसः) बुरी बातें कहनेवाला कोई भी (माकिः ईशत) कभी न शासन प्रस्थापित करे ।

अपि ष्टुतः सविता देवो अस्तु, यमा चित् विश्वे वसवो गृणन्ति । स नः स्तोमान् नमस्य श्चनो धाद्विश्वेभिः पातु पायुभिर्नि सूरीन् ॥ (ऋ. ७।३८।३)

" सभी वसुतक जिसकी प्रशंसा करते हैं वह दानशील सविता भी प्रशंसित होवे, वह नमन करने योग्य है और हमारे स्तोत्रोंको सुनकर हमें अन्न दे डाले तथा सारी संरक्षण आयोजनाओं को साथ लेकर विद्वन्मण्डली की रक्षा कर ले । "

इससे स्पष्ट है कि उत्पादन, प्रेरण के अतिरिक्त संरक्षण कार्य करनेकी क्षमताभी पर्याप्तरूपसे सवितामें विद्यमान थी ।

सूर्य और सविता

साधारणतया सूर्यको सविता कहा जाता है, अतः प्रश्न उठ खडा होता है कि क्या सूर्य और सविता अभिन्न हैं ? ब्राह्मण-ग्रंथों के कुछ वचन इस अभिन्नता को मानते हैं ऐसा प्रतीत होता जैसे—

आदित्य एव सविता । गोपथ. १।३३; जै. उ. ४।२७।११

असावादित्यो देवः सविता । शतपथ. ६।३।१।१८;

असौ वै सविता योऽसौ (सूर्यः) तपति । कौ. ७।६; गोपथ. १।२०

एष वै सविता य एष (सूर्यः) तपति।

शतपथ. ३।२।३।१८; ४।४।१।३; ५।३।१।७

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि सविता वास्तवमें सूर्य ही है, क्योंकि विश्वभरमें प्रेरणा और उत्पादन-क्रिया का सजीव प्रतीक सूर्य है, यह निस्सन्देह है। वेदमें भी कुछ ऐसे मंत्र पाये जाते हैं जिनसे सूर्य एवं सविताकी अभिन्नताकी सूचना मिलती है, जैसे–

अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्याः... हिरण्याक्षः सविता देव आगात्, दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि। (ऋ. १।३५।८)

"हितरमणीय दृष्टिसे युक्त सविता द्योतमान होता हुआ, दानी पुरुष के लिए स्वीकरणीय रत्नों को धारण करता हुआ, पृथ्वीके आठों दिग्विभागों को प्रकाशित कर गया और आपहुँचा है।"

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिः, उभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते, अपामीवां बाधते...अभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥ (ऋ. १।३५।९)

"विशेषरीतिसे द्रष्टा और हाथ में सुवर्ण धारण करता हुआ भूलोक एवं द्युलोक दोनों के बीच चला आता है, रोगों को दूर भगाता है और आकर्षक तेजसे द्युलोक को व्याप्त करता है।"

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो...हिरण्ययेन सविता रथेना आ देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ (ऋ. १।३५।२)

'आकर्षक तेज से युक्त हो आनेवाला द्योतमान सविता सुवर्ण के बने अर्थात् तेजस्वी जगमगाते हुए रथपर से विश्व को निहारता हुआ चला आता है।'

वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति। (ऋ. ५।८१।२)

'श्रेष्ठ सविताने आकाश को विशेष ढंग से प्रकाशित कर दिया है और वह उषाके प्रयाण के पश्चात् विराजमान हो उठता है।'

नृचक्षा एष दिवो मध्य आस्ते, आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्। (ऋ. १०।१३९।२)

'द्युलोक, भूलोक तथा अन्तरिक्ष पूर्ण करता हुआ यह मानवोंका निरीक्षण करनेवाला आकाश के मध्य बैठे रहता है।'

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्। (ऋ. १०।१३९।१)

'सूर्य की रश्मिवाला तथा हरण करने की क्षमता से युक्त सविता सदैव प्रकाशपुंज को ऊपर उठाता है।'

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्। (ऋ. १०।१४९।१)

'सविताने भूमि को यंत्रोंद्वारा स्थिर किया है और निरालंब से दिखाई देनेवाले स्थान में द्युलोक को स्थायी बनाया है।'

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा... प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्॥ (ऋ. ४।५३।३)

'द्युलोकस्थ तथा भूमंडलस्थ लोकोंको अपने तेज से व्याप्त कर चुका और जगत् को दिन और रात के समय प्रेरित तथा अपने स्थान पर बिठाकर उत्पादन कार्यके लिए सविताने अपने बाहुओं को खूब आगे बढाया है।' सूर्य का सवितृत्व अत्यन्त स्पष्ट है।

संरक्षण-कार्य करने के लिए सविता को निमंत्रण भेजने के निर्देश देखने योग्य हैं।

... ह्वयामि देवं सवितारमूतये। (ऋ. १।३५।१)

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये। (ऋ. १।२२।५)

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।

सवितारं नृचक्षसम्॥ (ऋ. १।२२।७)

'संरक्षण हो इसलिए मैं देवतारूपी सविता को, जो हाथमें सुवर्ण धारण करता है, बुलाता हूँ; मानवों के द्रष्टा और अनूठे धन का विभजन करनेवाले सविता को हम बुलाते हैं।" इस प्रकार भक्तोंके दिये हुए निमंत्रण को पाकर सविता रथपर चढकर यात्रा करने लगता है, जैसे-

हिरण्येन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन्।... बृहन्तं आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः। (ऋ. १।३५।२,४)

"देव सविता भुवनों को देखता हुआ सुनहले रथपरसे चला आता है; विचित्र किरणोंवाला याने तेजस्वी सविता बडे भारी रथपर चढ गया।"

इसभाँति, आदित्यों के महनीय कार्यका वर्णन वेदमें किया है। पाठक भी आदित्यों के मंत्र एवं सूक्त पढलें और मनन करें, ऐसी विनन्ति है।

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टि का मौलिक वा आदि धर्म है

(लेखक — श्री० **गणपतराव बा० गोरे,** औंध, जि. सातारा)

खण्ड ४

पिछले लेख में हमने यह बात वेद, बाइबल तथा युरोपीअन ब्रह्मज्ञानियों के वचनों द्वारा सिद्ध की थी कि, अनादि अनश्वर परमात्मा का अनादि अनश्वर ज्ञान ही सृष्टि के आदि में प्रकट होता है (जिसे श्रुति कहते हैं)। फिर इसी ज्ञान को पुनः पुनः समझाने के लिये देश काल की आवश्यकतानुसार समय समय पर महात्मा लोग उत्पन्न होते रहते हैं, (जिनके ग्रंथ स्मृति कहलाते हैं) क्या ये सिद्धान्त बाइबल के समान कुर्आन को भी मान्य हैं ? क्या बाइबल के समान कुर्आन भी अपने को पूर्व की पुस्तकों पर आश्रित समझता है ? वा कुर्आन एक नया ही धर्म उत्पन्न करके, उसपर लोगों को चलाना चाहता है ? इस प्रकार के प्रश्नोंपर इस लेख में विचार किया जायगा।

(५) सृष्ट्यारंभ में एक (आर्य) जाति तथा एक (वैदिक) धर्म

(सृष्टि के आरंभ में) सब मनुष्य एक जाति तथा धर्म के थे। फिर (जब उनका आपस में मतभेद होने लगा तब) अल्लाह ने (विश्वासुओं को) सुवार्ता सुनाने तथा (नास्तिकों को) डराने के लिये पैगम्बर भेजे, और उसने उनके साथ सत्य से युक्त पुस्तक* इसलिये उतारी कि जिन (विषयों) में लोगोंका मतभेद हुआ है, उन (विषयों) में वह पुस्तक उनका निर्णय करे... ॥२।२१३॥

यहां कुर्आन निम्न वैदिक सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण कर रहा है–

१. सृष्टिके आरंभमें एकही जाति एक ही अटल धर्म-नियमोंको माननेवाली उत्पन्न होती है। वर्तमान सृष्टिके आरंभमें उत्पन्न जातीका नाम आर्य तथा उनके धर्म ग्रंथका नाम वेद है।

२. समय पाकर जब जब और जिस जिस अंश में उनमें मतभेद होता है, तब तब उसी अंशका सत्यस्वरूप दर्शानेवाली पुस्तक अल्लाह किसी न किसी महात्मा द्वारा संपादन कराते हैं।

कुर्आन का यह सिद्धान्त गीता ४।७ से मिलता है, यथा– जब जब धर्ममें शिथिलता और अधर्म की प्रबलता होती है, तब मैं अपने (तत् आत्मानं) उस (अनादि) ज्ञान को सृजा करता वा प्रकट किया करता हूं ॥७॥ साधुओं की रक्षाके लिये, दुष्टों के नाश के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए युग युग में (अपने दिये हुए ज्ञान को) (सं+भवामि) ठीक कर लिया (Adapt) करता हूं ॥ ८ ॥

प्रश्न– यदि कुर्आन २।२१३ आशय गीता से मिलता है तो बताइये कि स्वयं कुर्आन किस उद्देश की पूर्ति के लिये उत्पन्न हुआ ?

उत्तर– (अल्लाह ह० मुहम्मद साहेब कहते हैं)... इसलिये कि तू इस से (कुर्आन से) मक्केवालों तथा उसके आसपासवालों को डरावे ... ६।९.२॥ फिर कहते हैं, इसी प्रकार तेरी ओर एक अरबी कुर्आन+भेजा गया कि तू मक्केवालों तथा उसके आसपासवालों को डरावे... ॥४२।७॥

टीप- अरबी कुर्आन ये शब्द सिद्ध कर कर रहे हैं कि इस मुसलमानों के कुर्आन के पूर्व अन्यान्य भाषाओं के कुर्आन अथवा वेद को सुलझाने वाले स्मृति ग्रंथ निकल चुके हैं ! और कि कुर्आन भी उनके समान ही एक स्मृति ग्रंथ है !

(६) कुर्आन स्मृति ग्रंथ है

१ कुर्आन एकत्रित पुस्तक है–

कुर्आन २।२ तथा २।५३ आदि में कुर्आन का एक नाम

* अरबी के शब्द हैं अल् किताब बिल् हक= वह सत्य से युक्त पुस्तक= The book with truth, अर्थात् वही सृष्टि के आदि में दिया हुआ वेद !

+ अरबी शब्द हैं 'कुरानं अरबियं' यही शब्द ॥ ४१।३ ॥ आदि स्थानों परभी हैं

'किताब' बताया गया है। यह शब्द कतब धातु से निकला है जिसका अर्थ है "उसने लिखा अथवा उसने एकत्र कियाx" आदि ज्ञान का प्रकाश पवित्र पुरुषों के हृदयों में हुआ करता है, पुस्तकाकार में नहीं ! इसी कारण इसे श्रुति कहते हैं। इन्हीं के वचनों को एकत्र करके पुस्तक रूप में लाया जाता है जिन्हें स्मृति ग्रंथ कहते हैं।

२ 'कुर्आन' शब्द का धात्वर्थ— 'कुर्आन' शब्द अरबी 'करअ' से निकला है जिस का मूल अर्थ है He collected together the things+ अर्थात् 'उसने वस्तुएं एकत्र कीं'। 'करअ' का दूसरे दर्जे का अर्थ है Reciting or reading = पढना; फिर से सिद्ध हुआ कि कुर्आन किसी अन्य पुस्तक से इकट्ठा किया गया है, मौलिक पुस्तक नहीं ! 'कुर्आन' नाम २।१८५ में है.

३. कुर्आन स्मृति ग्रन्थ है। कुर्आन का एक नाम आजिक्र [Azzikra] १५।९ तथा ७।६९ में आता है, जिसका मौ० मुहम्मद अली कृत आंग्ल अर्थ है The Reminder= चिताने वा याद दिलानेवाला। चिताना, जताना, स्मरण करना वा याद दिलाना किसी पूर्व समय की बात का ही होता है। संस्कृत का 'स्मृ' शब्द का अर्थ है 'याद करना' तथा 'स्मृतिः' शब्द का अर्थ है **मनुष्यों के लिखे हुए व्यवहार अथवा धर्म के ग्रन्थ*** अतः कुर्आन स्मृति ग्रंथ ही है। मौ० मुहम्मद अली पवित्र कुर्आन की भूमिका पृ० ७ पर इस्लाम की एक (Peculiarity) विशेषता यह भी बताते हैं कि वह " निःसन्देह एक ऐतिहासिक धर्म है " ‡

४. कुर्आन अरबी भाषा की आज्ञा है— कुर्आन का एक नाम १३।३७ आदि अनेक स्थानों में '**हुक्मं अराबियं**'= अरबी भाषा की आज्ञा है। इस से भी सिद्ध है कि वह आज्ञा पूर्व समयमें अन्य भाषाओं में भी दी जा चुकी है ! अतः कुर्आन 'स्मृति' है, फिर से सिद्ध हुआ !

५. मुसलमानों को कुर्आन अरबी भाषामें मिला— [अल्लाह कहते हैं कि हे पैगम्बर !] इसी प्रकार तेरी ओर अरबी कुर्आन [अरबी शब्द हैं " कुरानं अरबियं "] भेजा गया, कि तू मक्केवालों और उसके आसपासवालों को डरावे... ४२।७॥

ये शब्द स्पष्ट कह रहे हैं कि मौलिक कुर्आन किसी अन्य भाषा में था।

६. कुर्आन एक बयान [वर्णन] है— ३।१३७ में कुर्आन का एक नाम 'बयान' वा वर्णन भी है। बयान 'जिक्र' शब्द का ही पर्याय है ! वर्णन भूत कालीन बातों का भी होता है। अतः कुर्आन स्मृति ग्रंथ है।

७. कुर्आन की बनावट से भी वह स्मृति ग्रंथ सिद्ध होता है— कुर्आन में ६६६६ आयतें हैं। इनमें से १००० में पूर्वकालीन पैगम्बरों का, ११५० में जिहाद आदि का, २०६६ में दोजख, कियामत तथा काबे का, तथा १६५० आयतों में बहिश्त का वर्णन है। इस से भी कुर्आन का स्मृति ग्रंथ होना सिद्ध होता है।

इतने प्रमाणों से कुर्आन स्मृति ग्रंथ=आजिक्र है, ऐसा ही सिद्ध होता है। अब एक प्रश्न होगा कि, स्मृति ग्रंथ तो अन्यान्य भाषाओं में किसी जाति वा देश विशेष के पथ प्रदर्शनार्थ बना करते हैं, और यदि यह सिद्धान्त ठीक है तो बताइये कि कुर्आन भी क्या अरबी भाषा में इसी लिये बनाया गया कि केवल अरब निवासियों अथवा अरबी भाषा जाननेवालों के लिये ही पथ प्रदर्शक बने ?

(७) कुर्आन अरबी भाषा भाषियों के लिये ही अनश्वर वेदसे उद्धरित हुआ

१,२, ये दो प्रमाण ६।९३ तथा ४२।७ ऊपर दिये जा चुके हैं।

३. एक पुस्तक जिसके वाक्य समझाये गये हैं, वह कुर्आन अरबी जाननेवालों के लिए है ॥ ४१।३ ॥

---

x लेन के अरबी-आंग्ल कोशांनुसार।

\+ लिसान-उल-अरब, ताजुल् उरूस तथा लेन का अरबी-आंग्ल-कोश। देखो मौ० म० अली कृत कुर्आन का भाष्य नोट २२८८

* स्मृ= To remember, recollect, call to mind. स्मृतिः= what was delivered by human authors, law, Traditional law, the body of traditional or memorial law(civil or religious opposite, श्रुति); A code of laws, Law-book, A text of Smriti, cannon, rule of law.[APTE]

‡ " Islam is beyond all doubt a historical religion" Pre. 1920 Ed.

४. और यदि हम उसको [वेद वा आदि ज्ञान को] उजमी [ईरानी वा तूरानी] भाषा का कुर्आन बनाते तो वे [काफिर] अवश्यही कहते कि उस [वेद] के वाक्योंको [उनके लिये] क्यों नहीं खोला गया ? क्या उजमी [ईरानी वा तूरानी] भाषा (का कुर्आन) और अरबी लोग (सुननवाले) ? ॥ ४१।४४ ॥

अल्लाह का कथन है कि हमने वैदिक वा आदि ज्ञान को अरबी भाषा में विशेषतः अरबीयों के लिएही उतारा है। यदि किसी अन्य भाषा में उतारते तो अरबी नास्तिकों को यह कहने का बहाना मिल जाता कि हम अरबी भाषा के सिवाय दूसरी भाषा जानते ही नहीं फिर कुर्आन पढें कैसे ?

५. [अल्लाह वेद वा अपने ज्ञान की शपथ खा कर कहते हैं] प्रत्यक्ष पुस्तक [वेद] की शपथ है, निःसंदेह हमने कुर्आन अरबी बनाया है कि तुम समझो । और निःसंदेह वह [अरबी कुर्आन] उस किताब की माता में है, जो हमारे पास है, और जो सत्य के कारण महान है और जो ज्ञानसे भरा हुआ है ॥४३।२-४॥

६. इसी को ६।५९में किताबबिंम्मुबीनि= प्रत्यक्ष= Clear पुस्तक कहा है। कुर्आनके ये वचन बडा महत्त्व रखते हैं, इस लिये कि कुर्आन का उस पुस्तक में से बनाया जाना सिद्ध होता है, जो स्वयं अल्लाह के पास सुरक्षित रहती है ! इसी [पुस्तक नहीं अपितु] ज्ञान को आर्य जाति वेद कहती है !! मौ० मुहम्मद अली साहेब कृत दूसरी आयतका भाष्य अन्य भाष्यकारों को मान्य नहीं, तथापि उनका शेष भाष्य भी हमारे उपर्युक्त हिन्दी भाष्य का ही समर्थक है, यथा—

Consider the Book that makes manifest ।2। Surely we have made it an Arabic Quran that you may understand ।3। And Surely it is in the original of the Book with Us, truly elevated, full of wisdom ॥ 43:4 ॥

जिन शब्दों का अर्थ हमने किताब [कुर्आन] की माता किया है, उन्हीं का अर्थ मौ० म० अली Original of the Book करते हैं, परंतु अरबी शब्दों उम्मुल् किताब का शब्दार्थ " किताब वा पुस्तक की माता " ऐसा ही है। अब सिद्ध हुआ कि जिस मौलिक [Original] ज्ञान से स्मृतिं ग्रंथ बना करते हैं, वह वेदज्ञान सदा अल्लाह के पास रहा करता है, और उसी से संसार में प्रकट होता है ! यही वैदिक सिद्धान्त है।

अरबी में ईश्वरीय ज्ञान को उम्मुल्किताब कहना इस वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि आदि भाषा, आदि ज्ञान, आदि धर्मपुस्तक तथा पश्चात् के सभी सत्य स्मृति-ग्रंथ, इन सबों की माता अथवा निर्माता ईश्वरीय ज्ञान है ! अर्थात् स्मृति ग्रन्थों का सारा सत्य ईश्वरीय ज्ञान ही है, मानवों का उत्पन्न किया हुआ नहीं !

' किताब की माता' [वेद] की कुर्आन ने भी महिमा गाई है कि वह सत्य = अनश्वरता तथा ज्ञान से भरा हुआ होने के कारण सब से महान है !! और देखिए !

७. [अल्लाह ह० मुहम्मद को कहते हैं-] और तेरे रब्ब× के किताब में से जो कुछ तुझपर प्रकट किया गया है, सो पढ। उसके शब्दों को बदलने वाला कोई नहीं। तथा उसके सिवा तू कोई अन्य सहारा ढूंढ नहीं सकता ॥१८।२७॥ मौ० मुहम्मद अली का आंग्ल भाष्य-

And recite what has been revealed to you of the Book of your Lord; there is none who can alter his words, and you shall not find any refuge beside Him (18:27)

कुर्आन अल्लाह की पुस्तक [वेद] में से प्रकट किया गया है, यह बात यहां दूसरी बार स्वयं कुर्आन ने प्रमाणित की ! परंतु तीसरी बार और देखिए !-

७. अपितु नास्तिक लोग सत्य को झुटलाने में ही लगे रहते हैं ॥ ८५।१९ ॥ और अल्लाह उन्हें सब ओर से घेरता रहता है ।२०। नहीं ! यह तो प्रतापशाली कुर्आन है ।२१। (वही जो कि हमारे पास) लोहे-महफूज (Guarded tablet = सुरक्षित तख्ती)में लिखा हुआ है॥ ८५।२२ ॥

× कुर्आन में परमात्मा का एक नाम रब्ब भी है, जिसका अर्थ कुर्आन के सिन्धी तथा मराठी भाष्यकारोंने **पालनकर्ता** किया है। यह रब्ब शब्द संस्कृत ' रवि '= सूर्य शब्द का ही बिगाड है ! सूर्य हर प्रकार से ' पालनकर्ता ' प्रसिद्धही है ।

अर्थात् अल्लाह के पास लौहे-महफूज नामक एक तख्ती है, उस में जो कुर्आन=ईश्वरीय ज्ञान अङ्कित है वही यह अरबी कुर्आन है ! लौहे-महफूज क्या है इसपर आगे चलकर विचार करेंगे। और देखिए ! —

८. मराठी अर्थ सेः– निःसंशय यह (कुर्आन) बडे आदर सन्मान का कुर्आन है ॥५६।७७॥ (और यह हमारे यहां) यत्न करके रखे हुए गुप्त पुस्तक (लौहे महफूज) में (लिखा हुआ) है। ७८। शुद्ध व पवित्र (दूतों) के सिवा अन्य कोई उसे स्पर्श कर नहीं सकता। ७९। (और यह कुर्आन उसी की प्रतिलिपि है और वह) सकल जगत के पालनकर्ता की ओर से (कलियुग के पैगम्बर पर) प्रकट हुआ है ॥ ५६।८०॥

इतने प्रमाणों से हम ने सिद्ध किया कि १. कुर्आन अरबों के लिये ही प्रकट हुआ है तथा २. इस कुर्आन का मूल लौहे महफूज अर्थात् अल्लाह की पुस्तक (जिसे हम वेद कहेंगे) में है। इस लौहेमहफूज के अनुकूल होने के कारण ही कुर्आन आदरणीय है। उस वेद वा लौहे-महफूज को पवित्र ब्राह्मणों के सिवा और कोई पढ, सुन वा छू नहीं सकता×। यह कुर्आन उसी की प्रतिलिपि है, जो ह० मुहम्मद साहेब पर प्रकट हुई। इस प्रकार लौहे महफूज के अनुकूलता में ही, कुर्आन अपनी धन्यता तथा महत्ता समझता है। अब लौहे-महफूज क्या है, इस पर विचार करते हैं।

(८) वेदही 'अल्लाहकी पुस्तक' अथवा 'लौहेमहफूज' है

१. लौहे महफूज के पर्यायों पर विचार–

ऊपर विभाग (७) में हमनें लौहेमहफूज के निम्न पर्याय दिखाये हैंः–

क. अरबी, 'किताबे रब्बिक' = आंग्ल, Book of Your Lord =हिन्दी, तेरे पालनकर्ता का पुस्तक ॥१८।२७॥

ख. अ० किताबम्मकनून=आं० Book that is protected = हिं० सुरक्षित वा गुप्त पुस्तक ॥ ५६।७८ ॥

ग. अ० लौहेमहफूज = आं० Guarded Tablet = हिं० सुरक्षित तख्ती वा पत्रक ॥ ८५।२२ ॥

घ. अ० किताबिम्मुबीनि = आं० Clear book = हिं० सुथरा साफ, शुद्ध पुस्तक.

ङ. अ० उम्मुल् किताब = आं० Original of the book [or word for word 'mother of the book'] = हिं० पुस्तक की माता ॥ ४३।४ ॥

अब इन पांचों पर्यायों को मिला कर पढने से वेद तथा कुर्आन का निम्न सांझा सिद्धान्त प्रकट होता है–

" लौहे महफूज एक सुरक्षित वा अनश्वर पुस्तक तख्ती वा पत्रिका है, जो सदा अल्लाह के साथ रहती है, और जो सृष्टि के सभी धर्म-पुस्तकों [स्मृति अथवा शास्त्रीय ग्रंथों] की माता, निर्माता वा उत्पन्न करनेवाली है।

आर्य लोग इसे 'वेद वा ईश्वरीय ज्ञान' कहते हैं, जो सदा परमात्मा के साथ एकरस अवस्था में अर्थात् बिना घटती बढती, फेर वा बदल के रहा करता है। मनुष्यकृत सभी शास्त्रीय ग्रंथों का सदा यही आधार रहता है। सबी उसी के अनुकूल रह प्रतिष्ठित रहते हैं। वैदिक धर्म में ज्ञान परमात्मा तथा आत्मा का स्वाभाविक गुण माना गया है, अतः वह उससे कभी पृथक हो नहीं सकता ! लौहेमहफूज पर ४३।४ की टीपमें कुर्आन के मराठी भाष्यकार मौ० मीर मोहंमद लिखते हैं–

" परमेश्वर ने अपने गुण विशेषण का आपही वर्णन किया है, केवल व्यक्ति है ऐसा स्वीकार करना और व्यक्ति तथा विशेषण इन दोनों को स्वीकार करना, इन दोनों बातों का परिणाम एक ही है. "

पृ. ९३७, सन १९१६ संस्करण.

इस कथन में मौलवी साहेबने भी लौहे महफूज को अल्लाह का गुणही माना है, जो सर्वथा वैदिक धर्मानुकूल ही है। ज्ञान आत्मा का गुण है !

× लौहे महफूज वेद ही है, इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण यह भी है कि, आज से लगभग ४००० वर्ष पूर्व से आरंभ करके आजतक भी दक्षिण भारत में केवल ब्राह्मण लोग ही वेद का पठन पाठन किया करते हैं और क्षत्रीय, वैश्य आदिकों का वेद को पढना तो दूर रहा, सूनना तथा छूना भी दंडनीय समझते हैं। कुर्आन आज से १३०० वर्ष पूर्व बना, अतः उस में यह उल्लेख आ सकता है।

१. भाष्यकार मौलवियों का मत-भेद !

बाईबल के निर्गमन २४।१२ तथा ३२।१६ आदि तथा कुर्आन के ७।१४५ तथा ७।१५०से सिद्ध है कि येहोवा वा अल्लाह ने मूसाको Tables of stone = पत्थर की ईंटों तख्तों वा पट्टियोंपर धर्म नियम लिखकर दिये थे। कुर्आन के मराठी भाष्यकार ७।१५० पर टीपमें लिखते हैं कि—

"तख्ते वा पट्टियां किस वस्तु की बनी हुई थीं इस में बडाही मतभेद है। परंतु इतनी बात निश्चित है कि इन पर दस ईश्वरीय नियम व पुराना करार लिखा हुआ था, और प्रत्येक तख्ता दस बारह हाथ लंबा था।"

परंतु इस के विपरीत मौ० मुहम्मद अली कुर्आन ७।१४५ टीप सं० ९४२ में लिखते हैं कि—

"There is nothing here or elsewhere in the Quran to show that Moses had received written tablets. On the other hand, it appears that Moses was spoken to by Allah and therefore he received His Commandments by revelation like other prophets..." Foot-note 942.

अर्थ- "...कुर्आन में यहां अथवा अन्यत्र ऐसा कहीं नहीं लिखा मिलता कि मूसा को लिखी पट्टियां मिली थीं। इस के विपरीत ऐसा दीखता है कि मूसा से अल्लाहने बातें× की थीं। अतः मूसा को उसकी आज्ञाएं अन्य पैगम्बरों के समान प्रकटीकरण द्वारा मिलीं..."

परंतु उपर्युक्त नोट के विपरीत कुर्आन ८५।२२ पर नोट सं० २७०६ में वे लिखते हैं- "Mose's book was simply in some tablets..." अर्थात् मूसाका पुस्तक केवल किन्हीं तक्तियों पर लिखा हुआ था ...यहां आपने अपने ही कथन का खण्डन कर दिया !

यह मुस्लिम भाष्यकारों का मतभेद दिखाने का अभिप्राय केवल इतनाही था, कि लौहमहफ़ूज की अर्थ-समस्या जरा जटिल ही है ! परंतु इसे सुलझानेका प्रयत्न हम अवश्य करेंगे।

३. 'लौहेमहफ़ूज' के अर्थ।

१. लौह = तख्ता = A plank; मेज, Table; लिखने की तख्ती, A board to write upon.

२. महफ़ूज [Mahfuz] हिफाजत [सुरक्षता] से रखा गया। Kept safe, preserved, guarded; याद किया गया = Committed to memory.

३. हाफिज [Hafiz] कुल वस्तुओं का संभालनेवाला। Preserver of all things, God. जिसे कुल कुर्आन हिफ़्ज [याद] हो। One who has the whole Quran by heart.

हाफिज (विशेषण = Adjective) जिसकी स्मृति अच्छी हो = Having a good memory.

४. हाफिजा [Hafiza] = हिफ़्ज करनेवाला जिह्व (स्मरणशक्ति), Retentive memory.

५. लौहोकलम (Lauh-o-Qalam) = वह तख्ती जिस पर, और कलम जिससे खुदा का फत्वा लिखा जाता है। The table on which and the pen with which, the decrees of the Deity are written.

६. लौहे महफ़ूज [Lauh-i-mahfuz] = वह तख्ती जिस पर कि मुसलमान यकीन करते हैं कि खुदा हमेशा से इन्सानों के अफ़आल [कर्म] लिखता है।

The table on which, according to Mohammedans, the acts of mankind have been written by God from all eternity. +

× अल्लाह मनुष्यों से बातें किया करता है, यह हमारे विचार में बाइबल पुराने करार से सिद्ध हो जाये, परंतु कदाचित् कुर्आन से न हो सकेगा। कुर्आन में वैदिक धर्म के अनुसार अल्लाह को "देखनेवाला, सुननेवाला, जाननेवाला," तो सर्वत्र कहा गया, परंतु "मनुष्यों से बातें करनेवाला कहीं नहीं।" ह० मुहम्मद साहेब को जो इल्हाम हुआ, सो भी जिब्रीलद्वारा हुआ, समक्ष अल्लाह की बातचीत से नहीं।

+ 1 to 6 from the New Royal Dictionary, English into Hindustani and Hindustani into English by Rev. Thomas Craven M. A., B. D. 1911 Ed.

*

इन अर्थों पर विचार

(क) लौहे महफूज = दैव = तकदीर !

इन अर्थोंपर गहरा विचार करने से निम्न भेद खुलते हैं-

धारा १-२ 'लौह' एक [मुतशाबिह वा अलंकारिक भाषा की] तख्ती है, जो सदा अल्लाह के पास सुरक्षित रहती है।

धारा ५-६- इसी प्रकार एक मुतशाबिह लेखनी भी अल्लाह के पास है जिस से वे मनुष्यों के कर्म(From all eternity) शश्वत काल से लिखते आये हैं। इसी लिए कुर्आन ने ३।१८ में अल्लाह को सरी उल् हिसाब= शीघ्र हिसाब लेने वाला कहा है।

प्रश्न- क्या अल्लाह अपने सहस्रों फिरिश्तों तथा मलायकों (angels=देवदूतों) के होते हुए भी स्वयमेव मनुष्यों के कर्मों का लेखा लिखा करते हैं ?

उत्तर- जी हां, हिंदुओं का भी यही मत है। वरन् बताइये कि संचित कर्मों का संचय वा जमा करने वाला कौन ? और उसके अनुसार जीवों का प्रारब्ध बना कर फल भुगताने वाला कौन ?

अतः सिद्ध हुआ कि लौहे-महफूज का एक लौकिक अर्थ है 'अटल और परमात्मा के वश में रहनेवाला मनुष्य का प्रारब्ध अथवा कर्म-फल-लेखा,' जिसे तकदीर, किस्मत, भाग्य, Fate वा destiny कहते हैं।

(ख) लौहे महफूज= इल्मे इलाही = ईश्वरीय ज्ञान

धारा ३- अल्लाह हाफिज = सब कुछ याद रखनेवाला है, इसी लिये वह आलिमेकुल = सर्वज्ञ भी है।

धारा ४- हाफिजा = स्मरणशक्ति उसकी सिफ्त = गुण है और उसीं से यह शक्ति मनुष्य को भी मिला करती है।

धारा २- हाफिज ने हाफिजा द्वारा लौह (ईश्वरीय लेख वा ज्ञान) को महफूज = सुरक्षित रखा है !

धारा ६- अतः लौहे-महफूज के अर्थ हैं **अनश्वर ईश्वरीय लेख, पुस्तक वा ज्ञान।** आर्य लोग इसे **वेद** कहते हैं। कुर्आन १८।२७ के अनुसार यही **किताबे रब्बिक** है। इसी को ५६।७८ में **किताबम्मकनूक** कहा है। तथा ४३।४ में इस ही **उम्मुलकिताब** कहा है। इसी से समस्त ज्ञान का सृष्टि में प्रकटीकरण होता है। कुर्आन भी इसी से प्रकट हुआ है।

(ग) 'लौह' का अर्थ तख्ता, मेज वा पाटी क्यों ?

बाइबल में लिखा है कि-

तब यहोवा ने मूसा से कहा 'पहाड पर मेरे साथ चढकर वहां रह और मैं तुझे पत्थरकी पाटियां और अपनी लिखी हुई व्यवस्था और आज्ञा दूंगा कि तू उनको सिखाए॥' (निर्गमन २४।१२) विवाद ५।२२ में भी दो पत्थर की पाटिओं का वर्णन है।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ह० मूसा को जो ज्ञान मिला था उसका कुछ भाग पाटियों पर भी लिखा हुआ था। समय के प्रभाव से लौहका असली सूक्ष्म अर्थ लेख, पुस्तक आदि तो भूल गया, और स्थूल पाटियां, Tables, Tablets वा तख्ते ही याद रह गये !

(घ) (लौह) का मौलिक अर्थ 'लेख' वा सूर्य है!

'लौह' शब्द की व्युत्पत्ति--अरबी का 'लौह' शब्द किस धातु से निकला है, इसके विषय में तीन मत हैं।

पहिला मत- अरबी का 'लौह' इब्रानी Luach (ल्वाख वा ल्वेख) शब्द का रूपान्तर है। ल्वेख का इब्रानी अर्थ है Table, board, tablet अर्थात् मेज, तख्ता, तख्ती, पत्री आदि। इब्रानी ल्वाख वा ल्वेख संस्कृत के लेख शब्द से निकला है, जिसके अर्थ आपटेकृत कोशमें Writing painting, scratching, cutting or making incisions and scriptures अर्थात् लिखना, चित्रित करना, खुरचना, पत्थर आदि में अक्षर खोदना, तथा धर्म-ग्रंथ है। इन आपटेकृत अर्थों पर विचार करने से सभी अर्थ मिल जाते हैं, यथा-

१. लौहे महफूज = कर्म का लेखा; प्रारब्ध, तकदीर
२. ,, = पत्थर आदि के पाटियों पर खुदी सुरक्षित वा अटल ईश्वरीय आज्ञाएं।
३. ,, = सत्य वा त्रिकालाबाधित धर्म-नियमों का ग्रंथ, जिसे आर्य लोग वेद कहते हैं।

दूसरा मत- अरबी का 'लौह' शब्द पूरा पूरा संस्कृत का 'लोह' शब्द ही है, जिस का आपटे कृत अर्थ है Blood-

रक्त = लहू = खून । अब लौहे-मुहफूज का अर्थ होगा (अल्लाह वा परमात्मा का) सुरक्षित रक्त अर्थात अल्लाहकी जान अथवा उसका अनश्वर ज्ञान !

तीसरा मत-आपटे के अनुसार 'लोहित वा 'रोहित' शब्द का एक अर्थ 'सूर्य' भी है । और वेदादि शास्त्रों में तो मुख्यतः सूर्य को ही जीवन तथा ज्ञान का केन्द्र तथा दाता माना गया है । (अथर्ववेद का १३ वां कांड सारा के सारा इसी 'रोहित' के अर्पण है । इसी से अरबी का रूह = ज्ञान = आत्मा (Spirit) शब्द भी बना है । 'लौह' के समान ही यह 'रूह' अरबी शब्द भी शुद्ध संस्कृत शब्द ही है !!). अब लौहे-महफूज का अर्थ होगा 'अनश्वर' सूर्य। इसी को सुरक्षित तख्ता भी कहलो। यही किताबे रब्बिक = पालनकर्ता की पुस्तक है, जिस से सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश होता है। यही उम्मुल्किताब = सियाही- कलम से लिखी हुई पुस्तकों की original मूल पुस्तक है ! आर्य लोग भी वेद का प्रकटीकरण सूर्य से मानते हैं।

(ङ) ईश्वरीय ज्ञान हृदय की पाटियों पर अङ्कित होता है !

बाईबल का निम्न वचन मनन करने योग्य है-

क्योंकि तुम प्रत्यक्ष दीख पडते हो कि तुम [Epistle of Christ] ईसा की पत्री हो जिस के विषयमें हमने सेवकाई की, और जो सियाही से नहीं, परंतु जीते ईश्वर [Living God] की आत्मासे, पत्थर की पाटियोंपर नहीं, परंतु हृदय की मांस रूपी पटरियोंपर लिखी गई है। (२ करिन्थियों ३।३)

अब जीते ईश्वर की आत्मा से मनुष्यों के हृदयोंपर जो कुछ अङ्कित किया जाता हैं, उसी को प्रकटीकरण (Revelation वा इलहाम×) कहते हैं ! वेद का प्रकटीकरण इसी प्रकार हृदयों पर हुआ था, न पाटियों वा जिब्रील नामक किसी अज्ञात वा मनुष्य रूपी माध्यम से ! अतः वेदही सच्चा लौहेमहफूज है !!! जिब्रीलको यहूदि, ईसाई, मुसलमान तीनों देवदूत [अल्लाह का कासिद = संदेश पहुंचानेवाला वा पैगम्बर] मानते ही हैं। आर्य लोग ऐसा मानते हैं कि परमात्मा के ज्ञान को मनुष्यों तक पहुंचाने का काम परमात्मा की सूर्य-शक्तिद्वारा होता है ! क्या जिब्रील [Gabriel] ही सूर्य नहीं ? यह एक बडा ही महत्त्वपूर्ण तथा विचारणीय प्रश्न है, और इस पर बहुत कुछ लिखा भी जा सकता है।

पाठको ! अरबी तथा संस्कृत भाषा तथा कुर्आन और वेदके इस निकट-तम संबंध को देख किस का हृदय मारे खुशी के खिल न जायगा ? कौन कहता है कि आर्य (हिंदु) और मुसलमान भिन्न धर्म के मानने वाले हैं ? इन्हीं बातों को देख कर हमारी धारणा दृढ होती जाती है, कि कुर्आन का भाष्य उस उम्मुल्किताब = वेद के किसी निष्पक्ष ज्ञाताद्वारा अवश्य होना चाहिए ! सारे भेदभाव मिट जायेंगे और सच्ची हिंदु-मुस्लिम-प्रीति प्रस्थापित होगी।

(९) इल्मे इलाही [ईश्वरीय ज्ञान] लामुबद्दल [कभी न बदलनेवाला] है। हम कुर्आन ८५।२१-२२ के प्रमाण से पीछे बता चुके हैं कि यह प्रतापशाली कुर्आन लौहे-महफूज में अल्लाहके पास लिखा हुआ है, इस लौहमहफूज वा ईश्वरीय ज्ञान तन्सीख् (cancelling रद्द करना) और तर्मीम् (altering फेरफार करना) असंभव है, ऐसा कुर्आन का मत है। अर्थात् जो इल्मेइलाही इलहाम द्वारा सृष्टि के आरंभ में मनुष्य को मिला वही आजतक बिना फेर व बदल के कायम रहा है और वही प्रलय तक सुस्थिर रहेगा। यथा—

१. (अल्लाह कहते हैं, हे पैगम्बर !) ... तू अल्लाह के दस्तूर को (कायदे को) कभी बदलता न देखेगा और तू अल्लाह के नियमको कभी टलता हुआ न पाएगा ॥ ३५।४३ ॥

२. ...अल्लाहके शब्दोंको कोई बदलनेवाला नहीं...॥६।३४॥

३. ...अल्लाह के शब्दों में फेरबदल नहीं होता...॥१०।६४

४. ...उसके शब्दों को कोई बदल नहीं सकता। वही सुनता है, वही जानता है ॥ ६।११६

अब प्रश्न होगा कि अल्लाह के वचन वा इलहाम वा प्रेरित ज्ञान में फेरफार न होने का कारण क्या ? कुर्आन स्वयं उत्तर

× अरबी शब्द 'इलहाम' संस्कृत से निकला है। आपटे के कोशानुसारः- इल् = To throw, send, cast = फेंकना, भेजना, डालना। ला (२ P. लाति) To take, receive = लेना, ग्रहण करना। मः = ब्रह्म = ज्ञान। अतः इलाम = [हृदय में] ब्रह्मज्ञान का डाला जाना तथा लेना जाना = प्रकटीकरण। हूबहू यही अर्थ अरबी 'इलहाम' के हैं, अर्थात् 'दर दिल अफगंदन' = दिलमें डाला जाना।

देता है कि- ५. यहां पढो कुर्आन १६।२७ जो हमने (७) ६ में पीछे दिखाया है। ६. (अल्लाह कहते हैं) क्या ये लोग कुर्आन को (अर्थों का) मनन × नहीं किया करते ? और यदि कुर्आन अल्लाह के सिवा किसी अन्य की ओर से (आया) होता, तो उन लोगों को उस में बडाही इख्तिलाफ [फर्क = Disagreement, Difference, विसंगता] दीख पडता ॥ ४।८२॥

यहां अल्लाह स्वयं आज्ञा देते हैं कि कुर्आन को बुद्धि के कसौटीपर परखते हुए अर्थात् मनन करते हुए पढो। ऐसा करोगे तो तुम्हें समझ में आजायगा कि कुर्आन (प्रेरित ज्ञान) संस्कृत, जेंद, इब्रानी, यूनानी तथा अरबी आदि अनेक भाषाओं में अनन्तकाल के अन्तरोंसे, तथा भिन्न भिन्न देशों के महात्माओंके हृदयोंमें, प्रकट होता हुआ भी **सर्वत्र एक जैसा ही है** अर्थात् इन में तनिक भी तफावत नहीं !!! **"सत्य अविनाशी है तथा सभी जातियों का है,"** इसी वैदिक सिद्धान्त का समर्थन कुर्आन ने यहां किया है। परंतु दुख है कि स्वयं मुसलमानोंने इस आयतके महत्त्वको समझा नहीं, और 'कुर्आन' शब्द के अर्थ 'अरबी भाषा का ह० मुहम्मद साहेब पर प्रकट हुआ पुस्तक' ऐसाही सबने माना है !! परंतु 'कुर्आन' शब्द के अर्थ बडे विशाल हैं, इतने संकुचित नहीं।

(१०) 'कुर्आन' का अर्थ है 'ईश्वर-प्रेरित ताकीदी ज्ञान'

कुर्आन का सिद्धान्त जैसा कि हमने मननपूर्वक समझा है, वह है, कि लौहेमहफूज [अथवा वेद] जो अल्लाह की पुस्तक अथवा उसका ज्ञान है वह पहली बार तो सृष्टि के आदिमें प्रकट हुआ करता है, और तत्पश्चात् आवश्यकताके अनुसार भिन्न भिन्न देशों तथा भाषाओं और जातियों में उसी ज्ञान की प्रलय कालतक पुनः पुनः सूचनाएं [ताकीदें = Warnings or reminders] दी जाती हैं। यथा—

१. निःसंशय हमने [अरबी 'अज़िक्र'] ताकीद प्रकट की है, और हम ही उसके रक्षक हैं ॥ १५।९॥

मौ० मु० अली कृत आंग्ल-भाष्य- Surely we have revealed the Reminder and We will most surely be its guardians. (15:9.)

यहां विचारकी बात यह है कि जिक्र = Reminder = ताकीद किसी पूर्व के ज्ञान की ही होती है। अतः आर्यों के मतानुसार यह संकेत वेद की ओर तथा मुसलमानों के मतानुसार लौहेमहफूज की ओर हो सकता है। 'जिक्र' यहां कुर्आनवाचक ही है, परंतु यह शब्द तौरेत, इन्जील आदि पर भी लगाया गया है।

२. अरबी कुर्आन [ईश्वरीय ताकीदी ज्ञान] क्यों उतरा ? पीछे एक उत्तर दिया जा चुका है कि अरबों के लिये अरबी भाषा के कुर्आन की ही आवश्यकता थी, इस लिये। अल्लाह का दूसरा उत्तर अब सुनिए-

और निःसंदेह हमने कुर्आन को ताकीद देने के लिए [अरबी भाषा में प्रकट करके अरबों के लिए] सुबोध बनाया है, परंतु है कोई ताकीद लेनेवाला ? ॥५४।१७॥

मौ० मुहम्मद अली कृत आंल-भाष्य-And certainly we have made the Quaran easy for remembrance+, But is there any one who will mind ? (54;17)

इस आयत से भी यही टपकता है कि आदि सृष्टि में दिये हुए वेद-ज्ञान के प्रकट होने के पश्चात् ताकीदी ज्ञान समय समय पर आया करते हैं। यही सिद्धान्त गीता ४।७-८ से भी सुसंगत है।

× मौ० मुहम्मद अली का आंग्ल भाष्य है- "Do they not then meditate on the Quaran ?" Meditate = ध्यान करना; सोच वा विचार करना। जिन मुसलमानों का मत है कि **मजहबमें अक्ल को दख्ल नहीं,** वे कुर्आन को मननपूर्वक किस प्रकार पढ सकेंगे ?

+ १५।९ के समान ही यहां भी जिक्र शब्द ही अरबी में है; परंतु १५।९ में मौलवी साहेब Remind अर्थ करते हैं, और यहां Remember. दोनों शब्द पर्यायवाची हैं यथा-

Remember = जिक्र करना, चर्चा करना; Recognise पहचानना; Remind = याद दिलाना, चिता देना (दि न्यू रायल डिक्शनरी) अतः Reminder तथा Remembrance पर्याय शब्द हैं।

३. देवदूत = Angels मरियम् को कहते हैं-

और वह (अल्लाह) उसे (ईसा को) किताब (The book = कुर्आन तथा ज्ञान Wisdom = बुद्धि) और तौरेत और इन्जील सिखाएगा ॥३।४७ ॥

यहां सोचने की बात यह है कि कुर्आन का नाम भी किताब है और यही किताब ह०इसाजीने पढी!!! कहा जाता है कि ईसाई लोगों ने तौरेत का खण्डन करके ईसाई मत प्रचलित किया । परंतु इस आयत से सिद्ध होता है कि ह० ईसा कुरान के प्रकट होने से पूर्व ही उसके तत्त्वों को तथा तौरेत आदि को भी जानते थे ! क्या इस से यही सिद्ध नहीं होता कि किताब वा कुर्आन का अर्थ केवल अरबी कुर्आन ही नहीं, अपि तु समस्त ईश्वरप्रेरित ज्ञान है ?

४.... और निःसंदेह हमने इब्राहीम की संतान को किताब और सुबुद्धि दी... ॥ ४।५४ ॥

यहां भी किताब का अर्थ है ईश्वरीय ताकीदी ज्ञान, न पुस्तक विशेष वा अरबी कुर्आन !

५. ताकीदी ज्ञान की पुस्तकें स्मृति ग्रंथ कहलाती हैं। विभाग ६ में हमने दर्शाया है कि ' कुर्आन स्मृति ग्रंथ है।' इस लेख को पुनः यहां पढें ।

६. कुर्आन १५।९०-९२का आशय है कि जिस प्रकार यहुदियों ने अपने कुर्आन के टुकडे कर दिये और ऐसा करनेपर हम [अल्लाह] ने उन्हें शिक्षा की, इसी प्रकार अरबी लोगों को भी शिक्षा दी जायगी, यदि वे अरबी कुर्आन में कांट छांट करेंगे या उसे झूठा समझेंगे ॥

अब यहां विचारणीय बात यही है कि यहूदियों का ' अपना कुर्आन ' क्या था ? निःसंदेह तौरेत ही उनका कुर्आन अथवा ताकीदी प्रेरित ज्ञान था !!

७. ह० इब्राहीम तथा ह० इस्माईल प्रार्थना करते हैं:- हे हमारे रब्ब [पालनहार] उन लोगोंमें उनमेंसेही एक पैगम्बर भेज, जो तेरी आयतें (Communications Md. Ali) उन्हें पढकर सुनाये और उन्हें वह किताब (The Book- Md. Ali) तथा ज्ञान सिखाए और उन्हें सुधारे...॥२।१२९॥

यहां भी अरबी ' अल्किताब ' का अर्थ वेद, लोह-महफूज, वा ईश्वरी ज्ञान ही है, क्योंकि यह प्रार्थना अरबी कुर्आन के प्रकाशित होनेसे बहुत पूर्व की हैं ।

८. इस अरबी कुर्आन के लिये स्वयं अल्लाह कहते हैं:- ये आयतें किताब और [अरबी = कुर्आनि मुबीनिं] प्रत्यक्ष कुर्आन की हैं ॥१५।१॥ मौ० मुहम्मद अली का आंग्ल भाष्यः—

These are the verses of the Book (अरबी अल् कित.ब) and (of) a Quran that makes [things] manifest. 15-1.

अल्लाह स्पष्ट आज्ञा दे रहे हैं कि " ये अरबी कुर्आन की आयतें उसी किताब वा प्रत्यक्ष कुर्आन की आयतें हैं," [जिसे मुसलमान लौहेमहफूज तथा आर्य वेद कहते हैं, और जो अल्लाह के पास सुरक्षित रहता है !]

यहां ' किताब ' तथा ' कुर्आन ' दोनों शब्द आदि वा अनादि ईश्वरीय ज्ञान के वाचक हैं ।

इतने प्रमाणोंपर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि किताब, कुर्आन आदि शब्दों का अर्थ जहां साधारणतया अरबी भाषा का कुर्आन है, वहां साथ ही इन शब्दोंका अधिक व्यापक अर्थ लौहेमहफूज, ईश्वरीय ज्ञान, वेद भी होता है ! इसी अनश्वर ज्ञान से कुर्आन की बनावट तथा उसका अस्तित्व है, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार रामायण, गीता आदि की महत्ता इनके वेदानुकूल होने पर है !! इन सबको हम स्मृति-ग्रंथ वा ईश्वर-प्रेरित ताकीदी ज्ञान = Reminders ही कहेंगे ! हमें तो कुर्आन की महत्ता और सत्य-परायणता इन बातों में दिखाई देती है कि:— तौरेत, इन्जील से पीछे प्रकट होकर भी कुर्आन ने इन्हें सर्वत्र आदरणीय शब्दों से याद किया है । २।१७६ में पहले तौरेत को किताब बिल-हक्क = सत्य से युक्त पुस्तक कहा, फिर यही विशेषण २।२१३ में अपने को लगाया। अर्थात् कुर्आन ने अपना श्रेष्ठत्व और उनका हीनत्व कहीं भी बतानेका प्रयत्न नहीं किया । अपितु सर्वत्र अपने को सभी पूर्व पुस्तकों का समर्थक ही बतलाया है !! इन बातों पर अगले लेख में हम प्रकाश डालने की आशा रखते हैं ।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

पुस्तक	मूल्य	डा. व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता	मू. ५)	डा. व्य. १)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद ”	३)	।॥)
४ अथर्ववेद ”	५)	१)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥)
४ मंत्रसमन्वय	३)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥।)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ वै. प्राणविद्या ।	॥)	=)
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥)	।-)
६ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति	६)	१।)
अक्षरविज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मूल्य	डा. व्य.
देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ भाग १. -) तथा भाग २ =)		-)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला ।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद् १)		।-)
१ वेदपरिचय- (परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला १ से ६ भाग	५)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग १	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	३)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

सन १९४४ का कैलेंडर

सन १९४४	जानेवारी एप्रील जुलई	ऑक्टोबर	मे	फेब्रुवारी ऑगस्ट	मार्च नोव्हेंबर	जून	सप्टेंबर डिसेंबर
१ ८ १५ २२ २९	शनिवार	रवि	सोम	मंगळ	बुध	गुरु	शुक्र
२ ९ १६ २३ ३०	रविवार	सोम	मंगळ	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
३ १० १७ २४ ३१	सोमवार	मंगळ	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि
४ ११ १८ २५	मंगळ-	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम
५ १२ १९ २६	बुधवार	गुरु	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मंगळ
६ १३ २० २७	गुरुवार	शुक्र	शनि	रवि	सोम	मंगळ	बुध
७ १४ २१ २८	शुक्रवार	शनि	रवि	सोम	मंगळ	बुध	गुरु

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस **'पुरुषार्थबोधिनी'** भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस **'पुरुषार्थ-बोधिनी'** टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० ९) रु० डाक व्यय १॥) म० आ० से ९) रु० भेजनेवालोंको डाकव्यय माफ होगा।

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। **'वैदिक धर्म'** के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज मू० १) सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।=), डा० व्य० =)

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आना है। म० आ० से २।≡) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०''×२७'' इंच मू० ≡) रु., डा. व्य. ⁄)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

सं. २०००
जुलै १९४४

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २९२

विषयसूची।

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९२

स्वाध्या[illegible]

[illegible]पूर्ण महाभारत ।

चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया [illegible] भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, [illegible]

पुस्तक	मूल्य	डा. व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता		
२ यजुर्वेद-संहिता		
३ सामवेद ,,		
४ अथर्ववेद ,,	५	
५ काण्व-संहिता ।	३)	
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥)
४ मंत्रसमन्वय	३)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥)	॥)
योगसाधनमाला।		
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ वै. प्राणविद्या।	।॥)	=)
३ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	।-)
६ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति	६)	१।)
अक्षरविज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मूल्य	डा. व्य.
१ भाग १ -) तथा भाग २	=)	-)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेदपरिचय- (परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला १ से ६ भाग	५)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग १	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	३)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

क्रमाङ्क २९२

वर्ष २५ : : : : अङ्क ४

चैत्र संवत् २०००

अप्रैल १९४४

तेजस्वी वीर

विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः ।
शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये ॥

(ऋ० ८।७।२५)

(विद्युतहस्ताः) बिजली के समान चमकनेवाले हथियार अपने हाथों में धारण करनेवाले, (अभि द्यवः) स्वयं तेजस्वी और (शुभ्राः) गौर वर्णवाले ये वीर (शीर्षन्) अपने सिरपर (हिरण्ययीः) सुवर्ण के समान तेजस्वी दीखनेवाले (शिप्राः) शिरस्त्राण धारण करते हुए (श्रिये) धन तथा यश को प्राप्त करने के लिये (वि-अञ्जत) विशेष रीतिसे प्रकट होते हैं अर्थात् मिलकर आगे बढ रहे हैं ।

वीर अपने हथियारों को मलिन न होने दें, सदा तेजस्वी रखें । अपनी पोशाकों को स्वच्छ और सुन्दर रखें, कदाचिदपि मलिन होने न दें । जिन वीरों के शस्त्र तेजस्वी होते हैं वे ही युद्ध में प्रभाव कर सकते हैं ।

दैवत-संहिता (द्वितीय विभाग)

जो स्वयं वेदों का स्वाध्याय कर रहे हैं उनके लिये "दैवत-संहिता" के निर्माण होनेसे कितना लाभ हुआ है, इसे वे ही जान सकते हैं कि, जो वेद का स्वयं स्वाध्याय करते हैं। जो स्वयं न पढेंगे उनको इसके लाभ का पता नहीं लग सकता।

"दैवत-संहिता" का प्रथम भाग 'अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुत्' देवताओं के ७००० मंत्रों का प्रकाशित होकर अब एक वर्ष हो चुका है। इतने समय में प्रथमवार मुद्रित सहस्रों प्रतियाँ लग चुकीं हैं और प्रतिदिन मांग बढ रही है। इससे इस दैवत-संहिताने कितना उपकार किया है इसका पता लग सकता है।

"दैवत-संहिता" का द्वितीय विभाग प्रायः तैयार हो चुका है। इस द्वितीय विभाग में (५) अश्विनौ ६८९; (६) आयुर्वेद २३४५; (७) रुद्र २२७; (८) उषा १९४; (९) अदिति-आदित्य ११३७; (१०) विश्वे देवाः २३२० मिलकर ६९१२ मन्त्रों का संग्रह है। इनमें अश्विनौ, रुद्र और आयुर्वेद के मन्त्र वैदिक आयुर्वेद विद्याका प्रकाश करते हैं। यहां वैद्यक का विषय है जो वैद्योंके विचार करने के लिये योग्य है।

केवल 'विश्वेदेवा' देवता की सूचियां छापी जा रहीं हैं। शेष सब मन्त्रभाग छप चुका है। प्रथम भाग जिनके पास पहुंचा है, वे द्वितीय विभाग को प्राप्त करनेके लिए बडे आतुर हुए हैं। परन्तु इनकी सूचियां बडी आवश्यक हैं और वे अत्यन्त मेहेनत से बनायीं जाती हैं, इसलिये इनकी बनावट और मुद्रण में देरी लगती है। इन सूचियोंके विना केवल मन्त्रों का मुद्रण करने का ही कार्य होता, तो संपूर्ण दैवत-संहिता कई मास पूर्व ही तैयार होकर छप जाती। परन्तु सब सूचियों की अत्यंत आवश्यकता है, इसलिये हमने सूचियों के समेत मुद्रण करने का निश्चय किया है। जो पाठकों के उपयोगी सिद्ध हो चुका है। इसलिये इसके लिये थोडी देरी लगी, तो पाठक क्षमा करें।

प्राच्यविद्यापरिषद (ओरिएण्टल कान्फरन्स) इस वर्ष बनारस में थोडे मास पूर्व हुई थी। सब वेदादि विद्या के विद्वान् वहां इकट्ठे हुए थे। वहां एक संपूर्ण परिषद के मुख्य प्रधान थे और वेदविभाग के दूसरे अध्यक्ष थे। दोनों सभापतियों ने मुक्त कण्ठ से **स्वाध्याय-मण्डल के वैदिक प्रकाशन** की तथा **दैवत-संहिता की उपयोगिता** की बडी प्रशंसा की, यह जान कर पाठकों को प्रसन्नता होगी।

जिस खोजसे और जिस बडे यत्न से स्वाध्यायमण्डल में वेदों का मुद्रण हो रहा है, वह एक अपूर्व प्रयत्न है। वैदिक धर्म की सुरक्षा के लिये इससे भी अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता है। इस समय जिनके मन में वैदिक धर्म के विषय में प्रेम है, वे इस कार्य में अपना हार्दिक सहकार दें। यह कार्य केवल विद्या से ही सिद्ध नहीं हो सकता, यहाँ धन और अन्यान्य साधनों की भी आवश्यकता है। आजकल मुद्रण साधनों की जो महर्वता है उस कारण इस कार्य के लिये पूर्व की अपेक्षा धन भी तीन चार गुणा लग रहा है। धन का कार्य केवल बुद्धि से नहीं बनता।

आज जो पाठक इस कार्य के महत्त्व को जान सकते हैं वे अपनी ओर से जितनी सहायता कर सकते हैं करें। और दैवत-संहिता के निर्माण का श्रेय प्राप्त करें।

देवता मन्त्रों का अनुवाद भी तैयार हो चुका है। मरुत् देवता के मन्त्रों का अनुवाद + छप चुका है। अश्विनौ देवता के मन्त्रों का अनुवाद छप रहा है। इसी तरह अन्यान्य देवताओं के मन्त्रों के अनुवाद शीघ्र ही छप जायेंगे।

निवेदनकर्ता

+ मरुद्देवता के मन्त्रों का अनुवाद समन्वय सहित ६); समन्वय रहित ४); केवल मंत्रानुवाद ३)

वेदवेदिका

(१)

अत्र सर्वेषामपि वेदानां ऋगैकशब्देन निर्देशात्, तथा तेषां अक्षरब्रह्मैकार्थपरत्वोपदेशाच्च स्पष्टतरं वेदैकत्वं एकार्थपरत्वात् इति सिध्यति—

'**प्राणा एव प्राणः ऋच इत्येव विद्यात्**' इति च उदाहृतं ब्राह्मणवचनम् ।

सोऽयं शब्दरूपो वाङ्मयात्मको वेदः 'मन्त्ररूपः ब्राह्मणरूपश्चेति द्विधा प्रसिद्धः'। तत्र गायत्र्यादिच्छन्दोनिबन्धननियतः काव्यरूपो '**मन्त्रभागः**'। स च जपहोमस्तुतिकर्मादिषु प्रयोज्यत्वेन विनियुक्तः, क्वचित् वस्तुतत्त्वोपवर्णनादिविशिष्टश्च भवति । गायत्र्यादिनियतबन्धरहितः केवलं वाक्यरूपः गद्यात्मकः क्वचित् गाथात्मकश्च विधिभागः मन्त्राणां जपहोमादिषु विनियोजकः। तस्यैव विधिभागस्य '**ब्राह्मणम्**' इति संज्ञा शास्त्रसिद्धा । 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' इति प्राचां वैदिकानां सिद्धान्तः प्रसिद्धः ।

तत्र विधिभागस्य ब्राह्मणसंज्ञा तु ब्रह्मसंज्ञितानां मन्त्राणां विधानाद्यर्थप्रकाशनद्वारा मन्त्रोपसर्जनीभूतत्वादेव प्राप्ता। मन्त्राणां ब्रह्मसंज्ञा तु ब्रह्मैकवस्तुसम्भूतत्वात् ब्रह्मैकार्थपरत्वाच्च । तथा च मन्त्रवर्णः—

उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषामहो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि । (ऋ० २।२३।२) इति गृत्समदः। हे बृहस्पते 'ज्योतिषा महः' पूजनीयः 'सूर्यः' असौ 'उस्राः' आत्मनो ज्योतिः किरणानीव त्वं 'विश्वेषां इत्' सर्वेषामेव 'ब्रह्मणां' मन्त्राणां 'जनिता' जनयिता प्रादुर्भावहेतुभूतोऽसि। तस्य परमपुरुषस्य 'ब्रह्मणस्पति' संज्ञापि ब्रह्मसंज्ञकमन्त्राविर्भाव-कारणत्वादेव—

"**प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्**" इति च (ऋ० १।४०।५)

ब्रह्मशब्दस्थाने तदर्थे च मन्त्रशब्दश्रवणात् ब्रह्मैव मन्त्रः मन्त्र एव ब्रह्मेति सिध्यति । एवं सहस्रशः श्रुतिषु ब्रह्मशब्देनैव मन्त्रो दर्शितः, तथा मन्त्राणामेव निर्देशार्थं ब्रह्मशब्दः श्रुतः । न क्वचिदपि ब्रह्मशब्देन ब्राह्मणभागो निर्दिष्टः, तस्य वेदत्वे

यहाँपर सभी वेदोंका निर्देश केवल 'ऋचा' इस एकही शब्द से करनेसे और एक अक्षरब्रह्मकाही उपदेश करनेसे साफ तौरसे सिद्ध होता है कि एकही अर्थको बतलानेकी वजहसे वेद एकही है। इसे स्पष्ट करनेके लिए ब्राह्मणवचन '**प्राणा एव प्राणः ऋच एवं विद्यात्**' ऊपर दिया गया है ।

इसप्रकार यह शब्दरूप धारण करनेवाला और वाणीमय वेद, मंत्र और ब्राह्मणग्रन्थके रूपमें सबको विदित है । प्रथम अर्थात् '**मंत्रविभाग**' तो काव्यमय और गायत्री जैसे छन्दोंमें बँधे होनेके कारण निश्चित है तथा उसका प्रयोग भी जप, होमहवन, स्तुति क्रिया आदिके समय होता है और एकाधवक्त वास्तविकता का बखान करनाही उसका उद्देश्य होता है । गायत्री सदृश छन्दोंके बंधनसे रहित और केवल वाक्योंका बना हुआ गद्यमय विभाग जिसमें कहीं कहीं गाथाएँ पायी जाती है, मंत्रोंके जप एवं होममें विनियोग करनेके लिए प्रयुक्त होता है । इसेही 'ब्राह्मण' नाम पूर्णतया शास्त्रानुमोदित ढंगसे दिया है । प्राचीन कालसे वैदिक धर्मानुयायी लोगोंका यह सिद्धान्त विख्यात बनचुका है कि मंत्रों एवं ब्राह्मणोंके रूपमें वेद मौजूद है ।

उस विधिपरक विभागको 'ब्राह्मण' नाम इसलिए दिया गया है कि ब्राह्मण नामवाले मंत्रोंके विधान इत्यादि अर्थ बतलानेसे वह उनके स्थानापन्न बनजाता है । मंत्रोंके लिए 'ब्रह्म' ऐसा नाम ठीक है क्योंकि वे एक ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुए हैं और एक ब्रह्म अर्थका ही विवरण करते हैं । इसके लिए यह मंत्र देखिए—

उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषामहो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि । (ऋ. २।२३।२)

ऋषि गृत्समदका कथन है कि 'हे बृहस्पते ! (ज्योतिषा महः) उजेलेके कारण पूजनीय वह सूर्य (उस्राः) जिस प्रकार अपने किरणोंको या प्रकाशको बाहर प्रकट करता है ठीक उसीतरह तू (विश्वेषां इत्) सभी (ब्रह्मणां) मंत्रोंका (जनिता) उत्पादक, प्रकटी करणमें कारणीभूत है । उस परम पुरुषको भी जो यह 'ब्रह्मणस्पति' नाम दिया है उसका एकमात्र कारण यही है कि ब्रह्म नामसे विख्यात मंत्रोंका प्रकटीकरण उसीसे हुआ था, जैसे कि एक मंत्रमें कहा है—

'**प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्**' (ऋ. १।४०।५)

अब यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म शब्दके लिए तथा उसका मतलब दर्शानेके लिए भी मन्त्र शब्द रखा है इसलिए ब्रह्म=मंत्र और मंत्र=ब्रह्म, इस भाँतिका समीकरण सर्वथैव उचित है । इस

श्रुतित्वेऽपि, नापि ब्राह्मणवाक्यनिर्देशार्थं ब्रह्मशब्दः प्रयुक्तः श्रुतः। तथा च 'ब्रह्मणः इदं ब्राह्मणं' इति व्युत्पत्त्या 'ब्राह्मणं नाम' ब्रह्मसम्बन्धी अर्थात् मन्त्रसम्बन्धी कश्चिद् वेद भाग इति गम्यते। एतेन सर्वत्र वेदेषु मन्त्रभागस्यैव ब्रह्मशब्देन निर्देशात्, विधिभागस्य तु ब्राह्मणशब्देनैव निर्देशाच्च पारिशेष्यात्—

ब्रह्मसंज्ञितस्य मन्त्रभागस्यैव मुख्यं वेदत्वं, विधिभागस्य तु 'ब्रह्मणः इदं ब्राह्मणं' इति मन्त्रसम्बन्धित्वात् मन्त्राणां अर्थप्रकाशकत्वेन, क्वचिद् विनियोजकत्वेन च, तदुपसर्जनीभूतत्वात् ब्राह्मणस्य गौणं वेदत्वमिति सिध्यति। यथा वेदस्य गौणं ब्रह्मत्वं परब्रह्मवाचकत्वप्रयुक्तं तद्ब्रह्मतत्त्वावबोधकत्वात् ब्रह्मात्मरूपपरमपुरुषसंस्तुतेः मुख्यं ब्रह्मत्वं तु परब्रह्मण एव। तथैव ब्रह्मरूपस्य मन्त्रस्यैव मुख्यं वेदत्वं, मन्त्रार्थानुवादकत्वेनैव प्राप्तं विधिभागस्य ब्राह्मणस्यापि वेदत्वं, न तु स्वतः, अत एव गौणमिति उन्नीयते—

तदिदं मन्त्रार्थानुवादकत्वं च आत्मनः ब्राह्मणभागस्य तद्ब्राह्मणवचनमेव तत्र तत्र स्वयमेवोद्घोषयति। ब्राह्मणवाक्यप्रतिपादितेऽर्थे प्रामाण्याय ऋगादिमन्त्राणामेव अवलम्बनत्वेन निर्देशात्। "**तदेतदृचाभ्युक्तम्, तदप्येतदृषिणोक्तम्, तदप्येष श्लोको भवति।**" इत्यादिभिरनुवचनैः। यथा च पुनः राजसम्बन्धिनः सेनापत्यादेः राजपुरुषत्वं राजत्वं च गुणभूतं राजानुसारित्वात्। एवं ब्राह्मणभागस्य गौणमेव वेदत्वं ब्रह्मरूपवेदमन्त्रानुसारित्वादिति सिद्धम्।

अनयोर्मन्त्रब्राह्मणयोर्लक्षणं जैमिनिनाभिहितम्- "**मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्। तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। शेषे ब्राह्मणशब्दः।**" (पू०मी० २।१।३१-३३) इति एवं छन्दःशब्देनापि मन्त्रभागस्यैव प्रधानं वेदत्वम्। "**यश्छन्दसामृषभो**

तरह, श्रुतियोंमें सहस्रों स्थानोंमें मंत्रका निर्देश करनेके लिए 'ब्रह्म' शब्दही प्रयुक्त हुआ है और यह स्पष्ट है कि 'ब्रह्म' शब्द मंत्रोंका ही उल्लेख करनेके हेतु रखा है। ध्यानमें रहे कि कहीं भी 'ब्रह्म' शब्द से ब्राह्मणभागका निर्देश नहीं किया है, यद्यपि वह वेद एवं श्रुतिका ही एक विभाग है और नही ब्राह्मण वाक्य की ओर 'ब्रह्म' शब्दसे संकेत किया है। और भी एक बात है कि 'ब्रह्मका यह ब्राह्मण' इस व्युत्पत्तिसे भी ब्राह्मण नामसे, ब्रह्म याने मंत्रसे सरोकार रखनेवाला कोई वेदका एक विभाग है, ऐसा सिद्ध होता है। अतः, सभी वेदोंमें मंत्र विभागका उल्लेख 'ब्रह्म' शब्द के द्वारा ही किया है और विधिभागके लिए तो 'ब्राह्मण' शब्दका प्रयोग किया है, इससे सिद्ध होता है कि जिस मंत्र भागको ब्रह्म नामसे पुकारा है उसीका वेदपन प्रमुख है तथा विधिभागके लिए तो 'ब्रह्मसे सरोकार रखनेवाला जो वही यह ब्राह्मण' है इस ढंगपर मंत्रोंसे संबंध जोडकर मंत्रोंका अर्थ विशद कर लेनेसे एवं किसी किसी स्थानपर मंत्रोंका विनियोग बतलानेसे भी मंत्रोंपर पूर्णतया निर्भर रहनेके परिणामस्वरूप ब्राह्मण भागको गौणरूपमें ही वेद नाम देना ठीक है। जिस तरह परब्रह्मके वाचक के रूपमें प्रयुक्त होनेसे वेदका ब्रह्मत्व गौणरूपमें समझना चाहिए क्योंकि वह उस ब्रह्मतत्त्वको बतलानेवाला है तथा ब्रह्मरूपवाले परम पुरुषकी भली भाँति स्तुति करता है; परब्रह्मका ब्रह्मपन ही प्रमुख है। ठीक इसीप्रकार, ब्रह्मरूपवाले मंत्रकाही वेदपन सर्वोपरि है और मंत्रार्थका अनुवाद मात्र कर लेनेसे ही मिला हुआ विधिभागमय ब्राह्मणका वेदत्व स्वीकृत है, लेकिन वह स्वयंभू नहीं, इसलिए गौण रूपमें ही ब्राह्मणभागका वेदपन है ऐसा मानना उचित जान पडता।

तो जो यह ब्राह्मणभागका स्वयंही मंत्रार्थका अनुवाद करने मात्र कार्य है उसे ब्राह्मणग्रन्थोंमें स्थानस्थानपर पाये जानेवाले वे वचनही खुद साफ तौरपर घोषित कर लेते हैं तथा ब्राह्मणवाक्यद्वारा प्रतिपादित मतलबको प्रमाणित करनेके लिए आधाररूपमें ही ऋचा आदि मंत्रोंका ही निर्देश किया है। '**तत् एतत् ऋचा अभ्युक्तं, तत् अपि एतत् ऋषिणोक्तं, तत् अपि एष श्लोको भवति**' ऐसे वचनोंसे ब्राह्मणोंका मंत्रोंपर निर्भर रहना सूचित होता है। उदाहरणके लिए, जैसे राजासे संबंध रखनेवाले सेनापति आदिका राजपुरुषत्त्व तथा राजपन राजाका अनुसरण करनेके कारण गौणही समझा जाता है, ठीक उसीतरह, ब्रह्मरूप वेद मंत्रोंका अनुसरण करनेसे ब्राह्मणभागका वेदपन गौणरूपमें ही मान्य करना चाहिए।

जैमिनी मुनिने इन मंत्रों एवं ब्राह्मणोंका चिन्ह यूं बताया है—

'**मंत्रोऽभिधानवाची स्यात्। तच्चोदकेषु मंत्राख्या। शेषे ब्राह्मणशब्दः।**' (पूर्वमीमांसा २।१।३१–३३)

वैसेही 'छन्द' शब्दसे भी मंत्र भागका वेदत्वही प्रधान रूपसे सिद्ध होता है।

विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु०॥" इति (तै० उ० १।४।१) यः खलु छन्दसां ऋषभः अधिपतिर्वर्षकश्च स्वयं सन् "विश्वरूपः विश्वविभूतियोगेन पूर्णः, छन्दोभ्य एव पुनः अमृतात्मनः सम्बभूव विश्वरूपेण आविर्बभूव। छन्दोमुखेनैव प्रकाश्यते इति। स इन्द्रः मां मेधया ज्ञानशक्त्या स्पृणोतु पूरयतु इति। छन्दस्त्वं च गायत्र्यादिछन्दोनिबन्धनक्लृप्तं तच्च मन्त्राणामेव भवति, न तु ब्राह्मणभागस्य।

एवं यज्ञादिषु विनियोगादपि मन्त्राणामेव मुख्यं वेदत्वम्। "यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये।" इति (ऋ० ८।१९।५) यः मर्त्यः समिधा आहुत्या वेदेन च अग्नये ददाश हविर्ददाति। तद्धविःप्रदानं च मन्त्रैरेव भवति, न तु ब्राह्मणवाक्येन। "प्रत्यृचं जुहुयात्स्वाहाकारान्तैर्मन्त्रैः" इति समन्त्रकमेव हवनादिविधानात्।

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति सूत्रीकरणमपि मन्त्राणां वेदत्वं स्वतःसिद्धमेव, ब्राह्मणभागस्य तु न स्वतःसिद्धमिति, मंत्रेण सह ब्राह्मणस्यापि सङ्ग्रहेण, ब्राह्मणस्यापि तद्वेदत्वं सम्पादयितुमेवेति गम्यते। तेन मन्त्रार्थप्रकाशनेन ब्राह्मणभागस्य वेदोपजीव्यत्वेनैव वेदत्वमित्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम्।

मन्त्राङ्गभूतानां ऋषिच्छन्दोदैवतानामिव, ब्राह्मणभागस्यापि मन्त्रोपसर्जनीयत्वेन बोधोपदेशादपि मन्त्रभागस्य प्रधानं वेदत्वं, ब्राह्मणस्य तु गौणमिति गम्यते। तथाहि– "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजते, याजयति वा,ऽध्यापयति वा, स्थाणुं वर्छति, गर्तं वा पात्यते, प्रमीयते वा, पापीयान्भवति, तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्" इति (छ० ब्राह्मणवचनम्)।

"ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद्याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छति०। इति सर्वानुक्रमपरिभाषासूत्रम्।

स च मन्त्रभागात्मको वेदः एकोऽपि अवान्तरभेदेन द्विधा त्रिधा क्वचित् चतुर्धा विभक्तो दृश्यते —

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।"
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (ऋ० १०।९०।१०)

'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु।' (तै. उ. १।४।१)

अर्थात्, जो वास्तवमें स्वयं छन्दोंका ऋषभ याने अधिपति तथा वर्षा करनेवाला बनकर 'विश्वरूप' अर्थात् विश्वकी संपूर्ण विभूतियोंका एकत्रीकरण होनेसे पूर्ण होता हुआ फिर छन्दोंसे अमृतमय आत्मासे विश्वके रूपमें व्यक्त हुआ, मतलब यही कि छन्दोंके द्वारा ही वह प्रकाशित होता है। वह इन्द्र मुझको मेधासे अर्थात् ज्ञान शक्तिसे पूर्ण कर दे। यह छन्दपन तो केवल मंत्रोंमें ही संभव है और वह गायत्री जैसे छन्दोंमें बँधे रहनेके कारण होता है। ब्राह्मण भागमें तो इसकी शक्यता नहीं के बराबर है।

इसीभाँति यज्ञादिकोंके अवसरपर विनियोगके कारण भी मंत्रोंका वेदपनही प्रधानतया सिद्ध होता है। ऋग्वेदके आठवे मंडलमें १९ वे सूक्तके पंचम मंत्रमें कहा है कि– '**यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये।**' अर्थात् जो मानव समिधा, हवन एवं वेदसे अग्निके लिए हवि देडालता है। यह हविका दान तो सिर्फ मंत्रोंसे ही किया जाता है नकि ब्राह्मणवचनोंसे। क्योंकि विधान ऐसा है कि मंत्र कहकर ही हवन आदि करना चाहिए 'प्रत्यृचं जुहुयात्स्वाहाकारान्तैर्मन्त्रैः।'

'मंत्र एवं ब्राह्मण मिलकर वेद बनता है' ऐसा सूत्र भी शायद इसी लिए बनाया हो कि, मंत्रोंका वेदत्व स्वयं सिद्ध है लेकिन ब्राह्मणभागके लिए वह वैसा नहीं अतः मंत्रोंके साथ संग्रह करके ब्राह्मणभागको वह वेदपन दिलाया जाय। इससे इतना तो जरूर जान लेना चाहिए कि मंत्रोंके अर्थके प्रकाशनसे ब्राह्मणविभाग पूर्णतया वेदोंपर ही निर्भर है, वेदोंके कारणही ब्राह्मणोंका अस्तित्व है अतः ब्राह्मणग्रन्थोंका वेदत्त्व है यह जानने योग्य है।

मंत्रके अंगभूत जो ऋषि, छन्द और देवता हैं उनके समानही ब्राह्मणविभागभी मंत्रविभागसे अपेक्षाकृत गौण होनेसे और बोध एवं उपदेश देनेसे भी मंत्रविभागको ही प्रधानरूपसे वेद कहना तथा ब्राह्मण भागका वेदत्त्व गौण है ठीक प्रतीत होता है। उदाहरणके तौरपर देख लीजिए– छन्द ब्राह्मणके वचनका आशय है कि 'जो कोई ऋषि, छन्द, देवता एवं ब्राह्मणको न समझकरही मन्त्रसे यजन करता है, दूसरोंसे यज्ञ कराता है या पढाता है, वह ठूँठ बन जाता है, गड्ढेमें गिराया जाता है, विनष्ट होता है या पापी बनता है; अतः हरमंत्रमें इनके अस्तित्वको जानले।' सर्वानुक्रमपरिभाषा-

इत्यत्र ऋग्यजुःसामनामभिः प्रसिद्धाः साक्षात् श्रुताः त्रयो वेदाः । अत्र " छन्दाँसि जज्ञिरे तस्मात् " इति केवलं छन्दःशब्देन निर्दिष्टोऽपि, तस्य ऋगादिवेदपंक्तावेव वेदत्रयात् पृथङ्निर्देशात् पारिशेष्यादथर्ववेदपरत्वाङ्गीकारेण केचित् वेदस्य चतुर्धा क्लृप्तिमभ्युपगच्छन्ति । ' अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय । यमृषयस्त्रयीविदा विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि। सा हि श्रीरमृता सताम् । इति ।

मन्त्रे स्पष्टमनुश्रुतं वेदत्रयमेव केचित् प्रधानं मन्यन्ते, तेषां ऋग्यजुःसामाख्यानां त्रयाणां वेदानां " त्रयी " इति समष्टिसंज्ञा प्रसिद्धा । " यमृषयस्त्रयीविदाविदुः " इति शब्देन वेदत्रयाम्नानात् । " प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत् ।" (छा० उ० २।२३।२) इति च ब्राह्मणम् । "स्त्रियामृक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी " इत्यमरः ।

ऋचैव हौत्रं क्रियते, यजुषाऽऽध्वर्यवं, साम्नोद्गीथम् । व्यारब्धा त्रयी विद्या भवत्यथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते, त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात् ।" इति च (ऐ० ब्रा० ५-३३)

यज्ञादिषु वेदत्रयस्यैव प्राधान्येन विनियोगात् त्रय्या एव प्राधान्यं इति केचित् ।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ (अथर्व० शौ० १०।७।२०)

इत्यादिषु अथर्वसंज्ञकश्चतुर्थो वेदोऽपि श्रुतः । तदेतत् अपरा विद्यायां स्पष्टमभिहितम्–

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः । (मुं० १।१।४)

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ॥ इति (बृ० उ० २।४।१०)

तस्य यजुरेव शिरः, ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । (तै० उ० २।३।३)

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते । यजुषां दक्षिणा, साम्नामुदीची । अथर्वाङ्गिरसां प्रतीची ॥ इति

सूत्रके अनुसार ' मंत्रके ब्राह्मण, ऋषि, छन्द एवं देवताको जाननेवाला याजन और अध्यापन द्वारा कल्याण प्राप्त करता है ।'

एक बात और, इस भाँतिका यह मंत्रमय वेद एकही होनेपर भी छोटेमोटे भेदोंके कारण दो, तीन या कहींपर चार विभागोंमें बँटा हुआ दीख पडता है और ऋग्वेदके पुरुष सूक्तके दसवे मंत्रमें ऋक्, यजुः, साम इन नामोंसे प्रसिद्ध तीन वेदोंका उल्लेख किया है । पर इसी मंत्रमें इनके सिवा ' छन्दः ' शब्दका प्रयोग करके, ऋग्वेदादि वेदमालिकामें वेदत्रयी से पृथक् निर्देश करके परिशिष्टके रूपमें अथर्ववेदका अंगीकार करना ठीक है ऐसा मानकर कई लोग वेदके चार विभागोंका होना समझते हैं ।

मंत्रमें स्पष्टरूपसे बतलाया है इसलिए कइयोंकी रायमें वेदका तीन होना प्रमुख है और उन ऋक्, यजुः, साम इन नामोंसे विख्यात तीन वेदोंके लिए सामूहिकरूपसे ' त्रयी ' नाम दिया है । **' जिसे त्रयी जाननेवाले ऋषि जानते हैं '** . इस वचनमें वेदत्रयीका स्वीकार होचुका है । अब छान्दोग्य उपनिषदके वचनसे कि **' प्रजापतिने लोकोंको तप्त किया और उनके पूर्णतया तप्त होनेपर त्रयी विद्या टपकने लगी '** यही सिद्ध होता है । अमरकोशमें भी इस बातका उल्लेख किया है ।

ऐतरेय ब्राह्मण ५-३३ के कथनानुसार ' ऋचासे ही होताका काम पूरा होता है, यजुसे अध्वर्युका और सामन् से उद्गीथ पूर्ण होता है । इस प्रकार आरंभ होनेपर त्रयी विद्या कही जाती है, अच्छा कहो कि ब्रह्माका कार्य कौन करता, तो यही उत्तर मिलेगा कि वह भी त्रयी विद्यासे ही किया जाता है ।

यज्ञादिकोंमें तीन वेदोंका ही प्रमुखतया विनियोग हुआ करता है इसलिए त्रयीको ही प्रधानता मिलनी चाहिए ऐसा मत कई लोगोंका है ।

शौनकीय अथर्वके दशम काण्डके ७ वे सूक्तके २० वे मंत्रमें चौथे अथर्ववेदका उल्लेख है जिसे अपरा विद्यामें बताया है, देखो मुंडक उपनिषत् १।१।४ और बृहदारण्यक उपनिषत् २।४।१० जिसमें कहा है कि ऋग्यजु साम अथर्व वेद उस परम ब्रह्मके निश्वासरूप हैं । तै. उ. २।३।३ में कहा है ' उसका सर यजुः है, ऋग्वेद दक्षिण पक्ष है, सामवेद उत्तरपक्ष एवं अथर्वांगिरस पुछभाग तुल्य

(तै०ब्रा० ३।१२।९)। एवमादिषु चतुर्धा वेदविभागोऽभिहितः।

एवं वेदार्थप्रकाशकत्वेन भारतादिपुराणग्रन्थानामपि पञ्चमवेदत्वं कल्पितं दृश्यते।

" नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः आथर्वणश्चतुर्थः इतिहासपुराणः पञ्चमः इति (छां० उ० ७।१।४) "भारतः पञ्चमो वेदः " इति च प्रसिद्धम्।

ऋगादिलक्षणविचारः

अथ समष्ट्यात्मकस्य एकस्यापि वेदस्य ऋगादिसंज्ञाभिः प्रसिद्धास्ते भेदाः किं नाममात्रेण प्राप्ताः, उत वस्तुसिद्धाः अथवा प्रवचनादिप्राप्ताः, केवलं ग्रन्थमर्यादादिनियताः, आहोस्वित् लाक्षणिका इति विचारः प्रस्तूयते। अत्र केषांचित्पदार्थानां वस्तुतः स्वरूपाभेदेऽपि नाममात्रेण भेदव्यवहारो दृष्टः। तद्यथा " **तत्तेजोऽसृजत, तदपोऽसृजत, ता अन्नमसृजन्त** " इति छान्दोग्ये (छां० ६।२।३-४) श्रुतानि तेजोऽबन्नात्मकानि त्रीणि भूतानि "**वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी**" इति तैत्तिरीयके (तै० उ० २।१।१) श्रुतेभ्यः अग्न्यप्पृथिवीभूतेभ्यः नाममात्रेण भिन्नानीव दृश्यन्ते, तथापि वस्तुतः अर्थतः अभिन्नान्येव, एवं त्रयाणां चतुर्णां पञ्चानां वा वेदानां नाममात्रेण भेदोऽस्तु इतिचेत्, नैवं ऋगादीनां स्वरूपभेदात्, न नाममात्रेण भेद इति शक्यते वक्तुम्।

तथा एतेषां वेदानां भेदो वस्तुतत्त्वसिद्धः इति पक्षोऽप्यसमञ्जस एवेति प्रतिभाति, ऋगादीनां वाग्विकारमात्रेण भेदा प्रतीतेः। " **वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्** " (छां० ६।१।४) इति ब्रह्मरूपत्वाविशेषात्। तथा च " **स वा एष वाचः परमो विकारः यदेतन्महदुक्थं तदेतत्पञ्चविधं मितममितं स्वरः सत्यानृते** " इति सर्वेषां शब्दानां वाग्विकारत्वानुश्रवणात्।

तथा ' **ऋग्गाथा कुम्ब्या तन्मितं, यजुर्निगदो वृथावाक् तदमितं सामाथो यश्च गेष्णः स स्वरः** ' इति ऋग्यजुःसाम्नां मितामितस्वरादिमात्रेण भेदनिर्देशाच्च, तेन विकारमात्रेण न वस्तुभेदो युक्तः, यथा मृद्विकाराणां घटशरावा-

---

है। तै. ब्राह्मण ३।१२।९ में चारों दिशाओंमें चार वेद प्रतिष्ठित किये गये हैं। ऐसे उदाहरणोंमें वेदोंके चार विभाग होना स्वीकृत किया है ऐसा दीख पडता है।

इसीतरह वेदके अर्थकी व्याख्या करनेके कारणही महाभारत सदृश पुराणग्रन्थोंको भी पंचम वेद ऐसा कहा जाता है। छान्दोग्य उपनिषत् ७।१।४ में चारों वेदोंका नामनिर्देश करके इतिहासपुराण को पंचम माना है। भारतग्रन्थ पंचम वेद है, इसे सभी जानते हैं।

ऋचा आदिके लक्षण कौनसे हैं ?

अब यह सोचना चाहिए कि सामूहिक दृष्टिसे एकही वेदके भी ऋक् आदि नामोंको धारण करनेवाले वे प्रसिद्ध विभाग क्या नाममात्रसे विद्यमान हैं या वास्तवमें सिद्ध हैं अथवा प्रवचन इत्यादि कारणोंसे उत्पन्न हुए, या सिर्फ ग्रन्थकी सीमा दर्शानेके लिए निश्चित किये हैं या केवल लाक्षणिक ही हैं ? इस संसारमें देखा जाता है कि कुछ वस्तुओंमें वास्तविक दृष्टिसे स्वरूपकी अभिन्नता रहनेपर भी नाम मात्रसे भिन्नताका व्यवहार हुआ करता है जैसे, छान्दोग्यमें ६।२।३-४ पर कहे हुए तेज, अपः, अन्न ये पदार्थ तै० उपनिषत् २।१।१ में बतलाये हुए अग्नि, अपः, पृथ्वी इन पदार्थोंसे सिर्फ नामसे ही विभिन्न से दीख पडते हैं तोभी वास्तवमें तथा मतलबसे अभिन्नही हैं; यदि कहो कि इसीतरह तीन, चार, या पाँच वेदोंका नाममात्रही भेद रहे, तो इस भाँति ऋचा आदिमें स्वरूपभेद नहीं है इसलिए नाम मात्रकी विभिन्नता है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

उसीप्रकार, यह मत भी कि इन वेदोंकी विभिन्नता वास्तविकतासे सिद्ध है निरर्थक है ऐसा भाने लगता है क्योंकि ऋचा आदिमें वाणीके विकार द्वारा कोई विभिन्नता हुई हो ऐसा नहीं प्रतीत होता है। छान्दोग्य उपनिषत् ६।१।४ में कहे ढंगपरसे वाणीरूपमें कोई विभिन्नता नहीं। वैसेहीं ' वही यह वाणीका सर्वोपरि विकार है जो यह विराट उक्थ है वह पाँचतरहका है मित, अमित, स्वर, सत्य और अनृत ' इस ढंगसे सभी शब्द वाणीका विकार हैं ऐसा सुना जाता है।

उसीतरह, अवतरणमें बतलाये अनुसार ऋक् यजुः साम इनके सिर्फ मित, अमित, स्वर इत्यादिसे ही भिन्नता दिखाई है अतः उतने विकारसे वास्तविक भिन्नता है ऐसा कहना ठीक नहीं, जैसे मिट्टीके बनाये घडे, मटके आदि पदार्थोंमें संपूर्णतया भिन्नता है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह वस्तुसे सिद्ध नहीं। इसीतरह,

दीनां न सर्वात्मना भेदो भवति वस्तुसिद्धः । एवं ऋगादिनामरूपभेदमात्रेण वेदानां भेद इत्यभ्युपगन्तव्यम् । अथ प्रवचन-भेदात् वेदभेदोऽस्तु, यथा शाकल–बाष्कल-तैत्तिरीय-मैत्रायणीयादिशाखाभेदः अभ्युपगतः, तत्र हि यो यः खलु यां शाखामादितः अध्यापयति, सा शाखा तस्यैव नाम्ना प्रसिद्धिमर्हति । सिद्धान्तितं चैतत् जैमिनिना "आख्या-प्रवचनात्" इति, तथैव ऋगादीनामपि प्रवचनभेद एव वेदभेदे हेतुर्भवतु, यथा अथर्वणा प्रोक्तोऽथर्ववेदः इति चेत्– नैतच्छक्यम्, ऋगादिवेदप्रवक्तॄणां ऋगाद्यभिधानतः केषांचिदपि ऋषीणामप्रसिद्धेः । अपि च 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' (अथर्व० शौ० १०।७।२०) इति श्रुतः अथर्वाङ्गिरसां वेदः । इति ऋषिनाम्ना प्रसिद्धोऽथर्ववेदः । ऋगादिष्वेव वेदेषु ये अवान्तरभेदाः प्रसिद्धाः शाकल-बाष्कल-तैत्तिरीय–मैत्रायणीय–राणायणीप्रभृतयः तास्ताः शाखाः तत्तदृषिप्रवचननिमित्तेन प्राप्ताः सत्यः तत्तदृषिनाम्नैव प्रसिद्धाः इति, तत्तच्छाखाध्यापनेन प्रवर्तकाः शाकलादिनामभिः प्रसिद्धाः सन्ति ऋषयः, न तथा ऋगादि-नामभिः प्रसिद्धाः केचिदृषयः सन्ति, येन तत्प्रवचनेन ऋगादिवेदभेदोऽभ्युपगम्येत ।

न ग्रन्थभेदेन वेदभेदः

अथ ग्रन्थनिमित्तको वेदभेदोऽस्तु, प्रसिद्धाः खलु ऋगादिवेदग्रन्थाः नियताः यथायथं परस्परं भिन्नाः स्वाध्यायप्रवचन-परम्परासमागताः यथोपदेशमेवानुश्रूयमाणा इति, नैतदपि युक्तम्– एकग्रन्थान्तरीयमन्त्राणां अन्यत्र वेदे ग्रन्थान्तरेऽपि दर्शनात् । तद्यथा प्रसिद्धे ऋग्वेदग्रन्थे विद्यमानाः तथा अविद्यमाना अपि केचिन्मन्त्राः ' ऋचः ' यजुर्वेदेऽपि उपलभ्यन्ते। तथाहि प्रसिद्धे ऋग्वेदे श्रूयमाणाः ' अग्निमीळे (ऋ० १।१।१); तत्सवितुर्वरेण्यम्' (ऋ० ३।६२।१०; वा० य० ३।३५;२२।९; ३०।२; सा० १४६२; तै० सं० १।५।६।४; ४।१।११।१; तै० आ० १।११।२) इत्यादयः ऋङ्मन्त्राः यजुर्वेदेऽपि विद्यन्ते। न चैतासामृचां यजुर्वेदग्रन्थान्तरे पाठमात्रेण यजुष्ट्वमिति यथा कथञ्चिदपि वक्तुं शक्यम् । एवं प्रसिद्धे ऋग्वेदग्रन्थे अविद्यमाना अपि काश्चिदृचः प्रसिद्धे यजुर्वेदग्रन्थे दृश्यन्ते । तथाहि 'देवो वः सवितोत्पुनातु । अच्छिद्रेण पवित्रेण । वसोः

ऋचा आदि सिर्फ नाम मात्रके भेदसे वेदोंमें भेद है ऐसा समझना ठीक नहीं है । अच्छा तो, प्रवचन भेदसे वेद भिन्न हो तो क्या हर्ज, जैसे शाकल, बाष्कल, तैत्तिरीय, मैत्रायणीय इत्यादि शाखाभेद माना जाता है, क्योंकि सचमुच जो जिस शाखाको पहले से पढाता है वह उसीके नामसे विख्यात हो उठती है । जैमिनी मुनिका भी सिद्धान्त यही है, ' आख्या–प्रवचनात् ' उसीतरह ऋग्वेदादिके बारेमें भी प्रवचन भेदके कारण वेदोंका भेद अस्तित्त्वमें आया हुआ हो, जैसे अथर्वण ऋषिका कहा अथर्ववेद; यह संभव नहीं होसकता क्योंकि ऋक् आदि वेदोंके प्रवचन करनेहारे कोई ऋषि ऋक् आदि नाम धारण करनेवाले हुए हों सो बात बिल्कुल नहीं । और ' अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ' (अथर्व. १०।७।२०) इस तरह अथर्व अंगिरसोंका वेद प्रसिद्ध है । यह अथर्ववेद ऋषिके नामसे विख्यात हुआ है । ऋक् इत्यादि वेदोंमें ही जो छोटेमोटे भेद शाकल, बाष्कल, तैत्तिरीय, मैत्रायणीय, राणायणी जैसे विख्यात हो चुके थे, वे शाखाओंके रूपमें उन उन ऋषियोंके प्रवचनोंके कारण अस्तित्वमें आनेपर उन्हीं ऋषियोंके नामसे पहचाने जाने लगे । उन विशिष्ट शाखाओंके अध्ययनको प्रवर्तित करनेवाले ऋषि शाकल आदि नामोंसे सर्वश्रुत हैं, लेकिन कहीं भी ऋक् आदि नाम से प्रसिद्ध ऋषि नहीं पाये जाते, नहीं तो कह सकते कि उनके प्रवच-नोंसे ऋक् आदि वेदोंके भेद उत्पन्न हुए ।

ग्रन्थका भिन्नता होनेसे वेदमें भिन्नता नहीं होती है

अच्छा, यदि यूं कहा जाय कि ग्रन्थोंके कारणही वेदका भेद मानलें तो क्या हर्ज, जैसे कि ऋक् इत्यादि वेदग्रन्थ निश्चित रूप-वाले, जैसे तैसे एकदूसरेसे पृथक्, स्वाध्याय प्रवचन की परंपरासे अभीतक मौजूद तथा उपदेशके अनुसार सुनाई देनेवाले होनेसे विख्यात हैं; यह भी ठीक नहीं जँचता है क्योंकि एक विभिन्न ग्रन्थमें विद्यमान मंत्र दूसरे वेद या अन्य ग्रन्थमें भी दीख पडते हैं, जैसे कि सर्व विश्रुत ऋग्वेद पुस्तकमें पाये जानेवाले और नभी पाये जानेवाले कुछ मंत्र ' ऋचाएँ ' यजुर्वेदमें भी मौजूद हैं, उदाहरणार्थ ' अग्निमीळे ', ' तत्सवितुर्वरेण्यम् ' इत्यादि ऋग्वेदस्थ मंत्र यजुर्वेदमें भी दिखाई देते हैं । अब ऐसा तो बिलकुल नहीं कहा जासकता कि ये ऋचाएँ यजुर्वेद नामक दूसरे ग्रन्थमें विद्यमान हैं इसीलिए इन्हें यजुः नाम दिया जाय । जैसेही विख्यात ऋग्वेद पुस्तकमें नहीं पायी जानेवालीं भी कुछ ऋचाएँ यजुर्वेदमें दिखाई देती हैं; जैसे, ' देवो वः सवितोत्पुनातु । अच्छिद्रेण पवित्रेण।

सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ (तै० सं० १।१।५।१)

इत्येषा ऋक् ऋग्वेदे न पठिता सती यजुर्वेदे एव श्रुता। नहि एतस्या ऋचः ऋग्वेदे पाठाभावेन यजुर्वेदग्रन्थान्तःपातित्वमात्रेण च स्वतःसिद्धं ऋक्त्वं हीयते, नापि यजुष्ट्वं प्राप्यते। अथास्य मन्त्रस्य यजुर्वेदे एव पाठाद्यजुष्ट्वमेवास्तु इति चेत्– नैवं शक्यं कल्पयितुं, तस्यैव ब्राह्मणे 'सावित्रियर्चा' इति विधिवाक्येन अस्य मन्त्रस्य ऋक्त्वानुगमात्। 'सावित्रियर्चा। सवितृप्रसूतं मे कर्मासदिति। सवितृप्रसूतमेवास्य कर्म भवति। पच्छो गायत्रिया त्रिः समृद्धत्वाय' इति (तै० ब्रा० ३।३।४।६) अथ 'सावित्रियर्चा' इत्यनेन ऋग्वेदोक्ता सवितृदेवताका या काचिदेव ऋक् स्वीकर्तुं शक्यते, न च 'सावित्रियर्चा' इत्यनेन 'देवो वः' इत्यस्यैव ग्रहणं युक्तं, येन तस्य ऋक्त्वमभ्युपगम्येत, इति चेत् न, तत्रैव अनुब्राह्मणे 'देवो वः सवितोत्पुनात्वित्याह। सवितृप्रसूत एवैना उत्पुनाति। इति (तै० ब्रा० ३।२।५।२) अपामुत्पवने अस्यैव विनियोगात्। तस्मात् यजुर्वेदग्रन्थेऽपि ऋचां तत्र तत्र पाठात् ग्रन्थनिमित्तको वेदभेद इति वादोऽपि निरस्तः।

ऋग्यजुःसाम्नां मन्त्रत्वम्

अथ लक्षणत एवं प्राप्ताः ऋग्यजुःसामसंज्ञाः, ताश्च ऋगादिवेदमन्त्राणामेव भवन्ति। 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय। ऋचः सामानि यजूꣳषि' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इत्यस्मिन् मन्त्रे ऋग्यजुःसाम्नां मन्त्रशब्देनैव अनुश्रवणं स्पष्टम्। तत्र ऋचां मितत्वं, यजुषां अमितत्वं, साम्नां स्वरत्वं च प्रधानं लक्षणम्। 'ऋग्गाथा कुम्ब्या तन्मितं, यजुर्निगदो वृथा वाक् तदमितं, सामाथो यः कश्च गेष्णः स स्वरः इति। अत्र 'अग्निमीळे' इत्याद्या ऋचः, 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति' इत्यादिकाः गाथाः, 'ब्रह्मचार्यस्यपोऽशान कर्म कुरु दिवा मा स्वाप्सीः' इत्याद्याचारशिक्षारूपा कुम्ब्या, 'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्यादिकं यजुः, 'अग्ने महाꣳ असि ब्राह्मण भारत' इत्यादिर्निगदः, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादिः ब्राह्मणगतोऽर्थवादो वृथा वाक्।

लक्षणत एव वेदभेदः

तत्र ऋचां मितत्वं च गायत्र्यादिनियतछन्दोनिबन्धनकलृप्तत्वं, यजुषाममितत्वं तु अनियतपादाक्षरादिछन्दोबन्धनरूपत्वं,

---

वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः।' यह ऋचा ऋग्वेदमें नहीं है लेकिन यजुर्वेदमें ही है। केवल इतनेसे कि यह ऋचा ऋग्वेदमें नहीं पर यजुर्वेदमें इसे प्रवेश मिला, इसका स्वयंसिद्ध ऋचापन नहीं हटता और नाही यजुःत्व मिलता है। यदि कहो कि चूँकि यह मंत्र यजुर्वेदमें है इसलिए इसे यजुः नामसे पुकारना ठीक है तो यह असंभव है, कारण यही कि ब्राह्मणग्रन्थमें इसी मंत्रको 'सावित्र्यर्चा' इस विधिवाक्यसे ऋचारूप मानलिया है। उदाहरणके लिए तै० ब्रा० ३-३-४ देखिए। ध्यानमें रहे कि 'सावित्र्यर्चा' के सहारे ऋग्वेदमें बतलायी सवितृ देवतावाली कौनसी भी ऋचा ली जासकती है, उक्त वचनसे 'देवो वः' इस ऋचाकाही ग्रहण करना ठीक नहीं जँचता, क्योंकि उसी ब्राह्मणमें आगे चलकर ऐसा कहकर कि 'देवो वः सवितोत्पुनात्वित्याह, सवितृप्रसूता एवैना उत्पुनाति।' जलोंके उत्पवन में इसी ऋचाका विनियोग किया है। अतएव, यजुर्वेदके पुस्तकमें भी स्थानस्थानपर ऋचाओंके पाठ मिलते हैं, इसीसे ग्रन्थभेदसे वेदका भेद हो सकता है, यह पक्ष खण्डित हुआ।

ऋक्, यजुः और सामन् का मंत्रपन

इस प्रकार लक्षणोंके ही कारण उत्पन्न ऋक्, यजुः, सामन् नाम हैं और वे ऋक् आदि वेदमंत्रोंके लिए ही ठीक जँचते हैं। तै० ब्रा० १-२-१-२६ के कथनानुसार ऋक्, यजुः, सामन्का निर्देश मंत्र शब्दसे ही किया है। वहाँपर ऐसा समझना ठीक है कि ऋचाओंका प्रमुख लक्षण मितत्व, यजुषोंका अमितत्व, तथा सामन् का स्वरत्व है। यहाँपर 'अग्निमीळे' जैसी ऋचाएँ, 'प्रातः प्रातः' सदृश गाथाएँ, 'ब्रह्मचारी असि…' वगैरह आचारकी शिक्षा, कुम्ब्या, 'इषे त्वोर्जे त्वा' सदृशको यजुः 'अग्ने महान्…' इत्यादि निगद और 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा…' जैसे ब्राह्मणान्तर्गत अर्थवादको वृथा वाणी समझना चाहिए।

लक्षणसे ही वेदोंका भेद

ऋचाओंका मितत्त्व गायत्री सदृश निश्चित छन्दोंमें बंधे रहनेसे होता है, यजुःका अमितपन तो बंधनरहित अर्थात् चरण अक्षर इत्यादि

साम्नां स्वरत्वं च गीतिविशेषरूपत्वमिति विवेकः। जैमिनिरपि तदेतदेवानुवदति– 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः' इति (पू० मी० सू० १-१) तेषामयमर्थः यत्र येषु मन्त्रेषु अर्थवशेन अर्थतः गायत्र्यादिछन्दः स्वरूपात् नियतेन निबन्धनेन पादव्यवस्था विद्यते, तेषां मन्त्राणां ऋक्संज्ञा शास्त्रप्रसिद्धा।

तद्यथा– 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ इति (ऋ० १-१-१)

अत्र अष्टाक्षरनियताः त्रयः पादा भवन्ति। सोऽयं मन्त्रः त्रिपदागायत्री छन्दोनिबन्धनक्लृप्तः सन् ऋगित्युच्यते। 'अष्टाक्षरा गायत्री, 'गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदा' (म० ना०३) इत्यादि श्रुतेः। अत्र अर्थवशेनेत्युपलक्षणम्– गायत्र्यादितत्तच्छन्दोवृत्तवशेनेति व्याख्येयम्। नियताक्षरपादोपसंहितगायत्र्यादिछन्दोवृत्तनिबद्ध एव मन्त्रः ऋक् संज्ञक इत्यर्थः। तदेतदेव ऋचां मितत्वरूपं लक्षणम्।

एतासां ऋग्वेदे प्रसिद्धानां तथा क्वचिदप्रसिद्धानामपि ऋचामेव गीतियोगमात्रेण सामसंज्ञा भवति। 'तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते'। इति. (छां० उ० १।६।५;१।७।१) सामब्राह्मणे एवाभिहितत्वात् 'ऋक्तो नातिरिच्यते सामवेदः' अतएव प्रायः सर्वत्रापि वेदे ऋक्साम्नोर्मिथुनत्वेन सहैव योगः श्रुतः इति गम्यते। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे, (चित्यु. १२।४); ऋग् दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः (तै० उ० २।३); वागेवर्क् प्राणः साम तद्वा तत्त न्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्च ऋक् च साम च' (छां० उ० १।७।१) इत्यादि श्रुतेः। यास्कस्तु– 'मन्त्रामननात्, छन्दांसि च्छादनात्, स्तोमःस्तवनात् यजुर्यजतेः, साम सम्मितमृचा, स्यतेर्वा ऋचा समं मेने इति नैदानाः। (नि० १।३) इति ऋक्साम्नोरविशेषेण स्वरूपं दर्शयति। तस्मात् गीतिमात्रेण ऋचामेव सामसंज्ञेति सिद्धम्। 'शेषे यजुः शब्दः' 'यथोक्तऋक्सामलक्षणव्यतिरिक्तो मन्त्रभागो यजुः शब्दवाच्यो भवति। नियताक्षरपादोपहितगायत्र्यादिछन्दोनिबन्धनरहितो मन्त्रभागो यजुः संज्ञक इत्यर्थः। तदुक्तम् 'अनियताक्षरपादानि यजूंषि भवन्ति' इति। तद्यथा 'इषे त्वोर्जे त्वा'

छन्दोंमें न बनानेसे होता है और सामन्का स्वरत्व विशेष ढंगकी गीतिपर निर्भर है। इसीको जैमिनि भी कहता है, देखो पूर्वमीमांसा सूत्र १।१, मतलब यही है कि, जहाँ जिन मंत्रोंमें अर्थसे गायत्री सदृश छन्दोंके रूपमें निर्धारित बंधनसे चरणका प्रबंध किया जाता है उन मंत्रोंको 'ऋक्' ऐसा नाम दिया हुआ है जो शास्त्रमें विख्यात है।

उदाहरणार्थ, ऋग्वेदकी प्रथम ऋचामें तीन चरण हैं जो कि आठ आठ अक्षरवाले हैं। यह मंत्र तीन चरणयुक्त गायत्री छन्दमें सीमित करनेसे बना हुआ है अतः ऋक् कहलाता है। इसके लिए श्रुतिका आधार है 'आठ अक्षरवाली गायत्री, २४ अक्षरवाली त्रिपदा गायत्री।' यहाँ, अर्थवश कहकर सूचित किया है कि गायत्री वगैरह उस उस छन्द वृत्तके कारण जहां अर्थानुकूल पादव्यवस्था है ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। आशय इतना ही है, निश्चित अक्षरसंख्यासे युक्त चरणवाले गायत्री जैसे छन्द, वृत्तमें सीमित मंत्रही ऋक् नामसे पहचाना जाता है। बस यही ऋचाओंका मितत्त्व रूपका लक्षण है।

इन्हीं ऋग्वेदमें प्रसिद्ध तथा कहीं न पाये जानेवाली ऋचाओंको गायनका जोड मिलने मात्रसे 'साम' ऐसा नाम दिया जाता है। छान्दोग्य उपनिषत्के १।६।१ में यही कहा है, 'अतः ऋचापर चढा हुआ साम गायनके काममें लाया जाता है।' साम ब्राह्मणमें ही कहा है कि 'सामवेद ऋक्से तनिकभी बढकर नहीं।' इसीलिए वेदमें हरजगह ऋक् एवं सामका मिलकर जोडेके रूपमें उल्लेख किया है ऐसा जान पडता है, जैसे 'ऋचाएँ तथा साम पैदा हुए; ऋचा दक्षिण पक्ष तो साम उत्तर पक्ष।' तथा छान्दोग्य उपनिषत् का वचन देखिए– 'वाणी ही ऋचा और प्राण साम है, वही युगल बनता है जैसे वाणी और प्राण, ऋचा एवं साम।'

यास्कके कथनानुसार 'मनन करनेसे मंत्र, ढकनेसे छन्द, स्तुति की वजह स्तोम, यजनसे यजुः, ऋचासे भली प्रकार सीमित होनेसे साम, या कुछ निदान जाननेहारोंके अनुसार ऋचाके साथसाथ जो फेंका जाता है।' इससे ऋक् और सामकी अभिन्नता सूचित होती है। अतः सिद्ध हुआ कि ऋचाओंको ही गीतिसे जुडजानेमात्रसे साम ऐसा नाम दिया है।

'**शेषे यजुः शब्दः**' ऊपर बतलाये ढंगके ऋक् एवं सामके लक्षणोंसे अछूता पृथक् जो मंत्रभाग शेष रहता है उसे यजुः नामसे पुकारते हैं अर्थात् वह मंत्रविभाग जो निश्चित अक्षर संख्यासे युक्त चरणवाले गायत्री सदृश छन्दोंके बंधनसे मुक्त पाया जाता है उसे यजुः ऐसा नाम दिया है, क्योंकि कहा है न कि '**अनियताक्षरपादानि**

इत्यत्र इदं पञ्चाक्षरं एकं यजुः श्रुतं, तथा ' इषे त्वा, ऊर्जे त्वा ' इति च त्र्यक्षरं यजुर्द्वयं च विनियोगतः क्रमम् । तथा च तद्विधानसूत्रम् ' बहुपर्णा बहुशाखाऽप्रतिशुष्काग्रा भवति तामाच्छिनत्तीषे त्वोर्जे त्वेति ' (बौ० श्रौ० सू० १।३।१) ' इषे त्वोर्जे त्वेति तामाच्छिनत्त्यपि वा इषे त्वेत्याच्छिनत्त्यूर्जेत्वेति संनमयत्यनुमार्ष्टि वा ' इति चापस्तम्बः ।

एवं अनियताक्षरपादसंहितं छन्दोबन्धनमेव यजुर्लक्षणं ज्ञेयम् । अत्र यजुर्मन्त्रे अक्षरपादयोरनियतत्वात् छन्दोनियमाभावाच्च छन्दोबन्धराहित्यमेव यजुर्लक्षणमिति केचित् । तच्चायुक्तं छन्दोबन्धाभावे ' शेषे ब्राह्मण-शब्दः ' इति शास्त्रात् यजुषां मन्त्राणामपि ब्राह्मणवाक्यत्वप्रसङ्गः । तस्मादक्षरपादादीनामनियतत्वेऽपि, गायत्र्यादि छन्दोबन्धराहित्येऽपि, यजुषां मन्त्रत्वापादकं, अक्षर-पदादीनां नियतपूर्वापरीभावसम्बद्धं, यत् किञ्चिदलौकिकं, अपौरुषेयाकृत्रिमादिगुणविशिष्टं, सांहित्यरूपमन्त्रावयवानां नियतं छन्दोनिबन्धनमवश्यमभ्युपेयं भवति । नहि ' इषे त्वोर्जे त्वा ' इत्यत्र ' ऊर्जे त्वेषे त्वा ' इति वा ' त्वेषे त्वोर्जे ' इति वा मन्त्रः सम्भवति । नाप्यूहमन्त्रवत् परिकल्पयितुं शक्यः । यथा श्रुतमेव विनियोजनीयः । तस्माद्यजुषामपि यत्किञ्चित् छन्दोनिबन्धनं वक्तव्यमेव । तस्य च नियताक्षरपादादिप्रयुक्तगायत्रीछन्दोलक्षणासंभवात्, यजुश्छन्द इत्येवाभिधीयते । तद्विशेषास्तु पिङ्गलच्छन्दःशास्त्रे निर्दिष्टाः ।

अथर्ववेदस्य न पृथग्लक्षणम्

अथर्ववेदस्य लक्षणं मीमांसाशास्त्रेऽन्यत्र यत्र कुत्रापि वा न पृथङ्निर्दिष्टम् । अतः पारिशेष्यात् तत्र गीत्याद्यभावात् ऋग्यजुर्लक्षणविशिष्टमन्त्राणां दर्शनात्, सोऽयमथर्ववेदः ऋग्यजूरूपोभयात्मक इति पर्यवस्यति । तत्र तावत् ऋग्वेदे प्रसिद्धा एव ऋचः क्वचित् किञ्चित्पाठभेदेन पठिताः सहस्रशः सन्ति । ताभ्यो भिन्नाश्च ऋचः सहस्रशो विद्यन्ते **'शं नो देवीरभिष्टये,** (ऋ० १०।९।४;वा.य.३६।१२;अथर्व० १।६।१), **अम्बयोयन्त्यध्वभिः,** (ऋ० १।२३।१६;अथर्व. १।४।१) **अस्य वामस्य पलितस्य होतुः,** (ऋ० १।१६४।१;अथर्व० ९।९।१) इति एवमाद्या ऋग्वेदस्था एव ऋचः । **' स्वस्तिदा विशां पतिः '**

यजूंषि भवन्ति " जैसे **' इषे त्वोर्जे त्वा '** इसे पाँच अक्षरवाला एक यजु कहते हैं और **' इषेत्वा, उर्जेत्वा '** ऐसे तीन अक्षरवाले दो यजुः विनियोगके कारण बनाये गये । उसीतरह, बौधायन श्रौत सूत्र १।३।१ में इसप्रकार विधान किया है कि ' जो वहुत पत्तोंवाली, कई शाखाओंवाली एवं जिसका अगला हिस्सा सूख नहीं पाया हो उसे ' इषे...त्वा ' कहकर तोड डालता है । आपस्तम्बके अनुसार ' इषे त्वोर्जे त्वा ' कहके उसे तोडता है या ' इषे त्वा ' ऐसा कहके तोडता है और ' ऊर्जे त्वा ' कहके झुकाता है या स्वच्छ कर लेता है ।

इस भाँति, अनिश्चित अक्षरवाले चरणसे युक्त छन्दमें व्यक्त होना ही यजुःका लक्षण है, ऐसा समझना ठीक । कई यूं मानते हैं कि यहाँपर यजुःमंत्रमें अक्षर एवं पाद निश्चित नहीं है इसलिए और छन्दके बारेमें कोई नियम नहीं अतः छन्दके बन्धनका अभावही यजुः का लक्षण है, लेकिन वह ठीक नहीं, क्योंकि छन्दका बंधन हटानेपर ' जो बचा है उसे ब्राह्मण शब्द ठीक जँचता है ' ऐसे शास्त्रके बलबूतेपर यजुः मंत्रोंको भी ब्राह्मणवाक्य माननेकी नौबत आजायगी । इस लिए, अक्षर, चरण वगैरह अनिश्चित होनेपर भी तथा गायत्री सदृश छन्दोंका बंधन न रहनेपर भी यजुषोंका मंत्रपन बनाये रखनेवाला उस ढंगका कुछ न कुछ अनूठा छन्द बंधन माननाही चाहिए जो कि अक्षर, पद वगैरहका निश्चित रूपसे पहले या पश्चात् रखनेसे अपौरुषेय एवं अकृत्रिम आदि गुणोंकी वजहसे और मंत्रके अवयवोंके इकट्ठे रहनेसे निश्चित होता है । क्योंकि ' इषे त्वोर्जे त्वा ' इसमें ' ऊर्जे त्वा इषे त्वा ' ऐसा या ' त्वेषे त्वोर्जे ' ऐसा मंत्र नहीं बन सकता । और नाही ऊहमंत्रकी नाईं कल्पनाद्वारा पैदा किया जा सकता । जिस ढंगसे सुनाई दिया उसी तरह विनियोग करना ठीक है । अतः यजुष् मंत्रोंके लिए भी कुछ न कुछ छन्दका बन्धन है ऐसा कहना चाहिए । पर चूँकि यजुःके लिए निर्धारित अक्षरसंख्या, चरण इत्यादिसे प्रयुक्त गायत्री छन्दके लक्षण मौजूद नहीं इस कारण यजुः छन्द ऐसाही कहा जाता है । पिंगल छन्दः शास्त्रमें उसकी विशेषताएँ बतलायी हैं ।

अथर्ववेदका विभिन्न लक्षण नहीं है

मीमांसाशास्त्रमें या अन्य किसी भी जगह अथर्ववेदका कोई लक्षण अलग नहीं बताया है इसलिए अन्तमें यही कहना पडता है कि, परिशिष्टके रूपमें तथा गायन आदिके अभावसे, ऋक् एवं यजुःके लक्षणोंसे युक्त मंत्रोंके पानेसे यह अथर्ववेद ऋक् एवं यजुः मंत्रोंके मिश्रणसे बना है । पहले तो ऋग्वेदमें प्रसिद्ध ऋचाएँ ही

(ऋ० १०।१५२।२; अथर्व० १।२१।१), आ त्वा हार्षमन्तरभूः (ऋ० १०।१७३।१; अथर्व० ६।८७।१), तिस्रो मातृः० विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् (ऋ० १।१६४।१०; अथर्व० ९।९।१०) इति पाठभेदविशिष्टाः ' अत्र विशस्पतिः, अन्तरेधि, विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ' इति ऋक् पाठः । एवं ऋग्वेदस्थानि कानिचिद् बहूनि सूक्तानि विद्यन्ते।

" ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । (अथर्व० १।१।१)

" यस्मादृचो अपातक्षन् । (अथर्व० १०।७।२०) इन्द्रस्य प्रथमो रथः । (अथर्व० १०।४।१) इत्येवमाद्या ऋग्वेदे अप्रसिद्धा ऋच एव । एवं कानिचिद्यजूंष्यपि दृश्यन्ते—

" विराड् वा इदमग्र आसीत् । " (अथर्व० ८।१०।१)

" यो विद्याद्ब्रह्म प्रत्यक्षम् । " (अथर्व० ९।६।१)

" तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरः० । " (अथर्व० ११।३।१)

" व्रात्य आसीदीयमान एव० । " (अथर्व० १५।१।१)

" जितमस्माकमुद्भिदम् । " (अथर्व० १६।८।१).

त एते मन्त्राः यजूरूपा एव यथायथं निर्दिष्टैः छन्दोभिर्विशिष्टाः । अस्य तुरीयवेदस्य अथर्ववेदसंज्ञा तु अथर्वणा ऋषिणा सङ्गृहीतत्वात्, भृग्वङ्गिरसां अथर्वाङ्गिरसां च आथर्वणानामृषीणां मन्त्रबाहुल्यादपि वा सिद्धा । एवं वेदानां चतुष्ट्वेऽसिद्धेऽपि मन्त्रराशेः " ऋग्यजु "- रिति द्विधैव भेदो वस्तुतत्वसिद्धः । तस्मात् ऋगादिलक्षणप्रयुक्तमेव " ऋग्यजुःसाम्नां" स्वरूपमिति सिद्धम् ।

तदुक्तम्- " ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यन्ति पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यन्ति विपश्चितः । " इति ।

तस्मात् ऋग्यजुःसामशब्दाः ऋगादिलक्षणोपहितान् ऋगादिमन्त्रानेव स्पृशन्ति । न तु ऋगादिवेदेषु प्रसिद्धं संहिताग्रन्थमात्रं, नापि ब्राह्मणवाक्यं ब्राह्मणादिग्रन्थं वा इति सर्वथा सम्पद्यते ।

" अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय । ऋचः सामानि यजूंषि । " (तै० ब्रा० १।१।१०।३,५;१।२।१।२६) इति स्पष्टतरमाम्नानात् ।

किं व्यासेन व्यस्ता वेदाः ?

अत्रायं कश्चित्पुनर्विचारप्रसङ्गः- आदौ एकरूपेण स्थितं एकमेव वेदं तत्र भवान् व्यासः पाठप्रवचनादिसौकर्यार्थं चतुर्धा विबभाजेति भारतादिपुराणग्रन्थे दृश्यते । कीदृशः स विभागः यः खलु व्यासकृत इत्युच्यते ? यदि स्वस्वलक्षणसिद्धाः

कहीं कहीं पाठभेदसे युक्त होकर अथर्ववेदमें सहस्रोंकी संख्यामें पायी जाती हैं । और उनसे अलग ऋचाएँ सहस्रों मौजूद हैं । इस भाँति पाठभेदवाले, ऋग्वेदमें उपलब्ध कई बहुत सारे सूक्त हैं । उसीप्रकार, ऋग्वेदमें न दिखाई देनेवाली ऋचाएँ ही अथर्ववेदमें हैं। वैसेही, कुछ यजुषभी दीख पडते हैं । ये सभी मंत्र यजुः रूपवाले हैं और पूर्वोक्त छन्दोंके धारण करनेवाले हैं । इस चतुर्थ वेदके लिए ' अथर्व ' नाम देनेका कारण यही है कि ऋषि अथर्वाने इन मंत्रोंका संग्रह किया है और भृगु, अंगिरस, अथर्वण, तथा उनके वंशमें उत्पन्न ऋषियोंके देखे मंत्र अत्यधिक संख्यामें हैं । (उदाहरण ऊपर हैं)

इस तरह वेदोंके चार भागोंमें विभक्त होना खंडित हुआ परन्तु समूची मंत्रराशि ' ऋक् और यजुः ' इस ढंगपर दो भागोंमें बँटजाती है । यह बात वास्तविक है । अतः सिद्ध हुआ कि 'ऋक्, यजुः और सामन् ' का स्वरूप ऋचा आदिके लक्षणोंसे युक्त होने पर ही है ! कहा भी हैं कि " पदार्थोंका पृथक्करण करने लगें तो ऋषिभी उनका अन्त नहीं पासकते पर विद्वान लोग लक्षण निर्धारित कर सिद्ध वस्तुओंकी थाह पा लेते हैं । " इसीकारण, ऋक्, यजुः एवं साम शब्द ऋक् आदि लक्षणवाले ऋक्–यजु आदि मंत्रोंको ही लागू होते हैं । तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।१०।३,५ के स्पष्ट कथनसे न केवल ऋग्वेदादि वेदोंकी विख्यात संहिताग्रन्थोंको ही और नाही ब्राह्मणवाक्य या ब्राह्मणसदृश ग्रन्थ को वे ऋगादि पद लागू होते हैं।

क्या व्यासने वेदोंका विभाग किया था ?

यहाँपर फिर एक और विचार करनेका अवसर है- प्रारंभमें अवस्थित एकही वेदको व्यासजीने पाठ प्रवचनमें सुगमता हो इस लिए चार विभागोंमें बाँटदिया ऐसा महाभारतसदृश पुराणग्रन्थोंमें

ऋगादयो वेदाः, तर्हि तेषां नूतनं विभागं कर्तुं को वा समर्थः ? अथ लक्षणतः सिद्धानां स्वरूपतो भिन्नानामपि " व्रीहियव-गोधूमादीनामिव " एकराशेः पृथक्करणं व्यासकृतं ग्रन्थविभागेन प्रवचनसौकर्यार्थमिति चेत्, प्रसिद्धे यजुर्वेदे न केवलानि यजूंषि विद्यन्ते इति न सर्वस्यापि यजुर्वेदग्रन्थस्य यजुष्ट्वमस्तीत्युपन्यस्तमेव । अपि च मधुच्छन्दः प्रभृतिभिर्बहुभिर्ऋषिभिर्दृष्टानां बहूनां मन्त्राणां सूक्तानां च एकत्र सङ्ग्रहेण संहितादिग्रन्थानां ग्रथयितारः, न तु विभक्तारः, तत्तच्छाखाप्रवर्तकाः प्रवचनकर्तारः ऋग्वेदे शाकलादयः, यजुर्वेदे शुक्ले कण्वमाध्यन्दिनादयः, कृष्णे तु तित्तिरिमैत्रायणादयः, सामवेदे राणायनप्रभृतयः, अथर्ववेदे शौनकादयश्च ऋषयः प्रसिद्धाः, नहि तत्र व्यासस्य नामापि श्रूयते । तदपि व्यासस्य वेदविभक्तृत्वं तावत् संहिताब्राह्मणारण्यकोपनिषदादिवेदग्रन्थेषु निरुक्तादिवेदांगेषु कल्पसूत्रादिष्वपि वेदसम्बद्धेषु न प्रसिद्धम् ।

न चैतद्वेदार्थविचारशास्त्रयोः पूर्वोत्तरयोर्मीमांसयोरपि यत्र कुत्रापि प्रस्तुतं नापि निर्णीतम् ।

अपि च " **ऋग्गाथा कुम्ब्या तन्मितम् ।** " (ऐ० आ० ३।६।४)

' **अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः०** ' (बृ० उ० २।४।१०)

' **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः०** (मुं० उ० १।१।५)

इत्यादिप्रसिद्धब्राह्मणोपनिषदादिभ्योऽपि पूर्वं व्यासकृतो वेदविभागः, आहोस्वित् उत्तरत्रेति आशङ्कायां, पूर्वमेवेत्युक्ते वसिष्ठादिमहर्षीणामिव उपनिषदादिभ्योऽपि प्राचीनत्वं व्यासस्य तु असङ्गतमेव, येन वसिष्ठादिदृष्टानां ऋगादीनां विभक्तृत्वं व्यासस्याभ्युपगम्येत । अथ उत्तरत्रेत्युक्ते तत्तल्लक्षणतः सिद्धानां भिन्नरूपाणामपि तेषां ऋगादीनां एकराशेः पृथक्करणेन पुनर्विभागस्य सम्भवेऽपि प्रसिद्धेषु सर्वेषु ऋगादिवेदग्रन्थेषु लक्षणतः तथा विभागादर्शनात् असङ्गतत्वमेव । ऋक्साम्नोः लक्षणतः विभागेऽपि यजुर्वेदस्य लक्षणप्रयुक्तविभागाभावः तत्र ऋचामपि सत्वादिति भावः । तथैव ' **ऋचः सामानि जज्ञिरे, ऋचः सामानि यजूंषि** ' इति वेदमन्त्रेष्वेव श्रुतानां लक्षणतो आविर्भावादेव ततः प्रागपि विभक्तरूपाणां तेषामृगादीनां पुन-

---

दिखाई देता है । अच्छा, वह व्यासजीका किया हुआ समझा जानेवाला वेदका बँटवारा किस भाँतिका है ? अगर ऋग्वेदादि वेद अपने अपने लक्षणोंसे ही सिद्ध हैं तो भला किसमें इतनी मजाल है कि वह वेदोंका नया विभजन कर सके ? अच्छा, यदि कहो कि लक्षणसे सिद्ध पर स्वरूपसे विभिन्न चावल, जौ, गेहूँ वगैरहकी एक राशिको अलग करनेके समान व्यासजीने प्रवचनमें आसानी पैदा करनेके लिए ग्रन्थोंका विभाग किया हो, तो विख्यात यजुर्वेदमें सिर्फ यजुःमंत्रही मौजूद नहीं हैं, अतः समूचे यजुर्वेद ग्रन्थका यजुःपन नहीं है ऐसा बतायाही गया है । और दूसरी बात है कि मधुच्छन्द वगैरह बहुतसे ऋषियोंके देखे अनेक सूक्तोंका इकट्ठा संग्रह करके रचना करनेहारे, नाकि विभजन करनेवाले, उन उन शाखाओंके प्रवर्तक तथा प्रवचनकारी, ऋग्वेदमें शाकल जैसे, शुक्ल यजुर्वेदमें कण्वमाध्यन्दिन सदृश, कृष्ण यजुर्वेदमें तित्तिरी मैत्रायण वगैरह, सामवेदमें राणायन जैसे और अथर्ववेदमें शौनक इत्यादि ऋषि सर्वश्रुत हैं, लेकिन कहीं व्यासका नामतक नहीं सुना जाता। इतनाही नहीं किन्तु संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् वगैरह वेदग्रन्थोंमें, निरुक्त जैसे वेदांगमें तथा वेदसे जुडे हुए कल्पसूत्रादिकोंमें भी व्यासजीका वेदोंको बाँट देना प्रसिद्ध नहीं है । और वेदके अर्थपर विचार करनेवाले दो शास्त्रोंमें याने पूर्व एवं उत्तरमीमांसामें भी कहीं भी इसका न प्रस्तावही है तथा न निश्चयभी है । यदि ऐसी शंका प्रकट करनेपर कि जिनमें चारों वेदोंका नामनिर्देश पाया जाता है ऐसे विख्यात ब्राह्मण, उपनिषत् आदि ग्रन्थोंसे भी पूर्व व्यासने वेद विभाग किया हो या पश्चात्, ऐसा जवाब दिया जाय कि पूर्वकालमें यह विभागकार्य पूर्ण होचुका, तो वसिष्ठ वगैरह महर्षियोंके समान व्यासऋषि भी उपनिषदादि ग्रन्थोंसे पुराने ठहरेंगे, जो कि असंगतसा प्रतीत होता है, और जिससे वसिष्ठ आदि ऋषियोंके देखे ऋक् वगैरह मंत्रोंका विभाग करलेना व्यासका कार्य है ऐसा माना जा सकता है । अच्छा, ऐसा यदि उत्तर दें कि उन ग्रन्थोंके उत्तरकालमें यूं हुआ तो, विभिन्न रूपोंके रहनेपर भी उन विशिष्ट लक्षणोंके कारण सिद्ध माने गये उन ऋचादिकोंकी एक राशिको पृथक्करणद्वारा फिर विभक्त कर देना संभव होनेपर भी, सभी विख्यात ऋग्वेदादि ग्रन्थोंमें लक्षणके आधारपर वैसे विभागोंको नहीं पानेसे, यह कल्पना भी सुसंगत नहीं प्रतीत होती है । लक्षणोंके सहारे यद्यपि ऋचाओं एवं सामोंको विभाग किया जाय तोभी वास्तविक बात यही है कि उस भाँति लक्षणके आधार पर यजुर्वेदका विभाग नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें ऋचाएँ भी

विभागः अनुपपन्न एव ।

व्यासपूर्वो मन्त्रविभागः

अथ प्रवचनसौकर्यार्थं अल्पमेधसां एकैकवेदस्य अध्ययनलाघवार्थं च ऋगादिग्रन्थविभागमात्रं व्यासकृतमिति वचनमपि कल्पनामात्रमेवेति पर्यवस्यति, तत्तद्ग्रन्थप्रवक्तॄणां शाकल–तित्तिरि–माध्यन्दिनादीनामृषीणां प्रसिद्धेः, तत्र व्यासनामाप्रसिद्धेश्चेति प्रपञ्चितं पुरस्तात् । एवं सति वेदस्य चतुर्धा विभागे "निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्" इतिवत् क्लृप्तं निमित्तमात्रत्वमेव । तथा 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वं' इति व्यासस्य सर्वज्ञत्वादिप्रसिद्धिगौरवाद्युपोद्बलकं चेति परिशिष्यते ।

मन्त्राणामेव संहितात्वं, न ब्राह्मणानाम्

अथ एतेषु ऋग्यजुःसामाथर्वाख्येषु चतुर्ष्वपि वेदेषु मन्त्रात्मको भागः तद्ग्रन्थश्च संहिताशब्देन प्रसिद्धः । तेषां ग्रन्थानां संहितात्वं तथा संहिताशब्दवाच्यस्य तस्य शब्दराशेर्मन्त्रत्वं च मन्त्रावयवभूतानां वर्ण–पद–पादादीनां नियतपौर्वापरीभावादिनिबन्धनक्लृप्तत्वम् । तेन मन्त्राणां छन्दोवृत्तादिनिबन्धनतः सांहित्यमेष्टव्यम् । अत एव 'परः सन्निकर्षः संहिता' इति सूत्रितं पाणिनिना । तस्मात् नियतच्छन्दोनिबन्धनेनैव मन्त्राणां संहितात्वमभ्युपेतव्यम् । अत एव याजुषे आध्वर्यवे कर्मानुष्ठाने याजुषमंत्रप्रयोगावसरे "**देवस्य त्वा सवितुः० अग्नये जुष्टं निर्वपाम्यग्नीषोमाभ्यां**" इत्येव मन्त्रपाठेऽपि "**सवित्रे जुष्टं निर्वपामि, इन्द्राय जुष्टं निर्वपामि**" इति तत्तद्देवताभेदेन प्रयोजयितव्यानामूहमन्त्राणां न मन्त्रत्वमस्ति । तत्र प्रयोक्तृमतिकल्पितत्वेन यथोक्तछन्दोनिबन्धननियतपरमसन्निकर्षरूपसंहितात्मकमन्त्रत्वाभावात् । तदेतन्मीमांसितं जैमिनिना "**गुणशब्दस्तथेति चेत् । न समवायात्**" इति (जै० सू० ९।१।३८–३९) । तथा एतेषामूहवाक्यानां प्रयोक्तृमतिकल्पितत्वेन पौरुषेयत्वं च निर्णीतम् "**सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्यां । तदुक्तदोषम्**" इति (जै० सू० १०।२।१–२)

एवं पाठप्रवचनग्रन्थे अनाम्नातानां "**सूर्याय जुष्टं निर्वपामि**" इत्यादिरूपेण कल्पितानां ऊहवाक्यानां पौरुषेयत्वादेव

पायी जाती हैं । उसीतरह वेदमंत्रोंमें ही जो "ऋचाएँ एवं साम उत्पन्न हुए" "ऋचाएँ, साम और यजुः" इस ढंगके लक्षण बताये हैं, उन्हींसे उत्पन्न होनेसे उसके पहले ही विभक्त रूपवाले उन ऋचा वगैरहका फिर अलगाव करना अनुचितही जान पडता है ।

मंत्रोंका विभाग व्यासजीके पहले था

अब ऐसे भी निर्णयपर हम पहुँच जाते हैं कि, अल्पबुद्धिवाले लोगोंके लिए प्रवचनमें सुगमता हो तथा वे एक एक वेदके अध्ययनको शीघ्र समाप्त करने लगें इसलिए सिर्फ ऋग्वेद वगैरह ग्रन्थों का विभाग ही व्यासजीने किया ऐसा प्रतिपादन भी निरा काल्पनिक ही है, क्योंकि उन विशिष्ट ग्रन्थोंके प्रवचन करनेहारोंकी हैसियतसे शाकल, तित्तिरि, माध्यन्दिन आदि ऋषि विख्यात हैं पर उनमें व्यासजीका नाम सुतरां अप्रसिद्ध है । इस बातका उल्लेख हमने पहले ही किया है । ऐसा होनेपर भी वेदके चार हिस्से करनेमें 'हे अर्जुन! तू केवल निमित्तमात्र बन' इस ढंगपर व्यासजी केवल निमित्त ही है अन्य कुछ नहीं और 'समूचा संसार व्यासजीका जूंठन है' इस कहावतके अनुसार व्यासजीके सर्वज्ञत्व आदि गुणोंके गौरवकी पुष्टि करनेके लिए है, यही कहना है ।

संहितापन मंत्रोंकाही, नकि ब्राह्मणोंका

अच्छा, इन ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व नाम धारण करनेवाले चारों भी वेदोंमें मंत्रमय विभाग तथा वह ग्रन्थ भी संहिता शब्दसे पहिचाना जाता है । उन ग्रन्थोंका संहितापन और संहिता शब्दसे बतलायी उस शब्दराशिका मंत्रपन, मंत्रके घटक बने हुए वर्ण, पद, चरण इत्यादिकोंकी आगे या पीछेकी अवस्थितिके नियम पर निर्भर है । अतः छन्द, वृत्त आदिमें बँधे रहनेसे मंत्रोंका सांहित्य है ऐसा समझना चाहिए और इसीकारण पाणिनीके सूत्रमें कहा है कि 'अत्यन्त निकट संपर्कमें अवस्थित रहना संहिता भाव है ।' इसलिए, छन्दोंका बंधन निश्चित होनेसे ही मंत्रोंका संहितात्व निर्धारित होता है ऐसा मानना चाहिए ।

इसी कारण, याजुष एवं अध्वर्युके कार्यका अनुष्ठान करतेसमय यजुर्मन्त्रका प्रयोग करते हुए मूलमंत्रका पाठ एक ढंगका होनेपरभी उस उस देवताके विभिन्न होनेसे जिन ऊह मंत्रोंका प्रयोग कराना पडता है उनका मंत्रपन नहीं है, क्योंकि वहाँपर प्रयोजककी बुद्धिसे वे बनाये जाते हैं और पहले कहे ढंगपर छन्दका बन्धन

अमन्त्रत्वमपि निर्णीतम् " अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः " इति (जै० सू० २।१।३४) एवं च सति ऊहवाक्यानां पुरुषमतिकल्पितत्वेन मन्त्रत्वाभावे निश्चिते पारिशेष्यात् ब्राह्मणवाक्यवत् वाक्यत्वमेव। एतेन यथोक्तमन्त्रलक्षणाभावेन ब्राह्मणवाक्यानां न मन्त्रत्वं, ततश्च न संहितात्वं, चेति सिध्यति ।

अथ यजुर्वेदप्रस्तावः

" यजुर्यजतेः " इति यास्कनिरुक्तात् यज्ञप्रधानो यजुर्वेदः इति गम्यते । तदेतदृचैवानुश्रावितम्—

" **यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः** । " इति (ऋ० १०।७१।११)

त्वः एकः यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते निष्पादयति, सोऽध्वर्युर्यजुःप्रधानः " **यजुषाऽऽध्वर्यवम्** " इति ब्राह्मणम्। अत्र यास्कनिरुक्तम्- " यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेतेति। " (इति० नि० १।७)

तस्मात् यज्ञनिष्पादकत्वादध्वर्योः यजुःप्राधान्याच्च यज्ञप्रधानो यजुर्वेदः, यजुर्वेदप्रधानो यज्ञः इति च सम्पद्यते ।

वेदेषु यज्ञप्रतिपादकत्वेन यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्

अथ यज्ञात्मनस्तस्य परमपुरुषस्य यज्ञेनैव यजनीयत्वात् यज्ञस्यैव प्राधान्यं सर्वेष्वपि वेदेषु क्लृप्तम्। स च यज्ञः ज्ञानोपासनाक्रियादिरूपो वेदोपदिष्टः समस्तोऽपि धर्मः । तथा च मन्त्रवर्णः—

" **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्** । " इति (ऋ० १०।९०।१६;वा० य० ३१।१६)

'**द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः ध्यानयज्ञास्तथा परे ।**
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥' इति च स्मृतिः । (गी० ४।२८)

यज्ञार्थमेव सर्वेषामपि वेदानां प्रवृत्तिः । तथा च लगधः—

होनेसे निश्चित तथा शब्दोंके अत्यन्त निकट रहनेसे उत्पन्न संहितामय मंत्रका अभावही है । जैमिनीने इसीकी चर्चा सूत्र ९०।१।३८–३९ में की है । दूसरी एक बात है कि ये ऊहवाक्य प्रयोग करनेहारेकी इच्छासे कल्पित होते हैं अतः इन्हें पौरुषेय कहना ठीक है, देखो जैमिनीका सूत्र १०।२।१-२ । इसभाँति पाठप्रवचनग्रन्थमें संग्रहीत होनेपर तथा 'सूर्याय जुष्टं ' ऐसे तरीकेसे कल्पित होनेसे ये ऊहवाक्य पौरुषेय हैं इसीकारण इन्हें मंत्रपन नहीं मिलसकता यह निश्चित, देखो जै० सूत्र २।१।३४ । अब ऐसा निश्चय होनेपर कि, ये ऊहवाक्य पुरुषकी बुद्धिसे बनाये हैं अतः इन्हें मंत्र कहना ठीक नहीं, यही शेष रहता है कि ब्राह्मणवाक्योंकी तरह ये सिर्फ वाक्यमात्र ही हैं और कुछ नहीं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त प्रकारसे मंत्रोंके लक्षण नहीं पाये जाते हैं इसलिए ब्राह्मणवाक्य मंत्र नहीं कहे जासकते और नाहीं उन्हें संहितापन दिया जासकता ।

यजुर्वेदकी भूमिका

यास्कने निरुक्तमें कहा कि ' यजन से यजुः अतः' जानपडता है यजुर्वेद यज्ञप्रधान है और यह बात ऋचानेंही यूं बतायी है '**यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः**' ऋ. १०।७१।११; अर्थात् कोई एक यज्ञके स्वरूप को निष्पन्न करलेता है। वह अध्वर्युः यजुःप्रधान है तथा ब्राह्मणग्रन्थ में कहा हैं ' यजुःसे अध्वर्युका कार्य पूर्ण होता है ।" यास्कमुनिके निरुक्तके १।७ के अनुसार अध्वर्युः ' अर्थात् वह जो अध्वरको जोड दे या अध्वरका नेता बने । ' इस कारण सिद्ध हुआ कि अध्वर्युके यज्ञको चलाने में सहायता देनेसे तथा यजुःकी प्रधानता होनेसे यजुर्वेद यज्ञप्रधान है और यज्ञ वह है जिसमें यजुर्वेदका प्रमुखत्त्व स्पष्ट हो ।

वेदमें यज्ञका प्रमुख स्थान और उसका प्रतिपादन करनेसे यजुर्वेदका प्रधान स्थान निश्चित है

ध्यानमें रहे कि सभी वेदोंमें यज्ञकोही प्रमुख पद दिया गया है क्योंकि उस यज्ञमय परमपुरुषका यजनीयत्व यज्ञसेही होना है । वह यज्ञभी ज्ञानकी उपासना, क्रिया आदि घटनाओंसे पूर्ण एवं वेदमें बतलाया समूचा धर्म ही है। देखो यह ऋचा, ऋ.१०।९०।१६में जिसका अर्थ है "देवोंने यज्ञके द्वारा यज्ञका यजन किया, वेही प्रथम धर्म थे ।" गीतामें कहा है " द्रव्यमय, तपोमय, ध्यानसे पूर्ण और अन्यभी ज्ञान एवं स्वाध्याय युक्त यज्ञ हैं तथा यति लोकभी अपने व्रतोंको पूर्ण किये हुए हैं। "

" वेदाहि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः । " इति (वेदाङ्गज्यो०) यज्ञप्राधान्यादेव मनोमयस्यात्मनो यजुःशिरस्त्वं श्रुतिषु प्रसिद्धम् । " तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः तस्य यजुरेव शिरः । ' इति (तै० ब्रह्मोप० ३) सर्वस्य गात्रस्य शिरः प्रधानम् । इति प्रत्यक्षसिद्धं न्यायतत्वम्। अपि च " गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः " (ऋ० १।१०।१) " ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु । (ऋ० १०।७१।११) इति च मन्त्रवर्णात्, " ऋचैव हौत्रं क्रियते, यजुषाऽऽध्वर्यवं, साम्नोद्गीथम् " (ऐ० ब्रा० ५।३३)।

इति ब्राह्मणवचनाच्च ऋग्यजुःसाम्नां हौत्र-हवन-गानादिषु यज्ञार्थत्वेन विनियोगात्, सर्वेषामपि वेदानां यज्ञपरत्वेन लाक्षणिकं यजुर्वेदत्वमर्थतः क्लृप्तम् । सर्ववेदैर्ब्रह्मयज्ञसिद्धेश्च– " यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद्ब्रह्मयज्ञः सन्तिष्ठते । " इति श्रुतेः । (तै० आ० २।१०)

अपि च ' सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति० । तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ' (कठो० १।२।१५) इति श्रुतिनिगदितस्य सर्ववेदमूलभूतस्य ब्रह्मवाचकस्य प्रणवस्यापि यजुष्ट्वं, तथा ब्रह्मयज्ञादौ सर्वेषां वेदानामादौ तत्प्रणवानुवचनं च विहितमनुश्रूयते, तथाहि– ' ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः०– ओमिति प्रतिपद्यते एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत्परममक्षरम् ' इति । (तै० आ० २।११)

तथा ' ओमिति ब्रह्म, ओमितीद ँ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति । ओ ँशोमिति शस्त्राणि श ँसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ (तै० शि० उ० १।१।८।१)

इति ऋगादिवेदसाध्येषु सर्वेष्वपि यज्ञेषु यजुर्मन्त्रात्मकप्रणवपूर्वकमेव सर्ववेदमन्त्रानुवचनेन तद्यज्ञकर्मानुष्ठानविधानात्

सभी वेदोंकी प्रवृत्ति यज्ञके लिए ही है। लगधका वेदांग ज्योतिषका वचन है " यज्ञके लिए ही वेद प्रवृत्त हुए तथा यज्ञ भी संपन्न हुए हैं। " यज्ञको प्रधानता मिलनेसे ही मनोमय आत्माके मस्तिष्ककी जगह यजुःको प्रतिष्ठापित करना श्रुतियोंमें दीख पडता है। देखो तै० ब्रह्मोप० ३ जिसमें कहा है कि " अतः इस प्राणमयसे दूसरा मनोमय भीतर रहनेवाला आत्मा है; उसका मस्तक यजुःही है। " यह तो स्पष्ट है, कि सभी अवयवोंमें मस्तिष्कका स्थान प्रधान है। और ऋग्वेदमें १।१०।१ तथा १०।७१।११ में प्रतिपादन किये अनुसार तथा ऐतरेय ब्राह्मणके ५।३३ में जो कहा कि ' ऋचासेही होताका कार्य निष्पन्न होता है, अध्वर्युका यजुःसे तथा सामसे उद्गीथ। ' ऋक्, यजुः तथा साम हौत्र, हवन एवं गायनमें यज्ञके मतलबसे प्रयुक्त होते हैं इसलिए सभी वेदोंके यज्ञपरक बननेसे उनका लक्षण से पैदा होनेवाला यजुर्वेदपन अर्थसे सिद्ध जान पडता है। सभी वेदोंसे ब्रह्मयज्ञकी सिद्धि होती है तथा तैत्तिरीय आरण्यक २।१० में कहा है कि " जो एक भी ऋचा, यजुः या सामको लेकर स्वाध्यायका प्रारंभ करें तो ब्रह्मयज्ञ निष्पन्न होता है। " और कठोपनिषत् १।२।१५ के अनुसार ' सभी वेद जिस पदका विचार करते हैं उसीको मैं संक्षेपमें कहता हूँ, वह ओंकार है। ' इस भाँति श्रुतिके बतलाये, सभी वेदोंके मूलभूत ब्रह्मके वाचक प्रणव अर्थात् ओ३म् कारका भी यजुःपन, वैसेही ब्रह्मयज्ञके प्रारम्भमें, सभी वेदोंके प्रारम्भमें उसी प्रणवका उच्चारण करना आवश्यक माना गया है। जैसे कि तै० आ० २।११ में बताया है " ब्रह्मयज्ञसे यजन करता हुआ प्रणव का प्रतिपादन करता है, यही यजुः है, यही वाणी त्रयी विद्याके प्रतिपादक और यही परम अक्षर है। "

वैसेही, तै० शि० उप० १।१।८।१ में " ओंकारही ब्रह्म है, ओंकारही यह सब कुछ है, ओंकार अनुकरणमय है, प्रणवका उच्चारण करके सामगायन करते हैं, ओं शं कहके शस्त्रोंको बतलाना शुरु करते हैं, अध्वर्यु सोमरसके प्रत्येक घूँट पीते समय प्रणवोच्चारपूर्वक प्रशंसा करता है; ब्रह्मा ओं कहके सोमरस निचोडता है, ओंकार का उच्चार कर चुकनेपर अग्निहोत्रको आज्ञा दी जाती है, प्रवचन करता हुआ ब्राह्मण ओं कहके कहता है मैं ब्रह्मके निकट जाता हूँ, पश्चात् ब्रह्मको ही पाता है। "

इस प्रकार, ऋग्वेद आदि वेदोंसे सिद्ध किये जानेवाले सभी

यजुःप्रधानाः सर्वे वेदाः, यजुःप्रधानाः सर्वे यज्ञा इति सम्पद्यते ।

सर्वेषां वेदानां यजुष्ट्वम्

तथैव वेदत्रयसारभूतानां 'भूर्भुवः स्वः' इति प्रसिद्धानां तिसृणां व्याहृतीनामपि छन्दतः क्लृप्तं यजुष्ट्वम् । तासां व्याहृतीनां वेदत्रयसारभूतत्वात् वेदसाध्येषु प्राणायामब्रह्मयज्ञसन्ध्योपासनादिषु सर्वेष्वपि यज्ञेषु यजुर्मन्त्रात्मकसप्रणवव्याहृतिपूर्वकमेव गायत्र्याः जपादिकं तथा गायत्रीमुखेन च सर्वेषां वेदानामनुवचनं च विहितम् । 'ओमिति प्रतिपद्यते० त्रीनेव प्रायुङ्क्त भूर्भुवः स्वरित्याहैतद्वै वाचः सत्यम् । अथ सावित्रीं गायत्रीं त्रिरन्वाह पच्छोऽर्धर्चशोऽनवानम्' इति ब्रह्मयज्ञविधानम् (तै० आ० २।११)

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम् । प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥ (या० स्मृ०)

इति च प्राणायामविधिः ॥

'प्रणवः पूर्वमुच्चार्यो भूर्भुवः स्वस्ततः परम् । गायत्री प्रणवश्चान्ते जप्येष्वेवमुदाहृतम् ॥' (योगीश्वरः)

इति सन्ध्योपासनादौ जपविधिः ।

एवं 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (ऋ० १।१६४।३९)

'ओमित्येषा वाक् एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति च' (ब्राह्मणम्)

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति० ओमित्येतत्' (कठो० १।२।१५)

इत्यादि श्रुतिनिर्दिष्टब्रह्मवाचकयजुर्मन्त्रात्मकप्रणवोदितत्वात् सर्वेषामपि वेदानां यजुर्वेदत्वमिति सिध्यति ।

एवमेव सर्वपरित्यागेन सन्न्यासयोगेन केवलमात्मसाक्षात्कारार्थं यतमानानां नैष्ठिकं धर्ममारूढानां यतीनां तस्य परब्रह्मणोऽन्तरात्मनो ज्ञानाय जप-ध्यान-धारणाद्यवलम्बनाय च यजुर्मन्त्रात्मकं परं तत्प्रणवाक्षरमेवोपदिष्टम् 'ॐ खं ब्रह्म' (वा० य० ४०।१८) 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । अग्निर्देवता ब्रह्म इत्यार्षम् । गायत्रं छन्दं परमात्मं सरूपम् । सायुज्यं विनियोगम्' इति (म० ना० उ० १।३३)

यज्ञोंमें, यजुर्मन्त्रमय प्रणव अर्थात् ओंकारका मुखसे उच्चार करके ही सभी वेदोंके मंत्र पढे जाते हैं, पश्चात् वह विशिष्ट यज्ञ का अनुष्ठान पूर्ण किया जाय ऐसा विधान पाया जाता है अतः निश्चित हुआ कि सभी वेद यजुःप्रधान हैं तथा सभी यज्ञ यजुःप्रधान हैं ।

सभी वेदोंका यजुःपन

उसीतरह, तीनों वेदोंके मानों सारसर्वस्व मानी गयी तीन व्याहृतियोंका भी, जो 'भूर्भुवः स्वः' नामसे प्रसिद्ध हैं, यजुःपन छन्दसे बनता है । उन तीन व्याहृतियोंमें तीनों वेदोंका सार समाया हुआ है, इसलिए वेदसे सिद्ध होनेवाले प्राणायाम, ब्रह्मयज्ञ, संध्योपासना आदि सभी यज्ञोंमें यजुर्मन्त्रमय प्रणवसे युक्त व्याहृतियोंके साथही गायत्रीका जप वगैरह और गायत्रीसे प्रारंभ करके ही सभी वेदोंका प्रवचन निश्चित है । इस संबंधमें तै० आ० २।११में ब्रह्मयज्ञका विधान देखनेयोग्य है। याज्ञवल्क्य स्मृतिमें प्राणायामविधि बतलायी है कि 'प्रतिसमय प्रणवयुक्त तथा प्रारम्भमें व्याहृतियोंका उच्चार करके गायत्रीका जप करता रहे, यह तीनबार होनेपर प्राण का नियमन होता है ।' संध्योपासनादिके प्रारंभमें योगीश्वर के कथनानुसार 'प्रथम प्रणवका मुखसे उच्चार किया जाय, पश्चात् 'भूः भुवः स्वः' का उच्चार होवे, और अन्तमें गायत्री प्रणवकी बारी आती है, जिन मन्त्रोंका जप करना है उनमें यही विधि है।"

इसीप्रकार, 'ऋचो अक्षरे' ऋ. १।१६४।३९. 'ओमित्येषा वाक्' (ब्राह्मण) तथा 'सर्वे वेदा यत्पदं' काठ. १।२।१५. इत्यादि ढंगसे श्रुतिमें बतलाये ब्रह्मके वाचक तथा यजुर्मंत्रमय प्रणवसे उत्पन्न होनेसे सभी वेदोंका यजुःपन सिद्ध होता है

ऐसेही, सर्वस्वका परित्याग करके संन्यासके अंगीकारसे सिर्फ आत्मसाक्षात्कारके लिए प्रयत्न करने वाले तथा नैष्ठिक धर्मका सहारा लेनेवाले यतियोंको उस अन्तरतम में विद्यमान परब्रह्मकी जानकारीके लिए और जप, ध्यान, धारणादिका अवलंब करनेकेलिए उसी यजुर्मन्त्रमय परम प्रणव अक्षरकाही उपदेश दिया है । यजुर्वेदके अन्तमें 'ओ३म् खं ब्रह्म', म० ना० उ० के १।३३ में 'ओ३म् ही एकाक्षर ब्रह्म है अग्नि देवता तथा ब्रह्म है यह ऋषिका कथन है, गायत्र छन्द परमात्मासे अभिन्न है, सायुज्य विनियोग है ।' मांडू-

'ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं०, ओंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद०' इति। (मां०उ०१-१२)

'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' (मुं० उ० २।२।६) 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म। एतदालम्बनं श्रेष्ठम्। इति (कठो० १।२।१६-१७)

'ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं ससामभिर्यत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति' इति। (प्रश्नो० ५।७)

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छां० उ० १।१।१)

'पर (म) हंसव्रती यस्तु प्रणवाभ्यासशीलतः। यद्यनुत्पन्नविज्ञानो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
यावज्जीवं जपेन्मन्त्रं प्रणवं ब्रह्मणो वपुः' इति पाद्मे।

तस्मात् यज्ञप्राधान्यात् ज्ञानादिसर्वयज्ञपरत्वाच्च प्रणवव्याहृत्यादीनां ऋगादिसर्ववेदानामपि यजुर्वेदत्वमिति सिद्धम्। तथा च विष्णुपुराणवचनम्—

'एक एव यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्' इति।

'एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।' इति (भाग० ९।१४।४९)

"ओमिति प्रतिपद्यते एतद्वै यजुः।" इति। (तै० आ० २।११)

क्योपनिषत् के १।१२ में 'यह सब कुछ दृश्यमान जगत् ओंकार अक्षर ही है जो यह जानता है वह स्वयंही आत्मामें प्रविष्ट होता है क्योंकि ओंकार आत्मा ही है।' मुंडक उपनिषत् के २।२।६ में कहा है, आत्माका ध्यान करते समय, ओ३म् समझकर करो, तुम्हें कल्याण हो तथा अन्धकारके परे जानेमें हित हो।' कठ उप० के १।२-१५-१७ में 'यही एक अक्षर ब्रह्म है जो श्रेष्ठ आलंबन है।' प्रश्नोपनिषत् के ५।७ में 'कवि (क्रान्तदर्शी) उसे ऋक्, यजुः एवं सामसे जानलेते हैं, उस शान्त, जरारहित, अमृतमय, अभय, परे विद्यमान को ज्ञानी पुरुष ओंकारकी सहायतासेही पाता है।' छान्दोग्यके '१।१।१ में' 'ओंकार रूपी एक अक्षर की उपासना करे।' पद्मपुराणमें 'जिसने परमहंसका व्रत लिया हो वह प्रणवका अभ्यास करनेमें लगारहे और विज्ञानकी झलक न मिलनेपर इन्द्रिय-दमन करनेवाला वह विरक्त हो शरीरमें प्राणोंके रहतेतक ब्रह्म का मानों शरीर जो प्रणव है उसका जप करता रहे।'

इसलिए, यज्ञकी प्रधानता होनेसे तथा प्रणव व्याहृतियोंकीभी ज्ञानादि सभी यज्ञोंमें परिणति होनेसे यह सिद्ध हुआ कि ऋग्वेदादि समूचे वेदोंकोभी यजुर्वेदपन प्राप्त है। इस संबंधमें विष्णुपुराणका वचन देखिए—

'यजुर्वेद एक ही था उसे चार भागोंमें बाँट दिया।' भागवतकार का कथन भी ऐसा ही है 'पहले प्रणवरूपी तथा समूची वाणीका रूप धारण करनेवाला वेद एक ही था।' तै० अरण्यक के २।११ में 'ऐसा प्रतिपादन किया जाता हैं कि ओंकारही यजुः है।'

(क्रमशः)

श्री विष्णु महायज्ञ

(अध्यक्ष पं० श्री० **भगवत्प्रसाद मिश्र वेदाचार्य,** प्रोफेसर गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज बनारस का अभिभाषण)

प्रजापति ने प्रजागण की सृष्टि के साथ साथ 'यज्ञ' का भी सर्जन किया, और प्रजागणों को आदेश दिया कि—

"अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।"
(भ० गी० ३।१०)

'इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग अपने को बढाओ, और यह यज्ञ तुम्हारी मनोऽभिलाषाएं पूर्ण करे' । भगवान् के द्वारा दिए गए इस उपदेश से यह स्पष्ट है कि–हम पर यज्ञपुरुष का अनुग्रह आज ही से नहीं, अपितु सृष्टि के आरम्भ से नियमित चला आता है ।

यज्ञ क्या है?

जिस यज्ञ के द्वारा प्रजापति ने हमलोगों की मानसिक कामनाएं पूर्ण होने का आदेश दिया है, वह यज्ञ अग्निसन्तर्पण रूप है । अर्थात् अग्नि (देवता) के लिए सौमिक पदार्थों को देने की क्रिया ही यज्ञ है । श्रुतियों ने

"**पाङ्क्तो वै यज्ञः**" (श० ब्रा० १।१।२।१६)

इत्यादि वचनों से आधिभौतिक यज्ञ को पाँच अङ्ग युक्त बताया है। उन प्रधान पाँच अङ्गों का स्पष्टीकरण वायुपुराण मत्स्यपुराण, और ब्रह्माण्डपुराण में इस प्रकार किया गया है—

"देवानां द्रव्यहविषामृक्सामयजुषां तथा ।
ऋत्विजां दक्षिणानां च, संयोगो यज्ञ उच्यते ॥"

अर्थात् १—देवता, २—हविर्द्रव्य, ३-मन्त्र, ४-ऋत्विज् और ५—दक्षिणा इन पाँचों का सविधि एकत्र कार्यान्वित होना ही यज्ञ होता है । महर्षि कात्यायनादि * ने भी यज्ञलक्षण यही निश्चित किया है ।

इन यज्ञ के पाँचों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

देवता

सम्पूर्ण विश्व की सञ्चालिका एक महान् आत्मा की अनेक रूपापन्न दिव्य विभूति ही देवता है । प्रधानता देवताओं की तीन श्रेणियाँ हैं– १-आजानजदेवता, २-कर्मदेवता, ३-आजान देवता । इन तीनों श्रेणियों में से प्रारम्भ की दो श्रेणियाँ अपने सत्कर्म का फल भोग किया करती हैं । अर्थात् —हमलोग शरीरत्याग के बाद अपने सत्कर्म की योग्यतानुसार उक्त दोनों जातियों में से किसी एक में उत्पन्न होकर दिव्य लोकों में अपना फल भोग कर सकते हैं । तीसरी 'आजानदेवता' श्रेणी के सब देवता सर्वदा स्थायी, सृष्टि के प्रारंभ में प्रजापति से उत्पन्न किए गए हैं । इसका इतर श्रेणि के देवताओं की तरह पुण्य क्षीण नहीं होता है। वेदमन्त्रों द्वारा इन्हीं सूर्य चन्द्र, वरुण, रुद्र आदि आजानदेवताओं की स्तुतियों से तथा आहुतियों से सन्तुष्ट किया जाता है । यज्ञ के फल देनेका अधिकार भी इन्हीं आजानदेवताओं को है । आजान श्रेणी के प्रत्येक देवता दिव्यस्वरूप, मनुष्य की तरह चेतन, हाथ पैर आदि अङ्गों, एवं हाथी घोडा आदि भोग्य दिव्य पदार्थों से सम्पन्न रहते हैं । ये अपने दिव्यस्वरूप में सुखानुभव करते हुए, सांसारिक सम्पूर्ण वस्तुओं का आधिपत्य रखते हुए भी लोकस्थिति के उद्देश्य से सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल आदि अपुरुषविध प्रत्यक्ष दृश्य स्वरूप रखते हैं । प्राचीन काल में हमारे पूर्वज महर्षि इनके दिव्य चेतन पुरुषविध स्वरूप का भी दर्शन तथा इनसे बातचीत किया करते थे । और कभी कभी देवता भी उन महर्षियों के आश्रमों में आया करते थे ×। आज हम में दिव्य स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन की योग्यता नहीं है, क्योंकि हम अपने को उतने योग्य बनाने के शास्त्रीय उपायों–संस्कार, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, श्रौतस्मार्त-महायज्ञानुष्ठान, योगाभ्यास, तपश्चर्या आदि को भूल गए हैं । तथापि अब भी पूर्वाचार्यों के उपदिष्ट मार्ग से चलने पर हम देवताओं की प्रसन्नता से अपना मनोरथ सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं ।

इन आजान देवताओं के विषय में वेद में कहा गया है कि—"**इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति ।**" (श. ब्रा. १।२।५।२४) अर्थात् जिस प्रकार अनेक मन तेल को निकालने वाली मशीन अपने चलने की शक्ति के लिए दूसरों द्वारा दी गई कुछ तैलबिन्दुओं की अपेक्षा रखती ही है, या जिस प्रकार सकलभोगसंपन्न राजा बुभुक्षापीडित होकर शक्तिक्षीण हो जाता है, और अन्न की इच्छा करता ही है, उस प्रकार महैश्वर्यस-

* श्रौतसूत्र १।२।२॥ पूर्वमीमांसादर्शन ४।२।२८ ॥

× श्रीमद्भागवत ६।१० ॥

म्पन्न होते हुए भी देवतागण यज्ञ में दी गई आहुतियों की अभिलाषा करते रहते हैं। वे अपने अभिलषित द्रव्य—अमृत को पाकर अपनी भूख शान्त करते हैं +।

हविर्द्रव्य

देवताओंकी अभिलाषित तृप्ति के लिए जो पदार्थ दिये जाते हैं उन्हें 'हविर्द्रव्य' कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि—'हविष् देवताओं का जीवन है। हविष् अमर्त्यों (देवताओं) का अमृत है'— "**जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्**" (१।२।१।२०)। यद्यपि हविर्द्रव्य अनेक हैं, तथापि "**अमृताहुतिराज्याहुतिः**" (ऐ. ब्रा. २।१४), "**व्रीहीन् यवान् वा हवींषि**" (का. औ. १।९।१), "**तिलाः कृष्णा घृताभ्यक्ताः किञ्चिद्यवसमन्विताः**" (शान्तिरत्न), **होमं समारभेत् सर्पिर्यवव्रीहितिलादिना**" (शान्तिसार) इत्यादि श्रुतिस्मृतियों के वचनानुसार विष्णुमहायज्ञादिकों में तिल, जौ, चावल, घृत ही विशेषतया हविर्द्रव्य हैं। श्रुति का आदेश है कि—'जिस समय हविर्द्रव्यों को यजमान (दाता) देवताओं के उद्देश्य से देता है उस समय यज्ञाङ्गभूत सब देवता उस दाता का बहुत उपकार मानते हैं। और उसकी अभिलाषाओं को पूर्ण करते हैं। ×' एक बार हविर्द्रव्य का जितना अंश देवताओं को दिया जाता है उसे 'आहुति' कहते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि— "**आहुतयो वै नामैता यदाहुतयः एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति, तदाहुतीनामाहुतित्वम्, ऊतयः खलु वै ता नाम याभिर्देवा यजमानस्य हवमायान्ति, ये वै पन्थानो याः स्रुतयस्ता वा ऊतयस्त उ एवैतत्स्वर्गयाणा यजमानस्य भवन्ति**" (१।२)—'आहुति एक प्रकार से आहूति हैं, क्योंकि इन आहुतियों के द्वारा यजमान देवताओं को आहूत करता है अर्थात् बुलाता है। इन आहुतियों को रक्षक होने के कारण 'ऊति' भी कहा जाता है। ये आहुतियाँ फल प्राप्त करने की सडकें या गलियाँ हैं। इनके द्वारा यज्ञकर्तृगण अभीप्सित फल प्राप्त करते हैं।' हवनीय द्रव्यों की आहुति देने में अपना मनमाना परिमाण नहीं करना चाहिए, जिस द्रव्य के लिए जितना परिमाण शास्त्रों में विधान किया गया है उतनाही रखना चाहिए। हविर्यज्ञकांड में कहा है कि—"**स यावन्मात्रमिवैवावद्येत्। मानुषं ह कुर्याद् यन्महदवद्येत्, व्यृद्धं ह वै तद् यज्ञस्य यन्मानुषं, नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति, तस्माद् यावन्मात्र मिवैवावद्येत्**" (७।२।९) — अर्थात् 'यजमान को देवताओं के लिए शास्त्रीय परिमाण से ही हविर्द्रव्य देना चाहिए। अधिक परिमाण करने से उस यज्ञ में मानुषधर्म हो जाता है। यज्ञीय देवधर्म में मानुष धर्म का संमेलन अच्छा नहीं है, इसलिए शास्त्रोक्त प्रमाण से ही हविष् देना चाहिए।' शास्त्रीय विधान से दिए गए थोडे भी हविष् को देवता पर्वतवत् मान लेते हैं अर्थात् वे उसी हविष् से सन्तुष्ट हो जाते हैं। यह सूक्तवाकब्राह्मण में बतलाया गया है कि-"**यद्धै देवा हविर्जोषयन्ते तदपि गिरिमात्रं कुर्वते**" (१।९।१।१०) हवनीय द्रव्य को अग्नि में छोडा जाता है। इसका कारण यह है कि —'अग्नि देवताओं का मुख है'। इस अग्निरूप मुख के द्वारा ही सब देवता अपना अपना भाग ग्रहण करते हैं। अग्नि में हवन करना देवताओं के मुख में ही देना है।" "**स यदग्नौ जुहोति तद्देवेषु जुहोति**" (श० ब्रा० २।३।१।१९)। श्रुतियों ने यह भी कहा है कि—'हविष् अग्नि में पक जाने से अमृत हो जाता है' *। देवताओं का आहार अमृत है, इसलिए हविर्द्रव्य को अग्नि में छोडा जाता है।

वेदमन्त्र

उक्त हविर्द्रव्य को देवताओं के पास पहुँचाने के लिए तथा यज्ञसम्बन्धी क्रियाओं में विनियुक्त होनेवाले जिस नियमित पदसमूह का उच्चारण किया जाता है उसको 'मन्त्र' कहते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्य ने मन्त्र शब्द का निर्वचन 'मन्' धातु से किया है। ÷ पांचरात्र संहिताओं में कहा गया है कि—'मनन

+ देवताओं का विशेष परिज्ञान, 'सरस्वतीसुषमा' काशी १।१ में मेरे 'श्रौतदेवताविज्ञानम्' लेख से प्राप्त करें।
× 'यावतीभ्यो ह वै देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्ते क्रमेण हैव तास्तेन मन्यन्ते, यदस्मै तं कामं समर्धयेयुर्यत्काम्या गृह्णाति' (श० ब्रा० १।१।२।१९)

* 'एतद्वै हविरमृतं भवति यदग्निना पचन्ति' (श. ब्रा. ६।२।१।९)
÷ निरुक्त-७।१२ ॥

करनेवाले की त्राण=रक्षा, करते हैं इसलिए मन्त्रों को मन्त्र कहा जाता है। ये मन्त्र मननकर्ता को अपना धाम (लोक) भी प्राप्त करा देते हैं×।' यह तो लौकिक व्यवहार से ही स्पष्ट है कि—प्रधानतया वाणी के द्वारा ही कोई किसी से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। वाणी के माधुर्य या उग्रता पर प्रधानतया शत्रु मित्र का कार्य होता है। वाणी के ही आश्रय से संसार का कार्य सुचारुरूप से चलता है+। मन्त्र भी वाङ्मय हैं, इसलिए सम्पूर्ण संसार का अनुग्रह निग्रह मन्त्रों द्वारा किया जाता है। या दूसरे शब्दोंमें इस तरह कहिये कि —मन्त्रों की उत्पत्ति शुद्धतम अमृत नाद से हैं, इसलिए मन्त्र शुद्धतम आनन्दमय अमृत है। अमृत ही संसार का जीवन है। अतः मन्त्ररूप ही विश्व है। जैसा कि ईश्वरसंहिता (३।८२) में बताया है—

"वाचि मन्त्राः स्थिताः सर्वे, वाच्यं मन्त्रे प्रतिष्ठितम्। मन्त्ररूपात्मकं विश्वं स बाह्याभ्यन्तरं ततः॥"

यज्ञ में देवताओं को प्रसन्न करना है। अतः उनके अनुकूल व्यवहार के साथ साथ सुन्दर परिष्कृत वाणी का भी प्रधान सहयोग आवश्यक है। देवताओं के लिए मन्त्रात्मिका वाणी की नियमितता इसलिए है कि—मनुष्य का ज्ञान अनित्य है। अतएव मनुष्य एक दिन में बोले गए अपने शब्दों को दूसरे दिन ठीक पहिले दिन के अक्षर-क्रम से नहीं बोल सकता है। देवता नित्य ज्ञानसंपन्न हैं। वे अपने सम्पूर्ण व्यवहारों को सदा नियमित रखते हैं ❀, इसलिए तथा जिस प्रकार राज्य शासन की स्थिरता के लिए नियमों का निश्चित करना स्वाभाविक होता है उसी प्रकार नित्यज्ञानसंपन्न देवताओं के सन्तोष होने की स्थिरता के लिए भी वाणी के नियमों का निश्चित करना अत्यावश्यक होता है। उन्हीं नियमों का निश्चत स्वरूप—वेदमन्त्र हैं। वेद चार हैं। उनके मन्त्रों का ऋग्, यजुः, साम, अर्थात् पद्य, गद्य, गान, ये तीन रूप हैं। इसलिए चारों वेदों को 'त्रयी' शब्द से भी कहा जाता है। मन्त्रों में स्वर और वर्ण के उलटा हो जाने से मन्त्रों द्वारा किए गए कर्म एवं फल में विपरीतता हो जाती है ÷। इसलिए प्राचीन आर्षपरंपरा में त्रैवर्णिक के लिए उपनयन होने के बाद ब्रह्मचर्याश्रम में आज्ञा दी जाती है कि—**"ब्राह्मणेन ⊠ निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"** (महाभाष्य, पस्पशाह्निक) – 'त्रैवर्णिक को बिना किसी उद्देश्य के षडङ्ग वेद का अध्ययन एवं ज्ञान संपादन करना चाहिए'। इस आदेश का भारतवर्षीय त्रैवर्णिक निरन्तर पालन करते रहते थे। व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **"ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते"** (४।३ १०१) —'गाँव गाँव में काठक एवं कालापक नामक वेदशाखाओं का अध्ययन अध्यापन होता है' ऐसे प्रयोगों का उल्लेख करके अपने समय के वेदप्रचार का परिचय दिया है। आज हम वेदाध्ययन से उदासीन हैं, वैदिक मूलतत्त्वों के अविचार से हम अपनी संस्कृति के प्रति दूषित विचार या अश्रद्धा प्रगट करते हैं। यह भी एक भारतवर्ष के अवनति में प्रधान कारण कहा जाता है। परन्तु हर्ष है अब कुछ भारतीय इस ओर सचेत होने की चेष्टा कर रहे हैं। ईश्वर हम भारतीयों को सुबुद्धि देवे जिससे हम पुनरपि वेदप्रिय बनें और इनके द्वारा अपना उद्धार करें।

ऋत्विज् या ब्राह्मण

यज्ञ के कार्यों का यथाविधि अनुष्ठान करने या करवाने के लिए जिस विद्वान् ब्राह्मण को वरण—अर्थात् शास्त्रीय वस्तु, देकर अपनाया जाता है उसे 'ऋत्विज्' कहते हैं। ब्राह्मण की यह ऋत्विज् संज्ञा वरण लेने के बाद होती है। ऐतरेय ब्राह्मण (९।८) में "**ऋत्विजि हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितः**" ऐसा कहा गया है। अर्थात् यज्ञ का संपूर्ण स्वरूप ऋत्विजों पर ही है। ऋत्विज् होकर कर्म करने का अधिकार ब्राह्मणों को ही है क्योंकि धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण जातिको ही अध्ययन, यजन,

---

× 'मननान्मुनिशार्दूल त्राणं कुर्वन्ति वै यतः। ददते पदमात्मीयं तस्मान् मन्त्राः प्रकीर्तिताः॥ ई० सं० ३।७९॥

+ 'वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति' (श. ब्रा. १।३।२।१६)

❀ 'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे' (निरुक्त १।२)

÷ 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
—पाणिनीयशिक्षा ५२।

⊠ उपलक्षणमेतत् क्षत्रियवैश्ययोरपि।

दान, अध्यापन, यांजन, प्रतिग्रह रूप षट्कर्म का अधिकार दिया गया है *। इन षट्कर्मों में आदि के तीन कर्म त्रैवर्णिक मात्र के लिए नित्य हैं। अन्त्य के तीन कर्म ब्राह्मणों की जीविकारूप में शास्त्रकारों ने विधान किए हैं। दूसरा कारण यह है कि—सृष्टि के प्रारंभ से ही ब्राह्मणों का देवताओं से घनिष्ट संबन्ध रहा है। देवताओं के अत्यन्त संबन्ध होने से इतर वर्ण ब्राह्मणों द्वारा देवताओं को हविष् दिलाया करते थे। ब्राह्मणगण देवता और मनुष्य दोनों का उपकार + करने के लिए मनुष्यों को उपदेश देकर यज्ञादि में प्रवृत्त कराते रहे हैं। इस प्रकार देवता और मनुष्यों के परस्पर उपकार कर्म में ब्राह्मणों का एक प्रकार से दूतत्व रहता था। इसीलिए तैत्तिरीय संहिता (१।७।३) में ऋत्विजों को देवताओं का दूत बतलाया है—" **देवदूता वा एते यदृत्विजः** "। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।४।४) में ब्राह्मणों तथा देवताओं का अत्यन्त संबन्ध रहने के कारण यह कहा गया है कि—"**ब्राह्मणो वै सर्वा देवताः**" – ब्राह्मण सब देवताओं का स्वरूप है।' सायणाचार्य ने भी एक श्रुति का उल्लेख किया है–"**यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति** "–जितने देवता हैं वे सब वेदवित् ब्राह्मण में निवास करते हैं। शतपथ ब्राह्मण (२।२।२।६) में देवताओं का दो विभाग बताया है। एक दिव्यदेव–इन्द्रादि, दूसरे मनुष्यदेव—ब्राह्मण। लोक में भी प्रसिद्धि है कि–

"**देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।**
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवताः॥"

श्रुतियों के आदेश ही पुराण एवं स्मृतिग्रन्थों में ब्राह्मणों के महत्ताबोधक वचनों एवं आख्यानों द्वारा स्पष्ट किए गए हैं। श्रुति ने कहा है कि–ब्राह्मण जब वरण किए जाते हैं तो अमानुष (देवस्वरूप हो जाते हैं। "**अमानुष इव वा एतद्भवति यदार्त्विज्ये प्रवृते** " (श० ब्रा० १।९।१।२९)ऋत्विक् का कार्य करते हुए यज्ञ में वह जो कुछ प्रार्थनादि करता है उसका फल यजमान को ही प्राप्त होता है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

"**यां वै काञ्च यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा** " (श. ब्रा. १।९।१।२१)।

दक्षिणा

'दक्षिणा' उस देयद्रव्य को कहते हैं जो देवता और ब्राह्मणों को पूजा या यज्ञ के अन्त में दिया जाता है। निरुक्तकार यास्क ने × तथा भगवती श्रुति ने भी यह स्पष्ट उद्घोषित किया है कि–यज्ञ में यदि प्रमाद, अनवधानता वश कोई त्रुटि रह जाय तो वह दक्षिणासे परिपूर्ण हो जाती है। दक्षिणा देवता और ब्राह्मण दोनों को समर्पित की जाती है, परन्तु यज्ञ के पश्चाङ्गों में दक्षिणा शब्द ब्राह्मणों को यज्ञान्त में दी जानेवाली दक्षिणा के उद्देश्य से ही प्रवृत्त है। शतपथब्राह्मण (२।२।२।६) में ब्राह्मणों के देवत्वप्रतिपादन के साथ साथ कहा गया है कि–

" **द्वेधा विभक्त एव यज्ञः, आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुवुषायनूचानानाम्, आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषोऽनूचानान्, त एनमुभये देवाः प्रीताः सुधायां दधति।** "

'अर्थात् यज्ञ में देवताओं को संतुष्ट किया जाता है। देवता दिव्य और मानुष भेद से दो प्रकार के हैं। देवताओं के द्वैविध्य से यज्ञ भी दोनों देवताओं को अपना अपना भार देकर संतुष्ट करता है। दिव्यदेवताओं की आहुतियाँ भाग हैं। मनुष्यदेवताओं (ब्राह्मणों) की दक्षिणा भाग है। आहुतियों से दिव्यदेवता प्रसन्न होते हैं। दक्षिणा से मनुष्यदेवता सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार दोनों देवता प्रसन्न होकर यजमान के सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करते हैं।' कृष्णयजुःसंहिता (१।७।३) में कहा गया है कि—"**परोक्षं वा अन्ये देवा इज्यन्ते, प्रत्यक्षमन्ये**" –यज्ञ में एक देवता दिव्य—विष्णु आदि अप्रत्यक्ष ही पूजित होते हैं, दूसरे देवता ब्राह्मण—प्रत्यक्ष रूप में पूजित होते हैं। यह यज्ञ के प्रधान पाँच अङ्गों की स्थूल रूपरेखा है।

क्या यज्ञ आवश्यक है ?

भगवती श्रुति ने कहा है कि –"**ऋणं ह वै जायते योऽस्ति**

* 'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ' मनुस्मृति १०।७६ ॥
' ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्षप्रतिषेधादितरयोः ' का० श्रौ० १।२८ जैमिनीयदर्शन १२।४।४२–४७॥

\+ गीता ३।११ ॥

× निरुक्त १।७॥ श. ब्रा. १।२।२।१ ॥

स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्ये-भ्यः ॥"

(श० ब्रा० १।७।२।१)

मनुष्य के जन्म लेते ही उसके चार ऋण (कर्ज) हो जाते हैं-१-देवऋण, २-ऋषिऋण, ३-पितृऋण, ४-मनुष्य ऋण। अथर्ववेद में प्रार्थना है कि- +'हम सब इस मृत्युलोक, दूसरे अन्तरिक्ष लोक, तीसरे द्युलोक से अनृण (कर्जरहित) रहें। हम अपने गन्तव्य सब मार्गों को ऋणरहित होकर पार कर जावें।' इससे यह उपदेश मिलता है कि मनुष्य को इन चारों ऋणों का चुकाना परम आवश्यक है। इन चारों ऋणों में से १ —ऋषिऋण ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन से, २— पितृऋण धर्म्य सन्तान से, ३ — मनुष्यऋण मनुष्यों के स्वागतादि से चुकाया जाता है। ४ देवऋण के लिए श्रुति कहती है कि-" **स यदेव यजते तेन देवेभ्य ऋणं जायते, तद्येभ्य एतत्करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति।'**

(श० ब्रा० १।७।२।२)

देवऋण को चुकाने के लिए मनुष्य जब यज्ञ करता है तब मनुष्य का ऋण देवताओं पर चढ जाता है। देवतागण मनुष्यों के ऋणके बदले में फल देकर उऋण हो जाते हैं।

इस प्रकार वेदवचनों से यह सिद्ध होता है कि देवताओं के जन्मसिद्ध कर्जा चुकाने के लिए प्रत्येक मनुष्य का यज्ञ करना परम आवश्यक कर्तव्य है। इसके बिना किए जन्मान्तरीय कर्म-लब्ध सुख से ही अपनेको सुखी समझना कर्जा के रुपयों से घी पीनेवाले मनुष्य की तरह अज्ञता है।

मनुष्य या चोर

भूमिस्थित प्रत्येक पदार्थ सोम होने के कारण द्युलोकस्थित देवता स्वरूप अग्नि के पास जाना चाहते हैं, परन्तु उन पदार्थों को मनुष्य रूप अग्नि आक्रमण करके अपने उपभोग में ले लेता है। इस तरह देवताओं की वस्तु हरण करने के कारण मनुष्य चोर हो जाता है। इसलिए शास्त्रों में कहा है—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।"

(भ० गी० ३।१२)

—अर्थात देवताओं के पदार्थों को जो उनके विना दिए खाता है वह चोर है, अत एव दण्डनीय है। ऋग्वेद में भी स्पष्ट रूप से कहा है-

"मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी "

(ऋ० १०।११७।६)।

अनजान मनुष्य व्यर्थ अन्न बरबाद करता है। अन्न की बरबादी मनुष्य का मरण है, क्योंकि वह अज्ञतावश उस अन्न के द्वारा न तो सूर्य देवता की पुष्टि करता है और न अपने सजातीय देवता, अतिथि, गुरु, विप्रादिकों को ही सन्तुष्ट करता है। इसलिए जो अकेला ही अन्न (सोम) का उपभोग करता है वह केवल पाप ही खाता है। इसी वेदादेश को गीता में वह भगवान् ने " **भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्** " (३।१३) इन शब्दों में कहा है। यदि उन देवताओं के प्राकृतिक सौमिक पदार्थ उन्हें ही समर्पण कर दिए जाते हैं, तो वे उनसे तृप्त होकर उनको निर्मल बनाकर पुनः नीचे की ओर ही छोड देते हैं। छोडा गया सोम परिशुद्ध आनन्दमय अमृत है। यह पूर्ण तृप्ति, बुभुक्षा की पूर्ण शान्ति करता है। इस शुद्ध अमृत के मिलते हुए भी चोरी करना हम लोगों की परम अज्ञता है। ऐकपदिक काण्ड (३।१।२०) में स्पष्ट कहा है कि—

" या वै प्रजा यज्ञे अनन्वाभक्ताः पराभूता वै ताः, एवमेवैतया इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञमुख आभजति "

'जो प्रजा यज्ञ में सहयोगी नहीं है वह पराभूत है-कर्जे खाने तथा चोर होने के कारण परतन्त्र है। और जो यज्ञ में सहयोग देनेवाली प्रजा है वह अपराभूत है-कर्जा पटा देने तथा सज्जन होने के कारण स्वतन्त्र है।'

यज्ञ के अनुष्ठान के लिए उन महात्माओं की भी प्रवृत्ति होनी चाहिए जो मुक्तसङ्ग रहते हुए भी परोपकार की भावना रखते हैं। क्योंकि भगवान् ने कहा है—

" यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर " (गी० ३।९),

+ अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम (६।११७।३)।

" तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्। (३।१५) गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।" " यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।" (गी.४।२३)। इत्यादि।

यज्ञ ही फल देता है

यह तो पूर्वकथन से परिज्ञात हो ही गया है कि-यज्ञ देवताओं के उद्देश्य से किया जाता है, तथापि देवता यज्ञ में अंगरूप से ही रहते हैं। देवता फल देने का सामर्थ्य रखते हैं, तब भी यज्ञ ही फल देता है।

मीमांसकोंके मतमें-यज्ञ क्रियारूप होनेसे नश्वर है। इसलिए फलप्राप्ति के लिए यज्ञ के द्वारा एक ' अपूर्व ' उत्पन्न होता है, जो फलभोग पर्यन्त स्थिर रहता है। यह अपूर्व ही यजमान को पशु-पुत्र-स्वर्गादि फल प्राप्त करता है। वेदान्तियों के मत में फलदाता देवता (ईश्वर) है। ईश्वर सब प्राणियों के प्रति समान है, और न्यायकर्ता है। इसलिए कर्म (यज्ञादि) के अनुरूप उस मनुष्य को पशु-पुत्र-स्वर्गादि प्रदान करता है। कर्मानुरूप फल देने के कारण ही ईश्वर में विषमता नहीं है। यज्ञ अचेतन नाशवान् क्रिया है इसलिए ईश्वर ही उसका फल देता है।

यह मीमांसक और वेदान्तियों का मत आपस में विरुद्ध प्रतीत होता है। इसका समन्वय इस प्रकार समझना चाहिए कि—जिस प्रकार कोई उच्च पदाधिकारी अपने अधीन कार्यकर्ता की उन्नति या अवनति कर सकता है, इसलिए वही उन्नति या अवनति में कारण माना जा सकता है। तथापि यदि वह कार्यकर्ता अपना कार्य सावधान होकर नियमानुसार करता है तो अवनत करने में समर्थ अधिकारी उसे अवनत करने में समर्थ नहीं हो सकता है। तथा कार्यकर्ता की अनवधानता से अव्यवस्थित कार्य करने पर उन्नति करने में समर्थ भी अधिकारी उसे उन्नत बनाने में समर्थ नहीं हो सकता है। इस कारण कार्यकर्ता की उन्नति या अवनति में उसका कर्म ही कारण है। इस प्रकार ही देवता फल देने में समर्थ रहते हुए भी यज्ञ के अनुष्ठान के बिना किए फलप्रद नहीं होते। अतः देवताओं के फलदातृत्व रहते हुए भी यज्ञ ही फलदाता समझा जाता है। अतएव ब्राह्मणात्मक वेदभाग में कई स्थलों पर यज्ञ को ही फलप्रद बताया है—

"यज्ञं वा एष जनयति यो यजते, एतेन ह्युक्ता ऋत्विजस्तन्वते तं जनयन्त्यथाशिषमाशास्ते तामस्मै यज्ञ आशिषं सन्नमयति यामाशिषमाशास्ते यो मामजीजनतेति।" (श०ब्रा०१।९।१।२)

' जो यज्ञ करता है वह यजमान उस यज्ञ को उत्पन्न करता है। यजमान के आमन्त्रण से ऋत्विज् लोग यज्ञ को सांगानुष्ठान द्वारा बढाते हैं। इसके द्वारा श्रद्धालु + यजमान जो चाहता है उसे यज्ञ पूर्ण सफल करता है। इसलिए देवता फलदाता है, तब भी यज्ञ ही फल देता है।

यज्ञरहस्य

यहाँ यह बताना अनावश्यक न होगा कि यज्ञ का वास्तविक रहस्य क्या है। इसके लिए संक्षेप में यही समझाना चाहिये कि—विश्व की संचालिका शक्ति है ' देवता शक्ति ' देवताओं का आहार है सोम। देवता अपने खाने के लिए सोम का उत्पादन स्वयं ही करते हैं, परन्तु अपने उत्पन्न सोम को खिलाने के लिए मनुष्य की, तथा उत्पादन समर्थ रहते हुए भी मनुष्य के प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये देवता समय पर अपना आहार सोम चाहते रहते हैं। उन्हें अपने समय में पर्याप्तरूप से सोम न मिले तो वे क्षुधापीडित रहते हैं। तथा बिलकुल न मिलने पर उस पदार्थ को छोडकर चले जाते हैं, जिससे वह पदार्थ नष्ट हो जाता है। इसका स्थूल उदाहरण यह ही समझिए कि पौधे अर्थात् तद्गतदेवता पर्याप्त जलरूप सोम को न पावें तो वे मुरझाकर अपनी भूख प्रगट करते हैं। यदि इस भूख को समझकर पुनरपि समय से सोम दे दिया जाय, तो वे पूर्ववत् अपने स्वरूप में हरेभरे रह सकते हैं। और यदि उनको सोम देना बिलकुल बन्द कर दिया जाय, तो देवता उसे छोड देंगे, जिस कारण वह पौधा सूखकर नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार मनुष्य अपने में यदि अन्नरूप सोम को देना बन्द या अपनी मात्रा से कम कर दे तो उसके शरीर स्थित देवता विकार या शक्तिहीनता उत्पन्न करके अपनी बुभुक्षा प्रगट करेंगे। यदि देवताओं को सोम नियमानुसार इतना पर्याप्त दे दिया जाय, कि वे सामयिक क्षुधा शान्त करके इकट्ठा भी रख लें तो जब तक वह एकत्रित सोम रहेगा तब तक उनकी तृप्ति एवं कार्यशक्ति ठीक रहेगी।

+ ' श्रद्धया सत्यमाप्यते.' वाजसनेय संहिता १९।३०॥ गीता १७।२८॥

इस सिद्धान्त में यह भी जान लेना चाहिए कि–संसार में दो प्रकार की वस्तुएं हैं ×। उन दोनों को अग्नि-सोम, या अत्ता-अन्न, या भोक्ता-भोग्य, या प्राण-रयि कहा जाता है। अग्नि खाने वाला, सोम खाद्य होता है। जो अग्नि सोम का भोक्ता है वह अग्नि किसी अग्नि के प्रति सोम अर्थात् भोग्य भी हो जाता है। जिस तरह ओषधियाँ (गेहू आदि) जलरूप सोम का भक्षण करती हैं, तथापि मनुष्य के लिए वे स्वयं सोम रूप में उपस्थित होती हैं। प्रत्येक सोम में मलिन और शुद्ध दोनों प्रकार के अंश रहते हैं। अग्नि अर्थात् देवता भी भिन्न भिन्न रहते हैं। प्रथमतः सोम जिस अग्नि में गिरता है उस अग्नि में जिस मात्रा के सोम ग्रहण करने की शक्ति अभिव्यक्त है, उस मात्रा के सोम को ही खाकर वह तृप्त हो जाता हैं, और शक्तिशाली बना रहता है। अग्नि के द्वारा अपने मात्रानुरूप सोम खा लेने पर उस सोम का उस अग्नि के लिए मलिनभाग निकल जाता है। और वह सोम जिसे वह अग्नि नहीं खा सका पहिले की अपेक्षा शुद्ध तथा हलका होकर ऊपर की ओर उछलता है। ऊपर उपते समय उस सोम को खाने की शक्ति-वाला अग्नि उसको खाता है। खाने पर पूर्ववत् सोम में से अग्नि के अनुरूप मल निकल जाता है। इस प्रकार जहां तक अग्नियों का विकास है वहां तक उपरिकथित शोधनक्रिया से सोम की शुद्धि होती रहती है। अग्निमण्डल के बाहर बचा हुआ सोम परमनिर्मल शुद्ध अमृत रूप से रहता है। क्रमशः इस शुद्धतम सोम के एकत्र होने पर सहस्रदल कमल में घनीभूत सोममय बिन्दु हो जाता है। इसी बिन्दु को शास्त्रों में चन्द्रबिन्दु भी कहा जाता है। यह चन्द्रबिन्दु अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से द्रुत होकर नीचे की ओर टपकता है। इस टपकने को योगिजन अमृतस्राव या सुधाक्षरण कहते हैं। इस परिशुद्धतम सोम के सूक्ष्मकण से देहस्थ देवता परम आप्यायित हो जाते हैं और समग्र देह मन प्राण इन्द्रिय प्रभृति भी आप्यायित होकर आनन्दमग्न होजाते हैं।

इस अग्नी-षोम क्रिया में अग्नि (देवता) द्वारा सोम का ग्रहण, ग्रहण किए सोम को निर्मल बनाकर छोडना, छोडे गए अमृत से तृप्ति होना ही प्रधान बातें हैं। यही यज्ञ का रहस्य है। इस रहस्य को स्पष्ट रूप में इस तरह समझिए कि—देवतागण यज्ञ के द्वारा अपने पदार्थों को ग्रहण करते हैं। यह ग्रहण करना ही अग्नि में छोड़ी गई आहुति का सूर्य के पास पहुँचना है। देवताओं का उसको निर्मल बनाकर छोडना ही वृष्टि है। उस वृष्टिरूप अमृत के द्वारा पूर्ण तृप्ति पाना ही लोकतृप्तिसाधन अन्न की प्रभूत मात्रा में उत्पत्ति है।

इस समय क्या करें ?

आज भारत ही नहीं अपि तु विश्व अशान्तिग्रस्त है। हम भारतवासी अपने महत्त्व को भूल रहे हैं। यदि कुछ स्मरण करते हैं तो अपने को इतना परिक्षीण पाते हैं, कि हमें अपना पूर्व प्राप्त महत्त्व स्वप्न समझ पडता है। भारत पर आपत्तियों के पहाड टूटते से दिखाई पड रहे हैं। हम स्वयं निर्बल हैं, दूसरे उदासीन हैं। भारतवासियों ने अपने प्रमाद में रहकर दूसरों की शिक्षा से प्रभावित होकर धर्म में अरुचि तथा अधर्म का आश्रयण किया है। देवताओं का आप्यायन करना छोड दिया है। इस कारण "**अतर्पिता देहाद्रुधिरं पिबन्ति**" (पा० गृ०) 'देवताओं का तर्पण न करने पर वे देह से रुधिर पीते हैं' का शास्त्रादेश–रणचण्डी का विशाल विलास, बंगाल में क्षुधापीडितों का भयंकर मरणदृश्य, वरुणा गोमती आदि नदियों का अश्रुत जलविकास रूप में प्रत्यक्ष जागृत हो रहा है।

इस समय हमलोगों को विश्व में विशेषतया अपने देश भारतवर्ष में शान्तिस्थापन, धर्मग्लानिअधर्माभ्युत्थान निवृत्ति, एवं विश्वकल्याण के लिए कोई उपाय करना चाहिए।

प्रधानतया यज्ञ ही ऐसा साधन है, जिसके द्वारा विश्व का कल्याण हो सकता है। विश्वकल्याण के लिए पाठ जप आदि जितने भी प्रकार हैं उनके द्वारा अमृत इतनी अधिक मात्रा में नहीं बनता, जितना यज्ञ से बनता है। सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी भागवत पारायणादि जप पाठात्मक प्रयोगों में भी विश्वकल्याण का प्रधान साधन पूर्वोक्त पञ्चाङ्गयुक्त यज्ञ होने के कारण शास्त्रकारों ने जपादि प्रयोगों की साङ्गता सिद्धि के लिए भी दशांश हवन का उपदेश दिया है।

आज देवतागण अनाप्यायित होने के कारण भूखे की दशा में हैं। बहुत दिनों का बुभुक्षित अपनी बुभुक्षा शान्ति के लिए बहुत से अन्न की चाहना करता है, इसलिए शास्त्रकारों ने ऐसे समय के लिए आदेश दिया है कि–

× 'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति' श. ब्रा. १।६।२३

सुघोरायामनावृष्ट्यां भूकम्पे च सुदारुणे।
परचक्रागमे जाते क्षेत्रे विंशतियोजने।
देशे सर्वत्र शान्त्यर्थं देवशान्तिमखं चरेत्।

(शान्तिकल्प)

घोर अनावृष्टि, भयंकर भूकम्प, दूसरे राज्य के आक्रमण के समय में देश में सब जगह २०, २० योजन अर्थात् ८०, ८० क्रोस पर देवशान्त्यर्थ यज्ञायनुष्ठान करना चाहिए।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥

—यजुर्वेद १९।६२।

हे पालक देवगण! आपलोग रक्षा के लिए दक्षिण की ओर बैठकर सब मिलकर इस यज्ञ की चर्चा प्रशंसा करें। हमलोगों से मानवता धर्म वश जो अपराध हुए हैं उन्हें क्षमा कीजिए, तथा हम लोगों की किसी प्रकार से हिंसा न कीजिए।

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

—ऋग्वेद २।२१।६

हे परमैश्वर्ययुक्त भगवन्! हमलोगों को उत्तम धन, कार्यकुशलता की प्रसिद्धि, सौभाग्य, धनरक्षणसमर्थ बुद्धि, हमारे शरीरों का अच्छापन (बल) वाणी का माधुर्य और अच्छे दिन देखने को दीजिए।

संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन। त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्

—यजुर्वेद ८।१४

हम वैदिक अनुष्ठानों से वर्चस्युक्त रहें, अर्थात् वेदप्रिय, तत्कथितधर्मशील बनें। हम गवादि दुग्ध तथा अभिजन प्राप्त करें। हमारा मन सत्पथगामी बने। ज्ञानशील त्वष्टा देवता हमको धनप्रदान करे और हमारे शरीर की पापवृत्तियों को दूर करे।

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो माशिवासोऽवक्रमुः। त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽतिशूर तरामसि॥

—सामवेद उ० १३।३।१।

हमारे ऊपर अज्ञात हिंसक दुष्ट मानसिक व्याधियों तथा अमङ्गल प्रवृत्तियों का आक्रमण न होवे। हम अपने कर्मों की सफलता प्राप्त करें।

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ अथर्ववेद १८।३।६७

हे भगवन्! हमलोगों को यज्ञविषयक ज्ञान प्राप्त होवे। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को सदुपदेश देता है उसी प्रकार हमें इस संसार के अनुरूप शुद्ध व्यवहार की शिक्षा दीजिए। हम आपकी कृपा से चिरकाल पर्यन्त जीवन लाभ करते हुए इस लोक के सुखानुभव करते रहें।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः। गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।

**सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी शस्यशालिनी।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम्॥**

शिवमस्तु।

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टि का मौलिक वा आदि धर्म है।

लैलतिल्कद्र की खोज तथा उपवास पर प्रकाश
क्या ' लैलतिल्कद्र ' ' महाशिवरात्रि ' नहीं ?

(लेखक— गणपतराव बा० गोरे, औंध, सातारा)

खण्ड ४

पाश्चात्य साहित्य के पढने से पढे-लिखे पुरुष भी पथ भ्रष्ट होकर ऐसा ही मानते हैं कि, आर्यों तथा सेमेटिक जातियों- हिन्दुओं और यहूदी ईसाई तथा मुसलमानों में किसी भी प्रकार की समानता नहीं ! अर्थात् ये दो जातियां (जिन में संसार की प्रायः सभी सभ्य जातियोंका समावेश हो जाता है) विभिन्न वंश, धर्म तथा संस्कृति को माननेवाली हैं ऐसा उनका मत है ! परंतु आर्यों तथा सेमेटिक जातियों के धर्म ग्रंथ इस विचार-सरणी का खण्डन करते हैं, शर्त ये कि उन्हें कोई अंध-विश्वास और धर्म-पक्षपात की ऐनक उतार कर पढे ।

१. लैलतिल्कद्र किस रात का नाम है ?

अल्लाह कुर्आन में कहते हैं " वर्णन करनेवाली अथवा प्रत्यक्ष ✱ पुस्तक की शपथ है कि, हमने एक शुभ रात्रिके समय उस [कुर्आन०] को उतारा... ॥ ४४।१।३ ॥

' शुभरात्री ' शब्दों पर मराठी कुर्आन की टीप- शुभ रात्र का अर्थ है शाबान महीने की १५ वीं रात्र, जिस रात्री को देवदूत पृथिवी पर उतरते हैं, प्रार्थनाएं स्वीकारी जाती हैं, और पृथिवीपर बखशीशें [Rewards] बरसाई जाती हैं। यही रात्री का शुभ है। अन्य सर्व सम्मत बात यह दीखती है कि, रमजान महीनेका अन्तिम विषम रात्रियों में से [यह शुभ रात्र] एक है -बहुत करके २७ वीं रात । इस रातको अरबी में 'लैलतिल् कद्र' अर्थात् महत्त्व की रात कहते हैं। भाष्यकारों ने इस जगह दो अर्थ लिखे हैं। एक यह कि उस रात को पहली वह्य अर्थात् प्रकटीकरण हुआ, और पश्चात् कुर्आन समय समय पर प्रकट होता रहा। दूसरा अर्थ यह कि उस रातको सारा कुर्आन निचले आकाश में देवदूतों को प्रकट हुआ। फिर जितना जितना परमेश्वर को प्रकट करना होता था, उतना उतना अंशतः अंशतः आता रहा। पृ० ९४९ संस्करण १९१६.

यह शुभ रात्री Blessed night [अरबी = लैलतिमुबारकति] कौनसी रात्र है, यह बात मुस्लिम विद्वानों के लिये आज तक एक पहेली बनी हुई है ! आगे ९७ वीं सूरत ❀ की समस्त ५ आयतों में कुर्आन इस रात की विशेषताएं निम्न प्रकार वर्णन करता है:--

मराठी कुर्आन का अर्थ [अल्लाह कहते हैं] हमने कुर्आन (के प्रथम प्रकटीकरण) को ' कद्र ' के रात को

✱ यहां अल्लाह अपनी 'वर्णन करनेवाली अथवा प्रत्यक्ष पुस्तक' [अरबी= अल् किताब अल् मुबीनि] की शपथ खा कर कहते हैं कि, हमने कुर्आन को एक शुभ रात्री में उतारा। मुसलमान टीकाकारोंमें से किन्हीं का मत है कि, अल्लाह ने अरबी कुर्आन की शपथ खाई है। दूसरे कहते हैं कि अल्लाह ने लौहे महफूज की शपथ खाई है। हम दूसरे विचार से सहमत हैं, क्योंकि अरबी कुर्आन न तो इस ४४ वीं सूरत तक पूरा उतरा ही है और न एक रात्री में सारे कुर्आन के उतरने की बात स्वयं मुसलमानों को मान्य है !!

❀ इस ९७ वीं सूरत का नाम है **सूरतुल्कद्र** = महत्त्व वा प्रतिष्ठा का अध्याय = The chapter of the Majesty or grandeur.

उतारा ॥ १ ॥ × और (हे पैगम्बर !) तूने क्या समझा है कि [लैलतिल्कद्र] 'कद्र' की रात का अर्थ क्या है ? ॥ २ ॥ 'कद्र' की रात (पुण्यप्रसादमें) हजार महीनों से भी उत्तम है ॥ ३ ॥ उस रात को (आगामी वर्ष के) प्रत्येक व्यवस्था के लिये देव दूत तथा 'जिब्रील' ※ ये अपने पालनकर्ता की आज्ञा से (पृथ्वी पर) उतरते हैं ॥ ४ ॥ वह (रात अभय व.) शांति (की रात) है; (और) वह (अर्थात् उसका पुण्य व समृद्धि) अरुणोदय पर्यंत (रहती) है ॥ ५ ॥

४ थी आयत का मौ० मुहम्मद अली कृत आंग्ल अर्थ– The angels and the inspiration (or spirit) descend in it by the permission of their Lord for every affair ॥ 4 ॥

यह आंग्ल अर्थ भी मराठी अर्थ का समर्थक है।

कुर्आन २५।८ में अल्लाहने कहा है कि, हम देवदूतों को सत्यासत्य के निर्णय करने के लिए [नित्य प्रति] भेजा करते हैं। आयत ४ पर पाद-टीप सं० २७७९ में मौ० मुहम्मद अली लिखते हैं–

देवदूतों तथा प्रेरणा (Inspiration) के उतरनेमें भी लैलुतिल् कद्रका एक गहरा अर्थ झलकता है इस प्रकार कि यद्यपि रमजान महीनेकी एक विशेष रात ईश्वरीय आशीर्वादों के कारण विशेषता पा गई, तथापि देवदूत तथा ईश्वरीय प्रेरणा उस रात को अधिक विशेषताके साथ इस लिये उतरा करते हैं, कि जिस [पैगम्बर] को अल्लाहने संसार के पुनरुद्धार (regeneration) के लिये नियत किया है, उसके पैगम्बरी (mission) में सहायक हों। पैगम्बरों के कामों में अल्लाह इसी प्रकार सहायक हुआ करते हैं।

आयत ५ पर पाद-टीप २७८० में आप लिखते हैं–

अर्थ— लैलतिल्कद्र की मुख्य विशेषता है शान्ति (peace). यह शान्ति मन की स्थिरता (tranquility) के रूप में सच्चे उपासकों के हृदयों में उत्पन्न होती है। इसी कारण वे परमात्माके आशीर्वादों को ग्रहण करने के योग्य बनते हैं....

इतने विवेचन के पश्चात् भी यह बात अबतक निश्चित नहीं हो सकी कि लैलतिल्कद्र रमजान महीने की कौनसी रात का नाम है। मौ० मुहम्मद अली १ ली आयत पर पाद-टीप २७७७ में लिखते हैं--

Lailat-ul-qadr, which I have rendered as the grand night and which literally means the night of majesty or grandeur or greatness is a welknown [?] night in the month of Ramdan. being the 21st or 23 rd or 25 th or 27 th or 29 th night of the month, or more probably one of the latter three. In 44: 3 it is called the blessed night. From 2:85 it appears that the holyQuran was revealed in the month of Ramdan and from the above it appears to have been revealad on the grand night; by revelation of course being meant its first revelation because the whole was revealed in portions during twenty three years, and the word Quran is applicable as well to a Portion as to the whole. Moses' fasting for forty days previous to the receipt of revelation (Exodus 24:18) and jesus' Keeping fast for the same number of day before he was called upon

---

× मराठी कुर्आन की टीप में १ ली आयत का दूसरा अर्थ– "कुर्आन एकदम ही लौहे महफूज में से निचले आकाश में उतरा और फिर वहां से अंशतः अंशतः प्रकट होता रहा ॥"

※ अरबी शब्द है अरूह = वह आत्मा = गीता ४।७ का तदात्मानं = ईश्वरी प्रेरणा = इलहाम [इल्हाम] = वही [वह्य], = Divine Knowledge or inspiration. जिब्रील के अन्य नाम **रूहुल्कुदुस् रूहुल अमीन** भी हैं। सेमेटिक जातियों में यह जिब्रील सदा से पैगम्बरों को ईश्वरीय ज्ञान पहुंचानेवाला दूत माना गया है– ठीक उसी प्रकार जैसे आर्य जाति सूर्य देवता को परमात्मा की ज्ञान तथा जीवन दातृ शक्ति समझती आयी है।

to undertake the office of prophethood (Matthews 4:2), show that the gift of revelation comes with fasting; hence the Muslims are required to fast every year for thirty days, and special Divine blessings are promised to them in the concluding day of the fasts.

आवश्यक भाग का अर्थ– लैलतिलकद्र... रमजान महीने की एक सुप्रसिद्ध [?] रात है जो २१ वीं या २३ वीं या २५ वीं या २७ वीं या २९ वीं रात उक्त महीने की है– अथवा अधिक सम्भवतः अन्तिम तीन रात्रियों में से एक है। इसे ही ४४।३ में शुभ रात्री कहा गया है। कुर्आन २।१८५ से प्रतीत होता है कि, पवित्र कुर्आन रमजान के महीने में प्रकट हुआ था, तथा उक्त आयतों से दीखता है कि कुर्आन का प्रकटीकरण बडी या महत्त्व की रात को हुआ। प्रकटीकरण का अर्थ केवल प्रथम प्रकटीकरण ही है, कारण सारा कुर्आन तो तेईस वर्षों तक थोडा थोडा करके प्रकट होता रहा। शब्द 'कुर्आन' अंश अथवा पूर्ण दोनों का वाचक है। ... निर्गमन २४:१८ के अनुसार प्रकटीकरण के ग्रहण करने से पूर्व ह० मूसी का चालीस दिन तक उपवास रखना, तथा मति ४।२ के अनुसार ह० ईसा का भी पैगम्बरी लेने से पूर्व चालीस दिन का लंघन करना दिखाता है कि, प्रकटीकरण का दान उपवास करनेसे मिला करता है। इसीलिए मुसलमानों को प्रति वर्ष [रमजान के महीने में] तीस दिनतक रोजे (Fasts) + रखने पडते हैं, और अन्तिम दिनों के रोजों के लिये उन्हें विशेष ईश्वरीय आशीर्वादों का आश्वासन दिया गया है।

+ कुर्आन २।१८३ में अल्लाह कहते हैं कि " हे मुसलमानो ! जिस प्रकार तुमसे पूर्व के (ग्रंथधारी) लोकों के लिये उपवास करना कर्तव्य किया गया था, उसी प्रकार तुम्हारे लिए भी उपवास कर्तव्य बनाया गया है, इसलिये कि तुम (पापों से) सुरक्षित रहो।"

पूर्व के ग्रंथधारी जातियों में आर्यों, पारसियों, यहूदियों तथा इसाइयों आदि जातियों का समावेश होता है। परंतु इनके उपवासों और मुसलमानोंके रोजों में बडा ही अन्तर है ! पाप शारीरिक, मानसिक, आत्मिक आदि कई प्रकारोंके होते हैं, और इन सब से मुसलमानों को बचाना कुर्आन का उद्देश्य था। परंतु हमारा विचार है कि कुर्आन के उद्देश पूरे नहीं हो रहे ! क्यों ? इसलिये कि–

(१) मुसलमान दिनभर भूखे प्यासे रहकर, रातभर खाते पीते रहते हैं। यह तो भोजन का समय बदलना हुआ, लंघन करना कहां हुआ ?

ईसाई आदि जातियों का अनुकरण करके मुसलमान उपवास के दिनों में स्त्रीसंग नहीं किया करते थे। परंतु अल्लाहने कुर्आन २।१८७ में इन्हें दिन को उपवास करके रात को स्त्रीसंग की भी आज्ञा दे दी !! हदीस ने और आगे बढकर रोजोंकी हालत में भी स्त्री चुंबन, आलिंगन आदि विधिवत बना दिया [देखो बुखारी पारा ७] अब मुसलमानों को विचारना चाहिए कि ये काम ईश्वरीय ज्ञान आदि की प्राप्ति में अधिक साधक हैं वा बाधक ?

(२) उक्त शारीरिक आदि पाप केवल अन्न न खाने और आवश्यकता अनुसार पानी पीते रहने से ही नष्ट होते हैं। नैसर्गिक नियमों का पालन करनेवाले बिल्ली, कुत्ता, गधा, घोडा, गाय आदि पशु भी अपचन आदि व्याधियों को इसी प्रकार लंघन करके हटाते हैं।

(४) मुसलमानों को इस प्रश्न पर भी विचार करना चाहिए कि उक्त उद्देश्य वर्ष में लगातार एक मास रोजे रखने से पूरे हो सकते हैं, वा सालभर निश्चित समयों पर, वा आवश्यकतानुसार लंघन करने से ?

(५) इस्लामी रोजों के लिए संत अब्दुल् कबीर का वचन भी विचारणीय है–

दिन को रोजा धरत हो, राती हतत हो गाय।
यह खून वह बंदगी कैसे खुशी खुदाय ?॥

(टीप अगले पृष्ठ पर देखो)

२. लैलतिलकद्र के पर्याय तथा गुण- यहाँ तक इस शुभ रात्री के हमें कुर्आन में अंकित दो नाम प्राप्त हुए- १ ला लैलतिमुबारकतिं ४४।३ में जिस का अर्थ है बरकत दी हुई रात= Blessed night = ऐश्वर्य की रात्रि। २ रा नाम है लैलतिलकद्र = इज्जत, महत्व वा प्रतिष्ठा की रात (The night of honour majesty or grandeur)। इसी को फारसी भाषा में शबे-कद्र कहते हैं, क्योंकि अरबी लैल= फारसी शब = संस्कृति रात्रि के है। इसी का दूसरा नाम फारसी भाषा में शबे-बरात [शब्दार्थ रात का जुलूस = night of procession] है। यह शबेबरात के नाम का त्योहार भारतीय मुस्लिम हर साल शअबान महीने की १५ वीं तारीख को मनाया करते हैं- रमजान महीनेमें नहीं !!! फारसी कोश जवाहिरुल्लुगात के अनुसार मुसलमानों का विश्वास है कि इस रात्रि को अल्लाह की ओर से देवदूत उम्र और रोजी [आयु और अन्न = life and bread] बांटा करते हैं। परन्तु कुर्आन के भाष्यकार यह रात रमजान महीने में ही है ऐसा मानते हैं। मराठी तथा आंग्ल भाष्यकारोंका मत ऊपर दिया है, अब उर्दू कुर्आनमें मौजहू-अल्- कुर्आनके लेखक ह० शाह अब्दुलकादिर साहेबका मत

---

(६) सैन्फोर्ड बेनेट, जो ७० वर्षों के पश्चात् युवा हुआ (The man who grew young at 70) उसका मत उसके ही शब्दों में पढिए--

Fasting— When attacked by cold " drink all the water you can but do not take food of any description. Continue this treatment until that 110 pulse of yours goes down to 72 and your 103 temperature gets back to 98. I Think this will happen before the end of 3 days possibly sooner " Page 124

" Really the short fasts which are a part of the Catholic and Jewish religions must have had their origin in the discovery of the beneficial effects of totally abstaing from all food at stated period. I am a Jew and catholic to that extent " Page 129

" Any four footed fool Jack ass knows enough to practise that remedy when his stomach is on a strike. But his two footed fool dyspeptic master does'nt.

My advice, if your stomach is out of order, is to do what the Jack-ass does—fast-for 2 or 3 days " Page 130

From ' Old age, its cause and prevention ' by Sanford Bennett 1919 Edition.

उपर्युक्त पृ० १२९ के उद्धरण से ज्ञात हुआ कि यहूदी और कॅथालिक ईसाई समय समय पर छोटे छोटे लंघन किया करते हैं, न वर्ष में एक ही बार ३० दिन के। कुर्आन २।१८३ में अल्लाह का वचन है कि मुसलमानों के लिए भी लंघन संबंधी अल्लाह की वही आज्ञा है, जो यहूदियों और ईसाइयों के लिए पहले बाइबल में दी गई है! फिर मुसलमानों और यहूदियों आदि के लंघनों में क्रियात्मक भेद क्योंकर हुआ ? इस प्रश्न पर भी मुसलमानों को विचार करना चाहिए। विशेषतः जबकि अल्लाह स्वयं कुर्आन ६।११६, १०।६४,१८।२७ आदि अनेक स्थानों में कहते हैं कि उन के वचनों में फेर बदल कभी नहीं हो सकता और विशेषतः जब कि आयुर्वेद, इल्मे तिब्ब वा डाक्टरी भी यहूदियों आदि जातियों के लंघन विधि की पक्षपाती है !

७ उपर्युक्त पृ० १२४ के उद्धरण के अनुसार ही हिंदू लोग निर्जला एकादशी के सिवा प्रायः सभी अन्य उपासों में अन्न न खाते हुए पानी पीते रहते हैं। इसी प्रकार का उपवास श्री सैन्फोर्ड को भी मान्य है।

अतः मुसलमानों को विचारना चाहिए कि उन का रोजा लंघन है वा २।१८३ में दी हुइ कुर्आन और अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन ?

देखिए, जो कि उन्होंने ९७।५ की टीपमें प्रदर्शित किया है:-

"कदाचित् प्रथम इसी रात में कुर्आन उतरना आरंभ हुआ [और] फिर सदा [उतरता रहा], उसमें ये तीन गुण अल्लाह ने रखे-

१. उस रात में जो नेकी करे वह सहस्र मासों की नेकी के सदृश होगी।

२. संसार के सारे कार्य जो पहले से निश्चित [मुकर्र] हैं, वे उस रात को नीचे उतरते हैं

३. उस रात को अल्लाह की ओर से चैन [आराम = Ease वा अमन = Tranquility] तथा दिल-जमई [ढारस वा धैर्य = Assurance; Satisfaction; Peace] नीचे उतरते रहते हैं।

यह सारी रात मीठी भक्ति में [बीतती] है। वह रात कुर्आन के अनुसार रमजान महीने में है। हदीस के अनुसार रमजान महीने की पिछली विषम रातों २१ से २७ तकमेंसे कोई एक है। छिपी हुई बात है अल्लाह जाने।"

३ इस्लामी विश्वास का सारांश- इतनी उहापोहके बाद लैलतिल्कद्र के सम्बंध में निम्न ज्ञान प्राप्त हुआ--

१ इस रात को पहले से निश्चित हुए कार्यों अर्थात् प्रारब्ध आदि का फल विशेषता से मिलता है। नेकियोंका बदला सहस्र गुना होकर मिलता है।

२ विशेषतः उस रातको उपवास करनेसे मनमें शान्ति और स्थिरता, हृदय में धैर्य और विश्वास उत्पन्न होता है; शरीर को सामर्थ्य तथा आरोग्य और आत्मा को ज्ञान विज्ञान तथा उत्तम बुद्धि की प्राप्ति होती है। ह० मूसा ४० दिन उपवास करके पैगम्बर बने। ह. ईसाने भी इतना ही उपवास केकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। ह० मुहम्मद पर इसी रात को पहिला प्रकटीकरण हुआ। अथवा इस रात को सारा कुर्आन लोहेमहफूज में से निकल कर निचले आकाश में उतरा और फिर वहां से थोडा थोडा करके २३ वर्षों तक देवदूत ह. मुहम्मद साहेब पर प्रकट करते रहे।

३ परंतु इन सब बातोंपर विश्वास करते हुए भी मुस्लिम विद्वान इस रात को निश्चित कर नहीं पाए कि वह कौनसी रात है! कुर्आनके अनुसार वह रात रमजान महीनेकी ३० रातों में से कोई एक है। हदीस के अनुसार कोई २१ से २७ तक और कोई २१ से २९ तक की विषम रात्रियों में से एक रात समझता है। कोई २५, २७, २९ इन पिछली तीन रात्रियों में से कोई एक लैलतिल्कद्र है, ऐसा मानता है। और कई मुसलमान विद्वान तो शाबान महीने की १५ वीं रात को ही लैलतिल्कद्र मानते हैं, और इसे ही शबेबरात वा शब कद्र कहकर हर साल त्योहार मनाया करते हैं।

४. रात अनिश्चित है, परंतु विश्वास यह है कि वह रात है रमजान महीने में ही। यही कारण है कि मुसलमान सारा महीना भर दिन का उपवास = रोजे रखते हैं, कि लैलतिल्कद्र कभी चूक न जाये। जिन का विश्वास है कि वह अन्तिम दस वा पांच रात्रियों में से एक है, वे केवल अन्तिम १० वा पांच रोजे ही रखते हैं।

लैलतिल्कद्र की खोज में यहांतक हमने केवल एक पक्ष अर्थात् मुसलमानों के धर्म ग्रन्थों से ही कुछ वर्णन दिया है। अब आगे दूसरा पक्ष भी सुनिये।

४. पौराणिक महाशिवरात्रि का परिचय

महाशिवरात्रि की उत्पत्ति- शंकर प्रसन्न होकर ब्रह्मा तथा विष्णु को कहते हैं:- हे पुत्रो! आज मैं इस [महा दिन में] बडे दिन में तुम्हारी पूजा से बहुत ही सन्तुष्ट हुआ हूं ॥ ८-९ ॥ इस कारण से यह दिन अत्यंत ही पवित्र होगा। यह शिवरात्रि के नाम प्रसिद्ध होगा और यह तिथि मुझको अत्यंत प्रिय होगी ॥ १० ॥ इस समय में मेरे लिंग और बेर की जो कोई पूजा करेगा। वह मनुष्य जगत् के सम्पूर्ण कार्य, उत्पत्ति तथा स्थितिके करने में समर्थ हो सकता है। ※ ॥ ११ ॥

महाशिवरात्रिका सार्थक नामकरण तथा तिथि- जिस तिथि का जो स्वामी हो, उस का उस तिथि में अर्चन करना लाभदायक होता है। चतुर्दशी के स्वामी शिव है (अथवा शिव की तिथि चतुर्दशी है)। अतः उनकी रात्रि में व्रत किये जाने से इस व्रत का नाम शिवरात्रि होना सार्थक हो जाता है। यद्यपि प्रत्येक मास की कृष्णचतुर्दशी शिवरात्रि होती है, किन्तु माघ कृष्ण-चतुर्दशी के निशीथ (अर्धरात्रि) में शिवलिङ्गतयोद्भूतः कोटि सूर्यसमप्रभः + के अनुसार ज्योतिर्लिङ्ग

× लिंग = सूर्य। बेर = चंद्र।

※ शिवपुराण, विद्येश्वर संहिता अ. ९.

+ शिवपुराण, ईशानसंहिता.

का प्रादुर्भाव हुआ था, इस कारण यह महाशिवरात्रि मानी जाति है। ×

शिव पूजा का संकल्प- शिवभक्त पूर्व वा उत्तरमुख होकर यह संकल्प पढे- '**ममाखिलपापक्षयपूर्वक सकलाभीष्टसिद्धये शिवपूजनं करिष्ये**' अर्थात् मैं पूर्वकृत सब पापों के नाश और सब मनोकामनाओं की सिद्धि के लिये शिव की पूजा करता हूं।

शिवपूजा की प्रार्थना

संसारक्लेशदग्धस्य व्रतेनानेन शङ्कर।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव॥

अर्थ— हे शंकर! मैं संसारिक दुःखों की लपट से झुलस गया हूं अतः इस मेरे व्रत से, हे नाथ! तू प्रसन्न मुखा कृतिवाला बनकर मुझको ज्ञानमय दृष्टि देनेवाला बन जा।

महाशिवरात्रि का पावित्र्य तथा महात्म्य— सिद्धान्तरूप में आज के सूर्योदय से कलके सूर्योदय तक रहनेवाली चतुर्दशी शुद्धा और अन्य विद्धा मानी गई हैं।* उसमें भी प्रदोष (रात्रिका आरंभ)-और निशीथ (अर्ध-रात्रि) की चतुर्दशी ग्राह्य होती है। +

महा शिवरात्रि को शिव और उनकी शक्तियों का भ्रमण—

निशि भ्रमन्ति भूतानि शक्तयः शूलभृद्यतः।
अतस्तस्यां चतुर्दश्यां सत्यां तत्पूजनं भवेत्॥
(स्कन्द पुराण)

अर्थ [माघ कृष्ण १४ को] रात्रि के समय स्वयं शिवजी तथा उनकी भूत, प्रेत, पिशाच आदि शक्तियां भ्रमण करते हैं। अतः उस समय उन का पूजन करने से मनुष्यके पाप दूर हो जाते हैं × यदि यह (महाशिवरात्रि) त्रिस्पृशा (१३–१४–३० इन तीनों के स्पर्श की) हो, तो अधिक उत्तम होती है § यथा—

त्रयोदशी कला ह्येका मध्ये चैव चतुर्दशी।
अन्ते चैव सिनीवाली 'त्रिस्पृशा' शिवमर्चयेत्॥
॥ माधव ॥

महाशिवरात्रि का व्रत कौन करे?— 'आचाण्डालमनुष्याणां भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्**'** के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अछूत स्त्री, पुरुष, और बाल, युवा, वृद्ध ये सब इस व्रत को कर सकते हैं और प्रायः करते ही हैं।

महाशिवरात्रि के व्रत का फल - 'शिवरात्रिव्रतं नाम सर्वपापप्रणाशनम्**'** अर्थात् शिवरात्रि के व्रत करने से सब पापों का नाश विशेष हो जाता है।

दृष्टान्त— एक बार एक धनवान् मनुष्य कुसङ्गवश शिवरात्रि को पूजन करती हुई किसी स्त्री का आभूषण चुरा

× इस्लामी साहित्य से लैलतुलकद्र की तिथि निश्चित न हो सकी, परन्तु पुराणानुसार महाशिवरात्रि की तिथि निश्चित ही माघ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी है अर्थात् **माघ महीने की २९ वीं रात!** रमजान की २९ वीं रात पर मुसलमानों का भी शक है।

* इस बात का मिलान उपर्युक्त कुर्आन ९७।५ तथा फुटनोट २७८० से करो।

+ सूर्योदयमारभ्य पुनः सूर्योदयपर्यन्ता 'शुद्धा' तदन्या 'विद्धा,' सा प्रदोषनिशीथोभयव्यापिनी ग्राह्या।
॥ तिथिनिर्णय ॥

× इसके साथ उपर्युक्त कुर्आन ९७।४ तथा पादटीप २७७९ को पढकर तुलना करो कि कुर्आन तथा पुराण के सिद्धांत में कितना साम्य है।

§ इस पौराणिक त्रिस्पृशा (तीन छूनेवाली) महाशिवरात्रि के अभिप्राय का कुर्आन के भाष्यकारों के कथनसे तुलना कीजिए। ९७।१ के भाष्य में लिख दिया कि लैलतुल कद्र रमजान की २५ वीं, २७ वीं, वा २९ वीं इन तीन रातों में से एक है! देखो ९७।१ पर टीप २७७७। इसके विपरीत पुराण निः संशय कहता है कि माघ की २९ वीं रात, [जो भूतकालीन २८ वीं तथा भविष्यकालीन ३० वीं के बीच में होने के कारण दोनों को छूनेवाली हो] वही अत्युत्तम है रमजान भी कभी २९ कभी ३० दिनों का होता है। अतः इस पौराणिक सिद्धान्त के अनुसार **जब जब रमजान ३० दिनों का हो, तब तब २९ वीं रात उत्तम लैलतिल्कद्र है!!!**

होनेके अपराध में मार डाला गया। किन्तु चोरी के लिये वह आठ प्रहर भूखा--प्यासा और जागता था, इस कारण स्वतः व्रत हो जाने से शिवजीने उसको सद्गति दी।*

स्वेच्छा से न किये हुए कर्मों का फल मिला करता है वा नहीं? इस विवादास्पद प्रश्न को जाने दीजिए। पुराण का अभिप्राय केवल महाशिवरात्रि का पावित्र्य और महात्म्य बताने का है। पूर्वकृत कर्मों का फल किसी शुभ समय में अनायास मिल जाने से उस समय का महत्व बढ जाता है। परंतु महाशिवरात्रिको उपवास तथा जागरण करने से ऐसे फल अधिकता से मिला करते हैं, ऐसा हिंदुओंका विश्वास है, जैसा कि अगली कथाओं में भी आयेगा। इसी प्रकार मुसलमान भी मानते हैं लैलतुल् कद्र की रात १००० महीनों से बेहतर है। उस में की हुई नेकियां हजार गुणा होकर मिलती हैं इत्यादि।

महाशिवरात्रि में ज्ञान प्राप्ति

दृष्टान्त पहिला- किसी वन में 'गुरुद्रुह' नामक भील रहता था, जो चोरी करके अथवा मृगों को मारकर जीवन व्यतीत करता था। परंतु एक महाशिवरात्रि को सारा दिन मृग न मिलने के कारण उसके माता पिता स्त्री और बच्चे भूखे रहे। कुछ लेकर ही घर जाना चाहिए, ऐसा सोच कर वह एक तालाबके किनारे बिल्व वृक्ष पर छिपकर बैठ गया कि रात्रि को कोई मृग जलपान करने को आयेगा तो उसे मार ले जाऊंगा। इतने में हरिणी आई। भील ने तीरकमान संभाला। इनकी रगड से कुछ बिल्व के पत्ते शिवलिंग पर [जो वृक्ष के नीचे ही था] जा पडे, अतः शिव की पहले पहर की पूजा अनायास हो गई, जिस से भीलका पातक भी कुछ नष्ट हो गया। शब्द सुन हरिणीने पूछा 'आप क्या करना चाहते हैं?' भील ने कहा सारा परिवार भूखा है, तुझे मार कर ले जाऊंगा। हरिणी ने कहा बडे सौभाग्य की बात है कि मेरा शरीर परोपकारमें लगता है। परंतु आप मुझे छुट्टी दें कि मैं अपने बच्चों को अपनी बहिन के पास छोड आऊं। हरिणीके लौट आने की शपथ खानेपर भील ने उसे छुट्टी देदी। वह पानी पीकर चली गई। पश्चात उस हरिणी की बहिन उसको ढूंढती हुई आई। भील ने फिर तीर चढाया, फिर शिव की दूसरे पहर की पूजा स्वाभाविक रीत्या होगई। मृगी से वही प्रश्नोत्तर हुए। मृगी ने अपने बच्चे पति को सौंप आने की छुट्टी चाही। उसे भी छुट्टी मिली। वह पानी पीकर चली गई। इतने में मृग उन दोनों को ढूंढता हुआ वहीं आ निकला। भीलने बाण चढाया। बिल्व पत्ते गिरे और तीसरे प्रहर की पूजा हुई। वही वार्तालाप हुआ। मृग ने बच्चों को माता के पास छोडकर लौट आने की शपथ खाई। उसे भी छुट्टी मिली और वह पानी पीकर चला गया।

जब मृगियां और मृग अपने घर पर मिले तो तीनों ने बच्चों को पडोसियों को सौंपा। परंतु बालकों ने सोचा कि जो दशा इनकी होगी वह हमारी भी होगी और ऐसा सोच कर माता पिता के पीछे पीछे वे भी चल पडे।

अन्त में प्रतिज्ञानुसार सब मिल कर आये। भील ने बाण चढाया। पत्ते गिरे और शिवकी चौथे पहर की पूजा अनजाने ही हो गई। भील का जागरण और व्रत तो स्वाभाविक ही हो गया था। अतः अब भील के सब पाप नष्ट हो चुके थे।

तब वे मृगियां और मृग भील को बोले कि हे व्याधसत्तम !! तुम हमारे शरीर को सार्थक करो। ऐसा उनका वचन सुनकर वह भील विस्मित हो शिव पूजन के प्रभाव से दुर्लभ ज्ञान को प्राप्त हुआ (और सोचने लगा कि)

---

* यहांतक के लेख का अधिकांश श्री पं० हनुमानजी शर्मा के 'कल्याण' मासिक में छपे हुए 'व्रत-परिचय' लेख से लिया गया है- देखो फर्वरी १९४२ का अंक। श्री पं० जी के देश में महाशिवरात्रि **फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी** को करते हैं, तथा अपनी ओर यह **माघ कृष्ण चतुर्दशी** को आती है। अतः हमने फाल्गुन काटकर सर्वत्र माघ लिखा है। इसका कारण यह है कि वैद्यक [तिब्बी] ग्रंथों में भारत के छहः ऋतु दो प्रकार से गिनाये गये हैं। किसी देश में चैत्र वैशाख वसंत ऋतु है, और कहीं फाल्गुन चैत्र ! [विस्तृत वर्णन के लिये पढो-पं० ठाकुरदत्त कृत ऋतुचर्या पृ०३-५] शबे बरात शाबान में क्यों तथा रमजान में क्यों? यह प्रश्न भी इसी बातसे संबंध रखता है !

यह परस्पर मिले हुए ज्ञान रहित मृग धन्य हैं जो अपने शरीर से परोपकार करने में तत्पर हैं। मनुष्य जन्म पाकर मैंने क्या फल पाया, जो दूसरों के शरीर को पीडा देकर अपना शरीर पाला। मेरे जीवन को धिक्कार है! बाण उतार कर भील मृगों से बोला हे मृगश्रेष्ठो! तुम धन्य हो! जाओ अपने स्थान को! शिवजी प्रकट होकर कहते हैं- 'वर मांग'! व्याध ज्ञानप्राप्ती के कारण पहले ही मुक्त हो चुका था। अतः वह शिवजी के चरणोंमें गिर पडा। और उसने कहा 'महाराज! मैंने सब कुछ प्राप्त कर लिया!'+

इस कथा में भी बाण चढाते हुए पत्तों के गिरने से ही शिवपूजा का फल प्राप्त हुआ। भील ने स्वेच्छा से शिव पूजन नहीं किया था। तो भी उसे महाशिवरात्रि को उपवास और जागरण करनेके कारण सत्य ज्ञान की प्राप्ति हुई!!! उपर्युक्त दोनों कथाओंसे ऐसा सिद्ध होता है कि महाशिव-रात्रि को जागरण तथा उपास करना ही फलदायक है- शिव लिंङ्ग की पूजा करना नहीं! कारण उस धनवान चोर के पाप भी उपवास तथा जागरण करने के कारण ही कटे थे, न शिवलिङ्ग की पूजा करने के कारण! अतः सारा महात्म्य दिन के साथ रात्रि को भी उपवास तथा जागरण करने का हैं!! इस्लामी साहित्य में भी लैल तिल्कद्र अर्थात् महत्व के रात की ही महिमा है, दिन की नहीं! परंतु रातों को तो वे खाते पीते रहते हैं!! केवल दिन भर ही उपवास करते हैं।

अब एक ऐतिहासिक घटना भी पढिए!

दृष्टान्त दूसरा

जब मूलजी (ऋषि दयानन्द का बचपन का नाम) की अवस्था १३ वर्ष की थी तो उनके पिताने उन्हें शिव-रात्रि का व्रत करने का आदेश किया। ...अतः उस शिव-रात्रि को ही अच्छा अवसर समझ कर मूलजी को बुला कर कहा कि तुम आज उपवास रखना, शिवालय में जाकर रात्रि में जागरण करना क्यों कि आज तुम्हें पवित्र शैव धर्म की दीक्षा लेनी होगी।... जिस समय मूलजी की दूसरे पहर की पूजा समाप्त हो चुकी, तब उन्हों ने देखा कि मंदिर के पुजारी और मंदिर में आये हुए गृहस्थ व्रतधारी सभी मंदिर के बाहर जाकर सो रहे हैं, यहांतक कि उनके पिता भी निद्रा के वशीभूत हो गए। परंतु मूलजी सो न सके, क्यों कि उन्हों ने सुन रखा था कि व्रतधारी के लिये शिवरात्रि में सोना बहुत ही निन्दनीय है, और निद्रा के कारण व्रत का भङ्ग करना महापाप है। [आगे स्वयं ऋषि दयानन्दका वर्णन पढिए— लेखक]

"जब मैं मंदिर में इस प्रकार अकेला जाग रहा था, तो...कई चूहे बाहर निकलकर महादेव के पिण्डी के ऊपर दौडने लगे और ... महादेव पर जो चावल चढाये गये थे उन्हे भक्षण करने लगे।...देखते देखते मेरे मनमें आया कि यह क्या है? जिस महादेव की शान्त पवित्र मूर्ति की कथा, जिस महादेव के प्रचण्ड पाशुपतास्त्र की कथा, और जिस महादेव के विशाल वृषारोहण की कथा गत दिवस व्रत के वृत्तान्त में सुनी थी क्या वह महादेव यही है? ... मैंने सोचा कि यदि यथार्थ में यह वही प्रबल प्रतापी, दुर्दान्त-दैत्य-दलनकारी महादेव है तो यह अपने शरीर पर से इन थोडे से चूहों को क्यों विताडित नहीं कर सकता?"...मूलजी ने अपने सोते हुए पिता को जगाया और इनसे प्रश्न किया...। उन्होंने...पुत्रको उत्तर तो दिया, परंतु मूलजी का संशयान्दोलित चित्त उस से शान्त नहीं हुआ।... प्रतिमूर्त्ति से संतुष्ट न होनेपर उन्होंने प्रकृत के देखनेका सङ्कल्प कर लिया, कि जबतक त्रिशूलधारी यथार्थ महादेव को न देखूंगा, तबतक किसी प्रकार भी उसकी पूजा न करूंगा।×

शिवरात्रि के महात्म्य की यह तीसरी कथा है। इससे भी यहीं सिद्ध होता है कि मूल शंकर के हृदय में ज्ञान के प्रकाश का कारण उपवास और जागरण ही था, न शिव-लिङ्ग की पूजा! उस के लिये तो मूल शंकर के मन में घृणा उत्पन्न हो चुकी थी। शिवपूजन छूटा परंतु शिवरात्रि को आर्य समाजी भी छोड न सके! नाम बदल दिया पर रात्रि वही रही!! अब शिवरात्रि की रात को ऋषि बोध रात्रि कहकर आर्य समाजी **ऋषिबोध उत्सव** मनाया करते हैं!!! इतना शिवरात्रि का महत्व है।

Call the rose by any other name and it will smell as sweet. (shakespeare)

+ यह कथा शिव पुराण, कोटी रुद्र संहिता, के अध्याय ४० में लिखी है। × म. द. स. जी. चरित्र पृ. १७-२१

क्या आर्य यहां बाहर से आये थे ?

(२) आर्यों की मातृभूमि

(लेखक व अन्वेषक- पं० **प्रभुदयाल**, **रीसर्चस्कालर**, **त्वषाम**, हिसार)

इतिहासके नाम पर आज अन्धेरा ठोया जा रहा है। हमारे विद्वान अपने देशमें कोई खोज नहीं करते। दूसरों की अधूरी खोज उधार लेकर अपने मस्तकपर "विदेशीपन" का बुरा भला स्वीकार करते हैं। प्रत्युत चाहिये था, कि इस कलंक को धोया जाता। परन्तु यह कर्तव्य पूरा नहीं किया गया।

इस समय योरोपके ऐतिहासकोंने (फिलालॉजी) भाषा-विज्ञान द्वारा यह स्वीकार कर लिया है कि, आर्यन-ऐर्यन-इंडियन-इन्डोयोरोपियन आदि कभी सब एक स्थानमें रहते थे, एक भाषा बोलते थे और ये सब लोग एक देशके जन्मेहुवे भाई थे। परन्तु इन सबका वह एक स्थान विशेष अभीतक नहीं मिल सका है। और यह भी आज सारा संसार एक स्वर से कह रहा है कि, संसार की सबसे प्रथम पुस्तक वेद है। सारी भाषाएँ वेदोंकी देववाणी छन्दस से निकली हैं। क्योंकि वेद छन्दों में रचे गये हैं। जन्दस (जन्दावस्ता) भी वेदके छन्दनामपर अग्नि पूजा व देवपूजाराधन है।

आर्य मध्यऐशिया से अथवा बाहरसे आये? यह कथन योरोपके मस्तकोंकी उपज था, जो भारतवालोंने भी बिना किसी खोज के स्वीकार कर लिया। जिससे भारत के इतिहासकी महान हानि हुई। जब यह भाव विद्यालयोंद्वारा हमारे मस्तकों में ठूंसा जाता है तो स्वीकृत कर लिया जाता है। यह भारतवासियोंके मस्तकपर एक ऐतिहासिक कलंक लगता है। जिसको धोना सारे देशका प्रथम कर्तव्य था। परन्तु वह धोया न जाकर उल्टा पोता जा रहा है। जिस से यहां देशप्रेम मातृभूमि प्रेम-लुप्त होकर मुर्दापन छा गया है। हम जीते भी मुर्दा हो रहे हैं। क्योंकि जीवन इतिहास से ही मिलता है। जिसका नाश होनेसे जातिका नाश हो रहा है। कोई भी सभ्य देश व जाति ऐसे व्यर्थ कलंक को एक दिनके लिये भी सहन नहीं कर सकते थे। परन्तु एक ओर हम हैं जो मुर्दा हैं।

(१) दुःख यह है कि हमारे अधिक देशी विद्वान ही हमें विदेशी मान रहे हैं। जिन के कुछ मत यहां लिखेंगे, वेदधर्म के अनुयायी स्वयं अपने को भारत से बाहर तिब्बत से आये मान बैठे हैं। जो सर्वथा अप्रमाण व असम्भव बात है। अथर्ववेद में एक भूमिपरक (भूमिसूक्त) ६६ मन्त्रों का सूक्त है जिस में आर्यों की मातृभूमि का यशगान किया गया है। परन्तु वे लोग उस भूमिमाताके स्थानको नहीं खोजते। मैंने अठारह वर्षकी लगातार खोज एवं स्वाध्यायसे आर्यों की मातृभूमि (द्यावापृथिवी) तथा (पितृलोक) आदिका पूरा पता निकाल लिया है। भुवन की (नाभि) ध्रुवदेश जेष्ठराट् एकदेव--पुरुष-त्वष्टा-सप्तसिन्धु-इन्द्रका पंचदशस्तोम--अदितिका षोडश स्तोम अन्तरिक्ष स्वर्ग ये सब खोज लिये हैं। मैं उन सब सज्जनों को आवाहन करता हूं। जो हमें विदेश से आये हुए (गैर मुल्कि) कहते हैं। वे आवें और वेद भूमि प्रत्यक्ष देख लें।

(२) लोकमान्य तिलकने वेदमन्त्रोंद्वारा यह लिखा था कि, आर्योंका जन्मस्थान ध्रुव देश है। परन्तु वे वेदके ध्रुव देशको (ध्रुवपर्वत) भारत में नहीं खोज सके। और अन्तमें योरोप की शैलीपर उत्तरध्रुव (कुतबशुमाली) को ही आर्य मातृभूमि लिख गये। जो वेदानुकूल ध्रुव देश नहीं, कारण यही है कि हमारे विद्वान इतिहास की खोज नहीं करते और कष्ट सहन नहीं करते। सुनी सुनाई दूसरी अधूरी बातों पर चलते हैं। हमारे देश के वंशों के इतिहास के स्वामि अशिक्षित जन भाट--पण्डे आदि बने हुवे हैं। हम उनकी बातों पर जमे रहते हैं। जब हमारे इतिहास के इनचार्ज अशिक्षित हों तो फिर इतिहास कहां ?

(३) कैंब्रिज विश्वविद्यालय के एक अध्यापक महाशय (अम्बाला) के निकट आर्यों का निवासस्थान मानते हैं। परन्तु बाहर से आना कहते हैं।

(४) मेक्समूलर साहब ईसापूर्व ४ सहस्रवर्ष के कालमें पंजाबकी नदियों के दक्षिण देशभाग में (आर्यनिवास) लिखते हैं। जो कि (द्यौष्पिता) स्वर्गका पिता (सूर्य) को मानते थे। यह उनका कथन ठीक (द्यावापृथिवी) है। परन्तु वे भी यहीं

मानते हैं कि ये बाहरसे आये।

(५) श्री स्वामि दयानन्दजी महान वेदज्ञ कहानेपर भी वेद का एक मन्त्र प्रमाण में न देकर (सत्यार्थ)में **(त्रिविष्टप)**× शब्द के आधार पर (तिब्बत) मानकर वहां सृष्टिका होना स्वीकार कर के वहां से भारत में आर्योंका आना मानकर (विदेशी) आप अपने को बाहर के आये मान गये हैं, जो विदेशीपनकी छाप है। अतः आर्य नाम से अपनेको जतानेवाले स्वयं (विदेशी) कहने में प्रसन्न हैं। जिसके लिये वह वेदप्रमाण नहीं रखते। परन्तु अन्यत्र वेदकाही प्रमाण चाहा करते हैं। ये मध्येशियन नहीं तो तिब्बती सही परन्तु बाहरके हैं !

प्रत्युत-वैज्ञानिक, प्राकृतिक, तथा भूगोलिक, नियमोंके अनुसार शीतप्रधान देश मानव सृष्टि के योग्य नहीं कहे जा सकते। जहां खाद्य पदार्थोंका सर्वथा अभाव रहता है, जहां तृण घास तक नहीं उपजता, वहां मानव क्या खाकर जीवित रह सकते हैं। जब कि प्रकृति जन्मसे प्रथम भोजन की उपज प्राप्त करती है। जन्मसे प्रथम माता के स्तन दूधसे भर जाते हैं। आज यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि, सभी प्रकार की उपज (अन्न-जन-धन) उष्ण व अनूप देशों में ही अधिक होती हैं। अतः तिब्बत में मानव सृष्टि होना सम्भव नहीं।

तिब्बत में अधिक केवल एक 'याक' नामक पशु होता है। जो सवारी में सब जगह काम आता है। उसी का मांस भी सुखाकर खाया जाता है। इस के विरुद्ध वेद में सारे पशुओं के नाम तथा उनकी उत्पत्ति स्पष्ट लिखी है। तिब्बत में कभी ही सूर्य दिखाई देता है प्रत्युत वेदमें सूर्य का उदयस्थान तथा सूर्य देवकी पूजा है। तिब्बत में सदा ही एक शरद ' ऋतु ' बनी रहती है। परन्तु वेद में ६ ऋतुएँ लिखे हैं। जो भारत में साक्षात् दीख पडते हैं। तिब्बत में वेदानुसार कोई प्रान्त नहीं है। नाही वेदानुकूल पदार्थ ही वहां उपजते हैं। वर्ष भर में कोई नहा नहीं सकता है। वेद में नित्य स्नान का विधान व आचमनादि का वर्णन है। अतः सर्वथा वेद के विरुद्ध पानेसे आर्यों का वहां से आना तथा सृष्टि में वहां मानव जन्म होना असम्भव व अप्रमाण ठहरता है।

× त्रिविष्टप= ३ स्वर्गलोक

वेद में त्रिदिवि-त्रिविष्टप-तीन स्वर्गलोकों के नाम स्पष्ट हैं। जो यहां हरयाण (हिरण्यमय) स्वर्गीय देश में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। उन के नाम यह हैं—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ (अथ० १८।२।४८)

उदक (पानीवाली) अवमा (नीची डूंगी) जो अब (**दौंक**) और (**डूंघले**) नामसे विख्यात (**संगमन**) नगर के पास जो कि पुरातन खंडरात व (थेहों) का विस्तृत भूभाग है। जो कभी यमराज की राजसभा का भुवन था। बडे उंचे दुर्गपर स्थित हैं। जहां सैंकडों प्राचीन देव प्रतिमाएं खुदाई से मिली थीं। जिसके पास ही यमकी राजधानी (**संगमनी**) पहाडी खंडहरोंसहित है। अग्निदेवका स्थान है।

पीलुमती (ग्रहनक्षत्र) जहां निवास करते हैं। वह (मध्य = **मध्यस्वर्ग**) अन्तरिक्ष (**त्वष्टा**) नामपर (**त्वषाम**) नगर है। जहांके (ध्रुवपर्वत)पर सारे (विश्वे देव) तथा (ग्रह नाम के देवता) और 'नक्षत्ररूप'में उन्हीं नामों की (अप्सरादेवी) वसती थी। मध्य स्वर्ग निवासी इन्द्र **(मन्यु अधिपा)** मूंगीया की पूजा चालू है। अनेक शिलालेखों तथा मंदिरोंयुक्त खंडरातसे परिपूर्ण (मध्यमा) नामक यह स्वर्ग है। जहांसे केन्द्र मान कर ४ दिशाएँ स्थिर की गई हैं। और जहां द्यौपिता त्वष्टाने सब देवोंको उत्पन्न किया था।

तीसरी प्रद्यौ (परेकी स्वर्ग) जहां पितर वसते थे। अब जो विस्तृत खंडरात सहित **(वड्यु)** नाम से वसती है। यह अब (लुहारू स्टेट) के आधीन प्रान्त है। इस प्रान्त में ही पितरोंके वैदिक नामोंपर ३० ग्राम वसते हैं। यंही वैदिक (**पितृलोक**) है। जहां इन्द्र का ' पंचदशस्तोम ' (१५ नगरोंका) इन्द्र के नामोंपर है। तथा इसी पितृलोक में (**मित्ती-मितानि**) मित्रावरुण के स्थान हैं।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः ।८। यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ॥९॥ (ऋ० ९।११३)

जहां का राजा (वैवस्वत) यमराज (विवस्वानपुत्र) जहां द्यौलोक की सीमा समाप्त हो जाती है। इससे आगे स्वर्गलोक नहीं है। जहां तीन स्वर्गधाम (त्रिदिवि) या ३ स्वर्गोंका देश = त्रिविष्टप जो अब (**टेही**) कहाता है। यहां के सर्व ग्राम-नगर-वंश वेदके नामोंपर तथा देवोंके वैदिक नामोंपर वसे होनेसे यही ३ स्वर्गोंका देश है, तिब्बत नहीं है।

(६) श्री. प्राणनाथ साहब- पी० एच० डी०, काशी ने अपने " जम्बूद्वीपके इतिहास + " नामके लेख में वेदों में मिसर- सुमेरियन-तथा विविलोनियन-भाषासे मिलते नामों व शब्दों को देख ये लिखा है कि वेद सुमेरिया आदि देशों में बने हैं। किन्तु वे अपने देश में कुछभी खोज नहीं करके नहीं समझे कि ये नाम भारत के स्वधाम प्रान्त हरयाणा से बाहर गये हैं। इसका मुख्य कारण यही है, कि वेदकाल का इतिहास लुप्त है। खोज नहीं की जाती। यौरोपवालोंकी शैली ग्रहण करते हैं।

(७) केवल एक अविनाश चन्द्रदासही वङ्गदेश निवासी माताके सपूत हैं। जिन्होंने अपने " ऋग्वेद इन्डिया " में लिखा कि आर्य कहीं बाहरसे नहीं आये। उनका जन्मदेश भारत है और वह कुरुक्षेत्र के पास है। चाहे वह ठीक स्थान नहीं जानसके। क्योंकि बेंगालसे 'हरयाण' दूर है। परन्तु विदेशीपन नहीं माना है। ऐसे कुछ अन्य विद्वान भी एकहो हैं। उन्हें धन्यवाद है।

(८) इसी प्रकार औरभी श्री. वैद्य तथा कई मराठा विद्वान हैं तथा अन्य देशी विदेशी विद्वान् भी हैं जिनमें परस्पर मतभेद है। सभी बाहरका आना कहते हैं, कोई इरानका नाम लेता है। तथा कोई मध्य एशियादि कहता है।

(९) श्री० मान्यवर महोदय श्री सम्पूर्णानन्दजी इलाहावाद ने 'आर्योंकी मातृभूमि' में कश्मीर के निकट देश बताया है।

(१०) जर्मनी के एक प्रो० " विंक्लर "× महोदय आज संसारभरमें सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान हैं। जिन्होंने मेसोपोटामिया के बोगाजकोई ग्रामसे सन १९०७ में ईन्टोंपर लिखे " विन्दुलिपि के " लेखों के आधारपर यह लिखा है कि इन लेखों के लिखनेवाले **(मित्ती-मितानी-हिटायट-खत्ती)** नामों के आर्यराजा सुमेरिया देश के थे। जो आर्योंकी प्रथम शाखा के (आर्यन) थे और प्रथम भारत " खैबर की " घाटीसे प्रवेशकर पंजाब में पहुंचे थे।

यह लेख एक सन्धीपत्र है। जो इनके दो पक्षों के बीच ४ वेदके देवताओं की शपथ रूप में लिखा गया था। जिस में **(इन्द्र-मित्र-वरुण-अश्विनौ)** ४ देवताओं के चित्र खुदे हैं। जो इनके कुल देवता हैं। कच्ची ईन्टोंपर यह लिखकर पकाई गई हैं। इनके आनेका समय आजसे ३४०० वर्षपूर्व नियत किया गया है। जिस की पुष्टी में असीरया से मिले लेख तथा मिश्र देश के " फरोह " (फिरोन) वंशी राजाओंके समय के मिले कुछ पत्र प्रमाणरूप में दिये गये हैं जिनसे उनकी यह बात माननीय हो गई है। इसके पश्चात् सारे योरोपके लोग भारतवालोंको एक स्वर से विदेश से आनेवाले कह रहे हैं। और विंक्लर की खोजका प्रमाण देते हैं?

कारण यह है कि भारतभरमें से किसी ने भी इसके प्रतिवाद रूप में कुछ नहीं लिखा। तब और क्या होना था। यही हुआ, सृष्टिसंवत को आर्य संवत लिखनेवाले तिब्बती के स्थान सुमेरियन मान मौन हो बैठे हैं। यह हमारे साथ अन्याय हो रहा है कि हम हमारी मातृभूमि में जन्म से रहते बसते वेदानूकूल स्थान रखते भी हम अपने को विदेशी कहा रहे हैं। मिस्टर विंक्लर इन मित्ती-मितानी राजाओं का ईरान-मिडिया होकर मेसोपोटामयामें आना मानते हैं। और जो भारत के सम्बंध में कुछ भी नहीं जानते हैं नहीं भारत के " घौलोक " को जानते हैं। ऐसे ही भारतवाले भी अपना कुछ नहीं जानते हैं।

हम थोडी देरके लिये मानलें कि सृष्टि तिब्बतमें या सुमेरिया के निकट कहीं हुई और भारत के पूर्वज जहां से वेद लेकर यहां आये तो प्रश्न यह होगा, कि वेदमें लिखे देश व देव वंशादि वहाँ मिलने चाहियें! केवल कथन मात्रसे यह माना नहीं जा सकता। आर्योंका मूल निवास " ध्रुवदेश " है। ध्रुव ध्रुवा है। वह बताना होगा ऊपर के पुरा तत्त्वज्ञों के मत तथा मतभेदों में सबसे अधिक बलवान् खोज विंक्लर की है। हम उसकाही प्रतिवाद करेंगे। और यह वेदप्रमाण तथा प्रत्यक्ष पुरातत्त्व प्रमाणों से सिद्ध करेंगे कि, विंक्लर महोदय बडे भ्रममें भूल कर गये हैं और यह कि मित्ती-मितानी-राजा भारतसे अपने नाम के स्थानों से बाहर के देशोंमें धावा करने गये थे। उनका जाना

+ काशी की नागरी प्रचारिणी पत्रिका वैशाख सं० १९९२

× विंक्लर महोदय की खोज। इंग्लिश भाषा ८) मूल्य॥ एस० कोनो० द आर्यन गाडस् द मितानी विपुल १९२१॥ यह पुस्तक अनेक जगह लिखनेपर भी हमे नहीं मिली। बडी कृपा होगी यदि कोई सज्जन इसके मिलनेका पता दे सकें॥ मित्ती-मितानी-का देव चित्रोंयुक्त ताम्रपत्र-डी०ए०वी० कालिज लाहोरमें लगा बताया जाता है। कोई महाशय उसके मिलनेका पता दें।

ही आना माना गया है। क्योंकि यहां (मत्ती-मितानी) नामके नगर बसे हैं। तथा वहां ही पितर लोक व (मित्रावरुण) का मातृस्थान भी है जो वेदानुसार है।

यदि विंक्लर महाशय यहां मौकेपर आसकें तो वह प्रत्यक्ष देखेंगे, कि जिन (मित्ती-मितानी) राजवंशोंके लेख उन्हें मिले हैं उनका मातृदेश-तथा पितृदेश फादरलेंड-हरयणामें उनके स्थान हैं। जहांसे वह बाहर गये थे। यह उनको स्वीकार करना होगा। और भूल माननी होगी। हम डींग तो मारते हैं कि सारी विद्यायें वेदोंसेही निकली हैं। संसारभर में जो सभ्यातायें फैलीं वे सब वेदों द्वाराही फैली हैं। परन्तु इतिहास विद्या वेद से भिन्न कहांसे आगई ? जबसे हमने वेदों को इस रूप में रख दिया तभी से वेदकालीन इतिहास प्रत्यक्ष होते हुए भी लोप होगया है। जब हम " द्यु " को स्वर्ग नहीं मानकर केवल (आकाश) मान बैठे हैं जो स्पष्टही वेद विरुद्ध है। वेदमें ३ स्वर्गों का पूरा पता है। तथा द्यौलोककी सीमा भी है। तो क्या आकाश भी सीमा युक्त है ? और क्या पृथ्वी आकाश में है ? तथा यम की संगमनी भी आकाश मेंही रहेगी। इतिहास खोजें बिना वेदके कितनेही स्थल ऐसे हैं जिनको आजतक नहीं समझा जा सकता है। अतः आवश्यकता है कि हम वेदकालका इतिहास प्रस्तुत करें। तब विदेशीपनका कलंक दूर होगा। यहां अब यही लिखेंगे।

सर्व पृथिवी के मनुष्यों का गुरुदेश

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्याम् सर्व मानवाः॥ मनु०

इस देश में जन्मे हुवे अग्रजन्मा (प्रथम अग्नि देवसे) लोगों से अपने अपने चरित्र की सारी पृथिवी भरके मनुष्यों ने शिक्षा प्राप्त की है। यह देश सरस्वती और दृषद्वती (सरस्वती व घघर) के बीच का हरयाणा है। जिसे ब्रह्मावर्त नाम दिया गया है। त्वष्टा अग्निही ' ज्येष्ठ ब्रह्म ' है। उसी से सर्व देव जन्मे उसी से सब शिक्षा मिली थी। जैसा कि योरपवाले स्वीकार करते हैं कि हम सब एकस्थानी व एकभाषी हैं। वह यहीं देश ' एक देव ' त्वष्टा है।

सर्व देवों तथा स्थानों के नाम वेद शब्दोंसे

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथकपृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

मनु० १।२१

सृष्टी के पश्चात् सारे देवों के नाम तथा कार्य तथा उनकी संस्था व स्थान जो बने उनके नाम न्यारे न्यारे वेदोंके शब्दोंपर रखे गये थे। यह कसौटी जिस देश को इसके अनुसार लगे वही देश सृष्टा माना जायेगा। यह कसौटी हरयाण देश में पूर्ण काम दे रही है।

देवपिता एकदेव त्वष्टा

(१) त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥
यजु० १३।५०

(२) द्यावा पृथिवी जनयन् ' देव एकः ॥ (ऋ० १०।८१।३)

(३) समवर्तताग्रे भूतस्य जातः ' पतिरेक ' आसीत्॥
(ऋ० १०।१२१।१)

(४) वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु 'निध्रुविः'॥
(ऋ० ८।२९।३)

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

(५)यो देवानां नामध 'एक' एव तं संप्रश्नं भुवना यंति सर्वा॥
(अथ० २।१।३)

(६) यावद्रूपं चैव नाम च ॥ (शत० ११।२।२।३)

(१) (जिस) त्वष्टा (देवपिता) ने प्रजाओं को सर्व प्रथम जन्म दिया है। हे अग्नि देव तेरा यह (परमस्वर्ग) है, मेरी हिंसा नहीं होवे।

(२) जो सारे जगत्का-मुख विश्वकी बाहू विश्वभरकी आखें हैं उसने द्यावापृथिवी लोकों को जन्म दिया है। वह एकदेव त्वष्टा है।

(३) जो हिरण्यगर्भ सारे जगतसे प्रथम भूत प्राणी के जन्मसे प्रथम सबका एक पति था। वह (एकदेव) एकपति त्वष्टा है।

(४) देवों में केवल एकदेव त्वष्टा (कारीगर) है जो हाथ में लोहे का कुठार लिये ध्रुव स्वर्ग में (देवों के धाम बनता है) वह हम सब का भाई जन्मदाता पिता विधाता है। सारे विश्व भुवन के देवधामों को जानता है। जो एकही सारे देवों-

(५) के नाम धरनेवाला या धारणकरनेवाला है। सारे भुवन उसी की पूछताछ करते हैं। सारे दूसरे भुवनवाले भी उससे मिलकर जाते हैं।

प्रथम इस रूप व नामहीन जगत को त्वष्टा देवने रूप व नामवाला बनाया। तब जैसा रूप वही नाम रखा गया। यही

सारे देवों का पिता था। जो सबके नाम व स्थानों को बनाने तथा निर्माण करनेवाला था। यहां सब एक समान रूप में थे। जहां सारे भूमंडलके जनोंने जन्मपाकर शिक्षा पाई। यह ध्रुव पर्वत त्वष्टाका स्वर्ग त्वषाम है।

एक देवके बहुत नाम

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋ. १।१६४।४६)

एक ही सत् देवको विद्वान लोग बहुत से नामों से कहते हैं। उसके ही नाम इन्द्र, मित्र वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि हैं। अर्थात् त्वष्टा देव एकसे बहुतसे नामों और परिवारोंवाला हो गया क्योंकि वही सब देवों व प्रजाओंका जन्मदाता है। अतः यह याद रखना होगा कि इसी एक देवस्थान से सब प्रजायें जन्म लेकर चारों दिशाओं में फैली थीं।

देवों का राज विभाग

अब एक त्वष्टा वंश का विस्तार हो गया। तो एकदेव को ध्रुव मान ४ दिशायें स्थिर की गईं। और चारों दिशाओंको बाँट दियागया। अथर्व ३।२७ सूक्त का दिशा देवता है। अथर्वा ऋषि दिशाओं के राज्याधिपत्यों का पूरा पता दे रहा है। उसे देखें। (१) पूर्व का राजा 'अग्नि' (यम) है। असित (मृत्यु) रक्षक और आदित्य (सूर्य यम) बाणधारी रूप में है। (२) दक्षिण का 'इन्द्र' राजा है। तिरिश्चराज रक्षक, पितर बाणधारी सेना है। (३) पश्चिमका वरुण राजा है। पृदाकू रक्षक, अन्न बाण है। (४) उत्तर का सोम राजा है। स्वज रक्षक, अशनि बाण है (५) ध्रुव दिशा का 'विष्णु' राजा है। कल्माषग्रीव रक्षक और वीरुत (वनस्पति नामक अप्सरायें) बाण हैं। (६) उर्ध्वा दिशाका बृहस्पति राजा है। श्वित्र रक्षक, वर्ष (इन्द्र) बाण है।

इन दिशाओं की सीमाके रक्षक ४ छन्द (किले) थे। जिनके नाम इस प्रकार हैं जो आज भी वर्तमान है। आकर देखिये—

गायत्री वै प्राचीदिश। त्रिष्टुब्दक्षिणा। जगती प्रतीच्या। अनुष्टबुदीची। पंक्तिरुर्ध्वा। (श०८।१।९।१२)

अधिपति राजाओं के प्रबंधक किले चौवीशी प्रान्त। तथा त्रिष्टुप् (थलोड) स्थान षट्विंश (शींहट) पहाडी। जगती अष्टचत्वारिंश (चूडोद चौधरीवास) अनुष्टुप् द्वात्रिंश (देपलडंडेरी) स्थान अबवर्तमान हैं। इनके मध्य अन्तरिक्ष ध्रुवपर्वत (परमेव्योम) अष्ट चक्र नव द्वार का किला (स्वर्ग) है। जो अधिपत्नी बृहती तथा पांक्त पांचोंदिशाओंका शासक स्थान 'त्वषाम' है, जो सारे विश्व का अङ्ग 'पुरुष' इन्द्र सबका पिता व राजा सम्राट है।

पांक्तं छंदः "पुरुषो" बभूव विश्वैर्विश्वांगैःसह सं भवेम।
(अथ०१२।३।१०)

पांक्त (५ प्रकार की प्रजा ५ दिशाओंका) छन्द पुरुष होता है। जो सारे विश्वके अङ्ग भी यही हुवा है यही सम्राट स्थान विश्वदेवोंका जन्मदाता पालक व शासक इन्द्र विराट पुरुष ज्येष्टराट है। जहांसे ५ दिशाओं का प्रबंध होता था याद रखिये यह भारत का मध्यस्वर्ग है।

इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
(अथ० १०।७।३०)

हे इन्द्र (पुरुष) तेरेको मैं प्रत्यक्ष सारे सुखों का भंडार सबको प्रतिष्ठित करनेवाला टिकाने तथा बसानेवाला देखता हूं। यह बता चुके हैं कि एकदेवके ही नामोंमें (इन्द्र-मित्र-वरुणादि भी) आये हैं। जो विगडकर (मित्ती-मितानी) कहे गये हैं।

एक देवके दो भाग

द्यावापृथिवी दक्षिणं पार्श्वं। विश्वेषां देवानां उत्तरम्॥
(यजु०२५-५)

दक्षिण पार्श्व द्यावापृथिवी (मनुष्य-पितरादि), उत्तर पार्श्व विश्वेदेव (सारेदेव) रहनेलगे। यहां से ही असुर-देव दो भाग बने × अर्द्धे देवा अर्द्धे असुरा (निरुक्त ३।४।४) अतः पितृ

(× त्वः- और- नेमे-) यह दो नाम अर्द्ध, आधेके हैं। त्वः = हटकर विस्तृत। नेमः = काढकर अलग किया गया इत्यादि है अग्नि दो भागों में बँटे हुवे। प्रजापति से उत्पन्न हुए। देव असुरों में से 'त्वह' आधा-आसुर भाग तेरे तन की हिंसा करता है और आधा देव भाग स्तुति करता है। नेमे देवाः नेमेऽसुरा ...... दो भाग एक देव (त्वष्टा) वंश के हो गये थे। यह निरुक्त कार का दिया इतिहास है। देखो निरु- नैघण्टु० ३।४।४॥ इस के अनुसार हमें थलेड (त्रिष्टुप्) ग्राममें 'नीमड' गोत्री जाट मिलते हैं। तथा-नीमका थाना। नीमराना-नीमोढ-नीमच्-नीमडीवाली-आदि अनेक नगर व स्थान वसे मिलते हैं। और इसी नाम को-निमाड देश, वेदका नेम ऋषि। (दक्षिणप्रान्त) निजाम-राज्य नींमा (सांखू) व पौराणिक नेमधारण बता रहे हैं।

लोक यहां के दक्षिणमें ३० ग्रामों के रूपमें वर्तमान है।

तोशाम पर्वत का दक्षिण पसवाडे का नाम अब (दाद्धडे) ' द्यावाधरती ' प्रसिद्ध है। और उत्तर पसवाडे को (वेढी) विश्वेदेवी कहाजाता है। जो वेद के प्रमाण की सत्यता हजारों वर्ष बीत जानेपर भी प्रगट हो रही है। और यहां के दक्षिणमें पितरों के नामों के ग्राम तथा उत्तर में विश्वदेवों के नामों के ग्राम बसे हुवे वर्तमान हैं। यहां घटना स्थानपर आकर साक्षात् देख लेना उचित है।

(फादरलँड) पितर-भूमि

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत्।
(यजु० १४।२९)

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृत्तँ स्तोममुदजयत् तमुज्जेषम्।
(यजु० ९।३३)

नव (९) से स्तुति की गई। तब पितरों की उत्पत्ति हुई जिस समय अदिति राजा थी। अदिति के राज्यकालमें ९ से पितर जन्मे। यह स्पष्ट बताया गया है। मित्र ने अपने ९ अक्षरोंद्वारा त्रिवृतस्तोम (भूमि-अन्तरिक्ष-द्यु) तीनोंके समूह त्रिगर्त (पर्वत) स्वर्गको जीता। इसीप्रकार मैं जीतूं। मित्रका संकेत (९)अंक भी है। जिससे (नवग्व) नामके पितर (अथर्वण, भृगु, अङ्गिरा) हुए। पितरलोक ध्रुवस्वर्ग के दक्षिण पार्श्वपर हैं। यहां यमकी राजधानी संगमनी-वीराघाट (छावनी) हैं। यहीं पर (मित्ती-मितानी) नाम के स्थान (मित्र-मित्रावरुणी) नामोंपर बसे हैं। जिन के वंश के यहां ९ ग्राम हैं। जिन में सबसे मुख्य (पात्वान) स्थान है। जो "अदितिः पात्वंहसः" (ऋ० ३।१०।३६) पापनाशक अदिति के नामपर है। इस नवग्राम समूह के निवासी सारे (नवाक्षरेण) नाम के बिगडने से (लाखलान) गोत्रके हैं। नूण = लूण = लवणरूप न = ल हुआ है। यही वंश एक अन्य प्रान्तमें 'लाकडे' भी कहा जाता है। जो ' नवग्व पितर ' वाची पितर नाम है। यहां निकट ही (नोहर-नोपरा) प्राचीन नगरी भी बसी है। इन (मित्ती) मितानी स्थानोंसे इन वंशो के राजा ध.वा करने अपनी राज्य-स्थापनार्थ (मेसोपोटामिया) को गये थे। इधर आये नहीं थे।

(मदरलँड) मातृभूमि

१. अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः।
(ऋ० ३।१०।३६)

२. अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्याx दिशः पातु०।
(अथ० १८।३।२७)

३. अदिति षोडशाक्षरेण षोडशं स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्।
(यजु० ९।३४)

४. पिपर्तु नो अदिती राजपुत्राऽति द्वेषांस्यर्यमा सुगेभिः।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य शर्मोप स्याम पुरुवीरा अरिष्टाः।
(ऋ० २।२७।७)

(१) अदिति देवी पापनाशक है। जो मित्र और वरुण देवों की देवमाता है। (२) वह अदित्य पुत्रोंसहित पश्चिम दिशा से मेरी रक्षा करे। इससे स्पष्ट पता मिलता है कि अदिति देवमाता व उसके पुत्र आदित्य देवोंका देश तथा स्थान पश्चिम दिशामें है।

(३) अदिति देवीने अपने षोडशाक्षर द्वारा (षोडश स्तोम) को जीता मैं भी जीतूं। यह अदिति षोडश धुलाकोटखेडा कहा जा रहा है। ध्रुवपर्वतसे पश्चिम १० कोसपर है। पहले "खेडा-झिवानी" कहा जाता था। जो सम्भवतः ' षोडशी ' का रूप है। अब शिवानी वहां से २ मीलपर बसी है। जो कि (जे.बी. आर.) का स्टेशन है। अदिति षोडश = 'धूलकोटखेडा' विकृत रूप है।

यहां खेडा ग्राम में इस देवीका मन्दिर बना है। जहां इस की मूर्ति पूजी जाती है। यह देवीस्थान (मित्ती-मितानी)

यहां एक ग्राममें -' पडतलये '- गोत्रके लोग हैं, जो-प्रतीची-प्रतीच्या-नामका-बोध कराते हैं। त्वषामके ५ कोस पश्चिममें रहते हैं।

x अदिति और अदित्यों की पश्चिम दिशा बताई गई है। पश्चिम दिशा को इसी कारण ' आदित्यवाड् ' नाम दिया गया है वेदमें पूर्व दिशा (राट्) दक्षिण-(पष्ठवाड्) और पश्चिम- (आदित्यवाड्) तथा (तुर्यवाड्) नामों से कही हैं।

आदित्यवाहो जगत्यै ॥ यजु० २४।१२ ॥ उष्णिहं छन्द दित्यवाहं ॥ यजु० २८।३४ ॥ दित्यवाड्वयो विराट छन्दः ॥ यजु० १४।१० ॥ सम्राडसि प्रतिची दिगांदित्यास्ते देवाऽअधिपतयो वरुणो सप्तदशस्त्वा स्तोमः। यजु० ॥ १५।१२ ॥

इन प्रमाणों से पश्चिम दिशा (ध्रुव) से (आदित्यवाड्) कहाती है। सम्भवतः यह नाम (ध्रुवपर्वत) से पश्चिम में ददरेडा-हो सकता है। मित्रावरुण की पूजा (गोगापरि) के नाम से बडे समारोह से प्रतिवर्ष भादोंमास में गोगा नवमी पर होती है। मित्र= गौर मृग। वरुण=घोडा-कहाने से नाम (गोगा) हुवा है। यह नाम द्वादशाक्षरेण भी हो तो यही विश्वेदेव भी कहाते हैं।

नामक स्थानोंसे केवल ३ मील उत्तर में शिवानी-खपाम की सडकपर है। इस प्रान्त के लोग इसे पूजते हैं। इसकी पूजा के अर्थ वर्षमें चैत्र शुक्र अष्टमी और अश्विन शुक्र अष्टमी को दो बडे मेले भी होते हैं। लोग इसकी बाबत कुछ भी नहीं जानते हैं। केवल कुछ लोग इसे 'मनसा देवी' कहते हैं। जो अनुमानतः 'मानुषी' का रूप होगा।

जान पडता है कि, प्रथम देवमाता राजपुत्रा अदिति के यहां १६ नगरों का राज्य था। पश्चात इस जगतमाता 'जगती' देवी के राज्यस्तोम बढ गये थे। १६ के आधीन ४४ स्तोम होगये थे। इसी कारण शिवानीवाले कहते हैं हम १४४४ नगरोंके राजा थे।

षोडशी स्तोमऽओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिंश स्तोमो वर्चो द्रविणम्। अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽभि गृणन्तु देवाः॥ (यजु०१५।३)

देवता दम्पत्ति है। षोडशी स्तोम का ओज (बल) धन है। ४४ स्तोम उसके वर्च (बल) धनवाले हैं। 'अप्सो' नाम से पुर-सा-ईष (राजा) यही अग्नि है। जो तो विश्वभर के देवों का पूजनीय है। १६ से ४४ स्तोम होनेका यह पता है। यहां पश्चिम में अधिक ग्रामों के नाम स्त्री वाची हैं। यथा ÷ मित्ती-मितानी-धेनोठी-वधनोई-खेडा-शिनी-(षोडशी)-कामरी-मंगाली-भिरानी-भेरी-गावइडी-गोरछी-वनगोठरी-कुरदी॥ इत्यादि यह प्रान्त पुराणों आदि में 'स्त्रीराज्यं'* या "स्त्री हुड" नाम से लिखा गया है। वह यही प्रान्त है। जहां षोडशी अदिति का राज्य था। जहां 'क्षत्रियों' को अभय शरण मिला था। यही मित्रावरुणका मातृदेश था। जो अब खेडाशिवानी है। (४) राजपुत्रा अदिति माता हमें शत्रुओं से बचाकर मित्रावरुणके (देश) में ले जाये। अर्यमा हमें उत्तम मार्ग से ले चले जहां हम बहुत सी वीर सन्तानों तथा अहिंसक देवों द्वारा प्राप्त सुख भोग सकें। मित्रावरुण का देश यह है।

मित्ती-मितानी-हिटाईट-खत्ती

मित्ती-मितानी राजाओं का स्थान-देश-पितृ देश प्रमाणों तथा प्रत्यक्ष में वर्तमान दिखा दिया गया है। अब हिताइत व खती भी इसी वंश तथा प्रान्त के सिद्ध करके दिखायेंगे कि यह सब लोग हरयाणा व देहली से भारत से बाहर धावा करने गये तथा बाहर के देश से नहीं आये थे। इनके लेख मेसोपोटेमियां की विजय के प्रमाण हैं न कि भारत में आनेके—

हिताइत

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि 'हेतयो' नाम देवास्तेषां अग्निरिषवः। ते नो मृडत ते नोऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ (अथ० ३।२६।१)

ध्रुव स्वर्ग पर्वत से पूर्व दिशा के 'हेती' नामके देवता हैं। और उन के अग्नि बाण हैं। वे हमें सुख दें, आज्ञा दें। उनको नमस्कार है।

हितनाम्नोऽपत्यं = हैतनामः॥ पा० सूत्रे

हित नाम के पिता की सन्तान हैत नाम की कहाती है। पिता पुत्र दोनों से मिला नाम (हित हैत) हिटाइट हो गया है। हेती-वसु-अग्नि यह एक वंश के नाम हैं। इन्द्र मित्र अग्नि एक वंश है। वार्छवान (वसुवान) प्रान्त में पूर्व की ओर इनके हेतमपुरा और हेतमानवास दो नगर हैं। जो हेती देवों के स्थानों का प्रमाण है। अतः यही अग्नि व इन्द्र एकवंश सब मिलकर मेसोपटेमिया की ओर विजय के लिये हरयाणासे गये थे।

खत्ती (क्षत्री)

पञ्चदशभिरऽस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपति रासीत्॥
(यजु० १४।२९)

इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोरधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं 'पञ्चदश' स्तोमः॥ (यजु०१४।१५)

÷ मित्ती रेडुवान् (मिट्टीरेड्डवोंवाली) भी इधर दूर ७ कोसपर पश्चिम में हैं। जहां एक पुरातन थेह उजड पडा है। यह बीकानेर राज्यमें है। रेडु गोत्रके लोग यहां से कई ग्रामों में फैले हैं। हमें जांच नहीं कि रेडू= ऋतुपितर है। या अनुरोध नक्षत्र मित्रका है, या रेड्डी वाग है या तृणेडू यमदूत। पुराण ग्रन्थों में जिस स्त्रीराज्य का वर्णन मिलता है वह यही अदिति देवी का राज्य है। जिसका पता नहीं था, आज यह पता देते हैं।

* जामदग्न्य राम कालमें इस (स्त्री राज्यमें) कुछ क्षत्रिय वशों ने छुपकर अथवा अदिति राज्य में शरण ले जानबचाई थी इस से यही पाया जाता है कि अदिति राज्य यथार्थ में पापशून्य था। यही मित्रावरुण राजाओं की माता अदिति देवमाता की रियासत थी। जो स्वयं राजपुत्रा (दक्षपुत्री) थी और जिसके पुत्र राजा व सम्राट बनेथे।

पंचदश १५ की स्तुति की गई । तो क्षत्रियों की सृष्टि हुई। जिस समय 'इन्द्र' राजा था। पञ्च, अर्थात 'क्षत्रियोंका जन्म' इन्द्र से हुआ था जिस का संकेत (१५) भी है। इन्द्र का भाग है। विष्णु पर अधिपत्य। क्षत्र प्रजावाना। 'पंचदश' (१५) नगरों का उसका स्तोम नगर समूह है। यह इन्द्रस्तोम (पञ्चदश) नामसे बडे विस्तृत खंडहरों और (थेह वाला) पुरातन नगर हैं । जिसके ५ ग्राम (खेतलायन) क्षत्रायन कहाते हैं।

खेतलान (क्षत्रायन)

यहां सारे देश में ५ ग्राम समूह 'खेतलान' नाम के विख्यात हैं। जहां पाचों ग्राम 'खेतलान' गोत्र के हैं। इनके नाम ये हैं। मीरान (मरुत्वान्) मेरा (वृत्रहा) मन्ढायन (मध्यंदिन) सन्ढान (सांड वा वृषभ) जेनावास (जेष्ठवास) यह 'क्षत्रायन' वेदकाल का क्षत्र वंश प्रमाण है। जो इन्द्रवंश है। मित्ती-मितानी स्थानों से ७ कोस पूर्व है। हेती स्थान से १० कोस पश्चिम है। यहां से ये चारों वंश अपने मातृपितृ नामों के स्थानों (मिती-मितानी-हेतमपुरा-खेतलान) से मिसो पोटमियाको तरफ धावा करते गये। जहां राज्य स्थापना की, स्मृति में अपने कुल देवों की शपथ से लेख लिखे। जो कि वहां की राज्यस्थापनाका स्मारक है, नकि वहां के निवासी होने का प्रमाण है ?

इनका उत्तर पश्चिमदिशामें जानेका कारण

मित्रावरुण नेत्रेभ्यो देवेभ्यः वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्य 'उत्तरासद्भ्यः' स्वाहा। विश्वेदेव नेत्रेभ्यो देवेभ्यः 'पश्चात्सद्भ्यः' स्वाहा॥ (यजु० ९।३५।३६)

उत्तर दिशा में रहनेवालों के 'नेता' राजा 'मित्रावरुण' और 'मरुत' देव हैं। उनको आदर युक्त होकर बुलाते हैं। और 'पश्चिम' दिशा में विराजने वालों के 'नेता' (रक्षकराजा) विश्वेदेव (जिनमें इन्द्र-मित्र-वरुण सर्व) देव हैं; पीछे देवोंके राजविभाग बताया था। कि पश्चिम की दिशा का राजा वरुण है जो विश्वेदेवों में भी है। और उत्तरका राजा 'सोम' बताया था।

× सोमश्चतुरक्षरेण-चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुजेषम्। (यजु० ९।)

सोमराज- ४ अक्षर-४ पद युक्त (पशुसम चार पद) होनेसे उत्तर चौथी दिशा के ४ राजा (मित्र, वरुण, मरुत, विश्वेदेव,) सम्मिलत रूप में प्रबंध करनेवाले निश्चित थे। इसी कारण (मित्ती-मितानी-हिताहेत-खती) उत्तर पश्चिम दिशा के राज-शासन को संभालने तथा प्रबंधार्थ ये ४ वंश गये थे। जिनके कुलदेवता (इन्द्र-मित्र-वरुण-अश्विनौ) थे। जिनकी शपथ लेकर वहां संन्धीपत्र इन्टोंपर लिखा कि परस्पर में भेद न हो सके। इनके मुख्य स्थान यहांपर बसे हुए हैं। जहां से यह (मेसो-पोटामिया) पहुंचे थे।

मित्रावरुण और पश्चिमोत्तर देश

प्रथम कहा जा चुका है कि मित्रावरुणादि 'एकदेव' के नामों से हैं। विश्वदेव भी कहाते हैं। तथा इनके बहुत नाम व संकेत हैं। विश्वदेव नामपर 'वेडवाल' पश्चिम में यहां है। इनकी राजधानी या (छन्द) जगती या 'जागेतन' कहाती है। यह बीकानेर राज्यान्तरगत (जान्सेल-) होनी सम्भव है। जगनेर-जेसलमेर-भी यही भाव दिखाते हैं। उत्तर में जीन्द (जगती है) जेतो (जगतो) नाभास्टेट-पंजाब का (जगरावों) जहलम् इसी भाव का अनुमान कराते हैं।

सदो द्वा (ऋ० ८।२९।५) में मित्रावरुणा का सांझा नाम (दो सत) दिया है। जो 'सतरावला' नामसे हरयाना में प्रसिद्ध है। इसी नामसे यहां एक प्रान्त ही (सतरावला) नामका 'सतरावल' वंश जहां वसता है। जहां सतारावाला (देवता) का मन्दिर था। जहां इस देवता की पूजा होती थी। यह मन्दिर और 'सतरावल खेडा' व अब खंडहर व उजड हैं।

यहां सतरावल प्रान्तपर मित्र व वरुण के दोनो 'नक्षत्र' उदय होते हैं। जो 'शतभिज व अनुराधा' नाम के हैं जो अनुराधा के ठेठ नीचे 'नारनोंद' नामका नगर है जो अनुराधा का विकृत रूप है। इस नक्षत्रको लोग सप्तऋषि कहते हैं। परन्तु वेद में यह नाम नहीं है।

× सोम = चतुष्पद और पशु विजेता हैं॥ पूषा = पशु-पंच दिशि पति है। पशु = यज्ञ है। सो अन्न है। ४ का युग = सोम का संकेत है॥ ४ राजाओं-का युग 'सोम नामका राजा हुआ। जो ४ दिशाओं पर राज करता था। अतः यही स्थान- अदिति = गौ- वशा = है॥ जो मित्रावरुण विष्णु = राजा-यज्ञ = त्वष्टा = द्यावापृथिवी = सोम राजा का स्थान है।

अनुराधा नक्षत्रं मित्रोदेवता । शताभिज नक्षत्रं वरुणो देवता । कृष्णयजु की तैत्तिरीय सं० में यह है । ' नारनौंध ' नगर की आकृति उसके वासविभाग ' अनुराधा ' नक्षत्र समान हैं। यह नगर ध्रुवपर्वत से ठेठ उत्तरमें २५ कोशपर है जो जीन्द (जगती) से १२ कोश दक्षिणमें 'सतरावल' प्रान्त में है शतभिज नक्षत्र के नीचे (सतरावल खेडा व मन्दिर थे) इसके पास पाली (**आपःवाली**) नगर है जो आपः (वरुण) नामपर है।

शतभिषजः जातः शातभिषजः॥ (पा० सू० ४।३।३४) के अनुसार- शातभिषज नामसे ' सातरावल ' नाम हो। इसका निश्चय करनेका अभी हमारे पास कोई विशेष साधन नहीं है कि सातरावल = ' सतोद्वा ' है या ' शाताभिज ' है जबकि दोनों ' नक्षत्रस्थान ' पास पास ही हैं । और दोनों देव मित्रावरुण भी एक हैं। सतोद्वा अवश्य ' सिद्धो ' वंश ही है। और अधिक यही सम्भव है कि, सतोद्वा = सतरावला- कहा गया है । जो मित्रावरुण वंशके महाराजा- (जीन्द-पट्याला- नाभा) का प्रसिद्ध गोत्र है। जो ४०० नगरों का जाठगण यहां है, **मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः** । (यजु. २९।५४) से मित्र = पेट (गर्भ) वरुण = नाभि नामपर- पट्याला व नाभा हैं। ' जीन्द ' जगती है। जो मित्रावरुण विश्वेदेवों का छन्द = किला था। अब भी यह ७२ ग्रामों का प्राचीन परगणा होनेसे यहां बडा किला है। ४८ जगतीके १२ विश्वेदेव और १२ विश्वेदेवों का प्रान्त १२ ग्रामों के नामपर- वाराः विख्यात होनेसे ७२ नामसे प्रसिद्ध है । सब लोग यहां ' जीन्द ' को ' बहत्तर ' नामसे कहते हैं ।

आर्य जाति का जन्मस्थान

महाशय विंक्लर तथा उनके अन्य योरुपियन भ्राता यही बताते आरहे हैं कि आर्यन मध्य एशिया की तरफ से भारत में आये थे अर्थात् वे विदेशी हैं। परन्तु वे ऐसा कहने में बडी भूल कर चुके हैं जिससे इतिहास पर एक अन्धकारमय परदा पड गया है। इस की सचाई प्राप्त करनेमें बडी रुकावटें पड गई हैं। परन्तु ये लोग केवल मेसोपोटामिया आदि के लेखों को पाकर एकतर्फा न्याय करने में भूल कर चुके हैं। क्या इन लेखों से यह सिद्ध होता है, कि वह मित्ती-मितानी-आर्यराजा- इबेरिया से आये और भारत को चले गये ? यह केवल उनकी अपनी कल्पना मात्र है।

जब कि वे यह भी नहीं जानते-कि "मिती-मितानी"-कौन थे? वे किधरसे आये थे ? और आर्य जाति का " जन्मस्थान " कौन देश है ? मित्ती-मितानी-के स्थान तथा मातृ व पितृ देश कहां हैं? हिटाइट व खत्ती कौन थे । और उनके जन्मस्थान किस देश में हैं । इत्यादि बातों की जांच बिना असम्भव कल्पना द्वारा उलटी गङ्गा हिमालय को बहा दी है ! जिस से इतिहास (हिस्ट्री) जैसी पवित्र विद्याको भ्रमयुक्त बनाकर व्यर्थ कर दिया है।

इसी लिये यहां-मित्ती-मित्तानी के स्थान तथा हिटाइट-खत्ती (क्षत्रिय) आदि का पूरा पता वेदों के मंत्रोंद्वारा प्रत्यक्ष देखा जाने योग्य भेंट किया गया है। जिस के साथ यह भी सिद्ध है कि मित्ती-मितानी = मित्र व मित्रावरुण वंश हैं। जिनका मातृदेश तथा मातृराज्य भी भारत में थे । मित्र के देश में पितृलोक (फादरलेंड्) वेदकाल से स्थापित है। जो आज भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है अतः सर्व प्रमाण यह साक्षात् करते हैं कि ये लोग भारत के पितृलोक के अपने नामोंके स्थानों से अपनी राज्यस्थापना के लिये बाहर गये थे जहां विजय प्राप्त कर अपना " राज्यस्मारक शिलालेख विन्दु लिपि" में लिखकर विजयस्तम्भ गाडा था ।

ये प्रमाण स्वयं अपना प्रमाण आप हैं कि लोग भारत से वहां गये थे, कदापि यह नहीं पाया जाता कि ये बाहर से यहां आये थे । क्योंकि मध्य एशिया में न आर्य जाति का जन्म ही हुआ नहीं वहां वेद बने थे न वहां आर्यों का मातृ व पितृ लोक ही सिद्ध हैं हरयाणा ही सबकी जननी है। यहां यह दिखाया जायेगा कि मित्रावरुण देवों से आर्य जातिका जन्म हुआ। और वह स्थान भी यहां वर्तमान है, 'आर्य' नाम केवल वैश्य जातिके लिये वेदमें आता है। सब को आर्य नाम देना एकलाठी से हांकना बडी भूल है। आर्य बाहर के देशों से आये हैं ऐसा कहना केवल अटकलपच्चू और वेद विरुद्ध है ।

(१) **नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्य्यावसृज्येतामहोरात्रेऽ- अधिपत्नीऽअस्ताम्** । (यजु. १४।३०)

(२) **तपो नवदशो** ॥ (यजु० १४।२३)

(१) नवदश (९+१०=१९) की स्तुती की गई। तो शूद्र-आर्य दो जातियों की सृष्टि, जन्म हुआ जिस समय दिन-रात की रानी का राज्य था। यह शूद्र-आर्य-जातियों का जन्म इतिहास इतना स्पष्ट है कि सन्देह करने को जगह नहीं रहती । यहां समय तक का स्पष्ट पता दिया गया है। नव-

दश-अहोरात्र-जैसे संकेत हैं। और यह " मित्रावरुण " के संकेतिक नाम हैं। नवदश का तप भी संकेत है। प्रथम पितरों की उत्पत्ति के विषय में बताया जा चुका है कि-९-मित्र का नाम हैं। दश-वरुण का संकेत है। (नवदश-अहोरात्र-तप) यह भी मित्रावरुण के संकेतिक नाम है। यथा-

(३) ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। (ऋ. १०।१९०।१)

' प्रज्वलित तपद्वारा ' यज्ञ ' और 'सत्य' उत्पन्न हुए। पश्चात दिन-रात्र-उत्पन्न हुए। और जलपूर्ण समुद्र उत्पन्न हुए यह भी संकेत है।'

(४) मित्रो नवमे। वरुणो दशमे॥ (यजु० ३९।६)

मित्र ९ वां देवता हैं। ९ अक्षर युक्त है। ३ स्तोम हैं। नवमी व तृतीया तिथि हैं।

(५) मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतं स्तोम॥ (यजु० ९।३३)

वरुण दसवां देवता है। १० अक्षरवाला ' विराट ' छन्द-वाला है।

(६) वरुणो दशाक्षरेण ' विराज० ' (यजु० ९।३३)

यही विराट वंश कहाता है। इसका स्थान विराट (त्वषाम) है।

(७) सैषा दशाक्षरा विराट्॥ (शत० ११।३।४)

दोनों ' मित्रावरुण ' वंश एक माता अदिति के पुत्र हैं। इन दोनों के मिलने से एक नाम ' मित्रावरुण ' हुआ। इनके वेद में अनेक संकेत हैं जिनको समझना सहज नहीं है। दशराज्ञ नामक वैदिक युद्ध को लोग १० राजाओं का युद्ध समझते हैं। परन्तु वह एक सम्राट स्थान त्वष्टा के त्वषाम पर्वतका नाम जिस के यजु. १०।३० में सम्राट देवता माना है। जहां १० देवता एकत्र थे। यही स्थान (एकदेव) भी कहा गया है। यथा-

सविश्रा प्रसवित्रा, सरस्वत्या वाचा, त्वष्टुः रूप-पूष्णः पशुभिरिन्द्रेणास्मे-बृहस्पतिना ब्रह्मणा-वरुणेनौजसा-ऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुनैव दशम्या देवत्यान्वविन्दत्॥ (शत. ५।४।५)

मेंभी यही है। यह १० नामोंका सम्राट स्थानदेव 'त्वषाम' है।

नवदश= मित्रावरुण राजा व सम्राट वंशी थे। जिनसे दो प्रकार की जातियां घरेलू सेवक और वैश्य (आर्य) जन्मे थे। राजवंशी रईसों के यहां सभी कार्य सेवक करते हैं। वह स्वयं परिश्रम नहीं कर सकते। घरेलू दासप्रथा वेदकाल से चली आ रही है। राजघरानोंमें बांदी-लौंडी-वासवानी सेवकायें व सेवक रहते हैं जो विश्वास पात्र होते हैं। जैसे आज भी रईसों के यहां पासवानी व (पडदायत) पत्नियों से दरोगा-रावणा-तथा रावराजा नामक सन्तानें हुआ करती हैं। इसी प्रकार प्रजापति मित्रावरुण की प्रजा घरेलू सेवक भी हुए। तथा आर्य= (महाजन) श्रेष्ठ=सेठ नामसे प्रसिद्ध वैश्य हुए। वैश्य ही आजतक श्रेष्टि= सेठी (श्रेष्ठ=सेठ) कहे जाते हैं। जैनधर्म में अधिक संख्या वैश्य जाति की होने से प्राचीन समय से आर्य और आर्या नाम स्त्री (साध्वी) के लिये जैन ग्रंथों में सर्वत्र लिखे हैं जो कि वेदके विरुद्ध मतानुयायी थे जो वेदको नहीं मानते थे। आर्य नाम को इसी लिये अपनाये हुए थे कि, वह (वैश्य) नाम था। केवल वेदानुयायी का नाम आर्य वेद में नहीं लिखा है। अतः मित्रावरुणकी प्रजा (आर्य वैश्य हुई) थी।

यह नवदश स्थान हरयाणा में हिसार से ४ कोस पश्चिम में १९ ग्रामों का समूह विस्तृत खंडरात व थेह सहित बसा हुआ है। जो 'नवदश' नाम से बिगडकर लवदस=लवदास नामसे प्रसिद्ध है। मिस्टर विंक्कर महोदय घटना स्थलपर पहुँचकर जांच करें तो उनको यह सचाई स्वीकार करनी होगी कि आर्यों जी जन्मभूमि हरायाणा (हिरण्यमय देश) है जो हिरण्यगर्भ (मित्रावरुण) का देश है। जिसका एक भाग कभी आर्यवर्त भी कहलाता था। लवन = नवन=नोन-नवक्षरेण=लाख-लान बने इसी समान-नसेल-बदलकर लवदास बना है। लवदास= के पास २ कोसपर ' सेंधडे ' नामका ग्राम बसा हुआ है। जो शूद्रार्य को बताने में संकेत कर रहा है। किन्तु जांच नहीं की गई है। शोंधु=शिन्धु=शिन्धुडा भी एक गोत्र जाटों में मिलता है।

इसी नामपर यहां एक (मित्र वंश) मैडक्षत्रिय नामक जाति में ' लुदर ' गोत्र है। जो लुदास स्थान से सम्बंध सिद्ध करता है। इसी नामपर ' जैसलमेर ' (जागतेन) के निकट ' लुदखा ' नाम का राज्यस्थान भी था। जब यह वंश जहां लुदर वंशका राज्य था एशिया में फैला तो मित्रावरुण की राजधानी लेडिसया नामकी हुई। जहां प्रथम स्वर्णमुद्रा (मुहर) बनी थी। देखो महता जैमिनीका (जगतगुरुभारत)

अहोरात्र = दिन व रात-यह भी मित्रावरुण का संकेत है। मित्रदेव की पूजा दिन में की जानेका विधान है (गोगा पीर)

की रातजगाना-वरुण की पूजा है। द्वादशी की रातको खीर द्वारा गोगा वा केशरया पूजा होती है। मित्र की पत्नी वेद में इसीलिये 'उषा' कही है। वरुण की पूजा रात्री को करने की वेदाज्ञा है। वरुणपत्नी 'रात्री' है 'उषासानक्ता'– दिनरात्र की पत्नी दोनों नामों से युक्त है। वैसेही मित्रावरुण-अहोरात्र-तथा-नवदश-हैं। उषासानक्ता नामपर यहां त्वषाम से ७ कोसपर 'लेखा न-कटा' नाम के दो ग्राम वसे हैं। जो बिगडे शब्द हैं। जिस समय मित्रावरुण-अहोरात्र की पत्नी राज करती थी। तब आर्य और-शूद्र-दो जातियां उत्पन्न हुई थीं।

अहोरात्र = नामक स्थान अब उजड पडा है। जहां खेत बोया जा रहा है परन्तु नाम बाकी है और इस नामपर वंश भी हैं। यह स्थान मित्तीमितानी से ३ कोस पश्चिम उत्तर में खेडाशिवानी-षोडशी (षोडशी शिवा) स्थान के पास बहुतसे अन्य नामों के 'खंडरात' सहित विख्यात है। पटवारी के कागजोंमें भी इसकासा नाम-'लाडर' (लाठरखेडा) बाकी है। जो भाषा की बोलचाल में बिगडकर 'लाठर' कहा जाता है। इस वंश के 'जाट' 'सीधमुख' बीकानरमें हैं। अन्यत्र भी हैं। और जीन्द राज्य में जीन्द (जगती) के पासही इस वंश के ८ ग्रामों का गण है। जिनके प्रसिद्ध ग्राम-लजवाना-ज्वलाना हैं। शिवानी से आकर वहां वसना बताते हैं।

अरोडे = अहोरात्रेसे–अधिक सम्बंधित ज्ञात होता है। इसलिये आरोडे = अहोरात्रेही सम्भव है। पंजाबी भाषा में यह अहोरात्रे = अहरोडे से अरोडे बना स्पष्ट सम्भव है मित्रावरुण राजवंशी वैश्य वृत्ती से युक्त पंजाबभर में फैले हुये हैं। जो मित्रावरुण वंश की शासक दिशा है। मित्रावरुण वंश भारतभर में विस्तार से वसा हुआ है। और मित्रावरुण वंश सतोद्रा = सिदधू = महाराजा आज भी राजा है। आर्य = श्रेष्ठ = वैश्य जाति के कथनपर आक्षेप करनेवलों को वेद की जांच करनी चाहिये। यजुर्वेद १४ अध्याय में अनेक प्रकार की सृष्टि लिखी है। प्रथम 'खत्ती' के सम्बन्ध में क्षत्रिय जातिका जन्म इन्द्र से लिखा है। शूद्र-आर्य (वैश्यश्रेष्ठ) दो जातियों का जन्म (नवदश) मित्रावरुणसे लिखा जा चुका है, विराट पुरुष राजा की प्रजायें—

त्रिसृभिरस्तुवत 'ब्रह्मा' सृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्।

(यजु. १४।२८)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासित् मुखात् इन्द्रश्च अग्निश्च (ऋ.१०।९०)

तीन की स्तुति की गई अथवा ३ के द्वारा स्तुति की जाने से 'ब्राह्मण' जाति की सृष्टि की गई। जिस समय बृहस्पति = राजा था। बृहस्पति = इन्द्र है। जो इन्द्र-मित्र-वरुण-एक के नाम हैं। तथा एकही आदित्य देव वंश है। नाम मात्र का भेद है। यह चौथा प्रमाण 'ब्राह्मण' ब्रह्म सृष्टि का है। क्षत्रिय-वैश्य (आर्य) शूद्र सेवक या (दास) चारों का जन्म स्पष्ट लिखा होनेसे यह जाति जन्म से कही जायेगी। इनको 'वर्ण' जो कर्म या रंग पर हो सकता है नहीं कहा जायेगा। जब वेद में स्पष्ट ४ जातियों के जन्म का पूरा इतिहास समयसहित लिखा है। जो स्वतः प्रमाण है। तब इनको वर्ण समझना वेद से उलटा होगा। यह तिसृ- ३ का है। मित्रावरुणः-अश्विनौ-की त्रैवार्षिक यज्ञ में। वसिष्ठ-अगस्त्य-अत्रि-भृगु-अङ्गिरा जो ब्राह्मण गौत्र बने, वंश जन्म वेद से प्रमाणित हैं।

आर्यों का ध्रुवदेश और राजा मित्रावरुण

श्रीलोकमान्य तिलक महोदय "आर्योंका मूलस्थान" नामक पुस्तक में आर्यों का देश ध्रुव नाम का लिख गये हैं। परन्तु वह वेदों के ध्रुव देश को खोज नहीं सके थे, वह स्वर्गीय ध्रुव देश यहां बताया जायेगा। जहां के मित्रावरुण राजा थे, त्वष्टा को ध्रुवस्थान में लोहेकी वाशी द्वारा स्थान बनानेवाला प्रथम लिख आये हैं। जो सब देवदेवियों का स्रष्टा है।

(१) ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥१॥

(१) ध्रुव-स्वर्ग-पृथिवी = द्यावापृथिवी और यह सब पर्वत जो यहां है ध्रुव हैं। यहां का यह सारा जगत और प्रजाओं का राजा ध्रुव है।

(२) ध्रुवं ते राजावरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥

(अथ० ६।८८।२)

(२) ध्रुव स्वर्ग तेरा राजा मित्रावरुण व बृहस्पति देव ध्रुव है। इन्द्र अग्नि (विश्वकर्मा) जो राष्ट्र को धारण करते हैं ध्रुव हैं।

(३) ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु।

विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः ॥
(जगद्बीजः पुरुषः अथ० १९।६।९)

(३) यह ध्रुवस्वर्ग (विराट्) है। इस को नमस्कार है। यह मेरा व मेरे पुत्रोंका कल्याण करनेवाली हो।

(४)सा नो देव्यदिते विश्ववारे इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम्
(अथ० १२।३।११)

(४) जो अदिति देवी विश्वको धारण करनेवाली राज्य रक्षक है। अपने,शासनद्वारा पक्की रक्षा करे।

(५) उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्॥(यजु० ११।६४)

(५) बृहती स्वर्गपत्नी तू उठ तू ध्रुव है। ध्रुव समान ध्रुव होकर यहांपर ठहर।

(६) बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥ (ऋ० १०।१३०।४)

(६) बृहती छन्द वाच बृहस्पतिने अपनाया था।

(७) अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा
अधिपतयो बृहस्पतिः ॥ (यजु० १५।१४)

(७) बृहती दिशा अधिपत्नी है। विश्वे देव तेरे देवता हैं, बृहस्पति वहां राजा है।

(८) विराण्मित्रावरुणयोरभिश्री। (ऋ० १०।१३०।५)

विराट (छन्द) मित्रावरुण का हुआ जो विराट ध्रुव स्वर्ग कही है।

(९) ध्रुवादिग्विष्णुरधिपतिः ॥ (अथ० ३।२७।५)

(९) ध्रुव दिशा का विष्णु राजा है। विष्णु = त्वष्टा-यज्ञ-राजा कहाता है।

(१०) भवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासो ॥

(१०) ध्रुव नाम का पर्वत मेरी रक्षा करे।

(११) शं नः पर्वता ध्रुवयो× भवन्तु।
शं नः सिन्धवः, शमु सन्त्वापः ॥

(११) ध्रुव पर्वत (स्वर्ग) शान्ति करे। सप्तसिन्धु शान्ति करनेवाले हों, आपः (समुद्र) शान्ति करे।

(१२) ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा॥
(अथ० ९।३।२९)

(१२) अन्तरिक्ष या ध्रुव दिशा (स्वर्ग-शाला)को नमस्कार है। महीमना देवी को सोहन बुलावा है।

(१३) सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः
कल्पतामिह ॥ (अथ० ६।८८।३)

(१४) पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम् ॥
(अथ० ५।२५।१)

सबका भरणपोषण कर्ता योनि अङ्गपर्वत (स्वर्ग) है।

(१३) ध्रुवराजा का यह स्वर्गस्थान ध्रुवपर्वत पर था। जहां से सारी दिशाएं स्थिर की गई थीं। ध्रुव सम्राट का साम्राज्य स्थान कहाता था। जहां राजाकी सभा व समिति स्थापित थी। यही स्वर्ग अनेक नामोंसे वेद में कहा गया है। जो पर्वत है, विराट है बृहती अधिपत्नी है। इसी से ध्रुवपर्वत सप्तसिन्धु और आपः वरुण के समुद्रादि को प्रार्थना की गई है। यह सब एकस्थान ध्रुवपर्वत के हैं। क्योंकि सप्तसिन्धु यहां से ही निकलते थे। मित्रावरुण यहां के राजा थे, अतः यह आर्यों का देश था। उत्तरध्रुव (कुतबनुमाली) या मध्य एशिया सुमेरिया से आर्यन नहीं आये। न वह वैदिक देव देश थे। वही ध्रुवस्वर्ग मध्य अन्तरिक्ष पील्हमति नामका स्वर्ग था। जहां विश्वे देव रहते थे। यही वेदकी (ध्रुवधरती) है।

ध्रुवदेश

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इयन्ते
राडयन्तासि यमनो ध्रुवोसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥
(यजु० ९।२२)

इसका देवता वैदिक यन्त्रालय की छपी पुस्तक में 'देश' लिखा है।

चारों दिशाओंका स्थापक "ध्रुव देश" यह मध्य केन्द्र ध्रुव पर्वत) था। यहां से मध्य में सम्राट या पांक्त पुरुष = राजा रहता था। जो पांचों दिशाओं को वशमें रखता था। यह संसार की प्रथम मातृभूमि (ध्रुव) स्वस्तिक चिन्ह के रूप में आजतक सर्वत्र पूजी जा रही है। जिससे चारों दिशाओं की सीमा और चारों दिशाओं के पथों का ज्ञान होता है, उसे नमस्कार किया जाता है। हे पृथिवी माता नमस्कार है, तेरेको नमस्कार है। तू ध्रुव नामकी धरती है। यह तेरा पृथिवीका राज्य है। यम तेरा राजा यन्ता व यमन कर्ता है। हमारे लिये तेरा बल, तेज, धन होवे। तू स्थिर ध्रुव है, सबकी धारण करनेवाली है तुझे खेती-क्षेम-सुख-धन-पुष्टि के लिये कल्याण के लिये स्थापित करता हूं।

वेदनिर्माता ध्रुव देश

ध्रुवा याश्चोर्ध्वा याश्च पुराण वेदम्। (गोपथ०पू०१।१०)

ध्रुव (नीचे का भाग) और उपर का भाग (ध्रुव पर्वत) स्वर्ग में 'पुराण वेद' नामका वेद बनाया गया था।

× मित्र वंश (गर्भ) पेट पटयाला नाम के साथ ध्रुरी (ध्रुवी) स्टेशन ध्रुव स्वर्ग का नाम वहां पहुँचा है।

ध्रुवाः सहस्रनाम्नीः भेषजीः सन्त्वाभृताः॥ अथ. ८।७।८

ध्रुव स्वर्ग सहस्र नामोंवाली ओषधी तेरा भरणपोषण करे।

(१) ध्रुवासि पृथिव्यसि। (२) ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि।
(३) ध्रुवासि द्यौरसि। (४) ध्रुवासि दिशोऽसि ॥
(यजु० १३।५८।१-४)

ध्रुव जो है, वही पृथिवी लोक है ध्रुवही अन्तरिक्षस्वर्ग है। ध्रुव ही द्यौ (स्वर्ग) है। ध्रुव ही दिशा है, (जहांसे दिशायें नियत हुई।)

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे। (ऋ० १०।९४।१२)

ध्रुव पर्वत स्वर्ग का राजा वा पिता युगयुगान्तरों से प्राचीन है।

द्यावापृथिवी--सप्तसिन्धु और वरुण सम्राट्

जिस ध्रुव देश को वेदमन्त्रों द्वारा लोकमान्य तिलक ने बताया था परन्तु जिसे खोजा नहीं गया था वह ध्रुवदेश स्वर्गीय भूमि 'तोशाम' है, यही आर्यों की जन्मभूमि है यह बता दिया गया है। अब यह बताना है कि, सप्तसिन्धु प्रदेश कहां है, जिसे कुछ ऐतिहासिक विद्वान् भारत से बाहर समझ बैठे हैं! उन में कोई स्वात-हिरातादि (काबुल) के निकट की नदियों को जोडते हैं। तो कोई पंजाब के पांच दरयाओं के साथ (गङ्गा यमुना) को जोडते हैं। जो सर्वथा ही असम्भव जोड है।

द्यावापृथिवी को तो हमारे विद्वान् जानते ही नहीं। जिसे देवोंकी जननी नाम से वेद बताता है उसे कुछ विद्वान् तो केवल (आकाश-भूमि) मान बैठे हैं। जो सर्वथा ही वेदसे विरुद्ध बात है। कुछ थोडासा परिचय प्रथम द्यावापृथिवी के विषय में कर चुके हैं। जो कि 'दक्षिण पार्श्व' के प्रमाण से लिखा गया था। क्योंकि (द्यावापृथिवी) के ही दो भाग होकर, द्यावापृथिवी और विश्वेदेवी रूप बन गये थे। प्रथम यही ध्रुव पर्वत ही द्यावापृथिवी था। जो ३ प्रकारका स्वर्ग पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ कहाता था। वहां से ही 'सप्तसिन्धु' बहते थे और ये वरुण देवके शिर से झरते थे। द्यावापृथिवी व सप्तसिन्धुकी सीमा भी समान थी। जहां मित्रा-वरुण राजाओं का साम्राज्य था। यही त्वष्टा का परमेव्योम था।

यावती 'द्यावापृथिवी' यावच्च 'सप्तसिन्धवो' वितास्थिर।
(यजु० ३८।२६)

जहांतक द्यावापृथिवी है। जहां तकही सात नदियां फैली हैं। यह स्पष्ट (भौगोलिक) प्रमाण बता रहा है कि द्यावापृथिवी (स्वर्ग व पृथिवी लोक) सप्तसिन्धु स्थान से युक्त थे जिनकी सीमा समान थी। अब यह जानना रहा, कि सप्तसिन्धु कहांसे निकलते थे और वे कहांपर थे।

रुद्रदेव निर्मित सप्तसिन्धु

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून्।
(अथ० ६।६१।३)

रुद्रदेवता कह रहे हैं, कि मैंने पृथिवी और स्वर्ग और ऋतुओं को (जन्म दिया है) अथवा बनाया है और मैंनेही सात नदियों को बनाया है।

वरुण के शिर से सप्तसिन्धुओंका निकास

सुदेवो असि वरुण यस्य ते 'सप्तसिन्धवः'।
अनुक्षरन्ति 'काकुदं' सूर्म्यं सुषिरामिव ॥
(ऋ० ८।६९।१२; निरु० ५।४।२७)

सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स 'मध्यमो'
नभन्तामन्यके समे ॥ (ऋ० ८।४१।२)

वरुण उत्तम देव है, तेरे काकुद (कन्ठ या) शिर से सात नदियां सुन्दर झरनोंके समान बहती हैं। जो मध्यस्वर्ग के वरुण देव सात नदियोंके उद्गम स्थान में सात बहिनें वाला है। वह हमारे द्वेषियों को नष्ट करे। वरुणका शिर (काकुद) उंची पहाड की चोटी हैं। जहांसे पानीके नाले गिरते हैं। इस त्वष्टा के पर्वत पर जो अष्ट चक्र हैं। उन में से सात पानी से भरे रहते थे। यही सप्तसिन्धु वरुण के शिरपर से गिरते थे, पर्वती वास पानीके बिना असम्भव था। अष्टम चक्र भूमि के निकट खाली होगा।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ 'वरुणस्य× कुक्षी' उत अस्मिन्नल्प
उदके निलीनः ॥ (अथ० ४।१६।३)

यह भूमि स्वर्ग, और बृहती स्वर्ग, दूर और उंचा अन्त-वाला (द्यावापृथिवी नाम) लोक वरुण देवता है या उस का यह लोक शी समान है: और यहां के दोनों (पूर्व-पश्चिम) समुद्र वरुण राजा की कोखें हैं। वह वरुण यहां थोडे गहरे जल में अपना घर बना कर रहता है। (यजु. ५।३६) से प्रमाणित है, कि वरुण राजाका सहस्र सुन्हरे खम्बों से युक्त महल था। जो

× अन्तरिक्षं मध्यंदिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ (अथ० ९।५।२०) यह त्वष्टा के पार्श्व है, देखो (अथ० ४।१४।८; ४।१६।३)

'ऋत सदन' नाम से विख्यात था। निकट ही यहां 'रतेरा' नामक स्थान विस्तृत खंडरात युक्त वसता है, जो (ऋतसदन) को बता रहा है, तथा रतेरा 'रात्री = रात्र' (ऋतसदन) मित्रावरुण सम्बंधी नाम हैं।

वरुण की नाभि

(१) वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्तात्। (यजु० १३।४४)

(२) वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमिति वारुणी च हि त्वाष्ट्री ॥ (शत. ७।४।२।२०)

(३) वरूत्रीष्ट्वा देवीः, विश्वेदेव्यावतीः। अहोरात्राणि वै वरूत्रीं ॥ (शत० ४।६।१।६)

विश्वेदेवी = (वेडी) त्वषाम पर्वत के उत्तर पार्श्व के पास एक स्तूप (मकान है) जो वारादरी कहाता है, सम्भवतः यह वरूत्रीं से विगडा नाम हो, इस स्थान के ४ कोनों में ४ लेख लगे हुए हैं अभी पढे नहीं गये हैं।

वरुण की नाभि (राजधानी) शरीरमध्य के समान राष्ट्रमध्य में यह नाभि समान (परमव्योम) किला था। वरुण और त्वष्टा समान हैं। जो वारुणी है, सोही त्वाष्ट्री है। अर्थात् यह त्वष्टा का त्वषाम् ही वरुण सम्राट का स्वर्ग तथा उस का शरीर बताया है, जिसके शिरसे सप्तसिन्धु वहते हैं। दोनों कुक्षी समुद्र हैं। नाभि त्वषाम पर्वत था। यहीं मित्रावरुण का देश है, जहां से ये वंश उत्तर-पश्चिम देशोंमें विजय के लिये गये थे।

मित्रवरुणका 'वशा' नाम का राज्य

वेद में काव्यसंकेत भरे पडे हैं। जिनको व्याकरण से नहीं जाना जासकता। इसी कारण वेद का तत्व नाश हो गया है। और कल्पनाओं द्वारा वेद का महत्व बदल दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण काल तक मित्रावरुण के देश तथा राज्य का नाम 'वशा' चला आता था। वशा के अनेक अर्थ हैं। परन्तु, यह अदिति-गौ-मित्रावरुण-द्याव-पृथिवी का नाम था। गौ-धेनु-जगती-अदिति के नाम हैं। ब्राह्मण काल तक इस मध्य स्वर्गीय देश का राज्य सार्वभौम एकराट समुद्र पर्यन्त था। यह सिद्ध हो रहा है।

" मध्यमायां प्रतिष्ठायां " दिशि ये के कुरु- पाञ्चालानां राजानः सवशो शीनराणां ॥ (ऐ. ब्रा अष्ट पञ्चिका० ३।३) मध्य दिशा के राजाओं का साम्राज्य-कुरु-पाञ्चाल-वशा-उशीनर ४ इन राजों से संयुक्त था। अर्थात् मध्य में यह ४ वंश साम्राज्य पति थे। कुरु वंश मध्यस्वर्गोत्पन्न वंश था। जिनके नामपर कुरुक्षेत्र या कुरुजांगल्य प्रसिद्ध है। पाञ्चाल (पांक्त = पंचदिशपति) पुरुष के नामपर था। वश में रखने से इसी अदिति वा द्यावापृथिवी का नाम वशा कहाता था। जो सारी दिशाओंका राज्य वश किये था। बुशान-और-गवाशन नामकस्थान भी यहां हैं।

वशा

(१) वशा द्यावापृथिवी० (यजु० २४।४४)

(२) वशा मित्रावरुणयो० (यजु० २४।८)

(३) वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव ॥ (अथ० १०।१०।१८)

(४) वशा समुद्रमध्यष्ठात् गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥ (अथ० १०।१०।१३)

(५) अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ॥ (अथ० १।१०।१)

(६) वशिनी नामासीयं दिक् तस्यास्ते यमोऽधिपतिः० ॥ (तै. सं. ५।५।१०)

(१) वशा = द्यावा पृथिवी- (२) वशा = मित्रा-वरुण का नाम है ॥ (३) वशा राजाओं की माता है। (जो अदिति- मित्रावरुणकी है। माता (४) वशा- स्वधे (द्यावा पृथिवी) नामकी (द्यौ वा पृथिवी) है। (५) वशा = समुद्र मध्य (अन्तरिक्ष) वा वरुण नाभि है। जो गन्धर्व और अप्सराओं का (स्वर्ग) है। यह देव और अप्सरों का राजा है। जहांपर (अर्धदेवा अर्ध असुरा) रहते थे। जहां सत्य के पति वरुण राज करते थे। वह वशा कहाती थी। (६) वशिनी नामकी दिशा है जहां यम (यमजदो) राजा, इस प्रकार मित्रावरुण का मध्यस्वर्गीय राजस्थान-वशा नामसे प्रसिद्ध था। वशा =, गौ है। जो वाग- जगती तथा अदिति का भी नाम है। अथर्व में "गौ" नामका सूक्त है। जिसमें सारे देवों का निवास गौ में ही होना लिखा है। गौ = वशा- में सर्व देव वसते थे यह सिद्ध है। अतः यही अदिति द्यौ-अन्तरिक्ष- पृथिवी विश्वेदेव-सबकुछ हैं (सब की जननी है। जो मित्रावरुण की राजमाता भी है, इसी रूपको बतानेवाला एक गौ का चित्र मिलता है। जिसके अङ्गों में सारे देवता बसे हुए दिखाये हैं। परन्तु कुछ समय से यह चित्र सरकारसे

(जब्त) कर लिया है। इस वशा देश का नाम महाभारत काल में ' गोवासन× ' नामक मिलता है। जहां शिवि नामका राजवंश राजकरताथा। यह त्वषाम प्रान्त है। जहां (शिवरा-यण) नाम का जाट वंश १०० ग्रामोंके गण रूप में ५२ ढेही नाम के देश में तथा लुहारू स्टेट में वसता है। इस वंश की ध्वजा महाभारत युद्ध समय जरकपुच्छ की थी। गोवासन देश था। इधर जरक बहुत होता है। शिवरायण = शिविराजन हैं। शिवि रौशीनरः (ऋ. १०,१७९) के ऋषि हैं। उष्णीषगिरी-त्वषाम पर्वत का नाम है। भाट लोग-शिवरायन और सुमरायन (उशीनरान) को भाई बताया करते हैं। सुमरायण के २५ ग्राम शिवरायन गण के निकट पचीसी नामसे प्रसिद्ध है।

नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नम ॥
(यजु. १६।२२)

अदित्यै रास्नासीन्द्राण्या उष्णीषः। (यजु० ३८।३)

उष्णिक छन्द पगडी समान है। जो त्वषाम पर्वत के शिर को उष्णीष गिरि कहा है। उष्णिक छन्द सविता संग हुआ है, ऋ. १०।१३०।२८ ॥ सविता-त्वष्टा है। सो ही अदिति द्यौ है। त्वष्टा वायू-शिवि वंश है, मित्रावरुण भी शिव हैं। यही इन्द्र पर्वत = परशु- इन्द्र का शस्त्र व परशु देश कहा गया है। भरत-नाम यहां से स्थापित हुआ। जिसपर भारतवर्ष देश है।

यौधेय-कौशय-त्रिगर्त-भरत-उशीनर-पर्शवा-योधेयादि ॥
(पाणि० सू० ५।३।११० गण० अ० ३)

महाभारतमें दूसरी जगह इनके ये नाम लिखें हैं। शिवि-त्रिगर्त-यौधेय-राजन्य भद्रकेकय-अम्बष्ठ-कौकुरा-तार्क्ष्य (त्वष्ट्र) वस्त्राप-पहलव-वशातल-मोलेयादि युद्ध में एकत्र थे ॥

भारतीय सार्वभौम एकराट साम्राज्य

साम्राज्य...सामन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौम...आन्तादा परार्द्धात् पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ताया एक राडिति ॥

उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरभद्रा इति ॥ (ऐ. ब्रा. अष्टमपञ्चक ३।३)

वह ' माध्यमिक ' साम्राज्य सार्वभौम एकराट पृथिवीसे समुद्र तक फैला था। जिस के ' मध्य ' के राजाओं के नाम पूर्व लिख चुके हैं। साम्राज्य ' वशा ' नामसे कहा जाता था। उत्तर दिशा के जनपद-उत्तर भद्र (मिडिया) कुतबशुमाली (हिमवन्त) देश और-" उत्तर कुरु "-कहाते थे। यूनानी जिसे "ओटर-कोरो " लिखते हैं।

इस साम्राज्य के समय पूर्व दिशा के राजा ' प्राच्य '-और दक्षिण के भोज्य-पश्चिम के देश नीचे समुद्रयुक्त होनेसे से इन नामों से कहते थे। मध्य के ' माध्यमिक '* भी कहाते थे। यही चतस्र-चतुष्टोम चार दिशाओं के स्थापन कर्ता और चारों दिशावों के मध्य ' साम्राज्य ' का सम्राट देश था। जो वरुण की ' नाभी ' थी। मेरा यह निश्चय है कि चतौडा-और मावि-मिका = (माझिमिका) नगरों के नाम यहां के वहां पहुँचे हैं। चत्तौडा का दुर्ग यहां के ' परमेव्योमन ' समान और चतुष्टोम= चत्तौड नाम से वहां रचा गया होगा।

यही नाम वेद में विशेषण रूप से-सम्भरण-और-ब्रध्नका विष्टप ' (स्वर्ग) लिखे हैं।

त्वष्टा=त्वषाम

(१) सम्भृतो सम्राट् ॥ (यजु. ३९।५)
(२) सम्भरण स्त्रयो विशां ॥ (यजु. १४ शत. ८।४।१।१४)
(३) विष्टम्भो वयो अधिपतिश्छन्दो। (यजु. १४।९)
(४) ब्रध्नस्यविष्टपं चतुस्त्रिंशो ॥ (यजु. १४)
(५) स्वराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपं ॥ (शत. ८।४।१।१४)
(६) एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः।
+ ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ (अथ. ११।३।५०-५१)

× स तु " गौवासन " शैव्यः सहितः सर्वराजभिः। ययौ मातङ्गराजेन राजार्हेण पताकिना ॥ (महा० १०।२०) सभा० २३।८ में शिवि त्रिगर्त-अम्बष्ठ-मालव-पञ्चकर्पट (पार्क) मध्यमक-वाट्यान-नाम एकत्र आये हैं जो एकस्थानी हैं ॥

* चत्तौड के निकट ही ' माधिमिका ' नामक प्राचीन नगर है। जो इतिहास में प्रसिद्ध है। इसी नामपर बौद्ध शाखा का नाम ' माझमिका ' था। बौद्ध इतिहास में मझमिका नाम विख्यात है। जो माध्यिमिक से बिगडा है।

+ त्वषाम की सीमा में १ कोस पूर्वदाक्षिण कोन में ' वडथल ' नाम का थेह ' वडथल ' टीपा प्रसिद्ध है। जो बडा भारी नगर था अब खेत है। सम्भवतः ब्रध्न विष्टप है। बालू में यह नगर दबा पडा है। मिस्टर विंक्लरने बिना जांचके ईरान व मिडिया आदि से आये मानकर भारत में आनेवाले प्रथम आर्य लिख डाले। और इसप्रकार सत्य हिस्ट्री को अन्धेरेमें डाल दिया।

(७) धर्त्रं वै चतुष्टोमः ॥ (यजु. १४।२३)
(८) प्रतिष्ठा वै धर्त्रं । चतसृभिर्दिंऽग्भिः ॥
(९) धर्त्रं वै वायू वा सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा ॥ (शत. ८।४)
(१०) अहं त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मि ॥ (कठ श्रुति. उ. २)

सम्राट = सम्भरत स्थान वाला । सम्भरण २३ स्तोम है ! विष्टप अधिपति राजाका स्थान । ब्रध्नविष्टप ३४ स्तोम । स्वराज्य स्थान ब्रध्नविष्टप है । जो यह अग्नि अन्न (यज्ञ) है वह ही ब्रध्नका स्वर्ग है । जो यह जानता है वह ब्रध्नके लोक ब्रध्नस्वर्ग का आश्रय पाता है । चतुष्टोम धर्त्र यावाधरती (ध्रुव) स्वर्ग है । धर्त = प्रतिष्ठा है । चतस्र दिशाओंसे युक्त है । धर्त्र ही वायू = इन्द्र वा सर्व भूतों का आश्रय दाता है । वह त्वष्टा है जो कहता है । मैं त्वष्टा हूं । मैं ही प्रतिष्ठा हूं । सब को प्रतिष्ठित कर्ता पिता मैं हूं ।

अतः सिद्ध होगया कि सार्वभौम भारतीय साम्राज्य स्थान, चारों दिशाओंको वश में रखनेवाला, सबका आश्रय त्वष्टा सम्राट नाभि ' त्वषाम ' था ।

अतः यह केवल कल्पना मात्र जानो कि मित्ती मित्तानी कहीं बाहर से यहां आये । प्रत्युत वह साम्राज्य रक्षार्थ बाहर के देशों में गये थे । जहां राज्यस्थापना कर अपने नामों के लेख लिख आये थे ।

भारतीय विद्वानों से प्रार्थना

यह अद्वितीय अछूती नई खोज विद्वानों की सेवार्थ भेंट जारही है । इसकी जांचकरें । घटना स्थल को प्रत्यक्ष देखें और निर्णय करें तथा अपनी शुभ सम्मति प्रदान करें । यह साक्षात वेद भूमि है । यहांपरही वेद बने थे । जो कुछ वेदों में लिखा है वह सब वेदके नामों सहित आज यथा स्थान यहां वर्तमान है ।

यह छोटासा लेख परिचयार्थ लिखा गया है । मुख्य वैदिक इतिहास आगे लिखा जायेगा । इस देश के लोगों की भाषा छन्दस है । जिसे आज ग्रामोंके रहनेवाले जाट जमींदार भी प्रतिशत वेद की छन्दस के शब्द बोल रहे हैं । वेद में जो नाम पितरों-देवों-गन्धर्वों-तथा राजाओं के लिखे हैं । सब यहां वंशों के वर्तमान हैं । और यथा स्थान व यथा दिशा वह यहां वेद प्रमाण युक्त वसते हैं ॥ यदि मि० विंक्लर इसे देख लेते तो ठीक होता ।

यह खोज मिस्टर विंक्लर की थियरी को-कल्पित-अधूरी -भारतीय इतिहास की जांच के विरुद्ध सिद्ध करती है । मिसोपोटमियाके लेख साम्राज्य की विजय के स्मारक हैं । जो भारत से वहां जाने का पूरा प्रमाण रखते हैं । जबकि मित्ती-मित्तानी -के स्थान-परिवार यहां आज भी विद्यमान है । कितना ऐतिहासिक अन्धेरा छाया है कि यहां मातृभूमि व पितृलोक में रहते हुये भी हम विदेशी इसलिये सिद्ध किये जाते हैं कि हमने अपना पूजनीय इतिहास स्वयं ही लुप्त किया हुआ है आशा है विद्वान महोदय इधर ध्यान देंगे । और विदेशी पनके कलंक का निवारण करेंगे । यह भ्रम हमें त्याग देना चाहिये कि भारतवाले कभी बाहर जाकर विजय नहीं कर सकें । और ये बाहर के आये हुए हैं । यह लेख स्वतः प्रमाण है । सर्वत्र वेद प्रमाण दिये हैं । साथ घटना स्थल वर्तमान हैं ।

अहिंसा

(लेखक- श्री० वसिष्ठजी)

हैजा, प्लेग जैसे संक्रामक रोगोंका प्रकोप होनेपर रोगियों को रोग मुक्त करनेके लिए चिकित्सा की कोई पद्धति भी पूर्ण सफल नहीं होती। अधिकांश रोगियों को रोग का आखेट बनना पडता है। इसीलिए चतुर चिकित्सक इन रोगों के कारणों को दूर करने, पूर्व रूपों के प्रकट होते ही चिकित्सा अपनाने का प्रचार किया करते हैं। इसी प्रकार असत्य, चोरी, लूट, हिंसा आदि को रोकने के लिए काम, क्रोधादि विकारों कुपथ्यों को रोकनेके लिए पूर्व रूप के प्रकट होते ही चिकित्साको अपनाने के प्रचारकी जरूरत है। कुपथ्य किये जा रहे हैं, दोष, विकार संचित हो रहे हैं किन्तु रोगके प्रत्यक्ष लक्षण न देखकर हम परम शान्ति मानकर निश्चिन्त हाथपर हाथ धरे बैठे हैं। रोग भडकता है। हम रक्षा के लिए दौडते हैं। आग लग जाती है। हम बुझाने दौडते हैं। आगको बुझाने व दबानेके लिए कुछ किंकर्तव्यविमूढ उसपर बोझके लिए ईंधन कुछ तेलतक डाल देते हैं और कुछ जल। ईंधन तेलादि आग को बढा देते हैं। जल कुछ घटाता है किन्तु अग्निका प्रकोप जल सिंचन करनेवालों की शक्ति से बढ जाता है अतः ध्वंस ही परिणाम होता है। जल सिंचन करनेवाले क्षति को कुछ अंशतक रोक लेते हैं। रोग का ऐसा ही प्रकोप व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्रोंमें फूट रहा है। एक ओर परिग्रह हो रहा है तो दूसरी ओर असंतोष बढ़ रहा है। संचित होकर काम-लोभादि दोष प्रकोप की प्रतीक्षा कर रहे हैं किन्तु हम सर्वत्र शान्ति समझते हुए चतुर चिकित्सों की तबतक नहीं सुनते जबतक दोष भडक नहीं उठते।

यदि हमें समझाना अभीष्ट है तो हमारा कर्तव्य होना चाहिये कि हम रोगके कारणों को दूर करने की मानवों से अपील करें, उनमें प्रचार करें और उस प्रचारमें मधुरता प्रेम, स्नेह, आत्मीयता हो। कटुता के कारण रोगी औषधि को ग्रहण न करेगा। आलोचना, कटुता स्वयं कुपथ्य हैं और विशेष कर तब जब कि आलोचित द्रव्यसे रोगीको ममता हो। हमारे प्रचार में प्रवंचना न हो नहीं तो रोगी हमें ढोंगी समझेगा। स्वयं लोभी रहकर हम निर्लोभका कामी होकर निष्काम का प्रचार न करें। हां, अपने को रोगी मानकर अपने रोग की कथा की करुण कहानी सुनाते हुए रोगीको अपने साथ साथ रोग मुक्ति के प्रयत्न में दीक्षित कर सकते हैं। हमारा यह प्रयत्न अद्भुत प्रभावशाली होगा। गुरु बनकर नहीं, सहपाठी गुरुभाई बनकर हम उसे ज्ञानार्जन और मोह मोचनमें ले जा सकते हैं। इतनेपर भी आक्रमणकारी रोगी मोहमद से आक्रान्त होनेके कारण हमारी ऋतम्भरा वाणीको बन्द करनेकी चेष्टा करेंगे। हमारे प्रचार को रोकेंगे। वे वैसा करें किन्तु हम ऋतम्भरा को और मधुर करलें और देख देखकर ढूंढ ढूंढकर एक चतुर किसान की तरह उर्वरा अन्तस्थलियों में बोते रहें किन्तु ऋतम्भराको इतनी मधुर न करलें कि सुननेवालों को इसकी मधुरता से ही मोह हो जावे। वे इसे केवल माधुर्य के लिए ही सुनें, कर्तव्यके लिए नहीं। कहीं माधुर्य चाटुकता बनकर रोगियों के अहंकारको कुपित न करने लगे, रोगी औषधि को, सेवन न करके शृंगार की वस्तु न बनाले।

हम सुख-धन्वासे स्नेह-शरोंकी वर्षा आक्रमणकारी के अन्तस्तल व्यूह के उस भागपर करें जहां की हिंसामय मोर्चाबंदी, परिकोटा कठोरता में शिथिल, सशंकित हो चुकी हो। क्रोध, वैर, द्वेष जनित हिंसाओं के लिए कटु वचन, विष में डुबे पैने बाणों की जरूरत है तो अक्रोध, अवैर, अद्वेष, निर्लोभ, प्रेम, आत्मीयतारूपी अहिंसाओं के लिए आत्माके, अनङ्गके, मोहनके, मदनके मधुर वचनों, प्रेमके पुष्पायुधों, सुमन शरोंकी जरूरत है जो आत्मीयता, रति का सृजन करते हैं। कामदेव के सुमन शरों का यह अलंकार कामुकता के लिए नहीं आत्मीयता के लिए है। इस आत्मीयता के बिना दम्पति भी रति सुख नहीं ले सकते।

हम जागरूक रहें। कहीं किसी की छद्ममैत्रीके वशीभूत होकर, किसी प्रलोभन, स्वार्थ से हिंसित होकर अपने ऋत, सत्यविचारों को बदल न दें। हमारे जीवनमें ऐसे अवसर आवेंगे कि हमें अपने सत्य विकार भ्रान्त व भ्रान्त विकार सत्य प्रतीत होंगे। जब हमारे जीवन में विचार परिवर्तन का ऐसा अवसर आवे तब हमें अपने अन्तस्तल की गम्भीरता में उतर कर देखना चाहिये कि कहीं हम स्वार्थ, प्रलोभन, मद, अहंकारादि से मोहित होकर तो ऐसा नहीं कर रहे हैं क्योंकि इन मानसिक विकारों के आक्रमण से हमारे विचार चंचल अस्थिर छिन्न भिन्न हो जाते हैं।

हिंसा द्वारा कोई हमारे विचारों को नहीं बदल सकता। आत्मपीडा से व्यथित होकर हम भलेही यह छल कर जावें कि हमने अपने विचार बदल दिये हैं। हमें इस छल हिंसासे अपने विचारों की रक्षा करने की अभिलाषा को त्याग देना चाहिये बल्के सत्य वादितासे काम लेना चाहिये, क्योंकि छल स्वयं हिंसा है, कुपथ्य है। इस कुपथ्य को करके हम अपने में चंचलता, भीरुता ममता विकार की वृद्धि करेंगे क्योंकि ममता वश ही हम अपने विचारों को छिपाते हैं। सुविचार विरोधी द्वारा क्षत, विकृत तथा वध्र नहीं किये जा सकते थे। हमारे विचारों से द्वेष करने के कारण विरोधी हमें शारीरिक, साम्पत्तिक हानि पहुंचा सकता था और यह शारीरिक, साम्पत्तिक ममता ही हमसे छल कराती है।

यदि हमारे विचार भ्रान्त हैं; मिथ्या और हिंसामय हैं तो भी हमें उनकी रक्षा करनी चाहिये। किसी प्रलोभन, भय, आतंक के वशीभूत होकर अपने विचारों को त्याग कर दूसरे के विचारों को तबतक स्वीकार नहीं करना चाहिए जबतक हमारा अन्तस्तल उन्हें युक्ति युक्त न मानले। चाहे अन्य के वे विचार सत्य, शिव सुन्दर ही क्यों न हों। इस प्रकार विचार स्वातन्त्र्य की रक्षा करके हमें अपने को अनात्मभाव, हीनता, तुच्छतासे बचाना चाहिये।

स्वदेश रक्षा

आक्रमणकारी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदमें से एक वा अधिक रोगों से आक्रान्त होकर हमारे देश के ऊपर आक्रमण करने आ रहा है। कुपथ्य द्वारा सैनिकोंको भी इन पांच विकारों से दूषित किया गया है। कुछको झूठी सच्ची निंदाओं द्वारा कुपित करके वैर द्वेष से विकृत किया गया है। कुछ स्त्रियों के रूप की विषय वासना, धन सम्पत्ति के प्रलोभन में फंसाए गये हैं। कुछ को कल्पित जातीयता, देशभक्ति, प्रतिष्ठा गौरव के भ्रान्त मोह मदमें फांसा गया है। इस प्रकार अनेक मानवों के मनस्तत्व को विकृत करके उन को एक पागल मन में दीक्षित किया है कि वे जिन्दगी के मजों के लिए शत्रु की सुन्दर स्त्रियों, धन, सम्पत्ति और महलों के सुखों को लूटें, वे श्रेष्ठ हैं अतः इन निकृष्टों को पददलित करें। वे प्रतिष्ठितों, श्रेष्ठों की सन्तान हैं अतः शत्रुओं को वध करके अपने पुरखों का मुख उज्वल करें। वीर कहलाएं, मान प्रतिष्ठा, आदर प्राप्त करें। संसार में अपना नाम रौशन करें, अपने बल द्वारा विजय का जय निनाद करें और मरकर स्वर्ग जावें।

इस प्रकारके आन्दोलनों द्वारा विकृत अन्तस्तलों को लिए हुए काम क्रोधादि रोगों से आक्रान्त उन्माद-रोगी-समूह हमपर आक्रमण करने आ रहा है। स्वदेश की रक्षा करनी है। रोगी आक्रमण कारियों के विकारों को वृद्धिसे रोकना है, उन्हें रोग मुक्त करके मित्र बनाना है। अतः स्वदेश वासी अनुसन्धान करें—

(क) क्या आक्रमण कारियों को हम से वैर है, कोई हानि पहुंची हैं?

(ख) क्या वे भूखे हैं, निर्वाहके लिए चिन्तित हैं?

(ग) क्या उन्हें हमारे देश की स्त्रियों के रूप लावण्य, हमारी सम्पत्ति का प्रलोभन है?

यदि हानि पहुंची है तो हम यथाशक्ति उसे पूरा करदें। हमारे द्वारा उन्हें हानि पहुंची है, वे दुःखी हैं, संतप्त हैं, उत्तेजित हैं। वे रोगी हैं और रोगका कारण हैं हम। हम उनकी जगह होते तो वसिष्ठ मुनि की तरह शान्त, धीर न बने रहते जो समस्त पुत्रोंके वध पर भी अविकल, अविचलित रहे। अपने घरमें उत्तेजित रोगी की विकृत चेष्टाओं को हम सहते हैं और अस्पताल में नर्स व डाक्टर भी अपरिचित गैर रोगियों के लिये ऐसा ही करते हैं।

रोगी हाथ पांव फेंकता है, बकता है, औषधि फेंक देता है, हमें गालियें देता है। हम सब सहन करके उसे समझाते हैं। उसकी विकृत चेष्टाओं की हानि को सहन करते हैं। उसे धमकाकर या पीटकर उसके क्रोध को बढाते नहीं। यही उपचार हम समस्त देशवासी आक्रमणकारी के लिए करें और जब वह शान्त होकर अपनी नैसर्गिक भूमिका में आ जावें, हम उनकी न्यायवृत्ति को जागृत करें कि प्रतिकार से नष्ट वस्तु लौट नहीं सकती। उनसें बन्धुत्व आत्मीयता स्थापित करके उन्हें अपना लें। आक्रमणकारी को हानि हमसे पहुंची है अतः उसका दण्ड हम भोगें, प्रायश्चित्त हम करें।

यदि वे भूखे हैं, निर्वाहके लिए चिन्तित हैं तो हम उन्हें भोजन दें। यथाशक्ति निर्वाह दें आगन्तुकको अतिथि अभ्यागत मानकर। भूखे प्यासे हमारे भाई भटकते हुए, परेशान किं कर्तव्य विमूढ होकर ऊल जलूल कामों को, रोगोन्माद, उत्तेजना के वशीभूत होकर, करनेपर तुले हैं। भूख की ज्वाला, निर्वाहचिन्ताने उन्हें पागल कर दिया है। हम उनकी जगह होते, शायद हम भी वैसा करनेपर उतारू हो जाते यदि हमें भोजन न मिलता। वह विकार रोगही क्या जिसके वश होकर विचार और कर्मसें गडबडी न हो। भूखा क्या पाप नहीं करता ? उसे तो भक्ष्याभक्ष्य का भी ज्ञान नहीं रहता, विषयुक्त भोजनको भी खा लेता है यह जानकर भी कि ऐसा करके वह मृत्यु को आहूत कर रहा है। वे दयनीय हैं, शत्रु नहीं। हम उन पर दया करें। यदि वे याचना करते तब भी तो हम उन्हें निर्वाह देते ही। पारसियों को हमने निर्वाह दिया था। अन्तर केवल इतना था कि वे शरणागत होने आये थे क्योंकि वे रोगयुक्त थे और ये लुटने आये हैं क्योंकि ये रोगी बनाये गये हैं। रोगने आपत्तिने, भ्रान्तिने उनके अन्तस्तल में यह भाव दृढ कर दिया है कि उन्हे याचना से कुछ न मिलेगा। वे हमें बेमानी समझे हुए हैं। अहंकार रोगने उनके विचारों को झूठी मानप्रतिष्ठा से मोहसे अन्धा करके उन्हें निश्चय करा दिया है। "याचना करना अपमान; अप्रतिष्ठा है और छीनना, लूटना वीरता जातीय गौरव।

यदि हम नहीं सोचते कि वे रोगी हैं तो हम उन्हें आततायी, लुटेरा मानकर विचारों को बुरा, बदमाश समझकर उनपर कुपित हो जाते हैं। रोगियों के रोगावेग से हम भी क्रोध रोग की झपेट में आ जाते हैं। हममें से कितने अदूरदर्शी दुर्बल हृदय " क्या हम कायर हैं, भीरु हैं ? " इस अहंकार में झूमने लगते हैं। " हम पर आक्रमण करना, हमारे देशका, हमारे गौरव प्रतिष्ठा, पुरखोंका अपमान है " कोई इस मदके नशेमें घूमने लगता है और फिर मार काट होने लगती है।

यदि हम सोचें, अपने को तनिक काबू में रक्खें तो खेल बना बनाया है। आगन्तुक अतिथि तो हैं ही केवल विकार दोप से आक्रमण-लूट-वृत्ति में बदल कर लुटेरे हो गये हैं। अधिक स्पष्ट शब्दों में वस्तुस्थिति इस प्रकार है कि अतिथि रोगी भी है इसलिए भोजन के साथ साथ उसे दवा की भी जरूरत है और रोग ऐसा बेहूदा है कि रोगी अपने को रोगी स्वीकार ही नहीं करता। हम पहले रोगी अतिथियों का स्वागत करें फिर आसन, जल भोजन दें और फिर दवा का बन्दोबस्त करें। रोग के कई उपद्रव तो हमारे स्वागत से ही शान्त हो जायेंगे। हमारे मुख से स्नेहपूर्ण 'स्वागतम् पधारिये' को सुन कर, आसन जल और भोजन को पाकर हमारे अतिथि रोगी अपनी भूलपर लज्जित हो जायेंगे। यदि इतना न भी हुआ तो अधिक से अधिक उनमें संशय शेष रह जायगा जो स्नेहशील की दो चार मात्राओं के बाद मिट जायेगा और वे घुल मिल कर हम में हम हो जायेंगे, यदि हमने उनको वे से हम बना लिया जो आत्मीयताके लिए एकान्त आवश्यक है।

अपने अतिथियों को विनोद प्रसंगों में लाकर स्नेह से पूछें ' भाइयों! अनुर्वर, मरु देशों में रहकर उर्वर देशोंके भाइयों को लूटने की अभिलाषा कहांतक ठीक है ? अनुर्वर और उर्वर सब अपने ही देश हैं, अपने अनुर्वर, मरु देशों में उत्पन्न होनेवाली उपयोगी वस्तु में से कुछ हमें दो और हम से प्रचुर अन्न लो। आपस का लेन देन, भाई चारा चलता रहे, यह हाथापाई, छीना झपटी कैसी ? भाई भाई का क्या गैर ? इस प्रकार हृदय परिवर्तन करके उनके रोग के कोप को शान्त करके हम उन्हें विदेशी से स्वदेशी बना लें, कितनों को स्वदेश में बसा लें ताकि वे

खानपान, रहन सहन, वेशभूषा, आचारविचारों में हममें ओतप्रोत हो जावें, भेदभाव न रहे। हूण और शक ऐसे ही रोगी थे किन्तु आत्मीयता की चिकित्साने उन्हीं शकों को भगवान बुद्ध बना दिया। गुरु गुड ही रह गये चेला शक्कर बन गये। नीम हकीम की अधूरी चिकित्सा से निरोग होकर रोगी चिकित्सा का विशेषज्ञ बन गया। बुतशिकन गजानवीके उत्तराधिकारी सफी बनकर रो रोकर **'गर खुदा काबे में रहता है तो बुतखाने में कौन'** रोगियों का मालजा करने लगे।

यदि उन्हें हमारी स्त्रियों के रूप लावण्य, हमारी सम्पत्तिका लोभ है तो रोग जरा कुछ कठिन है लेकिन असाध्य नहीं। कठिन भी इसलिये है कि वे जो कुछ चाहते हैं उनके लिए कुपथ्य है। उनके घर में, देशमें स्त्रियें हैं और वे उन के समकक्ष सुन्दरी हैं। स्त्रियों की उन्हें आवश्यकता नहीं है किन्तु एक विकार युक्त भावना के वशीभूत होकर, हमें शत्रु समझ कर प्रतिहिंसा वश वा किसी प्रचार द्वारा बहकाये जाकर हमारी स्त्रियों के प्रति कामुकता पूर्ण व्यवहार करना वे आत्मगौरव, विजय प्रतिष्ठा माने बैठे हैं। हमारी सम्पत्ति को वे निर्वाह के लिए नहीं बल्के कामुकता, भोग विलास, लोलुपता कुपथ्यों के लिए चाहते हैं।

हमारी स्त्रियें हमारे घरों में कामुकता के लिए फालतू प्राणी नहीं हैं बल्के स्नेहशील गृहस्थ में माता, पत्नि, बहन, पुत्री, सहयोगिनी, स्त्रीधन हैं तथा सम्पत्ति नैसर्गिक उपयोग के निमित्त है। हमारी स्त्रियों का अपना व्यक्तित्व है। वे हमें त्यागकर उन कामुक रोगियों के रोगका आहार बनकर नष्ट भ्रष्ट होना नहीं चाहतीं। उन्हें असाध्य, महा क्लेशमारक रोगोंके पाले पडना अभीष्ट नहीं। वे हमारे साथ रहकर ज्ञान, स्नेह की उत्कृष्ट निरोग भूमिका की अभिलाषा में हैं। जबतक आगन्तुक आक्रमण हमारे और हमारी स्त्रियों के अन्तस्तलमें यह विश्वास दृढ न करदें कि उन का घर, सख्य, सहवास, समागम हमारी स्त्रियों को कहीं अधिक मानसिक विकारों से मुक्त कर देगा और जबतक हमारी स्त्रियें स्वेच्छा से मानसिक रोग मुक्ति की अभिलाषा से (मानसिक रोगों के कुपथ्यों के प्रलोभन वश नहीं) उनके साथ जाने को तयार न हो जावें तबतक अपनी स्त्रियों की रक्षा करना हमारा एकान्त कर्तव्य है किन्तु आक्रमण के हिंसामय आक्रमणने स्वयं सिद्ध कर दिया है कि वे सब रोगी हैं और रोगी जब स्वयं ही रोग मुक्त न होकर रोग युक्त कुपथ्य कर रहा है तब वह किसी को मानसिक विकारों से मुक्त नहीं कर सकता। उस का ऐसा आश्वासन देना प्रपंच है, छल है।

हम ऐसे आक्रमणकारियों का भी स्वागत करें। हमारी स्त्रियें, विदुषी कुमारियें कुविचारों से बहकाये हुए उन रोगियों को अपना पुत्र मानकर उन को पुत्र कहकर उन का स्वागत करें। घरों में लाकर स्नेहशील वचनों, आसन, जल और भोजनसे सन्तुष्टि दें और फिर मानसिक चिकित्सा विचार संशोधन का काम अपनावें। एक ही स्वादवाले भोजनों को सुन्दर और कुरूप रूपों में चखा कर बतावें रूप क्या है। किन्तु इस चिकित्सा अनुष्ठान के लिए आवश्यक है देश के स्त्री पुरुषों को धात्री, उपचारिका, सैनिक, नर्स आदिके बनने की। आध्यात्मिक चिकित्सा सीखने की, अभिनेत्री की तरह विनय, शीलका अभिनय सीखनें की। **पर पुरुष के स्पर्शमात्रसे कांप जाने या कामातुरा हो जानेवाली युवती चिकित्सा का दिवाला निकाल देगी।**

विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है। हम उनमें विश्वास की सृष्टि करें। आत्मीयता प्रेम से अधिक कोई वस्तु विश्वासोत्पादक नहीं हो सकती। जब धूर्त लोग मीठे वचनों से विश्वास उत्पन्न करा देते हैं तो क्या हम मनसा वाचा, कर्मणा हितैषी, मधुर, मित्र, प्रेमी बनकर उन्हें न अपना सकेंगे?

यह कार्य शासकों, सरकारों और हूकमत पसंद हाकिमों का नहीं है। वे अभागे तो मद, अहंकारके फोडे, फुन्सियों से लिपे पडे हैं जिन की खुजलाहट ही उन का मजा बन रही है। यह काम जनताका है, सारे देशका है। हिंसामय युद्ध की शिक्षा दीक्षा के लिए देश अरबों रुपये लुटाता है। लाखों मनुष्य सैनिक बनकर हत्या कर्म के लिए छल पूर्ण कुटिल रीति सीखते हैं। लाखों मनुष्य युद्ध सामग्री बनानेमें लगे रहते हैं तथा युद्धकालमें तो देशकी अधिकांश जनता इस हत्याकर्म में किसी न किसी रूपमें सहयोगी बन जाती है। करोडों मनुष्य जो देश के, संसार के मानवों के लिए अन्न वस्त्रादि उत्पन्न करते थे, युद्ध सामग्री बनाने और नष्ट

करने कराने के धन्धे में लगे रहते हैं परिणाम यह होता है कि अन्न वस्त्रादि उपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति घट जाती है। उत्पन्न सामग्री, उत्पत्ति व रचना के कार्य से पृथक् होकर सैनिक बन जानेवाले मानवों में लुटाई जाती है, शत्रु द्वारा या शत्रुभय से स्वयं नष्ट कर दी जाती है जिस के फलस्वरूप युद्धोपरान्त दुर्भिक्ष की व्यथा भोगनी पडती है। मनुष्यों, विशेष कर युवकों के युद्ध में मारे जानेपर देश में मनुष्यों की सख्या स्त्रियोंसे बहुत घट जाती है जिससे देश में व्यभिचार और संकरता फैल जाती है। ये परिणाम तो विजयी होकर या सन्धि कर लेनेपर होते हैं। पराजित होकर तो वही होता है जो आक्रमणकारी विजयी चाहता है। जिन स्त्रियों (माता, बहन, पत्नि तथा पुत्रियों) की रक्षा करना देशवासी सब से बडा उत्तर दायित्व, आत्म-कुल-गौरव, मान प्रतिष्ठा समझते हैं, वे आक्रमणकारियों के विजयोन्माद में बलात् कुतियों की तरह काममें लाई जाती हैं तथा देशवासी उस कुत्सितता को देखनेके लिए विवश किये जाते हैं।

इन परिणामों को स्वीकार करके भी हम हिंसामय युद्ध के लिए अरबों रुपये, लाखों मनुष्य लगाकर वर्षोंतक तैयारी करते हैं तब अहिंसा युद्धके लिए भी तो तैयारी होनी चाहिये। कुछ वर्ष तो चाहियें सैनिकों को, देशकी जनता को शिक्षित करने के लिए। हिंसा वादियों के सैनिकोंने हत्या करनी हैं। कलाकारों, वैज्ञानिकों ने हत्या के लिए अचूक हथियार बनाने हैं। शिल्पियोंने अन्य सामग्री का निर्माण करना है किन्तु अहिंसा में तो देशकी समस्त जनताने चिकित्सक बनकर आक्रमणकारियों की चिकित्सा करनी है। उनके विकृत विचारों, हृदयों को दोषमुक्त करना है। प्रेम, स्नेह, मधुर व्यवहार, सेवा, आतिथ्य उपदेशादि से उन्हें शत्रु से मित्र, वैरी से बन्धु बनाना है। इस शिष्ट, विनीत नागरिक शैली के लिए हमें सामूहिक रूप से एक अद्भुत, शिव, सत्य, सुन्दर पद्धतिमें अपने देशके बाल, वृद्ध, युवक युवतियों, माता पुत्रियोंको ढालना पडेगा। हिंसा वादी सैनिकों की हत्या पद्धति के प्रतिकूल शिष्टता, साधुता, गैरों को अपना बनानेवाली विद्या, विनय, सौजन्य, व्यवहार, निष्कपटता, प्रेम, मधुरता आदि सिखानी पडेगी तब संसार को इस अहिंसा के माधुर्यका, इसकी सफलता का पता लगेगा। कहने और सुनने से अहिंसा व्यापक नहीं बनेगी। जब साम्राज्यवादी तथा पूंजीवादी देशों के राजदूत कपट पूर्ण, कुत्सित स्वार्थों के लिए अनभिज्ञ भोले राष्ट्रों को इन्हीं मधु मण्डित भाषणों में मोहित करके अपने जालमें फांसकर मनमानी संधियें कर लेते हैं तब मनसा, वाचा, कर्मणा शुभ चिन्तक बनकर मधुर व्यवहारों से अहिंसावादी अद्भुत सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

आक्रमण एक आपत्ति है। आपत्ति में हल चल, क्षति होती ही है। यदि आक्रमणकारी को रोकनेके लिए हम हिंसामय साधनों का उपयोग करते हैं तब भी हमारी ओर के अनेक मनुष्यों की मृत्यु, सम्पत्ति का नाश और दूसरी यातनाएं होती हैं। फिर अहिंसामय युद्धमें इन हानियों से क्यों डरें? बिल्कुल अछूते रहने की क्लिष्ट अभिलाषा क्यों करें? हमारी ओरसे न सही आक्रमणकारी की ओरसे तो हिंसामय कर्म हो ही रहा है। यह एक पक्षीय आंशिक क्षति उसी हिंसा का परिणाम है। जब क्षति हिंसाका परिणाम है तो जब तक हिंसा रहेगी क्षति का होना अनिवार्य होगा। अतः इस हिंसा को रोकने के लिए ही अहिंसा का अनुष्ठान जरुरी है क्योंकि आग से आग नहीं बुझती, जल ही आग को बुझा सकता है।

भ्रान्ति वश हम किसी अपरिचित व्यक्ति को चोर समझ लेते हैं किन्तु व्यवहार में आनेपर वह एक साधु प्रमाणित होता है और जिसे हम साधु समझते हैं वह आगे चलकर चोर प्रमाणित होता है। याद रहे व्यक्ति, समाज, समुदाय तथा राष्ट्र के हृदयों के विचारों को बिगडते व सुधरते देर नहीं लगती। भ्रान्ति के मिटाने से वैरी मित्र तथा भ्रान्ति उत्पन्न कर देनेपर मित्र, भाई एक दूसरेके खून के प्यासे हो जाते हैं। यदि भ्रान्ति उत्पन्न की जा सकती है तो मिटाई भी जा सकती है।

संसारने मई १९४१ तक देखा है कि जर्मन और रूसी सैनिक एक मेज पर हँस हँस कर जलपान करते थे। जून के आते ही रक्तपान करने लग गये। यदि आज हिटलर और स्टैलिन सफेज कागजपर कुछ शर्तों को " एवमस्तु " लिखकर दस्तखत कर दें तो कलसे फिर रूसी जर्मन चाय पानी एक हो जायगा। जर्मन कुमारियें रूसियोंके तथा रूसी

कन्याएं जर्मनों के दाम्पत्य की अभिलाषा करने लगेंगी। जनतामें, प्रजाओं में कोई वैर नहीं है। दो मदारियों की डुगडुगी पर बंदरियें नाच रही हैं और यह सब हो रहा है रोग विकार के कारण।

आज योरोपके हत्यास्थलों में आकाश से वायुयान तथा पृथिवीपर टैंक, मशीनगन व तोपें बम व गोलोंकी अविराम वर्षा कर रहे हैं। यह वर्षा कुछ ऐसे अचेतन, जडमय प्रवाह में हो रही है कि इसके नीचे आनेपर प्राणीकी करुण कातर भाव भंगी तनिक भी दया का संचार नहीं कर सकती। इस अविराम बम वर्षा के नीचे रण चातुरी रक्षा करती है या अकस्मात् अवसर यह निश्चय करना प्रायः असम्भवसा हो रहा है। फिर भी लाखों आदमी रोटियोंके लोभमें, कौमियत के नशे में, विजय लालसा के उन्माद में और कुछ ऐसे ही भयानक रोगों के विकृत आवेश में प्राण विसर्जन करने चले जा रहे हैं। यदि प्राणी जगतकी मैत्री, बन्धुता और आत्मीयता का परिक्षण करनेके लिए हत्या उन्मादमें लगे हुए सैनिकों में से १० हजार सैनिकों को केवल ६ मासके लिए मैत्री और बन्धुता की शिक्षा दी जावे फिर बडी बडी रकमों के पारितोषक, उपाधियों के प्रलोभन देकर उन्हें सिखाया जावे कि, वे काले विषधर सापों को भाई, मित्र और पुत्र मानकर प्रेम से उन्हें भाई व पुत्र कहकर गले से लगा लें। छः महीने के शिक्षण के बाद यह अधूरी दूषित शिक्षा ही परीक्षण में लाई जावे। वे १० हजार सैनिक १० हजार विषधर सापों को प्रेमभाव से (हत्या की भावना से नहीं) भाई, मित्र, पुत्र कहकर गले से लगावें और कटोरों में, प्यालों में दूध पिलावें। हमारा विश्वास है कि उन १० हजार सापों में से ९५०० काटेंगे ही नहीं, फूं फां करके दूध पीकर अपना रास्ता लेंगे। पांच सौ काटनेवालों में से शायद सौ की मृत्यु चले ही हो जावे अधिक की मृत्यु नहीं होगी और वह सौ की मृत्यु भी होगी, अधूरी दूषित शिक्षा के कारण, सापों के वैर के कारण नहीं। अपने देशकी प्यारी प्रजाको अपने पडौसी देशवासियों को पिस्सू और मच्छर की तरह मसलनेवाले योरोपके मदान्ध सत्ताधारी ऐसे परीक्षणों को घृणित नर हत्या कहते हैं। वे बिचारे भी क्या करें! मद और अहंकार के उन्माद में लक्ष्यच्युत होकर हाथ पांव फेंक रहे हैं। उन्हें कोई रास्ता सूझता ही नहीं। जब रोग है, विकार है, दोष है उन्हें गलत रास्ता ही ठीक प्रतीत होगा।

बलात्कार

वे समस्त कर्म, जो हम दूसरे प्राणियोंपर उनकी इच्छा के विरुद्ध और दूसरे प्राणी हमपर हमारी इच्छा के विरुद्ध करते हैं, बलात्कार में गिने जाते हैं। अबतक जिन आत्म-रक्षाओं पर हमने प्रकाश डाला है वे सब बलात्कारों से बचने के उपाय हैं किन्तु लोकमें बलात्कार एक विशेष बल प्रयोग के लिए प्रयुक्त होता है। वह है, **किसी स्त्रीसे उसकी इच्छाके प्रतिकूल बलात् मैथुन करना।** यहां हमें उसी बलात्कार पर प्रकाश डालना है। पूर्वकी भांति हम यहां भी कारण को खोजते हैं। (१) किसी वैरका बदला लेनेके लिए (२) स्त्रीके किसी दुर्व्यवहार आदि से कुपित होकर (३) रूप लावण्य के लिए कामुकता वश (४) काम, लोभ, मद, अहंकार के वशीभूत होकर ही कोई किसी स्त्रीपर बलात्कार का उपक्रम करता है। उपर्युक्त कारणों में बलात्कार करनेवाले का मन विकृत हो चुका है अतः वह चिकित्सा अपेक्षित है।

इतिहास हमें बताता है कि सहस्रों वर्षों से स्त्रियोंपर बलात्कार होते आ रहे हैं और प्रागैतिहासिक कालमें भी होते होंगे किन्तु आजतक पुरुषोंने और नाही स्त्रियोंने इसकी चिकित्साका कोई सर्वांगपूर्ण मार्ग आविष्कृत किया। जब आग लगी कुआं खोदने लगे तथा उस कुएँके खोदनेसे जितनी आग बुझ सकी बुझाई गई। जो कुछ जल सकता था उसे जलाकर आग शान्त हो गई और स्त्री पुरुष दोनों आगसे निश्चिन्त होकर बैठ गये। कुआं खोदने के कामको फिर हाथ नहीं लगाया गया।

बलात्कार करनेवालों की हत्या करना, स्त्रियों को पुरुषों से पृथक रखकर आवृता कर देना जैसे दो चार विधान नियत किये गये। हत्या से हत्यारे व हत व्यक्ति के प्रतिपक्षियों में वैर हो गया जो आगे चलकर हत्याओं और बलात्कारों में फूट निकला। जिस स्त्रीको बलात्कार से बचाने या उस पर किये गये बलात्कार का बदला लेने के लिए हत्या को अपनाया गया था उस स्त्री तथा उसके कुल की स्त्रियों से हत व्यक्ति के प्रतिपक्षियोंने बलात्कार किये तथा स्त्रीके परिवारवालोंने स्त्रीके अपमान

का बदला लेनेके लिए हत व्यक्तिके परिवार की स्त्रियों से बलात्कार किये।

एक मनुष्यकी हत्याके परिणाम स्वरूप उस स्त्रीके साथ साथ उभय पक्षके परिवार की अनेक स्त्रियों को बलात्कार की यन्त्रणा भोगनी पडी। इसी प्रकार की भित्तिपर साम्प्रदायिक, अन्तर्राष्ट्रीय वैरों में सम्प्रदायों, राष्ट्रों, जातियों, विदेशियों की स्त्रियों पर बलात्कार होते हैं। किसी की स्त्री, बहन, पुत्री की सहमति से रति कर्म करनेवाले की स्त्री, बहन वा पुत्री को फुसलाकर छल से वा बलात्कार से भ्रष्ट करके लोग बदला लेते हैं। किसी की माता, बहन पुत्री आदि को गाली देना उसके प्रति बलात्कार की मनोवृति को प्रकट करना है। यदि गाली देने के समय ही गाली देनेवाले कुपित व्यक्ति को अपने विरोधी की स्त्री, बहन पुत्री का एकान्त प्राप्त हो जावे तो वह बलात्कार की कुचेष्टासे न चूकेगा। गालियोंका जवाब गालियों में देना वैसे ही मनोवृत्ति का द्योतक है। जिन स्त्रियोंको गाली दी जाती हैं वे बिचारी वैर विरोध में साझीदार तो क्या उस से अभिज्ञ भी नहीं होतीं। यही अवस्था उन विचारियों के बलात्कार की है। स्त्रीके किसी दुर्व्यवहार वा छल के कारण उससे बलात्कार किया गया है केवल इस एक भूमिका को छोडकर सब भूमिकाओंमें स्त्री बिचारी सर्वथा निर्दोष तथा अनभिज्ञ होती है और इस भूमिका में भी उसकी इतनी भूल नहीं होती जितनी उसे यन्त्रणा दी जाती है।

बलात्कार करनेवाले के विकृत मन को विकार रहित कर देनेसे बेहत्तर कोई चिकित्सा नहीं हो सकती। इस लिए बलात्कार के लिए उद्यत मनुष्य को शान्त करने के लिए स्त्री उस के हृदय में न्याय को जागृत करे। इस प्रयत्नमें कटुता न हो क्योंकि क्रोधातुर वैरी के लिए कटुता अग्नि में ईंधन के समान उत्तेजक होती है। वैर स्त्री के प्रतिपक्षियों से है, स्त्री से नहीं अतः स्त्रीको यन्त्रणा क्यों दी जावे। क्या बलात्कार के लिए उद्यत मनुष्य अपने वैरी द्वारा अपने परिवार की स्त्रियों के साथ वैसे व्यवहार को पसंद करेगा ? इसी प्रकार के मृदु व्यवहार से वह उस के मन को शान्त करे। यदि इतने पर भी वह सफल न हो तो स्त्री अपने शारीरिक बल से उसकी कुचेष्टाओं को सफल न होने दे। ऐसा करने से बलात्कार करनेवाले का क्रोध बढेगा किन्तु उसकी कुचेष्टा को न रोकने से उसकी कामुकता बढेगी। अतः उसको अधिक क्रुद्ध कर देना कामुक बनाने से कम बुरा है। क्रुद्ध होने से उसकी काम वासना हट जायगी। क्योंकि काम और क्रोध साथ साथ नहीं रह सकते। कामुक क्रोधातुर होकर स्त्रीके शरीर को मार पीट द्वारा क्षत विक्षत भले ही कर डाले किन्तु जब तक क्रोध रहेगा वह रतिकर्म न कर सकेगा। अतः स्त्री अपने प्रयत्न से उस के काम को जागृत न होने दे। साथ ही स्वयं भी कामातुर न हो जावे। अपने को काम से रोकने के लिए बल प्रयोग व क्रोध लाभदायक हैं। स्त्री भयभीत होने से वह कामुक में क्रोध को उत्तेजित न कर सकेगी जिस के परिणाम स्वरूप कामुक पुरुष में काम उत्पन्न हो जावेगा तथा स्त्रीमें काम जागृति की सम्भावना हो जावेगी। अतः बल प्रयोग से काम जागृति को रोकती रहे। इतने प्रयत्न पर भी यदि वह सफल न हो और उस पर बलात्कार हो जावे तो वह इस दुर्घटना को सहन करके आक्रमण को अपना रोगी पुत्र समझ कर हृदय से क्षमा कर दे "**मैं तुम्हारी माता हूं। अपनी माता से तुमने यह व्यवहार किया है! अच्छा, भगवान तुम्हें सुबुद्धि दे**" कह कर चल दे और भविष्य के लिए दुर्घटना की असम्भावना का मार्ग खोजे कामुक से बदले की भावना को न रखते हुए।

स्त्रीके साथ जो दुर्व्यवहार हुआ है, जो यन्त्रणा उसे भोगनी पडी है यदि इसमें उसका वा उसके परिवारवालों का कुछ अपराध है तो वह इस यन्त्रणाको अपने वा अपने परिवारवालों की भूल का दण्ड समझ कर सहन कर लेवे। बदले की भावना से आक्रमणकारी के परिवार की, फिरके की वा जातिकी स्त्रियों की वैसी यन्त्रणा दिलाने, आक्रमक से किसी प्रकार का बदला लेने की हिंसामय भावना को न पनपने दे। यदि वह और उसके प्रतिपक्षी (फिरकेवाले देशवासी जिनके भेद भावों के कारण उसपर बलात्कार हुआ है) निरपराध हैं तो भी वह प्रतिहिंसा को अपनाकर उनको सताने वा उनकी स्त्रियोंपर बलात्कार कराकर बदले की भावना को न उत्पन्न होने दे। उसका ऐसा करना अन्याय तथा प्रतिहिंसा का प्रसार है।

मान प्रतिष्ठा

अपराध बलात्कार करनेवाले का है, स्त्रीका नहीं। भूल आक्रमणकारी ने विकृत किये गये मन मस्तिष्क के वशीभूत होकर की है। स्त्रीने उसको कुपथ्य से रोकने की शक्तिभर चेष्टा की है लेकिन वह सफल न हो सकी। अतः वह आकस्मिक दुर्घटना को अपमान व अप्रतिष्ठा मानकर आत्मग्लानि, आत्मघात न करे क्योंकि अपमान और अप्रतिष्ठा तो आक्रमक ने अपनी आत्माकी की है। स्त्रीको एक शारीरिक यन्त्रणा भोगनी पडी है। शारीरिक यन्त्रणा तो वह चोरसे बलात् पिटकर भी भोगती। अतः वह यन्त्रणा को अपमान समझकर अपने शारीरिक बल की त्रुटि न्यूनता माने। किसी पर-पुरुष से रतिकर्म करके रति सुख लेना और परपुरुष में आसक्त हो जाना ही स्त्रीका अपमान और अप्रतिष्ठा है क्योंकि परपुरुष सहवास से रति सुख प्राप्ति तथा तज्जनित प्रेम सम्भावना से ही इसे अपमान और अप्रतिष्ठा माना गया है। किन्तु यदि स्त्रीमें कामवासना नहीं हुई है तो सचमुच उसकी लेश भी अप्रतिष्ठा नहीं हुई अलबत्ता उसे यन्त्रणा जरूर भोगनी पडी जिसके प्रति उसे उदार, सहिष्णु होना चाहिये। क्योंकि जीवनमें आध्यात्मिक (काम क्रोधादि) आधिभौतिक (दूसरे प्राणियों द्वारा) आधिदैविक (प्राकृत दुर्घटनाओं द्वारा) कष्ट आते ही हैं जिनसे हमें प्रयत्न करके बचना चाहिये और सफल न होनेपर धैर्य से सहन करना चाहिये भविष्य के लिए सतर्क रहते हुए क्योंकि आत्मरक्षा का उद्देश्य है (१) काम क्रोधादि हिंसाओं के विकारों से बचना, मुक्त होना (२) इनसे मुक्त होनेके मुहूर्त तक मुक्त होनेके प्रयत्नों में सहायक साधन शरीरको कायम रखना जो हमारे रोगी जीवनमें हमारा चिकित्सालय बना हुआ है।

जब मद, अहंकार लोकेषणा के वशीभूत राजनीतिज्ञों ने मारने को वीरता, गौरव प्रसिद्ध किया तो "मरना" व "पिटना" स्वयं अपमान व कायरता माना गया। पराई स्त्रियों पर बलात्कार करना जब विजयी के लिए पौरुष, पुरुषत्व, साहस निर्द्वन्द्वता माना गया तो विजितों तथा उनकी स्त्रियोंके लिए वह व्यापार भीरुता, अपमान स्वतः बन गया। गालियें देना जब बलवान के लिए हिम्मत साहस, रौब व शान गिना जाने लगा तो गाली खानेवाले के लिए यह अपमान, कायरता बन गया। किन्तु वस्तुस्थिति इस प्रकार है कि आक्रमक काम क्रोधादि से आक्रान्त है और है पशुबल में समर्थ तथा आक्रान्त है निर्बल। आक्रमक काम क्रोधादि के आवेशमें जो करना चाहता है सामर्थ्य होनेके कारण कर गुजरता है और आक्रान्त असमर्थ होनेके कारक आक्रमण की मन चाहीको नहीं रोक सकता। अतः स्त्रीको बलात्कार से जो मानसिक क्षोभ होता है उसके दो कारण हैं।

(१) उसकी इच्छा के प्रतिकूल बलात् उसके साथ यह व्यापार किया जाता है। (२) वह ऐसे समाजमें रहती है जहां पर पुरुष सहवास पाप, घृणित, अपमान माना जाता है और वह भी वैसा ही विश्वास रखती है। यदि पृथिवी के किसी देश के किसी ऐसे समाज की स्त्री से बलात्कार किया जावे जहां खुल्लम खुल्ला पर पुरुष गमन बुरा न माना जाता हो तो ऐसी स्त्री को बलात् बाधा रूप होगा। ऐसी स्त्रियों के साथ बलात्कारों में कितनी स्त्रियें रति सुख के लिए सहमत भी हो जायंगी कुछ सहवास में रतिसुख लेकर दोष को त्याग देंगी। कठिनता से एक दो स्त्री शायद ऐसी हो जो अन्त तक बलात्कार कर्म से क्षुब्ध रहे। वेश्याएं इस का उदाहरण मानी जा सकती हैं यदि उसने एकान्त में उन का शुल्कादि देकर बलात्कार किया गया हो। पारिभाषिक न्याय पर तो बलात्कार वही कहलाता है जब स्त्री बलात् सेवित की जाकर भी अन्त तक रतिसुख से विमुख रहे और यह तब हो सकता है जब स्त्री या तो मूर्छित हो जावे या क्रोध में अन्त तक उग्र बनी रहे या फिर तीसरी भूमिका है स्त्रीका अपने मन को अन्यत्र ध्यानावस्थित कर देना जो साधारण तथा सब स्त्रियों के लिए असम्भव है।

बलात्कार अपनी स्त्रीके साथ भी हो सकता है और शायद होता भी हो क्योंकि काम वासना सदैव जागृत नहीं की जा सकती। शोक, चिंता, भय, क्रोध रोगकी उग्र अवस्था प्रयत्न करने पर भी काम वासना को जाग्रत नहीं होने देती। ऐसी अवस्था में किया गया सहवास बलात्कार ही होता है किंतु पत्नि इस बलात्कारमें पहली प्रकार का ही कष्ट भोगती है।

(क्रमशः)

दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है । प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।॥)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।॥)
३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु.	॥)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १॥) है ।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं । इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी ।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु. तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें । ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है ।

वेदकी संहिताएं ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)
३ **सामवेद**	३)	।॥)
४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	५)	१)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १५) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य १८) रु. है । परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १०) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० हैं । इसलिए डाकसे मंगानेवाले १३) तेरह रु० पेशगी भेजें ।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ काण्व संहिता (तैयार है)	३)	।॥)
२ तैत्तिरीय संहिता	५)	१)
३ **काठक संहिता** (तैयार है)	५)	१)
४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	५)	१)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २१॥) डा. व्य. समेत है । परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १८) रु० में दी जायंगीं । **डाकव्यय माफ होगा ।**

– मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है ! इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० ९) रु० डाक व्यय १॥) म० आ० से ९) रु० भेजनेवालोंको डाकव्यय माफ होगा।

भगवद्गीता—समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १३५ पृष्ठ, चिकना कागज मू० १) सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।=), डा० व्य० =)

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।=) सात आना है। म० आ० से २।=) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इंच मू० ≡) रु., डा. व्य. -)

मंत्री—स्वाध्याय—मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

वैशाख सं. २०००
मई १९४४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९३

विषयसूची।

दैवत-संहिता।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं। एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह दैवत-संहिता बनवायी गयी है। प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ अग्निदेवता	२४८३	३४६	३) रु.	।॥)
२ इंद्रदेवता	३३६३	३७६	३) रु.	।॥)
३ सोमदेवता	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
४ मरुद्देवता	४६४	७२	१) रु.	॥)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १॥) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु. तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	डा० व्य० १।)
२ यजुर्वेद	२)	,, ,, ॥)
३ सामवेद	३)	डा० व्य० ।॥)
४ अथर्ववेद (द्वितीय संस्करण)	५)	,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १५) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य १८) रु. है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १०) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १३) तेरह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है-।

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ काण्व संहिता (तैयार है)	३)	डा० व्य० ।॥)
२ तैत्तिरीय संहिता	५)	,, ,, १)
३ काठक संहिता (तैयार है)	५)	डा० व्य० १)
४ मैत्रायणी संहिता ,,	५)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २१॥) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १८) रु० में दी जायंगीं। डाकव्यय माफ होगा।

— मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

क्रमाङ्क २९३

वर्ष २५ : : : : अङ्क ५

वैशाख संवत् २०००

मई १९४४

गायका वध न कर

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागां अदितिं वधिष्ट ॥

(ऋ० ८।१०१।१५)

(रुद्राणां माता) रुद्रों की माता, वसुओं की दुहिता, आदित्यों की बहन तथा (अमृतस्य नाभिः) अमृतरस रूप दूध देनेवाली यह गौ है, इसलिये (चिकितुषे जनाय) ज्ञानी मनुष्य को (प्रवोचं नु) घोषणा करके कहता हूं, कि (अनागां) निष्पाप निरपराध तथा (अदितिं) अन्न रूप गोरस देनेवाली अतएव (अ–दितिं) वध के लिये अयोग्य (गां) इस गाय का (मा वधिष्ट) वध न कर ।

गाय सर्वदा अवध्य है, अतः गौका वध नहीं होना चाहिये ।

गौ अवध्य है

गौ अवध्य है। वेदने गौको अवध्य बताया है। सब वैदिक धर्मी लोग इस समयतक गौ को अवध्य ही मान रहे हैं और गौ का पालन करना अपना धर्म है, ऐसा मान रहे हैं।

हिंदुओं में अस्पृश्य जाति के कई लोग मृत गौका मांस मेद आदि खाते हैं, पर वे भी गौको मार कर नहीं खाते। स्वयं मरे गौका खाते हैं। अर्थात् ये लोग भी गोरक्षा अपना धर्म है, ऐसा मानते हैं और वैसा बर्ताव भी रखते हैं। स्वयं मृत गौके मांस भक्षण करनेवाले भी गोरक्षा के धर्म को माननेवाले हैं। अब इस समय इन लोगोंने मृत-गौका मांस खाना छोड दिया है। पर जब वे खाते थे, उस समय भी कभी गौका वध वे नहीं करते थे। इससे गोरक्षारूप-धर्म की सर्वव्यापकता सिद्ध होती है।

यद्यपि हिंदुओं में गोरक्षा का धर्म पालन करने की प्रथा सार्वत्रिक है, तथापि वैदिक समय में गौका मांस खाया जाता था, ऐसा कई कहते हैं। और इस की पुष्टीके लिये वेदवचन भी वे पेश कर देते हैं। इसलिये वेदवचनों का अर्थ क्या है, यह देखना आवश्यक हुआ है। वह बात इस अंक में बताने की इच्छा है।

आज भी युद्धवार्ता में हम देखते हैं कि, 'जापान ने चीन को खालिया' ऐसा जब कहते हैं, तब जापानने चीन के टुकडे करके उसको पकाकर चबाकर खाया, ऐसा अर्थ कोई नहीं समझता, क्योंकि भाषा का मुहावरा इस समय सब को मालूम है। वैदिक भाषा में भी ऐसे मुहावरे बहुत होंगे, जब वेद का अध्ययन पर्याप्त मात्रा में होगा, तब सब मुहावरों का पता लग जायगा।

जिसको इन मुहावरोंका पता नहीं होता, वे पदोंका अर्थ जो प्रत्यक्ष दीखता है, वही लेते हैं, और हास्यास्पद बनते हैं। वेदमंत्रों का अर्थ करनेवाले भी ऐसे ही भ्रान्त हो जाते हैं।

वेद में अनेक प्रक्रिया ऐसी हैं कि, जिनके कारण वेद-मन्त्र का ऊपर ऊपर दीखनेवाला अर्थ कुछ और होता है और वास्तविक सच्चा अर्थ कुछ और ही होता है। इस विषय में "लुप्त-तद्धित-प्रक्रिया" पाठकों के सामने हम पेश करना चाहते हैं। पाठक इस लेख को पढें और इस विषय के महत्त्व को जानें।

जो पाठक केवल कोश के सहारे से ही वेद का अर्थ करते होंगे और समझते होंगे कि, हमने वेदमंत्र का अर्थ कर लिया, वे कैसी अशुद्धियां कर सकते हैं, वह बात इस लेख से पाठकों के सामने स्पष्ट होगी।

वेदकी वर्णन शैली जाननी चाहिये। तथा इस तरह की जो अनेक प्रक्रियाएं हैं, जो वेद में प्रयुक्त हुई हैं, उनका भी ज्ञान वेदमंत्र का अर्थ करनेवालोंको होना आवश्यक है।

जो पाठक इस लेख को पढेंगे, वे ही जान सकते हैं कि वेद का अर्थ करते समय कितनी सावधानी रखनी चाहिये। यदि यह सावधानी की बुद्धि पाठकों में इस लेखसे उत्पन्न हुई तो यह लेख कृतकार्य हुआ, ऐसा ही हम मानेंगे।

—संपादक

वेदकी लुप्त-ताद्धित-प्रक्रिया

वेदमें ताद्धित प्रत्यय के न होनेपर भी तद्धित प्रत्ययका अर्थ विना तद्धित प्रत्यय लगे केवल मूल पद से ही व्यक्त होता है। इस का अनुसंधान न रहा तो अर्थ का अनर्थ प्रतीत होने लगता है, इसलिये इस प्रक्रिया का विचार यहां करना आवश्यक है। प्रथमतः तद्धित प्रत्यय का स्व-रूप देखिये--

गो = गाय, (मूलशब्द)
गव्य = (तद्धित प्रत्यय से बना शब्द); गाय से उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थ, जैसा दूध, दही, छाछ, मक्खन, घी, मूत्र, गोबर, चर्म, मांस, तांत, सरेस आदि पदार्थ।

परंतु वेद में केवल ' गो ' पद से ही ' गव्य ' का अर्थ व्यक्त होता है, इसलिये वेदमें ' गो ' पद के अर्थ भी 'गव्य' के अर्थों के जितने होते हैं। अर्थात् ' दूध, दही, घी, मांस, मूत्र, गोबर, चर्म ' आदि अर्थ केवल ' गो ' पदके ही होते हैं। प्रत्यय लगने की आवश्यकता वेदमें नहीं रहती। लौकिक संस्कृत में ऐसा नहीं होता, परंतु वैदिक संस्कृत में केवल ' गो ' के ही नहीं, अपितु अनेक पदों से, विना तद्धित प्रत्यय लगाये मूल पद से ही, तद्धित प्रत्यय लगाने के समान अर्थ होते हैं। इस विषयमें श्रीयास्काचार्य निरुक्तकार क्या कहते हैं, देखिये--

अथापि अस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरं' इति पयसः।... 'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' इति अधिषवणचर्मणः। अथापि चर्म च श्लेष्मा च ' गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व ' इति रथस्तुतौ। अथापि स्नाव च श्लेष्मा च ' गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ' इति इषु स्तुतौ।

(निरुक्त २।२।५)

और भी (कृत्स्नवत्) मूल पद ही (ताद्धितेन) तद्धित अर्थ से प्रयुक्त होनेके उदाहरण (निगमाः भवन्ति) वेद मंत्रों में अनेक होते हैं। उदाहरण के लिये देखो--

'गोभिः श्रीणीत मत्सरं' (ऋ. ९।४६।४) = यहां ' गौ ' पद का अर्थ ' दूध ' है,

'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' (ऋ. १०।९४।९)= यहां का ' गवि ' (गौ) पद का अर्थ ' चमडा ' है।

गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व' (ऋ. ६।४७।२६)= इस मंत्र में ' गो ' का अर्थ ' चमडा और सरेस ' है।

'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ' (ऋ. ६।७५।११)= इस मंत्र में ' गो ' पद का अर्थ ' तांत और सरेस ' है।

निरुक्तकार और भी कहते हैं--

ज्याऽपि गौरुच्यते। ' वृक्षे वृक्षे नियतामीमय द्गौस्ततो वयः प्र पतान् पूरुषादः। ' वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि। नियताऽमीमयद् गौः।

(निरुक्त २।१।६)

' गौ ' पद का अर्थ धनुष्यकी डोरी, ज्या, है। इसके लिये यह उदाहरण है--

(वृक्षे वृक्षे) प्रत्येक धनुष्यपर (नियता गौः) तनी हुई ज्या अर्थात् डोरी रहती है जो (अमीमयत्) शब्द करती है। उससे (पूरुष-अदः) मानवों के जीवन को खानेवाले (वयः प्रपतान्) पंख लगे हुए बाण फेंके जाते हैं! (ऋ. १०।२७।२२)

इस मंत्र में तीन उदाहरण हैं, जो तीनों के तीनों लुप्त-तद्धित-प्रक्रिया के दर्शक हैं, देखिये--

गौ = (गाय) ज्या, धनुष्यकी डोरी, जो गोचर्मकी तांत की बनती है,
वृक्ष = (वृक्ष) धनुष्य, यह किसी वृक्ष की लकडीका बनता है,
वयः = (पक्षी) बाण

इतने उदाहरण निरुक्तकारने दिये हैं, और लुप्त-तद्धित-प्रक्रिया वेदमें किस तरह होती है, पदों का स्पष्ट अर्थ कैसा दीखता है और वास्तविक अर्थ कैसा होता है, यह बताया है। यही अधिक स्पष्ट करने के लिये हम इन उदाहरणों को अधिक स्पष्ट कर देते हैं--

यहां उक्त उदाहरणों के हम ऊपर उपर दीखनेवाला अर्थ और वास्तविक सत्य अर्थ ऐसे दोनों अर्थ करके दिखाते हैं-

(१)

' गोभिः मत्सरं श्रीणीत ' (ऋ० ९।४६।४)

[दीखनेवाला अर्थ]= (गोभिः) अनेक गौओं के साथ (मत्सरं) मद उत्पन्न करनेवाले सोम को (श्रीणीत) पकाओ।

[सत्य अर्थ] = (गोभिः) गौके दूधके साथ (मत्सरं) सोमवल्ली के आनन्दवर्धक रसको (श्रीणीत) पकाओ।

(२)

' अंशुं दुहन्तो गवि अध्यासते। '

(ऋ. १०।९४।९)

[दीखनेवाला अर्थ]= सोम को दुहनेवाले (गवि) गौ पर (अध्यासते) बैठते हैं।

[सत्य अर्थ]= सोमका रस निकालनेवाले, रस निकालने के समय (गवि) गौ के चमडे के आसनपर (अध्यासते) बैठते हैं।

(३)

' गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व। '

(ऋ. ६।४७।२६)

[दीखनेवाला अर्थ] = तू (गोभिः) अनेक गौओं के साथ (सन्नद्धः असि) बंधा है, अतः (वीळयस्व) तू बलवान बन।

[सत्य अर्थ] = हे रथ ! तू (गोभिः) अनेक गौओं के चमडों से (सन्नद्धः असि) मढा हुआ है। अतः (वीळयस्व) तू बलवान बना है।

(४)

गोभिः सन्नद्धा प्रसूता पतति। '

(ऋ. ६।७५।११)

[दीखनेवाला अर्थ] (गोभिः) गौओंके साथ (सनद्धा) बंधी हुई (प्रसूता पतति) फेंकनेपर गिर जाती है।

[सत्य अर्थ]: (गोभिः) गौओं के तांत से तथा सरेस से (सनद्धा) उत्तम प्रकार बंधा हुआ बाण (प्रसूता पतति) धनुष्य से फेंका जानेपर शत्रुपर जाकर गिरता है।

सूचना- यहां ' गौ ' पदका अर्थ गाय और बैल ऐसा दोनों तरह हो सकता है, जहां दूध घी के साथ संबंध है वहां गाय और अन्यत्र बैल अर्थ लेना योग्य है।

(५)

' वृक्षे वृक्षे नियताऽमीमयद् गौस्ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः। (ऋ. १०।२७।२२)

[दीखनेवाला अर्थ] (वृक्षे वृक्षे) प्रत्येक वृक्ष पर (नियता) लटकाई हुई (गौः) गाय (अमीमयत्) चिल्लाती है। (ततः) उस से (वयः) पक्षी जो (पुरुष-अदः) पुरुषोंको खाते हैं वे (प्रपतान्) उडते हैं।

[सत्य अर्थ] (वृक्षे वृक्षे) वृक्ष की लकडी से बने प्रत्येक धनुष्य पर (नियता) चढाई हुई (गौ) गौकी तांत से बनी ज्या-डोरी (अमीमयत्) टणत्कार का शब्द करती है, (ततः) उस ज्यासे (वयः) पक्षी के पंख लगे बाण जो (पूरुषादः) मानवों का संहार करते हैं वे (प्रपतान्) शत्रु पर जाकर गिरते हैं।

इस अर्थ में जो वेदमन्त्र के पदोंके अर्थ हुए वे ऐसे हैं-

१ वृक्ष= धनुष्य, क्योंकि वृक्ष की लकडी से धनुष्य बनता है, इसलिये वृक्ष का ही अर्थ धनुष्य है।

२ गौ = ज्या, धनुष्य की डोरी, क्योंकि धनुष्य की डोरी गौकी तांत से बनती है, इसलिये गौ का अर्थ गाय या बैल की तांत की बनी डोरी है।

३ वयः = बाण, क्योंकि पक्षियोंके पर बाणोंपर लगते हैं, इसलिये ' वि, वयः ' का अर्थ बाण हैं।

' वृक्ष ' का अर्थ ' दरख्त, वृक्ष, ' ' गौ ' का अर्थ ' गाय, बैल ' और ' विः, वयः' का अर्थ ' पक्षी ' है। ये अर्थ सब जानते ही हैं। ये अर्थ सब कोशों में हैं। परन्तु ये अर्थ वेद मंत्रों में लेने नहीं है, पर तद्धित प्रत्यय लग कर होनेवाले अर्थ, प्रत्यय न लगते हुए भी, उस मूल पद से ही लेने हैं। यह यास्काचार्य निरुक्तकार का कथन है। अब हम इसी नियम के अनुसार अन्यान्य वेद मंत्रों के अर्थ देखते हैं—

(६)

अभीमं अघ्न्या उत श्रीणन्ति धेनवः शिशुम्। सोमं इन्द्राय पातवे। (ऋ. ९।१।९)

[दीखनेवाला अर्थ] = (इन्द्राय पातवे) इन्द्र के पीने के लिये (अध्न्याः धेनवः) अवध्य गौवें (इमं शिशुं सोमं) इस बछडे सोम को (अभिश्रीणन्ति) पकाती हैं।

[सत्य अर्थ) = इन्द्र के पीने के लिये अवध्य गौओं का दूध इस सोम के रस में मिला कर पकाया जाता है।

यहां ' अध्न्याः धेनवः ' का अर्थ ' गौ का दूध ' है और ' शिशुं सोमं ' का अर्थ ' सोमवल्ली का रस ' है। औषधि का रस उस के पुत्र के समान ही होता है।

(७)

यद् गोभिर्वासयिष्यसे ॥ (ऋ. ९।२।४; ९।६६।१३)

सायनभाष्य- यत् यदा गोभिः गोविकारैः पयोभिः वासयिष्यसे आच्छादयिष्यसे ।

[दीखनेवाला अर्थ]= जब सोम (गोभिः) गौओं से (वासयिष्यसे) आच्छादित किया जाता है।

[सत्य अर्थ]= जब सोमरस (गोभिः,) गौओंके दूध के साथ (वासयिष्यसे) मिलाया जाता है।

(८)

तं गोभिः वृषणं रसं मदाय देववीतये ।
सुतं भराय सं सृज ॥ (ऋ. ९।६।६)

(देववीतये मदाय) देवों के पीनेके लिये और आनन्दके लिये (तं वृषणं सुतं रसं) उस बलवर्धक निचोडे रस को (भराय) युद्ध के लिये (गोभिः सं सृज) गौओं के साथ छोड दो।

[सत्य अर्थ]= उस बलवर्धक सोमरस में गौका दूध मिला दो। (सायन भाष्य-- (' गोभिः पयोभिः ')

(९)

देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानं अति मेष्यः ।
सं गोभिर्वासयामसि ॥ (ऋ. ९।८।५)

(देवेभ्यः मदाय) देवोंके आनन्द के लिये (त्वा) तुम सोमरस को (मेष्यः कं अतिसृजानं) मेढीकी ऊन की छाननीसे जल के साथ छानकर (गोभिः सं वासयामसि) गौओं से ढक देते हैं।

[सत्य अर्थ] = सोमरसको छानकर (गोभिः संवासयामसि) गौके दूध से मिलाते हैं।

(१०)

सोमासो गोभिरंजते । (ऋ. ९।१०।३)

(सोमासः) सोम (गोभिः) गौओं के साथ (अंजते) जाते हैं।

[सत्य अर्थ) = (सोमासः) सोमरस (गोभिः) गौके दूध के साथ (अंजते) मिलाते हैं। [सा. भा.-- गोभिः पयोभिः]

(११)

यदी गोभिर्वसायते । (ऋ. ९।१४।३)

(यदि) जब (गोभिः) गौओं से (वसायते) वसाया जाता है।

[सत्य अर्थ] जब सोमरस (गोभिः) गौके दूध के साथ मिलाया जाता है। [सा० भा०- गोभिः गोविकारैः। विकारे प्रकृति शब्दः। क्षीरादिभिः वसायते आच्छाद्यते।]

(१२)

गाः कृण्वानः न निर्णिजम्।
(ऋ. ९।१४।५; ९।८६।२६)

सोम (गाः) गौओं को (निर्णिजं न) अपने कोट जैसा बनाता है।

[सत्य अर्थ] = सोमरस (गाः) गौओंके दूध के साथ मिलकर अपना उत्तम रूप बनाता है।

(१३)

अभि गावो अनूषत योषा जारं इव प्रियम्।
(ऋ. ९।३२।५)

(योषा प्रियं जारं इव) जैसी स्त्री प्रिय यार के पास जाती है, वैसी ही (गावः) गौवें सोम के पास (अभि अनूषत) जाती हैं।

[सत्य अर्थ] = सोमरस के साथ (गावः) गौओं का दूध मिलाया जाता है।

(१४)

संमिश्लो अरुषो भव सूपस्थाभिर्न धेनुभिः।
(९।६१।२१)

(सूपस्थाभिः धेनुभिः) उत्तम समीपस्थ गौओंके साथ (संमिश्लः) मिलकर, हे सोम ! तू (अरुषः भव) तेजस्वी हो।

[सत्य अर्थ] = उत्तम (धेनुभिः) गौओंके दूध के साथ (संमिश्लः) मिला हुआ सोम चमकने लगे। (सा०

भा०-- धेनुभिः गोविकारैः पयोभिः ।)

(१५)

तुभ्यं धावन्ति धेनवः । (ऋ. ९।६६।६)

हे सोम ! (तुभ्यं) तेरे लिये (धेनवः धावन्ति) गौवें दौडती हैं ।

[सत्य अर्थ] = सोम रस में मिश्रित होने के लिये (धेनवः) गोदुग्ध के प्रवाह बहते हो रहे हैं ।

(१६)

अद्भिर्गोभिर्मृज्यते अद्रिभिः सुतः ।

(ऋ. ९।६८।९)

(अद्रिभिः सुतः) पर्वतों से निचोडा हुआ तू सोम (अद्भिः) जलों से (गोभिः) गौओं से (मृज्यते) शुद्ध किया जाता है ।

[सत्य अर्थ] = (अद्रिभिः) पर्वतों पर होनेवाले पत्थरों से (सुतः) निचोडा सोमरस (अद्भिः) जल के साथ तथा (गोभिः) गो दुग्ध के साथ मिलाकर छाना जाता है ।

इस मन्त्र में ' अद्रि ' पद पर्वत वाचक है, परन्तु यहां पर्वत में मिलनेवाले ' पत्थरों ' का वाचक है । इन पत्थरों से सोम कूटा जाता है और रस निकाला जाता है । यह भी लुप्ततद्धित का उत्तम उदाहरण है । ' गो ' पद तो वारंवार दूध और दही के लिये आया ही है ।

(१७)

उक्षा मिमाति प्रति यन्ति धेनवः ।

(ऋ. ९।६९।४)

(उक्षा) बैल (मिमाति) शब्द करता है और उस के पास (धेनवः प्रतियन्ति) गौवें जाती हैं ।

[सत्य अर्थ] = (उक्षा) बल का वर्धन करनेवाला सोमरस छाना जाने के समय (मिमाति)) शब्द करता है, छाननी से नीचे टपकने का शब्द करता है, उस समय उस में (धेनवः) गौका दूध मिलाया जाता है ।

' उक्षा ' पद का अर्थ ' बैल और सोम ' ऐसे दोनों हैं, वेद मन्त्र के ' उक्षा ' पद का अर्थ ' सोम ' न करते हुए ' बैल ' अर्थ करने से कितना अर्थ का अनर्थ हो जाता है इस का एक उदाहरण यहां देखिए--

(१८)

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एना-वरेण । उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥ (ऋ. १।१६४।४३)

(आरात्) दूरसे (शकमयं धूमं) गोबर से निकलने-वाला धूवां (अपश्यं) मैंने देखा और (एना विषूवता अवरेण) इस फैलनेवाले निकृष्ट धूवें के (परः) परे अर्थात् नीचे विद्यमान अग्निको भी मैंने देखा । वहां (वीराः) बुद्धिमान लोग (उक्षाणं पृश्निं अपचन्त) बैल और गाय को पकाते थे और (तानि प्रथमानि धर्माणि आसन) वे पहिले धर्म थे ।

[सत्य अर्थ] = मैंने जलती आग देखी और दूरसे इस का धूवां भी देखा । बुद्धिमान लोग (उक्षाणं) बल-वर्धक सोमरस को (पृश्निं) गोदुग्ध के साथ (अपचन्त) पकाते थे । ये पहिले धर्म थे । अथवा (पृश्निं उक्षाणं) चितकबरे सोमरस को पकाते थे । ये प्रारंभक धर्म थे ।

' उक्षा ' का अर्थ ' सोम और बैल ' है तथा ' पृश्नि ' का अर्थ ' गौ और दूध ' है । सोमरस के साथ दूध का मिलान करने और उस का पाक करने का विधान अनेक मंत्रों में ऊपर आया है और आगे अनेक मंत्रों में आयेगा। उसके अनुसंधान से इस मंत्रका सत्य अर्थ कैसा उत्तम है, वह देखिये । इस को जो नहीं समझते, वे इस मंत्रका कैसा अर्थ करते हैं वह अनर्थ ऊपर दिया ही है ।

इस मंत्रका सायन भाष्य-- 'उक्षाणं फलस्य सेक्तारं पृश्निं शुक्लवर्णं । पृश्निर्वल्लिरूपः सोमः तं धीराः अपचन्त । ' यहां ' उक्षा ' का अर्थ सोम ही दिया है, तथापि इस मंत्रका अर्थ कइयों ने बैल करके अनर्थ किया है ।

(१९)

सं धेनुभिः कलशे सोमो अज्यते ।

(ऋ. ९।७२।१)

(सोम) सोम (धेनुभिः) गौओं के साथ (कलशे) कलश में (सं अज्यते) सिंचित होता है ।

[सत्य अर्थ] सोमरस (धेनुभिः) गौ के दूध के साथ पात्र में मिलाया जाता है ।

(२०)

अरममाणो अत्येति गाः । (ऋ. ९।७२।२)

(अरममाणः) न रमता हुआ सोम (गाः अति एति) गौओं का अतिक्रमण करके दूर जाता है ।

[सत्य अर्थ] = (अरममाणः) प्रवाहित होनेवाला सोमरस (गाः अति एति) गौओं के दूध में पूर्ण रीति से मिलाया जाता है ।

(२१)

अंशुं दुहन्ति स्तनयन्तं अक्षितं कविं कवयोऽपसो मनीषिणः । समी गावो मतयो यन्ति संयत ऋतस्य योना सदने पुनर्भुवः ॥ (ऋ. ९।७२।६)

(अपसः मनीषिणः कवयः) कर्ममें कुशल मननशील ज्ञानीजन (कविं अक्षितं अंशुं) बुद्धिवर्धक क्षीण न हुए सोम को (दुहन्ति) दुहते हैं । उस (ऋतस्य सदने योना) यज्ञ के स्थान में (पुनर्भुवः गावः) पुनः प्रस्तुत हुई गौवें तथा (मतयः) बुद्धियां (संयतः) इकट्ठी होकर (संयन्ति) मिलकर चलती हैं ।

[सत्य अर्थ] = कर्ममें कुशल मननशील ज्ञानी जन बुद्धिवर्धक (अंशुं दुहन्ति) सोमका रस निकालते हैं, इस समय यज्ञ के मंडप में (पुनर्भुवः गावः) पुनः प्रसूत हुई गौओं का दूध दुहा जाता है और (मतयः) स्तोत्र पाठ भी साथ साथ चलता रहता है ।

इस मंत्र में ' अंशु ' का अर्थ सोमका रस; ' गावः ' का अर्थ गौओं का दूध और ' मतयः ' का अर्थ स्तोत्र है । सोम से सोमरस निकाला जाता है, गौ से दूध उत्पन्न होता है और बुद्धि से स्तोत्र बनता है, इसलिये मूलपद का ही उक्त अर्थ होता है । जहां सोमरस निकाला जाता है, वहां ही गौ का दूध लाया जाता है और स्तोत्रपाठ भी वहीं होता रहता है । ये तीनों उदाहरण एक ही जातिके हैं ।

(२२)

क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतं । (ऋ.९।८६।२७)

(गोभिः परि आवृतं) गौओं से घेरे हुए को (क्षिपः मृजन्ति) अंगुलियां शुद्ध करती हैं ।

[सत्य अर्थ] = (गोभिः परि आवृतं) गौ के दूध के साथ चारों ओर से मिलाये सोमरस को अंगुलियां छान रही हैं ।

(२३)

यद् गोभिः इन्दो चम्वोः समज्यसे आसुवानः कलशेषु सीदसि ॥ (ऋ. ९।८६।४७)

हे (इन्दो) सोम ! (यत्) जब तू (चम्वोः) पात्रों में (गोभिः सं अज्यसे) गौओं के साथ प्रविष्ट होता है, तब हे सोम ! तू (सुवानः कलशेषु सीदसि) रस निकालनेपर कलशों में बैठता है ।

[सत्य अर्थ] = जब सोमरस बर्तनों में (गोभिः) गोदुग्ध के साथ मिलाया जाता है, तब वह छाना जाकर कलशों में रखा जाता है ।

(२४)

उत स्म राशिं परि यासि गोनां इन्द्रेण सोम सरथं पुनानः ॥ (ऋ. ९।८७।९)

हे सोम ! इन्द्र के साथ रथपर बैठ कर (पुनानः) पवित्र होता हुआ तू (गोनां राशिं परि यासि) गौओं की राशी को प्राप्त करता है ।

[सत्य अर्थ] इन्द्र को प्रदान करनेके लिये पवित्र किया जानेवाला-छाना जानेवाला सोमरस (गोनां राशिं) गौओंके दूध के बर्तन के पास जाता है अर्थात् सोमरस दूध में मिलाया जाता है ।

(२५)

मर्मृजानोऽविभिर्गोभिरद्भिः । (ऋ. ९।९१।२)

(अविभिः) भेडियों (गोभिः) गौओं और (अद्भिः) जलों के साथ (मर्मृजानः) शुद्ध किया जाता है ।

[सत्य अर्थ] = (अविभिः) भेडियों की ऊन की छाननियों से, (गोभिः) गौओंके दूधके साथ तथा (अद्भिः) जल के साथ मिलाकर सोम का रस छाना जाता है ।

(२६)

सं सिंधुभिः कलशे वावशानः समुस्रियाभिः प्रतिरन्न आयुः ॥ (ऋ. ९।९६।१४)

हे सोम ! तू (सिन्धुभिः) नदियों के साथ कलश में जाने की इच्छा करता हुआ (उस्रियाभिः) गौओंके साथ मिलकर (नः आयुः प्रतिरन्) हमारी आयु को बढाओ ।

[सत्य अर्थ] सोम रस (सिन्धुभिः) नदियों के जल

के साथ तथा (उस्त्रियाभिः) गौओं के दूध के साथ बर्तन में मिलकर उस के सेवन से हमारी आयु को बढा देवे।

इस मन्त्र में ' सिंधु ' शब्द नदी के जल के लिये और ' उस्त्रिया ' शब्द गौके दूध के लिये आया है।

(२७)

अक्तो गोभिः कलशाँ आ विवेश।

(ऋ. ९।९६।२२)

सोम (गोभिः अक्तः) गौओं के साथ मिलकर कलशों में घुसता है।

[सत्य अर्थ] = सोम रसमें गौओं का दूध मिलाने के बाद वह कलशों में भरा जाता है।

(२८)

पवमान पवसे धाम गोनाम्। (९।९७।३१)

हे (पवमान) शुद्ध होनेवाले सोम ! तू (गोनां धाम) गौओं के स्थान को (पवसे) प्राप्त होता है।

[सत्य अर्थ] = सोमरस (गोनां धाम) गौओं के दूध में मिलाया जाता है।

(२९)

सोमं गावो धेनवो वावशानाः।

(ऋ. ९।९७।३५)

गौवें सोम की इच्छा करती हैं, अर्थात् सोमरस गोदुग्ध में मिलाने के लिये सिद्ध हुआ है।

(३०)

गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः। (ऋ. ९।९७।३४)

(गावः) गौवें (गोपतिं) गौके पति को (पृच्छमानाः) पूछती हुई (यन्ति) जाती हैं।

गौओं का दूध सोमरस में मिलाने के लिये तैयार है।

यहां ' गो-पति ' पद ' बैल ' का वाचक है और बैल वाचक ' उक्षा ' शब्द सोम का वाचक है, इसलिये गोपति पद सोम का वाचक हुआ है। ' गौ ' का अर्थ ' दूध ' और ' गोपति ' का अर्थ ' सोमरस ' है।

(३१)

गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि। (ऋ. ९।१०४।४)

हे सोम ! (ते वर्णं) तेरे वर्ण को हम (गोभिः) गौओं से (अभि वासयामसि) आच्छादित करते हैं।

सोमरस में (गोभिः) गौओं का दूध मिलाते हैं और उसके रंगको सुधारते हैं।

(३२)

शुचिं ते वर्णमधि गोषु दीधरम्॥ (ऋ. ९।१०५।४)

(ते शुचिं वर्णं) तेरे शुद्ध वर्ण को मैं (गोषु) गौओं में (अधि दीधरं) धर देता हूँ।

सोम के रंगको मैं (गोषु) गौ के दूध में मिला देता हूं। सोमरस को दूध में मिलाता हूं।

(३३)

नूनं पुनानोऽविभिः परि स्रवादब्धः सुरभिंतरः। सुते चित् त्वाऽप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभिरुत्तरम्॥ (ऋ. ९।१०७।२)

हे सोम ! (अ-दब्धः सुरभिंतरः) अहिंसित और सुगंधित ऐसा तू (नूनं पुनानः) निश्चय से पवित्र किया जानेवाला (अविभिः परि स्रवः) मेंढियों के साथ चूता रह। (सुते चित्) रस निकालने पर (अन्धसा) अन्न के साथ (गोभिः) गौओं के साथ (श्रीणन्तः) मिलाते हुए हम (उत्तरं अप्सु मदामः) पश्चात् जलों में प्रशंसित करते हैं।

[सत्य अर्थ] = किसी तरह न दबनेवाले सुगन्ध से युक्त सोमरस (सुनानः) छानने के समय (अविभिः) मेंढीकी ऊन की छाननियों से छाना जाता है। छानने के पश्चात् (अन्धसा) सत्तुके खाने योग्य आटेके साथ और (गोभिः) गौके दूध के साथ (श्रीणन्तः) मिलाया जाता है और पश्चात् उसमें जल भी डालते हैं, तब वह बडा प्रशंसनीय हो जाता है।

(३४)

अनूपे गोमान् गोभिः अक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः। (९।१०७।९)

(अनूपे) निम्न प्रदेशमें (गोमान्) गौवाला (गोभिः) गौओंके साथ (अक्षाः) चू रहा है, यह सोम (दुग्धाभिः अक्षाः) दुही गौओं के साथ चू रहा है।

बर्तन के नीचले भाग में गोदुग्धमिश्रित सोम, गौके दूध के साथ मिलकर छाननीके नीचे चू रहा है, वह सोमरस दुही गौओंके दूध के साथ नीचे चू रहा है, छाना जा रहा है।

(३५)

पिबन्त्यस्य विश्वे देवासो गोभिः श्रीतस्य नृभिः सुतस्य। (ऋ. ९।१०९।१५)

सब देव (नृभिः सुतस्य) मनुष्योंद्वारा निचोडे और (गोभिः श्रीतस्य) गौओं से मिलाये सोमरस (पिबन्ति) पीते हैं।

सब लोग सोम का रस निचोडने के बाद उस में गौका दूध मिलाकर पीते हैं।

स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः। (ऋ. ९।१०९।१६)

(सः) वह सोम (सहस्र-रेताः वाजी) हजारों सामर्थ्यों से युक्त है, बलवान् है वह (अद्भिः मृजानः) जलों के साथ शुद्ध किया जाता और (गोभिः श्रीणानः) गौओंसे मिलाया जाता है, अतः (अक्षाः) चूता है।

सोमरस में अनेक शक्तियां हैं। इस रसमें जल और गौका दूध मिलाया जाता है और यह मिश्रण छाननीसे छाना जाता है।

पर्वत वाचक ' अद्रि ' शब्द ' पर्वत से प्राप्त होनेवाले पत्थरों का वाचक ' है इस के उदाहरण ये हैं—

(ऋग्वेद नवम मंडल)

१ हस्तच्युतेभिः अद्रिभिः सुतं सोमं पुनीतन ऋ. ९।११।५
२ इन्दो! यत् आद्रिभिः सुतः पवित्रं परिधावसि। २४।५
३ हरिं हिन्वन्ति अद्रिभिः। २६।५;३२।२;३८।२;३९।६ ५०।३;६५।८
४ अप्सु त्वा मधुमत्तमं हरिं हिन्वन्ति आद्रिभिः। ३०।५
५ सुन्वन्ति सोमं अद्रिभिः। ३४।३
६ अध्वर्यो! अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ सृज। ५१।१
७ सोमो देवो, न सूर्यो, अद्रिभिः पवते सुतः।६३।१३
८ यस्य ते मद्यं रसं तीव्रं दुहन्ति अद्रिभिः। ६५।१५
९ एष सोमो अधि त्वचि गवां क्रीळति अद्रिभिः। ६६।२९
१० त्वं सुष्वाणो अद्रिभिः। ६७।३
११ अद्भिः गोभिः मृज्यते अद्रिभिः सुतः। ६८।९
१२ अद्रिभिः सुतः पवते। ७१।३
१३ आद्रिभिः सुतो मतिभिश्चनो हितः। ७५।४
१४ मधुमन्तं अद्रिभिः दुहन्ति अप्सु वृषभं दश क्षिपः। ८०।५
१५ अद्रिभिः सुतः पवसे पवित्र आँ। ८६।२३.
१६ गभस्ति-पूतो नृभिः अद्रिभिः सुतः। ८६।३४
१७ नरः सोमं ''हिन्वन्ति आद्रिभिः १०१।३
१८ सुष्वाणासो व्यद्रिभिः...गोः अधित्वचि। १०१।११
१९ सुषाव सोमं अद्रिभिः। १०७।१
२० सोम सुवानो अद्रिभिः। १०७।१०
२१ सोम! प्र याहि इन्द्रस्य कुक्षा नृभिः येमानो आद्रिभिः सुतः। १०९।१८
२२ नृधूतो अद्रिषुतो बर्हिषि प्रियः पतिर्गवां······ इन्दुः॥ ७२।४
२३ नृभिः सोम! प्रच्युतो ग्रावभिः सुतः। ८०।४
२४ सं ग्रावभिर्नसते वीते अध्वरे। ८२।३

संस्कृत में 'अद्रि, गोत्र, गिरि, ग्रावा, अचल, शैल, घर, पर्वत ' आदि पद ' पर्वत ' वाचक हैं। इनमें से ' अद्रि और ग्रावा ' ये दो पर्वत वाचक पद कूटने पीसने के लिये प्रयुक्त होनेवाले पत्थरोंके वाचक ऊपर के मंत्रों में आये हैं। ' ग्रावा ' के केवल अन्तिम दो उदाहरण हैं, और पहिले सब उदाहरण ' अद्रि ' के हैं। पत्थर पर्वत से उत्पन्न होते हैं, इसलिये पर्वतवाचक ' अद्रि ' और ' ग्रावा ' पद पत्थरोंके वाचक माने गये हैं। जिस तरह गौसे उत्पन्न होनेवाले ' दूध ' के लिये ' गौ ' पद प्रयुक्त होता है, वैसे ही ये सब उदाहरण लुप्त तद्धित के हैं।

उक्त सब मंत्रों में यही कहा है कि (अद्रिभिः) पर्वतों में उत्पन्न हुए पत्थरों से सोम कूटा जाता है और उस से रस निकालते हैं। प्रत्येक मन्त्र में यद्यपि सोमके सम्बन्ध की कुछ विशेष बात कही है तथापि हमें यहां केवल इतना ही बताना है कि पर्वत वाचक ' अद्रि और ग्रावा ' ये पद पर्वतसे उत्पन्न पत्थरोंके अर्थमें इन मन्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं।

अब उक्त मन्त्रभागों के अर्थ क्रमशः देखिये– (१) हाथों में से छूटनेवाले पत्थरों से निकले सोमरस को छानो। (२)

हे सोम ! तू पत्थरों से रसनिकलने पर छाननी के पास दौडता है । (३) पत्थरों से हरे सोम का रस निकालते हैं । (४) पत्थरों द्वारा रस निकालने पर पानी मिलाते हैं । (५) सोम का रस पत्थरों से निकालते हैं । (६) हे अध्वर्यो ! पत्थरों से सोम का रस निकालनेपर छाननीपर रखो । (७) सोमदेव, सूर्यके समान, पत्थरों से रस निकालने पर पवित्र करता है, (८) तेरा आनन्दकारक तीखा रस पत्थरों से निकालते हैं । (९) यह सोम चमडे-पर पत्थरों के साथ खेलता है । (१०) पत्थरोंके साथ रस निकालते हैं । (११) पत्थरों से रस निकलने पर जल और गौके दूध के साथ छाना जाता है । (१२) पत्थरों से रस निकालते हैं । (१३) पत्थरों द्वारा निकाला रस मन्त्रों से प्रशंसित होता है । (१४) मधुर बलवर्धक रस को पत्थरों से कूटकर दस अंगुलियां जल में मिलाती हैं । (१५) पत्थरों से निकाला रस छाननी के ऊपर चढाया जाता है । (१६) मानवोंने पत्थरों से पवित्र रस निकाला है । (१७) मनुष्य सोम का रस पत्थरों से निकालते हैं । (१८) गौके चमडेपर बैठकर पत्थरों से सोम का रस निकालते हैं । (१९) पत्थरों से सोमरस निकाला । (२०) पत्थरों से सोमरस निकाला जा रहा है । (२१) मानवोंने पत्थरोंद्वारा निकाला सोमरस इन्द्र की कोख में चला जावे । (२२) मनुष्योंद्वारा निकाला, पत्थरों से कूटा, यज्ञ में प्रिय गौओं का पति सोमरस है । (२३) मानवोंने पत्थरोंद्वारा कूटकर सोमरस निकाला है । (२४) यज्ञ में पत्थरोंद्वारा सोम का रस निकालते हैं ।

उक्त मन्त्रभागों का अर्थ यहां क्रम से दिया है । प्रत्येक मन्त्रभाग में पर्वत वाचक ' अद्रि ' तथा ' ग्रावा ' पद का अर्थ ' कूटने का पत्थर ' है ।

ये सब उदाहरण लुप्त–तद्धित–प्रक्रिया के हैं । पूर्व स्थान में निरुक्तकार यास्काचार्य के वचन में **' वृक्षे वृक्षे '** पद (धनुषि, धनुषि) धनुष्य अर्थ में आया है । धनुष्य एक प्रकार की बांस की लकडी से बनता है । बांस को ही यहाँ वृक्ष कहा ऐसा प्रतीत होता है । वेद में एक स्थानपर ' वृक्ष ' पद ' पलंग अथवा खटिया ' का वाचक आया है देखिए-

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः ।
माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य क्रीडतः ॥
(वा. य. २३।२४-२५)

' तेरे माता और पिता (वृक्षस्य अग्रं) पलंग पर, अथवा खटियापर आरोहण करते थे । ' इस मन्त्रमें ' वृक्ष ' पद का अर्थ ' वृक्ष की लकडी से बने पलंग ' है ।

यहां करीब ६२ उदाहरण लुप्त–तद्धित–प्रक्रियाके दिये हैं । इन से इस वैदिक प्रक्रिया की उत्तम कल्पना पाठकों के मन में स्थिर हो सकती है । उक्त ' अद्रि ' पदवाले उदाहरण हमने केवल नवम मण्डल के ही दिये हैं ! नवम मण्डल सोम मण्डल ही है । पाठकों की सुविधा के लिए हम अब अन्य मण्डलों के मन्त्र यहां देते हैं, वहां भी ' अद्रि ' पद पत्थरवाचक ही है–

(१)

हरिं यत् ते मन्दिनं दुक्षन् वृधे गोरभसं अद्रिभिः वाताप्यम् । (ऋ. १।१२१।८)

(ते मन्दिनं हरिं) तेरे हर्ष के लिये हरे वर्ण का सोम-रस (दुक्षन्) निकाला वह (अद्रिभिः) पत्थरों के द्वारा निकाला था, और (गोरभसं) गौके दूध के साथ मिलाया था और (वाताप्यं) वायु में उस को बढाया भी था ।

(२)

पिबा सोमं इन्द्र सुवानं अद्रिभिः ।
(ऋ. १।१३०।२)

हे इन्द्र ! तू (अद्रिभिः) पत्थरोंसे सोम कूटकर निकाला यह रस पीजा ।

(३)

तुभ्यायं सोमः परिपूतो अद्रिभिः ।
(ऋ. १।१३५।२)

तेरे लिये पत्थरोंद्वारा यह सोम कूटकर रस निकाला और छान कर तैयार किया है ।

(४)

सुषुमा यातमद्रिभिर्गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे ॥
तां वां धेनुं न वासरीं अंशुं दुहन्ति अद्रिभिः ।
सोमं दुहन्ति अद्रिभिः ॥ (ऋ. १।१३७।१,३)

' आओ ! हमने ये सोमरस (अद्रिभिः) पत्थरों से कू

कर निकाले हैं, (गो-श्रीताः) गौओं के दूध के साथ मिलाये हैं, अब ये रस आनन्दवर्धक बने हैं। तुम्हारी धेनु का दूध दुहने के समान ही सोम को पत्थरों से कूट कर उससे रस दुहते हैं।'

(५)

गा अपो अधुक्षन् सीं अविभिः अद्रिभिः नरः।
(ऋ. २।३६।१)

(अद्रिभिः) पत्थरों से कूटकर निकाला रस (अविभिः) भेडी की ऊन की छाननीसे छाना (गाः) गौका दूध उस में मिलाया तथा (अपः) जल भी मिलाया है।

(६)

अपा वृणोत् हरिभिराद्रिभिः सुतं।
(ऋ. ३।४४।५)

हरे वर्ण के पत्थरों से निकाले सोम रस को प्रकट किया।

(७)

सोमं सुषाव मधुमत्तमं अद्रिभिः।
(ऋ. ४।४५।५)

पत्थरोंसे सोम कूटकर मधुर रस निकालते हैं।

(८)

सोता हि सोममद्रिभिः एमेनं अप्सु धावत।
(ऋ. ८।१।१७)

(अद्रिभिः सोमं सोत) पत्थरों से सोम का रस निकालो, (एनं अप्सु धावत) इस को जलों में स्वच्छ करो।

इस तरह वेदोंमें अन्यत्र भी पर्वत वाचक 'अद्रि' पद सोमकूटनेके पत्थरोंके वाचक हैं। इसके कई और उदाहरण हैं, परन्तु यहां अब इतने ही पर्याप्त हैं।

लुप्ततद्धित प्रक्रिया के ये उदाहरण निम्नलिखित मंत्रों में पाये जाते हैं, वे देखने योग्य हैं-

१ **वशा सोमं आहरत्।** (अथर्व. १०।१०।१२)= वशा गौने सोम का हरण किया, अर्थात् गौके दूध में सोमरस मिलाया गया। और दूध अधिक मात्रा में रहने के कारण सोम का रंग न दीखते हुए दूध का ही रंग उस मिश्रणपर दीखने लगा।

२ **वशा सोमेन सं आगत।** (अ. १०।१०।१३)= वशा गौ सोम के साथ मिली, अर्थात् गौके दूध के साथ सोमरस का मिश्रण हुआ।

३ **वशा समुद्रं अध्यष्ठात्।** (अथर्व १०।१०।१३)= वशा समुद्र पर ठहरी, अर्थात् गौका दूध जल (मिश्रित सोमरसके मिश्रण) के ऊपर दीखने लगा। (सोमरस में दूध इतना अधिक मिलाना चाहिए कि वह ऊपर दीखे और सोमरस का रंग मिट जाय।)

४ **वशा समुद्रे प्रानृत्यत्।** (१०।१०।१४) गौ समुद्र पर नाचने लगी, अर्थात् सोमरस रूपी समुद्र पर गौका दूध दिखाई दिया। (सोमरस में गौका दूध मिलाया और उस मिश्रण में दूध का भाग अधिक था, जो ऊपर दीखने लगा)

५ **वशा समुद्रं अत्यख्यत्।** (अ. १०।१०।१५)= वशा गौ समुद्रका तिरस्कार करने लगी अर्थात् सोमरस रूपी समुद्र से गौका दूध उक्त मिश्रण में अधिक होने से अधिक वस्तु न्यून वस्तु का तिरस्कार करती है वही यहां हुआ।

[यहां 'वशा' पद गौके दूधका वाचक और 'समुद्र' पद सोमरस में मिलाये जल का और जलमिश्रित सोम का वाचक है। लुप्त तद्धित प्रक्रिया का कहांतक संबंध पहुंचता है सो देखिए। 'समुद्र' का नाम 'सिंधु' है। सिन्धु का अर्थ 'नदी' है। नदीका जल यज्ञमें सोमरस निकालने के लिए काममें लाते हैं, इसलिये 'समुद्र' पदसे 'जल' लिया और पश्चात् यह जल सोमरस में होनेसे 'समुद्र' का अर्थ ही 'सोमरस' हुआ। वेद मंत्र का अर्थ करने के लिये इतना दूर संबंध देखना पडता है।]

६ **अश्वः समुद्रो भूत्वा (वशां) अध्यस्कन्दत्।** (अ. १०।१०।१६) = घोडा समुद्र बनकर गौ पर चढ गया, अर्थात् 'घोडा' नाम बलवर्धक 'सोम' समुद्र नाम 'जल' जैसा बनकर, सोमरसके रूपमें निचोडा जाकर गौके दूध के साथ उण्डेला गया।

७ **कस्याः नाश्नीयाद् अब्राह्मणः** (अ. १२।४।४३)
तस्यां नाश्नीयाद् अब्राह्मणः, (४४;४६)

किस गौका भक्षण अब्राह्मण न करे? उस गौका भक्षण अब्राह्मण न करे। अर्थात् वशा- जाती की गौ का दूध अब्राह्मण न पीवे।

यहां पदोंके अर्थ से गौके मांस के खाने का भाव प्रतीत होता है, परन्तु है केवल दूध, घी, दही आदि के सेवन का

भाव। गोविकार के लिये गौ शब्द का प्रयोग हुआ है।

८ यदि हुतां, यदि अहुतां, अमा च पचते वशाम्। (अ. १२।४।५३) दान देनेपर अथवा दान न देने पर अपने ही घर गौको पकाता है। इस का गौके मांस को पकाता है ऐसा भाव नहीं है, परन्तु गौके दूध का पाक बनाता है, ऐसा भाव यहां है।

ये उदाहरण लुप्त तद्धित-प्रक्रिया के हैं। इन का अर्थ इसी प्रक्रिया के अनुसार समझना चाहिये।

लुप्ततद्धित प्रक्रिया

९ ग्रावा त्वा अधि नृत्यतु। (अ० १०।९।२)= वह पत्थर तेरे ऊपर नाचता रहे, अर्थात् गौके चर्म पर रखे सोम को कूटता रहे।

१० शतौदनां यः पचति। (अ० १०।९।४) = जो सौ मानवों के पर्याप्त होने योग्य दूध देती है, उस गौको पकाता है अर्थात् इस गौके दूध को पकाता है, दूध का पाक तैयार करता है।

११ ते शमितारः पक्तारः जनाः ते गोप्स्यन्ति। (अ० १०।९।७) = तुझे शान्त करनेवाले और तेरा पाक करनेवाले लोगही तेरी सुरक्षा करेंगे, अर्थात् गौको शांतिसुख देनेवाले और गौके दूध का पाक करनेवाले लोग ही गौकी सुरक्षा करेंगे।

१२ हे नृपते! ते देवाः गां अत्तवे न ददुः। (अ० ५।१८।१) = हे राजन्! तेरे पास देवोंने गौ खानेके लिये दी नहीं है, अर्थात् अपने भोगके लिये नहीं दी है। गौका उपभोग क्षत्रिय अपने भोग के लिये न करे।

१३ हे राजन्य! ब्राह्मणस्य अनाद्यां गां मा जिघत्सः (अ० ५।१८।१)= हे क्षत्रिय! ब्राह्मण की गौ न खा, अर्थात् ब्राह्मण की गौका अपहरण न कर।

१४ पापः राजन्यः ब्राह्मणस्य गां अद्यात्। (अ० ५।१८।२) = पापी क्षत्रिय कदाचित् ब्राह्मण की गौको खायेगा अर्थात् दुष्ट क्षत्रिय ही ब्राह्मण की गौ का अपहरण करेगा।

१५ ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्। (अ० ५।१८।१०) = ब्राह्मण की गौको खाकर वैतहव्य क्षत्रिय पराभूत हुए अर्थात् ब्राह्मण की गौ छीनने से इन क्षत्रियों का पराभव हुआ था।

१६ हन्यमाना गौः वैतहव्यान् अवातिरत्। (अ० ५।१८।११) = हनन की हुई गौ उन क्षत्रियों को पराभूत करने में कारण बनी अर्थात् वे क्षत्रिय ब्राह्मण की गौ को हरण करके ले जाते थे, इस कारण उन का पराभव हुआ।

१७ चरम-अजां अपेचिरन्। (अ० ५।१८।११)= अन्तिम बकरी को भी पकाया, अर्थात् ब्राह्मण की अन्तिम बकरी का उन क्षत्रियोंने हरण किया और उस के दूध का पाक करके सेवन किया, इस से उन क्षत्रियों का पराभव हुआ।

१८ पच्यमाना ब्रह्मगवी राष्ट्रस्य तेजः निर्हंति। (अ० ५।१९।४)= पकायी ब्राह्मण की गौ राष्ट्र के तेज को नष्ट करती है, अर्थात् ब्राह्मण की गौ हरण करनेपर, हड़प करनेपर, वह राष्ट्र को निस्तेज करती है।

इतने उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में लुप्त-तद्धित-प्रक्रिया है, अतः जहां ऐसे प्रयोग हुए हों, वहां इस प्रक्रिया के अनुसार ही अर्थ करना चाहिये। अन्यथा अर्थ का अनर्थ बनेगा। अब यहां पाठकों की सुविधा के लिये यहां तक दिये पदोंके अर्थ पुनः बताते हैं—

वैदिक पद	प्रसिद्ध अर्थ	लुप्त तद्धित प्रक्रिया से होनेवाला अर्थ
१ अघ्न्या	गाय	दूध, दही, मक्खन, छाछ, घी, मांस, मूत्र, हड्डी, चमडा,
उस्रिया,	,,	तांत, सरेस, आदि गाय से उत्पन्न पदार्थ
गौ, धेनु,	,,	,, ,, ,,
पृश्नि	,,	,, ,, ,,
२ अविः, मेषः	मेंढी, बकरा	ऊन से बनी छालनी, कंबल,
३ उक्षा	बैल, सोम	सोमरस
गोपति, गवांपति		गौ के दूध का स्वामी सोमरस
४ ग्रावा	पर्वत	पत्थर
५ मति	बुद्धि	बुद्धि से बना काव्य
६ वि, वयः	पक्षी	(पक्षीके पर लगे) बाण
७ वृक्ष	पेड, पर्वत	(वृक्ष से बना) पलंग, खटिया, बाण
८ सिंधु	नदी	(नदीसे प्राप्त) जल
९ सोम	सोमवल्ली	सोमरस

इससे इस लुप्त-तद्धित-प्रक्रिया के अर्थ पाठकोंकी समझमें आ जायेंगे। वेदमें केवल कोशमें शब्द देखनेसे ही वेदमंत्रों का अर्थ नहीं हो सकता, परंतु वेदकी प्रक्रिया समझनी चाहिये, तब ठीक अर्थ का ज्ञान हो सकता है, इस बातका पता इस लेख से पाठकों को लग सकता है।

गोवधप्रतिबंध कैसे हो

(लेखक— श्री० य० म० पारनेरकर, सेवाग्राम, वर्धा)

भारत में गोवधरोक आंदोलन कई सालों से चल रहा है। और इसकी चर्चा भी काफी हुई है। इसमें कोई शक नहीं कि यह एक बडी असाधारण समस्या है। इसे हल करते समय हमें राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक पहलुओं का विचार करना होगा। धारा सभाओं में कानून पास करवाकर गोवध बंद करने की आवाज आजकल कई जगह सुनाई देती है। मगर यह कार्य सिर्फ कानून से ही नहीं हो सकेगा। साथ साथ गोवंश सुधार का कार्य भी खास जोरों के साथ करना ही होगा।

यह बात तो हमें माननी ही होगी कि गोवध रोकने का सब से अच्छा तरीका तो यह है कि, गाय की उपजाऊ शक्ति इतनी बढाई जावे कि उसे कत्ल करना आर्थिक दृष्टि से असंभव हो जाय। पर्याप्त दूध और अच्छे बैल देनेवाली गाय मारना कोई कसाई भी पसंद नहीं करता जब कि उसके दूध और बच्चोंकी पैदाइश से वधकी अपेक्षा अधिक आय हो सकती हो।

कत्ल होनेवाली गायों की जाँच करने से हमें आसानी से विदित होगा कि अधिकांश गायें देहातों से ही आती हैं। और उनको बेचनेवाले हिंदू तथा मुसलमान दोनोंही होते हैं। भारत के एक बडे हिस्से में गाय की उपजाऊ शक्ति इतनी गिर गयी है कि, गरीब और अधभूखा किसान आर्थिक दृष्टि से पालही नहीं सकता। कई कारणों से अब गोपालन में खर्च भी ज्यादा लगने लगा है। इस कारण किसान खास इच्छा न होने पर भी गाय को बेच देता है। दुर्भाग्यवश ग्राहक कसाईके सिवाय दूसरा मिलताही नहीं।

हाँ! बडे शहरों के कसाईखानों में अच्छी नस्लवाली और होनहार गायें जरूर पाई जाती हैं। शहरों में दुग्ध व्यवसाय करनेवाले ग्वाले देहातों में से ज्यादा कीमत देकर इन गायों को ले आते हैं और उनका दूध घट जानेपर उन्हें कसाईयों को बेच देते हैं। संख्या में कम होनेपर भी इस तरह होनेवाला गोवध राष्ट्र को बहुतही हानी पहुंचानेवाला है। इस से अच्छी गायों की कमी होती है इतनाही नहीं बल्कि आगे की नसल सुधारने के लिये कुछ बचता ही नहीं।

आजतक सरकार, सार्वजनिक और खानगी संस्थायें, प्रतिष्ठित व्यक्ति आदि की ओर से कई बार यह प्रश्न हाथ में लिया गया है मगर इस में कई कारणों से खास सफलता मिली हुई नहीं दिखाई देती। अब समय आ चुका है कि, जब सर्व शक्ति केन्द्रित कर कुछ प्रयत्न किया जाय तो सफलता मिलने की संभावना है।

चूंकि गायें खासकर देहातों में ही होती हैं और उनका संवर्धन भी वहींपर आसानी से हो सकता है इस कारण हमें अपना कार्यक्रम देहातों से ही शुरू करना चाहिये।

प्रत्येक गांव में गोपालकों का एक संघ स्थापन किया जावे और गो संवर्धन के सब कार्य उसके जिम्मे रहे। प्रथम यह संघ इस बात की जाँच करे कि गांव में मवेशी कितने हैं और गांवकी हालत देखते हुए कितने मवेशी आसानी से भरपेट खा सकेंगे। यह स्थिति कायम रखने के लिये गायोंकी संख्या पर अंकुश रखा जा सकता है। अन्न की उपज बढाई जा सकती है और अन्न में होनेवाली खराबी और बिगाड को रोका जा सकता है। कई देहातों में भैंस रखनेकी प्रथा बढती जा रही है मगर किसानों को यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिये कि उनकी माली हालत गायपर ही निर्भर रहेगी न कि भैंस पर। संघको इस बात की निगरानी रखनी चाहिये कि हरएक गोपालक के पास घास चारेका काफी संग्रह हो। गांव में जानवरोंके चरने के लिये खास जमीन होती है, यदि वह न हो तो कुछ सार्वजनिक जमीन जरूर पैदा कर लेना चाहिये जहाँ कि मवेशी हमेशा आसानी से घूम सके और कुछ खाभी सके। उनके लिये लगनेवाला बिनोला, चूनी, खली आदि वस्तुओंका एक संग्रह भी होना चाहिये जहां से गोपालक को ये चीजें योग्य कीमत पर मिल सकें।

गोवंशसुधार गायों की संख्यापर नहीं बल्कि उनके गुणोंपर निर्भर रहेगा। हमें चाहिये कि, हम अपने पास थोडी मगर ऊँची नस्लकी गायें रखें और उन की योग्य संभाल कर लें। संघ को ऐसी गायों की तालिका रखनी चाहिये और उनके सुधार का यथायोग्य प्रबंध करना चाहिये। वंश वृद्धिके लिए अच्छी जात के ही सांड रखे जायँ और दूसरे सब नर कानूनन बधिया कर दिये जावें। अच्छी गायें और उनसे पैदा होनेवाले बच्चों के खरीदने बिकने पर नियंत्रण रहना चाहिये ताकि वंश में जल्दी सुधार हो। गांव में खास जातीकी गायें रखी जायँ और वर्ण संकर से बचना चाहिये। दूसरी जातीके सांड लाकर उन से नस्ल सुधार का काम मौजूदा हालत में देहातों में नहीं हो सकता। काफी प्रयोग करने के बादही उन्हें देहातों में प्रविष्ट किया जावे। शुद्ध औलाद बढानाही योग्य होगा।

गायोंकी दूध देने की शक्ति बढाने की खास जरूरत है। इस कारण चुनी हुई गायोंके दूध की तालिका रखी जावे और उनके दूध में वृद्धि करनेके प्रयत्न किये जायँ।

गोपालकोंके घर उसकी जरूरत के उपरांत से ज्यादा होनेवाला दूध संघको मोल ले लेना चाहिये और उस से घी आदि बनाकर उसका दाम निश्चित करना चाहिये। इससे गोपालकों को कुछ आमदनी होगी और गाय की हालत सुधारने का वह प्रयत्न करेगा। उसके घर पैदा होनेवाले बैलों की भी उसे अच्छी कीमत मिल सके ऐसा प्रबंध करना भी खास तौरसे आवश्यक है।

साधारणतवा गांव में ऐसे भी जानवर होते हैं जिनका किसानों को कुछ भी उपयोग नहीं होता। इन सब को जिले के पांजरपोल के सुपुर्द कर दिया जावे। संघ को खास खर्च की जरूरत तो न होगी फिर भी सार्वजनिक खर्चोंके लिये गांवके मवेशियोंपर कुछ कर लगा लेना चाहिए, यह कर अनाज या घास के रूपमें लेना अच्छा होगा। चूँकि भैंस रखने से कुछ मुनाफा हो जाता है और उसे खास संरक्षण देने की कोई जरूरत नहीं है इस कारण भैंसपर कर का प्रमाण ज्यादा होना चाहिये। बकरियोंपर भी कर होनाही चाहियें, उन्हें भी संरक्षण की जरूरत नहीं है। ऊंची जातीकी गायों को इस कर से मुक्ति मिलनी चाहिये ताकि लोग ऐसी गायें रखने की ओर झुकें। संघ की जो रकम इस रूप में मिलेगी वह गायों के सुखके वास्ते सार्वजनिक कामोंमें ही खर्च होनी चाहिये ताकि दिन व दिन गांव की गायें ज्यादा सुखमय जीवन बिता सकें।

गोवर्धन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य को सफल करने के लिए स्थानिक पांजरपोल गौशाला आदि धार्मिक संस्थायें तथा कृषि, व्हेटरीनरी, फोरेस्ट आदि सरकारी महकमों को भी इसकी तरफ खास ध्यान देना चाहिए कारण यह कार्य सब के सहकार्य से ही सफल हो सकेगा।

स्थानिक गौशाला या पांजरापोलको किसानोंपर बोझरूप होनेवाली सब गायों का कब्जा ले लेना चाहिए, कुछ जंगल लेकर वहां ऐसे सब जानवर रखने चाहिये। यहांपर जानवर अपना बाकी बचा हुआ जीवन सुख से बिता सके ऐसी सब व्यवस्था कर लेनी चाहिए इस बातकी तरफ खास ध्यान देने की जरूरत है कि इन जानवरों से आगे वंश वृद्धि न होने पावे। कुदरती मृत्युके बाद उनके शरीर का पूर्ण उपयोग किया जावे और उस से योग्य आमदनी करने की कोशिश की जावे। इस से एक बडी हदतक गोकशी बंद होगी और देश का धन बढेगा। संस्था को अपनी सारी शक्ति इसी कार्य में खर्च करनी चाहिए और ढोर उच्छेद दुग्ध व्यवसाय आदि कार्यों से कम से कम फिलहाल तो मुक्त रहना ही चाहिए। मृत जानवरोंसे होनेवाली आमदनी और आज मिलनेवाले धार्मिक चन्दे से यह काम आसानी से हो सकता है। धीरे धीरे भाररूप जानवरों की संख्या भी घटती चली जावेगी।

शहरों में सहकारी तत्वपर दुग्धालय चलाये जावें और वहां की जनता को अच्छे प्रमाण में गायका ही दूध और घी मिल सके ऐसा प्रबंध होना चाहिए। ग्वालोंको लानेवाले सब साधन तयार कर उनके इस रोजगार को स्वाश्रयी प्रामाणिक तथा राष्ट्र संवर्धक बनाने की चेष्टा की जावे। इस दुग्धालय पर खास नियंत्रण होने के कारण और देहातों से सीधा संबन्ध होनेके कारण गायोंपर होनेवाले अत्याचार कम होंगे, उन की अवनति बंद होगी। और दुग्धालय में होनेवाली आमदनी और उन्नति का देहातों पर खूब अच्छा असर होगा।

कलकत्ता, मद्रास, बंबई आदि बडे शहरोंमें अच्छी और होनहार गायों की कत्ल रोकना तो खास जरूरी है। इसके

लिये इन शहरोंके म्युनिसिपालिटीयोंकोही दुग्ध व्यवसाय अपने हाथमें लेना जरूरी होगा। यह काम वे ग्वालोंके सह-कार्य से दुग्धालय स्थापन कर आसानीसे कर सकते हैं। छोटे बच्चे तथा दूध से उजली हुईं गायों को शहरों से दूर किसी अच्छे चरागाह में भेज दिया जाय और वे जब फिर दूध देने लगें तब उन्हें वापस शहरोंमें लाया जाय। शहरोंमें होनेवाले गोवध का मुख्य कारण तो दूध न देनेवाले जान-वरोंको पालने का खर्च तथा ग्वालों का असाधारण लोभ भी हैं उन पर अंकुश होने से गोवध एक बडी हदतक कम हो सकेगा। ग्वालों को शहरों के बाहर जहां की चरागाह पर्याप्त है वसाने की भी खास जरूरत है।

जगह जगह ऐसे कर्मचारी नियुक्त किये जायँ कि जो व्हेटरीनरी, कॅटल ब्रिडींग, डेअरींग आदि का कुछ अनुभव व शास्त्रीय ज्ञान रखते हों। वे देहाती गोपालकोंको सलाह मशविरा दे सकेंगे और उनके गायों में होनेवाले रोगों के उपचार करेंगे।

हरेक जिले में कम से कम एक आदर्श दुग्धालय होना चाहिए जहां पर अच्छी नस्लकी गायों की पैदाइश होती हो। देहातों के लिए अच्छे सांड पैदा होते हों। और दुग्ध व्यवसाय के प्रयोग होते हों। वहां पर कुछ घास चारे की खेती भी की जावे और उस विभाग में कौनसी फसलें उपयोगी होंगी, उन का संरक्षण तथा संग्रह किस भांति किया जावे इत्यादि प्रश्नों की खोज होती रहे। इसी क्षेत्रपर होनहार विद्यार्थी काफी संख्यामें रखे जायँ जोकि इस शास्त्र का अध्ययन करें। इस में तो जरा भी शंका न होनी चाहिए कि ऐसे युवकों के लिए सेवाक्षेत्र हमेशा खुला ही होगा।

किसानों में ज्ञान प्रचार करने की अच्छा से योग्य समय पर प्रदर्शनी की जावे और वहां उन्हें नये अनुभवका ज्ञान मिलता रहे ताकि वे जमानेके साथ साथ रहे। उनका हौसला बढानेके लिए उन्हें इनामादि भी दिये जायँ। ऐसे मौकों पर मवेशियों के खास बाजार भरानेकी भी व्यवस्था हो। यहां पर देहाती गण अच्छे मवेशियों का संग्रह विक्रय आसानी से कर सकें।

युद्धजन्य परिस्थिती के कारण आज गोमांस की मांग बहुत बढ गयी है और उसे पूरी करने के लिये अच्छे होन-हार जानवर काफी मात्रा में काटे जाने लगे हैं। इस हालतमें हमें धारासभा की मदद जरूर लेनी होगी। देश में आन्दो-लन खडा कर उपयोगी जानवरों की हत्या रोकने का प्रयत्न करना जरूरी हो गया है। कई प्रांतों में कहीं कहीं इस प्रकार को रोकनेके लिए कानून बन गए हैं मगर उनकी पाबन्दी कराने में मदद करनी चाहिये और देश के इस अमूल्य धन को बरबादी से बचाना चाहिये।

देहाती जीवन में प्रवेश कर उसे आशामय और संपन्न बनाने के प्रयत्न शुरू किये गये हैं और अब जमाना आ गया है कि, इस कार्य के लिये योग्य मदद आसानी से मिल सकती है। भारतीय पुनः निर्माण के विचार हो रहे हैं और ग्राम सुधार की ओर जनता तथा सरकार का ध्यान खींचा आ रहा है। हमें आशा करनी चाहिये कि इस हालत में ग्राम्य उत्थान कार्यमें गोवंश सुधार को एक बडा महत्व-पूर्ण स्थान मिलेगा और देशप्रेमी सज्जन गण तथा प्रांतिक सरकार इस किस्मकी योजनाओंको सफल करने में यथा-शक्ति हाथ बटावेगी।

वेदवेदिका

(३)

यजुर्वेदस्य शुक्लकृष्णभेदौ

अथ त्रयीविद्यान्तर्गतो द्वितीयो यजुर्वेदपाठप्रवचनपरम्पराप्रसिद्धः। स च ‘ यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति ’ इति। (चरण० प०) ‘ यजुरेकशताध्वकम् । शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत् ’ (कू० पु० ४९।५१) इति शतधा विस्तृतः श्रूयते। तत्रापि ‘ शुक्लः कृष्णश्चेति ’ अवान्तरभेदेन द्विधैव नियतः। उभयत्रापि बह्व्यः शाखाः विद्यन्ते।

तत्र कृष्णयजुर्वेदे प्रसिद्धायां तैत्तिरीयशाखायां ‘ औख्याखाण्डिकेयाः ’ इति भेदद्वये खाण्डिकेयानां पञ्चभेदाः सन्ति। ‘तैत्तिरीयकानां द्विभेदा भवन्ति। औख्याखाण्डिकेयाश्चेति। तत्र खाण्डिकेयानां पञ्चभेदा भवन्ति, आपस्तम्बाः बौधायनाः सत्याषाढाः हैरण्यकेशाः काण्व्यायनाश्चेति ’ इति। (च० व्यू० २)

एवं पञ्चधा भेदनिर्देशेऽपि नैव तेषां संहितादिग्रन्थाः पृथक् विद्यन्ते, श्रौतादिसूत्रमात्रभेदात्, वेदग्रन्थस्तु एक एव।

तैत्तिरीयशाखायां सारस्वतपाठस्यैतिह्यम्

तैत्तिरीयशाखायां पाठप्रवचनादिपरम्परया चिरात् प्रचलितस्य “ **सारस्वतपाठोपहितस्य** ” संहिताब्राह्मणारण्यकग्रन्थसमुदायात्मकस्य यजुर्वेदस्य “ ऋषिच्छन्दोदेवतादिनियमाभावेन यातयामतादोषयुक्तत्वात् मन्त्रब्राह्मणसङ्करत्वाच्च कृष्णत्वम्, कण्वमाध्यन्दिनादिशाखायास्तु ऋष्यादिनियमसत्वात् मन्त्रब्राह्मणसङ्कराभावाच्च शुद्धत्वेन शुक्लत्वमिति विवेकः। प्रसिद्धेऽस्मिन् सारस्वतपाठे काण्डानां सङ्कीर्णत्वेन काण्डविभागेन सम्प्रति अध्ययनं कर्तुं अशक्यत्वात्, सारस्वतपाठस्याप्यभ्यनुज्ञातत्वाच्च, इदानीं सारस्वतपाठक्रमेणैव अध्ययनं प्रचलति।

तदेतत्सारस्वतपाठविषये कथानकं पुराणान्तरे प्रसिद्धम्। तच्च यजुर्वेदाध्ययनविधिविचारावसरे संस्काररत्नमालायां उद्धृतं, तदेवात्र अनूद्यते—

“ कोऽयं सारस्वतो नाम, कश्च सारस्वतः पाठः, इत्याकाङ्क्षायां इतिहासः प्रदर्श्यते- “ ब्रह्मसभायां दुर्वासाः साम गायन्नास। तं खलु तेजसा क्रूरं दृष्ट्वा सभामध्ये सरस्वत्यस्मयत। ततः क्रुद्धो मुनिः सरस्वतीं शशाप मर्त्ययोनौ प्रजायस्वेति।

यजुर्वेदके दो भेद

यजुर्वेदके दो विभाग, शुक्ल तथा कृष्ण हैं। अब त्रयीविद्याके भीतरी दूसरा भाग है जो यजुर्वेदके पाठ एवं प्रवचनकी परंपरासे प्रसिद्ध है। उसके संबंधमें कहा है कि ‘ यजुर्वेदके छियास्सी भेद हैं। कूर्मपुराणके ४९।५१ में कहा कि ‘ यजुःके एक सौ मार्ग हैं, यजुर्वेदको सौ शाखाओंवाला बनाया। ’ इस भाँति सुना जाता है कि सौ बार उसका विस्तार हुआ। उसपर भी छोटे विभेद करनेके ढंगपर ‘ शुक्ल एवं कृष्ण-’ ऐसे दोही भाग किये। दोनोंमें बहुतसी शाखाएँ समाविष्ट हैं।

कृष्णयजुर्वेदमें विख्यात तैत्तिरीय शाखाके ‘औख्या एवं खाण्डिकेय ’ दो भेद हैं जिनमें खण्डिकेयके पाँच भेद हैं। चरणव्यूहमें (२) कहा कि ‘तैत्तिरियकोंके दो भेद हैं, जिन्हें औख्या और खाण्डकेय नाम दिये हैं। खांडकेयोंके पाँच भेद जैसे आपस्तंब, बौधायन, सत्याषाढ, हैरण्यकेश एवं काण्व्यायन हैं।’

इस तरह पाँच भेद दिखाये हैं तोभी उनके संहितादि ग्रन्थ अलग नहीं हैं सिर्फ श्रौतादि सूत्र ही अलग हैं पर वेदग्रन्थ एकही है।

तैत्तिरीयशाखामें सारस्वत पाठका इतिहास

पाठ एवं प्रवचन इत्यादिकी परंपरासे तैत्तिरीय शाखामें चिरकाल से चला हुआ ‘ सारस्वत पाठ्युक्त ’ जो संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक ग्रन्थोंका समुदायरूपी यजुर्वेद है उसके ऋषि, छन्द, देवतादिके बारेमें कोई नियम नहीं है, तथा उसमें यातयामता दोष रहनेसे और मंत्र एवं ब्राह्मणका गडबडझाला होनेसे उसे कृष्णत्व याने कालापन प्राप्त हुआ; पर काण्व, माध्यन्दिन वगैरह शाखाओंमें ऋषि इत्यादिकोंके नियम मौजूद हैं और मंत्र ब्राह्मणोंका मिश्रण नहीं, अतः वह शुद्ध है इसलिए उसे शुक्ल नाम दिया है। इस विख्यात सारस्वतमें काण्डोंके बिखरे रहनेसे आज दिन काण्डोंके अनुक्रमसे अध्ययन करना असंभव हुआ है और सारस्वत पाठको ब्रह्माका अनुमोदन मिल गया है इसलिए अब सारस्वतपाठके क्रमसेही अध्ययन जारी है।

किसी अन्य पुराणमें सारस्वतपाठके बारेमें यह एक दन्तकथा दीखपडती है। उसीको संस्काररत्नमालामें यजुर्वेदके अध्ययनके ढंगपर सोचते समय उद्धृत किया है जिसे हम यहाँ देंगे।—

‘ भला यह कौन सारस्वत नामवाला है और सारस्वत पाठ भी किस ढंगका है ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर इतिहास बताया

ततस्तं देवी प्रसादयामास भगवन् विप्रगृहे जायेयमिति । ततः स मुनिस्तथेत्युक्त्वा जगाम । ततो देव्यात्रेयगृहेऽजायत । ततो वेदविदं भर्तारं प्राप्य, विद्यानिधिं पुत्रं सरस्वती प्रासूत । ततो विद्यानिधिं कृतोपनयनं पुत्रं पिता सारस्वतं वेदमध्यापयामास, यथा वृद्धक्रमेण । ततस्तं बालत्वादल्पमेधसं पिता ताडयामास पृष्ठे वेणुदलेन । ततः सोऽरोदीत्, सापि तं दृष्ट्वा पुत्रमालिङ्ग्यातिदुःखिता बभूव ।

" अश्रुपूर्णं तं वागीशा निवार्य च पुनः पुनः । ततः सा चिन्तयामास यस्याः कस्याः सुतो नहि ॥
प्राप्य मां ताडयते बालो मम प्राणप्रियः सुतः ।

ततश्चतुःषष्टिकलाः सर्वान्वेदान्साङ्गान् ब्रह्मविद्यापर्यन्तान् सारस्वताय सरस्वत्युपादिशत् । क्षुत्पिपासे निवर्त्य वायुधारणां चोपादिशत् ।

" ततः सम्पूर्णविद्योऽसौ कुरुक्षेत्रे वसन्मुनिः । तपस्तेपे महाभागो देवैरपि सुदुष्करम् ॥
ततः कालेन महता ह्यनावृष्टिरभूत्किल । "

कुरुक्षेत्रे सारस्वतं हृष्टं पुष्टमन्तर्वायुं धार्यमाणं तमृषिं ददृशुः—

तमूचुर्मुनयः सर्वे शाकं देहीति नः प्रभो । अलं शाकेन भो विप्रा यदि शाको भवेद्भुवि ।
सारस्वतो मुनिः प्राह तेभ्यो देहीति चण्डिकाम् । सुत शाकं प्रदास्यामि यदि शाकेन ते ह्यलम् ॥
शाकम्भरीति मुनिना प्रसन्नाऽकारि वै तदा । शाकाहारास्ततः सर्वे मुनयः कृतजीविताः ॥
दुर्भिक्षे विनिवृत्तेऽप्यध्ययनं नास्मरँस्तदा । अन्योऽन्यमभिजग्मुस्त उच्चरँश्च न कंचन ॥
ततो विस्मृतवेदास्तु बभूवुर्मुनयो भृशम् ।

ततोऽतिदुःखितेषु नारदेनोक्तं सारस्वतं कृतसर्ववेदाध्ययनं गत्वाऽध्ययनं कुरुध्वमिति । ततस्ते सारस्वतं प्रार्थयामासुः ।

जाता है–"ब्रह्मदेवकी सभामें ऋषि दुर्वासाजी साम गायन करते रहे । तेजके कारण उनकी मुखाकृति तनिक उग्र दीख पडी, अतः उसे देखकर, सरस्वतीजीके मुखपर हल्कीसी मुस्कुराहटकी रेखा दौडने लगी । अब वे ऋषि आगबबूला होकर सरस्वतीको शाप दे गये कि तू मर्त्य योनिमें पैदा हो जा । तब उस देवीने उसे प्रसन्न करलिया और माँगा कि हे भगवन् ! मैं ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होऊँ । वह मुनि उस बातको अनुमोदन दे बाहर निकल आये । बादमें वह देवी आत्रेयगृहमें जन्म लेकर वेदवेत्ता पतिदेवको पाकर विद्याके भाण्डार जैसे पुत्रकी माता बनगयी । उपनयन हो चुकनेपर उस विद्यानिधि पुत्रको उसके पिता सारस्वत वेद पढाने लगे जैसे कि पुराने कालसे क्रम चला आरहा था । पर बाल्यावस्थाके कारण अल्पबुद्धिवाले उस बालकको पिताजीने पीठपर बाँसके टुकडेसे मारना शुरु किया । इससे वह रोने लगा और वह माता भी उसे देखकर तथा उसे गलेसे लगाकर बहुत दुःखी हुई ।

" आँखोंमें आँसू भरे उस पुत्रको वह वाणीकी स्वामिनी बार बार बिलखनेसे हटाकर बादमें सोचने लगी कि यह बालक तो कोई ऐसी वैसीका पुत्र नहीं । इसने मुझको माताकी हैसियतसे पाया है तो भी यह मेरा प्राणप्यारा पुत्र एवं बच्चा पीटा जा रहा है । "

तदुपरान्त चौंसठ कलाएँ, सभी सांगोपांग वेद एवं अन्तमें ब्रह्मविद्यातक सरस्वतीजीने सारस्वतको बतला दी । उसकी भूख-प्यास मिटाकर वायुधारणका तरीका बताया ।

पश्चात् वह मुनि सभी विद्याओंका ज्ञान पूर्ण करके कुरुक्षेत्रमें रहता हुआ देवोंके लिए भी कठिन तपस्या करने लगा। बादमें बहुत लंबे कालके उपरान्त बडा भारी अकाल पडा । कुरुक्षेत्रमें हृष्ट पुष्ट एवं अन्दर वायु धारण करनेहारे सारस्वत ऋषिको लोगोंने देख लिया तो सभी मुनि कहने लगे, हे प्रभो ! हमें शाक दीजिए; वे कहने लगे, हे ब्राह्मणो ! अगर पृथ्वीमें कहीं शाक मिल जाए तो वह शाक हमारे लिए पर्याप्त होगा, पश्चात् चण्डिकासे कहा कि वह उन्हें शाक दे डाले । देवीने कहा कि, यदि शाकसे तुम्हारा काम चल जायगा तो हे पुत्र ! मैं शाक देदूँगी । तब प्रसन्न होकर उसे शाकंभरी नाम मुनिने दे दिया । तब शाकाहारी बनकर सभी मुनिगण जीवित रहने लगे पर अकालके निकल जानेपर भी अपने अध्ययन का स्मरण उन्हें नहीं रहा । वे एक दूसरेके समीप गये पर कुछ भी उच्चारण नहीं कर सके । कारण यही वे सभी मुनि वेदोंको अत्यन्त भूलगये थे ।

इस घटनासे उन्हें बडा दुःख हुआ तो नारदने कहा कि सारस्वतके निकट जाकर वेदाध्ययन कर लो क्यों कि उसका वेदा-

अध्यापनं कुरुष्व भगवन्निति । ततः सारस्वतः प्रार्थितः चतुःषष्टिमुनिगणसहस्रेभ्यः चतुःषष्टिसहस्रवेदानध्यापयामास । ततस्तान्वेदान् तत्तच्छाखिनः साकल्येनाधीतवन्तः । तैत्तिरीयशाखिनस्तु साकल्येनाध्ययनं कृत्वा, सर्ववेदविलक्षणां तैत्तिरीयशाखां दृष्ट्वाऽन्योऽन्यमूचुः । अहो ? अतीव विस्मयोऽस्माकं सर्वविलक्षणां शाखामध्यापयति स्म अस्मान् मूढान्कृत्वा निर्मिताम् । ततः सर्वे तैत्तिरीयशाखिनः सम्भूय सारस्वतमूचुः- नायं वेदस्त्वयाऽध्यापितः सर्ववेदविलक्षणत्वादिति ।

ततः सारस्वतः सर्वान् श्रेष्ठान्मुनीन्प्राह वचः—

यद्ययं न भवेद्वेदः प्रतिज्ञां तु करोम्यहम् । अग्निप्रवेशनं कुर्यां भवन्तो वाचमीरिताम् ॥
तमूचुर्मुनयः सर्वे वचनं यत्त्वयोदितम् । यदि वेदक्रमं विप्र प्रतिज्ञां कुर्महे वयम् ॥

ततः सारस्वतेन सहिताः सर्वे मुनयः तत्र तत्र मुनीन्गत्वा निर्णेतुं न शक्नुमः, इति तैरुक्ताः ब्रह्माणं जग्मुः । यथायथं प्रतिज्ञाः निवेदिताः । ब्रह्मापि मुनिं सारस्वतमाह – सत्यं प्रतिज्ञातं तत्रभवता सारस्वतेन, 'सारस्वतो वेदपाठः' सारस्वतोक्तक्रमेणैवाध्येतव्यः, अन्यथाऽध्ययनफलं नास्तीति । ततः इतरान्मुनीन्प्राह । सत्यं न पाठक्रमेणार्थानुष्ठानक्रमो भवतीति । तस्मात्सर्वैर्जितम् । नाग्निप्रवेशनं कर्तव्यमितीतिहासः । सोऽयं इतिहासः 'संस्काररत्नमालायां' निर्दिष्टः ।

तत्प्रभृति सारस्वतपाठक्रमेणैवाध्ययनं प्रवृत्तं सत् इदानीं सर्वत्रापि तदेव प्रचलति । तत्क्रमपरिज्ञानाय सूत्राद्यभावेऽपि प्रचलितपाठक्रम एव तत्र प्रमाणं भवति ।

सारस्वतपाठे व्यत्यासः

तैत्तिरीयशाखायां प्रचलिते सारस्वतपाठे ग्रन्थत्रयं प्रसिद्धम् 'संहिता, ब्राह्मणं, आरण्यकं' इति । एतेषु त्रिष्वपि ग्रन्थेषु मन्त्रब्राह्मणयोः साङ्कर्यं दृश्यते । तस्मात् अत्र शुक्लयजुर्वेदे इव ऋग्यजुरात्मकोभयरूपमन्त्रसद्भावेऽपि विधिरूपब्राह्मणवाक्यबाहुल्यसाङ्कर्यदर्शनात् प्रसिद्धसंहिताग्रन्थो न यथोक्तलक्षणप्रयुक्तं संहिताशब्दं शक्तितो निर्वोढुमर्हति । तथा ब्राह्मण-

---

ध्ययन पूर्ण है । तब वे उनसे विनन्ति करने लगे । हे भगवन् ! वेदोंका अध्यापन शुरु कीजिए । ऐसी प्रार्थना करनेपर सारस्वतने ६४ हजार मुनियोंको ६४ हजार वेद पढा दिये । तब उन वेदोंको वे विशिष्ट शाखावाले पूर्णतया पढ चुके । तैत्तिरीय शाखावाले तो समूची पढाई पूर्ण कर चुकनेपर अन्य सभी वेदोंसे अनूठी तैत्तिरीय शाखाको देखकर एक दूसरेसे कहने लगे कि, हमें तो बडा अचम्भा होता है कि, हमें अज्ञानमें रखकर रची हुई सबसे अनोखी शाखाको वे पढाते थे । तदुपरान्त, सभी तैत्तिरीय शाखावाले इकट्ठे होकर सारस्वतसे कहने लगे कि, यह वेद आपने नहीं पढाया क्यों कि यह तो सभी वेदोंसे भी अपेक्षाकृत विचित्र ढंगका दीख पडता है । तब सारस्वतने सभी श्रेष्ठ मुनियोंसे यूं कहा–

'अगर यह वेद न हो तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अग्निमें घुसजाऊँगा, आप मेरी इस उच्चारित वाणीको ध्यानमें रखें । सभी मुनि उससे कहने लगे जो तुम्हारी वाणी है वह ठीक, यदि वेदका यह क्रम हो तो हम भी वैसीही प्रतिज्ञा करते हैं ।

बादमें सभी मुनि सारस्वतके साथ स्थानस्थानपर मुनियोंके निकट जाकर 'हम निश्चय करनेमें असमर्थ हैं' ऐसा कहना सुनकर ब्रह्माजीके निकट चले गये । सभी प्रतिज्ञाओंका हाल सुनाया । ब्रह्मा कहने लगे कि 'सारस्वतमुनिकी प्रतिज्ञा ठीक है, सारस्वत वेदपाठको उनके कहे क्रमसेही पढना चाहिए नहीं तो पढनेका फल नहीं मिलेगा ।' दूसरे मुनियोंसे कहा– 'सच है, पाठके क्रमसे अर्थके अनुष्ठानका क्रम नहीं होता ।' इसलिए सब जीतगये । अब अग्निमें नहीं घुसना चाहिए । बस ऐसा इतिहास है जो 'संस्काररत्नमाला' में बताया है । तबसे लेकर सारस्वत पाठक्रमसेही अध्ययन करना शुरु होगया और अबतक वही तरीका सब स्थानोंमें प्रचलित है । उसका क्रम जाननेके लिए सूत्र वगैरह न होनेपर भी इस समय आस्तित्वमें आया हुआ पाठक्रमही प्रमाण समझा जाता है ।

सारस्वतपाठमें उलटा क्रम

तैत्तिरीयशाखामें जो सारस्वत पाठ रूढ हुआ है उसमें संहिता ब्राह्मण तथा आरण्यक तीन ग्रन्थ विख्यात हैं । इन तीनों भी ग्रन्थोंमें मंत्र एवं ब्राह्मणोंका संमिश्रण दीख पडता है । अतः इसमें शुक्लयजुर्वेदकी नाईं ऋचाओं एवं यजुः दोनों रूप धारण करनेवाले मंत्रोंका आस्तित्व पानेपर भी विधिरूपवाले ब्राह्मण वाक्योंकी अधिकता एवं संमिश्रण होनेसे यह विख्यात संहिता ग्रन्थ, पहले बताये लक्षण से प्रयुक्त संहिता शब्दको अपने सामर्थ्यसे नहीं निभासकता और

ग्रन्थोऽपि ऋग्यजुर्मन्त्रसाङ्कर्यादेव न ब्राह्मणशब्दार्हः इति गम्यते । तत्राहि तैत्तिरीय संहितायां ब्राह्मणे आरण्यके च केचित् समग्राः प्रश्नाः केवलं यजुर्मन्त्रात्मकाः—

१ केचित् प्रश्नाः ऋङ्मन्त्रात्मकाः– ' अश्मन्नूर्जं पवसे शिश्रियाणं०- ' (तै० सं० ४।६।१)

२ केचित् प्रश्ना ब्राह्मणरूपाः– ' प्राचीनवंशं करोति०- ' (तै० सं० प्र० ६ सम्पूर्णः प्रपाठकः)

३ एकस्मिन्नेव प्रश्ने केचिदनुवाका ऋङ्मन्त्रात्मकाः– ' विष्णोः क्रमोऽसि०- ' (तै० सं० ४।२।१)

४ केचिद्ब्राह्मणात्मकाः– ' विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः० ' इति षडनुवाकाः. (तै० सं० २।५।१–६) तदेतत् दर्शपूर्णमासिकं पौरोडाशिकमनुब्राह्मणम् ।

५ केचित् ऋग्यजूरूपोभयमन्त्रात्मकाः– " युञ्जानः प्रथमं मनः० " (तै० सं० ४।१।१)

६ केचित् यजुर्मन्त्रब्राह्मणोभयात्मकाः– " प्रजापतिरकामयत०– (तै० सं० ३।१।१)

७ केचित्तु ऋङ्मन्त्र–यजुर्मन्त्र–ब्राह्मणसहिताः त्र्यात्मकाः । 'यो वै देवान्देवयशसेनार्पयति० ।' (तै० सं० ३।१।९) ब्राह्मणरूपः " अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्०" (तै० सं० ३।१।९ त्रिः मन्त्राः) " एष ते रुद्र भागो यन्निरयाचथास्तं जुषस्व " (तै० सं० ३।१।९)

८ तथा एकस्मिन्नेवानुवाकेऽपि कश्चिद्भागो यजुर्मन्त्रात्मकः, कश्चित् ऋङ्मन्त्रात्मकः, कश्चिद्भागो ब्राह्मणात्मकश्च दृश्यते. ' अषाढं युत्सु ' (तै० ब्रा० २।७।४)

एवं ब्राह्मणे आरण्यके च संहितायामिवैव मन्त्रब्राह्मणसाङ्कर्यं बहुलं दृश्यते । तस्मात् तैत्तिरीयशाखायां प्रसिद्धसंहिताग्रन्थस्य संहितात्वं, तथा ब्राह्मणग्रन्थस्य ब्राह्मणत्वं च न वस्तुतत्वसिद्धं, नापि लक्षणप्रयुक्तग्रन्थविभागतन्त्रोपहितमिति वेदितव्यम् ।

अथ यद्युच्येत- ' अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः ' इति श्रुतेः सृष्टेः प्रागेव ईशनिःश्वासोपसृष्टो यजुर्वेदोऽयं पूर्वाचार्याणां स्वाध्यायप्रवचनपरम्पराप्राप्तः इति यथाश्रुतमेवास्य स्वाध्याये प्रवचने च न क्षतिरिति।

वैसेही यह भी स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणग्रन्थ भी ऋचाओं एवं यजुर्मन्त्रोंके मिलावटसेही ब्राह्मण शब्द धारण करने अयोग्य है। उस तैत्तिरीय संहितामें तो ब्राह्मण एवं आरण्यकमें कुछ समूचे प्रश्न केवल यजुर्मन्त्र मयही हैं ।

१. कुछ प्रश्न ऋक्‌मंत्रमय हैं; जैसे तै० सं० के ४।६।१ में,

२. कुछ प्रश्न ब्राह्मणरूप हैं जैसे तैत्तिरीय संहिता का समूचा छठा प्रपाठक,

३. एकही प्रश्नमें कुछ अनुवाक ऋक् मंत्रमय हैं जैसे तै० सं० के ४।२।१ में,

४. कई ब्राह्मणमय हैं जैसे तै० सं० के छहः अनुवाक २।५।१–६ में । वही यह दर्शपूर्ण मासका पुरोडाशसे संबंध रखनेवाला अनुब्राह्मण है ।

५. कुछ तो ऋचा एवं यजुः दोनों प्रकारके मंत्रवाले हैं जैसे तै० सं० ४।१।१

६. कई तो यजुःमंत्र एवं ब्राह्मण दोनोंसे युक्त दीख पडते जैसे तै० सं० ३।१।१ में

७. कई एक ऐसे हैं कि त्रिविध अर्थात् ऋक् मंत्र, यजुर्मन्त्र एवं ब्राह्मण रूपवाले हैं जैसे, उदाहरणार्थ देखो तै० सं० ३।१।१; ब्राह्मणमय, तै० सं० ३।१।९ में तीन बार मंत्र; तै० सं० के ३।१।९ में और

८. वैसेही एकही अनुवाकमें भी कुछ भाग यजुर्मन्त्ररूप, कुछ अंश ऋक्‌मंत्रमय तथा एक और हिस्सा ब्राह्मणरूपी दीख पडता है, देखो तै० ब्रा० २।७।४

इसीभाँति ब्राह्मण एवं आरण्यकमें भी संहिताकी नाईं ही मंत्र तथा ब्राह्मणोंका संमिश्रण अत्यधिकरूपमें दीख पडता है। इसलिए, तैत्तिरीय शाखामें विख्यात संहिताग्रन्थका संहितापन और ब्राह्मणग्रन्थका ब्राह्मणपन वास्तविकतासे सिद्ध नहीं होता, तथा नही लक्षणसे प्रयुक्त ग्रन्थविभागके तंत्रपर निर्भर है ऐसा समझना चाहिए ।

अच्छा ऐसा यदि कहाजाय कि, ' इस महान आत्मा का तो यह निःश्वासमय ऋग्वेद एवं यजुर्वेद है ' ऐसा श्रुति के कथनसे सृष्टिके पूर्वही परमात्माके श्वाससे उत्पन्न यह यजुर्वेद पूर्वकालीन आचार्योंकी स्वाध्यायपरंपरासे आज हमें उपलब्ध है इसलिये जैसे

तथास्तु तर्हि- उभावपि ग्रन्थौ न संहितापदेन नापि ब्राह्मणपदेन व्यवहरणीयौ, उभयत्रापि मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि साङ्कर्यात्। तस्मात्तदेतद्ग्रन्थद्वयमपि नामान्तरेणाभिधीयतां नाम, किं कृतं संहिताब्राह्मणादिनाममात्रोपचरितेन वेदान्तरानुकरणेन?

मन्त्राणां त्रिगुणो ब्राह्मणस्य चैकगुणः पाठः

अथ पुनः- ' त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह।
यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तराः स्मृताः ॥' इति (शौ० च० व्यू० परि० २)

मन्त्रब्राह्मणयोः साहित्येन पाठप्रवचनमेव यजुर्वेदस्य मुख्यं लक्षणं दर्शितम्। सोऽयं मन्त्रब्राह्मणयोः साहित्येन पाठक्रमः तैत्तिरीयशाखायामेव दृष्टः, युक्तश्चायं पक्षः शास्त्रोपदिष्टत्वात्। तस्मात् तैत्तिरीयशाखायां यथाश्रुतमेव संहिताब्राह्मणादिग्रन्थविभागः, तथा तदध्ययनादिकं च युक्तमेवेति आशयः।

अत्रोच्यते- न वयमिह यजुर्वेदे वेदान्तरेऽपि वा मन्त्रब्राह्मणयोः सह पाठं, तदध्ययनं वा प्रतिषेधामः, अपि तु मन्त्रब्राह्मणोभयात्मकस्य केवलं संहितात्वं, केवलं ब्राह्मणत्वं च, रुचितो नाभिलषामः। प्रत्युत उदाहृतशौनकवचनानुरोधेन मन्त्रब्राह्मणयोः सहैवाध्ययनमभिमन्यामहे। तत्र तु यो यो मन्त्रभागः तत्रैव तत्तद्विधिरूपो ब्राह्मणभागोऽपि अध्येतव्यः, मन्त्रविनियोगादिपरिज्ञानार्थमिति शास्त्रतत्वम्। तैत्तिरीयशाखायां तु नैव तथास्ति। तत्र हि संहितान्तर्गतस्य कस्यचिन्मन्त्रभागस्य ब्राह्मणं संहितायां, कस्यचिन्मन्त्रभागस्य ब्राह्मणे क्वचिदारण्यके च विद्यते। तथा संहितान्तर्गतस्य कस्यचिन्मन्त्रभागस्य कश्चिद् ब्राह्मणभागः संहितायां, कश्चिद् भागः ब्राह्मणेऽपि अस्ति। तद्यथा '**इषे त्वोर्जे त्वा**' (तै० सं० १।१।१) इति त्रयोदशानुवाकात्मकस्य मन्त्रभागस्य ब्राह्मणं '**तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्**' इति (तै० ब्रा० ३।२) ब्राह्मणग्रन्थे प्रश्नद्वयं विद्यते। तथा तस्यैव कश्चिद् ब्राह्मणभागः '**विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः**' इति (तै० सं० २।५।१) संहितायां विद्यते। एवं ब्राह्मणान्तर्गतस्य मन्त्रभागस्य कश्चिद् ब्राह्मणभागः ब्राह्मणग्रन्थे, कश्चिद् भागः संहितायां च विद्यते एवमारण्यकेऽपि। तद्यथा '**सत्यं प्रपद्ये**' इति (तै० ब्रा० ३।५) इत्यस्य ब्राह्मणमन्त्रभागस्य ब्राह्मणं '**देवा वै**

सुनागया वैसेही इसके प्रवचनमें तथा स्वाध्यायमें कोई हानि नहीं। अच्छा, वैसेही रहे तो फिर दोनों ग्रन्थोंको न संहिता, नाही ब्राह्मण शब्द लगाना, क्योंकि दोनों स्थानोंमें मंत्र एवं ब्राह्मणोंकी मिलावट पायी जाती है। अतएव इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश किसी अन्य नामसे भलेही होता रहे, सिर्फ संहिता, ब्राह्मण वगैरह नाममात्रसे किये दूसरे वेदोंके अनुकरणसे क्या लाभ?

मंत्रोंका तीन गुना और ब्राह्मणका एकगुना पाठ

और एक बात है ' जहाँपर मंत्र एवं ब्राह्मणोंके साथ तीन गुना पढा जाता है उसे यजुर्वेद जानना चाहिए और शेष सभी विभिन्न शाखाएँ समझनी चाहिए।' शौनकीय चरणव्यूहके इस आधारपरसे यजुर्वेदका प्रमुख लक्षण मंत्र और ब्राह्मणोंके साथ पाठ एवं प्रवचन करनाही है। इस तरह यह मंत्र और ब्राह्मणोंका मिलकर पढनेका क्रम तैत्तिरीयशाखामेंही दीखपडता है तथा शास्त्रमें बतलानेके कारण यह पक्ष ठीक भी जानपडता है। अतएव कहनेका मतलब यही है कि तैत्तिरीयशाखामें संहिता, ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थोंका विभाग जैसे सुना वैसेही है और वैसेही उसका अध्ययन वगैरह भी ठीक ही है। इस कथनपर हमारा कहना यूं है- हम न तो यहाँ यजुर्वेदमें और नाही अन्य वेदमें मंत्रब्राह्मणोंका मिलकर पढना, उसका अध्ययनही रोकते हैं पर हमारी अभिरुचि ऐसी है कि, मंत्र एवं ब्राह्मणोंसे बने ग्रन्थका केवल संहितापन या निरा ब्राह्मणपन नहीं चाहते हैं, उल्टे ऊपर दिये शौनकवचनके अनुकूल मंत्रब्राह्मणोंका इकट्ठा पढनाही हमें अभीष्ट है। इसमें शास्त्रीय तत्त्व इतनाही है कि उसमें जहाँ जहाँ मंत्रभाग मौजूद है वहाँपर उसका विधिरूप ब्राह्मणभाग भी पढना चाहिए ताकि उससे मंत्रके विनियोग वगैरहकी जानकारी हो जाए। तैत्तिरीय शाखामें तो वैसा नहीं है। उसमें तो ऐसा देखा जाता है कि संहितान्तर्गत किसी मंत्र भागका ब्राह्मण संहिता में, किसी मंत्रविभागका तो ब्राह्मणमें, तथा कहीं आरण्यकमें भी पाया जाता है। वैसेही संहितामें गिनाये गये किसी मंत्रभागका कोई ब्राह्मण भाग संहितामें, तो कोई भाग ब्राह्मणमें भी मौजूद है। जैसे '**इषे त्वोर्जे त्वा**' (तै० सं० १।१।१) इस १३ अनुवाकोंके बने मंत्रभागका ब्राह्मण '**तृतीयस्यामितो दिवि...**' इस (तै० ब्रा० ३।२) ब्राह्मणग्रन्थमें प्रश्नद्वयके रूपमें है। वैसेही उसीका कोई ब्राह्मणभाग '**विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः**' (तै० सं० २।५।१) ऐसी संहितामें है। इसीभाँति, ब्राह्मणमें गिनाये गये मंत्रभागका कोई ब्राह्मणभाग ब्राह्मणग्रन्थमें, तो एक अंश संहितामें और वैसेही आरण्यकमें भी है। उदाहरणके लिए '**सत्यं प्रपद्ये**'

नर्चि न यजुषि ' इति (तै० सं० २।५।७) संहितायां विद्यते। एवं ' चित्तिः स्रुक् ' इति (तै० आ० ३) मन्त्रस्य ब्राह्मणं ' प्रजापतिरकामयत ' इति (तै० ब्रा० २।२) ब्राह्मणग्रन्थे विद्यते। एवं ग्रन्थत्रयेऽपि शतशः स्थलेषु परस्परं साङ्कर्यात् यत्र कुत्रापि पठितयोः तयोः मन्त्रब्राह्मणयोः सहपाठः तथा तदध्ययनमपि यथाकथञ्चिदपि न सम्भवति। क्वचित्तु ' सम्पश्यामि प्रजा अहं ' (तै० सं० १।५।६)। ' सम्पश्यामि प्रजा अहमित्याह ' (तै० सं० १।५।८) ' इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य ' ' इमां० अश्वाभिधानीमादत्ते ' इत्यादिषु मन्त्रब्राह्मणयोः सहपाठसम्भवेऽपि न तावता सर्वत्रापि शक्यं, तथा साधयितुम्। तस्मान्मन्त्रब्राह्मणयोः सहपाठपक्षेऽपि नायं सारस्वतपाठक्रमः शास्त्रीयतामर्हति, नाप्यनुकूलः।

किं तर्हि ? एकैकः प्रश्नः तथा एकैकोऽनुवाकोऽपि तत्र तत्रैव ब्राह्मणेन सहैव पठितव्यः, अथ किम् ? तथा चेत् एकैको मन्त्रोऽपि तत्तद्विधिरूपेण ब्राह्मणेन सहैव पठितव्यः स्यात्। स्यादेव ' त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह '। इति मतेन। असम्भाविनीयं पद्धतिः खलु। तथा चेत् ' मन्त्रब्राह्मणयोः सह ' इत्यस्य सह शब्दस्य साहित्यं नाम ऐकरूप्यमित्येवार्थोऽस्तु, न तु सान्निध्यमिति। तदा मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदभागयोः ' सह ' साहित्येन स्वरादियुक्तेन एकरूपेण ' त्रिगुणं ' गद्यपद्यात्मकसंहितारूपेण, विभक्तपदपाठरूपेण, क्रमपाठरूपेण चेत्येवं त्रिविधं अध्ययनं यत्र विद्यते स यजुर्वेदः इत्यर्थः। तथा च तैत्तिरीयसंहिताग्रन्थस्य यथोक्तेन प्रकारेण संहितायाः पदक्रमरूपं त्रिगुणं पाठप्रवचनं प्रसिद्धम्, तत्र मन्त्रभागस्येव ब्राह्मणभागस्यापि स्वरः पदपाठः क्रमपाठश्च प्रचलितः, नैवं वेदान्तरे विद्यते, इदमेव यजुर्वेदस्य मुख्यं लक्षणं विशिष्टतरमिति भावः।

एवं चेत्– संहितायां इव ब्राह्मणग्रन्थस्यापि तथा आरण्यकस्य च पदक्रमादित्रिगुणपाठो भवितव्यः। न हि संहिताग्रन्थमात्रे यजुर्वेदः सम्पूर्णः, ब्राह्मणारण्यकयोरपि सोमादियज्ञोपयोगिकमन्त्रबाहुल्यसत्वात्।

अथ अन्यत्र वेदान्तरे संहिताग्रन्थस्यैव पदक्रमादिपाठप्रसिद्धेः ब्राह्मणग्रन्थस्य पदविभागाभावात् अत्र सारस्वतपाठेऽपि

(तै० ब्रा० ३।५) इस ब्राह्मण मंत्र भागका ब्राह्मण ' देवा वै नर्चि न यजुषि ' (तै० सं० २।५।७) इस तैत्तिरीय संहितामें है। इसी तरह ' चित्तिः स्रुक् ' (तै० आ० ३) इस मंत्रका ब्राह्मण ' प्रजापतिरकामयत ' (तै० ब्रा० २।२) इस ब्राह्मणग्रन्थमें है। इस तरह तीनों ग्रन्थोंमें भी सैकडों स्थानोंमें आपसी मिलावट होनेसे जहाँ कहीं भी पाये हुए उन मंत्र ब्राह्मणोंका मिलकर पाठ तथा उनका अध्ययन भी किसी तरह संभव नहीं है। कहीं कहीं, ' सम्पश्यामि प्रजा अहं ' (तै० सं० १।५।६), ' सम्पश्यामि प्रजा अहमित्याह (तै० सं० १।५।८) ' इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य ' ' इमां० अश्वाभिधानीमादत्ते ' वगैरह स्थानोंमें मंत्र ब्राह्मणोंका मिल कर पढना संभव है तो भी उतनेसे हरजगह वैसा करना संभव नहीं है। इसलिए मंत्र एवं ब्राह्मणके मिलकर पढनेके पक्षमें भी यह सारस्वत पाठक्रम अशास्त्रीय एवं अननुकूल है।

तो फिर ? एकएक प्रश्न और वैसेही एकएक अनुवाक भी उसी स्थानपर ब्राह्मणके साथही पढना चाहिए, बिलकुल ठीक। वैसी दशामें एकएक मंत्र भी उसके विधिरूप ब्राह्मण के साथही पढना पडेगा। हो सकता है कि ' जहाँ मंत्र ब्राह्मणोंका मिलकर पाठ तीन गुना किया जाता है ' इस मतसे यह संभव हो। सच पूछे तो यह प्रणाली असंभव है। वैसा हो तो ' मंत्र ब्राह्मणयोः सह ' इसमें ' सह ' शब्दसे सहितत्त्व अर्थात् एकरूपता इतनाही अर्थ लिया जाय न कि समीपता इतनाही। तब ऐसा अर्थ करना होगा कि यजुर्वेद उसे कहना चाहिए जहाँपर मंत्र एवं ब्राह्मणरूपी वेदके विभागोंका ' सह ' अर्थात् मिलकर स्वर इत्यादिसे युक्त एक स्वरूपमें ' तीनगुना ' याने गद्य पद्यमय संहिताके रूपमें, अलग किए हुए पदपाठके रूपमें तथा क्रमपाठके रूपमें तीन तरहसे अध्ययन चलता हो। वैसेही, जैसे ऊपर कहा जाचुका उसी ढंगसे तैत्तिरीय संहिता ग्रन्थका संहिताके पदक्रमरूपसे तिगुना पाठवचन विख्यात है, वहाँ तो मंत्र भागकी तरह ब्राह्मण भागका भी स्वर, पदपाठ एवं क्रमपाठ जारी है, ऐसा अन्य वेदमें नहीं पाया जाता है; मतलब यही कि यजुर्वेदका यही प्रमुख एवं सबसे विभिन्न लक्षण है।

ऐसा हो तो, संहिताके समानही ब्राह्मणग्रन्थका भी और आरण्यकका पदक्रम वगैरह तिगुना पाठ रहे, क्योंकि संहिताग्रन्थमें ही यजुर्वेद संपूर्ण नहीं बनता चूँकि ब्राह्मण एवं आरण्यकमेंभी सोम याग आदिमें उपयुक्त मंत्रोंकी अधिकता है।

अब दूसरी जगह, अन्य वेदमें संहिता ग्रन्थकाही पदक्रम वगैरह

तथैवाध्ययनं परम्पराप्राप्तम् । तथा चेत् वस्तुतः वेदान्तरे मन्त्रब्राह्मणयोर्लक्षणतः संहिताब्राह्मणग्रन्थविभागेऽपि उभयोर्ग्रन्थयोः त्रिगुणं पाठप्रवचनं शक्यं संपादयितुं, तथापि यजुर्वेदे एव तादृशपाठविधानात् युक्तमेव तथैवानुष्ठातुं उभयोरपि ग्रन्थयोः त्रिगुणं पाठप्रवचनं इति प्रतीयते । प्रत्युत, प्रचलितपाठक्रमे एव संहितान्तर्गतमात्रस्य कतिपयमन्त्रभागस्य संहितापदक्रमरूपेण त्रिगुणं पाठः, ब्राह्मणग्रन्थान्तर्गतस्य तु मन्त्रभागस्यापि केवलं संहितारूपेण एकगुणं पाठः, तथा संहितान्तर्गतस्य कतिपयब्राह्मणभागस्य त्रिगुणपाठः, तथा ब्राह्मणारण्यकग्रन्थान्तर्गतस्य विधिभागस्य एकगुणं पाठः इत्यसामञ्जस्यं स्यात् । "त्रिगुणं पठ्यते यत्र" इति वचनोक्तयजुर्वेदलक्षणविरोधश्च प्रसक्तः । तथापि सारस्वतपाठेन प्रचलित एव क्रमः साधीयान् सारस्वतमुन्युपदिष्टत्वात्, तथैवाध्ययने एव श्रेयस्त्वप्रतिपादनात्, अन्यथाऽध्ययने निष्फलत्वदर्शनात्, तथैव ब्राह्मणानिर्णीतत्वाच्च, सोऽयं तैत्तिरीयकृष्णयजुर्वेदः अनादिसिद्धार्षेयाध्ययनपरम्परागतः यथाक्रममेवाध्येतव्यः इत्येव युक्तम् । न हि तादृशेषु अपौरुषेयेषु वेदग्रन्थेषु इदानींतनानामस्मादृशां किञ्चिज्ज्ञानां यत्किञ्चिदपि वैपरीत्यादिकल्पनावसरः । उदाहृतश्च पूर्वमेव सारस्वतमुनेरितिहासः, तथा सारस्वतपाठे ब्रह्मनिर्णयश्च ।

एवं भगवतो ब्रह्मणः आदेशात् सोऽयं तैत्तिरीय यजुर्वेदः सारस्वतमुन्युपदिष्टेन सारस्वतपाठेन यथाप्रसिद्धं यथाक्रममेवाध्येतव्यः इति निर्णीतं पूर्वैर्महर्षिभिः । तस्मात् तैत्तिरीयकृष्णयजुर्वेदे संहिताब्राह्मणारण्यकग्रन्थानां पृथक् पाठक्रमान्तरं नान्वेषणीयं नाप्यादरणीयमिति वैदिकानां सिद्धान्तः, स च आर्षेयत्वादिश्रद्धोपहितः, अत एव स न प्रतिषेधव्यः, निषिद्धे तु तस्मिन् वेदश्रद्धालवो व्याकुलिता भवेयुः, तदभिमानिनस्तु कुप्येयुरिति ।

तथास्तु तर्हि— "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्" (भ० गी० ३।२६)

पाठ होनेसे तथा ब्राह्मणभागका पदविभाग न होनेसे यहाँ सारस्वतपाठमें भी उसी ढंगसे अध्ययन करना परंपरासे उचित ठहरता है । वैसा हो तो सचमुच दूसरे वेदमें मंत्र एवं ब्राह्मण के लक्षणोंसे संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थके विभागमें भी दोनों ग्रन्थोंका तिगुना पाठ प्रवचन किया जा सकता है, तो भी यजुर्वेदमें ही वैसा पाठ पाया जाता है इसलिए दोनों भी ग्रन्थोंका वैसाही तिगुना पाठप्रवचन करना उचित जँचता ऐसा प्रतीत होता है । उल्टे, जो पाठक्रम प्रचलित है उसीमें, सिर्फ संहिताके अन्दर गिनाये गये कुछही मंत्रोंका संहिता पदक्रमरूपसे तिगुना पाठ, पर ब्राह्मणके भीतरके मंत्रभागका भी केवल संहितारूपसे इकहरा पाठ और वैसेही संहितान्तर्गत कुछही ब्राह्मणभागोंका तिगुना पाठ और ब्राह्मण आरण्यकग्रन्थोंमें मौजूद विधिभागका एकही पाठ ऐसा प्रकार तो विचित्र दीखपडेगा और '**जहाँ तीनगुना पढा जाता है**' इस वचनके आधारपर ठहराये यजुर्वेदके लक्षणका विरोध करना पडेगा। तोभी, जो क्रम सारस्वपाठने ठहराया है वही सर्वोत्तम मानलेनाठीक क्योंकि सारस्वतमुनिने उसका उपदेश किया है, वैसेंही अध्ययन करनेसे भला होगा ऐसा प्रतिपादन किया जाचुका है, और कहा है कि नहीं तो अध्ययनका फल नहीं मिल सकता है । वैसेही ब्राह्मणका निर्णय न होनेसें यह तैत्तिरीय कृष्णयजुर्वेद अनादिकालसे सिद्ध आर्षेय परंपरासे चलाआया हुआ है अतः क्रमानुसार ही पढलेना चाहिए यही ठीक जानपडता है क्योंकि उन वैसे अपौरुषेय वेदग्रन्थोंमें लेशमात्रभी विसंगतता आदि दोष होंगे ऐसीं कल्पनातक हम जैसे आधुनिक युगके तनिक जानकारी रखनेवाले नहीं करसकते और सारस्वत मुनिका इतिहास तथा सारस्वतपाठके बारेमें ब्रह्माजीका दिया हुआ निर्णयभी पहलेही बताया जाचुका है ।

इसतरह पूर्वकालीन महर्षियोंने यूं निश्चय करलिया कि भगवान ब्रह्माजीकी आज्ञासे इस तैत्तिरिय यजुर्वेदका अध्ययन सारस्वत मुनिजीके बतलाये सारस्वपाठसेही अबतक जैसे सबको विदित है वैसे क्रमके अनुकूलही करना चाहिए। इसलिए वैदिकोंका सिद्धान्त है कि तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेदमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक ग्रन्थोंका अलग दूसरा पाठक्रम न तो ढूँढही लेना चाहिए और नही उधर ध्यानही देना ठीक। इस सिद्धान्तको आर्षेयत्त्व वगैरह बातोंकी श्रद्धा मिलगयी है इसकारण, उसका प्रतिवाद या निषेध नहीं करना चाहिए क्योंकि, अगर उसका कहीं निषेध होजाए तो वेदमें श्रद्धा रखनेवालोंका दिल दहलउठेगा और उसका अभिमान जिनके मनमें जागृत हो वे आगबबूला हो उठेंगे ।

तो ऐसाही रहे क्योंकि आध्यात्मिक गुरुका उपदेश है कि 'कर्ममें जुटे हुए अज्ञानी लोगोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए अपितु विद्वानको चाहिए कि वह स्वयं समत्व बुद्धियोगका आचरण करता हुआ लोगोंसे सभी कर्म प्रेमपूर्वक कराए ।' (भ. गी. ३।२६)

" अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु " (या० स्मृ०)

इति देशिकोपदेशात् समन्वय एवाश्रयणीय इति युज्यते। तेन तैत्तिरीयकृष्णयजुर्वेदः सारस्वतपाठक्रमेणैवाधीयतां नाम, तथात्वेनाध्ययनेऽपि लक्षणतः तत्रत्यो मन्त्रब्राह्मणादिभेदः ऋक्त्वयजुष्ट्वादिभेद आर्षेयादिभेदश्च याथार्थ्येन वेदितव्य एव, न च तत्सारस्वतपाठो निषेद्धुमर्हति।

' अपि सारस्वते पाठे ज्ञानमात्रमिहेष्यते ' इत्यभियुक्तवचनात्। तदर्थमेवायं वेदवेदिकाप्रस्तावश्च।

एवं लक्षणतो विदिते मन्त्रब्राह्मणऋक्त्वयजुष्ट्वादिभेदे वेदितव्ये च, सारस्वतपाठेऽपि विद्यमानस्य सर्वस्यापि मन्त्रभागस्य संहितात्वं लक्षणप्रयुक्तं, विधिभागस्य तु ब्राह्मणत्वं चेत्यर्थादभ्युपगतं भवति। ततश्च तैत्तिरीयकृष्णयजुर्वेदे ग्रन्थभेदेन प्रसिद्धयोः संहिताब्राह्मणग्रन्थयोः यथोक्तलक्षणोपहिता शास्त्रदर्शिता संहितात्वसिद्धिः ब्राह्मणत्वसिद्धिश्च ऋते विभागात् अन्यथा सर्वथाप्यसम्भाविनीत्येव वक्तव्यमापतति।

वस्तुतस्तु सारस्वतपाठक्रमेण प्रसिद्धे संहिताग्रन्थे, तथा ब्राह्मणे, आरण्यके च, तत्र तत्र मन्त्राणां मध्ये ब्राह्मणपाठोऽपि तत्तन्मन्त्राणां यागादिकर्मानुष्ठानविनियोगादिपरिज्ञानानुकूलार्थमेव, न तु पुनः ब्राह्मणवाक्यानामपि संहितात्वाद्यापादनार्थः, नापि संहिताद्यभिधानकरणार्थः। दर्शितश्च तत्रापि मन्त्रब्राह्मणयोः यथायथं साहित्येन पाठक्रमाभावः, तेन त्रिष्वपि ग्रन्थेषु पठितयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरसन्निधानात् कथं तयोः सहाध्ययनं सम्भवेदिति चिरं चिन्तनीयमेव।

अथ वेदान्तरेषु संहितायाः पदपाठसत्वात्, ब्राह्मणभागस्य पदपाठाभावाच्च, सारस्वतपाठेऽपि तद्वदेव संहिताब्राह्मणारण्यकग्रन्थभेदेन पाठबलात् यथा यावान् प्रसिद्धः संहिताग्रन्थः स तावानेव याजुषो मन्त्रभागः पदविभागात् त्रिगुणपाठसत्वाच्च; यथा यावांश्च प्रसिद्धो ब्राह्मणग्रन्थः आरण्यकग्रन्थश्च स तावान् सर्वोऽपि विधिरूपः याजुषो ब्राह्मणभागः पदविभागाभावात्

तथा ' धर्मानुकूल वात यदि स्वर्गके प्रतिकूल तथा जनताका द्वेष भाजन बनी हो तो वैसा आचरण नहीं करना।' (याज्ञवल्क्यस्मृति) इस कारण यही ठीक जानपडता है कि समन्वयकाही सहारा लेना चाहिए। तो फिर, तैत्तिरीय कृष्णयजुर्वेदका अध्ययन भलेंही सारस्वत पाठक्रमसे जारी रहे, पर वैसा अध्ययन प्रचलित होनेपर भी, लक्षणसे उसमें जो मंत्र ब्राह्मण वगैरह भेद, ऋचापन एवं यजुपन इत्यादि की विभिन्नता और आर्षेय सदृश भेद है उसे यथावत् जान लेना ही चाहिए जिसका कि निषेध करनेका सारस्वत पाठको तनिक भी अधिकार नहीं। क्योंकि विद्वानोंका कथन है कि ' सारस्वत पाठमें भी सिर्फ ज्ञानकीही अपेक्षा है।' उसीके लिए तो यह वेदकी भूमिका लिखी जारही है।

इस भाँति, लक्षणोंसे समझे हुए तथा समझने योग्य मंत्र, ब्राह्मण, ऋचापन, यजुःपन इत्यादि भेदोंमें सारस्वत पाठमें भी गिनाये गये समूचे मंत्रभागका ही संहितापन लक्षणसे उपयोगमें आया हुआ है और विधिभागका तो ब्राह्मणपन है ऐसा अर्थसे ज्ञात होता है। पश्चात्, तैत्तिरीय कृष्णयजुर्वेदमें ग्रन्थ के भेदसे जो संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थ प्रसिद्ध हैं उनका, पहले कहे लक्षणोंसे युक्त और शास्त्रप्रदर्शित संहितापन और ब्राह्मणपन, विभाग किए विना अन्य किसी भी ढंगसे सिद्ध करके नहीं वताया जा सकता ऐसाही कहना पडता है।

वास्तविक बात यूं है कि, जो संहिता ग्रन्थ सारस्वत पाठ क्रमसे विख्यात हो चुका है उसमें और वैसेही ब्राह्मण एवं आरण्यकमें भी, स्थानस्थानमें मंत्रोंके बीच ब्राह्मणका पाठ भी उन उन मंत्रोंके याग वगैरह कर्मके अनुष्ठानमें विनियोग आदिकी भली भाँति जानकारी होनेमें अनुकूलता हो इसीलिए है, न कि फिरसे ब्राह्मणवाक्योंको भी संहितापन वगैरह दिलानेके लिए ही तथा नाही संहिता इत्यादि नाम देनेके लिएही हैं। वहाँपर भी यह दिखाया जा चुका है कि मंत्रब्राह्मणोंका अनुक्रमसे मिलकर पाठ करने का तरीका नहीं है अतः तीनों ग्रन्थोंमें, पढे हुए मंत्र एवं ब्राह्मणोंकी समीपता नहीं पायी जाती है तो दोनोंका मिलकर अध्ययन कैसे किया जाय यह तो एक वडाही चिंता करने योग्य विषय है।

अब यदि ऐसा कहो कि, अन्य वेदोंमें संहिताका पदपाठ पाया जाता है, ब्राह्मणभागका पदपाठ मौजूद नहीं, उसीप्रकार सारस्वत पाठमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक जैसे ग्रन्थोंके भेदसे, पाठके आधारसे जैसे और जितना संहिताग्रन्थ प्रसिद्ध है वह उतनाही, पदविभाग एवं तिनगुने पाठके अस्तित्त्वसे याजुष मंत्रविभाग, जैसे और जितना ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ प्रसिद्ध है वह उतना समूचाभी विधिरूप यजुःसे संबंध रखनेवाला ब्राह्मणभाग समझलेना

त्रिगुणपाठपद्धतेरभावाच्च इति कल्प्यतामिति चेत्, न तु तावन्मात्रेण कल्पनाविशेषेण तत्सेत्स्यति ।

न हि तावत् सहस्रशः पुरुषयूथसङ्कीर्णः स्त्रीव्यक्तिविशेषः पुरुषोऽयमिति कल्पनामात्रेण तथा बाह्याकारविकारादिविशिष्ट-वेषसंस्कारेणापि वा स्वभावतः शक्तितश्च पुंरूपत्वं प्राप्नोति, न च तत्कथञ्चिदप्यापादयितुं शक्यम् । एवमेव स्त्रीयूथसङ्कीर्णः स्त्री-वेषधरोऽपि पुरुषः स्त्रीत्वं न भजते, तदेतत् प्रत्यक्षसिद्धं नाटकादौ, तथैव सारस्वतपाठे सहस्रशः ऋग्यजुरादिमन्त्रगणसंकीर्णो विधिरूपः ब्राह्मणवाक्यात्मक शब्दराशिरपि तावता मन्त्रगणमध्यपातित्वमात्रेण, मन्त्रत्वकल्पनामात्रेण वा, मन्त्रवत् स्वरादि-संस्कारेण वा, पदविभागात् त्रिगुणपाठेनापि वा, स्वयं रूपतः शक्तितश्च नैव मन्त्रो भवितुमर्हति । एवं ब्राह्मणवाक्यसङ्कीर्णो-ऽपि पदविभागाभावे त्रिगुणपाठाभावेऽपि मन्त्रः न ब्राह्मणं भवति ।

एवं शब्दतः अर्थतश्च मन्त्रब्राह्मणयोः स्वरूपतः स्त्रीत्वपुँस्त्ववत् सर्वथा भेदो वस्तुसिद्धः । तस्मात् मन्त्रभागो विधिभाग-श्चेति द्विधा विभक्तः सर्वोऽपि वेदः । तत्र मन्त्रभागः 'संहिता,' विधिभागो 'ब्राह्मणं' चेति प्रतिपादितं पुरस्तात् ।

सोऽयं यथोक्तलक्षणविशिष्टो विधिमन्त्रात्मको ब्राह्मणसंहितासंज्ञको वेदग्रन्थो भेदेन सिद्धः सर्वत्र वेदेषु समानः एकरूपेण प्रतिष्ठितः सुप्रसिद्धः । तत्र विधिमन्त्रात्मकयोर्ब्राह्मणसंहिताभागयोः ग्रन्थतोऽपि भेदेन संस्थितौ महदिदं प्रमाणं यत्सर्वे-ष्वपि वेदेषु समाना रीतिरिति प्रत्येतव्यम् ।

तत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सहैव त्रिगुणपाठ एव यजुर्वेदस्य मुख्यं लक्षणमित्यभ्युपगम्यमाने तैत्तिरीयसंहिता–ब्राह्मण–आरण्यक-संज्ञकग्रन्थत्रयक्लृप्तस्य समग्रस्यापि यजुर्वेदस्य त्रिगुणपाठ आदरणीयो भवेत् । तैत्तिरीय सारस्वतपाठे तु प्रसिद्धयोः संहिता-ब्राह्मणग्रन्थयोः आरण्यकस्य च यथोक्तविधिमन्त्रत्वलक्षणराहित्येन त्रिष्वपि ग्रन्थेषु मन्त्रब्राह्मणसाङ्कर्यात्, संहिताग्रन्थान्तर्गत-स्यैव मन्त्रब्राह्मणभागस्य त्रिगुणपाठप्रवचनादिसत्वाच्च, संहितायाः संहितात्वं, ब्राह्मणग्रन्थस्य ब्राह्मणत्वं, चासङ्गतमिति वैषम्येन सर्ववेदवैलक्षण्यं, तैत्तिरीयकृष्णयजुर्वेदस्येति वेदितव्यम् ।

मैत्रायणीयसंहितायां तु इतोऽप्यस्ति कश्चिद्विशेषः संस्कृतः, तत्र दर्शपूर्णमासादियज्ञीयकर्मानुरोधेन पौरोडाशिकादिप्रकर-णानां भेदेन तत्तन्मन्त्रैः सहैव तत्र तत्र प्रायः सर्वः तत्तद्ब्राह्मणभागोऽपि पठितः, तथा तस्य त्रिगुणपाठोऽपि प्रचलितः तस्मात्

चाहिए चूँकि पदविभाग एवं त्रिगुण पाठप्रणालीका अभाव है, तो उत्तर यही है कि सिर्फ उतने परसे विशेष कल्पनाके आधारपर वह सिद्ध नहीं होगा ।

यदि कोई नारी अपनेको हजारों बार पुरुषोंके झुँड में रख दे तो भी सिर्फ कल्पनासे या वैसेही बाहरी आकार, मनोभावोंका प्रकटीकरण वगैरह खास ढंगके वेष, संस्कारसे भी स्वभाव एवं सामर्थ्यमें पुरुषत्वको नहीं पासकती है और न वैसे किसीभीतरह कियाही जासकता है । उसी भाँति नारियोंके समुदायमें बिखरा हुआ तथा स्त्रीवेष धारण करनेवालाभी पुरुष नारीपन नहीं प्राप्त करता है, जोकि नाटक वगैरहमें प्रत्यक्षतया सिद्ध है; ठीक वैसेही सारस्वतपाठमें सहस्रों ऋचा, यजुः आदि मंत्रसमूहोंमें बिखरा हुआ विधिरूपवाला, ब्राह्मणवाक्यमय शब्दभांडारभी, उतने मंत्रोंके संघमें जगह पानेसेही, या मंत्रपनकी कल्पनासेही, अथवा मंत्रतुल्य स्वर वगैरहका संस्कार करनेसे, या पदविभाग अथवा तिनगुने पाठसेभी किंवा अपनेही रूप एवं सामर्थ्यसे मंत्रपद नहीं पासकता है । इसी-प्रकार, ब्राह्मणवाक्योंके समूहमें रखा हुआभी मंत्र पदविभाग न होनेकी दशामें, तिगुना पाठ न होनेपरभी, ब्राह्मणवाक्य नहीं बनजाता ।

तात्पर्य यही कि स्वरूपसेही मंत्र और ब्राह्मणका भेद, शब्द तथा अर्थके आधारपर वैसेही वास्तविकतया सिद्ध है, जैसे नारीत्व और पुरुषत्व । अतः समूचा वेद दो भागोंमें अर्थात् मंत्रभाग एवं विधि-भागमें विभक्त होजाता है । यह तो पहलेही कहा जाचुका है कि मंत्रभागको 'संहिता' और विधिभागको 'ब्राह्मण' ऐसा नाम दिया है ।

इसप्रकार यह वेदग्रन्थ, पहले बतलाये लक्षणोंसे वैशिष्ट्यपूर्ण, विधिवाक्य एवं मंत्रोंका बना हुआ, ब्राह्मण तथा संहिता नाम धारण करनेवाला भेदद्वारा सिद्ध होकर सभी वेदोंमें समानतया एक रूपमें प्रतिष्ठा पाता हुआ विख्यात बनचुका है । उसमें विधि एवं मंत्रोंके बने ब्राह्मण एवं संहिता ऐसे भाग ग्रन्थके रूपमें भी हैं इस संबंधमें बडा प्रमाण यही है कि सभी वेदोंमें यह ढंग समानरूपसे पाया जाता है ऐसा मानना ठीक ।

वहाँपर ऐसा मानलेनेपर कि यजुर्वेदका प्रमुख लक्षण मंत्र ब्राह्मणोंका मिलकर तीनबार पठनही है, तैत्तिरीयके संहिता, ब्राह्मण आरण्यक नामधारी तीन ग्रन्थोंके बने समूचे यजुर्वेदका ही तीनगुना

तत्र मन्त्रब्राह्मणयोः साहित्येन पाठप्रवचनं सार्थकमेव । तथापि मन्त्रब्राह्मणयोः सङ्करः तथा आर्षेयाद्यनियमश्च तदवस्थ एव, न हि तावता साहित्यपाठमात्रेण यातयामतादोषो निवर्तते । तैत्तिरीयसारस्वतपाठे प्रचलितः पाठक्रमः केन प्रमाणेन, केन वा विधिना, केन वा यज्ञादिक्रमनियमेन, कथं कल्पितः, इति न ज्ञायते । नाप्येतत्पाठक्रमे प्रमाणान्तरं दृश्यते, येन तत् ज्ञातुं शक्यं भवेत् । नापि तत्र सूत्रादिकं किञ्चिदस्ति प्रतिबोधकम् । तद्विषये बौधायनादिप्रणीता काण्डानुक्रमणिकैव शरणम् । अपि सारस्वते पाठे ज्ञानमात्रमिहेष्यते इति च स्पष्टं वचनम् ।

तैत्तिरीयशाखाकथानकम्

सोऽयं सारस्वतपाठोपहितः कृष्णयजुर्वेदः केनचिन्निमित्तेन याज्ञवल्क्येन वमितः, तथातद्वमितं तमिमं वेदं वैशम्पायन-शिष्याः तित्तिरयो भूत्वा स्वीकृतवन्तः, तस्मात् सा शाखा तैत्तिरीयेति प्रथिता । तथा च विष्णुपुराणे तदितिहासः श्रूयते-

' एक एव यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत् ।
यजुर्वेदतरोः शाखाः सप्तविंशन्महामुने । वैशम्पायननामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै ॥ १ ॥
शिष्येभ्यः प्रददौ ताश्च जगृहुस्तेऽप्यनुक्रमात् । याज्ञवल्क्यश्च तस्याभूद् ब्रह्मरातः सुतो द्विजः ॥ २ ॥
शिष्यः परमधर्मज्ञो गुरुवृत्तिरतः सदा । ऋषिर्यश्च महामेरौ समाजे नागमिष्यति ॥ ३ ॥
तस्य वै सप्तरात्रं तद्ब्रह्महत्या भविष्यति । पूर्वमेवं मुनिगणैः समयोऽयं कृतो द्विजम् ॥ ४ ॥
वैशम्पायन एकस्तु तं व्यतिक्रान्तवाँस्तदा । स्वस्त्रियं बालकं सोऽपि पदाघृष्टमघातयत् ॥ ५ ॥
शिष्यानाह च भोः शिष्याः ब्रह्महत्यां परावृते । चरध्वं मत्कृते सर्वे न विचार्यमिदं तथा ॥ ६ ॥
अथाह याज्ञवल्क्यस्तं किमेतैर्बहुभिर्द्विजैः । क्लेशितैरल्पतेजोभिश्चरिष्येऽहमिदं व्रतम् ॥ ७ ॥

पाठ करना उचित ठहरेगा । तैत्तिरीय सारस्वत पाठमें तो प्रसिद्ध संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थमें तथा आरण्यकमें पूर्वोक्त विधि एवं मंत्र-पनके लक्षणका अभाव होनेसे, तीनों ग्रन्थोंमें मंत्र ब्राह्मणकी मिलावट रहनेसे और संहिता ग्रन्थमेंही पाये जानेवाले मंत्र ब्राह्मणभागका तीनगुना पाठप्रवचन इत्यादि प्रचलित होनेसे, संहिताका संहितापन और ब्राह्मणग्रन्थका ब्राह्मणपन विसंगत दीख पडता है, इसलिए इस विषमतासे तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद सभी वेदोंसे अपेक्षाकृत अनूठा है ऐसा समझना चाहिए ।

मैत्रायणीयसंहितामें तो इससेभी दूसरा परिमार्जित अनोखापन मौजूद है उसमें दर्शपूर्णमास वगैरह कर्मोंके अनुकूल कार्य करते हुए पौरोडाशिक इत्यादि प्रकरणोंके भेदसे स्थानस्थानपर उन उन मंत्रोंके साथही उनका वह समूचा ब्राह्मणभागभी पढा हुआ है और उस का त्रिगुणपाठभी प्रचलित है । इसका परिणाम ऐसा हुआ कि वहाँ पर मंत्र ब्राह्मणोंका मिलकर पढना अर्थयुक्त प्रतीत होता है । तिसपरभी, मंत्रब्राह्मणोंकी मिलावट और वैसेही आर्षेय वगैरह का अनियम उसी दशामें है पर उतने इकट्ठे पढने मात्रसे बासीपनका दोष हटता नहीं । यह समझमें नहीं आता कि तैत्तिरीय सारस्वत-पाठमें जो पाठक्रम जारी है वह किस प्रमाणके बलबूतेपर, किस विधिसे या किस यज्ञ वगैरहके क्रमके नियमसे किस ढंगपर तैयार किया हुआ है । और दूसरी बात यों है कि इस पाठक्रममें दूसरा कोई प्रमाण नहीं दीखपडता जिससे उसकी जानकारी होजाए । और नाही वहाँ कुछ जतलानेवाला सूत्र इत्यादि भी पाया जाता है । उस विषयमें बौधायन आदि की बनायी हुई काण्डोंकी अनुक्रमणिकाही अन्तिम प्रमाण है । यह वचन कि ' सारस्वत पाठमें भी सिर्फ ज्ञानकीही अपेक्षा की जाती है । ' बिलकुल स्पष्ट है ।

तैत्तिरीय शाखाके बारेमें एक कथा

इसभाँतिके इस सारस्वतपाठयुक्त कृष्णयजुर्वेदको याज्ञवल्क्यने किसी निमित्तसे वमनतुल्य बाहर निकालदिया और वैसे इस उल्टीसे बाहर आये हुए इस वेदको वैशंपायनके शिष्योंने तित्तिरि पंछीका रूप धारण करके स्वीकृत किया, अतः इस शाखाको तैत्तिरीय नाम मिल-गया । इस संबंधमें विष्णुपुराणमें ऐसा इतिहास सुनाजाता है कि-यजुर्वेद एकही था उसे चार भागोंमें बाँटदिया । व्यासजीके शिष्य वैशंपायनने यजुर्वेदवृक्षकी २७ शाखाएँ बनाडालीं । अपने शिष्योंको उन शाखाओंका दान करनेपर वे क्रमशः इनका ग्रहण करनेलगे । उनका ब्रह्माजीके वरसे उत्पन्न पुत्र याज्ञवल्क्य भी था । वह धर्मको भलीभाँति जाननेवाला तथा हमेशा गुरुजीकी सेवामें लगा रहता था । जो ऋषि बनकर महामेरुमें रहता और जतनासे कभी मिलता नहीं, उसे सात रात्रितक ब्रह्महत्या पापसे लिपटा रहना पडेगा । मुनियोंने

ततः क्रुद्धो गुरुः प्राह याज्ञवल्क्यं महामुनिम् । मुच्यतां यत्त्वयाऽधीतं मत्तो विप्रावमानकः ॥ ८ ॥
निस्तेजसो वदस्येतान्यस्त्वं ब्राह्मणपुङ्गवान् । तेन शिष्येण नार्थोऽस्ति ममाज्ञाभङ्गकारिणा ॥ ९ ॥
याज्ञवल्क्यस्ततः प्राह भक्त्यैतत्ते मयोदितम् । ममाप्यलं त्वयाऽधीतं यन्मया तदिदं द्विज ॥ १० ॥

पराशर उवाच–

इत्युक्त्वा रुधिराक्तानि स्वरूपाणि यजूंष्यथ । छर्दयित्वा ददौ तस्मै ययौ च स्वेच्छया मुनिः ॥ ११ ॥
यजूंष्यथ विसृष्टानि याज्ञवल्क्येन वै द्विजाः । जगृहुस्तित्तिरा भूत्वा तैत्तिरीयास्तु ततः स्मृताः ॥ १२ ॥
ब्रह्महत्या व्रतं चीर्णं गुरुणा नोदितं तु यैः । चरकाध्वर्यवस्ते तु चरणान्मुनिसत्तम ॥ १३ ॥
याज्ञवल्क्योऽपि मैत्रेण प्राणायामपरायणः । तुष्टाव प्रणतः सूर्यं यजूंष्यभिलषत्ततः ॥ १४ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच–

नमः सवित्रे द्वाराय मुक्तेरमिततेजसे । ऋग्यजुःसामरूपाय त्रयीधामात्मने नमः ॥ १५ ॥
इत्येवमादिभिस्तेन स्तूयमानः स वै रविः । वाजीरूपधरः प्राह व्रियतामभिवाञ्छितम् ॥ १६ ॥
याज्ञवल्क्यस्तथा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम् । यजूंषि तानि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरौ ॥ १७ ॥

पराशर उवाच–

एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः । अयातयामसंज्ञानि यानि वेत्ति न तद्गुरुः ॥ १८ ॥
यजूंषि यैरधीतानि तानि विप्रैर्द्विजोत्तम । वाजिनस्ते समाख्याताः सूर्याश्वाः स भवेद्यतः ॥ १९ ॥
शाखाभेदस्तु तेषां वै दश पञ्च च वाजिनाम् । कण्वाद्यास्तु महाभाग याज्ञवल्क्यप्रकीर्तिताः ॥ २० ॥ इति

भागवते —

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् । यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहः क्षपणाय गुरोर्व्रतम् ॥ १ ॥
याज्ञवल्क्यस्तु तच्छिष्यः आहाहो भगवन्कियत् । चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ॥ २ ॥
इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितोऽपि ह्यलं त्वया । विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति ॥ ३ ॥
देवरातसुतः सोऽपि छर्दित्वा यजुषां गणम् । ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान्यजुर्गणान् ॥ ४ ॥
भूत्वा तित्तिरयो ब्रह्मन् तल्लोलुपतयाददुः । तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन्सुपेशलाः ॥ ५ ॥
याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधि गवेषयन् । गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम् ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

पहलेही ब्राह्मणके प्रति ऐसी शर्त लगारखी थी। एक वैशंपायनही ऐसा निकला जिसने उसका उल्लंघन किया और वहभी अपनी पत्नी एवं बालकको पैरसे ठुकरानेलगा। शिष्योंसे कहनेलगा कि हे शिष्यों। मेरेलिए ब्रह्महत्या हटानेको तुम तपश्चर्या करनेलगो, इस पर ज्यादह सोचना नही। तब याज्ञवल्क्य ने उससे कहा कि तनिक तेज रखनेवाले इन बहुतसे द्विजोंको व्यर्थ कष्ट देकर क्या लाभ, मैंही इस व्रतका अनुष्ठान करूँगा। तब आगबबूला होकर गुरुने बडे भारी मुनि याज्ञवल्क्य जीसे कहा 'जो तू ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला बनकर इन श्रेष्ठ द्विजोंको तेजोहीन बतलाता है तो तूने मुझसे जो पढलिया है उसे छोडदे। क्योंकि मेरी आज्ञा ठुकरानेवाला शिष्य लेकर मैं क्या करूं।'

तब याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया 'मैंने सिर्फ भक्तिवश यूं कहदिया, अब आपका मुझको कुछ उपयोग नहीं, मैंने जो पढा है वह यहँ धर देता हूं, लो।' पराशर मुनिका कथन है 'ऐसा कहके वह मुनि खूनसे लथपथ अपने रूपवत् यजुःओंको वमन करके दे डालने लगा, पश्चात् इच्छानुकूल वे चले गये। पश्चात् याज्ञवल्क्य के छोड़े हुए उन यजुःओंको द्विजलोग तित्तिरि पंछी बनकर बनकर पकडने लगे अतः वे तैत्तिरीय समझे जाने लगे। जिन्होंने गुरुके कहनेपर ब्रह्महत्या व्रतको पूर्ण किया वे चरकाध्वर्यु होगये। इधर याज्ञवल्क्य भी मित्रतापूर्वक प्राणायाममें निरत होकर यजुःओंकी कामना करता हुआ नम्र बनकर सूर्य भगवानकी सराहना करता रहा।

वे कहने लगे 'मोक्षके मानों द्वारतुल्य, असीम तेजवाले, ऋक् यजुः साममय अतः त्रयीको अपने अन्दर समानेवाले सूर्यको मेरा प्रणाम हो।' ऐसी प्रशंसा इधर प्रचलित हुई और उधर सूर्यदेव

ॐ नमो भगवते आदित्येत्यारभ्य अयातयामयजुःकाम उपसरामीति ।

सूत उवाच -

एवं स्तुतः स भगवान्वाजिरूपधरो हरिः । यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात्प्रसादतः ॥ ७ ॥
यजुर्भिरकरोच्छाखाः दश पञ्च तथा विभुः । जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः ॥ ८ ॥ इति

तत्र भवान् याज्ञवल्क्यः तदिदं सर्वं वेदतत्वं सूक्ष्मया दृशा समीक्ष्य प्रसिद्धे तैत्तिरीयसारस्वतपाठे मन्त्रब्राह्मणसाङ्कर्यं तथा आर्षेयाद्यनियमं चानुलक्ष्य वमनतः तत्परित्यागेन तपसा आदित्यप्रसादाल्लब्धया धिया ब्राह्मणादिसाङ्कर्यरहितं आर्षेयादिपरिक्लृप्तं अत एव यातयामतादिदोषनिर्मुक्तं शुद्धं यजुर्वेदं लब्धवानिति एतावता महता प्रबन्धेन निर्गलितोऽर्थः ।

तत्र हि शुक्लयजुर्वेदे मन्त्रलक्षणोपेतः केवलं ऋग्यजुर्मन्त्रात्मकः चत्वारिंशदध्यायपरिमितः संहिताग्रन्थः, तथा ब्राह्मणलक्षणोपेतः केवलं गद्यरूपः शतपथनामको ब्राह्मणग्रन्थश्चेति ग्रन्थद्वयमेवास्ति प्रसिद्धम् ।

तयोः मन्त्रब्राह्मणात्मकयोः संहिताब्राह्मणग्रन्थयोः परस्परं साङ्कर्याभावात् आर्षेयादिनियमसत्वाच्च शुक्लत्वम् । अतएवायातयामता च । एवमिह एतैर्निमित्तैः वाजसनेयिशाखायाः शुक्लत्वे सिद्धे, पारिशेष्यात् तन्निमित्ताभावादेव तैत्तिरीयसारस्वतपाठस्य कृष्णत्वमिति अर्थात् सिद्धं भवति ।

घोडेका रूप धारण करके बोले ' जो तुम चाहो सो माँग ले । ' तब सूर्यके सम्मुख शीश झुकाकर याज्ञवल्क्य उनसे विनन्ति करने लगे 'जो मेरे गुरुमें मौजूद न हों उन यजुःओंको मुझको दे डाल।' पराशरजी कहते हैं ' ऐसा कहनेपर भगवान सूर्यने उसे वे यजुः समुदाय देदिये जिन्हें उसका गुरुदेव नहीं जानता था और जिन्हें कोई बासी कहनेका साहस न कर सकता । द्विजवर ! जो ब्राह्मण लोग उनका अध्ययन करने लगे वे ' वाजी ' नाम धारी होगये, यह नाम सूर्यके घोडेके रूपसे निकला है । उनके १५ शाखाएं हुई तथा याज्ञवल्क्यके कहनेपर कण्व वगैरह नामोंसे परिचित होगयीं ।

भागवतमें यूं कहा है– चूँकि गुरुके ब्रह्महत्यापापको हटानेकेलिए वे व्रतधारी होगये अतः चरकाध्वर्यु वैशंपायनके शिष्य होगये । उसका शिष्य याज्ञवल्क्य बोलउठा ' भगवन् ' कम शक्तिवालोंकी तपश्चर्यासे भला कितना पाप दूर होगा, लो, मैं बडाही कठिन तपश्चरण करूँगा । ऐसा कहनेपर झल्लाकर गुरुभी कहने लगे, तुझजैसे द्विजोंका अपमान करनेहारे शिष्यसे मुझको क्या लाभ होगा, तू जल्दही मुझसे प्राप्त अध्ययन को छोडदे । वह देवरातका पुत्रभी यजुःसंघको वमनतुल्य फेंकने लगा । उसके चलेजानेपर मुनियोंकी दृष्टिपथमें वे यजुःओंके झुंड उतर आये । तब तित्तिरि पक्षी बनकर बडी लालसासे उन्हें लेनेलगे । वे तब तैत्तिरीय यजुः शाखावाले बनगये । तब याज्ञवल्क्यभी अपने गुरुके अज्ञात छन्दोंको ढूंढता हुआ भगवान सूर्यकी उपासना भलीभाँति करनेलगा । ' मैं भगवान आदित्यको प्रणाम करता हुआ बासी न बनेहुए यजुःकी चाह मनमें रखकर आता हूँ ' ऐसा याज्ञवल्क्य कहनेलगा । सूतजी बोले ' ऐसी सराहना होनेपर भगवान सूर्य अश्वरूप धारण करके प्रसन्नतापूर्वक मुनिको नये यजुःओंके झुंड देनेलगे । प्रभुने यजुःके १५ शाखाएँ बनाडालीं जबकि काण्व माध्यन्दिन वगैरह ऋषि उन अश्वकी रखी हुई संहिता शाखाओंको लेने लगे । '

इस इतने बडे विस्तारका निचोडा हुआ आशय यही है कि, इस सारे वेदतत्त्वको सूक्ष्मदृष्टिसे निरखकर भगवान याज्ञवल्क्यजीने विख्यात तैत्तिरीय सारस्वतपाठमें मंत्रब्राह्मणोंकी मिलावट और आर्षेय वगैरहका अनियम देखकर वमनतुल्य इसका त्याग करके, तप एवं सूर्यकी प्रसन्नता द्वारा बुद्धि बल पाकर, ब्राह्मण इत्यादिकी मिलावट जिसमें न हो तथा आर्षेय वगैरहकी रचना जिसमें हो ऐसे इसीकारणसे बासीपन इत्यादि दोषोंसे रहित विशुद्ध यजुर्वेदको प्राप्त किया ।

उस शुक्लयजुर्वेदमें तो मंत्रोंके लक्षणोंसे युक्त, निरा ऋग्यजुःमंत्रोंका बना एवं चालीस अध्यायोंतक सीमित रहनेवाला संहिता ग्रन्थ और ब्राह्मणके चिन्होंको धारण करनेवाला सिर्फ गद्यमय शतपथ नामक ब्राह्मणग्रन्थ ऐसे दोही ग्रन्थ विख्यात हैं ।

उन मंत्र ब्राह्मणमय संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थोंमें पारस्परिक मिलावट न होनेसे तथा आर्षेय वगैरह नियमोंके पानेसे शुक्लत्व है । इसीकारण बासीपनका अभाव है । इसतरह ऐसे कारणोंसे वाजसनेयी शाखाका विशुद्धत्त्व या शुक्लत्व सिद्ध होने पर शेष यही रहता है कि उनका अभाव होनेसेही तैत्तिरीय सारस्वत पाठका कालापन खुदही स्पष्ट होता है ।

वेदस्य यातयामता

अथ केयं कीदृशी च यातयामता नाम, येन खलु वेदस्यापि दोषत्वमिच्छन्ति। प्रसिद्धं खलु गतरसानां जीर्णभुक्तादीनां अन्नादीनां यातयामतादोषदूषितत्वम्। 'यातयामगतरसं' इति। 'जीर्णं च परिभुक्तं च यातयाममिदं द्वयं' इति अमरः (३।१४१९)। वेदस्य तु स्वयंसिद्धस्यात्यन्तं पवित्रस्य कथं दोषप्रसक्तिः? लोके तु अप्रसिद्धा तद्यातयामतेति किञ्चित् शङ्कास्पदम्। उच्यते– भवति हि वेदस्यापि यातयामतादोषः आर्षेयच्छन्दोदेवताद्यज्ञाननिमित्तः। तथा च छन्दोगब्राह्मणे समाम्नातम्—

"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजते, याजयति वा,ऽध्यापयति वा, यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति स्थाणुं वर्च्छति, गर्तं वा पात्यते, प्रमीयते वा, पापीयान् भवति, तस्मादेतानि मन्त्रे विद्यात्" इति।

मन्त्राणां ऋषि–छन्दो–दैवत-ब्राह्मणादिज्ञानाभावे अन्नादेरिव वेदस्यापि यातयामतादोषः सम्भवतीत्यर्थः। एतेन तैत्तिरीयसारस्वतपाठे, ऋषिछन्दोदैवतनियमाभावात् अव्यवस्थितत्वात् तत्समीकरणासम्भवाच्च, युक्तं यातयामतादोषसत्त्वं, इति सोऽयं ऋष्याद्यनियम एव यातयामतायां प्रधानो हेतुरिति प्रत्येतव्यम्।

अत एव तैत्तिरीयसारस्वतपाठक्रमे तद्दोषनिरसनाशक्यतया ज्ञानमात्रेण तत्सम्भावनार्थं काण्डर्ष्यादिविभागेन ब्राह्मणादिवचनसिद्धः आर्षेयपाठक्रमः समुद्धृतः बौधायनप्रभृतिभिः पूर्वाचार्यैः। तथा च काण्डानुक्रमणिका। "अपि सारस्वते पाठे ज्ञानमात्रमिहेष्यते।" इति प्रतिज्ञाय प्राजापत्यादि पञ्चकाण्डानि उपदिष्टानि। अत एवास्य तैत्तिरीयसारस्वतपाठस्य यातयामतादोषदूषितत्वात् तत्परित्यागेन याज्ञवल्क्यः अयातयामं शुक्लं वेदं तपसा प्राप्तवानिति प्रतीयते।

अत्र यथा विरुद्धजातीयानेकरसादिसांकर्येण कलुषितं, अत एवारुच्या अपाचनादिना कारणान्तरेण वा वमितं, वमनतः

वेदका बासीपन

अच्छा यह बासीपन भला किस ढंगका है जिससे वेदकोभी दूषित किया चाहते हैं। यह तो सबको विदित ही है कि रसहीन बहुत देरतक रखी हुई तथा कुछ खायी हुई अन्न वगैरह वस्तुएँ बासीपनसे दूषित होती हैं। अमर कोषमें यही अर्थ बताया है। लेकिन अत्यन्त पवित्र एवं स्वयंसिद्ध वेदमें भला दोष कैसे लगसकता है? जनतामें कहींभी उसका बासी होना सुना नहीं गया है इसलिए तनिक संदेह मनमें उठखडा होता है। इसपर यूं उत्तर है– ऋषि, छन्द, देवता आदिका अथावत् ज्ञान न हो तो इसीकारणसे वेदकोंभी बासीपनका दोष लगता है। इस बारेमें छन्दोगब्राह्मणमें ऐसा बताया है– "जो कोई ऐसे मंत्रसे कि जिसका ऋषि, छन्द, देवता एवं ब्राह्मण अज्ञात है, यजन करता हो या दूसरोंसे-यज्ञ कराता रहे अथवा ऐसे मंत्र को पढता हो उसके छन्द बासी, रसहीन बनते हैं, वह ठूँठकी दशाको चलाजाता है उसे गड्ढेमें डालते हैं या वह विनष्ट होता है किंवा उसे पाप लगता है; इस कारणसे हर मंत्रमें उपर्युक्त बातोंकी जानकारी प्राप्त करे।"

मतलब यही कि मंत्रोंके ऋषि, छन्द, दैवत तथा ब्राह्मण वगैरह की जानकारी न होनेपर अन्नके समानही वेदभी बासी पनसे दूषित बनजाता है। इससे यही समझना चाहिए कि तैत्तिरीय सारस्वत पाठमें ऋषि, छन्द, दैवतका नियम न होनेसे व्यवस्थाका अभाव एवं उसका समीकरणभी असंभव होनेसे बासीपनका दोष आस्तित्वमें आना उचित जानपडता है; अतः यह ऋषि वगैरहका अनियम ही उस वेदके बासीपनमें मुख्य कारण है।

इसलिए तैत्तिरीय सारस्वतपाठक्रममें उस दोषको हटाना असंभव होनेसे सिर्फ ज्ञानके आधारसे उसकी संभावना करनेकेलिए काण्ड, ऋषि आदिके विभागसे, ब्राह्मण वगैरहके वचनोंसे सिद्ध आर्षेय पाठक्रमको बौधायनसदृश पूर्व कालीन आचार्योंने बनाया और उसीतरह काण्डोंकी अनुक्रमणिकाभी तैयार करडाली। 'सारस्वत-पाठमेंभी ज्ञानमात्रकी अपेक्षा की गयी है' ऐसी प्रतिज्ञा करके प्राजापत्य जैसे पाँच काण्डोंका उपदेश किया है। इस कारणसे ऐसा ज्ञानपडता है कि याज्ञवल्क्यने बासीपनके दोषसे दूषित होनेसे तैत्तिरीय सारस्वतपाठका त्याग करचुकनेपर तपकी सहायतासे नये एवं शुक्ल वेदको प्राप्त किया था।

यहाँपर ऐसा समझना ठीक है कि जिसप्रकार एक दूसरेसे अत्यंतही विभिन्न कई रसोंकी मिलावटसे बिगडे हुए और इसीलिए अरुचि, अपचन वगैरह दूसरे कारणोंसे उलटी किए हुए, वमनद्वारा

उदरान्निर्गतं अन्नादिकं तित्तिरिः पक्षिविशेषः स्वजीवनार्थं शुद्धपदार्थान्तरसम्पादने सामर्थ्याभावेन अलसः, अतः तस्मिन् वमितान्ने लोलुपः सन् तज्जक्षिति । तथैव वैशम्पायनशिष्या अपि याज्ञवल्क्येन यातयामतादोषदूषितत्वाद्वमितं तत्र अरुच्या वमितं वमनवत् परित्यक्तं तैत्तिरीययजुर्वेदं, स्वातन्त्र्येण तपसा शुद्धवेदान्तरप्राप्तिसामर्थ्याभावेन तल्लोलुपाः सन्तः, अविचार्यैव सहसा स्वीकृतवन्तः इत्युन्नीयते ।

'भूत्वा तित्तिरयो ब्रह्मन् तल्लोलुपतयाददुः ' इति स्पष्टार्थवचनात् । तस्मात् तित्तिरिवद् वमितग्रहणवृत्तयः इति तित्तिरिवृत्तयः सन्तः ते तित्तिरयः, तदुदितानुवादिनस्तदनुयायिनस्तैत्तिरीया इति वक्तव्यमापतति ।

याज्ञवल्क्येनाधीतस्य शब्दराशेर्यजुर्वेदस्य वमनं तु पुनरनुच्चारणप्रतिज्ञापूर्वकं परित्यागरूपं आन्तरं सूक्ष्ममेव, न तु अन्नादिकमिव बाह्यं स्थूलं, येन वैशम्पायनशिष्यैः पक्षिरूपेण तित्तिरिभावेन तद् भक्ष्येत, अथवा येन तद्वमितवेदस्य भक्षणार्थं वैशम्पायनशिष्याणां साक्षात्तित्तिरिपक्षिरूपग्रहणप्रसङ्गः समापद्येत । तथा वैशम्पायनशिष्याणां तित्तिरिभावोऽपि वमितग्रहणलोलुपतारूप एव भवितुमर्हति, न तु साक्षात्तित्तिरिपक्षिरूपतापत्तिः, येन याज्ञवल्क्येन वमितो वेदः तित्तिरिभक्षणार्हः अन्नादिवत् स्थूलः स्यात् । एवं तद्वमितवेदभक्षणमपि अन्यपरित्यक्तवेदस्वीकाररूपमेवेति निश्चितोऽर्थः ।

एवं तित्तिरिपक्षिवृत्तिमात्रेण याज्ञवल्क्यपरित्यक्तवेदग्रहणरूपेण ते तैत्तिरीया अभवन्निति सर्वं सम्पद्यते । एतेन तदर्थं प्रदर्शितः पौराणिकः इतिहासः अर्थवाद एवेत्युक्तं भवति ।

आचार्यः तित्तिरिः

वस्तुतस्तु एतच्छाखाप्रवर्तकः तित्तिरिनामकः कश्चिदाचार्य एव, येन तन्नाम्नैवैषा शाखा प्रसिद्धा, यथा वेदान्तरे शाकलबाष्कलकाण्वमाध्यन्दिनादयः इत्येव प्रतीयते । तथा च काण्डानुक्रमणिकायां तैत्तिरीयशाखाप्रवक्तारः प्रसिद्धाः ।

पेटसे बाहर निकाले हुए अन्न इत्यादि वस्तुको, तित्तिरि नामक एक पंछी अपने जीवननिर्वाहके लिए दूसरे विशुद्ध पदार्थ पानेमें असमर्थ होनेकी वजहसे सुस्त बनकर, उस वमन किये हुए अन्नको तीव्र लालसासे खानेलगता है; ठीक वैसेही वैशंपायनके शिष्योंनेभी याज्ञवल्क्यके वमन किए हुए, याने बासीपनके दोषसे दूषित होनेसे बडी अनिच्छासे वमनकी भाँति छोडे हुए तैत्तिरीय यजुर्वेदको, स्वतंत्रता पूर्वक तपसे शुद्ध अन्य वेदको पानेकी क्षमता न रहनेसे, बिना किसी विचारके तुरन्तही ललचाए हुए दिलसे स्वीकृत किया ।

कारण यही कि ऐसा स्पष्ट कथन पाया जाता है 'तित्तिरि बनकर लालचभरे ढंगसे उसका स्वीकार किया । ' अतः तित्तिरिके तुल्य वमन किए हुएको ग्रहण करनेवाले, तित्तिरिके समान आचरण करनेहारे वे उस कहे हुएको दोहरानेवाले हैं तथा उनके अनुयायी तैत्तिरीय समझे जाते हैं ऐसा कहना पडता हैं ।

याज्ञवल्क्यके पढे हुए शब्दसमूहमय यजुर्वेदके वमन करने का तात्पर्य सूक्ष्मरूपसे यही होसकता कि, फिरसे इसका उच्चारण नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके उसने उसका पूर्ण त्याग किया, नाकि अन्नसदृश स्थूल बाह्य अर्थमें लेना चाहिए ताकि वैशंपायनके शिष्य पंछीके रूपमें बदलकर तित्तिरि बनकर उसे हडपजायँ या जिससे इस वमन किए हुए वेदको खानेकेलिए वैशंपायनके शिष्योंको सचमुच तित्तिरि पंछीका रूप धारण करनेका मौका मिले । उसीप्रकार वैशंपायनशिष्योंका तित्तिरि बनना यही बतानेकेलिए है कि पूर्णतया छोडे हुएका ग्रहण करनेमें उन्होंने तीव्र लालसा दर्शायी, नकि सचमुचही वे तित्तिरि पंछीका रूप धारण कर आये थे, नहीं तो याज्ञवल्क्यके उल्टीद्वारा फेंके हुए वेद को पंछीके खानेलायक अन्न जैसे स्थूल रूप देना होगा । उसी भाँति, उनके फेंके हुए वेदका खाजाना भी दूसरों के छोडे हुए वेदका स्वीकार करनाही है यह निश्चित है ।

अब इससे स्पष्ट ज्ञान हुआ होगा कि तित्तिरि पंछी जैसा बर्ताव करनेमात्रसे अर्थात् याज्ञवल्क्यके छोडे वेदका ग्रहण करलेनेसे वे तैत्तिरीय बनगये । इसीसे यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि उस बातका स्पष्टीकरण करनेकेलिए बताया हुआ पुराणका इतिहास सिर्फ अर्थवादही है ।

आचार्य तित्तिरि

वास्तवमें देखे तो तित्तिरि नामक कोई आचार्य ही इस शाखाको अस्तित्वमें लानेवाला है जिससे यह शाखा उसीके नामसे प्रसिद्ध हुई है जैसे अन्य वेदोंमें शाकल, बाष्कल, काण्व, माध्यन्दिन इत्यादि पाये जाते हैं । और काण्डोंकी अनुक्रमणिकामें तैत्तिरीय शाखाके प्रवचन करनेहारे विख्यात हैं जैसे,

"वैशम्पायनो यास्कायैतां शाखां प्राह पैङ्गये। यास्कः पैङ्गिस्तित्तिरये उखाय प्राहतित्तिरिः ॥
उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने । तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयी इति प्रोच्यते ॥ इति
अत एव चरणव्यूहपरिभाषायां शौनकोक्तिः सङ्गच्छते 'तत्र तैत्तिरीयकानां द्विभेदा भवन्ति, औख्या खाण्डिकेयाश्चेति'
"तत्र खाण्डिकेयानां पञ्चभेदा भवन्ति, कालेया शाट्यायनी हैरण्यकेशी भारद्वाजी आपस्तम्बी चेति" (च० प० सूत्रे)
तथा "आपस्तम्बी बौधायनी सत्याषाढी हिरण्यकेशी भारद्वाजीति' अत्र कालेया शाट्यायनीति द्वे मूलोक्ते,
तयोः स्थाने बौधायनी औधेया इति बोध्ये, इति तद्भाष्ये च उल्लिखितम् ।

तैत्तिरीयशाखायाः मन्त्रपरिमाणादिकम्

'तेषामध्ययनमष्टादशयजुःसहस्राणि' इति चरणव्यूहपरिभाषासूत्रे उक्तं, तत्परिमाणं च भाष्ये वर्णितम्–
काण्डास्तु सप्त विज्ञेयाः प्रश्नाश्चाधिक्यकाश्चतुः । चत्वारिंशत्तु विज्ञेया अनुवाकाः शतानि षट् ॥ १ ॥
एकपञ्चाशदधिकाः सङ्ख्याः पञ्चाशदुच्यते । द्विसहस्रं चैकशतमष्टानवति चाधिका ॥ २ ॥
लक्षैकं तु द्विनवति सहस्राणि प्रकीर्तितम् । पदानि नवतिश्चैव तथैवाक्षरमुच्यते ॥ ३ ॥
लक्षद्वयं त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि शताष्टकम् । अष्टषष्ट्याधिकं चैव यजुर्वेदप्रमाणकम् ॥ ४ ॥
अस्यार्थः भाष्योक्तः– काण्डाः ७; प्रश्नाः ४४; अनुवाकाः ६५१; पञ्चोनाशी पञ्चाशती २१९८; पदानि १९२०९०; अक्षराणि २५३८६८; इति संहितायाः ।
शाखावाक्यान्ययुतानि सहस्राणि नवानि च । चतुःशतान्यशीतिश्च अष्टौ वाक्यानि गण्यते ॥
इति ब्राह्मणे वाक्यसङ्ख्या १९४८८ इति ।
अत्र संहिता–ब्राह्मणं–आरण्यकं चेति ग्रन्थत्रयविशिष्टस्य समग्रस्य तैत्तिरीययजुर्वेदस्य सप्तकाण्डाः भवन्ति; ४४ प्रश्नाः, ६५१ अनुवाकाः; २१९८ पञ्चाशती; १९२९० पदानि च केवलं संहिताग्रन्थस्येति ज्ञेयं, वाक्यानि तु ब्राह्मणग्रन्थस्यैव ।
अत्र ऋग्यजुर्मन्त्रपरिमाणं नोक्तम् । न तु संहिताग्रन्थमात्रे यजुर्वेदः सम्पूर्णः । ब्राह्मणारण्यकयोरपि ऋग्यजुर्मन्त्रबाहुल्यसत्वात् । तत्परिमाणं काण्डविभागे आर्षेयपाठे प्रपञ्चते । 'तेषामध्ययनमष्टादशयजुःसहस्राणि' इति परिमाणं तु समग्र-

---

"पैङ्गि यास्कको वैशंपायनने यह शाखा बतलादी और उसने तित्तिरिको कहडाली । पश्चात् उखको यह ज्ञात हुई तथा उखके जरिये कीर्तिमान आत्रेय इससे परिचित हुए । उन की रची हुई होनेसे इस शाखाको आत्रेयी नाम मिल गया है ।

इसीकारण चरणव्यूहपरिभाषामें शौनकका यह कथन कि 'वहाँ तैत्तिरीयकोंके दो भेद औख्य एवं खाण्डकेय ऐसे हैं' 'उधर खाण्डिकेयोंके ५ भेद हैं जैसे कालेय, शाट्यायन, हैरण्यकेशी, भारद्वाजी एवं आपस्तंबी ।' उचित जान पडता है । वैसेही उस भाष्यमें ऐसा उल्लेख किया है कि आपस्तंबी बौधायनी, सत्याषाढी, हिरण्यकेशी, भारद्वाजी' इसमें 'कालेय, शाट्यायन' इन दो मूलोक्तोंमें 'बौधायनी एवं औधेय हैं' ऐसा समझना ठीक ।

तैत्तिरीय शाखाके मंत्र परिमाण इत्यादि

चरणव्यूह परिभाषासूत्रमें कहा है कि 'उनका अध्ययन करना है और वे १८ हजार यजुः हैं ।' भाष्यमें उनका परिमाण यूँ बताया है 'काण्डसंख्या ७ है ऐसा समझना; प्रश्न ४४ हैं; अनुवाक ६५१ हैं; पचासीकी संख्या २१९८ है; पदसंख्या १९२०९० है, अक्षरसंख्या २५३८६८ है। यह संहिताके विषयमें है । 'शाखावाक्योंकी गिनती यूँ है, १० हजार, ९ सहस्र ४ सौ अठ्यासी है । इससे निश्चित हुआ कि ब्राह्मण में वाक्योंकी संख्या १९४८८ है ।

यहाँपर ऐसा समझना ठीक है कि संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक इस भाँति तीन ग्रन्थोंसे विशिष्ट प्रतीत होनेवाले समूचे तैत्तिरीय यजुर्वेदके सात काण्ड होते हैं; चवालीस प्रश्न, छहः सौ एक्कावन अनुवाक, दो सहस्र एक सौ अठ्ठान्नबे पचासियाँ (पचास पचासकी गिनतियाँ) और एक लाख ब्यान्नबे हजार नब्बे पद तो सिर्फ संहिताग्रन्थमें ही उपलब्ध होते हैं तथा वाक्यसंख्या ब्राह्मणग्रन्थमें ही पायी जाती है ।

यहाँपर यह नहीं कहा कि ऋक् यजुः मंत्रोंका परिमाण क्या हो । यजुर्वेद तो संहिताग्रन्थमात्रमें पूर्ण नहीं बनता क्योंकि ब्राह्मण एवं आरण्यकमें भी ऋचाएँ तथा यजुःमंत्र अधिक संख्यामें पाये

यजुर्वेदस्यैव भवितुमर्हति । तत्र ऋचां परिमाणं पृथक् नोक्तम् । नापि तत्केवलानां यजुषाम् । ऋग्यजुःसामान्येन अष्टादशसहस्राणि, यजूँषि यजुर्वेदमन्त्राणि भवन्तीत्यर्थः । शुक्लयजुर्वेदे तु ऋग्यजुर्विभागेन परिमाणं दर्शितम् । तत्रापि नियतरूपत्वात् ऋचामेव सङ्ख्यापरिमाणं स्पष्टम् । तदतिरिक्तानां यजुष्ट्वमिति पारिशेष्यात् सिध्यतीति तदपि न पृथग्दर्शितं यजुःपरिमाणम् ।

द्वे सहस्रे शते न्यूने मन्त्रे वाजसनेयके । ऋग्गणः परिसङ्ख्यातस्ततोऽन्यानि यजूꣳषि च ॥
अष्टौ शतानि सहस्राणि चाष्टाविंशतिरन्यान्यधिकश्च पादमेतत्प्रमाणं यजुषां हि केवलं सवालखिल्यं सशुक्रियं ब्राह्मणं च चतुर्गुणम् । इति (च० प० सूत्रम्) एवं शुक्लयजुर्वेदस्य वाजसनेयीसंहितायां ऋङ्मन्त्राः १८०० ।

तैत्तिरीयसारस्वतपाठेऽवान्तरविषयविचारः

सारस्वतपाठे संहिता-ब्राह्मण-आरण्यकेषु त्रिष्वपि ग्रन्थेषु पञ्चाशत्पदेषु विरामः (पञ्चाशतिः), प्रतीकपाठः, प्रतीकमात्रस्य पदक्रमादिपाठश्च, ऋग्यजुर्मन्त्रयोः सङ्कलनमविभागेन, मन्त्रानुषङ्गः, ऋङ्मन्त्रेषु पादादिनियमातिक्रमः, ऋचां छन्दोनियमभङ्गेन मन्त्रविभागनियमातिक्रमः, आर्षेयाद्यनियमः, तेन च यथाशास्त्रं तदध्ययनाशक्यता चेत्येवमादयो बहवो विषयः सन्ति विचारणीयाः, ते च क्रमशः विचार्यन्ते ।

पञ्चाशत्पदेषु विरामः

विद्यार्थिनामध्ययनादिसौकार्यार्थं दीर्घेऽनुवाके पञ्चाशत्पदेषु विरामः कल्पितः, तस्य च पञ्चाशदिति संज्ञाऽपि प्रसिद्धा। तादृशाः पञ्चाशत्यः २१९८ सन्तीत्युक्तं पुरस्तात् । तत्र क्वचिद् यजुर्मन्त्रमध्ये, क्वचित् ऋङ्मन्त्रमध्ये, क्वचित्तु उपसर्गक्रियापदयोर्मध्येऽपि, स पञ्चाशद्विरामो भवति । तद्यथा यजुर्मन्त्रमध्ये पञ्चाशत्—

जाते हैं । उसके परिमाणको काण्डविभागके आर्षेय पाठमें विस्तारपूर्वक बताया है । ' उनका अध्ययन, अठारह हजार यजुः ' यह अनुपात तो समूचे यजुर्वेदके लिए ही लागू हो सकता है । वहाँपर ऋचाओंका अनुपात अलग नहीं बताया है और नाही सिर्फ यजुःओंकाही । मतलब यही कि ऋचा एवं यजुः दोनोंको समान मानकर यजुः अर्थात् यजुर्वेदमंत्रोंकी संख्या अठारह हजार होती है । शुक्ल-यजुर्वेदमें तो ऋचाओं तथा यजुःओंका बँटवारा करके अनुपात दर्शाया है । वहाँपर भी, स्वरूप निर्धारित होनेसे ऋचाओंकी ही संख्याका परिमाण स्पष्ट है । अब उनके सिवा जो मंत्र शेष रहते हैं उनका यजुःपन परिशिष्टके तौरपर सिद्ध होता है इसीकारणसे वह यजुःका परिमाण भी निराला नहीं दर्शाया है ।

' वाजसनेयी मंत्रसंग्रहमें दो सहस्र सौ कम हैं, ऋचाओंका समूह गिनाया गया है और उससे विभिन्न यजुः हैं । आठ सौ सहस्र तथा दूसरे अट्ठाईस, ज्यादा पाद ऐसा केवल यजुःओंका परिमाण है; शुक्र एवं वालखिल्यके साथ ब्राह्मण चौगुना है । ' चरण व्यूहपरिभाषासूत्र; इस तरह शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी संहितामें ऋचामंत्र १८०० हैं ।

तैत्तिरीयसारस्वतपाठमें दूसरे विषयोंका विचार

सारस्वतपाठके संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक तीनों ग्रन्थोंमें पचास पदोंके आनेपर (पचासी) ठहरना, प्रतीकका पाठ, जो सिर्फ प्रतीकही है उसका पदक्रम इत्यादि पाठ, ऋचामंत्र एवं यजुः मंत्रोंका बिना विभागके जोड करदेना, मंत्रोंका अनुषङ्ग, ऋग्वेदके मंत्रोंमें चरण इत्यादि नियमोंका उल्लंघन, ऋचाओंके छन्दविषयक नियमका भंग होनेसे मंत्र विभागके नियमकी ओर ध्यान न देना, आर्षेय सदृश आनियम अतएव शास्त्रनियमोंके अनुकूल उसका अध्ययन करनेकी अशक्यता वगैरह बहुतसे सोचनेयोग्य विषय हैं जिनका अब क्रमपूर्वक विचार किया जायगा ।

पचास पदोंके आनेपर ठहरना

लंबे अनुवाकमें विद्यार्थियोंको पढाईमें सुगमता हो इसलिये पचास पद हुए कि रुकजाना उचित माना है जिसे पचासी ऐसा नाम भी दिया है । पहले कहा जा चुका है कि इस भाँतिकी पचासियाँ २१९८ हैं । अब ऐसा है कि कही यजुर्मन्त्रके बीचमें, किसी स्थानपर ऋग्वेदमंत्रके मध्यमें, तो एकाध जगह उपसर्ग और क्रियापदके बीचमें ही वह पचासीपर ठहरना दीख पडता है । उदाहरणके लिए, यजुर्मन्त्रमें पचासी जैसे,

'मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रेक्षे मा भेर्मा सं विक्था मा त्वा हि^ँसिषम् ।' (तै० सं० १।१।४।७) इत्यस्य यजुर्मन्त्रस्य मध्ये 'मा त्वा (१) हि^ँसिषमुरुवाताय ।' इति विरामः क्लृप्तः, अध्ययनादौ पञ्चाशत्पदेषु विरामेणैव पाठ-क्रमः, विनियोगे तु 'मा त्वा हि^ँसिषम्' इति एतदन्तमेव, यजुर्मन्त्रानुवचनमस्ति ।

तत्र 'पुरोडाशान्प्रेक्षते मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रेक्षे० मा त्वा हि^ँसिषमिति' बौधायनसूत्रे विधानात् । तथैव 'अपहतोऽररुः पृथिव्यै देवयजन्यै व्रजं (१) गच्छ गोस्थानम् ।' इत्यत्र 'व्रजं गच्छ गोस्थानम्' इति यजुर्मन्त्रः । (तै० सं० १।१।९।८-९), एवमेव सहस्रशः स्थानेषु विद्यते । अथ ऋङ्मन्त्रमध्ये पञ्चाशत्—

'त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः' इतीयमृक् (तै० सं० १।२।३।४) प्रसिद्धा, तत्र 'त्वं (१) यज्ञेष्वीड्यः' इति पञ्चाशत्पदविरामः । 'यो नो दूरे अघश^ँसः (१) । स ते (२) जानाति सुमतिं यविष्ठ । वावाता जरतां (३) इयं गीः । महो रुजामि (४) बन्धुता वचोभिः । नाह (५) देभुः । स नो दिवा (६) स रिषः पातु नक्तम् । (तै० सं० १।२।१४।३,६,८,११,१३,१६) इत्यादिषु सहस्रशः स्थानेषु विद्यते । उपसर्गक्रियापदयोर्मध्ये पञ्चाशद्विरामः 'इषमूर्जमहमित आ (१) दद ऋतस्य धाम्नो अमृतस्य योनेः ।' (तै० सं० ४।२।७।४) इत्यत्र 'आ ददे' इति योगः । 'निर्वपामि महीनां पयोऽसि ।' इत्यत्र (तै० सं० १।१।१०।११) निः (२) वपामि । इति विरामः । एवं द्वयोर्ऋङ्मन्त्रयोः सङ्कलनम् । (तै० सं० १।२।१३।४-५) 'इदं विष्णुः' पदम् । 'समूढमस्य (१) पा^ँसुरः इरावती ।' इति पाठः ।

अत्र यजुर्मन्त्राणां पादाक्षरादिनियमाभावात् यत्रकुत्रापि विरामे यजुर्मन्त्रद्वयसङ्कलनेऽपि न दोषः इति केषां चित्समाधानम् । ऋङ्मन्त्राणां तु पादार्धर्चादिमन्तरा अन्यत्र मध्ये एव यत्रकुत्रापि विरामः अन्यत्र वेदेषु न श्रुतः ।

"पच्छोऽर्धर्चशो नवानमिति" पाठे उपदेशादौ यज्ञादिविनियोगेऽपि पादेऽर्धर्चे च अन्ते विरामः शास्त्रविहितः, तेन ततोऽन्यत्र पादमध्ये यस्मिन्कस्मिँश्चित्पदे विरामः पाठसौकर्यार्थं क्लृप्तोऽपि अशास्त्रीय एवेति सिध्यति ।

पदार्धर्चऋगादिविभागमन्तरेण अन्यथा विभागेन वेदमन्त्राणां विनियोगं अध्ययनं वा कर्तुं नास्ति कस्याप्यधिकारः ।

तै. सं. १।१।४।७ के 'मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रेक्षे मा भेर्मा सं विक्था मा त्वा हि^ँसिषम् ।' इस यजुर्मंत्रके मध्यमें 'मा त्वा (१) हि^ँसिषमुरुवाताय ।' ठहरना निश्चित किया है क्योंकि अध्ययनके प्रारम्भमें पचास पदोंके होनेपर तनिक ठहरकरही पढनेका क्रम है पर विनियोगमें तो 'मा त्वा हि^ँसिषम्' यहाँतकही यजुःमंत्रका उच्चारण होता है । बौधायनसूत्रमें ऐसा विधान किया है कि 'मित्रस्य त्वा...... त्वा हि^ँसिषम्' इससे पुरोडाशोंको देखलेता है । इससे उपर्युक्त बात ठीक है। ठीक इसीप्रकार 'अपहतोऽररुः पृथिव्यै देवयजन्यै व्रजं (१) गच्छ गोस्थानम् ।' यहाँपरभी 'व्रजं गच्छ गोस्थानम्' ऐसा यजुर्मन्त्र है, देखो तै.सं. १।१।९।८-९। इसीतरह हजारों स्थानोंमें यही तरीका मौजूद है । अब तै० संहितान्तर्गत ऋग्वेदमंत्रमें पचासीका स्थान देखिए ।

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥

यह विख्यात ऋचा तै. सं १।२।३।४ में है जहाँपर 'त्वं (१) यज्ञेष्वीड्यः' ऐसा पचासीका ठहरना किया है । यही ढंग तै. सं. के १।२।१४।३,६,८,११,१३,१६ वगैरह हजारों स्थानोंमें दीखपडता है । अब उपसर्ग तथा क्रियापद के बीच पचासीपर रुकजानेके उदाहरण देखिए तै. सं. ४।२।७।४ और १।१।१०।११ पर । इस तरह दो ऋचामंत्रोंका जोड बनता है । देखो तै. सं. १।२।१३।४–५ में पद एवं पाठ ।

अब यहाँपर कुछ लोग ऐसा समाधान मानते हैं कि, यजुर्मन्त्रोंका पाद अक्षर इत्यादिके संबंधमें नियम नहीं है इसकारण जहाँकहींभी ठहरनेमें तथा दो यजुःमंत्रोंको जोडनेमेंभी कोई हर्ज नहीं । पर ऋचामंत्रोंमें चरण तथा आधी ऋचा आदि स्थान छोडकर दूसरी जगह बीचमेंही जिधर चाहे वहाँ ठहरना अन्य वेदोंमें नहीं सुना गया है ।

ऐसा कहकर कि 'पच्छोऽर्धर्चशो नवानमिति' उपदेशमें, यज्ञ इत्यादि विनियोगके अवसरपरभी, चरण, तथा आधी ऋचामें ठहरना शास्त्रके अनुकूल है; इससे यही सिद्ध होता कि उसके सिवा अन्य स्थानोंमें जिस किसी पदमें ठहरना यद्यपि पढनेकी सुविधाकेलिए ही सही चलाया हो तथापि शास्त्रके विरुद्धही है ।

पाद, ऋचार्थ एवं ऋचा इत्यादि विभागोंके सिवा दूसरे किसी विभागकी सहायतासे वेदमंत्रोंका विनियोग या अध्ययन करनेका

" ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः अथ सावित्रीं गायत्रीं त्रिरन्वाह पच्छोऽर्धर्चशोऽनवानमिति " (तै० आ० २।११) ब्रह्मयज्ञादिषु तत्रैव विधानात् । तस्माद्यथाशास्त्रमेव ऋग्यजुर्मन्त्राणां विभागेनैव अध्ययनं तथा विनियोगादिकं च युक्तमित्युन्नीयते । यजुर्वेदे गद्यरूपेण यजुर्मन्त्राणां अविभागेन पाठपद्धतेः । ऋचामपि स एव न्यायो यजुर्मन्त्रपङ्क्तिमध्यपातित्वेन आपतितः । ऋग्यजुर्मन्त्रान्तरेण क्वचिद् ब्राह्मणवाक्येनापि सङ्कलनप्रसङ्गः । वस्तुतस्तु यजुषामपि मन्त्रविभागेनैव अध्ययनादिषु नियमे आदरणीये युक्ते सति, ऋचामपि तादृश एवानियमः सम्प्राप्तः सङ्कलनेन सह पाठमात्रेणेति शोचनीयमेवेदम् ।

मन्त्रप्रतीकपाठः

सारस्वतपाठक्रमे पूर्वं एकदा आनुपूर्व्येणागतानां द्वित्राणां बहूनां वा मन्त्राणां उत्तरत्र विनियोगावसरे पुनः पठितव्यानां ज्ञापनार्थं मन्त्रप्रतीकमात्रं यत्र पठ्यते, स प्रतीकपाठः ।

तद्यथा– **' आप्यायस्व सं ते ।' ' त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने ।'**
' उदु त्यं चित्रम् ।' ' इमं मे वरुण तत्त्वा यामि ।'

इत्यादयः प्रतीकपाठाः शतशो विद्यन्ते । तत्र तावन्मात्रस्य प्रतीकस्य मन्त्रत्वाभावात्, प्रतीकमात्रपठनं निरर्थकमेव । ज्ञापनमात्रार्थमेव तत्र तत्प्रतीकपठनमिति चेत्, तावन्मात्रस्य पदक्रमादिपठनमकिञ्चित्करमेव । प्रतीकमात्रस्यैव पदक्रमादिपठनपद्धतिरस्ति । अथाध्ययनमात्रे तथा पठितेऽपि, प्रयोगे समग्रमन्त्रपाठोऽस्ति तस्मान्न दोषः इति चेत्, तदप्यसङ्गतमेव " यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति " इति श्रुतेः, स्वाध्यायाध्ययने ब्रह्मयज्ञादौ च तत्तद्यज्ञीयमन्त्रपठनमात्रेण तत्तद्यज्ञनिष्पत्तिदर्शनात् । यथा ऋग्वेदे तु समानरूपेण पठितानामृचां पदपाठे गणन्तपाठो न शास्त्रीयः, तावन्मन्त्रावयवविच्छेदात्, तथा प्रतीकमात्रपाठोऽपि न शास्त्रीयः ।

अधिकार किसीको भी नहीं । देखो तै. आ. २।११ का ऊपर दिया हुआ वचन जिससे स्पष्ट होगा कि ब्रह्मयज्ञ इत्यादिमें वैसेही विधान किया है । इसलिए ऐसाही अनुमान करना ठीक है कि शास्त्रानुकूल ढंगसेही ऋग्वेदमंत्रों तथा यजुर्मन्त्रोंका विभागपूर्वक अध्ययन एवं विनियोग करना ठीक है । यजुर्वेदमें तो गद्यके रूपमें यजुर्मन्त्रोंका विभाग न करते हुए ही पाठ करनेकी प्रणाली है । अतएव, यजुर्मन्त्रोंके मध्य स्थान पालेनेसे वही न्याय ऋचाओंके लिए भी लागू होगया है । ऋग्वेद मंत्र एवं यजुर्वेदमंत्रोंके अतिरिक्त कहीं कहीं ब्राह्मणवाक्यसेभी जोडनेका अवसर आता है ! वास्तवमें देखा जाय तो मंत्रविभागसेही यजुःओंकीभी अध्ययन वगैरहमें नियमव्यवस्था ठीक एवं योग्य होनेपर, मिलाकर पढनेमात्रसे ऋचाओंके लिए भी वही अनियम लागू करना पडता है, यह सचमुच शोककी बात है ।

मंत्रप्रतीकका पाठ

सारस्वतपाठक्रममें पहले एक बार एकके पीछे एक लगातार आये हुए दो, तीन या बहुतसे मंत्रोंके आगे चलकर विनियोगके मौकेपर फिरसे पढनेकी जरूरत होनेपर उनकी सूचना देनेकेलिए जब मंत्र प्रतीक मात्र पढा जाता है तो उसे प्रतीक पाठ ऐसा नाम दिया जाता है । जैसे उदाहरणकेलिए, **' आप्यायस्व सं ते... ।' ' त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने ।' ' उदु त्यं चित्रं ।' ' इमं मे वरुण तत्त्वा यामि ।'** इसभाँतिके सैकडों प्रतीकपाठ मौजूद हैं । अब ऐसे स्थानोंपर, सिर्फ उतने प्रतीककोही मंत्रपन मिलना असंभव होनेसे, निरे प्रतीककाही पढलेना बेकारही है । यदि कहो कि सिर्फ जतलाने के लिए ही वहाँपर वह प्रतीकका पढना रखा है तो, केवल उतनेहीका पदक्रम वगैरह पढना कुछभी नहीं महत्त्व रखता । क्योंकि प्रतीक मात्रका ही पदक्रम वगैरह पढने की प्रथा जारी है । अच्छा, अगर यूं कहें कि अध्ययनमेंही उस ढंगसे पढनेपरभी, प्रयोगमें तो समूचे मंत्रको पढना पडता है इसकारण दोष नहीं होता है, तो यह प्रतिपादन भी विसंगत दीखपडता है। क्योंकि श्रुतिके इस कथनपर से कि ' जिस जिस क्रतुका अध्ययन करता है उसीसे उसका इष्ट सिद्ध होता है ' स्वाध्याय, अध्ययन, ब्रह्मयज्ञ आदिमें उस उस यज्ञके मंत्रके पढनेमात्रसे उस उस यज्ञकी पूर्तिका दर्शन हो जाता है । जैसे ऋग्वेदमें तो समानरूपसे पढी हुई ऋचाओंके पदपाठमें गणन्तपाठ शास्त्रानुकूल नहीं ठहरता क्योंकि उतने मंत्रका अवयव अलग किया जाता है वैसेही प्रतीकमात्रका पढनाभी शास्त्राविरुद्ध है ऐसा मानना ठीक है ।

ऋग्वेदेऽपि गणन्तपदपाठोऽशास्त्रीयः

ऋग्वेदे गणन्तपाठः— ऋक्संहितायां पूर्वं कस्मिँश्चिन्मन्त्रे समानानुपूर्व्येण आगतानां त्रयाणां पदानां ततोऽप्यधिकानां वा पदपाठे उत्तरत्र पुनः तथैव पाठे तावन्मात्रस्य परित्यागेन मन्त्रशेषपाठ एव गणन्तपाठः इत्युच्यते । क्रमपाठे तु स गणन्तपाठः संहितारूपेण पठ्यते । पदपाठे एव गणन्तपाठोपहितः तावान् मन्त्रावयवो लुप्यते । यदि पदपाठः शास्त्रीयस्तर्हि गणन्तपाठः अध्ययनपरम्पराप्राप्तोऽप्यशास्त्रीय एव । तत्र तावन्मन्त्रावयवलोपात् । यत्र वेदमन्त्रेषु स्वरवर्णमात्रालोपादिः स्वल्पोऽप्यपराधो महतेऽनर्थाय कल्पत इति वदन्ति, तत्र पदपादादिलोपव्यत्यासात्मापराधः कथमक्षम्यो न भवेत् ?

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥'

इति वेदाङ्गशिक्षोपदेशः प्रसिद्धतरः । संहिता-पद-क्रमरूपस्य स्वाध्यायस्य शास्त्रीयत्वं च श्रुतिसिद्धं, तच्च यथाशास्त्रमेवादरणीयम् । तथा च त्रिगुणपाठानुवचनमनुश्रूयते— 'अथातो निर्भुजप्रवादाः० यद्धि सन्धिं विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपं, अथ यच्छुद्धे अक्षरे अभि व्याहरति तत्प्रतृण्णस्य, अग्र उ एवोभयमन्तरेणोभयं व्याप्तं भवति' इति (ऐ० आ० ३।३)। तत्र द्वयोः पदयोरक्षरयोर्वा यः सन्धिः तस्याविच्छेदेनाध्ययनं तन्निर्भुजं संहितापारायणम् । द्वयोः पदयोः सन्धिराहित्येनोच्चारणं प्रतृण्णं पदपारायणं, निर्भुजं प्रतृण्णं चैतदुभयमन्तरेण, न केवलं निर्भुजं, न केवलं प्रतृण्णं, एतादृशं क्रमपारायणं भवति । तथा फलकामनाभेदेन संहितादिपारायणमपिविहितम् । 'अन्नाद्यकामो निर्भुजं प्रब्रूयात्, स्वर्गकामः प्रतृण्णमुभयकाम उभयमन्तरेण' इति (ऐ० आ० ३।३)

एवं यथाशास्त्रमध्येतव्ये वेदे मन्त्राणां त्रिविधेऽपि पाठे 'गणन्तपाठः, प्रतीकपाठः अनुषङ्गादिपाठश्च,' कथं शास्त्रीयतामर्हेत् ? कथं च पुनः फलाय कल्पेत ?

ऋग्वेदमेंभी गणन्तपदपाठ शास्त्रविरुद्ध है

ऋग्वेदमें गणन्तपाठ अर्थात् ऋग्वेदसंहितामें पहले किसी भी मंत्रमें बराबर ढंगसे लगातार आये हुए तीन या उससे अधिक पदोंका आगे फिर वैसेही पाठ पानेपर उतनाही भाग छोडकर शेष मंत्रका पाठ देना गणन्तपाठ माना जाता है । पर पदपाठमें ही गणन्तपाठमें समाया हुआ उतना मंत्र भाग हटाया जाता है । यदि पदपाठ शास्त्रीय है तो यह गणन्तपाठ अध्ययनकी परंपरा से चला आया है तोभी अशास्त्रीय है ऐसा समझना चाहिए । कारण यही कि वहाँपर मंत्रका उतना भाग लुप्त होता है । तनिक सोचो तो सही कि, जहाँ वेदमें स्वर , वर्ण मात्राका लोप इत्यादि लेशमात्रभी हो तो इतना छोटासा दोषभी बडीभारी बुराईमें परिवर्तित होजाताहै ऐसी लोगोंकी राय है, तो वेदमें गणन्तपाठके बहाने पद, पाद इत्यादिका लोप करना सदृश उल्टेकृत्यका अपराध भला कैसे क्षम्य माना जासकता है ? वेदाङ्गशिक्षा का यह उपदेश या चेतावनी अत्यन्त प्रसिद्ध है कि 'यदि वेदमंत्र स्वर एवं वर्णमें न्यून हो जाए, या बुरे ढंगसे प्रयुक्त हुआ हो तो उस अपने अर्थको व्यक्त नहीं करता अपितु वह वाणी वज्रका रूप धारण करके यजमानका वैसेहि घात करती है जैसे 'इन्द्रशत्रुः' पदने स्वरमें गलती होनेसे यजमानोंका अहित करादिया था । ' और जो स्वाध्याय, संहिता-पद-क्रमका रूप धारण करलेता है उसका शास्त्रानुकूलत्व श्रुतिसे सिद्ध होता है। शास्त्रानुसारही उसका स्वीकार करना ठीक है । इस संबंधमें ऐतरेय आरण्यकके ३।३ में दिये अवतरणसे त्रिगुण पाठका लगातार पढना सुनाजाता है । वहाँपर दो पदों या अक्षरोंके समीप आनेसे जो संधि होती है उसका अटूट अध्ययन 'निर्भुज संहिता पारायण' कहलाया जाता है । दो पदोंका बिनासन्धिके उच्चार करना 'प्रतृण्ण, पदपारायण' समझा जाता है । और निर्भुज तथा प्रतृण्णके बीचका न सिर्फ निर्भुज तथा नाही केवल प्रतृण्ण, ऐसे ढंग को क्रमपारायण कहते हैं । वैसे ही फल एवं इच्छा के भेदसे संहिता आदिका पारायण निर्धारित किया गया है जैसे ऐ. आ. ३।३ में 'अन्नको चाहनेवाला निर्भुज बोलता रहे, स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला प्रतृण्ण को जारी रखे और दोनोंकी कामना करनेवाला दोनोंके बीचका क्रम लेलेवे ।'

इसभाँति शास्त्रानुकूल ढंगसे पढनेयोग्य वेदमें, मंत्रोंके त्रिविध पाठके रहनेपरभी 'गणन्तपाठ, प्रतीकपाठ तथा अनुषङ्ग वगैरह पाठों' को भला शास्त्रीयता कैसे मिलेगी ? और उससे क्या लाभ होसकता है ?

गणन्तपाठः– 'इन्द्रा याहि चित्रभानो० अण्वीभिस्तना पूतासः ॥' 'इन्द्रा याहि धियेषितः' (ऋ० १।३।४-५) इत्यत्र 'अण्वीभिः तना पूतासः ।० धिया इषितः' इति पदपाठः । 'तस्मा इन्द्राय गायत' इति पादलोपेन गणन्तपाठः । 'शुनं हुवेम' इत्यादि मन्त्रलोपेनापि । एवं सहस्रशः स्थानेषु दृश्यते। एतेन ऋग्वेदे या पदसङ्ख्याऽभिहिता सा गणन्तपाठे लुप्तानां पदानां अग्रहणेनैव परिगणितेति ज्ञेयम् । वस्तुतस्तु सर्वेषां पदानां परिगणनैव युक्ततरा । तस्मात् गणन्तपाठे, ऋग्वेदे पदपाठे, तैत्तिरीयसंहिताप्रतीकपाठे च समग्रा एव मन्त्राः अध्येतव्याः शास्त्रवत्तायै इत्येव युक्तम् । एतेन तैत्तिरीयके अनुषङ्गमन्त्रपाठोऽपि व्याख्यातः ।

अनुषङ्गमन्त्रविचारः

तैत्तिरीयसंहितापाठक्रमे तावत् एकस्मिन्मन्त्रे श्रुतस्य कस्यचिद्भागस्य यज्ञादिविनियोगार्थं मन्त्रान्तरैकदेशानुयोजनमेवानुषङ्गः । तद्यथा– '**या ते अग्नेऽयाशया रजाशया हराशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठोग्रं वचो अपावधीं त्वेषं वचो अपावधीं स्वाहा**' इति पाठः, (तै० सं० १।२।११।५-७) तत्र '**अयाशया, रजाशया, हराशया,**' इति पदत्रयमात्रविशेषेण नाम एतेषां त्रयाणां पदानां प्रत्येकस्मिन्मन्त्रे मध्ये योजनेन पृथक् त्रयो मन्त्रा भवन्ति । तत्रापि प्रथमे मन्त्रे '**या ते अग्नेऽयाशया०**' इत्यतः '**तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा० स्वाहा**' इत्यन्तो मन्त्रशेषो योजनीयः । तथा द्वितीये मन्त्रे '**रजाशया**' इत्यस्य आदौ '**या ते अग्ने**' इति पदत्रयं, तथा अन्ते च '**तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा० स्वाहा**' इति च योजनीयम् ।

तृतीये तु मन्त्रे पूर्वत्र पठितं '**या ते अग्ने**' इति पदत्रयं '**हराशया**' इत्यस्य पूर्वं योजनीयम् । तेन ते त्रयो मन्त्राः सम्पद्यन्ते । त एते त्रयो मन्त्राः सोमयागे त्रिषु दिनेषु उपसन्नामके आहुतिरूपे कर्मणि प्रत्येकशो विनियुक्ताः ।

तथा च सूत्रम्– 'आज्यस्थाल्याः स्रुवेणोपहत्य प्रथमामुपसदं जुहोति '**या ते अग्नेऽयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठोग्रं० स्वाहा**' इति (बौ० श्रौ० सू०) एवं एकैकस्मिन् दिने एकैकेन मन्त्रेण उपसद्धोमो विहितः–

गणन्तपाठके उदाहरण देखिए । ऋग्वेदके पहले मंडलके तीसरे सूक्तके चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ मंत्रके पदपाठमे चूँकि '**इन्द्रा याहि**' पुनरुक्त है अतः उसका उल्लेख न करके ही अगला पद पढा जाता है। '**तस्मा इन्द्राय गायत**' इतना चरण लुप्त करके गणन्त पाठ शुरु करते हैं । वैसेही '**शुनं हुवेम**' सदृश मंत्रकाभी लोप करके गणन्तपदपाठ किया जाता है । यही प्रकार हजारों स्थलेंमें दीखपडता है । इससे यही समझना चाहिए कि ऋग्वेदमें जो पदसंख्या बतायी गयी है वह गणन्त पाठमें लुप्त पदोंके छोडनेसेही गिनीजाचुकी है। वास्तविक बात ऐसी है कि सभी पदोंकी गिनती करनाही ठीक है। अतः यही उचित जानपडता है कि गणन्तपाठमें, ऋग्वेदके पदपाठमें और तैत्तिरिय संहिताके प्रतीकपाठमें शास्त्रानुकूलताके लिहाजसे सारेही मंत्र पढलेने चाहिए । तैत्तिरीयमें अनुषङ्ग मंत्रपाठकाभी विवरण इसीसे होजाता है ।

अनुषङ्गमन्त्रका विचार

तैत्तिरीय संहितापाठक्रममें तो एकमंत्रमें सुने हुए किसी भागका यज्ञ इत्यादिमें विनियोग करनेके लिए दूसरे मंत्र के एक भागका उपयोग करना ही अनुषङ्ग समझा जाता है । उदाहरणके लिए देखिए तै. सं. १।२।११।५–७ जहाँपर '**अयाशया, रजाशया, हराशया**' इस तीन पदोंकाही अलग अलग प्रत्येक मंत्रमें प्रयोग करके पृथक् तीन मंत्र बनसकते हैं । तो भी पहले मंत्रमें '**या ते अग्नेऽयाशया**' यहाँसे आरंभ करके '**तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा... स्वाहा**' में अन्त होनेतक शेषमंत्रका प्रयोग करना ठीक है। वैसेही दूसरे मंत्रमें '**रजाशया**' के पहिले '**या ते अग्ने**' ये तीन पद और अन्तमें '**तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा... स्वाहा**' यह भाग रखना चाहिए ।

तीसरे मंत्रमें तो पहले पढे हुए तीन '**या ते अग्ने**'पद '**हराशया**' के पहले रखने चाहिए । इसतरह ये तीन मंत्र तैयार होजाते हैं जिन्हें सोमयागमें तीन दिनोंतक उपसत् नामक आहुतिस्वरूप कार्यमें अलग अलग प्रयुक्त करलेते हैं ।

बौधायन श्रौतसूत्रभी इसीप्रकार कहता है ' घीकी थालीसे स्रुचासे टकराकर पहली उपसत्की आहुति देडालता है ...... ऐसेही हरएक दिन एकएक मंत्रसे उपसत् होम करनेका विधान किया है।

'तिस्र उपसद उपैति ' इति च ब्राह्मणम् (तै० सं० ६।२।३।७) ' मध्यमामुपसदं जुहोति० उत्तमामुपसदं जुहोति ' इति च सूत्रम्। मीमांसितं चैदं जैमिनिना, ' अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्।' इति (जै० सू० २।१।४८)

या ते अग्ने रजेत्यध्याहारोऽनुषञ्जनम्। तनूरित्यन्यशेषत्वादध्याहारोऽत्र लौकिकः॥ इति पूर्वपक्षः

वेदाकाङ्क्षा पूरणीया वेदेनेत्यनुषञ्जनम्। अन्यशेषोऽपि बुद्धिस्थो लौकिकस्तु न तादृशः॥

इति च सिद्धान्तः। एवमनुषङ्गेणैव मन्त्रत्रयस्य सिध्या तथा साधनेनैव तद्विनियोगो निर्णीतः। अन्यथा पाठक्रमानुसारेणोच्चरितास्ते न मन्त्राः नापिविनियोगार्हाश्च भवन्तीत्यर्थात्सिध्यति।

अत एव शुक्लयजुसंहितायां एते त्रयोऽपि मन्त्राः विनियोगानुसारेण मन्त्रमर्यादानुरोधेन पृथगेव पठिताः। तथैवान्ये सर्वेऽपि अनुषङ्गमन्त्राः यथाशास्त्रं पाठक्रमे एवाध्ययनौचित्येन पृथक् पृथगेव पठिताः। तस्मान्नास्ति तत्र एतद्विषयकमीमांसावश्यकतेति न पुनर्वक्तव्यम्।

'या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा० स्वाहा।' 'या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा० स्वाहा।'
'या ते अग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा० स्वाहा।' इति। (वा० य० ५।८)

एवमेवान्यत्रापि ' चित्पतिस्त्वा पुनातु वाक्पतिस्त्वा पुनातु देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः ' (तै० सं० १।२।१।१२-१४)। इत्यत्र अनुषङ्गेणैव मन्त्रत्रयसाधनेन तद्विनियोगो विहितः। तदपि मीमांसितम्।

नानुषङ्गोऽनुषङ्गो वाऽच्छिद्रेणेत्यस्य शेषिणौ। चित्पतिस्त्वेत्यनाकाङ्क्षावतो नात्रानुषज्यते। इति पूर्वपक्षः
करणत्वं क्रियापेक्षं क्रिया चैका पुनात्विति। मन्त्रत्रयेऽतस्तद्वारा सर्वशेषोऽनुषज्यते। इति सिद्धान्तः

अत्र ' चित्पतिस्त्वा पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ १ ॥ ' वाक्पतिस्त्वा पुनात्वच्छिद्रेण० रश्मिभिः ॥ २ ॥ ' देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण० रश्मिभिः ॥३॥ इति त्रयो मन्त्राः सम्पद्यन्ते शुक्लयजुर्वेदे एकएव मन्त्रः- ' चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु ' इति (वा० य० ४।४)

ब्राह्मणभी कहता है ' तीन उपसदोंके निकट आता है।' और सूत्रका प्रतिपादन है ' मध्यम उपसत्की आहुति देडालता है, उच्च कोटिकी उपसत् आहुति देता है। जैमिनिने इसकी मीमांसा की है ' सबमें समान योग होनेसे वाक्यसमाप्तिको अनुषङ्ग कहते हैं ' देखो जै. सू. २।१।४८

पूर्वपक्ष ऐसा है कि ' या ते अग्ने रजाशया ' कहकर अध्याहार करना अनुषञ्जन है, यहाँपर अध्याहार लौकिक ढंग का है क्योंकि ' तनूः ' ऐसा दूसरा अंश शेष है। ' अब सिद्धांत है कि ' वेदसेही वेदकी आकांक्षाकी पूर्ति होनी चाहिए, यही अनुषञ्जन है; दूसरा शेषभी बुद्धिमें पाया जाता है और जो लौकिक है वह वैसा नहीं है। ' इसतरह अनुषङ्गसेही तीन मंत्रोंकी सिद्धि होनेसे यह निश्चित हुआ कि उसका विनियोगभी वैसेही साधनसे होजाए। नहीं तो पाठक्रमको ध्यानमें रखकर उच्चारित वे न मंत्रही बनते हैं और नाही विनियोगके योग्यही बनते हैं ऐसा अर्थसे सिद्ध होता है।

इसी कारणसे शुक्लयजुर्वेदसंहितामें ये तीनोंभी मंत्र विनियोगके अनुसार एवं मंत्रमर्यादाको ध्यानमें रखकर अलगही पढे गये हैं। वैसेही दूसरेभी अनुषङ्गमन्त्र शास्त्रके अनुकूलही पाठक्रममेंही उनका अध्ययन ठीक होनेसे अलग अलगही पढे गये हैं। इसलिए अब यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं कि उस संबंधमें अधिक मीमांसा निरर्थक है। देखो यजुः (वाजसनेयि) ५।८

इसीप्रकार दूसरी जगह भी, तै. सं. १।२।१।१२-१४ में **'चित्पतिस्त्वा पुनातु वाक्पतिस्त्वा पुनातु देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः।'** यहाँपर अनुषङ्गसेही तीन मंत्रोंकी साधना करके जो इसका विनियोग बताया है उसकीभी मीमांसा होचुकी है।

पूर्वपक्ष है कि ' अनुषङ्गका अभाव या अनुषङ्ग हो 'अच्छिद्रेण' से लेकर शेष मंत्र बनते हैं और ' चित्पतिस्त्वा ' से इच्छा न होनेपर यहाँ अनुषङ्ग नहीं कियाजाता।' सिद्धान्तके अनुसार ' करणपन क्रियाकी अपेक्षा रखता है जोकि अकेली ' पुनातु ' शब्दसे दर्शायी है इसलिए उससे तीनों मंत्रोंमें सभी शेष वाक्य जोडे जाते हैं।' यहाँपर (१) चित्पतिस्त्वा पुनातु... (२) वाक्पतिस्त्वा... (३) देवस्त्वा सविता पुनातु...।' ऐसे तीन मंत्र बनते हैं।

शुक्लयजुर्वेदमें तो एकही मंत्र ' चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु ' (वा. य. ४।४) पाया जाता है। इसभाँति सैकडों अनु-

एवं शतशः अनुषङ्गमन्त्रा विद्यन्ते। तेषु केचिदेवात्र प्रदर्श्यन्ते आर्षेये काण्डपाठे तु सर्वेऽप्यनुषङ्गमन्त्राः यथाशास्त्रं पृथगेवो- ल्लिख्यन्ते । अत्र तु ग्रन्थबाहुल्यभिया सङ्क्षेपतोल्लिखितम् ।

केचिदनुषङ्गमन्त्रविशेषाः

'विदेरग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिरो योऽस्यां पृथिव्यामस्यायुषा नाम्नेहि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वाऽऽदधे अग्ने अङ्गिरो यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्यामस्यायुषा० तेन त्वाऽऽदधे ' इति (तै० सं० १।२।१२।५)

अत्र ' द्वितीयस्यां ' इति पदस्य आदौ 'विदेरग्नि० यो' इति मन्त्रभागः तथा अन्ते 'अस्यायुषा० तेन त्वाऽऽदधे' इति योजनेन द्वितीयो मन्त्रो भवति– ' विदेरग्नि० ' इत्यादिपूर्वभागमात्रयोजनेन ' यस्तृतीयस्यां ' इत्यादिना तृतीयमन्त्रो भवति ।

' विदेरग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर इति त्रिर्हरति ' इति च ब्राह्मणम् (तै० सं० ६।२।७।४)

' गोष्ठं मानिर्मृक्षं वाजिनं त्वा सपत्नसाहꣳ सम्मार्ज्मि, वाचं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं प्रजां योनिं मानिर्मृक्षं वाजिनीं त्वा सपत्नसाहीꣳ सम्मार्ज्मि।' (तै० सं० १।१।१०।३–६)

अत्र ' वाचं प्राणं, चक्षुः श्रोत्रं, प्रजां योनिं, ' इत्येतैः सह ' मानिर्मृक्षं ' इत्यादि मन्त्रशेषयोजनेन चत्वारो मन्त्रा भवन्ति । ते च ' अथ स्रुवं सम्मार्ष्टि, अथ जुहूं, अथोपभृतं, अथ ध्रुवाम् ' इति स्रुवादि सम्मार्जने विनियुक्ताः। तथा च ' स्रुचः सम्मार्ष्टि ' इत्यादि ब्राह्मणम् (तै० ब्रा० ३।३।१)

शुक्रं त्वा शुक्रायां धाम्नेधाम्ने देवेभ्यो यजुषेयजुषे गृह्णामि ज्योतिस्त्वा ज्योतिष्यर्चिस्त्वाऽर्चिषि धाम्ने- धाम्ने देवेभ्यो यजुषेयजुषे गृह्णामि ' इत्यत्र त्रयो मन्त्राः (तै० सं० १।१।१०।२१–२३)

रुद्राध्याये ' सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम् । तेषाꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥'

इत्यस्मिन्ननुवाके–उत्तरत्र पठितानामष्टानां अर्धर्चानां प्रत्येकशः ' तेषाꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ' इति अर्धर्चयोजनेन दशमन्त्रा भवन्ति। 'अस्मिन्महत्यर्णवे, नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः, नीलग्रीवाः शिति- कण्ठा दिवꣳ रुद्राः, ये वृक्षेषु, ये भूतानां, ये अन्नेषु, ये पथां, ये तीर्थानि प्रचरन्ति ।' इति तेऽष्टार्धर्चाः । एतेषां मंत्राणां ललाटादिस्थानेषु न्यासो विहितः महान्यासकल्पे । 'नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषामन्नं वातो वर्षमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीः० जम्भे दधामि ।' इत्यत्र त्रयो मन्त्राः प्रसिद्धाः । (तै० सं० ४।५।११।१२-१४)

षङ्ग मंत्र मौजूद हैं । उनमेंसे थोडेसेंही यहाँपर दर्शाये जाते हैं और आर्षेय काण्डपाटमें तो सभी अनुषङ्गमंत्र शास्त्रके अनुकूल अलग ही निर्दिष्ट किये हैं । यहाँ तो ग्रन्थका कलेवर बहुत बढ जानेके भयमे संक्षेपमें बतानेका प्रयत्न किया है ।

अनुषङ्गमंत्रोंकी कुछ विशेषताएँ

देखो तै. सं. १।२।१२।५ वाँ मंत्र; यहाँपर ' द्वितीयस्यां ' इस पदके प्रारंभमें ' विदेरग्नि... यो ' यह मंत्रभाग और अन्तमें ' अस्यायुषा...तेन त्वाऽऽदधे ' यह अंश रखनेसे दूसरा मंत्र तैयार होता है । ' विदेरग्नि ' वगैरह सिर्फ पूर्वभाग रखकर 'यस्तृतीयस्यां' इत्यादि भाग रखकर तीसरा मंत्र बन जाता है ।

ब्राह्मणके अनुसार ' विदेरग्निर्नभो नामाग्ने अङ्गिर ' कहकर तीन बार बर्हिरेजुका आहरण करता है (तै. सं. ६।२।२।७।४)

वैसेही तै. सं. १।१।१०।३–६ में ' वाचं प्राणं, चक्षुः श्रोत्रं प्रजां योनिं,' इन के साथ ' मानिर्मृक्षं ' इत्यादि मंत्रोंके शेष भाग जोडनेसे चार मंत्र होते हैं और उनका विनियोग ' अथ स्रुवं सम्मार्ष्टि, अथ जुहूं अथोपभृतं, अथ ध्रुवां ' ऐसे स्रुवादि के बुहारनेमें होता है । देखो तै. ब्रा. ३।३।१। तै. सं. १।१।१०।२१-२३ में 'शुक्रं त्वा... यजुषे गृह्णामि' से तीन मंत्र बनते हैं।

रुद्राध्यायके " सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्। तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥" इस अनुवाकमें आगे चलकर पढी हुई आठ आधी ऋचाओंमेंसे हरएक में ' तेषाꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ' इस आधी ऋचाके जोडनेसे दस मंत्र होते हैं । ' अस्मिन्महत्यर्णवे......ये तीर्थानि प्रच- रंति ' ऐसे वे आठ अर्धऋचावाले मंत्र हैं। महान्यासकल्पमें माथा वगैरह स्थानोंमें इन मंत्रोंका रखना निश्चित किया है। तै. सं. ४।५। ११।१२–१४ में तीन मंत्र विख्यात हैं। ब्राह्मणके अनुसार 'शतरु-

शतरुद्रीयं जुहोति० तिस्र उत्तरा आहुतीर्जुहोति, या उत्तमास्ता यजमानं वाचयति।' इति च ब्राह्मणम्। (तै० सं० ४।५।१३) 'नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीः०' 'नमो रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवस्तेभ्यो दश प्राचीः० ' ' नमो रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीः० '। इति मन्त्रत्रयानुक्रमः। रुद्राध्याये एवं मन्त्रविभागः पाठक्रमे कथञ्चिदपि ज्ञातुं न शक्यः, रुद्राभिषेकादौ केचिद्विद्वांस एवं पठन्ति, सामान्याः वेदाध्यायिनोऽपि पाठक्रमानुसारेणैव रुद्राभिषेकादिकं कुर्वन्ति।

एवं निर्दिष्टानामनुषङ्गमन्त्राणां ' तिस्र उपसद उपैति ' इत्यादि ब्राह्मणवचनात् तत्तत्सूत्राच्च एते त्रयो मन्त्राः मन्त्रा इति विज्ञाते विनियोगे तथैव परिकल्पयितव्ये च अवशिष्टे विनियोगानुसारेणैव यथाशास्त्रं मन्त्रविभागेन पठनमेव युक्ततरमिति सप्रमाणं सयुक्तिकं भवति।

अस्मिन्विषये प्रतिपादितं खलु पुरस्तादेव सारस्वतेतिहासे सारस्वतपाठनिर्णये ब्रह्मणा निर्णीतम् ' सारस्वतो वेदपाठः सारस्वतोक्तक्रमेणैवाध्येतव्यः, अन्यथाऽध्ययनफलं नास्तीति,' तथा– ' सत्यं न पाठक्रमेणार्थानुष्ठानक्रमो भवतीति ' सत्यं निर्णीतं ब्रह्मदेवेन– तथापि न हि तत्र प्रमाणं किञ्चिदस्ति श्रुत्यादिकम्। नापि तत्प्रमाणविमर्शपूर्वकं निर्णीतम्। अपि तु ' स्थितस्य गतिश्चिन्तनीयेत्येव ' समाहितम्।

वस्तुतस्तु स्वाध्यायाध्ययनमेव प्रधानो विनियोगः सर्वेभ्यः प्रथमः। ' स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।' इति च श्रुतिविहितः। ब्रह्मयज्ञादिरूपश्च।

' अहरहः स्वाध्यायमधीयीत, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं ' इति श्रुतेः ' स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ' इति स्मृतिरपि स्वाध्यायाध्ययनस्यापि यज्ञत्वोपदेशेनैतदेवोपोद्बलयति। ' नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषामन्नं वातो वर्षमिषवः ' इत्यस्य पदसमूहस्य न मन्त्रत्वमस्ति, येन तावन्मात्रपाठेनापि रुद्रयागः ब्रह्मयज्ञश्च सम्पद्येत। नाप्येतद् विधिरूपं ब्राह्मणात्मकं वाक्यजातं विनियोगे तु मन्त्रावयवरूपेणानुषक्तत्वात्। ' यं यं क्रतुमधीते तेन तेन

शतरुद्रीयका हवन करता है, तीन उत्तर आहुतियोंका दान करता है तथा जो उत्तम होती हैं उन्हें यजमानसे पढवाता है। 'नमो रुद्रेभ्यो' इस ढंगसे तीन मंत्रोंका क्रम बताया है। रुद्राध्यायमें इसभाँति मंत्रविभाग जानलेना पाठक्रममें किसीभीतरह संभव नहीं; कुछही विद्वान रुद्राभिषेक आदिमें इस ढंगसे पढते हैं, साधारण वेदपाठीभी पाठक्रमके अनुसारही रुद्राभिषेक इत्यादि करलेते हैं।

ऐसे बतलाये अनुषङ्गमंत्रोंके ' तीन उपसदोंके निकट चलाजाता है' इत्यादि ब्राह्मणवचनसे और उस उस सूत्रसेभी ये तीन मंत्र, मंत्र हैं ऐसी जानकारी होनेपर तथा वैसेही विनियोग के करनेपर जो शेष बचजाय उसकाभी अध्ययन विनियोग के अनुकूलही शास्त्रप्रतिपादित ढंगके मंत्र विभागसे करना ठीक हैं ऐसा युक्ति युक्त एवं प्रमाणपर निर्भर दीखपडता है।

इस संबंधमें पहलेही बताया जाचुका है कि सारस्वत पाठके इतिहासमें ब्रह्माजीने सारस्वतपाठका निर्णय करते हुए कहाथा कि ' सारस्वत वेदपाठको सारस्वतके कहे क्रमसेही पढना चाहिए नहीं तो अध्ययन निष्फल होगा, ' और ' सच है कि पाठक्रमसे अर्थानुष्ठानक्रम नहीं होता है' ब्रह्माजीका निर्णय सही है लेकिन उससंबंधमें श्रुति इत्यादि कुछभी प्रमाण नहीं है और नाही वह निर्णय प्रमाणों के विचारसे किया हुआ है; उल्टे ' जो जैसे उपलब्ध है उसकी गति के बारेमें सोचना चाहिए ' इस कहावतको चरितार्थ कर समाधान किया है।

वास्तवमें देखा जाय तो सबसे प्रथम एवं प्रधान विनियोग स्वाध्याय एवं अध्ययन ही है। मुद्गलपुत्रने कहा है न कि ' स्वाध्यायका अध्ययन करना है,' स्वाध्याय एवं प्रवचन ही है। श्रुतिने ही इसका विधान किया है ' वही तप है वही तप है। ' और उसका स्वरूप ब्रह्मयज्ञ इत्यादिमें व्यक्त है।

' दिनप्रतिदिन स्वाध्याय पढता रहे, स्वाध्याय एवं प्रवचनके बारेमें कभी भूल न करे या उदासीन न रहे ' ऐसा श्रुति बतलाती है तथा स्मृतिभी ' स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ ' कहके स्वाध्याय एवं अध्ययन को यज्ञतुल्य समझकर उसीका बल पूर्वक समर्थन करती है। ' नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषामन्नं वातो वर्षमिषवः ' इस पदसमूहको मंत्रपन नहीं प्राप्त है जिससे कहसकें कि सिर्फ उतना पढलेनेमात्रसे रुद्रयाग तथा ब्रह्मयज्ञ पूर्ण हों। और चूँकि विनियोगमें मंत्रके घटक के रूपमें जुडे हुए होनेसे यह विधि-

हास्येष्टं भवति ' इति श्रुतेः अध्ययनमात्रेणापि यज्ञसिद्धिनिर्देशात्, अनुषङ्गे प्रतीके, गणन्ते च पाठे, तत्तन्मन्त्रावयवलोपेन यज्ञलोपस्यापरिहार्यत्वात् । एवमिह सारस्वतपाठे द्वित्रेषु त्रिचतुरेषु वा अतिदीर्घेषु मन्त्रेषु एकरूपेणैव पठितव्येषु अनुषङ्गे प्रतीक-गणन्तादिषु पाठनादिलाघवाय मन्त्रैकदेशसङ्कोचेन सूत्रवत् संक्षेपतः सङ्ग्रथितमेवेत्युन्नीयते । एवं सङ्ग्रथनेन पाठप्रवचनार्थं केवलं पाठक्रममन्तरेण श्रुत्यादिकं प्रमाणं न विद्यते ।

अथ पाठबलात् तथैवाध्ययनं श्रेयस्करं, विनियोगे तु अनुषङ्गादिनां यथाशास्त्रं मन्त्रोच्चारणं, इत्येव युक्तमिति चेत्, विनियोगे तथा उच्चारणीये तस्यैव मन्त्रत्वे सिद्धे च, अध्ययनमात्रे पाठक्रमे एव अन्यथा पठनीयो वेद इति को हेतुः ? ग्रन्थलाघवं अतिदीर्घमन्त्रपठने अधिककालव्ययाभाव एव तत्र हेतुरिति चेत्, हन्त भोः तदिदमतिसाहसप्रयुक्तं बालसम्मोहनवचनामिव आभासमात्रम् । अपि च ' ब्राह्मणेन निष्कारणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ' ' **अन्नाद्यकामो निर्भुजं प्रब्रूयात्, स्वर्गकामः प्रतृण्णं, उभयकाम उभयमन्तरेण** ' इति च श्रुतिविनिधानात्, निष्कामतो ज्ञानार्थं, विशिष्टकामतोऽभीष्टसिध्यर्थं च, यथाशास्त्रमनुवर्तनीये स्वाध्यायाध्ययने, तत्र दीर्घमन्त्रपठने को नामातिभारः ? किञ्च तत्रालस्यं ? कथं च तत्र वृथैवाधिककालव्ययादिवृत्तिश्च समुदेति ? पाठप्रवचनप्रवृत्तानां विद्यार्थिनां विदुषां चेति न ज्ञायते ।

यदि खलु पाठक्रमेण मन्त्रविनियोगात् न यज्ञादिसिद्धिः, नापीष्टसिद्धिः, प्रत्युतानर्थप्रसङ्गश्चेति शास्त्रज्ञैरभ्युपगम्यते। यदि च अल्पल्पेन स्वरलोपमात्रेणाप्यपराधं न सहन्ते, तत्र साक्षात् मन्त्रावयवहीनेऽपि कथं चक्षुर्निमील्य मनः समाधीयते शास्त्रज्ञैर्वैदिककर्मपरायणैरिति चिरं शोचनीयमेवैतत् !!!

रूप, ब्राह्मणमय वाक्यसमूह नहीं बनता । श्रुतिके इस कथनसे कि ' जिस जिस क्रतुका अध्ययन करता है उसीसे इसका इष्ट सिद्ध होता है ' केवल अध्ययन करलेनेसेही यज्ञसिद्धिका उल्लेख है अतः अनुषङ्गमें, प्रतीकमें, गणन्तमें उस उस मंत्रके घटकके छूटजानेसे यज्ञ की त्रुटि होना अनिवार्य है इसी भाँति इस सारस्वतपाठमें दो या तीन चार बहुत लंबे मंत्रोंमें एकरूपमेंहीपढना पडताथा इसलिए अनुषङ्ग–गणन्त–प्रतीक आदिमें पढानेमें संक्षेप होजाए इस हेतुसे मंत्रका एक विभाग घटा कर सूत्रतुल्य थोडेमें इकट्ठा किया गया ऐसा अनुमान करसकते हैं । इसतरह एक जगह पिरोकर पाठप्रवचनके लिए सिर्फ पाठक्रमको छोड श्रुति इत्यादि कोई प्रमाण नहीं पाया जाता है ।

यदि ऐसा कहें कि, पाठके आधारसे वैसेही पढलेना ठीक पर विनियोगमें तो अनुषङ्ग वगैरहका शास्त्रानुकूलही मंत्रोका उच्चारण करना, यही उचित जँचता; तो विनियोगमें वैसे उच्चार करनेयोग्य होनेपर और उसीके मंत्रपनके सिद्ध होनेपर, सिर्फ अध्ययनमें पाठक्रममेंही दूसरे ढंगसे वेदको पढलें, भला इसमें क्या वजह है ? यदि कहो कि, ग्रन्थको छोटासा रूप देना एवं बहुत लंबे मंत्रके पढनेमें लगनेवाले समयको बचानाही कारण है तो हाय ! अजी महाशयजी ! यह तो बडे दुःसाहससे उपयोगमें आया हुआ एवं अज्ञानीको मोहमें डालने वाले वचन की नाई निरा आभासही तो है। और एक बात, श्रुतिने चूँकि यूं नियम कररखा है ' ब्राह्मण बिना किसी कारण के छहः अंग सहित वेदको पढले एवं जानभीले ' तथा ऐतरेय आरण्यकके ३।३ सेभी, कामना रहित होकर जानकारी पानेके लिए, विशिष्ट इच्छा मनमें रख अभिलाषाकी पूर्तिकेलिए स्वाध्याय एवं अध्ययनको शास्त्रानुकूल तरीकेसे जारी रखनाही हैं तो फिर भला बहुत लंबे मंत्रके पढलेनेमें कौन भारी बोझ है ? और किसलिए भला उसमें सुस्ती दर्शायी जाय ? तथा उसमें भला कैसे यह ख्याल कि, क्यूंकर बेकार ज्यादा समय इसमें गँवादें, उठखडा होसकता है ? हमारी समझमें नहीं आता कि पाठ एवं प्रवचनमें निरत छात्रगण एवं विद्वान लोगोंमें ये सारी बातें कैसे संभव हैं ?

अगर कहीं पाठक्रमसे मंत्रविनियोग करनेपर यज्ञ इत्यादिकी सिद्धि नहीं होती है और नाही इच्छितवस्तुकी सिद्धिही होती है, उल्टे अनर्थ टूटपडेगा ऐसी शास्त्रवेताओंकी राय है और अगर तनिकभी स्वरका लोप तक होजाए तो अपराध सहन नहीं किया जाता, ऐसी दशामें प्रत्यक्ष मंत्रके घटकके हटजानेपरभी किसभाँति वैदिक कर्ममें तनमनसे जुटजानेवाले शास्त्रवेत्ता आँख मूँदकर समाधान मान बैठते हैं, यह अत्यन्त खेदजनक बात है ।

(अपूर्ण)

स्पिनोझा और उसका दर्शन

(प्रकरण १]

ऐतिहासिक प्रस्तावना

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास स्थूल रूप से तीन कालखंडों में विभाजित है। प्राचीन (Ancient), मध्ययुगीन (Medieval), तथा आधुनिक (Modern)। प्राचीन से मतलब यूनानी (Greek) तथा यूनानीरूमी (Greco-Roman) दर्शन से है (ई. पू. ६०० से ई. स. ५२९ तक); मध्ययुगीन से मतलब धर्म-प्रधान दर्शन से (ईसाकी ५ वीं सदी से पंद्रहवीं सदी तक); तथा आधुनिक से मतलब फ्रेंच दार्शनिक देकार्ट (Descartes) से प्रारंभ होनेवाले दर्शन से है (सत्रहवीं सदी से लगाकर आज तक)। मध्ययुगीन तथा आधुनिक विचार-धारा के बीच में संक्रमणकाल (Transition period) है (पंद्रहवीं सदी से लगाकर सत्रहवीं सदी तक), जिसमें एक ओर तो मध्ययुगीन विचारधारा से संबंध विच्छेद करने तथा दूसरी ओर आधुनिक विचारधारा को निश्चित रूप देने की दिशामें प्रयत्न किये गए।

स्पिनोझा का विचार करने के पहिले पाश्चात्य दार्शनिक गतिविधि का स्थूल रूप से निर्देश अस्थानीय नहीं होगा, कारण अन्य विचारधाराओं की तरह दार्शनिक विचारधारा भी जैसे अपने, वैसे ही अपने पूर्ववर्ती काल से निरपेक्ष नहीं हुआ करती, उस में भी कुछ क्रम होता है; एक कालखण्ड दूसरे से नये नये प्रभावों के रहते हुए भी एक अखंड शृंखला की तरह संबद्ध होता है ×। प्राचीन विभाग के दार्शनिक विचार मध्य युगीन में, फिर वह चाहे ईसाई धर्मप्रधान दर्शन हो, चाहे यहूदी या अरबी दर्शन, किसी न किसी रूप में अवश्य पाये जाते हैं। प्राचीन-मध्ययुगीन दर्शन के, संकलित विचार आधुनिक दर्शन में विभिन्न समस्याओं का रूप धारण करके हमारे सम्मुख आते हैं; इसी लिये स्पिनोझा को जहां एक ओर आधुनिक दार्शनिकों में प्रथम कहा गया है, वहां दूसरी ओर मध्ययुग का अंतिम दार्शनिक भी कहा गया है, प्रकट रूप से यद्यपि वह आधुनिक है तथापि प्रच्छन्न रूप से वह मध्ययुगीन है। प्रो. वॉल्फसन के मतानुसार मध्ययुगीन स्पिनोझा की यथेष्ट जानकारी के बिना आधुनिक स्पिनोझा का यथार्थ आकलन असंभव है। यथा—

In the case of the Ethics of Spinoza, there is on the one hand, an explicit Spinoza, whom we shall call Benedictus. Then there is on the other hand, the implicit Spinoza. ...his mind is crammed with traditional philosophic lore and his thought turns along the beaten logical paths of medieval reasoning. Him we shall call Baruch. Benedictus is the first of the moderns; Baruch is the last of the the medievals. It is our contention that we cannot get the full meaning of what Benedictus says unless we know what has passed through the mind of Baruch. "+

प्राचीन तथा मध्ययुगीन दर्शन का विवेचन प्रस्तुत स्थल में न तो संभव ही है, न आवश्यक ही; परंतु इनका अत्यंत स्थूल

× The systems of philosophy, however peculiar and self-dependent they may be, thus appear as the members of a larger historical inter-connection; in respect to this alone can they be perfectly understood; the farther we follow it, the more the individual becomes united to a whole of historical development. (Outlines of the History of Greek Philosophy, by Dr. Edward Zeller, P. 3)

+ Philosophy of Spinoza by Wolfson, Part I, Pref. P. VII.

रूपसे परिचय कराया जा सकता है।

प्राचीन दर्शन

यूनानी दर्शन– प्राचीन यूनान में हम दार्शनिक विचार के लिये आवश्यक सब सामग्री पाते हैं। सृष्टिसंबंधी पौराणिक विचारों से ऊपर उठकर वैज्ञानिक प्रवृत्ति का अवलंब, वैचारिक क्षेत्र में बाह्य निर्बंध रहित वैचारिक स्वतंत्रता; सच्ची जिज्ञासा-वृत्ति, सत्य से प्रेम तथा वैचारिक निष्पक्षता, अंतिम सत्य की खोज इ. बातें हम इ. पू. ६००से ही पाते हैं। प्रारंभका दर्शन बाह्य विषयप्रधान अर्थात् पराक्प्रवण था। इस समय द्रष्टा को भूलकर दृश्यही विचार का प्रधान लक्ष्य था, सॉक्रेटीस (Socrates) ने उसे द्रष्टा की ओर ध्यान आकर्षित करके प्रत्यक्प्रवण किया, सॉक्रेटीसने अपने श्रेष्ठ आचार तथा विचारों द्वारा तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र में क्रांति कर दी, यद्यपि इसके पुरस्कार में उसे विष प्राशन करना पडा।

सॉक्रेटीस का शिष्य प्लेटो है, तथा प्लेटो का एरिस्टॉटल। 'शिष्यादिच्छेत्पराजयं' की उक्ति यहाँ पूरी तरह से चरितार्थ होती है। प्राचीन खंडमें यही तीन महान् विभूतियाँ हैं जिन्होंने अपने विचार तथा आदर्शों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता को दो सहस्र वर्षों तक अपना ऋणी बनाया, तथा जिनका प्रभाव आज दिन भी कुछ कम नहीं। सॉक्रेटीस की तात्विक क्षेत्र में सबसे बडी देन नीतिशास्त्र है; प्लेटो की सत्ताशास्त्र (Ontology) या अध्यात्मशास्त्र; और एरिस्टॉटल की देन तो बहुतही बडी है। उसने बौद्धिक क्षेत्र का एक भी कोना अछूता न छोडा। क्या भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञान, क्या साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र, क्या राज्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र के विविध अंग, इन सब विषयोंपर एरिस्टॉटल ने अधिकार-वाणी से तथा अपूर्व आत्म-विश्वास के साथ लिखा। मध्ययुग के द्वितीयार्ध का वह सर्वेसर्वा रहा, उस समयके बौद्धिक क्षेत्र में उसके विचारों की सार्वभौमता थी। ईसाई, यहूदी तथा अरबी दर्शनद्वारा या उसके ग्रंथोंके अनुवादोंद्वारा स्पिनोझा भी उसके प्रभाव से वंचित नहीं।

मध्ययुगके सुदीर्घ पूर्वार्ध में तथा पुनर्जागृति-कालमें प्लेटो के मतोंका प्राधान्य रहा। वैसे तो प्लेटो के संबंध में वही बात कही गई है, जो हमारे यहां श्री व्यासजी के संबंध में। 'व्यासो-च्छिष्टं जगत्सर्वं' के समानही प्लेटो के संबंध में यह कहा गया है कि सब दर्शन प्लेटो के दर्शन के टिप्पण मात्र हैं, "All philosophy is footnotes to Plato."

यूनानी रूमी दर्शन–यूनानपर रोम की राजकीय विजय हुई परंतु सांस्कृतिक दृष्टि से जेताही जित हुए। तथापि इस कालमें उपर्युक्त तीन दार्शनिकों की प्रतिभा या श्रेणी का कोई दार्शनिक नहीं हुआ और न इतनी श्रेष्ठ मौलिक रचनाही हुई। इस काल में आचारशास्त्र तथा मानव जीवन की इतिकर्तव्यता को लेकर विभिन्न संप्रदाय उत्पन्न हुए यथा, स्टॉइसिज्म (Stoicism) या उदासीनतावाद, एपिक्यूरियानिज्म (Epicureanism) अर्थात् सुखवाद, पिरो (Pyrrho)का संशयवाद (Scepticism) इत्यादि। अलेक्झांड्रिया में जो धार्मिक लहर उठी वह यूनानी तत्त्वज्ञान तथा पौर्वात्य धर्मों का सम्मिश्रित रूप है। यहूदी फिलो (Philo) तथा नवप्लेटोवाद (Neo-Platonism) का प्रवर्तक प्लॉटिनस (Plotinus) इसके अच्छे उदाहरण हैं। परंतु अब तत्त्वज्ञान का शुद्ध रूप जाकर उसमें धार्मिक बातों का समावेश हो गया। अंत में धर्मने तत्त्वज्ञान को पूर्ण रूप से अभिभूत कर लिया। इस प्रकार जिस यूनानी तत्त्वचिंता का प्रारंभ स्वतंत्र विचारमें हुआ था, उसका अंत धार्मिक संप्रदायों के मतमतांतरों में हुआ। अंत में सन ५२९ में सम्राट् जस्टीनियन ने एक फर्मान निकाल-कर अथेंस की दार्शनिक पाठशाला बंद कर दी। इसलिये क्रमशः इस दर्शन का लोप हो गया। मध्यकाल में ईसाई धर्मशास्त्रोंमें इसकी बहुतसी बातें अपना ली गईं।

मध्ययुगीन दर्शन

इधर ईसाई मत का प्रचार प्रसार दिन दूना रात चौगुना बढ रहा था। प्रारंभ में उसमें विशेषकर असंस्कृत लोगों का ही समावेश हुआ, परंतु धीरे धीरे बौद्धिक वर्गभी इस धर्म की ओर झुकने लगे। इसलिये धार्मिक मतों को सुसंबद्ध तथा सुसंगठित रूप देकर उनकी बौद्धिक दृष्टि से ग्राह्यता बढाने के लिये उसमें यूनानी रूमी दर्शन में से ईसाई धर्म के अनुकूल बातों का समावेश किया जाने लगा, पाँचवीं सदी के अंत तक ईसाई पादरी अपने धर्म के मूलभूत तत्वों को निश्चित रूप देनेमें लगे रहे। संत आगस्टाइन (St. Augustine) इस काल का श्रेष्ठ विचारक है। इसे ईसाई धर्मका प्लेटो कहा गया है।

इसी शताब्दि में रोमन साम्राज्य उत्तर की टयूटॉन जातियों के आक्रमणों द्वारा नष्ट भ्रष्ट होने लगा, इसलिये ५ वीं

सदीसे ९ वीं सदीतक सांस्कृतिक दृष्टिसे घोर अंधकार का काल रहा। इस समय गिरजाघरों ने ही ज्ञान तथा संस्कृति की रक्षा की और नये आक्रमणकारियों को ईसाई धर्म की दीक्षा दी।

९ वीं शताब्दि में कुछ स्थिरता आने पर विचार की प्रवृत्ति ओर पकडने लगी और संप्रदायवादी दर्शन Scholasticism का प्रारंभ हुआ। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में इसकी वृद्धि हुई और तेरहवीं शताब्दि में यह अपने चरम विकास पर पहुंच गया। १३ वीं शताब्दि को संप्रदायवादी दर्शन का स्वर्णयुग कहा गया है। ९ वीं से १२ वीं सदीतक के मध्ययुगीन दर्शन पर प्लेटो, नवप्लेटोवाद (Neo-Platonism) तथा आगस्टाइन के मतों का पूरा प्रभाव रहा। ११ वीं और १२ वीं शताब्दि का मुख्य प्रतिनिधि आंसेम (Anselm) है। १३ वीं सदी में एरिस्टॉटल का प्रभाव प्रमुख है। इस काल के श्रेष्ठ विचारक हैं अलबर्ट महान् (Albert the Great) तथा टॉमस एक्विनस (Thomas Acquinas)। १४ वीं तथा १५ वीं शताब्दि इस दर्शन की अवनति का काल है, यद्यपि इसका प्रभाव १७ वीं शताब्दि तक किसी रूप में बना ही रहा। १३ वीं सदी के दार्शनिक विचारों पर अरबी तथा यहूदी विचारकों का पूरा पूरा प्रभाव रहा। यह प्रभाव एरिस्टॉटल के भौतिक तथा आध्यात्मिक ग्रंथों का परिचय कराने में विशेष रूपसे लक्षित होता है।

मध्ययुग जीवन का हरेक अंग धर्म से प्रभावित था, इस काल का दर्शन भी धर्मप्रधान ही है। दर्शन के क्षेत्र में विचारस्वातंत्र्य धार्मिक बंधनों से मर्यादित था। तात्विक विचार का काम सिर्फ धार्मिक सिद्धांतों का बौद्धिक समर्थन ही रह गया था। धर्मशास्त्र द्वारा निर्णित सिद्धांतों के आधार पर निगमनात्मक तर्क (Deduction) का प्रचुरतया अवलंब किया गया परंतु स्वयं धर्म के मूल सिद्धांतोंका विचार तर्क से बाहर की बात थी। उनको तो श्रद्धासेही स्वीकार करना पडता था। यदि तर्क धार्मिक सिद्धांतों का पूरा पूरा समर्थन नहीं कर पाता तो यह बुद्धि की मर्यादा थी, धार्मिक सिद्धांत निर्दोष थे।

इस युग के सांकेतिक शब्द हैं अधिकार, आप्तवाक्य या शब्दप्रमाण, आज्ञाकारिता, परंपरा। इसलिये इस कालमें तत्त्वचिंता धर्म की अनुगामिनी बन गई, जीवन का प्रधान लक्ष्य पारमार्थिक और अतींद्रिय जगत् था। ऐहिक इंद्रियगम्य जगत् तथा उसकी समस्याएं निरर्थकसी समझी जाती थीं। ईश्वरीय प्रेरणा तथा कृपा दिव्य जीवन के साधन समझे जाते थे। इस काल की तीन मुख्य समस्याएं थीं- (१) सामान्यों की समस्या या जातिव्यक्ति की तात्त्विक सत्यासत्यता विषयक वाद, (२) ईश्वर के अस्तित्वविषयक प्रमाण (३) श्रद्धा तथा बुद्धि। इस काल में विचार का क्षेत्र संकुचित तथा मर्यादित था और तात्त्विक समस्याएं इनीगिनी थीं। अतएव सूक्ष्म तार्किक छटाओं के आविष्करण में सारी शक्ति का व्यय और अंत में अपव्यय होने लगा। चर्च-गिरजा-अपने अधिकारों की रक्षा लोहे के पंजे से करने में कटिबद्ध थी, अतएव मानव की रहस्यवाद की ओर प्रवृत्त होनेवाली आंतरिक स्वतंत्रता तथा भौतिक विज्ञानों और स्वतंत्र तात्विक विचारों के रूपमें प्रकट होनेवाली बाह्य स्वतंत्रता दोनों को शिकंजे में कस दिया गया था।

तथापि यह कहना गलत होगा कि यह एक सहस्र वर्षों का काल निरा अंधकारमय था। बौद्धिक क्षेत्र में मध्ययुग की देन काफी है। संप्रदायवादियों का दर्शन सर्वसंग्राहक था, उसमें यूनानी, यूनानीरूमी, तथा अरबी यहूदी विचारकों की उन सब बातों का समावेश किया गया जो धर्म से अविरोधी थीं या धार्मिक आग्रहों की पोषक थीं। तत्त्वविचार यद्यपि धार्मिक सिद्धांतों के आधीन था, तथापि उसकी धारा अविच्छिन्न रूप से चल रही थी।

संक्रमण काल

परंतु जिस प्रवृत्ति ने संप्रदायवादियों को धार्मिक सिद्धांतों का बौद्धिक समर्थन करनेके लिये बाध्य किया था, उसी प्रवृत्तिमें मध्ययुगीन धार्मिक दर्शन के विनाश के बीज वर्तमान थे। धीरे धीरे तत्त्वज्ञान तथा धर्मशास्त्र क्षेत्रों के पृथक्करण की प्रवृत्ति बढती गई। १५ वीं से लेकर १७ वीं सदी तक ऐसे अनेक कारण समुदाय एकत्रित हुए जिन्होंने अभीतक रुकी हुई मानव की जिज्ञासा की प्रवृत्ति के सम्मुख ज्ञान के तथा विचार के नये नये क्षेत्र खोल दिये, जिनका संकलित परिणाम दो प्रकार का हुआ। एक ओर तो क्रमशः मध्ययुगीन श्रद्धा के धूमिल स्थायिक वातावरण से संबंध टूटने लगे तथा दूसरी ओर आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोन अपनी जडें पक्की जमाने लगा।

संक्रमण काल की दो सबसे बडी क्रांतिकारी घटनाएं हैं पुनर्जागृति (Renaissance) और धर्मसुधार का आंदोलन

(Reformation)। एक तरह से ये इस काल के मध्यवर्ती आंदोलन हैं जिनमें मध्यकालीन दृष्टिकोण के विरुद्ध समस्त प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। अतएव इनका प्रभाव अत्यंत व्यापक तथा दूरगामी हुआ। इन आंदोलनों के रूप में मानो आधुनिकता का अरुणोदय हुआ।

पुनर्जाग्रति का आरंभ सामान्य तथा ई. स. १४५३से समझा जाता है जब तुर्कोंने कुस्तुंतुनिया (Constantinople) पर अपना अधिकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वहां के विद्वान् इटली में जा बसे। उनके द्वारा प्राचीन यूनानी तथा यूनानी-रूमी दर्शन और साहित्य अपने मूलरूपमें पढे जाने लगे। इसका फल यह हुआ कि संप्रदायवादियों द्वारा अधिकृत एरिस्टॉटल और मूल एरिस्टॉटल में बहुत अंतर निकला। प्राचीन विद्याओं का यह अभ्यास क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। इसने फिरसे स्वतंत्र वैचारिक जीवन की प्रस्थापना की। इससे गिरजा तथा मध्यकालीन धर्मांधताको तीव्र आघात पहुंचे।

इसी काल में युगांतरकारी और विश्वव्यापी परिणामकारक कुछ अन्वेषण तथा आविष्कार हुए जिन्होंने तत्कालीन जीवन में अभूतपूर्व क्रांति कर दी। बारूद के अन्वेषण ने युद्धशास्त्र में आमूलाग्र परिवर्तन करके सामंतों और धर्माध्यक्षों के विरुद्ध राजाओं की सत्ता प्रबल कर दी। मुद्रण-यंत्र के आविष्कार ने जनता में नवीन साहित्य तथा ज्ञान का प्रचार प्रसार कर के जाग्रति की लहर सब दूर फैलाई। इसी समय देशी भाषाओं का प्रचार हुआ, जिस में प्रेसने बहुत कुछ हाथ बढाया। इन भाषाओं ने लॅटिन भाषा का महत्व कम कर के चर्च की सत्ता को धक्का पहुँचाया। दूरवीक्षण यंत्रके आविष्कार के कारण ग्रहमंडल मनुष्य की दृष्टि के विषय बन गये, जिसके फलस्वरूप प्रचलित स्वर्गादि की कल्पनाएं डगमगाने लगीं। दिग्दर्शक यंत्र ने जलपर्यटन के मार्ग की बहुत बडी कठिनाई दूर कर दी। इसका तत्कालीन परिणाम नये नये भौगोलिक प्रदेशों के खोज निकालने में हुआ जिनने ज्ञात विश्वके मानचित्र को पूर्ण रूप से बदल दिया।

प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन की प्रवृत्ति बढने लगी, जिसके मार्ग में चर्च बाधक हुई थी। परंतु अब इसी अध्ययन ने चर्च के अधिकार की जडें ढीली कर दीं। शब्दप्रमाण का स्थान अनुभव तथा परीक्षा लेने लगे। इनने परंपरागत अंधविश्वासों, अविचारित सिद्ध कल्पनाओं तथा पूर्वग्रहों को धक्का पहुंचाकर विचार, आलोचना, जिज्ञासा, नवीन प्रयोग, तथा संदेह की प्रवृत्ति को जन्म दिया, लेओनार्दो दा विन्ची (Leonardo da Vinci), कोपरनिकस, टायकोब्राही, गॅलिलियो प्रभृति प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक हुए जिनने विश्वविषयक समस्त रूढ कल्पनाओं को उथल पुथल करके चर्च के द्वारा प्रतिपादित मतों को हास्यास्पद सिद्ध किया। कोपरनिकस के सूर्यकेंद्रक सिद्धांत ने विश्वसंबंधी प्रचलित धार्मिक सिद्धांतों को हमेशा के लिये नष्टभ्रष्ट कर दिया। चर्च ने इन वैज्ञानिकोंके सिद्धांतोंका घोर विरोध किया। सन १६१६ में गॅलिलिओंको 'मेरे मत गलत है' यह कहने को बाध्य किया तथा ब्रूनो (Bruno)को जिंदा जला दिया (सन १६००)। परंतु अंत में विजय नवीन विज्ञान की ही हुई।

इसी समय जर्मनी में धर्मसुधार की लहर उठी। चर्च के अधिकारी द्रव्य लेकर पापोंसे मुक्त करनेवाले पत्र दिया करते थे। मार्टिन लूथर ने इसी निमित्त को लेकर चर्च के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खडा कर दिया। इसको अनुयायी भी खूब मिले जो विद्रोह में इससे भी आगे निकल गये। धर्म सुधारक लोग अपने तथा ईश्वर के बीच में किसी की मध्यस्थता नहीं चाहते थे। बायबल का स्वयं अध्ययन, व्यक्ति की सदसद्विवेकबुद्धि, श्रद्धा तथा ईश्वर की कृपा ये बातें इनके मतसे आध्यात्मिक दृष्टिसे वैयक्तिक कल्याण के लिये पर्याप्त थीं, राजालोगोंने धर्माध्यक्षों के विरुद्ध अपनी सत्ता बढाने की दृष्टि से इस आंदोलन का साथ दिया, इस प्रकार चर्च की सार्वभौम सत्ताके सब प्रस्तर एक एक करके खिसकने लगे।

उपर्युक्त सब बातों का सामूहिक परिणाम मध्ययुग के अंत तथा आधुनिक युग के प्रारंभ में हुआ। इस आधुनिकता के कुछ विशेष लक्षण हैं, जो इसे मध्ययुग से अलग करते हैं। यथा व्यक्तिकी स्वतंत्र सत्ता की प्रस्थापना, विचार तथा भावना के क्षेत्र में स्वतंत्रता, जिज्ञासा वृत्ति, ऐहिक जीवन का समुचित महत्त्व, आलोचनात्मक वैज्ञानिक दृष्टि, अनुभव तथा प्रत्यक्ष प्रयोग, बुद्धि के अपरिमित सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास, अधिकार, परंपरा, तथा शब्दप्रमाण में अविश्वास, शंका तथा संदेह की वृत्ति, तत्त्वज्ञान का धर्म से पृथक्करण, विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में चिकित्सक बुद्धि के द्वारा निष्पक्ष तथा स्वतंत्र अनुसंधान, समस्त सृष्टि वैचित्र्य की पहेली सुलझाने में सर्वथा प्राकृतिक कारणों का अवलंब, इत्यादि।

संक्रमणकाल में संघर्ष में से मार्ग निकालते हुए आधुनिकता के ये लक्षण एकएक करके ऊपर की ओर आते हैं, तथा १७ वीं शताब्दितक निश्चित रूप धारण करने लगते हैं। इस काल में छोटे बडे अनेक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक हुए जिनका ऐतिहासिक महत्व इसीमें है कि, उनने 'आधुनिकता' (Modernism) के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया। इनमें फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) तथा ब्रूनो (Bruno) प्रमुख हैं। फ्रांसिस बेकन को नवीन वैज्ञानिक पद्धति निश्चित करने का श्रेय प्राप्त है। उसने प्रत्यक्ष अवलोकन (Observation) और परीक्षा (Experiment) के आधारपर व्याप्ति ग्रहकी ओर ध्यान आकर्षित किया। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'नवीन तर्कशास्त्र' (Novum Organum) में आगमनात्मक तर्कपद्धति (Method of induction) का महत्व बतलाकर वैज्ञानिक पद्धति की नींव डाली। ब्रूनो की अनेकविध रचनाओंमें आधुनिकता का नवीन दृष्टिकोण सम्यक् लक्षित होता है। स्पिनोझाकी दृष्टि से उसका महत्व उसके सर्वेश्वरवाद में है। परंतु ब्रूनो की प्रतिभा काव्यमयी थी। उसे हम कविदार्शनिक कह सकते हैं। उसके ग्रंथ काव्य की ओजमयी स्फूर्ति से युक्त हैं, परंतु उनमें स्पिनोझाकी शांत, गंभीर, स्पष्ट तथा तर्कशुद्ध विचारशीलता का अभाव है। इस प्रकार हम सत्रहवीं शताब्दितक आते हैं, जिस में आधुनिक पाश्चात्य दर्शनका यथार्थ रूपसे प्रारंभ होता है।

१७ वीं शताब्दि

पाश्चात्य दर्शनेतिहासमें सत्रहवीं शताब्दि श्रेष्ठ तथा सुसंबद्ध शास्त्ररचना की दृष्टि से अपना अनोखा महत्व रखती है। इसीलिये इसे 'प्रतिभा की शताब्दि' (The century of genius) यह गौरवसूचक अभिधान यथार्थता के साथ दिया गया है। स्पिनोझाको इस प्रतिभा की शताब्दिका केन्द्रस्थ या मुख्य विचारक होने का सौभाग्य प्राप्त है, क्योंकि उसमें समस्त विचारधाराएं अपूर्व सामंजस्य के साथ आकर मिलती हैं×। इस शताब्दि में एक से एक बढकर रचनात्मक दार्शनिक विचार पद्धतियों का (Systems of thought) निर्माण हुआ जिनका महत्व आज दिनभी किसी प्रकार कम नहीं हुआ है। इस वैचारिक उर्वरता के कुछ स्पष्ट कारण हैं। इसके पूर्व की तीन शताब्दियों तक यूरोपके राष्ट्र अपने वैचारिक, धार्मिक तथा राजकीय जीवनको शिकंजे में कसनेवाले मध्ययुगीन बंधनों से छुटकारा पानेमें लगे हुए थे। पुनर्जागृति कालमें मध्ययुगीन बंधनों के विरुद्ध जो विद्रोह की लहर उठी, वह बहुत कालतक अपना विघटनात्मक और निषेधात्मक कार्य करके अब रचनात्मक कार्य का रूप धारण कर रही थी। पुनर्जाग्रतिरूपी अंशुमाली की विभिन्न किरणोंने मानव जीवन के एक एक अंग पर नवीन प्रकाश डालकर उसके दृष्टिकोण को आमूलाग्र परिवर्तित कर दिया, तथा विकास के लिये अभूतपूर्व नई नई दिशाएं भी बतलाई, जिनके कारण जीवनमें एक नवीन जाग्रति की ज्योति का संचार हुआ, जिसने उसे नई नई आशाओं और उमंगों से भर दिया। कुछ समयतक इस वस्तुवृत्तात्मक तथा वैचारिक संपदा की विपुलता के कारण सब की आंखें चौंधियासी गईं। परंतु सत्रहवीं शताब्दितक यह चकाचौंध, नवीन प्रकाश की अभ्यासजनित स्वाभाविकता में परिणत हो जानेके कारण, उस विपुल संपत्ति के व्यवस्थीकरण की ओर ध्यान आकर्षित होने लगा। नवीन विश्लेषणात्मक पद्धति रचनात्मक पद्धति का रूप धारण करने लगी।

इस काल में गणित की उन्नति हुई, जो इस कालके विचारकों के आकर्षणका केंद्र बन गई। गणितशास्त्र को एक सुदीर्घ कालके अनंतर वही प्रतिष्ठा का पद प्राप्त हो गया, जो प्लेटोने उसे दो सहस्र वर्ष पूर्व विशेष प्रयास के साथ दिया था। लेकिन इस कालके गणितशास्त्र में तथा प्लेटो के कालके गणित

× 'Spinoza is the central thinker of the seventeenth century. In him all lines of thought converge : mysticism and naturalism, theoretical and practical interests, which, with other thinkers of his century, stand in more or less opposition to one another, and where they occur in the same personality, excite internal conflict,-he sought to carry out logically and to show that it is precisely by means of this logical carrying out that their reconciliation is to be effected.' (History of Mod. Philosophy by Hoffding P.292, Vol. 1).

शास्त्र में एक महदन्तर दिखाई देता है। अब इस शास्त्रकी शक्ति तथा व्यापकता अत्यधिक रूपसे बढ जाती है। दार्शनिक विचार के क्षेत्र में गणित का प्रभाव प्रथम श्रेणी का समझा जाने लगा। गणित के इस आकर्षण का कारण थीं इस शास्त्र में पाई जानेवाली स्पष्टता, सुव्यक्तता, निःसंदिग्धता, अविरोधिता इत्यादि बातें। जैसे गणित में वैसे ही अन्यत्र भी ये ही बातें सत्यकी कसौटी बन गई। इसके परिणाम स्वरूप आधुनिक कालके प्रथम तीन दार्शनिक डेकार्ट, स्पिनोझा और लाइबनिझ (Leibniz) के विचारोंपर इस शास्त्रका पूरा पूरा प्रभाव दिखाई देता है। इतना ही नहीं, डेकार्टने किसी हदतक, परंतु विशेष करके स्पिनोझाने अपने प्रमुख तात्विक ग्रंथको अथ से इतिक ज्यामितिका बाह्याकार दिया।

बुद्धिवाद तथा अनुभववाद

(Rationalism and Empiricism)

उपर्युक्त तीन दार्शनिकों-डेकार्ट, स्पिनोझा, लाइबनिझ को बुद्धिवादी (Rationalists) कहा गया है तथा इनके पीछेके तीन दार्शनिकों-लॉक (Locke), बर्कले (Berkeley), ह्यूम (Hume)को अनुभववादी कहा गया है (Empiricists) इस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य दर्शन को हम बुद्धिवाद तथा अनुभववाद इन दो दलों में विभक्त पाते हैं। इन दोनों वादों की उत्पत्ति तथा भेद ज्ञान के उगम (Source) तथा मूल्यमापन की कसौटी (Norm) में हैं। बुद्धिवाद के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान या बाह्यानुभूति में सच्चे ज्ञान का उगम न होकर वह बौद्धिक या वैचारिक शक्ति में ही है। अनुभवप्राक् (a priori) सत्यों तथा अंतर्जात सहजोपलब्ध विचारों (innate ideas) से युक्त होना इस बुद्धि का सहज स्वभाव है। जिन सत्यों का उगम इस प्रकारकी बुद्धि में है, वे स्वतःप्रमाण हैं। ये निश्चित स्वतःप्रमाण सत्य वे ही हैं जिन्हें हम स्पष्ट, सुव्यक्त और निःसंदिग्ध रूप से देखते हैं। यह बुद्धिवाद एक तरह से आग्रहवाद (Dogmatism) भी है, कारण मानवबुद्धि की परीक्षाद्वारा उसकी मर्यादा की निर्धारणा का अभी कोई प्रश्न ही नहीं उठा। प्रारंभ के दार्शनिकों का इसी अपरीक्षित बुद्धि में अपरिमित विश्वास है। स्पिनोझाने इस प्रकार की परीक्षाका सूत्रपात अपने 'बुद्धिका सुधार' नामक अपूर्ण ग्रंथ में किया; परंतु इसकी विस्तृत परीक्षा तो आगे चलकर जर्मन दार्शनिक कांटने अपने 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' (Critique of Pure Reason) नामक ग्रंथमें की।

बुद्धिवादियोंके ठीक विपरीत हैं अनुभववादियों (Empiricists) के मत। इनके अनुसार समस्त ज्ञानका एकमात्र उगम इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुभवमें है। अनुभव प्राक् सत्य(a priori truths) और अंतर्जात सहजोपलब्ध विचार नाम की कोई वस्तु नहीं; और न स्पष्ट तथा सुव्यक्त कहे जानेवाले सत्य अवश्य रूप से निश्चित ही हैं, अधिक से अधिक उनका सत्य संभव कोटि का कहा जा सकता है। इनके मतसे ज्ञानका परतः प्रामाण्य है।

इन दोनों वादों के प्रतिनिधि प्रायः अपने मतों के निर्वाह में पूर्णतया सुसंगत नहीं हैं। उपर्युक्त भेद को छोडकर दूसरी दृष्टि से इन दोनों वादों में उभय सम्मत बातें भी हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान को दोनों वादी पूर्ण रूप से विश्वसनीय न मानने में एक मत हैं। बुद्धिवाद से यदि यह तात्पर्य हो कि ज्ञान की युक्तायुक्तता की कसौटी अधिकार (Authority) आप्तवाक्य, शब्दप्रमाण या ईश्वरीय प्रेरणा न होकर बुद्धि है तो आधुनिक काल की समस्त दार्शनिक रचनाएं बुद्धिवादी हैं। इतना ही नहीं, केवल इसी एक बात से उन्हें हम आधुनिक कहते हैं। बुद्धिवाद से तात्पर्य यदि तार्किक सुसंगति तथा युक्तियुक्तता से है तो अनुभववादी भी बुद्धिवादी हैं। इसी प्रकार, जहांतक इस बात का संबंध है कि हमारी तत्वचिंता का विषय मध्यकालीन पारलौकिक जीवन न होकर हमारे अनुभव का जगत ही है, तथा इसी का हमें अर्थ लगाना है तो बुद्धिवादी भी इस बात में अनुभववादियों के विरोधी नहीं। बुद्धिवादी इस बात के भी विरोधी नहीं कि इंद्रिय प्रत्यक्ष के अभाव में 'शुद्ध विचार' असंभव है। तथापि ज्ञान के मूल स्रोत तथा उसके प्रामाण्य को लेकर दोनों के विरोध तीव्र स्वरूप के हैं, जिनके अनिष्ट परिणामों को देखकर जर्मन दार्शनिक कांटने उनकी एकांगिताओं को ज्ञानशक्ति की परीक्षा द्वारा दूर करने का प्रयत्न करके दोनों का समन्वय कर दिया।

(Descartes) डेकार्ट

(१५९६-१६५०)

अब हम आधुनिक काल के श्रेष्ठ बुद्धिवादी फ्रेंच दार्शनिक डेकार्ट के मतों का संक्षेप में विचार कर लें, कारण एक तो वह स्पिनोझाका निकटपूर्ववर्ती दार्शनिक है, दूसरे उसका प्रभाव

स्पिनोझा की दार्शनिक रचना पर औरों से कहीं अधिक है। डेकार्ट ने जिन समस्याओं को उठाया था परंतु जिनको वह सम्यक्तया हल नहीं कर सका उन्हीं समस्याओं को लेकर उनकी विसंगतियों को दूर करने का प्रयत्न स्पिनोझा ने किया। इसलिये स्पिनोझा की रचना को डेकार्ट के विचारों का तार्किक परिणाम कहा गया है।

डेकार्ट को पूर्ण मतैक्य से आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का आद्य प्रवर्तक और जनक होनेका श्रेय प्राप्त है। यह ठीक भी है। इसके पूर्ववर्ती संक्रमणकालीन विचारकों में मध्यकाल से संबंध विच्छेद दिखलानेवाली तथा आधुनिकता की सूचक प्रवृत्तियाँ अलग अलग रूप से अवश्य पाई जाती हैं, परंतु मध्यकाल से पूर्णतया ऊपर उठकर रचनात्मक कृतिनिर्माणक्षमता किसी में भी नहीं दिखाई देती। डेकार्ट की विशेषता इसी बात में है कि उसने तात्विक क्षेत्र में नई वैज्ञानिक पद्धति का अवलंब करके उसके आधारपर स्पष्ट तथा असंदिग्ध शब्दोंमें अपने दार्शनिक विचारों की इमारत खडी की। उसकी नई संशय की पद्धति (Method of Doubt) ने तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र में हलचल पैदा कर दी, तथा आज भी उसका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं हुआ है। उसके दार्शनिक विचारों ने विभिन्न समस्याओं को जन्म दिया जिनको लेकर एक के पीछे दूसरी महत्वपूर्ण रचनात्मक कृतियों का निर्माण हुआ।

डेकार्ट परम जिज्ञासु था। उसकी एकमात्र महत्वाकांक्षा थी ऐसा निःसंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करना जिससे सब समस्याओं का हल हो सके। पाठशाला की सर्वोच्च शिक्षाने उसे इस दिशा में निराश किया, इतनाही नहीं विभिन्न मतमतांतरों ने उसके मन में नाना प्रकार के सन्देह तथा शंकाएं उत्पन्न करके उसकी व्यग्रता को बढा दिया। उसने जगत् के विशाल ग्रंथ में ज्ञान प्राप्त करने का निश्चय किया परंतु यहां भी विशेष सफलता न मिली। धर्म भी सहायक न हुआ क्योंकि धर्म निसर्गातीत तत्वोंके आधार पर स्थित है। अब उसे एकमात्र अंतिम आधार अपनी बुद्धि का ही दिखाई दिया। इस समय उसकी आकुलता इतनी बढ गई थी कि उसने दैवी प्रकाश के लिये प्रार्थना करके यह संकल्प किया कि यदि उसका अभीष्ट सिद्ध हो जाय तो वह लॅरेटोकी यात्रा करेगा। अंत में उसे गणित शास्त्र में अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति की झलक दिखाई दी। डेकार्ट स्वयं एक श्रेष्ठ गणितज्ञ था- वह गणितज्ञ दार्शनिक था, दार्शनिक गणितज्ञ नहीं। उसने देखा कि गणित में हम निःसंदिग्ध तथा निश्चित तर्क पाते हैं। यांत्रिक विज्ञान की अद्भुत उन्नति का कारण गणित ही है। इसलिये उसने तात्विक विचार को भी गणिती पद्धति का ठोस आधार देने का निश्चय किया। गणित में हम (विशेषकर ज्यामितिमें) थोडे से स्वयंसिद्ध सत्यों के आधार पर विभिन्न प्रमेयों को निगमनपद्धति (Deduction) से निकाल लेते हैं और ये प्रमेय भी उतनेही निःसंदिग्ध होते हैं।

हम कुछ सरल स्वयं प्रमाण सत्यों से उत्तरोत्तर दुरूह लेकिन निश्चित प्रमाणभूत सत्यों को प्राप्त करते चले जाते हैं। दार्शनिक क्षेत्र में यदि हमें एक भी ऐसा सर्वोच्च पूर्ण निश्चयात्मक तत्व मिल जाय तो हमारा काम चल जाय, लेकिन इस निःसंदिग्ध तत्व की खोज करने के पहिले हमें अपने उन सब पूर्वग्रहों, धारणाओं तथा अविचारित सिद्ध मतों को ताकपर रख देना चाहिये जो सन्देह के विषय हो सकें। इस दृष्टि से आप्तवाक्य, परंपरागत ज्ञान, संप्रदायवादियों के विचार मतमतांतरों से इतने ग्रस्त हैं कि उनको स्वीकार करनेका प्रश्नही नहीं उठता, वे बालू की भींतपर खडे हैं। रहा इन्द्रियगम्य ज्ञान, वह तो अविश्वसनीय ही है। अब रह गया केवल संदेह। इस प्रकार अनवस्था निर्माण होने का प्रसंग उपस्थित होनेपर संदेह स्वयं एक नवीन मार्ग बताकर अपने स्वयं को दूर करने का रास्ता भी दिखा देता है। वह इस प्रकार-यदि संदेह है तो विचार है, कारण संदेह विचार का एक प्रकार ही तो है। अतएव यह बात निश्चित है कि मैं विचार करता हूं। लेकिन यदि यह ठीक है कि मैं विचार करता हूं तो यह संभव नहीं कि मैं न हूँ +। मेरा विचारही मेरे अस्तित्व का निःसंदिग्ध स्वयं प्रमाण है, कारण मेरे अस्तित्व के अभाव में 'मैं विचार करता हूं' यह कथन भी कैसे संभव हो सकता है? मैं विचार करता हूं इसीलिये मैं हूँ। (Cogito ergo sum' 'I think therefore I am') यह आत्मप्रत्यय कोई अनुमान नहीं। यह तो स्वानुभव या सर्वानुभव सिद्ध, परमोच्च सर्वाधारभूत बौद्धिक सत्य है। इस प्रकार हम उस निश्चित स्वयं सिद्ध तत्व पर पहुंचते हैं जो हमारे अध्यात्मशास्त्र का प्रस्थान-बिंदु हो सकता है। इस मूल तत्वसे हमें सत्यकी कसौटी भी मिल

+ "अस्ति स्वयमित्यस्मिन्नर्थे कस्यास्ति संशयः पुंसः। अत्रापि संशयश्चेत् संशयिता यः स एव भवसि त्वम् "- शंकराचार्यकृत स्वात्मनिरूपणम्, श्लोक ४

जाती है। सत्य वही है जो निःसंदिग्ध है, और जिसका हमें स्पष्ट तथा सुव्यक्त आंतरिक प्रत्यय आ सके। इस प्रकार की सत्य कल्पनाएँ अनुभवप्राक् (a priori) और अंतर्जात (Innate) होती हैं, इंद्रियजन्य ज्ञानोत्तर नहीं (A posteriori)

अब हम अपने अभीप्सित मूल सिद्धांत तथा सत्यज्ञान की कसौटी से युक्त हैं। परंतु फिर भी हम अहं प्रत्यय के इसी दायरे में घिरे रहते क्योंकि इस स्वयंसिद्ध सत्यको छोड शेष सब विषय संदेहास्पद हैं, यदि हमारे मन में एक और विचार न होता। हम अपने विचारों में एक ऐसा विचार पाते हैं जिसकी उत्पत्ति हमारे ससीम व्यष्टि मानस में संभव नहीं; अभाव से उसकी उत्पत्ति कदापि संभव नहीं; इंद्रियजन्य ज्ञान में भी उसका उगम नहीं- वह है ईश्वर या अनंत और परिपूर्ण सत्ता का विचार। सांत कारण से अनंतत्वकी कल्पना की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि कार्यकारणभाव के नियमानुसार कार्य की महत्ता के अनुसार कारण की भी महत्ता होनी चाहिये। इसे पर्याप्त कारणता का नियम (Law of sufficient reason) कहते हैं। ईश्वर की कल्पना परिपूर्णता से युक्त भी है। अतएव ईश्वर के अस्तित्व में भला संदेहही क्या हो सकता है? कारण, परिपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करना उसे ससीम वस्तुओं से भी निकृष्ट बतलाना है। 'पूर्णत्व' में 'अस्ति' अपरिहार्य रूप से अंतर्भूत है। हमारे मन में परिपूर्ण ईश्वर की कल्पना है इसलिये ईश्वर है यह बात नहीं है। ईश्वर है इसी लिये हमारे मनमें उसकी कल्पना है। ईश्वर अपने आपको हमारी अंतर्जात (Innate) अनंतत्व की कल्पना में प्रकट किये हुए हैं। यह ईश्वरविषयक कल्पनाभी आत्मप्रत्यय के समानही असंदिग्ध, स्पष्ट, सुव्यक्त और सहजोपलब्ध है। जैसे आत्मप्रत्यय कोई अनुमान नहीं वैसेही ईश्वरकी सत्ता संबंधिनी यह युक्ति कोई अनुमान न होकर यह तो वह स्वयं प्रमाण सत्य है जिसका हमें अव्यवहित अपरोक्ष ज्ञान है।

"In reality, the ontological argument is no more of an inference than the cogito ergo sum. It is an axiom, a truth which the soul perceives immediately and prior to all reflection." *

इन दो अविवादास्पद बातों की सिद्धि के साथ ही संसार की सत्यता अपने आप सिद्ध हो जाती है। क्योंकि परिपूर्ण तथा परम कारुणिक ईश्वर मनुष्य को धोखा नहीं दे सकता। मानव दोष उसमें संभव नहीं। अतएव हम इस बात में निश्चित हो जाते हैं कि सृष्टि किसी दुष्ट शक्ति द्वारा निर्मित वंचना न होकर सत्य ही है। हमारी गलतियों तथा त्रुटियों के जिम्मेवार हम ही हैं।

डेकार्ट के अनुसार ईश्वर वह अनंत परमार्थ तत्व (Substance) है जो अपने अस्तित्व के लिये स्वेतर किसी पर अवलंबित नहीं परंतु शेष सब उसपर अवलंबित है। वह अपने अस्तित्व का स्वयंभू कारण आप ही हैं। आत्मा या मन (Mind)+ और शरीर या जड प्रकृति ये दो जन्य मूल तत्व (Created substances) हैं जो अपने अस्तित्व के लिये ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी पर अवलंबित नहीं। ये दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र हैं; इनका ज्ञान परस्परावलंबी नहीं। आत्मा या मन वह तत्व है जिसका प्रधान गुण विचार है। शरीर या जड प्रकृति का गुण विस्तार है। आत्मा शरीर के बिलकुल विपरीत स्वभाववान होने के कारण अविस्तृत है। शरीर विस्तृत और जड होने के कारण आत्माके ठीक विपरीत धर्म युक्त है। शरीर जड होने से बाह्य शक्ति द्वारा चालित होते हैं। उनकी गति का आद्य अचल चालक ईश्वर है। जड प्रकृति विस्तृत अचेतन वस्तु है। आत्मा अविस्तृत चेतन तत्व है। यही डेकार्ट के दर्शन का प्रसिद्ध द्वैत है (Cartesian Dualism)।

अब प्रश्न यह है कि इन अत्यंत विरोधी तत्वों में संबंध किस प्रकार होता है? इनका संबंध और पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया तो हमारे अनुभव का विषय है। इस बात में डेकार्ट को भी संदेह नहीं था, परंतु डेकार्ट ने इस प्रश्नका समाधानकारक हल नहीं बतलाया। दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव मानते हुए भी वह दोनों को परस्पर विरोधी और अलग अलग रखना चाहता था। उसके अनुसार इन दोनों की आपाततः

* Weber's Hist. of Ph. Foot note I, P. 311

\+ इस बातको न भूलना चाहिये कि पाश्चात्य दर्शन में कांट के समय तक Self, Subject, Ego, Soul, Spirit, Mind, अर्थात् आत्मा, मन, बुद्धि, विषयी, परिच्छिन्न अहम् इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। इसलिये 'आत्मा या मन' इस प्रकार का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है।

दीखनेवाली एकता यांत्रिक स्वरूपकी है। मनुष्यशरीर भी पशुओंके शरीरके समान ही एक स्वयंवह या स्वयंगतिशील यंत्र है, परंतु मनुष्य में विचार की विशेषता है जो उसे पशुओंसे अलग करती है। शरीरमें यंत्रके समान क्रिया चलती रहती है जिसके द्वारा प्राण शक्ति (Animal spirits) उत्पन्न होती रहती है। मनुष्यशरीरमें यह क्रिया ज्ञान द्वारा नियमित होती है जो मन या आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। यद्यपि आत्मा या मन सर्वशरीरगत है तथापि उसका प्रधान केंद्र एक विशिष्ट शीर्षग्रंथिमें (Pincal gland) है जहां मनद्वारा शरीरकी गति स्थिति आदि का नियंत्रण प्राणशक्ति (Animal sprits) की सहायता से होता है। डेकार्ट यंत्रशास्त्रके सिद्धांतोंके अनुसार भौतिक जगत्का अर्थ लगाना चाहता था; साथ ही वह धर्मशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित चेतन तत्वके लिये भी गुंजाइश रखना चाहता था, इसलिये उसे इतनी खींचातानी करनी पडी। परंतु आत्मा तथा भौतिक पदार्थोंको अलग अलग करके उसने भौतिक क्षेत्र प्राकृतिक विज्ञानोंके लिये स्वतंत्र कर दिया।

डेकार्टके दार्शनिक विचारोंने कुछ विशेष समस्याओंको जन्म दिया जिनका अलग अलग अर्थ लगाया जासकता था। इनमें दो समस्याएं मुख्य हैं। इनमेंसे पहिली तो मूलतत्व और दो जन्य मूलतत्वोंकी समस्या है और दूसरी शरीर और मनमें होनेवाली परस्पर क्रिया प्रतिक्रियाकी। पहिलीके विषयमें डेकार्टने मूलतत्व और दो जन्य तत्वोंके संबंधोंका स्पष्ट विवेचन नहीं किया था। इनके संबंधोंको लेकर विभिन्न विचार संभव हो सकते थे। (१) तत्ववस्तु केवल एक ही है जिसे मानव बुद्धि जड तथा चेतन इन दो रूपोंमें देखती है। जड और चेतन दो स्वतंत्र तत्व न होकर एकही मूलतत्वके दो रूपोंसे आविष्करण मात्र हैं। यह सर्वेश्वरवाद है जिसका पुरस्कार स्पिनोझाने किया। (२) जड तत्वको मिथ्या बतलाकर चेतन तत्वको महत्व देकर प्रत्ययवादकी स्थापना करना—यह मत डेकार्टके मतानुयायी मालब्रांश (Malebranche) तथा अन्य प्रत्ययवादियों (Idealists) का है। (३) इसके विरुद्ध जड तत्वको प्राधान्य देकर भौतिक वादका स्वीकार, जो हॉबज(Hobbes) ला मेट्री (La Mettrie) तथा अन्य फ्रेंच भौतिक वादियों का मत है।

इसी प्रकार जड तथा चेतनके परस्पर संबंधोंके विषयमें भी मतभेद हुए। डेकार्ट के अनुयायी आरनॉल्ड ग्यूलिंक (Arnold Geulincx) तथा मालब्रांशने इस विषयमें विशेष दिलचस्पी ली। ग्यूलिंक के मत से इनके परस्पर संबंध प्रत्येक अवसरपर ईश्वर द्वारा स्थापित किये जाते हैं। इसलिये इसे अवसरवाद (Occasionalism) कहते हैं। मालब्रांश भी शरीर तथा मनके परस्पर संबंधके लिये ईश्वरकी शरण लेता है। इसके मत से हमारे यावत अनुभव वस्तुओं के न होकर ज्ञान के ही हैं। हमारा यह ज्ञान ईश्वरके ज्ञानके अंतर्गत है। इसलिये ईश्वरके ज्ञानमें ही हम सब वस्तुएं देखते हैं।

'अवसरवाद' पर मध्ययुगीन संप्रदायवादका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। तात्विक क्षेत्रमें युक्तियुक्त तर्कका आश्रय छोडकर निरी श्रद्धा तथा विश्वासका आश्रय लेनेके कारण उसका विशेष मूल्य नहीं। स्पिनोझा सरीखा दार्शनिक तो उसको कदापि स्वीकार नहीं कर सकता था। डेकार्टके द्वारा निर्दिशित गणिती पद्धतिको पूर्णतापर पहुंचाकर डेकार्टके मतोंकी विसंगतियों को दूर करके मोक्ष फलदायक अध्यात्म शास्त्र निर्माण करनेका काम स्पिनोझाने किया। परंतु इसके पहिले कि हम उसका विचार करें प्राक् स्पिनोझा कालीन सर्वेश्वरवाद के विषय में कुछ कह देना उचित होगा।

सर्वेश्वरवाद (Pantheism)

सर्वेश्वरवादका सामान्य सर्वमान्य रूप है 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः।' परंतु जगत्की सत्ताके मूल्य (ontological Status of the universe) को लेकर सर्वेश्वरवादके

1 But the resurrection of a prehistoric and almost forgotten civilization from the buried cities of Crete has brought to light many evidences of frequent intercourse, two or three thousand years before the christian era, between European and Egyptian, or Asiatic centres of life... thus, later Greek Philosophers, whether themselves within sound of the echoes of Hindoo teaching or not, may very well have grown up in an atmosphere impregnated with mystic germs, whose origin they did not know" –Pantheism by Picton pp. 37-38

स्वरूप भी भिन्नभिन्न हो जाते हैं जिनका विस्तृत विवेचन यहां संभव नहीं। यह निश्चित है कि सर्वेश्वरवाद बिना एकतत्ववाद (Monism) के संभव नहीं। इस दृष्टिसे वैदिक सर्वेश्वरवाद सबसे प्राचीन है। संभव है कि अन्य देशोंमें वह यहींसे गया हो।१

यूनानी दर्शनमें हमें ई. पू. ६०० से ही एक तत्ववाद दिखाई देता है यद्यपि प्रारंभमें यह तत्व भौतिक ही समझा गया। परंतु इसी एकतत्व को दैवी कहनेके साथ ही सर्वेश्वर वादका प्रारंभ कहा जा सकता है। इलियाके क्झेनोफेनीज (Xenophanes) तथा उसके शिष्य पारमेनिडीज (Parmenides) में यह कल्पना निश्चित रूप धारण करती है। पारमेनिडीजका सर्वेश्वरवाद वेदांतके सर्वेश्वरवाद या जगन्मिथ्यात्व वादसे मिलता जुलता है। हिरेक्लिटस (Heraciltus) के सर्वेश्वर वादका स्वरूप गतिशील (Dynamic) है। परंतु हम प्राचीन दर्शनमें सर्वेश्वर वादके सच्चे स्वरुपका आविष्करण स्टॉईक्स (Stoics) पंथके दार्शनिकोंमें पाते हैं (ई. पू. ३ री शताब्दि)। इनका प्रभाव इनके अनंतर सब प्रकारके सर्वेश्वर वादियोंपर किसी न किसी रूपमें दिखाई देता है। अलेक्झांड्रियाके यहूदी-यूनानी दर्शनमें तथा नवप्लेटो वादियों (Neo-Platonists) में भी सर्वेश्वरवादकी प्रवृत्ति दिखाई देती है।

तथापि पाश्चात्य दर्शनमें सर्वेश्वरवादका जैसा निखरा हुआ रूप हम स्पिनोझामें पाते हैं वैसा उसके पहिले अन्य किसी में नहीं। पहिलेके दार्शनिक ईश्वर ही जगत् है यह कहने में हिचकिचाते थे। यह हिचकिचाहट ईश्वर और जड जगत्के बीच मध्यवर्ती वस्तुओंकी कल्पनामें प्रकट होती है। इसी प्रकार कुछ दार्शनिक नियतिवादका स्वीकार करनेपर भी मनुष्यकी स्वतंत्र इच्छाको अपवादात्मक समझते थे। स्पिनोझा इन दोषोंसे मुक्त है। पुनः, स्पिनोझाका सर्वेश्वर वाद उसके दार्शनिक विचारोंतक ही मर्यादित नहीं था, वह तो उसके लिए धर्म था।

"Pantheism as a religion is, with certain exceptions among Indian saints and later Neoplatonists, almost entirely a modern development, of which spinoza was the first distinct and devout teacher" +

अर्थात् 'सर्वेश्वरवाद धर्मरूपसे तो भारतीय संतों तथा उत्तरकालीन नवप्लेटोवादियोंके कुछ अपवादोंको छोडकर करीब करीब संपूर्ण रूपसे आधुनिक विकास है जिसका आद्य विविक्त और उत्साही शिक्षक स्पिनोझा है।

स्पिनोझा का जीवन चरित्र

[प्रकरण २]

अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिंद्यं आहारं कुर्यात्प्राण संधारणार्थं। प्राणं संधारयेत तत्वजिज्ञासनार्थं तत्वं जिज्ञास्यते येन भूयो न दुःखम्। आहारार्थं समीहेत युक्तं तत् प्राणधारणम्। तत्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते॥

श्रीमद्भागवत- ११-१८-३४

बॅरूच (Baruch) या बेनेडिक्ट× स्पिनोझाका जन्म २४ नवंबर सन १६३२ में हॉलैंड की राजधानी ऍमस्टरडॅममें हुआ था। उसके मातापिता यहूदी थे जो धार्मिक अत्याचारोंसे ऊबकर पोर्तुगालसे स्पेनमें तथा स्पेनसे हॉलैंडमें आकर बस गए थे, क्योंकि यहाँ धार्मिक स्वतंत्रताके लिये अधिक अवसर थे। स्पिनोझा बचपनसे ही अत्यंत कुशाग्र बुद्धिका था। उसकी प्रारंभिक शिक्षा यहूदी पाठशालामें हुई। यहाँ उसने यहूदी धर्मग्रंथों तथा इब्नइझ्रा (Ibn Izra), मेमोनाइडीज (Maimonides), क्रेस्काज (crescas) गर्सोनाइडीज (Gersonides) प्रभृति यहूदी दार्शनिकोंके सिद्धांतोंको आत्मसात किया। उस समयका यहूदीदर्शन और साहित्य अत्यंत समृद्ध था। उसमें अरबी यूनानी रूमी, और संप्रदायवादी दर्शनोंके प्रमुख विचारोंका समावेश था। इस प्रारंभिक अध्ययनका प्रभाव स्पिनोझाके एकेश्वरवादके रूपमें स्पष्ट

+ Pantheism by Picton. pp 13.14

× बॅरूच यह यहूदी नाम है जिसका लॅटिन रूप बेने डिक्टस (Benedictus)

दिखाई देता है, जो उसके दार्शनिक विचारोंका प्रमुख आधार है।

परंतु शीघ्रही अधिकांश यहूदी धार्मिक विचारोंसे उसके मतभेद होने लगे। उसके अध्यापक उसके प्रश्नोंका समाधान करनेमें सफल न हो सके; अतएव उसने नये और अधिक व्यापक क्षेत्रोंको टटोलना शुरू किया। उसने लॅटिन भाषाकी शिक्षा वॉनईंड (Van ende) नामके एक चिकित्सकसे पाई जो अपने विज्ञान प्रेम और स्वतंत्र विचारोंके लिये प्रसिद्ध था। लॅटिन भाषा ने स्पिनोझा के लिये ज्ञान का एक नया भांडार खोल दिया क्योंकि तत्कालीन विद्वत्समाज में ज्ञान विज्ञानकी प्रचलित भाषा लॅटिन ही थी। इसी समय उसने प्राकृतिक विज्ञानोंका और वैज्ञानिकोंके ग्रंथोंका अभ्यास एक दूसरे चिकित्सक लडविग मेयर के पास किया। यह बहुत कुछ संभव है कि इसी समय उसने बेकन, हॉब्ज (Hobbes), तथा ब्रूनोके ग्रंथोंका अध्ययन किया। यदि यह ठीक है तो ब्रूनोका नवीन विश्वविज्ञान प्रचुर सर्वेश्वरवाद (Cosmological pantheism) स्पिनोझाको आकर्षित किये बिना न रहा होगा।

डेकार्ट उस कालका प्रमुख दार्शनिक था, अतएव स्पिनोझाने डेकार्टके ग्रंथोंका खूब उत्साहसे अध्ययन किया। आगे चलकर स्पिनोझाने अपने ग्रंथोंमें डेकार्टकी बहुतसी कल्पनाओंका उपयोग किया। परंतु यह कहना गलत होगा कि स्पिनोझा डेकार्टका अनुयायी था। इसका मुख्य कारण यह है कि यौवनके प्रारंभमें ही उसने अपने दर्शनकी रूप रेखा निश्चितसी कर ली थी। इसके अतिरिक्त, स्पिनोझा स्वतंत्र प्रतिभाका दार्शनिक था और १७ वीं शताब्दि वैचारिक दृष्टिसे अत्यंत समृद्धि शाली थी। हॉलैंड इस वैचारिक विविधताका केंद्र था। इसलिये जहांसे भी हो सकता था, स्पिनोझाने ज्ञान संचय करनेका प्रयत्न किया। परंतु जैसा कि प्रतिभावानोंका स्वभाव होता है उसने इस प्रचुर ज्ञान सामग्रीको अपने स्वयंके वैचारिक सांचेमें ढाल दिया। 'He took what he could whence he could, yet he adheres to his criginal vision× इस कारण उसके दार्शनिक विचारोंमें अनेक विचारधाराओंका समावेश होते हुए भी उसकी मौलिकतामें कोई न्यूनता न आने पाई। स्पिनोझा नाना विषय ग्राही विचारक था, अनेकांगी जातिमें उसका जन्म हुआ था और विविधताके युगमें वह रहता था "A many sided thinker, he came of a many-sided race and lived in a many-sidedage+ इसलिये ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

इस प्रकार धीरे धीरे उसके अध्ययनका क्षेत्र व्यापक होता गया। वह बहुभाषा कोविद था। करीब करीब दस भाषाओंका उसने अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया जिनमें यहूदी भाषाके अतिरिक्त स्पॅनिश, पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच, इंग्लिश और जर्मन भाषाओंका समावेश है। इसके अतिरिक्त उसकालमें उपलब्ध गणित भौतिक विज्ञानके विविध अंग, तर्कशास्त्र, राज्यशास्त्र इत्यादि विषयोंका उसने यथा योग्य ज्ञान प्राप्त किया। इस बौद्धिक विकासके साथ ही उसके वैचारिक जीवन में क्रांति होने लगी। अब उसके लिये यहूदी धर्मके संकुचित दायरेमें रहना असंभव सा जान पडने लगा। उसने धीरे धीरे प्रार्थना मंदिरमें जाना कम कर दिया और अंतमें एकदम छोड ही दिया। यह बात वहांके धार्मिक नेताओंके ख्यालमें आ चुकी थी। अतएव उन्होंने उसे इस नास्तिकतासे परावृत्त करनेमें द्रव्यादिका लोभ देकर कोई कसर न उठा रखी। उसके प्राण लेनेकी भी चेष्टा की गई। परंतु ये भय प्रलोभनादि सच्चे ज्ञानके पिपासुको अपने पथसे टससे मस न कर सके। उससे यहाँतक कहा गया कि वह केवल ऊपरी तौरसे यहूदी धर्मके तत्वोंके प्रति श्रद्धा व्यक्त करे और अपने स्वतंत्र मत अपने ही पास रखे, उन्हें प्रकट न करे। परंतु सत्य प्रेमी स्पिनोझाकी विशुद्ध आत्मा इस कापट्यमय आत्मवंचना और मिथ्याचारकी कल्पना तक सहन न कर सकी। आखिर इस मत स्वातंत्र्यकी कीमत उसे चुकानी पडी। २७ जुलाय सन १६५६ के दिन उसको यहूदी धर्म समाजसे नास्तिकताके अपराधमें घोर तिरस्कारके साथ बहिष्कृत कर दिया गया।

यहूदियोंके समानही ईसाई धर्मके लोग भी उसके मतोंके कारण उसे आतंक की दृष्टिसे देखने लगे और इन दोनोंने मिलकर कुछ समयके लिये उसे ऍमस्टरडॅमसे भी निकलवा दिया। अब स्पिनोझा पासके एक ग्राममें अपने मित्रके पास चला गया। कहते हैं कि इसी समय उसने अपना यहूदी नाम बॅरूच छोडकर बेनेडिक्टस बदल लिया। उस समय प्रत्येक यहूदीको

× Spinoza by leon Roth p 235, + Ibid P. 219

अपनी जीवन रक्षाके योग्य कोई न कोई कला या हुनर सीखना पडता था। स्पिनोझाने भी एक कला सीख ली थी। वह दूरवीक्षण अणुवीक्षणादि चाक्षुष यंत्रों के लिये, जिनका प्रचार उस समय बढ रहा था, शीशे बनाकर अपना जीवन निर्वाह करने लगा। इस कालमें उसने पर्याप्त निपुणता और ख्याति प्राप्त कर ली। इसी कालके कारण उसका लाइबनिझ तथा अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियोंसे परिचय हुआ। उसका शेष सब समय तात्विक विषयोंके चिंतनमें ही व्यतीत होता था।

इस समय कुछ नवयुवक उससे और उसके विचारोंसे प्रभावित होकर उसकी ओर आकर्षित होने लगे और इन प्रशंसकोंकी संख्या बढती ही गई। इन प्रशंसकोंमें अनेक बडे बडे तथा प्रसिद्ध व्यक्तियोंका समावेश था। इन नवयुवकों का एक धार्मिक संघ था जो कॉलिजिएंट्स (Collegiants) के नामसे प्रसिद्ध था। इस संघकी नैतिक शुद्धता तथा सीधेसादे सिद्धांतोंके कारण स्पिनोझाके मनमें इसके प्रति पर्याप्त आदर उत्पन्न हो गया। इस संघके सभासदोंका अब स्पिनोझाके परिचयसे एक दार्शनिक संघसा बन गया। पहिले तो इसमें डेकार्टके दर्शनकी चर्चा होती रही, परंतु बादमें स्पिनोझा अपने स्वयंके विचार लिखकर भेजने लगा। इनको लेकर संघमें चर्चा होती थी तथा विवाद्य विषयोंके स्पष्टीकरणके लिये स्पिनोझाको लिख दिया जाता था। इस प्रकार एक खासा पत्र साहित्य तैयार हो गया जो स्पिनोझाके दार्शनिक विचारों को समझनेके लिये अत्यंत उपयोगी है। स्पिनोझामें एक श्रेष्ठ शिक्षकके वे सब गुण वर्तमान थे जिनके कारण सब उसके मतों की ओर झुक जाते थे। इस प्रकार उसका इस मंडलीपर अद्भुत प्रभाव हो गया।

इसी समय उसने 'ईश्वर, मनुष्य और उसका कल्याण' (Short Treatise on God, Man and His wellbeing) नामक ग्रंथ लिखा जिसमें उसने अपने स्वतंत्र मतों का पहिली बार प्रतिपादन किया। सन १६६१ में वह रीन्सबर्ग (Rhynsburg) चला गया, कारण वह कॉलिजिएंट्स का मुख्य स्थान था। यहांपर उसने 'बुद्धिका सुधार' (on the improvement of the understanding) नाम का अपूर्ण ग्रंथ लिखा जिसमें तत्वज्ञानका प्रमुख ध्येय, दर्शनशास्त्र की पद्धति (Method) दार्शनिक सत्यासत्यका निर्णय इ. बातोंकी चर्चा है। इस ग्रंथका महत्त्व उसके प्रमुख तात्विक ग्रंथ 'नीतिशास्त्र' (The ethics) की प्रस्तावनाके तौर पर है। इसलिये वह अब अपना प्रमुखग्रंथ लिखनेमें ही लगा रहा। इसका पहिला भाग उपर्युक्त संघमें पढा गया। परंतु स्पिनोझा ऐसे गैरोंके सम्मुख अपने विचार प्रकट नहीं करता था। ऐसा करनेके पहिले वह योग्य अधिकारीकी अच्छी तरह से जांच परख कर लेता था। उसका अलबर्ट बर्ग (Albert Burgh) नामक एक शिष्य था जिसे उसने अपना ग्रंथ न तो पढाया और न बताया ही। उसके लिये उसने डेकार्ट के 'दार्शनिक सिद्धांत' (philosophical principles) के प्रथम, द्वितीय, तथा तृतीय भागके कुछ अंशको ज्यामिति पद्धतिसे लिख दिया। इसी ग्रंथको उसने 'आध्यात्मिक विचार' (Meta physical thoughts) नामका परिशिष्ट जोडा है।

सन् १६६३ में वह हेग (Hague) के समीप वूरबर्ग (Voorburg) चला गया ताकि वह अपने मित्रोंके विशेष कर डी विट (De witt) बंधुओंकी सन्निधिमें रह सके। यहीं पर उसने 'नीतिशास्त्र' लिख कर पूरा किया परंतु विरोध की संभावनासे उसे प्रकाशित करनेका विचार छोड दिया। इसके अनंतर चार सालतक वह धर्मशास्त्र और राज्यशास्त्र विषयक ग्रंथ लिखनेमें लगा रहा जिसमें धार्मिक विश्वास और धार्मिक विचार तथा उच्चार स्वातंत्र्यका जोरदार युक्तियुक्त समर्थन है। इसमें उसने दर्शनशास्त्र तथा धर्मशास्त्रके क्षेत्र भिन्न बतलाकर यह कहा है कि धर्मशास्त्र का काम विधिनिषेध का प्रतिपादन करना है, जिसका अनुसरण जनसाधारणके लिये आवश्यक है; परंतु तात्विक विचार दर्शनशास्त्रके विषय हैं। बायबलकी निर्भीक आलोचनाका यह पहिला उदाहरण है। यह ग्रंथ (The theologico-Political Treatise) शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया परंतु धार्मिक अधिकारियों का विरोध इससे और भी बढ गया।

सन १६७० में वह हेग (Hague) चला गया और जीवनका शेष काल यहीं व्यतीत किया। उसका जीवन नितांत सादगी का, आवश्यकताएं अत्यंत इनीगिनी और आर्थिक व्यय बहुत ही परिमित था। वर्षके अंतमें प्रायः जमाखर्च बराबर ही रहता। उसके रोजके भोजनादिका खर्च साढेचार आनेसे अधिक न था। वह आजीवन अविवाहित रहकर तत्वचिंतन करता रहा। उसे अपनी आर्थिकस्थिति सुधारनेके अवसर न

थे यह बात नहीं। परंतु जीवन-यात्राके लिये जो पर्याप्त हो उससे अधिक धन वह जान बूझकर स्वीकार नहीं करता था। वह कहा करता था कि अधिक धन से चित्त व्यर्थ की बातों में दौडा करता है। उसके एक प्रशंसक सायमॉन डी व्राइज (Simon pe vries) ने उसे २००० फ्लोरिंस देना चाहे परंतु स्पिनोझाने इस प्रस्तावको विनोदमें ही टाल दिया। लेकिन इससे भी बडे प्रलोभनको उसने अपनेसे दूर रखा। जब इसी सायमॉन डी व्राइजने अपनी मृत्यु के समय उसे अपनी खासी बडी ज़मीन जायदाद का उत्तराधिकारी बनाना चाहा तो स्पिनोझाने न्याय उत्तराधिकारीके हकोंको कुचलना उचित न समझकर इंकार कर दिया। अंतमें स्वयं इस संपत्तिके उत्तराधिकारीने उसे ५०० फ्लोरिंस वार्षिक देना चाहे। परंतु 'यह रकम भी अधिक है' यह कह कर स्पिनोझाने केवल ३०० फ्लोरिंस वार्षिक लेना स्वीकार कर लिया। उसकी आर्थिक उदासीनताके और भी उदाहरण हैं। जब उसके संबंधियोंने पैतृक संपत्तिके उसके हिस्सेको हडपना चाहा तब उसने प्रथम तो कायदेसे अपना हक प्रस्थापित किया परंतु पीछेसे उन्हीं संबंधियोंको सिवा एक बिस्तरके सब कुछ दे दिया।

उसके एक और प्रशंसक डी विट बंधु उसे थोडी बहुत आर्थिक सहायता करते थे। सन् १६७२, ऑगस्ट की २७ तारीखको राजकीय मतभेदोंके कारण लोगोंने उद्विग्न होकर उन्हें मौतके घाट उतार दिया। यह खबर सुनकर स्पिनोझा को हार्दिक क्लेश हुआ। वह फूटकर रोया। उसका सात्विक क्रोध इतना बढ गया कि वह इस नृशंस कृत्यकी खुले आम भर्त्सना करनेको तैय्यार हो गया, यद्यपि इसका निश्चित परिणाम मृत्यु ही था। परंतु बडी कठिनाई से उसका हितचिंतक वॉन डेर स्पिक उसे इस निश्चयसे परावृत्त कर सका। इस उद्विग्नतामें स्वार्थ का लेश भी न था। कारण, जब डिविट बंधुओं के उत्तराधिकारी ने उसकी आर्थिक सहायता जारी रखने में आना कानी की तो स्पिनोझाने इस विषय में अत्यंत निःस्वार्थ वृत्ति का परिचय दिया जिससे प्रभावित होकर उसी उत्तराधिकारीने यह सहायता बंद न करना ही उचित समझा।

जब फ्रांसका आक्रमण नेदरलैंड्स पर हुआ तो फ्रेंच जनरल कोंडे (Conde) ने स्पिनोझासे मिलनेकी इच्छा प्रकट करके उसे बुला भेजा। साथ ही यह भी आश्वासन दिया कि फ्रांसके राजाको कोई पुस्तक समर्पण करनेसे उसको कुछ वार्षिक वृत्ति भी मिल सकेगी। स्पिनोझा फ्रेंच जनरल से मिलने तो गया परंतु उपर्युक्त प्रस्तावको उसने सविनय अस्वीकार कर दिया। उस समय वह फ्रेंच जनरल बाहर गया हुआ था, अतएव वह दूसरे लोगों से मिलकर चला आया। इस प्रकार शत्रु के शिबिर में जाने के कारण हेग में खलबली मच गई और उसपर जासूसीका संदेह किया गया। यहांतक कि उसके मित्रोंको उसके प्राणोंका भय स्पष्ट दिखाई देने लगा। परंतु इस गहरे संकटमें भी स्पिनोझाने उस नैतिक धैर्य्य और आत्मबलका परिचय दिया जो उसके जीवनका चिरसंगी था। अंतमें यह संकट भी निकल गया।

स्पिनोझाकी ख्याति अब काफी बढ चुकी थी। उसके प्रशंसकोंकी संख्या भी खासी बडी हो गई थी। इसका अन्दाज़ा इसी से बांधा जा सकता है कि सन् १६७३ में कार्ललडविग (karl Ludwig) नामक पेलेटिनेटके शासकने उसे हीडेलबर्ग (Heidelberg) के विश्वविद्यालयमें प्रोफेसरका स्थान स्वीकार करने को कहा, साथ ही उसे विचार स्वातंत्र्यका भी अभिवचन इस विश्वास पर दिया कि वह अपनी इस स्वतंत्रताका दुरुपयोग न करेगा। परंतु स्पिनोझाको अपने स्वतंत्र विचारोंके प्रतिपादन का निश्चित फल पहिले से ही मालूम था। इसके अतिरिक्त उसके निजी अध्ययन तथा चिंतनादिके लिये भी समय कम मिलता। उसका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था। इन अनेक कारणों से उसने इस सम्मानित पदको अस्वीकार करके तत्वचिंतन की अपनी एकांत साधना यथावत् जारी रखी। बेनने लिखा है कि इस सर्वेश्वरवादी विरक्तने यह बुद्धिमानीका ही काम किया क्योंकि उसके जैसे विचारोंके लिये आजदिन भी बर्लिन, कॅम्ब्रिज तथा एडिनबरो में दयापूर्ण व्यवहार की आशा निरर्थक ही है!! Butx the pantheistic recluse wisely refused it. Even at the present day such teaching as his would meet with little mercy at Berlin, Cambridge or Edinburgh.

x Hist. of Mod. Phil. by a. w. Bem P. 48.

उसका अंतिम ग्रंथ जो अपूर्ण है, राज्यशास्त्र विषयक है जिसमें उसके शासन व्यवस्था और कानून विषयक विचार हैं।

इधर धीरे धीरे उसका स्वास्थ्य गिर रहा था । उसको यक्ष्मा हो गया था जो आनुवंशिक (माता की ओर से) था । उसके कांच सैकल करने के व्यवसाय ने इसे और भी बढा दिया था । अंत में ४४ वर्ष की कम उम्र में २१ फरवरी सन् १६७७ को दोपहर के तीन बजे उसके निष्पाप जीवन का शांतिपूर्वक अंत हुआ। उसका माल असबाब इतनी कम कीमत का था कि, उसकी बहन रेबेका ने उसे लेना स्वीकार नहीं किया। उसकी मृत्यु के बाद उसका प्रमुख ग्रंथ ' नीतिशास्त्र ' प्रकाशित हुआ ।

मझला कद, यहूदी चेहरा, सुधर आकृति, सांवला रंग, काली लंबी भौंहें, तत्वचिंतकको शोभा देनेवाला भालप्रदेश, काले घुंघराले बाल, यह है संक्षेप में उसका बाह्य रूप रंग ।

स्वभावसे वह अपरिग्रही तथा मितव्ययी, परंतु प्रसन्नवदन, सरल, निष्कपट, मिलनसार तथा मधुरभाषी था । वह छोटे बडे सबके साथ समान भावसे मिलता था। वह अपने पास पडोसियोंको उनकी विपत्तिमें धीरज तथा सांत्वना दिया करता था। अभिजात स्वातंत्र्य प्रेम उसके चरित्रका प्रधान लक्षण था । अनुपम बौद्धिक साहस होते हुए भी वह परमत असहिष्णु नहीं था। सामान्य लोगोंके धार्मिक विश्वासोंमें दखल देकर उसने कभी उनका बुद्धिभेद नहीं किया। वह बच्चों को प्रार्थना मंदिर में जाने के लिये, तथा माता पिता के प्रति कर्तव्य परायण और आज्ञाकारी होने के लिये प्रोत्साहित किया करता था। पास पडोसियों से वह कभी कभी धर्मोपदेश की चर्चा किया करता था । एक बार उसकी मकान-मालिका (Land-Lady) ने उससे पूछा कि क्या उसका धर्म उसका उद्धार करनेमें समर्थ हैं, स्पिनोझाने उसे ढाढस बंधाकर उत्तर दिया " तुम्हारा धर्म अच्छा ही है । इसे छोडकर तुम्हें दूसरा खोजनेकी आवश्यकता नहीं और न तुम्हें इसी धर्ममें रहकर अपने उद्धारकी आशंका ही करनी चाहिये, जब तक तुम ईश्वर परायण तथा धर्म निष्ठामें दत्तचित्त हो और साथ ही जब तक तुम्हारा जीवन समाधान से युक्त तथा शांतिमय है । " सत्य से प्रेम तो उसके जीवन का ध्रुवतारा था। बच्चोंके साथ उसका व्यवहार मृदु, स्नेहपूर्ण, तथा खिलाडी वृत्ति का था। बच्चों के निष्पाप निष्कपट जीवन से उसे विशेष आकर्षण था ।

स्पिनोझाका जीवन पारमार्थिक एकांत साधना और दार्शनिक आत्मगत चिंतनशीलता का एक अत्युत्कृष्ट उदाहरण है । वह प्रायः अपने कमरेमें बैठकर तात्विक विचारोंमें गढा रहता और कई कई दिनों तक अपने कमरेसे बाहर न निकलता था। एक बार तो अनवरत तीन मास वह अपने कमरेमें ही रहा। परंतु साधारणतया जब वह विचार करते करते ऊब जाता तो अपने पास पडोसियों से सामान्य विषयोंपर बातचीत करके या तंबाखू पीकर जी बहला लिया करता था। चित्रकला भी उसके मनोविनोद का एक साधन थी ।

मानव जीवनकी परमोच्च इतिकर्तव्यताका सुस्पष्ट आकलन, तथा निःश्रेयस या परमपुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये आकुलता ये दोनों बातें यौवनके प्रारंभ से ही उसके मन में घर कर गई थीं । उसका अपूर्ण ग्रंथ 'बुद्धिका सुधार' जो किसी हदतक आत्मचरित्रका मूल्य रखता है, इस बातका साक्षी है । इसमें उसने तत्वनिष्ठा की ओर अपने स्वयं की प्रवृत्ति कैसे हुई इसका बहुत ही रोचक और उद्बोधक वर्णन किया है । उसने यह देखा कि सांसारिक मनुष्यों की दृष्टिसे धन, कीर्ति, तथा इंद्रियजन्य विषयोपभोग ये ही अत्यंत उपादेय हैं । लेकिन ये चित्त को इतना व्यग्र रखते हैं कि श्रेयोमार्गकी ओर उसका ध्यानही नहीं जाने देते । इतनाही नहीं आपात रमणीय विषय योग, क्षेम, तथा नाश इन तीनों अवस्थाओं में दुःखप्रद हैं । यह देखकर स्पिनोझाकी आकुलता इतनी बढ गई कि उसने अपनी तुलना उस मनुष्य से की है जो किसी प्राण घातिनी व्याधि से ग्रस्त होकर उससे छुटकारा पाने के लिये जूझ रहा हो या छटपटा रहा हो । जिस प्रकार वह मनुष्य यह जानकर कि यदि कोई इलाज ठीक समयपर न किया गया तो मृत्यु अवश्यंभावी है, उसके इलाज की खोजमें अपना तन, मन, धन सब अर्पण कर देता है, कारण उसकी एकमात्र आशा उसीमें होती है, उसी प्रकार अपने आपको भवरोगके घोर संकट से ग्रस्त पाकर उसने इलाजकी खोजमें जुटा दिया । अंतमें वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि किसी वस्तु से प्राप्त सुखदुःख उस वस्तु के अनुरूपही होते हैं। नश्वर वस्तु से शाश्वत सुख संभव नहीं । अनंत तथा चिरंतन परमार्थ वस्तु के चिंतनसेही निरतिशय शाश्वत आनंदकी प्राप्ति हो सकती है । इसलिये वही सर्वथा उपादेय है। इस परमार्थ वस्तुमें दूसरी सबसे बडी विशेषता यह है, जिसके

भौतिक वस्तुओंमें नितांत अभाव है, कि वह अनंत और अपरिछिन्न होनेसे बिना किसी संघर्षके सबके लिये, सच कालमें उसकी प्राप्तिका द्वार खुला है। स्पिनोझाके तात्विक विचारोंके विवेचनमें इस विषयका विस्तृत वर्णन है।

स्पिनोझा वैराग्य संपन्न था परंतु वह 'बैरागी' नहीं था। वैयक्तिक जीवनके विकासके लिये सामाजिक जीवनका मूल्य उसे खूब मालूम था। इसी तत्वका प्रतिपादन उसने अपने राजकीय ग्रंथोंमें, तथा किसी हदतक नीतिशास्त्रमें भी किया है, तत्कालीन सामाजिक और राजकीय घटनाओंमें उसे काफी दिलचस्पी थी। उसके परिचित लोगोंकी संख्या काफी बडी थी जिसमें सब तरहके लोगोंका समावेश है। उसकी स्वयंकी स्थिति साधारण होते हुए भी वह उस कालके गण्य-मान्य व्यक्तियोंके आकर्षणका केन्द्र बन गया था। बाहरके दूरदूरके लोगोंसे उसका पत्रव्यवहार उपलब्ध है। परंतु अपने परिचितोंके साथ उसका व्यवहार अत्यंत निस्पृहताका था। अपनी सखी रूखी खाकर जीवन निर्वाह करना उसे दूसरों के यहां दावतें उडानेकी अपेक्षा अधिक पसंद था।

अंतमें डॉ. अलबर्ट श्वेग्लर (Dr Albert Schwegler) की स्पिनोझा का चारुचरित्र वर्णन करनेवाली इन सुंदर पंक्तियों-द्वारा हम उसके साधु जीवन का उपसंहार करते हैं।

'The cloudless purity and sublime tranquillity of a perfectly wise man were mirrorred in his life. Abstemious, satisfied with little, master of his passions, never immoderately sad or glad, gentle and benevolent, of a character admirably pure. he faithfully followed the doctrines of his philosophy even in his daily life."

अर्थात् 'पूर्ण प्रज्ञाशील मनुष्य की निरभ्र पवित्रता तथा उदात्त शांतता उसके जीवनमें प्रतिबिंबित थी। युक्ताहारविहारी, अल्पसंतोषी, संयतेन्द्रिय, नातिप्रहृष्ट या विषण्ण, सुशील और परहितरत, इस प्रकार के प्रशंसनीय पावन चरित्र से मंडित उसने अपने दार्शनिक तत्वों का अनुसरण अपने दैनंदिन जीवन में भी प्रामाणिकता के साथ किया।

प्रकरण ३

तात्त्विक भूमिका

तत्वज्ञानविषयक भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणमें एक महत्व पूर्ण अंतर है। पाश्चात्य दर्शनका प्रधान उद्देश चिकित्सा बुद्धि द्वारा, जगत्की पहेलीको सुलझाना है। मनुष्यकी तात्विक जिज्ञासाकी तृप्तिका साधन तर्कशुद्ध बौद्धिक ज्ञान है और एक दृष्टिसे यही ज्ञान साध्य भी है। इस प्रकार इस बौद्धिक साधनामें बंध तथा मोक्षका प्रश्न ही नहीं उठता। बंध तथा मोक्षकी कल्पनाओंका वहां बिलकुल अभाव है यह बात नहीं, किंतु ये बातें वहां धर्मशास्त्र के अंतर्गत समझी जाती हैं। परंतु इसके विपरीत हमारे यहां स्थूलसे स्थूल दर्शन भी दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति तथा मोक्षकी प्राप्तिके लिये ही प्रवृत्त हुए हैं। हमारे यहां तात्विक प्रवृत्ति, जिज्ञासा पूर्तिके अतिरिक्त किसी गुरुतर उद्देशसिद्धि की साधनमात्र है, क्योंकि हमारे यहां केवल जिज्ञासा काकदन्त परिक्षा वत् निष्फल समझी गई है और निष्फल प्रवृत्ति तो संभव नहीं क्योंकि 'प्रयोजन मनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' तत्वज्ञानके बाद जिज्ञासा अतृप्त नहीं रह जाती यह बात दूसरी है, परंतु तत्वज्ञानका प्रधान लक्ष्य या प्राप्तव्य तो सकल दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति और मोक्षप्राप्ति ही है। मोक्ष स्वरूपमें यहां भले ही विवाद हो, परंतु मोक्षमें नहीं। तात्पर्य भारतीय दर्शन मोक्षशास्त्र है।

हम पहिले कह आए हैं कि स्पिनोझा डच कलेवरमें भारतीय आत्मा है। इसका प्रधान कारण यह है कि उसका तत्वज्ञान भी भारतीय तत्वज्ञान की तरह मोक्षशास्त्र है। उसके तत्व विचार का प्रारंभ परमार्थवस्तु से होता है और उसके अनुसार इसी परमार्थ वस्तु के साथ साक्षात्कारात्मक ज्ञान द्वारा ऐक्य प्राप्त करना मोक्ष का एकमात्र कारण है। यही तत्व विचार का

प्राकथन पृ.

अंतिमलक्ष्य भी है। स्पिनोझाने अपने प्रमुख तात्विक ग्रंथ नीतिशास्त्र के पांच भागों में से बंध तथा मोक्ष का विचार दो स्वतंत्र भागों में किया है। इस प्रकार का विचार आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में अनोखी बात है।

अपने 'बुद्धिका सुधार' नामक अधूरे ग्रंथ में स्पिनोझा ने सांसारिक पदार्थ नश्वर तथा दुःख पर्यवसायी कैसे हैं, तत्वज्ञान दुःखनिवृत्तिका साधन किस प्रकार है, और वह स्वयं समस्त सांसारिक प्रलोभनों से ऊपर उठकर परमार्थ वस्तु की प्राप्ति में किस प्रकार जी जान से जुट गया, इसका बहुत रोचक तथा उद्बोधक वर्णन किया है। यह ग्रंथ एक तरह से स्पिनोझाका आध्यात्मिक आत्मवृत्त (Spiritual autobiography) होने के कारण अत्यंत महत्व का है। भारतीय दर्शनकार सांसरिक वस्तुओंकी नश्वरता और दुःखरूपता तथा पारमार्थिक वस्तुकी चिरंतनता और परमानंदैकतानताका वर्णन करते करते नहीं ऊबते, परंतु आधुनिक पाश्चात्य दर्शनमें यह बात दुर्लभ प्राय है। अतएव उपर्युक्त ग्रंथ की प्रमुख पंक्तियों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। इन में स्पिनोझा का मानव जीवन और सर्व सामान्य दृष्टिकोण सम्यक् लक्षित होता है। इस ग्रंथ में हम एक तरह से स्पिनोझा के प्रमुख तात्विक ग्रंथ नीतिशास्त्र के चतुष्टय– अधिकारी, विषय, प्रयोजन और संबंध का सविस्तर वर्णन पाते हैं।

स्पिनोझा अपने ग्रंथके प्रारंभ में ही कहता है। "जब अनुभव से मैंने यह सीखा कि साधारण जीवन में पाई जानेवाली समग्र बातें (जिनका वर्गीकरण हम धन, कीर्ति और इन्द्रियजन्य सुखों में कर सकते हैं) व्यर्थ और निरर्थक हैं; साथही यह देखकर कि मुझमें चिंता और भय उत्पन्न करनेवाले विषयों में जहांतक मन उनसे प्रभावित होता है इसके अतिरिक्त स्वयं उनमें अच्छा या बुरा कुछ नहीं है, मैंने अंत में इस बात की खोज करनेका निश्चय किया कि, क्या कोई वास्तवमें अच्छी बात हो सकती है जो स्वयं अपने आपको प्रदान करने की क्षमता रखती हो, और जो मनको अन्य समस्त वस्तुओंसे हटाकर एकमात्र अपनेही द्वारा प्रभावित कर सके, क्या सचमुच ही ऐसी कोई वस्तु है जिसकी खोज और प्राप्ति के द्वारा मुझे अनवरत, नित्य और परमसुख की प्राप्ति हो सके ?"×

परंतु स्पिनोझा इस निश्चयपर एकदम न पहुंचकर पर्याप्त मानसिक संघर्ष, जिसने 'नित्यानित्य वस्तुविवेक' का स्वरूप धारण कर लिया था, के अनंतर ही पहुंचा। उसने विचार करके देखा कि यदि जगत्की वस्तुओं में सच्चा सुख हुआ तो इनको छोडने से सुखसे वंचित होना पडेगा। परंतु यदि इनमें सच्चा सुख न हुआ तब भी इनके पीछे लगे रहने से सच्चे सुख की प्राप्ति से निराश ही होना पडेगा अतएव उसने जीवन का नित्यक्रम न बदलते हुए ही किसी नये तत्व की खोज करनेका प्रयत्न किया परंतु उसके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए– "क्योंकि मनुष्यों के द्वारा (जैसा कि उनकी क्रियाओं से स्पष्ट है) परमश्रेय समझे जानेवाले ये धन, कीर्ति और इद्रियोपभोग मन को इतना व्यस्त रखते हैं कि किसी दूसरी अच्छी बात का विचार करना उसके लिये असंभव सा हो जाता है। परंतु विषय-सुख की अभिलाषा की पूर्ति के साथही अत्यधिक खिन्नता छा जाती है–ग्लानि घेर लेती है– जिसके द्वारा यद्यपि मन की क्रिया एकदम रुक नहीं जाती तथापि मन क्षुब्ध और कुंठित हो जाता है। धन और मानके पीछे पडनेसे भी इसी प्रकारकी व्यग्रता पल्ले पडती है, विशेष करके जब येही मनुष्य के एकमात्र ध्येय बन जाते हैं। इनकी प्राप्ति के साथ अनुताप तो नहीं लगा रहता परंतु इनकी अधिकाधिक प्राप्ति के साथ हमारा आनंद भी अधिकाधिक होता जाता है जिसके फलस्वरूप इनकी प्राप्ति के लिये हमारी उमंग बढती ही चली जाती है। परंतु यदि कहीं हमारी आशाओंपर पानी फिर गया तब तो हम गहरे से गहरे दुःख में डूब जाते हैं। कीर्ति में एक और दोष यह है कि इसके आराधकों को अपना जीवन दूसरे मनुष्यों के मतानुसार नियत करना पडता है।"+

× बु. सु. + वही।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध.

वैदिक धर्म

ज्येष्ठ सं. २००१
जून १९४४

विषयसूची।

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९४

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

पुस्तक	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता	मू. ५)	डा.व्य. १)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद ,,	३)	।॥)
४ अथर्ववेद ,,	५)	१)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥।)
४ मंत्रसमन्वय	३)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥।)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ वै. प्राणविद्या ।	॥)	=)
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	।-)
६ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति	६)	१।)
अ विज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मूल्य	डा.व्य.
देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ भाग १ -) तथा भाग २	=)	-)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला ।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेदपरिचय-(परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला १ से ६ भाग	५)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग १	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	३)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

क्रमाङ्क २९४

वर्ष २५ : : : : अङ्क ६

ज्येष्ठ संवत् २००१

जून १९४४

राष्ट्रका निर्माण

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

(अथर्व० १९।४१।१)

'सबका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारंभमें दीक्षा लेकर तपका अनुष्ठान किया। जिससे राष्ट्रका निर्माण हुआ और इस राष्ट्रसे बल और सामर्थ्य भी उत्पन्न हुआ। अतः सभी देव इसके लिये यह सब प्राप्त करा दें।'

ऋषियोंके प्रयत्नसे राष्ट्रका निर्माण हुआ है अतः सब लोग समझें कि, राष्ट्रका सेवाकार्य करना ऋषियोंका ही कार्य करना है। इस तरह जो राष्ट्रकार्यको ऋषि ऋण समझकर करते हैं, उनको सब देवगण सहायता करते हैं।

स्पिनोझाका तत्त्वज्ञान

वेदमें 'सदैक्यवाद' है जिसकी चर्चा कई लेखोंद्वारा वैदिकधर्म में की गयी है। वेदमें 'एक ही सत् है' यह अनेक युक्तियोंसे नाना सूक्तोंद्वारा बताया गया है। सदैक्यवादको ही 'सर्वेश्वरवाद' (Pantheism) कहते हैं। यह सर्वेश्वरवाद भारतवर्षसे देशदेशान्तरमें गया और वहां अनेक तत्त्वजिज्ञासुओंने उसका स्वीकार करके अनेक प्रकारसे प्रचारित किया। सतरहवी शताब्दीके प्रारंभ मेंही इस बडे तत्त्वज्ञानी स्पिनोझाका जन्म हुआ और इसने सदैक्यवादकी घोषणा अपनी जीवनीमें की।

यह स्पिनोझा सदैक्यवादके वैदिक तत्त्वज्ञानका ही प्रचारक रहा। इस कारण इसको डच्च देहमें भारतीय अथवा वैदिक ऋषिका अवतार विद्वान् लोग मानते रहे, यह योग्य ही था।

जैसी प्राचीन वैदिक ऋषियोंकी प्रतिपादन शैली थी, वैसीही स्पिनोझाकी थी। परमेश्वरके स्वरूपदर्शनसेही इसने अपने तत्त्वज्ञानकी सिद्धी की है। इस ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है, ऐसा यह मानता है। 'विश्वरूपदर्शन' ही परमात्मस्वरूप है, ऐसा यह मानता है जैसा गीतामें कहा वैसाही इसका सिद्धान्त है।

जीव और ईश्वरका ऐक्य यह मानता है, जैसा गीतामें जीवको ईश्वरका अंश माना है वैसा ही इसका सिद्धान्त हैं। अंशी ईश्वर है और उसका अंश जीव है। इस ऐक्यका ज्ञान ही मोक्षका एकमात्र कारण है यह इसकी धारणा है।

जीव और ईश्वरको सदा और सर्वथा पृथक् यह नहीं मानता। अंश-अंशी भावसे इनकी एकता यह मानता है और जीवनका सब तत्त्वज्ञान इसने इसी एकताको मानके विशद किया है। इस तरह इसकी सदैक्यवादकी तत्त्वज्ञानप्रणाली शुद्ध वैदिक है।

विश्वमें द्वैत है, व्यवहारमें द्वन्द्व है। परन्तु परमार्थतः 'एक ही सत्' है, यह इसकी धारणा ऋग्वेदके मन्त्रके आश्रयपर ही अधिष्ठित हुई प्रतीत होती है। वेदके सिद्धान्त सतरहवी शताब्दीमें यूरोपमें कैसे प्रचलित हुए होंगे और यूरोपके जिज्ञासु इस सदैक्यवादके तत्त्वज्ञानसे कैसे प्रभावित हुए थे, सो इस स्पिनोझाकी जीवनीसे स्पष्ट हो सकता है। इसीलिए गत अंकसे इसकी जीवनी तथा इसका तत्त्वज्ञान क्रमशः देनेका संकल्प किया है।

पाठक इसे पढ़कर जान सकते हैं कि, सतरहवी शताब्दीमें वैदिक तत्त्वज्ञान यूरोपमें कहांतक फैल गया था और वहांके तत्त्वज्ञानी उससे कहांतक प्रभावित हुए थे।

यह एक उत्तम जानने योग्य इतिहास होगा कि, स्पिनोझातक वैदिक तत्त्वज्ञान किस तरह पहुंच गया। इसको जतानेके लिए स्पिनोझाके पूर्व समयका इतिहास यहां दिया है, जिससे निःसन्देह पता लग सकता है कि, वैदिक तत्त्वज्ञान यूरोपमें किस तरह प्रचलित हुआ था।

हमारे प्राचीन पूर्वज अपने तत्त्वज्ञानको यूरोपतक फैला चुके थे। विश्वको आर्य बनानेका उनका प्रयत्न था। उस प्रयत्नमें वे बहुत सफल भी हो चुके थे। यदि उनके जैसा प्रयत्न सतत होता रहता तो आज वैदिक तत्त्वज्ञानके सामने सब दुनिया झुक गयी दिखाई देती।

पर वैसा भाग्य आज नहीं दिखाई देता। इस इतिहासको देखकर हमें उचित कार्य करना चाहिए और हमारे प्राचीन पूर्वजोंका अधूरा कार्य भलीभाँति पूर्ण करना चाहिये।

वैदिक तत्त्वज्ञानको स्वयं जानना और उसका प्रचार करना यही कार्य हमें इस समय करना उचित है।

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीकी इच्छा

नरेश मंडलमें सुधार

आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध आचार्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीका देहावसान भारतीय नरेशोंमें उचित सुधार करके उनको स्वराज्यस्थापनामें लगानेके शुभ और महनीय प्रयत्नोंके चलानेके कारण दिवालीके समय ही हुआ। यह बात सभी जानते हैं।

श्री स्वामीजी महाराजका कार्य केवल आर्यसमाजके धार्मिक क्षेत्रकी चहारदीवारीके अन्दर ही सीमित नहीं था। भारतीय राष्ट्रका पुनरुद्धार धार्मिक सुधार-द्वारा करना और इस साधनसे आर्योंका वैदिक धर्मानुशासनसे चलाया जानेवाला आसमुद्रक्षिती-का सार्वभौम साम्राज्य अति शीघ्र स्थापित करना ही एकमात्र प्रशंसनीय उद्देश श्री स्वामीजी महाराजका था। सूर्यचन्द्रवंशीय भारतीय राजामहाराजाओंका सुधार करके उनको धार्मिक शासनतत्पर बनानेसे शीघ्र ही भारत का आधा भाग सुधर सकता है, ऐसा विचार करके, सबसे प्रथम राजपूतानाके उदेपुरादि नरेशोंके सुधार करनेके प्रयत्नोंमें वे लगे थे। इस प्रयत्नमें उनको सफलताभी बहुत कुछ हो चुकी थी, इस कारण जिनकी आर्थिक हानि हुई, इनके द्वारा भयानक विषप्रयोग होनेसे श्री स्वामी-जीका दिवालीके समय ही देहावसान हुआ। इस कार्य-कारणभावका विचार करनेसे भी उन्होंने थोडेसे दिनोंमें राजपूतानाके राजाओंमें कितना प्रचण्ड सुधारका कार्य किया था, इसकी कल्पना हरएकको हो सकती है।

विषप्रयोगका कारण

विषप्रयोग करनेके विना उस स्थानके कुमार्गियोंको दूसरा कोई मार्ग रहा ही नहीं था। इसलिये स्वार्थी कुमार्गियोंने यह अन्तिम उपाय किया और एक महापुरुष-का कार्य दिवालीके दीपप्रकाशके नीचे रहनेवाले गाढ अन्धकारमें अदृश्यसा हुआ। इससे भारतीय राष्ट्रकी अप-रिमित हानि हो चुकी है, इसलिये इस प्रसंगसे इसका स्मरण करनेकी इच्छा है। इसका स्मरण करनेसे फिर किसी के मनमें उनके भारतीय पुनरुत्थानके विचार स्फुरित हो जायंगे और पुनः उनके कार्यका नये उत्साहसे प्रारंभ भी हो जायगा।

श्री स्वामीजीका राजकीय ध्येय

हमारे मनके अन्दर जो महत्त्वका स्थान श्री स्वामीजी महाराजको मिला है, वह उनकी धार्मिक शिक्षापूर्वक राष्ट्रीय पुनरुत्थानकी प्रचण्ड और सर्वाङ्गपूर्ण आयोजनाके लिये ही है। यद्यपि आज वह आयोजना रही नहीं और चलीभी नहीं है, परंतु चलाना या न चला-ना यह सर्वथा अनुयायियोंकी शक्तिपर अवलंबित रहने-वाली बात है। अतः हम सबसे पहिले भारतराष्ट्रके पुन-रुत्थान की अपूर्व आयोजनाका निर्माण करनेके लिये ही श्री स्वामीजीको 'ऋषि' कहते आये हैं। ऋषि वही होता है कि जो अन्य सारी जनताके पूर्वही नया और उत्तम मार्ग ठीकठीक रीतिसे देखता है और उस मार्गको उद्घोषित भी करता है। जिसे अन्य लोग नहीं देख सकते, वही उनको दीखता है और जिसे अन्य लोग डरके मारे उद्घोषित कर नहीं सकते, उसे जो ऋषि होता है, वह सारी जनताके लिये बडे वेगके साथ उद्घोषित भी करता है। ऋषि दयानन्दजीके पूर्व इनके समान किसी भी नेताने भारतके पुनरुत्थानकी इस प्रकार-की निश्चित आयोजना नहीं की थी। यही उनकी श्रेष्ठ दूरदार्शिताका सुस्पष्ट चिन्ह है।

ईश–प्रार्थनामें चक्रवर्ती राज्य

किसी मनुष्यका ध्येय, इष्ट अथवा हार्दिक काम्य क्या है, यह निःसंदेह देखना हो, तो 'उनकी ईश्वरकेपास प्रार्थना' क्या होती है, सो देखना चाहिये। अन्य सभी व्यवहार दूसरे मनुष्योंके साथ संबंधित होते हैं, इसलिये उनमें अनंत मर्यादाएँ बीचमें खडी हो जाती हैं, परंतु ईशप्रार्थनाके समय मनुष्यके साथ दूसरा कोई नहीं रहता,

माताके पास पुत्र जैसे प्रेमके साथ निर्भय होकर जाता है, वैसे ही भक्त परमेश्वरके पास जाता है और प्रेमसे जो अपने हृदयका अभीष्ट है, वह मांगता है। इस समय उस की प्रार्थनाके लिये कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता, क्योंकि भक्त और भगवान् के मध्य प्रतिबंध करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं होती, अतः प्रार्थनामें ही हर-एकका हार्दिक अभीष्ट व्यक्त होता है। इसी नियमके अनुसार श्री स्वामीजीका ध्येय उनकी प्रार्थनापुस्तक "आर्याभिविनय" में प्रकट हो गया है। देखिये उनकी प्रार्थनाएं किस भाँति की थीं-

(१)... विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं... ॥३॥ (पृ० २५-२६)

(२)... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओंकी नीतिको प्राप्त करो, ... हमको वरराज्य, वरनीति देओ,... हमको सत्य विद्यासे युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। हमपर सहायता करो कि जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे ॥१८॥ (पृ० ६५-६७)

(३) ... आओ सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजयके लिये ईश्वरको प्रसन्न करें, जो अपनेको वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढें ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४)...हमारे शत्रुओंको जीतनेवाले हो, इस कारण से हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता।।२६॥ (पृ० ८६)

(५) ... पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन्! ... आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त होके वीरोंके चक्रवर्ती राज्यको आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थको कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्धसे शूर वीर होके...बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित करें, सुनें और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-५६)

(७) हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो तथा ... हम सब संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों,... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्ट विद्या, और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्यको शीघ्र प्राप्त कर... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) हम लोग शत वर्षतक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों,... सौ वर्षके उपरान्त भी स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥ (पृ० २७९)

आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य

श्री स्वामीजीकी बनायीं प्रार्थनाएं ऐसी हैं। यहां उनका हार्दिक ध्येय उत्तम रीतिसे प्रकट हो रहा है। हम आर्योंमें बल, बुद्धि, चातुर्य, शौर्य, वीर्य, पुरुषार्थ बढे और आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर हो। जिस विकट राजकीय परिस्थितिमें श्री स्वामीजी महाराजका जन्म हुआ था, जिस देशकी विलक्षण शोचनीय परिस्थितिमें श्री स्वामीजीके जन्मस्थानके—काठियावाड गुजरातके—लोग विदेशके साथ होनेवाले व्यापार व्यवहार द्वारा कमिशन प्राप्त करके धनाढ्य बननेकी ही केवल एकमात्र इच्छा कर रहे थे, उस समय यह अकेला लंगोटबंद ब्रह्मचारी तेजस्वी स्वामी घरबार छोडकर पूर्ण असंग होकर आर्योंके अखण्ड चक्रवर्ती राज्यकी शीघ्र स्थापना करनेका उपाय ढूंढ रहा था! निःसंदेह यह उनकी ऋषिदृष्टिकी सिद्धता करनेवाला पर्याप्त प्रमाण है।

उस समयके राजकीय नेतागण विदेशी सरकारकी प्रार्थना और याचना करनेमें, अर्जियां करने और उनकी कृपासे कुछ नौकरियां प्राप्त करनेमें ही अपना जीवनोद्देश्य सफल समझ रहे थे, स्वतंत्र स्वराज्य स्थापन करनेकी कल्पना भी अद्भूत नहीं हुई थी। आजसे ७०-८० वर्ष पूर्वका राजनैतिक क्षितिज पाठक देखेंगे, तो उनको स्वतंत्र

स्वराज्य कहीं भी नहीं दीखेगा। हाथ जोडकर अंग्रेजोंसे प्रार्थना करनेका वायुमण्डल ही उस समयके राजकीय नेताओंके मनमें था। ऐसे घोर समयमें यह लंगोटधारी संन्यासी आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य स्थापित करनेके विचारोंमें मग्न होकर एकान्त सेवन कर रहा था !!!

जिस समय लोग विदेशी राज्यमें रहना और उनकी नौकरियां करना ही अपना ध्येय मानते थे, उस समय जिसने आर्योंके अखण्ड चक्रवर्ती राज्यका मार्ग देखा, उसको भारतीय पुनरुत्थान का ऋषि न समझें तो दूसरे किसको वह मान दिया जाय ?

चक्रवर्ती राज्यका मार्ग

श्री स्वामी दयानन्दमहाराजने केवल ईश्वरकी प्रार्थना करके ही आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य इस भूमण्डलपर होनेकी संभावना कभी नहीं मानी थी, कोई वेदका वेत्ता ऐसा मानही नहीं सकता। कोई सच्चा वेदवेत्ता विदेशी राज्यके भीतर क्षणभर भी नहीं रह सकता। वेदज्ञान और पारतंत्र्यस्वीकार इनका सदा विरोध ही है। इसी लिये स्वामीजी आर्योंका स्वतंत्र और अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर स्थापित करनेके इच्छुक थे !

सब आर्य सायं प्रातः पवित्र होकर यही प्रार्थना करें, इसी लिये यह आर्याभिविनय नामक तेजस्वी ग्रंथ स्वामीजीने निर्माण किया था ! लोग यदि आतुरतासे ऐसी प्रार्थनाएं करेंगे, तो वैसाही स्वराज्य शीघ्र प्राप्त करनेका वायुमण्डल देशभरमें बनेगा और जैसा वायुमण्डल बनेगा, वैसा सामुदायिक प्रयत्न भी होगा। आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी स्थापनाका प्रारंभ इसी तरह ईशप्रार्थनामें हो सकता है।

ईश्वर उपासना

यहां पाठक कल्पना करें कि प्रत्येक घरमें प्रातः सायं पारिवारिक प्रार्थनामें घरके सब स्त्रीपुरुष संमिलित होते हैं, और वहां अति शीघ्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेका बल ईश्वरसे मांगा जाता है। नगरके समाजभवनमें सब नागरिक एक मतसे अपने स्वतंत्र स्वराज्यकी स्थापनाके विघ्न दूर करनेकी प्रार्थना करते हैं। इसी तरह प्रांतों और राष्ट्रके वार्षिक महोत्सवमें लाखों भारतवासी संमिलित होते हैं और अपने चक्रवर्ती राज्य की शीघ्र स्थापना करनेकी प्रार्थना ईश्वरसे करते हैं, तो उस राष्ट्रकी मानसिक भूमिकामें राजकीय स्वतंत्रताका वायुमण्डल कितना बन सकता है। पाठक स्वामीजीकी मानसिक तैयारी करनेकी इस आयोजनाका महत्व सोचें इस भाँति राष्ट्रीय मन तैयार हुआ, तो उस मनके द्वारा हरएक दिशासे स्वतंत्रता प्राप्त करनेके प्रयत्न होंगे और देश शीघ्र ही स्वतंत्र होगा, इसमें कोई संदेहही नहीं है।

राष्ट्रका संगठन

केवल मनके विचारोंमें उक्त प्रकार स्वातंत्र्यप्रेम उत्पन्न होनेसे ही स्वराज्य स्थापना नहीं हो सकती, यह तो स्वामीजी जानते ही थे। इसलिए उन्होंने भारतीयोंके संगठन का कार्यक्रम भी तैयार किया था।

नगरनगर में आर्यसमाज स्थापन करना और वहां **धर्मार्यसभा, विद्यार्यसभा, न्यायार्यसभा तथा राजार्यसभा आदि संस्थाएं स्थापन करके अपने ग्रामका सारा कार्यव्यवहार स्वयं चलाना।** वेदमंत्रोंद्वारा इन सभाओंके स्थापन करनेका उपदेश श्री स्वामीजीने अपने सत्यार्थ-प्रकाशादि ग्रंथोंमें पर्याप्त परिश्रमपूर्वक दिया है, जो हरएक इस समयभी देख सकता है, इसलिए उनके इस विषयके वचन यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिसने सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्यादि देखा है, उनको इन सभाओंकी स्थापना करनेके उपदेशका ज्ञान है। अतः अब हम देखते हैं, कि आर्यसमाजकी इन सभाओंका कार्य क्या है–

१ धर्मार्यसभा – वेदमें कथित मानवधर्मका विचार यह संस्था करे और प्रत्येक सदस्य अपनी धर्ममर्यादामें सुस्थिर रहता है वा नहीं यह देखे और समझाकर सब लोगोंको धर्ममें रखे और धर्ममें लानेका यत्न करे। वेदका अर्थ करना, वेदप्रचार करना आदि कार्य इस सभाके हैं।

जनताको अधर्मसे बचाना, संस्कारोंसे सबको सुसंघटित करना, सत्यधर्मका प्रचार करके वेदके शुभ उपदेशोंसे सब लोग उन्नत करना आदि कार्य इस धर्मसभा का है।

(२) विद्यार्यसभा-इस विद्यासभाद्वारा अपने बालक बालिकाओंके विद्याध्ययनका सुयोग्य प्रबंध करना है। प्राथमिक शिक्षासे प्रारंभ होकर अन्तिम उच्च शिक्षातक का सारा प्रबंध इस विद्यासभाका कार्य है। ज्ञानविज्ञान, उद्योग, कलाकौशल्य आदि सब आवश्यक १४ विद्याओं और ६४ कलाओंकी शिक्षा अपने युवकोंको देना इस विद्यासभाका कार्य है। कोई आर्यबालक या बालिका विदेशी राजप्रबंधद्वारा मिलनेवाली, परतंत्र मन बनानेवाली शिक्षा न लेवे और आर्यविद्वानों द्वारा निश्चित की हुई, आर्यविद्वानों द्वारा चलाये जानेवाले गुरुकुलोंमें प्राप्त होनेवाली, आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी जिससे अति शीघ्र स्थापना हो सकती है, ऐसी सुशिक्षा आर्योंके तरुणोंको प्राप्त हो, यह उद्देश्य इसमें श्री स्वामीजीका था। जर्मनीमें आर्ययुवकोंको भेजकर वहांकी विज्ञानविद्या प्राप्त करना भी स्वामीजीका उद्देश्य था।

(३) न्यायार्यसभा- आर्योंके अपने झगडे, आपसके आर्योंके झगडे विदेशी राजाके अदालतोंमें नहीं जाने चाहिये। आर्योंके झगडे आर्योंके द्वाराही निपटाये जायँ, आर्योंके झगडे निपटानेवाले म्लेच्छ नहीं हो सकते। यह शुद्ध और सरल आर्यत्वकी दिशा है। इसलिये श्री स्वामीजी महाराजने 'न्यायार्यसभा' स्थापन करके इस सभाद्वारा आर्योंके आपसके झगडोंका निपटारा स्वयं आर्योंद्वारा करानेकी प्रथा शुरू करनेकी आज्ञा दी थी। और यह आज्ञा वेदानुकूल ही थी।

(४) जो कार्य 'धर्मसभा, विद्यासभा, और न्यायसभाके कार्यक्षेत्रमें नहीं आते, उन सब शेष आर्योंके लिये 'राजार्यसभा है।' आर्योंके राजकीय क्षेत्रमें जो स्वाभाविक न्यायानुकूल और नागरिकत्वादि अधिकार और हक हैं, उनका संरक्षण करना इस सभाका कार्य है।

(५) गोरक्षासे ही भारतीय किसानोंकी तथा भारतीय कृषिकी उन्नति हो सकती है, यह जानकर श्री स्वामीजी महाराजने 'गोकरुणानिधि' नामक ग्रंथ निर्माण किया और आर्योंको गोरक्षाके लिये पर्याप्त प्रयत्न करना चाहिये, ऐसा शुभादेश दिया। गोरक्षामें केवल गौकीही रक्षा आती है, ऐसा नहीं अपि तु वेदानुकूल कामदुघा और घटोध्नी गौ निर्माण करना भी इस समाजका हेतु निःसंदेह है। गोदुग्ध भूमिके ऊपरका श्रेष्ठ अमृत है, इससे भारतीय जनता वंचित कभी न रहे, यह श्री स्वामीजीका गो आदिकी रक्षा करनेमें विशाल हेतु था। आर्य गोदुग्ध पान करके नीरोग और बलवान् बनें और स्वराज्यस्थापनाका कार्य जोरसे करें, यह उद्देश्य यहां स्पष्ट है।

(६) भारतवर्षमें क्या और संपूर्ण पृथ्वीपर क्या, प्रजानुकूल राज्यशासनही जनताका सच्चा हित करनेमें समर्थ होगा, यह जानकर आर्यसमाजकी घटना और नियमोपनियमावली श्री स्वामीजीने ऐसी बनायी कि जिससे प्रजानियंत्रित, प्रजासंमत, प्रजाकी संमतिसे चलनेवाली, प्रजाके प्रतिनिधियोंकी बहु संमतिसे संचलित होनेवाली कार्यप्रणाली आर्योंकी बने और ऐसी संस्थामें कार्य करनेवाले आर्य भारतीय शासनसंस्थाके लिये सुयोग्य सदस्य बनें। आर्यसमाजके सब कार्य इसी नियमानुसार होने योग्य कार्यप्रणाली स्वामीजीने बनायी थी, यह उनकी दूरदर्शिताही है।

स्वावलंबन

आर्यसमाज नामक मुख्य संस्थाके अधीन धर्मसभा, न्यायसभा और विद्यासभा कार्य करने लग जाती और जैसा कि श्री स्वामीजी महाराजने सोचा था, वैसा ये सारी संस्थाएं कार्य करनेमें समर्थ होतीं, तो आज आर्योंके अधीन कितना अधिकार आ जाता, यह भी इस स्थानपर जानने योग्य है।

न्यायार्यसभा कार्य करनेवाली हो गयी, तो सरकारी अदालतोंपर पूर्ण बहिष्कार न कहते हुए और न बोलते हुए हो सकता है। विद्यासभा कार्यक्षम हो गयी, तो सरकारी विद्यालयोंपर बहिष्कार आपही आप हो सकता है। विद्यासभा द्वारा १४ विद्या और ६४ कलाओंकी शिक्षा शुरू होनेपर अपने सब हुनर शुरू होनेके कारण विदेशी वस्तुओंपर स्वयं बहिष्कार हो जाता है। जो अपने पुत्रोंको अपने स्वतंत्र गुरुकुल विद्यालयोंमें पढाते, अपने हुनरसे बने वस्त्रादि निर्माण करके उनको ही पहनाते, अपनी न्यायसभा द्वारा अपने झगडे निपटाते ऐसे पूर्ण स्वतंत्रताप्रिय

आर्य सरकारी नौकरीसे अपना जीवन कभी अपवित्र नहीं करेंगे और विदेशी सरकारकी पदवियां धारण करके भी अपने आपको कभी कलंकित नहीं करेंगे। क्योंकि वैदिक धर्मी विदेशी सरकारके अधीन रहनाही असंभव है। इस दिशासे कार्य हुआ होता तो दिन प्रतिदिन आर्य सच्चे आर्य ही बनते जाते।

श्री स्वामीजीद्वारा सभात्रयनिर्मित स्वयंशासक आर्य समाजकी संस्थापनासे यह कार्य उक्त प्रकार आप ही आप होनेवाला था। स्वामीजीका यही उद्देश था, यह बात उनके ग्रंथोंमें सर्वत्र स्पष्ट दीखती है। यदि यह श्री स्वामीजीका उद्देश्य इस समय सफल होता, तो श्री महात्मा गांधीजीको अपने पंच बहिष्कार पुकारनेका अवसरही न मिलता, क्योंकि आर्यसमाज द्वारा वही बहिष्कार महात्मा गांधीजी भारतभूमिमें अवतीर्ण होनेके पूर्वहि सिद्ध होकर रहते। और महात्मा गांधीजीको दूसरा कार्यक्रम सोचना पडता। परंतु वैसा नहीं हुआ!!!

१. धर्मसभाद्वारा विदेशीधर्मप्रचारका प्रतिबंध,
२. न्यायसभाद्वारा अपने झगडे स्वयं मिटानेके कारण विदेशी सरकारकी अदालतोंपर बहिष्कार,
३. विद्यासभाद्वारा अपने गुरुकुलोंके संचालनद्वारा अपने आर्ययुवकोंकी शिक्षा होनेके कारण विदेशी सरकारके शिक्षणालयोंपर बहिष्कार,
४. उक्त विद्यालयोंमें ६४ कलाओंकी शिक्षा होनेके कारण अपने लिये आवश्यक वस्तुओंके निर्माण होनेसे विदेशी वस्त्रादिकोंपर बहिष्कार,
५. आर्योंमें अपने स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापन करनेकी तीव्र इच्छा प्रकट होनेके कारण, विदेशी सरकारको अपनी शक्ति प्रदान न करनेकी ओर जनताकी भावना होनेके कारण विदेशी सरकारी नौकरियोंपर बहिष्कार,
६. इसी उक्त कारण उनकी पदवियोंपर बहिष्कार,

ये सब बहिष्कार जो महात्मा गांधीजीने सन १९२१ में पुकारे थे, वेही बहिष्कार श्री स्वामीदयानन्दजी महाराजने न पुकार करते हुए कार्यव्यवहारमें लानेकी आयोजना सत्तर वर्ष पूर्वही शुरू की थी। जिस समय कांग्रेसका जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय श्रीस्वामीजी महाराज इस आयोजनाको तैयार करके आर्यसमाजद्वारा प्रचलित करनेके विचारमें लगे हुए थे। यही उनके ऋषित्वका चिह्न है।

आर्योंका स्वयंशासन

नगर और ग्राममें उस नगरका आर्यसमाज, प्रान्तके नियंत्रणके लिये प्रांतिक आर्यप्रतिनिधिसभा, और अखिल भारतका नियंत्रण करनेके लिये अखिल भारतीय सार्वदेशिकार्यप्रतिनिधिसभा, इस तरह ग्रामसे प्रारंभ होकर अखिल भारतवर्षका नियंत्रण पूर्वोक्त धर्म-विद्या-न्याय आदि सभाओंद्वारा स्वामीजीके आदेशानुसार होता, तो पाठक स्वयं जान सकते हैं, कि यह एक आर्योंका 'स्वयंशासन' इस आर्यभूमिमें आपही आप शुरू हो जाता। इस भरतखण्डमें विदेशी सरकारका राजकीय क्षेत्रमें शासन होते हुए भी, धर्म—विद्या—न्याय—उद्योग आदि क्षेत्रोंमें आर्योंका स्वयंशासन शुरू हो जाता और यह एक आर्योंका समान बराबरीका राज्यशासन (Parallel Government) न डंका बजाते हुए और न बोलते हुए शुरू हो जाता। और आज जो राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अध्यक्ष अथवा सर्वाधिकारी श्री महात्मा गांधीजी एक ओर और दूसरी ओर ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधि श्री व्हाइसराय होते हैं, और बराबरीके नातेसे राज्यशासनके विषयमें निर्णय कर रहे हैं, वैसी ही अवस्था, अर्थात् एक ओर सार्वदेशिकार्य प्र० सभाके अध्यक्ष और दूसरी ओर व्हाइसरॉय रहकर भारतवर्षके शासनका विचार बराबरीके नातेसे करते। श्रीस्वामीजी महाराजने जिस समय अपने आर्यसमाजकी घटना लिखी थी, उस समय उनके सामने यह दृश्य था!

अनुयायियोंका विरोधी कार्य

परंतु इसमें कितनी सफलता आज प्राप्त हुई है? न्यायसभा तो किसी भी स्थानपर कार्य नहीं करती, विद्यासभा है, परंतु प्रायः आर्योंके युवक सरकारी युनिवर्सिटियोंके साथ संबंध रखनेवाले कालेजोंमें ही जा रहे हैं। अदालतें तो वैसीही आर्यवकीलोंसे भरी हैं। अन्य कार्यके तो प्रारंभभी नहीं हुए। इस कारण श्री महात्मा गांधीजी आये और श्री स्वामीजीका उद्दिष्ट कार्य हाथमें लेकर जो कार्य

करने लगे, उसका फल आजकी कांग्रेसकी महत्तामें दीख रहा है।

ईश्वरका कार्य नहीं रुकता

अब इसमेंसे एक भी कार्य आर्यसमाजके लिये नहीं रहा क्योंकि परमेश्वर भारतवर्षको अति शीघ्र स्वाधीन करना चाहता है। स्वामीजीको भेजकर ईश्वरने भारतके स्वतंत्र होनेका पुरोगम आर्यसमाजके द्वारा जनताके उद्धार करनेके लिये दिया। परंतु उसके अनुसार कार्य नहीं हुआ। इसलिये उसी ईश्वरने पुनः महात्मा गांधीजीको भेजकर वही कार्यक्रम नये सिरेसे जनताके सामने रखा। संपूर्ण बहिष्कार अबभी हो नहीं सके, तथापि जो कार्य हुआ, उससे कांग्रेसका राज्य आधेसे अधिक भारतवर्षमें हो चुका है और उसकी प्रतिष्ठा भी पर्याप्त बढ चुकी है। महात्माजीके द्वारा प्रतिपादित सब कार्य होता, तो इस समय भारतकी प्रतिष्ठा और भी अधिक बढ जाती।

अब यह मान और प्रतिष्ठा जो कांग्रेसको इस समय प्राप्त हो चुकी है, आर्यसमाजको प्राप्त होना, कार्य हो जाता, तो संभव था, परंतु अब असंभव है। क्योंकि उसको सबसे प्रथम मौका मिला था, तथापि उसने आपसके झगडोंमें अपना सब समय व्यतीत किया और आवश्यक कार्य कुछ भी किया ही नहीं। परमेश्वरके राज्यमें प्राप्त अवसरपर योग्य कार्य करनेवालोंकी ही उन्नति होती है।

श्री स्वामीजी द्वारा उपदिष्ट भारतोद्धारका कार्य इतना प्रचण्ड था कि, उसके शुरू होनेपर उसमें सहस्रोंही नहीं प्रत्युत लाखों मनुष्य रातदिन कार्य करते, तो भी वह कार्य और मनुष्योंकी अपेक्षा करता। **भारतीय जनताको अपने पाँवोंपर अपने आत्मिक बलके सहारे अपनी शक्तिसे खडा करना,** यह कोई छोटा कार्य नहीं था। प्रत्येक ग्राममें तथा प्रत्येक स्थानमें पूर्वोक्त तीनों सभाओं द्वारा संपूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें कार्य करना असंख्य मनुष्योंके अतुल आत्मसमर्पणसे ही होनेवाला कार्य था। ऋषिके मस्तिष्कसे जो अपूर्व कार्यक्रम शुरू हुआ था, वह वैसाही प्रभावशाली था। परंतु वह प्रारंभमें ही क्षीण हुआ और उसको चलानेके योग्य महान् आत्मा जैसे चाहिये थे, वैसे नहीं मिले।

उक्त विशाल कार्यक्रमके स्थानपर आज जो कार्यक्रम बना है, **वह मूर्तिपूजा न करना, श्राद्ध न करना, तीर्थ न मानना और अद्वैत न मानना,** यह निषेधरूप चतुर्विध रहा है। करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं रही, और **' न करना '** ही श्रेष्ठ कार्यक्रम बन गया!! श्री स्वामीजीने उक्त सभाओंकी स्थापना द्वारा **'धर्म-न्याय-विद्या-संघटनाका विधायक कार्यक्रम** करनेके लिये जनताके सामने रखा था, क्योंकि **उनको अतिशीघ्र भारतीय स्वतंत्र राज्यशासन सुस्थिर करना था।** इस मुख्य कार्यकी आतुरता तो उसके पश्चात् किसीको वैसी प्रबल नहीं रही, इसलिये आपसके वैयक्तिक झगडे खडे हुए और मासपार्टी × घासपार्टी, कालेजपार्टी × गुरुकुलपार्टी ऐसी पार्टियां बनीं और जिस कालेजीय जीवनका श्री स्वामीजीने स्वप्नमेंभी स्मरण नहीं किया, उसकी वृद्धि हुई और जिस गुरुकुलप्रणालीकी बुनियाद रखी थी, उसका पौधा नाममात्र प्राण धारण कर रहा है! परंतु समर्थ आर्य परिवारके लडके कालेजोंमें ही शिक्षा पाते हैं, और गुरुकुलपरीक्षाके पश्चात् युनिवर्सिटीकी डिग्री पानेकी आतुरता आर्योंमें भी दीखती है!! और वैसा देखा जाय तो गुरुकुल भी कालेजके मार्गपर ही आयेगा, ऐसा दीखता है, क्योंकि **' कुलका प्रेम '** बहुत थोडे स्थानोंपर रहा है, और उस स्थानपर कालेजकी ' डिसिप्लीन ' प्रभावी होनेका भय बढ रहा है। अतः कहना पडता है, जो **स्वामीजीने चाहा था, वह उनकी इच्छानुसार बना नहीं और जो वे नहीं चाहते थे, वही बनने पाया है।**

ऐसा क्यों हुआ ? सोचना चाहिये। पाठकों! सोचिये।

रायसाहबोंकी भीड

आर्यसमाजमें रायसाहब, रायबहादुर और सरकारी ओहदेदार घुस गये, जो विदेशी सरकारके धनसे परिपुष्ट होनेवाले थे, ठेकेदार जो विदेशी राजके धनसे कारोबार करनेवाले थे, दुकानदार जो विदेशी वस्तुओंका व्यवहार कर रहे थे, इन सबकी भीड आर्यसमाजमें हो ही चुकी थी और उस भीडमें विदेशी सरकारकी अदालतोंमें जाकर विदेशी सरकारका कानून ठीक लोकहितकारी है, ऐसा रात दिन बोलनेवाले वकील और बैरिष्टरोंने भी बडी भीड

बढाई !

आर्यसमाजमें इन लोगोंकी भीड बढनेसे श्री स्वामीजीके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्यके पुरोगमके लिये स्थान कहां मिलनेवाला था ?

उक्त सदस्योंमें ऐसा कौन रायसाहब होगा कि जो 'यहां-से विदेशी अंग्रेजी राज्य शीघ्र चला जाय और 'आर्योंका चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र यहां हो जावे' ऐसी स्वामीजीके आर्याभिविनयमें लिखी प्रार्थनाएं प्रतिदिन करता, और तदनुसार श्री स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित तीनों सभाओंके पुरोगमके अनुसार कार्य करता? क्या कभी वकील अपना अदालतोंका कार्य छोड कर न्यायार्यसभा का कार्य बढा कर अपनी आमदनी घटाना चाहेंगे? क्या कभी रायबहादुर अपने पुत्रोंको जंगलके गुरुकुलमें १४ वर्ष रखनेकी इच्छा कर सकेंगे? क्या कभी ठेकेदार अंग्रेजों-की अप्रीति होने योग्य कार्य कर सकते हैं? और क्या ऐसे ही लोग समान शासन (Parallel Government) का विचार भी मनमें ला सकते हैं? स्व० महात्मा मुनशी-रामजी अर्थात् श्री स्वा० श्रद्धानन्दजी एक ही ऐसे आत्मा थे कि जो अन्दर और बाहरसे स्वामीजीके कार्यको बढाने-की चिन्ता करते थे, परन्तु अकेला भद्र पुरुष क्या कर सकता है?

क्या कभी कोई समाज ५०।६० वर्षोंतक वैदिक धर्मके तेजस्वी जीवनमें सचमुच आकर जीवित रहता हुआ विदेशी सरकारके अधीन रह सकता है? वैदिकधर्मीके लिये- वेदका धर्म जाननेवालेके लिये दोही मार्ग खुले होते हैं, एक या तो वह अपना स्वतंत्र राज्य स्थापन करेगा अथवा दूसरा मृत्युके वशमें- स्वतंत्र स्वराज्यके लिये कार्य करता हुआ- चला जायगा और अपने जीवनको अमर बनावेगा!

श्री स्वामीजीके आर्याभिविनयमें 'आर्योंका स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र होनेकी प्रार्थना है,' उसे रायसाहब किस तरह सिद्ध होने देंगे, और इनके कारण आर्योंमें वैदिक धर्मकी ज्योति किस तरह विशेष प्रदीप्त होती रहेगी और आचार्यजीका उद्देश्य भी किस तरह सिद्ध होगा? श्री स्वामीजीका उद्दिष्ट कार्य सिद्ध न होनेका कारण यह है। और भी कारण हैं, परन्तु उन सबका विचार करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है।

परतंत्रताके लिये स्थान नहीं

वैदिक धर्म पारतंत्र्यको नहीं सह सकता, इसी लिये श्रीस्वामीजीके रोमरोममें और वाक्य वाक्यमें आर्योंके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापित करनेका भाव जागृत था। आर्यसमाज स्थापन करनेका भी उद्देश्य यही था। परंतु विदेशी सरकारको अपनी शक्ति अर्पण करनेवाले बहुसंख्य लोगोंके इस संस्थामें घुसनेसे स्वामीजीके सब कार्य जिधरके उधर ही रह गये और सब कार्य रुक जानेसे नाना प्रकारके आपसके झगडे शुरू हुए।

स्वामीजीका विरोध

स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेवाले विदेशी राजा-की युनिवर्सिटीसे अपना संबंध क्यों रखेंगे? परंतु राय-साहेब दूसरा क्या कर सकते हैं? वकीलोंको धन न्याय-सभासे मिलनेवाला नहीं है, इस कारण उनको न्यायार्य-सभासे अरुचि होना नितान्त स्वाभाविक ही है। इसी लिये कालेज बढ गये, वकील बढ गये, रायसाहेब बढ गये, नौकर बढ गये और सब मिलकर वही करने लगे कि जो श्री स्वामीजीने कभी नहीं चाहा था।

वेदका आधार है

इस तरह स्वामीजीकी सारी बातें बिगड गयीं, और वे ऐसी बिगड गयीं कि इसके आगे उनका सुधार कभी हो ही नहीं सकता; क्योंकि अब उनहीं कार्योंको दूसरोंने संभाल लिया है, तथापि आर्यसमाजके पास एक ही बात रह गयी है, वह है 'वेद'। यह सबके आधारकी बात है यदि यह भी सिद्ध हुई तबभी कुछ बन सकनेकी आशा है।

परंतु वेदका धर्म जानकर प्रसार करनेवाले स्वतंत्र विचारके सदस्य चाहिये। उनको तैयार करनेके लिये गुरु-कुलादि की स्थापना की गई है। परंतु वहां भी स्वतंत्रता नहीं है। किसी बातके सिद्धान्तोंके अनुकूल या प्रतिकूल होनेका निर्णय करनेका ठेका उन्हींके पास है, जो वेदको स्वयं बिलकुल नहीं जान सकते। और ऐसी संस्थाओंसे उत्तीर्ण होकर जगत् में आनेवाले स्नातक विद्वानोंके भवि-तव्यका निर्णय करना कराना भी वेदानभिज्ञोंकी संमतिपर

ही सर्वथा निर्भर है। वेदका अध्ययन किये विना और आद्योपान्त वेदको समझनेके विना ही यहां हरकोई जान सकता है, कि यह वैदिक सिद्धांतके अनुकूल है वा प्रतिकूल !!! आर्यसमाज, प्रतिनिधिसभा और सार्वदेशिक सभामें बहुसंमतिसे निर्णय होता है और वहां बहुसंख्या तो वेद न जाननेवालोंकी ही है। और वे अपने अंतःकरण से निश्चयपूर्वक समझते हैं कि हम वैदिक सिद्धांतोंको समझते हैं, यद्यपि हम वेद आद्योपान्त नहीं समझते !!! इससे हमेशा यह हो रहा है कि, जो विशेष विद्वान् होकर वेदकी खोज (Research) करने लगते हैं, वे ही बहिष्कृत होते जाते हैं। और जो लोगोंकी हांमें हां मिलाते हैं, वे प्रतिष्ठा पाते रहते हैं। इस कारण विद्याकी वृद्धि रुकी है और ज्ञानकी प्रगति होना असंभव हो चुका है, यही इस समयकी स्थिति है।

संप्रदाय बन रहा है

खोज करनेवालोंको स्वतंत्रतापूर्वक खोज करने देनेसे ही ज्ञानकी वृद्धि हो सकती है। वह तो यहां असंभव ही हो चुका है। स्तब्ध जल (Stagnant water) हो चुकने पर वह सडने लगता है, वह अवस्था आ चुकी है। श्री स्वामीजीने यह सब पहिले ही जान लिया था, इस लिये उन्होंने 'सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करनेके लिये सदा उद्यत होना चाहिये।' ऐसा नियमहि बनाया और 'बाबावाक्यं प्रमाणं' न मानो, विविध प्रमाणोंसे जो सत्य सिद्ध हो, वही स्वीकार करो, ऐसा असंदिग्ध शब्दोंसे वारंवार कहा था। परंतु वह बात अब जाती रही और श्री स्वामीजीके पश्चात् भी जो उनके नामपर मुद्रित हो चुका है, उसके अक्षर अक्षरको मानना चाहिये, ऐसा कट्टर पन्थ शुरू हो चुका है।

इस का परिणाम 'दयानन्द-पन्थ' बन जानेमें अति शीघ्र होनेवाला है, जो उद्देश्य श्री स्वामीजीका कभी भी नहीं था।

इसलिये जो समझते हैं, कि वेदके धर्मको जागृत करना ही केवल एक मात्र कार्य अब अपने पास शेष रहा है, अन्य सब कार्य जो आचार्यजीने शुरू किये थे, वे सब नष्ट हो चुके हैं, उनको वेदके शुद्ध शास्त्रीय रीतिसे अध्ययन होनेके लिये क्या करना चाहिये, इस विषयका हार्दिक धर्मभावसे विचार करना चाहिये।

वेदकी खोजका मार्ग

जिनका धर्म 'वेद' के द्वारा प्रतिपादित है, उनको उचित है कि सबसे प्रथम अपने धर्मग्रंथोंकी अति शुद्ध पुस्तकें सुंदर छापकर सस्तेसे सस्ते मूल्यसे देनेका प्रबंध करें। इन ग्रंथोंका पाठनिश्चय शास्त्रीय परंपराका विचार करके तथा पाठनिश्चयका जो शास्त्र है, उसके अनुसार करना चाहिये। प्रत्येक पदका और प्रत्येक अक्षरका तथा उदात्तानुदात्तादि स्वरका उत्तरदायित्व प्रकाशकोंपर होना चाहिये। किसी भी कारण इन धर्मग्रंथोंमें-वेदके ग्रंथोंमें-एक भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिये।

शुद्ध मुद्रण

संपूर्ण उपलब्ध शाखासंहिताएं और संपूर्ण ब्राह्मण और आरण्यकोपनिषद्ग्रन्थ भी उक्त प्रकार शुद्ध, सुंदर और सस्ते छापने चाहिये। उनमें प्रकरणविभागके शीर्षक योग्य रीतिसे देकर, ये सब ग्रंथ मुद्रित होने चाहिये।

इस तरह संपूर्ण संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये सब ग्रंथ शुद्ध, सुंदर, सस्ते मुद्रित होनेके पश्चात् उनकी विविध प्रकारकी सूचियां बननीं चाहिये। जिससे ग्रंथ लेतेहि इसमें यह विषय इस स्थानपर है, इसका शीघ्र पता लगेगा और अभ्यासकको सुविधा होगी। ऐसी सूचियां इन सब ग्रंथोंकी बननी चाहिये।

इसी तरह वेदब्राह्मणारण्यकोपनिषदोंका वाक्यकोश भी अवश्य ही बनना चाहिये। जैसा उपनिषद्वाक्य कोश बना है, जिसमें एक एक शब्दवाले वाक्य एक स्थानपर मिल सकते हैं, वैसा कोश वेद और ब्राह्मणोंका बनना चाहिये। ये कोश जैसे Bible के अनेकविध concordance बने हैं, वैसे अनेकविध बनाने चाहिये। जिससे अभ्यासकका समय व्यर्थ खर्च न होते हुए सब खोज करनेकी सामग्री खोजकर्ताके सम्मुख तत्काल उपस्थित हो सकेगी, और योग्य रीतिसे खोज हो सकेगी।

इनके पश्चात् सब स्मृति, सब सूत्रग्रंथ, श्रौत और गृह्य सूत्र, सब अंगोपांग ग्रन्थ, तथा इतिहासपुराण, तंत्रग्रंथ

तथा अन्यान्य आगमादि ग्रन्थ शुद्ध और सस्ते मुद्रित होने चाहिये और इन सबकी सूचियां भी बनानी चाहिये, जिससे इसमें यह बात इस स्थानपर है, इसका पता शीघ्र लग जाय।

इतिहास और पुराण

कई यहां पूछेंगे कि इतिहासपुराणोंकी हमें क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि—

" इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् "

अर्थात् इतिहास और पुराणोंसे वेदके तत्त्वकी व्याख्या करनी चाहिये। कई वैदिक सूक्तोंके अनुवाद इन ग्रंथोंमें हैं, वेदका आशय जाननेके लिये उनको देखना आवश्यक है, कई वेदमन्त्रके आधारपर अनेक कथाएं इन ग्रन्थोंमें रची गयी हैं, कई तत्त्वज्ञान वेदके आधारसे फैले हुए हैं, इनकी खोज होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे आगेकी खोजका मार्ग खुला हो सकता है। इसलिये इन सब ग्रन्थोंका मुद्रण होना वेदकी खोजके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
(श्री० भागवत)

वेदका अर्थ दर्शानेके लिए ही महाभारत रचा गया है, अतः किस तरह उसमें वेदार्थ बताया है, इसकी खोज करना अत्यंत आवश्यक है। कूपमण्डूकवृत्तिसे वेदका तत्त्वज्ञान कदापि ज्ञात नहीं हो सकता है। जो कूपमण्डूकवृत्तिसे रहना चाहते हैं, वे वैसे रहें। परन्तु जिनको वैदिक धर्मका प्रेम है, उनको शास्त्रीय दृष्टिसे खोज करनेके कार्यमें अपने आपको समर्पित करना चाहिये।

वेदकी खोजके सम्बन्धमें एक स्वतंत्र निबंध लिखना चाहिये। इतना गंभीर यह विषय है। यह कोई ऐसा ही होनेवाला कार्य नहीं है। एक एक बातके लिये पहाडोंके पहाड ढूँढने पडते हैं। जिन लोगोंको इन परिश्रमोंकी कल्पना है, वेही इस कार्यके महत्त्वको जान सकते हैं।

जो ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं, उनका भी संशोधन करके उनमें जो अशुद्धि हो, उसको बाहर निकालना चाहिये। व्रणके अन्दर शल्य रहनेसे वह व्रण कदापि ठीक नहीं होता है। ऐसा ही ग्रन्थोंकी शुद्धताके विषयमें है। ग्रन्थ तो 'संशोध्यं व्रणिनांगवत्' ग्रन्थका संशोधन व्रणकी शुद्धताके समान करना चाहिये। किसी ग्रन्थका शुद्ध पाठ निर्धारित करनेके अनेक साधन हैं, उनमें ये प्रमुख हैं—

१. हस्तलिखित ग्रन्थोंकी तुलना करना,
२. मुद्रित ग्रन्थोंकी सहायता लेना,
३. कण्ठ करनेवालोंका सहाय लेना, तथा
४. अन्यान्य ग्रन्थोंमें यदि उद्धरण हुए होंगे, तो उनका विचार करना।

पाठनिश्चयका आजकल एक पूर्ण शास्त्र बन चुका है, उन सब नियमोंकी सहायता लेना अत्यंत आवश्यक है। ऐसी सावधानीसे जो ग्रन्थ हम मुद्रित करेंगे, उसका मूल्य जगत्के संपूर्ण विद्वानोंमें होगा। अन्यथा वह ग्रन्थ पंथाभिमानी और मतवालेही कदाचित् क्षणमात्र मानेंगे। हमें कोई कार्य अधूरा नहीं करना चाहिये। जो शास्त्र इस समय है, उसका पूरा पूरा उपयोग करके शास्त्रशुद्ध मार्गसेही चलना चाहिये।

लिखित ग्रंथोंका संग्रह

उक्त वर्णनसे पाठकोंके मनमें यह बात आ चुकी होगी, कि आगे चलकर शास्त्रीय दृष्टिसे वेदोंकी खोज करनेके लिये जो शुद्ध ग्रन्थोंका मुद्रण करना आवश्यक है, उसके लिये हमारे पास एक बडा और विश्वस्त हस्तलिखित ग्रन्थोंका महान् पुस्तकालय चाहिये। ये ग्रन्थ सुरक्षित रखनेके लिये पर्याप्त व्यय करना होगा। और भारतवर्षमें स्थानस्थानपर जा जाकर हस्तलिखित ग्रन्थ लानेके लिये मनुष्य और धन इतना चाहिये कि जिसका विचार सामान्य मनुष्य कर ही नहीं सकता।

व्ययके अंदाजाके लिये हम यहां कह सकते हैं, कि ऐसे जल और अग्निके भयसे रहित मकान बनानेके लिये कमसे कम एक लाख रु० लगेंगे, और नानाविध हस्तलिखित ग्रन्थोंका सुयोग्य पद्धतिसे संग्रह किया जाय, तो दस लाख रु० भी थोडे ही होंगे। क्योंकि किन ग्रन्थोंका कितना रुपया पडेगा, इसकी कोई कल्पना नहीं, और किस समय कितने ग्रन्थ मिलेंगे, यह भी कोई नहीं कह सकता। भारतवर्षमें इतने ग्रन्थ अभी तक छिपे पडे हैं कि उनको प्राप्त करना भी लाखों रुपयोंके व्ययका कार्य है।

ग्रन्थोंकी खोजके लिये ग्रामग्राम और घरघरमें घूमनेवाले भी विद्वान् लोग चाहिये। साधारण अनाडीका यह कार्य नहीं है। उनको धन भी पर्याप्त चाहिये, धन दिये विना घरसे कोई ग्रन्थ बाहर कोई भी दे नहीं सकता। मान लीजिये कि आपने दस विद्वान् ग्रन्थसंग्रह करनेके लिये नियुक्त किये, तो उनका वेतन, प्रवासका व्यय, ग्रन्थ खरीदनेका व्यय, पुस्तकालयके स्थानपर सुरक्षित भेजनेका व्यय, वहां सुव्यवस्थासे रखनेका व्यय, वहांके विशेष विद्वान् ज्ञाता पुस्तकाध्यक्षका वेतन, पुस्तकालयके कर्मचारियोंका वेतन, यह सब मिलकर प्रतिमास हजारों रु० का व्यय होगा, तो ही यह ग्रन्थसंग्रह बन सकेगा। यह कोई विनामूल्य होनेवाला कार्य नहीं है। लाखों रु० खर्च करने पर भी और अधिक खर्च करनेकी आवश्यकता इसमें होगी।

परन्तु यह अत्यंत आवश्यक कार्य है। वेदकी खोजके लिये इसके विना एक पांव भी आगे बढाया नहीं जा सकता। इतने महत्त्वका यह विषय है। अज्ञानी और शास्त्रको न जाननेवाले इसको समझ ही नहीं सकते, इसलिये इस कार्यके लिये उनसे धन मिलना असंभव है। ज्ञानी लोगोंके पास धन नहीं होता, इसलिये उनसे धन खडा नहीं हो सकता। यही कठिनता है। धनके विना लिखित ग्रन्थालय बनेगा नहीं, धनके विना चलेगा नहीं, अज्ञानियोंसे धन मिलेगा नहीं और ऐसा महान् लिखित ग्रन्थालय न हुआ, तो शुद्ध ग्रन्थ छापना और खोज करना असंभव हैं। ऐसा यह अन्योन्याश्रित विषय है। इसकी कुछ कल्पना पाठकोंको हो, इसलिये यह यहां लिखा है, जो नहीं समझते उनको इसका महत्त्व समझाना भी अशक्य है। अस्तु।

वेदकी खोज करनेके लिये इतनी सामान्य तैयारी भी नहीं हुई है। फिर खोज कहां की? वेदका ठीक ठीक अर्थनिश्चय करना तो एक दूरकी बात है। वेदमें इतने विविध विषय हैं कि उन सब विषयों का ज्ञान आजही हरएकको होना कठीन है। वेदमें कई प्रकारकी चिकित्साएं लिखी हैं। उनकी परिभाषा विभिन्न होती है, इसलिये जो पण्डित अर्थ करने लगता है, वह अपने अज्ञानके कारण उसको ठीक तरह खोल नहीं सकता। इस तरहके किसी अर्थलेखकने अथर्ववेदका अर्थ करनेके समय 'मूत्र' पाठका अर्थ (सब शब्द ईश्वरवाचक हैं ऐसी कुछ विचित्र कल्पना करके) 'ईश्वर' किया था। परन्तु उस मन्त्रमें मूत्ररोगचिकित्साका विषय था। अतः वैद्यक ज्ञानके विना वह सूक्त या मन्त्र खुल नहीं सकता। इसी तरह युद्धविषयक और सेनाव्यूहविषयक मन्त्रोंको खोलना युद्ध-विषयको जाननेके विना हो नहीं सकता। इसी लिये एक एक विषय के पण्डित इकट्ठे मिलकर वेदकी खोज करनी चाहिये। और उनको सब साधन मिलने चाहिये, और उनके मन परवश भी नहीं रहने चाहिये।

वेदकी खोजका विषय इतना गंभीर है। पूर्वग्रहदोषसे यहां कार्य चलनेवाला नहीं और जिनमें यह दोष रहेगा, वे अर्थका अनर्थ भी करेंगे। इस कारण इस दोषसे बचना अत्यंत आवश्यक है।

भारतका उत्थान

श्रीस्वामीजी महाराजने जो सार्वभौमिक भारतोत्थानका कार्यक्रम तैयार किया था, उसका तो उनके अनुयायियोंने पूर्ण विध्वंस किया ही है। अब एक वेदकी बात उस कार्यक्रममेंसे शेष रही है, वह करनेके लिये इतना प्रयास करना आवश्यक है। परंतु यह बनेगा कैसा, यह हमारी समझमें नहीं आता। क्योंकि जो खोज करने लगता है, वह बहिष्कृत होता है। इसलिये पता तो ऐसा ही लगता है कि यह वेदविषयक कार्य भी ठीक शास्त्रीय पद्धतिसे होना कठीन है। और यदि सचमुच यही परिस्थिति और विचारोंकी गुलामी और मतवादकी कट्टरता रही, तो यह कार्य भी निःसंदेह नहीं होगा, और सचमुच यह भी न हुआ, तो श्री स्वामीजीने जो कार्य शुरू किया था, उसमेंसे एक भी नहीं हो सका, ऐसा ही सिद्ध होगा। सोचिये कि कितना दुर्भाग्य है।

ऋषिका उपहास

ऋषि वह होता है कि जो सबसे पहिले उन्नतिका सच्चा मार्ग स्पष्ट देखता है और उस मार्गसे जाओ, ऐसा कहता है। श्री स्वामी दयानन्दसरस्वतीजीने भारताभ्युत्थानका सच्चा मार्ग सबसे पहिले देखा, कहा और उस मार्गपरसे चलकर अपना साध्य प्राप्त करनेकी रीति भी बता दी। इसलिये उनको ऋषि कहना योग्य है। परंतु जो लोग

उनके बताये मार्गपरसे बिलकुल चलना नहीं चाहते, प्रत्युत विरुद्ध ही चलते हैं, उनके आदेशके अनुसार चलने के इच्छुक भी नहीं हैं, उनकी आर्योंका चक्रवर्ती राज्य शीघ्र स्थापित करनेकी प्रार्थना भी प्रतिदिन नहीं करते, तीन सभाओंका कार्य नहीं करते, स्वदेश की गुलामी और परतंत्रता बढानेवाले विदेशी राजा के प्रबंधमें नौकरियां करते, पेनशनें खाते, पदवियां धारण करते, उनकी युनिवार्सिटीयोंके कॉलेजोंमें स्वयं पढते पढाते और अपने पुत्रोंको भेजते हैं, विदेशी वस्त्रादि परिधान करते, अपनी पंचायतें न करते हुए सरकारी अदालतोंमें जाते और उस धंधे से धन कमाते, विदेशी वस्तुओंका व्यवहार करके धन कमाते, वेदका अध्ययन नहीं करते, न करने देते, न सहायता करते हैं, और ऐसा विरोधी आचरण करते हुए उस पवित्रात्मा ऋषिके नामका योग्य समयमें तथा अयोग्य समयमें गर्जना करते रहते हैं, क्या इस नाम-जपसे उस ऋषिका अपमान और उपहास नहीं होता है? 'ऋषि दयानन्दकी जय' ऐसा कौन कहे? जो उनके आदेशानुसार चलता है, वह कहे; उनके आदेशानुसार न चलनेवाले जयजयकार करेंगे, तो उनसे पूछना चाहिये, जय तो तब होगी जब उनका कार्य चलता रहेगा, और सर्वांगसंपूर्ण कार्य होता रहेगा। हमारे विचारसे उनके अनुयायियोंने ही इतना उनके विरुद्ध आचरण किया है कि उनका सर्वांगसंपूर्ण कार्यक्रम अब उनसे होना असंभव है, और जो वेदका कार्य अबतक उनके हाथोंमें रहा है, वह भी स्वतंत्र खोजकी अभावमें होगा, ऐसा नहीं दीखता। इस लिये जय कैसी होगी? और भारतवर्षके बाहर ओंकार का झँडा कब जायगा, जब अनुयायियोंके हृदयोंमें भी ओंकार सुस्थिर नहीं रहा?

ओंकारका झँडा

पाठक पूछेंगे कि अनुयायियोंके हृदयोंमें ओंकारका झँडा खडा नहीं हुआ, इसका प्रमाण क्या है? क्या ये प्रमाण देने चाहिये? पंजाब और युक्तप्रांतमें हिंदी भाषा और देवनागरी अक्षरोंका भी राज्य अभीतक नहीं हुआ, तो देवभाषा-संस्कृतभाषा-का राज्य कहां होना है? अभीतक वे लोग अपसव्यगामी ऊर्दूसे भी बाहर नहीं आ सके, वे संस्कृतका उद्धार क्या करेंगे? गुरुकुलोंमें २० और २५ वर्षोंतक बडेबडे स्थानोंपर विराजमान होनेपर भी संस्कृत भाषामें प्रविष्ट नहीं होते, प्रतिनिधिसभामें भी रहते हुए ऊर्दूको नहीं छोडते, वे संस्कृतसे क्या करेंगे? और जो ७० वर्षोंमें संस्कृत अपना नहीं सके, वे वेदभाषासे क्या व्यवहार करेंगे?

जिनके हृदयोंमें सचमुच ओंकारका निवास हुआ है, वे छः मासोंके अन्दर हिंदीका व्यवहार कर सकते हैं और एक वर्षके अन्दर संस्कृतमें प्रविष्ट हो सकते हैं। संपूर्ण भाषाओंसे संस्कृत भाषा सुगम है। ऊर्दू, हिंदी, मराठी गुजरातीसे भी संस्कृत सुगम, सुबोध और शीघ्र साध्य होनेवाली है। ऐसी सुगम और सुबोध भाषामें-देववाणी-में- जो ६०।७० वर्षोंमें भी प्रविष्ट नहीं हो सके, उनके हृदयोंमें ओंकार का निवास कहां? श्री स्वामीजीकी जन्म-भाषा गुजराती थी, संस्कृत उनकी गुरुभाषा थी, परंतु अपने राष्ट्रोन्नतिके कार्यके लिये जब उन्होंने देखा कि आर्य-भाषाकी आवश्यकता है, तब उन्होंने ४ महिनोंमें हिंदी सीखी और वेदभाष्य तक उसमें लिखा।

कौन ऐसा है कि जो प्रतिदिन आधा घण्टा प्रयत्न करेगा तो एक सालके अन्दर संस्कृत भाषामें प्रविष्ट नहीं हो सकेगा? यदि सब लोग संस्कृत जान जायगे, तो पण्डितों में सच्चा कौन और धोखा देनेवाला कौन, इसकी परीक्षा वे तत्काल कर सकेंगे। परंतु इसके लिये अन्तःकरणमें तीव्र उत्सुकता चाहिये। वह कहां है?

धार्मिक संस्था

संपूर्ण जगत् की धार्मिक संस्थाओंकी स्थिति देखिये, युरोप-अमेरिकाके सब देशोंमें 'मिशन सोसायटीज' हैं। परंतु उनके सब सदस्य उनके धर्मपुस्तकको आद्योपान्त जाननेवाले होते हैं, एक भी प्रबंधकारिणीका सदस्य धर्म-ग्रंथका अनभिज्ञ नहीं होता। मुसलमानोंके धर्मप्रचारक संस्थाके सदस्य भी उनके धर्मपुस्तकका आद्योपान्त अध्य-यन करनेवाले ही मौलवी होते हैं।

परंतु यहां देखा जाय, तो प्रतिनिधिसभाओंके सदस्यों में आद्योपान्त वेदके ज्ञाता कितने हैं? जो स्वयं नहीं जानते, वे वेदज्ञानकी कठिनताओंको कैसे जानेंगे? इस

करनेके उपायोंको कैसे सोचेंगे ? आगे क्या करना चाहिये, इसका ज्ञान उसको कैसे होगा ?

प्राचीन कालसे चली आयी प्रथा यह है, कि वेदशास्त्रज्ञ ही धर्मसभाकी प्रबंधकारिणीका सदस्य हो, एक वेदज्ञ भी सहस्रों अनभिज्ञोंकी अपेक्षा अधिक मूल्यकी संमति दे सकता है। मनुने जो कहा है, वह योंही नहीं कहा। जबतक यह प्राचीन पद्धति प्रचलित थी तबतक वैदिक धर्म अस्ताव्यस्त नहीं हुआ था, और जिस समय वेदशास्त्रज्ञ स्वयं प्रबंधकारिणी सभाके सदस्य होंगे, उसके पश्चात् कोई कठिनता ही नहीं रहेगी।

सच्चा विघ्न वैदिक धर्मकी प्रगतिमें यदि किस जगह है, तो वह अज्ञानियोंके हाथोंमें ज्ञानियोंकी गर्दनें गयीं हैं। यह विघ्न दूर हो गया, तो सब ठीक हो जायगा।

हमारी दृष्टि

आर्यसमाजद्वारा संचलित गुरुकुल संस्थाएं स्थान स्थान पर विराजती हैं। तो भी जब सामूहिक तौरपर आर्योंके सुपुत्र विदेशी सरकारके कालेजोंमें जा रहे हैं, वकील और बैरिष्टर आर्य कहलाते हुए अदालतोंमें जा रहे हैं, आर्योंके मुकदमें अदालतोंमें चले जाते हैं, तब दुःखसे पता लगता है, कि श्री स्वामीजीकी सदिच्छा सफल होनेमें विघ्न कहांसे हुआ है। वही यहां दर्शाया है। कई अपवाद होंगे तो वे नियमकी ही सिद्धि करेंगे।

आज खोज करनेवालोंके ऊपर बहिष्कार डाला जा रहा है, कट्टरता बढानेके लिये यह आवश्यक समझा जा रहा है, परन्तु इससे भय यह है कि जो श्री स्वामीजीके कार्यकी एकही बात– 'वेद' हमारे पास शेष रही है वह भी हमारे हाथोंमें नहीं रहेगी।

सोचनेवाले सोचें, करनेवाले करें। नहीं तो जो बननेवाला है, वही बनेगा। शास्त्रीय सत्य अस्वाभाविक दबावसे दब नहीं सकेगा।

गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगडीका ४२ वां वार्षिकोत्सव

दीक्षान्त भाषण

(लेखक— श्री अमरनाथ झा)

भारतीय संस्कृतिकी प्राचीन परम्पराको सुरक्षित रखने-वाली इस संस्थामें आनेका मुझे अवसर मिला है, मेरा सौभाग्य है। भारद्वाज मुनिके आश्रमके समीप प्रयाग विश्वविद्यालयमें अध्ययन-अध्यापनमें मेरा अब तक जीवन व्यतीत हुआ है और भागीरथीसे यही प्रार्थना है कि "त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः।" परन्तु प्रयागमें फिर भी आधुनिक उथल-पुथल, चहल-पहल पर्याप्त मात्रामें है। यहां आकर विशेष धन्य अपनेको मैं इसलिये मानता हूँ कि इस शान्त वातावरणमें विद्या, चिन्तन और तपके सभी साधन एकत्रित हैं, और यहां सुखसे, निश्शङ्क, विद्यार्थी और गुरु एकाग्र मनसे अपने कर्तव्यका पालन कर सकते हैं, क्योंकि "निकटे जागर्ति जाह्नवी जननी।"

गुरुकुलकी स्थापना भारतवर्षके प्राचीन सिद्धान्तोंको ध्यानमें रखते हुए हुई है। "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"-- यह सत्य है और समयके अनुसार समाजमें परिवर्तन होना भी उचित है। परन्तु सभ्यताके कुछ ऐसे मूल सिद्धान्त हैं, जिनका परिपालन आवश्यक है। भारतीय संस्कृतिकी कुछ विशेषतायें हैं जिनके कारण यह अभी तक संसारकी संस्कृतियोंमें है और जिनकी जीवित रहनेकी शक्तिका प्रमाण यह है कि, और प्राचीन संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं और यह अभीतक विद्यमान है। हाँ, और जीवित रहेगी यदि हम इसके अयोग्य न सिद्ध हों, यदि हम अपने पूर्वजोंके निर्धारित मार्गका अनुसरण करते रहें, यदि हम यह स्मरण रखें कि "तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।"

× × ×

भारतवर्षमें जो शिक्षा-प्रणाली आजकल प्रचलित है उसमें बहुतसे गुण हैं। विज्ञानकी शिक्षा, इतिहास और भूगोलकी शिक्षा, मनोविज्ञानकी शिक्षा, इत्यादि कई अंशोंमें इससे हमारा बहुत उपकार हुआ है और हो रहा है। पश्चिमीय ज्ञान और पश्चिमीय भाषाओंके सीखनेका अवसर मिलता है। परन्तु इस शिक्षा-पद्धतिके आदि निर्माताओंकी मनोवृत्ति अशुद्ध थी। उनका विश्वास था कि यूरोपकी पुस्तकोंकी एक अलमारीमें जितना ज्ञान मिलेगा उतना समस्त पूर्वीय ज्ञान भाण्डारमें नहीं है। इस दूषित धारणासे हमारी शिक्षा-प्रणाली अब भी कलुषित है। पश्चिमकी सब वस्तुओंका हम सम्मान करते हैं और अपनी सब वस्तुओंकी अवहेलना करते हैं। सबसे बडा दोष इस प्रणालीमें यह रहा है कि शिक्षा एक विदेशी भाषा द्वारा दी जाती रही है। मैं अँगरेजी भाषाका विरोधी नहीं हूं। मैंने अंगरेजी साहित्यका रसास्वादन किया है। अंगरेजीके अध्ययन और अध्यापनमें मुझे आनन्द मिला है। अंगरेजीके प्रधान लेखकोंकी कृतिको मैं बडी रुचिसे पढता हूं। अंगरेजी विश्वव्यापिनी भाषा हो गई है। भारतवर्षमें भी अंगरेजीका प्रचार रहेगा और रहना चाहिए। अंगरेजीका व्यवहार तो अभी बहुत दिन तक इस देशमें होता रहेगा। परन्तु यह अनुचित है कि यह भाषा शिक्षाका माध्यम हो। प्रत्येक बच्चेका यह अधिकार है कि उसकी शिक्षा उसकी मातृभाषा द्वारा ही हो। उसीसे बच्चा सुशिक्षित हो सकता है। प्रारम्भिक कक्षाओंके बच्चोंके प्रति अन्याय है कि मातृभाषाके अतिरिक्त किसी और भाषा द्वारा उसकी शिक्षा हो। मध्यमवर्गमें सम्भव है कि सभी मातृभाषाओंको शिक्षाका माध्यम बनानेमें कठिनाइयां हों और मुख्य प्रान्तीय भाषाका ही उपयोग हो—परन्तु उस समय तक विद्यार्थी मनसे और शरीरसे इस भारको सह सकेगा। उच्च कक्षाओंमें भी यथाशीघ्र देशी भाषाओं द्वारा ही शिक्षा होनी चाहिए। इससे सम्भव है कि व्यय कुछ बढ जाये, कई संस्थाओंमें एकसे अधिक भाषाका प्रबन्ध करना आवश्यक हो। बम्बईमें गुजराती और मराठीके भिन्न-भिन्न

वर्ग होंगे, संयुक्तप्रान्त, पंजाब और बिहारमें हिन्दी और उर्दूके भिन्न वर्ग होंगे। परन्तु फिर भी अपनी भाषामें अपने विचारोंको हम सुगमतासे प्रकट कर सकेंगे और विद्यार्थी सुगमतासे समझ सकेंगे। इसके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक पाठ्य विषय पर देशीय भाषाओंमें पुस्तकें लिखी जायँ। जितनी हिन्दी और उर्दूके प्रचारके लिए संस्थायें हैं उनको चाहिये कि और सब कामको छोडकर इस ओर ध्यान दें और उत्तमसे उत्तम पुस्तकें लिखवायें और प्रकाशित करें। यहां गुरुकुलमें आरम्भसे ही समस्त शिक्षा हिन्दीमें हो रही है और यह यहांकी एक विशिष्टता है जिसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

वर्तमान शिक्षा पद्धतिकी दूसरी कमी यह है कि इसमें धार्मिक शिक्षाका कोई स्थान नहीं है। राजकीय विद्यालयोंमें इसका कारण यह था कि राजधर्म देशके निवासियोंके धर्मोंसे भिन्न था और धार्मिक शिक्षाका प्रबन्ध राजकीय शिक्षाविभागसे होना कठिन था। ऐतिहासिक कारण जो कुछ भी हो, फल यह हुआ कि लगभग पचहत्तर वर्षसे हम लोगोंमें धार्मिक शिक्षाका अभाव रहा है। हमारी पाठशालाओं और हमारे मकतबोंमें आरम्भसे ही धार्मिक शिक्षा प्रधानता रखती थी। धर्मका यथार्थ ज्ञान, धार्मिक तत्त्वोंका परिचय, धर्मके इतिहासका अनुशीलन, भिन्न-भिन्न धर्मोंके सिद्धान्तोंका ज्ञान, समुचित रूपसे शिक्षित पुरुषकी भाँति जीवन व्यतीत करनेके लिए आवश्यक है। चरित्रके संगठनके लिए धर्मका प्रभाव बहुत ही प्रबल होता है। हमारी शिक्षाप्रणालीमें इस सुधारकी बहुत बडी आवश्यकता है। संसारकी बहुत-सी उलझनें, बहुत-सी समस्यायें सुलझ सकती हैं, बहुत-सी अनिष्ट प्रवृत्तियाँ धार्मिक शिक्षाद्वारा नष्ट हो सकती हैं। इस शिक्षासे पाशविक अंश हमारी प्रकृतिसे दूर हो सकता है। इसका प्रभाव हम पर यह पडेगा कि हम समस्त सृष्टिसे अपनेको संलग्न समझेंगे, हममें दया और वात्सल्यका भाव आ जायेगा, हम अपने स्रष्टाके समीप पहुँचनेका प्रयास करेंगे, हम अपनेको सच्चरित्र, सदाचारी, लोकसेवानिरत बना सकेंगे, मनसे, वचनसे, शरीरसे सत्य और शिवका अनुसंधान करेंगे। " नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये।" गुरुकुलमें धर्मकी शिक्षा होती है, यह सन्तोषका विषय है। यथार्थ धार्मिक पुरुष वह है जिसके विचार, मत और भावमें संकीर्णता न हो। " नैको मुनिर्यस्य मतन्न भिन्नम्।" यह आवश्यक है कि अपने धर्मका परिपालन करते हुए हम यह भी मानें कि औरोंको भी अपने धर्मके पालन करनेका अधिकार है। जो पुरुष वास्तवमें धार्मिक है वह तो कभी अन्य मतों और धर्मोंकी अवहेलना नहीं करेगा। उसका सिद्धान्त है- " वसुधैव कुटुम्बकम् "

वर्तमान शिक्षा-प्रणालीकी एक और कमी यह है कि अधिकतर विद्यालय शहरोंमें स्थापित हुए और इसके कारण विद्यार्थियोंको अपने घरोंसे बहुत दूर जाकर रहना पडता है। बडे-बडे प्रासादतुल्य विद्यालय बन गये, छात्रावास भी सुन्दरसे सुन्दर बने, विद्यार्थियोंका रहन-सहन भी आवश्यकतासे अधिक विलासमय हो गया। पढनेमें बहुत धनकी अपेक्षा होने लगी और साधारण स्थितिके मनुष्यके लिए प्रायः असम्भव हो गया कि अपने बच्चेको उच्च शिक्षा दिला सके। पढे-लिखे लोगोंके जीवन में एक प्रकारकी अस्वाभाविकता आ गई, अपनी परम्परागत परिस्थितियोंसे वे अलग हो गये। इसके कारण उच्च शिक्षा प्राप्त लोगोंमें तथा औरोंमें बडा अन्तर हो गया। प्राचीन समयमें बडासे बडा विद्वान् अपने समाजका एक अंश बना रहता था, अब पढे-लिखे लोग अपने समाजसे अपने को भिन्न समझने लगे। यह आवश्यक है कि विद्यालय देहातोंमें स्थापित हों और साधारण स्थितिके विद्यार्थीको भी उच्चसे उच्च शिक्षा पानेका अवसर मिले।

× × ×

शिक्षाका ध्येय क्या होना चाहिए? आपके उपाध्यायवर्ग आपको शिक्षा क्यों देते हैं? आप यहाँ क्यों आये हैं? कभी आप इन प्रश्नोंका उत्तर सोचते हैं? आप शिक्षा प्राप्त करके किस योग्य बनते हैं? हमारे शास्त्रोंके अनुसार शिक्षाके ये उद्देश्य थे- श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु, अमृतत्व। आप देखेंगे कि ये उद्देश्य कितने सर्वव्यापी हैं। श्रद्धा माता-पिताके प्रति, गुरुजनोंके प्रति, ईश्वरके प्रति-विनय, अपनेको अहङ्कारसे बचाना, बुद्धिका विकास, बुरे-भलेका ज्ञान, विचारशक्ति; पुष्ट और हृष्ट सन्तान उत्पन्न करना; धनोपार्जनकी योग्यता प्राप्त करना; आयुष्मान होना, शरीर

की रक्षा करना, बलवान् होना; अमृतत्त्व प्राप्त करना–ये शिक्षाके उद्देश्य हैं। विद्या विवाद और वितंडाके लिए नहीं, ज्ञानके लिए; धन विलास और व्यसनके लिए नहीं, दानके लिए; शक्ति औरोंको कष्ट देनेके लिए नहीं, निर्बल-की सहायताके लिए–यह लक्ष्य होना चाहिए। सदा ध्यान इसका रहना चाहिए कि व्यावहारिक क्षमतासे पारमार्थिक उन्नति होनी चाहिए। यदि आप केवल धनोपार्जनके योग्य बनना चाहते हैं तो विद्यापीठमें आना अनावश्यक है। यदि आप केवल परलोकका चिन्तन करना चाहते हैं तो समाज-को आपसे कोई आशा नहीं हो सकती है। आप यदि केवल अपने शरीरको सुन्दर और पुष्ट बनाना चाहते हैं तो आप पहलवानोंके अखाडोंमें जाकर रहिए। विद्यापीठकी शिक्षा तो ऐसी है कि यहाँसे जब आप बाहर जायें तो आपके मुख पर स्वास्थ्य और सच्चरित्रकी झलक हो, आपके मनमें लोकसेवाकी भावना हो, आपके मस्तिष्कमें सदसद्-का विवेक हो, आपके शरीरमें अन्याय-निवारणकी शक्ति हो, आपके हृदयसे ईश्वरकी आराधना हो।

छान्दोग्य उपनिषद्में कहा गया है कि नारदने सनत्कु-मारसे कहा कि "मुझे आप शिक्षा दीजिए।" सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि "जो कुछ तुम जानते हो सो बताओ। तब मैं उससे आगेकी शिक्षा दूंगा।" नारदने कहा— "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेव-जनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।" प्रायः १२०० वर्ष पूर्व की शिक्षा-पद्धतिका वर्णन हमें बाण की "कादम्बरी" में मिलता है। चन्द्रापीडके अध्ययनकी समाप्ति पर बाण लिखते हैं–

"मणिदर्पण इवाति निर्मले तस्मिन् संचक्राम सकलः कलाकलापः। तथाहि पदे वाक्ये प्रमाणे धर्म-शास्त्रे राजनीतिषु व्यायामविद्यासु चापचक्रचर्म-कृपाणशक्तितोमरपरशुगदाप्रभृतिषु सर्वेष्वायुधवि-शेषेषु रथचर्यासु गजपृष्ठेषु तुरंगमेषु वीणावेणुमुरज-कांस्यतालदर्दुरपुटप्रभृतिषु वाद्येषु भरतादिप्रणी-तेषु नृत्तशास्त्रेषु नारदीय प्रभृतिषु गान्धर्वशास्त्रेषु शकुनिरुतज्ञाने ग्रहगणिते रत्नपरीक्षासु वास्तुवि-द्यासु आयुर्वेदे यंत्रप्रयोगे विषापहरणे सुरंगोपभेदे तरणे लंघने कथासु नाटकेषु आख्यायिकासु काव्येषु महाभारतपुराणेतिहासरामायणेषु सर्वलिपिषु सर्व-देशभाषासु सर्वसंज्ञासु सर्वशिल्पेषु छन्दःसु अन्ये-ष्वपि कलाविशेषेषु परं कौशलमवाप।"

× × ×

स्नातको! आप आर्यसन्तान हैं और आपका कर्तव्य है कि आप अपने आचरणसे आर्य कहलाने योग्य बनें। अपने ग्रन्थोंसे हम जान सकते हैं, कि आर्यसन्तानसे किन बातों की आशा की जाती है। देवव्रतको स्मरण कीजिये। शन्त-नुपुत्र, राज्यका उत्तराधिकारी, अपने पिताको सुखी करनेके कारण, आजन्म ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा करता है। राजा की सेवामें अपना जीवन व्यतीत करता है। राजाको इष्ट-अनिष्टका उपदेश देता है। सभामें, रणक्षेत्रमें, राजाके हित-साधनमें यथाशक्ति लगा रहता है। कुरुक्षेत्रमें इस वीरता और शौर्य और पराक्रमसे लडता है, पाण्डव सेना-का इस प्रकारसे संहार करता है, कौरवोंको इतना उत्सा-हित करता है, कि श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा भंग करके अपना शस्त्र उठाते हैं, और भीष्म हाथ जोडकर प्रणाम करता है– "एह्येहि देवेश! जगन्निवास!" रातको जब दोनों सेनायें आराम करती हैं तो कौरव और पाण्डव दोनों पितामहके पास जाकर अपनी भक्ति और श्रद्धा सम-र्पित करते हैं। जो कभी अपने कर्तव्य-पथसे भ्रष्ट नहीं हुआ उसका कितना सम्मान है!

रामचन्द्र, अयोध्याके भावी राजा, अपने पिताके दिये हुए वचनको पालनेके लिए चौदह वर्षका वनवास स्वीकार कर, अनेक प्रकारके कष्ट सहते हुए, देश प्रदेशमें भटकते हुए, कन्द मूल का आहार करते हुए, अयोध्यासे लंका जाते हैं। उनके कष्टके वृत्तान्तसे "अपिग्रावा रोदि-त्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" सीताहरणका दुःख सहते हैं, वृक्षोंसे, आकाशसे, पर्वतसे, पवनसे पूछते हैं "सा सीता केन नीता मम हृदयगता क्वापि केनापि दृष्टा।" रावणको हराकर अयोध्या आते हैं, परन्तु वहां भी क्लेश पीछा नहीं छोडता है। प्रजाको सन्तुष्ट रखना राजाका धर्म है। दशरथके सम्बन्धमें राम

कहते हैं-

> सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम्।
> यत्पूजितं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुंचता।"

प्रजाको प्रसन्न रखनेके निमित्त सीताका भी परित्याग करते हैं-

> "स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
> आराधनाय लोकानां मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥"

कर्तव्यके पालनमें रामने क्या क्या दुःख नहीं सहा? यही कारण है कि अब भी वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

भ्रातृवत्सल भरत और लक्ष्मणके उदाहरण आपके सामने हैं। वचनके पालनेके लिए सब त्याग करनेवाले हरिश्चन्द्रका आदर्श आपके सामने है। अपने कुत्तेको पीछे छोडकर स्वर्गमें प्रवेश करनेसे अस्वीकार करनेवाले युधिष्ठिर; माताकी आज्ञा शिरोधार्य करके स्वयं अपनी आंखें निकालनेवाले कुणाल; स्वाधीनताके लिए जीवनको न्यौछावर करनेवाले महाराणा प्रताप; कवियोंको प्रत्यक्षर लक्ष देनेवाले भोज; इत्यादि अनेक ऐसे आदर्श हैं जिनका अनुकरण कर आप आर्यपदके अधिकारी हो सकते हैं।

× × ×

आज संसारमें बडा संघर्ष है। सभ्यताके जीवन मरण का प्रश्न है। शान्ति कठिन है। अशान्ति फैली हुई है। असहिष्णुता, लोभ, मोह, ईर्ष्या, क्रोधका प्राधान्य है। ऐसे समयमें हमारा कर्तव्य क्या है? एक तो यह कि हम अपने आदर्शोंको न भूलें और दूसरा यह कि उनकी रक्षाके लिए हमें जो कुछ भी करना पडे हम करें। यदि शस्त्र ग्रहण करना पडे, रणमें जाना पडे, जानसे हाथ धोना पडे, तब भी अपने देश, अपने आदर्श, अपने धर्मकी रक्षा हम करेंगे। हमें विश्वास है कि इनकी रक्षासे संसारका कल्याण होगा, हमारा दृढ मत है कि हमारी संस्कृतिमें अमर होनेकी शक्ति है, हमारी सभ्यताके मूल सिद्धान्तोंके अनुकरण करनेसे जगत्का हित है। 'ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस मंत्रसे विश्वकी भलाई होगी। शान्तिकी संस्थापनाके लिए हमें यत्नशील होना चाहिए। आपकी शिक्षाका यह तो फल अवश्य होना चाहिए कि यदि संसारमें शान्ति नहीं है तो कमसे कम आपके हृदयमें शान्ति रहे, आपका अन्तःकरण भयशून्य रहे, आप क्षमावान् हों। आपमें धैर्य हो, आपका चित्त आपके वशमें हो, आपमें संयम हो, आपकी प्रज्ञा सफल हो, सत्यसे आपको प्रेम हो, अपकर्मसे आप पराङ्मुख रहें, आपमें श्रद्धा और भक्ति और दया रहे। एक दूसरेके प्रति सुहृद्भाव रहे। आपका वचन मधुर हो, आपका आचरण सुन्दर हो, आपकी भावना शुद्ध हो।

> "समानो मंत्रस्समितिस्समानी
> समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
>
> समानं मंत्रमभि मंत्रये वः
> समानेन वो हविषा जुहोमि॥"

भगवद्गीताका लेखनकाल

किसने, कब और क्यों उसका लेखन किया ?

(लेखांक १)

(लेखक- प्राध्यापक वि० ब० आठवले, M.Sc., F.R.G.S.(London), हंसराज प्रागजी ठाकरसी कालेज, नासिक)

(अनुवादक- श्री. द० ग० धारेश्वर, बी. ए.)

श्री शंकराचार्यजीसे लेकर आजतक लगभग बारह शताब्दियों तक, भगवद्गीतामें प्रतिपादित तत्वज्ञानका स्वरूप क्या है इस सम्बन्धमें सहस्रों लोगोंने यद्यपि बहस जारी रखी तथापि, गीताकी रचना किस कालमें हुई, इस समस्याको हल करनेके लिए निश्चयात्मक प्रयत्न बहुत ही अल्प मात्रामें हुए और जो कुछ चेष्टा की गयी उससे किसी निर्णय पर पहुंचनेमें तनिक भी सहायता नहीं मिली। कारण यही कि किसीके पास वह प्रमाण मौजूद न था जिससे संशयातीत उत्तर दिया जासके। और एक बात थी कि किसीने लेश मात्र भी यूं कोशिश नहीं की, क्या गीतामें जो विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, महर्षयः सप्त पूर्वे, चत्वारो मनवः एवं तथा कवीनां उशना कविः वगैरह कई उल्लेख पाये जाते हैं उनका कुछ ऐतिहासिक महत्व भी है या वे निरे कल्पना प्रसूत ही हैं ? पुरातत्वके अनुसंधानमें प्रवर्तित खननकार्य एवं भौगोलिक प्रमाणोंके सहारे मुझे यों सिद्ध करके दर्शाना संभव हुआ है कि ईसाके लगभग ३००० वर्ष पहले गीताके लेखनका कार्य हो चुका था। इसी प्रकार, मुझे यूं बतलाना भी संभव हुआ है कि, ऊपर दर्शाये ढंगके गीतामें उपलब्ध ५२ उल्लेख, ऋग्वेदस्थ ऋचाओंके आधारपर लिये गये हैं ऐसा दर्शानेसे, मंडलानुक्रमसे ऋग्वेदरचना करनेहारे 'वेदव्यास' जी तथा गीताके निर्माणकर्ता व्यासजी एक और अभिन्न हैं। इस ऐतिहासिक अन्वेषणसे गीतामें विद्यमान अनेक दुरूह एवं जटिल बातें बिलकुल आसान प्रतीत होने लगी हैं और इस प्रश्नका कि गीताका लेखन क्योंकर हुआ, अब उत्तर देना नितान्त सुगम हुआ है।

इस लेखमालाके लिखनेका उद्देश्य यही है कि उपर्युक्त प्रश्नोंके उत्तर दिये जा सकें। उन प्रश्नोंमेंसे, गीताका लेखन कब हुआ, इस प्रश्नके बारेमें तनिक सोचना ठीक जँचता है।

चूंकि श्री शंकराचार्यजीने गीतापर भाष्य लिखा है अतः निस्सन्देह तथा निर्विवादरूपसे ऐसा प्रतिपादन किया जा सकता है कि श्री शंकराचार्यजीके पहले याने खिस्ताब्द ७०० से पूर्व गीता मौजूद थी। महाभारतान्तर्गत होनेके कारण संभव है कि गीता महाभारतकार सौतिकी लिखी हुई हो। स्पष्ट है कि यदि महाभारतका काल निश्चित हो जाए तो अधिकसे अधिक इतना कहा जा सकता है कि, गीताका काल महाभारतके उपरान्तका नहीं। इतना निश्चित हो चुका है कि खिस्तपूर्व २०० के लगभग वर्तमान महाभारत मौजूद था। ऐसा कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि खृष्टपूर्व २०० के बादके कालमें गीताका निर्माण होना सुतरां असंभव है।

लेकिन, ध्यानमें रहे सिर्फ यूं कहने मात्रसे कि गीता विशिष्ट युगके पश्चात् अस्तित्वमें नहीं आयी, कालनिर्णयका प्रश्न हल नहीं होता और निश्चयपूर्वक उत्तर न दिये जानेके कारण सवाल ज्योंका त्यों रह जाता है। कुरुक्षेत्रमें युद्ध होनेका निर्देश गीतामें है अतः यह सरासर असंभव ही है कि कुरुक्षेत्रमें छिडे युद्धके पहले गीताका लेखन हुआ हो। पहलेपहल ऐसा ख्याल मनमें उठखडा होता है कि, चूँकि युद्ध एक ऐतिहासिक घटना है अतः उसका काल निश्चितरूपसे ठहराना कोई अति कठिन बात तो नहीं है; क्योंकि युद्ध छिडनेके समय आकाशस्थ ग्रहोंका अवस्थान महाभारतमें बतलाया है इसलिए ग्रह गतिपरसे ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जा सकता कि कितने वर्षोंके पहले आकाशमें ग्रहोंकी वह स्थिति दीख पडती थी।

महाभारतका समर अठारह दिनोंतक जारी रहा इस

विषय पर बहस करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। सूर्य किस नक्षत्रमें था इसका उल्लेख पाया जाता है, अतः मार्गशीर्ष मास प्रचलित था ऐसा निश्चित रूपसे कहा जा सकता है। परन्तु वास्तविक कठिनाई अब उठ खडी होती है कि जब कि सवाल किया जाता है, यह संग्राम खिस्ताब्दके कितने वर्ष पहले छिड चुका था? लडाईके छिड जाने पर सात ग्रह एक स्थान पर दीख पडते थे ऐसा उल्लेख है, देखें कि इससे क्या अनुमान निकाला जा सकता है। बृहस्पति एवं शनैश्चर दोनोंकी भ्रमण गतियाँ सबसे बडी हैं इसलिए इनका विचार करनेपर दूसरे ग्रहोंके बारेमें सोचनेकी कोई जरूरत नहीं जान पडती है। सूर्यके इर्दगिर्द एक प्रदक्षिणा समाप्त करनेके लिए बृहस्पतिको बारह वर्ष लगते हैं। अर्थात् ऐसा अगर उल्लेख हो कि गुरु किसी खास नक्षत्रमें था, तो उसके पहले १२,२४- वर्ष पूर्व उस नक्षत्रके निकट गुरु रहा होगा। शनिको प्रदक्षिणा पूर्ण करनेके लिए ३० साल लगते हैं। अर्थात् किसी भी नक्षत्र में शनि एवं गुरुकी युति ३६०, ७२०, १०८०.... इतने वर्ष पहले जरूर होनी चाहिए। महाभारतकाल खिस्तपूर्व लगभग २०० है ऐसा मानलें, तो भारतीय महासमरका ठीक काल माननेके लिए ऊपर दी संख्याओंमेंसे किस संख्याका ग्रहण करना उचित है, इस प्रश्नका समाधान-कारक उत्तर देना असंभव प्रतीत होता है क्योंकि हमारे निकट दूसरा कोई प्रमाण नहीं।

कुछ मास पहले बनारसमें अखिल भारतीय पौर्वात्य परिषदका जो बारहवाँ अधिवेशन संपन्न हुआ था उसमें 'भारतीय समरका काल' विषयपर तीन निबंध पढे गये थे। श्री. ज. स. करन्दीकर महोदयजीने बताया कि अपनी खोजके फलस्वरूप वे इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि भारतीय युद्ध छिड जानेका समय ईसाके पूर्व १९३१ है। नागपूरके डाक्टर दप्तरी महोदयजीका कथन था ईसवी सनके पूर्व ११६७ में भारतीय संग्राम प्रवर्तित हुआ था। दोनों विद्वानोंने अपने कथनके पुष्ट्यर्थ महाभारतके वचन उद्धृत किये थे तथापि दोनोंके उत्तरोंमें जो विषमता दीख पडती है उसका कारण शायद इन वचनोंका अर्थ करलेनेमें मत-भेद हुआ हो या इन अवतरणोंके आधारपर निश्चित काल बतलाना असंभव हो।

निबंधोंका पठन जब जारी था तब मैं वहाँ उपस्थित था इस कारण मुझे ज्ञात हुआ कि, महाभारतके किन वचनोंको प्रक्षिप्त माना जाय या विश्वसनीय समझलें इस सम्बन्धमें डाक्टर दप्तरी महोदय एवं श्री करन्दीकरजीके मध्य मत भिन्नता थी। पाठकोंके ध्यानमें यह बात आही गयी होगी कि डॉ० दप्तरीजीकी निकाली संख्यामें यदि ७२० संख्याको जोड दें तो करीब करीब श्री. करन्दीकरजी की संख्याके निकट हम पहुँचने लगते हैं। ध्यानमें रहे कि युद्ध तो एक ऐतिहासिक सत्य घटना है अतः यूं कहना कि दोनों पंडितोंके उत्तर ठीक हैं, अनुचितही है। ऐसा कहना भी असंभव है कि दोनों संख्याओंकी जोड करके उनका सुवर्ण-मध्य प्राप्त कर उसे ही सत्य समझ लें। कहनेका मतलब यही कि, ईसवी सनके पूर्व ११६७ से ३१०० तक जो कोई उत्तर मिलते हैं उनमेंसे जिस उत्तरकी पुष्टि भूगोलशास्त्र या उत्खननशास्त्रसे हो जाए वह ठीक है तथा अन्य संख्याएँ गलत हैं और जबतक ऐसा कोई प्रबल आधार उपलब्ध न हो तबतक भारतीय समरका काल ठहरानेमें सफलता नहीं मिली, ऐसा मुक्तकंठसे स्वीकार करना ही ठीक प्रतीत होता है।

मुझे तो इस सम्बन्धमें पर्याप्त आधार मिल गये हैं कि स्वयं भगवद्गीता ही ईसाके पूर्व ३००० वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी। इसी वजहसे, प्रथम युद्धकालका निर्णय करके पश्चात् दूसरे प्रमाणोंके बलबूते पर गीताके कालका निर्णय करनेका द्राविडी प्राणायाम मुझे नहीं करना पडा। मुझे इस भाँतिके आधार मिले हैं- (१) मिसरदेशके पिरामिडमें खुदाई करतेसमय जो एक लकडीकी बनी मूर्ति उपलब्ध हुई है उस पर कुछ चिन्ह गूढलिपिमें खुदे हुए पाये जाते हैं। अमरीकाके नैशनल जिऑग्राफिकल मैगज़ीन के अक्टूबर १९४१ के अंकमें उस मूर्तिका चित्र एवं इन चिन्होंका अर्थ दिया है। अँग्रेजी भाषामें उनका जो अनुवाद किया है वह गीताके 'जीवभूतः शरीरमवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामति...इस वचनका शब्दशः भाषान्तर है, ऐसा तुरन्त ध्यानमें आ जाता है। उसी मैगजीनमें बताया है कि उस चित्रका काल ईसाके पूर्व २७८० है। इसपर शायद कोई यूं आक्षेप करले कि ऐसा कोई नियम नहीं कि समान कल्पनाएँ विभिन्न स्थानोंमें समकालीन ही रहें। अगर ऐसा

न बतला सकें कि गीतामें विद्यमान मूल कल्पना ईजिप्तमें चली गयी थी तो उपर्युक्त आधारकी जडही कट जाती है।

न केवल ऊपर बतलायी कल्पना ही, अपितु सुवर्ण, चाँदी, हाथीके दाँत, बन्दर और मयूरतकका द्वारिका बन्दरगाहसे ईराक तथा ईजिप्तकी ओर निर्गमन हुआ करता था एवं यह व्यापार ५००० वर्ष पहले प्रचलित था, इस संबंधमें भी आधार प्राप्त हुए हैं। देखिए– ईराकमें बसरा नगरसे लगभग १०० मील दूरीपर पच्छिममें युफ्राटीस नदीके तटपर 'उर' नामक ग्राम है जिसका उल्लेख बायबलमें कईबार किया है। आज उधर बस्ती तनिक भी नहीं पायी जाती है। अनुसन्धान कार्यके लिए जो अमरीकन सज्जन यहाँ पधारे थे उन्होंने सन १९३० ई० में जनवरी मासके नैशनल जिऑग्रैफिकल मैगजीनमें लेख एवं चित्र प्रकाशित किये थे। उसका आवश्यक अंश यहाँ पर उद्धृत किया है। बैबिलोनियन जनतामें प्रचलित पुरानी आख्यायिकामें प्रतिपादन किया है कि 'प्रलयके उपरान्त जो नगर बसाये गये थे उन पहले शहरोंमें 'उर' नामक नगर मौजूद था। ईसवी सनके ढाई सहस्र वर्ष पूर्व बैबिलोनियाकी 'क्यूनिफॉर्म' लिपिमें लिखित शिलालेखमें प्रलयका बखान यूं किया है– 'छहः दिन एवं छहः रातोंतक मूसल धार वर्षा जारी रही और सातवे दिन आँधीका वेग तनिक घट गया। ज्योंही मैंने खिडकी खोल दी त्योंही मेरे मुख पर सूर्यप्रकाश तनिक मात्रामें जा गिरा। समूचे खेत तथा मेंड ज़लसे लबालब भरें दीख पडते थे... मैंने यज्ञ किया तब देवतागण मक्खियोंकी नाईं यज्ञस्थलीमें पधारने लगे।

यह निश्चित है कि उर नगरके प्रथम नरेशका काल ई० सन् पूर्व ३१०० रहा हो। इसमें अगर भूल भी हो जाए तो इस ओर या उस ओर १०० वर्ष न्यूनाधिक हो सकते हैं पर इतनी पुरातन काल गणनामें यह भूल क्षम्य मानी जा सकती है। इस प्रथम नरेशके कबरके नीचे आठ फीट मोटा मिट्टीका एकही स्तर मिल गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह स्तर प्रलयकालीन ही है। प्रलयके पश्चात 'उर' नगरकी प्रांणप्रतिष्ठा हुई इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलगया और वैसेही यहभी निश्चित हुआ कि प्रलयका काल ५००० वर्षपूर्व मानना असंभव नहीं। इस कबरमें उपलब्ध वस्तुओंमें सुवर्ण, चाँदी, वगैरह बहुमूल्य धातुओंके आभूषण यथेष्ट मिले। ध्यानमें रहे कि इराकमें सुवर्ण-रजतादिकी खानें लेशमात्र भी नहीं। अर्थात् ही ५००० वर्षपूर्व ईराक देश समुद्रकी राहसे भारत एवं मिश्रसे व्यापारादि मामलोंमें संपर्क रखता होगा क्योंकि उस कब्रमें खिलौनोंमें गिनानेयोग्य छोटी छोटी नौकाएं मिलीं जो कि आजदिन इराकमें जिस पतवारकी नाव मिलती है ठीक उसी ढंगकी हैं।'

भारतके द्वारका बंदरगाहसे इराकतक यातायात करनेका प्रबंध था और इसका प्रमाण यही है कि 'उर' नगरमें भारतमें खुदी हुई ३० मुहरें प्राप्त हुई हैं। पाँच सहस्र वर्षोंके पूर्व अस्तित्वमें आयी हुई इन मुहरोंका आलेख्य जिऑग्रैफिकल मैगजीनके सन् १९४३ अगस्तवाले अंकमें दिया है। उनमेंसे एक मुद्रामें हाथीका चित्र खुदा हुआ है तथा दूसरेमें यज्ञीय यूपकाष्ठसे बँधा हुआ बैल अंकित है।

अब देखना चाहिए कि अतीत पाँच सहस्र वर्षोंके पहले ईराकमें जो प्रलय उपस्थित हुआ था उसका गीता एवं भारतीय युद्धसे क्या ताल्लुक है। भारतमें यह दन्तकथा प्रचलित है कि द्वापर एवं कलियुगके सन्धिकालमें भारतीय युद्ध छिडगया था। हमारे यहां पंचांगमें गत कलियुगकी वर्षसंख्या देनेकी प्रथा है। इसीका दूसरा नाम युधिष्ठिर संवत् भी है। सभी जानते हैं कि विगत कलिकी वर्ष संख्या ५००० है। युद्धसमाप्ति पर अश्वमेध यज्ञके उपरान्त युधिष्ठिरजीका राज्याभिषेक संपन्न हुआ। पश्चात् श्रीकृष्णने द्वारिकाके लिए प्रस्थान किया।

कुछ वर्ष बीतजानेपर भारी प्रलय होकर ऐसे लक्षण दिखाई देने लगे कि समुद्रमें द्वारिका डूबी जा रही है। इस कारण सभी लोग उसका त्याग कर प्रभासतीर्थ चले गये ऐसा निर्देश मिलता है। बैबिलोनियन लेखके समान ही 'सप्तमेऽहनि प्लावयिष्यति' अर्थात् प्रलयकालके सात दिनतक जारी रहनेका उल्लेख मिलता है। हस्तिनापुरके निकट भूचाल हुआ ऐसा भारतके निम्नलिखित उल्लेखसे स्पष्ट होता है।

प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः।
फेनायमानाः कूपाश्च कूर्दन्ति वृषभा इव॥
पतन्ति उल्काः सनिर्घाताः शक्राशनिसमप्रभाः।
कैलासमन्दराभ्यां तु तदा हिमवता विभो।

सहस्रशो महाशब्दाः शिखराणि पतन्ति च ॥
महाभूताः भूमिकम्पे चत्वारो सागराः पृथक्।
वेलामुद्वर्तयंतीव क्षोभयन्तो वसुन्धराम्
वृक्षान् उन्मूल्य वात्युग्राः वाताः शर्करवर्षिणः।
आभग्नाः सुमहावाते अशनीभिः समाहताः।
वृक्षाः पतन्ति चैत्याः च ग्रामेषु नगरेषु च ॥

अर्थात् बडी बडी नदियोंका जल लाल रंगका बनकर वे उल्टी बहने लगीं; कुओंमें उछलकूद होने लगी; वृहदाकार पर्वतशृंग जमीनपर आ धमके; समुद्रोंका जल इधर उधर फैलने लगा; मन्दिर एवं पेड जल्दही भूमिपर गिरने लगे।'

ध्यानमें रहे कि समान अक्षांशमें भूचालके धक्के एकही समय प्रलयतुल्य प्रभाव पैदा कर सकते हैं। हस्तिनापुर एवं बसरा नगरोंके अक्षांश समान याने ३० उ० इतने हैं। बसराके अक्षांशमें विद्यमान 'उर' नगर समुद्रके निकट है। जिस भूविभागमें 'उर' नगरकी प्राणप्रतिष्ठा हुई थी वह अत्यन्त समतल है, इतना कि, वहांसे २५० मील उत्तरमें बसाया हुआ बगदाद नगर समुद्रसमतलसे केवल १०० फीट ऊंचाई पर है। पीछे बताया जा चुका है कि 'उर' नगरमें एक जगह भूमिके नीचे आठ फीट ऊंचाईका मिट्टीका स्तर मिला है।

अब भूगोलशास्त्रके नियमानुसार, यदि जल ५० फीट हो तो आठ फीटका स्तर अस्तित्वमें आ सकता है। उस समतल भूविभागमें एकाध वर्षमें वर्षाके कारण यथेष्ट बाढ आ जाती है और नगरमें अगर पानी घुस आवे तो भी ५० फीट चढना असंभव है। भूचालके आघात होनेपर समुद्रकी सीमा नहीं रहती है और ऐसे समय यदि बर्षा होने लगे तो नदीका पानी रुक जाता है तथा जल बहुत ऊँचाईतक चढ सकता है। अब भूगोलशास्त्रके आधार पर यूं कहने में कोई आपत्ति नहीं कि, युधिष्ठिरजीके समय भूचालकी वजह प्रलय उत्पन्न हुआ और उसीका परिणाम सहस्रों मीलकी दूरीपर अवस्थित ईराकप्रान्तमें भी दीख पडा।

भूचालके फलस्वरूप दृश्यमान परिणामोंमें एक ऐसा निर्देश मिलता है कि 'बडी नदियाँ उल्टी दिशामें बहने लगीं।' शायद दूसरोंके लिए यह वर्णन अतिरंजित जान पडे लेकिन भूगोलशास्त्रविशारद इस वाक्यसे निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष देखे बिना इस ढंगका बयान सिर्फ कल्पनासे कर लेना असंभव है। भूचालके आघातसे भूभागका कुछ अंश ऊपर उठाया जाता है अतः नदी प्रवाहका रुख भिन्न दिशामें मुड जाता है। नदीका एक साधारणसा नियम यूं होता है कि उद्गमस्थानमें नदीका प्रस्रवण क्षेत्र याने बहावका रास्ता सँकरा एवं गहरा होता है और मुखकी ओर वह चौडा तथा उथला बनता है। पर यदि एकाध मौके पर भूचालकी ठेस लगे तो जिस जगह वह आघात लगा हो उधरसे आदिस्रोतके रुख एवं मुखकी तरफ के भागके मध्य अन्तर दीख पडता है। कभी कभी नदीका निचला प्रवाह खंडित होता है और नदीका बहना रुक जाता है। कुरुक्षेत्रके निकट सरस्वती नदीको इस भाँति मुडना पडा अतः वहाँसे नदीका नीचेकी ओर बहना रुक गया है। कुरुक्षेत्रके समीप तो नदियाँ झीलोंमें परिवर्तित हो चुकी हैं। यदि कई नदियोंके बहावमें रुकावट न भी आ जाय तो भी ठेस लगनेका चिन्ह अर्थात् ही उस स्थान से उद्गमकी तरफका क्षेत्र अधिक चौडा बनना एवं मुखकी ओरका भाग चौडा न होकर गहरा बनना है। हिमालयसे निकलनेवाली गंगा, यमुना, घोग्रा वगैरह सभी नदियोंकी दशा इस भाँतिकी है ऐसा भारतके उस मानचित्रके अवलोकनसे स्पष्ट होगा जो हर इंचके लिए हर मील अनुपातमें बनाया हो।

उत्खननशास्त्रके आधारपर यह निश्चित हो चुका है कि ५००० वर्ष पूर्व ईराकमें प्रलय मच गया था। हमारे यहाँ भी ऐसी आख्यायिका प्रचलित है कि युगप्रलयको हुए पाँच सहस्र वर्ष बीत चुके। ऐतिहासिक दृष्टिसे देखनेवाले जानते ही हैं कि पाण्डवीय युद्धके उपरान्त द्वारिका समुद्रमें डूब गयी। यह स्पष्ट है कि भूचालका वर्णन प्रलयकाल के वर्णनसे सुतरां अभिन्न है। याने भूगोलशास्त्रके आधार से यूं सिद्ध हुआ कि भारतीय युद्ध ५००० वर्ष पूर्व छिडा था ऐसी धारणा ठीक है।

इसका दूसरा एक प्रबल प्रमाणभी उपलब्ध है। द्वारिका जिस अक्षांशपर है उसीपर अवस्थित मेक्सिको नामक अमरीका खंडांतर्गत देशमें विद्यमान 'मय' जातिके उपनिवेशकी खोजसे पायी हुई जानकारीपर यह निर्भर है। अमरीकाके नेशनल जिऑग्रॅफिकल मैगजीनके अगस्त

१९१९ के अंकमें लिखा है ' मय जातिके लोगोंके संवत् का प्रारम्भ ५००० वर्षोंके पहले पाया जाता है और संभव है कि उनकी दन्तकथामें उस प्राचीन कालमें एक अति-महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी अतः उस समयसे इस संवत्का सूत्रपात हुआ हो । ' उसी मासिकके किसी अन्य अंकमें बताया कि वह महत्त्वपूर्ण घटना कौनसी थी । 'भूगर्भसे बाहर आये हुए पाषाणरस (जिसे लाव्हा कहते हैं) के नीचे दबा हुआ एक मयजातिका पुराना मकबरा प्राप्त हुआ। भूस्तरशास्त्रवेत्ताओंके पास उस लाव्हाके भेजनेपर उन्होंने जांच करके अपनी राय देदी कि यह पत्थरोंका रस ५००० वर्ष पुराना दीख पडता है । ' कहनेका आशय यही कि भारतवर्षमें ५००० वर्षोंके पहले हस्तिनापुरके निकटवर्ती हिमालयके भूविभागमें भारी भूचालका Epicentre रहा हो। उसीकी व्रजह समुन्दरकी उमडती लहरमें द्वारिका विनष्ट हुई और उसी समय मैक्सिकोमें भूमि विभक्त हो उसमेंसे पत्थरोंका गर्म द्रव बाहर फूट पडा। भूचाल एक ऐसी घटना है जिसका नतीजा एक ही समय प्रलयकालतुल्य त्रिखंड प्रतीत हो सकता है ।

पांच सहस्र वर्ष पूर्व भारतीय युद्ध छिडा था इसके लिए ज्योतिषशास्त्रसे दूसरा एक प्रमाण मिल जाता है, जैसे, हमारे यहां कालगणना पहले सप्तर्षियोंके आधारपर की जाती थी। महाभारतमें लिखा है कि भारतीय समर के अवसरपर सप्तर्षि मघा नक्षत्रमें थे । भागवतके १२०, २०,२७-२८ श्लोकमें शुकदेव परिक्षित्से यूं कहकर कि हर-एक नक्षत्रमें सप्तर्षि १०० वर्षतक रहते हैं, आगे कहते हैं, अब भी वे मघामें ही हैं । कुल नक्षत्र २७ हैं अतः सप्त-र्षियोंके भ्रमणके लिए २७०० वर्ष लगते हैं । आज सप्तर्षि कृत्तिकामें पाये जाते हैं । कृत्तिकासे मघातक उलटे ढंगसे गिनती करते चलें तो २१ नक्षत्र होते हैं । स्पष्ट हुआ कि २१०० वर्ष पहले सप्तर्षि मघामें विद्यमान थे, लेकिन ऐसा अनुमान करना कि, भारतीय युद्ध २१०० वर्ष पहले हुआ था, गलत होगा । तो वास्तविक बात यही कि सप्तर्षियों-का एक संपूर्ण भ्रमण हो चुका था याने ४८०० वर्ष पहले जब सप्तर्षि मघामें थे तब युद्धका सूत्रपात हुआ था यही ठीक उत्तर है । इसके लिए दूसरा एक प्रमाण है; वृद्धगर्ग नामक एक ज्योतिषीका कथन मिलता है ' युधिष्ठिर संवत् का प्रारंभ हुए २५६६ बीतचुके और वर्तमानमें मघामें सप्तर्षि मौजूद हैं ।'

अच्छा तो, भारतीय युद्धके कालका निर्णय हो चुका। अब हमें सोचना चाहिए कि भगवद्गीता भी उसी कालकी कैसे । हमने पहलेही एक प्रमाण दिया है कि गीतामें मौजूद एक वचन, ईजिप्त (मिसर) की एक मूर्तिपर जो ईसाके पूर्व २७८० वर्ष पहले विद्यमान थी, खुदा हुआ पाया जाता है । बाईबिलमें ऐसा निर्देश है कि सोलोमनके पोत ' अभीर ' प्रान्तसे सुवर्ण, चांदी, हाथीदांत, मोरपंछी एवं बन्दर सदृश वस्तुओंको भरकर तीन वर्षोंमें वापस लौट आये । यहांपर, अभीर प्रदेश अर्थात् ही ग्वालोंका देश है जो कि द्वारकाके निकट नन्द इत्यादि गोपालकोंका ही हो सकता है ।

बाढमेंसे सुरक्षित बचा हुआ परिवार नूहका है । नूहका एक पौत्र था जिसका नाम था असुर । उसने असुर नामक एक नगर लगभग ईसाके ३१०० वर्ष पूर्व बसाया था ऐसा प्रमाण मिलता है । यहभी दर्शाया है कि उस समय वहाँके लोग भारतसे संपर्क रखते थे । गीताके १६ वे अध्यायमें ' जनाः न विदुः आसुराः ' ऐसा आसुर शब्दका प्रयोग करके ' असत्यं अप्रतिष्ठं ते जगदाहुः अनीश्वरम् ' इस भाँति उन लोगोंका मंतव्य भी उद्धृत किया है । आसुर अर्थात् असुरग्रामके निवासी हैं । चूँकि भारतीय विदेशी लोगोंके संपर्कमें आ चुके थे इस कारण उनके मंतव्योंका निर्देश करना बिलकुल ठीक जान पडता है ।

गीतामें यज्ञ शब्द ४५ बार प्रयुक्त हुआ है और यज्ञ का अर्थ क्या है इस सम्बन्धकी चर्चा गीतामें हुई है तथा ' नायं लोकोऽस्ति अयज्ञस्य ' ऐसा यज्ञ न करनेवालों के लिए झिडकी देनेके हेतु ' अयज्ञ ' शब्दको रखा है । यह ध्यानमें रखने योग्य बात है कि जैसे यज्ञ शब्दका प्रयोग किया है उस अर्थमें ' धर्म ' शब्द पृथक्रूपसे प्रयुक्त नहीं है । हाँ, गीतामें ' स्वधर्म ' शब्द पाँच बार प्रयुक्त हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि गीताका निर्माण जिस युगमें हुआ था उस समय ' यज्ञ ' शब्दको धर्म इस अर्थ-में प्रमुखरूपसे प्रयुक्त करते थे । उपनिषत् ग्रन्थमें तो 'धर्म'

शब्द तक नहीं पाया जाता है। हाँ, यज्ञ शब्द तो सहस्रों बार आ चुका है। यहाँका 'यज्ञ' शब्द खि. पू. २५०० पहले लिखित इराकके १२ छोटे वाक्योंके शिलालेखमें दो बार प्रयुक्त हुआ है ऐसा पीछे बताया है।

सौतिके लिखित महाभारतमें धर्म शब्दकी चर्चा अधिक पायी जाती है। यज्ञका विवेचन तनिक भी नहीं। दूसरा महत्त्वपूर्ण भेद अर्थात् ही भारतमें आनेवाले 'यवन' शब्दके बारेमें है। ग्रीस देशका पुराना नाम IONIA था। आज भी ग्रीसके निकटवर्ती समुद्रको Ionion Sea कहते हैं। 'अयोनियन' शब्दका उच्चार बिगाडकर भारतीय जनताने 'यवन' ऐसा किया। ईसाके पूर्व लगभग १००० वर्ष ग्रीक राष्ट्रका पहले पहल उत्थान हुआ था। इससे यह निश्चित है कि सौतिका महाभारत उसके पश्चात् अस्तित्वमें आ चुका हो। आसुर शब्दका प्रयोग सौति विदेशीपनके अर्थमें नहीं करता है। गीतामें यवन शब्दका प्रयोग नहीं हुआ लेकिन आसुर शब्द नौबार प्रयुक्त हो चुका है। इससे यही स्पष्ट होगा कि यद्यपि गीताका ग्रन्थ महाभारतके अन्तर्गत है तो भी सौतिका लिखा तनिक भी नहीं।

इस भाँति, भारतीय घटनाओंका मिसर्, ईराकमें निर्देश और ईराकमें विद्यमान नगरका गीतामें निर्देश ऐसे प्रमाण देकर सिद्ध किया जा चुका कि न केवल भारतीय महासमरका ही किन्तु भगवद्गीताका निर्माणकाल भी ५००० वर्ष पूर्वका रहा हो। अब अगले लेखमें सोचना चाहिए कि गीताके निर्माणकर्ता कौन थे तथा क्यों।

जीवन-संग्राम

हिन्दी संसारके ख्यातनामा सुलेखक एवं यशस्वी संपादक श्री. पं. इन्द्र विद्यावाचस्पतिजीके कुछ विचार-प्रवर्तक लेखोंका संग्रह इस छोटीसी पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकमें किया है। ये लेख कुछ समय पहले हिन्दीकी विख्यात 'सरस्वती' मासिक पत्रिकामें प्रकाशित हो चुके थे। युद्ध तथा शान्तिके बारेमें व्यापक दृष्टिसे विचार करचुकनेपर ये लेख लिखे गये हैं। व्यक्ति एवं समष्टिके जीवनमें समर तथा शान्तता दोनोंका अनिवार्य और समुचित स्थान है तथापि जनतामें संग्राम हिंसा, अहिंसा, शान्तिके बारेमें भ्रमपूर्ण एवं अवास्तव धारणाएं फैली हुई हैं। हमें पूर्ण आशा है कि इस लघुपुस्तिकाको ध्यानसे पढ लेनेपर ये भ्रान्तिमय कल्पनाएं हट जायेंगी तथा वास्तववादी दृष्टिकोणसे जीवनके निरीक्षण करनेकी प्रवृत्ति बढेगी। लेखोंकी भाषा बडी ओजस्विनी तथा सरल है। लेखकके विस्तृत एवं गहरे अध्ययन तथा व्यापक दृष्टिबिन्दुका परिचय पुस्तकमें यत्रतत्र मिलता है। वर्तमान समयमें जबकि समूचे संसारमें समराग्नि प्रबल वेगसे प्रतिपल धधक रहा है तो भारतीयोंके लिए इस पुस्तकका पढ लेना सचमुच आँखें खोलनेवाला होगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। स्वप्निल तथा भ्रमपूर्ण धारणाओंको दूर करके वास्तविक दशाका परिचय पानेमें इन ११ लेखोंसे अच्छी सहायता मिलेगी। पुस्तकका मूल्य १) है तथा पृष्ठसंख्या १०६ है। पाठक इस पुस्तकको एकबार मंगाकर अवश्य पढ लें ऐसी विनन्ति है। पता– विजयपुस्तक भण्डार, देहली

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टिका मौलिक वा आदि धर्म है

लैलतिल्कद्र तथा रमजानकी खोज तथा उपवास फसह, सब्बथ, ईस्टर और शिव शब्दपर प्रकाश

(लेखक- गणपतराव बा० गोरे, औंध, जि. सातारा.)

[वैदिक धर्मके एप्रिल १९४४ के अंकसे चालू]

खण्ड ४

एप्रिलके अंकमें हमने मुसलमानोंकी शबेबरात वा लैल-तिल्कद्र तथा हिंदुओंकी शिवरात्रिका वर्णन करके दिखाया था कि जो कारण मुसलमान शबेबरातके महत्त्वको बताते हैं लगभग वही कारण हिंदू लोग शिवरात्रिके समझते हैं। मुख्य बात यह है कि ये दोनों जातियां ऐसा मानती हैं कि इन रातोंको उपवास करने से ईश्वरीय ज्ञानकी प्रेरणा होती है। हमारा मत ऐसा है कि ज्ञान-प्राप्तिका कारण कोई रात विशेष नहीं हुआ करती, अपितु उपवास या लंघन करनेसे इन्द्रियोंकी चञ्चलता दूर होकर मन निर्मल होकर ईश्वरीय प्रेरणाको ग्रहण करनेके योग्य बनता है।

शंका- यदि ऐसा होता तो विद्या पढने, और योग साधन करनेकी आवश्यकता न रहती।

समाधान- ईश्वर ज्ञानस्वरूप हैं और उप=समीप + वास=बसना अर्थात् उपवास वा लंघन करनेवाला ईश्वरके समीप जा बैठता है, ऐसा ' उपवास ' शब्द का अर्थ संस्कृत भाषामें होता है। उपासना [उप+ आसन] = परमात्माके समीप बैठना उपवास [लंघन करने] से होती है ! संस्कृत शब्दोंने स्वयमेव समाधान कर दिया ! उपवास भी एक योग साधन है ! ईश्वरीय प्रेरणा उपवाससे शुद्ध किये हुए हृदयमें होती है- विद्या युक्त हो तो सोने पर सुहागा ! हमारे इस विचारकी पुष्टि गत लेखकी चारों कथाएं करती हैं, यथा-

१. ह. मुहम्मद साहेब अनपढ वा उम्मी थे और उनपर अल्लाहने अपना ज्ञान कुर्आन उतारा, ऐसा मुसल-

मान मानते हैं।

२. धनवान चोर उपास करनेके कारण मरकर मुक्त हुआ।

३. अनपढ, डाकू, मांसाहारी व्याध, भीलने उपवासके कारण सन्मार्ग प्राप्त किया।

४. १३ वर्षके बालक मूलजीने उपवासके कारण ईश्वर स्वरूपका ज्ञान प्राप्त किया।

अब बताइये कि इन चारोंमें कितने विद्वान तथा योग अभ्यासी थे ? और आगे देखिए-

५. जब येहोवाके सनातनधर्ममें बिगाड आया, तो येहोवाने ह० मूसाको सीनै पर्वत पर बुलाया। बाइबल निर्गमन २४।१८ के अनुसार ह० मूसा पहाड पर ४० दिन रात [मौ. मुहम्मद अली कृत कुर्आनकी पाद टीप सं. २७७७ के अनुसार उपवास करते] रहे। तत्पश्चात् उन्हें पैगम्बरी मिली !

६. इसी प्रकार जब यहूदीधर्ममें बिगाड उत्पन्न हुआ तो ह. ईसाने ४० दिन और ४० रातोंका उपवास किया। (Fasted 40 days & 40 nights- Matthew4:2) पश्चात् उन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने ईसाई धर्म खडा किया-जो संत आगस्तीन के मतानुसार सत्य सनातन धर्म ही है !

पाठक देखें कि इन छहों मुसलमानी, हिन्दू, यहूदी तथा ईसाई जातियोंके दृष्टान्तोंमें एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं कि जिसमें किसी विद्वान् तथा योगाभ्यासी पुरुषको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ हो ! यह बात नहीं कि विद्वानों और योगाभ्यासियोंको ब्रह्म-

ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ करता, अपितु उपर्युक्त दृष्टान्तोंसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति पूर्वजन्मके किये हुए शुभ कर्मों तथा इस जन्म में किये हुए उपवासों पर भी निर्भर है !

७. उपवासीने मृत्यु भगाई– ईरानके किसी पादशाहने एक मोटे ताजे और एक दुबले पतले अपराधीको पकडवा कर एक कोठडीमें बंद करवा दिया। परंतु यह बात सभीने भुला दी। कई दिनोंके पश्चात् बात याद आनेपर जब द्वार खोला गया, तो मोटा ताजा मनुष्य मरा हुआ और दुबला मनुष्य जिवित पाया गया ! कारण पूछने पर दुबलेने कहा कि मैं उपवास अधिक किया करता हूं, इसलिये नहीं मरा !!

८. भवतापेन तप्तानां उपवासो हि औषधम्– भारतीयोंने उपवासशक्तिको अधिक काममें लाया है ! कारागृहके कष्टोंकी निवृत्तिके लिये सहस्रों हिन्दुओंने उपवास किया है ! जितिन बाबू ६४ दिन रातका लंघन करके परमात्माकी गोदमें विलीन हो गये !! हरीजन हिन्दुओंसे पृथक् होनेवाले थे, परन्तु महात्मा गांधीने उपवास द्वारा उन्हें बचा लिया !!!

महात्मा गांधीजी वर्तमान युगके सबसे बडे उपवासाचार्य हैं। मुम्बई, पूना, नाशिक आदि स्थानोंमें ऐसे वैद्य हैं, जो हर व्याधिकी चिकित्सा उपवासों द्वारा ही करते हैं।

अतः उपवासका बडा महत्त्व है, और इसी कारण हिन्दू, मुसलमान, यहूदी ईसाई आदि सभी जातियोंने उपवासको अपने अपने धर्मका अंग बना लिया है ! परन्तु सच्चा उपवास वही है जिसमें २४ घंटोंमें पानीके अतिरिक्त और कुछ न खाया पिया जाय। आज हिंदुओंने उपवासमें दूध, दही, पेडे, मेवे, चाय, आदिका खाना पीना वैध समझ रखा है ! परंतु यह उनकी भूल है।

यहांतक उपवासके विषयमें लिख कर, अब हम अपने असली विषय शबे बरातकी खोज पर पुनः लौटते हैं।

महाशिवरात्रि शुक्ल पक्षकी रात है वा कृष्ण पक्ष की ?

शबेबरात शअबानकी १५ वीं तारीख को आनेके कारण निःसन्देह पूर्णमासीकी रात है। इसी प्रकार यदि महाशिवरात्रि भी पूर्णमासीको आती होती तो, शेष समानताएं इतनी प्रबल हैं कि हमें महाशिवरात्रिको ही शबेबरात कहनेमें जरा भी संकोच न होता। शिव शब्दके अर्थसे ही यह समस्या खुलेगी अतः हम इसी शब्दके अर्थ यहूदी, ईसाई मुसलमान, तथा आर्यधर्मकी पुस्तकोंमें टटोलना चाहते हैं—

यहूदियोंमें शिव– बाइबलके कन्कार्डन्समें Shew शिवका अर्थ Word [शब्द] Matter [प्रकृति] दिया हुआ है। यूनानी अर्थ है LOGOS [शब्द वा बुद्धि] बाइबलके नये करारमें यह लोगोस = Logos शब्द २०८ वार WORD वा ' शब्द ' के अर्थोंमें तथा ५० वार Saying वा ' बोलने ' के अर्थोंमें उपयुक्त हुआ है। इस से पता लगा कि शिव शब्द बाइबलमें भी ज्ञानके प्रकटीकरण वा प्रेरणाके अर्थोंमें आया है !

२. कन्कार्डन्समें Shew= शिव शब्दका दूसरा अर्थ है pillar of fire by night = रात्रिका अग्नि स्तंभ।

नहेम्याह ९।१८-१९ के पढनेसे ज्ञात होता है कि जब यहूदी लोग मिस्र देशसे भागे तब दिनके समय 'pillar of the Cloud' = बादलका खभा और रातके समय ' अग्नि स्तंभ ' उनको मार्ग बताता रहा !

बादलका यूनानी शब्द है Ombros = वर्षा वा बादल। अतः सूर्य ही वर्षा वा बादल का खंभा है ! अथर्ववेद १०।७ आदिमें जिस स्कंभका वर्णन है, वह यही सूर्य है, यही यहूदियोंका बादलका खंभा है ! संस्कृतमें अभ्र शब्दके अर्थ बादल, आकाश तथा हिरण्य = सोना हैं। अतः बादलका खंभा, तथा आकाशका खंभा फिर सूर्य सिद्ध हुआ। हिरण्य गर्भः तो सूर्यका प्रसिद्ध नाम है। अब रहा रात्रिके अग्नि स्तंभको चंद्रमा सिद्ध करना। य. ३२।१ के अनुसार अग्नि और चंद्रमा एक ही हैं, यथा–

तदेव अग्निस्तदादित्यसतद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

अर्थ— वही अग्नि, वही सूर्य, वही वायु और वही चंद्रमा है।

अतः हिन्दुओंके माने हुए सिद्धान्तानुसार भी रात्रिका अग्नि स्तंभ चंद्रमा ही सिद्ध होता है ! अब अर्थ खुला

कि यहूदियों को दिनमें सूर्य तथा रातको चंद्रमा रस्ता बताता रहा- और शिव नाम है चंद्रमाका !

३. महाशिवरात्रि यहूदियोंमें — और उन्होंने राम सेस [नगर] को पहिले महीने [अबीब वा नीसन] के १५ वें दिन छोडा [अर्थात्] Passover वा फसह × के त्योहारके दूसरे दिन ... गिन्ती ३३।३

पाठको ! यह नीसनका महीना यहूदी धार्मिक वर्षका १ का महीना है जो कि मार्च महीनेके अन्तमें आनेवाली चांदरातसे तदनुसार चैत्र मासकी प्रतिपदासे आरंभ होता है। यहूदी लोग भी अपने धार्मिक वर्षका आरंभ आर्योंके समान वसन्त ऋतुसे करते हैं * अतः यहूदियोंका Pass over जिसे वे Pesach ✱ भी कहते हैं यहूदियोंकी शिवरात्रि है जो कि चैत्र पूर्णिमाको, शबेबरातके समान उजियाली रातको मनाई जाती है।

४. शिवके १२ रोट- निर्गमन २५।३० में येहोवा ह० मूसाको कहते हैं कि ' मेज पर तू मेरे आगे Shew-breads = शिवके रोट नित्य रखा करना. '

ये १२ शिवरोट कदाचित् हिन्दुओंके १२ ज्योतिर्लिंगोंके स्थानी हैं ! ' ज्योतिर्लिंग ' शब्द भी ' प्रकाश वा अग्नि स्तंभ ' का अर्थ रखता है- अन्धेरी रातका नहीं ! अतः शिवलिंगका अर्थ भी ज्योतिः स्तंभ होना उचित है।

५. हिन्दुओंकी चौदश = यहूदियोंकी चांदरात। भारतमें चतुर्दशी वा चौदश १४ वीं रातका नाम है, फिर चाहे वह शुक्लपक्षकी हो वा कृष्ण पक्षकी। पुराने करारमें CHODESH= चौदह शब्द २२० वार मास= Month के अर्थोंमें तथा २० वार चांदरात = New moon के अर्थोंमें उपयुक्त हुआ है ! अर्थात् यहूदी साहित्यके अनुसार चौदश निः संदेह उजियाली रात ही है।

६. पुराने करारमें Shabath वा Shabbath शब्द जिसे आजकल Sabbath लिखा जाता है, लगभग १५० वार rest= आराम करना तथा Cease = काम छोडना इन अर्थोंमें आया है। यही शब्द आगे जाकर शबेबरात बना, ऐसा दीखता है। शबेबरात शाबानके पूर्णिमा और होली फाल्गुनकी पूर्णिमाको आती है !!!

७. आंग्ल जातिमें शिव- आंग्ल भाषाका Show = ' शो ' शब्द Shew = शिव भी लिखा जाता है। दोनों का अर्थ है To manifest = दिखना वा दिखाना; To reveal प्रकट करना।

महाशिवरात्रि तथा शबेबरातमें ईश्वरीय ज्ञानके प्रकट होनेके सिद्धान्तको हिन्दू-मुसलमान तो मानते ही थे, अब आंग्ल जातिने शिव शब्दका अर्थ ही ज्ञान देना करके उन दोनों जातियोंको परास्त कर दिया और शिवसे अपना

× अरबीमें फसह = यात्राकी आज्ञा = Passport है। बाइबलके अनुसार येहोवाने नीसन = चैत्र मासकी शुक्ल चतुर्दशीको मिस्रियोंके पलौठे = First born male Children मारे और यहूदियोंके घरों परसे यूहीं गुजर गया [passed over]. दूसरे दिन प्रातः यहूदी मिस्रसे भागे।

* NI'-SAN- The first month of the year (called Abib in the books of Moses) beginning with the new moon at the end of March. It is the name of the Babylonian god of " spring " (Analytical Concordance)

✱ कन्कारडन्समें Pesach = पेसाचका अर्थ Passover ही बताया गया है। यह इब्रानी वा यूनानी भाषाका शब्द समझा जाता है, परंतु संस्कृतके पिशाच शब्दसे बडा मिलता जुलता है ! ' आपटे ' ने पिशाचः = Fiend, devil, malevolent being अर्थात् रक्तपान करनेवाला, शैतान वा दुराचारी पुरुष किया है। मनु १२।४४ में पिशाच और राक्षसोंको तामसी गतियोंमें उत्तम गतिके प्राणी माना है। मिस्रियोंके पलौठे मारना पिशाच कर्म ही तो था ! हिन्दुओंने भी शिवजीको भूतों, प्रेतों तथा पिशाचोंका सरदार ही माना है। तभी तो हम इस पिशाच, वा फसह के त्योहारको ' यहूदियोंकी शिवरात्रि ' का नाम देते हैं ! शिवरात्रि = कल्याण की रात मानी जाय तो भी उचित ही है, क्योंकि यहूदियोंके बच्चे बचाये जानेके कारण उनका तो कल्याण ही हुआ ! हां ! मिस्री लोग इसे पिशाचका त्योहार कह सकते हैं।

संबंध अति घनिष्ठ जोड दिया !

आपटेके कोशमें शिवः = Veda = ईश्वरीय ज्ञान है। अब बताइये कि आंग्ल जातिका यही वैदिक शिव है वा नहीं ?

८. मुसलमानोंमें शिव- आपटेके कोशमें शबरः+ का अर्थ है शिव वा चंद्रमा और आतः= चौफेर फैला हुआ। अतः शबरातः का अर्थ हुआ पूर्णिमाकी रात्रि। यही शब्द इब्रानी भाषामें बिगड कर शब्बाथ वा शबाथ आंग्ल जातिमें सब्बथ = Sabbath और फारसी भाषामें शबेबरात बन गया है ! संस्कृत शबरातः का शब्दार्थ होगा चौफेर फैली हुई चांदनी रात ! आर्य संस्कृति तथा संस्कृत भाषा किस प्रकार अन्य जातियों तथा भाषाओंको प्रभावित कर चुकी है, इसका पाठक स्वयं विचार करें। इस संस्कृत अर्थके अनुसार ही मुसलमान शबेबरात की ईद शअबान महीनेकी पूर्णिमाको मनाया करते हैं।

९. शबेबरातका अर्थ है ' यात्राकी रात '। चौफेर फैली हुई चान्दनी रात ही यात्राके लिये उत्तम है। यहूदियोंने भी इसी कारण पूर्णिमाके रातको मिस्र देश छोडा था। ※

आर्योंमें शिव- वेदादि शास्त्रोंमें शिव शब्द अनेक बार आया है जिनके विस्तृत वर्णनके लिए अत्यधिक परिश्रम चाहिए, जिसके लिये न स्थान है न आवश्यकता। अतः हम आपटेके कोश आदिसे ही शिव शब्दको संक्षेपतः प्रकाशित करते हैं।

शिव = Auspicious = शुभ; Lucky = भाग्यवान्, Happy = सुखी।

शिवः= The Veda= वेद; Final beatitude = मुक्ति; Salt लवण; शिव शेखरः ※= Moon चंद्रमा; शिवबीजं वा शिवधातुः = Quicksilver = पारा; शिवरसः = The water of the boiled rice = उबले चावलोंका पानी; शिवात्मकं = Rock salt = सैंधव लवण

इस आपटेके अर्थों पर विचार करनेसे भी सहज ही में ध्यानमें आजायगा कि जिन जिन पदार्थोंका शिव शब्दसे संबंध है, वे सबके सब चांदनी रातके रंगसे मिलते जुलते रंगके अथवा श्वेत, शुभ्र रंगके ही हैं ! पुराणोंमें चांदी आदि धातुओंकी उत्पत्ति शिवजीके वीर्यसे कही है। यहां चान्दी तथा चान्द शब्दकी समानता देखिए ! पुराणोंमें शिवजीका रंग श्वेत भी बताया गया है ! वेदमें अग्नि, सूर्य, वायु तथा चांदको एक अर्थात् सजातीय माना गया है ×। यजुर्वेद अध्याय १६ (रुद्र अध्याय) सारेका सारा विद्युत पर भी घटता है, जो श्वेत रंगकी है। सोम आदि चंद्रमा के प्रायः सारे नाम कपूर (Camphor) के भी नाम हैं, जो भी श्वेत रंगका है।

१०. शिवका रंग श्वेत क्यों ? १. इस लिए कि 'शिव' नाम परमात्माका है, और परमात्मा सुख, शुभ्रता, ज्ञान, निष्पापता आदि श्वेतरंगीय शुभ गुणोंसे युक्त है। २ वेदमें सूर्यको सप्तरश्मिः सात रंगकी किरणोंवाला कहा है। ये काली, लाल, नीली, पीली, बैंगनी, नारंगी और हरे रंगकी होती हैं, जिन्हें इन्द्रधनुष (Rainbow) तथा Prism (त्रिकोण कांच) में भली प्रकार देखा जा सकता है। इन्हीं सातों, रंगोंके मेलसे श्वेत रंग उत्पन्न होता है। सूर्य किरण इन सातों रंगोंके मिलावटके कारण ही श्वेत रंगकी दीखती है !! सूर्य किरण लाल आदि गरम रंगोंकी प्रधानताके कारण उष्ण होती है, और चन्द्र किरण नीली आदि ठंढ रंगोंकी प्रधानताके कारण ठंढ और सुहावनी बन जाती है। इसी कारण चन्द्रमा वा शिवको आल्हादकारक तथा

+ शबरः = name of Shiva। आतः = Spread around [Apte].

※ देखो बाइबल गिन्ती ३३।३

※ शेखरः Crown, peak, summit = ताज, मुकुट, चोटी। अतः शिवशेखरः का अर्थ हुआ 'जिसके मुकुटमें चंद्रमा हो ' अथवा 'जिसके मस्तिष्कमें वेदका ज्ञान प्रकाशित हो। यही कारण है कि हिन्दुओंने शिवमूर्तिके शिरपर प्रतिपदाका चन्द्रमा लटकाया, और मुसलमानोंने इसे हलाल CRECENT कहकर अपने झंडों, टोपियों आदि पर लगाया !. ये देखकर हमने एक मुसलमानको चंद्रवंशी आर्य कहा तो उसे क्रोध आया !

× तदेव अग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः। य. ३२।१

सुख शान्ति प्रचारक माना है। ३. श्वेत सर्वव्यापक रंग है। शिव = अग्नि तत्त्व भी सर्वव्यापक है। अतः शिवका रंग श्वेत है। 'शिवका' अर्थ है 'चन्द्रमा'–अतः शिवरात्रि का अर्थ हुआ चांदरात = New moon वा प्रतिपदाका चन्द्रमा। यदि ये अर्थ ठीक हैं, तो मासिक महाशिवरात्रिका अर्थ है पूर्णिमा, पूर्णमासी चांदकी १५ वीं तारीख, संस्कृत शबरातः, इब्रानी शब्बाथ वा शबाथ, अरबी–फारसी शबेबरात अथवा सब्बथ +। ये मासिक महाशिवरात्रियां हर चान्द्रमासमें एक बार आती हैं।

११. वार्षिक महाशिवरात्रि होलीका नाम है—

१. यहूदियोंमें होली - देखो, पीछे लिखा हुआ शीर्षक 'महाशिवरात्रि यहूदियोंमें।'

२. ईसाईयोंमें होली– जिस प्रकार हिन्दुओंकी होली वसन्त सम्पातका त्योहार है उसी प्रकार ईसाइयोंका EASTER ईस्टर भी वसन्त सम्पातका त्योहार है, और यहूदियोंकी Passover वा फसहके समान ही बराबर प्रतिवर्ष वसन्त ऋतुमें होलीके लगभग ही आया करता है। 'ईस्टर ईसाके जी उठनेका त्योहार है, जो मार्चमें लगभग २१ तारीखको आनेवाली पूर्णिमाके बादके प्रथम रविवारको मनाया जाता है। यह यहूदियोंकी फसहकी ईदसे मिलता जुलता त्योहार है-' कन्साइस आक्सफर्ड डिक्शनरी §।

कृष्ण वा खिस्त वा ईसा ये सूर्य वा विष्णु भगवानके अवतार हैं। सूर्य जो शरत् संपात [२३ डिसेम्बर] को निस्तेज बनकर दक्षिणायनकी अत्यंत निचली दशाको पहुंच कर मर सा गया था, सो वसन्त सम्पातमें २२ मार्चको पुनः जीवन प्राप्त करके उत्तरायणाभिमुख होकर ऊपरको चढने लगता है। यही ईसा ❀ का मरकर जी उठना है! East = पूर्व प्रगतिकी दिशा है, और जो इस दिशासे प्रगति करता है वह Easter = ईस्टर है– सूर्य है।

३. मुसलमानोंमें होली– अरबोंके कई महीनोंके नाम उन महीनोंमें आनेवाली ईदके नाम पर पडे हैं, यथा मुहर्रमके त्योहारके कारण सारे महीने पर मुहर्रम नाम पडा। हिन्दुओंके चैत्रमासमें रामजयन्ति वा रामनवमी आती है। रामजन्मके कारण यह चैत्रका महिना अरबी भाषामें रमजान कहलाया। हिन्दुओंकी होली फाल्गुनमें आती है, और मुसलमानोंकी शबेबरात शअबानके महीनेमें आती है। शबेबरातका रूप चाहे इस समय कुछ ही क्यों न हो, परन्तु जिस शअबान महीनेमें यह शबेबरात आती है, उसके अर्थ अबतक भी होम, हवन वा होलीके हैं!

यथा– शअ+बान= शअबान।

शअ= तित्तरबित्तर होना; बिखरना।

शअब शअबन्= अलग करना, तित्तरबित्तर कर देना; इकट्ठा करना; जमा वा एकत्र करना।

बान= साफ, जाहिर= प्रत्यक्ष।

अब शअबान का शब्दार्थ हुआ प्रत्यक्ष छिन्न भिन्न करके एकत्र करनेवाला। यह कौन है? अग्नि! हवन कुण्डमें डाली हुई सामग्रीको अग्नि पहले छिन्न भिन्न करता है और फिर उसके सूक्ष्म परमाणुओंको एकत्र करके सुगन्ध रूपमें आपके नासिकाओं तक पहुंचाता है। अब शअबान का अर्थ हुआ अग्नि, होम वा होलीका महीना!! जिस महीनेमें अग्नि वा सूर्य पुनर्जीवित हो, वा जिस महीनेमें ईसा जी उठे वह शअबान = होली = वसन्तसम्पात =

+ आज Sabbath = सब्बथका अर्थ 'आरामका दिन' रूढी हो गया है। यहूदी शनिवारको, ईसाई रविवारको और मुसलमान शुक्रवारको सब्बथ मनाते हैं, परंतु पूर्णमासीको कोई नहीं। आर्योंके राज्यमें भी मासमें चार दिन छुट्टीके होते थे, और वे शुक्ल अष्टमी, पूर्णमासी, कृष्ण अष्टमी तथा अमावास्या ये चार दिन हुआ करते थे।

§ Easter— 'Festival of Christs' resurrection corresponding to Passover and observed on first-sunday (Easterday=Sunday) after calendar Full moon on or after March 21 st. [Concise Oxford Dictionary].

❀ यजुर्वेद ४०।१ में जो ईशा शब्द है उसका अर्थ है 'सूर्य'। ईश=ईश्वर+आ=उत्पन्न होना। सूर्य परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण ईशा है, ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण ब्रह्मा है।

Vernal Equinox का वा फाल्गुनका महीना है ! इस प्रकार हिन्दुओंके फाल्गुन मासने अपने पर शअबान अरबी नाम रखवाया। चैत्र रमजान बना।

२. शबेबरात होली है, इसका दूसरा प्रमाण यह है कि होली फाल्गुन शुक्लपक्ष पूर्णमासीको तथा शबेबरात भी शअबान शुक्लपक्ष पूर्णमासीको मनाई जाती है।

३. तीसरा प्रमाण क्रमका है। जिस प्रकार हिन्दुओंकी होली फाल्गुनमें तथा अगले ही चैत्रके महीनेमें रामजन्म आता है, ठीक उसी क्रमसे पहले शअबानमें शबेबरात और अगले ही रमजानके महीनेमें मुसलमानोंकी रमजान ईद आती है।

४. चौथा प्रमाण ऋतुका है। होली तथा रामनवमी वसन्त ऋतुके त्योहार हैं। उसी प्रकार अरबोंकी शबेबरात तथा रमजान ईद भी उनके मुसलमान होनेसे पूर्व ठीक वसन्त ऋतुमें ही आया करते थे ! इसी कारण रमजान ईद का एक नाम ईदुल्फित्र = निसर्गका त्योहार= Nature Holiday कुदरतकी ईद अर्थात् वसन्तका त्योहार है !! उन दिनों वे चान्द्र मासोंका सूर्य से मिलान करनेके लिए हिंदुओं और यहूदियों के समान हर तीसरे चौथे वर्ष एक अधिक मास = कौंद का महीना = Intercalary month मिला लिया करते थे। परन्तु मुसलमानी दीन स्वीकार करनेके पश्चात् अल्लाहने उनकी बुद्धि फेर दी ! किस युक्ति से ? यह फिर कभी लिखेंगे।

१२. खण्ड ४ का सारांश- लैलतिल्कद्र वा शबेबरात की खोजका पूर्वभाग एप्रिल के अंक पृ० १९९-२०६ तकमें आचुका है। यह उत्तर भाग है। इन दोनोंका सार इस प्रकार है-

१. पृ. १९९ से २०३ तकमें कुर्आनके अनुसार बताया गया कि कुर्आन वा अल्लाहका ज्ञान लैलतिल्कद्र, शबकद्र, अथवा शबेबरातमें अल्लाहके मलायक आकाश से पृथ्वी पर उतारा करते हैं। परन्तु यह रात शअबान की १५ वीं रात है वा रमजान की पिछली ९ रातोंमेंसे एक, इस बात का निर्णय इस्लामी साहित्यसे न हो सका।

[इस लेख में यहूदियों, ईसाईयों, मुसलमानों तथा हिन्दुओंके धार्मिक साहित्यका एक दूसरे से मिलान करके सिद्ध किया गया कि-

लैलतिल्कद्र शाबान महीनेकी १५ वीं रात = शबेबरात, तदनुसार फाल्गुन शुक्लपक्षकी पूर्णमासी अथवा वसन्त सम्पात वा होली का त्योहार तदनुसार यहूदियोंकी शब्बाथ वा ईसाइयोंका ईस्टर ही है, जो कि भिन्न भिन्न नामोंसे इन चारों जातियोंमें बराबर वसन्त-सम्पातके अवसर पर ही मनाया जाता था, और मुसलमानोंको छोडकर शेष तीन जातिया अबतक भी मनाती आती हैं।!!!]

२. एप्रिल अंक में पृ. २०३-२०६ तकमें शिवपुराण आदि के अनुसार बताया गया था कि-

क. प्रान्तीय प्रथानुसार भारतमें महाशिवरात्रि का त्योहार कहीं माघ और कहीं फाल्गुन की कृष्णपक्षीय चतुर्दशी को मनाया जाता है।

[इस लेखमें सिद्ध किया गया है कि, शिवरात्रि चांद रात का, मासिक महाशिवरात्रि पूर्णिमाका तथा वार्षिक महाशिवरात्रि वसन्त-सम्पात वा होलीके त्योहार का नाम है। शिव शब्द सुख, ज्ञान, मुक्ति, चंद्रमा, अग्नि, सूर्य आदि का वाचक होनेसे उसका सम्बन्ध प्रकाश से है, अन्धकार से नहीं। अतः वार्षिक महाशिवरात्रि फाल्गुन की पूर्णमासी का नाम है। इस बात की पुष्टि यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों और स्वयं हिन्दुओं के धार्मिक साहित्यसे की गई है ! हमारी युक्ति है कि, शिवसे चन्द्रमाको पृथक समझना ऐसा है जैसा परमात्मा से उसके ज्ञानको अलग मानना ! वा सूर्य वा चन्द्रमासे उसके प्रकाशको भिन्न समझना !! गुणी गुण से पृथक नहीं हो सकता !!! अतः यदि महाशिवरात्रि को ज्ञान प्राप्ति होती है, तो वह पूर्णिमा की रात ही होनी चाहिए।]

ख. एप्रिल के अंकमें शिवपुराणादिकी कथाओं द्वारा बताया गया था कि महाशिवरात्रिको शिवजी सत्यज्ञान दिया करते हैं, अपने दूतों सहित पृथ्वी पर विचरते हैं। इत्यादि।

[इस लेख में सिद्ध किया गया है कि, शिवका सम्बन्ध यहूदियों तथा ईसाइयों से भी है, तथा वे भी उसे मार्गदर्शक और ज्ञान दाता मानते हैं। मुसलमानों का ये बातें मानना तो एप्रिल अंक में ही बताया जा चुका

है। शिवके दूत कौन हैं ? चन्द्रमाकी किरणें !]

१३. लैलतिल्कद्र = वसन्त सम्पात अथवा होली की रातमें हिन्दू-मुसलमानोंका मिलाप। एप्रिल के अंक में हमने कुर्आनके अनुसार लैलतिल्कद्र तथा पुराणके अनुसार महाशिवरात्रिका वर्णन दिया है। इन दोनोंको यदि होली का त्योहार माना जाय तो कुर्आन तथा पुराण आदिके वचनोंमें कितना मेल उत्पन्न होता है, सो अब देखिये !

सार्थक नाम- कुर्आन ४४।३ में वसन्त--सम्पात वा होली की रातको ही महत्त्वकी रात कहा गया है, कारण-

१. फाल्गुन वा शअबानकी वह पूर्णिमा होनेसे चन्द्रमा अपनी समस्त १६ प्रकाशकी कलाओंसे तमका नाश तथा सतका प्रकाश करता है।

२. इस रातको चन्द्रमा अपना १२ पूर्णिमाओंका एक चान्द्र वर्ष अथवा एक सम्पात वा सायन वर्ष समाप्त करता है, इसलिये यह कुर्आनके अनुसार कद्र = महत्त्व = प्रतिष्ठाकी रात है।

३. पृथिवीके एक स्थानसे चल कर उसी स्थानमें आनेका जो समय है वही सच्चा वर्ष है और उसी का नाम सायन वर्ष है। आर्यों तथा यहूदियों का धार्मिक वर्ष अबतक वसन्त सम्पात से आरंभ होता है। रोमन वर्ष भी पहले मार्च की २५ से = वसंतसम्पात से आरंभ होता था। पारसियों तथा ईसाइयों का वर्ष यद्यपि वसन्त सम्पातसे आरंभ नहीं होता, तथापि वे वसन्तसम्पात वा होली का त्योहार क्रमशः अवान जश्न तथा ईस्टर के नामों के अब भी मनाते हैं। मुसलमान बनने से पूर्व अधिक मास मिलाने के कारण शअबान की १५ तारीख भी बराबर होली के त्योहार से मिलती थी। इन सब कारणों से भी शबेबरात प्रतिष्ठा की रात कहलाई।

४. मुखं वा एतत् ऋतूनाम् यद्वसन्तः। वसन्त ऋतु ही सब ऋतुओंका मुख वा मुखिया = अग्रणी है। इसी कारण प्राचीन कालकी प्रायः सभी सभ्य जातियाँ वसन्तारंभ × से ही वर्षारंभ किया करती थीं। और शतपथ ब्राह्मणके अनुसार फाल्गुनकी पूर्णिमा ही वसन्त ऋतुकी पहिली रात्रि थी, यथा-

> एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी ॥ (शत० ६।२।२।१८)

अर्थ- जो फाल्गुनी पूर्णिमा है, वही निश्चय पूर्वक वर्ष की पहिली रात है। अर्थात् वर्ष वसन्त ऋतुसे आरंभ होता है और फाल्गुन शुक्ल पक्ष तिथि १५ वसन्त ऋतुकी पहिली रात है।

अब सिद्ध हुआ कि फाल्गुनी पौर्णमासी= होलीकी रात= शअबान की १५ तारीख मुसलमान बननेके पश्चात् भी कई वर्षोंतक हिन्दुओंके समान अरब मुसलमानोंकी भी वर्षारंभकी रात्रि= New year's night बनी हुई थी !! तभी तो ४४।३ में कुर्आन उसे लैलितुलकद्र = महत्त्वकी रात तथा ९७।१ में लैलितम् मुबारकतिं = शुभ रात्रि (Blessed night) कहता है। परंतु मुसलमान बननेके पश्चात इन बातोंको जानना अरब अथवा मुसलमान जातिके लिए असम्भव हो गया है ! फिर भी निष्पक्ष पाठक इन बातोंमें देख सकते हैं कि प्राचीन अरब आर्य संस्कृतिके माननेवाले थे।

५ एप्रिलके अंक पृ० १९९ पर मराठी कुर्आनकी टीप है कि—

" शुभ रात्रिका अर्थ है शाबान महीनेकी १५ वीं रात्र जिस रात्रिको देवदूत पृथ्वी पर उतरते हैं, प्रार्थनाएं स्वीकारी जाती हैं, और पृथ्वी पर बखशीशें [Rewards] बरसाई जाती हैं। यही रात्रिका शुभ है..."

× वसन्त ऋतुका आरंभ सभी देशोंमें एक ही समय नहीं हुआ करता। श्री. पं० ठाकुरदत्तजी वैद्य ' ऋतुचर्या ' में लिखते हैं कि पंजाबमें वसन्त ऋतु १६ फर्वरीसे १५ एप्रिलतक रहती है। सिन्ध प्रान्तका भी यही समय है। इनके विपरीत मुम्बई प्रान्तसे प्रकाशित पञ्चांगोंमें वसन्त ऋतु १ एप्रिलसे ३१ मई तक दिखाई जाती है! परंतु परमात्मा सर्वज्ञ हैं, अतः उन्होंने वसन्तकी पहिचान किसी मास विशेष की तिथियोंसे न करते हुए बता दिया कि मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। यजु० १३।२५ सुश्रुतने कहा मधुमाधवौ वसन्तः। मधुः = शहद = Honey; माधव = सुगंध = Fragrance. अर्थात् जिस देशमें जब भी शहद उत्पन्न हो, और सुगन्धित फूल खिलें वही उस देशकी वसन्त ऋतु है !!!

स्कंद पुराणके अनुसार उस रातको 'स्वयं शिवजी अपनी भूत प्रेत पिशाच आदि शक्तियोंके साथ भ्रमण करते हैं...'

शिव शक्तियां तथा देवदूत कौन ? इस वादमें न पडते हुए पाठक यहां मुसलमानों और हिन्दुओंकी विचारसरणी की समानता देखें। रहा पुरस्कारोंका मिलना, उसका मिलान New years Honors नये वर्षकी पदवियोंसे करें जो कि आज भी ब्रिटिश सरकार ठीक New years Eve = नये वर्षकी रात अर्थात् ३१ डिसेंबरको तारों द्वारां अपने राज्यमें सर्वत्र प्रसिद्ध कर देती है, और जो कि १ ली जनवरीके वर्तमान पत्रोंमें छप भी जाया करती हैं।

शअबान की १५ वीं रात को अल्लाहके दूतों का तथा महाशिवरात्रि के रात को शिवजी का अपनी शक्तियों के साथ पृथ्वीपर भ्रमण करना मुसलमान और हिन्दू समझाएंगे। हमें तो इतना ही सूझता है कि, ये दोनों रातें होली की रात अथवा वर्षारंभ की पहिली रात है और इसी कारण उस का महत्त्व है। इस रात को शिवजी वा चन्द्रमा अपनी समस्त १६ कलापूर्ण सात्त्विक प्रकाश की शक्तियों के साथ पृथ्वी का भ्रमण करते हैं! भूतों प्रेतों और पिशाचों को हिन्दुओं ने देखा होगा–हमें नहीं दिखाई देते !

६. तैतिललकद्र वा शबेबरातको निश्चय करना कठिन काम ही था ! इसी कारण अल्लाह ह० मुहम्मद साहेब से पूछते हैं कि– '(हे पैगम्बर !) तूने समझा है क्या कि कद्र की रात का अर्थ क्या है ? '। ९७।२।

७. आगे अल्लाह ह० साहेब को समझाते हैं कि–

उस रातको (आगामी वर्ष के) प्रत्येक व्यवस्था के लिये देवदूत तथा जिब्रील अपने पालनकर्ता की आज्ञा से (पृथ्वी पर) उतरते हैं। ९७।४।

पाठको ! यह आयत एक बडे ही रहस्यको प्रकट करती है। "(आगामी वर्ष की) प्रत्येक व्यवस्था " ये शब्द बता रहे हैं कि, शअबान की १५ वीं रात किसी समय में वर्षारंभ की प्रथम रात्रि New year's eve ही समझी जाती थी ! ! ! अर्थात् अरबों का वर्ष मुसलमान होनेके पश्चात् भी शअबान से ही आरंभ हुआ करता था– ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शतपथ के प्रमाणानुसार कभी हिन्दुओं का वर्ष भी फाल्गुन पौर्णमासी से हुआ करता था !

परन्तु आज हम देखते हैं कि शअबान मुसलमानों का ८ वां और रमजान ९ वां महीना बना हुआ है !! अब मुसलमान ही बताएं कि शअबान की १५ तारीख की रात को आगामी वर्ष की प्रत्येक व्यवस्था किस प्रकार सम्भव हो सकती है ? अन्यथा मानना ही पडेगा कि जब अरब लोग चांद्र वर्ष का सौर वर्ष से मिलान करने के लिये हर तीसरे चौथे वर्ष अधिक मास मिलाते थे तब शअबान की १५ वीं रात तथा फाल्गुन की पूर्णिमा समकालीन हुआ करती थीं, और दोनों वर्षारंभ की प्रथम रात्रियां समझी जाती थीं।

८. आगे अल्लाह ह० मुहम्मद साहेब को समझाते हैं–

वह (रात अभय व) शान्ति (की रात) है; (और) वह (अर्थात् उसका पुण्य व समृद्धि) अरुणोदय पर्यन्त (रहती) है। ९७।५

पाठक वृन्द ! ये आयत भी अत्यंत गुप्तभेदोंको खोलने वाली है !

प्रश्न १– अब मुसलमान बताएं कि अभय और शांति उजियाली रातमें रहती है वा अन्धेरी रातमें ? सभी कहेंगे उजियाली रातमें' ! और यदि ऐसा कहना ठीक है तो स्वयं कुर्आनने ही सिद्ध कर दिया कि तैल्तिलकद्र की खोज रमजान महीनेकी अन्तिम ९ अन्धेरी रातोंमें करना बडी भारी भूल है, जो मुसलमान आज १३६३ वर्षोंसे करते चले आ रहे हैं !!!

प्रश्न २– मुसलमान बतायें कि किस रातका पुण्य और समृद्धि सूर्योदय तक रहनी सम्भव है ? इसका ठीक उत्तर एक हो सकता है कि शअबानकी १५ वीं रात अर्थात् पूर्णिमाकी रात ! क्यों ? इसलिये कि पूर्णिमाका चन्द्रमा प्रातःकालको अभी अस्त नहीं होता... अभी पश्चिममें प्रकाश देता ही रहता है कि इतनेमें पूर्व दिशासे सूर्यउदय हो जाता है !! अर्थात् पौर्णमासीको सारी रात उजाला रहता है। यहां कुर्आनने स्वयं दूसरी बार लैलतिलकद्र वा शबेकद्रकी पहिचान स्पष्ट बताई है कि वह पूर्णिमाकी रात है, अतः उसे रमजानकी अन्धेरी रातोंमें व्यर्थ न ढूंढो !

परंतु दुःख है कि मुसलमान इन सीधी सादी बातोंको भी समझ न सके ! (क्रमशः)

वेदवेदिका

(४)

वस्तुतस्तु सारस्वतपाठक्रमे यत्खलु अध्ययने सुकरमिति सम्प्रति गण्यते, तदेतदेव कठिणतरं अनुष्ठाने, अर्थज्ञाने च, अनुषङ्ग-मन्त्रकल्पनागौरवात्, आर्षेयपाठे काण्डविभागेन समग्रमन्त्रपठनादिकं तु आदौ अध्ययने किञ्चित् कठिणमिति दृष्टमपि, उत्तरत्र अनुष्ठानेऽर्थज्ञाने च सुकरमिति प्रशस्यते, 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। यत्तदग्रेऽमृतमिव परिणामे विषोपमम्' इति न्यायात्। तथा ऋषिभिर्दृष्टानां मन्त्राणां यथाश्रुतमेवाध्ययनं युक्तम्। तादृशं दर्शनं तु मन्त्ररूपेणैव भवितुमर्हति। अन्यथा विनियोगे तत्कल्पनायां ऊहवाक्यानामिव अनुषङ्गादिमन्त्राणामपि मन्त्रत्वमेव भवेत्। तस्मात् एतावन्मीमांसादिशास्त्रार्थेन पाठक्रमादव्यत्यासतः विनियोगे अर्थवत्तायै मन्त्राणामन्यथाऽनुषङ्गादिप्रयासप्रसङ्गादपि विनियोगानुसारेण यथाशास्त्रं मन्त्र-संयोजनेन सिद्धमन्त्राणामेवाध्ययनं श्रेयस्करमित्युन्नीयते। तेनैव यथाश्रुतं यथाऽधीतमेव विनियोगादौ विशेषतः आनुकूल्येन अर्थवत्तायै कल्पेतेति। अत एव शुक्लयजुर्वेदे अनुषङ्गादिमन्त्रशोधनेन तादृशानर्थप्रसङ्गो दूरीकृतः तत्रभवता याज्ञवल्क्येनेति गम्यते। अत्रायं कश्चित्पुनर्विचारप्रसङ्गः समयापतितः—

केचिदाहुः— अध्ययनमात्रार्थमेवायं सारस्वतपाठक्रमः क्लृप्तः, न तु विनियोगार्थं, तेन पाठक्रमानुरोधेनाध्ययनेऽपि विनियोगावसरे यथाशास्त्रमेव मन्त्रान् प्रयुञ्जन्ति सर्वेऽपि वैदिकाः। तेन च परम्परागतः पाठक्रमोऽप्यादृतः स्यात्, तथा विनियोग-क्रमोऽपि न परित्यक्तो भवतीति।

अपि च गुरुचरित्रादिप्राचीनप्रासादिकग्रन्थेऽपि अस्य सारस्वतपाठस्यैवोद्धृतत्वात्, तथैव चिरात्प्रचलितं पूर्वाचार्योपदेश-परम्परासमागतं प्राचीनं तमिमं सारस्वतपाठं परित्यज्य, नूतनं पाठक्रमं परिकल्पयितुमयुक्तम्। एवं सति किमिति सारस्वतपाठ-क्रमपरिवर्तने एतावान् आग्रहः समाश्रीयते, इति किञ्चिद् विचारास्पदम्।

वास्तविक बात ऐसी है कि, इस समय सारस्वत पाठक्रमके अध्ययनमें जिस बातको आसान समझते हैं ठीक वही अनुष्ठानमें तथा अर्थज्ञानमें अत्यन्त कठिन है और अनुषङ्गमन्त्रकी कल्पनाके बलसे आर्षेयपाठमें काण्डोंके विभागसे समूचे मंत्रका पढलेना इत्यादि यद्यपि प्रारंभमें अध्ययनकी दृष्टिसे तनिक मुश्किल जानपडता है तो भी आगे चलकर अनुष्ठान तथा अर्थज्ञानमें सुगम है; ऐसी सराहना की जाती है क्योंकि सबको विदित है कि 'जो प्रारंभमें विष तुल्य प्रतीत होवे वही अन्तमें अमृतकी नाई हुआ करता है लेकिन जो शुरूमें अमृतके समान जानपडे वह आखीर विष जैसा बनजाता है। दूसरी बात है कि ऋषियोंके देखे मंत्रोंका अध्ययन जैसे सुनाईदिया वैसेही उचित जँचता है। उस भाँतिका दर्शन तो मंत्रके रूपमेंही होसकता है; नहीं तो विनियोगके अवसरपर उनकी कल्पना करने लगें तो ऊहवाक्योंकी तरह अनुषङ्गमंत्रोंको भी मंत्रपनही मिलजाए। अतः यहाँतकके मीमांसा आदि शास्त्रके अर्थसे, पाठक्रमके उलटेपुलट न रखनेसे विनियोगमें अर्थयुक्तताके लिए मंत्रोंका उल्टे अनुषङ्ग वगैरहके परिश्रमसेभी, विनियोग के मुताबिक शास्त्रानुकूल ढंगसे मंत्र जोडकर तैयार हुए मंत्रोंकाही अध्ययन हित कारक है ऐसा अनुमान किया जाता है। उसीसे जैसा सुना गया एवं पढागया वैसेही विनियोग आदिमें विशेष ढंगसे अनुकूल हो अर्थयुक्तताका निर्माण होगा। इससे यही प्रतीत होता है कि शुक्ल यजुर्वेदमें श्रीमान याज्ञवल्क्यजीने अनुषंगादिक मंत्रोंका सुधार करके वैसे अनर्थ को हटादिया। यहाँपर मौका आया इसलिए फिर ऐसा विचार करना ठीक प्रतीत होता है।

कइयोंका कथन है कि यह सारस्वतपाठक्रम सिर्फ अध्ययनके लिए ही रखा गया है न कि विनियोगके लिये; इसीकारण सभी वैदिक लोग क्रमपाठके अनुसार अध्ययन होनेपर भी विनियोगके मौकेपर शास्त्रके अनुकूल ही मंत्रोंका प्रयोग करते हैं। ऐसा करनेसे, परंपरासे चले आये पाठक्रमका आदर भी होगा तथा विनियोगका भी परित्याग नहीं होने पाता।

और भी एक बात यूं है, गुरुचरित्र जैसे प्राचीन प्रसाद गुणयुक्त ग्रन्थमें भी इसी सारस्वत पाठक्रमको उद्धृत किया है अतः, वैसेही चिरकालसे जारी हुए और पूर्वकालीन आचार्योंकी उपदेश परंपरासे प्राप्त हुए इस प्राचीन सारस्वतपाठको छोडकर नये पाठक्रमको रच डालना अनुचित है। ऐसी दशामें सारस्वतपाठक्रमको बदलनेमेंही भला क्योंकर इतना आग्रह किया जाता है इसपर तनिक विचार करना चाहिए।

अत्रोच्यते– आपाततः तदेतत्सत्यमित्येवावभासते, तथापि सारस्वतपाठाभिमानमात्रेण एतादृशपाठक्रमानुरोधेन च कचित् ऋक्पादातिमर्यादातिक्रमणं, कचित् छन्दोनियमातिक्रमेण मन्त्रविभागनियमातिक्रमणं च, विनियोगेऽपि पाठबलादेवापतितम्, तद्यथा ऋक्पादनियमातिक्रमः–

'सूर्यो देवीमुषसं रोचमाना मर्यः। न योषामभ्येति पश्चात्।' इति (तै० ब्रा० २।८।७)

'तिष्ठाहरी रथ आयुज्यमाना याहि। वायुर्न नियुतो नो अच्छ'। इति (तै० ब्रा० २।७।१३)

'तमुस्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य। गर्भं हविषा पिपर्तन'। इति (तै० ब्रा० २।४।३)

'आ वां मित्रावरुणा०। ववृत्याम्। अस्माकं ब्रह्म पृतनासु सह्या अस्माकम्। वृष्टिर्दिव्या सुपारा।
इति (तै० ब्रा० २।८।६)

एतासामृचां त्रिष्टुप्छन्दस्कानां पच्छः पादविभागेन वाक्यरचनया अध्ययने विनियोगादौ च योजयितव्यानां 'मर्यः, याहि, ऋतस्य, अस्माकं,' इति पादमध्ये एव वाक्यपरिसमाप्त्या तत्तत्पाठक्रमानुरोधेन विनियोगेऽपि तथैव पठ्यते वैदिकैः। अत्र पाठक्रम एव प्रधानो हेतुः। एवमेवान्यत्रापि पादार्धर्चैकऋगादिनियमातिक्रमो दृश्यते।

तथाहि– (तै० सं० १।७।८।८–१५)

'वाजिनो वाजं धावत मरुतां प्रसवे जयत वि योजना मिमीध्वमध्वनः स्कभ्नीत (१) काष्ठां गच्छत'। इति यजुर्मन्त्रः। ततश्च केचिदृङ्मन्त्राः पठिताः–

'वाजेवाजेऽवत वाजिनो नः०... ऋतज्ञाः। अस्य मध्वः०... देवयानैः' ॥ १ ॥

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनः ॥ २ ॥

मितद्रवः सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवः। महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु ॥ ३ ॥

देवताता मितद्रवः स्वर्काः। जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि। सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥ ४ ॥

एषस्य वाजी०... आसनि। क्रतुं दधिक्रा०... पनीफणत् ॥ ५ ॥

उत स्मास्य०... तरित्रतः ॥ ६ ॥ इति प्रसिद्धः पाठक्रमः।

अत्र 'वाजिनो वाजं धावत, वियोजना मिमीध्वं' इति यजुर्द्वयकल्पनेन उत्तरान् 'वाजेवाजेऽवत' इत्यादीन् षड् ऋङ्मन्त्रान्विभाज्य एवमष्टमन्त्रविभागात् आपस्तम्बेन तद्विनियोगो दर्शितः। 'वाजिनो वाजं धावतेति चतसृभिः धावतोऽनु मन्त्रयते, मितद्रव इति चतसृभिः प्रत्याधावतोऽनु मन्त्रयते' इति आ० श्रौ० सूत्रम्। तत्र

इसका उत्तर यूं है; ऊपर ऊपरसे ऐसा यह कथन सच है ऐसा भानेलगता है तोभी केवल सारस्वतपाठका अभिमान करनेसेही और ऐसे पाठक्रमके अनुरोधसे कहीं ऋचाके चरणोंकी सीमाका उल्लंघन तो, कहीं छन्दके नियमका भंग करनेसे मंत्र विभागके नियमका टूटना विनियोगमें भी पाठके आधारसे अनिवार्य है। उदाहरणके लिए ऋचाओंके चरणोंके नियमको तोडना तै. ब्रा. के २।८।७; २।७।१३; २।४३; २।८।६ में ऊपर दी ऋचाओंका छन्द त्रिष्टुप् है। इनकी पादविभागसे वाक्य रचना करके अध्ययन और विनियोग आदिमें प्रयोग करनेमें 'मर्यः, याहि, ऋतस्य, अस्माकं' इस ढंगसे पादके बीचमें ही वाक्य समाप्त करके उस उस पाठक्रमके अनुरोधसे विनियोगमें भी वैदिक लोग इन्हें पढने लगते हैं। यहाँपर प्रधान कारण पाठक्रम ही है। इसीतरह दूसरी जगह भी पाद, आधी ऋचा, ऋचा आदिके नियम तोडे जाते हैं ऐसा दीख पडता है जैसे, तै. सं. १।७।८।८–१५ में उक्त यजुर्मन्त्र है और बादमें कुछ ऋचाएँ पढी गयी हैं [देखो ऊपर १–६ तक]

यहाँपर 'वाजिनो वाजं धावत, वियोजना मिमीध्वं' ऐसे दो यजुओंकी कल्पना करके पश्चात् 'वाजे वाजेऽवत' इत्यादि छहः ऋचाओंसे इस तरह आठ मंत्रोंके विभागद्वारा आपस्तंबने उसका विनियोग बताया है। आपस्तंब श्रौतसूत्रके अनुसार, 'वाजिनो वाजं धावत' ऐसी चार ऋचाओंसे दौडते हुओंको लक्ष्यमें रखकर कहता है, 'मितद्रवः' इन चार ऋचाओंसे उल्टा दिशामें दौडनेवालोंसे कहता है। इससे यह ज्ञात होता है कि

'वाजिनः, वियोजना, वाजेवाजे, ते नो अर्वन्तः' इति चत्वारो मन्त्राः वाजपेये रथानुधावनार्थाः, तथा 'मित-द्रवः, देवताता मितद्रवः, एष स्य वाजी, उत स्मास्य' इति चत्वारः प्रत्याधावदनुमन्त्रणार्थाः । स एषः पाठक्रमानु-रोधेन विहितः कल्पः । ब्राह्मणे तु अन्यथैव कल्पो दृश्यते– तत्र 'वाजिनो वाजं धावत०' इत्यारभ्य 'काष्ठां गच्छत' इत्यन्तं एक एव यजुर्मन्त्रः । 'वाजिनो वाजं धावत काष्ठां गच्छतेत्याह' इति (तै० ब्रा० १।३।६) तद्ब्राह्मणे 'वाजिनो वाजं धावत' इति मन्त्रप्रतीकग्रहणेन 'काष्ठां गच्छत' निगदशेषानुवचनात् ।

ततश्च 'प्राञ्चो धावन्ति । चतसृभिरनुमन्त्रयते चत्वारि छन्दांसि' इति (तै० ब्रा० १।३।६) उत्तरत्र पठिताः 'वाजेवाजेऽवत' इत्याद्याश्चतस्रः ऋचः तदनुमन्त्रेण विनियुक्ताः । ताश्च चतस्रः ऋचस्तु 'वाजेवाजे, ते नो अर्वन्तः, शं नो भवन्तु वाजिनः, एष स्य वाजी, ('उत स्य वाजी' इति ऋग्वेदपाठः) इति ऋग्वेदे प्रसिद्धाः। 'चतसृभिरनु-मन्त्रयते' इति ब्राह्मणवचनात् एतासां चतसृणामृचां छन्दोऽनुरोधेनैव विनियोगो विहितः । 'अथ रथान्धावतोऽनु-मन्त्रयते वाजेवाजेऽवत वाजिनो न' इति चतसृभिरनुच्छन्दसम् । इति बौधायनश्रौतवाजपेयसूत्रम् ।

ततश्च 'स यद्यस्मै यज्ञप्रेषमाचक्षते आग्नीध्रीये एतामाहुतिं जुहोति 'उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः' इति च उत्तरस्या ऋचो विधानम् । अत्र 'वाजेवाजे, ते नो अर्वन्तः, शं नो भवन्तु, एष स्य वाजी' इत्येतासु चतसृषु ऋक्षु पाठक्रमे मन्त्रमध्ये एव रेखादर्शनेन तत्र विरामपद्धतेश्च पञ्चमन्त्राः परिकल्पिताः । तत्रापि 'ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो रथं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः ।' इति पूर्वार्धर्चस्य 'मितद्रवः' इत्येतदन्तिमं पदं 'सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवः' इति एतस्मिन् उत्तरार्धर्चस्य पूर्वस्मिन् पादे आदौ संयोज्य 'मितद्रवः सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवः' इति मन्त्रपादः कल्पितः वाजिनः इत्यत्रैव विरामेण तावत्येवैको मन्त्रः कल्पितः ततश्च एतस्यैवार्धर्चस्य शेषेण 'महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे' इत्येतेनान्तिमेन पदेन सह 'शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु' इत्येतमुत्तरमन्त्रपादं संयोज्य एको मन्त्रः कल्पितः। ततश्च 'देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तो हि० अमीवाः' इत्येतैरुत्तरैस्त्रिभिरेव पादैः एको मन्त्रः समापितः । 'एष स्य वाजी' इति चतुर्थो मन्त्रः । तत्रापि 'ते नो अर्वन्तः इत्यारभ्य वाजिनो हवेषु' इत्यन्तं द्वितीयो मन्त्रः

'वाजिनः, वियोजना, वाजेवाजे, ते नोऽर्वन्तः' ये चारों मंत्र वाजपेयमें रथके पीछे दौडनेके अर्थमें और 'मितद्रवः, देव-ताता मितद्रवः, एष स्य वाजी, उत स्मास्य' इन चारोंसे वापिस दौडते हुएको लक्ष्यमें रख कहना है । यही वह पाठक्रम के अनुरोधसे बनाया हुआ कल्प है । ब्राह्मणमें तो दूसराही कल्प दीख पडता है– वहाँ तो 'वाजिनो वाजं धावत' से लेकर 'काष्ठां गच्छत' तक एकही यजुर्मन्त्र है । देखो तै. ब्रा. १।३।६; उस ब्राह्मणमें 'वाजिनो वाजं धावत' इस मंत्रप्रतीकको लेकर 'काष्ठां गच्छत' इस बचे हुए भागका उल्लेख किया है ।

उसके पश्चात् 'पूर्वाभिमुख हो दौडते हैं । चार ऋचाओं से चार छन्दोंका पठन करता है' (तै. ब्रा. १।३।६) इससे आगे 'वाजे वाजेऽवत' इत्यादि चार ऋचाओंका विनियोग किया जाता है । ये चारों ऋचाएँ ऋग्वेदमें हैं, केवल एक स्थानमें 'एष स्य वाजी' की जगह 'उत स्य वाजी' ऐसा ऋग्वेदीय पाठ है चूँकि ब्राह्मण-का वचन है 'चार ऋचाओंका पठन करता है' इसलिए छन्द के अनुरोधसेही इन चारों ऋचाओंका विनियोग निर्धारित है। बौधायन श्रौत वाजपेयसूत्रके अनुसार 'दौडते हुए रथोंके लिए मंत्र पठन किया जाता है 'वाजे वाजेऽवत वाजिनो न' ऐसी ये चार ऋचाएँ छन्दके अनुकूल पढी जाती हैं ।'

तदुपरान्तकी ऋचाका विधान है 'वह यदि इसे यज्ञका अंश कहेगा तो आग्नीध्रीयमें इस आहुतिको डालता है ।' यहाँपर उक्त चारों ऋचाओंमें पाठक्रममें मंत्रके बीचमेंही रेखा खींची हुई देखकर वहाँ ठहरनेकी प्रणालीसे पाँच मंत्र निर्धारित किये गये । वहाँपर भी पहली आधी ऋचाके अंन्तिम पद 'मित द्रवः' को दूसरी आधी ऋचाके पहले चरणमें शुरूमें जोडकर 'मितद्रवः सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवः' ऐसा मंत्रचरण तैयार किया है; केवल 'वाजिनः' यहींपर ठहरकर उतनेमें एक मंत्रकी रचना करडाली पर बादमें इसी आधी ऋचाके बचे हुए 'महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे' इस अन्तिम चरणके साथ 'शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु' इस अगले मंत्रके चरणको जोडकर एक मंत्र बनाया । बादमें 'देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तो हि० अमीवाः' इन आगेके तीनही चरणोंसे एक मंत्र पूर्ण किया है । 'एष स्य वाजी' यह चौथा मंत्र है । वहाँपर भी एक दलका कथन है कि 'ते नो अर्वन्तः' से लेकर 'वाजिनो हवेषु' तक दूसरा मंत्र है; इस

इत्यपि कश्चित्पक्षः, अत्र पञ्चममन्त्रविभागे 'एष स्य वाजी' इति अस्य विनियोग एव लुप्यते।

ऋग्वेदे एतासामृचां भिन्नाः ऋषयो भिन्नानि छन्दांसि च भवन्ति। 'वाजेवाजे, शं नो भवन्तु' इत्यनयोर्वसिष्ठस्त्रिष्टुप्, 'ते नो अर्वन्त' इति गयः प्लातो जगती, "एष स्य वाजी" इति वामदेवस्त्रिष्टुप्। इति प्रसिद्धम्। एवं सति भिन्नर्षिदृष्टयोः त्रिष्टुब्जगती छन्दस्कयोः ऋङ्मन्त्रयोः पादाभ्यां सङ्कलनेन कथमेको मन्त्रः सम्पद्यते? तथा पक्षान्तरेण "ते नो अर्वन्तः० इत्यारभ्य 'शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु' इत्यन्तस्य मन्त्रान्तरपादाधिकस्य कथमेकमन्त्रत्वम्?

वस्तुतस्तु 'चतसृभिरनुमन्त्रयते, चतसृभिरनुच्छन्दसम्' इति विधानात् अत्र छन्दोऽनुरोधेनैव विनियोगः शास्त्रीयः।

अथैतासामृचां छन्दोनियमबोधकं प्रमाणं अत्र यजुर्वेदे एव नास्तीति चेत्– शाखान्तरोक्तमेवात्रापि प्रमाणं भवितुमर्हति। तस्मात् 'वाजेवाजे, ते नो अर्वन्तः, शं नो भवन्तु, एष स्य वाजी' इति मन्त्रचतुष्टयविभागेनैव विनियोगो युक्ततर इति निश्चीयते। आपस्तम्बदर्शितेऽष्टमन्त्रविभागे तु अयं पाठक्रम एव प्रधानो हेतुरिति प्रत्यक्षसिद्धम्।

अस्यां शाखायां ऋग्यजुरादिमन्त्रविभागे पाठक्रमो न प्रमाणभूतः, नापि पाठक्रमेण अनुष्ठानक्रमोऽस्तीत्यसकृदुद्घुष्यते। अत्र तु पाठक्रमतो मन्त्रविभागेन छन्दोनियमोऽप्युल्लङ्घितः। तस्माद् विनियोगे मन्त्रशुद्धौ पाठक्रमशुद्धिरेवात्यन्तमावश्यकमिति प्रतिज्ञायते।

वेदव्रतानि

तैत्तिरीयशाखायां स्वाध्यायाध्ययनार्थं वेदव्रतान्युपदिष्टानि, व्रतानुष्ठानपूर्वकमेव वेदाध्ययनं विहितम्। तत्रापि प्रत्येकस्य काण्डस्याध्ययने प्रत्येकं व्रतमपि पृथगुपदिष्टम् "काण्डेकाण्डे व्रतचर्या" (बौ० गृ० सू० ३।२।२) 'प्रतिकाण्डं व्रतं चरेत्' इति च।

पंचम मंत्र विभागमें 'एष स्य वाजी' का विनियोगही मिटजाता है।

ऋग्वेदमें इन्हीं ऋचाओंके ऋषि एवं छन्द विभिन्न हैं। वाजे वाजे, शं नो भवन्तु' के ऋषि और छन्द वसिष्ठ एवं त्रिष्टुप, 'ते नो अर्वन्त' का ऋषि गयः प्लातः तथा छन्द जगती है और 'एष स्य वाजी' का ऋषि वामदेव तथा छन्द त्रिष्टुप् है यह बात प्रसिद्ध है। ऐसी दशामें, विभिन्न ऋषियों के देखे तथा त्रिष्टुप् जगती छन्दवाले ऋग्वेद मंत्रोंके चरणोंके जोडदेनेसे एक मंत्र भला किसतरह तैयार होसकता है? तथा दूसरे दलके कथनमें भी दूसरे मंत्रका एक चरण अधिक होता है उसे एक मंत्रत्व कैसे प्राप्त होसकता?

वास्तवमें चूँकि विधान इसतरह है कि 'चार ऋचाओंका पठन करता है, चारोंसे छन्दके अनुकूल'. अतः यहाँपर छन्दके अनुरोध सेही विनियोग करना शास्त्रानुकूल जानपडता है।

अच्छा, यदि ऐसा कहो कि, इन ऋचाओंके छन्दविषयक नियमको जतलानेवाला प्रमाण यहाँ यजुर्वेदमेंही नहीं है, तो अन्य शाखामें जो कहा है वही यहाँ भी प्रमाण होसकता है। इसलिए 'वाजेवाजे, ते नो अर्वन्तः, शं नो भवन्तु, एष स्य वाजी' ऐसे चार मंत्रोंके विभागसे ही विनियोग करना ठीक जँचता है। आपस्तंबके दिखलाये आठवें मंत्रके विभागमें तो यह पाठक्रमही मुख्य हेतु है ऐसा साफ साफ सिद्ध है।

ऐसा बार बार घोषित किया जाता है कि इस शाखामें ऋग्वेद, यजुर्वेद आदिके मंत्रोंके विभागमें पाठक्रमको प्रमाण नहीं मान सकते और नाही पाठक्रमसे अनुष्ठानक्रमका निश्चय किया जासकता है। यहाँ तो पाठक्रमके अनुसार मंत्रविभाग करनेसे छन्दका नियम भी टूट जाता है इसलिए विनियोगमें, मंत्रशुद्धिमें पाठक्रमको विशुद्ध रखना ही अत्यन्त आवश्यक है ऐसा प्रतीत होता है।

वेदके व्रत

तैत्तिरीय शाखामें स्वाध्यायके अध्ययनार्थ वेदके व्रतोंका उपदेश किया है तथा वेदका अध्ययन व्रतके अनुष्ठानके साथही करना चाहिए ऐसा नियम है। तो भी हरएक काण्डके अध्ययनमें प्रत्येक व्रतको अलग तरीकेसे बताया है जैसे, "काण्डकाण्डमें व्रतचर्या होती है" (बौधायन गृह्यसूत्र ३।२।२) तथा "हरकाण्डका प्रारंभ होते ही व्रतका आचरण कर ले।"

तथाहि- आचार्यप्रसूतः कर्माणि करोतीति विज्ञायते । आचार्यो वै ब्रह्मेति । काण्डेकाण्डे व्रतचर्या । अथेमानि ब्रह्माणि सांवत्सरिकैर्व्रतैरध्येयानि भवन्ति । होतारः शुक्रियाण्युपनिषदो गोदानं सम्मितमिति । ' इति (बौ० गृ० ३।२।१-५)

अपि च 'अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि पौराणं वेदब्रह्मचर्यम् । चतुर्विंशति द्वादश वा प्रतिवेदम् । संवत्सरावमं वा प्रतिकाण्डम् । ग्रहणान्तं वा जीवितस्यास्थिरत्वात् ' इति बौ० धर्मसूत्रे (१।२।१-४) निर्दिष्टम् ।

तथा प्रयोगतिलकेऽपि- 'प्राजापत्यं च सौम्यं चाप्याग्नेयं वैश्वदेविकम् ।
स्वायम्भुवं पञ्चमं स्यात्प्रतिकाण्डं व्रतं चरेत् ॥
आब्दिकं ग्रहणान्तं वा द्वादशाहिकमेव वा । इत्याद्युपक्रम्य वेदोपकरणान्ते- सद्यो नान्दीमुखक्रिया ।
तस्मिन्नह्नि तमेवाग्निमन्वाधायाथ पूर्ववत् । प्रजापतिं काण्डर्षिमावाह्याग्निमुखान्तकम् ।
कृत्वा विसृज्य दण्डादीनन्यानादाय मन्त्रवत् । मौञ्जीदण्डोपवीतानि वासः कृष्णाजिनं तथा ।
पूर्वोपयुक्तान्युत्सृज्य धार्याणि स्युर्व्रतेव्रते । अच्छिन्नवासोऽप्यहतमुपवीतं न सन्त्यजेत् ।
सावित्र्याथ हुनेत्पकं ततः पञ्चदशाहुतीः ॥
इत्यादिप्रयोगक्रमं चोक्त्वान्ते-
नियमाचरणं कुर्याद्वपनं च व्रतेव्रते ॥ इत्युपसंहृतम् ।

एतेन श्रावण्यामध्यायोपाकर्म कृत्वा तद्दिने वाऽन्यस्मिन्वा वेदारम्भानुकूले सुदिने होतृव्रतमुपाकृत्य प्राजापत्यकाण्डमधीयानः संवत्सरं यावदध्ययनं वा व्रतं चरित्वा तस्योत्सर्गं कुर्यात् । एवमेव क्रमेण शुक्रियादिकाण्डाध्ययनं कृत्वा तत्तद्व्रतविसर्जनं कुर्यादित्युक्तं भवति ।

अत्र १ होतृव्रतं, २ शुक्रियव्रतं, ३ उपनिषद्व्रतं, ४ गोदानव्रतं, ५ सम्मितव्रतं, इत्येतानि क्रमेण (१) प्राजापत्य- (२)- सौम्या- (३)- ग्नेय- (४)- वैश्वदेव- (५)- स्वायम्भुवकाण्डानामध्ययने चरणीयानि व्रतानि व्रतनामानि वा भवन्ति ।

यह तो स्पष्टतया जानपडता है कि आचार्यद्वारा तैयार होनेपर कर्म करता है, क्योंकि आचार्य वास्तवमें ब्रह्मरूपी है, प्रत्येक काण्डमें व्रतकी चर्या है, अब ये ब्रह्म वर्षपर्यंत टिकनेवाले व्रतोंके आचरण के पश्चात् पढने योग्य हैं; होताके व्रत, शुक्रियव्रत, उपनिषदोंके व्रत, गोदानव्रत एवं सम्मितव्रत इतने हैं (बौ. गृ. ३।२।१-५)

और भी बौधायन धर्मसूत्रमें (१।२।१-४) बतलाया है कि 'अडतालीस वर्षतक पौराण वेदब्रह्मचर्य है, हरवेदके लिए चौबीस या बारह हैं, प्रतिकाण्डके लिए न्यूनसे न्यून १ वर्ष और चूँकि जीवित स्थिर नहीं है इसलिए ग्रहणके अन्ततक जारी रहे।' वैसेही प्रयोगतिलकमें भी कहा है कि ' प्राजापत्य, सौम्य, आग्नेय, वैश्वदेव और पाँचवा स्वायंभुव' इसतरह प्रतिकाण्डमें व्रत का आचरण करे। ' वर्षतक रहनेवाला या ग्रहणके अन्ततक विद्यमान अथवा बारह दिनतक रहनेवाला ' ऐसा प्रारंभ करके वेदोपकरणके अन्तमें ' तुरन्त नान्दीमुखक्रिया करे; उसी दिन उसी अग्निको रखकर, पहले जैसे अग्निके सम्मुख काण्डके ऋषि प्रजापतिका आवाहन करके तथा दण्ड वगैरह बनाकर छोडदेवे, पश्चात् दूसरोंको मंत्रपूर्वक ग्रहण करके मौंजी, दण्ड, उपवीत, कपडा एवं कृष्णमृगछाला आदि पहले उपयोगमें आयी हुई वस्तुओं को छोडकर हरएक व्रतमें नये धारण करले; कोरा अटूट कपडा एवं यज्ञोपवीत न छोडे; पश्चात् गायत्रीमंत्रसे पुरोडाशका हवन करे और बादमें १५ आहुतियाँ दे डाले । ' इत्यादि प्रयोगका क्रम बतलाकर अन्तमें ' हर एक व्रतमें नियमका आचरण तथा वपन करले ' कहके समाप्त किया है ।

इसका आशय यह है कि श्रावणीमें अध्ययनोपाकर्म करके उस दिन या किसी दूसरे वेदारंभके अनुकूल अच्छे दिन होताके व्रतका उपाकर्म शुरु करके **प्राजापत्य कांडका** अध्ययन करता हुआ एक वर्षतक अध्ययन या व्रतका आचरण करके उसका उत्सर्ग करले। इसी क्रमसे **शुक्रिय** आदि **काण्डका अध्ययन** करके उस उस व्रत का विसर्जन करले ।

यहाँपर, १ होतृव्रत, २ शुक्रियव्रत, ३ उपनिषद्व्रत, ४ गोदान व्रत, ५ सम्मितव्रत ये क्रमपूर्वक १ प्राजापत्य, २ सौम्य, ३ आग्नेय ४ वैश्वदेव, ५ स्वायंभुव काण्डोंके अध्ययनमें आचरण करनेयोग्य व्रत या व्रतोंके नाम हैं ।

अत्र सौम्यकाण्डाध्ययनार्थमाचरणीये शुक्रियव्रते तु प्रवर्ग्यकाण्डाध्ययनार्थमवान्तरदीक्षापि विद्यते इति विशेषः।

अस्मिन् व्रतकल्पे उपनिषद्व्रतानन्तरं गोदानव्रतं निवेशितमाचार्येण, काण्डक्रमे तु आग्नेयकाण्डानन्तरं वैश्वदेवकाण्डं। इत्यतोऽत्र संदिह्य कचिद्गोदानव्रतानन्तरं उपनिषद्व्रतं प्रयुक्तम्।

एवं तत्तत्काले तत्तद्व्रतमुपाकृत्य, तत्तत्काण्डमधीत्य, तदध्ययनान्ते तत्तत्काण्डव्रतं विसृजेदित्ययं प्रधानः कल्पः। तदसम्भवे तु-

'अशक्तौ होममात्रेण चर्यं तत्त्वेकतन्त्रतः। कालायत्तमिदं कर्म कालो हि दुरतिक्रमः॥
तस्मात्तन्निष्कृतिं कृत्वा तन्त्रैक्येणापि वा चरेत्। त्वमग्ने व्रतपेत्येका सावित्री च मनस्विनी॥
महाव्याहृतयश्चेति-प्रायश्चित्ताहुतिर्मता। पक्वं हुत्वोपहोमाः स्युस्तत्तद्व्रतवशात्तथा॥
समिद्धोमस्तथा तत्तत्काण्डाध्ययनमेव च। व्रतादाने विधिरयं विसर्गेऽप्येवमेव सः॥
पक्वहोमादिकोऽधीतिवर्जितः पुनरेव तु। यावन्ति व्रतकर्माणि तावन्त्यप्याचरेत्तथा॥
ग्रहणं मेखलादीनां नेष्यतेऽत्र पृथक् पृथक्। ततः स्विष्टकृदाद्यन्तु प्राग्वदेव समाचरेत्॥'

इति गृह्यसंग्रहोक्तप्रकारेणैकदैव एकतन्त्रेण होत्रादिपञ्चव्रतानि प्रायश्चित्तपूर्वकमुपाकृत्य, पञ्चकाण्डान्यधीत्य, तथैव तन्त्रेण तान्युत्सृजेदिति।

अथात्र सारस्वतपाठक्रमेणाध्ययने तु प्राजापत्यादिकाण्डाध्ययनाशक्यत्वात् यथाविधि एकतन्त्रेणैव होत्रादिव्रतपञ्चकमनुष्ठाय सारस्वतपाठोपहितसंहितादिग्रन्थाध्ययनं कुर्यादिति वैदिकानां मतं, तथैव पूर्वाचारपरम्परया समागतं चेति सम्प्रति प्रचलितपद्धत्या गम्यते। तस्मिन् काण्डव्रते सावित्री-सदसस्पतिहवनपूर्वकं तत्तत्काण्डर्षिहवनमपि विहितम्। '**एवमेव काण्डोपाकरणकाण्डसमापनाभ्याम्। स एकः काण्डऋषिः।** इति। (बौ० गृ० सू० ३।१।१७)

काण्डव्रते उपाकर्मोक्तसावित्रीपक्वहोमाद्यनन्तरं तत्तत्काण्डर्षिभ्योऽपि आहुतिः समर्पणीया, तथा तत्तत्काण्डस्याद्योऽनुवाकः

यहाँ एक विशेषपूर्ण बात है कि सौम्यकाण्डके अध्ययन के लिए करने योग्य शुक्रियव्रतमें तो प्रवर्ग्य कांडके अध्ययन के लिए छोटीसी दीक्षाभी की जाती है।

इस व्रतकल्पमें उपनिषद्व्रतके पश्चात् आचार्यने गोदानव्रत रखा है काण्डक्रममें तो आग्नेयकांडके पश्चात् वैश्वदेव काण्ड। इस कारणसे संशय होकर कहीं कहीं गोदान व्रतके बाद उपनिषद्व्रत रखा है।

इसभाँति यह प्रमुख कल्प है कि उस उस समयमें उस उस विशिष्ट व्रतका उपाकर्म करके, उस उस काण्डका पठन करके उस अध्ययनके समाप्त होते ही उस विशिष्ट काण्डव्रतका विसर्जन करलिया करे। यदि यह असंभव हो तो गृह्य संग्रहमें जैसे कहा कि 'सामर्थ्य न हो तो उसे एकतंत्रसे सिर्फ होम ही करके पूर्ण करे, क्योंकि यह कार्य तो समयके अधीन है और कालके विरुद्ध जाना बड़ा कठिन है। इस लिए उसे पूर्ण करके एकतंत्रसे ही सही पर आचरण करलें। 'त्वमग्ने व्रतपा' ऐसा कहके एक मननपूर्ण गायत्रीजप और महाव्याहृतियाँ बस यही प्रायश्चित्ताहुति मानी गयी है। पके हुए का हवन करके उस उस व्रतके अनुकूल छोटे-मोटे होम किये जायँ। समिधाका होम और वैसेही उस उस काण्डका अध्ययन, यही प्रकार व्रतके ग्रहणमें है और त्याग करते समय भी यही ढंग है। पके हुएका होम करनेपर और अध्ययन रहित होनेपर फिरसे जितनेभी व्रतकर्म हैं उनको पूर्ण करे। हाँ, यहाँपर अलग अलग मेखला वगैरहका ग्रहण नहीं है। पश्चात् स्विष्ट कृत्का प्रारंभिक तो पहले जैसे पूर्ण करले।' वैसेही एकही समय होत्रादि पाँच व्रतोंको प्रायश्चित्त पूर्वक समाप्त करके और पाँच काण्ड पढकर उसी तंत्रसे विसर्जन भी कर डाले।

अच्छा, यहाँपर सारस्वत पाठक्रमसे अध्ययनमें तो प्राजापत्य सदृश काण्डका अध्ययन करना असंभव होनेसे वैदिकोंकी राय है कि विधिके अनुसार एकतंत्रसेही होत्रादिक पाँच व्रतोंका अनुष्ठान पूर्ण करचुकनेपर सारस्वत पाठयुक्त संहिता सदृश ग्रन्थोंका अध्ययन किया जाय। और इस समय जो प्रणाली जारी है उससे जान पडता है कि उक्त प्रकारही पहले के आचारकी परंपरासे चला आ रहा है। उस काण्ड व्रतमें सावित्री-सदसस्पतिके हवनके साथही उस उस काण्डके ऋषिके लिए हवन भी करना ठीक है ऐसा किया है। देखो बौधायन गृह्य सूत्र ३।१।१७ 'यही ढंग है, काण्डके प्रारंभ तथा काण्ड के समाप्त होनेपर, वह एक काण्डऋषि है।'

काण्डव्रतमें उपाकर्मके लिए किये गायत्री जप और पक्व वस्तु के होम इत्यादिके बाद उस उस काण्डके ऋषिके लिए भी आहुति

तत्रानुष्ठेये ब्रह्मयज्ञे पठनीयः । अर्थात् प्रजापतिकाण्डाध्ययने होतृव्रते ' **प्रजापतये काण्डर्षये स्वाहा** ' इत्येका काण्डर्षये आहुतिः, तथा ' इषे त्वेति ' अनुवाकपठनं च विशिष्यते, अन्यत्सर्वं उपाकर्मोक्तमेवानुष्ठेयम् ' '**एवमेव काण्डोपाकरण-काण्डसमापनाभ्याम्** ' इति सूत्रात् ।

एवमेव सौम्यकाण्डाध्ययने शुक्रियव्रते ' **सोमाय काण्डर्षये स्वाहा** ' इत्याहुतिः, ' आप उन्दन्तु जीवसे ' इत्येकानुवाकपाठश्च विशिष्टौ । तथा आग्नेयकाण्डाध्ययने उपनिषद्व्रते '**अग्नये काण्डर्षये स्वाहा** ' इत्याहुतिः, '**उद्धन्यमानं** ' इत्यनुवाकश्च । एवं उत्तरत्रकाण्डद्वयेऽपि ज्ञेयम् ।

उपाकर्मोत्सर्जनविधिः

अस्मिन्भारते सर्वत्रापि प्रतिवर्षं श्रावणपूर्णिमायां ऋग्यजुःसामाथर्ववेदिनां सर्वेषां त्रैवर्णिकानां प्रचलिता उपाकर्मानुष्ठान-पद्धतिः प्रसिद्धा, तत्र शाखाभेदेन तदनुष्ठानपद्धतिविशेषोऽपि भिन्नो भवति ।

उपनीतस्य बटोः प्रथमतः श्रावणपूर्णिमायां नूतनोपाकर्मणि वेदारम्भो विहितः, ततः उत्तरत्र पुष्यमासे वेदोत्सर्जनं च विहितं, तत्प्रभृति प्रतिवर्षं श्रावणे उपाकर्म पुष्ये तूत्सर्जनं च कर्तव्यं इति शास्त्रसङ्केतः । तदेतदुभयं कालभेदेनानुष्ठातुमशक्यतया श्रावणपूर्णिमायामेकदैव एकतन्त्रेण उत्सर्जनं उपाकर्म च सर्वैरप्यनुष्ठीयते, तदिदं सर्वत्रापि प्रसिद्धम् ।

तन्निमित्तं च छन्दसां यातयामतादोषनिवृत्या सुवीर्यत्वसिद्धिरेव । तदेतत् तत्रत्यसङ्कल्पादेवावगम्यते । " **सर्वेषां अधीतानामध्येष्यमाणानां छन्दसां यातयामतानिरासेनाप्यायनद्वारा (सुवीर्यत्वाय) श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं (उत्सर्जनं) उपाकर्माख्यं कर्म करिष्ये** । इति संकल्पः ।

प्रत्यब्दं यदुपाकर्म सोत्सर्गं विधिवद् द्विजैः । क्रियते छन्दसां तेन पुनराप्यायनं भवेत् ॥
अयातयामैश्छन्दोभिर्यत्कर्म क्रियते द्विजैः । क्रीडमानैरपि सदा तत्तेषां सिद्धिकारकम् ॥
अस्थानोच्छ्वासविच्छेदो घोषणाध्यापनादिषु । प्रामादिकः श्रुतौ यः स्याद्यातयामत्वकारि सः ॥

इति संस्कारमालायां कात्यायनः । ' **यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवब्राह्मणेन मन्त्रेण यजते याजयति वाऽधीतेऽध्यापयति वा यातयामानि (अस्य) छन्दा ँसि भवन्ति** ' इति च श्रुतिः । एतेन वेदानां यातयामतादिदोष-

---

देनी चाहिए और उस विशिष्ट काण्डका पहला अनुवाक वहाँपर करने योग्य ब्रह्मयज्ञमें पढलेना चाहिए । याने प्रजापति काण्डके अध्ययनमें तथा होतृव्रतमें ' **प्रजापतये काण्डर्षये स्वाहा** ' ऐसी एक काण्डके ऋषिके लिए आहुति और ' इषे त्वा ' ऐसा अनुवाक का पठन विशिष्ट है, और सभी उपाकर्मके बतलाये ढंगकाही करना ठीक क्योंकि सूत्र है '**एवमेव काण्डोपाकरण काण्डसमापनाभ्यां**'

इसीतरह सौम्य काण्डके अध्ययन तथा शुक्रियव्रतमें ' **सोमाय काण्डर्षये स्वाहा** ' ऐसी आहुति और ' आप उन्दन्तु जीवसे ' इस अनुवाकका पठन निश्चित है। वैसेही आग्नेय काण्डके अध्ययन में एवं उपनिषत् व्रतमें ' **अग्नये काण्डर्षये स्वाहा** ' ऐसी आहुति तथा ' उद्धन्यमानं ' यह अनुवाक भी है । इसी भाँति शेष दो काण्डोंके बारेमें जानना चाहिए ।

उपाकर्म एवं उत्सर्जनका प्रकार

इस भारतवर्षमें सभी जगह हरसाल श्रावणपूर्णिमामें सभी त्रैवर्णिकोंकी, जो ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी एवं अथर्ववेदी होते हैं उपाकर्म करनेकी प्रचलित प्रणाली प्रसिद्ध है तथापि शाखा भेदके कारण उस अनुष्ठानकी प्रणालीमें विशिष्ट तरहकी विभिन्नता पायी जाती है ।

उपनयन संस्कार होचुकनेपर उस बटुको पहले पहल श्रावण मासकी पूर्णिमामें नये उपाकर्मके अवसरपर वेदारम्भमें दीक्षित किया जाता है, बादमें पौष मासमें वेदोत्सर्जन करनेका प्रघात है अतः शास्त्रका यही उद्देश्य दीख पडता कि तबसे लेकर प्रतिवर्ष श्रावणमें उपाकर्म तथा पौषमासमें उत्सर्जन किया जाय । परंतु दोनोंको विभिन्न कालोंमें करना असंभव होनेसे श्रावणपूर्णिमामें ही एकही समय एकही तंत्रसे सभी लोग उपाकर्म एवं उत्सर्जन कर लेते हैं, यह सब कोई जानते हैं ।

छन्दोंके बासीपनका दोष हटाकर भली भाँति शक्तिसंपन्नता पैदा होजाए यही निमित्त ऐसा करते हैं । यह उस अवसरपर किए संकल्पसे स्पष्ट होजाता है जैसे, ' सभी पढे हुए तथा आगे चल कर पढे जानेवाले छन्दोंके बासीपनको हटाकर पुष्टिकरण द्वारा

निवृत्या सुवीर्यत्वाय ऋषिछन्दोदेवतादिनियमः, तज्ज्ञानं, प्रतिवर्षं उपाकर्माख्यकर्मानुष्ठानं च कारणमित्युक्तं भवति। तच्चो-पाकर्म तत्तच्छाखाभेदेन भिन्नरूपमेव भवति। तैत्तिरीये तु बौधायनादिभिर्विहितस्तद्विशेषः।

तथाहि— " हुतानुकृतिरुपाकर्म। श्रावण्यां पौर्णमास्यां क्रियेतापि वाऽऽषाढ्याम्। समन्वारब्धेष्वन्तेवासिषु। अथ देवयजनोल्लेखनप्रभृतिष्वाग्निमुखात्कृत्वा चतस्रः प्रधानाहुतीर्जुहोति 'याज्ञिकीभ्यो देवताभ्यः स्वाहा।' सांहितीभ्यो देवताभ्यः स्वाहा, वारुणीभ्यो देवताभ्यः स्वाहा, सर्वाभ्यो देवताभ्यः स्वाहेति।'

अथ काण्डर्षीन्जुहोति " प्रजापतये काण्डर्षये स्वाहा, सोमाय काण्डर्षये स्वाहा, अग्नये काण्डर्षये स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः काण्डर्षिभ्यः स्वाहा, स्वयम्भुवे काण्डर्षये स्वाहा ' इति। अथ सदसस्पतिं जुहोति०। अथ सावित्रीं जुहोति०। अथ वेदाहुतीर्जुहोति ऋग्वेदाय स्वाहा० इति (बौ० गृ० सू० ३।१।१-८) इति उपाकर्मणि ऋषिदेवतादिहोमविधानम्।

अथ वेदाध्ययनम्– ' त्रीनादितोऽनुवाकानधीयीरन्। काण्डादीन्वा सर्वान् (अनुवाकान्) १० इति। एवमेव' काण्डोपाकरणकाण्डसमापनाभ्याम् स एकः काण्डर्षिः। (बो० गृ० ३।१।१७) तस्य चैवैकस्याद्योऽनुवाकः इति। एवमेव उपाकर्मोत्सर्जनयोः काण्डव्रते च काण्डर्षिभ्यः तर्पणमपि अनुष्ठीयते ब्रह्मयज्ञानन्तरम्। अथ निवीती– प्रजापतिं काण्डर्षिं तर्पयामि० इत्यादि पञ्चकाण्डर्षितर्पणम्।

पञ्चकाण्डानामारम्भः—

१ प्राजापत्यं काण्डम्।	इषे त्वोर्जे त्वा०।	(तै० सं० १।१।१)
२ सौम्यं काण्डम्।	आप उन्दन्तु जीवसे०।	(तै० सं० १।२।१)
३ आग्नेयं काण्डम्।	उद्धन्यमानं०।	(तै० ब्रा० १।२।१)

(अच्छा वल प्राप्त हो इसलिए) परमात्माको संतुष्ट करनेको (उत्सर्जन) उपाकर्म नामक कर्म करूँगा।'

" प्रतिवर्ष ब्राह्मणोंसे जो विधिरूपसे उत्सर्गसहित उपाकर्म किया जाता है उससे छन्दोंका फिरसे पुष्टिकरण होता है; बासीपनके दोषसे रहित छन्दोंद्वारा ब्राह्मण खेलते हुएसे जो कर्म कर लेते हैं वह हमेशा उनके लिए सिद्धिदायक होता है।"

" ऊँची आवाजमें पढनेमें या पढानें वगैरहमें अयोग्य स्थानमें श्वासका टूट जाना तथा सुननेमें भूल हो जाये तो वह दोष बासीपन पैदा करता है।" कात्यायन अपनी संस्कारमालामें यूं कहता है। श्रुति भी ऐसा कहती है ' जो कोई सचमुच, ऋषि, छन्द, दैवत, ब्राह्मण न जानकर वैसेही मंत्रसे यज्ञ कर ले या दूसरोंसे यज्ञ कराए, स्वयं मंत्रको पढ ले या दूसरोंको पढाये उसके छन्द बासीपनके दोषसे दूषित हो जाते हैं। ' इससे ऐसा बताया है कि वेदोंके बासीपन सदृश दोष दूर हटानेको तथा सामर्थ्यवान बननेको ऋषि, छन्द, देवता आदिका नियम, उस नियम की जानकारी और हरसाल उपाकर्म नामक कर्मका किया जाना कारणीभूत होता है। वह उपाकर्म विभिन्न शाखाओंमें विभिन्न रूप धारण कर लेता है। तैत्तिरीयमें तो बौधायन जैसे लोगोंने उसका विशिष्ट रूप निर्धारित कर रखा है। उदाहरणार्थ—

हवनके पश्चात् किया जानेवाला कार्य उपाकर्म है, श्रावणी पूर्णमासी या आषाढीमें ही वह कार्य शुरु हो जाय जब कि अन्तेवासी जनोंकी दीक्षा प्रारंभ होचुकी हो। पश्चात् देवयजन, उल्लेखन जैसे कार्योंमें अग्निमुख बनाकर चार प्रमुख आहुतियोंको डालदेता है जैसे ' याज्ञिकी देवताओंके लिए, सांहिती, वारुणी तथा सभी देवताओंके लिये स्वाहा।'

उसके बाद काण्डके ऋषियोंके लिए आहुती डाल देता है, देखो बौधायन गृह्य सूत्र ३।१।१–८ इस प्रकार, उपाकर्ममें ऋषि देवता आदिको लक्ष्यमें रख होम करनेका तरीका है।

अब वेदाध्ययनका ढंग बताता है, आरंभसे तीन अनुवाक पढलें या सभी काण्डोंको।' देखो बो. गृ. ३।१।१७ का पहले कहा हुआ वचन। इसीप्रकार उपाकर्म एवं उत्सर्जन और काण्डव्रतमें ब्रह्मयज्ञके पश्चात् काण्डके ऋषियोंके लिए तर्पण भी किया जाता है। अब यज्ञोपवीतधारीके लिये ' काण्डके ऋषि प्रजापतिका तर्पण करता हूँ ' ऐसा पाँचों काण्डोंके ऋषियोंका तर्पण है।

पाँच काण्डोंका प्रारंभ

इसमें, जैसा कि दर्शाया है, सारस्वतक्रमसे वैश्वदेव एवं स्वायंभुव काण्डोंके आरम्भमें ' अनुमत्यै पुरोडाशं, सह वै देवानां ' इस तरह ब्राह्मण भाग पढा जाता है। वास्तवमें देखें तो ' वीहि

४ वैश्वदेवं काण्डम् । अनुमत्यै पुरोडाशं० । (तै० सं० १।८।१)
५ स्वायम्भुवं काण्डम् । सह वै देवानां० । (तै० आ० २।३)

अत्र सारस्वतक्रमेण वैश्वदेवस्वायम्भुवकाण्डयोरारम्भे ' अनुमत्यै पुरोडाशं , सह वै देवानां ' इति च ब्राह्मणभागः पठितः । वस्तुतस्तु– वैश्वदेवकाण्डारम्भः ' व्रीहि स्वाहाऽऽहुतिं जुषाणः ' इति । स्वायम्भुवकाण्डारम्भः ' यद्देवा देवहेडनं ' इत्येव भवितुमर्हति । तत्तु उत्तरत्र आर्षेयपाठक्रमे उल्लिख्यते ।

अत्रेदं किञ्चिद्विचार्यते– एवं वेदारम्भ–काण्डव्रतउपाकर्मोत्सर्जनादिषु काण्डर्षिहवनतर्पणादिपूर्वकं ब्रह्मयज्ञे यथाशास्त्रं सर्वेषां काण्डानां आदिमानुवाकपाठक्रमतः तैत्तिरीयशाखायाः वेदाध्ययनेन अनुष्ठानेन च काण्डविभागपाठ एव प्रधानः इति सिध्यति । एतेन तैत्तिरीयके काण्डविभागपाठपद्धतिरेव नास्ति, इदानीमेवेयं नूतना प्रक्रिया परिकल्पितेति केषाञ्चिद् वादो निरस्तः ।

सारस्वतपाठे काण्डाध्ययनं न सम्भवति । तत्र वेदारम्भे उपाकर्महवनादौ च अन्यथाऽनुष्ठानं, ततः पुनरन्यथैवाध्ययन– मित्येव वैषम्यम् । उक्तं खलु एकतन्त्रेण पञ्चकाण्डव्रतान्यनुष्ठाय सारस्वतपाठक्रमेण वेदाध्ययनं कर्तव्यमिति । सत्यमुक्तं, तथापि अन्यथा वेदारम्भे हवनाद्यनुष्ठाने, अन्यथाऽध्ययने च किं कारणं, किं च तत्र वैशिष्ट्यमित्येव न ज्ञायते । तत्र प्रमाणं तु मृग्यमेव ।

अपि च सारस्वतपाठे काण्डक्रमस्यैवाभावात् काण्डर्ष्यादिहवनमसङ्गतमेव, काण्डर्षिहवने अन्यथाऽध्ययनमप्यसङ्गतमिति न पुनर्वक्तव्यम् । यदि तत्र काण्डान्येव न सन्ति विभक्तानि, तर्हि काण्डर्षिहवनं कुतः सङ्घटते ? अन्यच्च वेदस्य यातयाम- त्वादिदोषनिरसनार्थं प्रतिवर्षं उपाकर्मादिकमनुष्ठीयते, वेदस्य ऋष्यादिनियमाभावे ऋष्यादिज्ञानाभावे च ' यातयामानि छन्दाꣳसि भवन्तीत्युक्तम् ' ।

एवं सति वेदे एव यदि ऋष्याद्यनियमः चिरन्तनसिद्धः तर्हि तद्यातयामतादोषः केनोपायेन वार्येत । न हि तावदुपाकर्मानु- ष्ठानमात्रेण तन्निवारयितुं शक्यं, उपाकर्मानुष्ठानात्, अन्यथैव वेदपाठप्रवचनप्रवृत्तेः ।

स्वाहाऽऽहुतिं जुषाणः ' ऐसा वैश्वदेवकाण्डका प्रारम्भ है। स्वायंभुव काण्डारम्भ तो **' यद्देवा देवहेडनं '** ऐसेही होसकता है जिसका उल्लेख आगे चलकर आर्षेय पाठक्रममें किया जायगा ।

यहाँपर तनिक ऐसा सोचना चाहिए कि-इसतरह वेदारम्भ, काण्डव्रत, उपाकर्म तथा उत्सर्जन वगैरहमें काण्डके ऋषि के लिए हवन, तर्पण इत्यादि के साथ ब्रह्मयज्ञमें शास्त्रानुकूल ढंगसे सभी काण्डोंको प्रथम अनुवाकसे शुरु करके पढलेनेसे यह सिद्ध होता है कि तैत्तिरीय शाखाके वेदाध्ययन एवं अनुष्ठानसे काण्ड विभागका पाठही प्रमुख है । इससे कई लोगोंकी यह बहस कि तैत्तिरीयकमें काण्डविभागकी पाठप्रणालीही नहीं है, हालहीमें यह नयी प्रक्रिया बनाड़ाली, खण्डित होती है ।

सारस्वतपाठमें काण्डका अध्ययन असंभव है । वहाँ तो वेदारंभ में, उपाकर्म हवन वगैरहमें दूसरेही ढंगसे अनुष्ठान और फिर कुछ अन्य तरीकेसे अध्ययन, बस यही विषमता है । यह तो कहा गया है कि एकतंत्रसे पाँच काँडोंके व्रतोंका अनुष्ठान करके सारस्वत पाठ- क्रमसे वेदाध्ययन कर लेना है । हाँ, कहा तो ठीक ही है, तोभी दूसरेही ढंगसे वेदारंभ करनेमें, हवन इत्यादि जारी रखनेमें और विभिन्न ढंगसे अध्ययन करलेनेमें क्या कारण है तथा उसमें कौनसी विशेषता है सो समझमें नहीं आता । उसमें जो प्रमाण हैं उन्हें ढूँढ लेना चाहिए ।

और एक बात है कि सारस्वतपाठमें काण्डक्रमका ही अभाव होनेसे काण्डके ऋषि वगैरहके लिए हवन करना विसंगतसा जान पडता है तो फिर यह क्या कहें कि काण्डके ऋषिके हवनप्रसंगमें अन्य प्रकारसे अध्ययन भी वैसेही विसंगत है । अगर वहाँपर पृथक् किये हुए काण्डही नहीं तो भला काण्डके ऋषिके लिए हवन करना कैसे ठीक प्रतीत हो ? दूसरे, वेदके बासीपन जैसे दोषको हटानेके लिए हरसाल उपाकर्म वगैरहका अनुष्ठान किया जाता है क्योंकि ऐसा कथन है कि वेदके ऋषि वगैरहके नियम का अभाव हो तथा ऋषि आदिका ज्ञान न हो तो ' छन्द बासी होजाते हैं ।'

ऐसी दशामें, अगर वेदमें ही चिरकालसे ऋषि इत्यादिका अनियम सिद्ध हो तो भला किस तरीकेसे उसके बासीपनका दोष दूर किया जा सके ? ध्यानमें रहे कि सिर्फ उपाकर्म मात्र कर लेनेसे

तथाहि- ' इषे प्रश्नः पुरोडाश्यमनुवाकं विनान्तिमम् ' इति विवरणात् इषेत्वेति प्रथमे प्रश्ने त्रयोदशानुवाकाः पौरोडाशिका यजुर्मन्त्राः प्राजापत्यकाण्डेऽन्तर्गताः । तस्मिन्नेव प्रश्ने ' उभा वामिन्द्राग्नी ' इत्ययमन्तिमः चतुर्दशः एक एवानुवाकस्तु याज्यापुरोऽनुवाक्यादिविनियोगार्थत्वेन 'याज्यानामके' प्रकरणे सङ्गृहीतोऽत्र ऋङ्मन्त्रात्मकः चतुर्थे वैश्वदेव-काण्डेऽन्तर्गतः ।

इषे त्वादि ह्यपान्त्वान्तं प्रश्नानामन्तगामिनः । अनुवाकास्तु याज्याख्याः युक्ष्वाहीत्यपि तादृशः ॥ इति कारिकाविवरणोक्तेः ।

तैत्तिरीयसंहिताप्रथमकाण्डे प्रथमप्रश्नादारभ्य द्वितीयकाण्डे पञ्चमप्रश्नान्तानां त्रयोदशप्रश्नानां अन्तिमा त्रयोदशानुवाकास्ते (१३), तथा २।६ प्रश्नादारभ्य ४।३ प्रश्नपर्यन्तं युक्ष्वाहीत्यादयः दशानुवाकाश्च याज्याप्रकरणान्तर्गताः सन्तः वैश्वदेवकाण्डेऽन्तर्भूता इति तदर्थः ।

एवं प्राजापत्यादिकाण्डेऽन्तर्गतः कश्चिन्मन्त्रभागः संहितायां, कश्चिद् ब्राह्मणे, कश्चिदारण्यके च विद्यते ।

तथा च प्रथमं प्राजापत्यकाण्डम्-

१ पौरोडाशिकम्- ' इषे त्वा० ' (तै० सं० १।१।१-१३) त्रयोदशानुवाकाः ।

२ याजमानम्- ' पयस्वतीरोषधयः ' (तै० सं० १।५।१०) ' मम नाम ' (इत्यस्मिन्ननुवाके अनुवाकान्ताः सप्त मन्त्राः ।) तथा सन्त्वा सिञ्चामि० (तै० सं० १।६।१-६ षडनुवाकाः ।)

३ होतारः- ' चित्तिः स्रुक्० ' (तै. आ० ३।१-१३ त्रयोदशानुवाकाः ।)

४ हौत्रम्- ' सत्यं प्रपद्ये० ' (तै० ब्रा० ३।५।१-१३ ,,)

५ पितृमेधः— ' परेयिवांसं० ' (तै० आ० ६।१-१२ द्वादशानुवाकाः ।) सर्वेषामपिकाण्डानामेवमेवस्थितिः ।

एवं त्रिष्वपि ग्रन्थेषु अनियमेन पठितानामेतेषां मन्त्रभागानां एकत्र संग्रहणेनाध्ययनं सारस्वतपाठक्रमे सर्वथाप्यशक्यमेव ।

उसे हटाना संभव नहीं क्योंकि उपाकर्मके अनुष्ठानसे वेदपाठका प्रवचन किसी दूसरेही ढंगसे शुरु होने लगता है ।

उदाहरणार्थ- ' इषे प्रश्नः पुरोडाश्यमनुवाकं विनान्तिमम् ' इस विवरणके अनुसार ' इषे त्वे ' इस प्रथम प्रश्नमें तेरह अनुवाक पुरोडाशसे संबंध रखनेवाले यजुर्मन्त्र प्राजापत्यकाण्डमें रखे गये हैं । उसी प्रश्नमें ' उभा वामिन्द्राग्नी ' यही अन्तिम तथा चौदहवाँ एक ही अनुवाक याज्यापुरोऽनुवाक्य इत्यादिमें विनियोगके तौरपर ' याज्या' नामके प्रकरणमें इकट्ठा किया हुआ तथा यहाँपर ऋग्वेद मंत्रोंसे युक्त होकर चौथे वैश्वदेव काण्डमें समाविष्ट किया है । यही बात उद्धृत कारिकामें बतायी है जिसका मतलब है कि तैत्तिरीय संहिताके प्रथम काण्डमें पहले प्रश्नसे लेकर दूसरे काण्डके पंचम प्रश्नके अन्तमें समाप्त होनेवाले तेरह प्रश्नोंके वे अनुवाक और वैसेही २।६ प्रश्नसे लेकर ४।३ प्रश्नतक युक्ष्वाहि जैसे दस अनुवाक याज्या प्रकरणके भीतर रहते हुए वैश्वदेवकाण्डके अन्दर पाये जाते हैं ।

इसीभाँति, प्राजापत्यसदृश काण्डमें पाये जानेवाला कुछ मंत्रभाग संहितामें तो एक अंश ब्राह्मणमें और कुछ हिस्सा आरण्यकमें है; जैसे, पहला प्राजापत्यकाण्ड इसप्रकार है

१ **पौरोडाशिकम्** ' **इषे त्वा** ' ... (तै. सं. १।१।१-१३) तेरह अनुवाक हैं

२ **याजमानम्** ' **पयस्वतीरोषधयः** (तै. सं. १।५।१०) ' मम नाम ' (इस अनुवाकमें, अनुवाकमें समाप्त होनेवाले सात मंत्र हैं) और वैसेही ' **सन्त्वा सिञ्चामि** ' (तै. सं. १।६।१-६) छहः अनुवाक हैं ।

३ **होतारः**— ' **चित्तिः स्रुक्** ' (तै. आ. ३।१-१३) तेरह अनुवाक हैं ।

४ **हौत्रम्**— ' **सत्यं प्रपद्ये** ' (तै. ब्रा. ३।५।१-१३ तेरह अनुवाक हैं ।

५ **पितृमेधः**— ' **परेयिवांसं** ' ... (तै. आ. ६।१-१२ बारह अनुवाक हैं । सभी काण्डोंकी यही हालत है ।

इसप्रकार तीनों ग्रन्थोंमें बिना किसी नियमके पढे हुए इन मंत्रभागोंको इकट्ठा करके अध्ययन करना सारस्वातपाठमें बिलकुल असंभव है ।

अथ बौधायनादिसूत्रदर्शितात्काण्डविभागविशिष्टादार्षेयपाठादपि पुरातनस्य सारस्वतपाठस्यैव प्राधान्यमस्तु इतिचेत्, नैतदेवं, ईदृशे न्यायतत्वसिद्धे विषये प्राचीनार्वाचीनत्वादिनिमित्तकस्याकिञ्चित्करत्वात्। न्यायसिद्धस्यैव लोकतः शास्त्रतश्च ग्राह्यत्वात्, अन्यथासिद्धस्य तु परित्यक्तुं शक्यत्वादुचितत्वाच्च। सारस्वतपाठस्य तादृशानुपूर्व्ये न किञ्चित्प्रमाणमस्तीत्यवोचाम।

वस्तुतस्तु आर्षेयकाण्डपाठ एव पुरातनः, सारस्वतपाठस्तु अर्वाचीन इत्येव वक्तुं युक्तम्। सारस्वतमुनेरपि पूर्वं विद्यमानस्य आर्षेयकाण्डपाठस्य विस्मरणेन लुप्तप्रायस्य तस्य उत्तरत्र सारस्वतमुनिना यथाकथञ्चित्पुनरुद्धृतत्वात्। अत एव तदिदं तदानीं सर्वैरपि विचिकित्सितम्– "तमिमं सर्ववेदविलक्षणमध्यापितवान् अस्मान्मूढान्कृत्वेति।" अपि च महदिदं प्रमाणं आर्षेयकाण्डानुक्रमपाठे यत्खलु वेदारम्भे वेदव्रते उपाकर्मादौ च काण्डर्षिहवनपूर्वकं सर्वकाण्डानामादिमानुवाकपठनेन ब्रह्मयज्ञः सर्वैरपि एकरूपेणैवानुष्ठीयत इति। तस्मात् ब्राह्मणकल्पानुरोधेन बौधायनहिरण्यकेशादिसूत्रानुसारेण प्राजापत्यादिकाण्डविभागशः पौरोडाशिकादिमन्त्र-तद्विधिभागयोः पृथक्करणेन संहिताब्राह्मणरूपोभयग्रन्थविभागेन तदध्ययनमेव सर्वथा युक्ततरमिति निर्णीयते।

तत्र संहिताब्राह्मणयोरुभयोरपि ग्रन्थयोः प्राजापत्यादीनि पञ्चकाण्डानि क्लृप्तानि भवेयुः। तथा चेत् मन्त्र–तद्विधिभागनिमित्ते संहिताब्राह्मणग्रन्थविभागे '**स ब्राह्मणानि सानुब्राह्मणानि**' इति वचनानूदितेन काण्डविभागेन तत्र तत्रैव मन्त्रतद्विधिभागयोः साहित्येनाध्ययनं कथं शक्यं सम्पादयितुम्?

कथमशक्यम्? उच्यते सम्पूर्णमन्त्रभागरूपसंहिताग्रन्थाध्ययनानन्तरं ब्राह्मणाध्ययनं सर्वेष्वपि वेदेषु नियतम्। तेनैव क्रमेण अत्राप्यनुष्ठितं चेत्–

'**त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह। यजुर्वेदः स विज्ञेयः०**' इति वचनोदितस्य मन्त्रब्राह्मणयोः एकरूपेण त्रिगुणपाठस्य सहाध्ययनस्य च परित्यागप्रसङ्गात्। न हि तथा सम्भवति संहिताब्राह्मणग्रन्थयोरुभयत्रापि काण्डपञ्च-

---

अच्छा, यदि ऐसा कहें कि बौधायन वगैरह सूत्रोंके दर्शाये तथा काण्डके विभागसे विशिष्ट प्रतीत होनेवाले आर्षेय पाठसेभी पुराने सारस्वतपाठको प्रमुखता मिले तो क्या हर्ज, तो यह नहीं होसकता क्योंकि ऐसे विषयमें, जो कि न्यायतत्वसे सिद्ध है, प्राचीन या अर्वाचीन पन कुछभी महत्त्व नहीं रखता है। और जो न्याय से सिद्ध वही लोकमतानुसार या शास्त्रसेभी ग्रहणीय है तथा जो अन्य किसी ढंगसे सिद्ध कियाजाय उसे छोडदेनाही योग्य है, जो सर्वथैव त्याज्य है। हम तो पहलेही कह आए हैं कि सारस्वतपाठकी वैसी नियमानुसार परंपरा के होनेमें कोई प्रमाण नहीं है।

वास्तवमें ऐसा कहना ठीक जँचता है कि आर्षेयकाण्डपाठही पुराना है और सारस्वतपाठ तो आधुनिक है। क्योंकि ऐसा प्रसिद्ध है कि सारस्वतमुनिके पहलेभी जो आर्षेयकाण्डपाठ मौजूद था वह भूलजानेसे विनष्टप्राय होनेचला था, उसेही बादमें सारस्वत मुनिने बडी कठिनाईसे पुनरुद्धार द्वारा पूर्वपदपर चढाया था। तभी तो उस समय सभींने निर्धारसे निश्चित किया कि 'हमें मूर्ख बनाकर इस सभी वेदोंसे अपेक्षाकृत अनूठे वेदको हमें पढाया।' यह औरभी एक बडा प्रमाण आर्षेय काण्डानुक्रम पाठमें पाया जाता है कि वेदारंभ में, वेदके व्रतमें, उपाकर्ममें काण्डके ऋषिकेलिए हवन करनेके साथही सभी काण्डोंके प्रथम अनुवाकोंको पढकर सभी लोग ब्रह्मयज्ञको एकरूपसे निभाते हैं। इसकारणसे यही अत्यन्त उचित जानपडता है कि ब्राह्मणकल्प के अनुरोधसे, बौधायनहिरण्यकेश इत्यादि सूत्रोंके अनुसार, प्राजापत्य सदृश काण्डोंके विभागद्वारा पौरोडाश वगैरहके मंत्रों एवं उनके विधिभागके पृथक्करणसे संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थके रूपमें विभजन करके उसका अध्ययन किया जाय।

हाँ, उसमें दोनों संहिताग्रन्थ एवं ब्राह्मणग्रन्थोंके लिए प्राजापत्य जैसे पाँच काण्ड तैयार रहें। वैसी दशामें मंत्र एवं उसके विधि भागके निमित्त उत्पन्न हुए संहिता और ब्राह्मणग्रन्थके विभागमें 'सब्राह्मणानि सानुब्राह्मणानि' इस वचनके अनुसार काण्डविभागसे उसी जगह मंत्रों तथा उनके विधिभागको मिलाकर पढलेना कैसे हो सकता?

भला कैसे असंभव है? उत्तर यही है कि सभी वेदोंमें ऐसा निश्चित है कि मंत्र भागोंके रूपमें अवस्थित संहिता ग्रन्थके अध्ययनके बाद ब्राह्मणग्रन्थका अध्ययन किया जाय। उसी क्रमको यहाँपर भी कार्यरूपमें परिणत करें तो—

'जहाँ मंत्र ब्राह्मणोंको मिलकर तीनगुना पढा जाता है वह.

कविभागे प्रथमं यावन्मात्रस्य मन्त्रभागस्याध्ययनं, तदनु तावन्मात्रस्य ब्राह्मणभागस्याध्ययनं च कर्तुं शक्यते। तद्यथा– प्राजापत्यकाण्डव्रते प्रथमं संहितान्तर्गतस्य मन्त्रात्मकस्य प्राजापत्यकाण्डस्याध्ययनं, ततः तदनुब्राह्मणान्तर्गतस्य विधिरूपस्य प्राजापत्यकाण्डस्याध्ययनं च सुकरमनुष्ठातुम्। तदेवं काण्डव्रताचरणपूर्वकं वेदाध्ययनं काण्डविभागोपहिते आर्षेयपाठक्रमे एव सम्भवति, न तु प्रचलितसारस्वतपाठे इति प्रपञ्चितं पुरस्तात्। तस्मात् प्राजापत्यादिकाण्डक्रमेण संहिताब्राह्मणग्रन्थविभागेन मन्त्रब्राह्मणयोः साहित्येन वा विभागेन वा यथासौकर्यं यथेष्टं वा तैत्तिरीयशाखायां वेदोऽध्येतव्य इति सिद्धम्।

"**ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद्याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छति**' इति ऋग्वेद- परिभाषा- सूत्रात् वेदमन्त्राणां 'ब्राह्मणं कल्पः, ऋषिः–मन्त्रद्रष्टा, छन्दः–गायत्र्यादिकवितानिबन्धनं, दैवतं-मन्त्राधिष्ठात्री देवता, चेत्येतत्सर्वं ज्ञात्वैव अध्यापनादिकं कार्यमित्युक्तं भवति। तत्र प्रथमं आर्षेयमेव विमृश्यते।

ऋष्यादिविचारः

'**ऋषिः**' मन्त्रद्रष्टा मन्त्राणां प्रापक इत्यर्थः। '**ऋषिर्विप्रः काव्येन**' इति मन्त्रवर्णात्। '**ऋषिर्दर्शनात्**' इति यास्कनिरुक्तेश्च। '**अनन्ता वै वेदाः**' इति वचनाद् यद्यपि असङ्ख्याताः वेदाः वेदमन्त्राश्च भवेयुः तथापि तत्प्रापकं द्रष्टारमृषिं विना तल्लाभः असम्भव एव। यथा च लोके गुरुंविना मन्त्रो नोपलभ्यते। तस्मान्मन्त्रादपि मन्त्रोपदेष्टा गुरुरेवास्माकं प्रथमः तन्मन्त्रप्रापकत्वाद्गुरोः। यथा च परोक्षस्य परब्रह्मणः देवतादेरपि प्रत्यक्षब्रह्मरूपो मन्त्रः प्रधानः, तस्य तत्परोक्षवस्तुप्रापकत्वात्। तथैव प्रत्यक्षब्रह्मरूपात् मन्त्रादपि तत्प्रापकः ऋषिरेव प्रधानः, तस्य मन्त्र- तद्देवतादिप्रापकत्वात्। अत एव '**यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजते**' इति आर्षेयस्य प्राधम्यमनुश्रुतम्। तदपि

यजुर्वेद है ऐसा जानना चाहिए ' इस वचनके अनुसार जो मंत्र ब्राह्मणके एक रूपमें त्रिगुणपाठ तथा सहाध्ययनका तरीका था उसे छोडना पडेगा। वैसा तो नहीं होसकता, संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थ दोनोंमें पाँच काण्डों के विभागमें पहले जितने मंत्रभागका अध्ययन किया हो तुरन्त उतनेही ब्राह्मणभागका अध्ययन किया जासकता है जैसे प्राजापत्यकाण्डमें पहले संहितान्तर्गत मंत्रमय प्राजापत्य-काण्डका अध्ययन, पश्चात् उसके ब्राह्मणके अन्तर्गत विधिमय प्राजा-पत्यकाण्डका अध्ययन करना सुगम है। तो इस भाँतिका काण्डके मतके आचारणपूर्वक वेदका अध्ययन आर्षेयपाठक्रममेंही जो कि काण्डविभागसे युक्त है, संभव है; नकि इस समयके जारी सारस्वत-पाठमें, ऐसा पूर्व बताया है। इसलिए सिद्ध हुआ प्राजापत्यसदृश काण्डोंके क्रममें, संहिता ब्राह्मणग्रन्थके विभागद्वारा मंत्रविभाग एवं ब्राह्मणविभागके मेलसे या पृथक्करणसेही, जैसी आसानी मालूम पडे या चाहे जितना तैत्तिरीयशाखामें वेदका अध्ययन किया जाय।

ऋग्वेदपरिभाषाके इस सूत्रसे कि ' ब्राह्मण, आर्षेय, छन्द, दैवतको जाननेवाला याजन एवं अध्ययन करके श्रेय प्राप्त करलेता है' वेदके मंत्रोंके ब्राह्मण कल्प, मंत्रद्रष्टाके रूपमें ऋषि, गायत्रीसदृश काव्यका रूप देनेवाले छन्द, मंत्रका अधिष्ठान करनेवाली देवता सभी के बारेमें जानकारी प्राप्त करके पढाना वगैरह कार्य शुरु किया जाय, ऐसा प्रतिपादन किया है। अब आर्षेयका पहले विचार किया जायगा।

ऋषि आदिके संबंधमें कुछ विचार

' ऋषि ' का अर्थ है मन्त्रोंको देखनेहारा, मंत्रोंको पानेवाला। मंत्रभी यही कहता है ' काव्यसे ऋषि, ज्ञानी बनता है ! ' तथा यास्क के निरुक्तमें कहा है ' दर्शनसे ऋषि सिद्ध होता है। ' ' वेद अनगिनती हैं ' इस वचनसे वेद एवं वेदमंत्रोंकी गिनती करना यद्यपि असंभव जानपडे तोभी उसे पानेवाले द्रष्टा ऋषिके विना उन मंत्रोंको पाना सरासर असंभव है। जैसे कि लौकिक व्यवहारमें भी बिना गुरुके मंत्र नहीं मिलता है। इसीकारण, हमारी निगाहमें तो मंत्रसे भी मंत्रका उपदेश करनेहारा गुरुही प्रथम श्रेणीका महत्त्वपूर्ण दिखाई देता है क्योंकि उस मंत्रको वह गुरुही हमें पहुँचादेता है। जैसे, परोक्ष रहनेवाले परब्रह्म देवता आदिसे भी प्रत्यक्ष ब्रह्मरूपी मंत्रकोही अपेक्षाकृत अधिक प्रधानता मिलनी चाहिए क्योंकि वही तो उस परोक्षवस्तुको हम तक लाकर पहुँचाता है, वैसेही उस प्रत्यक्ष ब्रह्मरूपी मंत्रसेभी उसे देने वाला ऋषिही प्रमुख है इसीकारण कि उस मंत्रको एवं उसकी देवता को ऋषिनेही हमारी पहुँचमें रखा है। इसी लिए ऐसा कहकर कि ' जो कोई सचमुच आर्षेय, छन्द, दैवत, ब्राह्मणको न जानकरही मंत्रसे यजन

ऋषिमुखेनैव सर्वेषां मन्त्राणामुपलब्धेः **'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।'** इति मन्त्रवर्णात् । (ऋ० १०।७१।३)

गायत्रीप्रभृतीनामृचां विश्वामित्रादयः ऋषयः, गायत्र्यादीनि छन्दाँसि, सवित्राद्याः देवताश्च ऋग्वेदे प्रसिद्धाः, यजुर्वेदेऽपि ऋचां त एव ऋषयः, तान्येव छन्दाँसि, ता एव देवताश्च भवन्ति । **'गायत्र्या गायत्री छन्दो विश्वामित्र ऋषिः सविता देवता'** (नारा० उ० १९।३५) इति श्रुतेः ।

यजुर्मन्त्राणां तु **'प्रजापतिः सोमः अग्निः विश्वे देवाः स्वयम्भूश्चेति'** पञ्च ऋषयो भवन्ति । कथमेतदुच्यते यजुर्वेदे आग्नेयाद्यार्षेयकाण्डे पठितानामपि ऋचां अग्न्यादिमृषिमन्तरा ऋग्वेदस्था एव ऋषय इति । ऋचामपि क्वचिद्यजुःशब्देन निर्देशो भवति । **'पुनातु ते परिस्रुतमिति यजुषा पुनाति व्यावृत्त्यै'** इति (तै० ब्रा० १।८।५)

क्वचित्पाठभेदोऽपि दृश्यते—

'मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे,' इति (ऋ० १।११४।८) । **'मा नस्तोके० आयुषि० । वीरान्० नमसा विधेम ते ।'** तैत्तिरीय रुद्राध्याये (तै० सं० ४,५,१०,६) । **'मा नस्तोके० । मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः० ।'** (वा० य० १६,१६) एवं पाठभेदात् भिन्नार्षेयमेवेदं पृथक् श्रुतमिति गम्यते । अथ यद्युच्येत मन्त्रावयवभूतानां शब्दानां क्वचिद् भेदेऽपि तदर्थाभेदात् मन्त्रैकत्वेन ऋष्येकत्वमेवेति । तद्यथा **'मा नस्तोके'** इत्यत्र **'आयौ'** इत्युकारान्तायुशब्दस्य स्थाने **'आयुषि'** इति सकारान्तस्यायुःशब्दस्य पाठो दृष्टः । नैतावता रूपभेदमात्रेण शब्दभेदस्तथा तदर्थभेदश्च निश्चेतुं शक्यः ।

एवं ऋग्वेदे **'हन्तारं भङ्गुरावतः'** इत्यत्र यजुर्वेदे **'भेत्तारं'** इति पाठे शब्दभेदेऽपि नार्थभेदः । अथवा क्वचित् धात्वर्थभेदेऽपि नाभिप्रायभेदः । तथा ऋग्वेदे **'सदमित् त्वा हवामहे'** इत्यस्य स्थाने कृष्णयजुर्वेदे **'नमसा विधेम ते'** इति पाठभेदः । शुक्लयजुर्वेदे तु **'मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः'** इति पाठः । एवं ऋग्यजुर्वेदयोः पाठे शब्दार्थयोर्भेद-

---

करता हो '... आर्षेयत्वको प्रथम स्थान दिया है । वह भी इसी लिए कि ऋषिके मुखसेही सभी मंत्र हमें मिलजाते हैं देखो मंत्र भाग (ऋ. १०।७१।३) जिसका मतलब है ' वाणीके पदको यज्ञसे प्राप्त किया और ऋषियोंमें प्रविष्ट उस वाणीको ढूँढलिया ।'

गायत्री सदृश ऋचाओंके विश्वामित्र जैसे ऋषि गायत्री वगैरह छन्द तथा सवितृतुल्य देवताएँ ऋग्वेदमें प्रसिद्ध हैं और यजुर्वेदमें भी ऋचाओंके वेही ऋषि छन्द एवं वैसेही देवता होते हैं । देखो नारा० उप. १९।३५ का वचन ।

यजुर्मन्त्रोंके तो पाँच ऋषि होते हैं जैसे, प्रजापति, सोम, अग्नि विश्वे देव तथा स्वयम्भु । यह कैसे कहा जाता कि यजुर्वेदमें आग्नेय इत्यादि आर्षेयकाण्डमें पढी हुई ऋचाओंके भी अग्नि वगैरह ऋषियोंके सिवा ऋग्वेदके ही ऋषि होते हैं । ऋचाओंके लिए भी कहीं यजुःशब्दका प्रयोग किया जाता है, देखो (तै.ब्रा. का १।८।५)

कहीं कहीं पाठभेद भी दिखाई देता है जैसे, ऋग्वेदके प्रथम मंडल में ११४ वे सूक्तकी आठवी ऋचासे तैत्तिरीय संहिताके ४।५।१०।६ की तथा वाजसनेयी यजुर्वेदके १६।१६ की तुलना करनेपर पाठभेद के कारण जानपडता है कि भिन्न ऋषियोंके देखे ये मंत्र अलग अलग सुनेगये थे । अच्छा, यदि ऐसा कहें कि, मंत्रके घटक बने हुए शब्द एकाध जगह भिन्न भी हों तोभी उनके अर्थ में अभिन्नता होनेसे मंत्रके एकत्वसे ऋषियोंका अभिन्नत्व भी सिद्ध होता है, जैसे ' मा नस्तोके ' मंत्रमें ' आयौ' इस उकारान्त शब्दकी जगह ' आयुषि ' ऐसा सकारान्त आयुः शब्द रखा है; पर इतनेही रूपभेदके आधारपर शब्द भेद एवं उसके अर्थभेदपर निश्चितरूपसे कुछ कहना असंभव है ।

इसीतरह ऋग्वेदमें ' हन्तारं भंगुरावतः ' के स्थानपर यजुर्वेद में ' भेत्तारं ' पद पाया जाता है जहाँ शब्दभिन्नता होनेपर भी अर्थभिन्नता नहीं होती है । अथवा एकाध जगह धातुका अर्थ भिन्न हो तो भी मतलब भिन्न नहीं होता । उदाहरणार्थ, ऋग्वेदमें **' सदमित् त्वा हवामहे '** के स्थानपर कृष्ण यजुर्वेदमें **' नमसा विधेम ते '** ऐसा पाठभेद मौजूद है । इधर शुक्लयजुर्वेदमें तो **' मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः '** ऐसा पाठ पाया जाता है । इस भाँति ऋग्वेद एवं यजुर्वेदके पाठोंमें शब्द तथा अर्थमें

दर्शनात् उभयत्र पठितो मा नस्तोके इत्ययं मन्त्र एक एवेति कथं न वक्तुं शक्यम् ?

अत्र शब्दार्थयोर्भेदेऽपि तदभिप्रायाभेदात् ऋचः अभिन्न एवायं याजुषे पठितो 'मा नस्तोके' इति मन्त्रः इत्येव युक्तम्। अथ द्रष्टृ–दर्शनादिभेदादेव हेतोः ' मा नस्तोके ' इत्यादीनामृङ्मन्त्राणां यजुर्वेदे भिन्नार्षेयत्वमेव युक्तम् ।

भवन्ति यजुर्वेदे भिन्नाः प्रजापत्यादयः काण्डर्षयः प्रसिद्धाः । तत्र हि ' मा नस्तोके ' इति मन्त्रस्याग्नेः काण्डर्षेर्दर्शनम्। स्यादेतदेवम्– यदि यजुर्वेदे वेदान्तरेऽपि वा तादृशं पृथग्दर्शनं भवेत् । न तु तदस्ति । अन्यत्र ऋग्वेदे दृष्टानां 'मा नस्तोके' इत्यादीनामृङ्मन्त्राणां याजुषेषु मन्त्रभागेषु तत्र तत्र कर्मानुष्ठानाद्युपयोगार्थं संग्रहणमेव न तु पृथग्दर्शनम् । दृश्यते हि अत्र यजुर्वेदे दर्शपूर्णमासादियज्ञीयकर्मानुष्ठानक्रमेण तथा याज्यापुरोऽनुवाक्यादिविशिष्टकर्मानुक्रमानुरोधेनैव विनियोजयितव्यानां ऋग्वेदे भिन्नभिन्नस्थानेषु अनेकैरन्यैरन्यैर्ऋषिभिर्दृष्टानामनेकेषामृङ्मन्त्राणामेकत्र प्रकरणशः संग्रहणम् । तदेतत् दिग्दर्शनार्थं किञ्चिदेवोदाह्रियते– तद्यथा ' इषे त्वा ' इति प्रश्ने चतुर्दशेऽनुवाके सप्तसु काम्येष्टिषु याज्यापुरोऽनुवाक्ययोरेवोपयोजितव्याः चतुर्दशर्चः अनुक्रमेण पठिताः 'उभा वामिन्द्राग्नी' इत्याद्याः ऋचः । तासां भिन्नाः ऋषयः ऋग्वेदे प्रसिद्धाः तस्मादेतासामृचामग्न्यार्षेयकाण्डे पाठेऽपि नात्र पृथग्दर्शनमभ्युपगन्तुं शक्यम् । तदेतत् शुक्लयजुर्वेदीयकातीयसर्वानुक्रमसूत्रात् स्पष्टं भवति ।

तत्र हि शुक्लयजुर्वेदे षोडशतमे रुद्राध्याये पठिता ' मा नस्तोके ' इत्येषा ऋक् 'मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः' इति व्यत्यस्तपाठेनसहितापि ऋग्वेदस्थायाः कुत्सदृष्टायाः अभिन्नैवेति गम्यते ' मा नो द्वे कुत्सः ' (शु० स० सू० २।२१) इति सूत्रात् । ' मा नस्तोके, मा नो महान्तं ' इति द्वे ऋचौ कुत्सदृष्टे इत्यर्थः । तत्सामान्यात् इह कृष्णयजुर्वेदेऽपि

भिन्नता होनेसे दोनों स्थानोंमें पढा हुआ ' मा नस्तोके ' यह मंत्र एकही है ऐसा कहना कैसे असंभव है ?

यहाँपर यही ठीक है कि शब्द एवं अर्थमें भिन्नता होनेपर भी उनका आशय एक ही होनेसे ऋचासे अभिन्नही यह यजुर्वेदान्तर्गत मंत्र है । अब द्रष्टा एवं दर्शन आदिमें भेद है इसलिए ' मा नस्तोके ' सदृश ऋग्वेदस्थ मंत्रोंका यजुर्वेदमें अलग आर्षेयत्व रखनाही ठीक है ।

यजुर्वेदमें अलगअलग प्राजापत्य जैसे काण्डके ऋषि होते हैं सो प्रसिद्ध है । वहाँ तो ' मा नस्तोके ' इस मंत्रका दर्शन जो काण्डका ऋषि अग्नि है उसका किया हुआ है । होसकता कि ऐसेही हो अगर यजुर्वेदमें या दूसरेमें भी वैसे अलग देख लेना संभव हो । पर वैसे नहीं है । ऋग्वेदमें दूसरी जगह देखे हुए ' मा नस्तोके' जैसे ऋग्वेदमंत्रोंका यजुर्वेदीय मंत्रभागोंमें उस उस स्थानपर कर्मके अनुष्ठान आदिके उपयोगके लिए संग्रहमात्र किया हुआ है न कि अलग ढंगसे दर्शन । यहाँपर यजुर्वेदमें तो ऐसा देखा जाता है कि, दर्शपूर्ण मास जैसे यज्ञोंमें किये जानेवाले कर्मोंके अनुष्ठानक्रमसे और वैसेही याज्या, पुरोऽनुवाक्य सदृश विशेष प्रकारके कर्मकी परिपाटीके अनुकूलही विनियोगमें प्रयुक्त होनेवाले और ऋग्वेदमें अलग अलग स्थानोंमें कई विभिन्न ऋषियोंके देखे बहुतसे ऋग्वेदीय मंत्रोंका प्रकरणानुसार इकट्ठा संग्रह किया हुआ है। उसीको दिग्दर्शनके तौरपर यहाँ तनिक उद्धृत करते हैं–जैसे, ' इषे त्वा ' इस तरहके प्रश्नमें चौदहवें अनुवाकमें सातों काम्येष्टियोंमें याज्या तथा पुरोवाक्यमेंही प्रयुक्त होनेयोग्य चौदह ऋचाएँ क्रमशः पढी गयी हैं जिनमें ' उभा वामिन्द्राग्नी ' जैसी ऋचाएँ हैं । ऋग्वेदमें इनके विभिन्न ऋषि प्रसिद्ध हैं, अतः इन ऋचाओंके अग्निऋषिवाले काण्डमें पढ लेनेपर भी इस स्थानमें ऐसा नहीं कहा जासकता कि इनका दर्शन अलग ऋषियोंने किया है। शुक्लयजुर्वेदसे संबंध रखनेवाले कात्यायन सर्वानुक्रमसूत्रसे यही बात साफ प्रतीत होती है ।

उससे यही जान पडता है कि शुक्लयजुर्वेदके १६ वे रुद्राध्यायमें पढी हुई ' मा नस्तोके ' यह ऋचा ' मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः ' ऐसे विभिन्न पाठसे युक्त होनेपर भी ऋग्वेदमें जो कुत्सकी देखी हुई ऋचा है उससे अभिन्नही है क्योंकि 'मा नो द्वे कुत्सः ' ऐसा सूत्रही मौजूद है जिसका आशय है ' मा नस्तोके ' और ' मा नो महान्तम् ' दोनों कुत्सकी देखी ऋचाएँ हैं । उस समानताके कारण यहाँ कृष्णयजुर्वेदमें भी ' मा नस्तोके ' इस मंत्रका कुत्सऋषिका देखा जाना निश्चित होनेसे यह सिद्ध होता है कि सिर्फ वेदमें भिन्नता होनेसे न दर्शनमें भिन्नता

'मा नस्तोके' इति मन्त्रस्य कुत्सदर्शनत्वानिश्चयात्, न वेदभेदेन दर्शनभेदः, नापि मन्त्रभेदः इति सिध्यति। अतः ऋषिरपि एक एव।

अथ यद्युच्येत शुक्लयजुर्वेदे तथा भवतु नाम, तथैव कृष्णयजुर्वेदेऽपि भवितव्यमिति को नियमः? तस्मादत्र कृष्णयजुर्वेदे प्रजापतिप्रभृतीनां काण्डर्षीणां दर्शनात्, तत्रापि आग्नेयकाण्डे रुद्राध्यायस्य 'अग्निः काण्डर्षिः' इति अग्न्यार्षेयत्वेन निर्देशाच्च, पृथग् दर्शनमेवेदं मा नस्तोके इति मन्त्रस्य। तस्मात् अग्निरेव ऋषिः न कुत्सः इति वक्तव्यम्। स्यादेतदेवम्– यदि प्रजापतिप्रभृतीनां काण्डर्षीणां ऋङ्मन्त्रद्रष्टृत्वं स्यात्, किं तर्हि? मन्त्रस्मर्तृत्वमेवेति ब्रूमः। कुत एतत्? प्रजापतिप्रभृतीनां काण्डर्षीणां स्मरणमात्रेण काण्डसम्बन्धात्। अतः न तु तेषां काण्डर्षीणां मन्त्रद्रष्टृत्वं सम्भवति, येन याजुषे दर्शनभेदात् ऋचां मन्त्रभेदस्वीकरणमापद्येत। कुत एतदुन्नीतम्? प्रजापतिप्रभृतीनां काण्डर्षीणां मन्त्रस्मर्तृत्वमेव न तु मन्त्रद्रष्टृत्वमिति उच्यते– '**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः स्मर्तारः पारमेष्ठ्यादयः**' इति शुक्लयजुर्वेदकातीयसर्वानुक्रमसूत्रात्।

तस्यायमर्थः– अत्र शुक्लयजुर्वेदे पठितानां मन्त्राणां द्रष्टारः प्रसिद्धा ऋषयः एव। तथा प्राजापत्यादिकाण्डेषु तत्तदार्षेयत्वेन निर्दिष्टाः प्राजापत्यादयस्तु ऋषिदृष्टानां मन्त्राणां स्मर्तार एव न तु द्रष्टार इति। एतेन येषां मन्त्राणां द्रष्टारः ऋषयोऽन्यत्र प्रसिद्धाः तेषामत्रापि त एव ऋषयो भवन्ति। येषां तु द्रष्टारोऽन्यत्राप्रसिद्धाः तेषां अत्रत्यकाण्डमर्यादोक्तं प्रजापत्याद्यार्षेयत्वमेवेत्यर्थस्सम्पद्यते।

अत एव शुक्लयजुसर्वानुक्रमसूत्रम्– '**रौद्रोऽध्यायः परमेष्ठिन आर्षम्, देवानां वा प्रजापतेर्वा, आद्योऽनुवाकः षोडशर्चः। एकरुद्रदैवत्यः, प्रथमा गायत्री तिस्रोऽनुष्टुभस्तिस्रः पङ्क्तयः सप्तानुष्टुभो द्वे जगत्यौ, मा नो द्वे कुत्सः**' इति पारमेष्ठ्यार्षेये रुद्राध्याये बहूनामृग्यजुर्मन्त्राणां मध्ये पठितस्य '**मा नो महान्तं, मा नस्तोके**' इति ऋग्द्वयस्य कुत्सार्षेयत्वं, तच्च ऋग्वेदे प्रसिद्धमेवानूदितमिति वेदितव्यम्।

आती है और न मंत्रही भिन्न ठहरता है। इसी कारण ऋषि भी एकही है।

अच्छा, यदि ऐसा कहो कि शुक्लयजुर्वेदमें भलेही ऐसा हो पर वैसेही कृष्णयजुर्वेदमें रहे ऐसा नियम किसलिए? अतः यहाँ कृष्ण यजुर्वेदमें प्रजापति जैसे काण्डके ऋषियोंके कारण, उसमें भी फिर आग्नेयकाण्डमें रुद्राध्यायका '**अग्नि काण्डका ऋषि है**' ऐसा अग्निके ऋषिपनका उल्लेख होनेसे 'मा नस्तोके' इस मंत्रको भिन्न ऋषिने देखा हो। यही संभव है इसलिए ऐसा कहना ठीक दीख पडता कि ऋषि अग्नि ही है न कि कुत्स। होसकता कि ऐसा हो जाय अगर प्रजापति सदृश काण्डके ऋषियोंका ऋग्वेदमंत्रोंका देखा जाना संभव हो; तो फिर क्या? हम यही कहेंगे कि उनका केवल मंत्रोंको याद कर लेना मात्र ही है। सो कैसे? प्रजापति जैसे काण्डके ऋषियोंका काण्डसे संबंध सिर्फ स्मरण करनेसे ही प्रस्थापित है। इसी कारण उनका मंत्रोंका देखा जाना संभव नहीं, जिससे यजुर्वेदमें द्रष्टाओंकी भिन्नता होनेसे ऋचाओंके बारेमें मंत्र भिन्नता का स्वीकार करना पडे। भला इस निष्कर्षपर कि, प्रजापति सदृश काण्डऋषियोंका कार्य केवल मंत्रोंका स्मरण कर लेना मात्र ही है न कि मंत्रोंका देखलेना, कैसे पहुँच सके? उत्तर यही है शुक्ल यजुर्वेदकात्यायन सर्वानुक्रमसूत्रसे यह सिद्धान्त निश्चित होता है। उसका अर्थ है 'यहाँपर शुक्लयजुर्वेदमें पढे हुए मंत्रोके द्रष्टा ऋषि विख्यातही हैं और वैसेही प्राजापत्य सदृश काण्डोंमें उस उस स्थानके ऋषिपनसे बतलाये प्राजापत्य जैसे तो ऋषियोंके देखे हुए मंत्रोंके स्मरण करनेवाले ही हैं न कि देखनेवाले। इससे ऐसा समझना ठीक है कि अन्य जगह जिन मंत्रोंके द्रष्टा ऋषि विख्यात हैं उन मंत्रोंके यहाँपर भी वेही ऋषि होते हैं। अब जिनके द्रष्टा अन्य स्थानोंमें अप्रसिद्ध होते हैं उनके लिए तो यहाँपरकी काण्ड मर्यादासे बतलाया हुआ प्राजापत्य इत्यादि आर्षेयपनही ठीक है ऐसा प्रतीत होने लगता है।

इसीलिए, शुक्लयजुर्वेद सर्वानुक्रमसूत्रके उद्धृत वचनके अनुसार प्रजापति ऋषिवाले रुद्राध्यायमें बहुतसे ऋग्वेद एवं यजुर्वेदमंत्रोंके बीचमें पढी हुई '**मा नो महान्तं, मा नस्तोके**' इन दो ऋचाओंका कुत्सऋषिका देखा जाना है जो कि ऋग्वेदमें विदित बातको ही उद्धृत करके रखा है ऐसा समझना चाहिए।

ऋग्वेदे तावत् ' इमं षोळश कुत्सः ' इति सर्वानुक्रमसूत्रेऽनुवृत्तं कुत्सदर्शनम् । ' इमा एकादश रौद्रं ' इत्यस्मिन् सूक्ते ' मा नः ' इति द्वयोः कुत्सार्षेयत्वं प्रसिद्धम् । अत्र प्रजापतिप्रभृतीनां काण्डर्षीणां यजुर्मन्त्रद्रष्टृत्वेऽपि वेदान्तरे प्रसिद्धानामृचां तु स्मर्तृत्वेनैव सम्बन्ध इति श्लिष्यति । एतेन कृष्णयजुर्वेदेऽपि तत्सामान्यात् ' मा नः ' इति द्वयोः कुत्सार्षेयत्वमेवेति सिद्धम् ।

ननूक्तं अन्यत्र दृष्टं निदर्शनमितरत्रापि प्रमाणं भवितुं नार्हतीति । तस्मात् ऋचामपि यजुर्मन्त्रगणमध्ये पाठात् यजुर्वेदे तत्रत्यप्रजापत्यादिकाण्डार्षेयत्वमेव युक्तं प्रधानं च तदेव यजुःशाखिनामिति केचित् । वस्तुतस्तु– ऋग्वेदस्थानां सर्वासामपि ऋचां तैत्तिरीयकेऽपि ऋग्वेदे दर्शिता एव ऋषयः इत्यस्मिन्नर्थे तैत्तिरीयब्राह्मणवचनमेव प्रमाणम् ।

तथाहि– ऋग्वेदे एकेनैव ऋषिणा दृष्टानामेकदेवताकैकसूक्तान्तर्गतानां क्वचित् अनेकदेवताकानां अनेकसूक्तान्तर्गतानां च शतशः ऋचां मध्ये पठिता काचिदेकैव ऋक्, द्वित्राः त्रिचतुरा वा ऋचः, वेदान्तरे पठिता अपि ऋग्वेदस्था एव भवितुमर्हन्ति ।

तद्यथा- ऋग्वेदे (मं० १। अनु० ६। सू० १-७) सप्तसूक्तात्मके षष्ठेऽनुवाके ' कस्य नूनं ' इत्यारभ्य ' अस्मे रयिं निधारय ' इत्यन्तं प्रजापति–अग्नि–सवितृ–वरुण–विश्वेदेव–इन्द्र–अश्विनी–उषोदेवताकाः अन्यूनशतसङ्ख्याकाः ऋचः पठिताः । तस्यानुवाकस्य शुनःशेपो द्रष्टा ' कस्य पञ्चोनाऽऽजीगर्तिः शुनःशेपः स कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः ' इति सर्वानुक्रमसूत्रात् ।

ऋग्वेदमें तो, ' इमं षोळश कुत्सः ' इस सर्वानुक्रमसूत्र के आधारसे, कुत्सके देखे जानेकोही मान्यता दी है । ' इमा एकादश रौद्रं ' इस सूक्तमें जो ' मा नः ' ये दो ऋचाएँ हैं वे कुत्स ऋषिकी देखी हुई हैं ऐसा विदित ही है । यहाँपर इस तरह संगति लगानी चाहिए कि प्रजापति जैसे काण्डके ऋषियोंका यजुर्मन्त्रोंका देखलेना मान्य करनेपरभी, अन्य वेदमें उपलब्ध ऋचाओंका केवल याद करलेनाही शेष रहजाता है । इससे यही सिद्ध है कि कृष्णयजुर्वेदमें भी उस सामान्यताके कारण ' मा नः' इन दो ऋचाओंका ऋषि कुत्सही हैं ।

अब यहाँपर कोई ऐसी शंका दर्शाते हैं कि ' ऐसा कहा है न, किसी अन्य स्थानमें लागू पडनेवाला दृष्टान्त दूसरी जगह भी प्रमाण माननेयोग्य नहीं समझना चाहिए । इसी लिए यजुर्मन्त्रोंके संघमें ऋचाओंका भी पाठ मिलता है जिससे यजुर्वेदमें वहाँपरके प्राजापत्य जैसे काण्डके ऋषिपनको स्थान मिलना चाहिए और यजुःशाखावालोंके लिए वही प्रमुख है । ' वास्तवमें देखाजाय तो ऋग्वेदसे उद्धृत सभी ऋचाओंके बारेमें तैत्तिरीय संहितामें भी वेही ऋषि समझने चाहिएँ जो ऋग्वेदमें बतलाये गये हैं और इस संबंधमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका वचनही प्रमाण है ।

उदाहरणार्थ– ऋग्वेदमें एकही ऋषिके देखे एक देवतावाले सूक्तोंमें पाये जानेवाले तथा एकाध समय अनेक देवतावाले कई सूक्तोंमें उपलब्ध सैकडों मंत्रोंके मध्य पढी हुई कोई एक ऋचा या दो तीन अथवा तीन चार ऋचाएँ दूसरे वेदमें पढी जानेपर भी ऋग्वेदीय ही होसकती हैं । जैसे, ऋग्वेदमें प्रथम मंडलके छठे और ७ सूक्तोंवाले अनुवाकमें ' कस्य नूनं ' से प्रारंभ करके ' अस्मे रयिं नि धारय ' तक प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण, विश्वे देव, इन्द्र, अश्विनी तथा उषा देवतावाली सौसे कम ऋचाएँ पढी गयी हैं। सर्वानुक्रमसूत्रके आधारपर इस अनुवाकका द्रष्टा शुनःशेप है । तथा ऐतरेय ब्राह्मणमें सप्तम पंचिकामें पाया जानेवाला वचन देखिए ।–

(क्रमशः)

स्पिनोझाने विचार करके देखा कि इन विषयों में यदि कुछ अच्छा है भी तो भी वह अनिश्चित स्वरूपका है, परंतु शाश्वत वस्तु निश्चित रूपसे अच्छी है। स्पिनोझा के सम्मुख अब प्रश्न यह था कि इसकी प्राप्ति किस प्रकार हो। " अधिक विचार करने पर मुझे यह निश्चय हो गया कि यदि सचमुच ही मैं इस प्रश्न की तहतक पहुंच सका तो मैं एक निश्चित रूप से अच्छी बात के बदले में निश्चित रूप से बुरी बातों को छोडूंगा। इस प्रकार मैंने अपने आपको एक घोर संकटकी अवस्थामें पाया और अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसकी योजनामें जुट गया, फिर वह चाहे कितनीही अनिश्चित क्यों न हो, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्राणघातिनी व्याधिसे जूझनेवाला कोई मनुष्य यह देखकर कि यदि कोई इलाज न मिला तो मृत्यु अवश्यंभावी है, अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसकी खोज करने के लिए मजबूर होता है, क्योंकि उसकी संपूर्ण आशा उसीमें होती है। जिन सब बातों के पीछे प्राकृत जन लगे रहते हैं वे हमारी आत्मरक्षा का कोई उपाय नहीं बतलाते; इतना ही नहीं, वे इसमें बाधा डालते हैं। अनेक बार तो इनपर जिनका अधिकार होता है उनकी मृत्युका ये कारण बन जाते हैं और जो इनके चंगुलमें फँस जाते हैं उनकी मृत्युका तो ये सर्वदा कारण होते हैं।... धन के कारण मनुष्यों पर अनेक संकट आते रहते हैं और कभी कभी तो उन्हें अपने प्राणोंसे भी हाथ धोना पडता है, इसी प्रकार अपनी कीर्तिकी रक्षा या कीर्ति लाभके पीछे दुर्दशा पर पहुंचनेवालों के भी उदाहरण कम नहीं। विषयोपभोगमें अति कर देने के कारण अपने आपको मृत्युके मुखमें देनेवालोंके तो असंख्य उदाहरण हैं। इन सब बुराइयोंकी जड मुझे इस बात में मालूम हुई कि समस्त सुख या दुःख हमारे उन प्रीतिविषयोंके प्रकार पर अवलंबित हैं जिनके साथ हम आसक्त होते हैं। क्योंकि जिन वस्तुओंसे हमारा राग या लगाव नहीं होता, उनके कारण कोई कलह या संघर्ष उत्पन्न नहीं होता, उनके विनाशके कारण कोई दुःख नहीं होता; दूसरों द्वारा उनके हथियाए जानेपर कोई ईर्ष्या, भय, द्वेष या एक शब्दमें मनःक्षोभ उत्पन्न नहीं होता, ये सब बातें तो उन नाशमान वस्तुओं से प्रीति रखने के कारण उत्पन्न होती हैं जिनका उल्लेख पहिले हो चुका है, परंतु शाश्वत और अनंत वस्तु के प्रति प्रेम तो मन को आनंद, एक मात्र आनंदसे भर देता है ऐसा आनंद जो दुःखपर्यवसायी नहीं होता, इसलिए यही है वह वांछनीय वस्तु जिसकी प्राप्तिका यत्न हमें अपनी पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये। " 1

उपर्युक्त अवतरण तत्त्वजिज्ञासाकी प्रवृत्तिके पहिले स्पिनोझा की मानसिक अवस्था के सच्चे प्रतिबिंब हैं। साथही ये उद्बोधक भी हैं। जर्मन दार्शनिक शोपेन हॉर (Schopenhauer) ने इन पंक्तियों को विकारोंके झंझावात को शांत करनेके लिये नितांत अमोघ साधन कहा है–" The most effectual means of stilling the storm of passions." 2

पाश्चात्य दर्शनेतिहासमें भिन्न भिन्न विचारकों के तात्त्विक विचारकी प्रेरणाएं भिन्न भिन्न रही हैं। डेकार्टकी मुख्य प्रेरणा बौद्धिक जिज्ञासा थी (Intellectual curiosity), परंतु स्पिनोझाकी मुख्य प्रेरणा बंधमोक्षकी समस्या थी। इस समस्याके महत्वका अनुभव जिस तीव्रता के साथ स्पिनोझा ने किया, उतनी तीव्रता के साथ शायद ही किसीने किया हो। स्पिनोझा के उत्तरवर्ती दार्शनिक डेविडह्यूम ने लिखा है कि जब वह अपने पुस्तकालयसे बाह्य जगत् में जाता था तब वह अपने दार्शनिक विचारोंको बालाये ताक धर देता था। परंतु स्पिनोझा के दार्शनिक विचारोंका मुख्य उद्देश्य अपने तथ अपने साथ ही दूसरोंके दैनंदिन जीवन में उनके व्यावहारिक उपयोग के द्वारा जीवनको उदात्त बनाने का था। जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करानेमें ही वे पर्यवसित होते हैं।

तत्वज्ञानकी बंधमोक्षकी समस्या को हल करनेकी यह व्यावहारिक कार्यक्षमता स्पिनोझा को मुख्यतया अभिप्रेत थी, इसका एक प्रमाण हमें उसके ग्रंथोंके शीर्षकोंके रूप में मिलता है। उसके एक ग्रंथ का नाम है, जैसा कि हम देख चुके हैं, ' ईश्वर, मनुष्य और उसका कल्याण। ' उसने अपने प्रमुख ग्रंथको जान बूझकर ' नीतिशास्त्र ' यह नाम दिया। इस शीर्षक से हमें भ्रममें पडकर यह न समझ लेना चाहिये कि इसमें सिर्फ नीतिनियमों या नीतिसंबंधी अन्य बातोंका विवेचन है। नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र तो इस ग्रंथका गौण अंग है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य तो अध्यात्मशास्त्र ही है। अतएव अध्यात्मशास्त्र को व्यवहार्य बनाने की दृष्टिसे नीति या आचार के अंगको वही

(1) बु. सु. (2) World as Will and Idea, IV :: 68-quoted by Leon Roth in ' Spinoza' p.42

स्थान प्राप्त होता है जो हमारे यहां ' साधनपाद ' और 'मोक्षपाद ' को प्राप्त है । इस व्यवहार्यता के बीज तात्विक विवेचन में ही पाये जाते हैं । परंतु एक दूसरी दृष्टिसे यह व्यावहारिक अंग अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि तात्विक विचार की प्रेरणा का मुख्य लक्ष्य यही है । यदि तात्विक विवेचन इस उद्देश्य की पूर्ति की दिशा या मार्ग नहीं बतलाता, तो वह व्यर्थ ही है । उसे काकदंतपरीक्षावत् निष्फल प्रवृत्ति जनकत्व प्राप्त होगा । यही बात स्पिनोझाने अपने ग्रंथके शीर्षक द्वारा सूचित की है। बंधसे निवृत्ति या मोक्ष यही मनुष्य-जीवनका एकमात्र लक्ष्य है, अन्य समस्त विचार इस मुख्य लक्ष्यकी ओर ले जानेके साधन मात्र हैं। एक आलोचकने स्पिनोझाके इसी नीतिशास्त्र की ओर लक्ष्य करके कहा है कि इसमें प्रतिपादित तर्कको कसौटी पर पूरी तरहसे कसे हुए भौतिकशास्त्र और मानसशास्त्रके आधार पर स्थित अत्यंत व्यापक आध्यात्मिक विचार मुक्तिमार्ग या कृतकृत्य जीवन पथ की ओर संकेत करनेवाले अंगुलिनिर्देशमात्र हैं- " The most universal metaphysical considerations, supported by the most closely reasoned physics and psychology are only finger-posts on the path of what Spinoza himself calls the " life of the blessed " or " salvation. "

स्पिनोझाके समस्त ग्रंथोंमें यह व्यावहारिक उपयोगिता स्पष्ट दिखाई देती है, फिर चाहे ये ग्रंथ दार्शनिक हों, चाहे धार्मिक या राजकीय। इसी उद्देश्य से स्पिनोझा 'बुद्धिका सुधार' नामक ग्रंथ में कहता है, " मैं समस्त विज्ञानोंको एक ही उद्देश्य और लक्ष्य की पूर्तिमें लगा देना चाहता हूं ताकि हम पराकोटिकी मानवीय पूर्णता को प्राप्त कर सकें । ...... और इसलिये विज्ञानोंमें जो भी कुछ हमारे अभीष्ट की पूर्ति नहीं करता, उसे निरर्थक समझ कर छोडना पडेगा । एक शब्द में सारांश यह कि हमारी समस्त क्रियाएं और विचार इसी एक लक्ष्यकी ओर लगने चाहिये । " " I wish to direct all sciences to one end and aim, so that we may attain to the supreme human perfection... and, therefore, whatsoever in the sciences does not serve to promote our object will have to be rejected as useless. To sum up the matter in a word, all our actions and thoughts must be directed to this one end. " 1

मनुष्य को जब अपने सच्चे श्रेय का परिज्ञान होकर यही एकमात्र उसका ध्येय बन जाता है, तब धन इन्द्रियोपभोग या कीर्ति उसके साध्य न रहकर उसके वास्तविक ध्येय के साधन बन जाते हैं; तब वे उसके मार्ग में कंटक या बाधक न रहकर साधक बन जाते हैं। बाधक वे तभी होते हैं जब वे एकमात्र साध्य होते हैं, - The acquisition of wealth, sensual pleasure or fame, is only a hindrance, so long as they are sought as ends, not as means; if they be sought as means, they will be under restraint, and far from being hindrances, will further not a little the end for which they are sought. " 2 स्पिनोझा व्यर्थ के देहदंडन के पक्ष में नहीं था, इसके विपरीत समुचित आहार विहार, निष्पाप आमोद प्रमोद, तथा प्राकृतिक दृश्यों द्वारा मनोरंजनादिको वह शरीररक्षाका आवश्यक अंग समझताथा ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि, मनुष्यकी समस्त प्रवृत्तियोंका एक मात्र लक्ष्य होना चाहिये शाश्वत और अनंत वस्तु के साथ प्रेम या जैसा कि स्पिनोझाने ' नीतिशास्त्र ' में कहा है, प्रेममयी एकता-" Union by love with an infinite and eternal object. " इसीमें मनुष्य की कृतकृत्यता और पूर्णता है । परंतु यह प्रेम ज्ञानपर अवलंबित है । क्योंकि यदि हमें वस्तुओंके यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो तो हम अन्य वस्तुओंको छोडकर एकमात्र शाश्वत वस्तुसे ही प्रेम करेंगे । हमारी इंद्रियां और कल्पनाएं हमारे अयथार्थ ज्ञानका कारण हैं । इनके कारण हम वस्तुओंको उनमें वस्तुतः न रहनेवाली स्वतंत्र सत्ता(Independence) और वास्तवता (Substantiality) प्रदान करते हैं, और इसीलिए उनमें आसक्त होकर दुःख उठाते हैं । इसलिए इस

(1) बु. सु. (2) वही (3) Ethics IV — xlv note

दिशामें पहिली आवश्यक बात है यथार्थ ज्ञानके द्वारा हमारे भ्रामक विचारों और गलतियोंका परिमार्जन, अर्थात् हमारी 'बुद्धिका सुधार।' (amendment of the understanding)

सामान्य लोगोंकी धारणाएं या मत ('Opinion') अविचारित सिद्ध होते हैं, जिनके आधार होते हैं अस्पष्ट अनुभव (Experienta ivaga) या सुनी सुनाई बातें (Hearsay) या एक वस्तु के तत्व का आकलन दूसरी वस्तु के द्वारा अपर्याप्त रूप से करना। इस कारण उनका ज्ञान आंशिक, अपूर्ण और एकांगी होता है। वह वस्तुओं को उनके वास्तविक क्रम और संबंध से नहीं देखता। वह कल्पना की सहायतासे अपने अपूर्ण अनुभव के आधार पर ही वस्तुओंका उलटा सीधा क्रम और मनमाना साहचर्य बैठा लेता है।

इसके ठीक विपरीत होता है सत्यज्ञान जो वस्तुओंको या तो उनके स्वयंके तत्व के द्वारा या उनके सन्निकृष्ट कारण के द्वारा देखने का प्रयत्न करता है। (दोनों तरह से ईश्वर ही अभिप्रेत है क्योंकि ईश्वर अपना तत्व स्वयं है; साथ ही वह अन्य वस्तुओंके तत्व और अस्तित्व का कारण है जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे।) यह ज्ञान अंतःप्रज्ञात्मक (Intuitive) और स्वतःप्रमाण (Self-evidencing) होता है। यह भिन्न वस्तुओंको स्वतंत्र न देखकर साकल्यकी दृष्टिसे देखता है। यह समस्त वस्तुओंको एक ही सत्तासे लब्धसत्ताक देखता है। यह वस्तुओंको उनके यथार्थ क्रम से देखता है। अतएव यह अविचारित सिद्ध ज्ञानका विघातक होता है।

सत्य कल्पनाएं स्वतःप्रमाण होती हैं। इनके प्रामाण्यके लिए इनसे बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। ये सत्य कल्पनाएं ज्ञानके ऐसे साधन हैं जिन्हें बुद्धि अपनी स्वाभाविक शक्ति के कारण उत्पादित करती है। इन प्रारंभिक सरल सत्य कल्पनाओं के आधार पर हम उत्तरोत्तर गहन सत्य कल्पनाओं के द्वारा विश्वकी गूढ पहेली का आकलन करते चले जाते हैं। तथापि हमारा यह सत्य ज्ञान तब तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक हम व्यापकतम, सर्वसमावेशक, सर्वसंग्राहक परिपूर्णसत्ताकी कल्पना या ज्ञान (The idea of the most perfect being) तक नहीं पहुंच जाते। यह परिपूर्ण सत्ता ही समस्त वस्तुओं और कल्पनाओं का आद्य अमित स्रोत है। इसी के कारण समस्त वस्तुओं और कल्पनाओं को अस्तित्व और अर्थ मिलता है।

स्पिनोझा के इस अपूर्ण ग्रंथ ('बुद्धिका सुधार') की मध्यवर्ती कल्पना है समस्त वस्तुओंकी पूर्ण एकता-'Absolute unity of all things' वे समस्त कल्पनाएं और विचार अपूर्ण और एकांगी हैं जो इस एकता तक नहीं पहुंच पाते।

जैसे जैसे हमारा ज्ञान बढता जाता है वैसे वैसे हम समस्त वस्तुओंकी आवश्यकता और एकताका अधिकाधिक अनुभव करने लगते हैं, क्योंकि समस्त प्रकृति आवश्यक नियमों द्वारा बंधी हुई है जिसमें एक अणु बिना समस्त विश्व पर परिणाम किये इधर का उधर नहीं हो सकता। इसलिये हमें एक अणु का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके लिये 'संपूर्णता' का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जो ज्ञान इस ऊंचाई तक न पहुंच कर अंशोंतक ही मर्यादित रहता है वह अपूर्ण और एकांगी होता है। दर्शनशास्त्रका उद्देश्य प्राकृत जनोंके ज्ञान के ये दोष यथार्थ ज्ञान के द्वारा दूर करनेका ही है। यथार्थ दृष्टिसे, ईश्वर या तत्ववस्तुके ज्ञानके बिना हमारा किसी भी प्रकारका ज्ञान संभव नहीं। एक छोटी से छोटी वस्तुके यथार्थ ज्ञानमें समस्त वस्तुओंकी पूर्ण एकताका ज्ञान अपने आप आ जाता है, क्योंकि वस्तुओंकी कारण परंपरा को देखते देखते यदि हम बीचमें ही न रुक जाँय तो हम समस्त वस्तुओंके आदि कारण तक अवश्य पहुंच जाएंगे। स्पिनोझा का यही भाव आंग्ल कवि टेनिसन (Tennyson) की निम्न पंक्तियों द्वारा भली भांति व्यक्त होता है:-

'Little flower--but if I could understand
What you are, root and all, all in all,
I should know what God and man is.
(From Tennysons 'Flower in the crannied wall.') 1

अर्थात्—

"छोटे फूल! लेकिन यदि मैं तुम्हें समझ भर लूं,
कि तुम क्या हो, जड से लगाकर बस तुम्हारा पूर्ण रूप,
[जो भी कुछ तुम हो,
तो मैं जान लूंगा कि ईश्वर और मनुष्य क्या है।"

(1) quoted by Leon Roth in 'Spinoza' p. 204.

स्पिनोझा के लिये यह सिर्फ कविकल्पना या कविका सुनहला स्वप्न नहीं है, उसके लिये तो यह परम दार्शनिक सत्य है जिसे प्राप्त करना उसके दार्शनिक यत्न का एकमात्र लक्ष्य है। इसका कारण यह है कि स्पिनोझा के अनुसार समस्त वस्तुएँ एक दूसरीमें इस प्रकार गुथी हुई हैं कि यदि हम एक वस्तु के विषय में, फिर चाहे वह घास का तिनका ही क्यों न हो, जो कुछ जानना चाहिये सब जान लें तो हम समस्त वस्तुओंके विषयमें सब कुछ जान लेंगे

"All things are involved with one another so that if we know everything about any one thing we should know every thing about every thing." 1

स्पिनोझाके अनुसार किसी भी वस्तु की व्यष्टिरूपता तब तक पूर्ण रूप से प्रस्थापित नहीं हो सकती, जब तक कि उसको पूर्ण समष्टिरूप में न देख लिया जाय- "An object cannot be perfectly individualised until it is perfectly universalised."2

परमार्थ वस्तु ही परतम सामान्य या ज्ञान का आद्यतत्व है इसलिये ज्ञानकी वही पद्धति अत्यंत पूर्ण हो सकती है जिसके द्वारा हमें पूर्णतम सत्ता (the most perfect Being) का ज्ञान होता है, इसलिये किसीभी परिपूर्ण दार्शनिक पद्धतिका मुख्य आधार होना चाहिये यही परिपूर्ण सत्ता ; क्योंकि यही एकमात्र परमार्थ सत्य है, इसी परमार्थ सत्यसे स्पिनोझाके प्रमुख दार्शनिक ग्रंथका प्रारंभ होता है।

समस्त वस्तुओंकी तत्वदृष्टिसे एकता स्पिनोझा के दर्शन की वह मध्यवर्ती कल्पना है जिसका वह अत्यंत व्यापक रूप से उपयोग करता है। तर्क शास्त्रके लिये यह कल्पना प्रामाण्यकी कसौटी बन जाती है; नीति के क्षेत्र में यही यथार्थ ज्ञानके द्वारा शाश्वत सुख का मार्ग खुला कर देती है।3 मनुष्य निसर्ग का एक अंश है, अतएव यदि वह अपने विचार तथा कल्पनाओं, अपनी आशा तथा अभिलाषाओं द्वारा निसर्गको देखनेका प्रयत्न करेगा या इस संपूर्ण एकता को न देखते हुए आंशिक रूप से देखेगा तो उसका ज्ञान अपूर्ण तथा सदोष ही होगा। वस्तुओंको उनकी एकता तथा आवश्यकता इन दो रूपोंमें देखनेसेही उनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इस प्रकारके दृष्टिकोणमें मनुष्य अपनी निजकी कल्पनाओंको एक तरफ रखकर वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार के निष्पक्ष दृष्टिकोण का पाठ हम गणितशास्त्र में सीखते हैं। इसलिए स्पिनोझाके दार्शनिक विचारोंके विवेचनमें 'ज्यामिति-पद्धति,' जिसे हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी कह सकते हैं, अत्यंत महत्वपूर्ण है। स्पिनोझा वैज्ञानिक युग में रहता था, अतएव यह स्वाभाविक ही है। उनके ज्यामिति-पद्धति के अवलंबन का यही रहस्य है जिसका विचार हम अगले प्रकरण में करेंगे।

स्पिनोझाकी तात्विक भूमिकाके संबंधमें एक और महत्वपूर्ण बात है अपने कल्याणके साथ ही पर कल्याण की उत्कट कामना। स्पिनोझा इस बातका अनुभव कर चुका था कि आध्यात्मिक क्षेत्र में जिस दिव्यानंद का लाभ होता है उसमें जितने अधिक लोग भाग लेते हैं उतना ही अधिक वह बढता जाता है। सांसारिक पदार्थोंसे प्राप्त आनंद ईर्ष्यादि विकारोंसे ग्रस्त है, परंतु यहां इसके ठीक विपरीत बात है। उसने अपने एक ग्रंथमें लिखा है, "जो अपने आपको ऐसे लाभोंका उपभोग लेनेके कारण धन्य समझता है, जो औरोंको उपलब्ध नहीं है वह सच्ची धन्यता से अनभिज्ञ है।"

" ...He who thinks himself the more blessed because he is evjoying which others are not does not know what true blessedness is" 4

नीतिशास्त्रमें भी उसने इस बात पर जोर दिया है, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि हमारा ईश्वर के प्रति प्रेम औरोंके साथ ठाथ बटानेके कारण अधिक दृढ होता है। यह वही भावना है जो हमारे यहाँ इन सुंदर पंक्तियोंमें व्यक्त की गई है— 'सर्वेऽपि सुखिनः संतु सर्वे संतु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥" इससे यह भी स्पष्ट है कि स्पिनोझाका तत्वज्ञान किसी निर्जन वनमें या गुफामें

(1) Quoted by Leon Roth 'Spinoza' p. 204.
(2) 'Spinoza' by John Caird p. 31. (3) 'Spinoza' by Leon Roth p. 52.
(4) Theologico-political Treatise (quoted by Leon Roth in 'Spinoza' p. 51)

साध्य किया जानेवाला न होकर जनसाधारणमें रहकर ही प्राप्त किया जानेवाला था, जिसमें अपने कल्याण के साथ ही दूसरों के कल्याण का ख्याल भी रखा गया था।

अंतमें स्पिनोझा की एक और विशेषता हम कह सकते हैं और वह है तत्वज्ञान और धर्म के सच्चे रहस्य का आकलन और दोनों का सुंदर सामंजस्य, क्योंकि धर्म और तत्वज्ञान दोनों का अंतिम लक्ष्य एकही 'पद' की प्राप्ति है-' सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।'

[प्रकरण ४]

ज्यामिति-पद्धति

"I shall consider human actions and appetites just as if I were considering lines, planes, or bodies." — [Ethics, Pt. III Preface.]

अर्थात् "मैं मनुष्योंकी क्रियाओं और वासनाओंका विचार ठीक उसी तरहसे करूंगा मानो मेरे विचार के विषय रेषाएं समधरातल या पिंड हैं (ज्यामिति के विषय)।"

स्पिनोझाके प्रमुख तात्विक ग्रंथका पूरा शीर्षक है "ज्यामिति-पद्धतिसे प्रतिपादित नीतिशास्त्र " Ethics demonstrated in geometrical order(Ethica Ordine Geometrics Demonstrata)। इस शीर्षक को देख कर एक आश्चर्यभरा कुतूहल उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसके दो कारण हैं। एक तो प्रमुख ' तात्विक ' ग्रंथ को 'नीतिशास्त्र' कहना और दूसरा उसका ज्यामिति पद्धतिसे प्रतिपादन करना। पहिले कारण का विवेचन पिछले प्रकरण में हो चुका है; इस प्रकरणमें दूसरे कारणका स्पष्टीकरण है।

सकृद्दर्शन से तो यह मालूम होता है कि तात्विक विषय का निरूपण करनेके लिए यदि सबसे अयोग्य कोई पद्धति हो सकती है तो वह ज्यामिति या रेखागणिती पद्धति है। परंतु जब हम स्पिनोझाका प्रमुख तात्विक ग्रंथ खोलकर देखते हैं तब तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। हमें यही आभास होता है कि कहीं तात्विक विषयके भ्रममें हमारे हाथ में कोई ज्यामिति की पुस्तक तो नहीं आ गई। पहिले ही पृष्ठमें परिभाषाएं (Definitions) यह शीर्षक हमारा ध्यान आकर्षित करता है। इससे आगे ' Axioms ' या स्वयं प्रमाण सत्य, कहीं कहीं ' गृहीत विचार (Postulates)' फिर एक के पीछे दूसरे प्रमेय या विधान (Propositions) आते हैं; साथ ही उनके प्रमाण (Demonstrations), उनसे निकलनेवाले उपसिद्धांत, स्पष्टीकरणादि हैं। सब से मजेकी बात तो यह है कि किसी भी ज्यामिति की पुस्तक में प्रमाणके अंतमें पाये जानेवाले तीन अक्षर Q.E.D. को छोडने की भी गलती नहीं की गई है। परंतु थोडीही देरमें कुछ पंक्तियों को पढनेके साथ ही हमारा यह भ्रम दूर होकर हम यह पाते हैं कि 'नीतिशास्त्र' और ज्यामितिके बाह्याकारके छद्ममें यह तो कोई गुरु गंभीर तात्विक ग्रंथ है; क्योंकि पहिले ही पृष्ठ में स्वयंभू कारण, अनंत, सांत, मूल तत्व, गुण, प्रकार, ईश्वर एक के पीछे दूसरे हम पर आक्रमण करने लगते हैं, और इस ग्रंथ का सच्चा स्वरूप प्रकट कर देते हैं; और इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि यह तो 'अध्यात्मविद्या विद्यानां' वाली भगवदुक्तिको चरितार्थ करनेवाला कोई अध्यात्म ग्रंथ है।

स्पिनोझा के दार्शनिक मतोंके समान उसकी ज्यामिति-पद्धति के वास्तविक रहस्यको लेकर बहुत कुछ विवाद उपस्थित हुए हैं। इस कारणसे और समस्त ग्रंथमें ज्यामिति में रूढ शब्दों, ज्यामितिकी भाषामें ही उपमा-दृष्टांतादिके प्रचुर उपयोग के कारण स्पिनोझा की ज्यामिति-पद्धतिका स्वतंत्र रूपसे विवेचन आवश्यक जान पडता है।

ऐतिहासिक भूमिका में हम प्राचीन दर्शन तथा १७ वीं शताब्दि में गणित के प्रभाव का उल्लेख कर चुके हैं। तात्विक विषय के निरूपण के लिये ज्यामिति-पद्धति के अवलंब में स्पिनोझा एकाकी नहीं है। मध्ययुग में संप्रदायवादियोंद्वारा इसका आंशिक या पूर्ण रूपसे उपयोग किया गया है। स्पिनोझा का निकट पूर्ववर्ती दार्शनिक डेकार्ट तो इस पद्धति का अनन्य भक्त था। इस पद्धतिकी निश्चयात्मकता, निःसंदिग्धता, यथार्थता

युक्तियुक्तता, स्पष्टता तथा सुव्यक्तता, इ० गुणों को देखकर उसे यह आश्चर्य हुआ कि अभी तक ऐसी सर्वांगसुंदर पद्धति का उपयोग गणितशास्त्र के बाहर केवल यंत्रशास्त्र तक ही किया गया है। " Above all I was delighted with the mathematics on account of the certainty and evidence of their demonstrations but I had not as yet found out their true use and although I supposed that they were of service only in the mechanic arts, I was surprised that upon foundations so solid and stable no loftier structure had been raised. "1

डेकार्टकी महत्वाकांक्षा तो मानवीय ज्ञान के यावत् क्षेत्रोंमें इसका उपयोग करनेकी थी। परंतु यहा पर ज्यामिति-पद्धति और ज्यामिति का बाह्य आकार इन दोनोंके भेद को न भूलना चाहिये। डेकार्टको ज्यामिति-पद्धतिकी उपयुक्तता स्वीकृत थी परंतु तात्विक विषयोंके लिए ज्यामिति के बाह्य आकार के संबंधमें उसे इतना उत्साह नहीं था। ज्यामिति पद्धतिके अनुसार थोडे से स्वयंसिद्ध सत्यों, निःसंदिग्ध विचारों तथा परिभाषाओं इ० के आधार पर बडे बडे साध्य उपपादित होते हैं। यह तो ठीक है, परंतु ज्यामिति-पद्धति से किसी विषयके प्रतिपादनके लिये, फिर चाहे वह विश्लेषणात्मक (analytic) हो या संश्लेषणात्मक (synthetic) ज्यामिति का बाह्य आकार आवश्यक नहीं है। परंतु स्पिनोझा ज्यामिति-पद्धति के साथ साथ अपने प्रतिपाद्य विषय को ज्यामिति का बाह्य आकार भी देता है और इस पद्धति का उपयोग भी अत्यधिक गंभीरताके साथ करता है। डेकार्टने तो सिर्फ प्रायोगिक रूपसे अपने दार्शनिक विचारोंको ज्यामितिका आकार देकर दिखला दिया था। साथ ही वह आध्यात्मिक विचारों के संबंध में ज्यामिति की संश्लेषणात्मक पद्धति की सफलता के विषय में साशंक था। परंतु स्पिनोझा इन दोनों बातों में निःसंदिग्ध था, इसके क्या कारण हो सकते हैं, यह विवाद्य विषय है।

जर्मन दार्शनिक इतिहासकार अर्डमान (Erdmann) के अनुसार यह उसके वस्तुओंकी और गणितीय दृष्टिकोण से देखनेका आवश्यक तार्किक परिणाम (Logical consequence) है। स्पिनोझा के एक चरित्र-लेखकने तो यहां तक कह डाला है कि उसकी रेखागणितीय बुद्धि थी (Geometrical mind) फ्र्यूडेंथाल (Freudenthal) के अनुसार इस प्रकार की ज्यामिति के बाह्याकारवाली शैली उसके विचारकी आंतरिक आवश्यकता से प्राप्त होती है। जोआकिम (Joachim) के अनुसार स्पिनोझाके विवेचनका यह विशिष्ट आकार उसके प्रतिपाद्य विषय की दृष्टिसे आवश्यक है। परंतु स्पिनोझा के आधुनिक विद्वान् आलोचक प्रो. वॉल्फसन यथार्थता के साथ इन मतोंका खंडन करके भिन्न तरहसे इसका समर्थन करते हैं 2। वैसे भी स्पिनोझा का समग्र ग्रंथ अध्ययन करने पर उपर्युक्त आलोचकों द्वारा खींचा हुआ चित्र कुछ अतिरंजित जान पडता है जिससे स्पिनोझा के मुख्य हेतु को एक तरह से विकृत रूप प्राप्त होता है, यद्यपि इन आलोचकोंका उद्देश्य ऐसा नहीं है।

जीवनचरित्र के प्रकरणमें हम देख चुके हैं कि स्पिनोझा के दार्शनिक विचारोंकी रूपरेखा उसके यौवन के प्रारंभ में ही निश्चितप्रायसी हो चुकी थी, अतएव ये ही विचार उसके समस्त दार्शनिक ग्रंथोंमें गौण और नगण्य भेदों के साथ प्रकट हुए हैं। इसलिए यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस पद्धति का अवलंब करने मात्र से उसने अपने दार्शनिक विचार प्राप्त किये। यह दूसरी बात है कि उसके विवक्षित विचारोंके लिए सत्रहवीं शताब्दि में गणिती पद्धति अधिक उपयुक्त थी इसलिये तथा कुछ और कारणों से जिनका विचार इसी प्रकरण में आगे चलकर है, उसने इस पद्धति का अवलंब किया; तथापि इतने से ही ज्यामिति के बाह्याकार की आंतरिक या तार्किक या अन्य कोई ' आवश्यकता ' सिद्ध नहीं की जा सकती। यह आवश्यकता यदि हो सकती है तो वह बाह्य कारणोंमें ही संभव है।

उपर्युक्त कथन का प्रमाण इस बात से मिल सकता है कि स्पिनोझाके ये ही गणिती पद्धतिके विचार उसके ' Short Treatise ' नामक ग्रंथ में प्रतिपादित हैं, परंतु उसे तो

1 Quoted by Weber in History of Philosophy, p. 306.

2 The Phil. of Spinoza, by Wolfson vol. I ch. II

स्पिनोझाने ज्यामितिका बाह्यआकार नहीं दिया है। इसके सिवाय स्पिनोझाके विशिष्ट वैचारिक दृष्टिकोणके अनुसार डेकार्टके दार्शनिक विचार ज्यामिति-पद्धतिके नहीं थे क्योंकि डेकार्ट स्पिनोझाके ठीक विरुद्ध विचार स्वातंत्र्य, उद्देशरूप या या अंतिम कारण (Final cause) और जगत् की रचनामें ईश्वरीय इच्छा तथा योजनाको मानता था। इतना होते हुए भी स्पिनोझाने डेकार्टके दार्शनिक सिद्धांतों को ज्यामिति-पद्धतिसे प्रतिपादित किया है। उस ग्रंथ का शीर्षक है—

'ज्यामिति-पद्धति' से प्रतिपादित डेकार्टके दार्शनिक सिद्धांत, the Principles of Philosophy demonstrated by the method of Geometry.

और भी, स्पिनोझा यहूदी भाषाका व्याकरण ज्यामिति पद्धति से लिखने का इरादा करता था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सिर्फ ज्यामिति पद्धति के अवलंब मात्रसे स्पिनोझा अपने विचारों की सत्यता सिद्ध नहीं करता। स्पिनोझा का दूसरी शैली पर अधिकार न हो यह बात भी नहीं। काव्यमयी शैली को छोडकर दार्शनिक परंपरामें रूढ प्रत्येक शैलीमें स्पिनोझाने सफलता के साथ लिखा है। इस ज्यामित्याकार ग्रंथ में भी परिशिष्ट स्पष्टीकरणादि में सुंदर, प्रभावशाली तथा प्रसाद गुण से युक्त शैली स्पष्ट लक्षित होती है। ये बातें उपर्युक्त आलोचकों में से एक, जोआकिमको भी मान्य है।

"Nor does it give us the only possible method of exposition. Nor again is it, simply as geometrical demonstration, a guarantee of the truth of the system."[1]

इस प्रकार की रचना का कारण सिर्फ पूर्ववर्ती दार्शनिकोंका अनुकरण नहीं हो सकता। संपूर्ण नीतिशास्त्र पढ जाने पर हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि यदि ज्यामिति-पद्धति से स्पिनोझा को (उन बातोंके अतिरिक्त जो डेकार्टके लिए इस पद्धतिकी ग्राह्यताके विषयमें कही जा चुकी है) एक शब्दमें कुछ विवक्षित था तो वह था कठोर नियतिवाद या आवश्यकतावाद। इसके अनुसार ईश्वरीय कृतिमें इच्छा तथा योजना का अभाव है, उद्देशरूप कारण (Final causes) नाम की कोई वस्तु नहीं और मानवीय इच्छास्वातंत्र्य अज्ञान के कारण भ्रम मात्र है। जो कुछ है सब ईश्वरीय स्वभाव की आवश्यकता से है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक त्रिकोणके तीन कोणों का योग दो समकोणों के योग के बराबर है। परंतु ये सब बातें तो स्पिनोझा दार्शनिक क्षेत्र में रूढ किसी अन्य शैलीका अनुसरण करके भी लिख सकता था। इससे ज्यामिति के बाह्य आकार के अंगीकार की उपपत्ति नहीं लगती।

इस विशिष्ट आकारयुक्त पद्धतिके उपयोगके संबंधमें प्रो. वॉल्फसन द्वारा दिये गये कारणों में मुख्य ये हैं—

(१) एक शिक्षक के नाते स्पिनोझा अपने पाठकोंकी सुविधाकी दृष्टिसे अपने प्रतिपाद्य विषयको अधिक स्पष्ट तथा सुव्यक्त बनाना चाहता था। जैसे एक शिक्षक आकृतियां या चित्रादि खींचकर अपने विषयको सुबोध बनाता है वैसे ही स्पिनोझाका उद्देश्य कुछ इसी प्रकारका है। डेकार्टके दार्शनिक सिद्धांतोंको स्पिनोझाने ठीक इसी हेतु से अर्थात् अपने एक शिष्यको पढानेके लिये ज्यामितिके बाह्याकारमें रूपांतरित किया था। स्पष्टही यदि यह कारण ठीक है तो इसमें प्रतिपाद्य विषयकी आंतरिक आवश्यकता एकदम अर्थशून्य जान पडती है।

(२) स्पिनोझा द्वारा ज्यामितिके बाह्याकार उपयोग का दूसरा कारण सत्रहवीं शताब्दिमें दार्शनिक क्षेत्रमें नित नई विचार प्रदर्शन की शैलियोंकी अराजकताके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में भी हो सकता है। इस अराजकताका भी एक इतिहास है। पुनर्जागृतिकालमें मध्ययुगीन तर्ककर्कश रूखी शैली के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और तात्विक विषयोंके प्रतिपादनमें अधिक रोचक तथा चित्ताकर्षक नई नई शैलियोंका अवलंब किया जाने लगा, यथा संवादात्मक या काव्यमय या आलंकारिक तथा गद्यमय इ.। परंतु ये नूतन प्रयोग एकदम विफल हुए, कारण इनमें आलंकारिक तथा मनोहर शब्दोंकी भरमारमें यथार्थता, युक्तियुक्तता इ. का ही लोप हो गया। स्पिनोझाको सुसंबद्ध शास्त्ररचना का श्रेय प्राप्त है, अतएव संभव है कि उसका उद्देश इस अराजकता के विरुद्ध एक ऐसी कृति निर्माण करना हो जो उपर्युक्त सब दोषों से मुक्त होने के साथ ही सर्वमान्य हो। इस दृष्टि से मध्ययुगी शैलीका अनुसरण तो सर्वथा अस्वीकरणीय था। परंतु चूंकि गणित को अत्यंत सम्मानका पद प्राप्त था, अतएव संभव है कि उपर्युक्त कारण के साथ ही

1 A Study of the Ethics of Spinoza by Joachim p. 12.

स्पिनोझाने इस कारण से भी अपना तात्विक ग्रंथ इसी रूप से लिखने का निश्चय किया हो।

(३) एक कारण यह भी हो सकता है कि इस प्रकार के विवेचन में पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष, खंडनमंडनादिके द्वारा ग्रंथको जटिल बनानेसे बचनेके अवसर अधिक थे। स्पिनोझाको इस प्रकार के खंडनमंडनादि में अधिक रुचि नहीं थी। उसने एक पत्र में लिखा है, "दूसरोंकी गलतियाँ प्रकट करते बैठनेका मुझे अभ्यास नहीं है।–

"It is not my custom to expose the errors of others."

अन्यत्र वह इससे भी कडे शब्दोंमें इस प्रकारकी चर्चामें अरुचि प्रकट करता है– "प्रत्येक मनुष्यकी उलटी सीधी कल्पनाओंकी चर्चा करनेके लिये मैं बाध्य नहीं हूं।–

"I am not bound to discuss what every one may dream."

नीतिशास्त्रके प्रस्तुत रूपमें हम मुख्यतः स्पिनोझाके अभिमत सिद्धांत सार रूपमें पाते हैं। इसलिये इसके संबंध में यह कहा गया है कि इतने थोडेसे पृष्ठोंवाला यह ग्रंथ संसारके श्रेष्ठ दार्शनिक ग्रंथोंकी मालिकामें स्थान पाता है–

"It is thus one of the shortest of the great philosophical classics of the world." 1

स्पिनोझाके इन कथनके विरुद्ध कि 'मैं मनुष्य की क्रियाओं और वासनाओंका ठीक उसी प्रकार वर्णन करूंगा, मानो मेरे विचारके विषय रेखाएं, समधरातल या पिंड हों' अनेक आक्षेप उठाए गये हैं। इनमेंसे एक यह है कि मनुष्य रेखाएं, समधरातल या पिंड नहीं; अतएव इस प्रकारका विचार वास्तविक वस्तुस्थिति का द्योतक नहीं हो सकता। यह कहना पडता है कि इस प्रकारका आक्षेप इस कथनके वास्तविक रहस्यको ध्यान में न लाने के कारण ही उपस्थित हो सकता है। जब स्पिनोझा मानवीय क्रियाओं तथा भावोंका विचार ज्यामिति-पद्धतिसे करनेकी प्रतिज्ञा करता है, तब इस कथनका यह अर्थ नहीं कि वह मनुष्योंको या उनके भाव क्रियादिको ही ज्यामिति के विषय समझता हो। जैसा कि आगे चलकर हम भावोंके विवेचनमें देखेंगे यह तो निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि का पुरस्कार और तात्विक क्षेत्र में इस दृष्टिकोणकी आवश्यकता का प्रतिपादन है। यहां पर यह न भूलना चाहिये कि डेकार्ट और स्पिनोझा को विज्ञान से मुख्यतः गणित विज्ञान ही अभिप्रेत था। स्पिनोझा यह नहीं चाहता था कि मनुष्य भावों इ० के विषयमें अपनी अच्छी बुरी कल्पनाएं बनाकर फिर इन कल्पनाओंके आधार पर उनका निर्णय या मूल्य निर्धारण करें, वैज्ञानिक या गणितीय दृष्टिकोण तो समस्त वस्तुओंको मानव कल्पनाओंके निरपेक्ष देखता है। इसमें किसी प्रकार का लगाव नहीं होता, ज्यामिति-पद्धति से मुख्यतः स्पिनोझा को यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अभिप्रेत है जिसमें व्यक्तिनिरपेक्ष वास्तविक वस्तुस्थितिका ही विचार होता है। स्पिनोझाके विचारोंका प्रारंभ तो इस वैज्ञानिक दृष्टिकोणमें अवश्य होता है, परंतु इस सुदृढ आधार पर स्थित उसके अंतिम दार्शनिक निष्कर्ष इस दृष्टिकोणकी मर्यादाओंसे ऊपर उठ जाते हैं, अंत तक इसी में बंधे नहीं रहते।

स्पिनोझाकी इस पद्धतिके कारण उसके विचारोंपर एक और आक्षेप यह है कि इसके कारण उसके विचारोंकी अमूर्तता (Abstractness) और भी बढ जाती है। यदि यह आक्षेप ठीक है तो यह अमूर्तता किसी हदतक इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण की द्योतक है। वैसे तो स्पिनोझा स्वयं अमूर्त विचारों या कल्पनाओंका घोर विरोधी था, वह जहां तक संभव हो मूर्त वस्तुओंसे संबंध न तोडते हुए ही उनमें ईश्वरीय स्वभावकी आवश्यकताको दिखलाना चाहता था–"The more we know individual things, the more we know God" अर्थात् जितना ही अधिक हम विशिष्ट वस्तुओंको समझते हैं, उतना ही अधिक हम ईश्वर को समझते हैं। स्पिनोझा के इसी कथन ने जर्मन कवि गेटे (Goethe) को अत्यधिक रूपसे आकर्षित किया था। अपने 'बुद्धिका सुधार' में स्पिनोझाने कहा है–...

"Such mistakes arise from things being conceived too much in the abstract. However if we proceed with as little abstraction as possible, and begin from primary elements ...... we need not fear any deceptions of this kind."

इस अवतरणसे स्पिनोझा का 'अमूर्तता' विरोधी दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है, कारण उसके अनुसार अधिकांश गलतियों की जड यही है।

---

1 Spinoza by Leon Roth p. 36

"कुछ अधिक सहानुभूतिपूर्ण आलोचकोंकी दृष्टिसे स्पिनोझा की दार्शनिक रचनाको ज्यामिति-पद्धति तथा ज्यामितिके बाह्याकारके कारण अपनी तरहका एक अनोखा स्थान प्राप्त होता है। उनकी दृष्टिसे यह सिर्फ वैचारिक रचना न होकर यह एक कलात्मक कृति भी है। दृष्टिकी वैज्ञानिकता, नैतिक मूल्योंके लिये अपूर्व उत्साह, रचनाकी पूर्ण रूपसे सुसंबद्धता तथा संपूर्णता, मानव जीवनके यावत् क्षेत्रों का आलोडन करनेवाली व्यापकता, साथ ही उदारता, लक्ष्य की एकाग्रता इत्यादि संक्षेपमें ये हैं स्पिनोझाकी कृतिकी मुख्य विशेषताएं।

परंतु फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि क्या तात्विक विषयोंके निरूपणके लिये ज्यामिति–पद्धति या ज्यामितिका बाह्याकार अनुकूल या उपादेय या सर्वथा निर्दोष है ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट ही निषेधात्मक है। ज्यामितिके बाह्याकारके कारण इस ग्रंथकी जटिलता निस्संदेह बढ जाती है। इस जटिलताका एक और कारण यह है कि स्पिनोझाका यह ग्रंथ सूत्ररूप है, उसमें पूर्वपक्षका स्वरूप इतना स्पष्ट नहीं होता। इसके लिये हम स्पिनोझा को अधिक दोष नहीं दे सकते; कारण स्पिनोझाके समयमें मध्ययुगीन कल्पनाएं पूर्ण रूपसे रुढ और प्रचलित थीं, अतएव उनकी ओर संकेत ही पर्याप्त थे। परंतु आज इस ग्रंथको विस्तृत व्याख्याकी सहायता के बिना पूरी तरहसे समझना कठिन है। 1

साथ ही यह कहनेके लिये पर्याप्त आधार है कि स्पिनोझा स्वयं इस पद्धति की अपर्याप्तता का अनुभव करता था। यत्र तत्र उसीके द्वारा दिये गए संकेतोंपरसे यह मालूम होता है कि वह स्वयं इस पद्धति को अनावश्यक रूपसे कृत्रिम, भाररूप या जटिल समझता था। इस प्रकार अपने ही द्वारा लादे हुए कृत्रिम बंधनोंसे हम उसे बीचबीचमें सिर उठाकर खुली हवा में सांस लेते हुए पाते हैं, जब वह कुछ विधानोंके लंबे चौडे स्पष्टीकरणों, परिशिष्टों इत्यादिमें स्वतंत्र रूपसे विवेचन करने लगता है। अनेक स्थलोंपर ज्यामितिके रूपमें विचार प्रकट करनेके पहिले वह उनका आशय पहिलेसे ही समझा देनेका यत्न करता है और कहीं कहीं अधिक स्पष्टीकरण कर सकनेमें अपनी असमर्थता प्रकट करता है। यह तो हुई बाह्याकार की बात, अब स्वयं 'ज्यामिति-पद्धति' की इष्टानिष्टता विचारणीय है।

अधिकांश आलोचकोंने ज्यामिति-पद्धतिको तात्विक विचारके लिये अनुपयुक्त बतलाया है। यह ठीक भी है। गणितशास्त्र और दर्शनशास्त्र इनके क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। वैसे तो प्रत्येक शास्त्रकी अपनी भिन्न और स्वतंत्र प्रक्रिया और पद्धति होती है। एक शास्त्रकी प्रक्रिया और पद्धति दूसरे शास्त्रके लिये उपयुक्त या समीचीन नहीं हो सकती;विशेषकर गणितसरीखे व्यावहारिक अतएव निम्न स्तरवाले शास्त्रकी प्रक्रिया और पद्धति दर्शनशास्त्र सरीखे पारमार्थिक अतएव उच्चस्तरवाले शास्त्रके लिये विशेष उपयोगी न हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। गणितशास्त्र कुछ गृहीत सिद्धांतों और सत्योंपर स्थित है, परंतु वह इन स्वयंप्रमाण समझे जानेवाले सत्योंके मूल तक नहीं जाता। परंतु दर्शनशास्त्रका लक्ष्य एकमात्र अंतिम या पारमार्थिक सत्य होनेसे व्यवहारमें प्रमाणभूत संपूर्ण सत्य पक्षकुक्षिनिविष्ट होनेके कारण परीक्षा विषय बन जाते हैं। दर्शनशास्त्र अन्य शास्त्रोंके मूलभूत सत्योंके भी मूलमें जाना चाहता है। परम मूलमें पहुंचकर ही वह विश्राम लेता है, इसलिये दर्शनशास्त्रको विज्ञानोंकाभी विज्ञान कहा गया है।

"Philosophy is the science of sciences"

इसलिये गणितशास्त्रकी निश्चयात्मकता या स्पष्टता और सुव्यक्तता तात्विक दृष्टिसे ऊपरी (Superficial) है।

पुनः तात्विक क्षेत्रमें इस प्रकारके निःसंदिग्ध और सर्वमान्य स्वयंप्रमाण सत्य प्राप्त करना इतना आसान काम नहीं। इसलिये डेकार्ट ज्यामिति-पद्धतिका अनन्य भक्त होते हुए भी तात्विक क्षेत्रमें संश्लेषणात्मक (Synthetic) पद्धतिकी सफलताके विषयमें साशंक था। परंतु स्पिनोझाको इसकी सफलतामें लेशमात्र संदेह नहीं था। उसकी सर्वेश्वरवादी दृष्टिसे जड चेतन प्रकृति एकही ईश्वरके दो रूप होनेसे जिस प्रकार ज्यामिति-पद्धति स्थलके विचारके लिये पर्याप्त है उसी तरह वह मनुष्य तथा उससे संबंध रखनेवाली समस्त बातोंके विचारके लिये भी पर्याप्त है। परंतु इस पद्धतिके कारण उसके विचारोंकी दुरूहता बढ जाती है और उनमें कुछ असंगतियां भी आती हैं, जिनके कारण अनेक स्थलोंपर उसके यथार्थ मत समझनेके लिये

---

1 कुछ ही वर्षोंपूर्व प्रो. वॉल्फसनने इस प्रकारकी व्याख्या लिखकर स्पिनोझाके ग्रंथ की समझने की एक बडी कठिनाई दूर कर दी है।

ज्यामिति-पद्धतिकी मर्यादाओंसे बाहर उसके अनुभवादि की शरण लेनी पडती है ! स्पिनोझा स्वयं अंतिम प्रकरणमें अपनी इन कृत्रिम मर्यादाओंसे ऊपर उठता हुआ दिखाई देता है। इसी लिये उसके संबंधमें यह कहा गया है कि वह बहुधा अपनी पद्धतिसे श्रेष्ठतर है। "Spinoza is often greater than his method." 1 और भी 'शायद उसके दर्शनका अत्यधिक मूल्यवान् भाग वह है जिसमें उसकी पैनी तत्वचिंतक दृष्टि स्वयं अपनेही द्वारा लगाए हुए बंधनोंसे ऊपर उठती है।' "Perhaps the most valuable part of his philosophy is that in which his keen speculative insight rises above his self imposed restraints' 2

'दर्शन' शब्दके पारिभाषिक अर्थके द्वारा हम स्पिनोझाके ज्यामिति-पद्धतिको अत्यधिक महत्व देनेका निष्पक्षता, तटस्थतादि उपर्युक्त कारणोंके अतिरिक्त एक और भी कारण समझ सकते हैं। वह यह है कि जिस प्रकार ज्यामितिके सत्य विश्वमें या निसर्गमें पहिलेसे ही है, हम सिर्फ उन्हें अपनी परिष्कृत दृष्टिसे देख भर लेते हैं, उसी प्रकार तत्वदृष्टिके द्वारा हम निगूढ पारमार्थिक सत्योंको देख भर लेते हैं। ज्यामितिके सत्योंका उनकी व्यावहारिकताके कारण मर्यादित मूल्य है, परंतु दार्शनिक सत्योंके पारमार्थिक मूल्यके कारण उनकी प्राप्तिसे मानव जीवनकी इति कर्तव्यताकी पूर्ति होती है और बंधकी निवृत्ति होकर मोक्ष तथा अमरत्व का लाभ होता है। ज्यामिति पद्धतिसे यदि सिर्फ इतनाही अभिप्राय हो तो भला इसमें विवाद ही क्या हो सकता है ?

परंतु स्पिनोझा गणितशास्त्रके लिये अपने अत्यधिक उत्साहमें इससे बहुत अधिक आगे बढ जाता है और अनावश्यक रूपसे गणितशास्त्रकी गौण बातों को भी अपने ऊपर लाद लेता है। इसके कारण उसकी सुंदर कृतिमें कुछ त्रुटियोंका आ जाना अपरिहार्य है। परंतु इन त्रुटियोंके कारण उसके दार्शनिक विचारों का मूल्य किसी प्रकार कम होता हो यह बात नहीं। कारण उसके तात्विक विचारोंको ग्रथित करनेवाला यह ग्रंथ एक दीर्घ कालके मनन तथा आत्मचिंतनका परिपाक है। उसके दार्शनिक विचार आध्यात्मिक अनुभूतिमूलक एक विशिष्ट दृष्टि द्वारा प्राप्त है जिसका किसी भी पद्धतिसे तत्वतः संबंध नहीं-

"His philosophy is the logical sequel to that of Descartes, but the Cartesian philosophy only supplied or suggested a dialectic for convictions that were the independent growth of his own moral and spiritual experience" 3

इसलिये स्पिनोझाके इन विचारोंको 'दर्शन' शब्द यथार्थताके साथ लागू होता है। स्पिनोझा अपने इन दार्शनिक विचारोंको वैज्ञानिक ढंगसे प्रकट करना चाहता था। अतएव उसने ज्यामिति पद्धतिको इसके अनुकूल जानकर इसका उपयोग किया। इस पद्धतिके अवलंबके कारण उसके ग्रंथमें जैसे कुछ दोष आगए हैं, वैसे ही गुण भी कुछ कम नहीं। परंतु सच्चे जिज्ञासु को इन कृत्रिम गुण दोषों का यथायोग्य परामर्श लेते हुए भी इनसे ऊपर ऊठकर उसके दार्शनिक विचारोंके अंतस्तलकी थाह लेनी चाहिये, क्योंकि—

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः।

(श्रीमद्भागवत ११।१९।४५)

—xox—

1 Spinoza by John Caird, p. 120 (2) Ibid.

3 Spinoza by John Caird, p. 8

(२)

तात्त्विक खण्ड

[Metaphysics]

[प्रकरण ५]

ईश्वर, परमार्थ वस्तु या मूल तत्व (Substance)

" हरिरेव जगत् जगदेव हरिः हरितो जगतो नहि भिन्नवपुः ।
इति यस्य मतिः परमार्थ गतिः स नरो भवसागरमुद्धरति ॥ "

स्पिनोझाका प्रमुख तात्विक ग्रंथ ' नीतिशास्त्र ' पांच भागोंमें विभाजित है- (१) ईश्वरसंबंधी, (२) मनका उगम तथा स्वरूप, (३) भावोंकी उत्पत्ति तथा स्वरूप, (४) मनुष्यका बंध अथवा भावोंका प्राबल्य, (५) ज्ञानका सामर्थ्य अथवा मनुष्यका मोक्ष। इन पांच भागोंमें विभाजित तात्विक ग्रंथकी तुलना एक ललित पंचांकी नाट्य कलाकृतिसे की गई है, जिसके पहिले भागमें उन व्यापक शाश्वत तत्वोंका विवेचन किया गया है जो हमारे दृष्टिपटलके सम्मुख मानव जीवनकी भव्य तथा अनंत पार्श्वभूमि का उद्घाटन करते हैं।

स्पिनोझाके तत्वज्ञानका प्रारंभ वेदांत-दर्शनके समान ही पारमार्थिक वस्तुकी सिद्धिसे होता है और वेदांतके समान ही उसकी परिसमाप्ति इसी पारमार्थिक वस्तुकी प्राप्तिमें होती है। हम यह कह चुके हैं कि ज्यामिति-पद्धतिके अनुसार थोडेसे स्वयंसिद्ध सत्यों तथा कुछ परिभाषाओंके आधारपर अनेक महान् साध्य निगमित होते हैं। अतएव परमात्म वस्तुके समान स्वयंसिद्ध तत्वसे उसके तात्विक विवेचनका प्रारंभ होना ठीक ही है। अपने ' बुद्धिका सुधार ' नामक ग्रंथमें भी स्पिनोझाने यही लिखा है कि किसी भी सर्वांगपूर्ण विवेचनका मुख्य आधार होना चाहिये वह निरतिशय पूर्णातिपूर्ण चैतन्य तत्व जो अपूर्व तथा अनंत हो, अर्थात् जो एक मात्र विशुद्ध पारमार्थिक या चरम सत्य हो, जिसके अतिरिक्त कोई सत्य न हो; अतएव वस्तुजातका एकमात्र यथार्थ ज्ञान वही है जिसका प्रारंभ तथा पर्यवसान इसी परम सत्यमें हो।

स्पिनोझाने समस्त विश्वकी उपपत्ति तीन प्रधान वस्तुओंसे लगानेका प्रयत्न किया है, जिनसे अन्य सब बातें ज्यामिति-पद्धतिके अनुसार निगमित होती है। पहिली वस्तु है स्वयं-सिद्ध, स्वयंप्रकाश पारमार्थिक सत्य, जिसकी व्याख्या स्पिनोझाके अनुसार इस प्रकार है- " मूल तत्वसे (Substance) मेरा अभिप्राय उस वस्तुसे है जो स्वयंसिद्ध हो, और जो अपने ही द्वारा जानी जा सके, अर्थात् जिसका विचार पूर्णतया अन्यविचारनिरपेक्ष किया जा सके×। " दूसरी वस्तु है गुण (Attributes) जिनके द्वारा बुद्धि इस पारमार्थिक वस्तुके तत्वका आकलन करती है- " गुणसे मेरा अभिप्राय उससे है जिसे बुद्धि यह समझती है मानो वह मूलवस्तुका तत्व हो * " तीसरी वस्तु है प्रकार (Modes) जो स्वयंसिद्ध न होकर किसी अन्य वस्तु के रूपांतर हो और जिनका आकलन उस अधिष्ठानभूत वस्तु के बिना न हो सके- " प्रकारोंसे मेरा अभिप्राय मूलतत्वके परिणामोंसे है या उनसे जिनका अस्तित्व स्वातिरिक्त किसी वस्तुमें हो, और जिनकी कल्पना उस वस्तुके द्वारा की जा सके " +। जैसा कि हम आगे

× Ethics Bk. i def. 3 तु. " इतराप्रकाश्यत्वे संविदविषयत्वे वा सति प्रकाशमानत्वम् ।"

* Ibid def. 4 इस व्याख्यामें ' मानो ' या इवकार महत्वपूर्ण है।

+ Ibid def. 5

चलकर देखेंगे प्रकारों से तात्पर्य अंतर्बाह्य सृष्टिकी घटक उन समस्त एकदेशी परिच्छिन्न वस्तुओंसे है जिनसे नामरूपात्मक जगत्की हमको प्रतीति होती है, तथा जिनमें बाह्य जगत्की जड वस्तुओंके समान हमारी आंतरिक चेतनाकी विभिन्न अवस्थाओंका भी समावेश है । इन तीनों वस्तुओंके स्वरूप तथा इनके परस्पर संबंधोंका विचार हम क्रमशः करेंगे।

मूल तत्व स्वयंसिद्ध है। इसका अस्तित्व किसीके अधीन नहीं, परंतु अन्य सब वस्तुओंका अस्तित्व इसके अधीन है। यह अन्य सब वस्तुओंका प्रकाशक है+। अतएव यह एक, अनंत तथा अपरिच्छिन्न है;कारण सर्वथा निरपेक्ष, स्वयंसिद्ध, स्वयं प्रकाशवस्तु न तो देशकाल तथा वस्तुपरिच्छेदसे मर्यादित हो सकती है और न एकसे अधिक ही हो सकती है। अनंतता स्वयंसिद्धताकी और अद्वितीयता अनंतता की अनुगामिनी है । इस प्रकार पारमार्थिक वस्तु स्वगत, सजातीय, विजातीय भेदरहित भी है।

यहांपर स्पिनोझाका डेकार्टके साथ साम्य तथा विरोध देख लेना चाहिये । स्पिनोझाकी मूल तत्वकी परिभाषा डेकार्टकी मूल तत्वकी परिभाषासे बिलकुल मिलती जुलती है। परंतु डेकार्टने जीव तथा भौतिक जगत्को सापेक्ष या जन्य मूल तत्व कहा था । स्पिनोझाने मूल तत्व की एकता प्रस्थापित करके जीव तथा भौतिक जगत्के 'तत्व' को यह कह कर निकाल लिया कि सापेक्ष या जन्य मूल तत्व वदतोव्याघात है । मूल तत्व एक ही हो सकता है जो सर्वथा निरपेक्ष, स्वयंभू, अपरिच्छिन्न तथा अद्वितीय हो । परंतु जीव तथा मूर्त जगत्में तो इनमेंसे एक भी लक्षण नहीं घटता । ये तो सर्वथा सापेक्ष, जन्य, परिच्छिन्न तथा सद्वितीय हैं। इस प्रकार स्पिनोझाने डेकार्टके मतकी एक प्रमुख तार्किक विसंगतिका सफलतापूर्वक निराकरण किया । मूल तत्वकी एकतापर जोर देकर स्पिनोझाने डेकार्टके साथ ही मध्य युगके समस्त दार्शनिकोंका उनके तत्वविचारके मूल स्रोत एरिस्टॉटलके सहित खंडन कर दिया, कारण ये सब कुछ विशिष्ट सांत पदार्थोंको भी मूल तत्व (Substance) कहते थे। एक दृष्टिसे स्पिनोझाने इन सबकी परिभाषाका खंडन न करके उसका अर्थ अधिक तर्कसंगत रूपसे किया। इन्हींकी परिभाषाको लेकर उसने मूल तत्व उसीको कहा जो सर्वथा पारमार्थिक रूपसे सत्य हो, स्वयंसिद्ध हो, नितांत निरपेक्ष हो, जिसका अस्तित्व आवश्यक रूपसे हो, जिसकी सत्तासे सबको अस्तित्व लाभ हो, तथा जिसकी सत्ताके अभावमें किसीकी सत्ता संभव न हो सके । इसके विपरीत जो वस्तु किसी भी प्रकार अपने अस्तित्वके लिये किसी अन्य वस्तुपर निर्भर हो, जो जन्य अतएव सांत, परिच्छिन्न या सापेक्ष हो या जिसका अस्तित्व संभाव्य कोटिका हो, आवश्यक नहीं, वह मूल तत्व न होकर मूल तत्व पर अधिष्ठित प्रकार मात्र है। मूल तत्व एकही हो सकता है जिसका अधिक परिचित नाम ईश्वर है।

ईश्वर या मूल तत्त्व नितांत अन्यनिरपेक्ष होकर अपने ही द्वारा विचारका विषय हो सकता है- इस कथनका तात्पर्य इसकी अचिंत्यरूपता बतलानेमें है। जो वस्तु अन्य किसीके द्वारा न जानी जा सके, वह अचिन्त्यके सिवा और क्या हो सकती है ? इसका स्वरूप अचिन्त्य, अपरिमेय, अनिर्वाच्य और लक्षणातीत या वाच्यार्थ अविषय है । समस्त मध्ययुगीन दार्शनिक भगवत्तत्वकी अचिंत्यरूपतामें एकमत हैं और इस विषयमें स्पिनोझा इनसे पूर्ण सहमत है । अचिंत्यरूप होते हुए भी परमार्थतत्त्व सर्वथा अगम्य नहीं । बुद्धिगत ज्ञानके लिये तो वह अगम्य जरूर है, तथापि वह साक्षात्कारात्मक ज्ञानगम्य है।

ऊपर मूल तत्व या परमार्थ वस्तुको एक और अद्वितीय कहा जा चुका है । परंतु मूल वस्तु एक है यह कहना भी सर्वथा उचित नहीं×। इस कथनका तात्पर्य परमार्थ वस्तुमें एकत्व संख्या इस गुणकी स्थापना करना नहीं है, किंतु अद्वितीयताका तात्पर्य सद्वितीयताका अभाव निर्देशित करनेमें ही है। इसी प्रकार स्वयंप्रकाशतत्वका तात्पर्य परप्रकाशत्वाभावमें और अनंतताका तात्पर्य सांतत्वाभावमें ही है, क्योंकि किसीभी प्रकारका निश्चयात्मक वर्णन उसके विपरीत अभावका अर्थात् मर्यादाओंका द्योतक होता है*। इसी भावको लेकर स्पिनोझाने कहा है- "All determination is negation." वेदांतीभी यही कहते

+ तु. "अन्यानवभास्यत्वे सति स्वव्यतिरिक्तसकलावभासकत्वम्।"- वेदांत के अनुसार स्वप्रकाशत्वकी व्याख्या ।

× तु. "न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्यान्न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम्"- शंकराचार्यकृत दशश्लोकी श्लोक १०

* यह भाषा वेदांतसे मिलती जुलती है । तु. -'परप्रकाश्यत्वाभावो हि स्वप्रकाशत्वम्, कालपरिच्छेदाभावो नित्यत्वम्, देशपरिच्छेदाभावो विभुत्वम्, वस्तुपरिच्छेदाभावः पूर्णत्वमित्यादि।' अद्वैतसिद्धि पृ. १५६, और भी "अनृतजडविरोधिरूपमन्तत्रयमलबंधनदुःखताविरुद्धम्"... संक्षेपशारीरक, प्रथम अध्याय श्लोक १

है कि ब्रह्म वाच्यार्थ या अभिधा शक्तिका विषय नहीं हो सकता, वहां तो लक्षणाकी ही गुजर है। पाश्चात्य दर्शनमें भी एरिस्टॉटल तथा मध्ययुगीन दार्शनिकोंको यह बात सम्यक् विदित थी। उदाहरणके लिये-

'As regards the negative attributes, such as Living, only, First and Last, they are given to Him in order to negative their contrasts, but not to establish them in the sense we understand them. 1

अर्थात् "जहांतक निषेधात्मक विशेषणोंका संबंध है यथा जीवित, एकमात्र, आदिम और अंतिम, ईश्वरके विषयमें इनका उपयोग इनके विरोधी भावोंका अभाव बतलानेमें है, न कि इनके सामान्यतया हमें ज्ञात वाच्यार्थकी प्रस्थापना करनेमें।', तात्पर्य यह कि परमार्थ वस्तुके वर्णनमें एकमात्र 'नेति' 'नेति' की भाषाकी समीचीनता भारतीय वेदांतियोंकी तरह एरिस्टॉटल, अधिकांश मध्ययुगीन दार्शनिक तथा स्पिनोझा सबने स्वीकार की है।

इस परमार्थ वस्तुका नामनिर्देश स्पिनोझाने अलग अलग अवसरोंपर भिन्न रूपसे किया है। कभी इसे मूल तत्व (Substance) कहा है जो यूनानी तथा मध्ययुगीन दर्शनमें पूर्णतया रूढ शब्द था। कभी धर्मशास्त्रकी भाषाका अनुसरण करके इसी मूल तत्वको ईश्वर (God) कहा है; और कभी अपने सर्वेश्वरवादका समर्थन करनेके लिये इसी मूलभूत ईश्वरतत्त्वको उसने प्रचलित प्राकृतिक विज्ञानकी भाषामें प्रकृति (Nature) भी कहा है। कारण जगत्की प्रकृति ईश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई न होकर ईश्वरही अपने नियत स्वभावके अनुसार जगत् हुआ है। जीव तथा मूर्त जगत् ईश्वर तत्त्वके दो पहलू हैं, हैं सब ईश्वर ही। ईश्वर ही जगत्का अभिन्ननिमित्तउपादानकारण है। निमित्तकारणरूपसे स्पिनोझाने उसे सक्रिय सृजनात्मक शक्ति (Natura Naturans) कहा है और उपादानरूपसे सृज्यमान जगत् (Natura Naturata) कहा है। ईश्वरको प्रकृति कहने के कारण स्पिनोझाके विरुद्ध तत्कालीन यूरोपीय जगत्में एक हलचल सी मच गई और उसपर यह आरोप किया जाने लगा कि वह ईंट पत्थरको ही ईश्वर बनाता है। अतएव स्पिनोझाने एक पत्रमें यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृति से उसका आशय किसी अचेतन जड भौतिक द्रव्यसे नहीं है और ये आक्षेप इस गलतफहमीके कारण हैं।

'It is a complete mistake to suppose as some do, that the 'Tractatus theologicc–Politicus tends to identify God and Nuture, understanding by 'Nature' [as these critics do] an inert mass or corporeal matter.' 2

नीतिशास्त्रके प्रारंभमें स्पिनोझाने ईश्वरकी परिभाषा इस प्रकार दी है- "ईश्वरसे मेरा अभिप्राय नितांत निरपेक्ष अनंत सत्तासे है अर्थात् उस मूल तत्वसे जो अनंत गुणोंसे युक्त हो, जिनमेंसे प्रत्येक शाश्वत तथा अनंत तत्वका व्यंजक हो।"3

यहांपर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि स्पिनोझा १३वें विधान तक मूल तत्व तथा ईश्वरको अलग अलग मानकर चला है और चौदहवें विधानमें जाकर वह इस बातको प्रस्थापित करता है कि ईश्वरके अतिरिक्त न तो अन्य किसी मूल तत्व की कल्पना की जा सकती है और न उसका स्वीकार ही। इसका कारण यह है कि सर्वसामान्य प्रवृत्ति ईश्वर तथा मूल तत्वमें भेद करनेकी है, अतएव जनमानसकी इस सामान्य भूमिकासे प्रारंभ करके इसे सदोष बतलाकर दोनोंकी अपृथक्ता बतलाना, बस यही स्पिनोझाका उद्देश्य है। उसकी ईश्वरविषयक कल्पना ईश्वरविषयक मानवगुणारोपणयुक्त साकारवादी सगुण कल्पना (Anthropomorphic conception) की घोर विरोधिनी है; जिसका खंडन उसने अपने ग्रंथमें पग पगपर किया है; और वेदांतकी निर्गुण ब्रह्मकी कल्पनाके बहुत कुछ समीप आती है, जो ईसाई या यहूदी धर्मकी ईश्वरविषयक कल्पनासे कोई मेल नहीं रखती। 4

इस प्रकार ईश्वर, मूल तत्व और प्रकृतिमें कोई भेद नहीं। जो मूल तत्व है वही ईश्वर है- ईश्वरही एकमात्र मूल तत्व है

---

(1) Judah-ha-Levi quoted by Wolfson in Phil. of Spinoza Vol. I. p. 138. (2) Letter 73 (3) Ethics I, Def. 6. (4) वेदांतमें ईश्वर और ब्रह्मको अलग रखनेसे दार्शनिक सुसंबद्धताकी दृष्टिसे अनेक लाभ हैं, परंतु स्पिनोझाके दार्शनिक विचारोंमें यह भेद न होनेसे तार्किक दृष्टिसे कुछ दोष आते हैं, यद्यपि अनुभूतिकी दृष्टिसे इनका विशेष मूल्य नहीं।

और मूल ईश्वरतत्त्वही प्रकृति है। डेकार्टने ईश्वर और मूल तत्वका समीकरण किया था और ब्रूनोने ईश्वर और प्रकृतिका, परंतु स्पिनोझाने तीनोंको मिलाकर एक कर दिया—

'Substance = God = Nature. The equation of God and Substance had been announced by Descartes, but not adhered to, while Bruno had approached the equation of God and Nature Spinoza decisively completes both and combines them.'[1]

अर्थात् मूलतत्व = ईश्वर=प्रकृति.ईश्वर और मूल तत्वके समीकरणकी घोषणा डेकार्टने की थी, परंतु वह इसपर टिक न सका; जब कि ब्रूनो ईश्वर और प्रकृतिके समीकरणके समीप आया था; परंतु स्पिनोझा निश्चयात्मक रूपसे उनको मिलाकर दोनोंकी पूर्तता करता है। "

अब हम स्पिनोझाके 'नीतिशास्त्र'के क्रमानुसार ईश्वरस्वरूप की सिद्धिमें दी हुई युक्तियोंका विवेचन करेंगे।

एकता

एरिस्टॉटल तथा मध्यकालीन दर्शनमें ईश्वरकी एकता दो अर्थोंमें प्रयुक्त होती थी [2]। पहिले अर्थमें यह संख्यावाचक रूपसे अभिप्रेत थी अर्थात् एकेश्वरवादके प्रतिपादन और एकसे अधिक भगवत्तत्वके निषेधार्थ में, या वेदांतकी भाषामें सजातीय विजातीय भेद-राहित्यके अर्थमें। दूसरे अर्थमें भगवत्स्वरूपकी निष्कलता अखंडता या स्वगत भेद-राहित्य अभिप्रेत था। इसी परंपरा का अनुसरण करके स्पिनोझाने विधान २–६ तक पहिले अर्थमें एकता का निरूपण किया है और विधान ७-१३ तक दूसरे अर्थमें। प्रथमार्थ में प्रयुक्त एकताका विवेचन हम ' अद्वितीयता ' इस शीर्षक के अंतर्गत करेंगे और द्वितीयार्थमें प्रयुक्त एकताका " निष्कलता " इस शीर्षकके नीचे।

१. अद्वितीयता।

मूल तत्वकी व्याख्यामें यह बतलाया जा चुका है कि जो सत्ता परावलंबी या किसी प्रकार यथार्थगर्भित हो (Conditional) वह मूल तत्व नहीं कहला सकती। मूलतत्वकी सत्ता आवश्यक है। वि. २-६तक स्पिनोझाका प्रच्छन्न रूपसे आक्षेप मुख्यतः एरिस्टॉटल और मध्ययुगीन दर्शनके मूल तत्व विषयक उस द्वैतसे है जो एक ओर शुद्ध चैतन्य और अमूर्त ईश्वरको तथा इसके विपरीत मूर्त जड जगत्को अलग अलग और परस्पर विरोधी मानता है और दोनोंको मूल तत्व (Substance) कहनेसे नहीं हिचकिचाता। मूल तत्वकी एकताके विवेचनमें स्पिनोझाका उद्देश सृष्टिरचनाकी मीमांसाद्वारा उपर्युक्त द्वैतको असमर्थनीय बतलाना ही है। कारण स्पिनोझाके मतमें जब ईश्वरही जगत् हुआ है या अधिक यथार्थ शब्दोंमें जब ईश्वरही जगत् है तब ईश्वर और जगत् में विरोधका प्रश्न ही कहां रहा ? यहींपर उसके सर्वेश्वरवादका स्वरूप क्रमशः व्यक्त होने लगता है। परंतु जिनके मतमें ईश्वर और जगत् इन दोनोंमें घोर विरोध है उनके सम्मुख चेतन ईश्वरसे जड जगत् की उत्पत्तिके विषयमें अनेक कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, जिनके उत्तरके लिये उन्हें नाना प्रकारकी कल्पनाओंका आश्रय लेना पडता है, तिसपरभी समाधान कारक उत्तर तो नहीं ही मिलता। स्पिनोझाने यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि अमूर्त ईश्वर और मूर्त जगत्के बीच इन दार्शनिकों द्वारा प्रस्थापित कार्यकारणभाव असंगत है और इस विषयमें इन दार्शनिकों द्वारा दिये गए प्रमाण सदोष हैं जो मुख्य कठिनाई को स्पर्शही नहीं करते।

स्पिनोझाके अनुसार अमूर्त ईश्वर और मूर्त जगत् ये परस्परविरोधी दो मूल तत्व नहीं हो सकते। कारण यदि वे दो हों तो या तो वे बिलकुल भिन्न होंगे, या बिलकुल अभिन्न। दोनोंमेंसे कोई भी पक्ष स्वीकार करनेसे दोषापत्ति है। प्रथम पक्ष स्वीकार करनेसे यह मानना पडेगा कि विभिन्न गुणोंसे युक्त दो मूल तत्वोंमें कोई भी बात उभयसाधारण नहीं होती, [1] क्योंकि मूल तत्वकी परिभाषा यही है कि वह स्वयंसिद्ध और अन्यविचारनिरपेक्ष अपने ही द्वारा विचारविषय होता है।

लेकिन इस उभयसामान्याभावका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उनमें किसीभी प्रकारका कार्यकारणसंबंध असंभव होगा, कारण " उभयसामान्यहीन दो वस्तुओंमें एक दूसरीका

(1) Hist. of Mod. Phil. by Richard Falckenberg, p. 125.

(2) Phil. of Spi. Wolfson, Vol. I, p. 113

(3) Ethics I prop. 2

कारण नहीं हो सकती " 1 क्योंकि यह स्वयंप्रमाण सत्य है (Axiom) कि " जिन वस्तुओंमें कुछ भी समान नहीं होता उनमेंसे एकका ज्ञान दूसरीके द्वारा नहीं हो सकता। " 2 परंतु यह तो निर्विवादही है कि " कार्यका ज्ञान कारणके ज्ञानपर निर्भर होता है तथा कारण ज्ञान गर्भित होता है " ❀

द्वितीय पक्षमें यदि ईश्वर और जगत् बिलकुल भिन्न न होंगे तो वे बिलकुल अभिन्न ही होने चाहिये। इन दोनोंके अतिरिक्त तीसरा मध्यम मार्ग ही नहीं। कारण वस्तुओंको दो या पृथक् तभी कहा जाता है जब उनके स्वरूप या तटस्थ लक्षणोंमें भेद हो।" दो या अधिक भिन्न वस्तुओंका अंतर या तो मूल तत्त्वोंके गुणोंके अंतरसे या उनके परिणामोंके अंतरसे किया जाता है।"× इसके परिणामस्वरूप यदि ईश्वर और जगत् समानप्रकृतिक होंगे और यदि उनके स्वरूप तथा तटस्थ दोनोंमेंसे कोई भी लक्षणोंमें अंतर न हुआ तो वे दो नहीं कहे जा सकते, कारण 'समानप्रकृतिक या समान गुणोंसे युक्त दो या दोसे अधिक मूलतत्त्वोंका अस्तित्व विश्वमें नहीं हो सकता+।" मूल तत्वोंको अनेक माननेसे वे एक दूसरेसे अपने गुणोंके कारण या परिणामोंके भेदके कारण पृथक् होंगे। यदि वे गुणोंके भेदके कारण पृथक् हैं तो वे या तो सर्वथा पृथक् होंगे या सर्वथा अपृथक्, उनमें कुछ साम्य, कुछ वैषम्य यह संभव नहीं। गुण समान होनेसे मूल तत्व एकसे अधिक संभव नहीं। परिणामोंके भेदके द्वारा भी मूलतत्वकी अनेकता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि "मूल तत्व स्वभावतः ही अपने परिणामोंके पूर्ववर्ती हैं।"✱ अतएव परिणामोंको छोडकर तत्व मात्रका विचार करनेसे एकसे अधिक मूलतत्व हमारी कल्पनामें नहीं आ सकता। मूलतत्वकी और ईश्वरकी परिभाषाकी ओर देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यदि कहा जाय कि ईश्वर और जगत्में यही भेद है कि एक दूसरेका कारण है तो यह भी असंभव है। क्योंकि "एक मूलतत्व दूसरे मूल तत्वके द्वारा जन्य नहीं हो सकता✒।" क्योंकि इसके विपरीत पक्ष लेनेसे यह प्रश्न उठता है कि जन्य तत्वके गुण जनक तत्वके गुणोंके समान है या नहीं। द्वितीय पक्ष असंभव है, कारण अभावसे किसी वस्तुकी उत्पत्ति संभव नहीं। इसलिये ईश्वरसे स्वविरोधी जगत्की उत्पत्ति कहना अभावसेही जगदुत्पत्ति कहनेके बराबर है। इससे यह भी उपसिद्धांत निकलता है कि मूल तत्व अपनेसे बहिर्भूत किसी भी वस्तुके द्वारा जन्य नहीं हो सकता। कारण विश्वमें मूल तत्व और मूल तत्वके परिणामोंके सिवा और तो कुछ है ही नहीं और जब एक मूल तत्व दूसरेका जनक नहीं हो सकता, तब मूल तत्व अपनेसे बहिर्भूत किसीसे भी जन्य नहीं हो सकता। और भी, यदि मूल तत्वको बाह्यकारण जन्य माना जाय तो कार्य तत्वका ज्ञान कारणतत्वाश्रित होगा और इसलिये कार्यतत्व मूल तत्वही नहीं रहेगा।

मध्ययुगीन दर्शनमें ईश्वरको जगत्के निस्सरण (Emanation) का कारण माना गया है। इस मतमें चराचर जगत् ईश्वरके दैवी स्वभावका आविष्करण है तथा ईशसंकल्पजन्य है। इस निस्सरणमें भी क्रम है। जड, विकारी, तथा नाशमान जगत् चैतन्य परिपूर्ण तथा नित्य ईश्वरसे साक्षात् उत्पन्न नहीं होता। जड जगत् ईशसंकल्पके सृजनका अंतिम स्तर है। ईश्वर शुद्धचिति है और उसमें केवल संकल्प उठता है। लेकिन इस संकल्पमें सृजनशीलता होनेसे उसकी पहिली परिणति महत् या बुद्धितत्वमें होती है, जो ईश्वरकी तरह ही अभौतिक है; तथापि वह ईश्वरसे निम्न स्तरपर है, कारण वह जन्य कोटि प्रविष्ट है। महत्तत्त्व दूसरे बुद्धितत्व तथा मंडलमें परिवर्तित होता है और इसी प्रकारके क्रम विकासके अंतमें कहीं दूर जाकर सर्वथा जड जगत् उत्पन्न होता है,जिसमें उन अपूर्णताओंका समावेश होता है जिनका ईश्वरके शुद्ध चिन्मय रूपमें अभाव था। स्पिनोझाका इस मतके विरुद्ध मुख्य आक्षेप यह है कि चेतन ईश्वरसे अचेतन जगत् मूल कारणमें किसी न किसी प्रकार हुए बिना आया कैसे? इस कठिनाईकी ओर स्वयं मध्ययुगीन दार्शनिकोंका भी ध्यान गए बिना न रह सका था और इसका हल उन्होंने यह कहकर दिया कि ईश्वर किसी आवश्यकतासे प्रेरित होकर सृष्टिरचनामें प्रवृत्त नहीं होता। सृष्टिरचना ईशसंकल्प तथा ईश्वरकी स्वतंत्र इच्छा-व्यापारपूर्वक योजनाका फल है, अतएव उसमें कुछ भी असंभव नहीं। स्पिनोझाने इन सब बातोंका अपने ग्रंथोंमें घोर विरोध किया है। वह ईश्वरकी अभौतिकता तथा ईश्वरमें इच्छा योजनादि व्यापारोंको बिलकुल स्वीकार नहीं करता। वह ईश्वरको जगत्कारण अवश्य मानता है, परंतु उसके मतमें यह कारणता अहेतुपुरस्सर तथा यांत्रिक स्वरूपकी (Mechanical) है, जिसमें इच्छा तथा योजनाको कोई स्थान नहीं। उसके मतसे संकल्प, इच्छा, योजनादिपूर्वक कृतिका ईश्वरपर आरोप करना

(1) Ethics I Prop. 3. (2) Ibid axiom 5. ❀ Ibid axiom 4. × Ibid Prop. 4. यहांपर यह न भूलना चाहिये कि मूलतत्वोंकी अनेकता यह अभ्युपगम मात्र है। + Ibid Prop.5 ✱ Ibid Prop. 1 ✒ Ibid Prop. 6.

ईश्वरके वास्तविक स्वरूपकी अनभिज्ञताके कारण ईश्वरपर मानव-गुणारोपण करना है। जिस प्रकार मनुष्य भले बुरेका विचार करके हेतुपुरस्सर काम करता है, उसी कल्पनाका आरोप ईश्वरकी कृतिपर करना सर्वथा अनुचित है। ईश्वरकी कारणता उसी प्रकारकी है, उसमें उतनी ही स्वभावकी सहजता या आवश्यकता है जितनी किसी त्रिकोणके तीन कोणोंका योग दो समकोणोंके योगके बराबर होनेमें है। ज्यामितिके इस उदाहरणमें भला कौनसा उद्देश, कौनसी योजना, या कौनसा अंतिम लक्ष्य हो सकता है? यह तो स्वभावकी वह सहजता है जिसमें आवश्यकता तथा अनिवार्यता कही जा सकती है। ईश्वरकी कारणताका यही सचा स्वरूप है। और चूंकि यह आवश्यकता किसी बाह्य शक्तिके नियंत्रणके कारण न होकर स्वभावगत सहजतासे है, अतएव यह सच्ची स्वतंत्र कारणता भी है।

निस्सरणवाद पर स्पिनोझाका एक और आक्षेप यह है कि इस मतमें ईश्वरसे महत् बुद्धितत्व की उत्पत्ति बतलाई गई है। यहांपरभी यही प्रश्न उठता है कि यह बुद्धितत्व ईश्वरसे भिन्न है या अभिन्न? या तो यह सर्वथा भिन्न होगा या सर्वथा अभिन्न। क्योंकि ईश्वर परा सत्ता होनेसे उसमें किसी वस्तुका आंशिक साधर्म्य और आंशिक वैधर्म्य संभव नहीं। यदि गुणोंके कारण भेद माना जाय तो गुण समान होनेकी अवस्थामें ये दो तत्व नहीं कहे जा सकते। गुण भिन्न होनेसे ये सर्वथा भिन्न होंगे इसलिये इनमें कार्य-कारण-संबंध नहीं बन सकेगा। यदि भेद तटस्थ लक्षणों द्वारा है तो मूल स्वरूपमें तटस्थ लक्षणोंकी पहुंच न हो सकनेके कारण दोनोंके स्वरूपमें भेद न हो सकेगा। इस-लिये यह पक्ष भी संभव नहीं। तात्पर्य यह कि चेतन ईश्वरसे जड जगत् की उत्पत्तिके विवेचनमें बुद्धितत्व इत्यादिका आश्रय लेनेसे मूल प्रश्नका समाधानकारक हल नहीं होता, वह वैसा ही रह जाता है। इसलिये चेतन ईश्वर और जड जगत् ये दो मूल तत्व स्वीकार नहीं किये जा सकते। मूल तत्व एकमात्र ईश्वरही है। जड जगत् या विस्तार (Extension) ईश्वरका गुण मात्र है।

२. निष्कलता (Simplicity)

परमार्थ वस्तुमें किसीभी प्रकारकी अनेकताका चाहे वह भौतिक हो, तार्किक या तात्विक ही क्यों न हो सर्वथा अभाव है 1। वस्तु स्वरूपमें सब प्रकारके औपाधिक गुणों (Accidental Qualities) का अभाव है। जो लोग ईश्वरपर औपाधिक गुणोंका आरोप करते हैं "वे मूल तत्व तथा उसके परिणामोंके भेदको भूल जाते हैं 2"। और भी, "वे मनुष्यस्वभाव तथा परमार्थ वस्तुके स्वरूपमें भेद न देखते हुए मानवी गुणोंको परमार्थ वस्तुपर हठात् लाद देते हैं"3। इसी प्रकार पर सामान्य और अपर सामान्य (Genus and species) या प्रधान गुणों (Essential attributes) को भी मूलवस्तुस्वरूपमें कोई स्थान नहीं, कारण ईश्वर किसी पर सामान्य की दृष्टिसे अपर सामान्य नहीं। इसी प्रकार वस्तु 'तत्व' (Essence) और 'अस्तित्व' (Existence) का भेद जो समस्त बाह्य कारणजन्य वस्तुओंमें होता है, इसका भी परमार्थ वस्तुमें सर्वथा अभाव है। 'अस्तित्व मूल तत्वमें स्वरूपतः ही है।"4

यद्यपि ईश्वर नितांत निष्कल तथा निर्गुण है, तथापि उसे अनंत गुणोंसे युक्त भी कहा जा सकता है, जिनमेंसे प्रत्येक शाश्वत तथा पूर्ण है। यह उपर्युक्त ईश्वरकी परिभाषामें स्पष्ट हो चुका है। परंतु प्रस्तुत स्थलमें स्पिनोझा को ईश्वरके विषयमें जो कुछ कहा था वही मूल तत्वके विषयमें भी सिद्ध करना है, इसलिये आठवें विधानमें वह कहता है, 'प्रत्येक मूल तत्व (ईश्वरकी तरह ही) आवश्यक तथा अनंत है।' परिमित या सांत होनेसे वह मूलतत्व ही न रहेगा। जिस प्रकार ईश्वर अनंत गुणोंसे युक्त है उसी प्रकार मूल तत्व भी अनंत गुणोंसे युक्त है, कारण "किसी वस्तुकी सत्ता या सत्यता जितनी ही अधिक होती है, उतने ही अधिक गुणोंसे वह युक्त होती है 5। चूंकि मूल तत्वमें सत्ता या सत्यता अनंत है, इसलिये गुण भी उसके अनंत होने चाहिये। ईश्वरके गुणोंके समानही मूल तत्वका प्रत्येक गुण चिरंतन अनंत तत्व का व्यंजक होना चाहिये, क्योंकि "मूल तत्वका प्रत्येक गुण अपने तईं विचारका विषय अवश्य होता है;" 6 अतएव वह मूल तत्वसे तादात्म्यापन्न और मूल तत्व की तरह अपरिमित होता है। यद्यपि गुण अनंत हैं और उनमेंसे प्रत्येक का ज्ञान एक दूसरेके निरपेक्ष होता है, तथापि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इससे मूल तत्वमें विविधता या अनेकता आ जाती है। क्योंकि कोईभी गुण मूल तत्वकी निर्विभागता को धक्का नहीं पहुंचा सकता 7। "नितांत निरपेक्ष अनंत तत्व सदैव अविभाज्य ही रहता है"8। इस प्रकार यद्यपि हम मूल तत्वमें अनंत गुणोंकी कल्पना कर सकते हैं तथापि मूल तत्व अखंड ही है।

(1) Phil. of Spinoza by Wolfson vol. I p. I15 (2) Ethics I Pro. 8 Note 2 (3) Ibid Prop. 15 (4) Ibid Pro. 7 (5) Ibid Prop. 9 (6) Ibid Prop. 10 (7) Ibib Prop. 12 (8) Ibid Prop. 13

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध.

आषाढ सं. २००१
जुलै १९४४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९५

विषयसूची।

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २९५

वर्ष २५ : : : : अङ्क ७

आषाढ संवत् २००१

जौलाई १९४४

विश्वरूपी प्रभु

स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ॥

(ऋ० २।३३।९)

इस भुवनका ईश्वर (पुरु-रूपः) अनेक रूप धारण करता है, वह उग्र शूरवीर है, वह सबका भरण-पोषण करता है, अपने सुदृढ अवयवों और सुवर्ण सदृश वीर्ययुक्त प्रकाश किरणोंसे वह शोभायुक्त दीखता है। इस त्रिभुवनके ईश्वरसे उसका निज सामर्थ्य कभी दूर नहीं होता ।

ईश्वर विश्वरूप है, वह तेजस्वी है, वह अपने ही प्रकाशसे सुहाता है। उसका सामर्थ्य उसीके साथ सदा रहता है ।

'मरुद्देवता समन्वय' ग्रन्थपर

पूनाके केसरीका अभिप्राय

" चारों वेदोंमें 'मरुत्' देवताके बारेमें जितने भी मन्त्र उपलब्ध हैं उनके सब पदोंकी अकारानुक्रमसे सूचि बनाकर समन्वय तैयार किया गया है; जो कि मरुतोंके समूचे मंत्रोंके संग्रहके साथ ही इसमें देखने मिलता है। अतः इस मंत्रसंग्राहक ग्रन्थमें मरुत् देवतासे संबंध रखनेवाला जो कुछ भी कथन वैदिक वाङ्मयमें पाया जाता है, वह सारा का सारा यहां एकत्रित हो चुका है, क्योंकि मरुतोंका एक भी निर्देश इस सूचीमेंसे छूटने नहीं पाया है।

इसके पश्चात् स्वयं वेदके मन्त्रही क्रमशः देकर उनके आधारपर मन्त्रद्रष्टा ऋषि मरुत् देवताके बारेमें कौनसी धारणा रखते सो विशद कर बतलाया है। इस सप्रमाण विवेचन में 'मरुत्' शब्दकी व्युत्पत्ति, उसका अर्थ, मरुतों के हथियार, मरुतोंका संघ, उनका सामूहिक बल, उनके वस्त्र आभूषण, जनताजनार्दनकी मरुतोंने की हुई सेवा, मरुतोंका साम्यवाद, मरुतोंकी सुन्दरता, उनका अप्रतिहत संचार, विवरकी सडक, उनका औषधिविज्ञान, उनका धन-वैभव, उनके रथ जैसे वाहन, मरुतोंका किया हुआ शत्रुदल विध्वंसन वगैरह अनेक विषयोंपर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तदुपरान्त, मरुतोंमें विद्यमान गुणोंकी जानकारी पानेके लिए, मन्त्रद्रष्टा ऋषिओंने मरुतोंका बखान करते हुए जो पद प्रयुक्त किये थे उन गुणबोधक पदोंकी सूची जोड दी है।

'वीर मरुतोंका काव्य' शीर्षकसे विस्तृत भूमिका लिखी गयी है और मरुद्देवतावाले सभी मंत्रोंका पदपाठ देकर आगे टिप्पणियोंसहित उनका हिन्दी अनुवाद दे दिया है। मरुतोंके वर्णनकी प्रत्यक्ष कल्पना आ जाय इसलिये कुछ चित्र भी दिये हैं। मरुतोंकी सात पंक्तियाँ, उन कतारोंके दोनों ओर सात सात पार्श्वरक्षक इस ढंगसे ६३ मरुतोंके तैयार संघको देखनेपर आधुनिक कवायदी सेनाका स्मरण हुए बिना नहीं रह जाता। इस प्रकार यह ग्रन्थ अर्थातही 'मरुत्' देवताके संबंधमें एक बृहत् कोशही है ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं। आगे चलकर इसी प्रकारके इन्द्र, अग्नि, अश्विनौ उषा, सोम आदि देवताओंके संबंधमें ग्रन्थ लिखे जारहे हैं। पंडित श्री. दा. सातवलेकरजी प्रतिभासंपन्न एवं अविरत उद्योगमें निरत ग्रन्थलेखक हैं, इसी कारण उनकी नयी नयी कल्पनाओं तथा सूझके द्वारा पाठकोंके सामने वैदिक साहित्य प्रस्तुत होता जा रहा है।

इस ग्रन्थके अन्तर्गत पंडित सातवलेकरजी लिखित 'वीर मरुतोंका काव्य' शीर्षक भूमिका मात्र पढ लेनेसे इस समूचे ग्रन्थको पढ जानेका लाभ मिल सकता है। इस प्रस्तावनामें आये 'मरुतोंकी संरक्षणशक्ति,' 'मरुतोंकी सहनशक्ति,' 'स्वयंशासक प्रणाली,' 'शत्रुदलसे जूझना,' 'मरुतोंका धन' 'मरुतोंकी दानशूरता' 'मरुतोंका स्वभाव-चित्रण' जैसे विषयोंकी चर्चा पढलेनेपर वेदग्रन्थोंमें विद्यमान अमूल्य विचारधारासे परिचित होकर पाठक दाँतोंतले उँगली दबाने लगता है। वेदोंके मंत्रोंका आशय तथा अर्थ समझनेका कुछ भी प्रयत्न न करके अंधविश्वासके आधारपर वेदके बारे में जो राय निश्चित की जाती है उसकी व्यर्थता ऐसे चिकित्सक प्रणालीसे लिखे लेखोंद्वारा स्पष्ट हो जाती है।

बडोदा राज्यके श्रीमन्महाराज प्रतापसिंहजीके दिये उदार आश्रयसे ही ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका प्रकाशन होना संभव हुआ है। इसी भाँति यदि अन्य भारतीय नरेश भी आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थोंको सहायता देनेका विचार मनमें लायेंगे तो समूचा वैदिक साहित्य अत्यन्त अद्यतन स्वरूपमें पढना पाठकोंके लिए कोई असंभव बात नहीं। पंडित सातवलेकरजीका यह सुदीर्घ उद्योग सचमुच सराहनीय एवं प्रोत्साहन पानेके लिए सुतरां योग्य है। ऐसे ग्रन्थोंका अवलोकन कर चुकनेपर मनमें यह विचार तुरन्त उठ खडा होता है कि, अत्यन्त प्राचीन वैदिक युगमें भी जनसाधारणमें जो द्रष्टा ऋषि थे उनकी कल्पनाकी उडान कितनी ऊँचाईतक पहुँच गयी हो तथा इस भाँतिकी उच्च-कोटिकी कल्पनाएँ जिस मानवसंघमें प्रचलित थीं वह समाज कितनी प्रगल्भदशामें रहा हो और पाठकका अन्तस्तल सानन्द आश्चर्यकी लहरोंसे आन्दोलित होने लगता है।

बडा बहुरूपिया

'बहुरूपिया' उसे कहते हैं कि, जो स्वयं एक ही होता हुआ अनेक रूप धारण करता है परन्तु पहचाना नहीं जाता। एक दिन पण्डित, दूसरे दिन बनिया, तीसरे दिन किसान, चौथे दिन मजदूर, पांचवे दिन वकील, छठे दिन भिखमंगा, सातवे दिन रोगी, आठवे दिन वैद्य या डाक्तर, नववे दिन गायक, दसवे दिन बजवैया, इस तरह नाना रूपोंको हूबहू धारण करता है। अनेक रूपोंको इतना हूबहू धारण करता हैं कि, देखनेवालेको ऐसा मालूम होता है कि, यह सचमुच वही है कि जो रूप सामने आया है। परन्तु वस्तुतः वैसा नहीं होता। वस्तुतः अनेक रूपोंको धारण करनेवाला रूपों से सर्वदा पृथक् रहता है, अपनी कुशलताकी महिमा बताने के लिये वह बहुरूपिया इन नाना रूपोंको धारण करता है, और अपनी कारीगरी प्रकट करता है, तथा अपनी महिमा व्यक्त करता है।

बहुरूपियाकी कुशलता न पहचानने जानेमें है। यदि हरएकने उसे पहचाना, तो उसमें कोई कुशलता नहीं। थोडे लोग जो विशेष प्राज्ञ हैं, वेही उसे पहचानेंगे, शेष लोग प्रतिदिन अलग अलग आदमी आ रहा है, ऐसा ही समझेंगे, परन्तु जो विशेष ज्ञानी होंगे, वे समझेंगे कि यह वही बहुरूपिया है, जो इन नानारूपोंको धारण करके आता हैं, यह बहुत कुशल और होशियार है।

बहुरूपियाके रूपोंको अलग अलग व्यक्ति मानना फंस जाना है, अतः वह अज्ञानका द्योतक है। इस अज्ञानसे भय मोह और दुःख प्राप्त होगा। यही बंधन है। बहुरूपिया वही एक है, ऐसा पहचानना, उसको एक मानना और वह अपनी कारीगरीसे ये नाना रूप धारण करता है, वह जानना ही ज्ञान है। इस ज्ञानसे निर्भयता प्राप्त होती है, मोह दूर होता है, कारीगरकी कारीगरीकी पहचान होनेसे आनन्द होता हैं। यही बंधनसे निवृत्त होना है। बंध मुक्ति की यह व्यवस्था है। अतः सदैक्यत्वका सिद्धान्त जाननेकी मुक्तिके लिये अत्यंत आवश्यकता है।

परमेश्वर ही बडा बहुरूपिया है कि जो विश्वके नाना रूपोंकी शकलें धारण करता और इन नाना रूपोंमें विचरता है। यह 'त्वष्टा' है अर्थात् बडा 'कारीगर' है, यही बडा कुशल है। यह इतना कुशल है कि, नाना रूपोंके अन्दर इसको पहचानना साधारणसी बात नहीं है। बहुतसे लोग फंस गये हैं और फंस रहे हैं। सब लोग ये नाना रूप परमेश्वरसे पृथक् हैं, ऐसा ही मान बैठे हैं। इन लोगोंकी सहायता करनेके लिये 'वेद' आया है, और वेदने कहा है कि, ये नाना रूप धारण करनेवाला 'एकही बडा बहुरूपिया' है। वेदने उसको 'विश्वरूप, पुरुरूप' ऐसे पदोंसे वर्णन किया है। ये सब रूप उसीके हैं, ये बहुत रूप वही धारण करता है ऐसे वर्णन करके वेद उसको पहचानने की सूचना देता है, पूर्व लेखमें 'विश्वरूप' का वर्णन किया है। इस लेखमें 'पुरु-रूप' का वर्णन करना है। बहुरूपियाको वेदमें 'पुरुरूप' कहा है, देखिये कितने स्पष्ट शब्दोंसे उसका वर्णन वेद कर रहा है-

पुरुरूप इन्द्र

(गर्गो भारद्वाजः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्।)

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

(ऋ. ६।४७।१८)

यही एक इन्द्र (रूपं रूपं) प्रत्येक रूपके लिये (प्रतिरूपः बभूव) उत्तम आदर्श हुआ है। (अस्य तत् रूपं) इस इन्द्रका वही निज रूप (प्रतिचक्षणाय) सबके देखने के लिये है, अर्थात् यही रूप विश्वके रूपोंमें दिखाई देता है। यही इन्द्र (मायाभिः) अपनी अनेक शक्तियों से (पुरुरूपः) अनेक रूप धारण करके सर्वत्र (ईयते) गमन कर रहा है। इसी लिये (अस्य दश शता हरयः) इसके दस सौ अश्व (युक्ताः) नियुक्त हुए हैं।

इन्द्रका निजरूप प्रत्येक पदार्थके रूपमें दिखाई देता है।

जो विश्वमें रूप दीखता है, वह इस इन्द्रका ही रूप है। यही इन्द्र अपनी अनंत शक्तियोंसे अनन्त रूप बनता है, यही उसका विश्वरूप है। प्रत्येक प्राणीके जो इंद्रिय हैं वे इसीकी नाना शक्तियां हैं। मनुष्यके तथा पशुओंके दस इन्द्रिय होते हैं। पञ्च ज्ञानके और पञ्च कर्मके इंद्रिय हैं। प्रत्येक इंद्रियमें सैकडों शक्तियां हैं। इसीलिये मन्त्रमें (दश शताः हरयः) दस शत अश्व कहा है।

एकही इन्द्र अर्थात् एकही प्रभु अपनी कुशलतासे नाना रूपोंमें प्रकट होता है। इस विश्वमें जो ये नाना रूप दीख रहे हैं, वे किसी पृथक् सत्ताके रूप नहीं हैं, परन्तु वे सब के सब एकही प्रभुके रूप हैं।

इस विश्वमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारका, वायु, विद्युत, मेघ, पर्जन्य, वृक्ष, नदियां, तालाब, पशु, पक्षी, मानव, कृमी कीट, पृथ्वी आदि अनंत रूप हैं। सब अज्ञानी लोग मान रहे हैं कि, ये रूप परमेश्वर से सर्वथा पृथक् किसी अन्य सत्ता के रूप हैं। परमेश्वर अदृश्य है अतः ये दृश्य रूप उससे भिन्न किसी अलग सत्ताके रूप हैं।

परन्तु यहां वेद कह रहा है कि, 'प्रभुही अपनी कुशलतासे ये नाना रूप धारण करके विचर रहा है।' अर्थात् ये सब रूप उसीके हैं, उससे पृथक् विभिन्न सत्ताके नहीं हैं। किंवा उससे विभिन्न कोई सत्ताही यहां नहीं है। (एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ. १।१६४।४६) एकही सत् है, ज्ञानी लोग उसका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं। सब रूप उसी एक सत् के होनेके कारण उसी सत्को बहुरूप या 'पुरुरूप,' अथवा 'विश्वरूप' कहा जाता है।

इन्द्र देवताका इस बहुरूपियाके वर्णनपरक एक मन्त्र ऊपर दिया है। इसी देवताके और भी मन्त्र अब देखिए और उनमें इस इन्द्रके (पुरु-वर्पस्) (बहु शरीरधारी) होनेका वर्णन कितना स्पष्ट है सो देखिए-

बहु शरीरधारी इन्द्र

(बृहद्दिव आथर्वणः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्)

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसं ऋभ्वं
इनतमं आप्त्यं आप्त्यानाम्।
आ दर्षते शवसा सप्त दानून्
प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि।
(ऋ. १०।१२०।६)

इन्द्र (स्तुषेय्यं) स्तुत्य, (पुरुवर्पसं) अनेक शरीरोंका धारण करनेवाला (ऋभ्वं) बडा (इनतमं) श्रेष्ठ स्वामी, (आप्त्यानां आप्त्यं) आप्त पुरुषोंमें अत्यंत आप्त पुरुष है। वह अपने (शवसा) बलसे (सप्त दानून् आ दर्षते) सातों राक्षसोंका नाश करता है, तथा (भूरि प्रतिमानि) वैसे ही बहुतसे शत्रुओंको भी (प्र साक्षते) अपने वश करता है।

इस मंत्रमें कहा है कि इन्द्र (पुरु-वर्पस्) अनेक शरीर धारण करता है। इनके अनंत शरीरोंका मिलकर ही यह विश्व बना है अर्थात् विश्वांतर्गत सभी शरीर इन्द्रके ही शरीर हैं।

'पुरुरूप' और 'पुरुवर्पस्' इन दो पदोंका अर्थ एकसा ही है। 'पुरुरूप' का अर्थ 'अनंत-रूपवाला' है और 'पुरु-वर्पस्' का अर्थ 'अनंत्-शरीरधारी' है। जो अनेक शरीर धारण करता है वही अनेक रूपोंका धारण करता है, इसमें संदेह नहीं। अतः ये दोनों पद पाठकोंको मनन करने योग्य हैं।

इन्द्र अनेक शरीर धारण करता है। इस विश्वमें जितने शरीर हैं, वे सबके सब इन्द्रके शरीर हैं। एक ही इन्द्र इन नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करके नाना प्रकारके रूपोंमें दिखाई देता है। अतः 'पुरु-वर्पस्' होना और 'पुरुरूप' होना समान भाव व्यक्त करनेवाला है। गत लेखमें 'विश्व-रूप' का वर्णन किया है। विश्वरूप होनेका ही अर्थ संपूर्ण रूपोंको धारण करना है। इसीसे स्पष्ट है कि अनेक शरीरोंका धारण करना ही अनेक रूपोंका धारण करना है। अर्थात् 'विश्वरूप, पुरुरूप और पुरुवर्पस्' एक ही सिद्धान्तकी पुष्टी करनेवाले तीन पद हैं।

यहां जो दो मन्त्र दिये हैं, वे इन्द्र देवताके हैं। जैसा इन्द्र देवताके वर्णनवाले मंत्रोंमें परमेश्वर बहुरूपिया है ऐसा वर्णन है, वैसा ही वर्णन अग्नि देवताके मंत्रोंमें भी है। उदाहरणके लिये अग्नि देवताके एक दो मन्त्र यहां देते हैं-

अनंतरूपी प्राचीन अग्नि देव

(इष आत्रेयः। अग्निः। जगती)

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः

शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे ।
बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं
सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम् ॥ (ऋ. ५।८।२)

हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! तू (अतिथिं) पूजनीय (पूर्व्यं) पुरातन प्राचीन, (शोचिष्केशं) तेजस्वी, (बृहत्केतुं) बडे ज्ञानसे युक्त (धनस्पृतं) धनदेनेवाला (सु-शर्माणं) उत्तम सुख देनेवाला (सु-अवसं) उत्तम रक्षा करनेवाला (जरद्-विषं) विषमताको दूर करनेवाला (गृहपतिं) गृहस्वामी तथा (पुरुरूपं) बहुतसे, अनंतरूपोंको धारण करनेवाला देव है, (विशः) प्रजाजन अपने अन्तःकरणकी वेदीपर तेरीही (निषेदिरे) स्थापना करते हैं ।

इस मंत्रमें (पुरुरूपं पूर्व्यं) अनेक रूपोंको धारण करनेवाले सबसे प्राचीन अग्नि देवका वर्णन किया है। सबसे प्राचीन और सब रूपोंको धारण करनेवाला यह अग्नि देव है, जो सबको सेवा करने योग्य है ।

यह मन्त्र अग्नि देवताका है । इसी देवताके और मन्त्र देखिये—

(इष आत्रेयः । अग्निः । जगती)
त्वमग्ने पुरुरूपो विशे विशे
वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत ।
पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि
त्विषिः सा ते तित्विषाणस्य नाधृषे ॥
(ऋ. ५।८।५)

हे अग्ने ! (त्वं पुरुरूपः) तू अनेक रूप धारण करता हुआ (विशे विशे प्रत्नथा वयः दधासि) प्रत्येक प्राणीके लिये प्राचीन कालसे आयु देता है, हे (पुरु-स्तुत) बहुत प्रशंसित अग्ने ! तू (सहसा) अपने बलसे (पुरूणि अन्ना वि राजसि) अनेक अन्नोंको तेजस्वी करता है। (तित्विषाणस्य ते) प्रकाशित होनेवाले तेरा (सा त्विषिः) वह तेज (न नाधृषे) कोई रोक नहीं सकता ।

इस मंत्रमें कहा है कि यह तेजस्वी देव (पुरु-रूप) बहुरूप है, तथा अनेक रूपोंको धारण करता है। नाना रूप धारण करके प्रकट होता हैं। अनेक अन्नोंके रूपोंमें यह विराजता है। (पुरूणि अन्ना विराजसि) अनेक अन्नों को प्रकाशित करता है। नाना प्रकारके अन्न यही बना है और उनका भोक्ता भी यही है। यदि एकही देव विश्वरूप हुआ है, तब तो यह बात निःसंदेह सिद्ध होगी कि, अन्न और अन्नभक्षक भी तत्वतः एक ही है। यही बात यहां इस मन्त्रमें पाठक देख सकते हैं। और देखिये-

(ब्रह्मा । पाप्मनाशनोऽग्निः। गायत्री ।)
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ॥ ७ ॥
(अथर्व. ४।३३)

तू सच मुच (विश्वतः मुखः) सब ओर मुखवाला है, (विश्वतः परिभूः असि) सब ओरसे घेरनेवाला है। वह तू हमें (द्विषः नावा इव अति पारय) शत्रुओंसे परे कर दे, जैसे नौकासे नदीपार होते हैं ।

यदि सब विश्वके रूप उसी एक देवके रूप हैं तब तो निःसंदेह यह सिद्ध है कि, सब प्राणी भी प्रभुके ही रूप और शरीर हैं । सब प्राणियोंके मुख चारों ओर हैं वे सब इसी प्रभुके मुख हैं । इन चारों ओर फैले मुखोंसे विश्वके नाना पदार्थोंका वह भोग करता है । भोक्ता और भोग्य वह एकही देव है ।

अब रुद्र देवके विश्वरूपके विषयमें देखिये-

बहुरूपी रुद्र

(गृत्समद आंगिरसः । रुद्रः । त्रिष्टुप्)
स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो
बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेः
न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम् ॥
(ऋ. २।३३।९)

(बभ्रुः पुरुरूपः उग्रः) भरणपोषण करनेवाला अनेक रूप धारण करनेवाला उग्र वीर रुद्र देव (शुक्रेभिः हिरण्यैः स्थिरेभिः अंगैः) वीर्यवान्, सुवर्ण जैसे चमकनेवाले, अपने सुदृढ अंगोंसे (पिपिशे) सुहाता है। (अस्य भूरेः भुवनस्य ईशानात् रुद्रात्) इस बडे भुवनोंके ईश्वर रुद्रसे (असुर्यं न वा उ योषत्) उसका बल कोई भी दूर नहीं कर सकता ।

इस मंत्रमें कहा है कि, रुद्र देव बहुरूपी है, अर्थात् ये सब रूप उसीके हैं । वह इतना बलवान् है कि, उसकी उस अतुल शक्तिको उससे कोई भी दूर कर नहीं सकता । (पुरु-

रूपः रुद्रः) रुद्र देव अनंतरूपवाला है, यह इस मन्त्रने कहा । रुद्रके अनेक रूप (वै० धर्म क्रमाङ्क २८१; वर्ष २४ अंक ५ के लेखमें) बताये हैं । पाठक इस स्थानपर वह लेख अवश्य देखें । इससे रुद्र देव अनेक रूपवाला कैसा है, यह स्पष्ट होगा और ' पुरुरूपः रुद्रः ' का स्पष्टीकरण भी होगा ।

यहां तक इन्द्र, अग्नि और रुद्र इन तीन देवोंके बहुरूपी होनेके विषयमें कहा है, अब ब्रह्मके एक अंशसे यह सब विश्व बनता है इस विषयमें देखिये-

ब्रह्मका बहुरूपी अंश

(ब्रह्मा । विराट् अध्यात्मं, गौः । त्रिष्टुप्)

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे
तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्त्रः ॥
(अथर्व ९।१०।१९)

(त्रिपाद् ब्रह्म) त्रिपाद ब्रह्म ही अपने एक पादसे (पुरु-रूपं वि तष्ठे) अनेक रूप धारण करके यहां ठहरा है । (तेन चतस्त्रः प्रदिशः जीवन्ति) उससे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं ।

पुरुष सूक्तमें (पादः अस्य इह अभवत् । ऋ. १०।९०।३) इसका एक अंश यहां वारंवार जन्मता है और (त्रिपाद् ऊर्ध्वं उदैत्) इसके तीन अंश ऊपर हैं, ऐसा कहा है । वही भाव यहां है । त्रिपाद ब्रह्म अपने एक अंशसे नाना रूपोंको धारण करके यहां विश्वके रूपसे ठहरा है । इससे सब विश्व जीवित हुआ है । पाठक पुरुषसूक्तके वर्णनकी इस वर्णनके साथ तुलना करें । यहां ब्रह्मका एक अंश बहुत रूपवाला बन गया है, यह बात स्पष्ट कही है । इसीके नाम इन्द्र, अग्नि, रुद्र हैं । अब यम देवताका भी ऐसाही वर्णन है, वह अब देखिये-

बहुरूपी यम

(अथर्वा । यमः, मन्त्रोक्ताः । त्रिष्टुप्)

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे
पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।
आपो वाता ओषधयस्तानि
एकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥
(अथर्व १८।१।१७)

(कवयः) ज्ञानीजन (त्रीणि छन्दांसि वि येतिरे) तीनों छन्दोंद्वारा उसका विस्तार करते हैं जो (पुरुरूपं) अनेक रूपोंका धारण करनेवाला अतएव (दर्शतं विश्वचक्षणं) वह दर्शनीय और संपूर्ण विश्वके रूपमें दिखाई देनेवाला है । जो (आपः) जल (वातः) वायु और (ओषधयः) औषधियां हैं, इसी तरह जो नाना प्रकारके रूप हैं (तानि) वे सारेके सारे (एकस्मिन् भुवने आर्पितानि) एक ही बननेवाले सत्में अर्पित होते हैं ।

सब विभिन्न पदार्थ एक ही मूल सत् तत्त्वके बने हैं । ये नाना रूप एक ही सत्के रूप हैं । यहां यद्यपि इस मन्त्रमें देवता वाचक यम पद नहीं है, तथापि १५ वे मन्त्रसे 'यम' पद की अनुवृत्ति इस मन्त्रमें है, अतः इस मन्त्रका देवता यम है । यह यमदेव पुरुरूप अर्थात् बहुरूपी होता है, ऐसा यहां कहा है । (विश्व-चक्षणं दर्शतं पुरु-रूपं यमं) इस विश्वमें दीखनेवाला दर्शनीय बहुरूपी यम यहां बताया है । इसका वर्णन वेद मंत्रोंमें होता है । औषधि जल वायु आदि सब पदार्थ एकहीमें हैं, और यम ही इन रूपोंका धारण करता है । जैसा इन्द्र, अग्नि, रुद्र और ब्रह्म बहुरूपी होता है, वैसा ही यह यम भी बहुरूपी बनता है । क्योंकि एक ही सत्के ये नाम हैं । और देखिये—

एकही देवताके नानारूप

(प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा । विश्वेदेवाः। त्रिष्टुप्)

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंषि
ऊर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा ।
ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान् ।
महद् देवानां असुरत्वं एकम् ॥
(ऋ. ३।५५।१४)

(पद्या) एक ही वर्णनीय देवता (पुरुरूपा वपूंषि वस्ते) अनेक रंगरूपवाले नाना शरीरोंको धारण करती है । वह (त्रि-अविं रेरिहाणा) अपने तीन संरक्षणोंसे युक्त शक्तिका प्रकाश करती हुई (ऊर्ध्वा तस्थौ) खडी रहती है । (ऋतस्य सद्म विद्वान्) इस सत्यके स्थानको जानकर, मैं (विचरामि) विचरता हूं । यही देवोंमें (एकं महत् असुर-त्वं) एक ही जीवन सत्त्वका प्रदान करनेवाला सत् तत्त्व है ।

एक ही देवता है जो नानारूपों और नाना शरीरोंको धारण करती है । वह अपनी त्रिविध रक्षाशक्तियोंसे सबकी

रक्षा करती है। यही सब मानवोंको जानने योग्य शक्ति है। वही एक सत्ता है, जो सब देवोंको जीवन देती है, अर्थात् इसीकी शक्तिसे सब देव शक्तिमान् हुए हैं। इस मन्त्रमें (पद्या पुरुरूपा वपूंषि वस्ते) वंदनीय एक देवता बहु-रूपी होकर नाना शरीरोंमें रहती है, यह वर्णन बडे महत्त्व का है। इससे एक ही सत् नाना रूप होकर नाना शरीरों में विचरता है यह बात सिद्ध होती है। नाना रूप लेनेका अर्थ नाना देवताओंके रूप धारण करना है यह बात अगले मंत्रोंमें देखिये–

सर्व देवरूपी प्रभु

(वामदेवः। बृहस्पतिः। त्रिष्टुप्)

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे
यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो
वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
(ऋ. ४।५०।६; अथर्व. २०।८८।६)

(विश्वदेवाय) सब देवोंके रूपवाले (वृष्णे) बल-वान् (पित्रे) रक्षक देवके लिये हम नमनपूर्वक हविके साथ यज्ञ करते हैं। हे ज्ञानवान् उत्तम प्रजाओंके साथ हम वीरवान् बनें और हम धनोंके स्वामी बनें।

इस मन्त्रमें बृहस्पति देवताको 'विश्व-देव' कहा है। विश्वदेव का अर्थ सब देवोंके नाना रूप धारण करने-वाला। ३३ देवोंके रूपोंमें प्रकट होनेवाला यह ईश्वर है। इस विश्वमें जो भी कुछ है, वह सब देवतामयही है। यहां की प्रत्येक वस्तु देवता है। और ये देवताएं ब्रह्मसे बनी हैं। अतः देवताओंको 'ब्राह्म' कहते हैं, और आत्माको 'ब्रह्म' कहते हैं। 'एकही सत् है। ज्ञानी जन इस सत्का अनेक-विध वर्णन करते हैं। इसी एक सत्को ज्ञानी जन इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा कहते हैं।' ऐसा ऋ. १।१६४।४६ में कहा है। यही बात हमने इतने मंत्रोंमें देखी है। इन्द्र, अग्नि, रुद्र, ब्रह्म, यम, (आप्, वायु, औषधी), एकः, बृहस्पति इतने देवोंका वर्णन यहां समान रूपसे ही आया है। ये सभी देव बहुरूपी बनते हैं, ऐसा यहां कहा है। इन्द्र भी विश्व-देव है, इस विषयमें अगला मन्त्र देखिये–

(नृमेधः। इन्द्रः। उष्णिक्)

त्वमिन्द्राभिभूरसि, त्वं सूर्यं अरोचयः।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥
(अथर्व २०।६२।६)

हे इन्द्र! तू शत्रुका पराभव करनेवाला है, तू सूर्यको प्रकाशित करता है। तू विश्वकी रचनाका कर्म करता है, तू (विश्वदेवः) सर्व देवरूपी है और सबसे बडा है।

ईश्वरने सूर्यको प्रकाशित किया है, संपूर्ण विश्वकी रचना उसने की है, वही सर्व देवोंका रूप है अर्थात् वही देव सब बना है।

पूर्व मन्त्रमें बृहस्पतिको 'विश्व-देव' कहा था, इस मन्त्रमें इन्द्रको 'विश्व-देव' कहा है। अर्थात् जो बृहस्पति है वही इन्द्र है और जो इन्द्र है वही बृहस्पति है। एक ही देवके ये सब नाम हैं। एक ही देव सब-देव-रूपी है तथा वही सर्व मानवरूप भी है, इस विषयमें इन्द्रके ही मन्त्र देखिये—

सर्व मानवरूपी इन्द्र

(मधुच्छन्दाः। इन्द्रः। गायत्री)

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्व-
चर्षणे। सचैषु सवनेष्वा॥
(अथर्व २०।७१।९)

हे (विश्वचर्षणे) सर्व मानवरूपी इन्द्र। (सुशिप्र) उत्तम हनुवाले इन स्तुतियोंसे तू आनंदित हो।

इस मन्त्रमें 'विश्व-चर्षणि' इन्द्र है, ऐसा कहा है। 'विश्व-चर्षणि' का अर्थ है सब मनुष्यरूप। सब मानवोंके रूप यह इन्द्र धारण करता है, यही बात अगले मन्त्रमें देखिये–

(त्रिशोकः। इन्द्रः। गायत्री)

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति।
वसु स्पार्हं तदाभर। (अथर्व २०।४३।३)

(विश्व मानुषः ते) सब मनुष्यरूप तुझ इन्द्रका वह जो सब स्पृहणीय धन है, वह हमें ला दे।

इस मन्त्रमें सर्व मानवरूप इन्द्र है, ऐसा कहा है। अग्निका नाम 'वैश्वा-नर' सुप्रसिद्ध है। 'विश्व-नर' का अर्थ 'सर्व मानव' ऐसा ही है। ये तीनों पद यहां देखिये–

विश्व-चर्षणिः (इन्द्र)= सर्व मनुष्यरूप इन्द्र
विश्व-मानुषः (,,) = ,, ,, ,, ,,
वैश्वा नरः (अग्निः)= ,, ,, ,, अग्नि

इनके साथ निम्नलिखित पद भी देखनेयोग्य हैं—

पुरु-रूपः (इन्द्रः) = अनेक रूपोंवाला इन्द्र
पुरु-वर्पस् ,, = ,, शरीरों ,, ,,
पुरु-रूपः (अग्निः) = ,, रूपों ,, अग्नि
,, ,, (रुद्रः) = ,, ,, ,, रुद्र
,, रूपं (ब्रह्म) = ,, ,, ,, ब्रह्म
,, रूपः (यमः) = ,, ,, ,, यम
,, रूपा (पद्या) = ,, ,, ,, वर्णनीय देवता

विश्व-देवः (बृहस्पतिः)= ,, देवोंके रूप धारण करनेवाला बृहस्पति
,, ,, (इन्द्रः) = ,, ,, ,, ,, ,, इन्द्र

ये सब पद एक ही वैदिक सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रहे हैं, वह सिद्धान्त यही है कि, एक ही प्रभु सब विश्वके रूपमें दीख रहा है। देखिये—

सर्व मानवरूप मन्यु

(ब्रह्मा स्कन्दः। मन्युः। त्रिष्टुप्)

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः
स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयान्
अस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥
(अथर्व ४।३२।४)

हे (मन्यो) उत्साह ! (त्वं हि अभिभूति--ओजाः) तू सचमुच प्रभावी सामर्थ्यवाला है। तू (स्वयंभूः) स्वयं ही होता है अथवा स्वयं ही विश्वको उत्पन्न करता है, (भामः) तेजस्वी, (अभिमातिषाहः) शत्रुओंको परास्त करनेवाला (सहुरिः) सामर्थ्यवान् (सहीयान्) शत्रुओंका नाश करनेवाला (विश्व-चर्षणिः) सर्व मानवरूप ही है, वह तू (पृतनासु) युद्धोंमें जो (ओजः) बल आवश्यक है वह (अस्मासु धेहि) हमें दे।

यहां (विश्व-चर्षणि) सर्व मानव रूप यह देव है, जो स्वयंभू है, ऐसा कहा है। यहां इस मन्त्रमें उत्साहको प्रभुका रूप अनुभव करके वर्णन किया है। यही पद अगले मन्त्रमें भी है—

सर्व मानवरूपी देवोंका तेज

(भृगुः। दर्भः। आस्तार पंक्तिः)

तीक्ष्णो राजा विषासहिः
रक्षोहा विश्वचर्षणिः।
ओजो देवानां बलं उग्रं एतत्
तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये ॥
(अथर्व १९।३७।४)

(विश्व-चर्षणिः) सर्व प्राणिरूप एक ही (राजा) ईश्वर (विषासहिः) शत्रुका नाश करनेवाला (रक्षोहा) राक्षसों का दुष्टोंका नाशक (तीक्ष्णः) बडा शूर है (एतत्) यह (देवानां) सब देवोंका एक ही (उग्रं बलं ओजः) वीर्यशाली सामर्थ्य है। वह तेरे कल्याण और दीर्घायुके लिये तेरे साथ बांध देते हैं।

यहां ' विश्व-चर्षणिः राजा' का वर्णन है, सर्व मनुष्य रूप प्रभु है, राजा भी अपने आपको सब मानवोंके रूपमें समझे, सब जनोंसे पृथक् अपने आपको न समझे। यह राष्ट्रीय भाव इस मन्त्रमें सूचित किया है। 'विश्व-चर्षणिः देवानां ओजः ' अर्थात् सब मानव रूपी देवोंका वह मूल तेज ही है। प्रभु सब देवोंका तेज है, और वह सब मानवरूप है। इसके मानवरूप होनेका वर्णन वेदमंत्रोंमें इस तरह आता है—

मानवरूपोंमें एक आत्मा

(कुत्सः। आत्मा। बृहती)

त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि
त्वं कुमार, उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि,
त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥
(अथर्व १०।८।२७)

तू स्त्री, तू पुरुष है, तू कुमार और कुमारी है। तू जीर्ण होकर डण्डा हाथमें लेकर चलता है, तू जन्म लेकर सब ओर मुखवाला होता है।

एकही आत्मा स्त्री पुरुष, कुमार कुमारी, तरुण वृद्ध होता है। वही सब प्राणियोंके रूप लेकर सब ओर मुखवाला होता है। प्रभु सब प्राणियोंके रूप किस तरह लेता है इसका वर्णन (वै० धर्म क्रमांक २८६ वर्ष २४ अंक १० में

छपे लेखमें पृ० ३११ पर) पाठक देख सकते हैं। प्रजापति गर्भमें प्रविष्ट होता है और नाना रूपोंमें तथा कुमार तरुण वृद्ध आदि अवस्थाओंमें विचरता है ऐसा वहां नाना मंत्रोंके प्रमाणोंसे बताया है। पाठक यह लेख इस प्रसंगमें देखें।

यहां ' विश्वतो मुख ' पद है। सर्वत्र मुखवाला ऐसा इसका अर्थ है। सब प्राणी सर्वत्र हैं, अतः सब प्राणियोंके मुख इसी प्रभुके मुख होनेसे वह सर्वत्र मुखवाला है। अन्यान्य अवयव भी इसके ऐसेही सर्वत्र हैं, इसका वर्णन करनेवाला मन्त्र विभिन्न संहिताओंमें कुछ कुछ पाठ भेदसे है उसे अब देखें-

(विश्वकर्मा भौवनः विश्वकर्मा। त्रिष्टुप्)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः
द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

(ऋ. १०।८१।३; वा. य. १७।१९;)

(ब्रह्मा। अध्यात्मं, रोहितादित्यदेवतम्। भुरिग्जगती)

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतो मुखो
यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैः
द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः॥

(अथर्व १३।२।२६ तै. सं. ४।६।२।४; तै. आ. १०।१।३)

यो विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो हस्त उत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां नमते सं यजत्रैः
द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः॥

(काठक १८।१३)

सं बाहुभ्यामधमत् सं पतत्रैः० ॥

(मै. सं. २।१०।१८)

परमेश्वर (विश्वतः चक्षुः) चारों ओर नेत्रवाला है, (उत विश्वतः मुखः) और चारों ओर मुखवाला है तथा (विश्वतः बाहुः) चारों ओर बाहु और (विश्वतः पात्) चारों ओर पांववाला है। (बाहुभ्यां पतत्रैः सं सं धमति) वह अपने बाहुओं तथा पंखोंसे सर्वत्र गति करता है। (द्यावा-पृथिवी जनयन्) द्युलोक और पृथिवीकी उत्पत्ति करनेवाला यह (एकः देवः) देव एक ही है।

अथर्ववेदमें इस देवको ' विश्व-चर्षणिः ' अर्थात् 'सर्व मनुष्यरूप यह देव है ' ऐसा कहा है। यदि सर्व मनुष्यरूपी यह देव है तब तो इसके नेत्र, हाथ, पांव, मुख चारों ओर हैं यह बात स्वयं सिद्ध है। विभिन्न शाखाओंमें इसके पद विभिन्न हैं देखिये—

१ **विश्वचर्षणिः** (सर्व मनुष्य रूपी देव) [अथर्व०]

२ **विश्वतो बाहुः** (सर्वत्र बाहुवाला) [ऋ०]; **विश्वतस्पाणिः** [अथर्व०]; **विश्वतो हस्तः** [काठक०]

३ **विश्वतस्पृथः** (चारों ओर हाथवाला) [अथर्व०]

द्यावापृथिवीका प्रजनन करनेवाला यह देव एक ही है। यह (सं धमति) सर्वत्र श्वासोच्छ्वास करता है, (सं भरति) भरण पोषण करता है, (सं नमते) सर्वत्र नम्र होकर चुपचाप रहता है। (सं अधमत्) सर्वत्र जीवनका संचार करता है। ऐसा यह देव एक ही है। इस विषयमें निम्नलिखित दो मन्त्र देखने योग्य हैं—

सर्व शरीरी सर्वात्मा

(अथर्वा। सर्वात्मारुद्रः। पंक्तिः)

इन्द्रस्य गृहोऽसि। तं त्वा प्रपद्ये, तं त्वा प्रविशामि, सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मे अस्ति तेन॥

(अथर्व ५।६।११-१४)

तू इन्द्रका संरक्षक सामर्थ्य है, तुझे प्राप्त होते हैं, तेरे अन्दर प्रविष्ट होते हैं। (सर्व-गुः) तू सब इंद्रियरूप अथवा गोरूप, किंवा सब गौओंसे युक्त है, (सर्वपूरुषः) सब मानवरूप तू है, (सर्वात्मा) तू सर्वात्मा है, (सर्व तनूः) सब शरीर तेरेही हैं। जो मेरे पास है उसके साथ तेरी सेवा हम करते हैं।

इस मन्त्रमें चारों पद विचार करने योग्य हैं वे पद हैं-

सर्वात्मा = सबका एक आत्मा है,

सर्व-तनूः = सब शरीर धारण करनेवाला एक आत्मा है,

सर्व-पूरुषः = सब मानवरूपी प्रभु है,

सर्व-गुः = सब गो नाम इंद्रियशक्तियोंसे युक्त वह

आत्मा है।

सब मानवरूप प्रभु होनेसे, उसके ये सब शरीर हैं, और उसके सब शरीर होनेसे, उसके सब इंद्रिय हैं। अतः उसके बाहु, हाथ, पांव सर्वत्र हैं यह जो पूर्व मन्त्रमें (विश्वतो बाहुः, विश्वतश्चक्षुः, विश्वतो मुखः, विश्वतो हस्तः आदि पदों द्वारा) कहा है, उसका ठीक ठीक भाव ध्यानमें आ सकता है। सब प्राणियोंके मुख, बाहु, हाथ, पांव उसीके अवयव हैं, और वे पृथ्वीभरमें चारों ओर हैं। यही प्राणि-समष्टि-रूप विश्वात्मा मानवोंका उपास्य है। तथा और देखिये-

(अथर्वा । ओदनः)

एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः ॥
(अथर्व ११।३(२)३२-४८)

वह (ओदनः) अन्न (सर्वांगः) सब शरीररूपी, (सर्व तनूः) सब देहवाला (सर्व परुः) सब अवयववाला है।

अन्नसे ही सब प्राणियोंके देह, अवयव और अंग होते हैं वैसा ही अन्न परमात्माका रूप है। परमात्माही अन्न बनता है और अन्न सब देहोंके रूपोंमें ढल जाता है।

यहां ओदनरूप देवताको ' सर्वांग, सर्वपरुः, सर्व-तनूः ' कहा है। इसका आशय भी पूर्ववत् समझना उचित है। इससे सिद्ध है कि प्रभु सर्व प्राणियोंके रूपसे हमारे सामने हैं। इसीका नाम ' वैश्वानर ' है। यह पद अगले मन्त्रमें देखिये—

(खिलं)

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति ।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिं आ सुनोता परिक्षितः ॥
(अथर्व २०।१२७।७)

(यः देवः) जो एक देव (मर्त्यान् अति) मर्त्यभावोंका अतिक्रमण करके, पूर्णतया अमर है, उस (विश्व-जनीनस्य) सब जन्म लेनेवाले (वैश्वा-नरस्य राज्ञः) सब मानवस्वरूपी राजाकी (सु-स्तुतिं) उत्तम स्तुतिको करो।

यहां भी सब मानव रूप प्रभुका वर्णन है। इस तरह वेदोंमें मानव प्राणी, पशुपक्ष्यादि जंगम जगत्, स्थावर विश्व, सूर्यचन्द्रादि देव ये सब प्रभुके रूप हैं ऐसा कहा है। यही सब मानवोंके लिये प्रत्यक्ष उपास्य देव है।

प्रत्येक मानव यह माने कि मैं प्रभुके देहका प्रत्यक्ष अंश हूं। अतः मैं प्रभुसे अनन्य हूं, अर्थात् मैं प्रभुसे पृथक् नहीं हूं। इस अनन्य भावसे प्रभुकी सेवा जितनी हो सकती है, उतनी प्रत्येक मानव करे। मानवकी इति कर्तव्यताका यही एक मार्ग है।

'पुरु- रूप ' का अर्थ अनेक रूप, अनेक प्रकारका ' ऐसा होता है और यह पद इस अर्थमें अन्य वर्ण्य विषयोंका विशेषण भी होता है। इसके कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं—

१ पुरुरूपं वाजं आभर (ऋ. ८।१।४; ८।६०।१८, अथर्व २०।८५।४) = अनेक प्रकारका अनेक रंगरूप-वाला अन्न दो।

२ पुरुरूपं शतिनं (ऋ. २।२।९) = अनेक प्रकार का, सैकडों प्रकारका धन।

३ पुरु-रूपाः प्रजावतीः गावः (ऋ. ६।२८।१; अथर्व ४।२१।१ = अनेक रंगरूप आकारवाली बछडोंवाली गौवें।

इतने उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि ' पुरु-रूप ' पदका अर्थ अनेक रूपवाला है। अतः जब यह पद प्रभुका विशेषण होता है, तब ' नाना रूपोंका धारक ' इस अर्थको बताता है। यही वर्णन इस लेखमें किया है।

यहां हमने बताया है कि जो पूर्व लेखमें ' विश्व-रूप ' पदसे वेदने बताया था, वही इस लेखमें ' पुरु-रूप ' पदसे बताया है। इसके साथ अन्यान्य पद भी इसी अर्थको स्पष्ट करनेवाले हैं। पाठक इसका विचार करें और इस विश्व-रूपको प्रभुका स्वरूप जानकर स्वकर्तव्यसे विश्वसेवा करके कृतकृत्य होनेका पुरुषार्थ करें।

अभिलाषा

(लेखक— श्री चिमनभाई पंड्या, बी. एस्‌सी., ऑनररी लेफ्टनन्ट)

मेरे स्रष्टा !

सुबहके बाद शाम हुई और शामके बाद सुबह; किन्तु मेरे हृदयके उर्मिओं की स्थान–स्थिति न पलट सकी । प्रभो ! यह बता और शीघ्र बता कि यह अनुपम तेज प्राप्त करनेके लिये इस देह और मनसे क्या किया जाय ?

एक रास्ता भूला हुआ पथिक क्या उपाय करे, क्या कर्म करे, कौनसी युक्ति करे, जिससे तू मोहित होकर पथप्रदर्शन करनेके लिये दौडा दौडा आ जाय ।

मैं तो तेरी ही खोजमें अपने प्राण समर्पित करनेको खुश हूं, किन्तु मेरे प्राण समर्पित होनेके बाद भी यदि तू इस लघु दासको न अपना लेगा, तो मेरे जैसे अन्यभी कौनसा रास्ता ग्रहण करेंगे, किसका आश्रय लेंगे, किसके शरणमें जायेंगे ? तेरी खोज ही मेरा जीवन-ध्येय है । तो फिर बता कि तेरी ही खोजमें तू क्यों अन्तराय दे रहा है ? क्या मेरे जन्मजन्मातर के पाप इतने गहरे हैं कि जिससे मैं आगे नहीं बढ सकता ? परन्तु विश्वेश ! उन मेरे पापोंसे तेरी दया कुछ न्यूनतर नहीं है ।

सैकडोंकी आवाजें तो क्या, हजारों की आवाजें तूने ही सुनी हैं, पर हे करुणेश्वर ! मेरी ओर तनिक ध्यान देना । मैं अपने जीवन की अमूल्य घडियां एक एक करके तुझको पुकारनेमें बिता रहा हूं, पर हाय ! तू मेरी एक भी नहीं सुनता । क्या मेरी आवाज इतनी कठोर है ? यदि ऐसा ही हो तो कितनोंकी आवाजें तूने अच्छी बनाई हैं । मेरे कृपाल ! मेरी आवाज तू मधुर बना दे ।

हे ईश ! मेरी दुर्बलताओंपर मत हँस । तनिक सोच कर देख तो सही कि तूने ही मुझे ऐसा बनाया या मैं स्वयं ऐसा बन गया हूं ? तू कवि है, मुझमें कविता का स्रोत बहा दे, तू नेता है, मुझ में नेतृत्व-शक्ति पैदा कर । तू सत्य है, शुद्ध है, प्रकाश-मय है, मेरी आत्मा को विशुद्ध बना कर उसे सत्य में ओत–प्रोत कर दे ।

*

मेरी समझमें नहीं आता कि मैं ऐसा डांवाडोल क्यों हो रहा हूं। न तो मैंने किसी को दुःख दिया है, न किसी का रास्ता भुलानेकी कोशिश की है, तो फिर बता क्यों मैं इतना दुःखी हूं, क्यों रास्ता भूला हुआ हूं, क्यों तुझसे इतना दूर हूं, और मेरे हृदय के तार क्यों झनझना रहे हैं ?

यह तो मानी हुई बात है कि कार्य और कारण दोनों साथ ही चलते हैं, पर मैं जब कार्य करता हूं तो कारण नहीं दिखाई देता और जब कारण मिलता है तो कार्य करने की शक्ति मुझसे बिदा लेती है। फिर भी मेरा विश्वास तो निश्चल, अटल, और सुदृढ ही है। तेरे अन्तरायोंकी परवाह न करता हुआ-तेरे ध्यानमें लीन-मैं तो तेरे ही पास चला आऊंगा, जरुर आऊंगा। फिर हे करुणावरुणालय ! क्या तू मुझपर दया न करेगा? क्यों नहीं, जरुर। क्यों कि तेरा नाम तो दयानिधि है। मेरे देवता ! मुझे अपना लेना।

'त्राहि मां शरणागतम्'

वेदोंके ब्लाक

जिस समय पूनामें पेशवाओंका राज्य था, उस समय उन्होंने वेदकी सुरक्षा करनेके लिये बडे यत्न किये थे। इस समय महाराष्ट्रीय ब्राह्मणोंमें जो घनपाठी विद्वान् दीखते हैं, वे पेशवाओंने वेदकी रक्षाके लिये जो दान दिया था, उसीका फल है। यदि पेशवा वेदकी सुरक्षाके लिये यत्न न करते, तो इस समय वेदपाठमें महाराष्ट्रीय ब्राह्मण भी वैसे ही दीखते, जैसे अन्य प्रान्तोंके दीखते हैं।

पेशवाओंने अपने धर्मग्रंथोंके तांबेके ब्लाक बनानेका कार्य भी शुरू किया था। इस समय उनके बनवाये श्रीमद्भगवद्गीताके कई पृष्ठोंके ब्लाक्स मिलते हैं। उस समय आजके जैसे उत्तम साधन नहीं थे। तोभी जो साधन थे उनका उपयोग करके उन्होंने ऐसे गीताके ब्लाक बनवाये थे कि जिनसे लाखों मुद्रित प्रतियां निकल सकती थीं।

पूनाका हिंदूराज्य गया, उनका वैभव गया, उनका प्रबंध गया, तथापि उनके बनवाये ये ब्लाक रहे हैं। उनकी इच्छा वेदोंके ब्लाक बनाने की भी थी, पर वे उस समय बन नहीं सके।

हमने जिस समय वेदोंका मुद्रण शुरू किया, उस समय हमारे सामने यह एक बडी भारी मुश्किल आ खडी हुई कि वेदोंके पृष्ठोंका फार्म कितना भी शुद्ध क्यों न किया हो, वह जिस समय मुद्रण यन्त्रमें दिया जाता है, तब यंत्रकी गतिसे उस फार्मसे टाईप अथवा अक्षरके भाग उड जाते हैं। हमनें इस दोषको हटानेके लिये अनेक यत्न किये, पर यह दोष वैसे का वैसा ही रहा। ऐसा सभी यंत्रोंमें होता है। अतः इसका निराकरण करना पृष्ठोंके ब्लाक बनानेके विना अशक्य है। इस लिये हमने ब्लाक बनानेकी आयोजना बहुत दिनोंसे जनता के सामने रखी। किसीने उसका विचार तक नहीं किया।

जो धनका कार्य है वह धनके विना नहीं हो सकता। इस लिये हमें चुपही रहना पडा, परंतु मनमें ब्लाकोंका विचार सतत रहता था, और ब्लाक न बननेके कारण मनमें बेचैनी सी रहती थी। शुद्ध वेद मुद्रित होनेके लिये ब्लाक बनाने चाहिये और अपने वेद शुद्ध ही मुद्रित होने चाहिये, यह एक ही विचार मनमें सतत रहता था। इतनेमें युद्ध छिड गया और ब्लाक बनानेकी सभी आशाएं पूर्णतया विनष्ट हुईं, क्योंकि ब्लाक बनानेके सभी सामान, रसायन तो महँगे होही रहे थे, परंतु तांबा और लकडीभी महंगी होने लगी थीं। इस विपत्तिका सामना तो हमसे क्या हो सकता था? परंतु ऐसे समय में भी **प्रभुकी कृपा हुई** और सहायता मिलनेकी सभावना हुई।

श्री मणीलाल हरजीवनदास पटेल

मुंबईमें एक सन्मानयोग्य महाशय श्री. मणीलाल हरजीवनदासजी पटेल नामके सज्जन हैं। वेदोंके ब्लाकोंकी स्कीमके विषयमें सुनने योग्य सब बातें उन्होंने सुनीं, हमने बनवाये कुछ ब्लाक भी देख लिये और शुद्ध वेदोंकी छपाईके लिये वेदोंके पृष्ठोंके ब्लाक बनाना अत्यंत आवश्यक है, ऐसी बात सभी पहलुओंसे इनके ध्यानमें आगयी। इस विषयमें नाना प्रकारके प्रश्न इन्होंने पूछे और अपना निश्चय कर लिया कि यह अत्यावश्यक कार्य है। इतना निश्चय होते ही ब्लाक बनानेके लिये आवश्यक सहायता देने दिलवाने का यथोचित यत्न इन्होंने किया।

इसके फलस्वरूप आज करीब ३२०००) रु. वेदोंके ब्लाकोंके लिये इनके ही प्रयत्नसे स्वाध्याय-मंडलमें जमा हुए हैं। अब निश्चय समझिये कि थोडीसी साधनोंकी अनुकूलता होते ही एक दो वर्षोंके अन्दर ही चारों वेदोंके ब्लाक बन जायेंगे।

श्री. मणीलाल हरजीवनदासजी पटेल गुजरात विद्यापीठके सुयोग्य स्नातक हैं और काटनके (रुईके) बडे व्यापारीभी हैं। गुजरात विद्यापीठने उनको 'समाज-विद्या-विशारद' की उपाधि प्रदान की है। ये अपने उत्तम निरलस स्वभावसे समाजोपयोगी कार्य सतत करते रहते हैं। सदा परोपकारके कार्य करनेमें उनको बडा आनन्द आता है। ये हृदयसे धार्मिक, आचरणसे उत्तम सदाचारी और बर्तावसे बडे ही सरल हैं, इसीलिये इन्होंने वेद उत्तम तथा शुद्ध ही सदा छपते रहें, इसलिये इस वेद-ब्लाकोंके पवित्र कार्य में अपना बहुत ही समय देकर इस कार्यकी सफलता होने योग्य सहायता दिलवाई।

प्रायः सभी धर्मवालोंने अपने अपने धर्मके ग्रंथोंके ब्लाक बनवाये हैं। ईसाईयोंका बायबल अति शुद्ध छपता है, इसका कारण यही कि उसके ब्लाक बने हैं। मुसलमानोंके कुराण शरीफके आँग्रेजी अनुवाद में जो अरेबिक आयतें छपी हैं, उनके ब्लाक बने हैं। तथा जो ऊर्दूका कुराण छपता है, वह तो लिथो पर ही छपता है। ईसाईयोंने अपने धर्म-पुस्तक के प्रकाशनार्थ इस समय करोंडों रुपये लगा दिये हैं। मुसलमानोंके दान अपने पुस्तकके लिये भी लाखों रु. के हैं। इन दोनों धर्मोंके ग्रंथ प्रतिवर्ष सहस्रोंकी संख्यामें विनामूल्य वितरण किये जाते हैं, तथा नाममात्र मूल्यसे भी दिये जाते हैं।

वेदके धर्मके ग्रंथ इसी तरह शुद्ध, उत्तम और सस्ते होने चाहिये। परंतु अबतक किसीका ध्यान इस ओर गया नहीं। श्रीयुत मणीलालजीने अपना लक्ष्य इस विषयकी ओर लगाकर वेदमंत्रोंके ब्लाक बनानेके लिये आवश्यक सहायता दिलवायी है। उनकी यह वेदसेवा वेदपुरुषके लिये समर्पण हो और उससे वेद-भगवान् प्रसन्न हों, यही हमारा यहां कहना है।

एक समय वेदके उत्तम ब्लाक बने, तो उनसे और भी नये ब्लाक बन सकते हैं, इसलिये यह जो श्री. मणिलालजीने वेदकी सेवा की है, वह स्थायी स्वरूप की ही है। अतः अब इसके बाद जो वेदके ग्रंथ छापेंगे, तो सदाके लिये ही वेदग्रंथ शुद्ध ही छपते रहेंगे। क्योंकि एकवार ब्लाक बने तो उन से डुप्लीकेट बनाना आसान कार्य है। तथा एक बार बने ब्लाकोंसे भी ४।५ लाख तक प्रतियां छप सकती हैं। वेदप्रेमी वैदिक धर्मीयोंके घर घरमें वेद ग्रंथोंकी पहुंच अब सहजहीसे साध्य होनेवाली बात है। और इसका सब श्रेय श्री. मणिलालजीकोही है।

इस कार्यमें कई अन्य महानुभावोंने भी बडी सहायता की, वे सभी धन्यवादके लिये योग्य हैं। श्री कृष्णराम टी. दिवेचा आर्किटेक्ट इंजिनीअर, श्री भोगीलाल चिमनलालजी शाह इन्कमटॅक्स एक्सपर्ट, श्री. दशरथलालजी जोशी, वीले पार्ले आदिकोंने इस कार्यके लिये जो प्रयत्न किये, उनके लिये यहां उन सबके धन्यवाद करना योग्य है।

वेदका आगेका कार्य

वेदके ब्लाक बननेसे वेद अतिशुद्ध छापे जायेंगे और अत्यंत सस्ते भी दिये जायेंगे। यह तो जो आवश्यक था, वह बन गया। परंतु इससे वेदके कार्य की समाप्ति नहीं हुई, प्रत्युत वेदके कार्यका प्रारंभ ही हुआ है। इसके आगे वेदके अनुवाद बनाना और भाषाभाषी तथा प्रांतभाषाभाषियों तक वेदको पहुंचानेका कार्य शेष है। यह कार्य बडे ही धन की अपेक्षा रखता है।

वेदोंको हरएक हिंदूको पढने योग्य और समझने योग्य बनाना है। जिस तरह हरएक भाषामें बाइबल के अनुवाद पढे जाते हैं और कुराण शरीफका अनुवाद ऊर्दूमें पढा जाता है, उसी तरह वेदोंके अनुवाद घर घर पहुंचानेका कार्य अब करना है। योग्य अनुवादोंके अभावमें वेद वैसेही बंद रहेंगे जैसे इस समय तक रहे हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि इस कार्यका महत्त्व जानकर ये सब महाशय इस कार्यमें भी उचित सहायता देकर इसको निभानेके लिये आवश्यक प्रयत्न करेंगे।

यह ऋषियोंका ऋण है, उसको उतारनाही है। ऋषियोंकी यही सेवा है। जो ऋषियोंकी सेवा है, वही ईश्वरकी भी सेवा है। हमें पूर्ण आशा है कि जिस तरह इन्होंने वेदोंको स्थायी बनानेका कार्य किया है, उसी तरह वेदोंको सुबोध बनानेका भी कार्य ये करेंगे और हिंदू मात्रमें नवीन धर्मज्योति जगानेके पुण्यके भागी होंगे।

देवकामा वा देवृकामा

विवाह-संस्कारमें प्रयुक्त ऋग्वेदके मंत्रमें 'देवकामा' पद है और उसका अर्थ 'ईश्वरभक्ति करनेवाली' है। इस के स्थानपर ऋग्वेदके मंत्रमें 'देवृकामा' मानना एक अशुद्धि है और उसका नियोगपरक अर्थ करना दूसरी अशुद्धि है। ये अशुद्धियां अजमेर वैदिक यंत्रालयवालोंने की है। इसका निवारण होना चाहिये, इसलिये हमने वैदिक धर्ममें लेख लिखे जिन को पढकर पाठकोंके सहस्रों पत्र हमारे पास आ गये हैं, और सभी पाठक नियोगके भावको मंगलमय विवाह-संस्कारमें बोलना उचित नहीं समझते।

सारे पत्र छापना असंभव है। इस लिये हम चार दिशाओंके ४ या ५ मंत्र यहां छापते हैं। शेष पत्र ऐसे ही आशयवाले हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि श्रीमती सार्वदेशिक आर्य प्र० सभाकी धर्मार्यसभा पुनर्विचार करके एकवार इस अशुद्धिको दूर करके विवाहसंस्कार को पारस्करादिसूत्रग्रंथानुसार शुद्ध करने का यश ले और इस विवाद को बंद कर दें। क्योंकि जब तक विवाह-संस्कारके पेटमें नियोगका शल्य चुभता रहेगा तबतक यह विवाद रहनेवाला ही है। अतः संस्कारकी सूत्र-ग्रंथानुसार शुद्धि करनाही एकमात्र उपाय है कि जो इस विवाद को हमेशाके लिये मिटा सकता है। संमति पत्र इस भाँतिके हैं-

(१)

॥ विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

आदर्श-विद्या-मन्दिर

संख्या ३३४

मि० माघ कृष्ण १, २०००
उदयपुर, ता० ९।१।१९४४

महोदय।

आपका "क्या विवाह-संस्कारमें नियोगकी प्रतिज्ञा करना योग्य है?" शीर्षक लेख पढा, इसे पढनेके बाद संस्थाके अन्तर्गत धर्म-परिषद् के सभासदों, शास्त्रियों द्वारा इसपर विचार किया गया, कई मुद्रित एवं अमुद्रित संहिता-ग्रन्थों एवं विवाह-पद्धतियोंको भी देखा। अन्तमें हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि देवृकामा यह पाठ नहीं है किन्तु देवकामा यही पाठ है। देवकामाकी जगह देवृकामा यह पाठ मानकर नियोगविषयक अर्थ करना दुराग्रह मात्र है।

एक भारतीय आर्यकन्याको उसके मातापिता मंगल आशीर्वाद दे सकते हैं, इस स्थान पर अमंगल की आशंका करना ही व्यर्थ है। देवृकामा इससे प्रत्यक्ष, उस नवसौभाग्यवतीके लिये अमंगल एवं दुःखजनक होता है, अतः यह सिद्ध है कि देवृकामा न होकर देवकामा ही है।

आपने इस प्रकारके भ्रमको दूर कर संदिग्ध व्यक्तियोंके भ्रम दूर करनेमें अधिक सहायता की, एतदर्थ धन्यवाद।

भवदीय

पं. श्रीभीमशंकरधनलाल शर्मा द्विवेदः
साहित्यशास्त्राचार्यः पुरोहितरत्नम्
मुख्याचार्य
❀ आदर्श विद्या-मन्दिर ❀
उदयपुर, (राजपूताना).

(२)

कुमायूं आयुर्वेदिक रसायन-निर्माण-शाला

पत्र संख्या ८८२।४४ **रानीखेत (उत्तर भारत)**
तिथि १३ फर्वरी ४४ ई.

माननीय महोदय।

आपका भेजा हुआ 'देवकामा' विशेषाङ्क प्राप्त हुआ, आपका निर्णय सर्वमान्य है। हम समझते हैं कि जो लोग 'ऋग्वेदमें देवृकामा' पद होनेका दुराग्रह कर रहे हैं वे आर्यधर्मप्रेमी जनताको अप्रत्यक्ष रूपमें दुराचारका पाठ पढाते हैं। यदि भ्रमवशात् धर्मग्रन्थोंमें कभी ऐसे अवाञ्छित शब्द स्थान पा भी जावें तो बुद्धिविवेकके सहारे शुद्ध पाठ रख दिये जाँय, कूर्माचल (हिमालय प्रदेश) में आठवीं शताब्दीसे जब कि भगवान् शङ्कराचार्यने श्री बद्रीनाथके समीप 'जोशीमठ' में मठ स्थापना की आज तक बराबर पारस्करगृह्यसूत्र पद्धतिके अनुसार द्विजाति मात्रके नियमानुसार षोडश संस्कार होते आये हैं, इन

संस्कारोंकी संग्रहीत पुस्तकोंका नाम 'दशकर्मपद्धति' 'संस्कार-पद्धति' 'संस्कारदीपक' प्रभृति हैं। ये पुस्तकें ५००-६०० वर्ष प्राचीन पर्वतीय भोजपत्र तथा (वडुवेके) कागजमें हस्तलिखित प्रत्येक ब्राह्मण परिवारके पास सुरक्षित हैं, उनमें 'देवकामा' यही शब्द स्पष्टतया लिखा हुआ है। पर्वतीय विद्वान् महामहोपाध्याय पं० नित्यानन्द पन्त प्रभृति महानुभावोंने भी इन्हीं हस्तलिखित पुस्तकोंके आधारपर आधुनिक कालमें पुस्तकें छपवाई हैं। कूर्माचल प्रदेशमें हजारों वर्षोंसे सनातन वैदिक धर्म पताका अक्षुण्ण है, सबको अपना सनातन वैदिक धर्म प्राण-प्रिय है। जिन लोगोंको अभी ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद होनेकी शंका हो, वे एक बार इस हिमालय पर्वतकी उपत्यकाओंमें भ्रमण कर शताब्दियों से सुरक्षित हस्तलिखित पुस्तकोंका अवलोकन कर अपने भ्रमको दूर करें। आशा है की सब विद्वान् शीघ्रही इस त्रुटिका सुधार कर जनताका सच्चा पथप्रदर्शन करेंगे। किसीभी नवयुवती व नवयुवकको ऐसे शब्दोंको सुननेपरभी लज्जित होना पडता है। विवाहके समयमें नियोगविषयक शब्दोंकी किसीभी जातिमें आवश्यकता नहीं समझी जाती। यह पवित्र वैदिक संस्कार केवल भारतीय सभ्य सन्तानके बीचमें ही प्रचलित है। जिन शब्दोंका स्पष्टार्थ हम अपनी माताओं, भगिनियों व पुत्रियोंको समझानेमें स्वयं लज्जित होते हैं, ऐसे शब्दोंको शीघ्र ही निकाल देना चाहिये। 'यथार्थदर्शनं ज्ञानं' जिन्हें अभी भी भ्रम हो मैं उन्हें सादर निमन्त्रित करता हूं कि वे हिमालयप्रदेशमें पधार कर इन ऋषि निर्मित संहिताओंकी प्राचीनसे भी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिलिपियोंको देखनेका कष्ट करें।

कविराज **भोलादत्त पाण्डेय**
आयुर्वेदशास्त्री M. R. A. S.

(३)

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

D. K. PUTRASHETTI
B.A., B.Sc., B.T., LL.B.
Head-master Waradkar English School,
Katta (Malwan, Ratnagiri). Date 27-3-1944

संपादक 'वैदिक धर्म' —

नमस्ते। आपका "वैदिक धर्म देवकामा विशेषांक" मैंने, सहाध्यायियोंने तथा अन्य सभ्य गृहस्थोंने पढा। लेख अतीव मननीय, संग्राह्य, सब शास्त्रोक्त प्रमाणोंसे परिपुष्ट, संशोधनशील, सुग्राह्य और सुगम है। वह इतना स्पष्ट है कि उसके बारेमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकताही नहीं। मानसशास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय, तो कोई भी वधू या वर अपना वर या वधूके लैंगिक सम्बंधकी कल्पनाही अन्य पुरुष या स्त्रीके साथ होना पसन्द नहीं करेंगे। जिस समाजमें विवाहनीतिकी कल्पनाएँ बहुत शिथिल हैं (उदा० बोल्शेव्हिझम् आदि) उसमें भी विवाहके शुरूमेंही यह कल्पना उचित नहीं मानी जाती। इसलिये मानसशास्त्र, उच्च ध्येय और तत्त्वनिष्ठा इनपर आधारित होनेवाले वेदोंमें नियोगकी असंबद्ध कल्पना मंगल विवाहके समय होना अश्लाघ्य तथा अनुचित है। हमारा कहना यह नहीं कि वेद नियोगको नहीं मानते, वेद जरूर नियोगको मानते होंगे और उसे गार्हस्थ्य-जीवनमें एक उपायके तत्त्वपर अच्छा स्थान भी दिया होगा, किन्तु प्रश्न यह है कि **नियोग का विचार विवाहके समयही होना उचित है या नहीं?** नियोगका स्थान है विवाहके बाद कमसे कम सात आठ वर्षके पश्चात्। इसलिये उसके विचारको विवाहके पहलेही निर्देश करना अविचार है।

हम आशा करते हैं आपको इस आन्दोलनमें जरूर यश मिले और सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि-सभा भी इस आन्दोलनका महत्त्व जानकर ऋग्वेद और संस्कारविधिमें 'देवृकामा' पद हटाकर वहाँ **'देवकामा'** छपानेकी कोशिश करे या 'देवृकामा' का अर्थ 'पतिपरिवारकी सदिच्छा रखनेवाली' ऐसा छपाले।

भवदीय

डी. के. पुत्रशेट्टी **एन्. एल्. कुलकर्णी**
एस्. डी. साळगांवकर. **एस्. वी. जोशी**

(४)

इन्दौर २५-५-४४

श्रीमन् नमस्ते,

आपका भेजा हुआ "देवकामा" अंक प्राप्त हुआ। धन्यवाद।

मेरे पिताजी जो करीब ८० वर्ष के हैं उन्हेंभी सुनाया। उनकी भी राय है कि विवाह के समय में नियोगपरक अर्थ लगाकर काम में लाना अशुद्ध है और समयानुकूल भी नहीं है। देवकामा या देवृकामा इसका निर्णय तो विद्वानोंके ऊपर

है। ज्यादा तर "देवकामा" ही योग्य है और होना चाहिये। अगर देवृकामा रखा जावे तो उसका अर्थ नियोगपरक न किया जावे। कारण कि कन्या गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त हो रही है, इस लिये यहां इसका आशय संमिलित कुटुंबकी ओर बीजरूप से आदेश है कि "हे वरानने, तू इस तरहका बर्ताव रखना कि तेरे देवर जितने भी हों वे सब साथमें रहें। इसका एकमात्र उपाय है कि तू देवर या देवरोंको चाहनेवाली होना" एकवचन से बहुवचन का भी बोध होता है।

संमिलित कुटुंब तभी संभव है कि जब नववधू अपने देवरों को चाहे और उनके साथ प्रेमपूर्वक बर्ताव करे। उदाहरण-स्वरूप श्रीमती सीताजी का अपने देवरोंपर कितना प्रेम था यह रामायणकी कथा भली भाँति विदित है। आप सरीखे विद्वानों के पास इतना मेरा लिखना ही पर्याप्त है

—दीनदयाल मिश्र

(५)

॥ तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

राणा खीरसरा. ता. २८-२-४४

पंडित महाशय,

आपका भेजा हुआ "देवकामा" विशेषांक मिला और लेख पढा तथा अपने इष्ट मित्रोंको भी पढनेको दिया। बहुमत आपकीही ओर है। किसीको भी विवाह-कालमें "नियोग" करनेहारी स्त्री मिले, यह बिलकुल पसंद नहीं और मुझे भी यही उचित जँचता है।

पहिले पतिके पश्चात् दूसरे नंबरका पति याने उसका अनुज भ्राता यदि नियोगकी इच्छा होवे तो इससे संयोग करे इस तरह पतिके जीतेजी और लग्नके प्रारंभमेंही, अजमेरवाले लिखते हैं, इस तरह "नियोगकी इच्छावाली हो," ऐसी प्रत्याज्ञा दी जाय, वह बिलकुल इच्छनीय नहीं है। यद्यपि उन्होंने लिखा तो साराही आर्य संसार ऐसा थोडाही करेगा? क्योंकि जो उसका अर्थ जानता है, वह ऐसा कभी नहीं बोलेगा।

भवदीय- स्कंद शांतेश गरेजकर

(६)

माँझन्द (सिन्ध) ३-२-४४

श्रीमान् जी,

निवेदन है, कल चारों वेद मिले, बडी कृपा। साथमें वैदिक धर्म मासिक पत्रका [देवकामा] अंक भी मिला। मैंने अपनी धर्मपत्नीको भी अंक पढनेके लिये दिया, हम दोनों आपकी राय में पूर्ण शामिल हैं। आपने यह खोजकर आर्य जगतपर और पूज्य वेदवाणीपर बहुत उपकार किया है- धन्यवाद।

मैं यह भी चाहता हूं कि जो भी लोग इस भूलमें हों वे खुद कितने बडे देवता भी क्यों न हों, धर्मकी पवित्रताके नाम इस को शुद्ध कर ले।

दौलतराम शर्मा

आर्गनाइझर सिं. हिं. जन. से. संघ

रवालसर (छेसु) कुंभ

(लेखक- श्री पं० सर्वजित गौड, कुल्लू)

मैं तथा मेरी भतीजी कुमारी चेतनेश्वरी आज ३ मार्च सन् १९४४ इ० साढे तीन बजे सायंकाल मोटर सरविसमें कुल्लू से मंडी रवाना हुये; मंडी सात बजे पहुँच गए. मंडी कुल्लु से ४३ मील है।

४ मार्च को प्रातः ६ बजे मंडीसे पगडंडी के रास्ते रवालसर रवाना हुये। यह रास्ता मंडी राज मुहल्लोंके आगे से जाता है। इसपर घोडा जा सकता है, रास्ता चढाई का है, परन्तु प्रातः समय सूर्य उदय होनेसे पहले यह मार्ग बडे आनन्दसे गुजरा, परन्तु सूर्य उदय होने पर गर्मी बढती गई और चढाई भी आती गई। किन्तु हमने आज रवालसर स्नान करके मंडी लौट आना था, इसलिये बडी तेजीसे चढाई खतम करके २ मील उतराई चल कर रवालसर ११ बजे पहुंच गए। यह सारी यात्रा १२ मील है।

आज शनिवार फाल्गुन शुद्ध दशमी है, बौद्धोंका बारह वर्ष का शुभ कुम्भ दिवस है। चीन, तिब्बत, कनावर, लाहौल तथा बुशहरसे बहुत यात्री पधारे हैं।

यहां एक बडा सरोवर है, जिसकी अथाह गहराई है। इस तालाबपर सैकडों बतकें इधर उधर किलोलें कर रही हैं तथा इसके भीतर असंख्य मछलियां तैरती दिखाई देती हैं। सरोवरके चारों ओर सरकंडे के पौदे खडे हैं और उसके बाहिर संघाडे आदि के वृक्ष हैं। चारों ओर दीवार हैं। सरोवरका घेरा २ फरलांगके लगभग है। इस सरोवरमें मिट्टीके टीले जिनपर सरकंडे के बडे २ पौधे खडे हैं, तैरते हैं। इन्ही टीलों के तैरनेका बडा मनोरञ्जक दृश्य है। यात्री अपनी धज्जियां इन पौधों पर चढाते हैं और पुरानी उतार कर ले जाते हैं। यह पवित्र शेष समझा जाता है। हमारे यहां पहुंचते ही दो टीले जो किनारेपर थे जिनपर यहां के पंडे खडे पूजन कर रहे थे चलने आरम्भ हुए। हमें यह देखकर बडा हर्ष हुआ। टीले बडे धीरे धीरे तैर रहे थे, किन्तु यह देखकर बडा आश्चर्य हो रहा था कि टीले उसी ओर जा रहे हैं जिस ओर स्त्रियां सरोवर के किनारे बैठी गाना गा रही थीं। उनका गाना मानों उन टीलों को अपनी ओर आकर्षण कर रहा था।

थोडी देर आराम के पश्चात् स्नान संध्यासे निवृत्त होकर बौद्ध मन्दिरमें दर्शन को गये। यह मन्दिर तिब्बत पद्धति का गुम्फा है, इस में मनधारा, महात्मा बुद्ध तथा पद्मा सम्भा आदि की बडी सुन्दर मूर्तियां हैं। अखंड ज्योतियां जग रही हैं। लामे बैठे हैं, अमूल्य चढावा चढ रहा है, लोग दर्शनके पश्चात् परिक्रमा करते हैं। मन्दिरके चारों ओर दीवार पर 'ओं मणि पद्मे हूम्' लगे हैं। इन्हें परिक्रमा करनेवाले लोग घुमाते जाते हैं। यहां शिवालय तथा राममन्दिरके अतिरिक्त एक गुरुद्वारा भी है। यात्री सेंकडों की संख्यामें सरोवर की परिक्रमा कर रहे हैं, सरोवरके चारों ओर किनारेपर कई लोग अपने रूमाल बिछाए बैठे हुये माला फेर रहे हैं। कई 'ओं मणि पद्मे हूम्' को घुमा रहे हैं, कोई पत्थर पर 'ओं मणि पद्मे हूम्' को खोद रहे हैं। इस मंत्रको खोदना यह लोग बडा कल्याणकारी समझते हैं। परिक्रमा करने वाले लोग इन लोगोंको अपनी श्रद्धाके अनुसार चावल, मेवे, तथा पैसे इन लोगोंके रूमाल पर रखते जाते हैं और अन्य मांगनेवालोंको भी देते जाते हैं। इस दिन यह दान बडा पुण्य समझते हैं।

यहां नांगा देशसे एक लामा पधारा है, जिस का ग्यारहवां अवतार है। यह मियाना कद गौर वर्ण तथा अति शान्त मूरत है। इसका शुभ नाम दुर्जोम दुर्जे है, इसका अर्थ शैतानको मारने का वज्र है। यह भोटी शब्द है।

तीन बजे शाम इसका जलूस गुफासे चलकर सरोवरके दूसरे सिरेपर मैदानमें जा पहुंचा, यहां सब बौद्ध लोग नंगे सिर हाथ जोडकर बैठ गये और भोटीमें लामाका उपदेश श्रवण करने लगे। उपदेश मौन गुमका था। मौन=अन्धेरा, गुम=अभ्यास मानों अन्धेरेमें आत्मदर्शनका अभ्यास करना। पांचों तत्वों का पहले अलग अलग ध्यान करना, फिर सबसे परे महा तत्व का ध्यान करना। जो इस सिद्धिको प्राप्त करता है, उसकी आयु बढती है। और मृत्युरूपी अन्धकारसे पार परम प्रकाशको प्राप्त होता है। तिब्बत, सपिति तथा लाहुलकी ओरसे चार पांच हजार नजराना इस लामा को प्राप्त हुआ।

कहा जाता है कि है कि पद्मा सम्भा जब बालक था, एक गुफ में बैठा था, उसका उस समय कोई गुरू न था, इतनेमें उसने आकाशसे एक विमान आते देखा। वह उसकी गुफामें आया। विमानसे जो व्यक्ति उतरा, वह बडा प्रकाशमय था; उसने उसे अपना गुरु जान खूब विद्या ग्रहण की और फिर सब में प्रचार किया। उसका नाम लूवन प्रसिद्ध हुआ। लूवनका अर्थ आचार्य है यह राजगृहमें भी उपदेशके लिये जाता था। राजा की पुत्री मनधारा बडी सुन्दरी थी, वह इसके उपदेशसे बडी प्रभावित हुई। यह देख बाकी पण्डितोंने द्वेषाग्निके कारण कहा कि यह दुराचारी है। इससे राजाने अपनी राजकुमारी को २ वर्ष कांटोंमें कारावास दिया और लोवन को तेलमें जला दिया। तेलका सरोवर बन गया उसमें पद्म उत्पन्न हुआ और उसमें खूबसूरत लडका उत्पन्न हुआ। वह पद्मा सम्भा अर्थात् कमलका लडका कहलाया। इसने बौद्ध धर्मको हिंदु धर्मके समीप लानेका उद्योग किया। इसके नामसे इस सरोवरका नाम लोवनसर प्रसिद्ध हुआ, पीछेसे बिगडकर इसका नाम लूवालसर हुआ, जो बाद में रवालसर कहलाया और मनधाराके नामपर मंडीनाम पडा, भोटी भाषामें मंडीका नाम जौहर है। सरोवरमें तैरनेवाले टीले भोटीमें लूवन नाम से प्रसिद्ध हैं।

४ बजे सायंकाल यहांसे लौट कर मंडी ९ बजे रातको आ पहुंचे और ५ मार्च शामकी सरविसमें कुल्लू ६ बजे आ पहुंचे। इस प्रकार रवालसर यात्रा (अर्थात् छेसु) समाप्त हुई।

वेदमन्त्रोंके शुद्ध तथा संगीतमय उच्चारणके लिए कुछ निर्देश

(लेखक- श्री पं० **धर्मराज वेदालङ्कार शास्त्री**, वेदाङ्ग उपाध्याय, गुरुकुल कांगडी.)

मन्त्रोच्चारणमें यह विरसता क्यों ?

जब हम सन्ध्या, हवन, स्वस्तिवाचन या शान्तिप्रकरण आदिके मन्त्र पढते हैं, तो हमें स्वयं और विशेष रूपसे किसी नये अभ्यागतको यह प्रतीत नहीं होता कि हमारी यज्ञशालामें कोई संगीत हो रहा है। इसका क्या कारण है ? प्रायः सब जानते हैं कि वेदोंके मन्त्र अधिकांशमें छन्दोंके नियमोंमें उसी प्रकार बद्ध हैं, जिस प्रकार सामान्य संस्कृतके श्लोक अथवा प्रतिदिन गाए जानेवाले भजन।

वेद संगीतमय काव्य

वेदके प्रत्येक मन्त्रका कोई न कोई देवता होता है। इस देवताको प्रसन्न करनेके लिए इसकी स्तुति की जाती है। प्रसन्न होकर यह हमें अभीष्ट वस्तुएं प्रदान करता है। साधारण लौकिक व्यवहारमें भी हम किसी बडे आदमीको खुश करनेके लिए अथवा अपनी भक्तिके प्रदर्शनार्थ उसका गुणगान करते हैं और यह गुणगान यदि किसी लेक्चरकी शक्लमें न होकर गीतके रूपमें हो तो अधिक असर डालनेवाला होता है। इसी तरह क्या देवता भी अपनी स्तुतिमें गद्य वाक्योंके स्थानपर गीतोंकी अञ्जलि पसन्द न करेंगे ? भगवान् कृष्णने गीतामें कहा है- '**वेदानां सामवेदोऽस्मि**'- वेदोंमें मैं सामवेद हूं। साम या संगीतके द्वारा परमेश्वरको अधिक सरलतासे रिझाया जा सकता है। दूसरे शब्दोंमें अपनी ओर अभिमुख करके उसके अनुग्रहको प्राप्त किया जा सकता है। भगवान्‌की भक्तिमें लिखा गया सम्पूर्ण साहित्य प्रायः पद्यमेंही होता है। महान् पर्वतोंकी उपत्यकाओंमें, दुर्भेद्य अरण्योंमें तथा विशाल पारावारके वक्षःस्थलपर प्रकृति अनादि कालसे अपना राग अलापकर प्रभुकी आराधना कर रही है। इस रागको जिन मनीषियोंने अन्तःश्रोत्रोंसे सुना है और जिनकी हृतन्त्रियां इसकी ध्वनिसे झंकृत हो रही हैं, क्या उनके मुखसे भी भावोद्रेकमें परिप्लुत काव्यधाराका उद्गम न होगा ?

वेदका नाम छन्द

वेदका एक नाम छन्द भी है। अर्वाचीन लौकिक संस्कृतके साहित्यमें आर्या, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता आदि वृत्तोंमें रचित श्लोकोंको भी इन्हीं वृत्तोंके नामोंसे पुकारा जाता है। 'आर्या-सप्तशती' एक प्रसिद्ध पुस्तक है; इसमें आर्याछन्दमें रचित सौ पद्य हैं, इस आधार पर पद्योंको भी आर्या कहा गया है। गायत्री मन्त्रसे सब परिचित हैं। गुरुमन्त्रका नाम 'गायत्री' सिर्फ इसी लिए है कि यह मन्त्र गायत्री छन्दमें है। इसी प्रकार क्योंकि वेद छन्दोंमें है- अतएव इसका नाम भी 'छन्द' हो गया। निरुक्तकार यास्कने कहा है कि 'छन्दांसि छादनात्' अर्थात् वेदको 'छन्द' कहते हैं क्योंकि वैदिक छन्दोंद्वारा आच्छादित या ढके होनेसे वेद सुरक्षित हैं। किसी साहित्यको सुरक्षित रखनेके लिए हमेशा उसे छन्दोबद्ध किया जाता है। प्राचीन कालके अधिकांश बहुमूल्य धर्मग्रन्थ वेद, उपनिषद्, महाभारत, त्रिपिटक, बाइबल, कुरान आदि सब छन्दोबद्ध होनेसे अभीतक सुरक्षित हैं।

प्रचलित भाषा और व्याकरण

जो भाषाएं प्रचलित होती हैं और बहुत कुछ विना अध्ययन केही सुनते सुनते सीख ली जाती हैं, उन भाषाओंका प्रयोग मनुष्य स्वच्छन्दतासे करता है। उसे व्याकरणशास्त्रके नियन्त्रण की चिन्ता नहीं होती, क्योंकि प्रचलित भाषाको बोलकर देखने मात्रसेही उसके ठीक या गलत होनेका बोध हो जाता है। हिन्दी भाषामें स्त्रीलिङ्ग और पुलिङ्ग हैं, किन्तु गुजरातीमें इनके अतिरिक्त नपुंसकलिङ्ग भी है, जिसके कारण गुजरातमें किसी अन्य प्रान्तीयको शुद्ध गुजराती बोलनेमें बहुत मुश्किल होती है। इस मुश्किलका जिक्र एकबार मैंने किसी शिक्षित गुजरातीके सामने किया तो उसने बडा आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि जिस शब्दका लिङ्ग जानना हो उस शब्दके साथ 'केवो' 'केवुं' 'केवी' में से जिसकी संगति हो, वही लिंग उस शब्दका समझना चाहिये। यह इसी तरह है, जैसे कोई कहे कि हिन्दीमें स्त्रीलिंगका शब्द वह है जिसके साथ 'कैसी' का प्रयोग हो और पुलिङ्ग वह है जिसके साथ 'कैसा' प्रयुक्त हो

सके। परन्तु लिंगसंम्बधी इस प्रकारकी परखोंसे वही काम ले सकते हैं जो उस भाषाको पहलेसे ही अच्छी प्रकार बोल और समझ सकते हैं। कहनेका अभिप्राय यही है कि नियमोंमें बंधी हुई भाषा पहले है, और नियमोंका प्रतिपादक व्याकरणशास्त्र पीछे। इसी प्रकार छन्दःशास्त्रकी उत्पत्ति होनेसे पूर्व भी छन्दोमय रचना होती थी, उस रचनामें लय तथा समताके नियमोंको ढूंढकर छन्दः शास्त्रका निर्माण किया गया। प्रचलित भाषाका कवि शास्त्रकी विशेष परवाह न करके भाषाको बोलकर और गाकर ही उपयुक्त पद्योंको बना लेता है। अथवा उसके मुंहसे स्वाभाविक रूपसे अनायास ही पद्यमय रचना निकल पडती है। कईबार यह रचना राग और लयकी अनुकूलताके लिए भाषाको भी थोडा बहुत परिवर्तित करनेमें नहीं सकुचाती। संस्कृतमें एक कहावत प्रसिद्ध है जिसका अभिप्राय यह है कि भाषा भले ही अशुद्ध क्यों न हो जाय, लेकिन छन्दोभंग नहीं होना चाहिये। भट्टिकाव्यमें '**उक्षांप्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्**' तथा '**विभयांप्रचकारासौ**' ये पाद मिलते हैं; जिनके स्थानपर क्रमशः '**प्रोक्षांचक्रुर्नगरस्य मार्गान्**' तथा '**प्रबिभयांचकारासौ**' होना चाहिये; किन्तु छन्दोभंगके भयसे अशुद्धिको भी सहन कर लिया गया है। इसी प्रकार अन्य कवियोंने भी '**तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्**' '**प्रभ्रंशयां यो नहुषश्चकार**' इत्यादि प्रयोगोंमें छन्दकी रक्षाके लिए व्याकरणकी अवहेलना की है। संस्कृतका पूर्ण एवं परिष्कृत व्याकरण बन चुकने पर भी ये महाकवि छन्दःशास्त्रको व्याकरणसे ऊपर रख रहे हैं। तो फिर वैदिक कवियोंने तो अवश्यही लय और तानके आधार पर ही वैदिक ऋचाओंको समझा होगा, क्योंकि तब तो व्याकरणके कठोर नियमोंका आविर्भाव ही नहीं हुआ था।

छन्दके लिए शब्दोंमें विकार

आजकल सभाओंमें बोले जानेवाले प्रचलित प्रसिद्ध भजनोंमें छन्द बैठानेके लिए भाषाको कितना मरोडा गया है, इसके कुछ उदाहरण देखिये। सबसे पहले आरतीकी दो एक पंक्तियोंको लेते हैं।

तुम पूरण परमातम तुम अन्तरयामी,
विषय विकार मिटाओ पाप हरो देवा।

इन दो पंक्तियोंमें 'पूर्ण' 'परमात्मा' और 'देव' शब्दोंकी कितनी दुर्गति हुई है। 'देव' का तो 'देवा' ही हो गया है। 'देवा' और देवके अर्थमें बहुत अन्तर है, 'देवा' कहते हैं 'देवर' को। 'आज मिल सब गीत गाओ' इस भजनमें तो छन्दके लिये भाषाके साथ बहुत ही खिलवाड किया गया है।

'मन्दिरोंमें कन्दिरोंमें पर्वतोंके शिख पर,
गाते हैं लगतार सौ सौ वार जलचर धन्यवाद।
शादियोंमें जलसयोंमें यज्ञ अर उत्सवके आद,
मीठे स्वरसे चाहिये करें नारि नर सब धन्यवाद।
जान कर अभिचन्द भजनानन्द ईश्वर अस्तुति।

इन पांच पंक्तियोंमें लयको ठीक रखनेके लिये ९ वार शब्दोंको विकृत करना पडा है। ९ से अतिरिक्त अन्य भी सूक्ष्म विकार हैं जिन्हें मैंने यहां परिगणित नहीं किया। इन ९ में से 'कन्दिरों' 'जलसयों' 'शिख' तथा 'अस्तुति' ये चार विकार तो अत्यन्त उपहासास्पद प्रतीत होते हैं। 'स्तुति' का 'अस्तुति' करके तो अर्थ ही उलटा जा सकता है; लेकिन गाते गाते हम इतने मस्त हो जाते हैं कि इन भूलोंकी ओर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है। एक और भजन 'जय जय पिता परम आनन्ददाता' की दो एक पंक्तियोंका अवलोकन कीजिये।

सूक्षम से सूक्षम तु है स्थूल इतना।
करो शुद्ध निर्मल मेरे आतमा को।

यद्यपि शब्दोंको प्रायः अविकृत और शुद्ध रूपमें ही लिखा जाता है, किन्तु उनका उच्चारण जब तक ऊपर दिखाए ढंगसे नहीं किया जावे, तब तक इन पंक्तियोंको गाया नहीं जा सकता।

यहां यह शंका की जा सकती है कि ये भजन किन्हीं ऊंचे प्रतिभाशाली कवियोंके बनाये हुए नहीं हैं, अतः इन्हें उदाहरण रूपसे पेश करना अनुचित है। नीचे हम स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुरके 'वीथिका' नामक संग्रह (जो कि उनके जीवनके अंतिम वर्षोंकी रचना है) से चार पंक्तियां उद्धृत करते हैं।

सेई मतो छिनु आमि कत दिन
आत्म परिचय हीन।
प्राणेर रहस्य सुगंभीर
अन्तर गुहाय छिल स्थिर।

यहां भी 'दिन' और 'स्थिर' को यदि हम क्रमशः हीन और 'सुगभीर' के साथ मेल बैठाते हुए 'दान' और 'स्थीर' के रूपमें न पढे तो लय ठीक नहीं हो सकती। वाल्मीकि ऋषिके

विषयमें प्रसिद्ध है कि उसने क्रौञ्च मिथुनमेंसे एकको निषाद द्वारा मारे जाते हुए देखा और उसके मुखसे अनायास ही–

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् अगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम् अवधीः काममोहितम् ॥

यह कविता निकल पडी। बादमें इसी श्लोकके आधारपर सारी रामायणकी रचना हुई। जिस कविकी कविता प्रयत्न-साध्य हैं, वह स्वाभाविक नहीं हो सकती। वैदिक ऋषियोंके मानसके उच्च धरातलमें जो स्फुरणाएं हुई, वे ही वेदके मन्त्र हैं। इनकी भाषा स्वाभाविक और अकृत्रिम है। अतएव व्याकरणके क्रूर प्रतिबन्ध उसपर नहीं लागू हो सकते। पिछले समयमें जब वेद लिखे जाने लगे, तो पाण्डित्यका अभिमान करनेवाले विद्वानों ने अपने ही मनुष्यसुलभ अल्प ज्ञानकी छाप वेदमन्त्रों पर भी लगा दी। अर्थात् व्याकरणके नियमोंके अनुसार वेदोंको कई जगह परिवर्तित करके संसारके समक्ष उपस्थित किया। आधुनिक विद्वन्मण्डलीमें वेदका मूल पाठ खोज निकालनेके लिये एक प्रवृत्ति काम कर रही है। यह कोई भी माननेको तयार नहीं है कि वेदके छन्द अनियमित हैं। वेदकी ऋचाओंमें छन्द और लय (Rhythm) तो होनेही चाहिये। भलेही इस लयके लिये भाषाको परिवर्तित करना पडे। इस परिवर्तनको आजकल Textual Restoration कहते हैं। उदाहरणके लिये हम गायत्री मन्त्रके प्रथम पाद ' तत्स वितुर्वरेण्यम् ' को लेते हैं। इस पादमें ७ अक्षर हैं, इस मन्त्रका छन्द क्योंकि गायत्री है, अतएव गायत्री छन्दके साधारण नियमोंके अनुसार प्रत्येक पाद आठ आठ अक्षरका होना चाहिये। यदि हम वेदमें छन्दोंकी अनियमितता स्वीकार करनेको तयार हों, तब तो यह भी समझ सकते हैं कि जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरणके नियम वेदकी भाषाको नियमोंमें नहीं बांध सके, उसी प्रकार वेदमन्त्रोंके छन्दोंके विषयमें भी यही कहना चाहिये कि वेदकी शैलीही कुछ ऐसी विचित्र है कि इसमें छन्दोंके सामान्य नियम लागू होते हुए भी हर जगह उनके द्वारा पूर्ण नियन्त्रणकी आशा नहीं की जा सकती। आजकल भी क्या हिन्दीके अभिनव कवि ' निराला ' आदि अपने निराले और सर्वथा नियन्त्रणरहित एवं गद्यपद्यमिश्रित अव्यवस्थित छन्दोंको नहीं चला रहे ?

किन्तु वस्तुस्थितिसे मुंह नहीं मोडा जा सकता। जब तक हम ' **तत्सवितुर्वरेण्यम्** ' को ' **तत्सवितुर्वरेणियम्** ' करके उच्चारण न करें, तबतक संगीतका स्वारस्य नहीं आ सकता। इस अवस्थामें क्या यह अनुचित है कि हम ' **वरेण्यम्** ' के स्थानपर ' **वरेणियम्** ' कर लें ?

पाठपरिवर्तनके शास्त्रीय प्रमाण

वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकारके छन्दोंके विषयमें अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ ' **पिङ्गलच्छन्दःसूत्र** ' में एक सूत्र है ' इयादिपूरणः '। इसका अर्थ यह है कि छन्दके पादके अक्षरोंकी संख्याको य् का इय्, व का उव् आदि करके पूरा किया जा सकता है। इस नियमके अनुसार हम ' **वरेण्यम्** ' को ' **वरेणियम्** ' कर सकते हैं।

ऋग्वेदके छन्दोंके विषयमें शौनक ऋषिकृत ऋक्प्रातिशाख्य सबसे अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। सन्धि आदि तोडकर अथवा एक एक अक्षरको दो दो अक्षर बनाकर किसी ऋचाके किसी पादके अक्षरोंको पूरा करना इस ग्रन्थकी दृष्टिमें आवश्यक माना गया है। ऋक्प्रातिशाख्य के ८ वें पटलमें एक श्लोक है–

' **व्यूहैः संपत् समीक्ष्योने क्षैप्रवर्णैकभाविनाम् ।** '

इस सूत्र पर आचार्य उवटका भाष्य इस प्रकार है– ' **ऊने पादे क्षैप्रवर्णानां च सन्धीनाम् एकीभाविनां च व्यूहैः पादस्य संपत् समीक्षितव्या** '। इसका अभिप्राय यह है कि पादमें अक्षर न्यून हों तो य् और व् के स्थानपर क्रमशः इ, उ कर सकते हैं, ए, ओ, ऐ, औ इन सन्ध्यक्षरोंको विभक्त कर सकते हैं; अथवा जहां दो स्वरोंके स्थान पर एकादेश हुआ हो वहां पुनः दो स्वरोंको रख सकते हैं। इस नियमको स्पष्ट करनेके लिये भाष्यमें निम्न लिखित उदाहरण दिये गये हैं।–

' **उद्वत् सुअस्मा अकृणोतना तृणम्** '

यहां 'स्वस्मा' की सन्धि तोडकर ' **सुअस्मा** ' करके ११ अक्षरके स्थानपर इस पादमें १२ अक्षर हो गए हैं।

ग उ र्न पर्व विरदा तिरश्चा

इस पादमें ' **गो** ' के स्थानपर ' **ओ** ' वर्णका विभाग ' गउ ' बनानेसे ११ अक्षर हो गये हैं और यह पाद त्रिष्टुप् का पाद हो जानेसे अब इसमें त्रिष्टुप् छन्दके नियम लागू हो सकते हैं।

प्र इता जयता नरः

यहां 'प्रेता' के स्थानपर गुणसन्धिको हटाकर 'प्र इता' करके पादमें ८ अक्षर होनेसे यह पाद गायत्र पाद हो गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्यके ८ वें पटलका सूत्र ऊपर उद्धृत किया गया है, इसी सूत्रके आशयको १७ वें पटलमें दूसरे शब्दोंमें पुनः दोहराया गया है।

व्युहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु संपदि।
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः।

इस प्रसङ्गमें एक नया उदाहरण यह दिया है—

'त्रिअम्बकं यजामहे'

यहां 'त्र्यम्बकम्' के स्थानपर 'त्रिअम्बकम्' करनेसे एक अक्षरकी वृद्धि करके यह पाद आठ अक्षरका होकर गायत्र पाद बन गया है। इस अवस्थामें गायत्रीके अन्य पादोंके समान आसानीसे गाया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋक्प्रातिशाख्यकार ऋषि शौनकने पादाक्षरसंख्यापूर्तिके लिए न केवल सन्धियोंको तोडने की स्वीकृति दी है, अपितु साथही किसीभी दीर्घ अक्षर को विभक्त करना वैध माना है। पादके अक्षरोंको आखिर किस लिए पूरा किया जाता है? सिर्फ इस लिए कि उस पाद को अन्य पादोंके समान उचित छान्दस् रीति के साथ लयपूर्वक गाया जा सके।

परिवर्तनके कुछ नियम

शास्त्रके उक्त आदेशोंको लक्ष्यमें रखकर तथा वेदका सूक्ष्म अध्ययन करके विद्वानोंने कुछ नियम स्थिर किये हैं, जिनके अनुसार स्थान स्थान पर उपलब्ध वैदिक पाठको इसके असली मूल पाठके रूपमें परिणत कर सकते हैं। इन नियमोंके अनुसार परिवर्तन वहीं किए जाएंगे, जहां छन्दके पादके अक्षरोंकी संख्या पूरी न हो सके। संक्षेपमें ये नियम निम्नलिखित हैं—

१ गुण और सवर्ण दीर्घसन्धिका छेद। यथा,

प्रेद्धः> प्र इद्धः
सूर्म्या> सु ऊर्मिआ,

२ पूर्वरूप सन्धिका छेद। यथा,

नोऽजस्रया> नो अजस्रया

३ य् और व् को इ उ अर्थात् सम्प्रसारण करना। यथा,

सख्याय> सखिआय, त्वम्> तुअम्

४ सन्ध्यक्षरोंको विभक्त करके बीचमें य् याव् का आगम करना। यथा,

ज्येष्ठ> ज्यइष्ठ> ज्ययिष्ठ;
धेष्ठ> धइष्ठ> धयिष्ठ; प्रेष्ठ> प्रइष्ठ> प्रयिष्ठ।

५ गायत्री और जगती छन्दके पादोंका अन्तिमसे पहिला अक्षर गुरु होता है, विराट् तथा त्रिष्टुप्के पादोंका अन्तिमसे पूर्व अक्षर लघु होता है। इस गुरू लघुभावका प्रातिशाख्यमें पारिभाषिक नाम 'वृत्त' है। वृत्तके इस नियमको ध्यानमें रखते हुए हमें कई जगह गुरु वर्णको लघु तथा लघुको गुरु करना होगा। यथा;

समुद्रार्था याः शुचयः पावकाः।
ता आपो देवीरिह मामवन्तु।

ये दो पाद त्रिष्टुप छन्दके हैं, उसके अन्तिमसे पहले वर्ण गुरु होने चाहिये। निचले पादका व संयोगपरक होनेसे गुरु है, किन्तु उपरली पङ्क्तिका व गुरु नहीं है, इसे दीर्घ करके गुरु बनाना होगा। वेदके छन्दोंका सूक्ष्म गम्भीर अध्ययन करनेके उपरांत विद्वानोंने यह परिणाम निकाला है कि त्रैष्टुप् पादके अन्तिम चार वर्ण गुरुलघुभाव की दृष्टिसे ऽ।ऽऽ इस प्रकार होने चाहिए। यदि ऊपरके पादकी पङ्क्तिको हम—

समुद्रार्था याः शुचयः पवाकाः

इस प्रकार पढें तो यह पाद सम्पूर्ण वेदके अन्य त्रैष्टुप् पादोंसे मेल खा सकता है।

आठ अक्षरके गायत्र पादके अन्तिम चार वर्ण प्रायः सर्वत्र ।ऽ।ऽ इस रूपमें उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टिसे 'मृळा सुक्षत्र मृळय' इस पादमें 'मृळय' को 'मृळय' करके पढना संगीतकी दृष्टिसे अधिक अनुकूल है।

ऊपर जिसे वृत्त कहा है, इसे संगीतशास्त्रकी परिभाषामें Rhythm कह सकते हैं। जिस कवितामें Rhythm नहीं, वह कविता कमसे कम छन्दोबद्ध नहीं कही जा सकती। 'छन्द' का पर्यायवाची शब्द वृत्त भी है। वृत्त में वृत्त अर्थात् Rhythm तो होनाही चाहिये।

६. दीर्घ स्वरके दो टुकडे करना। अनेक स्थलोंमें षष्ठी बहुवचनके 'आम्' को 'अआम्' करके पढना पडता है। यथा,

वयं पुरा महि च नो अनु द्यून्
तन्न ऋभुक्षा नरआम् अनुष्यात्।

यहां त्रिष्टुप् छन्द है। निचले पादमें ११ अक्षर करनेके लिये 'नराम्' के स्थान पर 'नर आम्' किया गया है।

७ दो व्यञ्जनोंके बीचमें स्वरका आगम। यथा;

इन्द्र> इन्दर; स्वः> सुवः; स्वर्गम्> सुवर्गम्;

तन्वम्> तनुवम्; त्र्यम्बकम्> त्रियंबकं

पाणिनीय व्याकरण में 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६।४।७७)'—सूत्रके नीचे इयङुवङ् प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम्' इस वार्तिक द्वारा इस नियमको व्याकरण सम्मत स्वीकार किया गया है।

परिवर्तित पाठके कतिपय उदाहरण

शास्त्रपर आश्रित इन नियमोंके प्रकाशमें यदि हम दैनिक कार्योंमें तथा विशेष अवसरोंपर वेदमन्त्रोंका उच्चारण आरंभ कर दें, तो निश्चय ही हम वेदके छन्दोंमेंसे एक मधुर रागिणी को स्फुरित होता हुआ देख सकते हैं। यहां नीचे हम कुछ प्रसिद्ध मन्त्रोंका उक्त नियमोंके अनुसार कहीं कहीं पाठ परिवर्तित करके निदर्शनार्थ प्रस्तुत करते हैं। आशा है पाठक महानुभाव इन्हें नये ढंगसे पढके परम देवके अजर अमर काव्यका कुछ न कुछ रसास्वादन अवश्य कर सकेंगे।—

१ प्रजापते न त्वदेतानि अन्यो
विश्वा जातानि परि ता बभूव
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रयीणाम्।

२ अग्ने नय सुपथा राय अस्मान्।
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोधि अस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।

३ यः प्राणतो निमिषतो महित्वा
एक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः
कस्मै देवाय हविषा विधेम।

४ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वम्
इष्टापूर्ते सं सृजेथामयं च
अस्मिन्त्सधस्थे अधि उत्तरस्मिन्
विश्वे देवा यजमानश्च सीदत।

५ तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो
घृतेन वर्धयामसि
बृहच्छोचा यविष्ठिअ।

६ स नः पितेव सूनवे
अग्ने सूपायनो भव
सचस्वा नः स्वस्तये।

७ समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत
आरा नाभिमिवाभितः।

८ यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः
एकत्वमनुपश्यतः।

९ त्वं ह त्यद् इन्दर कुत्समावः
शुश्रूषमाणस्तनुआ समर्ये
दासं यच्छुष्णं कुयवं नि अस्मा
अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्।

१० यो जागार तमृचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति
यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये निओकाः

११ अपाम सोममृता अभूम
अगन्म ज्योतिराविदाम देवान्
किं नूनमस्मान् कृणवद् अरातिः
किमु धूर्तिरमृत मर्त्तिअस्य

१२ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादुअत्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति

१३ अग्ने पवस्व सुअपा
अस्मे वर्चः सुवीरिअं
दधद्रयिं मयि पोषम्

१४ त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्
देवस्य हेळो अवयासिसीष्ठाः
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो
विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्धि अस्मत्

१५ त्वं नो अग्ने अवमो भवोती
नेदिष्ठो अस्या उषसो वि उष्टौ
अवयक्ष्वनो वरुणं रराणो
वीहि मृळीकं सुहवो न एधि

१६ उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय
अथा वयमादित्य व्रते तव
अनागसो अदितये स्याम । ×

सामवेदमें भी पाठपरिवर्तन आवश्यक

अगर उपलब्ध पाठको ही ठीक माना जाय, तो कमसे कम संगीतिप्रधान सामवेदके मन्त्रोंका तो ऐसा पाठ अवश्य होना चाहिये जिसके अनुसार उन्हें गाया जा सके । सामवेदके लगभग २००० मन्त्रोंमें से केवल ७५ ही ऐसे हैं जिन्हें सामदेवके खास मन्त्र कहा जा सकता है, क्योंकि बाकी सब वैसे के वैसे ही ऋग्वेदमें भी मिलते हैं । परन्तु हम देखते हैं कि सामवेदके ये विशेष मन्त्र भी उपलब्ध पाठमें परिवर्तन किये विना गाए नहीं जा सकते । कतिपय मन्त्रोंको यहां परिवर्तित पाठके साथ उद्धृत करते हैं ।

१ अग्ने विवस्वदाभर, अस्मभ्यमूतये महे,
देवो हि असि नो दृशे ।

२ यदि वीरो अनुषि आद्,
अग्निमिन्धीत **मर्त्तिअः**
आजुह्वद् हव्यमानुषक्, शर्म भक्षीत **दैविअम्** ।

३ इत एत उदारुहन्, दिवः पृष्ठानि आरुहन् ।
प्रभूर्जयो यथा पथो, दिआमाङ्गिरसो ययुः ।

४ ये ते पन्था अधो दिवो, येभिर्विअश्वमैरयः
उत श्रोषन्तु नो भुवः ।

५ क इमं नाहुषीषुआ, इन्द्रं सोमस्य तर्पयात्
स नो **वसूनि** आभरत् ।

६ आया हि उप नः सुतं, वाजेभिर्मा हृणीयथाः,
महाँ इव युवजानिः ।

७ आ इन्द्र पृक्षु कासुचिन्, नृम्णं तनूषु धेहि नः,
सत्राजिद् उग्र **पौंसिअम्**

सामवश सन्धि और प्लावन

प्रातिशाख्य ग्रन्थोंमें सामवश* सन्धि तथा 'प्लवन' का उल्लेख है । छन्दके किसी पादकी मात्राओंमें वृद्धि करनेके हेतुसे ये कार्य किये जाते हैं । 'सामवश सन्धि' यह नाम ही अपने अर्थ को सूचित करता है, यह सन्धि अथवा स्पष्ट शब्दों में कहें तो ह्रस्वको दीर्घादेश छन्दमें साम या समता harmony लानेके लिए किया जाता हैं । इसके कुछ उदारहण यहां दिए जाते हैं ।

अभी षु णः सखीनाम्
कदू महीरधृष्टा अस्य
उशन् होतर्निषदा योनिषु त्रिषु
रेवाँ इव प्रचरा पुष्टिमच्छ
गुहा यदी कवीनाम्

स्थूलाक्षरोंके स्थलोंमें सामवश सन्धिद्वारा दीर्घ किया गया है । इस दीर्घकी पुष्टि पाणिनिके 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' 'इकः सुञि' 'द्व्यचो तस्तिङः' 'निपातस्य च' आदि सूत्रोंसेभी होती है ।

प्लवन के द्वारा स्वरका विस्तार करके उसे दीर्घ करनेका उद्देश्य भी छन्दमें समता पैदा करना ही है ।

सामवश सन्धि और प्लवनका यहां उल्लेख यह दिखलानेके लिए किया गया है कि जिस प्रकार छन्दमें समता सामञ्जस्य या गेयता लानेवाले ये कार्य सर्वथा शास्त्रसम्मत हैं, इसी प्रकार उपरिनिर्दिष्ट नियमों द्वारा किए जानेवाले परिवर्तन भी क्योंकि समता और गेयताके लिए हैं, तथा प्रामाणिक ग्रन्थोंमें उनकी ओर सङ्केत है, अतएव वे शास्त्रसम्मत तथा उपादेय हैं ।

× इन मन्त्रोंमें मोटे अक्षरयुक्त स्थलोंका मूलपाठ संख्या क्रमसे यह है– (१) एतान्यन्य, (२) युयोध्यस्मद्, (३) माहित्वैक, (४) अध्युत्तरास्मिन् (५) यविष्ठ्य, (६) सूनवेऽग्ने (७) सपर्यतारा (८) भूतान्यात्मा (९) इन्द्र, तन्वा, न्यस्मा (१०) सख्ये न्योकः (११) मर्त्यस्य (१२) स्वाद्वत्ति (१३) स्वपा (१४) प्रमुमुग्ध्यस्मत् (१५) अग्नेवमः, व्युष्टौ (१६) तवानागसो ।

* देखो—ऋग्वेद प्रातिशाख्य ७म, ८म पटल ।

वेदके एक प्रतिष्ठित विद्वान्से मैंने कहा कि 'जब आप वेद' मन्त्रोंमें ' कुत्र 'के स्थानपर ' कुत्रा ' ' भरत ' की जगह 'भरता' और 'एव' के स्थानपर 'एवा' होनेमें छान्दससमता (Metrical Harmony) का कोई विचार करते हुए दोष नहीं देखते, तो फिर आप इसी छान्दस् समताके लिए ' स्वाद्वत्ति ' को ' स्वादु अत्ति ', ' यविष्ठय ' को ' यविष्ठिअ ', ' इन्द्र ' को ' इन्दर ', ' पावकाः ' को ' पवाकाः ' बनते देखकर क्यों घबराते हैं ? 'उन्होंने उत्तर दिया कि' सामवश सन्धि तथा प्लवन तो वेदमें ईश्वरने पहलेसे ही कर रखे हैं, ईश्वरकृत होनेसे उन में किसीभी दोष की सम्भावना नहीं हो सकती। किन्तु यदि ' इन्द्र ' को ' इन्दर ' और ' नराम् 'को ' नर आम् ' तथा ' तन्वा 'को ' तनुआ ' करने लग जायें, तो वेदमें अनेक विकार हो जाएंगे तथा इन विकृत शब्दोंका पाठ मुद्रित होते रहनेसे तो किसी समयमें मूल पाठ ही का पत्ता लगाना दुष्कर हो जायगा । इसका प्रत्युत्तर हम यह देते हैं कि श्रुतिकालमें जब वेदमन्त्रोंको लोग ध्यान देकर कानोंसे सुनते थे और उनका गायन करते करते मस्त हो जाते थे, उस समय छान्दससमताका ख्याल रखते हुए हमारा अभीष्ट परिवर्तित पाठ अवश्य व्यवहारमें होगा । बल्कि हमें तो यहां तक कहना चाहिये कि ' इंदर ' और ' यविष्ठिअ ' वाला पाठ ही मूल पाठ है, वर्तमान पाठ उस समयका है जब कि वेदको व्याकरण के कृत्रिम नियमोंमें ढालकर और उसके छांदस् समतावाले रूपसे हटाकर लिखा जाने लगा। परंतु प्रातिशाख्यकार वस्तुस्थितिको अच्छी तरह समझते थे, इसी लिए उन्होंने अपने शास्त्रमें ऐसे निर्देश कर दिये जिनके द्वारा फिर मूल पाठ तक पहुंचा जा सकता है ।

ग्वम्

श ष स ह तथा र के परे होनेपर अनुस्वारके स्थानमें एक विशेष आदेश हो जाता है, जिसका उच्चारण उत्तर भारतमें ग्वम् जैसा होता है। शास्त्रमें अनुस्वारकी आधी मात्रा मानी गई है, और देखा जाय तो ग्वम्में दो मात्राएं हैं । यदि आधी मात्रावाले अनुस्वार के स्थानमें दो मात्रावाला ' ग्वम् ' बोला जायगा तो निश्चय ही छन्द बिगडेगा । होता भी यही है । जब हम 'देवानां रातिराभिनो निवर्तताम्' के स्थानपर 'देवानां ग्वं रातिरभिनो निवर्तताम्' बोलते हैं, तो पाद एकदम टूटता हुआ मालूम होता है । इसी प्रकार 'उद्वुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वम्' के बाद जब हम 'इष्टापूर्ते संसृजेथामयं च' के ' संसृजेथाम्' को 'सग्वं सृजेथाम्' करके बोलते हैं, तो संगीतमें सहसा विरसता आती है ।

यह ग्वम् आया कहांसे ? अनुस्वार उच्चारणमें प्रान्त प्रान्त में विषमता है । और यह विषमता तभी विशेष रूपसे होती है जब इससे परे रेफ या उष्मा वर्ण हो ।

महाराष्ट्रमें 'संस्कृत' शब्दको 'सँव्स्कृत' के रूपमें तथा बंगालमें 'सौङ्स्कृत' के रूपमें बोलते हैं । उत्तर भारतमें 'सिंह' को 'सिंग्ह' या 'सिंघ' बोलकर अंग्रेजीमें Singh लिखते हैं। पाणिनिके 'अनुस्वारस्यययि परसवर्णः' इस सूत्रके अनुसार रेफ और ऊष्मा को छोडकर अन्य सब स्थलोंमें अनुस्वार ञ, म, ङ, ण, न में परिवर्तित हो सकता है । केवल श, ष, स, ह, और र ही रह जाते हैं जिनके परे होनेपर अनुस्वार अपने स्वरूपको सुरक्षित रख सकता है । इसका कारण महाभाष्यके प्रथम आह्निकमें इस प्रकार दिया है– रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति, अर्थात् जैसे 'क' का तुल्यस्थानी अनुनासिक 'ङ' है, इस प्रकार र, श, ष, स, ह का तुल्यस्थानी अनुनासिक वर्ण कोई न होने से अनुस्वार वैसा का वैसा ही रहता है । किन्तु कालक्रमसे इन वर्णोंके परे रहनेपर भी अनुस्वारका अपना उच्चारण सुरक्षित न रह सका । ऋक्प्रातिशाख्यके १३ वें पटलमें दीर्घपूर्व तथा ह्रस्वपूर्व अनुस्वारका विस्तारसे परिगणन किया गया है । इस परिगणनका कारण बतलाते हुए उव्वटाचार्यने अपने भाष्यमें कहा है —

'अनुस्वारस्य तावत्स्थाने ङकारं जनयन्ति, तस्मात् ङकारात्परं ककारमन्तःपातं जनयन्ति । तन्निवृत्त्यर्थमनुस्वारं लक्षणं क्रियते । '

इसका अभिप्राय यह है कि कई अल्पश्रुत लोग दीर्घपूर्व अनुस्वारको ह्रस्वपूर्व करके अनुस्वारके स्थानमें ङ का उच्चारण करते हैं और कई बार इस ङ के बाद एक क का और आगम कर देते हैं । उदाहरणके लिये वे ' हवींषि ' और ' सर्पींषि ' को या ' हविङ्षि ' ' सर्पिङ्षि ' या ' हविङ्क्षि ' और 'सर्पिङ्क्षि' बोलते हैं । इस दूषित उच्चारणको दूर करने के लिये ही दीर्घपूर्व अनुस्वारका परिगणन ऋक्प्रातिशाख्य-कारने किया है । आधुनिक भाषाविज्ञानके नियमोंके अनुसार हम इसकी यह व्याख्या कर सकते हैं कि अनुस्वारके पूर्व दीर्घ अक्षर रहनेसे दीर्घपर बल रहता है, किन्तु दीर्घके ह्रस्व होनेसे

घटी हुई मात्राकी पूर्ति अनुस्वारको ङ् बनाकर तथा उसके बाद अन्य वर्णोंका आगम करके की जाती है। इस परिवर्तनमें मुख्य बात तो अनुस्वारको ङ् करना है, ङ् के बाद श ष स होनेसे बीचमें क् या ख् तो स्वभावतः आ जाता है। पाणिनिने ङ्णोः कुक् टुक् शरि (८-३-२८) सूत्र तथा इसके वार्तिक द्वारा क्, ख्, के अतिरिक्त ट् ठ् के आगमकी भी व्यवस्था कर दी है। ×

उक्त विवेचनका अभिप्राय यह है कि अनुस्वारको ही कुछ प्रान्तोंमें विशेष ढंगसे बोलनेकी चाल थी और उसीका विकार आजकलका 'ग्वम्' है। अनुस्वारका वास्तविक उच्चारण अनुस्वारही है। यदि हम वेदके आदिकालीन शुद्ध उच्चारणका अनुसरण करना चाहते हैं, तो हमें ' ग्वम् ' को सर्वथा छोड देना होगा।

किसी समय दो स्वरोंके बीचमें आनेवाले ड तथा ढ को ळ और ळ्ह करके बोलनेकी रीति किसी प्रदेश विशेषमें थी। ये विशिष्ट उच्चारण कभी सार्वत्रिक नहीं रहे और इसी लिये प्रातिशाख्योंमें इन्हें वैकल्पिक अथवा आचार्यविशेषके द्वारा सम्मतके रूपमें प्रतिपादित किया है +। इन्हींके समान ग्वम् भी है।

क्या इस ग्वम्का कहीं शास्त्रमें विधान है ? कात्यायन महर्षिकृत शुक्लयजुःप्रातिशाख्यके आठ अध्यायकी समाप्तिके बाद उसके पीछे कुछ परिशिष्ट हैं। इन परिशिष्टोंमें एक प्रतिज्ञा परिशिष्ट भी है जिसकी तीसरी कण्डिकाके आरम्भमें ' ग्वम् ' का विधान है। ग्वम् तीन प्रकारका होता है, यदि ह्रस्व अक्षरसे परे हो तो ह्रस्व, दीर्घ अक्षरसे परे दीर्घ तथा संयुक्तवर्ण परे होनेपर गुरु होता है। यह कई प्रकारसे लिखा जाता है- ँ, ॐ, ँ, इत्यादि।

इसी प्रतिज्ञा परिशिष्ट सूत्रकी द्वितीय कण्डिकाकी अवतारणिकामें ' अथ कातीचिद् अवशिष्ट संस्कारान् आह ' ऐसा कहकर य् को ज्, ऋ को रे, ऌ को ले तथा ष को ख् के रूपमें उच्चारण करनेकी व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्थाके अनुसार आजकल बहुतसे पुराने ढंगके यजुर्वेदी पण्डित ' सहस्रशीर्षा ' के स्थानपर 'सहस्रशीरेखा,' 'युञ्जानः' और 'सूर्य' के स्थानपर क्रमशः ' जुञ्जानः ' और ' सूर्ज्ज ' उच्चारण करते हैं। इसी कण्डिकाके अन्तिम सूत्रमें कहा है– ' **अर्थवेलायां प्रकृत्या** ' अर्थात् मन्त्रोंका अर्थ करते हुए ये विशिष्ट उच्चारण नहीं करने चाहिये।

भाषाविज्ञान तथा उच्चारणशास्त्र (Philology और Phonetics) का कोई भी उच्चकोटिका विद्वान् यह स्वीकार करनेको तय्यार नहीं होगा कि आदिकालमें वेदमन्त्रोंके **' य 'को ज** तथा **ष** को **ख** पढा जाता होगा अथवा लोग ' ऋत षाट् 'को ' रेताखाट् ' पढते होंगे। यदि ये पिछले उच्चारण ही असली हैं तो लिखनेमें ज, ख, और रे ही लिखना चाहिये। ये उच्चारण एकदेशीय, विकृत एवं भ्रष्ट तथा अर्वाचीन हैं, यह बात इसीसे सिद्ध है कि इनका समावेश किसी मूल प्रातिशाख्यमें नहीं है। परिशिष्टमें होनेका तो अभिप्राय ही यह है कि इनकी व्यवस्था बादमें की गई है। इसके अतिरिक्त परिशिष्टमें भी ' **अर्थवेलायां प्रकृत्या** ' कहनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'ज' 'ख' और 'रे' आदि प्रकृति न होकर विकृति ही हैं।

'ज' 'ख' 'रे' जिस प्रकार शुक्ल यजुःप्रातिशाख्यके परिशिष्टमें हैं, इसी प्रकार ग्वम् भी है। ' ग्वम् ' का विधान भी पीछेसे किया गया है, अतएव 'ज' 'ख' 'रे' के समान यह भी उपादेय न होकर त्याज्यही है। कमसे कम आजकल अनुस्वारके स्थानपर ' ग्वम् ' जैसा मोटासा शब्द जो बोल देते हैं, वह तो सर्वथा हेय है। किसी समय अनुस्वारको ही थोडासा बिगाडते होंगे और उससे छन्दोभंगकी सम्भावना कदाचित् न होती होगी। किन्तु जब हम वेदका शुद्धसे शुद्ध और प्राचीनतम उच्चारण करनेके लिये कटिबद्ध हैं, तब हमें शुद्ध अनुस्वारका ही प्रयोग करना चाहिये।

दुर्जनतोषन्यायसे यदि शुक्ल यजुःप्रातिशाख्यके परिशिष्टविहित ग्वम्के विधानको मान्य समझा भी लें, तब भी यह

× तुलना करो, ' ङ्वौ क्ताभ्यां सकारे। नहालभ्यस्य।' (५-१५-१६) शुक्लयजुःप्रातिशाख्य

+ जिह्वामूलं तालु चाचार्य आह, स्थानं डकारस्य तु वेदमित्रः। द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य, संपद्यते स डकारो ळकारः। ळ्हकारतामेति स एव चास्य, ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः, इळा साळ्हा चात्र निदर्शनानि, वीड्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण।

ऋक्प्रातिशाख्य १-५२

विधान केवल शुक्लयजुर्वेदपर ही लागू होगा, ऋग्वेद आदिमें तो हम किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थके आधारपर ग्वमूका उच्चारण नहीं कर सकेंगे। ऋक्प्रातिशाख्यमें कहीं भी ग्वमूका विधान नहीं है।

अन्तमें दो चार शब्द वेदमन्त्रोंके मुद्रणके सम्बन्धमें भी कहे जा सकते। आजसे १५-२० वर्ष पूर्व वेदमन्त्रोंके पादोंको श्लोकोंकी तरह पृथक् पृथक् मुद्रित न करके एक दूसरेसे सटाकर लिखा जाता था। वेदकी मुद्रित पुस्तक सरसरी नजरसे देखनेपर गद्य ही प्रतीत होती थी। लेकिन कुछ समयसे विद्वानोंका ध्यान वेदके शुद्ध तथा आकर्षक मुद्रणकी ओर गया है। **औंध (सातारा) के स्वाध्याय-मण्डलको** इस बातका सबसे अधिक श्रेय मिलना चाहिये कि उसने वेदमन्त्रोंकी छपाई इस ढंगसे करवाई कि अब किसी भी वेदको उठाकर देखें, उसमें पद्यात्मक काव्य दृष्टिगोचर होता है। **स्वाध्याय-मण्डल**ने एक एक पादको अलग अलग छापते हुए छन्दके नियमोंको स्मरण रखा है। अन्यत्र वेदमन्त्रोंका ऐसा भी मुद्रण हुआ है कि मुद्रण कर्ताओंने मन्त्रोंके पादोंको कृत्रिम रूपसे विभक्त कर दिया है और इस प्रकार छन्दको बहुत आघात पहुंचाया है। उदाहरणके लिये हम यहां आर्य-साहित्य-मण्डल लिमिटेड अजमेर द्वारा प्रकाशित यजुर्वेदसे निम्न रूपमें मुद्रित दो मन्त्रोंको लेते हैं—

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वान्—
ग्नेरग्ने पुरो अग्निर्भवेह ।
विश्वा आशा दीद्यानो विभा—
हूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे । (१-६६)

यहां पहली पङ्क्ति 'विद्वान्'से समाप्त होकर दूसरी पङ्क्ति 'अग्ने'से आरम्भ करनी चाहिये। तीसरी पङ्क्ति यदि सन्धिच्छेद करके ' विभाहि '' पर समाप्त की जाय और चौथी ' ऊर्जम् ' से आरम्भ की जाय तो छन्दका स्वारस्य स्थिर रह सकता है।

अभित्वा रुद्रा वसवो गृण—
न्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगाया—
श्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ।

यहां पादोंका विभाग सर्वथा कृत्रिम है। पहले पादको कोई गायक ' गृण ' पर कैसे खतम कर सकता है ? और दूसरे पादको ' सौभगाया ' पर समाप्त करके तीसरेको 'अश्विना'से शुरु न करके ' श्विना ' से शुरु करना कहां तक संगीतके अनुकूल है ? पाठक इस सीधी और स्पष्ट बातको स्वयं समझ सकते हैं।

इस प्रकारका पाद-विभाग गायनमें साधक न होकर बाधक ही काम करेगा।

अतएव हम यह बलपूर्वक कहनेको बाध्य होते हैं कि वेदमन्त्रोंका पादविभागपूर्वक मुद्रण होना चाहिये और यह पाद-विभाग संगीत और छन्दको लक्ष्यमें रखकर ही किया जाना चाहिये।

यदि हम वैदिक काव्य के रसका आस्वादन करना चाहते हैं तो हमें इस काव्यमें विद्यमान अमर संगीतको कृत्रिम विकारोंका आवरण दूर करके ढूंढना होगा। इसी दिशामें इस लेख द्वारा कुछ संकेत किया गया है। आशा है विवेकशील विद्वज्जन इस विषयमें अधिक गवेषणा करके हमें अनुगृहीत करेंगे।

भगवद्गीताका लेखन किसने किया ?

(लेखांक २)

(लेखक– प्राध्यापक वि० ब० आठवले M. Sc., F. R. G. S (London) हंसराज प्रागजी ठाकरसी कालेज, नासिक)
(अनुवादक– श्री. द० ग० धारेश्वर, बी. ए. औंध)

प्रथम लेखमें हमने संशयातीत ढंगसे सिद्ध कर दर्शाया कि महाभारतसे भी गीता अपेक्षाकृत अत्यन्त पुरातन है तथा भारतीय समरकाल तथा गीताकी निर्मितिका काल वास्तवमें एकही है। साथही यह भी निश्चित मानना चाहिए कि गीताके लेखक पाण्डवोंके सहयोगी थे। गीताकी स्तुति-पर कुछ पुराने श्लोक हैं जिनमें 'व्यासेन ग्रथितां पुराण-मुनिना मध्ये महाभारतम्' यह वचन मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि, गीताके रचयिताका नाम व्यास था पर ध्यानमें रहे कि केवल कर्ताका नाम विदित होनेसे कुछ भी अधिक जानकारी नहीं होती है। गीताका लेखन 'क्ष' ने किया अथवा व्यासजीने किया हो कोई विशेष अर्थ नहीं रखता; उल्टे ऊपरके वचनोंसे यूं धारणा बनती है कि, व्यासजीनेही 'महाभारत' लिख डाला। पर वास्तविक बात ऐसी नहीं क्योंकि, चाहे जितना महाभारतका काल पीछे हटाया जाय तथापि वह ईसाके १००० वर्ष पहलेसे भी पीछे नहीं लिया जा सकता और गीताका काल लगभग ख्रिस्त पूर्व ३००० का है। तात्पर्य यही, गीताके लेखक व्यासजी तथा शतसाहस्री वैय्यासिक संहिताके निर्माता व्यासजी विभिन्न रहने चाहिए। इस आपत्तिको टालनेके लिए कुछ भावुक लोक ऐसा मानने लगते हैं कि, व्यास-जीने फिरसे अवतार लेकर अपना पूर्व लिखित मूलग्रन्थ जिसका नाम जय रखा गया था, पूर्ण करडाला। परन्तु जो अनुमान सिर्फ भावुकतापर निर्भर रहते हैं उनसे निरा वैयक्तिक समाधानही हो सकता है और उनमें ऐसा कुछ भी नहीं पाया जाता जिसे ऐतिहासिक कह सकें या जिसे सर्वसाधारण मानने लगें।

स्वयं महाभारतमें ही ऐसा कहा है कि, जय नामक इतिहासका लेखन व्यासजीने किया। पश्चात् व्यासके शिष्य वैशंपायनजीने अर्जुनके प्रपौत्र जनमेजयके प्रवर्तित सत्रमें मूल ग्रन्थका विस्तार करके २४००० श्लोकोंवाले 'भारत' नामक ग्रन्थका प्रवचन किया। उसीमें तिगुनी वृद्धि करके सौतिने नैमिषारण्यमें शौनक जैसे ऋषियोंको शतसहस्र महाभारत बतलाया। इस महाभारतमें वैशंपायनजीके २४००० श्लोकों-वाले ग्रन्थको खोजलेना दूभर जान पडता है और तदु-परान्त व्यासकृत मौलिक 'जय' नामक इतिहास कितना तथा कौनसा इसका निर्णय कर लेना तो बडाही बीहड है। पर मैंने निश्चय कर लिया है कि, 'गीता किसने लिखी' इस प्रश्नका उत्तर स्वयं गीतामेंसे ही ढूँढ लेना है और चूँकि यह सिद्ध कर दर्शाया कि गीताका काल ईसाके पूर्व ३००० वर्ष है अतः उस ग्रन्थके आधारपर जो अनुमान निकाला जायगा उसमें भूलकी संभावना नहींके बराबर है।

१८।७५ में गीताही स्वयं कहती है 'व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतत् गुह्यमहं परम्।' और यह वचन संजय कह रहे हैं जिससे स्पष्ट होता है कि, व्यासजीके प्रति अपना आदर व्यक्त करनेके लिए संजयने 'व्यासप्रसादात्' शब्द प्रयोग किया है। जैसे श्रीकृष्णचंद्रजीसे अर्जुनने कहा कि '**शिष्यस्तेऽहं**' तथा '**नष्टो मोहः त्वत्प्र-सादात्**' वैसेही ऐसा अनुमान करनेमें कुछ हर्ज नहीं कि व्यासजी तथा श्री संजयके मध्य गुरुशिष्यका नाता प्रस्था-पित था।

ऊपर बताया जा चुका है कि, केवल ग्रन्थकर्ताका नाम व्यास है ऐसा ज्ञात होनेपर विशेष बोध तनिक भी नहीं होता है। हाँ, लिखे हुए ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयोंसे तथा अन्य कई उल्लेखोंसे ग्रन्थकर्ताकी बुद्धिमत्ता एवं विद्वत्ताका अनुमान किया जा सकता है। 'गीता क्यों लिखी गयी' और 'गीताका प्रतिपादनीय विषय कौनसा' शीर्षकवाले अग्रिम लेखोंमें व्यासजीकी बुद्धिमत्तापर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की जायगी। इस लेखमें तो इतिहासके दृष्टिकोणसे चर्चा की जारही है इस कारणसे गीतामें पाये आनेवाले **विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु** जैसे अनेक नामोंका उल्लेख

व्यासजीने किस आधारपरसे ले लिया इसका अगर निर्णय हो सके तो यह अनुमान सहजहीमें किया जा सकता है कि, व्यासजीने अपने कालमें मौजूद साहित्यका निरीक्षण कहाँ तक किया था, और उससे उनकी विद्वत्ताकी जानकारी भी हो सकती है। अतः इसीके बारेमें विचार किया जायगा।

यहाँपर पहलेही मैं यह सूचित कर देना उचित समझता हूँ कि, इस विषयपर सोचते समय मुझको ऋग्वेदमेंसे बहुतसे अवतरण देने पडेंगे। ऋग्वेदस्थ ऋचाओंका अर्थ करतेसमय पश्चिमके विद्वानों तथा पौर्वात्य पंडितोंके मध्य यथेष्ट मत भिन्नता दिखाई पडती है इसलिए एक जटिल सवाल यूं खडा होता है कि, इन उद्धृत ऋचाओंका यही विशिष्ट अर्थ सच है ऐसा भला किस आधारपर मानलिया जाय। प्रश्नका उत्तर यही है कि, उन ऋचाओंमें पाये जानेवाले नामोंकाही हमें विचार करना है, अतः उन ऋचाओंका वास्तविक अर्थ क्या है या उन ऋचाओंका विनियोग किस भाँतिका है इस संबन्धमें मतभेद भलेही रहें तो भी ऋचास्थ नामोंके बारेमें विभिन्न राय रखनेका कोई कारण नहीं।

मैंने चित्रावशास्त्रीकृत ऋग्वेदका मराठी अनुवाद पढ डाला और उसमें जहाँ ऐसा प्रतीत हुआ कि ऐतिहासिक जानकारी तथा नामावलि दीख पडती है वहाँपर उस उतने विभागको अलग चिन्हित करके देखना शुरु किया कि विभिन्न स्थानोंमें उपलब्ध जानकारीमें सुसंगति है या नहीं। जाँचपडताल करनेपर मैंने देखा कि समूची जानकारी भलीभाँति सुसंबद्ध है। गीता ४।१ में राजर्षियोंकी परंपरा इस तरह दी है 'अहं-विवस्वान्-मनु-इक्ष्वाकु।' अब तनिक सोच लें कि व्यासजीने यह परंपरा कहाँसे उद्धृत की थी तथा किस कारण उस परंपराको राजर्षियोंकी परंपरा ऐसा कहा। इस मालिकामें विवस्वान्से लेकर नाम दिये हैं, पर 'अहं' यह तो कोई विशेष नाम नहीं। अर्थात् तुरन्त प्रश्न उठ खडा होता है कि, यह 'अहं' कौन है? अर्जुनने भी शंका प्रदर्शित करडाली कि–

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतत् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवान् इति॥

ऐसी दशामें अगर पाठकोंने यह शंका दर्शायी तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पर ध्यानमें रहे कि अर्जुनकी आशंकामें तथा पाठकोंके अन्तस्तलमें उठनेवाले शकमें तनिक विभिन्नता है। विवस्वान्--मनु--इक्ष्वाकु इस ऐतिहासिक परंपरासे अर्जुन परिचित था इस कारण अर्जुनकी शंका 'अहं' शब्द तकही सीमित थी। यह बात अलग है कि, ऐतिहासिक नामावलीसे परिचित रहनेपर भी, उस राजर्षि परंपरा द्वारा प्रचलित 'रहस्यं ह्येतदुत्तमं' अर्थात् 'महता कालेन नष्टः' योगका संपूर्ण विस्मरण अर्जुनको हो गया था।

पाठक तो 'अहं' शब्दके समानही विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु शब्दोंसे भी अपरिचित हैं। इसलिए शुरुमें यह ऐतिहासिक परंपरा क्यों तथा कैसी इस संबन्धमें विचार कर चुकनेपर 'अहं' कौन और किसलिए इस सवालका उत्तर ढूँढ लेना ठीक होगा।

ऋग्वेदके दशम मंडलके ६३ वे सूक्तके प्रथम मन्त्रमें कहा है।

...मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः। ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि...

इस ऋचामें 'विवस्वान्-मनु-नहुष-ययाति' ऐसी परंपरा दी गयी है। ऋग्वेदसे विदित होता है कि, मनुके पुत्र चार थे और उनके नाम क्रमशः इक्ष्वाकु, शार्याति, नहुष तथा नाभानेदिष्ठ थे। शार्यातिकी एक पुत्रीका गठ बन्धन भृगुपुत्र च्यवनसे हुआ था ऐसा ऐतरेय ब्राह्मणसे विदित होता है। पर वह कन्या थी अतः मनुके वंशसे उसका कोई नाता शेष नहीं रहता। नाभानेदिष्ठके पुत्रोंका उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता अतः मनुकी वंश परंपराको आगे चलानेवाले केवल इक्ष्वाकु एवं नहुषही रह जाते हैं। इक्ष्वाकु ज्येष्ठभ्राता थे। स्पष्टही है कि 'मनुर्वैवस्वतो राजा' से मनुका 'राजर्षिपन' ज्येष्ठ पुत्रके परिवारमें परंपरासे प्रचलित होना स्वाभाविक है। यह भी विदित हुआ कि व्यासजीने ऋग्वेदसेही यह राजर्षिपरंपरा उद्धृत की थी।

'अहं विवस्वते योगं प्रोक्तवान्' इस भागका विचार करना चाहिए। चूँकि 'प्रोक्तवान्' ऐसा शब्दप्रयोग है अतः विवस्वान्को भी योग बतलानेवाला पुरुष विवस्वान्से भी बढा चढा इसीलिए उसकी निगाहमें आदरणीय रहा हो। विवस्वानपर अनुग्रह करनेवाला पुरुष अगर प्रभावशाली न होता तो भला विवस्वान कैसे उसके कथन को सुनलेते? सिवा इसके वह परंपरामें पला रहना चाहिए।

संभव है कि, वह उपदेशक विवस्वान्‌के ज्येष्ठ भ्राता या उनके पिता हो सकते हैं। ऋग्वेदमें विवस्वान् आदितेय ऐसा प्रयोग उपलब्ध है जिससे कहा जा सकता है कि, विवस्वान्‌के पिता अथवा माताका नाम अदिति था, क्योंकि ऋग्वेदमें विकल्पके तौरपर माताका नाम भी लगाया हुआ पाया जाता है। गीताके कालमें भी यह प्रथा जारी रही, उदाहरणके लिए देखिए 'कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः, सौभद्रः, द्रौपदेयाः।' विवस्वान्‌की माताका नाम अदिति था ऐसा निश्चित करनेके लिए वैवस्वत मनुकी (८।२७।५)।

आ नो अद्य समनसो गन्ता विश्वे सजोषसः।
ऋचा गिरा मरुतो देव्यदिते सदने पस्त्ये महि॥

इस ऋचाके 'देवि अदिति' पदोंसे प्रमाण मिल जाता है। इस अदितिके आठ पुत्र थे, देखो बृहस्पतिकी देखी (१०।७२।८) ऋचामें 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः' पद। बृहस्पतिका उल्लेख गीतामें हुआ है जैसे, 'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिं।' यह बृहस्पति कौन इसकी चर्चा आगे की गयी है। अध्वर्यु ब्राह्मणमें इन आठ पुत्रोंके नाम इस भाँति दिये हैं– १ विष्णु, २ मित्र, ३ वरुण, ४ धातृ, ५ अर्यमा, ६ अंश, ७ भग, ८ विवस्वान्।

मनुके पिताका नाम विवस्वान् था अर्थात् शेष ७ नाम मनुके पितृव्यों या चचाओंके थे अतः इस बातका स्पष्टीकरण स्वयमेव हो जायगा कि गीतामें 'पितॄणां अर्यमा चास्मि' वचन क्यों रखा है। विवस्वान्‌के ज्येष्ठ भ्राता विष्णु हैं जिनका निर्देश गीतामें विभूतिकथनके अवसर पर 'आदित्यानामहं विष्णुः' कहकर आद्यविभूतियोंमें किया है। कुछ लोगोंकी रायमें 'आदित्य' शब्द सूर्यके लिए प्रयुक्त हुआ है लेकिन ध्यानमें रहे कि आगे ही चलकर 'ज्योतिषां रविरंशुमान्' ऐसा उल्लेख पाया जाता है इसलिए उसमें पुनरुक्तिदोष आ जाता है। अतः उसे टालनेके लिए 'अदितिके पुत्रोंमेंसे विष्णु' यही अर्थ ठीक जान पडता है। ऋग्वेदकालमें भी विष्णु देवपद पर अधिष्ठित हो गये थे। ऋग्वेदकालका अर्थ है मनु सप्त महर्षि तथा उनके वंशजोंकी अपनी ऋचाओंमें निर्दिष्ट घटनाएँ जिस कालमें हुईं वह समय। ऋग्वेदमें पाँच या छहः ऋषियोंकी निर्मित ऋचाएँ हैं जिनमें विष्णुकी सराहना की गयी है। 'शं नो विष्णुः उरुक्रमः' अथवा 'अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुः विचक्रमे' जैसे मंत्रभाग तो नित्यपाठमें भी आ चुके हैं।

उपर्युक्त संदर्भसे यह तात्पर्य निकलता है कि कर्मयोगका रहस्य विवस्वानको विष्णुने बतलाया था। अब स्पष्ट हुआ होगा कि राजर्षियोंकी यह विष्णु-विवस्वान्-मनु-इक्ष्वाकु परंपरा ऋग्वेदमें दी हुई जानकारीके अनुकूल ही है। अब सोचना चाहिए कि भगवान वासुदेवने ऐसा क्यों कहा कि 'मैंने ही विष्णुरूपधारी होकर विवस्वान्‌को योग बतलाया' तथा किस आधार पर दशम एवं ग्यारहवे अध्यायका लेखन किया था।

ऋग्वेदमें जो विविध ऋषि दीख पडते हैं उनमें वामदेव नामक एक महाज्ञानसंपन्न ऋषिका स्थान अतुल है और जिनकी देखीं या निर्मित ऋचाएँ बहुतसी हैं। वामदेव की एक ही ज्ञानदर्शक ऋचा यहाँपर उद्धृत करें तो विदित होगा कि व्यासजीने किस ढंग पर इसका लेखन किया। ऋग्वेद ४।२६।१ में वामदेवका कथन है 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवान् ऋषिरस्मि विप्रः।' और इसका अर्थ है 'मैं ही पहले मनु हो चुका था, सूर्य भी मैंही हूँ, कक्षीवान नामक ब्राह्मण ऋषि है वह वास्तवमें मैं; याने मैं उस कक्षीवानसे अभिन्न हूँ।' इस अवस्थाको ज्ञानोन्माद नामसे पुकारते हैं। जिस तरह हमेशाकी आदतसे हमें प्रतीत होता है कि यह अपना शरीर अपने मनसे पृथक् नहीं, ठीक उसी तरह ज्ञानमार्गका दृढतापूर्वक अनुसरण करते समय जिस किसी चीज पर अपनी निगाह पड जाय वह मैं हूँ ऐसा भाव दृढ करते जायँ तो आगे चलकर ऐसा अभ्यास हो जाता है कि संसारका कोई प्राणी अपनेसे पृथक् नहीं। इस भावमें स्थायीपन आ जाय तो उसे ज्ञानोन्मादकी दशा कहते हैं।

अर्वाचीन कालका इसका उदाहरण श्री रामकृष्ण परमहंस का है। इस दशाके लिए साधना करते हुए उन्हें दो तरह के अनुभव आये। (१) एक दिन गंगा नदीके किनारे घाट पर परमहंसजी खडे थे और दूसरी ओर एक नावमें दो मल्लाह झगडने लगे। एक मल्लाहने दूसरेकी पीठपर पतवार का डण्डा ले मारा। इधर रामकृष्ण परमहंसकी धारणा हुई कि जिसे मारा गया था वही मैं; इतना ही नहीं किन्तु रामकृष्णकी पीठ पर भी मारनेकी निशानी दीख पडी। (२) किसी समय बाहर खडे हुए परमहंसजीकी दृष्टि समीपवर्ती

हरियाली पर गिर पडी और वे अपनेको उससे एकरूप समझने लगे। जब कोई मानव उस हरियालीपरसे जाने लगा तो उन्हें ऐसा मालूम पडा कि वह अपनी ही छातीपरसे जा रहा है। (३) एक बार ज्ञानोन्मादकी अवस्थामें रामकृष्ण परमहंसजीने विवेकानन्दजीसे कहा 'जो पूर्वयुगमें राम बन चुके थे तथा कृष्ण भी हो चुके वेही अब रामकृष्णका रूप धारण कर आये हैं।'

व्यासजीने श्रीकृष्णकी ज्ञानभूमिका 'वासुदेवः सर्वं' इस ढंगकी चित्रित की है अतः कह सकते कि व्यासजीके सम्मुख जो ऋक् वाङ्मय फैला था उस ढंगसे ऐसा बतला दिया कि, 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।' जैसे वामदेवने कहा कि, 'कक्षीवान् ऋषिरस्मि विप्रः' वैसेही 'पाण्डवानां धनञ्जयः' 'मुनीनां अप्यहं व्यासः' ऐसा कह डाला। ऐसा कहा जा सकता कि वामदेवकी 'आत्म बुद्धि' रूप ज्ञानकी लहर पूर्वकालमें मनुतकही पहुँच पायी तो वासुदेवकी ज्ञानोर्मिकी उडान इतनी ऊँची थी कि वह न केवल वासुदेवसे मनुतकका महान् कालविभाग तय कर सकी किन्तु मनुके पिताको भी कर्मयोग बतलानेमें सफल हुई।

ऋग्वेदके इस विख्यात वचन 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं' से गीताके 'सदसत् तत्परं यत्' या 'न सत् तन्नासदुच्यते' की तुलना करनेपर और वैसेही 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना' 'अहमात्मा सर्वभूताशयस्थितः' 'यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥' सदृश कई ज्ञानोर्मिसे प्रेरित वाक्य देखनेपर तुरन्त ध्यानमें आयेगा कि ऋग्वेदस्थ ऋचाओंको देखकर ये बनाये गये हैं।

श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको 'भारत' नामसे पुकारा है तथा अर्जुन श्रीकृष्णके लिए 'वार्ष्णेय'-नाम प्रयुक्त करता है। 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' ऐसा एक वचन गीतामें पाया जाता है। ब्राह्मणमें बतलाया है कि इक्ष्वाकु पुत्र दुष्यन्तके बेटेका नाम भरत था। इसी इक्ष्वाकु-भरत-रघु परिवारमें उत्पन्न तथा नासिकके निकट पंचवटीमें १४ साल वनवासी बनकर रहनेवाले ऐतिहासिक श्रीरामचन्द्रजीका निर्देश 'रामः शस्त्रभृतामहं' कहकर किया है। इससे विदित होगा कि भरतखंड नाम कितना पुराना है। श्रीकृष्ण जिस परिवारमें उत्पन्न हुए वह नहुष-ययाति-यदु-वृष्णि-वसुदेव-वासुदेव ऐसा है अर्थात् यह अनुज है। अतः श्रीरामचन्द्रजीको सूर्यवंशोत्पन्न याने ज्येष्ठ परिवारके बताया जाता है और श्रीकृष्णजीको सोमवंशीय अथवा कनिष्ठ कहते हैं। यहाँ यह बात समझमें आये बिना न रहेगी कि आकाशस्थ सूर्य एवं चन्द्रमाका नाता सिर्फ उपलक्षणात्मक है, वास्तविक नहीं।

'महर्षयः सप्त पूर्वे' वचनकी ओर दृष्टिपात करना ठीक है। व्यासजीने ऋ. १०।६३।७ मेंसे यह जानकारी उद्धृत की है।

> येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।

(अर्थ) मनुजीने सात ऋत्विजोंके साथ पहले यज्ञ किया था। इन आदिम सप्तर्षियोंका निर्देश 'महर्षि' कह कर किया सो पूर्व इतिहासके अनुकूलही है। इन महर्षियोंमें से एक 'भृगु' का उल्लेख विभूतियोंमें हो चुका है। ऋग्वेदमेंही इसके लिए आधार मिलता है ऋग्वेदमें छहः ऋषियोंने आठ स्थानोंमें बताया है कि, अरणीकी तलाश भृगुओंने की थी। देखिये, नोधा गौतम कहते हैं 'दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः।' (ऋ. १।५८।६) और 'द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा।' (ऋ. १।६०।१) दीर्घतमस् औचथ्यका कथन है 'यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।' (ऋ. १।१४३।४) दिवोदासपुत्र परुच्छेप सूचित करते हैं। '... नमस्यन्त उपवोचन्त भृगवो मथ्नन्तो दाशा भृगवः।' (ऋ. १।१२७।७) बृहस्पतिपुत्र भरद्वाज बताते हैं 'मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम्।' (ऋ. ६।१५।२) वामदेव कहते हैं। 'अयमिह प्रथमो धायि धातृभिः... भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे।' (ऋ. ४।७।१) तथा सोमाहुतिका कथन है 'इमं विधन्तो अपां सधस्थे द्वितादधुर्भृगवो...।' (ऋ. २।४।२)

गीतामें जो बताया है 'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवः तथा' वह ऋग्वेदके आधार पर ही है। मनुके

यज्ञके सात ऋषि मनुके समकालीन होनेसे महर्षि और पहले के मनुके चार पुत्र पश्चात् हैं। अर्थात् यह श्लोक ऋग्वेदमें दी हुई जानकारीके अनुकूल है। शायद कुछ लोग ऐसा पूछें, ' मनवः ' का अर्थ मनुके पुत्र ऐसा करना ठीक नहीं क्योंकि ' मानवाः ' ऐसा रूप चाहिए था, तो उत्तर यही कि गीता पढते समय वैदिक व्याकरणका ख्याल रखना चाहिए। देखिए, पाणिनीकृत व्याकरण ईसाके ८०० वर्ष पूर्व और गीताकी रचना ई. पू. ३००० वर्ष हुई थी। निरुक्त में मनु शब्दका ' मनवः ' ऐसा विकल्प देखने मिलता है। गीतामें आर्ष प्रयोगोंकी विपुलता इसी कारणसे है। वेदमें ' त्वा ' ऐसा विकल्प हमेशा आता है जैसे, **त्वा हवामहे** ...। इधर गीतामें भी ' **अहं त्वा सर्व पापेभ्यो...**' ऐसा प्रयोग मिलता है।

' **कवीनां उशना कविः** ' इस उल्लेखमें भी ' **उशना काव्यः** ' अर्थात् ऋषिका पुत्र उशना इस अर्थमें ' **उशना कविः** ' ऐसा विकल्परूप प्रयुक्त हुआ है। विभूतियोंमें इनकी गणना क्यों इसका कारण ऋग्वेदमें मिलता है। उशना भृगुका पौत्र है और इसका उल्लेख तीन बार ऋग्वेद में आ चुका है।

यज्ञै रथर्वा प्रथमं पथस्तते ...

आ गा आजदुशना काव्यः ... । (ऋ.१।८३।५)

अर्थात् ' कविके पुत्र उशनाने अंगिराके पुत्र अथर्वन्‌को उनके किये यज्ञोंसे प्रथम मार्गकी गवेषणा करनेकी चेष्टामें सहायता पहुँचायी। ' इससे स्पष्ट है कि अथर्वन् एवं उशना समकालीन थे। वैसेही अन्यत्र ऋग्वेदमें ऐसा उल्लेख है कि ' उशनाकी की हुई सराहनासे प्रसन्न हो इन्द्रने वर्षाका प्रारम्भ करडाला। ' अब साफ होगा कि ऋग्वेदमें निर्दिष्ट इस विख्यात व्यक्तिका नाम गीताके रचयिताने विभूतियोंमें रख दिया तथा गीताका कथन कि ' **यज्ञात् भवति पर्जन्यः** ' भी इसी आख्यायिका पर निर्भर है।

अच्छा, अब हमें देखना चाहिए कि ' सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ' और ' पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिं' ऐसे दो श्लोकोंमें निर्दिष्ट ' प्रजापति तथा बृहस्पति ' का कौनसा इतिहास ऋग्वेदमें पाया जाता है।

मनुके प्रथम प्रवर्तित यज्ञको प्रजापतिने ही पहली वार संस्थाका स्वरूप दे डाला और उसे ' ज्योतिष्टोम ' या ' अग्निष्टोम ' नामसे पहचानने लगे। यज्ञ संस्थाका लक्षण ' **ज्योतिष्टोमः ऋक्-यजुः-सामभिः** ' है तथा गीतामें ' **ऋक्-साम-यजुरेव च** अथवा ' **त्रैविद्या मां सोमपाः** ' या ' **एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्नाः** ' इस भाँति यज्ञसंस्थाके निर्देश हैं। यज्ञको संस्थाके रूपमें प्रवर्तित कर देना प्रजापतिका कार्य था इसके लिए प्रमाण तैत्तिरीय संहितामें (तै० ७।१।१) मिलता है जैसे, ' **प्रजापतिः वाव ज्येष्ठः स ह्येतेन (अग्निष्टोमेन) अग्रे अयजत।** ' ' **एष वाव प्रथमो यज्ञानां यत् ज्योतिष्टोमः।** '

ऋग्वेदमें जो १३० वाँ सूक्त है उसे '**यज्ञः प्राजापत्यः**' कहा है अर्थात् रूपकसे सूचित किया है कि यज्ञ प्रजापतिका मानों पुत्र है। इसी सूक्तमें उल्लेख है कि प्रजापतिने १०० देवकर्म कर डाले। शायद इसी कारण प्रजापतिको ' **शतक्रतु** ' या इन्द्र उपाधि मिली हो। यह प्रजापति कौन तथा किससे नाता रखता था और मनुके उपरान्त इनका काल कैसे सो सोचना ठीक जँचता है। ऋग्वेदमें ' **प्रजापतिः वैश्वामित्रः** ' नाम पाया जाता है जिससे प्रतीत होता है कि विश्वामित्रका पुत्र प्रजापति नामसे विख्यात हुआ। इनकी बनायीं ६६ ऋचाएँ ऋग्वेदमें हैं और संभवतः इसे ही 'इन्द्र' नाम या उपनाम मिला हो। क्योंकि इन्द्र नाम विश्वामित्र गोत्रके प्रवरोंमें भी गिना है। प्रजापतिके पुत्रका नाम विमद, जो अपनेको ऐन्द्र विमद या प्राजापत्य विमद कहता है। इनकी ६६ ऋचाएं ऋग्वेदमें हैं और प्रजापतिके कालका निर्णय करनेमें विमदसे बडी सहायता मिलती है जैसे, ऋग्वेद १०।२५।१० में विमदने ' **अयं कक्षीवतो महो... मतिं विप्रस्य वर्धयत्...** ' ऐसा कक्षीवान्‌का निर्देश किया है। ध्यानमें रहे, इसी कक्षीवान्‌ने ऋ. १।११६।१ में ' **यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतु रथेन** ' इस तरह विमदका निर्देश किया है अतः कह सकते कि विमद तथा कक्षीवान् दोनों समकालीन थे। वामदेवने इसी कक्षीवानको लक्ष्यमें रख ४-२६-१ में ' अहं कक्षीवान् **ऋषिरस्मि विप्रः** ' ऐसा वर्तमानकाल सूचक 'अस्मि' क्रियापद रखकर इसका निर्देश किया है, याने कक्षीवान तथा वामदेव भी समकालीनही हैं। मनुके प्रथम यज्ञमें प्रमुख पुरोहितके पदपर अधिष्ठित अंगिरा ऋषिका प्रपौत्र

वामदेव था (अंगिरा-रहूगण-गोतम-वामदेव)। कक्षीवान् भी अंगिराकाही प्रपौत्र है (अंगिरा-उचथ्य दीर्घतमस्-कक्षीवान्) विमद विश्वामित्रका पौत्र था। अर्थात् विश्वामित्र मनुके कालमें विद्यमान था। और प्रजापति भी मनुके चार पुत्रोंका समकालीन था।

ऊपर दर्शाया कि मनुके पश्चात् प्रजापति हुए। मनुके प्रथम यज्ञमें जिस तरह अंगिराने पौरोहित्यकी धुरा उठायी थी वैसेही प्रजापतिद्वारा प्रवर्तित यज्ञसंस्थामें बृहस्पतिने प्रमुख होताका पद विभूषित कर दिया था ऐसा दर्शानेके लिए प्रमाण है। अंगिराका पुत्र बृहस्पति और बृहस्पतिके दो पुत्र भरद्वाज तथा अयास्य थे। 'मैं बृहस्पतिका पुत्र और अंगिराका पौत्र हूँ' ऐसा अयास्यका कथन है। छान्दोग्यमें प्रणवोपासनाका इतिहास कहते समय पहली उपासना अंगिराने की और 'तेन तँह बृहस्पतिरुद्गीथं उपासांचक्रे' अर्थात् बृहस्पतिको सामोपासना करलेनेका दूसरा सम्मान मिल चुका था। इसीलिए गीतामें 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' वचन है क्योंकि यज्ञसंस्थामें उद्गाताका प्रमुख कार्य–

तस्मात् ॐ इति उदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

यही है।

यज्ञसंस्थामें उद्गीथकी यह प्रणाली अतिपुरातन याने संस्थाकी प्राणप्रतिष्ठाके कालमें ही अस्तित्वमें आयी हो ऐसा दीख पडता है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें वचन है कि 'सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः पूर्वैपूर्वेभ्यः वचमेतमूचुः' और यह कथन छान्दोग्यके इस प्रतिपादनसे कि 'अंगिरा-बृहस्पति- अयास्यरूपी ब्राह्मण त्रयीकी परंपरासे उद्गीथोपासना चली आयी' बहुत कुछ मिलता है। ऋ. १०।१३० के चतुर्थ मन्त्रमें

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सं
बभूव। अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पते-
र्बृहती वाचमावत् ॥

ऐसा बृहस्पतिका फिर उल्लेख है। इतना ही नहीं किन्तु यज्ञमें प्रस्थापित अग्निको बार्हस्पत्य अग्नि ऐसा भी कहा है। जैसे आलंकारिक रूपसे यज्ञको प्रजापतिका पुत्र कहा वैसे ही यज्ञीय अग्निको 'बार्हस्पत्य अग्नि' नाम दिया है।

ऋग्वेदमें जो यह सूक्त है, उसे आलंकारिक भाषामें अग्नि या बृहस्पतिके पुत्रका है, ऐसा बताया है।

इस उपर्युक्त प्रमाणके आधार पर ध्यानमें आयेगा कि 'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिं' ऐसा गीतामें किसपरसे कहा गया है। ऋग्वेदमें ३२ ऋचाएँ बृहस्पतिके नाम पर पायी जाती हैं। दशम मंडलके ७१ वे तथा ८२ सूक्तसे ज्ञात होता है कि बृहस्पति बडे ज्ञानी थे। और ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं कि गीताने 'समदुःखसुखं धीरं' या 'धीरस्तत्र न मुह्यति' जैसी व्याख्याएँ उनके 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीराः' ऐसे सूक्तपरसे बना ली हों।

ऐतिहासिक प्रणालीके 'परस्पर उल्लेखात्मक' प्रमाणके बलबूतेपर कहा जा सकता कि बृहस्पति एवं प्रजापति समकालीन थे, जैसे, अंगिराका पुत्र रहुगण ऋ. ९।३८।२ में कहता है कि 'एतं त्रितस्य योषणो' अर्थात् त्रितकी उँगलियां सोमवल्ली कूट रही हैं, जिससे स्पष्ट हुआ कि त्रित तथा रहुगण एक समयमें विद्यमान थे। ऋ. १।१०५।१७ में कहा कि 'त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये। तच्छुश्राव बृहस्पतिः।' इस त्रितकी निजी ऋचामें प्रतिपादन किया है कि 'मुझको बृहस्पतिने कुएँसे छुडाया।' याने बृहस्पति, त्रित एवं रहुगण समकालीन हुए।

ऋ. १०।४८।२ इन्द्रकी ऋचा है 'अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि' जिसमें बतलाया है कि मैंने त्रितको मदद दे डाली। इससे भी सिद्ध हुआ कि इन्द्र (प्रजापति), बृहस्पति, रहुगण तथा त्रित समकालीन थे।

गीताके 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' इस वचनमें 'सृष्ट्वा' पदसे यही अभिप्राय समझ लेना ठीक है कि प्रजाको यज्ञके अनुशासनमें दीक्षित किया, जोकि लक्षणात्मक ढंगका है। क्योंकि जो कोई इस अनुशासनका भंग करनेका साहस दर्शाये उसे दण्ड बतलाया कि 'भुञ्जते ते त्वघं पापाः' 'यो भुंक्ते स्तेन एव सः।' उपर्युक्त ऋचामें भी इन्द्र कहता है कि 'मैंने दध्यङ्को दण्ड दिया।' 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' में भी आशय यही है कि स्वभावोत्पन्न कर्मके पालन रूपी अनुशासनमें

जनताको दीक्षित किया। वैसे ही 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि...तदात्मानं सृजाम्यहं' इस श्लोकमें भी 'सृज्' धातुका प्रयोग अनुशासनका पुनः संगठन बतलानेके लिए किया है। 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि' कथनमें धर्मका तात्पर्य है यज्ञका अनुशासन ऐसा स्पष्ट दीख पडता है।

महर्षि, देवर्षि एवं राजर्षि इस ढंगसे गीतामें ऋषियोंके तीन प्रकार सूचित किये हैं। मनुके यज्ञमें कार्य करनेवाले आदिम सप्त ऋषि बतलानेको ही गीतामें महर्षि शब्दका प्रयोग किया है। गीतामें राजर्षि शब्द दो बार आया है जैसे, 'एवं परंपराप्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः' जिससे स्पष्ट ही मनुके राजपरिवारमें उत्पन्न याने क्षत्रियवर्णकी व्यक्तिका निर्देश इस शब्दसे हुआ है। वैसे ही 'किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयस्तथा' में भी पूर्व निर्देशको ध्यानमें रखकर सूचित किया कि ये राजर्षि ब्राह्मण वर्णसे विभिन्न अर्थात् क्षत्रिय वर्णके हैं।

अब देख लें कि देवर्षि तथा राजर्षिके मध्य क्यों एवं किस ढंगसे गीता विभिन्नताकी रेखा खींच देती है। 'देवर्षिः नारदस्तथा' एवं 'देवर्षीणां च नारदः' इस भाँति दो बार 'देवर्षि' पदका प्रयोग किया है। जैसे राजर्षियोंकी मालिकामें इक्ष्वाकु एवं जनक वैसे ही देवर्षियोंके मध्य नारद विराजमान है। ऋग्वेदमें 'नारद काण्व' नामसे ४५ ऋचाएँ पायी जाती हैं। कण्व गोत्रमें विष्णुकी उपासना करनेकी प्रथा प्रचलित थी ऐसा प्रतीत होता है। 'अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे' ऐसी मेधातिथि काण्वकी ऋचा विख्यात है। जान पडता है कि ब्राह्मणवर्णके लोगोंको देव या देवर्षि और क्षत्रिय वर्णके पुरुषोंको राजा अथवा राजर्षि नाम देनेकी प्रथा थी। प्रजापतिकी वक्तृतामें 'देव' शब्दका प्रयोग हुआ है जैसे, 'देवान् भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः। परस्परं भावयंतः...। यहाँपर यदि देव शब्दसे ब्राह्मण वर्ण लें तो अर्थ बडा ही उत्कृष्ट हो जाता है। यज्ञमें होतृपदका स्वीकार ब्राह्मणवर्णके कार्यक्रममें गिना जाता था और चूँकि यज्ञ संस्थाके रूपमें था इसलिए दूसरे वर्णके लोग शेष कार्य सँभालनेमें लगे रहते और कहना यही है कि नरेशमंडलकी सहायता करना ब्राह्मणवर्णका कर्तव्य है तथा इधर राजा लोग भी ब्राह्मण वर्णकी आजीविकाकी धुरा उठा लें। इस भाँतिके भाव एक दूसरेके बारेमें प्रचलित हों तो कितना अच्छा और निस्सन्देह प्रजापालनका गुरुतर कार्य सुचारुरूपसे संपन्न होगा।

गीतामें 'असित देवल' ऐसा युगल नाम आया है और ऋग्वेदमें भी इसीतरह 'असित देवल' जुडा नाम देखने मिलता है। नवम मंडलमें इस संयुक्त नामके नीचे २० सूक्त हैं और इनकीही ऋचाओंमें तीन बार लिखा है कि, यज्ञमें सात ऋत्विज कार्य करते हैं।

'सप्त धीतिभिर्हितो। सप्त पश्यति वाव हि। सृजन्ति सप्त धीतयः। ऋग्वेदसे पता चलता है कि, कश्यपके पुत्रोंका नाम असित एवं देवल था। कश्यपके पिताका नाम मरीचि था। 'मरीचिः मरुतां अस्मि' कहकर गीताने मरीचि नामका निर्देश किया है। अभीतक मैंने ये मरुत् कौन थे इस दिशामें गवेषणा करनेकी कोई चेष्टा नहीं की।

इन ऊपर बतलाये उल्लेखोंसे गीताके रचयिता व्यासजी की विद्वत्ताके बारेमें अनुमान किया जा सकता है। ऋग्वेदीय ऋचाओंके आधारपर उन्होंने सभी ऐतिहासिक निर्देश किये हैं जिससे विदित होता है कि, वे ऋक् साहित्यसे भली-भाँति परिचित थे। ऋग्वेदके लिए अति पुरातन नाम 'दाशतय्यी' अर्थात् दस मंडलोंसे युक्त ऐसा है। व्यासजीके लिए परंपरासे 'वेदव्यास' उपाधि लगायी गयी है जिससे ऐसा अनुमान निकालनेमें कोई भूल न होगी कि, गीताके सुलेखक व्यासजीनेही ऋचाओंका संग्रह करके इस दाशतय्यी संहिताका सृजन किया हो।

अहिंसा×

(लेखक- श्री० **वसिष्ठजी**)

दूसरी प्रकारका मानसिक क्षोभ तो केवल उनही स्त्रियोंको होता है जिनके समाजमें पर-पुरुष-गमन घोर पाप, अपमान अप्रतिष्ठा माना जाता है। और इसी लिए ऐसे समाज सम्प्रदायोंके स्त्री पुरुष परपुरुष या पर स्त्री गमनके इच्छुक होकर चोरीसे रतिकर्म करते हैं।

पर-पुरुष-गमन

हम यह प्रमाणित कर आये हैं कि विवाह सन्तानोत्पत्तिके लिए और विवाह करके संतान उत्पन्न करना यही एक व्यवस्था है जिसके लिए रतिकर्म अपेक्षित है और वह भी काम वासनापर विजय न पा सकनेके कारण, वा विजय न पा सकनेवालोंके लिए। पति, पत्नि एक घरमें रहें। वे कभी भी रतिकर्म न करें, यदि वे कामवासनाको वशमें कर सकते हैं। किन्तु कामवासनापर विजय प्राप्त न हो सकनेके कारण बलात् कामवासनाके वशीभूत हो जानेपर दोनोंकी सहमतिसे अनिवार्य रतिकर्मकी सम्भावना हो जानेपर अनिवार्य सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिये। किसी कृत्रिम उपायसे वा रोगादिके अवरोधसे सन्तानोत्पत्तिका निवारण नहीं होने देना चाहिये। कामवासना संक्रामक रोग है। स्त्रीसे पुरुषमें और पुरुषसे स्त्रीमें पहुंचता है, कुपथ्यसे भडकता है और दोनोंको क्षुब्ध करता है। इतना ही नहीं बल्कि सुनने, देखने और चिन्तन करनेसे भी इस रोगकी संक्रामकता बढती है और बीभत्स हो जाती है। पति-पत्नी तकको संयमित रहकर इससे आजन्म मुक्त रहनेका प्रयत्न करना जरुरी है। बलात् बेबसीसे इस रोगकी झपटमें आजाने पर केवल एक सन्तान एक वारके सहवास द्वारा उत्पन्न कर लेना आपद् धर्म है और वह पहली सन्तान ही 'आत्मज' है। किन्तु बचे रहनेका यत्न करनेपर भी यदि रोग फिर आ घेरे तो दूसरी सन्तान उत्पन्न कर लेना कुछ हदतक वैध है किन्तु ये सब सन्तानें 'कामज' होगी। इस प्रकार 'दस' सन्तान की अन्तिम मर्यादा है अर्थात् अधिकसे अधिक दसवार मैथुन कर्म करना। किन्तु यह १० सन्तान उत्पन्न करना श्रेष्ठ अनिवार्य कर्म नहीं है। (१) पति-पत्नीका संयमी रहकर आजन्म रतिकर्मसे विमुख रहना सर्वश्रेष्ठ। (२) कामवासनासे हठात् आक्रान्त हो जानेपर केवल एक वार रतिकर्म करके एक सन्तान उत्पन्न कर लेना श्रेष्ठ। (३) इस प्रकार दसवार रतिकर्म करके दसतक संतान उत्पन्न कर लेना साधारण है, जो पति पत्नीके असंयत जीवन कामवासनाका प्रत्यक्ष प्रमाण है जो किसी अवस्थामें न स्तुत्य है न निंदनीय। यदि बलात् कामवासनाके वशीभूत होकर सहवास करनेपर संतान उत्पन्न (गर्भाधान) न हो और भविष्यमें संयम भी न हो सके तो चिकित्सा कराये बिना सहवास न करना चाहिये जिससे वीर्य निष्फल न जावे।

दस सन्त नतककी वैकल्पिक मर्यादा काम वासनाके अनिवार्य वशीभूत रहनेवाले गृहस्थोंके लिए है। यदि पहले सहवासमें ही गर्भ रह जाया करे तो जीवन भरमें अधिकसे अधिक १० वार मैथुन वर्जित नहीं है। जिस प्रकार दूधमें घी तथा ईखके रसमें सितोपल, मिठास कण (Sugar crystal) सार है, उसी प्रकार वीर्य रक्तका, सारे शरीरका सार है। दूधसे घी व ईखसे सितोपलके घटते जानेपर जैसे दूध व ईख सारहीन होकर नष्ट हो जाते हैं, वैसेही वीर्यके शनैः नष्ट होते जानेपर शरीर नष्ट हो जाता है। इसीलिए अक्षय वीर्य शरीरकी दृढता व दीर्घायुके लिए जरुरी है।

उपर्युक्त लक्ष्यको ध्यानमें रखते हुए किसी स्त्री वा पुरुषकी सहमतिसे दोनोंके कामातुर होनेपर केवल सन्तानार्थ मैथुन कर लेना पाप नहीं है, यदि उन स्त्रीपुरुषोंके समाजमें विवाह प्रथा न हो या विवाह प्रथाके होनेपर भी प्रकट रूपसे नियोग प्रथा (स्वपत्नी वा पतिमें गर्भधारण करने करानेकी असमर्थता या ऋतुकाल व कामवासनाके अपरिहार्य आवेगके समय पतिपत्नीके एकत्र न होनेपर पर स्त्री पर पुरुषसे गर्भाधान कर लेना) प्रचलित हो। किन्तु काम एक भयानक संक्रामक रोग है। सदैव जाग्रुक रहने पर भी तनिकसी उपेक्षासे वह केवल चिन्तन, श्रवण वा दर्शनसे ही मनको क्षुब्ध तथा शरीरके वीर्यको च्युत कर देता है। विभिन्न सहयोग व रूप इसके लिए और कुपथ्य हैं। पर स्त्री वा पर पुरुष-सहवाससे पर स्त्री वा पर पुरुषमें आसक्ति बढती जाती है, जिसके पृष्ठ पक्षपर स्वपत्नी वा स्वपुरुषसे उदासीनता तत्पश्चात् द्वेष हो जाता है। एक ही घरमें रहनेवाले जीवन

× इससे पहला लेखांक अप्रैल १९४४ अंकमें पृ. २२१ पर देखें।

चर्यामें एक दूसरेके लिए आधार आधेय दम्पतिके लिए यह द्वेष अत्यन्त दारुण दुःख बन जाता है। पतिका वीर्य पत्नीमें सन्तानोत्पत्ति व उसकी कामशान्तिके लिए है। इसी प्रकार स्त्री का शरीर पतिके उपयोगके लिए है। प्रायः संसारभरके स्त्री पुरुष इसी अभिलाषाकी शर्त करके पतिपत्नी रूपसे साझीदार बनते हैं। यहां तक कि वे मानसिक प्रेमको भी एक दूसरेके लिए संवरण, वाग्यत रखना व रखाना चाहते हैं। अतः एक दूसरेकी अनुमतिके विना दम्पतिमेंसे कोईभी व्यक्ति भोग व प्रेमको दूसरेको देकर अपने जीवन-साथीको रुष्ट करके जीवनमें कलह उत्पन्न करता है। इनके अतिरिक्त और भी दुष्परिणाम हैं जो परस्त्री वा परपुरुष सेवनसे उत्पन्न होते हैं। विस्तार-भयसे इनपर हम यहां प्रकाश डालना जरूरी नहीं समझते। इन सब दुष्परिणामोंको लक्ष्यमें रखकरही चतुर चिकित्सकोंने परस्त्री वा परपुरुष गमन घोर कुपथ्य ठहराया है, जो शरीर, मन, आत्माको क्षीण व पतित करता है। और हर समाजके लिए अन्ततोगत्वा अनिष्टकारकही है।

यदि बलात्कार करनेवालेकी कुचेष्टासे स्त्री भी कामहिंसाकी झपेटमें आ गई है। उसका मन भी विकृत होकर रुग्ण हो गया है और उसने रतिकर्ममें सुख ले लिया है तो भी वह रोग-मुक्ति, चिकित्सा, प्रायश्चित्त की चेष्टा करे। आत्मघात जैसी उग्र, असाध्य रोगभूमिकामें जानेकी पतित अभिलाष न करें। पति भी स्त्रीको धैर्य दे, तिरस्कार न करे। किसी मारपीटसे जख्मी हो जानेपर जिस स्नेहसे वह अपनी स्त्रीकी चिकित्सा करता, उसी स्नेहसे वह अपनी स्त्रीकी चिकित्सा करे, यदि आक्रमकने उसके शरीरपर कोई चोट पहुंचाई हो। हम तो यहां तक कहेंगे कि यदि स्त्री स्वेच्छासे पर-पुरुष गामिनी, व्यभिचारिणी है तो सत्य, धर्म तथा ईश्वरभक्त पतिका कर्तव्य है कि वह उसी स्नेहसे अपनी स्त्रीकी आध्यात्मिक मानसिक चिकित्सा करे जिस स्नेह व तल्लीनतासे वह उसके ज्वर, संग्रहणी, क्षय, प्रसूतादि रोगोंकी चिकित्सा करता। पुरुषका अपमान, अप्रतिष्ठा, नककटी है परनारी-गमन व स्वपत्नी-त्यागमें। और स्त्रीकी अप्रतिष्ठा है परपुरुषगमन व स्वपुरुष त्यागमें। अपने साथीको रोगग्रस्त होनेपर चिकित्सा न करके त्याग देना बडी निर्दयता है।

बलात्कारकी वेदनाको मानसिक भावुकतामें उग्रतर करनेके लिए कतिपय सभ्यताओंका कृत्रिम विश्वास भी है जिसकी भित्तिपर उन सभ्यताओंके पुरुष परनारी गमनको बुरा मानते हुए भी उतना भ्रष्टाचार घृणित कुकर्म नहीं मानते जितना स्त्रीके पर पुरुष गमनको। किन्तु यह बात सदैव स्मरणीय है कि किसी समाजके नियमोंकी लीक पीटना किसी भी स्त्री वा पुरुषके मानव जीवनका उद्देश्य नहीं है। शरीर, परिवार, घर, गांव, देश, राष्ट्र व समाज सब उपकरण है, साधन हैं काम क्रोधादि रोगोंसे मुक्त होनेके लिए। साध्य लक्ष्य तो रोगमुक्ति है।

न्यायकी दृष्टिसे तो काम क्रोधादिसे आक्रान्त रोगी पर यही दोषारोपण हो सकता है कि उसने बलात्कार करके स्त्रीमें काम व क्रोध हिंसाओंको क्यों जागृत किया? जो हो, मानव जीवन अमूल्य वस्तु है। रोग, विकार, हिंसाके वशीभूत होकर रोगी कुत्सित कर्म कर रहा है और चिकित्सक या उपचारक रोगीकी हत्या कर देता है, उस मानव जीवनको मिटा देता है, जो रोग-मुक्त होकर मानवजगतका कल्याणकारक सहायक होता, और चिकित्सा किये बिना ही मानव समाजने जिसको असाध्य रोगी ठहरा दिया है। जिस तरह शारीरिक चिकित्सा केवल औषधियोंके नामोच्चारणसे नहीं होती, वैसे ही आध्यात्मिक व मानसिक चिकित्सा केवल धर्म-गीत व धर्म-पुस्तकोंके पढनेसे नहीं हो सकती। जेलरूपी चिकित्सालयोंमें आज भी चिकित्सा न करके रोगविस्तारमें श्रमशक्तिका अपव्यय होता है जिससे साध्य रोग याप्य व असाध्य अवस्थाको प्राप्त हो जाता है और उन सुधारकों को क्रियात्मक अनुभवकी भित्तिपर यह कहनेका साहस हो जाता है " नीम न मीठो होय लाख गुड घीके सींचे "। वे यह सोचनेका भी कष्ट नहीं करते कि उसी कडवे नीमके परिपक्व फलके गूदेमें कैसा मिठास होता है।

रोगके उग्र प्रकोपसे आक्रान्त होनेपर कामुक जब विकृत चेष्टा करता है तब हम उसे रोगमुक्त नहीं कर सकते। यदि वह शारीरिक बलमें हमसे अधिक है, तब हम उसकी चेष्टाको रोकनेमें शायद ही सफल हो सकते हैं। किन्तु हमें चेष्टा जरूर करनी चाहिये। चेष्टा न करने पर जो जो दुर्दशा होगी, चेष्टा करनेपर उससे कम हानि की सम्भावना होगी। स्त्रीभी आत्मरक्षाकी भरसक चेष्टा करे, इतने पर भी सफलता न मिले तो सहन करें, क्योंकि आत्मरक्षाकी सफलताका उपयुक्त अब सर कामुकके कुचेष्टापर कटिबद्ध होनेपर नहीं था। और इसीलिए उसके रोगके प्रकोपको निर्मूल करना सम्भव न हो सका। अतः वह उसे अकस्मात् दुर्घटना को सहन करे। ज्वरादिके

प्रकोपमें भी तो हम रोगीकी ऊल जलूल चेष्टाको, बकझक बातों को सहन करते हैं। याद रहे मनुष्य सुपथ या कुपथमें रहेगा। हल्ला करके हम उसे तथा अपनेको कुपथमें ढकेलते हैं। यदि हमें रोगग्रस्त रहना, रोगियों, उग्रतर रोगियोंमें घिरा रहकर उत्तरोत्तर रोगी, दुःखी, व्यथित बनते जाना अभीष्ट है, तो हम हत्या जैसे कार्यों द्वारा रोगके प्रचार, प्रसार तथा वृद्धिको अपना सकते हैं, किन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। क्योंकि प्राणीको रोगसे, दुःखसे स्वभावतः द्वेष है। और हिंसा दुःख व द्वेष पर्याय हैं। स्त्री जाति आत्मीयता बन्धुता व मानव जीवनके आदर्शको कूतें और सोचें कि वे कहाँ तक दूसरोंकी चिकित्सा कर सकती हैं। हम निम्न उदाहरणोंसे स्त्रियोंके मनोभावको जागृत कर देना उचित समझते हैं।

कुछ युवतियें किसी स्थानपर जा रही हैं, अकस्मात एक कामुक उनके प्रति कुचेष्टाभावसे अपस्मार (मृगि) रोगके आवेशका बहाना करके मूर्च्छितसा होकर गिर पडता है। युवतियें दौडकर मूर्च्छित रोगीको उठाने की चेष्टा करती हैं। कामुक मूर्छाका अभिनय करता हुआ स्त्रियोंके अंगोंमें स्पर्श करनेकी कुचेष्टा करता रहता है। स्त्रियेंभी उसकी इस गतिको (हरकत को) उसकी मूर्च्छाकी एक अलक्षित हलचल समझती हैं। क्या स्त्रियोंके शरीर उस छद्म रोगीकी निकृष्ट चेष्टाओंसे अपवित्र हो गये? स्त्रियोंकी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई?

किन्हीं कारणोंसे समय समयपर लोगोंने यदि किसी भावुकता को आदर्श बना डाला हो तो हमें उस भावुकता, रूढिवादकी ममतामें न चिपटे रहना चाहिये। हमारा जीवन बहुत ऊंचे ज्योतिर्मय कार्यके लिये है। यदि किसी युगमें किसी व्यवस्थापकने तात्कालिक स्थितिके अनुरूप कोई मर्यादा बना दी हो तो वह मर्यादा हमारा लक्ष्य न बननी चाहिये।

राजपूतानेके किसी राजकुलमें एक राजकुमारीके बहनोईने उसका हाथ कुत्सित भावनासे पकड लिया। राजकुमारीने कुपित होकर तलवार निकाल ली और कहा, "आपको मारनेसे मेरी बहन विधवा हो जायगी, इस लिए आपको छोडे देती हूं। किन्तु आपने मेरी बाहुको अपवित्र कर दिया है, इसलिए इसे काटती हूं"। तत्पश्चात् राजकुमारीने अपना हाथ तलवारसे काट डाला।

जीवन, जीवात्मा तथा अन्तस्तलमें विकार उत्पन्न करनेवाले काम क्रोधादि मानसिक रोगोंके रहस्यको न समझनेवाले मानवोंको भावुक भावनाओंकी मर्यादामें बांधनेसे कुछ लाभ हो सकता है। किंतु ये भावनाएं एक मानसिक दोषसे हटाकर दूसरे दोषमें भटकाती रहती हैं। राजकुमारी अपने कामांध बहनोईको उसकी कुत्सित भावनाके कारण मारनेको उद्यत है, केवल बहनके सुहागकी ममता रोकती है। भूल बहनोईकी है, दण्ड अपने हाथको देती है। अपवित्रता बहनोईके हृदयमें है, उसे पवित्र न करके अपनी बाहुको व्यर्थ ही अपवित्र मानकर काट डालती है। बहनोई कामज्वरसे पीडित है, साली कोपज्वरसे। जीवनका आदर्श तो रोगमुक्तिमें है, कढाईसे कूदकर अंगारोपर गिरनेमें नहीं।

हम कह आये हैं कि मानव जीवन अमूल्य रत्न है। नष्ट कर देनेमें कोई महत्व नहीं। जो जीवन अनिष्ट कर रहा है, वह यदि विकारमुक्त कर दिया जावे तो इष्टसिद्धिमें उपकरण बन सकता है। न जाने कब, किन कारणोंसे, किन परिस्थितियोंमें हमें पारिवारिक मर्यादामें बांधनेके लिये कुल, मान, प्रतिष्ठाके नियम बनाये गये थे। हम उनकी आलोचना नहीं करते, केवल अपने भाइयों व बहनोंसे यह विनती करना चाहते हैं कि वे साधनको साध्य न मानें। भोजन जीवनके लिये है, लेकिन जीवन भोजनके लिए नहीं। कुल, मान, प्रतिष्ठा, देश, जाति सब आत्माके कल्याणके लिये हैं। हम शरीर, परिवार, कुल, मान, देश जातिकी रक्षा पवित्रताअर्चन करें किंतु इनकी रक्षा पवित्रताके लिए आत्माको विकृत न होने दें। इस्पतालमें हम रोग मुक्त होनेके लिए आये हैं। इसकी हम इस लिए रक्षा करें कि वह हमारे रोगमुक्त होनेके लिए उपयुक्त स्थान है, किंतु इस्पताल आदिकी रक्षा करते हुए हम रोगग्रस्त न हो जावें।

हम यहां बलात्कारकी चर्चा करते करते विषयांतरमें उतर आये हैं किंतु इस बलात्कारका सम्बंध उस प्राणीसे है जो मातृत्वका स्रोत है। मातृत्व व्यापक, उदार, महान् है और दाम्पत्य संकीर्ण।

मातृत्व नैसर्गिक प्रसूत है और दाम्पत्य कृत्रिम व्यसन। मातृत्व बलात्कारकी यन्त्रणा सहकर भी बलात्कार करनेवालेको क्षमा कर सकता है, किन्तु दाम्पत्य एक कृत्रिम संकीर्ण मानप्रतिष्ठामें बंधा हुआ बदले और द्वेषकी भावनासे अनात्म बना रहता है। बलात्कार एक यन्त्रणा है और वह किसीको अभीष्ट नहीं, किन्तु यन्त्राणाएं आती हैं, हम बचनेका प्रयत्न करते हैं

और सफल न होनेपर सहन कर लते हैं। रही मान प्रतिष्ठाकी बात, यह एक भ्रान्त भावना है। दक्षिण आफ्रीकामें किसी गोरेने महात्मा गान्धीको शारीरिक यन्त्रणा दी थी, वैसा ही व्यवहार किया था जैसे व्यवहारसे अहंकार, मद, मान प्रतिष्ठाके भ्रान्त मोहमें फंसे हुए हम प्रतिष्ठित सज्जन अपनी सबसे बडी नककटी समझते हैं और हाईकोर्ट तकका दरवाजा खटखटानेसे नहीं चूकते। किन्तु महात्मा गान्धीका उस व्यवहारसे लेश भी अपमान नहीं हुआ था, बल्कि क्षमा करते ही हज़ार गुणा संमान बढ गया था।

हम मानते हैं कि स्त्री और स्त्रीके परिवारवालोंको इस दुर्घटनासे अत्यन्त व्यथा होती है। महात्मा गान्धीके भक्तोंको दक्षिण आफ्रिकाके गोरे द्वारा कुकृत्यपर दुःख व रोष हुआ था, किंतु महात्माजीने उसे क्षमा कर दिया। स्त्री सिरपर उपस्थित हुई बलात्कारकी पीडाको निश्चयपूर्वक किसी भी उपायसे अन्यथा नहीं कर सकती। हत्याका इरादा करकेभी शायद वह सफल न हो, क्यों कि बलात्कार करनेवाला सब विरोधोंको असफल करनेके लिए पहले ही योजना बना कर आता है। अतः वह हत्याकर्मको छोडकर किसी उपायको काममें ले आवे। आत्महत्या या कामुक पुरुषकी हत्या दोनों अनात्म जीव हैं। दोनों स्त्रीकी आत्माको मलिन करनेवाले हैं। शरीरसे आत्मा कीमती है। बलात्कार शरीर पर हो रहा है, आत्मापर नहीं। रही कामातुर होनेकी आशंका, सो यदि बलात्कार करनेवालेके स्पर्शसे स्त्री कामातुरा हो जाती है तो भी इस दुर्बलताका उपचार हत्या नहीं है। अतः स्त्री मान प्रतिष्ठा आदिके मोहमें पडकर आत्महत्या या कामुककी हत्याकी भावना करके अन्धतामें न पडे। स्वभावतः मनुष्य नीच नहीं है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकारसे आक्रान्त पाशविक बलवाले हिंसावादी रोगियोंके आन्दोलनोंसे भडकाया गया है, "वीरों! धर्मरक्षकों! शत्रुओंकी स्त्रियें तुम्हारी लूट व विजयकी पुरस्कार हैं, वे तुम्हारा खिलौना हैं" जैसे विद्वेषजनक, आत्मघातक दुष्ट भावोंमें निर्मल आत्माको रुग्ण बनाया गया है। ऐसा रोगी दयनीय है, दण्डनीय नहीं। चिकित्स्य है, उपेक्षणीय नहीं।

जो इस क्षमासे स्त्री और बलात्कार करनेवालेमें कामुकता व्यभिचार प्रसारकी आशंका समझते हैं, वे तनिक अपने मनमें चिंतन करें कि क्या स्त्री क्रोधातुर होकर बलात्कार करनेवालेकी हत्या करके क्रोधादिसे मुक्त हो जायगी? क्या वध किये जाने पर कामुक पुरुषकी आत्मा काम क्रोधादिसे मुक्त होकर मोक्षधाम पहुंच जायगी? क्या हत मनुष्यके परिवारवाले व अन्य इष्टमित्र स्त्रीके परिवारवालोंके शुभ चिंतक मित्र बन जावेंगे? कामुकता और व्यभिचारका प्रचार तो हम सहस्रबाहु, शत सहस्र जिह्वाओंसे नित नये वेशभूषा शृंगारादिके आविष्कारों, वाजीकरण, उत्तेजक पदार्थों, नशोंके निर्माण तथा पठन पाठन, चिंतन, दर्शन, श्रवणके आधार साहित्य संगीत, सिनेमा तथा रहनसहन द्वारा कर रहे हैं। बलात्कारमें बीभत्सता होती है और उपर्युक्त प्रलोभनोंमें रोचकता। बीभत्सतामें जो दुर्घटना होती है उनसे व्यसन और अभ्यास सिद्ध नहीं होता, बल्कि ग्लानि, घृणा उत्पन्न हो जाती है, किन्तु रोचकतावश उक्त प्रलोभन कामुकता, अतिरमणको इष्ट अनुराग बनाते जा रहे हैं। और हम भी उन्हें ममतावश जीवनका माननीय अंग, ध्येय मानते जा रहे हैं। अतः बलात्कारोंसे व्यभिचारका प्रसार नहीं हो सकता।

स्त्रियोंको लक्ष्य बनाकर गालियें देना इन्हीं बलात्कारक मनोवृत्तियोंका पूर्व रूप है। यही कारण है कि गैरोंकी, भिन्न सम्प्रदायवालोंकी, भिन्न सभ्यता संस्कृति तथा विदेशियोंकी स्त्रियोंके प्रति कामुक भाव भडकाये जाया करते हैं जिसके परिणामस्वरूप बलात्कार होते हैं और फिर बदले चुकाये जाया करते हैं। हम अपने भाई बहनोंके जातीय भावों, कुलमान मर्यादाकी ममता, उनके धर्म, सम्प्रदायके प्रेम तथा देशगौरव, प्रतिष्ठाकी अभिलाषा की आलोचना नहीं करते किंतु अत्यन्त करुण शब्दोंमें उनसे भीख मांगते हैं कि यदि एकके पास आत्मरक्षाके लिए पशुबल है तो दूसरेके पास परनाशके लिए भी पशुबल हो सकता है और होता है। आत्मरक्षाके लिए यदि विकृत मन मस्तिकवाले का वध जायज है, तो विकृत मन मस्तिष्क वाले को तो शायद कत्लेआम जायज होना चाहिये। जब विद्वान्, पण्डित, बुद्धिमान्ने वध को ग्रहण कर लिया अपढ, गंवार, मूर्खको क्या ग्रहण करना चाहिये? तनिक हम सोचें तो!

विकृत मन मस्तिष्कवाले रोगी न सजातीय हैं न कुल परिवारके। धर्म और सम्प्रदायमें भी वे भिन्न हैं और बिलकुल परदेशी। किसीने भडकाकर किसी आदर्श के बहाने भ्रांत भावनामें विमोहित करके या रूपादिके आकर्षणने उनके दूषित, रोगी मनको कामज्वरसे पागल बना दिया है, इसका उन्हें

कुछ पता नहीं। वे ऐसे पागल से हो गये हैं कि उन्हें यह विश्वास ही नहीं कि वे रोगी हैं और जो कुछ करना चाहते हैं वह घोर आत्मघातक कुपथ्य है। सूरदासजी किसी रूपवती पर मोहित होकर इतना तो समझते थे कि वह रोगी हो गये हैं और उस रोगमें कुपथ्य करना अपने आध्यात्मिक स्वास्थ्यको चिरकालके लिए नष्ट कर देना है जिसकी वापसी न जाने कितने कालतक अनथक चिकित्सा करनेपर संभव हो सकेगी और इसी लिए उन्होंने रूपग्राहक नेत्रोंको सुईसे मिटाना उचित समझा था, किन्तु कामोन्मत्त कामुक पुरुष तो ऐसे रोगी हैं कि जो रोगको रोग न मानकर भूखेकी तरह किसीभी प्रयत्नसें क्षुधा शान्त करना अपना एक मात्र कर्तव्य समझते हैं। लुटेरोंकी तरह देवीके रूपद्वारपर ऐसे पागल खडे हैं। देवीसे उनकी कामक्रोधाक्रान्त आत्मा भीख मांगती है कि यदि वे उन्हें रोगी समझती हैं तो उनकी चिकित्सा करें। यदि हत्यासे रोगमुक्ति हो सकती है तो वे उनकी हत्या कर डालें किन्तु ऐसा न हो कि कामुकताके साथ साथ क्रोधका पागलपन भी उन रोगियों और उनके परिवार, जाति, देशवालोंको आ घेरे! एक सतीके, देवीके या कमसे कम निर्दोष स्त्रीके रूप द्वार पर आकर वे दूने रोगी तो न हो जावें तथा तथा वे भी सहमत होकर उनकी कामुकतामें कुपथ्यका विष बोवें और स्वयं भी कामुकता की ज्वालामें न झुलसें। क्या हो गया है और क्या सन्निकट होनेवाला है, विशेष रूपसे चिन्तनीय नहीं है। चिन्तनीय विषय तो तो यह है कि जो हो गया है और जो सन्निकट होनेवाला है, वह फिर न होवे।

भिन्न भिन्न भूमिकामें पडे हुए आक्रमकके बलात्कारसे किस प्रकार रक्षा की जावे, इस समस्याके लिए एक स्वतन्त्र पुस्तककी जरूरत है। यहां कुछ संक्षेपमें बीजरूपसे कह देना ही पर्याप्त है। रूपलावण्यपर मोहित हो कर कामुक पुरुष बलात्कारके लिए आकर्षित होता है। कामुकको काम, लोभ, मोहका रोग है और शृंगारादि द्वारा अत्यन्त आकर्षक बनाया गया नारीका रूप उसके रोगमें कुपथ्य है। अतः ऐसे स्थानमें जहां कामुक रोगियोंकी आवागमन है, अपने रूपको प्रदर्शनसे बचाना स्त्रियोंका कर्तव्य है। घरमें किसी रोगीके होनेपर स्त्रियें उन भोजनोंको नहीं बनाती जिनसे रोगियोंको हानि हो तथा जिनके घरमें बननेपर रोगीके मनमें उनको खानेकी तीव्र रूचि हो जावे।

घटनाएं बतलाती हैं कि गुंडे प्रायः नागरिक सुकुमार युवतियों परही बलप्रयोग करते हैं, ग्रामीण, गरीब मजदूर स्त्रियोंपर नहीं। क्यों कि उनमें यौवन, रूप होनेपर भी कृत्रिम सुकुमारता तथा शृंगार द्वारा बनाया हुआ रूपका उत्कट आकर्षण नहीं होता जो दर्शकमात्रको विमोहित कर कामोन्मत्त कर देवे। शृंगार व सुकुमारताका आकर्षण गुंडोंको ही पागल नहीं बनाता, बल्कि ग्रामीण गरीब मजदूर स्त्रियों तकको विमोहित करता है। वे भी छैल चीकने राजा बाबू लोगोंके आलिंगनके लिए उतनीही लालायित रहती हैं जितने सभ्योंकी पत्नीके सहवासके लिए गुंडे। पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीके शारीरिक बलकी न्यूनता तथा स्त्री जातिकी स्वाभाविक लज्जा उन्हें बलात्कारके लिए उद्यत न होने दे यह बात दूसरी है।

साधुओंसे, विश्वस्त नौकरोंसे तथा आत्मीय बंधुओंसे जिनके मनमें साहुकार के धनका प्रलोभन नहीं है, धनवान् धनको नहीं छिपाता, किंतु जिन लुब्ध लोभियों द्वारा उसे धनके अपहरण की आशंका होती है उनसे धनको भली प्रकार छिपाया जाता है। उसी प्रकार स्त्रियें अपने आत्मीयों, सज्जनोंसे जिनके मनमें वात्सल्य व मातृत्वकी भावना है, अपने रूपशृंगारको भले ही न छिपावें, किंतु जिनसे आपत्ति है उन रोगियोंसे रूप-शृंगारको छिपाना अपने और विकृत मनवाले रोगियोंके लिए हितकारक ही है, किंतु यह चिकित्सा नहीं केवल कुपथ्य-वृद्धिका अल्पकालिक अवरोध है। वास्तविक चिकित्सा तो यही है कि परिवार, ग्राम, नगर, देश, विदेश की स्त्रियें पुरुषमात्रमें वात्सल्य तथा पुरुष स्त्रीमात्रमें मातृत्वके साक्षात्कारका स्वभाव धारण कर लें।

बलात्कार-घटनाओंकी मीमांसासे पता लगता है कि गुण्डेके मनमें सुन्दर युवतीके प्रति गैरियत है, आत्मीयता नहीं। इसी लिए वह उसकी व्यथाकी चिन्ता न करके अपने कामुक स्वार्थमें तल्लीन है। यदि उसके हृदयमें युवतीके प्रति आत्मीयता होती तो वह स्नेहवश व्यथाव्यापारकी कल्पना भी न कर सकता बल्कि अकस्मात् उपस्थित हो जानेवाली दुर्घटनासे उसकी रक्षा करता। इस आत्मीयताके कारणही नीचसे नीच कहा जानेवाला व्यक्ति अपने फिर्केकी स्त्रियोंकी रक्षा करता है। कामुकने प्रतिकूल परिस्थितियोंमें रहकर कामुकता आदि आत्महीन, विद्वेषजनक वृत्तियोंका अभ्यास किया है जिसके कारण वह गैर कही जानेवाली युवतीकी काया भ्रष्ट करनेको उद्यत हो गया है। यदि सुशील व्यक्ति गुण्डोंके सख्य में रहकर गुण्डा बन सकता है, तो गुण्डाभी साधुओंके सख्य

में रहकर बहुत कुछ सुधर सकता है । युवतीके हृदयमें भी गुण्डेके प्रति गैरियत ही है। गुंडा फुंक मारते ही गुण्डा नहीं बन गया है। वर्षोंतक सशंकित, भयभीत, त्रस्त होकर इस जघन्य कलाका अभ्यास किया है। क्या स्त्रियोंने अपने संकीर्ण हृदयमें आत्मीयता, वात्सल्य और सबसे अधिक संयत जीवनकी कोई प्रतिष्ठा की है? केवल सभ्य पशुओंकी तरह उन्होंने खाना, पीना, पहरना, ओढना, घरके कामकाज, आपस की किल-किल कलहके अतिरिक्त गुण्डेके गुण्डेपनके प्रतिकूल कोई विभूति अर्चन की है? जितनी तल्लीनता व एकाग्रतासे गुण्डेने कामुकताका अभ्यास किया है, यदि उतनी ही एकाग्रता व तल्लीनतासे युवतीने आत्मीयताका उदार अभ्यास किया होता तो उसका हृदय एक उदार वात्सल्य, मातृत्वसे परिपूर्ण होता। व गुंडेको आत्मजके रूपमें देखती। देखती ही नहीं बल्कि उतनी ही तल्लीनता व एकाग्रतासे, जितनी तल्लीनता व एकाग्रतासे गुंडेने कामुकतावश युवती को रमणी व कामनी मानकर उसपर पशु-बलका उपक्रम करनेका संकल्प कर लिया है, वह गुण्डे को पुत्र मानकर पुत्र! पुत्र! कहकर हृदयसे लगा लेती।

यह काम दो चार स्त्रियोंका नहीं बल्कि राष्ट्रभरकी स्त्रियोंका है कि वे इस वात्सल्य शिक्षणकी स्थापना करें! जिस दिन प्रौढा और युवती ही नहीं अपितु कन्या मात्र समस्त पुरुष जगत्को पुत्रकी भावनामें देखनेकी सच्ची क्षमता प्राप्त कर लेगी उस दिन कोई सिद्धहस्त गुंडा भी बलात्कार नहीं कर सकेगा। क्योंकि मातृत्वके प्रति क्या क्या कर्तव्य है यह महापतित नराधमको भी मालूम है; वह भी किसी मां का पुत्र है और यह तब तक सम्भव है जबतक स्त्रीमें मातृत्व (जो स्त्री जाति होनेके कारण उसमें जन्मसे विद्यमान है) तथा गुण्डेमें पुत्रत्व (जो किसी माताका पुत्र होनेके कारण उसमें जन्मसे ही विद्यमान है) स्वभावतः बीजरूपसे मौजूद हैं, केवल ध्यानान्तर होनेसे विस्मृतसे हो गये हैं। इन दुर्घटनाओंका बीजतक निर्मूल हो सकता है, यदि राष्ट्रके स्त्रीपुरुष इसे रोग माने और इससे छुटकारेका प्रयत्न करें।

प्राचीन कालमें पुरुष भी स्त्रियोंकी तरह पूरे केश रखते थे। दोनोंके वस्त्र, आभूषण व वेशभूषा एक होती थी जो आज भी हर देशके पिछडे हुए लोगोंमें पाई जाती है। अब भी शैशव कालमें बालक-बालिकाओं वेशभूषा एक होती है। यौवनावस्थामें पुरुषमें दाढी मूछ तथा स्त्रीमें स्तनके प्रकट होनेपर न जानें क्यों हम मानवोंने उनके वेशभूषाको बदलना जरुरी समझा। स्त्रीपुरुषोंके समान वेशभूषासे स्त्रीपुरुषोंमें कृत्रिम आकर्षणकी सम्भावना नहीं होती। कामुकताके लिए स्त्रीपुरुष एक दूसरेकी ओर अत्यन्त आकर्षित नहीं होते। शृंगार सौन्दर्यको अत्यन्त आकर्षक बनाता है जिससे कामुकता, अतिरमणकी वृद्धि होती है। जबसे देश-देशान्तरोंमें स्त्रीपुरुषोंके वेशभूषामें एक महान् भेद बन गया है तबसे उनके विभिन्न वेशभूषा एक दूसरेको आकर्षित करनेमें कामुकताके सहायक होने लगे हैं। केवल रूपके कारण जो बलात्कार व अतिरमण होते हैं, उनमें स्त्रीपुरुषोंके वेशभूषाकी भिन्नताभी एक कारण है। यदि देशदेशान्तरोंकी जनता अपने देशके स्त्रीपुरुषोंमें जहां शृंगारको घटानेका प्रयत्न करे वहां दोनोंके वेशभूषाकी भिन्नताको भी मिटाकर एक कर दे तो सदाचारमें काफी सफलता मिल सकती है। अतिरमण, व्यभिचार भी बलात्कारके कारण हैं, इसी लिए हमने इतना विषयान्तर कहा है।

बलात्कारके लिए उद्यत आततायीके प्रति क्या स्त्रीका कर्तव्य हैं इसपर हमने संकेत मात्र प्रकाश डाला है। हमने बतलाया है कि स्त्री यथाशक्ति समचित्त रहकर (मनमें क्रोध, वैर, द्वेषको उत्तेजित होने न देकर) बलात्कार कर्मके लिए उद्यत आततायीकी कामवासनाको निर्मूल वा रूपान्तरित करे। उसकी सर्वशक्ति इस निर्मूलकरण अथवा रूपान्तरकरणमें बलि बन जानी चाहिये, "क्या होगा" इसकी मीमांसा किये बिना। भले ही रूपान्तरकरणके प्रयत्नमें स्त्री अथवा आततायीकी जीवनलीला बिखर जावे, शरीर, मन और प्राण तीन तेरह हो जावें। क्योंकि उस समय स्त्रीका लक्ष्य एकान्त व्यष्टिगत है। समष्टिगत जिस सदाचार, मातृत्वकी दुहाई दी जाती है उसकी स्थापनाका समय है शान्तिकाल जिसमें मानव, राक्षस, असुर और पिशाच स्वभाव अथवा मनोवृत्तिवाले नर पशुओंको "मातृवत् परदारेषु" की शिक्षा दी जा सकती है। रोगोंके, विकार अथवा दोषोंके अरिष्टमें शान्तिका आदर्श अचिन्त्य और आपत्कालकी चिकित्सा ग्राह्य होती है। कब कौन अस्त्र उपयोगी है, यह देशकाल पात्रकी परिस्थितिपर निर्भर रहता है, कुशल चिकित्सक समय व परिस्थितिको देखकर पात्रके अनुरूप ही चिकित्सा निर्धारित कर सकता है। इसीमें बुद्धिका चमत्कार है और यही सफलता की कुंजी है।

(क्रमशः)

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टिका मौलिक वा आदि धर्म है

१३. होलीकी रातको हिन्दू-मुस्लिम मिलाप [जून अंकसे चालू] ह० मुहम्मद साहेबकी खोज । उमा देवीके उपासक "उम्मी"। शिवजीका महादिन कुर्आनकी महारात्रि। शबेबरात = यात्राकी रात। मुसलमान रामजन्म मनाते हैं। बाइबलमें राम दर्शन। कुर्आनमें गरुड, सीता और हनुमान्।

(लेखक— श्री० **गणपतराव बा० गोरे**, औंध, जि. सातारा.)

खण्ड ४

[जून अंकसे चालू]

जून १९४४ के पृ. ३०० पर कुर्आनकी ९७ वीं सूरतका अनुवाद देकर हम बता चुके हैं कि किस प्रकार अल्लाहने ह० मुहम्मद साहेबको समझानेका प्रयत्न किया कि लैलतिल्कद्र वा शबेबरात शाबानकी १५ वीं रात, [तदानुसार फाल्गुनी पूर्णिमा वा होलीकी रात] को अर्थात् शुक्लपक्षमें आती है, अतः उसे रमजानकी अंधेरी रातोंमें न ढूंढो। परंतु ह० मुहम्मद साहेब इन बातोंको समझ न सके, और व्यर्थ ही रमजानकी अंधेरी रातोंमें उसे ढूंढते रहे, और उनके पश्चात् सारा मुस्लिम जगत् आजतक उसकी तलाशमें व्याकुल हो रहा है!!!

९. ह० मुहमद साहेबकी खोज —(१) ह० आइशाका वचन है कि जब रमजानकी अन्तिम तीन रातें आती थीं, तो रसूल अल्लाह अपना तहबन्द [लंगोट] कस कर बांध लेते थे। स्वयं भी रातभर जागा करते थे और स्त्रियोंको भी जागरण कराते थे ॥ बुखारी पारा ८ ॥

(२) आगे चल कर इबादा बिन सामतकी कथा है कि "आप [ह० मुहम्मद] ने आज्ञा की कि मैं तुमको शबेकद्रकी खबर देने निकला था, परंतु अमुक अमुक व्यक्ति झगड रहे थे, इसलिए शबेकद्र उठाली गई, और कदाचित् यही आपके लिये बहतर हो। अब तुम ९वीं, ७वीं और ५वीं रात में उसे ढूंढो" ॥ बुखारी पारा ८ ॥

(३) इसी पारामें तीसरी कथा यह भी है— "ह० आइशा फर्माती हैं कि रसूल अल्लाह शअबानसे अधिक रोजे किसी महीनेमें न रखते थे। शअबानमें पूरे (अधिक भाग) महीनेके रोजे रखते थे"॥ बुखारी पारा ८ ॥

इन तीनों रवायतों [कथाओं]से इतना ही प्रकट होता है, कि लैलतिल्कद्र वा शबेबरातकी रात निश्चित न हो सकी। और आज तक अनिश्चित ही चली आती है! कारण क्या? इसका एक उत्तर यह भी है कि यह कार्य ज्योतिषज्ञोंका है। स्वयं सही बुखारीमें कथा है कि—

(४) "ह० इब्न उम्रसे रवायत है कि पवित्र हुजूरने आज्ञा की कि हम अनपढ लोग हैं। हिसाब किताब नहीं जानते। महीना इतने इतने दिनोंका होता है, अर्थात् कभी २९ दिनोंका कभी ३० दिनोंका" ॥ बुखारी पारा ७ ॥

सत्य बातको ज्यों का त्यों कह देना और अपनी दुर्बलताको न छुपाना महात्माओंका काम है। बस यही कारण है ९७ वीं सूरतके उपदेश न समझने का! हम ऊपर लिख चुके हैं कि ह० मुहमद साहेब "उम्मी" अर्थात् 'अपठित' थे। परंतु इस शब्दका जो दूसरा अर्थ है, वह एक और बडे रहस्यको खोलनेवाला है!

१० "उम्मी" का अर्थ है उमा, पार्वती वा प्रकृतिका उपासक!

प्रश्न—पिछले लेखोंमें आपने बताया था कि हिन्दूओं का 'शिव' भेस बदल कर यहूदियों, ईसाइयों, तथा मुसलमानोंमें आजतक छुपा हुआ है, परंतु हिन्दूओंका शिव तो सदा अपनी शक्ति पार्वती सहित रहा करता है! अब बताइये कि इन मुसलमान आदियोंके यहां रहते हुए शिवजी पार्वतीको कहां छोड आये हैं?

उत्तर—इनके यहां भी वे पार्वती सहित विद्यमान हैं। पार्वतीका एक नाम '**उमा**' है, जिसका आप्टे कृत अर्थ है Night=रात्रि। **शिव** नाम **चंद्र** का है, यह हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं। और चंद्रमा 'रात्रि' का पति है, यह भी संस्कृत साहित्यमें मानी हुई बात है। अतः शिवजीका दूसरा नाम **उमापति** अर्थात् "रात्रिका पति" है। '**पति**' का अर्थ है, '**पालन-पोषण करनेहारा**'। '**उमा** = रात्रि काली है, शिव वा चंद्रमा अपने प्रकाशसे उसका पालन पोषण करते हैं। तम, कालक वा अंधेरा **अज्ञान** है, तथा प्रकाश वा उजियाल **ज्ञान** है। पार्वती माताकाही नाम उमा है। यह उमा वा पार्वती प्रकृति है और शिव ईश्वर हैं। गणपति (जीव) पार्वतीके मल (प्रकृति शक्ति) से उत्पन्न होते हैं, परन्तु शिवजी के पुत्र कहलाते हैं। इतना ज्ञान आर्य साहित्यसे प्राप्त हुआ।

उमा अरबीमें उम्मु बन बैठी ! अरबीमें उम्मु शब्द के अर्थ हैं। मां, माता, आदि स्रोत, पहिला उसूल= First principle.

[हिन्दू भी पार्वती तथा उमाको माता कहते हैं। प्रकृति ही जगत्का उपादान कारण है] **उम्मूल् इरा** = आग वा अग्नि; शब्दार्थ महिमानी [आदर आतिथ्य] की मां वा माता।

[हिन्दू भी अग्निको माता कहते हैं। आदर आतिथ्य भोजनसे होता है, जो बिना अग्नि नहीं बनता] **उमुल् कुरा**= *शब्दार्थ सब ग्रामों तथा देहातोंकी मां= राजधानी 'मक्का'

उम्मी— १ मादरी, मादराना [मातासे संबंध रखनेवाला; मातृ; Maternal] २ बे=पढा, अनपढ ॥ अरबी उर्दू डिक्शनरी से ॥

टीप—ये 'उम्मु' वा 'उम्मी' शब्द संस्कृत **उमा** से निकले हैं। **उमा** शब्दका अर्थ संस्कृत में रात्रि=अज्ञान है। इसी अर्थ को लक्ष्य करके अरबीमें **उम्मी** का अर्थ **अज्ञानी** वा **अनपढ** किया गया है !!! संस्कृत तो अरबीकी माता बन रही है !!!

हम भी **उम्मी** शब्दका अर्थ **उमा देवीका उपासक** अर्थात् **अज्ञानी** ऐसाही करेंगे। क्यों ? इसलिये कि जो जो अज्ञानी हैं वे सब उमा देवीके उपासक हैं, केवल ह० मुहम्मद साहेब वा अरब लोग ही नहीं × और जो शिवके उपासक हैं वे ज्ञानी हैं !! **शिव ईश्वर हैं और उमा प्रकृति है।** प्रकृतिके उपासक अज्ञानी ही तो होते हैं। इस बातको जानते हुए ही ह० मुहम्मद साहेबने मूर्तिपूजाको इस्लाममें स्थान न दिया।

इस प्रकार हमने सिद्ध किया कि **उमा** देवी अपने पति **शिव** सहित इस्लामी साहित्यमें यथायोग्य आसनपर विराजमान है !

यहूदियोंमें उमा— बाइबलके कन्कार्डन्समें जो Index Lexicon to the Old Testament है उससे पता लगता है कि **उम्माः**= UMMAH शब्द जातियों= NATIONS के अर्थोंमें पुराने करारमें आठ जगह उपयुक्त हुआ है। यह शब्द अरामी भाषा (Aramaic) है ऐसा वहां बताया गया है। परंतु हमारा विचार है कि यह शब्द अरामी भाषामें संस्कृतसे ही आया है। कुर्आनमें भी **सारी अरब जातिको 'उम्मी'** कहा गया है।◎

इस प्रकार बाइबल भी समर्थन करता है। अतः उमा देवी बाइबलमें भी घुसी हुई है ! आर्य संस्कृतिसे इस्लाम आदि अत्यंत भिन्न माने हुए धर्म भी कितने प्रभावित हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है !

११. शिवजीका महादिन= कुर्आनकी महारात्रि

प्रश्न— शिवजीने 'महाशिवरात्रि' की रातको **महादिन** नाम दिया है [देखो एप्रिल अंक पृ० २०३] इसका कारण क्या ?

उत्तर— दिन नाम है उजियाले वा प्रकाश का। पूर्णिमा

---

* हमारा अर्थ है "कौरवों की माता" अर्थात् मक्का। इसी प्रकार जिस अरब जातिमें ह. मुहमद साहेबका जन्म हुआ वह कुरेश जाति भी कुरुः + ईशः इन संस्कृत शब्दोंसे नाम पाई जिनका अर्थ **कुरु देशके राजा वा राजवंशी** ऐसा है !! हमारा विचार है कि महाभारतके युद्धके पश्चात् कौरव लोग इस देशमें आये और यहां अनुपम घोडे देख कर इस देशका नाम उन्हीं ने अर्व + **स्थान** रखा जिसका संस्कृत अर्थ है "**घोडोंका देश !** इस प्रकार अरब और आर्य एकही वंशके हैं !!

× उदाहरणार्थ कुर्आन २।७८ में यहूदियोंमें भी "उम्मियून" अर्थात् "अज्ञानियों" का अस्तित्व दिखाया गया है।

◎ देखो मौ० मुहम्मदअली कृत आंग्ल भाषाके कुर्आन के फुट नोट सं० ११७ तथा ९५०.

का चंद्रमा पूर्णिमाकी रात्रिको जब पूर्वसे उदय होता है, उसी समय सूर्य १२ घंटे प्रकाश देकर पश्चिममें अस्त होता दीखता है। चंद्रमा १२ घंटे प्रकाश देकर प्रातः कालके समय जब पश्चिममें अस्त होने लगता है, तो उसके अस्त होनेके पूर्व ही पूर्व दिशासे सूर्य उदय होकर पृथ्वीको प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार पूर्णिमाकी रातसे पहिले बीते दिन और पीछे आनेवाले दिनको मिलानेसे बराबर ३६ घंटे पृथ्वीपर अखण्ड प्रकाश रहता है। अतः महाशिवरात्रि पूर्णिमाके रातका नाम है, माघके कृष्ण पक्षके चतुर्दशीका नहीं !! ३६ घंटे अखण्ड प्रकाशके कारण यह **महादिन** कहलाया।

प्रश्न— अब बताइये कि कुर्आनने इसी पूर्णिमाकी रात अर्थात् शअबानकी १५ वीं को लैलतिल्कद्र अथवा शबे-कद्र= महारात्रि क्यों कहा ?

उत्तर— १. उपरि उक्त दो दिनोंके प्रकाशोंको संयुक्त करनेके कारण [देखो कुर्आन ९७।१ जून अंक पृ० ३००]

२. वर्षारंभकी प्रथम रात्रि होनेके कारण [कुर्आन ९७।४ जून अंक पृ० ३००] शिवजीने 'महादिन' कहा, अल्लाहने 'महारात्रि' और दोनोंके नामकरण तभी सार्थक हैं, जब कि **महाशिवरात्रि**="पूर्णिमाकी रात" समझी जाय !

१२. लैलतिल्कद्रका एक फारसी नाम **शबेबरात=यात्राकी रात**=Night of procession भी है। सुखी यात्रा चान्दनी रातकी वा अन्धेरी रातकी ? अवश्यही चान्दनी रातकी ! फिर भला इसे मुसलमान रमजानकी अन्धेरी रातोंमें क्यों ढूंढने लगे ?

१३. मुसलमानोंका मत है कि शबेबरातको आयु और अन्न बांटा जाता है [देखो एप्रिल अंक पृ. २०२] वैदिक धर्मानुसार भी चन्द्रमाको अन्न, औषधियों, आदिमें रस वा आयु को उत्पन्न करनेवाला माना गया है। यहां भी उजियाली रातका संकेत है—अन्धेरी का नहीं !

१४. मुसलमानोंका मत है कि शबेकद्रकी रातको कुर्आन उतरना आरंभ हुआ ! आर्य साहित्यमें ज्ञानका संबंध प्रकाशसे माना गया है, अन्धकारसे नहीं ! अतः यह शअबानकी १५ वीं=पूर्णिमाकी रातही होनी चाहिये। कृष्ण पक्षकी १४ वीं रात नहीं, और न रमजानकी अंतिम ९ अंधेरी रातोंमेंसे एक !

१५. शबेकद्रकी रातको अल्लाहकी ओरसे चैन, ढारस तथा धैर्य उतरते हैं और यह सारी रात मीठी भक्तिमें बीतती है। [देखो एप्रिल अंक, पृ० २०३]

मीठी भक्तिका आनन्द भी चांदनी रातमें ही आता है। धैर्य आराम तथा ढारसका संबंध भी उजियाली रातसे ही है।

१६. **मिलाप**-इस प्रकार पुराण, बइबल तथा कुर्आनके वचनोंको पक्षपातरहित होकर पढनेसे हमें ज्ञात होता है कि शबरः आतः, शब्बाथ, शवाथ, सबथ, शबेबरात, लैलतिल्कद्र, शबेकद्र, फसहकी ईद वा पिशाच वा Passover, ईस्टर वा ईसाका पुनरुज्जीवन, होलीका त्योंहार ये भिन्न भिन्न नाम आर्य संस्कृतिसे किस प्रकार घनिष्ठ संबंध रखते हैं !

'लैलतिल्कद्र' पूर्णिमाकी रात है, ऐसा स्वयं कुर्आन सिद्ध करता है। 'शिवरात्रि' चांद रात और 'महाशिवरात्रि' पूर्णिमाकी रात है, ऐसा स्वयं पुराण आदि के वचनोंसे सिद्ध होता है। परंतु आज १३६३ वर्षोंसे मुसलमान लैलतिल्कद्रको रमजानकी अंधेरी रातोंमें तलाश करते आये हैं, और हिन्दू लोग माघ वा फाल्गुनकी कृष्णपक्ष-चतुर्दशीको गत २५०० वर्षोंसे महाशिवरात्रि मनाते आये हैं ! अब ओ३म् कृपासे, कुर्आन आदिकी सहायतासे सारे भेदभाव मिट चुके हैं, और सिद्ध हुआ है कि शबरः आतः, शब्बाथ, शबेबरात, ईस्टर आदि होली वा वसंतसम्पातके त्योंहारके ही नाम हैं !!!

भारतवर्षमें चारों वर्णोंका यदि कोई एक त्योहार है तो वह होलीका ही त्योंहार है। बरस भरके रूठे होलीकी रातको एक दूसरे पर गुलाल डाल कर, भेद भाव मिटाकर गले लगकर मिल जाया करते हैं—यह एक साधारण दृश्य है जो होलीके दिन वा रातको विशेषतः उत्तर भारतमें देखा जाता है। परंतु इसमें भी हम बडे संकोचसे आजतक काम लेते रहे—अर्थात् इस प्रकार केवल हिंदू-हिंदू ही मिलते रहे—मुसलमानादि नहीं ! परंतु इतनी खोजके पश्चात यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका कि आर्योंके समानही यहूदी, ईसाई, तथा मुसलमान भी-भिन्न भिन्न नामोंके तले—वही आर्योंकी होली सहस्रों वर्षोंसे मनाते आ रहे हैं !!! अतः वे हमसे कदापि भिन्न नहीं। उसी आर्य संस्कृतिको माननेवाले हैं। सहस्रों वर्षोंसे उमा देवीकी पूजा करनेके कारण **हम सब उम्मी बने रहे**, परंतु होलीकी रात

बडी प्रतापशाली है, पुराण तथा कुर्आनके अनुसार उस रातको ज्ञानका प्रकाश होता है। निःसंदेह हमपर भी प्रकाश पडा है। अतः आओ और आगामी होलीकी रातको भेदभाव भूल कर मीठे स्वरसे गाओ—

" हिन्दू मुस्लिम यहुद इसाई।
हैं आपसमें भाई भाई॥ "

और ऐसा गाते हुए सहस्रों वर्षोंके बिछडे भाइयोंको फिर गले लगाकर मिलाओ ! और **उम्मी** बननेके कारण [अपनेको एक दूसरेसे भिन्न समझते हुए] जो अत्याचार आजतक किये गये उन सबके दुःखोंका होलिका की होम अग्निमें हवन कराओ ! भेदभाव भूल जाओ ! सबको अपनाओ ! ऐसी होली मनाओ !

खण्ड ५

मुसलमानों और यहुदियोंमें राम

मुसलमान रामजन्म वा रामनवमी भी मनाते हैं !

प्रश्न— केवल होली और शबेबरातकी एकता सिद्ध करने से ऐसा मान लेना कि हिंदू- मुस्लिम समान संकृति वा धर्म के थे, एक भारी भूल होगी। अतः बताइये कि आपको यह एकता किन्हीं अन्य त्योहारोंमें भी दीख पडती हैं वा नहीं ?

उत्तर— यदि हमारा संकल्प सत्य है, तो अवश्य दीखनी चाहिए।

१. रामजन्म तथा रमजानके अर्थ—

संस्कृतसे— हिन्दू राम तथा कृष्णको विष्णुका अवतार मानते हैं, और विष्णु नाम हैं सूर्यका। अतः रामजन्म, रामनवमी, रामजयंति, का अर्थ हुआ **सूर्य-जयन्ति**।

अरबी से— इसी प्रकार अरबी शब्द **रमजान** भी सूर्यसे संबंध रखनेवाला है, देखिये **रमिज, यर्मजु रम्जन** इन तीन अरबी शब्दोंके अर्थ हैं (ऋतुका) अत्यंत उष्ण होना; (सूर्यका) जला देना, भून देना; (धूपमें) झुलस जाना। "×

फारसी से- फारसी भाषामें **जान** का अर्थ है रूह=आत्मा ताकत=बल; जिंदगी=आयु।

अतः रमजानका अर्थ होगा राम वा सूर्यका जीवित होना, बलवान् होना, अथवा आयु प्राप्त करना, जन्म लेना। यही आर्यों का रामजन्म वा रामजयन्ति है ! इसी को ज्योतिषि **सूर्यका उत्तरायणमें आना** कहते हैं। सच पूछो तो यही ईसाइयोंका Easter or Resurrection of Christ* है [इस पर तो एक विशेष लेख लिखनेका विचार है]

२. रमजान ईद=ईदुलफित्र क्यों?- जिस प्रकार हिंदुओंकी होली तथा रामनवमी दोनों वसंत ऋतुके त्योहार हैं, ठीक उसी प्रकार मुसलमानोंकी शबेबरात तथा रमजान भी वसंत ऋतुके त्योहार थे-[मुसलमान होनेसे पूर्व जब कि वह तीसरे चौथे वर्ष लौंद का महीना मिला करके चांद्र वर्षका सौर वर्षसे मिलान कर लिया करते थे, तब] इस का एक अकाट्य प्रमाण यह है कि इस रमजान ईदका दूसरा नाम ईदुलफित्र [IDULFITR] है, जिसका शब्दार्थ है **निसर्गका त्योहार**= Nature Holiday. वसन्त ऋतुमें निसर्ग वा कुदरत सब ओरसे फूट उठती है, अत; इस रमजान ईदका नाम कुदरतकी ईद कहा जाता था, क्योंकि ठीक वसंत ऋतुमें आया करती थी !

मुसलमान तो आज भी इसे ईदुलफित्रही कहते हैं, परंतु यह अर्थका अनर्थ ही हैं ! क्यों ? इस लिये कि ३२½ वर्षोंमें यह ईद, हर महीनेमें ११ दिनके हिसाबसे वर्षके १२ ही महीनोंमें घूमती हुई पूरा एक वर्ष पीछे खिसक जाती है, और किसी एक ऋतुसे संबंध नहीं रखती !!! अर्थात् हिजरी सन, लौंदका महीना न मिलानेके कारण, हर वर्षमें ११ दिन पीछे रह जाता है।

अतः यदि इसे सचमुच ईदुलफित्र + बनाना हो, तो उन्हें लौंदका महीना मिलानेकी प्रथा फिरसे जारी करना चाहिये।

३. हिन्दू मुस्लिम त्योहारोंमें क्रम-समानता- जैसे हिन्दूओंकी होली फाल्गुनकी पूर्णिमाको और रामजन्म अगले चैत्रके मासमें आता है, ठीक उसी क्रमसे मुसलमानोंकी शबे-

---

× अरबी-उर्दू डिक्शनरी, पंजाब ऐडवइजरी बोर्ड फार बुक्स विरचित १९३८ संस्करण।

* इन ईस्टर आदि शब्दोंका अर्थ है " ख्रिस्त [कृष्ण=सूर्य] का फिरसे जी उठना। "

+ इस ' ईदुल्फित्र ' नामसे मिलता जुलता हिन्दुओंका रामनवमीके सिवा एक दूसरा त्योहार भी है, जिसका नाम रंगपञ्चमी है, और जो रामनवमी से १९ दिवस पूर्व फाल्गुन कृष्णपक्ष ५ को मनाई जाती है।

बरात शअबानमें और रमजान ईद अगलेही महीनेमें मनाई जाती है । रामजन्मके कारणही मुसलमानोंने सारे महीनेको रमजान नाम दिया है !!

४. **उच्चार-एकता**-अरबी-उर्दू कोशमें **रमजान**के अन्य नाम **रमजनातु** तथा **रमजानून** भी दिये हुए हैं ! ये सभी नाम संस्कृतके रामजन्म, रामजयन्ती, रामनवमी इन तीनों से मिलते जुलतेही हैं ! इस उच्चार-परीक्षासे भी इनकी एकता ही सिद्ध होती है ।

५. **नवरात्र एकता**– मुसलमान रमजानके अन्तिम ९ रात्रियोंमें अधिक रोजे रखते और जागरण करते हैं । हिन्दू चैत्र मासकी प्रथम ९ रात्रियोंमें उपवास तथा जागरण करते हैं ! कितनी समानता है !

६ **व्यर्थ खोज**- जिस शबेबरातकी खोज मुसलमान रमजानकी अन्तिम रात्रियोंमें करते रहे, वह तो शअबानकी १५ वीं रात सिद्ध होचुकी है । अतः रमजानमें जिसको खोजना उचित था वह **रामजन्म** ही था, न शबेबरात !

७. **फिर हिन्दू-मुस्लिम एकता** !— किसी ही उद्देश्य, किसी ही नामके नीचे क्यों न हो, परंतु मुसलमान भी रामनवमी मनाते हैं और नवरात्रोंमें उपवास भी करते हैं। हिन्दू तो केवल ९ दिन उपवास करते हैं, परंतु वे सारा महीना!! हिन्दुओंने चैत्रकी ९ मी ही को पवित्र समझा, परंतु मुसलमानोंने रामका नाम सारे महीनेपर लगा दिया !!! जिन्हें दूर-देखने-वाली आंखें होंगी वे ही इस हिंदू-मुस्लिम-एकताकी आजसे १४०० वर्ष पूर्व डाली हुई नींवको देख सकेंगे! वे ही समझ सकेंगे कि शिव ही नहीं, उमा ही नहीं अपितु राम भी आजतक मुसलमानोंके साथ हैं!!! फिर भला वे और हिंदू एक दूसरेको भिन्न धर्म और भिन्न संस्कृति वाले मानें— इसका कारण क्या? वही उमा देवीकी उपासना ! ज्ञान-चक्षु खुलनेमें इसलिये नहीं आते, कि स्वयं मुसलमान भी इन बातोंको नहीं जानते ! !

१५. **बाइबलमें राम दर्शन**— बाइबल तो रामनामसे इतना भरा हुआ है कि उसका वर्णन करनेके लिये, एक लघु पुस्तक लिखनेकी आवश्यकता पडेगी ! अतः हम संक्षिप्त रूपेण यहां कुछेक प्रमाण बताते हैं:—

१. **रामका शब्द अर्थ**- High =**ऊंचा**-रूत ४।१९। १ इतिहास २।९,१०,२५,२७॥ अय्यूब ३२।२॥ यहां **राम** मनुष्योंके नाम हैं, जो ईसवी सन १६२० तथा १८८० वर्ष पूर्वके दिखाए हुए हैं।

२. Rama or Ramah=**राम वा रामः इब्रानी** Height **ऊंचाई**-नगरों के नाम हैं, यथा-मति २।१८।१ राजाओं १५।१७॥ यहोशू १८।२५॥ न्यायियों ४।५ तथा १९।१३॥ इत्यादि ४० प्रमाण और अधिक हैं! यहोशू १९।८ में Ramath [राम मठ?] एक नगरका नाम आया है, और वहांके वासी को १ इतिहास २७।२७ में Ramathite कहा है!

३. Ra-me-ses or Raamses' **रमीसेस वा रामसेस नगर** का वर्णन उत्पत्ति ४७।११॥ निर्गमन १२।३७॥ गिन्ती ३३।३,५ में आया है । रमीसेस आदिका शब्दार्थ है Son of the Sun अर्थात् सूर्यपुत्र। **हिन्दू राम को विष्णु अथवा सूर्यका अवतार मानते हैं -ठीक यहीं बात बाईबल ने भी बता दी !!!** अब तो निःसंदेह सिद्ध हो गया कि बाईबल का **रामसेस्** तथा हिन्दुओंका राम एक ही हैं ।

४. Ramoth **रामोठ** नगरका वर्णन व्यवस्था विवर्ण ४।४३॥ यहोशू २०।८ तथा २१।३८ आदि स्थानोंमें है । एजरा १०।२९ में ई० सन ४५६ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए एक पुरुषका नाम **रामोठ** बताया गया है । इस शब्दका भी इब्रानी शब्दार्थ है Height ऊंचाई ।

५. Ram का साधारण अर्थ भेडा वा **मेंढा** भी है, परंतु इसका उच्चार रैम है, राम नहीं । यह रैम शब्द भी सैंकडों वार बाइबलमें आया है । यह भिन्न शब्द है।

इस संक्षिप्त वर्णनसे रामकी व्यापकता बाइबलमें भी दृष्टिगोचर होती है। बाइबलमें **राम** शब्द मनुष्योंके नामोंमें तथा नगरोंके नामोंमें उपयुक्त हुआ है। शब्दार्थ जहां जहां **ऊंचा** ऐसा किया है वहां वहां सूर्य × की ओर संकेत है! परंतु **रामसेस**का अर्थ सूर्यपुत्र Son of the Sun करके तो बाइबलने सीधा **रामावतार**की ओर संकेत कर दिया !! क्या किसी को आजतक ज्ञात था कि यहुदी धार्मिक

× कुर्आन २७।२६ में है-**रब्बुल् अरशिल् अज़ीम** जिसका शब्दार्थ होगा **महान् आकाशका स्वामी**, जो कि परमात्मा और सूर्य दोनों हो सकते हैं । अरबी **रब्ब**=अल्लाह संस्कृत का **रवि=**सूर्य है !!

साहित्य पर भी वैदिक वाङ्मयकी इतनी गहरी छाप लगी हुई है? हम स्वयं आश्चर्य-चकित हैं!

खण्ड ६

कुर्आनमें गरुड--भगवान्; सीता और हनुमान्।

प्रश्न—शंकरके साथ उमा जिस प्रकार इस्लामी साहित्य में विराजमान है उसी प्रकार, यदि हिन्दू-मुस्लिम धर्म तथा संस्कृति एक ही नींव पर हैं तो रामके साथ उनका व हन गरुड भगवान्, उनकी धर्मपत्नी सीता उनका अनन्य भक्त हनुमान् इनका भी कुछ तो वर्णन कुर्आनमें आना चाहिये! परंतु आजतक के निकले हुए कुर्आनके भाष्यों [तफसीरों] में इनका पता कहीं नहीं मिलता! बताईये कि इसका कारण क्या? बताईये कि क्या गरुड, सीता, तथा हनुमान् भी कुर्आनमें विद्यमान हैं?

उत्तर— १ आजतकके निकले हुए कुर्आनके भाष्योंसे इनका पता नहीं चलता इसका कारण यही है कि कुर्आनका भाष्य आजतक किसी निष्पक्ष वेदज्ञ विद्वानने नहीं किया!

२ कुर्आन तथा मक्केमें गरुड भगवान्—ह० नूह अहा अल्लाहको कहते हैं कि "हे अल्लाह! मेरे लोगोंने ...मुझसे बडे बडे दांव पेच किये।२२। और (एक दूसरेको बहका कर उन्होंने) कहा कि तुम अपने उपास्य देवोंको कदापि मत छोडो। कदापिन त्यागो **वद्द** × को और न **सुवाअ** + और न **यगूस** * को और न **यऊक** * को और न **नस्र** ⊠ को।२३॥" सूरत ७१॥

उर्दू कुर्आनके भाष्यकार शाह अब्दुल्कादिरका लेख है कि "यह सब नाम थे मक्केके बुतों [मूर्तियों] के। उनके हर हर मतलबका एक एक बुत था।" मौ. मुहमद अली ऑफ कुर्आन के भाष्यकार टीप सं. २५७७ में लिखते हैं—

."**वद्द** पुरुष रूप में पूजा जाताथा, **सुवा** स्त्री रूप में [शिवा=उमा=प्रकृति-ले०] **यगूस** सिंहके रूपमें [नरसिंह भगवान् ? लें०]**यऊक** घोडेके रूपमें [सूर्य वा कालदेव—ले०] तथा **नस्र** गरुड (Eagle) के आकारमें पूजा जाता था।"
(रजी इमाम फखरुद्दीनके अनुसार)

लीजिए महाराज! गरुड भगवान्की खोजमें निकले और उन्हें कुर्आनमें ही नहीं अपितु स्वयं मक्के के मंदिर में कभी पूजते जाता हुआ पा लिया! यही नहीं अपितु उनके साथ हि किसी समय मक्केमें, शिवा=उमा= पार्वतीजी, नरसिंह भगवान् तथा मृत्यु वा सूर्यदेव ⊙ का भी पूजन होता था, यह बात भी **स्वयं मुसलमान विद्वानोंके लेखोंसे सिद्ध हो चुकी**!!! अब बताइये कि क्या दीन इस्लाम का भवन हिन्दू संस्कृति पर नहीं बांधा गया है?

३. अरबीमें सीताजी—कुर्आन अथवा अरबी साहित्य में सीताकी खोज करनेके लिये हमें **शिव** तथा **उमाके** संबंधका पुनः विचार करना पडेगा। शिव चंद्रमा वा उजियाला है और उमा उसके विपरीत✍ काली रात है। अब इसी नियम को लक्ष्यमें रखकर हम अरबी भाषामें सीताकी खोज करते हैं। हमने **रमजान** महीनेमें **राम** को * प्राप्त किया है। वहीं

× **वद्दु** व **वद्दुं** – प्रेम करनेवाला। +**सुवाअं** रातका भाग; अरबों की एक मूर्तिका नाम [हमारे विचार में यह रातका पिछला उषा काल का भाग है और **सुवाअं** "शिवा"शब्दका ही अरबी नाम हैं–लेखक] * इनका अर्थ कोशमें नहीं। ⊠ **नस्र**=उकाब [गरुड Eagle]. (अरबी उर्दू डिक्शनरी से)

⊙ वेदमें सूर्यको **समयरूपी घोडा**, अथवा **काल का घोडा** अनेक स्थानोंमें कहा गया है, यथा- **कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः**। अ. १९।५३।१॥

अर्थ- (सप्तरश्मिः) सात [रंगोंकी] किरणोंवाला (कालः अश्वः) काल वा समयरूपी घोडा (वहति) गति करता रहता है॥१॥ अतः हिन्दूओंने काल=सूर्य अथवा मृत्यु देवकी मूर्ति घोडेको ही समझा है। स्वप्न में घोडे पर सवार होना ये शीघ्र मृत्यु पानेका संकेत समझते हैं!!

✍ शिव उमा तथा राम-सीता परस्पर विरुद्ध गुण--धर्म रखते हुएभी।जिस प्रकार एक दूसरे के पूरक बने रहे, ठीक उसी प्रकार जगत् में--पुरुष प्रकृति तथा गृहस्थमें आदर्श पति--पत्नी का अस्तित्व है। सिडनी स्मिथने इस रहस्य को समझते हुए पति--पत्नी की तुलना इस प्रकार की है—पति-पत्नि कैंची के समान इस प्रकार जुडे हैं कि अलग हो नहीं सकते। प्रायः विरुद्ध दिशामें चलते हैं, तथापि जो उनके बीच में पडे उसे शिक्षा देते हैं। यथा—

Married couple resemble a pair of scissors, so joined that they cannot be separated;

(आगेकी टिप्पणी अगले पृष्ठपर देखें)

हम लिख चुके हैं कि अरबी शब्द **"रमिजु, यर्मज, रमजन** के अर्थ हैं (ऋतुका) अत्यंत उष्ण होना, (सूर्यका) जला देना वा भून देना, (धूपमें) झुलस जाना।" राम विष्णु वा सूर्यके अवतार **माने** हुए हैं।

अब उपर्युक्त नियमके अनुसार अरबी भाषामें सीता दर्शाने वाले शब्दके अर्थ **रमिज** के सर्वथा विपरीत, अर्थात् **शरद्-हेमन्त ऋतु** अथवा **जाडेकी ऋतु**के होने चाहिए। अरबोंके शितआ [अथवा **शिता**] शब्दके ऐसे ही अर्थ हैं, यथा—

शितआ-" जाडा; सरदी का मौसम [ऋतु]; महावट; जाडोंकी बारश [वर्षा]; कहत [अकाल, Famine]; खुश्क साली [Drought] (अकाल को **शिता** कहते हैं इसलिए कि अरबमें प्रायः अकाल जाडोंमें होता था—अनुवादक) ×"

कुर्आनमें **शिता** शब्द कहां आया है इसका हमें पता नहीं, नहीं होगा ही, परंतु अर्बी भाषाका यह शब्द है, यह तो निःसन्देह है। फिर **शिता** और **सीता** में उच्चारभेद भी अधिक नहीं। अतः अरबोंके घरमें सीता महारानीके भी दर्शन हो गये !

४ कुर्आन तथा मकेमें हनुमान- कुर्आनमें **हारूत** और मारूत नामके दो फिरिश्तों [देवदूतों=मलायकों=Angels] का वर्णन इस प्रकार आया है—

१ कुर्आनके अर्थोंमें भिन्नता ...... बाबलमें हारूत और मारूत नामके दो मलायकोंपर [अल्लाहकी ओर से] जो (बातें) प्रकट हुई [यहुदी लोग] उनपर मोहित होगये। और वे दोनों (दूत भी जो कुछ उनपर प्रकट हुआ था वह) किसीको भी नहीं सिखाते। यहांतक कि वे उसे (सावधान करके) बोलते कि (भ्राताजी !) हमतो परीक्षाकी कसौटी हैं, अतः (इस विद्याका दुरुपयोग करके कहीं तू नास्तिक [काफिर] न बन जाना। इतना होते हुए भी वे [यहूदी] लोग उन दोनोंसे ऐसी बातें सीखा करते थे, जिनसे पति–पत्नीमें अनबन हो जाया करती ... ॥२।१०२॥ मराठी कुर्आन ॥

२. यही मत उर्दू कुर्आन (ह. शाह रफी उद्दीन कृत) का है।

३. यही मत उर्दू कुर्आन (शम्सुल उलमा हाफिज नजीर अहमद कृत) का है।

४. यही मत सिन्धी भाषाके कुर्आन (आजिज अबुल हसन कृत) का है।

५. परंतु मौ० मुहम्मद अली कृत आंग्ल अनुवाद निम्न प्रकार **अत्यंत विपरीत** ही है—

" बाबलके दो देवदूतों पर वह [विद्या] प्रकट नहीं हुई और न उन्होंने वह किसीको सिखाई, जिस कारण कि वे कहते कि हम तो केवल परीक्षा हैं अतः काफिर मत बनो " +

मौ० मुहमदअलीने इस आयत पर फुटनोट सं० १४९ तथा १४९A में हारूत तथा मारूतके विषयमें कुर्आनके आंग्ल-भाषाके भाष्यकार श्री० सेल साहबके मत आदि भी दिये हैं, जो पाठक वहीं पढें। हमारा कथन इतना ही है कि कुर्आन २।१०२ के अनुवादमें भी स्वयं मुसलमानोंका समान मत नहीं ! कारण क्या ? ये हारूत और मारूत भी शिव, उमा, राम तथा सीताके समान ही हिन्दू देवता दीखते हैं !

२. हारूत तथा मारूत का इस्लामी परिचय—

१ मराठी कुर्आन की २।१०२ पर टीप— ......
कोई कहता है कि ये दूत थे। कोई कहता है कि ये सौंदर्य आदि गुणोंसे संपन्न वरिष्ठ जातिके मनुष्य थे। कोई कहता है कि ये राजा थे। कुछभी हो, जिस कालका यह वर्णन है उस कालमें ये मनुष्य थे और उनको जादू टोना करना आता था।

२. उर्दू कुर्आन ह० शाह रफीउद्दीन कृत **पर ह० शाह अब्दुलकादिरकी टीप—**

"हारूत और मारूत...बाबल नगर के दो देवदूत थे। मनुष्य-आकार में रहते थे। उनको जादूगरी आती थी। जो कोई उनसे सीखने जाता वे प्रथम हीं कह देते कि इसमें ईमान [धर्म] जाता रहेगा। फिर यदि उसकी इच्छा होती तो सिखा देते..."

हिन्दी कुर्आन में ह० हसन निजामी की टीका

३. "हारूत व मारूत के विषयमें भिन्नता है। कुछ व्याख्या करनेवाले कहते हैं कि वे फिरिश्तों के समान गुणी मनुष्य थे।

---

often moving in opposite directions, yet always punishing any one who comes between them. —Sydney Smith.

पुरुष-प्रकृति भी जुदा नहीं हो सकते ! इसीलिये आर्यों में घटस्फोट [तलाक=Divorce] की प्रथा नहीं !!!

× अरबी-उर्दू डिक्शनरी।

+ ... And it was not revealed to the two angels Harūt and Marut at Babel, nor did they teach (it to) any one, so that they should have said, We are only a trial, therefore do not disbelieve; — 2: 102.

(The Holy Quran by Maulvi Muhammad Ali, M. A. LL. B.)

और कतिपय लोग जो [कुर्आन २।१०२ में] 'मलिकैन्' पढते हैं, उनको दो बादशाह बतलाते हैं। और कुछ लोगोंका यह विचार है कि वास्तवमें ये दो फरिश्ते [देवदूत] ही थे, जो मनुष्योंपर कटाक्ष करनेके कारण परीक्षाके लिये संसारमें भेजे गये थे। कुछ भी हो— ये दोनों अवश्य किसी जादू या इसका तोड या इससे बढकर किसी ऐसे ही आश्चर्यजनक वस्तु अथवा विद्याके ज्ञाता थे और लोगोंको इसकी शिक्षा दिया करते थे। "

४. मौ० मुहमदअली टीप १४९A में इन दो देवदूतों की कथाको मनघडन्त समझते हैं !!

यथा— " The Jews instead of following the word of God, followed certain evil crafts which they falsely attributed to Solomon and the two angels at Babel. Solomon is declared free of any such sinfulness attributed to him, and the story of the two angels is declared [by the Quran] to be a fabrication ………… The personal pronoun HUMA [in 2:102] (meaning two) refers to the two fabrications, viz. their fabrication against Solomon and their fabrication of the story of the angels" Page 52 of Holy Quran.

५. हारूत मारूत फारसी कोशमें— "**हारूत व मारूत** नाम दो फरिश्तोंके हैं जो बाबल के कुंएमें लटकाये गये हैं। और जो कोई जादू सीखनेको जाता है उसको जादू सिखा देते हैं। यह जुहरा [शुक्र-ग्रह=planet VENUS] पर आसक्त हुए थे।"

६. मारूत अरबी-उर्दू कोशमें— इस कोशमें हारूत शब्द नहीं है। मारुतके लिये लिखा है— "संसारमें प्रेषित देवदूत (जो हारुतकी परीक्षा के लिये संसारमें भेजा गया और नाकाम सिद्ध हुआ)।"

३. मारुत् ही हनुमान् है— उक्त ६ उद्धरणोंसे दूसरी बार सिद्ध हुआ कि मुसलमान लेखकोंको हारूत और मारुतके विषयमें कोईभी निश्चित ज्ञान नहीं है !! प्रश्नके अनुसार हारुत से अपना संबंध नहीं, अतः उसकी खोज नहीं करते। शेष रहा मारुतको हनुमान् सिद्ध करना— सो इस प्रकार—

(१) **आप्टेके कोशसे-मरुत्**=Wind, air, breeze अर्थात् तेज, मंद वा ठंडी हवा=वायु । **मारुतिः** An epithet of Hanumant [हनुमान]

(२) इतिहाससे— (१) रामायण तथा पुराण आदिमें हनुमान् को **वायुपुत्र** भी कहा गया है। अतः यदि मरुत्का अर्थ वायु है तो **मारुत्** का अर्थ होगा **वायुसे उत्पन्न हुआ** अर्थात् **वायु-पुत्र**।

प्रायः सभी मुस्लिम भाष्यकारोंमें **मारुत**को जादूगर वा आश्चर्यजनक कार्योंका करनेवाला माना है। हिंदू साहित्य भी इस कथन को स्वीकार करते हुए कहता है कि—

हनुमान समुद्रको तैर कर भारतसे लंका पहुंचा। उसने अकेले ही लंकाको जलाया !

एक रातमें सहस्रों मील उड कर संजीविनी बूटी सहित पर्वतको उठा लाया। सूर्यको पकड कर बालकपनमें ही पेटमें डाल दिया! इत्यादि।

ये जादूगिरी के से काम नहीं तो क्या हैं?

(३) अरबी-उर्दू कोश के लेख को हम थोडा बदल दें तो ऐसा पढेंगे— " **मारुत**--लंकामें प्रेषित दूत जो **हरिता**× के शोध के लिये लंकामें भेजा गया था और जो कामयाब [कृतार्थ] सिद्ध हुआ। "

लंकामें सीताकी शोधमें मारुतीका जाना रामायण द्वारा प्रमाणितही है। अतः **मारुत्** बाबलका देवदूत नहीं, भारतीय श्रीरामका दूत था। महा पराक्रमी होनेके कारण उसे अरबस्थान आदि देशोंमें जादूगर समझा जा सकता है। इस प्रकार कुर्आन तथा अरबी साहित्यमें हमें मारुत्का वा हनुमान्के दर्शन भी होते हैं!

भीखा भूखा कोईना, सबके भीतर लाल।
ग्रह खोल नहीं देखते, या विध भये कंगाल।

[क्रमशः]

× **हरिता** का संस्कृत अर्थ है **हरण की हुई स्त्री** अर्थात् सीता। इस **हरिता** को ही **हारूत** तो कुर्आनमें नहीं लिखा गया? विचारणीय है!

मधुच्छन्दस् मंत्रमाला

(लेखक - श्री. नलिनीकान्तजी, श्री अरविंदाश्रम, पांडिचरी)
(अनुवादक - श्री. पं. धर्मराजजी वेदालंकार, उपाध्याय गुरुकुल कांगडी)

(श्री अरविन्दके निजू मंत्री तथा श्री अरविंदाश्रम पांडिचेरीके मंत्री, गम्भीर, विद्वान्, श्री नलिनीकान्तजीने योगीराज श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक व्याख्या पद्धतिका अनुसरण करते हुए ऋग्वेद प्रथम मण्डलके प्रारंभिक ११ सूक्तोंकी, जिनका ऋषि मधुच्छन्दाः है, व्याख्या ' मधुच्छन्दस् मंत्रमाला' नामसे बंगलामें की है। प्रस्तुत लेखमाला उसी बंगला लेखमालाका हिन्दी भाषान्तर है। इसबार इसकी उपक्रमणिकाका प्रारंभिक भाग दिया जा रहा है। सं० 'वैदिक धर्म')

(१) उपक्रमणिका

वेद क्या है ? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि, भारतीय संस्कृतिका आदिस्रोत, या हिन्दू धर्मकी आधार शिला, अथवा आर्यसभ्यताका मूल मन्त्र यह वेद ही है। जो वेदमें श्रद्धा नहीं रखता उसे नास्तिक, अहिन्दू, म्लेच्छ और अनार्य शब्दोंसे पुकारा गया है। ' वेद–बाह्य ' का अर्थ है मनुष्य जातिसे बहिष्कृत, वेदभ्रष्ट कहते हैं पतित पुरुष को। धर्म अथवा कर्मका प्रतिपादन करनेवाले हिन्दुओंके समस्त शास्त्र तथा उपनिषद्, दर्शन, पुराण आदिमें एकही रट है कि, श्रुति क्या कहती है ? जो बात श्रुति विरुद्ध है वह असत्य एवं अग्राह्य है। ऐसा कहनेमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं कि हमारे सब शास्त्र वेदकी एक विस्तृत टीका मात्र हैं। जो लोग प्रचलित धर्मके विरोधमें एक नया मतवाद खडा करना चाहते हैं वे भी वेदका विरोध करनेका दुःसाहस नहीं करते, प्रत्युत अपने मतका बीज वेदमें ही खोजनेका प्रयत्न करते हैं, अथवा नवीन व्याख्या करके वेदकोही अपने अनुकूल ढालनेकी कोशिश करते हैं– या कमसे कम इतनाही कहते हैं कि, वेद उनके मतके सम्बन्धमें हां या ना कुछ नहीं कहता। कहनेका अभिप्राय यह है कि, वेदके विरोधमें कोई अपनी स्थितिको सुरक्षित नहीं समझता।

उदारता और विशालतामें संसारका कोई धर्म हिन्दूधर्म की बराबरी नहीं कर सकता। यह धर्म अत्यंत विचित्र और जटिल है, इसमें अनेक प्रकारके धार्मिक आचारविचारकी धाराएं आकर मिली हैं। यह जो विविधतामें एकता हिन्दु-धर्ममें दिखाई देती है, इसका रहस्य हमें वेदमें उपलब्ध हो सकता है। ऋग्वेदके ऋषि दीर्घतमाकी यह वाणी ' **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** ' आज भी अनेक युग-युगान्तर वीत जानेके पश्चात् कितनेही भारतीयोंके प्राणोंको अनुप्राणित कर रही है। यह वाणी अब भी पहलेके समान उतनीही सजीव और परिचित सी मालूम होती है। गायत्री मन्त्र आज भी हमारे निःश्वास प्रश्वासके साथ ध्वनित होता है, यह सबसे पहले जिनके महान् कण्ठसे निकला था वे थे वैदिक मन्त्रोंके बनानेवाले ऋषि विश्वामित्र। हमारे सामा-जिक जीवनमें मुण्डन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि जो संस्कार अथवा रस्में हैं उनका अनुष्ठान करते हुए इस बीसवीं शताब्दी में भी हम वेदमन्त्रोंका उच्चारण करते हुए वैदिक ऋषियोंके निर्देशोंका अनुसरण करते हैं।

वेद हमारे लिये नित्य, सनातन, शाश्वत, स्थाणु, अवि-कल्प, अव्यभिचारी, किंबहुना चरम सत्यके अधिष्ठाता साक्षात् ब्रह्मकेही समान है। ब्रह्म शब्दका मूल अर्थ है वाणी अर्थात् वेदवाणी। वेद (वैदिक ज्ञान) चिरसत्य है। सृष्टिके आदि कालसे, बल्कि उससे भी पहलेसे वर्तमान है। वेदको कोई न बनाता, न बना सकता है। ऋषि भी इसकी रचना नहीं करते, ऋषियोंने इसे केवल अपने दिव्य कर्णोंसे सुना है तथा दिव्य चक्षुओंसे इसका दर्शन करके हमारे सामने एक निश्चित और सुसज्जित रूपमें रखा है। वेद अपौरुषेय है, किसी व्यक्ति विशेषकी रचना नहीं, सच्चे हिन्दूकी यही धारणा है। ईसाइयोंकी जैसे बाइबल है और मुसलमानोंका जिस प्रकार कुरान है, क्या वेद भी उसी प्रकारका एक ग्रन्थ नहीं है ? वेदको हम जिस दृष्टिसे देखते हैं और जिन विशेषणोंसे विभूषित करते हैं, ईसाई और मुसलमान भी अपने अपने धर्मग्रन्थोंको उसी दृष्टिसे देखते हैं और उन्हीं विशेषणोंसे अलंकृत करते हैं।

संसारमें इसी प्रकार सब अपने अपने ग्रन्थोंकी प्रशंसा में संलग्न हैं, तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि, जिस उच्च आसनपर हमने वेदको प्रतिष्ठित किया है वस्तुतः वेद उसके योग्य नहीं है और वेदके सम्बन्धमें हम जो अतिशयोक्तिपूर्ण शब्द बोलते हैं वे निराधार हैं। प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय अपनी धर्म पुस्तकको सबसे ऊंचा स्थान

देता है। उसका विश्वास है कि, एक मात्र धर्म पुस्तक उसकी अपनी पुस्तकही हो सकती है। उदाहरणार्थ- बाइबल शब्दका अर्थ ही है ' ग्रन्थ ' (The book) उसीमें कहीं बातें सच्ची हैं; उसीके निर्देश अटूट, शाश्वत, और सनातन हैं- वह मनुष्यकी रचना न होकर भगवानकी वाणी है। निष्पक्ष दृष्टि कोणसे विचारते हुए क्या हम यह नहीं देखते कि जहां पृथिवीके बहुतसे अन्य पुराने धर्मग्रन्थ हैं, उन्हींमें एक वेद भी है। फिर इसका विशेष महत्त्व क्यों- हिन्दू लोग वेदकी जो इतनी महिमा गाते हैं, इसकी तहमें क्या उनका जातीय अभिमान अथवा अपने ग्रन्थके प्रति अन्धश्रद्धाका भाव काम नहीं करता? अगर ऐसी ही बात है तो केवल प्राचीनताके आधार पर किसी बातको मान लेनेसे काम नहीं चलेगा, परीक्षा करने पर जो बात सत्य और उपयोगी प्रमाणित हो उसे ही माननेमें श्रेय है। निर्भ्रान्त, नित्यसत्य, अपौरुषेय आदि शब्दोंसे हम वेदका जो गुणगान करते हैं क्या वेद इस गुणगानका पात्र भी है? वेद क्या है? उसमें लिखा क्या है? वेदका स्वयं अध्ययन और आलोचन करके हमें इन प्रश्नोंका निष्पक्ष होकर, और पूर्वग्रहोंको छोडते हुए उत्तर देना होगा।

वेदके विषयमें उक्त प्रकारके प्रश्नोंका उठना स्वाभाविक है। सबसे पहले इन प्रश्नोंको योरोपियन लोगोंने उठा कर लोगोंको प्रेरित किया कि वेदका स्वयं अध्ययन करें।

योरपमें इसे Higher Criticism या सूक्ष्म समालोचना कहते हैं। योरप इस नवीन सूक्ष्म आलोचनाको न केवल हमारे धर्मग्रन्थों पर बल्कि बहुत पहलेसे अपने धर्मग्रन्थों पर लागू कर रहा है। वहां बाइबलके सम्बन्धमें चर्चा होती रहती है कि यह पुस्तक किसने, कब और किन परिस्थितियोंमें बनाई इत्यादि। योरपियन लोगोंकी मनोवृत्ति कुछ इस प्रकारकी है कि वे किसी बातको आसानीसे एकदम बिना परीक्षा किये स्वीकार नहीं करते। कोई बात बहुत पुराने समयसे सुननेमें आती है केवल इतनेसेही उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता, यथा सम्भव उसे प्रत्यक्ष करना चाहिये अथवा उसके विषयमें पूरी खोज और जांच पडताल होनी चाहिये। इस मनोवृत्तिके क्या क्या लाभ हैं यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। बहुत समयसे हमारी जाति इस मनोवृत्तिको खो चुकी है। हम लोग असली वस्तुको भुला कर केवल उसका नाम लेते हुए वाद्विवादमें फंसे रहते हैं।

यदि इस अवस्थामें योरपकी तरफसे कोई धक्का लगाकर हम सचेत हो सकें तो हमें इसके लिये योरपका कृतज्ञ होना चाहिये। जिस वेदमें हमारी समस्त शिक्षा दीक्षा तथा सभ्यता और संस्कृति प्रतिष्ठित है उसी वेदके सम्बन्धमें सब प्रकारकी चर्चा हमारे देशमें लुप्त हो गई है। अब तक भी वेदसे परिचित लोगोंकी संख्या अत्यन्त विरल है। और जिन्होंने वेदकी पुस्तकको अपनी आंखोंसे कभी नहीं देखा ऐसे स्त्री पुरुष तो अनगिनत हैं। संस्कार आदिके अवसर पर दो चार वेदमन्त्र अपने विकृत उच्चारणमें कभी कभी सुनाई दे जाते हैं। इसे ही वेद परिचय कहना हो तो और बात है, अन्यथा जन साधारणके लिये धर्मग्रन्थ वेद नहीं। पर रामायण, महाभारत और पुराण आदि हैं। पण्डित लोग भी दर्शन, उपनिषद् स्मृति आदिको जानते हैं, वेदों को नहीं। राजा राममोहन रायने हिन्दू जातिको नूतन दृष्टि तथा नूतन शक्ति प्रदान की, परन्तु उनका ध्यान भी उपनिषद्से परे मूल वेदकी ओर न जा सका। इसके अतिरिक्त भारतमें जिस विशेष वर्गके अन्दर वेदके पठनपाठनकी परम्परा अविच्छिन्न रूपसे चल रही थी, उस वर्गकी विचार शक्ति भी मूल वेदमें खर्च न होकर वेदकी टीका टिप्पणियों में ही अधिकांश खर्च होती थी। निरुक्त, कल्पसूत्र, व्याकरण, मीमांसा और इन सबसे अधिक सायण महीधर आदिके भाष्योंने वेद तत्त्वको अपने झाड झंकारसे इतना अधिक आच्छन्न किया हुआ था कि इस घने जंगलको पार करके वेदके शुभ्र शिखर तक पहुंचनेका साहस किसीको न होता था।

साधारण लोग तो क्या, पण्डित लोग भी वेदको दुरूह तथा मानवबुद्धिसे अगम्य ग्रन्थ समझते थे और इसका नाम सुनकर इसे दूरसेंही प्रणाम कर देते थे। वेदके संबंधमें इस धारणाके लिए उत्तरदायी कौन है? इस प्रश्नपर विचार न करनाही अच्छा है। योरपने परिणामोंका ख्याल न करते हुए वेदके दुर्गम दुर्गपर साहसपूर्वक आक्रमण किया। हमारे अन्दर जैसे वेदके प्रति भयमिश्रित भक्ति है और उसे बंद करके बैठे रहते हैं, योरपमें वेदके प्रति इस प्रकारका व्यवहार किये जानेका कोई कारण न था। परदेसी और परधर्मी

लोगोंके लिए मनुष्यद्वारा बनाई हुई एक पुरानी किताबके अतिरिक्त वेदकी और क्या कीमत हो सकती थी ? योरपियन विद्वानोंने वेदका अनुशीलन केवल इसी प्रयोजनसे किया कि वे प्राचीन भारतीय अथवा आर्योंके रहन सहन और मनोभावोंसे परिचित हो सकें। वेदमेंसे किसी ऊंची शिक्षाको प्राप्त करनेके लिए वे इसकी ओर नहीं झुके। वेदके चारों ओर जो एक प्रकारका कुहरा सा छाया हुआ था, योरप ने उसे छिन्न भिन्न कर उसके स्थानमें दिनके शुभ्र प्रकाशको तथा आधुनिक विचारसरणिकी प्रखर धूपको उपस्थित किया। योरपके इस दुःसाहसके फलका वर्णन हम बादमें करेंगे, किन्तु इसका एक शुभ परिणाम यह है कि भारतवासियोंके हृदयोंमें एक प्रकारके साहस और उत्साहका संचार हुआ है। हममेंसे कितनेही विद्वान् स्वयं वेदका स्वाध्याय नवीन दृष्टिसे करने लगे हैं।

पुराने संस्कारों तथा पूर्वग्रहोंको छोडकर निष्पक्ष दृष्टिसे वेदका अध्ययन करके योरपियन विद्वानोंने वेदमें क्या पाया ? वे एक बहुतही भयानक और आश्चर्यजनक बातपर पहुँचे कि जिसे माननेपर यह नहीं समझमें आता कि आर्य जाति क्यों अब तक वेदको सिरपर लिए हुए है, परम्परा तथा पुरानी लकीर पीटनेके सिवा इसका और कोई न्याय संगत कारण नहीं हो सकता। योरपने कहा कि वेद मनुष्यकी अति पुरातन कीर्ति मात्र है, साहित्यको रचनेकी यह मनुष्यकी सबसे पहली चेष्टा है। इसके अतिरिक्त मनुष्य जातिके आरम्भ कालके टूटे फूटे गीतोंका यह संग्रह मात्र है। उस प्राचीनतम समयके सोचने विचारनेके तरीके और आहार व्यवहार- इन सबका विवरण वेदमें मिलता है, वेद आदि कालीन गडरियों और किसानोंके गीत हैं। मनुष्यके बचपनकी बिलबिलाती आवाज है। आरम्भमें मनुष्य जब अशिक्षित असभ्य एवं जंगली था, तब वह सृष्टिके समस्त पदार्थोंको प्राणवान् और चेतनके रूपमें देखता था। उसे यह अनुभव होता था कि प्रकृतिकी इस व्यापक लीलाके पीछे देवता या दानव आदि कोई अशरीरी शक्ति काम कर रही है। इन देवताओं और दानवोंको प्रसन्न और तृप्त करनेके लिये मानव कण्ठसे जो टूटा फूटा गान निकला है, वही वेदमन्त्रके नामसे प्रख्यात है।

आदिम मनुष्य वर्षाके लिये इन्द्र और वरुणसे, तथा धूप और प्रकाशके लिये सूर्य देवतासे प्रार्थना करते थे। आंधीकी विकरालताको देखकर वे मरुतोंसे अनुनय विनय करते थे; और उषाके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर वे उषादेवीके सम्बन्धमें मङ्गल गान करते थे। उन्होंने प्रकृतिपर शासन करनेवाले जिन देव दानवोंकी अपने भोले मनसे कल्पना की थी, उन्हें वे अद्‌भूत शक्तिसे सम्पन्न समझते थे और इसीलिए उनके सामने अपना प्रणाम अर्पण करते थे। उनसे अपने दैनिक जीवनमें काम आनेवाली वस्तुओंकी तथा सब प्रकारकी सांसारिक उन्नति और पारलौकिक सुखकी याचना करते थे। उनके जीवनका आधार गाय और घोडे थे। अतएव वे दूधके लिये धेनु (बछडेवाली गाय) तथा आने जानेके लिए आशु सप्ति (तेज चलनेवाले घोडे) की प्रार्थना करते थे। उनमें बहुतसे विरोधी दल भी थे जो सदा आपसमें लडते रहते थे। वेदमन्त्रोंके रचनेवाले, विदेशसे आये हुए, इन आर्योंके भारतमें आनेसे पूर्व यहां द्राविड लोग थे। इन्हें ये विशेष रूपसे अपना शत्रु समझते थे और इनको परास्त करनेके लिए अपने देवताओंसे अस्त्र शस्त्र तथा अपनी विजयकी कामना किया करते थे।

देवताओंको प्रसन्न करनेके लिए उन्होंने एक विशेष उपायका आविष्कार किया था जिसका नाम है ' यज्ञ '। वेदिको खूब अच्छी तरह सजाकर उसपर तिनके और लकडियां रखनेके बाद वे अग्नि जमाकर उसमें घी दूध और दही डालते थे और सब मिलकर वहां देवताओंको शराब (सोमरस) भेंट करके स्वयं भी पीते थे। उस समय आगके आविष्कारसे सचमुचही लोगोंके दिलमें एक विशेष प्रकारका आनन्द और आश्चर्य हुआ होगा। क्योंकि शीत प्रधान प्रदेशमें रहनेके कारण आगकी उपयोगिताको उन्होंने तुरन्त समझ लिया होगा। इसीलिए हम देखते हैं कि उनका सबसे मुख्य धार्मिक अनुष्ठान अग्निपूजा था। और अग्नि वेदमें सबसे प्रधान देवता माना गया है।

आदि कालके आरम्भिक मनुष्य समाजके अपरिष्कृत धर्मकी कहानीही योरपियन विद्वानोंकी दृष्टिमें वेद है। लेकिन इस देशके वेदज्ञ पण्डितोंकी वेदके बारेमें क्या धारणा है ? यहांके पण्डित समाजकी धारणाको बनानेवाले हैं ' सायणाचार्य। ' इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेदका भाष्य किया है। इनके भाष्यकी सहायताके बिना योरपियन लोग भी वेदकी पुरानी एवं

अप्रचलित भाषासे कोई अर्थ निकाल सकते इसमें सन्देह है। योरपियन विद्वानोंने वेदकी जो व्याख्या की है वह इसीलिए अधिकांशमें सायणाचार्य की व्याख्या पर आश्रित है।

लेकिन सायणाचार्यने अपने भाष्यमें कहीं भी ऋषियोंको मानवजातिकी आरम्भिक अविकसित अवस्थामें पले हुए मनुष्योंके रूपमें चित्रित नहीं किया। वे वेदकी प्राकृतिक व्याख्या पर भी बल नहीं देते। उन्होंने वेदको यज्ञिय कर्मकाण्डकी दृष्टिसे देखा और समझा है। यज्ञ पदार्थ क्या है और यह किस किस उद्देश्यसे किया जाता था, इत्यादि बातोंका विवरण उन्होंने वेदके आधार पर देनेका यत्न किया है। धर्मकी साधनाकी एक विशेष प्रक्रियाका नाम ' यज्ञ ' है, इस लोकमें तथा परलोकमें आत्मिक कल्याणके लिए यज्ञका अनुष्ठान होता है। स्वर्ग नामक एक विशेष लोकमें देवता निवास करते हैं। प्राकृतिक शक्तियोंके पीछे देवताओं की शक्ति छिपी हुई है। एक एक प्राकृतिक शक्तिका अधिष्ठाता एक एक देवता है। समस्त देवता मिलकर ' विश्वदेव ' होते हैं। 'विश्वदेव' भी एक देवता विशेषका नाम है।

देवताओंकी शक्तिमें ही मनुष्यकी शक्ति है। मनुष्य ही देवताओंके लिए यज्ञयाग करके उन्हें तृप्त करता है। मनुष्य द्वारा प्रस्तुत नमस्कारको तथा सोमरस आदि हविको प्राप्त कर देवता पुष्ट एवं प्रसन्न होते हैं। मनुष्य भी देवताओंके प्रसन्न होनेपर उनसे इस लोकमें गौ, अश्व, प्रजा आदिके रूपमें समृद्धिको प्राप्त करता है। तथा परलोकमें सद्गति भी उसे इन्हीं देवताओंको तृप्त करनेसे मिलती है। एक ओर योरपीय विद्वानोंने तथा दूसरी ओर भारतीय पण्डितोंने वेदकी जो व्याख्याएं की हैं, उन्हें मिलाकर एक किया जा सकता है। नए जमानेमें वेदका अध्ययन करनेवाले शिक्षित भारतीय वेदके अर्थको इसी सम्मिलित व्याख्याके प्रकाशमें ग्रहण करते हैं।

वेदकी प्राकृतिक और याज्ञिक व्याख्याको मिलाकर यद्यपि वे प्राचीन भारतीयोंको असभ्य लोगोंकी श्रेणीमें नहीं गिनते, तथापि एक आदि कालीन किन्तु आधुनिक प्रगतिसे रहित समाजके रूपमें उनके समाजको चित्रित करनेकी चेष्टा करते हैं। नमूनेके लिए यहां श्री चारुचन्द्र बन्धोपाध्याय तथा प्यारी मोहनसेन गुप्त द्वारा रचित 'वेदवाणी ' ग्रन्थका उल्लेख किया जा सकता है। यदि वेदका यही असली स्वरूप है, तो पहला प्रश्न होता है कि, फिर वेदको हिन्दूधर्म, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता तथा आर्यों के आदर्शवादका आधार ग्रन्थ किस खूबीके कारण माना जाता रहा है? वेद यदि मनुष्य जातिकी शैशवावस्थाका टूटा फूटा गान है और यदि यह सुदूर अतीत कालके असभ्य लोगोंके जादू टोनेके तन्त्र-मन्त्रोंका संग्रह मात्र है, तो यह समझना कठिन है कि, इसे ऐसा महत्त्व क्यों दिया गया कि यह आज तक लुप्त नहीं हुआ, प्रत्युत पूर्ण रूपसे सुरक्षित है, ये आज भी हमारे जीवनकी गति विधिको घेरे हुए हैं।

वर्तमान शिक्षित समाज पर बाइबल या कुरानका प्रभाव अविकल रूपसे विद्यमान् है, इसका कारण अच्छी तरह समझमें आ सकता है। बाइबल या कुरानमें चाहे अन्य बातें हों या न हों, किन्तु उनके मूलमें एक ऐसा चिरन्तन आदर्श और सत्य है कि जिसका अनुसरण करते हुए मनुष्य आज भी अपने आपको धन्य बना सकता है। लेकिन पाश्चात्य विद्वानोंने अथवा हमारे पुराने पण्डितोंने वेदका जिस प्रकार अर्थ किया है, उससे यह कभी प्रतीत नहीं होता कि वेदमें वर्णित तत्त्वोंके आधार पर विशाल मानवधर्मकी स्थापना की जा सकती है, अथवा किसी लोकोत्तर अध्यात्मिक चेतनाके लिये मनुष्य यत्नशील हो सकता है। यदि यही बात है तब तो मानना पडेगा कि वेदके अपूर्व मान एवं प्रतिष्ठाका कारण गतानुगतिकता ही है। हमारे पूर्वजोंने इसकी बडाई की है, इसीलिये हम भी उनके संस्कारोंको लेकर वेदकी बडाई किये जाते हैं। यद्यपि ज्ञान विज्ञान और नीतिमें हम वैदिक युगमें बहुत आगे बढ गये हैं तथापि पुरखाओंके रक्तसे सम्बन्ध होनेके कारण किसी अज्ञात खिंचावके वशीभूत होकर हम पुरखाओंके विश्वासों को स्वयं भी अन्धाधुन्ध बिना सोचे समझे माने जा रहे हैं– क्या ऐसा कहना गलत है?

वेद सब विद्याओंका मूल है, इसी तरह न जैसे सब समुन्नत और सूक्ष्म कलाओंका आरम्भ किन्हीं स्थल एवं साधारण बातोंसे होता है। वृक्ष ऊपरसे फल फूल आदिके द्वारा खूब सुशोभित होता है, उसका मूल मिट्टीमें जमा हुआ होता है, यहां तक कि मूलके बिना फल फूलका कोई अस्तित्व नहीं। लेकिन यह सब होते हुए भी उपयोगिता

और मूल्यकी दृष्टिसे वृक्षके फल फूल ही महत्वपूर्ण और सार्थक हैं। चरम सीमाको प्राप्त आधुनिक ज्ञान विज्ञानके मूलभूत, अनघढ और अविकसित अवस्थाके द्योतक वेदकी स्थिति भी क्या वृक्षमूल की ही भांति गौणसी नहीं है ? यदि ये सब आशङ्काएं सत्य हैं, तो फिर प्रत्येक युग और प्रत्येक प्रान्तकी भारतवर्षकी साधनामें हम क्यों वेदके जाग्रत प्रभावको देखते हैं ? केवल भक्तिप्रदर्शनके लिये ही वेदको उच्चासन पर प्रतिष्ठित नहीं किया गया, किन्तु शास्त्र तो पद पद पर श्रुतिकी दुहाई दे रहे हैं।

इसी प्रसङ्गमें- एक और प्रश्न भी उठ खडा होता है। पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय विद्वान् कहेंगे कि, 'श्रुति' से ऋग्वेद आदिका ग्रहण न होकर वेदान्त या उपनिषद् आदिका ग्रहण है। देशी विदेशी सभी विद्वान् उपनिषद्को उच्च तत्त्वज्ञानका भण्डार समझते हैं। वेदकी अपेक्षा हमारे देशमें उपनिषद्की चर्चा अधिक हुई है और सर्वत्र हो रही है। इसका एकमात्र कारण यह है कि, भाषा और भावकी दृष्टिसे उपनिषद् अर्वाचीन है, आधुनिक लोग उसे अधिक सरलतासे समझकर अपना सकते हैं। उपनिषद्में यज्ञ-याग और तन्त्रमन्त्रका जंजाल भी नहीं है। इसमें स्पष्ट रूपसे दार्शनिक तत्त्वोंका प्रतिपादन है। यह सब देखकर ही पाश्चात्य विद्वानोंने कहना शुरु किया कि, उपनिषद् वेदके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है, इससे भी अधिक एक विद्रोह है।

वैदिक युगके अन्तमें आर्य लोगोंका झुकाव प्रकृति तथा यज्ञादिसे हटकर आत्मा ब्रह्म आदि गम्भीर तत्त्वोंके चिंतन की ओर हो गया था। यह झुकाव उपनिषत्कालमें आकर पूर्णरूपसे परिपक्व एवं प्रस्फुटित हो गया। प्राचीन कालके धर्मकर्मको तिलाञ्जलि देकर नये मनीषियोंने समाजमें एक दार्शनिक अनुभूति और आध्यात्मिक उपलब्धिको प्रतिष्ठित किया। किन्तु देखना यह है कि, पाश्चात्य लोगोंकी इस ऐतिहासिक गवेषणाका आधार क्या है ? हम वस्तुतः उपनिषद्में क्या पाते हैं ? क्या हम पग पगपर यह नहीं देखते कि उपनिषद् अपनी सम्पूर्ण तत्त्व कथाको वेदकी ऋचाओंके साथ मिलाकर प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करती है ? जब कभी उपनिषद्में किसी सिद्धांतका प्रतिपादन होता है तो साथही उस सिद्धान्तके प्रामाण्यको स्थापित करनेके लिये उसी आशयका वेद वाक्य भी उद्धृत किया जाता है। समस्त उपनिषद्में ऐसा कोई प्रसङ्ग नहीं है जिससे यह प्रतीत होता हो कि यह वेदके विरोधमें कोई बात कह रही है, अथवा वेदसे सर्वथा भिन्न किसी मार्गपर चल रही है।

उपनिषद्का प्रसिद्ध नाम वेदान्त है। वेदान्त वह है जिसमें वेदका परिपाक और परिपूरण हुआ हो। जर्मन दार्शनिक हेगलके पश्चात् योरपके लोगोंके मनमें एक ऐसी धारणा बैठ गई है कि, ऐतिहासिक युगपरम्परामें प्रत्येक वस्तुके पीछे उसकी प्रतिक्रिया करनेवाली विरोधी तरङ्ग (Dialectic) अवश्यही आनी चाहिये। योरपियन अपने अतीत इतिहासमें देखते हैं कि, रोमन जातिकी जड वस्तु-पूजाके विरोधमें ईसाइयतका जन्म हुआ। इसके पश्चात् कैथोलिक धर्मके प्रति विद्रोहके रूपमें लूथर और प्रोटेस्टैण्ट लोगोंका आविर्भाव हुआ। इसी तरहके विद्रोह और विरोधके प्रवाहको योरपीय लोग भारतीय इतिहासमें भी ढूंढना चाहते हैं। हमारे कथनका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि भारतके इतिहासमें इस चीजका सर्वथा अभाव है। परन्तु हम इतनाही बलपूर्वक कहना चाहते हैं कि, वेद और उपनिषद्में इस प्रकारका कोई विरोध माननेका हमें कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता। उपनिषद् वेदका उल्लेख सदा अत्यन्त विनम्रता और भक्तिभावके साथ करती है, स्थान स्थानपर कठिन प्रसङ्गोंमें वैदिक ऋषियोंकी उक्तियों को उद्धृत करती है। उपनिषद्को बार बार हम यह कहते हुए देखते हैं कि– 'यह बात हमने अपने पुराने ज्ञानी पुरुषोंसे सुनी है,– ' इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।

एक और बात भी है। वेदकी व्याख्याकी जो प्रचलित पद्धति है वह बेहद खींचतान और कल्पना तथा स्वेच्छाचारसे परिपूर्ण होनेके कारण अत्यन्त दुर्बोध है। यद्यपि यह स्वीकार करना पडेगा कि अनेक स्थलोंमें वेदका अर्थ सुबोध और संगत है, किन्तु ऐसे भी स्थलोंकी कमी नहीं है जहां प्रचलित व्याख्या पद्धतिके अनुसार वेदका अर्थ बिलकुल असंगत और प्रलापोक्तिसे भरा हुआ प्रतीत होता है। चाहे हम पाश्चात्य ढंगसे प्राकृतिक व्याख्या करें- अथवा सायणकी रीतिसे याज्ञिक व्याख्या करें, दोनों तरहसे हम वेदको सर्वांशमें समझनेमें असमर्थ रहते हैं। बाधित होकर

हमें जगह जगह कदम बदलना पडता है किसी एक मार्ग पर नहीं चल सकते, अपनी सुविधाको देखकर हम परिवर्तन कर लेते हैं। सायणाचार्यने 'घृत' का अर्थ कहीं (१–९।२) 'जल' 'जलं' 'अप' का अर्थ कहीं (१।३६-८) 'अन्तरिक्ष, 'अन्तरिक्ष' का अर्थ कहीं पृथिवी किया है। इसीलिये हम देखते हैं कि यद्यपि सायणाचार्य और रमेशदत्तने वेद मन्त्रोंका शब्दशः अर्थ किया है, किन्तु वाक्यका फलितार्थ कुछ ऐसा अद्भुत और असंगत सा हो गया है कि वह किसी पागलके मुखमें भी शोभा नहीं पा सकता। अनेक स्थलोंमें यह वाक्यार्थ ऐसा हुआ है कि इसे सुनकर समझ नहीं आता कि हंसे या रोयें। वेदार्थकी प्रचलित सरणिका अवलम्बन न करते हुए कितने ही विद्वानोंने नाना स्थलों पर चुप्पी साध ली है और खुले तौरपर स्वीकार किया है कि हम इन स्थलोंका कुछ भी मतलब नहीं निकाल सकते। यह कहा जा सकता है कि वेद एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तक है अतएव उसकी भाषाको यदि हम पूर्ण रूपसे न समझ सकें तो हमें विशेष चिन्ता न करनी चाहिये और केवल मोटा अर्थ ग्रहण करके ही सन्तुष्ट रहना चाहिये। लेकिन हम देखते हैं कि इस मोटे अर्थको निकालनेके लिये भी जगह जगह इतनी चालाकीसे काम लेना पडता है कि हमारे मन पर यह प्रभाव पडे विना नहीं रहता कि अर्थ करनेकी पद्धतिमें अवश्य ही कोई महान् दोष है।

वेदका मोटा और साधारण अर्थ भी यदि इतने सरल और सीधे ढंगसे मालूम किया जा सकता, तो समस्त विद्वानोंका किया हुआ अर्थ लगभग एकसा ही होता। परन्तु दुर्भाग्य वश हम ऐसा नहीं देखते। आधुनिक समयमें प्राकृतिक और याज्ञिक अर्थके अतिरिक्त श्री अविनाशचन्द्र दासने अपनी पुस्तक Rigvedic India में ऐतिहासिक अर्थ किया है। रमेशचन्द्र विद्यारत्नने भौगोलिक, तिलकने ज्यौतिषक, परमशिव अय्यरने वैज्ञानिक, नारायण गौडने रासायनिक तथा डाक्टर रेले (V. G. Rele) ने शारीरिक (Anatomical) अर्थ किया है। 'नाना मुनियोंके नाना मत' अथवा 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्' वाली बात वेदके सम्बन्धमें चरितार्थ हो रही है। व्याख्याकारकी अपनी प्रकृति तथा संस्कारोंके अनुसार उसे वेदके दो चार स्थानोंमें जो भाव विशेषरूपसे प्रभावित करते हैं उनको एकान्त रूपसे ग्रहण करके वह उन्हींके प्रकाशमें वेदका समग्र रहस्य जानना चाहता है। परिणामतः एकही ऋचाकी इतनी व्याख्याएं की गई हैं कि, उनका परिगणन और निर्द्धारण नहीं हो सकता। ऐतिहासिक रासायनिक आदि व्याख्यापद्धतियां सम्पूर्ण वेदका नहीं तो कमसे कम वेदके अधिकांश भागका अर्थ अपने ढंगसे करलें, तब भी कोई बात है। लेकिन ऐसा करके वे वेदके एक छोटेसे भागका अर्थ अपनी पद्धतिसे दिखलाकर शेषके लिये चुप रहती हैं, इसका यह मतलब हुआ कि, वेदके बचे हुए हिस्सेपर उनकी पद्धतिका अवलम्बन करनेसे प्रयत्न व्यर्थ होगा इस बातको साबित करती हैं। इस स्थितिको देखकर हम यही कहेंगे कि वेदके रहस्यकी कुंजी अभीतक किसीको नहीं मिली– सब अंधेरेमेंही हाथ मारते फिर रहे हैं।

(क्रमशः)

मनुस्मृतिके प्रकाशमें कुरान

(ले०— पं० ऋभुदेवशर्मा ' साहित्यभूषण ' ' आयुर्वेदभूषण ' ' शास्त्राचार्य ' औंध)

इम कुरानको मुसलमान लोगोंका पुराण कह सकते हैं। जिस प्रकार भागवतादि पुराणोंमें विष्णु-भक्तोंका उत्कर्ष वर्णित है वैसे ही कुरानमें भी नबियोंका उत्कर्ष और कार्य कथित है। पुराणोंमें देव-निन्दकोंको कुवाच्य शब्द कहे गये हैं वैसे कुरानमें भी, जैसे—

(१) दिखा हमको राह सीधी। राह उन लोगोंकी, कि निअमत की है तूने ऊपर उनके; सिवा उनके जो गुस्सा किया गया है ऊपर उनके। और न गुमराहों का॥

ये वाक्य कुरानकी भूमिका कहे जा सकते हैं। एक ऐसा मनुष्य है, जिस पर अल्लाह (वैदिक इन्द्र) की कृपा है। दूसरा वह, जिस पर अल्लाहका गुस्सा है। जिस पर अल्लाहकी कृपा है, वही मुसलमानोंका आदर्श पुरुष है। उसीके पीछे चलना है।

(२) यह किताब, नहीं शक बीच इसके, राह दिखाती है वास्ते परहेजगारों (पापसे बचनेवालों) के। वह जो ईमान लाते हैं साथ गैब (अदृश्यशक्ति) के और कायम रखते हैं नमाज को।...... सूरतुल्बकर॥

ये लोग अल्लाहके भक्त हैं।

(३) तहकीक (सचमुच) जो लोग कि काफिर हुए, बराबर है ऊपर उनके, क्या डराया तूने उनको या न डराया तूने उनको। नहीं ईमान लावेंगे। मुहरकी अल्लाह ने ऊपर दिलों उनके के, और ऊपर कानों उनके के, और ऊपर आंखों उनकी के पर्दा है। और वास्ते उनके अजाब (कष्ट) है बडा। (सूरतुल्बकर)

ये लोग अल्लाहसे फिरे हुए हैं।

(४) और नहीं वह ईमान लानेवाले। फरेब (धोका) देते हैं अल्लाहको, और उन लोगोंको, कि ईमान लाये। और नहीं फरेब देते; मगर जानों अपनी को। और नहीं समझते। बीच दिलों उनके के, बीमारी है। पस बढाई उनकी, अल्लाहने, बीमारी। और वास्ते उनके, अजाब है, दर्द देनेवाला। ब-सबब (कारण) इसके कि, थे झूट बोलते ॥ १० ॥ और जब कहा जाता है वास्ते उनके, मत फसाद करो बीच जमीनके; कहते हैं सिवाय इसके नहीं कि हम सँवारते हैं ॥ ११ ॥ खबरदार हो, तहकीक (वास्तवमें) वही हैं फसाद करनेवाले। और लेकिन नहीं समझते ॥१२॥ और जब कहा जाता है वास्ते उनके, ईमान लावो, जैसा ईमान लाए हैं लोग। कहते हैं, क्या ईमान लावें हम, जैसा ईमान लाये हैं बेवकूफ। खबरदार हो, तहकीक (सचमुच) वही हैं बेवकूफ। वे लेकिन नहीं जानते ॥१३॥ और जब मिलते हैं, उन लोगोंसे, जो ईमान लाये हैं, कहते हैं, ईमान लाये हम। और जब अकेले होते हैं; तर्फ सरदारों अपने की, कहते हैं, तहकीक हम साथ तुम्हारे हैं; सिवाय इसके नहीं, कि हम ठट्ठा करते हैं ॥१४॥ अल्लाह ठट्ठा करता है उनसे, और खींचता है उनको, बीच सरकुशी उनकी के। बहकते हैं ॥१५॥ यही लोग हैं, जिन्होंने मोल ली गुमराही (कुमार्ग), बदले हिदायत (शिक्षा) के।... ॥ १६॥... और छोड दिया उनको बीच अन्धेरोंके। नहीं देखते ॥ १७ ॥ बहरे हैं, गूँगे हैं, अन्धे हैं। पस वह नहीं फिर आते ॥१८॥ (सूरतुल्बकर)

अल्लाह और उसके अविश्वासी (हजरत मुहम्मदके मतसे, वैसे तो हजरतसे पूर्वके लोग भी अल्लाहको अपने ढंगसे मानतेही थे) लोगोंकी कितनी निन्दा है, ऊपर देखिये।

(५) ए लोगो! जो ईमान लाये हो! जो कोई फिर जावेगा तुममेंसे, दीन (धर्म) अपनेसे, पस अलबत्ता ला देगा, अल्लाह एक कौमको, कि प्यार करता है उनको, और प्यार करते हैं, वह उसको। नर्मी करनेवाले हैं, ऊपर मुसलमानोंके; और सख्ती करनेवाले हैं, ऊपर काफिरोंके। जहाद (युद्ध) करेंगे, बीच राह अल्लाहके। और न डरेंगे, मलामत, किसी मलामत (धिक्कार) करनेवालेकी, से। यह बडाई अल्लाहकी है, देता है उसको, जिसको चाहे। और अल्लाह कशायशवाला है, जाननेवाला ॥ ५४ ॥ (सूरतुल्माइदः)

कुरान मुसलमानोंपर नर्मी और दूसरे लोगोंपर सख्तीकी आज्ञा देता है। मरने-मारने और निन्दासे भी न डरनेका उपदेश देता है। कुरानके शत्रु कौन हैं, देखिये—

(६) मुसल्मानो! यहूद और नसाराको दोस्त न बनाओ। (सूरतुल्माइदः)

वेदमें इन्द्रके स्तोता असुरोंके मारनेकी प्रेरणा करते हैं। वेदने भी असुरोंको बुरा-भला कहा है जैसे—

(१) आन्मायिनामामिनाः प्रोत मांयाः ॥
(ऋ. १।३२।४)

अर्थ - और (मायिनाम्) छलियोंके (मायाः) छल तूने (अमिनाः) नष्ट कर दिये।

(२) अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे ॥
(ऋ. १।३२।६)

अर्थ- यह असुर वृत्र (अयोद्धा इव) योद्धा नहीं था (दुःमदः) परन्तु मदमें अत्यन्त चूर था। अथवा बहुत घमण्डी था उसने इन्द्रको (आ हि जुह्वे) ललकारा।

असुर मायावी हैं और माया करना आर्यसभ्यताके विरुद्ध है। वृत्र योद्धा न होकर भी महावीर इन्द्रको पुकारता है। मदमें चूर होना भी सभ्यताके बाहरकी बात है। वेदमें इस प्रकारकी अनेक निन्दायें शत्रुके विषयमें पायी जाती हैं। इन्द्रके स्तोता और दाता भले समझे जाते हैं, अस्तोता और अदाता निकृष्ट, दण्डनीय। तब यह कहना अनुचित न होगा कि पुराण और कुरानकी भक्ति-धाराका उद्गम-स्थान वेद हैं। नाम और कार्यका भेद है परन्तु भक्तिका प्रवाह एक सा है। वेदका शत्रु किसी विशेष जाति या वर्ग का सम्बन्धी नहीं है परन्तु कुरानमें अरबके निवासी यहूदी और ईसाई ही विशेषतः अल्लाहके शत्रु हैं।

वेदमें इन्द्रादि देवताओंके कर्ममें वीरोंके गुण और समाज की व्यवस्था बतायी गई है। मनुस्मृतिमें समाजकी व्यवस्था वेदकाही अनुकरण है। कहीं शुद्ध, कहीं अशुद्ध। कुरानकी व्यवस्थायें भी प्रायः मनुस्मृतिके समान ही हैं। यथा-

(१) मनु०- मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षण-वर्जने॥ (५।२६)

अर्थ- अब मांस खाने और त्यागनेका नियम कहूँगा।

कुरान- हलाल किये गये, वास्ते तुम्हारे चारपाये चुगने-वाले॥ (सूरतुल्माइदः)

(२) मनु०- असंस्कृतान् पशून् मंत्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन॥ (६।३६)

अर्थ- जिस पशुका मंत्रोंसे काटने आदिका संस्कार न किया गया हो ब्राह्मण उसका मांस कभी न खाये।

कुरान- हराम (निषिद्ध) किया गया, ऊपर तुम्हारे, मुर्दार और लहू और गोश्त सूवरका, और जो कुछ, पुकारा जावे, सिवाये अल्लाहके, साथ उसके। ...

अल्लाह नामसे हिंसित पशु हलाल और किसी और नाम अथवा अल्लाहका नाम न लिया गया हो तो हराम है। मिलाइये मनुके यज्ञ-मांससे। यह प्रकरण वैदिक नहीं है पर संसारमें मनुसेही फैला है।

(३) मनु०- ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्। भजेरन् पैतृकं रिक्थमनी-शास्ते हि जीवतोः (म. ९।१०४)

अर्थ- माता-पिताके मरनेके पश्चात् भाई मिलकर पैतृक धनको बराबर-बराबर बाँट लें क्योंकि पिता-माताके जीवित रहते वे पैतृक धनके अधिकारी नहीं।

हजरत मुहम्मदने भी बहुतसे स्थान जीते थे, वे एक प्रकारसे राजा बन गये थे अतः लोगोंने उनसे पैतृक संपत्ति के अधिकारके विषयमें पूछा, फिर हजरतने नियम बनाया-

कुरान- फतवा (निर्णय) पूछते हैं तुझसे। कह, अल्लाह फतवे देता है तुमको बीच कलाला के। अगर कोई मर्द हलाक (मृत) हो जावे। नहीं हो वास्ते उसके औलाद और न बाप। और वास्ते उसके हो, एक बहन। पस वास्ते इसके है आधा, इस चीजसे कि छोड गया। और वह वारिस होता है इसका। अगर न हो वास्ते इसके औलाद। पस अगर हों दो बहनें। पस वास्ते इन दोनोंके दो तिहाई इस चीजके, कि छोड गया। और अगर हों वह वारिस, जमाअत मर्द औरतें। पस वास्ते मर्दके, बराबर हिस्से दो औरतों के। बयान करता है अल्लाह वास्ते तुम्हारे, ऐसा न हो कि गुमराह हो जाओ, और अल्लाह साथ हर चीजके, जाननेवाला है॥ ७७॥ (सूरतुलिनसाअ)

(४) मनु०- सन्धिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः। तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्। (म. ९।२७६)

अर्थ- जो चोर सेंध मार कर रातमें चोरी करते हैं, राजा उनके दोनों हाथ काट कर तीक्ष्ण शूली पर उन्हें चढा दे।

चोरीमें हाथ काटनेका दण्ड प्रसिद्ध है।

कुरान- और चोर और चोरनी, पस काटो हाथ इन दोनोंके॥ ३८॥ (सूरतुल्माइदः)

हजरतके अधीन जो प्रजा थी, उसकी उन्हें व्यवस्था करनी पडी और अरबमें जो दण्ड-विधान था उसे ही उन्होंने प्रचलित किया। निस्सन्देह यह व्यवस्था मनुस्मृतिद्वारा ही वहाँ प्रचलित हुई होगी। परन्तु कालान्तरमें अरब लोक मनु और मनुस्मृतिका नाम भी भूल गये। राजनैतिक दृष्टि से हजरतका मुसलमानोंका पक्ष लेना उचित था। यथा-

वेद- क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रान्,

उन्नयामि स्वाँअहम्॥ (यजु० ११।८२)

अर्थ- मैं ज्ञान-शक्तिसे अमित्रोंको नष्ट करता और अपनोंको उठाता हूँ।

मनु०- स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु॥ (म० ७।३२)

अर्थ- अपनी प्रजामें न्याय-धर्मका प्रचार करे और शत्रुओंको कठोर दण्ड दे।

कुरानको अध्यात्म-दृष्टिसे देखना भूल है। कुरानको अध्यात्म-दृष्टिसे देखते हुए आर्य स्वयं वेद और मनुस्मृतिके मार्ग से दूर हो रहे हैं।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

पुस्तक	मू.	डा.व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता	मू. ५)	डा.व्य. १)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद ”	३)	।॥)
४ अथर्ववेद ”	५)	१)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥।)
४ मंत्रसमन्वय	३)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥।)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ वै. प्राणविद्या ।	॥)	=)
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	।-)
६ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति	६)	१।)
अक्षरविज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मू.	डा.व्य.
देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ भाग १ -) तथा भाग २ =)		-)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला ।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद् १)		।-)
१ वेदपरिचय- (परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला १ से ६ भाग	५)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग १	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	३)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

श्रावण सं. २००१
अगस्त १९४४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९६

विषयसूची।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

पुस्तक	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता	मू. ५)	डा.व्य. १)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद "	३)	।॥)
४ अथर्ववेद "	५)	१)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥)
४ मंत्रसमन्वय तथा मंत्रसूची	३)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥।)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ वै. प्राणविद्या ।	॥)	=)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	१)	।-)
५ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति	६)	१।)
अक्षरविज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मूल्य	डा.व्य.
देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-
बालकधर्मशिक्षा		
१ भाग १ -) तथा भाग २	=)	-)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला ।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेदपरिचय- (परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला ५ भाग	४)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग १	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	३)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

क्रमाङ्क २९६

वर्ष २५ : : : : अङ्क ८

श्रावण संवत् २००१

अगस्त १९४४

एक अंगका सहस्रधा विभाग

क्रियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियंद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा क्रियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र ॥
(अथर्ववेद १०।७।९)

सबका आधारस्तम्भ परमेश्वर भूतकालमें बने विश्वमें कितना प्रविष्ट हुआ था, भविष्यमें होनेवाले विश्वमें इसका कितना भाग सो जायगा, अर्थात् व्याप्त होकर रहेगा ? अपने एक अंशको जो यह सहस्रों विभागोंमें विभक्त करता है, उनमें यह सर्वाधार प्रभु कितनासा प्रविष्ट होकर रहता है ?

यह प्रभु अपने एक अंशको सहस्रों, लाखों या करोडोंकी संख्यामें विभक्त करता है। इन अनन्त वस्तुओंका ही यह भूत वर्तमान और भविष्यकालमें होनेवाला संसार बना है। अतः वह इन सबमें पूर्णतया व्याप्त है, क्योंकि उसीका एक अंश विभक्त होकर यह संसार बना गया है।

प्रेमका तगादा

पाठकोंसे वैदिक संहिताएं तथा दैवत संहिताएं शीघ्राति-शीघ्र तैयार करनेके लिये तगादेपर तगादे आ रहे हैं, कई तो आग्रहके साथ ऐसा पूछते हैं कि, बताओ अमुक संहिता किस समय तैयार होगी, देरी क्यों की जा रही है, दैवत संहिताके द्वितीय विभागकी प्रतीक्षा की जा रही है परन्तु अभीतक हमें वह नहीं मिला इत्यादि आशयके पत्र प्रतिदिन आ रहे हैं। इनका उत्तर तो दिया जाताही है, परन्तु सर्व साधारण पाठकोंके लिये इस विषयमें थोडासा लिखते हैं–

दैवतसंहिता--द्वितीय विभाग

दैवतसंहिता वेदाभ्यासके लिये अत्यंत उपयोगी संहिता है। जो वेदाभ्यास करते हैं, उनके लिये यह ग्रंथ अतीव लाभकारी है। एक देवताके सब मन्त्र एक स्थानपर मिलने से मनन और अभ्यास सुगमतया हो सकता है। इसलिये दैवतसंहिताकी इतनी अधिक मांग हो रही है। जिन्होंने प्रथम भाग देखा है वे द्वितीय भाग भी शीघ्र चाहते हैं, क्योंकि दैवतसंहिता पढनेसे वेद पढना रुचिकर हुआ है। हमारे पास जो पत्र आ रहे हैं, उनसे दैवतसंहिताकी लोकप्रियता स्पष्ट प्रतीत हो रही है, इसीलिये ये तगादे आ रहे हैं।

दैवतसंहितामें प्रत्येक देवताके मंत्रोंके साथ कई सूचियाँ दी जाती हैं। अभ्यासकोंके लिये ये सूचियाँ अत्यंत उपयोगी हैं। इन सूचियोंके बननेके लिये देरी लगती है। मन्त्र छपनेके पूर्व सूची बनती नहीं, बादमें बनती है, अतः देरी लगती है। वैसा देखा जाय तो संहिताओंकी छपाईका कार्य यहां प्रतिदिन चलता है, तथापि इतनी देरी लग रही है, इसमें हमारी सुस्ती नहीं हो रही है। परन्तु इससे भी अधिक शीघ्र यह कार्य होना असंभव है।

दैवतसंहिताके द्वितीय विभागका अन्तिम प्रकरण 'विश्वेदेवाः' की सूचियांही केवल छपनी हैं। शेष सब छपाई हो चुकी है। इनके पृष्ठ करीब ८० होंगे और इनकी छपाईके लिये दो महिने तो अवश्यही लगेंगे। अतः दैवतसंहिताके द्वितीय विभागके ग्राहक और दो महिने ठहरें।

तैत्तिरीय संहिता

तैत्तिरीय संहिताकी छपाई चल रही है। ३२० पृष्ठ छप चुके हैं। काण्ड छः का चतुर्थ प्रपाठक छप रहा है। छठाँ और सातवाँ काण्डही छपना शेष रहा है। इस शेष तै० संहिताके पृष्ठ करीब १०० होंगे तथा अकारादि सूची भी छपेगी। इस संहिताकी सूची प्रत्येक मन्त्रकी सूची होगी। ऐसी सूची आजतक नहीं बनी है। आजतक कण्डिकाओंकीही सूचियाँ बनी हैं। हम सभी मंत्रोंकी सूची बनाना चाहते हैं, अतः यह विस्तृत होगी और बडी भी होगी। हम ऐसा अनुमान कर रहे हैं कि, यह ग्रंथ आगामी छः महिनोंमें तैयार होगा और तब ग्राहकोंको मिलेगा।

तैत्तिरीय शाखावाले पण्डितोंका तगादा इस संहिताके लिये विशेष है। उनसे निवेदन है कि, वे और छः महिने ठहर जायँ। वे अपने नाम यहां भिजवा दें, जब ग्रंथ तैयार होगा, तब उनको सूचना दी जायगी।

पिप्पलाद संहिता

इसके पश्चात् पिप्पलाद संहिता छपेगी। कपिष्ठल-कठ संहिता अभीतक हमें संपूर्ण नहीं मिली है। अधूरी मिली है। संपूर्ण ग्रन्थ मिलनेके प्रयत्न किये जा रहे हैं। 'अश्विनौ' देवता के मंत्रोंके अर्थ भी छप रहे हैं।

प्रबंधकर्ता

विश्वेदेवा देवताका परिचय

यह एक देवता नहीं है

' विश्वेदेवाः ' नामकी कोई एक देवता नहीं है। इसके पर्याय पद ' विश्वे देवाः, सर्वे देवाः, नानादेवताः, बहुदैवत्यं ' इस तरह अनेक हैं। इन पदोंसेही 'सब देवों' का बोध होता है। जहां मंत्रमें या सूक्तमें एकसे अधिक देवता होते हैं, और प्रत्येक देवताका पृथक् निर्देश करनेकी संभावना नहीं होती, वहांके अनेक देवताओंका मिलकर निदर्शक नाम ' विश्वेदेवाः ' है। ' अनेक देवता ' ऐसा भी इसको हम कह सकते हैं। अतः जिन मंत्रोंमें या सूक्तों में अनेक देवता होते हैं, उनका देवता ' विश्वेदेवाः ' समझा जाता है, उदाहरणके लिये देखिए–

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्।
आदित्यान् मारुतं गणम् ॥ (ऋ. १।१४।३)

इस एक मन्त्रमें नौ देवताएँ हैं, इसलिये नौ देवताओंका निर्देश करनेके स्थानपर ' विश्वेदेवाः ' देवता कहा है। इससे बोध होता है कि, इस मन्त्रमें अनेक देवताएं हैं।

सब देवताओंकी इकट्ठी प्रार्थना करनेके समयमें भी ' विश्वेदेवा ' देवता मानी जाती है। वहां सब देव ऐसा अर्थ समझा जाता है, जैसा– (ऋ. २।४१।१३)

विश्वे देवास आ गत शृणुता म इमं हवम्।

यहां सब देवोंकी इकट्ठी प्रार्थना है। यहां किसी एक देवताका निर्देश नहीं है। जहां गणदेवोंकी प्रार्थना होती है, वहां उन सब गण देवोंको सामूहिकरूपसे ' विश्वेदेवा ' कहा जाता है। वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् ये सब गण देव हैं। ये संघ करके रहते हैं।

अथर्ववेदमें ' नाना दैवत्यं, मन्त्रोक्ताः देवताः, बहु दैवत्यं, नाना देवताः ' ऐसे अनेक नाम देवताओंमें आते हैं, उन सबका अर्थ ' अनेक देवता ' इतनाही है। अर्थात् अनेक देवताओंका बोधक यह पद है। यह कोई एक देवता नहीं। इस सूक्तमें जो अनेक देवता होंगे, वेही दूसरे सूक्तमें होंगे ऐसी भी बात नहीं। परन्तु सर्वत्र अनेक देवता मन्त्रमें वा सूक्तमें होंगे, यही साम्य यहाँ है।

विश्वेदेवाके विषयमें ब्राह्मण ग्रंथोंका निर्वचन

विश्वेदेवा देवताके संबन्धमें ब्राह्मण ग्रंथोंमें अनेक प्रकारके विवेचन मिलते हैं, उन्हें अब देखिये -

एते वै सर्वे देवा यद्विश्वेदेवाः।
(कौ. ब्रा. ४।१४;५।२)

एते वै विश्वेदेवा यत्सर्वेदेवाः।
(गो. ब्रा. उ. १।२०)

रश्मयो ह्यस्य (सूर्यस्य) विश्वेदेवाः।
(श. ब्रा. ३।९।२।६;१२)

तस्य (सूर्यस्य) ये रश्मयस्ते विश्वेदेवाः।
(श. ब्रा. ४।३।१।२६)

एते वै विश्वेदेवा रश्मयः। (श. ब्रा. २।३।१।७)

एते वै रश्मयो विश्वेदेवाः। (श.ब्रा. १२।४।४।६)

(प्राणा वै) विश्वेदेवाः। (वा. य. ३८।१५)
(श. ब्रा. १४।२।२।३७)

ऋतवो विश्वेदेवाः। (वा. य. १२।६१)
(श. ब्रा. ७।१।१।४३)

इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः। (श. ब्रा. २।४।४।१३; ३।९।२।१४)

अथ यदेनं (अग्निं) एकं सन्तं बहुधा विहरन्ति तदस्य वैश्वदेवं रूपम्। (ऐ. ब्रा. ३।४)

श्रोत्रं विश्वेदेवाः। (श. ब्रा. ३।२।२।१३)

ता (दिशः) उ विश्वेदेवाः।
(जै. उ. ब्रा. २।२।४; २।१।१।५)

स (प्रजापतिः) विश्वान्देवानसृजत तान् दिक्षूपादधात्। (श. वा. ६।१।२।९)

दिशो हैतद्यजुरेतद्वै विश्वेदेवाः वैश्वानराः।
(श. ब्रा. ६।५।२।६)

तस्य (प्रजापतेः) विश्वे देवाः पुत्राः।
(श. ब्रा. ६।३।१।१७)

वैश्वदेवो हि वैश्यः (तै. ब्रा. २।७।२।२)

विड्‌ विश्वेदेवाः । (श. ब्रा. १०।४।१।९)
विशो विश्वेदेवाः (श. ब्रा. २।४।३।६; ३।९।१।१६; ५।५।१।१०)
वैश्वदेव्यो वै प्रजाः । (तै. ब्रा. १।६।२।५; १।७।१०।२)
पशवो वै वैश्वदेवम् । (कौ. ब्रा. १६।३)
वैश्वदेवो वा अश्वः । (श. ब्रा. १३।२।५।४; तै. ब्रा. ३।९।२।४; ३।९।११।१)
वैश्वदेवी वै गौः । (गो. ब्रा. उ. ३।१९)
वैश्वदेवं अन्नम् । (तै. ब्रा. १।६।१।१०)
विश्वेषां वा एतद्देवानां रूपं यत्करम्भाः ।
(तै. ब्रा. ३।८।१४।४)
सर्वमिदं विश्वेदेवाः । (श. ब्रा. ३।९।१।१४; ४।४।१।९;१८)
सर्वे वै विश्वेदेवाः । (श. ब्रा. १।७।४।२२; ३।९।१।१३;४।२।२।३; ५।५।२।१०)
विश्वेदेवा एव सर्वम् । (गो. ब्रा. पू. ५।१५)
अनन्ता विश्वेदेवाः । (श. ब्रा. १४।६।१।११)
विश्वे वै देवा देवानां यशस्वितमाः ।
(श. ब्रा. १३।१।२।८; तै. ब्रा. ३।८।७।२)
बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैरुदक्रामत् । (ऐ. ब्रा. १।२४)
वैश्वदेवं तृतीयसवनम् । (ऐ. ब्रा. ६।१५; श. ब्रा. १।७।३।१६, ४।४।१।११; जै. उ. १।३७।४)
अथैनं उदीच्यां दिशि विश्वेदेवा ... अभ्यषिंचन् वैराज्याय । (ऐ. ब्रा. ८।१४)
विश्वे त्वा देवा उत्तरतोऽभिषिञ्चन्त्वानुष्टुभेन छन्दसा । (तै. ब्रा. २।७।१५।५)

विश्वेदेवा देवताके संबंधमें ब्राह्मण ग्रंथोंमें इस तरहके वचन मिलते हैं। यहां प्रथम ही ' सर्वे देवाः ' सब देव विश्वेदेव हैं, ऐसा कहा है, अर्थात् जितने भी देव हैं वे सब विश्वेदेव हैं। कोई देव इनमेंसे छूटा नहीं है। आगे सूर्यके किरण विश्वेदेव हैं ऐसा कहा है। किरण अथवा प्रकाशके किरण जितने भी हैं वे सबके सब विश्वेदेव हैं। आगे प्राण और ऋतुको विश्वेदेवा कहा है। क्योंकि प्राण भी अनेक हैं और ऋतु भी बहुत हैं। इन्द्र और अग्नि विश्वेदेव हैं। अग्नि एक होते हुए भी उसको अनेक नामोंसे पुकारते हैं, इसलिये वे सब रूप विश्वेदेव हैं। श्रोत्र विश्वेदेव हैं, क्योंकि सब दिशाएं ही श्रोत्र हैं और दिशा अनेक होनेके कारण उसे विश्वेदेव कहा है, वह ठीक ही है। प्रजापतिने सब देव उत्पन्न किये, वे विश्वेदेव हैं। प्रजापतिके जो पुत्र देव हैं, वे विश्वेदेव हैं। वैश्य तथा प्रजाजन भी विश्वेदेव हैं। सब पशु भी विश्वेदेव हैं। गौ और घोडा भी विश्वेदेव हैं। विश्वेदेव अनन्त हैं और यह सब जो भी इस विश्वमें है, वह सब विश्वेदेव ही है।

इस तरह सभी विश्व अर्थात् विश्वके अन्तर्गत पदार्थ मात्र हैं वे सब विश्वेदेव हैं। इसमें कोई वस्तु छूटी नहीं है। यही बात ' विश्वेदेवाः ' पदसे भी समझमें आ सकती है। इस विश्वमें जो भी पदार्थ हैं, वे सब 'देव' हैं अतः वे ' विश्वेदेव ' कहलाते हैं, यह ठीक ही है। अब तैंतीस देवोंके विषयमें यहां प्रसंगानुसार कुछ कहना चाहिये-

तैंतीस देवताएँ

तैंतीस देवताओंका उल्लेख निम्नलिखित मंत्रोंमें है—

(मनुर्वैवस्वतः । विश्वेदेवाः । पुर उष्णिक् ।)

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ॥ (ऋ. ८।३०।२)
ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन् ।
विदन्नह द्वितासनन् ॥ (ऋ. ८।२८।१)

(गाथिनो विश्वामित्रः । अग्निः । त्रिष्टुप्)

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः ।
पत्नीवतः त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥ (ऋ. ३।६।९)

(प्रस्कण्वः काण्वः । अग्निः । अनुष्टुप्)

श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः ।
तान्रोहिदश्व गिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतं आवह । (ऋ. १।४५।२)

(भृग्वंगिराः । त्रिवृत् । अनुष्टुप्)

त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्वन्तः । अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद्वीर्याणि ॥ (अथर्व. १९।२७।१०)

(गोपथः । रात्रिः । अनुष्टुप्)

द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः ।
तेभिर्नो अद्य पायुभिः नु पाहि दुहितर्दिवः ॥
(अथर्व. १९।४७।५)

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः। बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा॥ (वा. य. २०।११)

इन सात मंत्रोंमें ३३ देवताओंका स्पष्ट उल्लेख है। 'त्रयः त्रिंशत् देवाः। त्रिंशति त्रयः परः देवासः। त्रिंशतं त्रीन् च देवान्। गिर्वणः त्रयः त्रिंशतं। त्रयस्त्रिंशत् देवताः। देवाः त्रयस्त्रिंशाः। द्वौ+विंशतिः च+एकादश।' ये सब उल्लेख ३३ देवोंकी गणना कर रहे हैं। 'तीन और तीस,' अथवा 'तीस और तीन' इस तरह गणना ऊपरके मंत्रोंमें दीखती है। एक मंत्रमें २+२०+११=३३ ऐसी गणना है। तीन और तीससे भी एक देव मुख्य और दस देव उसके साथवाले ऐसी गणना है। वही बात २+२०+११=३३ में है। तीन देव मुख्य और दस दसके तीन देवगण मिलकर तैंतीस देव होते हैं।

तैंतीस देवोंमें 'तीनवार एकादश' 'त्रया एकादश' अर्थात् ११×३=३३ ऐसी देवोंकी गणना ऊपर दिये एक मंत्रमें की है। इससे ये तीन तरहके देवगण, ग्यारहकी संख्यामें प्रत्येक गण होनेसे, तैंतीस बने हैं। इससे खोज करनेवालेको पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें ग्यारह ग्यारह देवगणोंका निवास है, ऐसा पता लगता है। इसके सूचक निम्नलिखित मन्त्र हैं—

तीन गुणा ग्यारह देव

(हिरण्यस्तूप आंगिरसः। अश्विनौ। जगती)

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना। प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषः भवतं सचाभुवा॥ (ऋ. १।३४।११; वा. य. ३४।४७)

(परुच्छेपो दैवोदासिः। विश्वेदेवाः। त्रिष्टुप्)

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्। (ऋ. १।१३९।११)

(भृग्वंगिराः। त्रिवृत्। अनुष्टुप्)

ये देवा दिव्येकादश स्थ० ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ०। ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ (अथर्व. १९।२७।११-१३)

(श्यावाश्व आत्रेयः। अश्विनौ। त्रिष्टुप्)

विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभिः सचाभुवा। सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना। (ऋ. ८।३५।३)

(नाभाकः काण्वः। अग्निः। महापंक्तिः)

अग्निस्त्रीणि त्रिधातून्याक्षेति विदथा कविः। स त्रीँरेकादशाँ इह यक्षच्च पिप्रयच्च नो विप्रो दूतः परिष्कृतः। नभन्तामन्यके समे॥ (ऋ. ८।३९।९)

(मेध्यः काण्वः। अश्विनौ। त्रिष्टुप्)

युवां देवास्त्रय एकादशासः सत्याः सत्यस्य ददृशे पुरस्तात्। अस्माकं यज्ञं सवनं जुषाणा पातं सोममश्विना दीद्यग्नी॥ (ऋ. ८।५७।२)

(कश्यपो मारीचः। पवमानः सोमः। त्रिष्टुप्)

तवं त्ये सोम पवमान निण्ये विश्वे देवास्त्रय एकादशासः। दश स्वधाभिरधि सानो अव्ये मृजन्ति त्वा नद्यः सप्त यह्वीः॥ (ऋ. ९।९२।४)

इन सात मंत्रोंमें तैंतीस देवोंकी गणना की है। 'त्रिभिः एकादशैः देवैः। त्रीन् एकादशान्। त्रयः एकादशासः।' तीन गुणे ग्यारह देव हैं यह बात इन मंत्रोंसे सिद्ध होती है।

ये तैंतीस देव 'दिवि एकादश, अन्तरिक्षे एकादश, पृथिव्यामेकादश' इस तरह आकाशमें, अन्तरिक्षमें और भूमिपर ग्यारह-ग्यारह हैं, ऐसा विवरण उक्त मंत्रोंमें ही किया है। इससे तैंतीस देव कहां कैसे रहते हैं, इसका पता लगता है। इन ग्यारह देवोंमें भी एक मुख्य और दस गौण अर्थात् उस एकके साथ या अधीन कार्य करते हैं। पृथ्वीपर अग्नि, अन्तरिक्षमें वायु और द्युलोकमें सूर्य ये तीन देव संभवतः मुख्य होंगे और इनमेंसे प्रत्येकके अधीन दस दस देव रहते होंगे। पर ऐसा भी दीखता है कि, अग्नि आदि देव इन तैंतीस देवोंको अपने रथपर बिठलाकर लाते हैं, इस विषयमें मन्त्रभाग देखिए—

अग्ने! पत्नीवतः त्रिंशतं त्रींश्च देवान् आवह॥ (ऋ. ३।६।९)

अग्ने! गिर्वणः त्रयस्त्रिंशतं आवह॥ (ऋ. १।४५।२)

अग्निः तीन् एकादशान् यक्षत्॥ (ऋ. ८।३९।९)

हे अग्ने ! तैंतीस देवोंको और उनकी पत्नियोंको साथ ले आओ । इसीतरह अश्विदेव भी तैंतीस देवोंको लाते हैं-

हे अश्विना ! त्रिभिः एकादशैर्देवैः आयातं ॥

(ऋ. १।३४।११)

हे अश्विदेवो ! तैंतीस देवोंके साथ यहां आओ । यहां ये अग्नि और अश्विदेव तैंतीस देवोंको अपने साथ लाते और यज्ञमें हविर्भाग लेते हैं । अश्वी अपने रथपर तैंतीस देवोंको रखकर लाते हैं, इसी तरह अग्नि भी अपने रथपर रखकर उन सब देवोंको लाते हैं । इस विषयमें निम्न लिखित मन्त्र भाग देखने योग्य है-

एभिः अग्ने सरथं याहि अर्वाङ् नाना-रथं वा ॥

(ऋ. ३।६।९)

हे अग्ने ! इन तैंतीस देवोंको अपने रथपर बिठला कर अथवा नाना रथोंपर बिठलाकर यहां ले आओ । यह मन्त्र निःसंदेह विचार करने योग्य है । तैंतीस देवोंकी खोजमें यह सहायक होनेवाला है । तीन हजार तीनसौ तीस और नौ देव हैं, ऐसा भी निम्नलिखित मन्त्र में कहा है-

(गाथिनो विश्वामित्रः । अग्निः त्रिष्टुप्)

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् । औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ (ऋ. ३।९।९)

तीन हजार तीनसौ तीस और नौ देव अग्निकी पूजा करते हैं । यहाँ ३३३० + ९ = ३३३९ देव हैं ऐसा कहा है ।

१ ब्रह्म = महा सूर्य

३ अग्नि-वायु-सूर्य

३३ उक्त तीन देवोंके साथ दस मिलकर तैंतीस देव

३३३ विश्वेदेवाः

३३३९ ,, ,,

बादके ३३३ और ३३३९ ये देव भी उन ३३ देवोंके साथ कार्य करनेवाले उपदेव हैं । इस तरह देवोंकी संख्याकी वृद्धि होकर तैंतीस कोटी अथवा तैंतीस करोड देवताएं मानी गयी हैं । कहते हैं कि मानव-शरीरमें तैंतीस करोड अणु जीवमात्राएँ हैं । अणुजीवमात्रा (Cells) यही जीवनका अतिसूक्ष्म पिण्ड है । ये अणुपिण्ड करोडोंकी संख्यामें शरीरमें रहते हैं, प्रत्येक अणुपिण्डमें विश्वके सब लोकलोकान्तरके अंश रहते हैं और वे (स्पेक्ट्रम्) वर्ण विभाजक यन्त्रसे देखे और पहचाने भी जाते हैं । इससे जो विश्वमें है वह पिण्डमें है और जो पिण्डमें है वह विश्वमें है, इस वैदिक सिद्धान्तकी पुष्टी होती हैं । इसलिए विश्वान्तर्गत तैंतीस देवताएं शरीरमें कहां हैं, इसकी खोज करना अनिवार्य है । विश्वान्तर्गत तैंतीस देवताएं शरीरमें हैं, इसमें संदेह नहीं है, परन्तु सबकी सब कहां रहती हैं, इसका पता वैदिक वाङ्मयसे नहीं लगता है । कुछ थोडे देवोंके विषयमें ऐतरेयोपनिषदमें कहा है-

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्,
दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्,

(ऐ. उ. २।५)

कौनसा देव मानव शरीरमें अथवा प्राणि शरीरमें आकर कहां रहा है, इसका वर्णन यहां किया है, इस वर्णनसे निम्न लिखित तालिका बनती है-

विश्वान्तर्गत देवता	शरीरान्तर्गत देवतांश	शरीरमें स्थान
अग्नि	वाक्	मुख
वायु	प्राण	नासिका
आदित्य	चक्षु	नेत्र
दिशा	श्रोत्र	कर्ण
औषधि	केश	त्वचा
चन्द्रमा	मन	हृदय
मृत्यु	अपान	नाभि
आप्	रेत	शिश्न

इस तरह यह तालिका बनी है । वेदके मंत्रोंमें भी यह विषय है-

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान् समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशत् शरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥
तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥
(अथर्व. ११।८)

जो देव शरीर बनानेका संभार इकट्ठा करते हैं, वे संसिच नामक देव मर्त्य देहकी सब सामग्री यथा स्थान इकट्ठी करके मानव देहमें घुस गये हैं। इस मर्त्य गृहको बना कर सब देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं। रेतका घी बनाकर ये देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं। आप्, विराट्, अन्य देवता ब्रह्मके साथ शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। शरीर पर प्रजापति अधिष्ठाता हुआ है। सूर्य चक्षु हुआ, वायु प्राण हुआ, और ये मनुष्य के शरीरमें विभक्त भावसे रहे हैं। इससे भिन्न अन्य अवयव अन्य देव बने हैं। इसलिये ज्ञानी इस पुरुषको ब्रह्म कहते हैं। सब देवताएं, गौवें गोशालामें रहनेके समान, इस शरीरमें रहती हैं।

यहां स्पष्ट कहा है कि, गौवें गोशालामें रहनेके समान सब देवताएं इस शरीरमें रहती हैं, 'सर्वाः देवताः' का अर्थ ये तैंतीस देवता ही हैं। देखिये-

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥ २७ ॥

'इसके शरीरमें तैंतीस देव शरीरके सब अवयवोंमें समाहित हुए हैं। इसके शरीरके सब गात्रोंमें ये तैंतीस देव विभक्त होकर रहे हैं।' इस तरह शरीरमें तैंतीस देव अवयव बनकर रहे ऐसा वर्णन है। इस वर्णनमें तैंतीस देवता शरीरके गात्रोंमें रहनेका वर्णन स्पष्ट है। मन्त्रमें इस विषय का जो अधिक वर्णन मिलता है वह ऐसा है—

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन् अध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः ॥ १२ ॥
यत्र अमृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ॥ १५ ॥
यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ॥ २२ ॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्० ॥ ३२ ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यम्० ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् ॥
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः० ॥ ३४ ॥ (अथर्व १०।७)

'जिसमें भूमि-अन्तरिक्ष-द्यु ये तीन लोक हैं। जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु ये देव रहते हैं, जहां अमृत और मृत्यु हैं। नदियां नाडीरूपसे जहां रहती हैं। जहां वसु, रुद्र और आदित्य रहे हैं, द्युलोक सिर है, अन्तरिक्ष पेट है और भूमि जिसके पांव हुए हैं। सूर्य चक्षु, चन्द्रमा मन और अग्नि मुख बना है। वायु प्राण और अपान, चक्षु अंगिरस और दिशायें ज्ञान साधन कर्ण यहां बने हैं।'

यह वर्णन परमात्माके विश्वशरीरका और जीवशरीरका समानतया वर्णन है। परमात्माका शरीर विश्व है और जीव का शरीर यह पिण्ड शरीर है, पर दोनों जगह ये तैंतीस देव हैं। परमात्म शरीरमें पूर्ण रूपसे और जीवशरीरमें अंश रूपसे ये देवताएँ रहती हैं। इनका मन्त्रोक्त वर्णन और देखिये—

दश साकं अजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ॥ ३ ॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं अक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिं आवहन् ॥४
इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत ।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत ॥ ९ ॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १०
(अथर्व. ११।८)

दस देवोंसे दस देव-पुत्र उत्पन्न हुए। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाणी, मन, ऐसे वे दस देवपुत्र दस देवोंसे उत्पन्न हुए हैं। इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा, और धातासे धाता ये पुत्र हुए हैं। ये दस देवपुत्र बडे देवोंसे उत्पन्न हुए हैं। इन पुत्रोंको स्थान देकर वे देव अपने स्थानमें गये।

पितृस्थानीय देवोंने पुत्ररूपी देवोंको शरीररूपी क्षेत्र निर्माण करके दिया और वे अपने स्थानमें गये। यही इन सभी मंत्रोंका अतिस्पष्ट कथन है। तैंतीस देव शरीरमें आकर

रहे हैं, ऐसा मंत्रमें कहा भी है, परन्तु गणना करनेके समय आठ देवोंके ही नाम दिये हैं। उपनिषद् में भी ६।७ देवों के नाम हैं और अन्य वेद मंत्रोंमें भी ८।१० देवोंके नाम गिनाये हैं। अन्य देवोंके नाम और स्थान नहीं लिखे, इस-लिये अन्य देवोंके अंश शरीरमें नहीं आये, ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि तैंतीस देवोंका निवास शरीरमें हुआ है ऐसा स्पष्ट कथन पूर्वोक्त मंत्रोंमें है, इतना ही नहीं, परन्तु त्रिलोकी अंश रूपसे शरीरमें रहती है ऐसा भी ऊपरके मंत्रों में कहा है। जब पूर्ण रूपसे त्रिलोकीका अंश शरीरमें आया है, तब तो उस त्रिलोकीके सभी देव शरीरमें आगये हैं, इसमें संदेह नहीं रह सकता। परन्तु सब तैंतीस देवोंके नाम और स्थान शरीरमें कहाँ और कैसे हैं, यह वैदिक वाङ्मयमें किसी स्थानमें लिखा नहीं मिलता। इसकी खोज होना अत्यंत आवश्यक है। अब ऊपरके मंत्रोंके आधारसे शरीरमें जो देवोंके स्थान निश्चित हुए वे ये हैं, उनकी तालिका इस तरह बनती है—

विश्वमें देवता	शरीरमें देवता
द्युलोक	सिर
सूर्य, अंगिरस	नेत्र
आदित्य	नेत्र
अग्नि	मुख
दिशा	कान
अन्तरिक्षलोक	उदर पेट,
चन्द्रमा	मन
रुद्र, वायु	प्राण अपान
विद्युत्	जाठर अग्नि
नदियां	नाडियां
वृक्ष	केश
वसु, अग्नि	उष्णता
पृथ्वी	पांव

इस तरह यह तालिका तैंतीस देवताएं विश्वमें और उनके पुत्र रूप देव शरीर में कैसे कहां हैं; इस संबन्धका ज्ञान देनेके लिये विशुद्ध रूपसे तैयार करनी चाहिये। बडे प्रयत्नसे यह साध्य हो सकती है, क्योंकि वैदिक साहित्यमें इसका संपूर्ण वर्णन कहीं भी नहीं है। थोडे देवताओंका वर्णन वेदमन्त्रों और उपनिषदोंमें है, वैदिक समयमें गुरु अपने शिष्यको यह देवविद्या पढाता होगा, इस लिये उस समय थोडेसे संकेत मात्र उल्लेख जो इस समय वेदमन्त्रों और उपनिषदोंमें आये हैं, उतने पर्याप्त होते होंगे। परन्तु अब यह गुप्तविद्या बतानेवाला कोई गुरु नहीं रहा है, इस-लिये विशेष खोज पूर्वक यह ज्ञान तालिका बद्ध करके रखना चाहिये।

शरीरमें देवताओंका स्थान

मनुष्यके पृष्ठवंशमें हड्डियोंकी माला है। इनमें दो हड्डि-योंके टुकडोंकी जो संधि है, वहां मज्जाकी ग्रंथी है। सिरसे लेकर गुदातक ये मज्जा केन्द्र ३३ हैं। इनमें गुदाके पासके ६।७ अलग अलग नहीं हैं, परन्तु अन्य मज्जाग्रंथियाँ पृथक् पृथक् हैं और मानसिक ध्यान द्वारा प्रत्येक ग्रंथीको उत्ते-जित किया जा सकता है।

योग साधनमें इनमेंसे आठ चक्र योगानुष्ठानके लिये लिये हैं। योगी लोग ध्यानसे देवताकी उपासना इन चक्रोंमें करते हैं और ग्रंथियोंको उत्तेजित करते हैं। ये ग्रंथियाँ उत्तेजित होनेसे उनमेंसे विशेष रस निकलता है, यह रस शरीरमें शोषित होनेसे दीर्घ जीवन, आरोग्य, बल, वीर्य, ज्ञानवर्धन आदि लाभ होते हैं। इसी तरह अन्य मज्जा केन्द्रोंमें जो देवतांश रहते हैं, उनके ज्ञानसे और ध्यानसे मनुष्यका लाभ होना संभव है। पाचन शक्तिका प्रदीप्त होना, रुधिराभिसरण ठीक होना, विचार और स्मरणकी शक्तिका विकास, ब्रह्मचर्यका साधन, ऊर्ध्वरेता बनना, जीवन दीर्घ होना, मृत्युको दूर रखना, नीरोग रहना आदि अनेक लाभ इससे होनेकी संभावना है।

पृष्ठवंशके इन केन्द्रोंके विशेष मालिश करनेसे भी लाभ होते हैं। इस विद्याका नाम 'किरोपॉट्रिक चिकित्सा' है। पर यह विद्या तब साध्य होगी जब प्रत्येक मज्जा केन्द्रकी शक्तिका अर्थात् देवताका यथावत् ज्ञान होगा। इसलिये इन ३३ देवताओंके ३३ केन्द्रोंका शरीरमें स्थान, कार्य और देवतासंबन्ध जानना अत्यंत आवश्यक है।

इस ज्ञानसे व्यक्तिका हित है और वैदिक मंत्रोंसे जो अध्यात्मका अनुभव लेना है, वह इसी अनुष्ठानसे हो सकता है। अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान केवल गप्पें मारनेसे नहीं हो सकता, परन्तु विश्वव्यापक परम-पिता परमात्माके अंशसे

जो यह जीव अमृतपुत्र हुआ है, उसमें पितृतुल्य सब शक्ति-याँ हैं, उनको जानना, देखना और उनका उपयोग करके अपनी शक्तिका विकास करना चाहिये। यही अनुष्ठान है। योगी लोग यह करते ही हैं। वही अन्योंको पूर्णरूपसे करना चाहिये। अध्यात्मज्ञानका प्रत्यक्ष फल यही है।

शरीरमें सिरका भाग द्युलोक है, छाती और पेट अन्त-रिक्ष लोक है, और गुदा मूत्राशयसे नीचेका सब भाग भूलोक है। इन तीन लोकोंमेंसे प्रत्येकमें एक एक देवता मुख्य है और उसके साथ दस देवतायें सहायक हैं। इनका स्थान पृष्ठवंशके मज्जाकेन्द्र हैं। इन केन्द्रोंके अधीन शरीर के सब व्यापार हैं। इसलिये प्रत्येक देवता, उसका अंश शरीरमें कहाँ कहां रहता है, कहां कहां उसका क्या कार्य चल रहा है। उसको स्वाधीन कैसा करना चाहिये, उत्तेजित कैसा करना चाहिये, उत्तेजनासे और स्वाधीनतासे कौनसे लाभ होते हैं, इत्यादि सब ज्ञान इस देवविद्यासे जाना जाता है। योगमें जो गुप्त विद्या है वह यही विद्या है। यह विद्या गुप्त रखते रखते अब लुप्त ही हुई, उसकी खोज करना आजके खोजकर्ताओंका कार्य है।

तैंतीस देवताओंका ज्ञान और स्थान अपने शरीरमें जानना चाहिये। यही अध्यात्मविद्या है और यही योगसाधनका भाग है। योगी लोग आज भी आठ मज्जाकेन्द्रों और वहां के आठ देवताओंको जानते और उनका अनुष्ठान ध्यानद्वारा करके लाभ उठाते हैं। पर इसको वे अतिगुप्त रखते हैं। हमें उसकी शास्त्रीयतासे पूर्णरूपसे खोज करनी चाहिये।

तैंतीस देवताओंका ज्ञान वैद्योंको भी होना चाहिये। पर वह बाहरके विश्वव्यापी देवताओंका ज्ञान है। इस ज्ञानसे ही उनकी चिकित्सा होती हैं। आजकल मृत्तिकाचिकित्सा, जलचिकित्सा, अग्निचिकित्सा, सूर्यकिरण-चिकित्सा, विद्यु-च्चिकित्सा, औषधिचिकित्सा आदि अनेक चिकित्साएँ प्रचलित हैं। ये सब चिकित्साएँ देवताओंके यथार्थ ज्ञानसे और उप-योगसे होती हैं।

इससे ज्ञात हुआ कि योगी अपने अन्दर ३३ देवताओंका अनुभव करता है और उनको उत्तेजित करके अन्दरही अन्दरसे विशिष्ट ग्रंथिरसोंको प्राप्त करके नीरोग बनकर दीर्घायु होता है। इसी तरह वैद्य इनही देवताओंके गुणधर्म जानकर उनसे नाना प्रकारकी चिकित्साएं करके अपने रोगि-योंके रोग दूर करके उनको अपमृत्युसे बचाकर दीर्घायु बनाता है।

याजक लोग अग्नि सिद्ध करके उसमें विशिष्ट औषधियोंके हवन द्वारा इनही तैंतीस देवताकी प्रसन्नता प्राप्त करके भूमि-जल-वायुकी शुद्धिके द्वारा नीरोगताका साधन करके जनताका हित करते हैं। इस तरह ये सब इन तैंतीस देवोंके साथ अपना संबन्ध जोड रहे हैं और लाभ भी उठा रहे हैं। तैंतीस देवोंकी यही वेदविद्या है। आज यह पूर्ण रूपसे हमारे हस्तगत नहीं है, पर इस ढंगसे प्रयत्न करनेपर यह कभी न कभी हस्तगत हो सकती है।

इसलिए ये तैंतीस देव विश्वमें कौनसे और कहां हैं, वे मानवशरीरमें या प्राणीके शरीरमें कहां हैं और यज्ञमें उनका संबन्ध क्या है इसका पता लगाना चाहिये।

विश्वेदेव कितने हैं?

अब हम इस बातका विचार करते हैं कि विश्वेदेवा देवताके अन्दर जो मन्त्र समाविष्ट हुए हैं उनमें कितने देवोंका अन्तर्भाव हुआ है और जिन यजुर्वेदके अध्यायोंमें नाना देवताओंके उद्देश्यसे हविर्भाग देनेका वर्णन है, उनमें कितनी देवताएं लिखी हैं। इनका प्रथम प्रकरणशः विचार करेंगे। प्रथम निघण्टुके पञ्चम अध्यायमें पृथ्वी स्थानीय देवताएं ५२, अन्तरिक्ष स्थानीय देवताएं ६८ और द्युस्था-नीय देवताएं ३१ इसतरह १५१ देवतायें लिखी हैं, उनके स्थानानुकूल भाव ये हैं–

पृथ्वी स्थानीय ५२ देवतायें

(निघण्टु ५।१)

१ अग्निः जो हवनके लिये तथा पकानेके लिये जलाया जाता है।

२ जातवेदाः जिससे वेद प्रकट हुए वह यज्ञाग्नि।

३ वैश्वानरः सब मानवोंको यज्ञमार्गपर चलानेवाला अग्नि।

(निघण्टु ५।२)

४ द्रविणोदाः धन देनेवाला यज्ञाग्नि,

५ इध्मः समिधाओंसे प्रदीप्त होनेवाला

६ तनू-न-पात् शरीरको न गिरानेवाला, (तनू-नपात)
सूर्यरूपी शरीरका पुत्र विद्युत्, उसका पुत्र अग्नि, सूर्यका पोता, गौका पोता घी, (गौ-दूध-घी), घी

७ नराशंसः मनुष्योंद्वारा प्रशंसित यज्ञाग्नि।

८ इळः (इडः) स्तुत्य अग्नि,
९ बर्हिः दर्भ, आसन,
१० द्वारः द्वार, यज्ञशालाके द्वार,
११ उषासानक्ता उषःकाल और रात्रीका समय,
१२ दैव्याहोतारा अग्नि और वायु, दिव्य होता,
१३ तिस्रो देवीः भारती इळा सरस्वती ये तीन देवियाँ,

१४ त्वष्टा बढई, विश्वरचनाका कार्य करनेवाला,

१५ वनस्पतिः वनस्पति, यूप, समिधा, लकडी,

१६ स्वाहाकृतयः स्वाहाकारपूर्वक आहुति देना' (निघण्टु ५।३)

१७ अश्वः घोडा
१८ शकुनिः पक्षी, कपिंजल
१९ मण्डूकाः मेंढक, जलजन्तु,
२० अक्षाः पासे (खेलनेके),

२१ ग्रावाणः सोम कूटनेके पत्थर,

२२ नराशंसः वीरोंकी, नरोंकी जिसमें प्रशंसा की जाती है वह यज्ञ

२३ रथः रथ, गाडी, वाहन

२४ दुन्दुभिः ढोल, चर्मवाद्य
२५ इषुधिः तर्कस, बाणोंकी थैली,
२६ हस्तघ्नः दस्ताना
२७ अभीशवः लगाम,
२८ धनुः धनुष्य
२९ ज्या धनुष्य की डोरी
३० इषुः बाण
३१ अश्वाजनी चाबूक
३२ उलूखलं उखली
३३ वृषभः बैल, (गायका भी उपलक्षण)
३४ द्रुघणः काष्ठकी गदा, घन
३५ पितुः अन्न
३६ नद्यः नदियाँ

३७ आपः जल

३८ ओषधयः औषधियाँ
३९ रात्रिः रात्री
४० अरण्यानी वनश्री, अरण्य
४१ श्रद्धा श्रद्धा
४२ पृथिवी भूमि
४३ अप्वा भय, रोग, दुःख
४४ अग्नायी अग्निकी ज्वाला
४५ उलूखलमुसले उखली और मुसली
४६ हविर्धाने हवि और उसका पात्र, छाज
४७ द्यावापृथिवी द्यु और पृथिवी
४८ विपाट्-शुतुद्री इस नामकी दो नदियाँ,
४९ आर्त्नी धनुष्यकी दोनों कोटियां, दो नोकें,
५० शुनासीरौ हल और हलसे खींची जानेवाली नाली, रेखा
५१ देवी जोष्ट्री सुख देनेवाली देवता
५२ देवी ऊर्जाहुती बल देनेवाली आहुति देवता,

अन्तरिक्षस्थानीय ६८ देवताएं

(निघण्टु ५।४)

१ वायुः वायु
२ वरुणः वरुण, जलदेव
३ रुद्रः गर्जना करनेवाला विद्युद्देव
४ इन्द्रः विद्युद्देव
५ पर्जन्यः मेघ, वृष्टी
६ बृहस्पतिः बडा पालक मेघ

७ ब्रह्मणस्पतिः ,, ,, ,,
८ क्षेत्रस्य पतिः खेतका पालक, ,,
९ वास्तोष्पतिः घरका पालक, ,,
१० वाचस्पतिः वाणीका रक्षक, ,,
११ अपां न पात् जलोंको न गिरानेवाला

१२ यमः वायु,

१३ मित्रः वायु, प्राणवायु, मेघ
१४ कः सुखदायी, वायु, मेघ, जल
१५ सरस्वान् बहनेवाला वायु, मेघ
१६ विश्वकर्मा सब कर्म करने करानेवाला, वायु,
१७ तार्क्ष्यः पक्षीके समान संचार करनेवाला वायु,
१८ मन्युः क्रोध, उत्साह बढानेवाला वायु, उत्साह,
१९ दधिक्रा वायु, मेघ
२० सविता प्रेरक वायु
२१ त्वष्टा सुखानेवाला, वायु,
२२ वातः वायु, गन्ध लानेवाला वायु,
२३ अग्निः विद्युत्का अग्नि
२४ वेनः प्रकाश, किरण समूह,
२५ असुनीतिः प्राणवायु,
२६ ऋतः जल, जलभरा मेघ,
२७ इन्दुः चन्द्रमा, सोम, पर्वतपर उगनेवाला सोम,
२८ प्रजापतिः पर्जन्य, वायु,
२९ अहिः मेघ, जो बढता रहता है वह मेघ,
३० अहिर्बुध्न्यः मेघ, सूक्ष्म भांपवाला मेघ.
३१ सुपर्णः किरण जिसपर पडे ऐसा मेघ
३२ पुरुरवा गर्जनेवाला मेघ

(निघण्टु ५।५)

३३ श्येनः पक्षी
३४ सोमः सोमवल्ली
३५ चन्द्रमाः चन्द्र
३६ मृत्युः मारनेवाला, काल,
३७ विश्वानरः विश्वका नेता, वायु
३८ धाता धारक वायु
३९ विधाता ,, ,,
४० मरुतः मरनेतक प्राणरूपसे कार्य करनेवाला वायु,
४१ रुद्राः प्राणवायु
४२ ऋभवः कारीगर, वायु
४३ अङ्गिरसः अंगोंमें कार्य करनेवाला रस, संचालक व्यान वायु
४४ पितरः पितर,
४५ अथर्वाणः स्थिरता रखनेवाला प्राण पितर
४६ भृगवः भृगु, प्राण
४७ आप्त्याः प्रासव्य, प्राण
४८ अदितिः उषा
४९ सरमा मेघगर्जना, वाणी
५० सरस्वती स्रोत, झरना
५१ वाक् वाणी, मेघगर्जना
५२ अनुमती चतुर्दशी युक्त पूर्णिमा, एक कला जिसमें कम है ऐसी पूर्णिमा
५३ राका पूर्णिमा, पूर्णचन्द्रमा युक्त
५४ सिनीवाली चतुर्दशी युक्त अमावास्या, इस दिन थोडासा चन्द्रमा दीखता है।
५५ कुहू जिस अमावास्यामें चन्द्रमा नहीं दीखता।
५६ यमी रात्री
५७ उर्वशी विद्युत, रात्री,
५८ पृथिवी विस्तृत रात्री
५९ इन्द्राणी विद्युत्प्रभा
६० गौरी बिजलीकी श्वेत रोशनी
६१ गौः जल देनेवाली मेघपंक्ति
६२ धेनुः ,, ,, ,,
६३ अघ्न्या ,, ,, ,,
६४ पथ्या अन्तरिक्ष, अवकाश, मार्ग देनेवाला अवकाश,
६५ स्वस्ति रहनेका उत्तम स्थान, कल्याण,
६६ उषाः उषः काल
६७ इळा जल वृष्टी, अन्न उत्पन्न करनेवाली वृष्टी
६८ रोदसी गर्जना करनेवाली विद्युत

द्युस्थानीय ३१ देवताएँ

(निघण्टु ५।६)

१ अश्विनौ आधीरात्रीके पश्चात् आकाशमें उदय होनेवाले दो नक्षत्र
२ उषाः उषःकाल
३ सूर्य सूर्य, प्रभा
४ वृषाकपायी बलवान् जलशोषक सूर्य

५ सरण्यू त्वष्टृपत्नी, विद्युत्प्रभा
६ त्वष्टा त्वष्टा, विद्युत, सूक्ष्म करनेवाला,
७ सविता उदयके पूर्वका सूर्य जिसका सूक्ष्म अंश क्षितिजपर दीख रहा है,
८ भग अर्धोदित सूर्य,
९ सूर्य पूर्णोदित सूर्य,
१० पूषा किरणोंसे पुष्ट हुआ एक प्रकारका सूर्य,
११ विष्णु सूर्य (पूर्ण प्रकाशित)
१२ विश्वानरः तीसरे प्रहरका सूर्य,
१३ वरुणः चतुर्थ प्रहरका सूर्य,
१४ केशी क्षितिजपर पहुंचा हुआ किरणोंवाला सूर्य,
१५ केशिनः अस्त होनेवाला किरणमात्रावशिष्ट सूर्य,
१६ वृषाकपिः अस्त हुआ सूर्य
१७ यमः अस्तंगत सूर्य,
१८ अजएकपात् जिसका एक ही किरण दीखता हो ऐसा सूर्य
१९ पृथिवी बडा व्यापक द्युलोक
२० समुद्र नीला आकाश, जो समुद्र जैसा दीखता है,
२१ दध्यङ् मेघाच्छादित आकाश जिससे किंचित् वृष्टी होती हो,
२२ अथर्वा शान्त आकाश, अचल सूर्य
२३ मनुः सूर्य (जिसकी ग्रहमाला एकरेषामें आगयी हो) जो मन्वंतर करता है
२४ आदित्याः सूर्य किरण
२५ सप्त ऋषयः सूर्यके सात किरण, सात नक्षत्र (सप्तर्षि)
२६ देवाः नक्षत्र, ग्रह, किरण,
२७ विश्वेदेवाः सब देव, किरण
२८ साध्याः सूर्यरश्मी, किरण
२९ वसवः ,, ,,
३० वाजिनः ,, ,,
३१ देवपत्न्यः देवोंकी दीप्तियाँ, शक्तियाँ

इस तरह पृथ्वी स्थानमें ५२+अन्तरिक्ष स्थानमें ६८+ और द्युस्थानमें ३१ मिलकर १५१ देवताएं निघण्टुमें गिनी हैं। इनमें कुछ पुनरुक्त हैं, परन्तु उनका अर्थ स्थानभेदसे पृथक् करके बोध लेना उचित है।

द्वादश आदित्य

इस स्थानपर निघण्टु ५।६ में दिये द्युस्थानीय देवताओंके नाम ३१ दिये हैं। इनमें बारह आदित्योंके नाम हैं। त्वष्टा, सविता, भग, सूर्य, पूषा, विष्णु, विश्वानर, वरुण, केशी (केशिनः), वृषाकपि, यम, अज-एकपात्।

ये द्वादश आदित्योंके नाम हैं। 'केशी' और 'केशिनः' ये दो नाम किरणोंकी न्यूनता और अधिकतासे हैं, इसलिये ये एककेही मानना योग्य है।

द्वादश आदित्य ये सूर्य उदयसे सूर्य अस्त होने तकके सूर्यके हैं, तथा सूर्यास्तके पश्चात् भी जो प्रकाश रहता है उसका इनमें अन्तर्भाव हुआ है, ऐसा इनके अर्थोंसे प्रतीत होता है।

शतपथ ब्राह्मणमें कहा है कि, द्वादश आदित्य वर्षके १२ महिने हैं। शतपथका यह अर्थ लेनेसे ये पद प्रतिदिनके सूर्यके मानना असंभव होता है। अतः यदि इन पदोंके ये अर्थ रखते हुए इनके साथ १२ महिनोंकी संगति लगानी है, तब तो हमें उत्तरीय ध्रुवके पासही जाकर वहां इन द्वादश आदित्योंका साक्षात्कार करना होगा। क्योंकि वहीं एक एक महिनेतक एक एक आदित्यकी स्थिति रहती है।

अर्थात् उषा एक महिना रहती है यह पाठक 'उषा देवता' की भूमिकामें देख सकते हैं, उसके पश्चात् सूर्यके कुछ किरण दीखनेकी दशा करीब एक मास तक रह सकती है। इसी तरह बारहों आदित्य प्रत्येक एक एक मास रहकर एक वर्षकी पूर्ति करते हैं। यह स्थिति भूमंडलपर किसी भी अन्य स्थानमें नहीं है। अतः यदि बारह आदित्य बारह महिनोंके दर्शक हैं, तब तो यह स्थिति उत्तरीय ध्रुवके समीपकी ही है। हमारे यहां ये बारह आदित्य एकही दिनमें अपना साक्षात् दर्शन देते हैं। हमारे एक दिनकी आदित्यकी बारह प्रकारकी अवस्थाएं उत्तरीय ध्रुवके पास ३६५ दिनोंमें दीखती हैं और प्रत्येक स्थितिके लिये करीब करीब एक मास लगता है।

यहां सूर्य उदयसे पुनः सूर्य उदयतक ये १२ आदित्य आते हैं। पर यहां इन आदित्योंका १२ महिनोंके साथ कोई संबंध नहीं है। 'यम' नाम उस आदित्यका है जिसमें आदित्यकी अस्तके बादकी स्थिति है। 'यम' पदका अर्थ 'युगल' है। अर्थात् यह स्थिति दो मास रहनी चाहिये क्योंकि 'यम' का अर्थ ही 'दो' है।

उत्तरीय ध्रुवके पास ही पूरे दो महिनोंकी बडी गहरी रात्री होती है जहां बिलकुल सूर्य दर्शन नहीं होता। वस्तुतः वहां छः मास सूर्य दर्शन नहीं होता, परन्तु उन छः महिनोंमें ये दो महिने ऐसे होते हैं कि जिसको गहरी निशा कह सकते हैं, शेष ४ महिनोंमें कुछ न कुछ प्रकाश रहता है अर्थात् यह प्रकाश सूर्यबिंब न दीखते हुए ही आता है।

'यम' पदकी सार्थकता वर्षके उन दो महिनोंके साथ है कि जिनमें सूर्य और प्रकाश बिलकुल नहीं होता। उषाके सूक्तोंमें बडी अंधेरी रात्रीका जो वर्णन दीखता है वह भी यहीं सार्थ होना संभव है।

इस विचारसे यह सिद्ध होता है कि जो शतपथने बारह आदित्योंके साथ बारह महिनोंका संबंध जोड दिया है वह उत्तरीय ध्रुवके प्रदेशमें प्रतिवर्ष दीखनेवाली स्थिति है। समझ लीजिये कि सूर्य उदय हो रहा है, एक अंश, सूर्यका चौथा भाग क्षितिजपर आगया है तो वह चौथा भाग वैसा का वैसा ही क्षितिजपर एक मास तक दीखता रहेगा। इसका अर्थ बिलकुल उतना ही नहीं अपितु एक मासके बाद एक दो अंश ऊपर चढेगा। यह प्रतिदिन इतना थोडा ऊपर चढेगा कि प्रतिदिन उसके चढनेका पता तक नहीं लगेगा। यहां हमारे देशमें एक घण्टेका उषःकाल रहता है। एक घण्टेमें यहां उषःकाल समाप्त होता है और सूर्य ऊपर आने लगता है। उत्तरीय ध्रुवके पास यह उषःकाल एक मास तक रहता है। एक मास उषःकाल होनेके बाद सूर्यका उदय होता है। आगेकी सूर्यकी अवस्थायें भी इसी तरह एक एक मासमें बढती जाती हैं।

इसीलिये सूर्यकी एक अवस्था एक मास रहनेके कारण एक एक आदित्यका नाम एक एक मासको दिया गया और बारह आदित्योंके बारह महिने माने गये।

यहां एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये, वह यह कि जैसा हमारे देशमें मध्याह्नमें सूर्य आकाशके मध्यमें बिलकुल सिरपर आता है वैसा उत्तरीय ध्रुवके प्रदेशमें कभी नहीं आता। अधिकसे अधिक सूर्यका ऊपर चढाना वहां उतना ही होता है जितना हमारे इस प्रदेशमें सवेरके नौ-दस बजे तक होता है। बस, यही सूर्यकी ऊपर चढनेकी परिसीमा है। यहां तक सूर्य चढ गया तो उसको 'विष्णु' नाम मिलता है। यह विष्णु एक मास तक रहता है। उसके पश्चात् वह नीचे उतरने लगता है। और एक एक मास तक उसको अन्यान्य नाम प्राप्त होते हैं।

इस तरह बारह महिनेके बारह सूर्य 'ठीक एक मास तक एक एक वही सूर्यकी स्थिति' रहनेसे उत्तरीय ध्रुवप्रदेशमें ही दीखते हैं। किसी अन्य स्थानमें सूर्य एक मास तक एक ही स्थितीमें रहता ही नहीं।

कई पुराणोंमें प्रतिमास सूर्यका न्यूनाधिक उष्णता मान मानकर बारह महिनोंके बारह सूर्य माने हैं। पर रात्रीमें सूर्य बिलकुल ही नहीं रहता, इस बातको वे भूल गये दीखते हैं। उत्तरीय ध्रुवमें रात्री और दिनका कोई भेद ही नहीं है, वहां तो पूरे एक मास तक एक प्रकारका सूर्य अपने इर्दगिर्द प्रदक्षिणा करता हुआ देखनेवालेको दीखता है। दूसरे मासमें उससे न्यून, वा अधिक प्रकाशवाला, इस तरह बारह महिने दीखता रहता है। 'यम' संज्ञक युगल महिने पूर्ण अंधेरेके हैं इसीलिये वे युगल कहलाते और वह सूर्यकी ही एक स्थिति मानी गयी है।

दो महिने रात्रीके, उदयपूर्वकी उषाका एक मास और अस्तपूर्वके सायंसमयका एक मास, ऐसे चार महिने सूर्यदर्शन बिलकुल नहीं होता, शेष ८ महिने न्यून वा अधिक सूर्य दर्शन होता है इनमें भी २ मास कम शेष ६ मास सूर्य दर्शन होता है। इसीलिये अदितिके ८ पुत्र कहे हैं। जिन आठ महिनोंमें न्यूनाधिक सूर्य दर्शन या सूर्य प्रकाश होता है, वे ८ आदित्य हैं। बाकी 'मार्तण्ड' अर्थात् (मृत-अण्ड) जिनमें सूर्य रूप अण्डा मरा पडा रहता है अर्थात् दीखता नहीं।

यह सब ठीक ही उत्तरीय ध्रुवकी प्रत्यक्ष स्थिति है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

वाजसनेयी संहिताके ३० वे तथा काण्वसंहिताके ३४ वे अध्यायमें नरमेधके १८४ अर्पण १७३ देवताओंके उद्देश्यसे हैं- (मंत्र ५) १ ब्रह्म, २ क्षत्र, ३ मरुत, ४ तपस्, ५ तमस्,

६ नारक, ७ पाप्मा, ८ आक्रया, ९ काम, १० अतिकुष्ट, ११ नृत्त, १२ गीत, १३ धर्म, १४ नरिष्टा, १५ नर्म, १६ हस, १७ आनंद, १८ प्रमद, १९ मेधा, २० धैर्य, २१ तपस् २१ माया, २३ रूप, २४ शुभ, २५ शरव्या, २६ हेति, २७ कर्म, २८ दिष्ट, २९ मृत्यु, ३० अन्तक, ३१ नदी, ३२ ऋक्षीका, ३३ पुरुषव्याघ्र, ३४ गंधर्व-अप्सरस्, ३५ प्रयुज्, ३६ सर्प-देव-जन, ३७ अय, ३८ ईर्यता, ३९ पिशाच, ४० यातुधान, ४१ संधि, ४२ गेह, ४३ आर्ती, ४४ निर्ऋति, ४५ आराधि, ४६ निष्कृति, ४७ संज्ञान, ४८ प्रकामोद्य, ४९ वर्ण, ५० बल, ५१ उत्साद, ५२ प्रमुद्, ५३ द्वार, ५४ स्वप्न, ५५ अधर्म, ५६ पवित्र, ५७ प्रज्ञान, ५८ आशिक्षा, ५९ उपशिक्षा, ६० मर्यादा, ६१ अर्म, ६२ जव ६३ पुष्टि, ६४ वीर्य, ६५ तेजस्, ६६ इरा, ६७ कीलाल, ६८ भद्र, ६९ श्रेयस् ७० आध्यक्ष, ७१ भा, ७२ प्रभा, ७३ ब्रध्नस्य विष्टपं, ७४ वर्षिष्ठं नाकं, ७५ देवलोक, ७६ मनुष्यलोक, ७७ सर्वलोक, ७८ अवऋतिवध, ७९ मेध, ८० प्रकाम, ८१ ऋवि, ८२ वैरहत्य, ८३ विविक्ति, ८४ औपद्रष्ट्य, ८५ बल, ८६ भूमन्, ८७ प्रिय, ८८ अरिष्टि, ८९ स्वर्ग, ९० वर्षिष्ठ नाक, ९१ मन्यु, ९२ क्रोध, ९३ योग, ९४ शोक, ९५ क्षेम, ९६ उत्कूल-निकूल, ९७ वपु, ९८ शील, ९९ निर्ऋति, १०० यम, १०१ यम, १०२ अथर्वा, १०३ संवत्सर, १०४ परिवत्सर, १०५ इदावत्सर, १०६ इद्वत्सर, १०७ वत्सर, १०८ संवत्सर, १०९ ऋभु, ११० साध्य, १११ सरस्, ११२ उपस्थावरा, ११३ वैशन्ता, ११४ नड्वला, ११५ पार, ११६ अवार, ११७ तीर्थ, ११८ विषम, ११९ स्वन, १२० गुहा, १२१ सानु, १२२ पर्वत, १२३ बीभत्सा, १२४ वर्ण, १२५ तुला, १२६ पश्चादोष, १२७ विश्व भूत, १२८ भूति, १२९ अभूति, १३० आर्ति, १३१ वृद्धि, १३२ संशर, १३३ अक्षराज, १३४ कृत, १३५ त्रेता, १३६ द्वापर, १३७ आस्कंद, १३८ मृत्यु, १३९ अन्तक, १४० क्षुध, १४१ दुष्कृत, १४२ पाप्मा, १४३ प्रतिश्रुत्क, १४४ घोष, १४५ अन्त, १४६ अनंत, १४७ शब्द, १४८ महस्, १४९ क्रोश, १५० अवस्वर, १५१ वन, १५२ अन्यतोऽरण्य, १५३ नर्म, १५४ हास्य, १५५ यादस्, १५६ महस्, १५७ महस्, १५८ महस्, १५९-१६१ नृत्त, १६२ आक्रन्द, १६३ अग्नि, १६४ पृथिवी, १६५ वायु, १६६ अन्तरिक्ष, १६७ द्युलोक, १६८ सूर्य, १६९ नक्षत्र, १७० चन्द्रमाः, १७१ अहः, १७२ रात्री, १७३ प्रजापति।

यद्यपि ये १७३ देवताएं यहां हैं, तथापि इनमें कई पुनरुक्त हैं, अतः उनको पृथक् करनेसे १६० के करीब ये देवतायें होती हैं। इनमें अन्तिम कुछ थोडी अन्य अन्तरिक्ष आदि स्थानकी हैं, शेष सब पृथ्वीपरकी ही हैं। कुछ काल वाचक हैं, कुछ गुणवाचक हैं, कुछ स्थानवाचक हैं।

वा० यजुर्वेदमें अनेक अध्यायोंमें अनेक देवताओंका उल्लेख है, उनमें अध्याय १८;२२;२४;२५;२९ और ३९ में अनेक देवताएं हैं, पर इनमें बहुतसी देवताएं पूर्वस्थानमें दी हैं। इन सब देवताओंका यहां पुनः पुनः निर्देश करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

निघण्टुमें कही देवताएं अनेक हैं, उनमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युस्थानमें जो ग्यारह ग्यारह देवताएं हैं, वे स्थूल अक्षरोंमें मुद्रित की हैं। तथापि उनमें मतभेदके लिये बडा स्थान है, अतः यहां तक यह ३३ देवताओंका प्रश्न अनिर्णितसा ही आजतक रहा है ऐसा हम यहां कह सकते हैं।

जो तो ८ वसु ११ रुद्र व १२ आदित्य मिलकर ३१ और इन्द्र और प्रजापति मिलकर ३३ देव शतपथानुसार मानते हैं, वे पृथ्वीपर ११, अन्तरिक्षमें ११ और द्युलोकमें ११ बता नहीं सकते। उन के मत से अन्तरिक्ष में ११ प्राण माने जायेंगे तो और बारहवां इन्द्र वहां आकर बैठता है और द्युलोक में उन के मत से १२ आदित्य मानते पडते हैं और वसु तो केवल-आठ ही पृथ्वी पर रह जाते हैं, पर वे भी पृथ्वीपर नहीं हैं, जो वे ८ गिनते हैं। इस तरह इस गिनतीमें तीन स्थानोंमें ग्यारहकी व्यवस्था नहीं होती। अतः जो मन्त्र तीन स्थानोंमें ग्यारह ग्यारह देवताएं हैं, ऐसा कहते हैं, उनकी गिनती कुछ और ही होगी और शतपथ की कुछ और ही है।

हमारे मतसे पृथ्वीपर ११, अन्तरिक्षमें ११ और द्युस्थानमें ११ यह जो गणना वेद मन्त्रोंमें दीखती है वह

गणना अभीतक किसी भी वैदिक ग्रंथमें स्पष्टतया नहीं बतायी है। उसकी खोज करनी चाहिये। हमने इस विषयमें बहुतही खोज की, पर अभीतक उसकी व्यवस्था ठीक तरह समझमें नहीं आयी। अर्थात् यह खोज अधूरीहि रही है। जो सुविज्ञ पाठक वेदकी खोज करते हैं, वे इन ३३ देवताओंके ग्यारह ग्यारह विभागोंकी खोज करें और उनको तीनों विभागोंमें यथास्थान निश्चित करके बतावें। इसी तरह इन तैंतीस देवताओंमें ये सब तीन चार सौ दैवताएं किस तरह अन्तर्भूत होती हैं अर्थात् किस एक मुख्य देवताके साथ कितनी देवताएं माननी चाहिये, इसका भी निश्चय होना चाहिये।

यहां एक कठिनता भी है। पूर्वोक्त निघण्टुकी देवताओंमें पृथ्वी देवता पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यु इन तीनों स्थानोंमें लिखी है। अर्थात् पृथ्वीस्थानको छोडकर अन्य दोनों स्थानोंमें इसका अर्थ '**विस्तृत स्थान**' इतनाही है। इस तरह पुनरुक्त देवता नामोंका निश्चय होना संभव है। वा० यजु० अ. ३० में भी कई देवता नाम पुनरुक्त हैं। संभवतः उन का भी ऐसाही निर्णय होगा।

यजुर्वेदके कुछ देवता

अब हम यहां यजुर्वेदके कुछ देवताओंके नाम देते हैं- (अ. ९।२०) **आपिः** (प्राप्त करनेवाला), **स्वापिः** (उत्तम रीतिसे प्राप्त करनेवाला), **अपिजः** (पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाला), **क्रतुः** (यज्ञ), **वसुः** (निवास हेतु), **अहर्पतिः** (दिनका स्वामी), **मुग्धः** (मोह उत्पन्न करनेवाला), **मुग्धः वैनंशिनः** (मुग्ध होकर नाशको प्राप्त होनेवाला), **विनंशिन आन्त्याय** (अन्त्य स्थानमें रहनेवाला विनाशकर्ता), **अन्त्यः भौवनः** (अन्तिम भुवनमें रहनेवाला), **भुवनस्पतिः** (भुवनोंका पति), **अधिपतिः** (मुख्य स्वामी)। ये १२ देवताएं वा. य. अ. ९ में हैं।

(अ. २२) बाईसवें अध्यायमें निम्नलिखित देवताएं हैं- (इसमें अग्न्यादि प्रसिद्ध देवताओंको छोडा है इतना पाठक स्मरण रखें)- अपां मोद, हिंकार, हिंकृत, क्रन्दत्, अवक्रन्द, प्रोथत्, प्रप्रोथ, गन्ध, घ्रात, निविष्ट, उपविष्ट, सन्दित, वल्गत्, आसीन, शयान, स्वपत्, जाग्रत्, कूजत्, प्रबुद्ध, विजृम्भमाण, विचृत, संहान, उपस्थित, आयन, प्रायण। (अ. २२।७)

यहां **आसीन** (बैठनेवाला) **शयान** (सोनेवाला) इत्यादि पद प्राणियोंकी अवस्थाओंके वाचक हैं, और ये यहाँ देवता वाचक पद हैं यह ध्यानमें रखना योग्य है।

इसी तरह अगली कण्डिकामें निम्नलिखित देवताओंके नाम हैं- यत्, धावत्, उद्राव, उद्रुत, शूकार, शूकृत, विषण्ण, उत्थित, जव, बल, विवर्तमान, विवृत्त, विधून्वान, विधूत, शुश्रूषमाण, शृण्वत्, ईक्षमाण, ईक्षित, वीक्षित, निमेष, (अत्ति सः) खानेवाला, (पिबति सः) पीनेवाला, (मूत्रं करोति सः) मूत्र करनेवाला, (कुर्वत्) करनेवाला, कृत। (२२।८)

ये नाम प्राणियोंकी अवस्थाओंके हैं। ये इस अध्यायमें घोडेकी अवस्थाएं करके वर्णन किया है। परन्तु सब प्राणियोंके लिये ये पद लग सकते हैं। ये सब पृथ्वीस्थानीय देवता हैं।

इस तरहकी अन्य देवतायें पाठक इस विभागमें देख सकते हैं।

निघण्टुमें गिनाये देवताओंका उपयोग मंत्रोंमें देखकर भी उनका निर्णय हो सकता है। वह कार्य जिस समय इन मंत्रोंका अर्थ हम करेंगे, उस समय होना संभव है। इस छोटीसी भूमिकामें वह नहीं हो सकता।

निवेदन कर्ता

औंध जि. सातारा
१।८।१९४४

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष स्वाध्यायमण्डल

देवतासम्बन्धी विचार

[लेखक- पं० ऋभुदेव शर्मा 'साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण' 'शास्त्राचार्य,' भूतपूर्व आचार्य येडशी- श्रीश्यामार्यगुरुकुल, औंध]

देव कितने हैं ? वे जड हैं या चेतन ? कहाँ रहते और क्या करते हैं ? इत्यादि प्रश्न वेद-स्वाध्यायी के समक्ष उपस्थित होते और समाधान न होनेपर उस विचारकको व्यग्र करते हैं ।

वेद के देवता-सम्बधी निर्णय के लिये ही निरुक्त के दैवत-काण्ड की सृष्टि हुई है और निरुक्त-निर्माण के अन्य प्रयोजनों के साथ देवता-विनिर्णय भी एक प्रयोजन कहा गया है । यथा—

(१)'अथाऽपि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति । तदेतेनोपेक्षितव्यम् ॥' (निरु० १।६।१७)

और याज्ञ कर्म में देवता सम्बन्धी बहुत से भाग होते हैं वे इस निरुक्तशास्त्र से ही जानने योग्य हैं ।

यज्ञ-प्रकरण में अनेक देव प्रस्तुत होते हैं उनका सम्यक्-ज्ञान निरुक्त-शास्त्र से ही होता है ।

'ते चेद्ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति ।' निरु० १।६।१७

यदि देवता-ज्ञान के अभिमानी यह कहें कि लिङ्गसे देवता का बोध होता है और हम उन लिङ्गों (चिह्नों, संकेतों) को जानते हैं, फिर निरुक्त की क्या आवश्यकता? तो वे सुनें—

इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्तीति वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे ॥ निरु० १।६।१७

'इन्द्रं न त्वा' इस अग्निदेवताक मंत्र में वायु और इन्द्र का भी लिङ्ग पाया जाता है ।

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्वेति तथाऽग्निर्मान्यवे मन्त्रे ॥ निरु० (१।६।१७)

'अग्निरिव मन्यो' इस मन्यु-देवताक मंत्र में अग्नि का लिङ्ग पाया जाता है । अतः केवल लिङ्ग-ज्ञान दैवत-ज्ञान का परम साधन नहीं, निरुक्त-ज्ञान की भी आवश्यकता है।

(२)नैघण्टुकमिदं देवता-नाम, प्राधान्येनेदमिति ॥ (निरु० १।६।२०)

निघण्टु में देवता-नाम दो प्रकार के हैं, नैघण्टुक और प्राधान्य ।

तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति, नैघण्टुकं तत् ॥ (निरु० १।६।२०)

जो नाम अन्यदेवताक मन्त्र में आ पडता है वह नैघण्टुक कहलाता है ।

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां, तद् दैवतमित्याचक्षते । तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामो नैघण्टुकानि नैगमानीह । (निरु० १।६।२०)

और जो नाम प्राधान्य-स्तुतिवाले देवताओं के हैं उनका नाम दैवत है । उनको हम आगे कहेंगे । यहाँ नैघण्टुक और नैगम नाम कहते हैं, उनकी व्याख्या करते हैं ।

उपर्युक्त समग्र वाक्यों से यह प्रतीत होता है कि निघण्टुशास्त्र में जितने नाम पढे गये हैं वे मुख्यतः देवता-नाम हैं । तथा निघण्टु और निरुक्त हमें देवता निर्णय सम्बन्धमें कुछ न कुछ बता सकते हैं ।

देवता-ज्ञान दुरूह है । इस विषय में निरुक्तकार यास्क कहते हैं—

शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे, सर्वा देवता जानामीति । तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव । तां न जज्ञे । तां पप्रच्छ, विविदिषाणि त्वेति ॥ (निरु० २।२।८)

शाकपूणि आचार्य के मन में अहंकार उत्पन्न हुआ और उन्होंने विचारा कि मैं सब देवताएँ जानता हूँ । उनके आगे एक उभय-लिङ्ग देवता आ खडी हुई । उसको वे नहीं जान सके । उन्होंने उसे पूछा 'मैं तुझे जानना चाहता हूँ ।'

हमें वेद की देवताओं का विचार करना है क्योंकि वे ही संसार में कार्य कर रही हैं परन्तु वे शाकपूणि-जैसे नैरुक्ताचार्य के लिये भी दुर्ज्ञेय हैं।

यास्क महर्षि ने देवता-सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, इस का सार यह है- (निरुक्त। दैवत-काण्ड)

अथातो दैवतम्। तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतमित्याचक्षते ॥

अब यहाँ से आगे दैवत प्रकरण चलेगा। जो नाम प्राधान्य स्तुतिवाली देवताओं के हैं उन्हीं का एक नाम दैवत है। ऐसा आचार्य लोग कहते हैं। मंत्रों की देवताएँ प्रधान और अप्रधान दो प्रकार की हैं। और वे प्रधान और अप्रधानरूपसे एक मंत्र में भी स्तुत होती हैं।

सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।

वह यह देवता-सम्बन्धी विचार किया जाता है। जिस देवता की कामना से प्रेरित होकर ऋषि (स्तोता) जिस देवता में अपनी अर्थ-सिद्धि चाहता हुआ स्तुति का प्रयोग करता है उस देवतावाला वह मन्त्र होता है।

तात्पर्य यह कि, स्तोता जिस देवता की स्तुति करता है, स्तुतिवाले मंत्र (वाक्य) की वही देवता होती है। मंत्रों के विषय देवता कहलाते हैं अतः देवता-भेद से-

तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च।

वे तीन प्रकार की ऋक् हैं। परोक्षकृता, प्रत्यक्षकृता और आध्यात्मिकी।

तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ॥१॥ 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः' (ऋ० १०।८९।१०), 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्' (ऋ० १।७।१)।

परोक्ष रूप से की हुई स्तुतियें, जिन में आराध्य देव सम्मुख नहीं होता, नाम की समग्र विभक्तियों से युक्त और प्रथम पुरुष की क्रिया में होती हैं। जैसे 'इन्द्र ही दिव् और इन्द्र ही पृथिवी का शासक है,' 'हे गायको! इन्द्र को ही बृहत् साम गाओ' इत्यादि।

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। 'त्वमिन्द्र! बलादधि' (ऋ० १०।१५३।२), 'वि न इन्द्र! मृधो जहि' (ऋ० १०।१५२।४)

प्रत्यक्षकृता स्तुतियें मध्यमपुरुष में होती हैं और त्वं, यूयम् आदि सर्वनाम से युक्त। जैसे- 'हे इन्द्र! तू बल से उत्पन्न हुआ है,' 'हे इन्द्र! तू हमारे शत्रुओं को मार दे' इत्यादि

अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि ॥ 'मा चिदन्यद् वि शंसत'। (ऋ० ८।१।१)

परन्तु कहीं कहीं प्रत्यक्षरूप में स्तोता स्तुत होते हैं और स्तोतव्य परोक्ष में आ जाते हैं। जैसे 'हे सखा लोगो! इन्द्र से भिन्न की प्रशंसा मत करो।'

तात्पर्य यह कि कहीं आप सर्वत्र प्रत्यक्षकृता ऋक् को देवता ही न समझ लें, वे स्तोताओं के लिये भी प्रयुक्त होती हैं।

आध्यात्मिक्यश्च उत्तमपुरुषयोगाः। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना। यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठी, लवसूक्तं, वागाम्भृणीयमिति।

आध्यात्मिकी स्तुतियें उत्तमपुरुष में और अहं (मैं) इस सर्वनाम से युक्त। इन के उदाहरण-इन्द्र वैकुण्ठ, लव और वागाम्भृणीय सूक्त हैं।

निरुक्तकार ने मन्त्रों का वर्गीकरण कर के वेद-वर्णित देवताओं का ज्ञान सरल बना दिया है।

अपि ह्यदेवता देवतावत्स्तूयन्ते, यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि ॥ ४ ॥

और अदेवताएं भी देवता-सदृश स्तुति प्राप्त करती हैं। जैसे-घोड़े से लेकर ओषधि-पर्यन्त पदार्थ।

अतः देवताविषयक विचार करने में, स्तुति के कारण, इन्हें देवता नहीं मान लेना चाहिये।

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

कहीं कहीं ऐश्वर्याधिक्य के कारण एक ही देवता बहुत नाम और कार्य से स्तुति प्राप्त करती है। अर्थात् एक होने पर भी अनेक नाम और अनेक कार्य उस के बताये जाते हैं वास्तव में उस का आत्मा (शरीर) अनेक नहीं

होता। ऐसे स्थलों पर नाम और कार्य भिन्न होने से उन्हें अनेक देवता नहीं मान लेना चाहिये।

एकस्याऽऽत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

कहीं-कहीं एक शरीरवाली देवता के अनेक देव प्रत्यङ्ग बन कर आते हैं। अर्थात् भिन्न होने पर भी शरीर के अङ्ग-समान वर्णित होते हैं।

ऐसे स्थलों पर एकत्ववाद से देवों के अनेकत्व में बाधा नहीं पडती।

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः॥

तीन ही देवताएँ हैं ऐसा निरुक्त-मतानुयायी मानते हैं। अग्नि पृथिवीस्थान में, वायु वा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान में, सूर्य द्यु-स्थान में।

तासां महाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्म-पृथक्त्वात्। यथा-होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्‌गाता- इत्यपि एकस्य सतः।

उन तीनों के ऐश्वर्य के कारण, एक एक देवता के बहुत नाम होते हैं। अथवा कर्मवैभिन्न्य से अनेक नाम पडते हैं जैसे एक होने पर भी कार्यभेद से वही मनुष्य कभी होता, कभी अध्वर्यु और कभी ब्रह्मा या उद्‌गाता भी कहलाता है।

अथाकाराचिन्तनं देवतानाम्।

अब देवताओं के आकार का विचार करेंगे, वे मनुष्य-सदृश हैं अथवा मनुष्य से भिन्न आकारवाली?

पुरुष-विधाः स्युरित्येकम्। चेतनावद् हि स्तुतयो भवन्ति, तथाऽभिधानानि।

मनुष्य-सदृश शरीर और ज्ञानवाली हैं ऐसा एक मत है। क्योंकि उन की स्तुतियाँ चेतन प्राणियों के समान हैं और नाम भी।

अर्थात् चेतनके जैसे गुण-कर्म होते हैं वैसे इन देवताओं के भी हैं अतः ये भी मनुष्य-सदृश देहवाली हैं।

अपुरुष-विधाः स्युरित्यपरम्। अपि तु यद् दृश्यते। अपुरुषविधं तत्। तद्यथा-अग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति।

'पुरुष-भिन्न आकारवाली हैं' ऐसा दूसरा मत है। क्योंकि यह जो कुछ दीखता है वह पुरुष (मनुष्य) से भिन्न आकृतिवाला है। जैसे अग्नि, वायु, आदित्य (सूर्य) पृथिवी और चन्द्रमा।

अपि वा उभय-विधाः स्युः। अपि वा पुरुष-विधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य।

अथवा दोनों प्रकार की हैं। अथवा पुरुष-सदृश मानें तो दूसरी अचेतन देवताओं को चेतन देवताओं का कर्म मान लेंगे। जैसे यज्ञ भी देवता और यजमान भी देवता हो तो यज्ञ यजमान का कर्म माना जाता है। इस प्रकार मानने में कोई दोष उपस्थित नहीं होगा।

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्। तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः।

तीन ही देवता हैं ऐसा पहले कह चुके हैं। उन के भक्ति और साहचर्य कहेंगे।

अथैतान्यग्निभक्तीनि। अयं लोकः, प्रातःसवनं, वसन्तो, गायत्री, त्रिवृत्-स्तोमो, रथन्तरं साम। ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने। अग्नायी-पृथिवी-इला इति स्त्रियः। अथाऽस्य कर्म, वहनं च हविषां, आवाहनं च देवतानां, यच्च किंचिद् दार्ष्टि विषयिकं अग्निकर्मैव तत्। अथास्य संस्तविका देवा इन्द्रः, सोमो, वरुणः, पर्जन्यः, ऋतवः।

अब अग्नि के भक्तिनाम कहते हैं। पृथिवी ही इसका लोक, प्रातःसवन ही सवन, वसन्त ही ऋतु, गायत्री ही छन्द, त्रिवृत् ही स्तोम, रथन्तर ही इसका साम है। पृथिवी स्थान में पठित देवगण ही इस के साथी हैं। अग्नायी, पृथिवी और इडा ये ही स्त्रियां। हविःका वहन, देवताओं का आवाहन और जो कुछ दृष्टि में आता है वह सब अग्नि का कर्म। और इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य और ऋतु ये इस के साथ स्तोतव्य (स्तुति-भागी) देव हैं।

अथैतानीन्द्रभक्तीनि। अन्तरिक्षलोको, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्मस्त्रिष्टुप्, पञ्चदश स्तोमो, बृहत् साम। ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने। याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म, रसाऽनुप्रदानं, वृत्रवधः, या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। अथाऽस्य संस्तविका देवाः। अग्निः, सोमो, वरुणः, पूषा, बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः, कुत्सो-विष्णुर्वायुः।

ये इन्द्रभक्ति नाम हैं जो इन्द्र के साथ पढे जाते हैं। अन्तरिक्ष ही लोक, माध्यन्दिन ही सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्दः, पञ्चदश स्तोम, बृहत् ही साम। मध्यम स्थान में पठित देवगण ही साथी। मध्यम स्थान में पठित स्त्रियाँ ही इस की स्त्रियां। रस का देना, वृत्र का वध और जो कुछ बल का काम है वह इन्द्र का कर्म। और अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु ये देव इन्द्र के साथ स्तुति प्राप्त करनेवाले हैं।

अथैतान्यादित्यभक्तीनि। असौ लोकः, तृतीयसवनं, वर्षा, जगती, सप्तदशः स्तोमो, वैरूपं साम। ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने। याश्च स्त्रियः। अथाऽस्य कर्म, रसाऽऽदानं, रश्मिभिश्च रसधारणं, यच्च किंचित् प्रवह्लितं-आदित्यकर्मैव तत्। चन्द्रमसा, वायुना, संवत्सरेण॰ इति संस्तवः।

ये आदित्यसम्बन्धी नाम हैं। द्यौ लोक, तृतीय-सवन ही सवन, वर्षा ऋतु, जगती छन्दः, सप्तदश स्तोम, वैरूप साम। द्यु-स्थानी देवगण साथी और वहाँ पढी गई स्त्रियाँ स्त्रियां हैं। रसका आकर्षण करना, किरणोंसे रसका धारण तथा जो कुछ गुप्त (अकथित) कर्म है वह इसका कर्म है। चन्द्रमा वायु और संवत्सर के साथ इसका स्तवन होता है।

एतेष्वेव स्थानव्यूहेषु- ऋतुच्छन्दःस्तोम-पृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत।

इन तीन स्थानों में ही ऋतु, छन्दः, स्तोम और पृष्ठ (साम) की शेष कल्पनाएँ कर लेनी चाहियें।

यास्क महर्षिने तीन स्थानोंके तीन व्यूह बनायें हैं और वे समग्र देवता, छन्द, ऋतु आदि को उन्हीं में बांट देना चाहते हैं। यह क्रम उन का अपना नहीं, वेद से लिया हुआ है। प्रमाण के लिए दो एक मन्त्र उद्धृत करता हूँ।

(१) वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्॰ रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा ··· आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसा ... ॥ यजु० ११।५८॥

इस मंत्रमें वसु रुद्र और आदित्योंके साथ गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती का सम्बन्ध स्पष्ट है। ये देवगण क्रम से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ-लोक के हैं, अतः इन लोकों के साथ भी इन छन्दों का सम्बन्ध है।

अग्नेर्भागोऽसि, दीक्षाया आधिपत्यं, ब्रह्म स्पृतं, त्रिवृत् स्तोम इन्द्रस्य भागोऽसि, विष्णोराधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं पञ्चदशः स्तोमो, नृचक्षसां भागोऽसि, धातुराधिपत्यं, जनित्रं स्पृतं, सप्तदशः स्तोमो०००॥ यजु० १४।२४

यहां अग्नि, इन्द्र और नृचक्षस् (आदित्यों) के साथ त्रिवृत्, पञ्चदश और सप्तदश स्तोमों का सम्बन्ध स्पष्ट है। प्रथम मंत्र में वसु का अर्थ अग्नि, रुद्र का अर्थ इन्द्र और आदित्य का अर्थ सूर्य लें तो दोनों मंत्र निरुक्त के तीन व्यूहों को बहुत कुछ प्रमाणित कर देते हैं। इसी प्रकार ऋतु और पृष्ठसम्बन्धी मंत्र भी बहुत हैं जो प्रयोजन न होने से यहां नहीं लिखे जाते।

अन्त में दैवत-काण्ड की भूमिका का उपसंहार करते हुए ऋषि लिखते हैं-

इतीमा देवता अनुक्रान्ताः॥ (निरु० ७।३।१३)

इस प्रकार ये देवताएँ कह दी गईं।

निरुक्तकार ने सम्पूर्ण देवताओं की व्याख्या अपने ढंग से की है। उन्हों ने सारे देवों को तीन स्थानों में बाँट दिया हैं यथा-

अग्निः पृथिवीस्थानः। तं प्रथमं व्याख्यास्यामः।
(नि० ७।४)

अग्नि पृथिवी-स्थानी देव हैं, उसकी प्रथम व्याख्या करेंगे। परन्तु वेद में अग्नि शब्द केवल पृथिवीस्थ अग्नि का ही वाचक नहीं, अतः उन्हें कहना पडा।

स न मन्येताऽयमेवाऽग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। निरु० ७।४

कोई ऐसा न मान ले कि यह पृथिवीस्थ अग्नि ही अग्नि है मध्यम और उत्तमस्थान वाले देव भी अग्नि कहलाते हैं।

अन्त में कहा-

यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी अनेन नामधेयेन भजेते॥
(निरु० ७।४)

जो अग्नि सूक्त का सेवन करता, जिसके निमित्त हवि दिया जाता है वह यही पृथिवीस्थ अग्नि है। अन्तरिक्ष और द्युलोकस्थ ज्योतियाँ गौणरूप से अग्नि नाम धारण करती हैं।

अग्नि का दूसरा नाम जातवेदाः है। उस के विषय में भी ऐसा ही कहते हैं—

स न मन्येताऽयमेवाऽग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते।...यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते ऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ (निरु० ७।५)

अर्थात् अन्तरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ देव भी जातवेदाः हैं, परन्तु मुख्यतया जातवेदाः यह अग्नि ही है।

वैश्वानर, द्रविणोदा आदि नामों पर भी यास्क ऋषि का ऐसा ही मत है। यास्क के मत से जातवेदाः वैश्वानर आदि नामवाले भिन्न देव नहीं हैं, पृथिवी पर इस अग्नि के ही ये नाम हैं, इन को भिन्न-भिन्न देव नहीं मानना चाहिये। अग्नि और पृथिवी से सम्बद्ध नामों की व्याख्या करके मध्यम स्थान की ओर चलते हैं-

अथ मध्यस्थाना देवताः। तासां वायुः प्रथमगामी भवति। (निरु० १०।१)

अब मध्यस्थानी देवों की व्याख्या करते हैं। उन में वायु प्रथम है।

इस प्रकरण के देखने से पता चलता है कि इन्द्र मित्र वरुण रुद्रादि नाम वायु के ही हैं। मरुत्, रुद्र, ऋभु, पितर आदि गणनाम वायु-समूह के प्रतीत होते हैं। अदिति, सरमा, सरस्वती, इन्द्राणी आदि स्त्रियों के नाम मध्यस्थान में होनेवाली वाणी है। उषा आदि प्रत्यक्ष स्त्रीवाचक नामों को छोड कर शेष नाम उस वाणी (गर्जना) के ही हैं।

मध्यस्थान के पश्चात् महर्षि द्युस्थान की ओर बढते हैं-

अथातो द्युस्थाना देवताः। तासामश्विनौ प्रथमाऽऽगामिनौ भवतः ॥ (निरु० १२।१)

अब हम द्यु-स्थानी देवताओं का वर्णन करेंगे। उनमें अश्विनौ प्रथम श्रेणी में आनेवाले हैं।

ये अश्विनौ कौन हैं? यह प्रश्न जगत् के सम्मुख आज भी जटिल है। यास्क के मत में मध्यम और उत्तम दोनों स्थानों के देव मिलकर जिन में उत्तम स्थान के देव आदित्य की प्रधानता रहती है, अश्विनौ कहलाते हैं।

तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम् अनु तमो भागो हि मध्यमः। ज्योतिर्भाग आदित्यः। (निरु० १२।१)

उन का समय आधी रात के पश्चात् प्रकाश के प्रवेश होनेपर आरम्भ होता है। उसका अन्धकारयुक्त भाग मध्यम देव और प्रकाशमय भाग आदित्य है।

वायु और आदित्य अश्विनौ हैं। वास्तव में आधी रात के पश्चात् सूर्य प्राची दिक् में अपनी आभा दर्शाने लगता है। सूर्य उस अवस्था में अश्विनौ नाम से प्रसिद्ध होता है।

सविता, भग, सूर्य, विष्णु आदि नाम इस आदित्य (सूर्य) के ही हैं। ये नाम काल और कार्य के भेद से पडे हैं। उषाः, सूर्या, वृषाकपायी, सरण्यू नाम आदित्य के प्रकाश (आभा) के हैं।

इन पदार्थों के ये नाम कैसे पडे हैं और वेद के किन मंत्रों के आधार पर ऐसा अर्थ करना पडा है, यह विस्तृत व्याख्या निरुक्त में ही देखिये।

द्युस्थान के देवगण–

अथातो द्युस्थाना देवगणाः। तेषामादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति।

अब हम द्यु-स्थानी देवगण का वर्णन करेंगे उनमें आदित्य-गण प्रथम आते हैं।

आदित्य, सप्त-ऋषि, विश्वे देव, साध्य, वसु आदि देव-गण सूर्य की किरणों के नाम हैं।

चाहे देवों की गणना तीन में हो या अधिक में, नैरुक्त लोग तीन से अधिक देव मानने को उद्यत नहीं। वसु और आदित्य सूर्य-रश्मियों या अग्नि-अर्चियों में समाविष्ट हो जाते हैं और रुद्र-गण वायु-दल में। इस प्रकार वसु, रुद्र और आदित्यों की कोई भिन्न सत्ता नहीं रहती। कई लोग विश्वे देव को सर्वे देव मानकर उनकी आदित्य-गण के सदृश कोई संख्या नहीं मानते। परन्तु द्यु-स्थानी देवगण में विश्वे देव और साध्यों की गणना होने से वे आदित्यादि गण से भिन्न गण हैं। वेद की शैली से भी यही प्रतीत होता है-

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्, रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्, आदित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्, विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु, वरुणस्त्वा धूपयतु, विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ (यजु० ११।६०)

ये विश्वे देव वसु, रुद्र और आदित्य से भिन्न हैं तथा विश्वानर के पुत्र हैं। क्योंकि उन्हें अनेकत्र वैश्वानर कहा

गया है। ये सूर्य के रश्मि हों तो भी वसु रुद्र और आदित्य से पृथक् ही माने जायेंगे।

३३ की संख्या

विश्वे देव तैंतीस हैं–

(१) नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः।
विश्वे सतोमहान्त इत् ॥१॥

(२) इति स्तुतासो असथा रिशादसो,
ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियासः ॥२॥

(३) ये देवास इह स्थन विश्वे वैश्वानरा उत।
अस्मभ्यं शर्म सप्रथो गवेऽश्वाय यच्छत ॥४॥
(ऋ० ८।३०)

(४) ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्।
विदन्नह द्वितासनन् ॥१॥ (ऋ० ८।२८)

(५) ये देवासो दिव्येकादश स्थ,
पृथिव्यामध्येकादश स्थ,
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ,
ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ (ऋ० १।१३९।११,
यजु० ७।१९)

इन मंत्रों की देवता विश्वे देव हैं। ये तैंतीस हैं और दिव् अन्तरिक्ष और पृथिवी पर ग्यारह-ग्यारह की संख्या में रहती हैं। अब सिद्ध हो गया कि ये विश्वे देव सम्पूर्ण देव नहीं हैं किन्तु वसु आदि से पृथक् ३३ की संख्या में रहते हैं।

विश्वे देव की संख्या ३३३९ है–

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त।
(ऋ० ३।९।९; १०।५२।६; यजु० ३३।७)

ऋ० ३।९।९ में इस मंत्र की देवता अग्नि है, अन्यत्र विश्वे देव देवता हैं। विचारणीय प्रश्न है कि ये विश्वे देव ३३ हैं या ३३३९ हैं अथवा विश्वेदेव ३३ हैं और सर्वे देव ३३३९ अथवा विश्वे देव का सर्वत्र सर्वे देव ही अर्थ है और वे ३३ या ३३३९ दोनों में हो सकते हैं। विश्वे देव ३३ हैं और वे ही ३३३९ भी, तो परस्पर विरोध आयेगा। यदि सम्पूर्ण देव ३३ की संख्या में हैं और वे ३३३९ की संख्या में भी, तो विरोध है। हाँ, यदि हम विश्वे देव ३३ और सम्पूर्ण देव ३३३९ मानें तो कुछ संगति लग सकती है। निरुक्तकार ने विश्वे देवाः का अर्थ 'सर्वे देवाः' किया है, परन्तु उन के मत में 'देवाः' यह भी गण है। यह सूर्य रश्मि का नाम है तब 'सर्वे देवाः' विश्वे देवाः का पर्याय नाम होगा अर्थ तो आदित्य-रश्मि ही लेना पड़ेगा। वे शाकपूणि आचार्य का मत उद्धृत करते हैं–

"यत्तु किंचिद् बहुदैवतं तद् वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः।" (निरुक्त१२।४) अर्थात् बहुत देवतावाला मंत्र विश्वे देव के स्थान में पढ़ा जाता है जब अन्य विश्वे देवयुक्त गायत्र मंत्र न मिले।

यद्यपि यास्क इस के विरोधी हैं तथापि यह सम्भव है कि सर्वे-देवताक मंत्र विश्वे-देवताक बनाये गये हों। तब ३३३९ संख्याक मंत्र सर्वे-देवताक हैं ऐसा मानना पड़ेगा।

पुराणों में विश्वे देव अन्य देवों से पृथक् हैं। ब्राह्मणों में भी, 'रश्मयो ह्यस्य (सूर्यस्य) विश्वे देवाः' (श० ३।९।२।६ इत्यादि स्थलों में विश्वे देव पृथक् हैं और वे सूर्य के रश्मि (किरण) हैं।

यह देवता-विषय बहुत गहन तथा और अधिक मननीय है क्योंकि यह अनुसन्धान अन्तिम नहीं है।

*
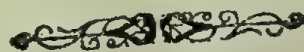
'विश्वे देवाः' के मंत्रोंके संबंधमें विचार

(ले० श्री० पं० दयानन्द गणेश धारेश्वर बी. ए. स्वाध्यायमंडल, औंध)

वेदोंमें उपलब्ध देवताओंके वर्णनपरक विभिन्न सूक्त पढलेने से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वे सभी देव असाधारण क्षमता से युक्त होते हैं तथा वे अत्यन्त सफलतापूर्वक जनताकी लगातार सेवा करते हुए लोगोंकी अटल, अडिग एवं अविचल भक्ति और उपासना प्राप्त करने में बडी स्पृहणीय और विराट सफलता प्राप्त कर लेते हैं। वेद मन्त्रों में अतीव लोकप्रिय नेता, कार्यकर्ता, स्वयंसेवक या प्रभुका बडाही प्रभावोत्पादक एवं सजीव चित्रण देखने मिलता है। जनता एवं उपासकों, भक्तों और अनुयायियों की रक्षा करने का गुरुतर कार्य भार सुचारुरूपसे प्रचलित रखकर समूची बुराइयों और सारे दुश्मनों, विरोधियों एवं स्वार्थी शत्रुओंको पराभूत कर विनष्ट करने या मार भगाने से वैदिक सुकवि और द्रष्टा ऋषि देवों के निकटतम संपर्क में रहने के लिए बडे समुत्सुक दीख पडते हैं और उन्हें आदर पूर्वक समीप बुलाकर सोम आदि वस्तुओं के प्रदानसे भलीभाँति सुस्वागत कर उनके पराक्रमों तथा गुणों का सुन्दर ढंगसे वर्णन करते हुए उनकी सराहना करते हैं। वेदमन्त्रों के द्रष्टा किसभाँति देवताओं को समीप आनेके लिए निमन्त्रण देते हैं या देवों का आवाहन करते हैं यह निम्न मन्त्रों में देखने योग्य है।

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।

(ऋ० १।३।८)

' हे संरक्षणकर्ता तथा मानवों के धारण करनेहारे सभी देवो! इधर आओ। '

विश्वे देवासो...सुतमा गन्त तूर्णयः।

(ऋ० १।३।८)

' हे समूचे देवो! हमने जो सोमरस निचोड रखा है उस के निकट शीघ्रता पूर्वक चले आओ। ' क्योंकि हम

विश्वान् देवान् हवामहे। (ऋ० १।२३।१०)

' सभी देवोंको इधर उपस्थित रहनेके लिये बुलाते हैं।'

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं...अवसे हूमहे वयम्।

(ऋ० १।८९।५)

' उस प्रमुख प्रस्थापित करनेवाले एवं स्थावर जंगमके अधिपति तुल्य इन्द्र को हम अपने संरक्षणार्थ बुलाते हैं।'

...विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह।

(ऋ० १।८९।७)

' सारे देव हमारे समीप संरक्षणकी आयोजना लेकर पहुँच जायँ। '

त्रितः...देवान् हवत ऊतये। (ऋ० १।१०५।१७)

' त्रित ऋषि अपने संरक्षणार्थ देवोंको बुलाता है। '

त आदित्या आ गता सर्वतातये भूत देवा वृत्रतूर्येषु शंभुवः॥ (ऋ० १।१०६।२)

वे विख्यात अदितिके पुत्रो! सबके द्वारा विस्तारित कार्य के लिए आपहुँचो और हे द्योतमान एवं देवतारूपी! हमारे शत्रुवधोंके कार्योंमें हितकारक बनो। '

इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं...ऋषिरह्वदूतये।

(ऋ० १।१०६।६)

' कुत्स ऋषिने वृत्रके वध करनेहारे इन्द्रको अपने संरक्षण के लिए बुलाया।

उप नो देवा अवसा गमन्त्वङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः। (१।१०७।२)

" अंगिरसों के सामों से प्रशंसित होते हुए देव हमारे पास संरक्षण योजना से युक्त हो पधारें। "

धृतव्रता आदित्या...अरे मत् कर्त...आगः।
शृण्वतो वो...देवा भद्रस्य विद्वाँ अवसे हुवे वः॥

(ऋ० २।२९।१)

हे व्रतधारी आदित्यो! अपराध, दोष को मुझसे दूर कर दो और मैं तुम्हारी की हुई अच्छी बात को जानता हुआ सुनते हुए तुम देवतारूपी अदिति के पुत्रोंको संरक्षण

कार्य को अच्छीतरह निभाने के लिए इधर बुलाता हूँ।

विश्वे देवास आगत शृणुता म इमं हवम्।
एदं बर्हिर्नि षीदत ॥ (२।४१।१३, ६।५२।७)

'सारे देवो ! इधर आओ, मेरी इस पुकार को सुनलो, और इस कुशासन पर बैठ जाइए।'

...देवासः पूषरातयः। विश्व मम श्रुता हवम्।
(ऋ. २।४१।१५)

'सभी देव जिनकी देनें पुष्टी धारक होती हैं मेरी इस पुकार को सुनलें।'

सूक्तेभिर्वो वचोभिर्देवजुष्टैरिन्द्रा न्वग्नी अवसे हुवध्यै ॥
(ऋ. ५।४५।४)

'हे इन्द्र एवं अग्नि ! तुम्हें मैं देवों से स्वीकृत तथा भलीभाँति कहे बचनोंसे संरक्षण के लिए बुलाता हूँ।'

इन उपर्युक्त मन्त्रोंसे वैदिक ऋषियोंके अन्तस्तलमें देवों केसान्निध्यकी लालसा किस भाँति जागृत थी सो अत्यन्त स्पष्ट होगा। तथा और भी देखिए—

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मेदं॒
सवनं जुषाणाः। भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे
धत्त वसवो वसूनि ॥ (वा. यजु. ८।१८)

'हे देवतागण ! आपके लिए हम सुखदायक घर बना चुके हैं जो तुम इस सवन का सेवन या स्वीकार करते हुए इधर आनेलगे; सब को बसानेवाले देवो ! हविर्भागोंको भरपूर देते हुए एवं उन्हें इष्टस्थान में पहुँचाते हुए हमारे लिए धन भाण्डारों को यहाँपर धर दो।'

आ नो विश्वे सजोषसो देवासो गन्तनोप नः।
वसवो रुद्रा अवसे न आगमञ्छृण्वन्तु मरुतो
हवम् ॥ (ऋ. ८।५४) [वाल. ६]३

'सभी देव मिलजुलकर हमारेलिए समीप आ जायँ; वसु एवं रुद्र हमारे संरक्षण के लिए आवें तथा मरुत् वीर भी हमारी पुकार सुन लें।'

वयामिद् वः सुदानवः क्षियन्तो यान्तो अध्वन्ना।
देवा वृधाय हूमहे ॥ (ऋ. ८।८३।६)

'हे अच्छे दान शूर देवो ! हम तो घर में रहते हुए या मार्ग पर से आवागमन करते हुए तुम्हें ही वृद्धि का कार्य करनेके लिए बुलाते हैं।'

इस प्रकार देवों को बुलाकर वैदिक मन्त्रोंके दर्शन करनेहारे प्रतिभा शाली कवि उनसे कैसी प्रार्थना करते हैं तथा अपनी आकांक्षाओं को किस तरह उनके सम्मुख पेश करते हैं यह निम्न मंत्रों में देखने योग्य है-

दिविस्पृशं यज्ञमस्माकमश्विना जीराध्वरं
कृणुतं सुम्नमिष्टये। (ऋ. १०।३६।६)

'हे अश्विनौ ! तुम दोनों हमारे यज्ञको द्युलोकको छूनेवाला याने अति उच्च कोटिका तथा शीघ्र हिंसारहित होनेवाला बना दो और हमारा इच्छित सिद्ध हो जाय इस हेतु सुख का निर्माण कर डालो।'

उपह्वये सुहवं मारुतं गणं पावकमृष्वं सख्याय
शंभुवम्। रायस्पोषं सौश्रवसाय धीमहि...।
(ऋ. १०।३६।७)

'मैं पवित्रतामय वायुमंडल का सृजन करनेहारे एवं तेजस्वी वीर मरुतोंके दलको अपने निकट बुलाता हूँ ताकि मित्रता के लिए वह सुखदायक प्रतीत होवे और हम उत्कृष्ट कीर्ति पाने के लिए धनसंपदाको बढानेके ढंग सोचते हैं।'

यद् वो देवा ईमहे तद् ददातन।
जैत्रं क्रतुं रयिमद् वीरवद्यशस्तद् देवानामवो
अद्या वृणीमहे। (ऋ. १०।३६।१०)

'हे देवो ! हम तुम से जो मांगते हैं उसे देडालो; वीरतायुक्त, धनसंपन्न यश एवं जयिष्णु कार्यक्रम हमें मिल जाय अतः आज हम देवों के उस संरक्षण के ढंग को अपने लिए चुनलेते हैं।'

ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते
वरुणस्य देवाः। ते सौभगं वीरवद् गोमदप्नो
दधातन द्रविणं चित्रमस्मे ॥ (ऋ. १०।३६।१३)

'जो सारे देव सत्य के प्रेरणकर्ता सविता एवं मित्र तथा वरुण के निर्दिष्ट, व्रत के अनुकूल कार्य करते हैं वे हमें वीरता पूर्ण, गोधन संकुल अच्छे ऐश्वर्यवाले कार्य और अनूठा धन देडालें।'

यूयं हि ष्ठा सुदानव इन्द्रज्येष्ठा अभिद्यवः।
कर्ता नो अध्वन्ना सुगं गोपा अमा॥ (ऋ.६।५१।१५)

'हे देवो ! तुम तो सचमुच चतुर्दिक द्योतमान एवं अच्छे दान शूर हो तथा तुममें इन्द्र प्रमुख है; मार्गपरसे

यात्रा करते समय मिलजुलकर रक्षा करनेवाले तुम देव हमारे लिए सुख का प्रबन्ध करडालो । '

आत्मरक्षा का भाव मानवमें किस तीव्रतासे उमड पडता है यह निम्न मंत्रमें दीख पडता है—

अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा सिन्धवः पिन्वमानाः । अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ ॥ (ऋ. ६।५२।४)

' प्रतिदिन उत्पन्न होते हुए उषः काल मुझ को बचाएँ प्रतिपल जल से पूर्ण होती हुई नदियाँ मेरी रक्षा करें, अटल रूपसे खडे पहाड मेरा संरक्षण करें तथा देवोंको बुलाने में पितर अपने संरक्षणकी छत्रछायामें मुझे रख दें।'

द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसो मही त्रायेतां सुविताय मातरा । उषा उच्छन्त्यप बाधतामघं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ॥ (ऋ० १०।३५)

' आज हमें दोष रहित, महान एवं मातृतुल्य द्यावापृथिवी सुरक्षित रखें ताकि हमारी भलाई हो जाए; उदित होती हुई उषा पापको दूर करदे और हम चाहते हैं कि भलीभाँति धधकनेवाला अग्नि हितकारक बने ।'

नू देवासो वरिवः कर्तना नो भूत नो विश्वेऽवसे सजोषाः । समस्मे इषं वसवो ददीरन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ (ऋ. ७।४८।४)

' हे देवो ! हमारे लिए तुम धनसंपदा का निर्माण करो, और तुम सभी मिलकर हमारी रक्षा करनेके लिए कटिबद्ध रहो; हे वसुओ ! हमें तुम अन्न सामग्री भली भाँति देते रहो और कल्याणकारक साधनोंसे हमेशा हमारे संरक्षण का गुरुतर कार्य भार संपन्न करो ।

विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञियाः ...
मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेषु इत् वो अन्तमा मदेम ॥ (ऋ. ६।५२।१४)

' मेरे कथनको सभी यज्ञमें बैठने योग्य देव सुनलें; मैं कभी निन्दनीय वचन तुम्हारेलिए न कहूँ और तुम्हारे किये सुख कारक प्रबंधों में हम तुम्हारे अत्यन्त निकटवर्ती होकर आनन्दित बनें । '

स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्नौ सूक्तेन महा नमसा विवासे । अस्मिन् नो अद्य विदथे यजत्रा विश्वे देवा हविषि मादयध्वम् ॥ (ऋ. ६।५२।१७)

' दर्भमय आसन के बिछानेपर और अग्नि के भली-भाँति प्रदीप्त होनेपर बडे सूक्तसे एवं नमन से मैं उपासन करता हूँ; आज हमारे इस यज्ञ में उपस्थित होकर सारे तुम पूजनीय देव हमारे दिये हुए इस हविके परिणाम स्वरूप हर्षित बनो । '

इदं देवा शृणुत ये यज्ञिया स्थ ... पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यताम् यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ (अथर्व. २।१२।२)

' हे देवो ! जो तुम यजनीय हो तो इस मेरे वचन को सुन लो; जो कोई हमारे इस मन को हिंसित करे अर्थात् कष्ट दे वह फंदे में बँधा जाकर बुराई में गिरजाय । '

देवों का निम्नलिखित वर्णन देखने योग्य है—

नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः । विश्वे सन्तो महान्त इत् ॥ (ऋ. ८।३०।१)

' हे देवो ! तुम में कोई न छोटा शिशु है न बालक अपितु सारे ही निश्चय पूर्वक बडे हैं । '

यथा वशन्ति देवास्तथेदसत् तदेषां नकिरा मिनत् । अरावा चन मर्त्यः ॥ (ऋ. ८।२८।४)

' जैसे देव इच्छा करते हैं वैसे ही निश्चय पूर्वक बन जाता है । उनके इस सामर्थ्य को न कोई विनष्ट करपाता है, कृपण मानव भी इन के सामने झुक जाते हैं ।'

सदा देवा अरेपसः । सामवेद. ४४२.

' देव हमेशा निर्दोष रहते हैं । '

इसी कारण इन देवों की मनःपूर्वक प्रशंसा की जाती है । देवों के संरक्षण का परिणाम निम्न मंत्र में बताया है-

ऋते स विन्दते युधः सुगेभिर्यात्यध्वनः । अर्यमा मित्रो वरुणः सरातयो यं त्रायन्ते सजोषसः ॥ (ऋ. ८।२७।१७)

" जिसकी रक्षाका भार हाथमें दान लेकर मित्र, वरुण एवं अर्यमा मिलकर उठाते हैं वह बिना युद्ध ठाने धन पाता है और सुगम साधनों से मार्ग का अन्त पालेता

है अर्थात् मार्गपर यातायात करने में उसे तनिक भी कठिनाई नहीं प्रतीत होती है।' इसी कारण उनकी सराहना की जाती है।

अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्। प्र ण पूर्वस्मै सुविताय वोचत मक्षू सुम्नाय नव्यसे ॥ (ऋ. ८।२७।१०)

'हे शत्रुविध्वंसक देवो! तुममें सचमुच बंधुता एवं सजातीयताके भाव विद्यमान हैं इसलिए अब हमसे शीघ्र भली भाँति कहदो कि पूर्वकालीन भलाई एवं नये ढंगके सुख को पाने के लिए हम क्या करें।'

वि नो देवासो अद्रुहोऽच्छिद्रं शर्म यच्छत।
न यद् दूराद्वसवो नू चिदन्तितो वरूथमादधर्षति॥
(ऋ. ८।२७।९)

'द्रोह न करनेहारे एवं सबको बसानेवाले हे देवो! हमें वह छिद्ररहित याने त्रुटिरहित स्वीकरणीय सुख दे डालो जिसे न कोई दूरसे या समीपसेही आक्रान्त करनेका साहस करसके।'

देवंदेवं वोऽवसे देवंदेवमभिष्टये। देवंदेवं हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया॥ (ऋ. ८।२७।१३)

'अपनी रक्षा के लिए तुममें से प्रत्येक देवको हम बुलाते हैं. अपनी इच्छा पूर्ण हो इसलिए हरएक देवको निमंत्रित करते हैं और द्योतमान बुद्धिशक्तिसे निष्पादित स्तोत्रों से प्रशंसा करते हुए अन्नकी प्राप्ति हो इस हेतुसे प्रति देवको हम समीप आनेके लिए विनति करते रहें।'

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकं सरातयः। ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवो विदः॥ (ऋ. ८।२७।१४)

'सारे देव तो अपने साथ देन लेकर और एक विचार वाले होकर तथा एकत्रित रूपसे मनुको दान देते हैं और हमारी इच्छा है कि वे आज हमारे लिए और हमारी सन्तान के लिए भी धन के दाता बनें।'

'विश्वे देवा' सूक्तोंके स्मरणीय वाक्य

वैदिक कवि विभिन्न देवोंकी स्तुति करते हुए उनसे क्या अपेक्षा रखते हैं तथा उनके सम्मुख किसतरह अपनी आवश्यकताओंका वित्ररण करते हुए अपनी महत्वपूर्ण एवं शाश्वतिक मांग प्रस्तुत करते हैं इस विषयपर निम्न मंत्रांशों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और साथ ही वैदिक सूक्तों एवं मंत्रों के दर्शनकर्ताओं के जीवन विषयक दृष्टिकोणको भी अत्यधिक प्रस्फुट करने में बडी भारी सहायता मिल सकती है।

शत्रुओं तथा बुराइयोंको सुदूर भगाकर सुख एवं भलाई की अक्षुण्ण प्राप्ति मानवमात्रका प्रमुख उद्देश्य है और वैदिक सूक्तों में इसकी एक प्रबलतम झाँकी हमें देखने मिलती है। दुश्मनों तथा बुराइयों के मटियामेट होनेपर आर्थिक सुस्थितिका सुप्रबंध समाधानकारक ढंगसे करके सुदीर्घ-जीवनका सुदीर्घ काल तक इष्ट मित्रों एवं पुत्र पौत्रों समेत उपभोग लेना भी मानवका दूसरा एक अतिप्रबल अदम्य उद्देश्य है और इसकी भी झलक वेदमंत्रोंमें यथेष्ट उपलब्ध होती हैं। अस्तु, वेदके ही शब्दोंमें वैदिक ऋषियों की अदम्य लालसा से परिचित होनेके लिए निम्न वचनों की ओर ध्यान देना चाहिए।

ते अस्मभ्यं शर्म यंसन्नमृता मर्त्येभ्यः।
बाधमाना अप द्विषः॥ (ऋ. १।९०।३)

'(ते अमृताः) वे अमरपनका उपभोग लेनेवाले देव (मर्त्येभ्यः अस्मभ्यं) मरणशील हम मानवोंको, (द्विषः अप बाधमानाः) द्वेष करनेवालोंको दूर मार भगाते हुए (शर्म यंसन्) सुख का प्रदान करें।'

··· ऊतये ... हवामहे। रथं न दुर्गात् ··· विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ (ऋ. १।१०६।१)

'हम संरक्षणार्थ देवों तथा दिव्य दल बल को बुलाते हैं और जिस प्रकार बीहड स्थानमें से या दुर्गम जगह से रथको खींच बाहर निकालते हैं उसी तरह, हे देवो! हमें समूचे पाप या कष्ट में से पूर्णतया बाहर निकाल हमारा बेडा पार कर दो।'

···यूयं द्वेषांसि सनुतर्युयोत··· अद्या च नो मृळयत अपरं च॥ (ऋ. २।२९।२)

'तुम द्वेषों को गुप्तस्थानमें भेजकर हमसे दूर करो और आज तथा बाद में भी हमें सुख देते रहो।'

यूयं नो स्वस्ति दधात। (ऋ. २।२९।३)
...देवा यूयमिदापयः स्थ ते मृळत नाधमानाय मह्यम् ... मा युष्मावत्स्वापिषु श्रमिष्म।
(ऋ. २।२९।४)

'तुम हमारे कल्याण का प्रबंध करो; हे देवो ! तुमही सचमुच हमारे आप्त हो और ऐसे वे तुम याचना करनेवाले मुझ को सुख दे दो, क्योंकि तुम्हारे जैसे आप्तों के मौजूद होनेपर हमें थकावट न होने पाय।'

आरे पाशा आरे अघानि देवा। (ऋ. २।२९।५)

'हे देवो ! फंदे और पाप हमसे दूर रहें।' अर्थात् कभी जालों तथा पापों के चँगुलमें हम न फँसजायँ।

यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम्। (ऋ. ३।५४।२०)

'वीर मरुत हमें कल्याणकारक सुखका प्रदान करें।'

...अवन्तु नः। मरुतो मृळयन्तु नः।
(ऋ. १।२३।१२)

'वीर मरुत हमारी रक्षा करें और हमें सुख देदें।

देवा नो...सदमित् वृधे असन्...रक्षितारो दिवे दिवे। (ऋ. १।८९।१)

'प्रतिदिन रक्षाका कार्य सुचारुरूप से चलाते हुए देव हमेशा हमारे संवर्धनार्थ चेष्टाशील रहें।'

मनवः सूरचक्षसो।विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह
(ऋ. १।८९।७)

'मननशील तथा विद्वानों के दृष्टिकोण को साथ रखनेवाले सभी देव हमारेलिए संरक्षण की आयोजना बनाकर इधर पधारें।'

देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे। (ऋ. १।८९।२)

'हम देवों की मित्रताको प्राप्त करें और हमारा जीवन अक्षुण्ण रूप से प्रचलित रहे इसलिए देव हमारी आयुष्य रेखा को बढा देवें।'

...विश्वा द्वेषांसि सनुतर्युयोत...(ऋ. १०।१००।९)

'सभी द्वेषभावों को हमसे दूर करो।'

आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतन... (ऋ. १०।६३।१२)

'हे देवो ! द्वेषभाव को हमसे हटादो।'

गोभिः ष्याम यशसो जनेष्वा।
सदा देवास इळया सचेमहि (ऋ. १०।६४।११)

'हम गोधनसे युक्त होकर जनतामें यशस्वी बन जायँ और हे देवो ! हमेशा हम अन्न से युक्त रहें।'

...उरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये।(ऋ. १०।६३।१२)

हमारे हित के लिए विशाल सुख दे डालो।'

ते...अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये। (ऋ. १०।६३।७)

ऐसे वे देवो ! तुम भयरहित सुख का प्रदान करो और भलाई हो जाय इसलिए हमारे लिए सुगम एवं सुन्दर मार्ग बना दो अर्थात हमें बीहड सडकोंपर न चलना पडे।

मा प्र गाम पथो वयं ...
मान्तः स्थुर्नो अरातयः। (ऋ. १०।५७।१)

'हम मार्ग छोडकर दूर भटकते न चलें और हमारे शत्रुओं को अन्दर स्थान न मिले। अर्थात हम मार्गभ्रष्ट न हों तथा शत्रु हमारे भीतर जगह न पासकें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए।

विश्वे नो देवा अवसागमन्तु।
विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे। (ऋ. १०।३५।१३)

सभी देव संरक्षण की आयोजना साथ लेकर हमारे निकट पहुँच जायँ और समूचा द्रव्य एवं बल हमारेलिए रहे

मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत..। (ऋ. १०।३६।२)

'बुरे ज्ञानवाली पीडा हमपर शासन न करें।' ज्ञान का दुरुपयोग करनेवाली बुरी मनोवृत्तिका शासन या प्रभुत्व प्रस्थापित न होने पाय।

अवन्तु नो अमृतासस्तुरासः। (ऋ. ५।४२।५)

'अमर पनको प्राप्त हुए देव त्वरापूर्वक कार्य करनेवाले बनकर हमारी रक्षा करें।

देवोदेवः सुहवो भूतु मह्यं। मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्। (ऋ. ५।४२।१६)

'मेरेलिए हरएक देव सुगमतापूर्वक बुलानेयोग्य बन जाय और हमें भूमाता दुर्बुद्धि में न रखें।

सदा सुगः पितुमाँ अस्तु पन्था। (ऋ. ३।५४।२१)

'मार्ग हमेशा सुख पूर्वक तथा अन्न युक्त रहें'। यह अभिलाषा तो यात्रियों एवं विदेशों में जानेवाले लोगोंके अन्तस्तलमें ही जागृत हुआ करती है और वैदिक कवि यात्रा करने के अभ्यस्त थे ऐसा स्पष्ट होता है।

अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः। (अथर्व ५।३।५)

वयं सुषखायो भवेम तरन्तो विश्वा दुरिता स्याम। (ऋ. १०।३१।१)

'हम लोग अच्छे वीर एवं अक्षीण और निर्दोष शरीरवाले बनें, सभी बुराइयोंको लाँघते चलें।'

वेद-मंत्र और गायन

(लेखक— पं० ऋभुदेवशर्मा, 'साहित्य-भूषण,' 'शास्त्राचार्य,' औंध)

वेद हमारी सभ्यता का मूलाधार है। आर्यावर्त ही क्यों, भूगोल की जिन सभ्य जातियों का इतिहास आज उपलब्ध है, उनके मूल पुरुष कहीं एक स्थान में रहते थे और एक ही भाषा बोलते थे, ऐसी कल्पना सृष्टि में आ चुकी है। फादर, पिदर और पितृ या पितर ने अंग्रेज, पारसी और आर्य परिवार को एक में जोड दिया है। रेल, तार, विमान और ध्वनि-वाह यन्त्र ने भूगोल के मानव-समाज को विना किसी व्यवधान के मिलने, बोलने, विचारने और देखने की उत्तम सुविधा प्रदान की है। आज का भूगोलस्थ मानव-समाज मानो एक परिवार बना हुआ है। अतः सब के आचार-व्यवहार, भाषा, इतिहास, शरीर, उपज और पूर्वजों के चरित्रों का हम भली-भाँति निरीक्षण और मनन कर सकते हैं। साम्य और विरोध का भी सूक्ष्मान्वेषण कर सकते हैं। इन साधनों के बलपर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि संसार की सभ्यता और भाषा का मूल-स्थान वेद है और अपनी परम्परा को अविच्छिन्न सुरक्षित रखनेके लिये वेद का संरक्षण अत्यन्तावश्यक है। इस दिशा में जिसका जो भी प्रयत्न है, वह स्तुत्य और ग्राह्य है।

वेद और अन्य शास्त्रों का संरक्षण उन जातियों की योग्यता पर निर्भर है, जिन के पास वे हैं। एक जाति अपने शास्त्रों के ऊपर पडी धूलि को झाडते झाडते उनके अमूल्य अंशों को भी उडा देती है; दूसरी जाति झाडने का प्रयत्न करती है, परन्तु उसे दीखता ही नहीं कि इसमें धूलि का अंश कितना है! वेद के माननेवाले कतिपय वैदिक धर्मी वेद के सुधार के नाम पर उसके अमूल्य गुण को भी नष्ट कर रहे हैं और दूसरे लोग इस साधन-सम्पन्न दशा में भी वेद की स्पष्ट और निःसन्देह छपाई पर नाक-भौंह चढा रहे हैं। रहे बीच के लोग, वे तो बहुत थोडे हैं, अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। जिस प्रकार वैद्य प्राण की रक्षा करते हुए, शरीर के रोग को बाहर निकाल देता है इस प्रकार वेद तथा अन्य शास्त्रों के जीवन (स्वरूप) की रक्षा करते हुए ही हमें फेर-फार करना चाहिये। अन्यथा अल्प-श्रुत सुधारकों ने शास्त्रों की जो दुर्दशा की है, अब उससे कहीं अधिक दुर्दशा होगी।

हम यह जानते हैं कि सुधार की दिशामें अनेक बाधाएँ हैं। सुधार के साधन अपूर्ण हैं, व्यवस्था अपूर्ण है और दिन-रात की जीविका की चिन्ता और अच्छे सहयोगियों का अभाव कुछ कार्य नहीं करने देता। मनुष्य की बुद्धि भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। अतः सुधार में कोई त्रुटि रह जाती है अथवा हम शुद्ध को अशुद्ध और अशुद्ध को शुद्ध मान बैठते हैं। तब किसी प्रकार के सुधार का उपक्रम कोई खेल नहीं है। सुधारक के ऊपर कई प्रकार के कर्तव्य हैं, उनसे च्युत होकर स्व-पर को मार्ग से भटका सकता है। सुधारक यह तो सोचता ही है कि उसे अपने सुधार से जनता का हित साधना है। तब वह बडे संकट में पड जाता है कि कहीं मेरे कार्य और व्यवहार से जनता का अहित न हो जाय। ऐसे सुधारक कम बोलते और कम लिखते हैं क्योंकि उनके समक्ष कर्तव्य-विमुखता का भारी भय है। ऐसे लोगों से हानि की सम्भावना न्यून होती है।

वेदके अनुचर ग्रन्थ वेद को प्रमाण मानते और उसे परमेश्वर की कृति कहते हैं। यद्यपि इस विषय में विद्वानों का मत-भेद है तथापि वेद-पाठी तो उसे ईश्वर की रचना मान कर ही पढते और आज तक रक्षा करते आये हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो वेद को ऋषियों का गान मानते हैं और वेद-पाठियों पर यह आरोप धरते हैं कि उन्होंने वेद-मंत्रों को व्याकरण के नियमोंमें बाँध दिया, वास्तव में वे सन्धि आदि नियमों से मुक्त थे। देखिये श्री० पं० धर्म-राजजी वेदालंकार, अंगोपाध्याय, गुरुकुल कांगडी का 'वेद-मन्त्रों का संगीत उच्चारण' लेख —

"संस्कृत का पूर्ण एवं परिष्कृत व्याकरण बन चुकनेपर भी ये महाकवि छन्दःशास्त्र को व्याकरण से ऊपर रखे रहे हैं। तो फिर वैदिक कवियों ने तो अवश्य ही लय और तान

के आधार पर ही वैदिक ऋचाओं को समझा होगा, क्योंकि तब तो व्याकरण के कठोर नियमों का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। " (वैदिक-धर्म वर्ष २५, अंक ७, पृष्ठ ३३६)

" वैदिक ऋषियों के मानस के उच्च धरातलमें जो स्फुरणायें हुई, वे ही वेद के मंत्र हैं। इनकी भाषा स्वाभाविक और अकृत्रिम है। अत एव **व्याकरण के क्रूर प्रतिबन्ध उसपर नहीं लागू हो सकते।** पिछले समयमें जब **वेद लिखे जाने लगे, तो पांडित्य का अभिमान करनेवाले विद्वानोंने** अपने ही **मनुष्यसुलभ अल्प ज्ञानकी छाप वेद-मंत्रोंपर** भी लगा दी। **अर्थात् व्याकरण के नियमों के अनुसार वेदों को कई जगह परिवर्तित करके संसार के समक्ष उपस्थित किया।** "

(वै० धर्म, वर्ष २५, अंक ७, पृ० ३३७)

श्री० पण्डितजी वेदको ऋषि-प्रणीत मानते हैं और ऐसे ऋषि जिनको व्याकरण-परिशुद्ध स्फुरण नहीं हो सकता। जो ऋषि इतने विद्वान् हैं, जिन्हें व्याकरण-शास्त्र का भी ज्ञान नहीं, उनका अल्प ज्ञान कितना बडा होगा यह तो पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। यदि ये स्फुरण किसी शक्ति की ओर से हुए, तो भी यही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह शक्ति सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ। यदि अस्मादृश अल्पज्ञ है तो उसका ज्ञान किस काम का? यदि सर्वज्ञ है तो उसे भाषा के व्याकरण-सबन्धी नियम अज्ञात होंगे यह कौन मानेगा? जो लोग यह मानते हैं कि भाषा के आधारपर व्याकरण बनता है वे यह तो मानते ही हैं कि वैदिक-भाषा का भी व्याकरण था और अब भी पाणिनीय व्याकरण वैदिक-लौकिक दोनों भाषाओं का पृथक् पृथक् निर्देश करता है। यदि कोई पांडित्याभिमानी वेद-मंत्रों को लौकिक व्याकरणके आधारपर बांध जाता तो मंत्रोंमें लौकिक व्याकरणानुसार ये अव्यवस्थाएं नहीं पाई जातीं। यथा—

(१) अक्षरों का लोप-(**शेश्छन्दसि बहुलम्। अ० ६।१।७०**)

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा(नि) जातानि परि ता (नि) बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ (ऋ० १०।१२१।१०)

(२) एङः पदान्तादति (अ० ६।१।१०९) का विरोध- तन्नो अस्तु (तन्नोऽस्तु)

(३) अभ्यास को दीर्घ— (**तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य। अ० ६।१।७**)

यो दाधार (दधार) पृथिवीं द्यामुतेमाम् ॥
(ऋ० १०।१२१।१)

(४) द्विर्वचन का अभाव- (**छन्दसि वेति वक्तव्यम्।** वा० ६।१।८)

यो जागार (जजागार) तमृचः कामयन्ते।

इत्यादि उदाहरण वैदिक व्याकरण से शुद्ध और लौकिकमें अशुद्ध हैं। तब मानना पडेगा कि मंत्रोंके सन्धिविषय नवीन नहीं हैं और अपने मनः-कल्पित गायनके लिये मन्त्रोंमें सन्धिच्छेद करना अनुचित है। मंत्रोंमें अक्षरों की न्यूनता, 'इयादि पूरणः' और प्रातिशाख्य के भिन्न-भिन्न नियम इसीलिये बनाये गये हैं कि कोई अक्षर की कमी, संगीत के अनुसार मात्राओं की न्यूनाधिकता को देखकर विचलित न हो और मंत्रों को तोडने-मरोडने न लगे।

हम स्वाभाविकता और अकृत्रिमता की जो परिभाषा करते हैं उसमें थोडीसी भूल है। हम कोई कार्य विना किसी से सीखे और विशेष ध्यान दिये विना करते हैं तो उसे स्वाभाविक और अकृत्रिम मान लेते हैं। परन्तु सत्य तो यह है कि हमारा अभ्यास ही हमारे स्वभाव को बनाता है। दो संगीतके छात्र एक साथ गुरु के पास संगीत सीखने लगते हैं। एक का अभ्यास निरन्तर चल रहा है, उसका स्वाभाविक संगीत शुद्ध होगा। दूसरा बीचमें छोड-छोड कर अभ्यास करता है अथवा अपूर्ण अभ्यास करता है, उसका स्वाभाविक संगीत अवश्य ही अशुद्ध होगा। स्वाभाविकता दोनों में है परन्तु अभ्यास के न्यूनाधिक्य से संगीतमें भेद आ गया। हमारा स्वभाव पूर्व- और इस जन्म के अभ्यास का फल है। अभ्यास को जितना उत्तम और परिष्कृत बनाया जाय स्वभाव उतना ही सरस और उत्तम होगा। गायन-सम्बन्धी अनेकता भिन्न स्वभावों से इस प्रकार आती है—

विद्वान्- तुम पूर्ण परमात्मा तुम अन्तर्यामी।
मध्य- तुम पूरण परमातमा तुम अन्तरयामी।
निकृष्ट- तुम प्रुण प्रमात्मा तुम अन्त्रयामी।

मैंने अनेक समाजोंमें ये तीनों पाठ सुने हैं। भक्त लोग बडी श्रद्धा से अपने-अपने अभ्यास के अनुसार इन शब्दों का उच्चारण करते हैं और उनकी स्वाभाविक स्वर-लहरीमें कोई अन्तर नहीं आता, चाहे शब्दों की हत्या भले ही हो जाय। जिस मंत्रों का संगीत उच्चारण भी अभ्यास-साध्य है। जिस

वेद-पाठियों को सन्धि-मय उच्चारण का अभ्यास हो गया है वे श्री पण्डितजी के निर्देश को ऐसा ही मानेंगे जैसा विद्वान् लोग 'कस्म इ देवाय हविषा वधेम' को समझते हैं। वेद-पाठी उदात्त अनुदात्त और स्वरित के साथ उच्चारण में समस्त पदोंका अंशतः विश्लेषण भी करते जाते हैं, इस लिये उनका स्वारस्य कभी भंग नहीं होता। यथा—

(१) प्रजापते न त्वद्-एतानि अन्यो
　　विश्वा, जातानि परि ता बभूव।
यत्-कामास्-,ते जुहुमस्-तन्-नो अस्तु
　　वयं स्याम पतयो रयीणम् ॥
(२) अग्ने नय सु-पथा राये अस्मान्
　　विश्वानि देव वयुनानि विद्-वान्।
युयोधि-अस्मज्-जुहुराणम्-एनो
　　भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ॥

श्री० पण्डितजी के कई निर्देश उत्तम हैं और वे ग्राह्य हैं परन्तु संगीत-उच्चारण का विषय ऐसा है जो वेद के शरीर पर प्रहार करता है। वेद का पद्य क्या गद्य भी गायन है और वह गायन-पद्धति से गाया जाता है। गायन में सन्धि क्या एक-एक पद के अक्षर-अक्षर नोंच डालते हैं, परन्तु इसे कभी किसी ने बुरा नहीं माना। यथा—

'कया नश्चित्र आ भुवदूती' को
　का या। नश्चा इत्रा आ भुवात्। ऊ। ती

इस प्रकार तोड कर गाते हैं।

मेरे विचार में जिसे मन्त्र गाने हों वह किसी से साम-गान या उस वेद का सस्वर पाठ सीख ले तो विद्या सुरक्षित रहेगी और उसे आनन्द भी मिलेगा। नहीं सीखना हो तो जैसा आता है गाता रहे। चाहे चौपाई के ढंग पर गाये या दोहा के या सिनेमा के किसी स्वर में। मैंने कई समाजों में इस प्रकार गाते देखा है। वे बिचारे मन्त्र-गायन नहीं जानते, परन्तु इतना तो अच्छा है कि वेद में सुधार नहीं चाहते। मैं वेद की पाठ-परिपाटी में सुधार चाहता हूं और मान्य पण्डितजी ने 'ख' आदि विषय में जो निर्देश किये हैं उन्हें ग्राह्य समझता हूं। पर पण्डितजी का यह लेख उचित नहीं समझता कि वेद-मंत्रों को व्याकरण की रस्सी में बाँधनेवाला कोई अभिमानी पण्डित था। वेद ईश्वरकृत हो या मनुष्यकृत, उसके सारे नियम अपने हैं।

(संपादकीय वक्तव्य)

वैदिक धर्मके गत अंक में पं. धर्मराज जी वेदालंकार का लेख **'वेद-मंत्रोंके संगीत उच्चारण'** छपा है, उसकी समालोचना शास्त्रीय दृष्टिसे पं. ऋभुदेव शर्माजीने की है, जो ऊपर मुद्रित की है। मूल लेख निःसंदेह विचार करनेके लिये प्रवृत्त करनेवाला है। तथापि उसकी कुछ धारणाएं विवादास्पद हैं। पं. धर्मराजजी की धारणाएं निम्नलिखित हैं—

"वेदमंत्र गानेके लिये हैं, इस लिये छन्दानुकूल प्रतिपाद में अक्षर होने चाहिये, वैसे न होनेसे गान बनता नहीं, अतः आनन्द आता नहीं।"

वेदमंत्र उदात्त-अनुदात्त-स्वरित तीन स्वरों में उच्चार किये जाते हैं। इसके उच्चारणके लिये सप्त स्वरोंमेंसे केवल तीन ही स्वर मुश्किलसे लगते हैं। एक श्रुतिमें पढनेसे तो केवल एक ही स्वरमें संपूर्ण मंत्र बोला जाता है। परन्तु स्वरयुक्त बोलनेके लिये केवल तीन ही स्वर लग सकते हैं, अधिक नहीं लगते।

यदि **'वेदमंत्रोंका गान'** का अर्थ सप्त स्वरोंके गानसे है, तब तो वेदमंत्रों का गान नहीं होगा। यदि तीन स्वरोंमें मंत्रोच्चारण को ही गान संज्ञा देनी होगी, तो वेदमंत्रोंका गान होता ही है। हम जो गान संज्ञासे बोध लेते हैं वह गान सप्त स्वरोंका है। वैसा गान वेदमंत्रों का नहीं होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का कोई मंत्र सप्तस्वर में गानेके लिये नहीं बनाया है। केवल तीन स्वरोंमें तथा उदात्तानुदात्त स्वरितों में ही इन का उच्चारण करने की परिपाटी है और वह जैसा छापा जा रहा है, वैसाही वह बोला जाता है।

सामवेदके मंत्र भी गानेके लिये नहीं हैं। वे केवल योनिमंत्र ही हैं। योनिमंत्रोंसे 'सामगान' उत्पन्न होते हैं, जो सप्तस्वरोंमें गाये जाते हैं, जैसा—

ऋग्वेद मंत्र

सोमं उ षुवाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम्। अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥　　(ऋ० ९।१०७।८)

सामवेद मन्त्र (योनि-मंत्र)

१ २　 ३२　 ३२ ३ २ ३　 २ ३ १ २
सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम्।
१ २　 ३ १ २　 ३　 १ २　 ३ १ २　 ३　 १ २
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥
(सामवेद ९९७)

ऊपर ऋग्वेद और सामवेद का एकही मंत्र दिया है। जहां ऋग्वेदके मंत्रके अक्षर के नीचे स्वर है, वहां सामवेद के मंत्रके अक्षर पर '३' अंक है। '३' अंकवाले अक्षर के बाद के अक्षरपर '२' अंक है और किसी स्थानपर '१' भी है। ऊपर का स्वर 'स्वरित' नामसे प्रसिद्ध है जो साममें '२' अंकसे बताया जाता है। ऋग्वेदमें उदात्त के लिये चिह्न नहीं होता, पर वह सामवेदमें '१' एक अंकसे बताया जाता है। न थे ऋग्वेदके मंत्र और ना ही सामवेद के मंत्र सप्त स्वरमें गाने के लिये हैं। जो ऋग्वेद-मंत्र हैं वेही सामके मन्त्र हैं। इस कौथुमी साम-संहितामें कुछ ७५ मंत्र हैं, जो ऋग्वेदमें नहीं मिलते, परंतु वे ऋग्वेद के शांखायन, बाष्कल आदि शाखाकी संहितामें हैं।

जो छंदोबद्ध मंत्र हैं वे 'ऋग्वेद' हैं, जो गद्यमंत्र हैं वे यजुर्वेद हैं और जो मंत्रों के गान (आलापयुक्त गान) हैं वे साम हैं। अर्थात् प्रत्येक मन्त्र गानेके लिये नहीं है। ऊपर दिये ऋक्साम मंत्र के ४ गान सप्त स्वरोंमें आलापों से गाने के लिये प्राचीन ऋषियोंने तैयार करके रखे हैं। वे इतने बडे हैं कि वे इस पृष्ठके सदृश तीन पृष्ठोंमें मुद्रित हो सकते हैं। इसके कौथुमी, राणायनी और जैमिनी के मिलकर १२ गान हैं और वे सब के सब ८।९ पृष्ठों में मुद्रित हो सकते हैं, इतने बडे हैं। इसका थोडासा भाग हम नीचे देते हैं—

होवाई। सोमउष्वाणः सोतृभिः। होवाई॥
भाधिष्णुभिरवीनाम्। अश्वायेव। हारितायाऽ३२१।
तिधाऽ२ राऽ२३४ या॥ मन्द्रायाऽ२३ याऽ३॥

यह प्रथम गान का केवल तीसराही भाग है। मूल योनिमंत्र कैसा था और उसका गान कैसा ऋषियोंने ही किया है वह पाठक यहां देखें। इससे स्पष्ट हुआ कि जो वेदमंत्र हैं वे गान नहीं हैं और जो गान हैं वे पृथक् विद्यमान हैं। वे गानके लिये जिस तरह स्वरोंको खींचना चाहिये उसका खींचाव ऋषियों द्वाराही किया गया है। इस पद्धतिपर कोई और भी गान निर्माण करे, पर उसके लिये इस समयके वेदमंत्रोंको तोडने-मरोडने की कोई आवश्यकता नहीं है।

स्वान। सुवान। स्वर्ग। सुवर्ग। सत्य। सतिय। अघ्न्या। अघ्निया।

ये वर्णभेद विविध शाखाओं की संहिताओंमें आजभी विद्यमान हैं। ये बोलने की पद्धतियाँ हैं अतः मंत्रोंके वर्ण अधिक तोडने की इसलिये कोई आवश्यकता नहीं है।

ग्वं

'ग्वं' उच्चारण अनुनासिक का करते हैं, इस में गकार कण्ठ्य है, वकार ओष्ठ्य है। ये अनपेक्षित हैं, इसलिये 'ग्वं' उच्चारण निःसंदेह अशुद्ध है। पूर्व वर्णका दीर्घ उच्चारण करके अनुस्वार का केवल नासिकामें ही उच्चारण होना चाहिये।

'अराँ इव' का उच्चारण
'अराऽऽँ इव' ऐसा करना योग्य है।

जैसा हिंदीमें 'कहाँ, जहाँ, तहाँ' यहांके 'हाँ'के उच्चारण पूर्व स्वर दीर्घ करनेपर जैसे होंगे वैसा उच्चारण ठीक है। यह हिंदी और मराठीमें भी है। वही ठीक है। ग्वं करना अशुद्ध है। (देखो पाणिनीय शिक्षा २६-३०)

पं. धर्मराजजीके लेखके विषयमें हमें इतनाही कहना है।

(संपादक- वै. ध.)

आर्यध्वजगीतसे आर्यसमाजको खतरा क्यों नहीं?

(लेखक— श्री० गणपतराव बा० गोरे, औंध, जिल्हा सातारा.)

जनवरी के मासिक "सार्वदेशिक" में श्री स्वामी वेदानन्द जी आचार्य, दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहोर का एक लेख **आर्यसमाजके सामने भारी खतरा** इस शीर्षकसे छपा है। श्री **स्वामीजी को यह 'भारी खतरा' (धोका= DANGER] राष्ट्रीय स्वयं-सेवक-संघ के भगवे झंडे में दीख रहा है!** आप का कथन है कि—

"उन्होंने गेरुआ झण्डा खडा किया और...ध्वजाका परिचय दिया—

'ध्वजा किसी देश तथा जाति की आन, बान और शान का परिचय होता है। जीवित जातियां अपनी ध्वजा की रक्षा के लिये जानें तक लडा देती हैं। आर्य-संस्कृतिमें संन्यासियों का बडा मान है। संन्यासी गेरुए कपडे पहनते हैं। हमारे झण्डेका रंग भी गेरुआ है' ॥ पृ० ५६८ ॥

"शनैः शनैः झण्डे की सलामी शुरु हुई, और अब गुरुपूजा आदि पर्वों पर झण्डे की सुविधि पूजा होती है। फूल चढाए जाते हैं-रुपये पैसे भी चढाए जाते हैं। झण्डे के साथ संस्थापकका फोटो भी रखा जाता है। मैं एक बार इनकी गुरुपूजा देखने गया था। वहां इनके एक लीडरने कहा कि 'हम इस झण्डेको अपना गुरु और नेता मानते हैं, क्योंकि मनुष्य भूलें करता है, किन्तु यह झण्डा भूलों से रहित है इत्यादि'।

"जो लकडी का टुकडा एक धक्का देने मात्रसे गिर जाता है, और अपने आप को सम्भाल नहीं सकता—जिस पर कोई उद्देश्य अङ्कित नहीं है—ऐसे जड रूप निरुद्देश्य कपडे और लकडीके टुकडेको आराध्य देवके स्थानपर पुजवाना, नवयुवकोंके हृदय में भयंकर विषका सञ्चार करना है।

"आर्यपुरुषो! यह हलाहल विष है, जिसे देश और जातिके नामपर आर्य-जातिके नवयुवकों के मस्तिष्कमें उंडेला जा रहा है" ॥ पृ० ५६९ ॥

रा० स्वयं से० संघ के भगवे ध्वज से आर्य-समाज को क्यों डर लगता है, उसके कारण श्री स्वामीजी ने उक्त लेख में जो गिनाये हैं, उन की आलोचना निम्न प्रकार है—

१. रा० स्वयं से० संघवालोंका कथन है कि "ध्वजा किसी जाति की आन बान शान का परिचय होता है"। आर्य-ध्वज-गीत इस कथन का समर्थन इस प्रकार करता है—

बंद २—इसके नीचे बढें अभय मन।
सत्पथ पर सब धर्म धुरी जन।
वैदिक रविका हो शुभ उदयन।
आलोकित होवे दिशि सारी ॥जयति॥

बंद ३—इस से सारे क्लेश शमन हों।
दुर्मति दानव द्वेष दमन हों।
अति उज्ज्वल अति पावन मन हों।
प्रेमतरंग वहे सुखकारी ॥ जयति ॥

बंद ४—इसी ध्वजा के नीचे आकर।
ऊंच नीच का भेद भुलाकर।
मिले विश्व-मुद मंगल गा कर।
पंथाई पाखण्ड विसारी ॥ जयति ॥

आहा! आर्य-समाजियों ने कितनी आशाएं अपनी ध्वजासे लगाई हुई हैं! **इसे गुरु ही तो माना है!** परंतु स्वामीजी संघवालोंकी गुरु-पूजा पर आक्षेप करते हैं! कदाचित् उनका मत है कि आर्यसमाज का रक्त-वर्णीय झंडा तो गुरु बन सकता है, परंतु संघवालों के गेरुए झंडेमें यह बल नहीं!! आर्यसमाजी अपने झंडे के नीचे तो उक्त आन बान शान को प्राप्त कर सकते हैं, परंतु संघ का झंडा उन्हें ये प्राप्त करा नहीं सकता!!!

२. संघवाले कहते हैं "जीवित जातियां अपनी ध्वजा की रक्षा के लिये जानें तक लडा देती हैं। हम इस झण्डे को अपना गुरु और नेता मानते हैं।", आर्य-ध्वज गीत इसकाभी समर्थन करता है!

बंद १. जयति ओम् ध्वज व्योमविहारी।
विश्व-प्रेम-प्रतिमा अति प्यारी ॥ जयति ॥
सत्य सुधा बरसाने वाला।
विश्व-विमोहक भव-भय-हारी ॥ जयति ॥

अर्थ— ध्वजारोहणके समय आर्यसमाजी ध्वजके प्रति गाते हैं कि "संसार को मोहनेवाली, भवसागरके भयको हटानेवाली सत्य का अमृत वर्षानेवाली, संसार के प्रेम की जो अत्यंत प्रिय

मूर्ति आकाश में उडनेवाली ओम् की ध्वजा है, वह विजय कर रही है।" सत्य का ग्रहण कराके संसार के दुःखोंसे छुडानेवाला गुरु ही होता है, और आर्यसमाजी **अपने लाल झण्डे** को अवश्य ही गुरु मानते हैं, परंतु अन्धविश्वास तथा साम्प्रदायिक पक्षपात के कारण उन्हें वही गुण भगवे झण्डे में नहीं दीखते! आर्यसमाजी मूर्तिपूजा नहीं करते, परंतु **अपने झण्डे को मूर्ति समझते हैं,** आरोहण के समय उसपर पुष्पमाला चढाते हैं, बैंड बाजा बजाते हैं, उसके सामने खडे होकर भजन गाते हैं, जलूसोंमें उसे आगे करके आप उसके पीछे पीछे चलते हैं, और यदि लडाई झगडेमें कोई झण्डा छीन लेजाय तो बुरा भी मानते हैं!!! परंतु इतना होते हुए भी संघवालोंका उसे गुरु और नेता मानना, और उसके लिए जान तक लडा देना स्वामीजी बुरा मनाते तथा इन कृत्यों को मूर्तिपूजा बताते हैं। अर्थात् वे आर्य समाजियों को शिक्षा देते हैं कि उत्सवोंमें झण्डे अवश्य निकालो परंतु यदि कोई तुमसे झण्डा छीनना चाहे तो उसे लेजाने दो, वरन् मूर्तिपूजक समझे जाओगे!! और इस शिक्षासे सारा आर्यसमाजी जगत् सहमत है; कारण गत ७ मासों में किसीने भी स्वामीजी के इस अद्भुत लेख की आलोचना नहीं की।

३. संघवाले कहते हैं "आर्य-संस्कृति में संन्यासियों का बडा मान है। संन्यासी गेरुए कपडे पहनते हैं। हमारे झण्डे का रंग भी गेरुआ है"। आर्यसमाजी भी ऐसा मानते हैं। आर्य-संन्यासी भी गेरुए वस्त्र धारण करते हैं। एक संन्यासी की संस्था होने के कारण आर्यसमाजी भी गेरुए रंग की ध्वजा रखते थे, परंतु श्री नारायण स्वामीजी के एक लेख ने उन्हें पथ-भ्रष्ट कर दिया है। उन्हें फिरसे गेरुए ध्वज को अपनाना चाहिए! क्यों? इसपर फिर कभी सप्रमाण लिखेंगे।

४. श्री स्वामीजी को संघके झण्डे की सलामी और उसपर फूल चढाना बुरा लगता है, परंतु हमने ऊपर बताया है कि ये काम आर्यसमाजमें भी होते हैं!

५. स्वामीजी संघके झण्डे को "एक लकडी का टुकडा, धक्का देने से गिर जानेवाला, जड-स्वरूप तथा निरुद्देश्य समझते हैं" परंतु आर्य-ध्वज गीतमें ऐसा गाना सर्वथा उचित जानते हैं!

बंद ५—इसी ध्वज को लेकर करमें।
भर दें वेद-ज्ञान घर घर में।
सुभग शान्ति फैले जग भर में।
मिटे अविद्याकी अन्धियारी ॥ जयति ॥

बंद ६—विश्व-प्रेम का पाठ पढावें।
सत्य अहिंसा को अपनावें।
जग में जीवन-ज्योत जगावें।
त्यागपूर्ण हो वृत्ति हमारी ॥ जयति ॥

बंद ७—आर्य जाति का सुयश अक्षय हो।
आर्य-ध्वजा की अविचल जय हो।
आर्य-जनोंका ध्रुव निश्चय हो।
आर्य-बनावें वसुधा सारी ॥ जयति ॥

आहा! आर्यध्वज में कितने गुण आरोपित किये गये हैं! कितने उद्देश्यों को लिये हुए यह आर्य-ध्वज है!! इसके विपरीत स्वामीजी का कथन है कि संघवालोंका ध्वज तो एक निरुद्देश्य लकडी का टुकडा ही है जो कि धक्का देनेसे गिर भी जाया करता है! अर्थात् आर्य-ध्वज न लकडी का टुकडा है और न धक्का देनेसे गिरता ही है—सर्वगुणसम्पन्न जो हुआ! साम्प्रदायिक पक्षपात की पराकाष्ठा है!!

६. स्वामीजी लिखते हैं "ऐसे जड रूप निरुद्देश्य कपडे और लकडी के टुकडे को आराध्य देव के स्थान पर पुजवाना, नवयुवकों के हृदय में भयंकर विष का संचार करना है।"

ऊपर स्वयं स्वामीजी ने लिखा है कि संघवाले झण्डेको गुरु और नेता मानकर उसकी पूजा करते हैं अतः अब उनका ऐसा लिखना कि संघवाले झंडेको **आराध्य देव परमात्मा समझकर** पूजते हैं, कहांतक सत्य को लिये हुए है, उसपर पाठकगण स्वयं ही विचार करें।

७. आर्यसमाजका यह ध्वज-गीत आक्टोबर १९३३ में ऋषि दयानन्द-निर्वाण-अर्ध-शताब्दिके अवसर पर श्री सार्वदेशिक आ० प्र० सभा की ओर से विशेषतया रचाया गया था, और तब से अबतक हर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर ध्वजारोहण के समय गाया जाता है। इस गीतमें आर्यध्वजको **ईश्वरीय गुणोंसे परिपूर्ण** माना गया है! परंतु संघवाले अपने ध्वजको गुरु और नेता मानते हैं, यह बात श्री स्वामीजी को नहीं भाती! अपने और पराये का भेद सांप्रदायिक लोगोंमें होना सम्भव है, परंतु एक आर्य संन्यासी को इसमें इतना उलझना उचित नहीं, कि सत्यासत्य का भान भी जाता रहे। यदि संघवालों के झण्डे से आर्य समाजको खतरा दीख रहा है तो **आर्यध्वजमें उससे कहीं अधिक खतरा स्वयं आर्यसमाजियोंने भर दिया है,** यह आज हमने दिखाने का प्रयत्न किया है।

मानव-समाजमें स्त्रियोंकी स्थिति

(लेखिका- **पण्डिता श्रीमती वाजिनी देवी जी**, विद्या-विभूषिता, अं.ध.)

(१) मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ॥
(ऋ० १०।१५९।३)

(२) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
(मनु० ३।५६)

(१) **अर्थ**-मेरे पुत्र शत्रु-नाशक और पुत्री विशेष गुणोंसे सुशोभित हों ।

(२) **अर्थ**-जहाँ नारियाँ पूजी जाती हैं, वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ ये नहीं पूजी जातीं वहाँ सारी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं ।

समाज में स्त्रियों का क्या स्थान होना चाहिए यह प्रश्न हमारे लिए कोई नवीन नहीं, अपितु सब स्थानों मे एवं सब धर्मों में यह एक कठिन समस्या बन रही है । लगभग सभी स्थानों में स्त्रियों की कुछ नीची ही स्थिति समझी जाती रही है । मुहम्मद से पूर्व अरब में स्त्रियों की अवस्था अत्यन्त शोचनीय एवं करुणाजनक थी। यहाँ तक कि पुत्री का जन्म होना अपशकुन समझा जाता था, और उस अपशकुन के लिये आँसू बहाये बिना नहीं रहते थे । स्त्रियों की इस हीन स्थिति का परिणाम इस्लाम धर्म में भी कुछ अच्छा नहीं रहा ।

दुर्भाग्य से मध्ययुग में भी भारतवर्ष में स्त्रियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा, एवं वे पैर की जूती समझीं जाने लगीं। उस समय जब कि भारत की प्राचीन अरुणिमा का धीरे धीरे अन्त हो चला था, मानव-समाज मनु महाराज के उपर्युक्त वचन को बिल्कुल भूल चुका था । अपने प्राचीन वैदिक आदर्शों को भुलाकर भारतवर्ष जिस अज्ञान और अनीति के मार्ग पर अग्रसर होने लगा और अपने किन्ही स्वार्थों की पूर्ति के लिये उसने जो अत्याचार किये उन्हें वर्णन करते हुए लज्जा आती है । स्त्रियों के अधिकारों पर ताला डाल दिया गया, उन्हें कहने-सुनने का अधिकार नहीं था, वे केवल पुरुष की अनुगामिनी होकर अपना जीवन व्यतीत कर सकती थीं। जिस देशकी स्त्रियाँ प्राचीन समय में स्वयं गुरुओं के पास जाकर विद्याग्रहण करती थीं । जैसे उदाहरणस्वरूप—आत्रेयी अपनी किसी सखी के यह पूछने पर कि बहन तुम कहाँ जाना चाहती हो, वह उत्तर देती है—

अस्मिन् अगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे,
भूयांसमुद्गीथविदो वसन्ति ॥
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां,
वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ॥

उस देशकी अवस्था यहाँ तक गिरी कि स्त्रियोंके लिए शिक्षा-दीक्षा तक की आवश्यकता न समझी गई । परिणाम यह हुआ कि उन्हें घर की केवल चार-दिवारी में ही रहना पड़ा, इससे उनके विचार संकुचित एवं निर्बल होते गये । उस युगमें जो साहित्य निर्माण हुआ उसमें स्त्रियोंके प्रति तिरस्कार-सूचक उक्तियोंका प्रयोग किया गया । स्त्रियोंकी दशाका दिग्दर्शन आगेकी सन्ततिको करानेके लिए उसे साहित्यमें स्थिर कर दिया । स्त्रियोंकी इस अवस्थाके कारण हमारा मानव-समाज भी उत्तरोत्तर अवनतिके गर्तमें गिरता गया ।

वर्तमान समयमें आजसे कुछ वर्ष पूर्व उस आनन्दकन्द देशोद्धारक महर्षि दयानन्दका जन्म हुआ, जिसने उन पुराने रीतिरिवाजोंको, पुरानी अन्धपरम्पराओंको जड़से उखाड़ स्त्री-जातिके लिए शिक्षाका द्वार खोल दिया । जब कि " ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताडनके अधिकारी " **" स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम् " "द्वारं किमेकं नरकस्य नारी"** का बोलबाला हो चुका था । तब स्त्री-शिक्षाके प्रबल पुजारीने मानव-समाजमें नवीन रक्तका संचार किया और कहा "नारी-निन्दा मत करो नारी नरकी खान, नारीसे नर ऊपजें ध्रुव प्रह्लाद समान " स्त्रियोंको वेदादि शास्त्र पढनेका पूर्ण अधिकार दिया । आज वह पुराना युग नहीं रहा । यह क्रान्तिका समय है, परन्तु इस क्रान्तिके युगमें भी अन्य देशोंके समान भारतीय समाज स्त्रियोंको अधिकार देनेमें बहुत पीछे है । पुरुषोंके समान अधिकार देनेमें अब भी सन्देह की दृष्टिसे देखा जाता है । जहाँ दूसरे देशोंमें स्त्रियोंको पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी है

वहाँ हमारा देश स्त्री-जाति-सम्बन्धी प्रारम्भिक सुधार भी पूरी तौरसे नहीं कर पाया है।

जब स्त्रियोंके लिए समानाधिकारका प्रश्न आता है तब यह पूछा जाता है कि उन्हें अधिकार क्यों मिलने चाहियें? क्यों कि स्त्री-जाति बुद्धि की दृष्टि से इतनी नीची है कि वह पुरुषके बराबर नहीं खडी हो सकती। वह देश के कल्याणके लिए अपनी तुच्छ बुद्धि से कुछ नहीं विचार सकती आदि आदि विषयों पर पाश्चात्त्य देशोंमें वादविवाद हुआ करता था। किन्तु आजकल उन्हीं देशोंके अनुभवने यह प्रमाणित कर दिया है कि सामाजिक सुधार में स्त्रियोंकी सम्मति पुरुषों की सम्मति से कुछ कम नहीं होती। वहाँ स्त्रियोंको वोट देने का अधिकार है और कभी कभी स्त्रियाँही पुरुषों की अपेक्षा अधिक दूरदर्शिता एवं गहराईके साथ अपने स्वतंत्र विचार उपस्थित करती हैं, तो फिर क्या कारण है कि स्त्री-जातिको प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा न देकर उनके द्वारा मिलनेवाले लाभोंसे पुरुष-समाज अपने आपको वञ्चित रक्खे।

स्त्री-जातिको समानाधिकार देनेमें कई प्रश्न उठाये गये परन्तु वे सब निर्मूल ठहरे। फलस्वरूप उस देशकी स्त्रियोंको स्वतंत्रता दी गई। पुनः सभी कामोंमें स्त्रियोंने भाग लेना आरम्भ किया। यहाँतक कि वे राजसिंहासनपर बैठकर सफलता-पूर्वक कार्य करने लगीं। परिणाम यह निकला कि स्त्रियाँ वकील हो सकती हैं, न्यायाधीश बन सकती हैं, और ऊँचे से ऊँचे पद पर वे निःसंदेह बैठ सकती हैं। ऐसे उदाहरण इतिहासों में प्राप्त होते हैं, पर आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें कूपमंडूक एवं भोगविलास की सामग्री न बनाकर स्वतंत्र क्षेत्र में विचरने दिया जाय, और उनकी स्थिति को परिमित एवं संकुचित न बताकर विस्तृत दिशामें से गुजारा जाय।

वेद बताता है कि स्त्री-जाति ही अपनी संतति द्वारा भावी राष्ट्र की निर्माणकर्त्री है। यदि देश के अन्दर स्त्री जाति उन्नति की ओर जा रही है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह देश के उत्थान का मूल कारण है। स्त्री-जाति में वह शक्ति है, वह ज्योति है, वह आभा है जो अपनी सन्तति को जैसा चाहे वैसा बना सकती है। स्त्री, जाति की रक्षक तथा धर्म की जीती जागती प्रत्यक्ष मूर्ति है। स्त्रीजाति मानव-समाज की नींव है। इसलिये यदि मानव-समाज उन्नति चाहता है तो यह आवश्यक है कि स्त्री-समाज को अधिक से अधिक ऊँचा उठने दिया जाय। यद्यपि स्त्री-शिक्षा का प्रचार विशेषरूप से हो रहा है पहिले की भाँति उनके द्वार अब बन्द नहीं हैं, तथापि यदि पुरुष स्त्री-जाति के उत्थान को गौरव समझने लगें तथा स्त्रियाँ स्वयं अपने स्वत्व एवं अधिकारद्वारा समाज की बागडोर को संभालें तो इसमें मानव-समाज एवं स्त्री-समाज का कल्याण है।

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टि का मौलिक वा आदिधर्म है

संसारकी जातियों में कृष्ण। आदि सृष्टि में सबकी एक लिपि एक भाषा, एक जाति, एक धर्म था !!!

(लेखक– श्री० गणपतराव बा० गोरे, औंध, जि० सातारा)

खण्ड ७ यहूदियों ईसाइयों तुर्कों तथा मुसलमानोंमें कृष्ण।

प्रश्न- आर्यजाति निःसन्देह बडी भाग्यवान है कि उसे बाइबल तथा कुर्आन में राम के दर्शन हुए! कुर्आन में तो उसने सीता गरुड तथा हनुमान को भी विद्यमान पाया!! यह चमत्कार देखकर अब कृष्णभक्त भी अपने पूज्य देव के दर्शनों के लिये उत्सुक हो रहे हैं। क्या उन की अभिलाषा भी पूरी कर सकोगे ?

उत्तर- यदि हमारा यह विश्वास कि वैदिक धर्म ही सृष्टि के मतमतान्तरों का मूल स्रोत [Fountain head] है सत्य है, तो श्री कृष्ण महाराज भी भिन्न भिन्न जातियों तथा भाषाओं के भिन्न भिन्न रूपों में अवश्यमेव झलक पडेंगे।

२. Secret Doctrine [गुप्त सिद्धान्त] पुस्तक के अनुसार आज सन १९४४ में श्री कृष्णजी को मथुरा नगरी में उत्पन्न हुए पूरे १३२८७ वर्ष बीत चुके हैं। अपने ५६ वर्ष की आयु में अर्थात् आज से १३२३१ वर्षपूर्व × गीता का ज्ञान अर्जुन को सुनाया था। सेमेटिक जातियां [यहूदी ईसाई मुसलमान] तो सृष्टि को ही ७००० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ मानती हैं! अतः इस विचारानुसार भी इन के साहित्य में कृष्णजी की उपस्थिती संभव है।

३. परन्तु कृष्णभक्तो ! कृष्ण तो योगेश्वर थे। जिस कृष्ण ने कुरुक्षेत्र की रणभूमि में खडे खडे अपने सहस्रों रूप+ अर्जुन को दिखा दिये, ऐसे बहुरूपिये को क्या आप आज किसी एक रूप में देख सकेंगे ? असम्भव!

४. बाइबल तथा कुर्आन में तो उसे फिर ढूंढ लेना। पहिले यह तो देखो कि आप के घर भारत वर्ष में रहते हुए ही वह कहां कहां किस किस प्रकार भेस बदल चुका है! तत्पश्चात् ही बाइबल तथा कुर्आन आदि की खोज सफल होगी अन्यथा नहीं।

५. संसार के धार्मिक साहित्य तथा जातियों में कृष्ण शब्द के रूपान्तर

(१) कृष्णः– यह संस्कृत का मूल शब्द है। 'कृष्' धातु से बना है, जिस का अर्थ है- To draw, drag, pull = अपनी ओर घसीटना वा खैंचना। To draw towards oneself; To attract = अपनी ओर आकर्षण करना। To lead or conduct (as an army) = (सेना आदि) का नेतृत्व करना। कृष्णः = १. विष्णु का ८ वां अवतार जो कि वासुदेव (सब में बसनेहारे = सर्वव्यापक परमात्मा) तथा देवकी [देव की शक्ति = प्रकृति] के संयोग से उत्पन्न हुआ! २. The supreme spirit = परब्रह्म। ३. काला वा गूढ नीला रंग। (आप्टे)

महाराष्ट्र आदि देशों में जहां भी संस्कृत भाषाकी जानकारी पर्याप्त मात्रा में है, वहां यह शब्द आजतक शुद्ध उच्चारा जाता है।

परन्तु उत्तरीय भारत में क्रिशन, किशन, किसन,

×देखो श्री नारायण दलपतराम भगत अहमदाबाद का लेख 'कुछ विचार-संग्रह,' वैदिक धर्म, मार्च १९३३ के अंक में।

+अर्जुन ने कहा 'हे पुरुषोत्तम ! मेरी इच्छा है कि आपका ईश्वरीय रूप देखूं।' (गीता ११।३) कृष्णजीने उत्तर दिया हे पार्थ! [एक क्यों ?] मेरे नाना प्रकार के नाना रंगों और आकृतियों से युक्त सैंकडों और सहस्रों दिव्य रूप देखले! (गीता ११।५)

कन्हई, कन्हया आदि कृष्ण शब्द के अनेक विगाड उत्पन्न हो चुके हैं। कच्छ काठियावाड तथा गुजराथ में इसे करसन कहते हैं। सिंध में ' किशिन, कान, कनयो ' कहते हैं।

(२) कानन=The mouth of Brahma = ब्रह्मका मुख (आगे)। कृष्णजी सूर्य = विष्णु के अवतार होने से ब्रह्मा के मुख भी हैं। उत्तर भारत में यह शब्द कान्ह बन गया है। पंजाब, राजपुताना, सिन्धु, यू० पी० आदि प्रान्तों में लोग कानसिंह, कानमल आदि नाम रखते हैं। कहीं और छोटा करके इसे कनु बनाया गया है और कनु-मल कनुसिंह आदि नाम भी रखे जाते हैं। बाइबल में यह शब्द केनन बन गया है, तथा इतिहास भाग ' के २। ५५ में कहा है कि, Tirathites=तीर्थ करनेवाले आदि, Hemath [हेमंत ?] के वंशवाले Kenites=कृष्ण को माननेवाले है। कन्कार्डन्स में लिखा है कि ह० इब्राहीम × के दिनों में जो दस जातियां फलस्तीन में रहा करती थीं उन में से एक जाति केनाइट [कृष्ण को माननेवाली *] थी।

Ke nan [केनन=कृष्ण] Enosh = इनोश के पुत्र तथा ह० आदम के परपौत्र का नाम है जो ई० स० पू० ३६७९-२७९४ वर्ष हो गुजरा है। +

Ca' na = कान एक गांव का नाम है॥ योहन ४।४६॥

Kan'ah = कनाह एक छोटी नदी है। (यहोशू १६।८) एक नगर है॥ (यहोशू १९।२८)

कृष्ण वा कान के इतने रूपान्तर बाइबल में मिलते है। परन्तु–

कान हिन्दी भाषा का शब्द है। दि न्यू रायल डिक्शनरी में इसके अर्थ है–

खाविन्द =Husband [पति]; गोश=Ear, कर्ण = A mine, a quarry=खाण = जहां से कोई वस्तु मिले; Source=मम्बा=स्रोत = चश्मा।

पाठक जान सकते हैं कि प्रायः ये सभी अर्थ कृष्ण वा सूर्य पर घट सकते हैं। वही इस पृथिवी तथा उसके समस्त पदार्थों का आदि मूल है।

कुर्आन में कान

कान शब्द कुर्आन में भी आया है, परन्तु इस शब्द को न समझने के कारण कुर्आन के भाष्यकारों ने इसके भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। अरबी शब्द हैं कान अन्नासु उम्मतं वाहिदतं। २।२१३

अर्थ = शाह रफीउद्दीन– (कान) थे (अन्नासु) लोग (उम्मत) उम्मत [जाति वा धर्म] (वाहिदतं) एक।

अर्थात् " लोग एक धर्म को माननेवाले थे। "

अर्थ = मराठी कुर्आन– (सृष्ट्यारंभमें सब) लोग एक ही पंथ के थे। [यहां भी ' कान ' का अर्थ ' थे ' किया गया है]

सिन्धी कुर्आन का अर्थ मराठी के सदृश है।

हाफिज नजीर अहमद का उर्दू अर्थ– (शुरू में सब) लोग एक ही दीन रखते थे। [यहां भी ' कान ' का अर्थ ' थे ' किया है]

ह० हसन निजामी का हिन्दी अर्थ– (आदि सृष्टि में) समस्त आदम के वंशवाले एक नियम और एक विश्वास के अनुयायी थे। किसी प्रकार का उन में भेद-भाव न था। [यहां भी ' कान ' का अर्थ 'थे' किया है।]

उक्त पांचों अर्थों का खण्डन।

१. अरबी उर्दू डिक्शनरी में कान्न वा कानका अर्थ है गोया कि [As if] मानो (फर्ज कर लो) [Suppose]' नीचे उदाहरण दिया है कि " कान्न जैदं असदं" का अर्थ है कि " गोया जैद शेर है " [इस कोश के अनुसार ' कान ' का अर्थ ' थे ' वा है दोनों ही नहीं!]

२. फारसी शब्दकोश जवाहिरुलुगात में कान का अर्थ खान [quarry] है। वहां भी 'थे' अर्थ नहीं।

× Abraham= ह० इब्राहीम ई० सन पूर्व १९९६में उत्पन्न हुए और १८२१में १७५ वर्षकी आयुमें मरे। कन्कार्डन्स॥

* Ke-nites=Belonging to Ken or qen one of the ten tribes of Palestine in the time of Abraham (Analytical concordance)

+ कन्कार्डन्स

३. मौ० मुहम्मदअली ने कुर्आन २।२१३ के उपर्युक्त शब्दों का अर्थ इस प्रकार किया है-

(All) people are a single nation.

अर्थ- (सब) लोग एक धर्म वा जाति के हैं।

[आपने 'कान' का अर्थ 'थे' के स्थान में 'है' कर दिया और बाद टीप सं० २७१ में लिख दिया कि 'यह बात नहीं कि कान शब्द अवश्य ही भूतकाल दिखाता हो। पवित्र कुर्आन में प्रायः यह शब्द साधारण सत्य के विचार दर्शाने के कार्य में उपयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ कानुल् इन्सान कफ़ूरा का अर्थ है Man is ungrateful=मनुष्य कृतघ्न है।'

कुर्आनी 'कान' भारतीय 'कृष्ण' है, इसके प्रमाण

१. कुर्आन के ५ भाष्यकार २।२१३ में 'कान' का अर्थ 'थे' करते हैं, एक 'हैं' करता है और अरबी-उर्दू कोश 'फर्ज करो, मानो, Suppose, as if' करता है। फारसी-कोश खान बताता है। इस से स्पष्ट है कि इस शब्द के अर्थों में स्वयं मुसलमान-भाष्यकारों और कोशकारों में मतभेद है।

२. हमारा विचार है कि कुर्आन के उपर्युक्त छहों अर्थकारों के अर्थ अशुद्ध हैं! इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये हम कुर्आन २।२१३ का स्वयं मुसलमानों का किया हुआ अक्षरशः अनुवाद देकर उस पर वाद करेंगे, जिस से स्वयमेव सत्य प्रकट हो जायगा। अर्थकारों ने अपने उद्देश्य-पूर्ति के लिये कई शब्द कोंसों में अपनी ओर से मिलाकर अर्थ किया है, जो अर्थ का अनर्थ करनेवाले हैं। अक्षरशः अनुवाद इस प्रकार होगा-

मुस्लीम अर्थकारोंका अक्षरशः अनुवाद

'लोग एक धर्म के थे। फिर अल्लाह ने पैगम्बरों को भेजा। वे सुवार्ता तथा भय दिखाते थे और उस [अल्लाह] ने उन के साथ सत्य से युक्त पुस्तक भेजी, इसलिये कि वह पुस्तक जिन बातों में उनका मतभेद है, उस पर अपनी व्यवस्था वा आज्ञा दे॥ और जिन लोगों को पुस्तक दी गई थी, वही (लोग) × अपने पास स्पष्ट आज्ञा आने के पश्चात्, अपने हठ [दुराग्रह] के कारण उस में मत-भेद करने लगे। परन्तु जिन के हृदयों में ईमान [श्रद्धा] था, ऐसे मत-भेद करनेवालों को अल्लाह ने सत्य मार्ग अपनी आज्ञा से दिखा दिया। अल्लाह जिसे चाहता है उसे सीधा मार्ग दिखाता है। २१३।

हमारे उक्त शब्दार्थ की सत्यता प्रमाणित करनेके लिये हम मौ० मु० अली का आंग्लभाष्य भी नीचे देते हैं--

(All) people are a single nation; so Allah raised prophets as bearers of good news and as warners, and He revealed with them the book with truth, that it might judge between people in that in which they differed; and none but the very people who were given it differed about it after clear arguments had come to them, revolting among themselves; so Allah has guided by his will those who believe to the truth about which they differed; and Allah guides whom He pleases to the right path. 2--213

उक्त हिन्दी तथा आंग्ल अर्थों पर हमारे आक्षेप-

१. हिन्दी तथा आंग्ल भाषा के पहले वाक्य का अर्थों से मिलान करने पर समझ में आ जायगा कि वर्णन भूतकालीन है, अतः मौ० मु० अली का अर्थ अशुद्ध है। 'लोग एक धर्म के थे' यही अर्थ शुद्ध है।

२. अब प्रश्न होगा कि यदि वे 'एक ही [सत्य] धर्म के माननेवाले थे, तो नये पैगम्बरों को भेजने की आवश्यकता क्यों पडी? कुर्आन उस को अन्य भी तो नहीं कहता।

३. उस एक [सत्य] धर्मके माननेवालोंको कौनसी नयी सुवार्ता सुनाई जाती थी, जो वे पूर्व नहीं जानते थे? उन्हें डराने धमकाने की जरूरत क्यों पडी? क्या इसलिये कि वे अपने उस एक सत्य धर्म को त्यागकर पथ-भ्रष्ट हो जायँ?

४. अल्लाहने उन [पैगम्बरों] के साथ सत्य से युक्त पुस्तक भेजी। इस से क्या ऐसा समझा जाय कि

× वही लोग=यहूदी, ईसाई आदि।

उन एक धर्म के माननेवालों पर अल्लाहने स्वयमेव झूठी पुस्तक भेजी थी?

५. कुर्आन कहता है कि मत-भेद पर व्यवस्था देनेके लिये यह नयी पुस्तक भेजी गई! परन्तु आरम्भ में कहा है कि लोग एक धर्म के थे अर्थात् उन में मत-भेद तो था ही नहीं! किसे सत्य माना जाय?

६. [कुर्आन तो ह० आदम से लेकर ह० मुहम्मदतक सभी पैगम्बरों तथा उनकी पुस्तकोंको सच्ची और माननीय समझता है। फिर भला ऐसा नया सत्य लेकर जो कि पूर्व की पुस्तकों में न बताया गया हो, पैगम्बरों का भेजा जाना किस प्रकार संभव है?]

७. फिर जिन लोगों को पुस्तक दी गई वही ... मत-भेद करने लगे, ये कुर्आनके शब्द क्या यही बात सिद्ध नहीं कर रहे, कि मानव-धर्म की एकता स्थिर रखनेके योग्य वही एक आदि धर्म था? क्या इन शब्दों से कुर्आन स्वयमेव इस बात को नहीं मान रहा कि इन नये भेजे हुए पैगम्बरों तथा उनकी पुस्तकों ने मनुष्यजाति में फूट का बीज बोया?

८. ईमानवालों को अल्लाहने सत्य मार्ग दिखा दिया कुर्आन के इन शब्दों का क्या ऐसा अर्थ नहीं निकलता कि अन्ध श्रद्धालुओंने इन नये पैगम्बरों तथा उनकी पुस्तकों को मान लिया और जो लोग तार्किक बुद्धि रखते थे वे इनसे सन्तुष्ट न हो सके?

९. अल्लाह जिसे चाहता है उसे सीधा मार्ग दिखाता है, यह कुर्आन का कथन सत्य है, परन्तु प्रश्न यह है कि उन एक धर्म के माननेवालों से अल्लाह रूठे किस कारण? और रूठ कर नये पैगम्बरों और पुस्तकों को भेजने का परिणाम भी तो यही निकला न कि उन्हीं लोगों में मत-भेद बढ गया।

अस्तु! कान शब्द का अर्थ थे वा है करने से इतने आक्षेप होते हैं। विदित रहे कि हम किसी अर्थ को झुटलाना नहीं चाहते, हम तो इस कान शब्द के अर्थों को बढा कर उस का एक अर्थ कृष्ण भी हो सकता है, ऐसा निवेदन करना चाहते हैं।

हमारा अर्थ- (कान अन्नासु,) कृष्ण के लोग [उस को माननेवाले] (उम्मतं वाहिदतं) एक धर्म वा जाति के थे। (२।२१३)

प्रश्न- आपने थे अर्थ किस शब्द का किया?

उत्तर- थे वा है ऐसा अर्थ वाक्य के मूल शब्दों [मत=Text] पर विचार कर के किया जाता है। उपयुक्त उदाहरण कान्न जैदं असदं का अर्थ है गोया जैद सिंह है। परन्तु यहां 'है' के लिये अरबी Text में कोई शब्द नहीं!

अल्हम्दु लिल्लाहि रब्बिल् आलमीन्॥ कुर्आन १।१॥

अर्थ- सब स्तुति अल्लाह के लिये है, जो पालन करने हारा है सब संसार का।१

यहां दो जगह जो 'है' शब्द आया है वह मूल अरबी में नहीं है।

प्रश्न- अपने कान अन्नासु का अर्थ कृष्ण के लोग किया है, परन्तु होना चाहिए लोगों का कृष्ण।

उत्तर- फिर अर्थ होगा लोगों का कृष्ण एक [वैदिक] धर्म को [माननेवाला] था। इस में भी हमारी हानि नहीं। परन्तु जब ह० हसन निजामी "(आदि सृष्टि में) समस्त आदम के वंशवाले" इतने शब्द अपनी ओर से मिलाकर अर्थ कर सकते हैं, तो क्या हम कान अन्नासु, का अर्थ कृष्ण के लोग नहीं कर सकते?

केवल एक ह० शाह रफीउद्दीन सा०ने निम्न विभिन्न अर्थ कान शब्द के किये हैं-

१. कान=है। देखो सूरत सं० ३, ४, १७, ३३, ११० आदि
२. ,, =था। ,, ,, ,, २,३,१७, आदि॥
३. ,, =लायक वा योग्य ३,३३ ,,
४. ,, =उस व्यक्ति के ५४।१४॥, ['For him who Md. Ali]

५-६ कान्न = गोया कि। मानों [अरबी-उर्दु कोशकार के अनुसार] कई स्थानों में अर्थ किया है।

७. ढूंढनेसे कुर्आन में और भी भिन्न अर्थ मिल सकेंगे। अतः हमारा विश्वास है कि कान शब्द कृष्ण, खैंचनेवाले आदि अर्थों में भी कुर्आन में उपयुक्त हो सकता है और

ऐसे अर्थ करने से कुर्आन का अर्थ निर्दोष हो जाता है। अतः इस अर्थ को भी अपनाना चाहिये।

ऐसा अर्थ करने से सारी आयत का अर्थ किस प्रकार सुसंगत हो जाता है सो अब देखिये-

आयत २।२१३ का हमारा भावार्थ- कृष्णके माननेवाले एक धर्म तथा जाति के थे। परन्तु अल्लाह ने [उन में फूट डालने के लिये] नये पैगम्बरों को भेजा। वे [अपने धर्म की] सुवार्ता दिखा कर उन्हें [स्वधर्म में रहने का] भय दिलाने लगे। [उन्होंने कहा कि] जो पुस्तक हम को अल्लाहने दी है वही सत्य से युक्त है और वही पुस्तक तुम्हारी सब शंकाएं निवृत्त करेगी। परन्तु [बात ऐसी बनी की जिन यहूदियों ईसाइयों आदि को] अल्लाहने नयी नयी पुस्तकें देकर भेजा था, वे आपस में ही लडने लगे [और कृष्ण के माननेवालों = सनातन धर्मियों को अपने धर्म में ला न सके ! इसका परिणाम यह हुआ कि] श्रद्धालु लोग ही अल्लाह के नये दिखाये हुए मार्ग पर स्थिर रहे। अल्लाह जिसे चाहता है उसे सन्मार्ग दिखाता है।२१३॥

हमारा विचार है कि यह भावार्थ सरल है और इस पर उपर्युक्त ९ आक्षेपों में से एक भी नहीं घट सकता ! यह अर्थ इतिहास से भी प्रमाणित किया जा सकता है। और आज भी सम्प्रदायी लोग इसी प्रकार अपने अपने मत का प्रचार किया करते हैं। सीधी बात है कि अल्लाहने जब यहूदी, ईसाई दीन का प्रचार करना ठाना, तब उन उन पैगम्बरों को किया रवाना।

प्रश्न- आपने तो स्वयं अल्लाह पर ही तीव्र लाञ्छन लगा दिया।

क्या अल्लाह मनुष्यों में फूट डाला करता है ?

उत्तर- १. हमने नहीं लगाया। स्वयं कुर्आन ऐसा करता है ! पढिए मुस्लिम अर्थकारों का अक्षरशः अनुवाद और उस पर किये गये हमारे आक्षेप।

२. मुसलमान कुर्आन की आज्ञानुसार बाइबल को भी अल्लाह की पुस्तक मानते हैं। यहोवा और अल्लाह को अभिन्न समझते हैं और बाइबल के समस्त पैगम्बरों को अल्लाह की ओर से प्रेषित जानते हैं।

कुर्आन २।२१३ का मूल हमें बाइबल में मिलता है !! कुर्आन में कहा है कि लोग एक धर्म के थे। अर्थापत्ती से यही अर्थ निकलता है कि उनकी लिपि तथा भाषा भी एक थी ! अब यहोवा वा अल्लाहने उनकी भाषा बिगाडकर उन्हें सारी पृथ्वीपर छिन्न भिन्न करके उनमें कैसे फूट डाली- यह वृत्तान्त बाइबल के ही शब्दों में इस प्रकार है-

'सारी पृथिवी पर एक ही लिपि×तथा एक ही बोली+ थी।१। फिर उन्हों ने कहा कि आओ हम एक नगर और एक गुम्मट बनालें जिसकी चोटी आकाश से बातें करें। इस प्रकार से हम अपना नाम करें...।४। जब आदमी नगर और गुम्मट बनाने लगे, तब इन्हें देखनेके लिए यहोवा उतर आया।५। और यहोवा ने कहा मैं क्या देखता हूं कि सब एकही दल के§और भाषा भी उन सबकी एक ही है...।६। सो आओ हम उतर के उन की भाषा में वहीं गडबड डालें कि वे एक दूसरे की बोली को न समझ सकें।७। सो यहोवाने उनको वहांसे सारी पृथिवीके ऊपर फैला दिया, और उन्होंने उस नगर का बनाना छोड दिया।८। इस कारण उस नगरका नाम बाबेल *(गडबड) पडा क्योंकि सारी पृथिवी की भाषा में जो गडबड है, सो यहोवा ने वहीं डाली और वहीं से यहोवाने मनुष्योंको सारी पृथिवी के ऊपर फैला दिया।९।' (बाइबल उत्पत्ति। अ० ११)

कुर्आन २।२१३ की विस्तृत व्याख्या तथा मूलाधार बाइबल का यह वर्णन है ! इसमें कहा है कि उन एक दल [जाति वा धर्म] वालों की एक ही लिपि और एक ही भाषा थी। हमारी धारणा है कि वह एक लिपि देवनागरी लिपि और वह एक भाषा संस्कृत भाषा

× इब्रानी= LIP। संस्कृत=लिपि॥

+ इब्रानी WORDS = आंग्ल speech = संस्कृत भाषा।

§ ये मोटे शब्द ही कुर्आन २।२१३ के आरंभिक शब्द " लोग एक धर्म वा जाति के थे " का आधार हैं।

* Babylonia

थी। क्यों? इसलिये कि सृष्ट्यारंभ से येही चली आती है। कान वा कृष्ण देवनागरीलिपिमें ही लिखा करते तथा संस्कृत भाषामें ही बोला करते थे। अत: हमारा अर्थ स्वयं बाइबलसे भी समर्थित हुआ कि कुर्आन २।२१३ में कान अन्नासु, उम्मतं वाहिदतं का अर्थ कृष्ण के लोग एक धर्म वा जाति के थे ऐसा करने में कोई आपत्ति नहीं आती। आपत्ति तो उन के लिये है जो ऐसा नहीं मानते। क्या वे बता सकते हैं कि वह कौनसी एक जाति, धर्म, दल, लिपि या भाषा थी?

२. क्या बाइबल नहीं कहता कि लोगों की एक भाषा, एक लिपि, एक धर्म, एक जाति देखकर यहोवा वा अल्लाह को ईर्षा और द्वेष उत्पन्न हुआ? वे आकाशचुम्बी गुम्मट (मिनार = Tower) बनाना और एक बडा नगर बसाना चाहते थे। परन्तु मनुष्यों की यह उन्नति उसे सहन न हुई, और उसने क्रोधमें आ कर न केवल मनुष्यों की भाषा में बिगाड उत्पन्न कर के उन में फूट डाली, अपितु उन्हें उस नगर से निकाल कर सारे संसार में बखेर दिया कि फिर कभी आपस में संघटित न हो सके!

प्रश्न- यह असंघटित अनेक लिपियों को अपनाने तथा अनेक भाषायें बोलनेवाली जाति कौन सी है?

उत्तर- हिन्दू जाति!

अतः इस प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा फिर सिद्ध हुआ कि कुर्आन २।२१३ में कान अन्नासु, का अर्थ कृष्ण के अनुयायी ही होना उचित है! अन्यथा संसार में ऐसी कोई दूसरी बडी जाति बताओ जिस में बाइबलका उपर्युक्त सारा वर्णन आज भी घटता हो।

३. लान्छन हमने नहीं लगाया। जैसा बाइबल ने यहोवा का स्वभाव दर्शाया, उसी प्रकार कुर्आन ने भी अल्लाहका वर्णन किया! हमारा अर्थ तो बाइबल तथा कुर्आन दोनोंको सच्चा सिद्ध करता है। और कुर्आन के भाष्यकार स्वयं कुर्आन पर आक्षेप करवाते हैं!

बाइबल तथा कुर्आन में 'काहन' शब्द।

(३) संस्कृत में कार्ष्ण=Belonging to Krishna or Vishnu=कृष्ण वा विष्णुसे सम्बन्ध रखनेवाला।

(४) कार्ष्ण्य=Blackness; darkness कालिमा, कालक। ॥ आप्टे ॥

भाषाओं में 'स' वा 'ष' का 'ह' में रूपान्तर होता है, जैसे संस्कृत 'सप्त' का फारसी में 'हफ्त' होना। अतः कार्ष्णसे काह्न और फिर 'काहन' बन गया।

बायबल में- ह० आदम तथा बीबी हव्वा से जो ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम बाइबल में Cain= काइन, तथा कुर्आन में काबेल बताया हुआ है। काइन् शब्द काहन का ही रूपान्तर है। क्यों? उत्पत्ति ४।२-५ तक पढने से ज्ञात होता है कि वह काहन वा कृष्ण के समान निरामिष भोजी था और उसने यहोवा वा अल्लाह को फलों का भोग लगाया था परन्तु यहोवा को वह नहीं भाया, क्योंकि यह मांसभक्षी था।

२. Enos = एनोस के पुत्र और सेठ के प्रपौत्र का नाम काइनन् वा केनन् (Ca- nan or Kenan) था जो कि ई० स० पूर्व ३६७९ वर्ष में उत्पन्न हुआ था +। यह संस्कृत कानन् का रूपान्तर है।

(देखो उत्पत्ति अध्याय५)

३. हाम के पुत्र और नोह (मनु) को प्रपौत्र का नाम Ca–na'an कनाअन था जो कि ई० स० पू० २३०० वर्ष उत्पन्न हुआ था +।

(देखो उत्पत्ति अ० ९) यह भी कानन् वा कन्हय्या शब्द का रूपान्तर दीखता है।

४. यह कन्हय्याका सम्प्रदाय फैल गया। उन्होंने कनअन (canaan) नाम का नगर बसाया। उत्पत्ति (१०।१८-१९)

कुर्आन हदीस आदि अरबी साहित्य में काहन शब्द।

१, अरबी-उर्दू कोश में— कनअ, यक्न उ, कुनूअं = इकट्ठा होना, सिमटना, समीप होना।

कन्नअ = खूब पकडना, दबाना ('कृष्मः', के शब्द अर्थ भी यही हैं!!!)

कन्अन = साम पुत्र नोह के बेटे का नाम। एकजगह

+ कन्कार्डन्स

× क्या आजतक किसे पता था कि यह Canaan कन्आन नगर कृष्ण के नाम पर आर्यों ने बसाया था?

का नाम जहां ह० इब्राहीम भेजे गये थे और जो ह० यूसफ का देश था।

अल् कन्आनिय्यून– कन्आन [कृष्ण] के वंश के लोग।

कहन, यक्हुनु = पादरी+या काहन या ज्योतिषी होना। या गैब [रहस्य वा परोक्ष] की बात बतानेवाला होना। पेशीन् गोई करना [भविष्य की बात बताना]। गैबकी [छिपी हुई] बात बताना।

काहिन = गैबकी बात बतानेवाला। भविष्य बतानेवाला। जादूगर अर्थात् पादरी +। [मारूत को भी मुसलमानोंने जादूगर वा देवदूत माना है!]

पाठको! कनअ, काहिन, कन्आन आदि के शब्दार्थ कृष्ण तथा उसके रूपान्तरों कनन कन्हई, कन्हय्या काहन आदि से कितने मिलते हैं, यह देखकर कोई भी कह सकता है, कि कृष्ण ही इन सबके मूल में बैठे हैं!

२. कुर्आन में काहिन-कुर्आन आदि में ज्योतिष् शास्त्र के गणित अथवा फलित दोनों विभागों की निन्दा की गई है, और ज्योतिषिओं को शयतान [Devil] माना गया है! ह० हसन निजामी ने कुर्आन ६७|५ का अर्थ कंसों द्वारा खोल कर इस प्रकार किया है–

अल्लाह ह० मुहम्मद को कहते हैं 'और (उन सातों आकाशों में से उस) समीपी आकाश को (जो तेरी दृष्टि के सामने है) हमही ने (चांद तारों के) दीपकों से सजाया और उन (तारों) को शैतानों के लिये (जब वह आकाश पर चढें और आकाशीय चर्चा लेनी चाहें, तो उन्हें) मारने (और आकाशों से भगा देने) के लिये (एक अग्नि की गदा) नियत किया। और हमने (कयामतमें) उन (शैतानों) के लिये (दोजख की) भडकती हुई अग्नि का अजाब [दुःख] (अलग) तयार कर रखा है। (६७|५)

परन्तु ह० निजामी जी को यह सुनकर बडा ही दुःख होगा कि ये ज्योतिषी रूपी हिन्दू तथा ईसाई शैतान अल्लाह की तारों की बनाई हुई अग्नि गदा की कुछ भी परवाह न करते हुए बराबर आजतक आकाशीय चर्चा लिये जा रहे हैं! पाश्चात्य ज्योतिषियों ने तो ऐसी भारी भारी दूरबीनें (Telescopes) बनाई हैं, कि जो तारों को ही सहस्रों गुणा बढाकर आकाशीय चर्चा लेने के लिये आंखों के सामने उतार लाती हैं!! अस्तु।

अब मिलान करने के लिये मौ० मु० अलीजी का इसी आयत का आंग्ल अर्थ भी देखिए–

And certainly we have adorned this lower heaven with lights (Arabic=lamps) and we have made them to be means of conjectures for the devils, and we have prepared for them the chastisement of burning (67:5)

अर्थ– और निःसंदेह हम ने यह निचला आकाश (तारों रूपी) ज्योतियों (अरबी–बत्तियों वा दीपों) से सजाया है और हमने उन [ज्योतियों] को [ज्योतिषियों रूपी] शैतानों के लिये अनुमान करने के साधन बनाया है और हमने उनके लिये [दोजख की आग में] जलने की शिक्षा तय्यार कर रखी है॥ ६७|५॥

धन्य हो अल्लाह! पहिले तो आपने तारों को बनाया ही इस उद्देश्यसे कि मनुष्य उन्हें देखकर प्रकार प्रकार के अनुमान करने लगें। और ज्यूं ही उन्होंने तारों को देखकर किसी प्रकार का अनुमान आप के ही उद्देश्य से प्रभावित होकर किया, तो धर घसीटा आपने उन को दोजख की आग में! न्याय की पराकाष्ठा है!!

इस आयत पर मौ० मु० अली फूट नोट २५३० में लिखते हैं–

"... इब्ने असीर (हदीसके कोशकार) का मत है कि 'रज्म' का अर्थ है 'जो अल्लाह द्वारा वर्णित नहीं हुआ है, उसके लिये अनुमान करना'। वह मुनज्जिम (astrologer), काहिन (diviner), साहिस्य (magician) को एक ही मानते हुए लिखता है कि 'जो तारों की विद्या इसलिये सीखता है कि वह उस विद्या से कुछ समझ सके और जो भलाई बुराई का परिणाम उन तारोंपर घटाता है, ऐसे [फल-मुहूर्तादि बतानेवाले] ज्योतिषी को ह०

+ कोशकार का ब्राह्मण के स्थान पर सदा पादरी शब्द लिखना इस बात का प्रमाण है कि आजतक लोग यही समझते आये हैं कि मुसलमानों का विरोध करनेवाले यहूदी और ईसाई पादरी ही थे। परन्तु मुसलमान बननेसे पूर्व स्वयं अरब लोग आर्यसंस्कृती को माननेवाले थे, इस बातके प्रमाण इस लेखमाला द्वारा पाठकोंके सामने आते रहेंगे।

मुहम्मद साहेब (unbeliever) नास्तिक वा काफिर समझते थे । ' ... लेन साहेब के अरबी- आंग्लकोश में बेजावी और ताजुल्उरूस के प्रमाण से इस आयत का अर्थ इस प्रकार दिखाया गया है—

' हमने उन्हें मनुष्य रूपी शैतानों के लिये अर्थात् फल ज्योतिषियों के लिए अनुमान लगाने के साधन बनाये हैं ।' प्रश्न होगा कि क्या अल्लाह भी शैतान के समान मनुष्यों को गुमराह किया करता है ? सारांश यह कि काहिन शब्द किसी स्थान पर कुर्आन में फल ज्योतिषियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् कृष्ण शब्द का रूपान्तर कुर्आन में है, ऐसा पाद टीप २५३० से प्रतीत होता है ।

३. हदिस में काहीन- सही बुखारी जिल्द ३ हदीस ७५८ में ह० आइशा का कथन है कि—

'कुछ लोगों ने रसूल अल्लाह से काहिनों के संबंध में पूछा । फर्माया कि इनकी बातमें कोई हकीकत [Fact = सत्यता] नहीं । लोगों ने कहा कि या रसूल अल्लाह कभी ये लोग कोई बात कहते हैं और वह हो जाती है। फर्माया कि वह बात खुदा की तरफ से होती है, जिसको कोई जिन्न लेकर भाग निकलता है और अपने मित्र काहिन के कान में लाकर जमा देता है । फिर ये लोग इसके साथ सौ बातें झूठी मिलाकर बयान करते हैं ।'

इस प्रकार कृष्णजी हदीस में भी दीख पडते हैं। कुर्आन के अनुसार शैतान वा जिन्न अल्लाह की अग्नि में से उत्पन्न की हुई एक शक्ति है । ऐसी शक्ति का उपयोग करके अल्लाह के घर की बात जान लेना निःसंदेह काहिनों के लिये भूषणावह है । क्यों ? इस लिये कि यह शक्ति मुसलमानों को प्राप्त नहीं !! एक में सौ मिलाने की बात श्रद्धालू लोग भले ही मानें ।

४. कृष्ण मुसलमानों के घरोंमें खान बन बैठे !!! हमने ऊपर न्यु रायल डि० के प्रमाण से बताया है कि कान=खाण, Mine, quarry. यह शब्द पार्स में भी कान ही बोला जाता है । हिन्दी में खान भी कहते हैं, यथा यह मनुष्य तो सद्‌गुणों की खान वा खाण है। तुर्की तथा पारसी भाषा में खान का अर्थ है ' अपने सद्‌गुणों के कारण खैंचनेवाला । ' यही शब्दार्थ ' कृष्ण ' का है । सब से पूर्व तुर्कों ने अपने नाम के साथ खान शब्द लगाया और अपनी स्त्रियों को खानम् कहलवाया । परंतु यह शब्द मुसलमानों को इतना भाया कि प्रत्येक मुसलमान ने अपने अरबी नाम के पीछे इसे लगाया । और खान, खान साहेब आदि कहलाने में बडा ही गौरव मनाया। सरकार ने भी प्रसन्न करने के लिये उन्हें खान साहेब और खान बहादुर नामक उपाधियों से सजाया । परंतु किसी मुसलमान की समझ में आज तक यह न आया कि हमने तो कृष्ण कहलाने में ही आनंद मनाया !!

५. हिन्दूभी खान कहलाते हैं- ऊपर हमने दिखाया है कि हिन्दु लोग कान मल्ल, काहन सिंह आदि नाम रखते हैं । परंतु पंजाब सिन्ध आदि प्रान्तों में जहां मुसलमान बहुसंख्य हैं, वा जहां उर्दू-फारसी का पठन-पाठन अधिक है, वहां के कुछेक हिन्दू अपना नाम खानचंद आदि भी रखवाते हैं। क्यों न रखवाएं? हिन्दू-मुस्लिम मिलाप ही तो हो रहा है ! विचारवान पुरुषो ! इस प्रकार आप कृष्ण को अनेक रूपों में यहूदियों, ईसाइयों, हिन्दुओं तथा मुसलमानों के धार्मिक साहित्य में और उनके नामों में देख सकते हो ! ईसाइयों के पास तो वह अत्यंत पूजनीय अपने ख्रिस्त = कृष्ट = Christ-रूपमें विद्यमान है ! परन्तु इसपर फिर कभी विस्तार से लिखेंगे ।

प्रश्न- राम को बीते लगभग पौने पांच लाख वर्ष हुए, परंतु अबतक इस शब्द के उच्चारादि में कोई बिगाड उत्पन्न नहीं हुआ ! केवल १३ सहस्र वर्षों में कृष्ण शब्द ही क्यों इतना बिगड गया ?

उत्तर-१. कृष्ण बहुरूपिया ×है, यह तो पहिले ही कहा है।

२. कृष्ण शब्द का उच्चार कठिन है । जबतक भारतमें एक वैदिक धर्म, एक देवनागरी लिपि, एक संस्कृत भाषा रही, तबतक ' कृष्ण ' में बिगाड न आया । ये बिगडे रूप गत् ४ हजार वर्षों के इधर के ही हैं, १३००० वर्षों के नहीं।

३. कृष्ण के चार अक्षरों में से ३ आधे और एक दूसरे से जुडे हुए हैं' केवल एक ' ण ' ही पूर्ण है । इसके विपरीत 'राम'का प्रत्येक अक्षर अलग अलग अर्थात् अलिप्त है । इस रहस्य को देखकर स्वामी रामतीर्थजीने विनोदमें कहा है—

तअल्लुक से बरी होना हरूफे राम की मानिंद ।
हर इक पहलू से नुक्ता दाग मिट जाना मुबारक हो॥

विशेष टीप- ज्योतिष, जादू-टोना आदि के विषय में ८ वें खण्ड में विचार होनेवाला है ।

× कृष्ण, कृषण, किर्षण, करसन, किर्सन, कर्झन, कस्सन, कह्‌हन, कहन, खन, खान,' इस तरह संस्कृत 'कृष्ण' पदके रूप अन्यत्र अपभ्रष्ट होकर गये। 'स' का 'ह' होता ही है।

वेदवेदिका

(५)

'तदेतत्पर ऋक्शतगाथं शौनःशेपमाख्यानम्' इति च ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० पं० ७)

आलम्बनार्थं यज्ञीये यूपे निबद्धः शुनःशेपः तद्बन्धविमोकार्थं देवतास्तुतौ प्रवृत्तः सन् सवित्रा प्रेरितः वरुणप्रसादार्थं एकत्रिंशदृग्भिः वरुणं तुष्टाव '**स वरुणं राजानमुपससारोत्तराभिरेकत्रिंशता**' इति च ब्राह्मणम्। ताश्च '**नहि ते क्षत्रं**' (ऋ० १।२४।६) इत्याद्याः सूक्तशेषभूताः दशर्चः, तथा '**यच्चिद्धि ते विशो यथा**' (ऋ० १।२५।१-२१) इत्येकविंशत्यृचं सूक्तं च एवं ३१ ऋचो वरुणदेवताकाः शुनःशेपेन दृष्टाः। तासु च शतशः ऋक्षु '**अभि त्वा देव सवितः, उरुं हि राजा, शतं ते राजन्, अमी य ऋक्षाः, अव ते हेडः, उदुत्तमं मुमुग्धि नः, उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत्, इमं मे वरुण, तत्त्वा यामि, निषसाद धृतव्रतः, इममू षु त्वमस्मभ्यं, यमग्ने पृत्सु मर्त्यं, शिप्रिन्वाजानां पते, योगेयोगे तवस्तरं, रेवतीर्नः सधमादः**' इत्येताः ऋचः तैत्तिरीयसंहितायां पठिताः। एवं ऋग्वेदे शुनःशेपदृष्टानां एतासामृचां अन्यत्र पाठमात्रेण कथं अन्यार्षेयत्वमुपपद्येत ?

अथ पाठबलादेव अग्न्यादिभिः काण्डर्षिभिर्दृष्टेति कल्पयितुं शक्यते इति चेत्, शक्यमेवं कल्पयितुं तथापि न युक्तं, कुतः? '**शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु**' इति (ऋ० १।२४।१२) शुनःशेपस्यैव वरुणपाशमोचनस्तुतेः। न हि खलु प्रजापत्यादीनां काण्डर्षीणां वरुणपाशबन्धनं कुत्रचित्प्रसिद्धं लोके, नापि श्रुतं, येन वरुणपाशविमोकार्थं प्रजापत्यादिकर्तृकया वरुणस्तुत्या प्रजापतेः काण्डर्षेरेव तदिदं दर्शनमिति कल्प्येत।

अथ यद्युच्येत– शुनःशेपबन्धमोचको वरुणोऽस्मानपि मोचयतु इति परोक्षतया वरुणमहात्म्यस्तुत्यभिप्रायं तदिदं काण्डर्षीणामेव दर्शनं भवितुमर्हतीति। यथा अन्यत्रापि '**शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः। एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान्०**। इति (ऋ० ५।२।७) कुमारस्यात्रेयस्य तद्दर्शनमग्निमाहात्म्यस्तुत्यभिप्रायम्।

ब्राह्मणग्रन्थके अनुसार 'आलंबनके हेतुसे यज्ञके यूपकाष्ठसे बंधा हुआ शुनःशेप ऋषि उस बंधनसे छुटकारा पानेके लिए देवताकी प्रशंसा करनेमें लगा हुआ था और जब सवितासे प्रेरणा हुई तो वरुणको प्रसन्न करनेके लिए एकतीस ऋचाओंसे वरुणकी सराहना करडाली। ऋ० १।२४।६ '**नहि ते क्षत्रं**' से लेकर २४ वे सूक्तकी दस ऋचाएँ और अगले २५ वे सूक्त की जिसका प्रारंभ '**यच्चिद्धि ते विशो यथा**' से होता है, २१ ऋचाएँ मिलकर वरुण देवतावाली ३१ ऋचाएँ शुनःशेप की देखी हैं और उन सैकड़ों ऋचाओंमें ऊपर उद्धृत की हुई जैसी ऋचाएँ तैत्तिरीयसंहितामें पढी गयी हैं। इस तरह ऋग्वेदमें शुनःशेपकी देखी हुई इन ऋचाओंको सिर्फ दूसरी जगह पढलेनेसे कैसे कहा जा सकता कि ये अन्य ऋषियोंकी देखी हुई हैं ?

अच्छा, अगर ऐसी कल्पना की जाय कि पाठके आधारसेही अग्नि जैसे काण्डके ऋषियोंकी देखी हैं तो उत्तर है, ऐसी कल्पना संभवनीय है तोभी ठीक नहीं क्योंकि ऋ. १।२४।१२ में निर्देश है कि शुनःशेपनेही वरुणके फंदेसे मुक्त होनेके लिए स्तुति की है। पर प्रजापत्य जैसे काण्डके ऋषियोंका वरुणके पाशोंसे बँधा जाना कहीं भी नहीं सुना गया है और न प्रसिद्धही है, अतः ऐसी कल्पना करना संभव नहीं कि वरुणपाशसे छूटनेके लिए वरुणसे प्रजापतिने स्तुति की और उसीसे प्रजापति नामक काण्ड के ऋषिकाही यह दर्शन है।

अब यदि ऐसा कहें कि शुनःशेपके बंधनको हटानेवाला वरुण हमारी मुक्तता करदे, इस तरह परोक्षरूपसे वरुणके बडप्पनकी प्रशंसा करनेके मतलबसे उस काण्डकेही ऋषियोंका किया हुआ दर्शन यहभी होसकता है जैसे, दूसरी जगह ऋ. ५।२।७ में कुमार आत्रेय का देखा मंत्र अग्निके महत्त्वको प्रशंसित करता है और उसका अर्थ है 'विविधरूपी यूपसे बँधे शुनःशेपकोभी तूने छुडाया तथा वह शान्त हुआ, इसी ढंगसे, हे अग्ने! तू हमसे जालोंको छुडादे'

यथा च लोकेऽपि दाशरथिना महाराजेन सेवितो भगवान् वसिष्ठोऽस्मानज्ञानात्तारयत्विति वसिष्ठस्तुतिर्दाशरथेरन्यकर्तृकाऽपि भवितुमर्हति। एवमत्रापि अग्न्यादिकाण्डर्षिदृष्टा वरुणस्तुतिरपि **'शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः'** इति शुनःशेपशब्दमात्रेण शुनःशेपकर्तृकैवेति निर्णायको न कश्चिन्नियमोऽस्ति। अन्यत्रापि ईदृशं दर्शनं बहुधोपलभ्यते वेदे। **'गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम्'** इति विश्वामित्रदर्शने जमदग्निना गृणानौ हे अश्विनौ अत्र सीदतमिति जमदग्निसंस्तुताश्विनदेवतामाहात्म्यस्तुतिर्विश्वामित्रकर्तृका दृष्टा।

तथैव **'तत्त्वा यामि'** इत्याद्याः ऋचोऽपि अग्न्यादिकाण्डर्षीणामेव दर्शनं यजुर्वेदे भवितुमर्हतीति याजुषाणां मतम्। नैवमेतत्– अत्र कृष्णयजुर्वेदे एव तैत्तिरीयसंहिताग्रन्थे ब्राह्मणे एतासामृचां शुनःशेप एव द्रष्टेत्यनुश्रावितत्वात्। तथाहि **'शुनःशेपमाजीगर्तिं वरुणोऽगृह्णात्, स एतां वारुणीमपश्यत्, तया वै स आत्मानं वरुणपाशादमुञ्चत्, वरुणो वा एतं गृह्णाति, य उखां प्रतिमुञ्चते, उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदित्याह आत्मानमेवैतया वरुणपाशान्मुञ्चति'**। इति (तै० सं० ५।२।१।४)

अत्र **'उदुत्तमं वरुणपाशमस्मत्'** (तै० सं० ४।२।१।१०) इत्येषा ऋक् शुनःशेपदृष्टैवेति स्पष्टम्। एतेन **'उदुत्तमं वरुण'** इति ऋक् शुनःशेपदृष्टैवेति निश्चिते एतत्सहचरीणां **'अव ते हेडः, इमं मे वरुण, तत्त्वा यामि'** इत्येवमाद्यानामृचां ऋग्वेदे श्रुतं शुनःशेपार्षेयत्वं केन वार्यते? यदि **'इमं मे वरुण'** इत्याद्यानामृचामत्र यजुर्वेदेऽपि शुनःशेपार्षेयत्वमेवाभविष्यत् तर्हि तासामत्रापि एकत्रैव पाठोऽप्यभविष्यत्। दृश्यते च पृथक् काण्डे तासां पाठः **'उरुं हि राजा, शतं ते राजन्'** इत्यनयोः सौम्यकाण्डे पाठः। (तै० सं० १।४।४५।१)

लौकिक व्यवहारमेंभी वसिष्ठकी ऐसी प्रशंसा कि, दशरथपुत्र रामचंद्रजी जिसकी सेवामें निरत हैं ऐसे भगवान वसिष्ठ हम अज्ञोंको पार ले चले, रामसे विभिन्न अन्य पुरुषकी होसकती है। इसी तरह यहाँ भी अग्नि सदृश काण्डऋषिकी देखी हुई वरुणकी प्रशंसा भी **'पकडा हुआ शुनः शेप जिसे बुलाचुका'** ऐसे शुनःशेप शब्दको पानेसेही यह ऋचा शुनःशेपकी ही बनाई है ऐसा कोई निश्चयात्मक नियम नहीं है, क्योंकि वेदमें तो दूसरी जगहभी इस भाँतिका दर्शन पाया जाता है जैसें, विश्वामित्रके देखे मंत्रमें 'जमदग्निसे प्रशंसित होनेवाले हे अश्विनौ यहाँपर बैठजाओ' ऐसे जमदग्निकी प्रशंसामें अश्विनौ देवताके बडप्पनकी सराहना विश्वामित्रकी तैयार की हुई है ऐसा दीखपडता है। उसी तरह, **'तत्त्वा यामि'** जैसी ऋचाएँभी अग्नि जैसे काण्डऋषियोंकी ही देखी यजुर्वेदमें होसकती हैं ऐसी धारणा यजुर्वेदियोंकी है। पर यह बात ऐसी नहीं क्यों कि यहाँ कृष्णयजुर्वेदमेंही तैत्तिरीय संहिताग्रन्थमें ऐसा सुनाया गया है कि इन ऋचाओंका द्रष्टा शुनःशेपही है। जैसे तै० सं० ५।२।१।४में 'अजीगर्तपुत्र शुनःशेपको वरुणने पकडलिया, तब उसने इस वरुणस्तुतिमय ऋचाको देखा, उसीसे वह अपनेको वरुणपाशसे रिहा करसका; जो उखाको छोडदेता है उसे वरुण पकडलेता है 'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत्' इस ऋचाको कहता है और इस ऋचाकी सहायतासे वह अपनेको वरुण पाशसे छुडालेता है।'

यहाँपर यह बात स्पष्ट है कि **'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत्'** (तै. सं. ४।२।१।१०) यह ऋचा शुनःशेपकीही देखी हुई है। इस लिए ऐसा प्रश्न उठखडा होता है कि, शुनःशेपद्वारा इस ऊपर दी हुई ऋचाको देखलेना निश्चित होनेपर इस ऋचाके साथ पायी जानेवाली **'अव ते हेडः' 'इमं मे वरुणः'** 'तत्त्वा यामि' जैसी ऋचाओंका शुनःशेप ऋषिद्वारा देखाजाना, जो कि ऋग्वेदमें प्रसिद्ध है, भला कौन खंडित करसकता है? यदि यहाँपर **'इमं मे वरुण'** जैसी ऋचाओंका यजुर्वेदमेंभी शुनःशेपका ऋषिपन ठहराया जाता तो उन ऋचाओंका यहाँपरभी एकत्र पाठ उपलब्ध होता और उनका पाठ तो अलग काण्डमें देखा जाता है, जैसे सौम्यकाण्डमें (तै. सं १।४।४५।१) **'उरुँ हि राजा, शतं ते राजन्'** दो ऋचाओंका पाठ मिल जाता है।

तत्रापि ' **अवभृथ यजूंषि जुहोति** 'इति अवभृथप्रकरणे तयोः पाठात् अवभृथयजुषां सौम्यकाण्डेऽन्तर्भावाच्च सोम एव तयोः काण्डर्षिः। ' **आध्वर्यवं० अवभृथ यजूंषि वाजपेयः शुक्रियाणि सवाः** ' इति सब्राह्मणानि सानुब्राह्मणानि सौम्यानि इति बौधायनसूत्रात्। एवं ' **अव ते हेड, उदुत्तमं, इमं मे वरुण, तत्त्वा यामि, त्वं नो अग्ने, स त्वं नो अग्ने,** ' इत्याद्यानामृचां तु वैश्वदेवकाण्डे याज्यायां पाठो दृष्टः। ' **राजसूयः० याज्या अश्वमेधः०** इति वैश्वदेवानि ' इति बौधायने सूत्रात्।

अत्रैते भिन्ना एव काण्डर्षयः सोमविश्वेदेवादयः, तस्मात् तासामृचां भिन्नार्षेयत्वमेव वक्तव्यम्। इति चेत् नैवं सम्भवति- तासामृचां तत्र तत्र कर्मणि विनियोगार्थं अनुकर्षणात्। उदाहृतं च तासामनुकर्षणं याज्यावभृथादिषु। एवं एकदा पठितानां चैतासामृचामुत्तरत्र तत्र तत्र विनियोगानुसारेण ऋक्प्रतीकमात्रपाठेनानुकर्षणं बहुधा दृश्यते, ' **अव ते हेड, उदुत्तमं, इमं मे वरुण, तत्त्वा यामि** ' इत्यादि। न चैतदपि काण्डर्षीणां तादृशं प्रतीकमात्रदर्शनमिति वक्तुं युक्तम्। पृथग्दर्शने समग्रा ऋचो दृश्येरन्, न प्रतीकमात्रम्। अत्र प्रतीकमात्रपाठे पूर्वत्र पठितानामेवानुवाद इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवेत्। तथा सति यजुर्वेदग्रन्थे ऋचां प्रथमपाठोऽपि तर्हि ऋग्वेदे अन्यैर्ऋषिभिर्दृष्टानां तासां हौत्रकर्मणि विनियोगाय पठनानुकूलार्थः अनुवाद एवेति कथं नाभ्युपगम्येत ?

अथ पुनः यजुर्वेदेऽपि एकदा पठिताः सम्पूर्णा एव काश्चिदृचः पुनरुत्तरत्रापि असकृत्वः पठिता दृश्यन्ते ' अग्न आयूंषि पवसे ' इत्याद्याः। तासां पृथग्दर्शनमेवेति वक्तव्यम्। पृथग्दर्शनत्वे पृथगार्षेयत्वं च अर्थात् सेत्स्यतीति। नैवमेतद् यत्र एकदा पूर्वत्र पठिताः सत्यः उत्तरत्र पुनः कर्मणि विनियोगे अविच्छेदेन द्वे ऋचौ, त्रिचतुरा वा ऋचः, द्वन्द्वेन दर्शयितव्या भवेयुः, तत्रैव प्रतीकमात्रपाठो दृश्यते।

वहाँपरभी ' अवभृथके यजुओंका हवन करता हैं इस ढंगसे अवभृथके प्रकरणमें उनका पाठ मिलजानेसे और सौम्यकाण्डमें उनका अन्तर्भाव होनेसे सोम ही उनका काण्डऋषि ठहरता है। बौधायन सूत्रके वचनसे ज्ञात होता है कि सोमके अन्तर्गत मंत्र ब्राह्मण एवं अनुब्राह्मणसे युक्त होते हैं। इसीतरह वैश्वदेवकाण्डकी याज्यामें '**अव ते हेड, उदुत्तमं, इमं मे वरुण, तत्त्वा यामि, स त्वं नो अग्ने** ' जैसी ऋचाओंका पाठ मिल जाता है। बौधायन के सूत्रभी इसकी पुष्टि करता है।

यहाँपर अगर ऐसा कहें कि यहाँ तो सोम, विश्वेदेव जैसे विभिन्न काण्डऋषि हैं अतः वे ऋचाएं अलग ऋषियोंकी देखी हुई हैं। तो ऐसा नहीं होसकता, क्योंकि उन उन कर्मोंमें विनियोगके मतः रूपसे वे ऋचाएँ अनुकर्षण अर्थात् थोडी देरके पश्चात् समाप्त किये जानेवाले कार्यमें लगायी गयी हैं। याज्या, अवभृथ आदिमें उन ऋचाओंका अनुकर्षण उदाहरणके तौरपर दिया गया है। इसभाँति एकबार पढी जानेपर इन ऋचाओंका बादमें स्थानस्थानपर विनियोगके मुताबिक सिर्फ ऋचाके प्रतीक मात्र पढकर अनुकर्षण किया गया है ऐसा प्रायः दिखाई देता है जैसे, '**अव ते हेड, उदुत्तमं, इमं मे वरुण, तत्त्वा यामि** ' वगैरह। ऐसा भी कहना ठीक नहीं कि यहभी काण्डके ऋषियोंका वैसा केवल प्रतीक मात्र देखलेना ही है क्योंकि अगर मंत्रोंका दर्शन अलग ढंगसे हुआ हो तो न सिर्फ प्रतीकका ही किन्तु समूची ऋचाओंका दर्शन होगा। यहाँपर केवल प्रतीककाही पाठ देखलेनेसे ऐसा स्वीकार अवश्य करना होगा कि पहली बार पढी हुई ऋचाओंकाही अनुवाद अर्थात् फिरसे कहना ही है। वैसी दशामें, यजुर्वेदग्रन्थमें ऋचाओंका पहला पाठभी तो, ऋग्वेदमें दूसरे ऋषियोंकी देखी हुई उन ऋचाओंका होताके कर्ममें विनियोगके लिए पठन करनेमें अनुकूलता हो इस वजह किया हुआ पुनः पढनाही है ऐसा भला क्यों न मानलें ?

अब फिर ऐसी बात है कि, यजुर्वेदमेंभी एकबार पढी हुई कुछ पूरी ऋचाएँही आगे चलकर फिरभी बारबार पडी हुई दिखाईदेती हैं जैसे, ' **अग्न आयूंषि पवसे** ' इत्यादि। कहना होगा कि उनका दर्शन अलग ढंगसे हुआ है अर्थात् यदि दर्शन विभिन्न रूपसे हुआ हो तो वैसे द्रष्टा ऋषिभी अलग थे ऐसा सिद्ध होगा। पर ऐसा नहीं, क्योंकि प्रतीकमात्रका पाठ सिर्फ उधरही दिखाई देता है जहाँपर, पहले पढचुकनेपर आगे फिरसे कर्म करते समय विनियोग के मौकेपर बिना रुके दो ऋचाओं या तीन अथवा चार ऋचाओंका युगल रूपमें निर्देश करना हो।

*

यत्र एकैव ऋक् पूर्वत्र पठिता सती पुनरुत्तरत्र एकैव विनियुज्यते, तत्र तु समग्रैव ऋक् पठ्यते, इत्येव विशेषः। तद्यथा **' आ प्यायस्व समेतु ते० । सं ते पयाँसि '** इतीदमृग्द्वयं पूर्वत्र (तै० सं० ४।२।७।१२-१३) याज्यायां समग्र ऋग्रूपेण पठितं, तथा उत्तरत्रापि याज्यायां (तै० सं० २।३।१४।१२-१३;३।१।११।३-४) असकृत् 'आ प्यायस्व। सं ते' इति प्रतीकमात्रेण पठितमपि उत्तरत्र विनियोगावसरे 'आ प्यायस्व' (तै०सं० ३।२।५।८) इतीयमेकैव ऋक्समग्रैव पठिता दृश्यते। अत्र पूर्वापरीभावः आर्षेयपाठक्रमेणैव ज्ञेयः, शास्त्रतः ब्राह्मणे कल्पसूत्रे च तथैव याज्यादिविनियोगात्, न तु सारस्वतपाठक्रमेण सम्प्रति प्रचलिते प्रसिद्धे तैत्तिरीयसंहितादिग्रन्थे पूर्वापरीभावनियमोऽस्ति ।

तत्र हि (तै. सं. २।३।१४।१२-१३) 'आ प्यायस्व। सं ते' इति प्रथमतः एव प्रतीकमात्रपाठः, ततः उत्तरत्र (तै०सं० ४।२।७।१२-१३) समग्र ऋक्पाठो विद्यते । तदेतदपि सारस्वतपाठे ग्रन्थव्यत्यासबोधकं लिङ्गम् । क्रमशः संहितादिग्रन्थाध्ययने प्रवृत्ताः बटवः प्रथमत एव प्रतीकमात्रपाठेन समग्रामृचं पठितुं ज्ञातुं च कथं शक्नुयुरिति चिन्त्यमेवैतत् । तस्मादस्य पृथग्दर्शनत्वनिर्णये न किञ्चित्प्रमाणान्तरमस्ति । एवमेव शुनःशेपदृष्टानां तथा सर्वासामपि ऋचां न पृथग्दर्शनं, न पृथगार्षेयं च, याजुषे भवितुमर्हति । एतेन ऋग्वेदे वेदान्तरे वा प्रसिद्धानामृचां यजुर्वेदे समग्र ऋक्पाठोऽपि न पृथग्दर्शनत्वसाधकः नापि पृथगार्षेयत्वसाधकश्च भवितुमर्हतीत्युक्तं भवति ।

अपि च वरुणपाशेन बद्धः शुनःशेपः **' स एतां वारुणीमपश्यत्, तया वै स आत्मानं वरुणपाशादमुञ्चत्'** इति तैत्तिरीयके श्रुतया **'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत्'** इत्येनया एकयैव ऋचा न खलु वरुणपाशान्मुक्तः, येन साक्षात् श्रवणात् **' उदुत्तमं '** इयमेकैव ऋक् शुनःशेपदृष्टा, तथा श्रुतौ अनिर्देशात् **' इमं मे वरुण '** इत्याद्या अत्र अन्यार्षेया इति च कल्प्येत । अपि तु शतशः ऋचां स्तोत्रेण मुक्तः शुनःशेप इति श्रूयते । तथा हि हरिश्चन्द्रेण वरुणप्रीत्यर्थमनुष्ठिते नरयज्ञे

विशेषता यही है कि, जिधर एकही ऋचा पिछले स्थानपर पढी गयी हो तो आगे उसी एकऋचाकाही विनियोग होनेकी दशामें समूची ऋचा पढी जाती है । उदाहरणार्थ, तै. सं. ४।२।७।१२-१३ में **' आ प्यायस्व समेतु ते '** और **' सं ते पयाँसि '** ऐसी दो ऋचाएँ याज्यामें पूरी तरह पढी गयी हैं तो भी, तथा आगेभी याज्यामें (तै. सं. २।३।१४।१२-१३;३।१।११।३-४) बारबार **'आ प्यायस्व। सं ते '** इस ढंगपर प्रतीकद्वारा पढी जानेपरभी पश्चात् विनियोगके मौकेपर **' आ प्यायस्व '** (तै. सं. ३।२।५।८) यही अकेली ऋचा समूचीही पढी गयी दीखपडती है । यहाँ पहले तथा आगेका संबंध आर्षेयपाठक्रमके अनुसारही समझना चाहिए; शास्त्रके अनुसार ब्राह्मण एवं कल्पसूत्रमें याज्या इत्यादिके विनियोगसे वैसेही मानना ठीक, पर ध्यानमें रहे कि सारस्वत पाठक्रमके मुताबिक इस समय जो प्रसिद्ध तैत्तिरीय संहिता इत्यादि ग्रन्थ जारी है उसमें आगेपीछे के नियम नहीं पाये जाते हैं।

वहाँ तो पहलेही **' आ प्यायस्व। सं ते ।'** ऐसा प्रतीकमात्र का पाठ है, देखो तै. सं. ४।२।७।१२-१३,आगे समूची ऋचा मौजूद है । तो सारस्वत पाठमें इसेभी ग्रन्थके वैपरीत्यका चिन्ह समझना चाहिये । अब सच मुच सोचनेयोग्य बात है कि, क्रमसे संहिता वगैरह ग्रन्थोंके पढने में लगे हुए छात्र प्रारंभमेंही प्रतीक मात्रके पढजानेसे समूची ऋचाको भला कैसे पढसकेंगे या समझभी लेंगे! इसीलिए इस के अलग देखेजाने के बारेमें दूसरा कोई प्रमाण नहीं मिलता है । इसी भाँति,शुनःशेप की देखी वैसेही सभी ऋचाओंका याजुष प्रकरणमें न विभिन्न ढंगसे देखाजाना संभव है और न उनके ऋषिही भिन्न हैं । इससे इस बातका प्रतिपादनभी होजाता है कि ऋग्वेदमें या अन्य वेदमें विख्यात ऋचाओंका यजुर्वेदमें संपूर्ण पाठ होनेपरभी उतनेसे ऐसा नहीं सिद्ध होता कि उनका दर्शन अलग ढंगसे हुआ या उनके द्रष्टा ऋषि विभिन्न थे ।

सिवा इसके दूसरी बात ऐसी है कि, वरुणके पाशसे बँधा हुआ शुनःशेप ' उसने वरुणसे संबंध रखनेवाली इस ऋचाको देखलिया और उसीके सहारे उसने अपने आपको वरुणके फंदेसे छुडालिया' इसभाँति तैत्तिरीयमें सुनी हुई **' उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत् '** इस अकेली ऋचासेही वरुणपाशसे छूटा हो ऐसी बात नहीं ताकि ऐसा मानलें, प्रत्यक्ष सुननेकी वजह **' उदुत्तमं '** ऐसी एकही ऋचा शुनःशेपकी देखी है और श्रुतिमें निर्देश न होनेसे **' इमं मे वरुण '** जैसी ऋचाएँ यहाँपर अन्य ऋषियोंकी देखी हैं। बल्कि ऐसा सुना गया है, सैकडों ऋचाओंके स्तोत्रका सृजन करके शुनः

आलम्बनार्थं यूपे निबद्धः शुनःशेपः तस्मान्मृत्युमुखादात्मानं मोचयितुं प्रवृत्तः सन् ' अथ ह शुनःशेप ईक्षांचक्रे अमानुषमिव वै मा विशसिष्यन्ति हन्ताहं देवता उपधावामीति ' (ऐ० ब्रा० ७।१६) इति वाग्यज्ञेन देवतोपासांचक्रे । तत्र ' स प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार, कस्य नूनं कतमस्यामृतानामित्येतयर्चा ' इति प्रथमतः प्रजापतिं तुष्टाव, ततश्च तेनाज्ञप्तः तथैवोत्तरत्र 'अग्निः सविता वरुणः पुनरग्निः विश्वे देवाः इन्द्रः अश्विनौ ' इत्यासां देवतानां स्तोत्रेण तत्तद्देवताभिराज्ञप्तश्च अन्ते उषसः स्तोत्रेण वरुणपाशान्मुक्तः । एवं शतशः ऋग्भिः स्तोत्रेण शुनःशेपो वरुणपाशान्मुक्तः ।

अत्र यद्यपि तैत्तिरीयके ' स एतां वारुणीमपश्यत्, उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदित्याह ' इति एकैव ऋक् शुनःशेपेन दृष्टेति श्रूयते, अन्याः ' नहि ते क्षत्रं ' इत्याद्याः शुनःशेपार्षेयत्वेन स्पष्टं न श्रूयन्ते, तथापि तैत्तिरीयब्राह्मणवचनादेव तासां शतशः ऋचां शुनःशेपार्षेयत्वं सिध्यति । ' शौनःशेपमाख्यापयते, वरुणपाशादेवैनं मुञ्चति, परः शतं भवति ' इति (तै० ब्रा० १।७।१०) एवं तैत्तिरीयके श्रुतानां ' नहि ते क्षत्रं ' इत्याद्यानामपि सर्वासां ऋचां यजुर्वेदेऽपि शुनःशेपार्षेयत्वमेवेति सिद्धम् ।

एतासामृचां शुनःशेपार्षेयत्वं शुक्लयजुर्वेदेऽपि अनूदितम्—

' ऊरुँ हि राजा ' (वा० य० सं० ८।२३)... ... ' ऊरुँहि ' शुनःशेपो वारुणीं त्रिष्टुभम् ।
' नि षसाद ' (वा० य० १०।२७) ... ... ' नि षसाद ' शुनःशेपो वारुणीं गायत्रीम् ।
' योगेयोगे ' (वा० य० ११।१४) ' योगेयोगे ' शुनःशेपः ।
' उदुत्तमं वरुण० ' (वा० य० १२।१२) ' उदुत्तमं ' शुनःशेपो वारुणीं त्रिष्टुभम् ।
' तत्त्वा यामि० ' (वा० य० १८।४९) ' तत्त्वा ' वारुणीं त्रिष्टुभं शुनःशेपः ।
' इमं मे वरुण, तत्त्वा यामि० ' इमं मे गायत्री त्रिष्टुभौ वारुण्यौ शुनःशेपः । इति (शु० य० का० स० सूत्राणि)

शेप छूटगया । उदाहरणार्थ, वरुणको प्रसन्न करनेके लिए हरिश्चंद्रने जो नरयज्ञ प्रवर्तित किया था उसमें वधके हेतु यूपमें बँधा हुआ शुनःशेप उस मौतके मुँहसे अपना छुटकारा पानेमें लगा तथा 'अब शुनःशेप देखने लगा कि, पशुतुल्य वे मुझको मारडालेंगे; अच्छी बात, मैं देवताकी शरणमें चलाजाऊँ ' ऐसे ऐतरेय ब्राह्मण ७।१६में बताये ढंगसे वाक् यज्ञसे देवताकी उपासना करनेलगा, तब ' वह पहले प्रजापतिके निकट जानेलगा, क्योंकि वह सभी देवताओंमें प्रमुख था और ' कस्य नूनं ' ऋचा का पठन करनेलगा । ' पहली बार प्रजापतिकी सराहना करचुकनेपर उसकी आज्ञा पाकर वह आगे चलकर ' अग्नि, सविता, वरुण, फिर एक वार अग्नि, विश्वे देवाः, इन्द्र एवं अश्विनौ ' देवताओंकी स्तुति करके उन सबकी आज्ञासे अन्तमें उषाकी प्रशंसा करनेपर वरुणके पाशसे उसको छुटकारा मिला । इसतरह सैकडों ऋचाओंसे स्तोत्रपाठ करलेनेसेही शुनःशेप वरुणपाशसे मुक्त हुआ ।

यहाँपर यद्यपि तैत्तिरीयमें ' इस वरुणपरक ऋचाको उसने देखा और वह कहने लगा ' उदुत्तमं वरुण पाशमस्मत् ' इस तरह शुनःशेपकी देखी एकही ऋचा है ऐसा प्रतीत होता है, और दूसरी ' नहि ते क्षत्रं ' जैसी ऋचाएँ साफतौरसे शुनःशेप नामक द्रष्टा ऋषिकी देखी हैं ऐसा नहीं सुनाईदेता, किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मणके वचनके आधारपरही उन सैकडों ऋचाओंका शुनःशेपऋषिद्वारा देखा जाना सिद्ध किया जासकता है। देखो तै. ब्रा. १।७।१० जहाँपर कहा है कि ' शुनःशेपसे संबंध रखनेवाला आख्यान बताया जाता है, बेशक वरुणके फैंके फंदेसेही इसे छुडाता है, वे सौसे अधिक ऋचाएँ हैं । ' अतः तैत्तिरीयमें सुनी हुई ' नहि ते क्षत्रं ' जैसी सभी ऋचाओंका यजुर्वेदमें भी शुनःशेप ऋषिद्वारा देखाजानाही सिद्ध है ।

इन ऋचाओंका दर्शनकर्ता ऋषि शुनशेप है ऐसा शुक्लयजुर्वेदमें भी बताया है । (देखो ऊपर दिये उदाहरण) जो शुक्लयजुर्वेद कात्यायन सर्वानुक्रम सूत्रमें है ।

शुनःशेप ऋषिकी देखी हुई पर ऋग्वेदमें न पायी जानेवालीभी

ऋग्वेदे अप्रसिद्धापि शुनःशेपदृष्टा एका ऋग् दृश्यते। 'अपाघमपकिल्बिषम्०' (वा० य० ३५।११) अपाघं लिङ्गोक्तदेवतामानुष्टुभं शुनःशेपः। (का० स० सूत्रम्) कथं तर्हि 'पुनातु ते परिस्रुतमिति यजुषा पुनाति व्यावृत्यै (तै० ब्रा० १।८।५) इति ऋचोऽपि यजुःशब्देन निर्देशः 'पुनातु ते' इति यजुर्वेदपाठादराभिप्रायकः एव। एवं वेदान्तरे दृष्टाः ऋचो वेदान्तरे पठिता अपि स्वकीयैरार्षेयच्छन्दोदैवतैर्न हीयन्ते।

अस्मिन्नर्थे 'अयꣳ सो अग्निर्यस्मिन्' इत्यादीन्यप्युदाहर्तव्यानि ऋग्वेदे (मंड० ३।२२।१) पठितस्य पञ्चर्चस्य सूक्तस्य 'अयꣳ सो अग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति। (तै० सं० ५।२।३।८) विश्वामित्रार्षेयत्वमनुश्रूयते। तच्च विश्वामित्रसम्बधाभिप्रायं वैश्वामित्रमण्डलान्तर्गतत्वात्। वैश्वामित्रीयाभिप्रायं वेति ज्ञेयम्।

ऋग्वेदे 'अयं स उपान्त्यानुष्टुप्पुरीष्येभ्योऽग्निभ्यः' इति सर्वानुक्रमसूत्रे। 'अग्निं होतारं गाथी ह' इति सूत्रात् 'अग्निं होतारं प्रवृणे मियेधे' इति सूक्तादनुवृत्तः चतुर्णां सूक्तानां गाथी ऋषिः, न तु विश्वामित्रः। तथापि विश्वामित्रसम्बन्धाद् विश्वामित्रार्षेयत्वं श्रुत्यानुश्रावितमिति प्रतीयते। एवं 'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः' इत्यस्य सूक्तस्य (ऋ० १०।४५।१; तै० सं० ४।२।२।१) 'दिवस्परि द्वादश वत्सप्रिराग्नेयं तु' इति सर्वानुक्रमसूत्रोक्तवत्सप्रेरार्षेयत्वं यजुर्वेदेऽपि अनुश्रूयते। 'वात्सप्रेणोप तिष्ठते एतेन वै वत्सप्रीर्भालन्दनोऽग्नेः प्रियं धामावारुन्ध' इति स्पष्टम्। (तै० सं० ५।२।१) तथैव 'आऽयं गौः पृश्निरक्रमीत्' इति तृचस्य सूक्तस्य (ऋ० १०।१८९।१; तै० सं० १।५।३।२) 'आयं गौः सार्पराज्ञ्यात्मदैवतम्' इति सूत्रदर्शितं तैत्तिरीयकेऽनुश्रूयते। 'सर्पराज्ञिया ऋग्भिर्गार्हपत्यमादधाति' इति (तै० सं० १।५।४।२)। एवमेव यजुर्वेदे पठितानां अपठितानामपि सूक्तानां ऋग्वेदीयार्षेयानुश्रवणपूर्वकं विनियोगः श्रूयते।

'सजनीयꣳ शस्यं विहव्यꣳ शस्यं अगस्त्यस्य कयाशुभीयं शस्यं' इति। (तै० सं० ७।५।५।६) सजनीयम्-

---

एक ऋचा उपलब्ध है जैसे 'अपाघं अप किल्बिषम्' (वाज. य. ३५।११)

तो फिर, तै. ब्रा. १।८।५ के अनुसार ऋचाकोभी यजुः नाम दिया है सो कैसे ? उत्तर यही कि, यजुर्वेदके पाठके बारेमें अपना आदर दर्शानेके लिए ऐसा किया है। ऐसे ही अन्य वेदोंमें देखी हुई ऋचाएँ दूसरे वेदमें पढी जानेपरभी निजी ऋषि, छन्द, देवतासे संलग्नही रहती हैं।

इसी आशयको स्पष्ट करनेके लिए ऋग्वेदके तृतीयमंडलके बाईसवें ५ ऋचावाले सूक्तकी 'अयंस्सो अग्निर्यस्मिन्' जैसी ऋचाएँ भी उदाहरणके तौरपर दीजासकती हैं। 'अयस्सो अग्निः' इस प्रकार आरंभ किया हुआ सूक्त विश्वामित्रका है और तै. सं. ५।२।३।८ में विश्वामित्र ऋषिका देखा जाना सुनाईदेता है। विश्वामित्रके देखे मंडलमें पाये जानेसे उसे वैसे कहागया है या विश्वामित्रसे संबंध बतलानेके लिए होगा ऐसा समझना ठीक।

सर्वानुक्रमसूत्रमें इस सूक्तका निर्देश किया है। सूत्रके आधारपर निश्चित होता है कि 'अग्निं होतारं प्रवृणे मियेधे' इस ऋचासे प्रारंभ हुए चारों सूक्तोंके द्रष्टा गाथी हैं नकि विश्वामित्र। तोभी विश्वामित्र का संबंध होनेसे प्रतीत होता है कि श्रुतिने यूं बतलाया कि इस संपूर्णका ऋषि विश्वामित्रही है। इसीभाँति 'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः' (ऋ. १०।४५।१; तै. सं. ४।२।२।१) इस सूक्तका द्रष्टा वत्सप्रि ऋषि है ऐसा सर्वानुक्रमसूत्रसे विदित है और यजुर्वेदमेंभी ऐसाही सुनाईदेता है। यह स्पष्टही है 'क्योंकि वत्सप्रिके देखे सूक्त से उपासना करता है, कारण वत्सप्रि भालन्दनने इसीसे अग्नि के प्यारे धामको रोक रखा' देखो- तै. सं. ५।२।१ और वैसेही 'आऽयं गौः पृश्निरक्रमीत्' इस तीन ऋचावाले सूक्तकाभी जो ऋ. १०।१८९।१; तै. सं. १।५।३। २ में है, सूत्रमें बतलाये अनुसार द्रष्टा सार्पराज्ञी एवं देवता आत्मा ऐसाही तैत्तिरीय में सुना जाता है। देखो तै. सं. १।५।४।२ जहाँ- पर कहा है 'सर्पराज्ञिया ऋचाओंसे गार्हपत्यको रखदेता है।' इसी तरह यजुर्वेदमें उपलब्ध एवं नभी पाये जानेवाले सूक्तोंके संबंधमें ऋग्वेदमें बतलाये ऋषियोंके निर्देशके साथही विनियोग किया हुआ सुना जाता है।

सजनीयँ शस्यं विहव्यꣳशस्यं अगस्त्यस्य कयाशुभीयं शस्यं' (तै. सं. ७।५।५।६) सजनीय 'स जनास इन्द्रः'

'स जनास इन्द्रः' इति ऋगन्तिमपादैकदेशोपहितं, 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' इति (ऋ० २।१२।१-१४) गृत्समदार्षेयं पञ्चदशर्चं सूक्तम्। 'विहव्यम्- ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु०' इति (ऋ० १०।१२८।१-९), (तै० सं० ४।७।१४।१-९) नवर्चं विहव्यार्षेयं सूक्तम्। 'ममाग्ने नव विहव्यः' इति सर्वानुक्रमसूत्रम्। 'अगस्त्यस्य कया शुभीयम्' 'कया शुभा सवयसः सनीळाः' इति सूक्तं अगस्त्यार्षेयम्। (ऋ० १।१६५।१-१५) 'कया पञ्चोना संवादोऽगस्त्येन्द्रमरुताम्' इति सर्वानुक्रमसूत्रम्।

अतएव शुक्लयजुर्वेदे कातीये सर्वानुक्रमसूत्रे शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतानां सर्वासामपि ऋचां तत्रतत्र प्रकरणशः पाठक्रमानुसारेण काण्डर्षीणां सामान्यतो निर्देशेन, ऋचामेव ऋग्वेदे प्रसिद्धाः मन्त्रद्रष्टारः ऋषय एव विशेषतो दर्शिताः। 'अग्न्याधेयं प्रजापतेरार्षम्। समिधाग्नेय्यश्चतस्रो गायत्र्यः, समिधा विरूप आङ्गिरसः, सुसमिद्धाय वसुश्रुतः, तन्त्वा भरद्वाजः' इत्यादि। समिधाग्निं- 'इमे त्रयस्त्रिंशद्विरूप आङ्गिरस आग्नेयं तु समिधाग्निं त्रिंशत्। इति (ऋ० सर्वानुक्रमसूत्रम्) सुसमिद्धाय शोचिषे- 'त्वमग्ने वसुश्रुतः त्वामग्न एकादश सुसमिद्धायाग्नं गायत्रम्। इति दिग्दर्शनार्थं किञ्चिदेवोपन्यस्तं। आर्षेयपाठक्रमे सर्वं संशोध्यते।

एवं च सति अस्माकं द्विजत्वसिद्धये उपनयनसंस्कारे ब्रह्मोपदेशरूपेण सर्ववेदाधिकारार्थं प्रथमतः उपदेश्यः गायत्रीमन्त्रोऽपि ऋगात्मकः विश्वामित्रार्षेयः 'गायत्र्या गायत्रीच्छन्दो विश्वामित्रऋषिः सवितादेवता' इतिश्रुतेः। (ना०उ०१९।३५) तथा च सर्वानुक्रमसूत्रम् 'कुशिकस्त्वैषीरथिरिन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्यं चचार, तस्येन्द्र एव गाथी पुत्रो जज्ञे, गाथिनो विश्वामित्रः, स तृतीयं मण्डलमपश्यत्' इति। तृतीयमण्डलस्य विश्वामित्रार्षेयत्वात्, गायत्र्याश्च तत्रैव पाठदर्शनात्। 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' (ऋ० ३।६२।३०; साम० १४६२; वा० य० ३,३५; तै० सं० १।५।६।१२)

एवं वेदमन्त्राणां यातयामतानिवारणार्थं तत्तदार्षेयं यथाशास्त्रं विज्ञेयमिति सङ्क्षेपः।

इस ऋचाके अन्तिम पाद के एक भाग से युक्त 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ. २।१२।१-१४) यह गृत्समद का पन्द्रहऋचा वाला सूक्त है। विहव्य 'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु०' (ऋ. १०।१२८।१-९), (तै. सं.४।७।१४।१-९) यह नव ऋचा वाला विहव्य ऋषि का सूक्त है। क्योंकि 'ममाग्ने नव विहव्यः' ऐसा सर्वानुक्रमणी में पढ़ा गया है। 'अगस्त्यस्य कयाशुभीयम्' अर्थात् 'कया शुभा सवयसः सनीडाः' (ऋ. १।१६५।१-१५) यह सूक्त अगस्त्य ऋषि का है। सर्वानुक्रम-सूत्रों में 'कया पञ्चोना संवादोऽगस्त्येन्द्रमरुताम्' पढा है।

इस कारण शुक्लयजुर्वेद के कातीय सर्वानुक्रममें शुक्ल यजुर्वेद की सारी ऋचाओंके ऋषि, सामान्यतः काण्डगत ऋषियोंके निर्देशपूर्वक, ऋग्वेदकी ऋचाओं के अनुसार ही दिखाये गये हैं। जैसे 'अग्न्याधेयं प्रजापतेरार्षम्। समिधाग्नेय्यश्चतस्रो गायत्र्यः, समिधा विरूप आङ्गिरसः, सुसमिद्धाय वसुश्रुतः तन्त्वा भरद्वाजः, इत्यादि। ऋक्सर्वानुक्रमसूत्र में- समिधाग्निं- 'इमे त्रयस्त्रिंशद्विरूप आङ्गिरस आग्नेयं तु समिधाग्निं त्रिंशत्।' सुसमिद्धाय शोचिषे-

'त्वमग्ने वसुश्रुतः त्वामग्न एकादश सुसमिद्धायाग्नं गायत्रम्।' इत्यादि पढा गया है। यहाँ मैं ने दिग्दर्शन के निमित्त कुछ लिखा है। आर्षेयपाठक्रम में सम्पूर्ण शुद्ध किया जा रहा है।

इस प्रकार द्विजों के परम मान्य मंत्र गायत्री का भी ऋषि, विश्वामित्र है क्योंकि श्रुतिमें 'गायत्र्या गायत्रीच्छन्दो, विश्वामित्र ऋषिः, सविता देवता, (ना. उ. १८।३५) ऐसा पाठ पढा गया है और सर्वानुक्रमसूत्रों में भी 'इषीरथ का पुत्र कुशिक, इन्द्र जैसा पुत्र चाहता था, उसने ब्रह्मचर्य रखा, इन्द्र ही उसके यहाँ गाथीके रूप में जन्मा, गाथी का पुत्र विश्वामित्र था, उसने यह तृतीयमण्डल देखा ऐसा लिखा' है। 'तत्सवितुर्वरेण्यम् (ऋ. ३।६२।३०; साम. १४६२; वां. य. ३।३५; तै. सं. १।५।६।१२) यह पाठ तृतीय मण्डल में होने से इस का ऋषि विश्वामित्र सिद्ध ही है। इस प्रकार वेदमंत्रों का बासीपन मिटाने के लिये यथाशास्त्र उन-उन मंत्रोका ऋषि जानना चाहिये। यह मैंने संक्षेप में ऋषि- विचार प्रस्तुत किया।

छन्दो विचारः ।

' छन्द ' एव वेदमन्त्राणां स्वरूपं प्रधानं लक्षणं च । छन्दसैव मन्त्राणां मन्त्रत्वं प्रतिष्ठितम् । छन्दसैव ऋक्त्वं यजुष्ट्वं सामत्वं च सिद्धम् । छन्दोनिबन्धनमन्तरा मन्त्र एव न भवति। मन्त्राणामेव मुख्यं वेदत्वं वस्तुतत्त्वसिद्धम् । तस्माद्वेदमन्त्रस्वरूपज्ञाने छन्दोज्ञानमेव प्रधानम् । अत एव ' गायत्र्या गायत्रीच्छन्दो विश्वामित्र ऋषिः सविता देवता ' इत्यत्र (ना० उ० १९।३५) छन्द एव प्राथम्येन निर्दिष्टम्। तस्मात् ऋषिदैवतच्छन्दांसि ' तानि मन्त्रेमन्त्रे विद्यात् ' इति श्रुत्या विहितं वेदमन्त्राणामयातयामतासिद्ध्यर्थम् । ऋचां तु गायत्र्यादीनि प्रसिद्धानि । छन्दोमुखेनैव ऋचां यज्ञे विनियोगो विहितः।

' गायत्र्या ब्राह्मणमुपनयीत, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्य ' मिति, त्रैवर्णिकानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां द्विजत्वसिद्धिः छन्दोमुखेनैव उपदिश्यते । अत एव तदेतच्छन्दस्तत्वविज्ञानादेवामृतत्वसिद्धिरपि मन्त्रोपदिष्टानुश्रूयते । तथा च दीर्घतमस आर्षेयं ऋङ्मन्त्रदर्शनम् ।

' यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत ।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः । इति (ऋ० १।१६४।२३)

एवं सप्तच्छन्दांस्यनुश्रूयन्ते, तत्तद्देवताधिष्ठितानि । **' अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव। अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥४॥ विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः । विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः ॥५॥** इति (ऋ० १०।१३०।४-५)

एतेषां तथान्येषामपि सर्वेषां छन्दसां अधिष्ठाता उत वर्षकः प्रकाशश्च विश्वरूपः स परमैश्वर्यपूर्णः परमपुरुषः इन्द्र एव, तस्यापि छन्दोमुखेनैवाविर्भावः प्रकाशोऽनुश्रूयते **' यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु '** इति (तै० शिक्षो० ४।१) । एवं छन्दस्तत्वज्ञानेन मन्त्रज्ञानं, मन्त्रमुखेन ब्रह्मात्मतत्वज्ञानं, तेनैव चामृतत्वमिति छन्दोमुखेनैवामृतत्वसिद्धिरिति सिद्धम् ।

छन्द का विचार

छन्द ही वेद-मंत्रोंका स्वरूप और प्रधान लक्षण है । छन्द से ही मंत्रोंका मंत्रत्व स्थिर और ऋक्, यजुः, साम भेदोंकी सिद्धि होती है । छन्द के बन्धन विना कोई मंत्र नहीं । वस्तुतः मंत्रही वेद हैं । इस कारण वेदमन्त्रों के स्वरूपज्ञान में छन्द का ज्ञान प्रथम स्थान रखता है । ' गायत्र्या गायत्री-छन्दो०' यहाँ (ना. उ. १८ ३५) में इसी कारण छन्दका नाम पहले लिया है । ' प्रत्येक मंत्र में ऋषि-दैवत-छन्द इन तीनोंका ज्ञान करे ' श्रुतिका यह उपदेश मंत्रोंकी यातयामता दूर करने के लिये ही है । ऋचाओंके गायत्री आदि छन्द प्रसिद्ध ही हैं। ऋचाएँ यज्ञ में छन्दोमुख से ही अर्थात् छन्द-विचारपूर्वक ही विनियुक्त होती हैं । जैसे-' गायत्री से ब्राह्मण का उपनयन करे, त्रिष्टुप् से क्षत्रिय और जगती से वैश्य का, । ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन का द्विजत्व छन्द द्वारा ही कहा गया है। वेद-मंत्र में भी छन्द के तत्त्वज्ञान से ही अमृतत्व की प्राप्ति सुनी जाती है। जैसा कि दीर्घतमा ऋषि के एक मंत्र में दिखाई देता है—

यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं······य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः । (ऋ. १।१६४।२३)

इसी प्रकार अपनी-अपनी देवताओंके साथ सातों छन्द वेद-मंत्र में मिलते हैं । जैसे— ऋ.१०।१३०।४-५ में बताया कि, गायत्री छन्द अग्निसे जुडगया, सवितासे उष्णिक् छन्द मिलगया, स्तोत्रोंसे महनीय बना हुआ सोम अनुष्टुप्के साथ प्रकट हुआ और बृहस्पति की वाणीकी रक्षा बृहती छन्दने करडाली । विराट् छन्द मित्रावरुण के साथ रहनेलगा, इन्द्रके लिए त्रिष्टुप् छन्द नियत हुआ तथा जगती छन्द सभी देवोंमें प्रविष्ट हुआ तभी तो ऋषि एवं मानवोंका सृजन हुआ । '

इन तथा अन्य सम्पूर्ण छन्दोंका अधिष्ठाता, वृष्टिकर्त्ता और प्रकाश विश्वरूप, परमैश्वर्यपूर्ण परम पुरुष वह इन्द्र ही है। उसका आविर्भाव भी छन्दसे ही सुना जाता है । जैसे-**'यच्छन्दसामृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । '** (तै. शिक्षो. ४।१)। इस प्रकार छन्दों के तत्वज्ञान से मंत्र ज्ञान, मंत्र द्वारा ब्रह्म और आत्मा का तत्वज्ञान और उसीसे अमरत्वकी प्राप्ति होती है । इसलिए छन्द द्वारा अमृतत्व को पाना सिद्ध हुआ ।

३. तत्त्व और अस्तित्व

ऊपर तत्त्व और अस्तित्वके भेदका उल्लेख किया जा चुका है। इसे समझ लेना आवश्यक है, कारण इस भेदका उल्लेख स्पिनोझाके ग्रंथमें कई अवसरोंपर किया गया है।

तत्त्व और अस्तित्वकी भिन्नताका उगम एरिस्टॉटलके तथा अरबी यहूदी तर्कशास्त्रमें है×। उदाहरणके लिये 'क्ष अस्तित्ववान् है' इस वाक्यमें 'क्ष' उद्देश्य पद है और 'अस्तित्ववान' यह विधेयपद है। इससे मालूम होता है कि क्षके 'तत्त्व' (essence) या 'क्षत्व'से 'क्ष'का अस्तित्व भिन्न है। यदि ऐसा न होकर क्षका 'तत्त्व' और 'अस्तित्व' एक ही हो तो इस वाक्यका अर्थ होगा 'क्ष' 'क्ष' है जो पुनरुक्त्यात्मक दोषयुक्त (Tautological) वाक्य है, कारण पाश्चात्य तर्कशास्त्रमें 'तादात्म्य' (Identity) तार्किक संबंध नहीं है। इसलिये 'क्ष'का अस्तित्ववान् होना उतना ही औपाधिक है जितना कि 'क्ष'का काला या गोरा, छोटा या बडा होना। एरिस्टॉटलके मतानुसार वस्तुओंके 'तत्त्व'में उनके अस्तित्वका अंतर्भाव नहीं होता। 'तत्त्व' तो हम वस्तुकी परिभाषासे भी जान सकते हैं। हम मनुष्यका तथा मनुष्यत्वका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तथा उसकी परिभाषा भी दे सकते हैं; परंतु इन सब बातोंसे उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। कारण परिभाषाएं सिर्फ इतना ही बतलाती हैं कि वस्तु क्या है; परंतु वस्तुका अस्तित्व है या नहीं, इससे उनका कोई वास्ता नहीं। 'मनुष्य क्या है' और 'मनुष्यका अस्तित्व है' ये दोनों भिन्न प्रश्न हैं। एरिस्टॉटलका यह विवरण विवादास्पद है और उसके कुछ टीकाकारोंने वस्तु 'तत्त्व'से वस्तुके 'अस्तित्व'को अलग न मानकर भी अर्थ लगाया है। परंतु स्पिनोझा उससे सहमत है।

इस विषयमें मतभेद होनेपर भी एक बातमें सबका अविरोध है कि ईश्वरके स्वरूपमें या 'तत्त्व' में और अस्तित्वमें भेद नहीं। जिस प्रकार ईश्वरमें कोई औपाधिक गुण नहीं उसी प्रकार उसका अस्तित्व भी औपाधिक नहीं, वरन् आवश्यक है, कारण ईश्वरस्वरूप निष्कल है। उपर्युक्त ७वें विधानका ("अस्तित्व मूलतत्त्वमें स्वरूपतःही है") यही रहस्य है। परंतु "ईश्वरद्वारा जन्य वस्तुओंके 'तत्व' में 'अस्तित्व'का अंतर्भाव नहीं होता +। परंतु मूल तत्व या ईश्वर अपनेसे बाह्य किसी वस्तुसे जन्य नहीं। यदि ईश्वरका अस्तित्व औपाधिक होता तो ईश्वरको भी अन्यकारणजन्य मानना पडता। परंतु ईश्वर कारणरहित है, उसका अस्तित्व आवश्यक है या वह अपना स्वयंभू कारण है। स्वयंभू कारणसे तात्पर्य कारणराहित्यसे है या ईश्वरको अस्तित्ववान् बतलानेमें है। पहिली परिभाषामें यही कहा गया है- "जो अपना कारण स्वयंही है उससे मेरे मानी उससे है जिसका 'तत्व' 'अस्तित्व' लिये हुए होता है, या जिसका स्वरूप सिर्फ अस्तित्वयुक्तही विचारमें आ सकता है।"*

डेकार्ट और मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी तरह स्पिनोझाने भी ईश्वरकी इसी आवश्यक सत्तासे प्रतिपादक तथा निषेधात्मक उभयविध निष्कर्ष निकाले हैं। यथा जिस सत्ताका अस्तित्व आवश्यक हो वह (१) शाश्वत होती है। (२) वह निष्कल होती है, सावयव या अंशघटित नहीं। (३) वह परिच्छिन्नतया विचार का विषय न होकर सर्वदा अपरिच्छिन्नतयाही विचारविषय होती है। (४) वह अविभाज्य होती है। (५) वह अपरिवर्तनीय होती है। (६) उसमें किसी भी प्रकारकी अपूर्णताको स्थान नहीं। शुद्ध पूर्णताही उसका स्वरूप है। ऐसी सत्ता केवल तथा अद्वितीय होती। ☙ "ईश्वरके इसी आवश्यक अस्तित्वपर वे सब गुण अवलंबित हैं जिनके द्वारा हम ईश्वरके प्रति प्रेम (या परमानंदकी स्थिति) की ओर प्रवृत्त होते हैं।" डेकार्टने इसी आवश्यक अस्तित्वको सत्ताविषयक प्रमाणके रूपमें उपस्थित किया था। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे स्पिनोझा भी यही करता है। ईश्वरकी स्वयंभू कारणतासे जहां एक ओर स्पिनोझाको नास्तिपक्षमें अन्य कारणराहित्य विवक्षित है वहां दूसरी ओर अस्तिपक्षमें स्वयंपर्याप्ति (Self-sufficiency), अतएव प्रत्यक्ष-अस्तित्वभी विवक्षित है।

४. अनंतता

स्पिनोझाने अनंत शब्द भिन्न संदर्भोंमें भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त किया है। ईश्वर या मूल तत्वके साथ प्रयुक्त अनंत शब्द नितांत निरपेक्ष अनंत (Absolutely infinite) है। इससे भिन्न सापेक्ष या सजातीय वस्तुओंमें अनंत होता है (infinite in its own kind)। यह सापेक्ष अनंत अनंत गुणोंसे

× Philosophy of Spinoza, vol. I. P. 122 ff. + नी. शा. भा. १ वि. २४ * नी. शा. भा. १ प. ३

☙ स्पीनोझाके वाल्फसनद्वारा उद्धृत पत्रोंके आधार पर; Phil. of Spinoza vol. pp. 128|129

युक्त नहीं होता। अनंत गुण तो केवल नितांत निरपेक्ष अनंत वस्तुकेही होते हैं। इसी प्रकार, अपनी सजातीय वस्तुओंमें सांतकी भी एक कोटि है। "कोई वस्तु अपनी सजातीय वस्तुओंमें सांत तब कही जाती है जब वह अपने समान स्वभाववाली वस्तुसे मर्यादित हो सके; उदा० शरीरको सांत इस लिये कहा जाता है कि इससे बडे शरीरकी हमको सदैव कल्पना होती हैं। इसी प्रकार एक विचार दूसरे विचारसे मर्यादित होता है, परंतु शरीर विचारसे या विचार शरीरसे मर्यादित नहीं होता।"× जो सांत या परिच्छिन्न होता है वह तुलनार्ह भी होता है, कारण तुलना समान वस्तुओंकी होती हैं और परिच्छिन्नताके मानी हैं समान वस्तुओंकी कक्षामें सम्मिलित होना। असमान वस्तुओंमें कोई संबंध नहीं होता और जिन दो वस्तुओंमें कोई संबंध नहीं होता, उनमें कोई साधर्म्य भी नहीं होता। जो भी वस्तु वर्णनके योग्य होती है वह सजातीय सांत कही जा सकती हैं, कारण उसको मर्यादित करनेवाले योग्य शब्दोंके बिना उसका वर्णन नहीं हो सकता। ॐ

अपनी समान या सजातीय वस्तुओंमें अनंतका अर्थ तुलनाका तमभाव या परमावधित्व है। सर्व विलक्षणता तथा अनुपमेयता और अनंत गुणोंसे युक्तता इ० बातोंका इसमें समावेश नहीं होता। इसका मतलब इतना ही है कि समान वस्तुओंके गुणोंसे तुलना करनेपर सापेक्ष अनंत वस्तुके गुण श्रेष्ठतम होंगे।

लेकिन नितांत निरपेक्ष अनंत वस्तुमें परिच्छिन्नता, अवधारणा, तथा वाच्यार्थ विषयादिका पूर्ण अभाव रहता है। ऐसी वस्तु अनन्य-साधारण, निरुपम और साजात्यरहित होती है। वह अपनी तरह की अनोखी होती है। उसका प्रत्येक गुण भी इसी तरहका होता है। इसलिये न तो उसका वर्णन ही किया जा सकता है और न निर्धारण ही। ईश्वर या मूल तत्वका यही स्वरूप है, क्योंकि 'निर्धारणा-निषेधात्मक होती है- (determination is negation.) अनंत ईश्वरमें और सांत वस्तुओंमें सर्वश्रेष्ठ वस्तुकी भी कोई तुलना नहीं हो सकती। सब तरहके विशेषणोंका ईश्वरमें स्वरूपतः अभाव है। इसलिये निषेधात्मक विशेषण भी विरोधी धर्मोंके अभाव द्योतनके साधन मात्र हैं, उनकी प्रस्थापना करनेमें तात्पर्य नहीं। सारांश यह कि 'अनंत' शब्दसे इस प्रकारके शब्द विवक्षित हैं यथा 'अनन्यसाधारण,' 'अतुलनीय' 'अपरिच्छेद्य,' 'अनधिगम्य' 'अनिर्वाच्य' इ०।

५. गुणोंका मूल तत्वसे संबंध

स्पिनोझाका मूल तत्व या ईश्वर स्वरूपतः अज्ञेय है। स्पिनोझाके मतसे हमें उसकी स्पष्ट तथा सुव्यक्त कल्पना तो अंतःप्रज्ञासे अपरोक्षतया आ सकती है, परंतु लक्षण इ० द्वारा वर्णनात्मक वाच्यार्थ ज्ञानका वह अविषय है। इस रीतिसे वह सदा अज्ञेय ही रहेगा। अगले प्रकरणमें हम देखेंगे कि स्पिनोझा प्रमाणोंद्वारा ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेमें प्रयत्नशील है। ऐसा करनेमें उसे मध्यकालीन परंपराकी तरह यही विवक्षित है कि यद्यपि ईश्वर स्वरूपतः अज्ञेय है तथापि उस का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है।

मध्ययुगीन दार्शनिकोंके अनुसार यद्यपि ईश्वरका वास्तविक स्वरूप अनधिगम्य है, तथापि ईश्वर मनुष्यके सम्मुख अपने आपको अपनी भिन्नभिन्न कृतियोंद्वारा, तथा स्रष्टा, पालनकर्ता, नियंता, रक्षणकर्ता इत्यादि रूपों द्वारा प्रकट किया करता है। इन विशेषणोंको मध्ययुगीन दर्शनमें 'दैवी गुण' यह संज्ञा थी। ये दैवी गुण विभिन्न प्रकारके थे, तथापि इतना तो सर्वसम्मत था कि इनके द्वारा ईशस्वरूपमें न तो बहुत्व ही आता है और न ईश्वर और जीवमें कोई साम्य ही। इसलिये इनका लाक्षणिक अर्थ लिया जाता था। मध्ययुगीन यहूदी दार्शनिकोंके सम्मुख सबसे बडी समस्या यही थी कि इन गुणोंका किस रीतिसे अर्थ लगाया जाय ताकि इनके रहते हुए भी ईश्वरकी अनन्यसाधारणता तथा निष्कलता अक्षुण्ण बनी रहे। यह बात सर्वानुमतिसे सम्मत थी कि कोई भी गुण अपने सामान्यतया ज्ञात वाच्यार्थ द्वारा ईश्वरका वास्तविक स्वरूप नहीं बतला सकता, कारण भगवत्तत्त्व सदाके लिये अज्ञेय ही है। भारतीय दर्शनमें परमार्थ वस्तुके तात्विक और औपाधिक स्वरूपमें जो भेद विभिन्न नामोंसे युक्त सगुण ईश्वर और परब्रह्म इन दो शब्दोंद्वारा ध्वनित होता है वही भेद मध्ययुगीन दर्शनमें ईश्वरके अन्य नाम तथा जेहोवा इस नामके द्वारा बतलाया जाता था। स्पिनोझाने भी अपने एक ग्रंथमें इसी मतका समर्थन किया है।

"...in scripture no other name but Jehova is ever found which indicates the absolute essence of God" अर्थात् ईश्वरके वास्तविक

× नी. शा. भा. १. प. २　　ॐ नी. शा. भा. १ प. २ का आशय।

स्वरूप या नितांत निरपेक्ष तत्व की ओर संकेत करनेवाला नाम धर्मग्रंथों में जेहोवा के सिवा अन्य नहीं है । रहा अन्य नामों या सगुण रूपोंका वर्णन, उसके संबंध में मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी तरह स्पिनोझा भी कहता है कि " धर्मशास्त्र निरंतर मनुष्य की भाष में बोलते हैं ।" (The scripture continually speaks after the fashion of men.)× इसका अर्थ ठीक वही है जो हमारे यहांके वेदान्तशास्त्र के इस कथनका कि श्रुतिका तात्पर्य ईश्वरके सगुण रूपमें नहीं है।

स्पिनोझा मध्ययुगीन परंपराका अनुसरण करके ईश्वरके संबंधमें ' गुण ' इस शब्दका प्रयोग करता है । उसके अनुसार गुण वही है जो स्वरूपतः अज्ञेय मूल तत्वको मानव मनमें प्रकट करता है। स्पिनोझाके गुण वेही हैं जिन्हें मध्ययुगीन दार्शनिकोंने स्वरूप लक्षण कहा था (Essential attributes) । ' गुण से मेरा आशय उससे है जिसे बुद्धि यह समझती है मानो वह मूल वस्तुका तत्व हो । ' स्पिनोझाके दर्शन में विवादकी सबसे दुष्कर ग्रंथि यही है, जिसने स्पिनोझा के आलोचकोंको दो दलोंमें विभाजित कर रखा है। गुण की उपर्युक्त परिभाषाके दो अंशोंमेंसे किसी एक पर अधिक जोर देनेसेही ये दो परस्परविरोधी मत बन जाते हैं। यदि प्रथमांश ' बुद्धि यह समझती है मानो' (इवकार) पर जोर दिया जाय तो गुणों की मूल तत्वमें वास्तविक स्थिति न होकर बुद्धिगत (in intellectu) होगी इसके विपरीत यदि द्वितीयांश 'मूल वस्तुका तत्व हो' को प्रधान माना जाय तो गुण बुद्धिसे निरपेक्ष मूल वस्तुके वास्तविक-घटक होंगे । उभय पक्ष इस बातको तो स्वीकार करते हैं कि गुण बुद्धिद्वारा ही देखे जाते हैं। परंतु पहिले मतमें बुद्धिकी इस क्रियाका अर्थ है बुद्धि द्वारा गुणोंका आरोप करना, कारण मूल वस्तुस्वरूपसे उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। दूसरे मतमें गुणोंका बुद्धि द्वारा देखे जाने का अर्थ अस्तित्वविहीन गुणोंका आरोपमात्र नहीं है। इस मतमें मूल वस्तुमें गुणोंका वास्तविक अस्तित्व है। बुद्धि इन वास्तविक गुणोंकी खोज भर करती है । पहिला मत हेगेल (Hegel), अर्डमान (Erdmann) तथा अन्य हेगेलियन विद्वानों का है। दूसरा मत कुनोफिशर (Kuno Fischer), मार्टिनो (Martineau) प्रभृति विद्वानों का है। इस विषयमें स्पिनोझाके आधुनिकतम श्रेष्ठ आलोचक प्रो. वॉल्फसनका निर्णय विचारणीय है। इनके मतसे अधिकांश प्रमाण प्रथम पक्षके अनुकूल हैं। यह मत स्पिनोझाके गुणविषयक विभिन्न कथनोंसे मेल रखता है और उसकी दार्शनिक रचना में गुणोंके स्थानकी दृष्टिसे अधिक सुसंगत है—

" On the whole, the abundance of both literary and material evidence is in favour of the subjective interpretation. This interpretation is in harmony both with the variety of statements made by Spinoza about attributes and with the place which the attributes occupy in his system. '+

इस मतके विरुद्ध मार्टिनो द्वारा दी हुई प्रमुख आपत्ति यह है कि कोई भी प्राक् कांटकालीन विद्वान् स्पिनोझाके शब्दोंसे यह अर्थ न निकालता। प्रो. वॉल्फसनके अनुसार इस आक्षेपका यह उत्तर है कि दैवी गुणोंकी इस बुद्धिगतता तथा बुद्धि निरपेक्षताके पक्षोंको लेकर मध्यकालीन यहूदी दार्शनिकोंमें मतभेद थे। इस वादको सामान्य प्रत्ययों (Universals)के विषयमें वस्तुवाद (Realism) और नामवाद (Nominalism) यह स्वरूप प्राप्त हो गया था। प्रो. वॉल्फसन के अनुसार स्पिनोझाने, जो दार्शनिकोंके विचारोंसे भलीभांति परिचित था, प्रथमपक्षीय दार्शनिकोंका मत जान बूझकर अंगीकार किया है । यह ठीक भी जान पडता है । स्पिनोझाके मतसे समस्त सामान्य, सिवा एक मूल तत्वके, बुद्धिगत हैं, और जो बात सामान्योंके विषयमें सच है वही गुणोंको भी लागू होती है※। इस लिये जहां डेकार्टने गुणोंको मूल वस्तुके तत्व–घटक कहा, स्पिनोझा उनके संबंधमें ' बुद्धि यह देखती है मानो'का विशेष रूप से उपयोग करता है ।

स्पिनोझाने अनेक स्थलोंपर निस्संदिग्धतया यह बतलाया है कि गुणोंको वह बुद्धिगत मानता है जिनके कारण मूल वस्तु की एकता या निष्कलतामें बाधा नहीं पहुंचती। पत्र नं ९ में उसने अपने मित्रों की, जिनमें सायमॉन डी व्राइज प्रमुख था, इस प्रकार की शंकाओंका कि अनेक गुणोंके होनेसे मूलतत्वमें भी

× Letter 19 quoted by Wolfson, vol. I, P. 143 of the Phil. of Spinoza.

\+ Philosophy of Spinoza, pp. 146-147

※ ibid pp.152-153

अनेकता होगी, समाधान करते हुए लिखा है कि 'गुणसे मेरा तात्पर्य मूल वस्तुसेही है, लेकिन बुद्धिकी सापेक्षतासे उसे गुण संज्ञा प्राप्त होती है, और बुद्धिके द्वारा ही उसे गुणोंके कारण विविक्त स्वरूप प्राप्त होता है।' इसलिये गुण भिन्न या अनेक होनेपर भी वस्तु एक ही रहती है। गुण एकही वस्तुको अभिव्यक्त करनेवाले भिन्न शब्द मात्र हैं।

मध्ययुगीन दार्शनिक गुणोंके बहुत्व तथा मूल वस्तुकी निष्कलतामें आपाततः दीखनेवाले विरोधका परिहार अनेक गुणोंको एकत्वमें पर्यवसित करके किया करते थे। ये सब गुण जिनमें प्रमुख सत्, चित् तथा शक्ति हैं, ईश्वरके स्वरूपमें समाविष्ट हैं; और ईश्वरका विचार आते ही एकसमयावच्छेदेन हमारे सम्मुख आते हैं लेकिन हमारी वाक्-शक्तिकी मर्यादाके कारण न तो हम इनका एक साथ उच्चार ही कर सकते हैं और न भाषाकी मर्यादाके कारण तीन शब्दोंका वाचक एक शब्दही कह सकते हैं।

इसलिये हमें क्रमशः इनका उच्चारण करना पडता है। इसलिये हमारी दृष्टिसे जो विशेषण भिन्न हैं, वे ईश्वर-स्वरूपमें अभिन्न हैं। मनुष्यको भिन्न भिन्न गुण क्रमशः विचारमें लाने पडते हैं या संपादन करने पडते हैं, इसलिये हम उन्हें पृथक् देखनेके अभ्यस्त हैं। ऐसेही हममें प्रथम उनका अभाव होता है, फिर हम अपनेमें न होनेवाले उन गुणोंको प्राप्त करना चाहते हैं, इसलिये हम उन्हें तत्वसे पृथक् देखते हैं। परंतु ईश्वरस्वरूपमें वे प्रयत्न द्वारा संपादित न होनेसे पृथक् नहीं हैं और न उनके कारण उसके स्वरूपमें अनेकताही आती है। दसवें विधानके स्पष्टीकरणमें स्पिनोझाने ठीक इसी युक्तिवादका अवलंब किया है। सारांश यह कि गुण मूल तत्वकी सत्ता या सत्यताको प्रकाशित करनेवाले शब्द मात्र हैं×। बारहवें विधानमें स्पिनोझा कहता है, "मूल तत्वके ऐसे किसी भी गुणकी कल्पना नहीं की जा सकती जिसके परिणामस्वरूप मूल तत्वमें विभाग संभव हो सके।" गुणोंकी परिभाषामें उनकी बुद्धिगतता प्रस्थापित करके इस विधानमें गुणोंकी उस स्वतंत्र सत्ताका निषेध किया गया है, जिसके द्वारा मूल तत्वकी अखंडता भंग हो सके। अतएव १३ वें विधानमें यह निष्कर्ष निकाला गया है कि नितांत निरपेक्ष अनंत मूल तत्व निर्विभाग है। इन दोनों विधानोंके प्रमाण प्रायः सरीखे हैं और उनमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे मध्युगीन दार्शनिक ऍवेरोज (Averroes) के इसी विषयसंबंधी प्रमाणसे बिलकुल मिलते हैं। इन प्रमाणोंकी युक्ति यह है—

"यदि नितांत निरपेक्ष मूल तत्व विभाज्य हो तो उसके अंश या तो अंशीका स्वभाव लिये हुए होंगे या न होंगे। यदि अंशीका स्वभाव लिये हुए हों तो अनेक अनंत मूल तत्व होंगे, लेकिन यह तो सर्वथा अयुक्त है। यदि अंश अंशीके स्वभावसे युक्त न हुए तो अंशी अपने स्वरूपसेही हाथ धो बैठेगा।"

इस विषयका शेष विवेचन विचार और विस्तार इन दो गुणोंके संबंधमें होगा।

× ईश्वरीय गुणोंके इस प्रकारके विवेचनमें तथा वेदांतकी सच्चिदानंदकी कल्पनामें बहुत कुछ साम्य है। सत्, चित, आनन्द ब्रह्मस्वरूपसे पृथक् न होकर ब्रह्मस्वरूप ही हैं। इनके कारण ब्रह्मस्वरूपकी अखंडता भंग नहीं होती; कारण ये भी कल्पित ही हैं— "तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणं, यथा सत्यादिकं ब्रह्मस्वरूपलक्षणम्। ननु स्वरूपस्य स्ववृत्तित्वाभावेन कथं लक्षणत्वमिति चेन्न, स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मधर्मिभावकल्पनया लक्ष्यलक्षणत्वसंभवात्। तदुक्तम् "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वञ्चेति सन्ति धर्माः अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासंते" इति। (वेदांतपरिभाषा)

[प्रकरण ६]

ईश्वरके अस्तित्वविषयक प्रमाण

नीतिशास्त्रके प्रथम भागका ११वां विधान यह है- 'ईश्वर या मूल तत्व जो उन अनंत गुणोंसे युक्त है, जिनमेंसे प्रत्येक शाश्वत तथा अनंत 'तत्वता' (essentiality) का व्यंजक है, आवश्यक रूपसे अस्तित्ववान् है।" इस विधानको सिद्ध करनेके लिये स्पिनोझाने चार प्रमाण दिये हैं। इनमेंसे तीन, प्रथम, द्वितीय, तथा चतुर्थ प्रत्यक्ष (direct) अर्थात् सत्तामूलक प्रमाण (ontological proofs) हैं। प्रत्यक्षसे यहां इंद्रियप्रत्यक्ष अभिप्रेत न होकर स्वसंवेद्य वस्तुके उस अन्य प्रमाण निरपेक्ष ज्ञानसे अभिप्राय है जो सदा सर्वदा सबको सहजही अव्यवहित-तथा प्रत्यक्ष है। शेष एक अर्थात् तृतीय प्रमाण अप्रत्यक्ष अर्थात् जगत्कार्यानुमेय है, क्योंकि वह जगत्कार्य कर्तृत्व द्वारा ईश्वरकी सिद्धि करता है (cosmological proof)।

सत्तासंबंधिनी युक्ति (ontological argument) का स्वरूप किंचित् विवादग्रस्त होनेसे उसका संक्षेपमें स्पष्टीकरण उचित होगा। प्रो. वॉल्फसनके अनुसार यह प्रमाण विकृत अर्थ तथा इस विकृतार्थके आधारपर अनेक आक्षेपोंका शिकार हुआ है*। यह रूढ विकृतार्थ इस स्वरूपका का है। चूंकि हमारे मनमें सर्वश्रेष्ठ सत्ता या परिपूर्ण ईश्वरकी कल्पना है, अतएव ऐसे ईश्वरका अस्तित्व हमारी कल्पनाके निरपेक्ष वास्तविक होना चाहिये क्योंकि परिपूर्णता या श्रेष्ठतामें अस्तित्वका अंतर्भाव होता है। इस तथाकथित सत्तामूलक प्रमाणपर आक्षेप यह है कि इस प्रमाणमें ऐसी कोई बात नहीं है जो उपर्युक्त रूपमें परिकल्पित ईश्वरको मनगढन्त कल्पनाजालके अतिरिक्त कुछ सिद्ध कर सके। जिस प्रकार एक सर्वथा परिपूर्ण और श्रेष्ठतम द्वीपकी कल्पना द्वारा उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता, उसी प्रकार प्रस्तुत परिपूर्णादि गुणोंसे युक्त ईश्वरकी कल्पनाद्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। प्रो. वॉल्फसनने इस विकृतार्थ-मूलक आक्षेपकी कडे शब्दोंमें आलोचना करके यथार्थताके साथ यह बतलाया है कि इस युक्तिका जिन जिनने अवलंब किया है यथा आंसेम (Anselm), टॉमस ऍक्विनस (Thomas Acquinas), संत आगष्टाइन (St. Augustine), डेकार्ट, स्पिनोझा इ. उन सबका उद्देश्य द्वीपकी कल्पनाकी तरह कल्पना मात्रसे ईश्वरको सिद्ध करना नहीं था। ये सब दार्शनिक उपर्युक्त आक्षेपसे भली भांति परिचित थे और इसका उत्तर भी सबने एकसा दिया है और वह यह है कि ईश्वरका हमें अव्यवहित, अपरोक्ष और सुस्पष्ट ज्ञान है। यह ईश्वरका ज्ञान प्रमाणभूत है, कारण यह अपना प्रमाण आपही है। यही इनके ईश्वरके अस्तित्वविषयक प्रमाणका सच्चा स्वरूप है, जो अपनी सिद्धिके लिये किसी कल्पना या अनुमानादि प्रमाणोंपर अवलंबित नहीं है।

वेदांतदर्शन में भी पारमार्थिक वस्तुको स्वयंसिद्ध स्वयंप्रकाश माना गया है, जिसका सबको सर्वकाल सामान्यरूपसे अपरोक्ष ज्ञान है, विशेष रूपसे चाहे न हो। अन्य सब प्रमाणों की सिद्धि इस स्वयंप्रकाश स्वयंसिद्ध वस्तुद्वारा होती है, अतएव अन्य प्रमाण इसको कैसे सिद्ध कर सकते हैं? 'विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्?' यह आत्मतत्त्व अपनेही द्वारा गम्य है। स्पिनोझा भी यही कहता है, 'लेकिन ईश्वर जो समस्त वस्तुजातका आद्य कारण है, इतना ही नहीं जो अपने स्वयंकाभी स्वयंभू कारण है, अपने स्वयंकी अभिव्यक्ति स्वयंके द्वारा करता है। (God, however, the first cause of all things and even the cause of himself, manifests himself through himself)§

तार्किक दृष्टिसे भी ईश्वर की कल्पना परिपूर्ण द्वीप की तरह नहीं। परिपूर्ण द्वीप की कल्पना तो निरी हमारी मनोमय सृष्टि की रचना है जिसमें किसी भी प्रकारकी तार्किक आवश्यकता रंच मात्र नहीं। परंतु ईश्वर या मूल तत्वकी कल्पना तो समस्त कल्पनाओंको सिद्ध करनेवाली आद्य जननी है। अन्य सब कल्पनाएं इसके रहनेसे जानी जाती हैं, परंतु यह अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है। इसको स्वयंप्रकाश न माननेसे अनवस्था होगी और व्यवहारमात्रका उच्छेद होगा। यहां पर यह

* Phil. of Spinoza, Vol. I, p. 167 ff.

§ From 'Short Treatise' quoted by Wolfson–Phil. of Spinoza,' vol. I, P. 169.

बात न भूलनी चाहिये कि स्पिनोझाका ईश्वर धर्मशास्त्रका ईश्वर न होकर विश्वका वह व्यापकतम तत्व है, जिसका अस्तित्व सर्वथा हमारी कल्पना-निरपेक्ष है। सारांश यह कि इस प्रमाणका स्वरूप उस तरह का बिलकुल नहीं जिस तरहका इसे साधारणतया बतलाया जाता है।

अब प्रश्न इतनाही है कि यदि ईश्वर स्वयंसिद्ध है तो उसे प्रमाणद्वारा सिद्ध करनेकी आवश्यकता ही क्या है? वह तो सिद्धसाधन ही होगा। कारण पाश्चात्य तर्कशास्त्रकी भाषामें साध्यवाक्य (major premise) तथा निगमन (conclusion)में उद्देश्य और विधेय (Subject and predicate) समानप्राय हैं। तब फिर सत्तामूलक प्रमाणमें अनुमानकी उपयोगिता किं स्वरूप है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि अनुमानद्वारा साध्यवाक्यमें कोई नई बात नहीं आती, फिर भी अनुमान सर्वथा व्यर्थ नहीं है। यह ठीक है कि साध्यवाक्यद्वारा जो ज्ञान होता है उससे अतिरिक्त अनुमानसे कोई नई बात नहीं निकलती, तथापि अनुमानकी उपयोगिता समर्थनीय है, कारण अनुमान इतर प्रमाणनिरपेक्ष प्रत्ययको तर्कमें रूपांतरित करके दृढ करता है; साध्य वाक्य में निहित सत्यको अनुमान अधिक विशद रूप देता है; अव्यवहित अनुभवके विषयको तार्किक युक्तिवादका स्वरूप दे देता है। यह बात भारतीय दर्शनमें भी मान्य की गई है। 'श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्' यह आचार्योक्ति प्रसिद्ध ही है। वैसेही वाचस्पति मिश्र की यह उक्ति 'प्रत्यक्षेण परिकलितमप्यर्थं अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः' भी कम विख्यात नहीं। नव्य न्यायमें पक्षताके परिष्कृत लक्षणमें सिद्ध्यभावको 'सिसाधयिषा विरह विशिष्ट' बनानेका भी यही रहस्य है। सारांश यह कि यद्यपि स्पिनोझा ईश्वरके विषयमें सत्तामूलक प्रमाण देते समय कोई नई बात नहीं बतलाता तथापि पूर्वानुभूत वस्तुकोही वह तर्कशास्त्र की रूढ भाषामें रखकर दिखला देता है।

प्रथम प्रमाणमें स्पिनोझा विरुद्ध पक्षमें अनिष्टापत्ति या असंगति प्रदर्शनपद्धति (Reductio ad absurdum) का अवलंब करता है। मूल विधान ११ में ईश्वरका अस्तित्व आवश्यक रूपका कहा गया है। आवश्यक पदसे संभाव्य या काल्पनिक अस्तित्वसे ईश्वरके अस्तित्वकी व्यावृत्ति की गई है और साथही यह भी ध्वनित किया गया है कि तार्किक युक्तिवादसे भी यह आवश्यकता सिद्ध है। यदि ईश्वरका अस्तित्व आवश्यक न माना जाय तो यह परिणाम होगा कि उसका तत्व अस्तित्व गर्भित नहीं है। लेकिन यह तो सर्वथा अयुक्त है कारण, सातवें विधानमें यह सिद्ध किया गया जा चुका है कि ईश्वर अपने आपका स्वयंभू कारण होनेसे अस्तित्व उसका स्वरूप ही है। इस लिये वह आवश्यक रूपसे अस्तित्ववान् है। यह तो बतलाया जा चुका है कि ईश्वरका अस्तित्व प्रमाणभूत अव्यवहित ज्ञानका विषय है। अतएव प्रस्तुत प्रथम प्रमाणका अनुमान निम्न स्वरूप× का होगा– "यदि हमें ईश्वरकी अस्तित्वमय तत्वयुक्त सत्तारूपसे स्पष्ट तथा सुव्यक्त कल्पना हो तो हमें ईश्वरके अस्तित्वका अव्यवहित ज्ञान होता है।

परंतु हमें ईश्वरकी अस्तित्वमय तत्वयुक्त सत्तारूपसे स्पष्ट और सुव्यक्त कल्पना तो है। इसलिये हमें ईश्वरके अस्तित्वका अव्यवहित ज्ञान है।"

द्वितीय प्रमाणमें भी स्पिनोझा उपर्युक्त अनिष्टापत्ति या असंगति-प्रदर्शन-पद्धति का ही अवलंब करता है। वस्तुमात्रके अस्तित्व या अस्तित्वाभावका कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। उदा० एक त्रिकोण लीजिये। इस त्रिकोणके अस्तित्वका कारण स्वीकार करना होगा। इसके विपरीत यदि उसका अस्तित्व नहीं है तो उसके अस्तित्वका प्रतिबंधक+ कारण या उसके अस्तित्वका विघातक कारण भी मानना होगा। यह कारण या तो वस्तुके स्वरूपांतर्गत होता है या उससे बहिर्भूत। उदा० अभाव पक्षमें समभुज चतुष्कोणवृत्त (Square circle) का अभाव उसके स्वरूपद्वारा ही निदर्शित है, कारण यह वदतो व्याघात है। भावकोटिमें मूल तत्वका अस्तित्व स्वरूपतः सिद्ध है, कारण उसका स्वरूपतः ही अस्तित्व है। परंतु वृत्त (circle) या त्रिकोण (Triangle) का अस्तित्व स्वरूपतः सिद्ध न होकर 'विस्तार' के व्यापक रचनाक्रम द्वारा सिद्ध है। त्रिकोणका अनिवार्य अस्तित्व या अस्तित्वका असंभव दोनों इसी रचनाक्रमके अधीन हैं। यह बात तो निर्विवाद है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिबंधकाभाव होनेसे वस्तुका अस्तित्व अवश्य होता है।

अब यदि ईश्वरके अस्तित्वका प्रतिबंधक या उसके अस्तित्वका विघातक कोई कारण न बतलाया जा सके, तो हम इस

× प्रथम तथा अन्य अनुमानोंके स्वरूप मूल ग्रंथमें इतने स्पष्ट नहीं हैं। इनके लिये हम प्रो. वॉल्फसनकी व्याख्याके ऋणी हैं।

+ हमारे यहां भी न्यायशास्त्रमें कार्योत्पादक कारण-सामग्रीमें प्रतिबंधकाभावको भी एक कारण माना है।

निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वह आवश्यकतया अस्तित्ववान् है। यदि ऐसा कोई कारण हो भी तो या तो वह ईश्वरके स्वरूपांतर्गत होगा या उसके स्वरूपसे बहिर्भूत; अर्थात् वह भिन्न स्वभाववाले दूसरे मूल तत्वमें होना चाहिये, क्योंकि यदि यह दूसरा मूल तत्व ईश्वरके समान स्वभाववाला हो तो यही एक बात ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध कर देगी। लेकिन भिन्न स्वभाववान् मूल तत्वमें और ईश्वरमें कोई भी बात उभयसाधारण न होनेसे न तो वह उसके अस्तित्वका और न अस्तित्वाभावका ही कारण हो सकता है। अब यदि ईश्वरके अस्तित्वका विघातक बाह्य कारण सिद्ध नहीं हो सकता तो ऐसा कारण ईश्वरके स्वरूपांतर्गत ही मानना होगा; परंतु यह बात तो वदतो व्याघात दोषग्रस्त है। नितांत निरपेक्ष अनंत और पूर्णातिपूर्ण सत्ताके विषयमें ऐसा विधान सर्वथा अयुक्त है। सारांश यह कि ईश्वरके अस्तित्वका विघातक कारण ईश-स्वरूपमें या स्वरूप बहिर्भूत उभयथा असिद्ध होनेसे ईश्वरका अस्तित्व आवश्यक है। इस प्रमाणका अनुमान इस प्रकारका होगा—

"यदि हमें ईश्वरकी स्वरूपतः आवश्यक अस्तित्वशील सत्तारूपसे स्पष्ट और सुव्यक्त कल्पना है तो कहना पडेगा कि ईश्वरके अस्तित्वका हमें अव्यवहित ज्ञान है। लेकिन हमें ईश्वरकी स्वरूपतः आवश्यक अस्तित्वशील सत्ता रूपसे स्पष्ट और सुव्यक्त कल्पना तो है।

"अतएव हमें ईश्वरके अस्तित्वका अव्यवहित ज्ञान है।"

यहांपर यह बात न भूलनी चाहिये कि आवश्यक अस्तित्वसे स्पिनोझाका अभिप्राय सर्वथा कारणनिरपेक्ष अस्तित्वसे है, जो स्वरूपतः सिद्ध होता है। ऐसा अस्तित्व सिर्फ ईश्वरकाही हो सकता है। संभाव्य अस्तित्व अन्य कारण सापेक्ष होता है; कारणके अधीन उसकी स्थिति होती है और कारणके अभावमें उसके अस्तित्वका अभाव होता है।

तृतीय प्रमाण कार्य-कारण-भावमूलक या जगत्कार्यकर्तृत्व-द्वारा ईश्वरकी सिद्धि करनेवाला है (Cosmological)। इसमें भी असंगति-प्रदर्शन-पद्धतिका अवलंब है। हमें हमारे सांत या ससीम अस्तित्वकी कल्पना है। साथ ही हमें ईश्वरके अनंत, अपरिमित अस्तित्वकी भी कल्पना है। इन उभय कल्पनाओंके सत्यासत्यके बारेमें तीन विकल्प हो सकते हैं। या तो ये दोनों कल्पनाएं झूठी हैं और इसके फलस्वरूप अस्तित्व मात्रकी निषेधापत्ति है। या हमारे अस्तित्वकी कल्पना मात्र सत्य है और इसके परिणाम-स्वरूप परिच्छिन्न वस्तुओंके अतिरिक्त अन्य आवश्यक सत्ताका अस्तित्व ही न होगा। तृतीय विकल्पमें उभय कल्पनाएं सत्य हो सकती हैं और इसलिये नितांत निरपेक्ष अनंत सत्ताका आवश्यक अस्तित्व भी सिद्ध है।* पहिला विकल्प ठीक नहीं, कारण हमारा अस्तित्व तो है। द्वितीय विकल्प भी युक्तियुक्त नहीं, कारण सांत वस्तुओंके अतिरिक्त अन्य आवश्यक सत्ताका निषेध करनेसे यह आपत्ति आती है कि सांत वस्तुएं नितांत निरपेक्ष सत्तासे भी बलवत्तर हो जाती हैं, क्योंकि अस्तित्वका अभाव शक्तिहीनताका और अस्तित्वशक्तिका द्योतक है। लेकिन यह तो सर्वथा विरुद्ध है। अस्तित्व यदि सिर्फ हमारा ही हो और ईश्वरका न हो तो हमारा अस्तित्व 'हममें' ही होना चाहिये, यानी हमारे अस्तित्वके जनक हमही होंगे। इसलिये हमारे स्वयंके अस्तित्वकी कल्पना ईश्वरके अस्तित्वसे बलवत्तर होगी, कारण अस्तित्वकी असमर्थता शक्तिहीनता या अकर्तृत्वकी द्योतक है; इसके विपरीत अस्तित्वशीलता शक्ति या कर्तृत्वका चिह्न है। लेकिन हमारा प्रारंभ इसी धारणा या गृहीत सिद्धांतसे है कि हमें ईश्वरकी अनंत सत्तारूपसे कल्पना है और अपने स्वयंकी परिच्छिन्नतया। इसलिये ऐसा माननेमें स्पष्टही विरोध आता है। अतएव तृतीय विकल्प सत्य होना ही चाहिये जिसके अनुसार हम कह सकते हैं कि ईश्वर या नितांत निरपेक्ष सत्ता आवश्यक रूपसे अस्तित्ववान् है। इस प्रमाणका अनुमान निम्न स्वरूपका है।

"अपने अस्तित्वमें स्थित प्रत्येक वस्तुका कारण अवश्य होना चाहिये।

हम और जगत् हमारे अस्तित्वमें स्थित हैं। इसलिये हमारा तथा जगत्का कोई कारण अवश्य होना चाहिये।"

इस अनुमानमें प्रयुक्त 'स्थित' शब्दसे 'स्थिति'

---

* चौथा विकल्प भी संभव है कि अनंत अस्तित्वशील ईश्वरही एक मात्र सत्य है, अन्य सब मिथ्या है; परंतु सर्वेश्वरवादी स्पिनोझा जगत्की व्यावहारिक सत्ताका निषेध नहीं करना चाहता और वेदांतका पारिभाषिक 'मिथ्यात्व' सिर्फ वेदांतमें ही पाया जाता है।

अभिप्रेत है जो मध्यकालीन दार्शनिक, डेकार्ट तथा स्पिनोझाको सृष्टिकी उत्पत्तिद्वारा ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेकी अपेक्षा भी बलवत्तर युक्ति मालूम हुई, कारण सृष्टि अनादि मानने पर भी जगत्की स्थितिका कारण ईश्वर माना जा सकता है।

चतुर्थ प्रमाण स्वतंत्र न होकर तृतीय प्रमाणकाही सत्तामूलक प्रमाणमें रूपांतर है। इसका कारण स्वयं स्पिनोझाने चतुर्थ प्रमाणकी प्रस्तावनामें बतलाया है। "मैंने तृतीय प्रमाणको बाह्य अनुभवजन्य ज्ञान (a posteriori) की मर्यादामें सिर्फ बोधसौकर्यकी दृष्टिसे रखकर दिखाया है, इसलिये नहीं कि बाह्य अनुभव निरपेक्ष सहजसिद्ध ज्ञान (a priori)का वह अविषय है। कारण अस्तित्वशीलता शक्ति है और जिस परिमाणमें किसी वस्तुकी सत्यता अधिक होगी, उसी परिमाणमें उसकी अस्तित्वशीलता भी अधिक होगी। इसलिये ईश्वर जैसी नितांत निरपेक्ष सत्तामें स्वरूपतः ही नितांत निरपेक्ष अनंत अस्तित्वशीलता है, इसलिये उसका नितांत निरपेक्ष अस्तित्व है।" इस अवतरणसे यह स्पष्ट है कि ईश्वरके विषयमें बाह्य अनुभवोत्तर स्वरूपके जो जो प्रमाण दिये जा सकते हैं, वे सब बाह्यानुभवनिरपेक्ष सत्तामूलक प्रमाणके भी विषय हो सकते हैं, बशर्ते कि साध्य हमारे अव्यवहित स्वतःसिद्ध ज्ञानका विषय हो। इस प्रमाणका अनुमान निम्न स्वरूपका होगा।

"यदि हमें ईश्वरकी सर्वशक्तिशाली सत्तारूपसे स्पष्ट तथा सुव्यक्त कल्पना है, तो ईश्वरके अस्तित्वका हमें अव्यवहित ज्ञान है।

लेकिन हमें ईश्वरकी सर्वशक्तिशाली सत्तारूपसे स्पष्ट तथा सुव्यक्त कल्पना तो है। इसलिये ईश्वरके अस्तित्वका हमें अव्यवहित ज्ञान है।"

अंतमें स्पिनोझा इस प्रमाणकी यथार्थतामें संदेह करनेवाले प्रतिपक्षियोंका खंडन करता है। पूर्वपक्षका स्वरूप यह है- मनुष्य परिच्छिन्न तथा अपूर्ण होनेके कारण उसका अस्तित्व अधिक संभवनीय है, परंतु ईश्वर अपरिच्छिन्न और पूर्णातिपूर्ण होनेके कारण ही उसका अस्तित्व दुष्कर है। यथा एक लाख रुपयोंकी कल्पना एक रुपयेकी कल्पनासे अधिक पूर्ण तो है, परंतु इसी पूर्णताके कारण एक लाख रुपयोंकी प्राप्ति या उनका अस्तित्व अधिक दुष्कर हो जाता है और अपूर्ण होनेपर भी एक रुपयेका अस्तित्व उतनाही अधिक सुकर है।

स्पिनोझा इस आक्षेपका उत्तर यह देता है कि प्रतिपक्षियोंने यह आपत्ति उठाते समय बाह्य कारणजन्य वस्तुओंमें और सर्वथा बाह्यकारणनिरपेक्ष वस्तुओंमें का अंतर ध्यान में नहीं रखा। इसीलिये वे इस भ्रममें पड गए। बाह्य कारणमूलक वस्तुओंके संबंधमें तो उपर्युक्त कथन ठीक है, कारण उक्त उदाहरणमें पूर्णता और अस्तित्व स्वरूपतः सिद्ध न होकर बाह्य कारणोंपर अवलंबित है। पराश्रित पूर्णताकी अधिकताके साथ ही उसका पराश्रितत्व भी बढता ही जायगा। परंतु अन्य कारणनिरपेक्ष स्वरूपतः सिद्ध परिपूर्णताओंके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता। इतनाही नहीं, परिपूर्णताओंकी अधिकताके साथही उनके अस्तित्वकी संभावना भी अधिकाधिक बढती जाती है; यहांतक कि अनंत पूर्णतासे युक्त सत्ताका अस्तित्व अनिवार्य रूपसे आवश्यक हो जाता है। यह स्वरूपतः परिपूर्णता या पारमार्थिक सत्य या पारमार्थिक सत्ता एक ही बात है। इसलिये स्वरूपतः सिद्ध परिपूर्णताओंसे युक्त ईश्वर पूर्ण सत्य और पूर्ण सत्ताशाली है, कारण आंतरिक या स्वरूपगत पूर्णता वस्तुके अस्तित्वमें प्रतिबंधक न होकर उसका अस्तित्वही प्रस्थापित करती है। अपूर्णताही अस्तित्वमें प्रतिबंधक हो सकती है। इस दृष्टिसे अन्य किसी वस्तुके अस्तित्वके विषयमें हम इतने निःसंदिग्ध नहीं हो सकते जितने कि नितांत निरपेक्ष अनंत या पूर्णातिपूर्ण सत्ता ईश्वरके विषयमें।

दैवत-संहिता।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं। एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है। प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।।।)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।।।)
३ **सोमदेवता**	१२६९	सहस्रपादक	२) रु.	।।)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु.	।।)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १।।) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों को बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु. तथा डा. व्य. १।।) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ **ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)**	५)	डा० व्य० १।)
२ **यजुर्वेद**	२)	,, ,, ।।)
३ **सामवेद**	३)	डा० व्य० ।।।)
४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	५)	,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १५) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य १८) रु. है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १५) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है-।

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ **काण्व संहिता (तैयार है)**	३)	डा० व्य० ।।।)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	५)	,, ,, १)
३ **काठक संहिता** (तैयार है)	५)	डा० व्य० १)
४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	५)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, डा. व्य. ३।।) है अर्थात् २१।।) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १८) रु० में दी जायंगी। डाकव्यय माफ होगा।

- मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है । इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं । अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है ।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० ९) रु० डाक व्यय १॥) म० आ० से ९) रु० भेजनेवालोंको डाकव्यय माफ होगा।

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यंत आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १२५ पृष्ठ, चिकना कागज सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ।≈), डा० व्य० =)

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≡) सात आना है। म० आ० से २।≡) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०"×२७" इंच मू० ≋) रु., डा. व्य. ⁻)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

भाद्रपद सं.२००१
सितम्बर १९४४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९७

विषयसूची।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

पुस्तक	मू.	डा.व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता	मू. ५)	डा.व्य. १)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद ,,	३)	।॥)
४ अथर्ववेद ,,	५)	१)
५ काण्व-संहिता।	३)	॥=)
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥)
४ मंत्रसमन्वय तथा मंत्रसूची	३)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥।)	॥)
योगसाधनमाला।		
१ वै. प्राणविद्या।	॥)	=)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी।	१)	।-)
५ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति	६)	१।)
अक्षरविज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मू.	डा.व्य.
देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-
बालकधर्मशिक्षा		
१ भाग १ -) तथा भाग २	=)	-)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेदपरिचय- (परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला ५ भाग	४)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग १	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	३)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

क्रमाङ्क २९७

वर्ष २५ : : : : अङ्क ९

भाद्रपद संवत् २००१

सितंबर १९४४

कौन है श्रेष्ठ वीर ?

को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः ।
यत् सीमन्तं न धूनुथ ॥

(ऋ. १।३७।६)

" हे नेता (नरः) वीर पुरुषो ! तुम अपने पराक्रमसे (दिवः) द्युलोक और (ग्मः च) भूलोकको भी (धूतयः) हिला देते हैं । ऐसे तुम वीरोंमें (कः वः वर्षिष्ठः) कौन भला ऐसा श्रेष्ठ वीर है, कि जो (अन्तं न) वृक्षके अग्र भागको वायुके द्वारा हिलानेके समान; अपने शत्रुओंको निःसंदेह हिला देता है ? "

राष्ट्रके तरुणोंमें ऐसे पराक्रमी वीर पुरुष निर्माण होने चाहिये, कि जो अपने अतुलनीय तेजस्वी पराक्रम से शत्रुको कंपायमान कर सकते हैं । शत्रुपर ऐसा घोर हमला करना चाहिये कि, जिससे उसे विश्राम तक न मिले, और हमलेके कारण जडमूल से शत्रु स्थानभ्रष्ट हो जाय । शत्रुपर निःसंदेह विजय प्राप्त करनेका यही एकमेव अमोघ अचूक साधन है । इस कार्यके लिये अपने अन्दर सब प्रकारके सामर्थ्य अवश्य बढाने चाहिये ।

घर घरमें वेदोंका अध्ययन होता रहे !

अपने धर्म ग्रंथोंका अध्ययन स्वयं हर एकको करना अत्यंत आवश्यक है। धर्मग्रंथों के सिद्धान्तों के विषय में विदेशियोंपर विश्वास रखना जैसा अनुचित है, उसी तरह अन्योंपर विश्वास करना भी अनुचित है। ऋषियोंने अपनी अतीन्द्रिय शक्तिसे और आध्यात्मिक परिपूर्ण उन्नति होनेके पश्चात् वेदोंका साक्षात्कार किया था। ऐसे वेदोंके विषय में हरएक वैदिक धर्मीको जानकारी अवश्य ही रखनी चाहिये।

आजतक वेदोंको 'बंद पुस्तक' माना जाता था। वेदोंके अभिमानी तो करोडों लोग हैं, पर वेदोंका नित्य पाठ करनेवाले और स्वयं वेदमंत्रोंको समझनेवाले उनमें कितने हैं ? स्वयं वेद न पढे जायँ और स्वयं न समझे जायँ, तो वेद किस तरह आपकी सहायता कर सकते हैं ?

आप यदि प्रतिदिन एक घण्टा वेदोंके अध्ययनके लिये देंगे, तो आप पांच वर्षों के अन्दर वेदों की स्वयं उत्तम जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। क्या अपने धर्मके लिये आप स्वयं इतना यत्न नहीं करेंगे ?

हमने वेदोंका अध्ययन अत्यंत सुगम, सुबोध और सुपाठ्य बनानेका यत्न किया है और इसमें बडी सफलता भी प्राप्त हुई है. क्योंकि इस पद्धतिसे इस समय सहस्रों मनुष्य वेदोंका अध्ययन कर रहे हैं, और कईयोंने परीक्षा भी दी है, और उत्तीर्ण होकर प्रशस्ति पत्रोंको भी प्राप्त किया है। फिर आपही यत्न क्यों नहीं करते ?

वेदोंकी पढाई

वेदोंकी ५ वर्षोंकी पढाई निम्न लिखित प्रकार है–

वर्ष	परीक्षानाम	पढाई मंत्र संख्या
प्रथम वर्ष	'वेदपरिचय'	३०० मंत्रोंकी पढाई
द्वितीय ,,	'वेदप्रवेश'	५०० ,, ,,
तृतीय ,,	'वेदप्राज्ञ'	१००० ,, ,,
चतुर्थ ,,	'वेदविशारद'	२००० ,, ,,
पंचम ,,	'वेदपारंगत'	५००० ,, ,,

प्रथम वर्षकी पढाई ३०० मंत्रोंकी है। जो भाषामें छपकर तैयार है। मूल्य ३॥ है) डा० व्य० ॥।) है।

द्वितीय वर्षकी पढाई ५०० मंत्रोंकी है। यह भी भाषामें छपकर तैयार है। मू० ६) है और डा० व्य० १) है।

इन दोनोंमें मन्त्र, पद, अन्वय, अर्थ, भावार्थ, टिप्पणी आदि सभी साधन पाठकोंकी सुविधाके लिये तैयार रखे हैं।

आगेकी तृतीय वर्षकी पढाईके पुस्तक तैयार हो चुके हैं। छप रहे हैं। तैयार होते ही पाठकोंको सूचना दी जायगी।

इस तरह सुबोध, सुपाठ्य, सुगम पढाई आजतक किसी जगह तैयार नहीं हुई थी। अब यह बनी है और इस विधिसे सहस्रों पाठक अध्ययन कर रहे हैं, परीक्षा दे रहे हैं, प्रशस्तिपत्र प्राप्त कर रहे हैं और उपाधियां भी प्राप्त कर रहे हैं।

फिर आपही प्रयत्न क्यों नहीं करते हैं ? क्या आप अपने प्रिय वेदका अध्ययन करना नहीं चाहते ? इतना सुबोध अध्ययन होनेपर भी आप क्यों वेदके ज्ञानसे दूर रहते हैं ?

स्वयं वेदाध्ययन कीजिये, स्वयं वेदज्ञान प्राप्त कीजिये, स्वयं परम वेदमार्गका अनुष्ठान कीजिये और स्वयं धर्ममार्ग-पर अपनी उन्नति होनेका अनुभव लीजिये।

उठो, जागो और आत्मोन्नतिका वैदिक मार्ग जानकर उसका अनुष्ठान करो और उन्नति प्राप्त करो।

'प्रबंधकर्ता'

अव्यक्त ब्रह्मका व्यक्त होना

वैदिक तत्वज्ञानका मुख्य सिद्धान्त ' सदैक्य सिद्धान्त ' है। यदि तत्वतः एक ही ' सत् ' है और मूलमें अनेक ' सत् ' नहीं हैं, तब तो यही मानना पडेगा कि, उस एक ही ' सत् ' के नाना रूप बने और उनसे यह संसार हुआ है। जो एक ' सत् ' है, उसीका ' ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा ' आदि नामोंसे वर्णन होता है। इसलिये मूलमें जो एक तत्व था, जिसको ' सत् या ब्रह्म ' कहा जाता है, वही प्रकट होकर यह सब संसार, सृष्टी, अथवा यह विश्व बना है। इसीको हमने ' अव्यक्त ब्रह्मका व्यक्त होना ' इस लेखके शीर्ष भागमें लिखा है।

आदिमें जो एक वस्तु थी, उसको ' सत् ' इसलिये कहते हैं कि, ' वह है ' इतना ही बोला जाता है, उसका अधिक वर्णन करना असंभव है। वह ' सत् ' था अर्थात् वह केवल अस्तित्वसे अथवा ' है-पन ' से ही वर्णित होता है, उसका अधिक वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता। उसका नाम ' ब्रह्म ' इसलिये रखा गया कि, इस पदसे उसका ' बडा-पन ' व्यक्त हो। वह ' है ' और वह ' बडा भी है '। अर्थात् जो एक ही वस्तु थी, वह ' बडी थी, ' इसलिये ' ब्रह्म ' कहलायी गयी।

वह ब्रह्म प्रारंभमें प्रकट नहीं था, अर्थात् वह अप्रकट था। पश्चात् वह नाना वस्तुओंके रूपोंमें प्रकट हुआ। जैसे सुवर्णके नाना अलंकार बनते हैं, जैसे अकारके सब अक्षर, पद और वाक्य बनते हैं, वैसा ही वह एक अमूर्त ब्रह्म मूर्त रूपमें प्रकट हुआ। इसीको ब्रह्मका प्रकटीकरण कहते हैं। यही एक विषय सदैक्य सिद्धान्तमें मुख्य विषय है। इसके समझनेसे सदैक्यका सिद्धान्त समझना सरल हो सकता है। इसलिये आज इस लेखमें हम अथर्ववेदके एक सूक्तका विचार करते हैं। इस सूक्तमें ब्रह्म किस तरह प्रकट हुआ, वह सब स्पष्टरूपसे लिखा है। पाठक भी इस सूक्तका स्वतंत्रतासे मननपूर्वक विचार करें, इस सूक्तका प्रथम मन्त्र यह है-

अव्यक्तका व्यक्त होना

(अथर्ववेद ४।१। सूक्त मन्त्र १-७) (ऋषिः-वेनः। देवता-बृहस्पतिः, आदित्यः। छन्दः = त्रिष्टुप्; २,५ पुरोऽनुष्टुप्)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्
वि सीम-तः सु-रुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उप-मा अस्य विष्ठाः
सतश्च योनिं असतश्च विवः॥ १॥

(साम. ३३१; वा. सं. १३।३; काण्व १४।३ तै. सं. ४।२।८।४; तै. ब्रा. २।८।८।८; तै. आ. १०।१।४२; मै. सं. २।७।१९७; काठ. १६।१५; कपि. २५।५; शां. श्रौ. ५।९।५; आ. श्रौ. ४।६।३)

मूलमें (ब्रह्म) परब्रह्म एकही था, वही (पुरस्तात् प्रथमं) आदिकालमें सबसे प्रथम (जज्ञानं) प्रकट हुआ, प्रादुर्भूत हुआ। मूर्त रूपमें व्यक्त हुआ। यही पहिला प्रकटीकरण अथवा पहिला आविर्भाव (वेनः) बडाही चित्ताकर्षक था, बडाही आल्हाददायक था, इसकी (सीम-तः सु-रुचः वि आवः) किनारियोंसे उत्तम तेजके किरण बाहरकी ओर फैल रहे थे॥ (सः) वही प्रकट हुआ देव (अस्य) अपने हीं (बुध्न्याः उप-माः) आन्तरिक और परस्पर सदृशसे दीखनेवाले किरणोंको (वि-स्थाः) विशेष रीतिसे रखता रहा, जहां जिस तरह रखना चाहिये वैसे ही रखता रहा॥ उसीने (सतः असतः च योनिं) सत् और असत्के पूर्वस्थानमें उक्त मूल कारणको पूर्वोक्त रीतिसे (विवः) प्रकट किया। सबसे प्रथम व्यक्त किया॥

यह मंत्र अनेक संहिताओंमें है, अतः विशेष महत्त्व रखता है। इस मन्त्रमें ब्रह्मके प्रकटीकरणके विषयमें जो कहा है, उसे अब देखिये

१ प्रथमं पुरस्तात् ब्रह्म = पहिले प्रारंभमें एक ही ब्रह्म था। ब्रह्मके सिवाय और कुछ भी नहीं था। केवल अकेला एक अद्वितीय ब्रह्म ही था। ' प्रथमं ' पदसे इस

सृष्टिके पहिले, सब से प्रथम, प्रारंभ में ऐसा [illegible] व्यक्त होता है और 'पुरस्तात्' पदका अर्थ आदि कालमें, सृष्टिके आरंभमें ऐसा है। दोनों पदोंका भाव यही है कि, यह सृष्टी बननेके पूर्व केवल एक मात्र ब्रह्म था और उस ब्रह्मको छोडकर और कोई वस्तु [illegible] अथवा तद्विरुद्ध गुणवाली नहीं थी। [illegible] ब्रह्म था।

२ ब्रह्म जज्ञानं= यह ब्रह्म प्रकट हुआ। अर्थात् जो अप्रकट, अव्यक्त, अमूर्त, अदृश्य, अनिर्देश्य था, वही अब प्रकट, व्यक्त, मूर्त, दृश्य, निर्देश्य, हुआ। यह भूतकालका वाक्य है, अर्थात् अतिप्राचीन समयमें अमूर्त ब्रह्मका मूर्तरूप प्रकट हुआ।

प्रथम प्रकटित वेन = महासूर्य

३ वेनः = वेनका अर्थ 'प्रिय, प्यारा, आकर्षक, जाननेयोग्य, सेवा करनेयोग्य, प्रेरक' है। इस तरहका वह पहिला ब्रह्मका आविर्भाव प्रकट हुआ था, सबकी आंखें उसकी ओर लगनेयोग्य वह चित्ताकर्षक था। देखते ही जिस पर सबका मन लग जाय ऐसा वह था।

४ सीमतः सुरुचः वि आवः = उसकी किनारियोंसे उत्तम प्रकाशके किरण बाहरकी ओर फैल रहे थे। उस वेनका जो गोल आकार था, उसकी चारों ओरकी किनारियोंसे अत्यंत तेजस्वी किरण आकाशमें चारों ओर फैल रहे थे। इसी तेजके किरणोंके कारण वह वेन इतना आकर्षक प्रतीत होता था।

ब्रह्मका यह पहिला प्रकटीकरण यही महा सूर्य है। हमारा सूर्य जिस बडे सूर्यके चारों ओर घूमता है वह बडा सूर्य 'वेन' पदसे वेदमें वर्णित है। इस लेखमें पाठक इस बडे सूर्यको ही वेन, हिरण्यगर्भ और सूर्य समझें। इसके वर्णनसे यहां पता लगता है कि, यह 'वेन' निःसंदेह यह महा सूर्य ही है। अव्यक्त ब्रह्मसे पहिला आविर्भाव यह सूर्य ही हुआ। इसीको वेद और उपनिषदोंमें अन्यत्र 'हिरण्यगर्भ' कहा है। सुवर्णके समान जो अन्तर्बाह्य तेजस्वी है। सूर्य कितना सबको प्रिय है, सबके प्राणही मानो सूर्यको ही चाहते हैं। सूर्य न होगा तो कुछ भी यहां नहीं रहेगा। सूर्य उदय होते ही सबका मन अपनी ओर आकर्षण कर लेता है। अस्तु। इस तरह ब्रह्मका पहिला प्रकटीकरण सूर्य ही है।

५ सः अस्य बुध्न्या उपमाः विष्ठाः = वह अपने आन्तरिक और सदा समीप रहनेवाले किरणोंको विशेषरूपसे स्थान[illegible]में स्थापित करता है। 'सः वि-स्थाः' वह विशेष रीतिसे और विविध स्थानोंपर अपने किरणोंको स्थापित करता है। यहां मन्त्रमें किरणपद नहीं है। यहां 'बुध्न्याः' पद है, (तैत्तिरीय पाठ 'बुध्नियाः' है।) इस पदका अर्थ 'मूलसे उत्पन्न हुआ पदार्थ' इतना ही है। मूल ब्रह्म है, उससे वेन उत्पन्न हुआ वही 'बुध्न्य' है। मूलसे जो उत्पन्न होता है वह बुध्न्य है। वेनका अर्थात् सूर्यका अंश ही बुध्न्य है।

(सः अस्य बुध्न्याः विष्ठाः) वह अपने मूलभूत अंशों को विविध स्थानमें रख देता है। अर्थात् मूल ब्रह्मसे सूर्य उत्पन्न हुआ और यह सूर्य ही अपने अंशोंको नाना स्थानोंमें रख देता है। सूर्यके ही अंश ये नाना ग्रह और उपग्रह हैं। ये सूर्यके ही (बुध्न्य) मूलसे उत्पन्न हुए हैं।

(अस्य उप-माः) ये जो ग्रह उपग्रह हैं वे सूर्यके ही उपमा पाने योग्य हैं, क्योंकि ये [illegible] सूर्यके अंश होनेके कारण सूर्यके ही सदृश थे। सूर्यमें अं[illegible]में तत्वतः कोई भेद नहीं था।

इस वर्णनका फल यह निकला कि ( ) प्रारंभमें एक ही अद्वितीय ब्रह्म था (२) उससे सूर्य उत्पन्न हुआ, और (३) सूर्यसे तत्त्वतः समान और उसीके अंश जो चारों ओर जा रहे थे, वे ही ये ग्रह तथा उपग्रह हैं।

द्वन्द्वोंकी उत्पत्ति

६ सः सतः च असतः च योनिं विवः= वह सत् और असत्के मूल कारणको प्रकट करता है अर्थात् उसीसे दोनों प्रकारकी सृष्टी उत्पन्न होती है। ब्रह्मसे सूर्य, सूर्यसे पृथ्वी, और पृथ्वीसे स्थावर जंगम सृष्टी उत्पन्न हुई यही इसका भाव है।

सत् और असत् क्या हैं? इस सृष्टीके अन्दर जीव भाव सत् है और शरीर भाव असत् अथवा क्षर है। सत्-असत्, अक्षर-क्षर, क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र, देही-देह, ये दो पदार्थ इस सृष्टी में दीखते हैं। देह नाशवान् है अतः 'अ-सत्' है और देही शाश्वत है इसलिये 'सत्' है। इनका मूल कारण सूर्यसे ही उत्पन्न हुआ है। ये दोनों भाव सूर्यमें ही थे वे (विवः)

विशेष ढंगसे प्रकट हुए हैं। इसका भावदर्शक चित्र यह है-

ब्रह्म
|
वेनः (महासूर्यः, हिरण्यगर्भः)
|
प्रकाशमय गोलक (सूर्य)
|
बुध　शुक्र　पृथ्वी　मंगल　गुरु　शनि　वरुण　प्रजापति
|
जीव　　　　जड
अक्षर　　　क्षर
सत्　　　　असत्
साशन　　　अनशन
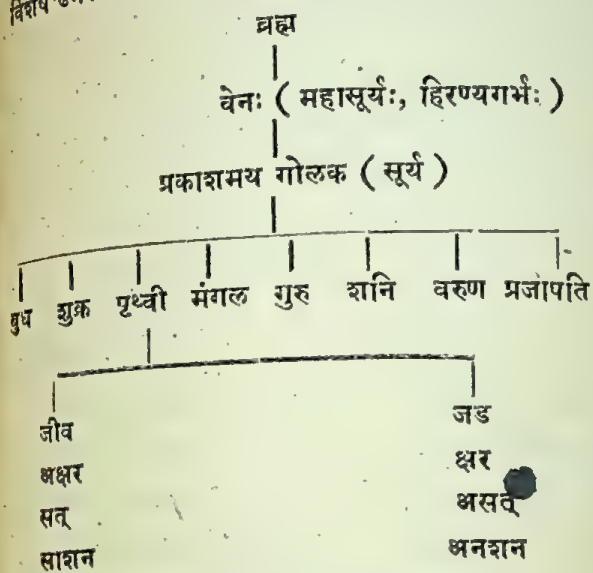
इस तरह ब्रह्मसे सृष्टीकी उत्पत्ति हुई है। पुरुष सूक्तमें प्रायः ऐसा ही क्रम बताया है, जिसका वर्णन पूर्व लेखोंमें (वै. धर्म क्रमाङ्क २७९; वर्ष २४ अंक ३ में) किया ही है। पाठक वह लेख यहां अवश्य देखें और पुरुषसूक्तमें कही सृष्टीकी उत्पत्ति और इस सूक्तमें कही सृष्टीकी उत्पत्तिकी तुलना करें और वेदका सिद्धान्त जाननेका यत्न करें।

सजीव सृष्टी सूर्यसे ही उत्पन्न हुई ऐसा यहां कहा है। इस संबंधमें किस तरह व्यवस्था हुई है, यह अगले द्वितीय मन्त्रमें बताया है, अतः वह द्वितीय मन्त्र अत्र देखिये-

प्राणियोंकी उत्पत्ति

इयं पित्र्या राष्ट्री एतु अग्रे
प्रथमाय जनुषे भुवने-ष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारं अह्यं
घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥ २ ॥
(अथर्व ४।१।२ शां. श्रौ. सू. ५।९।६ + आ. श्रौ. सू. ४।६।३)

(इयं राष्ट्री) यह तेजस्विनी प्रकाशस्वरूपिणी (पित्र्या) पैत्रिक शक्ति है अर्थात् मूल ब्रह्मसे प्राप्त शक्ति है। यह (भुवने-स्थाः) सब भुवनोंमें रहकर, सब भुवनोंके रूपोंमें प्रकट होकर (प्रथमाय जनुषे) पहिले प्राणीके जन्मके लिये, पहिले प्राणीकी उत्पत्ति करनेके लिये (अग्रे एतु) आगे बढती है। आगे होकर पहिले प्राणीकी उत्पत्ति करती है। (तस्मै प्रथमाय धास्यवे) उस पहिले पीनेवाले प्राणीके लिये वे देव (एतं सुरुचं) इस उत्तम रुचिकर अथवा तेजस्वी (ह्वारं अह्यं घर्मं) परन्तु निम्न भागके टेढे मार्गसे गमन करनेवाले गर्म दूधको (श्रीणन्ति) पकाते हैं, दुग्धाशयमें दूध उत्पन्न करते हैं।

ब्रह्मसे प्रथम जो दैवी सामर्थ्य प्रकट हुआ वही सब विश्वकी उत्पत्ति करनेवाला पैत्रिक सामर्थ्य है। यह सब स्थावर भुवनोंको उत्पन्न करता है और आगे बढकर जंगम प्राणियोंकी उत्पत्ति करता है। जब दूध पीनेवाले प्राणी उत्पन्न होते हैं, तब उनके पीनेके लिये माताके दुग्धाशयमें रुचिकर तेजस्वी दूध भी उत्पन्न होता है।

प्रथम मन्त्रमें ब्रह्मसे सूर्य, सूर्यसे पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधि और पश्चात् प्राणी उत्पन्न होनेका वर्णन आया है। यहां बहुत से पाठक ऐसी शंका करेंगे कि जड सूर्यसे जड पृथ्वी हुई और पृथ्वीसे औषधियां हुई यह सब ठीक है, परन्तु चेतन जीव उसीसे उत्पन्न हुआ ऐसा किस तरह माना जा सकता है ? प्रायः सभी पाठकोंके मनमें यह शंका उत्पन्न होती है। इस द्वितीय मन्त्रमें इस शंकाका उत्तर दिया है।

पैत्रिक शक्तिसे अग्रगति

७. इयं पित्र्या राष्ट्री = यह पैत्रिक तेजोमय शक्ति है। जो ब्रह्मसे सूर्यमें, सूर्यसे ग्रह उपग्रहोंमें आगयी है और कार्य कर रही है। यह (अग्रे एतु, अग्रे एति) यह शक्ति आगे बढती है अर्थात् इसी पैत्रिक शक्तिसे उत्क्रान्ति होती रहती है, पृथ्वीसे औषधि, औषधियोंसे कृमीकीट, पशुपक्षी और मानव इस तरह इसी पैत्रिक शक्तिकी 'अग्रे-गति' होती है। यह प्रेरणाशील है, अतः आगे बढनेकी प्रेरणा हर-एकको करती रहती है।

८. इयं पित्र्या भुवने-ष्ठाः = यह पैत्रिक शक्ति ही सब भुवनोंमें भरपूर भरी है, अतः सभी भुवनोंमें आगे बढनेकी गति दिखाई देती है। कोई भुवन ऐसा नहीं है कि, जो इससे रिक्त हो। इसीलिये सर्वत्र उत्क्रान्ति हो रही है ऐसा दिखाई देता है।

९. (इयं) प्रथमाय जनुषे (अग्रे एति) = यही

+ इयं पित्रे राष्ट्रयेत्यग्रे .... भूम नेष्ठाः। ... प्रथमस्य धासेः ॥ शां. श्रौ. ५।९।६

पैत्रिक ब्रह्मशक्ति प्रथम जन्म लेनेवाले प्राणीकी उत्पत्ति करनेके लिये आगे बढती है। प्रेरणा करके स्थावरके पश्चात् जंगमकी उत्पत्ति करती है। पहिला स्पन्दन इसीसे होता है। वनस्पतिसे जीव सृष्टी कैसी हुई यही मुख्य प्रश्न है। वनस्पति सृष्टीसे प्राणि सृष्टीका जो (**प्रथमाय जनुषे**) पहिला जन्म है, वह भी इसी पैत्रिक शक्तिसे ही हुआ है। जो शक्ति स्थावर रूप धारण कर रही थी, वही (अग्रे एति) आगे उत्क्रान्त होती हुई प्राणियोंके रूप धारण करती है। सब भुवनोंमें रहकर यही शक्ति आगे आगेके रूप एकके पीछे एक धारण करती रहती है। इस तरह पृथ्वीपर न खानेवाली और खानेवाली सृष्टी उत्पन्न होती है।

इन प्राणियोंमें भी कई प्राणी ऐसे हैं कि, जो उत्पत्तिके पश्चात् अपनी माताके विनाही अपना गुजारा करते हैं और कई ऐसे हैं कि, जो माताका दूध पीते हैं। जो कोई माताकी सहायताके विना जीवित रह सकते हैं उनके विषयमें कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु जो अपनी माताके दूधसे ही जीवित रहते हैं, उनके विषयमें कुछ कह देना आवश्यक है, इसलिये इसी मन्त्रके अगले भागमें इस विषयमें कहा है-

१०. तस्मै प्रथमाय धास्यवे = उस पहिले दूध पीनेवाले बालकके लिये वह पैत्रिक शक्ति कार्य करती है। यहां '**धास्यु**' पद है, जो अन्न खानेवाले प्राणीका बोध करता है। '**धास्यु**' वह है कि जो दाईकी अपेक्षा करता है। दूध पीनेकी इच्छा करनेवाला बालक '**धास्यु**' है। इस दूध पीनेवाले बालक के लिये वह शक्ति दूधका प्रबंध करती है। प्राणी उत्पन्न होनेके पहिले उसके लिये अन्न तैयार करके रख देती है। ऐसी यह पैत्रिक शक्ति है।

११. अस्मै सुरुचं ह्वारं अह्यं घर्मं श्रीणन्ति (श्रीणन्तु) = इस दूधपीनेवाले बालकके क्षुधाके शमनार्थ उत्तम रुचिकर गर्म गर्म दूध माताके स्तनोंमें परिपक्व करके रखते हैं। (सु-रुचं) उत्तम तेजस्वी, उत्तम तेज बढानेवाला, उत्तम स्वच्छ अर्थात् रुचिकर दूध ही है। (ह्वारं) जो गुप्त मार्गसे चूता है, टेढे मार्गसे जो प्राप्त होता है, (अह्यं) जो चलन वलनकी शक्ति देता है, जो जीवनकी शक्ति देता है, जो जीवन ही देता है, (घर्मं) जो गर्म रहता है ऐसा माताके स्तनोंमें दूध ही है। इस अन्नको ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाले सब सूर्य चन्द्र वनस्पति आदि देव परिपक्व करके तैयार रखते हैं। बालक जन्मते ही उसको यह तैयार मिले ऐसी योजना यहां है।

पूर्वके चित्रसे आगे उत्पत्तिका चित्र यह है-

पृथ्वी

(अधास्युः)
स्थावर
अनशन

औषधी वनस्पति-अन्न-वीर्य
(धास्युः)
प्राणी, मनुष्य
जंगम, साशन
(अन्न) दूध (घर्मः)
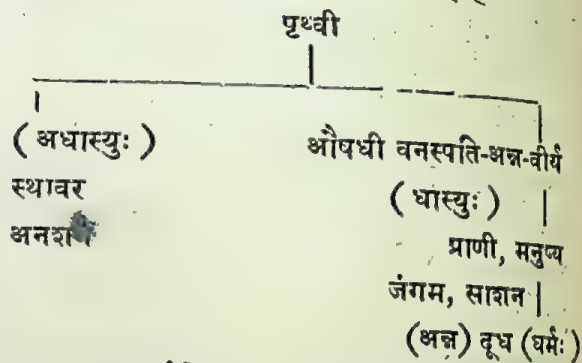
इस तरह सूर्यसे सबकी उत्पत्ति हुई है। जो विचारपूर्वक सबको जाननेयोग्य है। एक ही ब्रह्मसे सूर्य उत्पन्न होता है और उस एकही सूर्यसे सब सृष्टी उत्पन्न होती है, और इस सृष्टीमें जड चेतन जैसे विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थ दिखाई देते हैं। दीखनेमें ये परस्पर विरुद्ध दीखते रहें, पर तत्त्व दृष्टीसे ये मूलमें एक ही हैं।

अब इसके आगे मानवोंकी उत्क्रान्ति कैसी हुई इस विषयमें तीसरा मन्त्र देखिये-

ज्ञानीके ज्ञानका विस्तार

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुः
विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यात्
नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ ३ ॥
(अथर्व ४।१।३)

...अस्य बन्धुं विश्वानि देवो जनिमा विवक्ति।
... नीचादुच्चा स्वधयाभि प्रतस्थौ ॥
(तै. २।३।१४।२३)

(यः प्र × जज्ञे) जो विशेष रीतिसे यह सब पूर्वोक्त ज्ञान जानता है, वह (विद्वान्) ज्ञानी (अस्य बन्धुः) इसका सच्चा भाई है, सच्चा प्यारा होता है। वही ज्ञानी

× प्र जज्ञेः= प्रजानीते। जानातेर्लिट् (सायनः)

(देवानां विश्वा जनिमा) सब देवोंके सब जन्मोंका (विवक्ति) विवरण करता है, वर्णन करता है। वही ज्ञानी (ब्रह्मणः मध्यात्) ब्रह्मके बीचमेंसे (ब्रह्म उज्जभार) ज्ञानको, मन्त्रोंको, उद्धृत करता है, ज्ञानको बाहर लाकर प्रकट करता है। उसीसे (स्व-धाः) अपनी धारणाशक्ति (नीचैः उच्चैः) निम्न तथा ऊपरके स्थानोंमें (अभि प्र तस्थौ) चारों ओर प्रकट होती रहती है।

इस मन्त्रमें ज्ञानीका महत्त्व कहकर उसके प्रयत्नसे मानवोंके समाजकी धारणाके लिये यज्ञका प्रवर्तन होनेका वर्णन है, उसे अब देखिये--

१२. यः प्रजज्ञे, (सः) विद्वान् अस्य (वेनस्य) बन्धुः = जो इस पूर्व मंत्रोंमें कहे ज्ञानको यथावत् जानता है, वह ज्ञानी कहलाता है, और वह पूर्वोक्त (वेन, सूर्य या हिरण्यगर्भका, अर्थात् ब्रह्मके) प्रथम आविष्कारका प्रिय भाईसा बनता है। पूर्वोक्त ज्ञान यथावत् अपनानेसे वह ज्ञानी उस ब्रह्मकी प्रीतिका स्थान होता है। भाई भाईका अधिकार समान होता है, अर्थात् वेन (सूर्य अथवा हिरण्यगर्भ) का जो अधिकार है, वही इस ज्ञानीको प्राप्त होता है। वेन का सब ज्ञान इसको प्राप्त होता है। यह ज्ञानी मानो प्रति सूर्य ही बनता है। पूर्वोक्त दो मन्त्रोंमें कहा ज्ञान इतने महत्त्वका है, मनुष्यकी योग्यता उससे ब्रह्मके समान होती है, वेन सूर्य या हिरण्यगर्भके समान होती है। भाई भाई जैसे एक स्थानमें एक अधिकारसे बैठते हैं, वैसे ही ये ज्ञानी हिरण्यगर्भके साथ अपना अधिकार होनेका अनुभव करते हैं। इससे क्या बनता है वह अब देखिये--

१३. (सः विद्वान् बन्धुः) देवानां विश्वा जनिमा विवक्ति= वह ज्ञानी हिरण्यगर्भका भाई सब देवोंके संपूर्ण जन्मोंका विवरण करता है। इस ज्ञानीका इतना ज्ञान बढता है। अग्नि, वायु, आप, पृथ्वी आदि सभी देवोंकी उत्पत्ति कैसी होती है, उनका कार्य कैसा चलता है, उनका और मानवोंका सम्बन्ध क्या है और वह कैसा सुधरता रहता है, इत्यादि सभी विद्याओंका वह यथायोग्य प्रवचन करता है। यही ज्ञानी दैवतविद्याका प्रचार करता है, अग्निविद्या, वायुविद्या, जलविद्या, औषधिविद्या, विद्युद्विद्या आदिका प्रसार करता है। इन विद्याओंका वह ज्ञाता होता है। इन विद्याओंमें वह परिपूर्ण होता है। इस पूर्णतासे ही वह हिरण्यगर्भके भाईपनके संमानके योग्य समझा जाता है।

१४. (सः विद्वान्) ब्रह्मणः मध्यात् ब्रह्म उज्जभार = यह विद्वान् अर्थात् जो हिरण्यगर्भ के भाई की योग्यताको प्राप्त करता है, जो ब्रह्मभावको प्राप्त होता है वही ब्रह्मके बीचमेंसे ब्रह्मको-मन्त्रोंको-ज्ञानको ऊपर उद्धृत करता है। ब्रह्मसे वेदमंत्रोंको प्राप्त करता है। ब्रह्मका स्वरूप ज्ञानमय है, अतः उससे शुद्ध सत्य ज्ञान वह प्राप्त करता है। नये नये ज्ञानोंका वह आविष्कार करता है। छिपे ज्ञान को वह स्वयं जानकर प्रकट करता है।

यहां तक मनुष्यकी उन्नति किस तरह हुई इसका विवरण हुआ। मनुष्यने सृष्टिविद्याका ज्ञान प्राप्त किया, उसको वह ज्ञान यथावत् मिला, तब वह हिरण्यगर्भके समान योग्यतावाला बना। वह हिरण्यगर्भके लोकमें बराबरीके, (अस्य बन्धुः) भाईपनके नातेसे, विचरने लगा। वह ब्रह्मभावको प्राप्त समाधिस्थितिका अनुभव करनेवाला हुआ, तब वह स्वयं ब्रह्मसे ही स्वयंसिद्ध मन्त्रोंको प्राप्त करनेका अधिकारी हुआ। सत्य शुद्ध त्रिकालाबाधित ज्ञानको हस्तगत करने और बर्तनेका वह अधिकारी हुआ। मनुष्यकी यह बडी ऊंची अवस्था है। जब वह अवस्था प्राप्त होती है तब वह ज्ञानी स्वधावान् होता है--

१५. (सः विद्वान्) स्व-धाः नीचैः उच्चैः अभि प्र तस्थौ = वह विद्वान् वेदवित् स्वधाको नीचेसे और ऊपरसे अर्थात् सब ओरसे प्राप्त करता है। स्वधाके पास पहुंच जाता है।

'स्व-धा' का अर्थ 'अपनी धारणा शक्ति, अपनी शक्ति, अपनी निज इच्छा,' है। ज्ञानकी पूर्णता होनेसे अपनी धारणा शक्ति स्वयं प्राप्त होती है। ज्ञानसे ही अपनी शक्ति बढानेके उपाय ज्ञात होते हैं और उनका उपयोग करके व्यक्ति और समाजकी धारणा शक्ति बढायी जाती है। जिस से स्थिरचर अपने स्थानपर स्थिर हैं वह 'स्व-धा' शक्ति है। व्यक्ति और समाजमें जितनी स्वधा शक्ति अधिक होगी, उतनी उसकी धारणा अधिक होगी। जिसकी स्वधा शक्ति समाप्त हुई हो, वह जीवित नहीं रह सकता। इसलिये सत्य ज्ञानसे अपनी स्वधा शक्तिकी वृद्धि करना हरएक व्यक्तिके लिये और हरएक समाजके लिये योग्य है।

पितरोंको जो अन्न या उपभोग दिया जाता है उसको

' स्वधा ' कहते हैं। अथवा केवल अर्पण करनेको भी स्वधा कहते हैं। पितर संरक्षक होते हैं, वे सबको सुरक्षित रखते हैं। अपनी सुरक्षा करने वालोंको जो दिया जाता है, वह स्वधा है। अर्थात् स्वधासे सुरक्षा होती है और जिस समाजमें उत्तम सुरक्षा है वही समाज अधिक देरतक रह सकता है। इससे स्वधा शक्तिकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है।

इस मन्त्रने जो उन्नतिका मार्ग बताया, उसका चित्र इस तरह बन सकता है। पूर्व चित्रके अनुसंधानसे ही यह चित्र पाठक देखें–
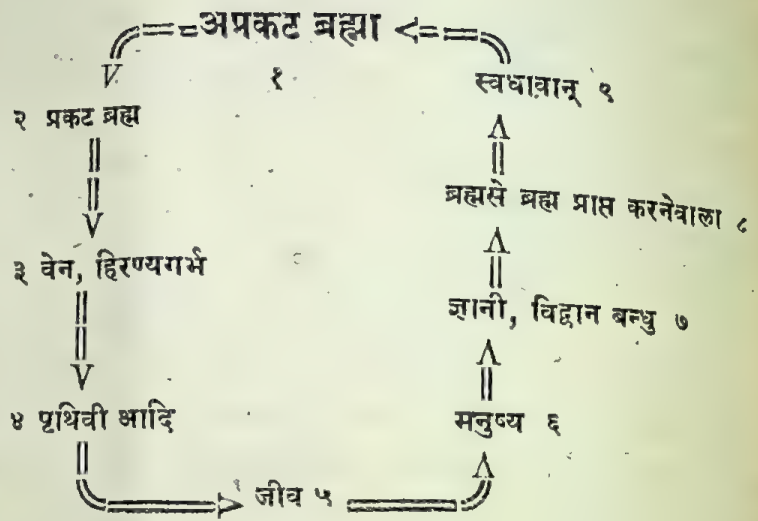
मनुष्य

|

विद्वान्

|

(अस्य बन्धुः)

पूर्णज्ञानी (हिरण्यगर्भका बन्धु)

(देवानां जनिमा विवक्ति)

दैवी शक्तियोंका यथावत् ज्ञाता

|

(ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार)

ब्रह्मसे मंत्रोंको प्राप्त करनेवाला

|

(स्वधावान्)

अपनी धारणा शक्तिसे परिपूर्ण

यहां मनुष्यकी परिपूर्ण उन्नति हुई है। यही ब्रह्मरूप अवस्था है। यही मुक्त अवस्था है। पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण (स्वधावान्) सामर्थ्यवान् होनेकी यह स्थिति है। यहां उन्नतिकी पूर्णता है। यही ' अतिमानव ' स्थिति है। यह स्थिति प्राप्त करनेके लिये ही मनुष्यका जन्म हुआ है। यहां वर्तुलकी गति पूर्ण हुई है, पहिला किरण जहांसे चला था वहीं आकर वह अब मिला है देखिये–

इस तरह ब्रह्मसे चला अंश पुनः आकर अपनी निज-शक्तिका अनुभव करता हुआ, स्वयं प्रज्ञ होनेका प्रत्यक्ष अनुभव लेकर अपने स्वरूपमें मिल गया। जैसा प्रथम था वैसा ही हुआ है। यजुर्वेदमें यही बात अन्य शब्दोंसे कही है–

तत् आसीत्। तत् अपश्यत्। तत् अभवत्।
(वा. य. अ. ३२।१२)

प्रथमतः वह तद्रूप था, यह उसने तद्रूपका दर्शन किया और उसका दर्शन होते ही वह तद्रूप हुआ। ब्रह्मरूप था वही ब्रह्मरूप बन गया। यही बात इन तीन मंत्रोंने कही है। मानो यजुर्वेदके इन तीन वाक्योंका स्पष्टीकरण ही अथर्ववेदके इन तीन मन्त्रोंने किया है।

यहां का जो ' स्व-धा ' पद है वह केवल पितृयज्ञका ही वाचक नहीं है। यह पद संपूर्ण यज्ञविधिका बोधक है। ज्ञानसे जो यज्ञका मार्ग प्रचलित हुआ, जिसमें ' अर्पण ' के द्वारा यज्ञकी सिद्धि करनेसे व्यक्तिकी और समाजकी धारणा शक्ति बढती है, उसका बोध इस शब्दद्वारा यहां लेना उचित है। आगेके कर्मकाण्डमें स्वधा पद पितृयज्ञका दर्शक है, इसलिये यहां यह स्पष्टीकरण करना पडा है। मनुष्यको सत्यज्ञान मिला, ज्ञानसे उसने कर्म किये, कर्मसे मानवोंकी संघटना हुई, यही निजधारणाशक्ति है। यही भाव यहांका

स्था पद बता रहा है। यही सुरक्षित करनेकी बात आगे अधिक स्पष्ट करते हैं-

यज्ञसे सबकी स्थिति

स हि दिवः स पृथिव्या ऋत-स्था
मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत्।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो
द्यां सद्म पार्थिवं च रजः॥ ४॥
(अथर्व. ४।१।४; तै. सं. २।३।१४।२४ (उ.);
आ. श्रौ. ४।६।३.)

(सः हि दिवः) वह वेन, सूर्य या हिरण्यगर्भ ही द्युलोक की, तथा (सः पृथिव्याः) वही भूलोककी (ऋत-स्थाः) सत्य यज्ञ नियमोंके द्वारा स्थिरता करनेवाला है। उसीने (क्षेमं) सबको सुख देनेके लिये (मही रोदसी) इन बडे दोनों लोकोंको (अस्कभायत्) स्वकीय स्थानोंमें स्थिर और सुरक्षित किया है। (जातः महान्) वह स्वयं उत्पन्न होते ही स्वयं बडा बनता है और (मही वि अस्कभायत्) इन दोनों बडे लोकोंको विशेष रीतिसे स्थिर करता है, यथा स्थानमें स्थिर रखता है। और (द्यां) द्युलोकको, (रजः) अन्तरिक्ष लोकको और (पार्थिवं सद्म च) इस पृथिवीरूपी घरको भी यथायोग्य रीतिसे सुरक्षित रखता है।

इस मन्त्रमें ऋतसे अर्थात् यज्ञसे सबकी सुरक्षा होनेका भाव बताया है, उसका स्पष्टीकरण अब देखिये-

१६. **सः हि ऋतस्थाः, दिवः पृथिव्याः, मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्, मही अस्कभायत्** = वह सत्य यज्ञ नियमोंसें स्वयं रहता हुआ द्युलोक और भूलोकको सुस्थिर करता है, निःसंदेह इन दोनोंको स्थिर करता है।

१७. **सः जातः महान् (भूत्वा) द्यां, रजः, पार्थिवं सद्म च वि अस्कभायत्** = वह उत्पन्न होते ही बडा बनता है, और द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और अपने पृथ्वी-परके घरको भी सुस्थिर करता है।

सूर्यका आदर्श मनुष्यके सामने रखा गया है। जैसा सूर्य उदयको प्राप्त होते ही प्रतिक्षण बढता, अधिकाधिक तेजस्वी होता और हर प्रकारसे बडा होता है, और अपने घरको, पृथ्वीको तथा सब अन्य लोकोंको अपना आधार देता, प्रकाशित करता और सुस्थिर रखता है, वैसे ही मनुष्यको आचरण करना चाहिये।

इसी तरह दूसरा उदाहरण है, अरणियोंसे उत्पन्न अग्नि का। यह अग्नि जब अरणियोंसे उत्पन्न होता है, तब छोटा होता है, परन्तु वह प्रदीप्त होकर बडा होता है और नाना यज्ञोंके संपादन करनेसे यजमानकी तथा अन्यान्य समाजों की धारणा करता है, वैसाही मनुष्यको करना उचित है।

मनुष्यके सामने ये दो, अग्नि और सूर्य, आदर्श हैं। अग्नि उत्पन्न करना पडता है, परन्तु सूर्य प्रतिदिन आकर अपना आदर्श मानवको बताता रहता है। मानव इस आदर्शको देखे और स्वयं वैसा बननेका यत्न करे। सूर्यही मानवोंका आदर्श है, अब इस आदर्शको सामने रखकर मनुष्यको क्या करना चाहिये सो बताते हैं-

सूर्य बनो, तेजस्वी बनो

सूर्य उदयसे सूर्यके अस्त होनेतक मनुष्यका आयुष्य है, ऐसी कल्पना पाठक करें। यह बारह घण्टोंका अथवा ३० घटिकाओंका समय है। इसमें बाल, कुमार, तरुण, वृद्ध, जीर्ण ऐसी अवस्थाएं कल्पनासे जाननी चाहिये। मनुष्यकी आयु १२० वर्षोंकी है, वह बारह घंटोंमें विभक्त की तो प्रति घंटेमें १० वर्ष समाते हैं, अथवा तीस घटिकाओंमें विभक्त की तो प्रति घटिकामें ४ वर्ष समाते हैं। इस तरह विचार करके सूर्यका जीवन अपने जीवनसे मिलाना और बोध लेना चाहिये।

उदयके समयका सूर्य बडा कोमल रहता है, वैसा ही बालक बडा कोमल और सुकुमार रहता है। सूर्यका तेज प्रत्येक घण्टेमें बढता है, वैसा ही बाल्यके पश्चात् कौमार्य और तारुण्यकी अवस्थाओंमें मनुष्यको शरीर, विद्या, ज्ञान, पौरुष, बल, वीर्य, तेज, प्रभाव आदिसे युक्त होकर बढना चाहिये। किसी तरह हीनदीन दुर्बल निर्वीर्य नहीं होना चाहिये।

तारुण्यमें सूर्य प्रभानामक धर्मपत्नीसे संयुक्त होता है, अपने प्रकाशसे संपूर्ण विश्वको प्रकाशित करता है, सबको सरल मार्ग बताता है, अन्धेरेको दूर करता है, अपने तेजसे चमकता है। इसी तरह युवा पुरुषको विद्याध्ययनके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होना चाहिये, अपने विद्या, वीर्य, पराक्रम आदिके प्रभावसे सब जनताका मार्ग दर्शन करके सबका प्रवर्तन सन्मार्गमें कराना चाहिये, अपने धर्म, समाज, राष्ट्र आदिको धर्मका मार्ग बताना चाहियें और अज्ञान दूर करने-

द्वारा सबको उत्कर्षके मार्गपर चलाना चाहिये ।

पश्चात् प्रकाशकी न्यूनता होने लगती है, वह तो वार्धक्य की अवस्थाके कारण स्वाभाविक ही है। परन्तु सूर्य जैसा अस्त होनेतक अपने तेजसे चमकता ही रहता है, वैसा मनुष्यको भी अपने ज्ञानके प्रकाशसे चमकना चाहिये। और जैसा एक ही सूर्य अस्त होनेतक सबको अपने तेजसे चमकाता रहता है, उसी तरह मनुष्यको भी उचित है कि, वह अपने ज्ञानके तेजसे अन्योंको सत्य धर्मका मार्ग बताता रहे। सूर्य उदय होतें ही जैसे धार्मिक यज्ञ शुरू होते हैं, इसी तरह इस ज्ञानी मनुष्यकी प्रेरणासे देशभर नाना प्रकारके प्रशस्त उद्योग शुरू हों और मानव उनसे समृद्ध, सुखी हों।

सूर्यके समान जीवन व्यतीत करनेका संक्षेपसे आशय यह है। पाठक विचार करके अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य सबसे तेजस्वी है, मैं भी वैसा ही सबसे अधिक तेजस्वी बनूंगा इत्यादि बोध यहां मिलते हैं ।

सूर्य जैसा त्रिभुवनोंका अपने बलसे धारण करता है, पृथ्वी परके अपने घरको सुरक्षित करता है, अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता है और द्युलोक अधिक तेजस्वी करता है, इसी तरह मनुष्य भी अपने घरको सुस्थिर करे, संपूर्ण राष्ट्रको प्रभाव युक्त बना देवे और सब जनताका मार्ग दर्शन करे। व्यक्ति, राष्ट्र और जनताका इस तरह सुयोग्य मार्ग दर्शन करे ।

' ऋत-स्थाः ' पद यहां विशेष महत्त्व रखता है। सरल मार्ग पर सदा रहना चाहिये, सत्यके मार्गपरसे गमन करना चाहिये, यज्ञ मार्गका अवलंबन करना चाहिये इत्यादि भाव इसमें स्पष्ट हैं। ' सद्म ' पद भी बडा बोध प्रद है। अपने घरकी सुरक्षा प्रथम करनी चाहिये, वह सुरक्षा राष्ट्की सुरक्षाके प्रतिकूल न हो क्योंकि संपूर्ण जनताका हित करनेका अन्तिम ध्येय है, उसका विरोध नहीं होना चाहिये इत्यादि बोध यहां पाठक ले सकते हैं ।

इस तरह विचार करके पाठक योग्य बोध प्राप्त कर सकते हैं। इसके आगे और बोध किस तरह दिया जाता है वह अब देखिये-

स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं
बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्ट
अथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥ ५ ॥

(सः) वह सूर्य देव (जनुषः बुध्न्यात् अग्रं) उत्पन्न हुए इस विश्वके मूलसे अग्र भाग तक (अभि आष्ट्र) चारों ओरसे व्यापता है, सबको प्रकाशित करता है। (तस्य सम्राट्) इस विश्वका वह एक सम्राट् (बृहस्पतिः देवता) ज्ञानी देव ही है। (यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः) जब इस तेजस्वी सूर्य देवसे प्रकाशयुक्त दिन (जनिष्ट) उत्पन्न हुआ, (अथ) तब उस दिनमें (द्युमन्तः विप्राः विवसन्तु) विद्याके तेजसे प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी लोग उस की सेवा करें। यज्ञ करके उसकी सेवा करें ।

पूर्व मन्त्रमें जो यज्ञका विषय कहा, उसीको और अधिक इस मन्त्र द्वारा कहते हैं—

१८. सः जनुषः बुध्न्यात् अग्रं-अभि आष्ट्र = वह सूर्य देव उत्पन्न हुए इस विश्वके मूलसे अग्रभागतक चारों ओरसे प्रकाशित हो रहा है। ' बुध्न्यात् अग्रं ' = मूलसे अग्रभागतक, प्रारंभसे अन्त तक, अन्दरसे बाहरतक, पाससे दूर तक, नीचेसे ऊपर तक ' सः अभि आष्ट्र '= वह सब ओरसे विश्वको व्यापता है, प्रकाशको फैलाता है, सबको प्रकाशित करता है। सूर्यका उदय होते ही उसके प्रकाशसे सब विश्व प्रकाशित होता है ।

१९. तस्य देवता सम्राट् बृहस्पतिः= उसकी देवता उत्तम प्रकाशमान ज्ञानपति नामक है। 'सम्राट्'का अर्थ (सं) ' उत्तम प्रकारसे (राज्) प्रकाशमान् ' है। ' ब्रह्मस्पति' का अर्थ ' ज्ञानका स्वामी ' है। ये सूर्यके ही नाम हैं, क्यों कि सूर्य ही सब ज्ञानका और प्रकाशका मूल स्रोत है। इस विश्वकी प्रकाशमान और ज्ञानमयी देवता सूर्य ही है।

२०. ज्योतिषः शुक्रं अहः यत् अजनिष्ट = इस ज्योतिस्वरूप सूर्यसे स्वच्छ श्वेत और पवित्र दिवस उत्पन्न होता है। यह सब जानते ही हैं। जब दिन निकल आता है तब 'द्युमन्तः विप्राः वि वसन्तु' = ज्ञानसे प्रकाशित होनेवाले ज्ञानीजन कर्म करने लगते हैं। ' वस् ' का अर्थ है ' रहना, होना, समय बिताना, कर्म न करना ' और ' वि वस् ' का अर्थ ' उससे अधिक विशेष रीतिसे निवास करना, उन्नतिके लिये कर्म करना है। '

जब दिन प्रकाशता है, तब सब ज्ञानी जन इकट्ठे होते हैं और यज्ञ करते हैं। यज्ञसे सबकी उन्नतिका साधन करते हैं। सूर्यके उपासक मनुष्य विद्वान् होते हैं, सूर्य प्रकाशसे दिन निकलते ही वे ज्ञानी जन नाना प्रकारके मानवी उन्नतिके कार्य करते हैं, उन्नतीके साधन जुटाते हैं।

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति ।
महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था
पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु ॥ ६ ॥

(काव्यः) ज्ञानी (अस्य पूर्व्यस्य महः देवस्य) इस प्रथम प्रकट हुए महान् देवका (तत् धाम) वह स्थान (हिनोति नूनं) निश्चयसे प्रकाशित करता है, वर्णन करके बताता है। (एषः इत्था बहुभिः साकं जज्ञे) यह सूर्य इस तरह बहुत देवताओंके साथ निर्माण हुआ है। (पूर्वे अर्धे विषिते) पूर्व अर्धमें जब खुला प्रकाश हुआ था, उस समय वे (ससन् नु) सोते रहे थे।

२१. काव्यः देवस्य धाम हिनोति = जो ज्ञानी होता है, वह यथावत् इस सूर्य देवका तथा अन्यान्य सभी देवोंका वर्णन करके जनतामें सत्य ज्ञानका प्रचार करता है। (यहां तृतीय मन्त्रमें 'ज्ञानी सब देवोंके जन्मोंका वर्णन करता है' ऐसा जो कहा है, उसका अनुसंधान करना योग्य है। वही बात अन्य प्रकारसे यहां दुहराई है।)

२२. एष बहुभिः साकं जज्ञे = यह सूर्य अनेक देवताओंके साथ जन्मा है। पहले दो मंत्रोंमें बताया है और पूर्वोक्त चित्रोंमें भी बताया है कि, ब्रह्मसे प्रथम सूर्य हुआ और सूर्यसे सब देव हुए। यही यहां दुहराया है और कहा है कि अनेक देवोंके साथ सूर्य उत्पन्न हुआ है। सूर्यके साथ ही ग्रहोपग्रह जन्मे थे, वे सूर्यसे कुछ समयके बाद बाहर निकल आये।

२३. पूर्वे अर्धे विषिते ससन् = पूर्व अर्धमें, आकाशमें सूर्य उदय होकर आकाश तथा सब विश्व प्रकाशसे परिपूर्ण होनेपर भी कई लोग सोते ही रहते हैं!! इन आलसी लोगोंकी दुर्गति ही होती है। क्योंकि कई लोग ज्ञानी हुए, कई ज्ञानी लोग यज्ञ करनेद्वारा सब जनताका सुख बढाने लगे, सब लोग इनसे लाभ उठाने लगे। इतना ज्ञानका प्रकाश और कर्मका आनन्द जनताको प्राप्त होनेके बाद भी जो लोग आलसमें सोते रहेंगे, उनकी उन्नतिकी क्या आशा होगी? इसलिये सबको शीघ्र उठकर अपने उत्कर्षके उद्योगमें लगना चाहिये। यह सबके लिये आवश्यक सूचना यहां दी है। कोई सुस्त न रहे, सब लोग कर्म करनेमें तत्पर रहें। अब इस सूक्तका अन्तिम मन्त्र देखिये-

योऽथर्वाणं पितरं देववंधुं
बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः
कविर्देवो न दभायत् स्वधावान् ॥ ७ ॥

जो (अ-थर्वाणं) निश्चल योगी (देव-बन्धुं) देवोंका भाई जैसे और (पितरं) सबके पिता जैसे रक्षक (बृहस्पतिं) परम ज्ञानीको (नमसा अव गच्छात्) नमस्कारसे प्रेमपूर्वक जानता या प्राप्त करता है। वह (विश्वेषां जनिता यथा त्वं असः) सबका निर्माणकर्ता जैसा तू होगा, वैसा (देवः कविः) ज्ञानीदेव ('स्व-धावान्) निज धारक शक्तिको प्राप्त करनेपर अर्थात् बलवान् बननेपर भी किसीको (न दभायत्) नहीं दबाता। सबकी सहायता करके सबकी उन्नतिका मार्ग दिखाता रहता है।

२४. 'अथर्वा' बनना है। 'थर्व' का अर्थ है गति, या चञ्चलता, और 'अथर्वा' (अ-थर्वा) का अर्थ है शांति, स्थिरता और समता। चित्तवृत्तीका निरोध करके जो आन्तरिक समतायुक्त शांति मिलती है, वह इस पदसे बोधित होती है। पूर्ण योगीका यह नाम है। वह 'देव-बन्धु' है, देवताओंके साथ भाई जैसा वह व्यवहार करता है। इसी सूक्तके तृतीय मन्त्रमें 'विद्वान् बन्धु' का वर्णन है। वह भी देवोंका भाई ही था। वही यहांका देवबन्धु है। योगी ही देवोंका बन्धु हो सकता है। वही 'बृहस्-पति' अर्थात् ज्ञानका पति अथवा ज्ञानी होता है। योगी बनकर, देवोंके साथ मित्रताका नाता जोडकर, जो ज्ञानी बनेगा, वही 'पिता' सबका पिता जैसा रक्षक हो सकता है। सच्चा संरक्षण यही कर सकता है। यही (नमसा अवगच्छात्) नमस्कार पूर्वक प्राप्त करने योग्य है। नमस्कार पूर्वक गुरु मानने योग्य है, क्योंकि यही सबका तारण, अथवा संरक्षण कर सकता है।

२५ पूर्वोक्त मन्त्रभागमें वर्णन किया श्रेष्ठ ज्ञानी (विश्वेषां

जनिता) सब प्रकारके श्रेष्ठ यज्ञादि कर्मोंका निर्माण कर्ता होकर (स्व-धा-वान्) अपनी निज धारणा शक्ति बढाता हुआ (कविः देवः) कवि तथा क्रान्तदर्शी होकर देवता जैसा श्रेष्ठ बनता है। इतनी इसमें शक्ति होनेपर भी यह किसीको (न दभायत्) दवाता नहीं।

मनुष्यमें किसी तरहकी शक्ति बढ गयी तो उस शक्तिसे वह दूसरोंको दवाता रहता है; । मनुष्यमें ज्ञानशक्ति, वीर्य-शक्ति और धनशक्ति प्रमुखतया बढती है। इस शक्तिसे शक्तिमान हुआ मनुष्य दूसरोंको दवाता है। पूंजीपती मज्दूरोंको, राजा प्रजाको, साम्राज्यवादी दलितोंको; और ज्ञानी अज्ञानियोंको दवाते हैं, यह बात व्यवहारमें हम देखते हैं। पर यहांका (**कविः स्वधावान् न दभायत्**) ज्ञानी सामर्थ्यवान होकर भी दूसरोंको दवाता नहीं !!!

यही वैदिक ज्ञानकी श्रेष्ठता है। शक्ति होनेपर भी दूसरोंको न दवाना ही श्रेष्ठ ज्ञानका लक्षण है। अस्तु। यहां इस सूक्तका विचार समाप्त हुआ है।

इस सूक्तके पहिले दो मन्त्रोंमें 'सदैक्य' तत्व ज्ञान बताया है। एक ब्रह्मसे वेन हुआ, इस वेनसे विश्वान्तर्गत सब सदसदात्मक वस्तु मात्रकी उत्पत्ति हुई है। प्रथम मंत्र में **'सत्-असत्'** ये दो पद हैं। ये द्वन्द्वका उपलक्षण हैं। इसके उपलक्षणसे सब प्रकारके द्वन्द्व लेना उचित हैं। वेनसे ही, सूर्यसे ही, सब द्वन्द्व उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मसे सूर्य और सूर्यसे सब विश्व उत्पन्न हुआ। अर्थात् निर्द्वन्द्व ब्रह्मसे द्वन्द्वमग्न विश्व निर्माण हुआ है।

इस विश्वमें पृथ्वी हुई, पृथ्वीपर मनुष्य हुआ, मानवोंमें विद्वान् प्रकट हुआ। यह ज्ञानी संपूर्ण विश्वके ज्ञानको जानने लगा, साक्षात् ब्रह्मसे मन्त्रोंको प्राप्त करने लगा। यही अपनी शक्तिसे शक्तिमान होकर विराजता है। यहां तक प्राथमिक तीन मंत्रोंने ज्ञान दिया।

आगेके चार मन्त्रोंमें ज्ञानीकी योग्यता तथा उसका यज्ञ का प्रवर्तन और उसके द्वारा संपूर्ण जनताकी उन्नति आदि विषय हैं। इनका थोडासा संक्षेपसे विवरण पूर्व स्थानमें किया है।

अपने प्रचलित **'सदैक्य तत्वज्ञान'** के विचार सम्यक् तया जाननेके लिये इस सूक्तके प्राथमिक तीन मन्त्र बडे उपयोगी हैं उनका विचार सदैक्य सिद्धान्त जाननेके लिये पाठक कर सकते हैं। संक्षेपसे यहां "ब्रह्मसे सूर्य, सूर्यसे सब स्थिरचर पदार्थ उत्पन्न होनेका जो क्रमपूर्वक वर्णन" है वही सदैक्य तत्वज्ञानको विस्पष्ट कर देता है। वही अपने मुख्य विषयके साथ संबंध रखता है।

इस लेखमें सब सूक्तका सूक्त पाठकोंके सामने रख दिया है। पाठक सब सूक्तका अनुसंधान करें। क्योंकि सदैक्य तत्वज्ञानसे मानवकी उन्नति कहां तक हो सकती है, इसका स्पष्टीकरण अन्तके चार मंत्रोंमें है। प्रथमके तीन मंत्रोंमें सदैक्य तत्वज्ञान और अन्तिम चार मंत्रोंमें उस सदैक्य सिद्धान्तके अनुसार ज्ञानी तथा समर्थ बननेसे मानवकी कितनी उन्नति होती है, उसका वर्णन है। अतः यह संपूर्ण सूक्त इस दृष्टीसे मनन करनेयोग्य है। आशा है कि इसके मननसे पाठक सदैक्य सिद्धान्तको जानकर उसको आचरण में लाने की विधि परिपूर्ण रूपसे समझकर विशेष लाभ उठायेंगे।

भारतमें मिशनरियोंकी काली करतूतें

(लेखक— पं० द० ग० धारेश्वर, बी. ए.)

हिन्दु जातिपर विधर्मियोंके संगठित तथा प्रबल आक्रमण आये दिन होते रहते हैं पर दुर्भाग्यकी बात यही कि उसका प्रतिकार किस भाँति किया जाय इस समस्याको यथोचित हल करनेकी ओर हिंदु नेताओंका ध्यान पर्याप्तरूपसे अभी आकर्षित नहीं हुआ। हालहीमें एक उच्चशिक्षासंपन्न तथा लोकसेवानिरत अँग्रेज सज्जनने एक लेखद्वारा मिशनरियोंकी निन्दनीय कार्यप्रणालीका भण्डा फोड करके सचमुच हिन्दु जातिका बडा उपकार किया है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। हिन्दु सज्जन तथा धर्म प्रचारमें लगनसे कार्य करनेवाली विविध संस्थाएँ यदि पारस्परिक विरोध करना छोडकर ऐसे ईसाई धर्मप्रचारकोंके निषेधार्ह कृष्ण कृत्योंका प्रमाथी प्रतिकार एवं प्रबल मुकाबला करनेमें अपना शक्ति सर्वस्व लगायें तो निस्सन्देह हिन्दु जातिका अभ्युदय काल दूर न रहेगा।

उक्त अँग्रेज महोदयका नाम श्री० डॉ० व्हेरियर एल्विन है और ये मिशनरी वंशमें उत्पन्न हो ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालयके अत्यन्त यशस्वी स्नातक हैं। इनके अन्तस्तलमें त्याग एवं जनसेवाकी भावना पर्याप्त मात्रामें जागृत होनेके फलस्वरूप ये भारतमें आकर मिशनरी लोगोंकी प्रस्थापित संस्थामें प्रविष्ट हो अल्प वेतनपर कार्य करने लगे, लेकिन अज्ञान एवं निर्धनतासे पीडित व्यक्तियोंको येनकेन प्रकारसे ईसाई धर्ममें दीक्षित करना इन्हें बडा अरुचिकर प्रतीत हुआ, अतः इन मिशनरी संस्थाओंसे पूर्णतया संबंध तोडकर ये मध्यप्रान्तकी वन्य जातियोंके निकटतम संपर्कमें रहकर उनके सम्बन्धमें हर तरहकी जानकारी एकत्रित करने लगे। भारतके आदिम निवासी तथा इस समय वन्य दशामें रहनेवाली जातिके बारेमें एलविन महोदयजीने एक प्रबंध लिख प्रकाशित किया है जिससे उन्हें 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' की उपाधि मिली है। इन्होंने वन्य जातिकी महिलासे ब्याह भी किया है।

ऐसे विद्वान् तथा निरपेक्ष ढंगसे मानवसेवा निरत लेखक के लिखे लेखका सारांश नीचे दिया जाता है ताकि पाठक विधर्मियोंके जघन्य कृत्योंसे परिचित हों और प्रतिकारके उपाय ढूँढ लें।

" भारत शासन विधानद्वारा पृथक्कृत क्षेत्रोंका निर्माण केवल इसीलिये किया गया था कि भारतके आदिम निवासियोंकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक दशाकी कुछ न कुछ रक्षा की जासके, पर वास्तवमें यही हुआ कि धर्मप्रचार तथा धर्मान्तर करनेमें लगी हुई संस्थाओंको यथेष्ट प्रोत्साहन मिला और उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहटके नागरिक सभ्यतासे कोसों दूर रहनेवाले इन स्थानोंमें अपना अड्डा जमाकर अपने कार्यको खूब आगे बढाया है। उदाहरणार्थ सन्थाल परगनेमें सहस्रावधि सन्थालोंको ईसाई धर्ममें दीक्षित किया जा चुका था और हालहीमें कैथोलिक पन्थके प्रचारकोंको प्रवेश मिला, जिनका कार्य दिन दूनी रात चौगुनी रफ्तारसे बढ रहा है। छोटा नागपूरमें यही दशा है तथा दूसरे एक विभागमें गतवर्ष ही कमसे कम दस सहस्र मूल निवासी लोग ईसाई बनाये गये थे। मंडला जिलेमें तो दशा शोचनीय एवं चिन्ताजनक बनती जा रही है क्योंकि इधर जबलपूरकी एक धर्मप्रचारक संस्थाके कार्यकर्ता अभूतपूर्व ढंगसे और मध्ययुगमें भी तिरस्कारणीय समझे जानेवाले तरीकोंसे धर्मान्तरका कार्य प्रचलित रखे हुए हैं।

मुझे खेद हो रहा है कि इस भाँति विवश होकर मैंने मिशनरियोंके विरुद्ध विद्रोह एवं प्रतीकार करनेका ठानलिया है। मेरे पिताजी खुद मिशनरी बिशपके पदपर विराजमान थे और निस्सन्देह मेरे कई पुराने मित्र मुझसे असंतुष्ट तथा क्रोधित होंगे। परन्तु मैं इतना ही स्पष्ट बतलाना चाहता हूँ कि जबसे मैं ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालयमें विद्यार्जन कर रहा था, तबसे धर्मान्तर करनेके कार्यका मैं विरोधी रहा था और यह कोई नयी बात सुतरां नहीं। मैं पूनाके खिस्त सेवा संघमें केवल इसीलिए प्रविष्ठ हुआ था कि मेरी जानकारीके अनुसार यह संस्था केवल मात्र अध्ययन एवं विरक्त जीवन बितानेके लिए अस्तित्वमें आयी थी, लेकिन मुझे गहरी निराशा हुई जब कि विदित हुआ, उदारमतवादी तथा

बुद्धिमत्तासे युक्त होनेपर भी यह संघ किसी साधारण मिशनरी संस्थाके तुल्य ही धर्मान्तर कार्य प्रचलित रखनेको सर्वोपरि स्थान दे रहा है। इस बातका पता लगते ही मैंने उस संघसे त्यागपत्र दे डाला और सीधा मध्यप्रान्त जा पहुँचा। यहाँ पर नागपूरके बिशपमहोदय मुझको इन शर्तों पर पौरोहित्य कार्य करनेकी अनुमति देने लगे कि, मैं खद्दर पहनना छोड दूँ, राजनिष्ठताकी शपथ ले लूँ और तुरन्त ही मंडला जिलेके गोन्ड तथा बैगा नामक जातियोंको ईसाई धर्ममें दीक्षित करनेके कार्यमें जुट जाऊँ। इन शर्तोंके अनुसार कार्य करनेको मैं सुतरां तैयार न था और कई वर्षोंतक कठिनाइयोंसे मुठभेड करते हुए मैंने अन्ततोगत्वा इँग्लंडीय चर्चसे पूर्णतया सम्बन्ध विछेद कर डाला तथा धर्मप्रचारके पेशेसे त्यागपत्र देकर अलिप्त रहा। आजदिन मैं किसी पन्थ या चर्चका अनुयायी नहीं और सन् १९४१ ई. की मनुष्यगणनामें मैंने अपने धर्मको शून्य बतलाया। यह मैं अभिमानसे या हठाग्रहसे प्रभावित हो कह रहा हूँ ऐसी बात सुतरां नहीं, अपितु मेरी यही इच्छा है कि धर्मान्तर करनेके कार्यमें लगे मिशनोंके बारेमें मेरी निजी धारणाका स्पष्टीकरण करदूँ, ताकि जनता समझ ले यह मेरी जीवनयात्रामें कोई नयी बात नहीं, किन्तु बहुत पुराने समयसे चली आ रही है और इसके परिणामस्वरूप मेरे जीवनमें महान् उथलपुथल भी हो चुकी है।

धर्मान्तर करानेका कार्य

इस्लामके तुल्य ईसाई धर्म भी प्रचार कार्य करनेवाला धर्म है। इसका या तो विस्तार होगा अथवा यह विनष्टही होगा। इस संबंधमें हमें स्पष्ट धारणा रखनी होगी।

मंडला विभागपर आज दोनों ओरसे विधर्मियोंका आक्रमण हो रहा है। जबलपूरकी मिशनसंस्थाके कुछ उच कैथोलिक प्रचारक साहससे आगे घुसकर मंडला जिलेको मानों डच उपनिवेश बनानेमें सोत्साह संलग्न हैं और इनके देखादेखी अब दक्षिणभारतके प्रोटेस्टंट मिशनरी मंडलके लोग भी इधर आ पहुँचे हैं। कुछ वर्ष पहले वहाँपर सैकडों की संख्यामें लोग प्रोटेस्टंट बनाये गये थे,पर बादमें लगभग सभी पुनरपि हिन्दुधर्मकी ओर प्रवृत्त हुए तथा बडे भारी व्ययके उपरान्त उन्हें जातिमें प्रवेश मिला। अब ऐसे लोगोंको ढूँढकर भय दर्शाया जाता है कि, वे फिरसे ईसाइयत में शरीक हों। सिंघपुर नामक ग्रामकी दशा बडी संकटापन्न हुई है, जहाँपर एक होस्टल खुलवाने एवं चर्च बाँधनेकी योजना मिशनने प्रकट करदी है। एक सादे गोंड जमीन्दारने इस कार्यके लिए अपनी भूमि देनेसे साफ इनकार किया और ग्रामवासियोंने भी डिप्टी कमिश्नरके निकट प्रार्थनापत्र भेजकर विनंति की कि पाठशाला तथा चर्चको अनुमति न दी जाय। लेकिन २० वर्ष पहले यह भूमि अपने अधिकार में थी ऐसा बतलाकार मिशन इसपर प्रभुत्व प्रस्थापित करनेकी चेष्टामें है, यद्यपि उसने अबतक इसका किराया नहीं चुकाया है। यदि ये मिशनरी साधारण लोग होते तो उनपर अपराधमय अनधिकार प्रवेशके लिए अभियोग चलाया जाता।

साधारण जनता यह समझ बैठी है कि सिझोरा ट्रेनिंग स्कूलको सरकारी सहायताका जो दान मिलता था, वह किसी अंशमें न्यून किया गया, अतः मंडलामें भयकी कोई बात नहीं पर ऐसी बात बिलकुल नहीं क्योंकि कैथोलिक चर्च संसारका एक अत्यन्त धनाढ्य संघ है और सरकारी सहायताका वह तनिक भी मुखापेक्षी नहीं है। सिझोरा स्कूलके ३० सुन्दर मकान हैं और वह प्रगतिशील दशामें रहकर बहुतोंको चर्चकी सडकपर ले जा रहा है। कार्यकर्ताओंके १०० छोटेछोटे केन्द्र हैं तथा वे और भी १०० नये केन्द्र खुलवानेकी चेष्टामें लगे हैं। मैं तो हरदिन नये केन्द्र प्रस्थापित होनेकी बात सुना करता हूँ तथा छलकपट, झिडकी एवं प्रलोभनद्वारा नये लोगोंको चर्चमें प्रविष्ट करानेके समाचार भी आये दिन सुनाई देते हैं। भय है कि जो मण्डला स्थान प्राचीन ऋषियोंका निवासस्थान था, गोन्ड जातिका प्राचीन राज्य जिधर प्रस्थापित हुआ था और जहाँ पवित्र नर्मदा नदी बहती है वह दस वर्षोंके भीतरही सचमुच डच उपनिवेशमें परिवर्तित हो जायगा तथा शत सहस्र कैथोलिक धर्मान्तर किये हुए लोग घूमते रहेंगे।

सरल प्रकृतिवाले तथा शीघ्र धोखा खानेवाले आदिम निवासियोंको अपने चँगुलमें फँसानेके लिए मिशनरी जन बडी कार्यक्षम प्रणालीसे काम शुरु कर देते हैं। वे प्रथम तो सौगन्द लेकर कहते हैं कि, धर्मान्तर करानेका उनका कोई इरादा नहीं पर थोडेही महिनोंके अन्दर वे जिन ग्रामों में कार्य करते वहाँके निवासी जयराम न कहते हुए जय

येशू कहने लगते ! और यदि कोई ऐसा न कहे तो मिशनरी उनसे बोलना बंद करते । वे हिन्दु शिक्षकोंकी नियुक्ति करते और शनिवारके दिन उन्हें वेतन लेनेके लिए बुलाते ताकि दूसरे दिन वे गिरजाघर जा सकें । एक मास्टरने मुझसे कहा कि जब वह मिशनस्टेशनपर वेतन लेलेने चला तो वहाँपर उसे झुक कर क्रूस लेने एवं जय येशु कहनेको विवश किया गया । लोगोंसे मिशनरी अँगूठेकी छाप लेते हैं और यदि वे चर्चकी सहायता न करते तो अभियोग चलानेकी धमकी देते । सरकारी अफसरोंके कई कार्य ये मिशनरी खुदही करने लगते हैं तथा कोर्टकी कार्यवाहीमें और स्थानिक कर्मचारियोंके कार्यमें दखल देते हैं एवं गोंड जनतापर ऐसा प्रभाव डालनेकी कोशिश करते कि उनके सिवा दूसरी सरकारही नहीं है । सचमुच ही वन्य जातियोंके दिलपर यह बडेही विस्तृत पैमानेपर आतंक छाया हुआ है कि, शायद मिशनरी उन्हें पीटने लगें या उनके घरोंमें घुसकर उनकी महिलाओंको बाहर खींचकर जाँच पडताल करने लगें कि क्या कानूनन् उनका विवाह हो चुका है (यह डर इतना प्रभावशाली है कि, उच्च संस्कृतिवालोंमें भी इससे भयपूर्ण वातावरण फैल जायगा) एक मिशनरी प्रचारकने मेरे साथ कार्य करनेवालेको यहाँतक घुडकियाँ दीं कि अगर वह ईसाइयोंके विरुद्ध कार्यवाही करनेका साहस करे तो चर्चका अधिकारी अपना पिस्तौल लाकर उसे शूट कर देगा । अन्तमें कहनेकी बात ऐसी है कि, ये मिशनरी लोग पैसा उधार देनेका व्यवसाय अत्यन्त व्यापक ढंगसे जारी रखते हैं जिससे वे बडी सफलतापूर्वक वन्य जातियोंको अपने वशमें लाकर चर्चमें प्रविष्ट होनेके लिए उन्हें लाचार कर देते हैं । अन्य कई युक्तियोंमेंसे यह युक्ति उन मिशनरियोंके लिए बडी फलदायक हुई है ।

यह कितनी अपमानजनक बात है कि, अनजान एवं सीदे स्वभाववाला आदिम निवासी जो अपनी रक्षाके लिए अब तक पितृतुल्य गवर्नमेंट पर निर्भर रहना पसंद करता था, वही अब किन्हीं अंशोंमें पृथक्कृत क्षेत्रोंमें (Partially excluded areas) ऐसे समय जब कि धारासभाओंमें जनमत उसकी रक्षाके लिए आवाज नहीं उठा सकता, इस भाँतिके सामाजिक एवं धार्मिक प्रक्षुब्धताके सम्मुखीन बनाया जाय । भारतीय सिविल सर्विसके एक अति विख्यात सदस्यने मुझे ईंग्लैंडसे लिख भेजा कि 'ओफ ! कितनी लज्जाजनक एवं कलंकपूर्ण बात है ? प्रान्तीय सरकार भला क्या खुर्राटे ले रही है ?'

सचमुच यह सवाल हठात् उठखडा होता है कि, भला इन तनिक पृथक् क्षेत्रोंका मतलब ही क्या है ? क्या उनका आशय यही था कि भारतीयोंकी राजनैतिक क्षमताका तिरस्कार किया जाय ? क्या जनताको हमेशाके लिए पिछडी दशामें रखनेके हेतुसे इन भूविभागोंका सृजन किया था ? हाँ, यद्यपि साधारणतया ऐसी धारणा प्रचलित है, तो भी मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मेरा यह भी विश्वास नहीं है कि भारतको ईसाई धर्मानुयायी बनानेके लिए सरकारी क्षेत्रमें किसी गंभीर षड्यंत्रका निर्माण हो रहा है । मेरे ख्यालसे मध्यप्रान्तीय सरकार (C. P. Government) को Christian proselytising Government इस भाँति विकृत नाम देना अनुचित है, यद्यपि हालहीमें प्रकाशित याददाश्तमें मध्यप्रान्तीय शासकगणने मिशनरी (याने धर्मान्तरके कार्यमें निरत) संस्थाओंके लिए उत्साहपूर्ण ढंगसे एवं बिना किन्हीं शर्तोंके सहायता देना प्रकट किया, जिसके फलस्वरूप सरकारकी अटल धार्मिक निष्पक्षपातिताके बारेमें सन्देहका सृजन हुआ था । हाँ, मैं यही कहूँगा कि किसी प्रांतिक सरकारने पर्याप्त गंभीरताके साथ मूलनिवासियोंके धर्म एवं सभ्यताके यथोचित संरक्षणके कर्तव्यपर सोचा ही नहीं, यद्यपि पार्लियामेंटने इनपर यह भार सौंपा था और इन पृथक् क्षेत्रोंका निर्माण भी इसी उद्देश्यसे हो चुका था ।

मैं इसीलिए मध्यप्रान्तकी सरकारके सम्मुख यही पेश करूँगा कि, सन् १९३५ ई० के शासनविधानके प्रस्थापित होनेके पश्चात् मंडला विभागमें जितने भी मिशन स्कूल खुले हों सभीको सरकार अपने अधीन करलें, क्योंकि इस विधानके फलस्वरूप मंडला विभाग पृथक् क्षेत्रमें समाविष्ट किया गया है । सिझोरा ट्रेनिङ्ग स्कूलको सरकार खरीदले तथा स्वयं ही उसके संचालनका प्रबंध करदे । मिशनरियोंद्वारा धन उधार देनेका जो व्यवसाय इस समय जारी है उसे सरकार तुरन्त निषिद्ध घोषित करदे और इस तथा किसी अन्य तनिक या पूर्णरूपसे पृथक् कृत क्षेत्रमें आगे चलकर धर्मान्तरके कार्य करनेवाली संस्थाओंको प्रवेश तथा

अनुमोदन सुतरां न मिले।

मंडलामें जो दशा है उसके बारेमें शीघ्रही पार्लियामेंटके कामन्ससभागृहमें प्रश्न पूछे जानेवाले हैं पर तबतक नितान्त आवश्यक है कि भारतके सार्वजनिक कार्यमें निरत पुरुष इसकी ओर ध्यान दें। मंडलाके प्रश्नको अखिल भारतीय स्वरूप मिल जाय ऐसा आन्दोलन खडा करना चाहिए। सभी प्रान्तिक सरकारोंका ध्यान इस बातकी ओर दृढता-पूर्वक आकृष्ट करनेके लिए यहाँकी स्थितिका उपयोग किया जाय कि, इन पृथक्कृत क्षेत्रोंके बारेमें उनका भी कुछ कर्तव्य है और सर्व प्रथम कर्तव्य तो यही है कि मिशनरियों के चँगुलसे भूमिजनोंकी रक्षाका सुप्रबंध हो जाए। मंडला से जब तक मिशनरी लोग अपना डेरा डंडा उखाड न ले जायँ तब तक जनताको सुतरां चुप्पी नहीं साधनी चाहिये। यह प्रबलतया स्पष्ट कर बतलाना उचित है कि वीर डच जातिके प्रति हमारे अन्तस्तलमें तीव्र आदर जाग्रत है, तथापि इन डच कैथोलिक मिशनरियोंको मंडला स्थानमें रहनेका कोई नैतिक, कानूनी या राजनैतिक अधिकार बिलकुल नहीं, तो फिर, जनताके धर्म एवं रहनसहनमें हस्तक्षेप करने तथा प्रान्तके शासनक्षेत्रमें अधिकार प्रस्थापित करनेकी बात ही कहाँ ? "

एलविन महोदयका लेख भारतीयोंपर विधर्मियोंके होने-वाले संगठित एवं प्रतिपल प्रगतिशील धार्मिक आक्रमणोंपर तीव्र प्रकाशपुञ्जका प्रक्षेपण करता है, अतः वे अखिल हिन्दुजातिकी ओरसे बधाई पानेके योग्य हैं। अब हिन्दु-सभावालों तथा अन्य भी धार्मिक क्षेत्रमें कार्यशील संस्थाओं को उचित है कि वे स्वयं ही नागरिक सभ्यतासे कोसों दूर विद्यमान इन स्थानोंमें पहुँच कर वन्य जातियोंके घनिष्ठ संपर्कमें रहकर विधर्मी होनेसे उन्हें रोकदें। आर्यप्रतिनिधि सभा तथा सनातन धर्मसभाका ध्यान ऐसे प्रश्नकी ओर तुरन्त आकर्षित होना चाहिए।

ऋजु-लघ्वी

(संपादक- श्री. प्रो. ना० अ० गोरे, एम्. ए.; प्रकाशक ' ओरिएण्टल बुक एजन्सी,' १५ शुक्रवार, पूना, मूल्य २ रु.)

' ओरियण्टल-बुक-एजेन्सी ' पूनाकी प्रकाशित ऋजु-लघ्वी महाकविभवभूति-विरचित मालती-माधव-कथाका संक्षेप है। इसके प्रणेता पूर्णसरस्वती स्वयं इसका परिचय देते हैं-

" महत् प्रकरणं येन स्वोत्पाद्यचरितं कृतम्।
चिरन्तनाय कवये नमोऽस्मै भवभूतये ॥ १ ॥

प्रकरणतिलकं यन्मालतीमाधवाख्यं
सुकुटिलमितिवृत्तं तस्य बालैर्दुरापम्।
सरसविविधवृत्तैः पद्यबन्धैस्ततोऽहं
प्रगुणविरचितं तद्दर्शयिष्ये समासात् ॥ २ ॥
प्रकटितमिति पद्यैरञ्जसा बालिशानां
सुकुटिलमितिवृत्तं मालतीमाधवाख्यम्।
दिशतु सहृदयेभ्यो दीर्घमानन्दमुद्रां
कृतिरियमृजुलघ्वी पूर्णसारस्वतस्य ॥२६६॥"

अतः ग्रन्थके विषयमें अधिक परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं। सरपरशुरामभाऊ कालिज, पूनामें संस्कृत-अर्धमागधी के सुयोग्य प्रोफेसर, एन्. ए. गोरे, एम्. ए. के विद्वत्तापूर्ण सम्पादनने पुस्तकका महत्त्व अधिक बढा दिया है। आदिमें कवि और काव्यका परिचय अन्तमें श्लोक-सूची, साथ ही छन्दोभेद और टिप्पणी अत्यन्त उपयोगी हैं। इसमें १०० से अधिक पृष्ठ, छपाई सुन्दर और मूल्य केवल २ रु. हैं। कॉलेजके छात्रों तथा संस्कृतज्ञोंके लिए यह पुस्तक अवश्य संग्राह्य है।

मीमांसाशास्त्रकी आवश्यकता

(ले०– श्री० शंकर शास्त्री आर्वीकर, काव्यतीर्थ)

वैदिक संस्कृतिका उच्चतम धर्म ग्रंथ वेद है। इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहारका अलौकिक मार्गदर्शक वेद है। इस कारण वेद विद्याको अग्रस्थान मिला है। अनादि कालसे अनेक कष्ट, तथा आपत्तियोंको सहते हुए, इस वेद विद्याकी यथोचित रक्षा ब्राह्मण समाजने की है। आचार विचार संपन्न ब्राह्मणोंके मुखसे निकलनेवाले ही मन्त्र वास्तविक वेद मन्त्र हैं। उनकी जागृति तथा रक्षण करनाही सच्चा वेद रक्षण है।

वेदका यथोचित ज्ञान होनेके लिए जो शास्त्र निर्माण हुआ, उसे मीमांसा शास्त्र कहते हैं। इस शास्त्रका यदि उचित रूपसे परिशीलन किया जाय, तो यह ज्ञात होता कि, वेदके प्रमुख दो विषय हैं–

(१) कर्तव्य (२) ज्ञातव्य

वेद विहित कर्मोंकी इति कर्तव्यता बताना, इसे पूर्व मीमांसा कहते तथा ज्ञान मार्गके अवलंबको उत्तर मीमांसा कहते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि, वेदने दो मार्ग दर्शाये हैं,—

" कर्म मार्ग तथा ज्ञान मार्ग. "

कर्म मार्गमें सर्वत्र स्वयं–समाज तथा संस्कृतिके हितके हेतु कर्म काण्डकी महिमा गायी है, और ज्ञान मार्गमें सब कर्मों से परावृत्त होकर हम कौन हैं ? संसार से हमारा क्या रिश्ता है ? जन्म मृत्यु क्या है ? इत्यादि आत्म चिन्तनमें काल क्रमणा करते रहना बताया गया है। यही ज्ञान मार्गका प्रधान लक्षण है। ज्ञान मार्ग व्यक्तिगत उन्नतिका मार्ग है; किन्तु कर्म मार्ग व्यक्तिसे समाज–संस्कृति-राष्ट्र तथा विश्वकी उन्नतिका श्रेष्ठतम मार्ग है। समाजमें सुव्यवस्था स्थापित कर, शान्ति तथा अभ्युदयके पथ पर आरूढ होनेके लिए केवल कर्म मार्ग ही अतिउच्च मार्ग है। कर्म मार्गसे ही मनुष्य शनैः शनैः निवृत्ति मार्ग पर–ज्ञान मार्ग पर जा सकता है। यह अमिट सत्य है।

मनुष्यको पुरुषार्थी बनानेवाला अभ्युदय पथ दर्शक तथा समाजकी अविचल उन्नतिका मार्ग दर्शक जो कर्तव्य पथ है उसका सूक्ष्म दृष्टिसे समालोचन करना अत्यावश्यक है। जब इस दृष्टिसे हम पूर्व मीमांसा शास्त्रको साथ लेते हैं, तो उसमेंका प्रथम सूत्र "अथातो धर्मजिज्ञासा" मिलता है। इसमें धर्म–जिज्ञासाका उपक्रम बतलाया है। अब जिस धर्मकी जिज्ञासा करना वह धर्म कौनसा है, ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। इसके उत्तरमें धर्म याने "यागादिरेव धर्मः" यज्ञ यागादि कर्म ऐसा स्पष्ट बताया है। अब इस स्वरूपका जो धर्म, उसका प्रतिपादन किसने किया ऐसी शंका आती है। इस शंकाका समाधान इस तरह किया जाता है कि, धर्मका प्रतिपादन वेदमें ही किया गया है।

"वेदप्रतिपाद्यो धर्मः"

इसीसे यह सिद्ध होता है कि, मीमांसा शास्त्रका उगमः स्थान वेद ही है, और यही वेदका सारभूत शास्त्र है, तथा कर्तव्यताका, उच्च श्रेणीका धर्म यज्ञ यागादि कर्म ही है।

" यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म " (शत. ब्रा. १।७।४५)

अर्थात् यज्ञ कर्म ही श्रेष्ठतम कर्म है। आर्योंका अत्यन्त उच्च कर्म यज्ञ ही है। मनुष्य देहसे तथा समाज और संस्कृतिसे संबंध रखनेवाली हर एक विद्या, शास्त्र तथा वस्तुका संबन्ध यज्ञके साथ रहता है। इस कारण वैदिक संस्कृतिकी मुख्य जड यज्ञ ही है। इसी कर्म द्वारा मनुष्य तथा समाज अभ्युदयके पथपर जा सकता है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ॥

अर्थात् यज्ञ बहुत प्राचीन है। देवगणोंने भी यज्ञ किये हैं ऐसा भावार्थ है।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः ॥

वेद यज्ञके लिये निर्मित हुए हैं। जब जब संकट उपस्थित होकर भीषण समय आया है, तब तब यज्ञनारायण की ही उपासना करनेसे सब बाधाओं और भीषणतासे

संसार बचा है। यह वैदिक संस्कृतिका आदर्श इतिहास है। सारांश, वेद विहित धर्म कर्मोंको आचरणमें लाना यही आर्यों का तथा सनातनी पुरुषोंका उच्च तथा आदि कर्तव्य है।

' धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः '

अर्थात्— धर्मका जो नाश करता है, उसका नाश धर्म करता है तथा धर्मका यथोचित रक्षण करनेवालोंका रक्षण धर्मही करता है। वेद विहित कर्मोंका आचरण करना यही धर्म है, ऐसा इसका आशय है।

वैदिक संस्कृतिका आद्य ग्रंथ वेद है, इस कारण वेद विद्याको अग्रस्थान मिला। वेद चार हैं। उनमें प्रथम ऋग्वेद है। ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र—

" अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं।
होतारं रत्नधातमम् "

यह है। इसमें यज्ञ, पुरोहित, ऋत्विज और होता इनके बारेमें वर्णन है। इसीसे यह पता चलता है कि, यज्ञ संस्था उतनी ही प्राचीन है, जितना कि स्वयं ऋग्वेद। एक धर्म ग्रंथमें ऐसा लिखा है कि, यदि मनुष्य जातिमें यज्ञका ज्ञान न होता, तो जितनी उन्नति आज दीख पडती है, वह कभी न दिखती। वेदके बराबर प्राचीन ग्रंथ भूमण्डलपर दूसरा कोई भी नहीं है। ऐसे महान् प्राचीन ग्रंथमें पूर्णतः यज्ञकर्मका ही वर्णन है। इसलिये यज्ञसंस्कृति अनादि है; वेदकालीन है, इसमें सन्देह नहीं।

यज्ञके मुख्यतः तीन भेद हैं—

१ कर्म यज्ञ.
२ ज्ञान यज्ञ.
३ उपासना यज्ञ

कर्म यज्ञमें— सोलह संस्कार, शिक्षा, आहार वस्त्र, समाजशास्त्र, राज्य, कृषि, पशुपालन, गायनशास्त्र, कोकशास्त्र, पाकशास्त्र, नीतिशास्त्र, गणितशास्त्र, भूगोलशास्त्र, खगोलशास्त्र, शिल्पकलाशास्त्र, ज्योतिष्यशास्त्र, रसायनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, शस्त्रविद्या, वाहनविद्या, युद्धविद्या आदिका समावेश है।

ज्ञान यज्ञमें- ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, कर्मफल, सृष्टि, प्रलय, वर्ण, आश्रम, तथा स्वाध्याय का समावेश है।

उपासना यज्ञमें- सदाचार, दया, प्रेम, दर्शन, भक्ति, वैराग्य, योग समाधि आदिका संबंध दर्शाया है। इन निर्दिष्ट आधारोंसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि, यज्ञ कर्म केवल अज्ञानजन्यही कर्म नहीं, किन्तु उसमें विशाल बुद्धि चातुर्य, तथा उसकी सफलताके लिये नाना शास्त्र, विद्या, गुण तथा आदर्शभूत सदाचरणविहित कर्मोंकी परम आवश्यकता है। प्राचीन युग सर्वथा ऐसा ही था, इसमें शंका नहीं। हम कैसे थे ?

" ॐ राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने। नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे, स मे कामान्कामकामाय मह्यम् कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु, कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः। ॐ स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति। " (ऐ. ब्रा. ८।१५)

भावार्थ- सर्व शक्तिमान् राजाधिराज और उपासकोंकी प्रार्थना ग्रहण करनेवाले ईश्वरको हम सब उपासक नमस्कार करते हैं। वह हमारी मनो कामना पूरी करे। राजाधिराज महाराजको हम प्रणिपात करते हैं। हमारा कल्याण हो।

हमारा साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्यराज्य, महाराज्य, आधिपत्यमयराज्य, सामन्तपर्यायी राज्य समुद्र तक बढे। हमारा राज्य सारे भूमण्डल पर हो। हमें पूर्ण आयुष्य प्राप्त हो। अनन्त काल तक पृथ्वी पर हमारा एकछत्र राज्य हो। सबका कल्याण होकर सम्पूर्ण मानव जातिकी परम उच्च उन्नति हो, तथा वह चिरकाल तक स्थायी रहे।

सारांश, यज्ञ कालीन-वेद कालीन परिस्थितिका संक्षिप्त रूपसे यथार्थ वर्णन यह है। इसीसे हमारी संस्कृति तथा हम कौन थे; कैसे थे; और क्या कर सकते थे, इसका पता चलता है।

मनुष्यको कर्तव्यताका ज्ञान तथा शिक्षा दीक्षा देकर पुरुषार्थी बनानेवाला वेदका कर्तव्यताका विषय जिस शास्त्र में है उसको पूर्व मीमांसा शास्त्र कहते हैं यह पीछे बतलायाही है।

" धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।

इतिकर्तव्यता भागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥

अर्थात्, वेदका सहारा लेते हुए धर्मका निश्चय करते समय क्या करना ? कैसा करना ? आदि बातोंका निर्णय मीमांसाशास्त्र ही करता है। सब कर्मोंका सार इस शास्त्र में आनेके कारण इसे श्रेष्ठ मान मिला है। मनुष्यका आदि कर्तव्य क्या है, यह बतानेवाला वेदका सार इस शास्त्र में ही है। इससे इस शास्त्रकी विचारप्रणाली कर्म प्रधान है। संसारमें कर्म ही प्रधान है ऐसा इस शास्त्रका ठीक सिद्धान्त है। सब वेदोंका निचोड–तथा चतुर्विध पुरुषार्थका सार यज्ञादि कर्ममें है, और इसका यथार्थ दृष्टिसे ज्ञान संग्रह केवल मीमांसा शास्त्रमें ही होनेके कारण इस शास्त्रको अग्रस्थान मिला है।

प्रत्येक संस्कृतिके दो भेद होते हैं। प्रथम कर्म और द्वितीय ज्ञान। कर्म मार्ग संस्कृतिका शरीर, तथा ज्ञान मार्ग जीवात्मा माना जाता है। जीवात्मा शक्ति अणुपरमाणु गति से अदृश्य रूपमें सारे चराचरमें व्याप्त है, किन्तु मानवको उस विशाल शक्तिका प्रत्यक्ष ज्ञान सगुण रूपसे ही हो सकता है। काल पुरुष निराकार है, निर्भय है, विशाल है, किन्तु उसका ज्ञान वह अनादि कालसे होनेपर भी, प्रत्यक्ष रूप बिना नहीं हो सकता। इस कारण कालचक्रके क्रमणात्मक रूपको ज्ञानी महा मानवोंने वर्ष, संवत्सर, अयन, ऋतु, महा, पक्ष, सप्ताह, दिन, रात, घटि, पल, विपल, तथा कलाक, मिनिट, सेकंड तक सगुण रूपमें बिठाकर उस परसे निराकार निरामय कालका निश्चित अनुमान निकाला है। इसी प्रकार कर्म और ज्ञानका घनिष्ट संबंध है! कर्म सिद्धान्तोंसे ही ज्ञान मार्गकी नींव निर्मित होती है। कर्म–मार्गरूपी शरीरसे ही ज्ञानमार्गरूपी जीवात्माकी खोज लग सकती है, तथा कर्म और ज्ञानका परस्पर संबन्ध शरीर और जीवात्माके समान है। अतः कर्म मार्गकी कितनी, और कैसी जरूरत है यह सिद्ध होता है।

संसारमें कही भी देखो, हर एक बातमें मर्यादाका बंधन रहता ही है। एक गरीबकी झोपडीसे राजमहल, तथा सारे विश्वमें क्रमशः मर्यादाका विशाल तट है। पशु प्राणियोंमें भी यह नैसर्गिक बंधन है, किन्तु उसके अतिरिक्त समाज रचना सुव्यवस्था तथा उसकी उन्नत दशा केवल श्रेष्ठतम कर्म मार्गसे ही निर्माण होती है। वह मार्ग दर्शानेवाला सर्व श्रेष्ठ शास्त्र यही है। इससे नियमशीलता, कर्तव्यनिष्ठा, कर्तव्यजागृति, स्वार्थत्यागवृत्ति आदि गुण निर्माण होते हैं। कोई भी कार्यसिद्धि केवल वादविवादसे, तात्विक चर्चासे, दैववादसे वा केवल ईशकृपासे नहीं होती, वह केवल कर्मरत रहनेसे ही होती है। यह मीमांसाका दृढ सिद्धान्त है। अपने इष्ट कार्यकी सिद्धिके लिए, क्या करना चाहिये, क्या सामग्री होना चाहिये, उसका उपयोग कैसा करना चाहिये, कोई महद्कार्य एकताके साथ कैसा करना चाहिये, तथा परस्पर विरुद्ध वाक्योंमें एक वाक्यता स्थापित करनेका ज्ञान इस शास्त्रसे ही होता है। इस शास्त्रके अध्ययन से बुद्धि अत्यन्त तीव्र होती है तथा सूक्ष्म समालोचन, वाक्चातुर्य आदि गुण अवगत होते हैं। इस दृष्टिसे न्यायाधीश तथा कानून पंडित वर्गको यह शास्त्र बहुत ही उपयुक्त है। पाश्चात्य पंडित इस शास्त्रको कायदोंका तर्कशास्त्र कहते हैं। इससे इस शास्त्रकी उपयुक्तता ज्ञात होती है।

' न हि जामात्रर्थं कृतं मधुरान्नं पररसनां प्र.प्य विपरीतं भवति '

जामाताके लिये किया हुआ मधुरान्न अन्य पुरुषोंके मुख में जानेसे विपरीत नहीं होता है। इसी प्रकार इस शास्त्रसे एकका, या एकसंस्कृतिका नहीं तो, अखण्ड विश्वका लाभ तथा उच्चतम अभ्युदय हो सकता है। इस शास्त्रका ज्ञान रहे बिना वैदिक धर्मका सच्चा रहस्य नहीं समझा जा सकता, तथा वैदिक धर्म शास्त्रपर बिना इस ज्ञानके, टीका करना केवल अज्ञानता होगी।

वेद विषयका कर्तव्यता मार्ग दिखलानेवाले सूत्रकार आचार्य जैमिनिजी थे। किन्तु जैमिनिजीके भी पहिले यह शास्त्र था ऐसा 'सिद्धान्त चंद्रिका " नामके ग्रंथमें लिखा है। इस ग्रंथका कहना ऐसा है कि, यह शास्त्र ब्रह्मा से निर्माण हुआ। इस कारण इस शास्त्रके बारेमें ब्रह्माजीको आद्य स्थान मिलता है। ब्रह्माजीने मीमांसा प्रजापतिको बतलायी। प्रजापतिने इन्द्रको, इन्द्रने अग्निको, अग्निने वसिष्ठ ऋषिको, वसिष्ठजीने पराशरको, पराशरने कृष्णद्वैपायनको, कृष्णद्वैपायनने जैमिनिजीको बतलायी। जैमिनिजीने वह सब ज्ञान अपने ग्रंथमें लिखा रखा है। वह सब जानते हैं। इससे इस शास्त्रकी प्राचीनताका तथा महत्वका पता चलता है।

जैमिनी सूत्रके भाष्यकार शबरस्वामी हो गये। बौद्ध-धर्मके उत्कर्षके समय वैदिक धर्मपर महासंकट आया, उस समय कर्म काण्डकी महती प्रस्थापित करनेका कार्य कुमारावतार श्रीमत्कुमारिलभट्टने किया। श्रीरामानुज, श्रीवल्लभादि प्राचीन आचार्य इस शास्त्रके अध्ययनसे बडे भारी बुद्धिमान हो गये।

वेद विषयकी " ज्ञातव्यता " मार्गके सूत्रकार भगवान् व्यास हुए। इस सूत्रको वेदान्त सूत्र कहते हैं। इसके भाष्यकार श्रीमदाद्यशंकराचार्यजी हैं। बौद्ध धर्मके उत्कर्षके समय आचार्यजीने वैदिक धर्मकी रक्षाके हेतु स्थान स्थानपर श्रुति सम्मत ज्ञान मार्ग प्रस्थापित किया। सर्वत्र दिग्विजय करके समाजको यह अबाधित ज्ञान अखण्ड मिलनेके हेतु मठ (पीठ) निर्मित कर रखे।

पूर्व मीमांसा शास्त्रके सूत्रकार आचार्य जैमिनिजीने कर्म-काण्डकी योग्य शिक्षा दीक्षा देनेके लिये मठ या विद्यापीठ निर्माण न किया था, इसका कारण यही होगा कि, उस समय प्रत्येक विद्वान् गृहस्थाश्रमीके मकानमें तथा गुरुकुलों में अग्निहोत्र तथा यज्ञयागका स्थान अवश्यंभावी रहता था। इतना विशाल कार्यक्षेत्र होनेके कारण स्वतन्त्र विद्या-पीठ स्थापित करनेकी जरूरत न पडी होगी। किंतु काल-गत्यनुरूप परिस्थितिमें परिवर्तन हुआ। निरग्निक अवस्था निर्माण होनेके कारण तथा आपसी कलहादिसे वह रचना टूट गयी। विद्वान् शास्त्रज्ञोंका ऱ्हास हुआ। इसी कारण सामाजिक कार्यशीलता क्रमशः नष्ट होती गयी। इस मार्गके अनुयायी वर्गको इस बातपर ध्यान देना चाहिये था। किंतु दुर्भाग्यवश, वह संभव न हुआ। दिन प्रतिदिन समाज कर्तव्यपराङ्मुख-कर्तव्य विन्मुख होता चला, और अब गर्त में जा रहा है। आज समाजकी जो भीषण अवनति हो रही, उसका एकमेव कारण यही है कि, हम उन महापुरुषोंद्वारा निर्मित परिपाटीको बिलकुल भूल गये हैं। आज आलस्यकी सुषुप्ति और अज्ञानके अंधःकारमें हम अपने आपको ही भूल गये हैं। निर्जीवोंमें रह, हमने स्वयं अपना तथा संस्कृति का राष्ट्रका जीवन खो दिया है।

सूक्ष्म दृष्टिसे यदि देखा तो, ज्ञातव्यताका मार्ग भी दिन प्रतिदिन अपना बीभत्स रूप धारण कर रहा है। संत महात्माओंकी आशंका, मर्यादाका उल्लंघन कर, आज घर घर में यह मार्ग मनमाने अधर्म पथका प्रचार कर रहा है। घर घरमें ब्रह्मज्ञानकी बातें उठने लगीं, तथा घर घरसे ब्रह्मज्ञानके प्रचारक निर्माण होने लगे। किन्तु इससे धर्म और समाज का उत्कर्ष होना तो दूर ही रहा, पर केवल अव्यवस्था मात्र दृष्टिमें आकर धर्मपर अश्रद्धा तथा नास्तिकताका साम्राज्य फैलता जा रहा है। सत्यधर्म लुप्तप्राय होकर, आजका धर्मका बीभत्स रूप दृष्टिगत हो रहा है। केवल ब्रह्ममय संसारके रस भरित वर्णनोंसे समाज कर्तव्य पराङ्मुख तथा हतबल होता जा रहा है। और आज ब्रह्म तो देखा ही नहीं, किन्तु कर्मच्युत होनेके कारण आलस्य वृत्तिका संचार समाजमें हो रहा है। उदासीनता छा रही है। आज सारा समाज मूल संस्कृतिको भूलकर अज्ञानवत् जीवन व्यतीत कर रहा है।

एक महाराष्ट्र सन्त कहते हैं,

करणें लागे भोजन। करणें लागे उदक प्राशन।
मल मूत्र विसर्जन। हें ही कदापि सुटेना॥

अर्थात् मनुष्यको जब तक खुदकी, तथा सब बातोंकी जानकारी रहती है, तब तक कर्मकाण्ड छूटना असंभव है। यह बात यदि सत्य है, तो फिर स्वयं-समाज-संस्कृति तथा राष्ट्रके हित, शास्त्रविहित कर्म काण्ड आचरणमें लाना ही परम आवश्यक है। ज्ञातव्यताका प्रचार आत्मानुभूति बिना करना केवल अज्ञान जन्य है। जिस वन्दनीय गीताके बारेमें कहा जाता है कि, गीता केवल ज्ञातव्यता मार्गको दर्शाती है। किन्तु हम यही सिद्धान्त पूर्व कहेंगे कि, गीताने कर्मको ही प्राधान्यता दी है। यदि ऐसा न होता, तो कर्मच्युत पार्थ गीता उपदेश ग्रहण करने बाद एकदम कर्म प्रवृत्त हुआ है, वह होता ही नहीं। गीताके जन्मदाता भगवान् श्रीकृष्णजीकी जीवनी भी आदर्श कर्तव्यतासे-पुरुषार्थसे भरी है। अतः कर्मोत्तर ज्ञान प्राप्त होता है। इस बातको ध्यानमें रखते हुए समाजको, कर्तृत्ववान बनाना, यही हरएकका कर्तव्य है।

आखिर हमें चेतना कब आवेगी? कब हम जागृत होंगे। कब हमें बोध होगा कि, हम महान् आर्य जातिकी सन्तान हैं? इस स्वमिल तंद्राके लोकसे हमें दूर होकर यथार्थके कर्मलोकमें जाना ही होगा। आलस्यको अपने जीवनसे दूर भगा, उसमें नवजीवनका संचार कर आर्य जातिकी प्राचीन

गरिमाको पुनः स्थापित करना ही होगा। अभी समय है। हमें सचेत होना आवश्यक है। और इसलिये आर्य वृन्दोंसे वैदिक संस्कृतिके सच्चे पुजारियों तथा उपासकोंसे आर्य संस्कृतिके तथा राष्ट्रके विकासको पुन्हः देखनेके इच्छुक व्यक्तियोंसे हमारा यह ममता पूर्ण आग्रह है कि, वे अविलम्ब जागृत होकर जीवनके महान् आदर्शोंपर दृष्टिपात करें। यथार्थ धर्म प्रेम- धर्म जिज्ञासा तथा धर्म श्रद्धा है, तो इस धर्म कार्यको हाथ लेकर उसमें चेष्टारत हो जावें। दृढ प्रतिज्ञा होकर अपनी प्राचीन संस्कृतिको पुनः जीवित करे।

॥ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु,
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पुस्तकत्रयी परिचय

१ आनुग्राहिकं मू. ३) रु.
२ याजुषप्रतिज्ञा परिशिष्ट मू. १)रु.
३ मणित्थ ताजिकं मू. ३) रु.

(समालोचक- पं० ऋभुदेवशर्मा 'साहित्यभूषण' 'आयुर्वेदभूषण' 'शास्त्राचार्य' भू. पू. आचार्य गुरु. येडशी, औंध)

श्रीमान् सुविद्य वैद्य पं० विद्याधर विद्यालङ्कार भिषगाचार्य ने "विद्यालंकारार्थवाङ्मयरत्नमाला" नामसे एक प्रकाशन प्रारम्भ किया है। इस मालाका उद्देश्य लुप्त पुरातन--आर्य-ग्रन्थोंका प्रकाशन है। अब तक इस मालामें तीन रत्न पिरोये जा सके हैं, अन्य पिरोये जानेवाले हैं। (१) आनुग्राहिकं, पृष्ठ २४; मूल्य ३) रु. (२) याजुष-प्रतिज्ञा-परिशिष्टम्, पृष्ठ ८; मूल्य १) रु. और (३) मणित्थ-ताजिकं, भाषानुवादसहितम्, पृष्ठ १२; मूल्य ३) रु.। ग्रन्थ विद्वान् मनुष्योंके विचार होते हैं अतः उनको संग्रहालयमें स्थान अवश्य मिलना चाहिये जिनसे मनुष्योंके सब प्रकारके विचारोंका अध्ययन किया जा सके। ये ग्रन्थ पुरातन हैं और लुप्त, यह प्रत्यक्ष है। ये पुस्तकालयमें रखने, योग्य और अन्वेषकोंके कामके हैं, अतः वर्तमान महर्घता के कालमें इनका यह मूल्य क्षम्य है। पहले और दूसरे ग्रन्थ यज्ञ और वेद-विषयक है, तीसरा फलित-ज्योतिष विषयक। आशा है, पुरातन-विद्या-प्रेमी-जन इन ग्रन्थोंको 'श्री० पं० विद्याधर विद्यालंकार, पो० सोलन, जि० शिमला (पंजाब)' से मंगाकर मालाके सहायक होंगे और प्रकाशकके उत्साहको बढायेंगे। 'वैदिक-धर्म'की आलोचना से प्रेरित जनोंको ये ग्रन्थ पौन मूल्य पर प्रकाशकसे प्राप्त हो सकेंगे।

शरीर शोधन चिकित्सा

(लेखक– श्री० दि० प० फाटक, अकोला; अनुवादक– श्री० पं० द० ग० धारेश्वर, औंध)

सर्वसाधारण रूपरेषा

सुखोपभोग प्राप्त करनेकी प्रबल लालसा

सबका अनुभव यही बताता है कि सुख पानेकी इच्छा समूचे मानवोंमें सदैव विद्यमान रहती है। मानव शरीरही सुख भोगनेका साधन है इसलिए अधिकसे अधिक सुखका उपभोग लेनेके लिए शरीरमें स्वास्थ्य, सामर्थ्य, सुख तथा सुन्दरता याने मोहकता इस भाँतिके चार गुण मौजूद रहने आवश्यक हैं। स्मरण रहे कि ये गुण परस्परावलंबी हैं अर्थात् स्वास्थ्य हो तो सामर्थ्य, और स्वास्थ्य एवं सामर्थ्यपर ही सुख निर्भर है। पहले तीन गुणोंसे सभी परिचित हैं लेकिन यह आवश्यक जान पडता है कि चतुर्थ गुण याने सुन्दरता (मोहकता) का तनिक स्पष्टीकरण किया जाय।

सौंदर्य एवं मोहकता

सौन्दर्य तथा मोहकता भिन्न हैं क्योंकि सुन्दरता स्वाभाविक है और इसके अभावमें चेष्टा करनेपर मोहकता पाई जा सकती है। वर्तमानकालमें मोहक बनानेके साधनोंसे सभी परिचित हैं। स्थायी मोहकता शरीरकी स्वस्थतापर निर्भर है और शरीर स्वास्थ्य प्राप्त करनेका सुगम उपाय शरीर–शोधन–चिकित्सा है।

सुगम चिकित्साकी अभिलाषा

स्वास्थ्यसे लाभ उठानेके लिए जिस उपाय योजना या चिकित्साको कार्यान्वित करना है वह जितनी सरल एवं आसान हो उतना ठीक ऐसी सबकी धारणा है। इसके लिए अनादिकालसे अबतक लगातार कोशिश जारी है। रोगोंको हटानेके लिए नयी नयी दवाइयों तथा इंजेक्शन्सका आविष्कार धड़ल्लेसे हो रहा है। पर सबसे अच्छा यही है कि, रोगोंके पैदा होनेपर चिकित्सा करनेके बजाय उत्पन्न होनेमें प्रतिकार रुकावट खडी की जाय। रोगोंका प्रतिबंध करनेके जो प्रचलित उपाय हैं उनका प्रभाव चिरकालीन नहीं होता है और हर रोगके लिए विभिन्न उपाय करने पडते हैं अतः उपयोग भी सीमित होता है। इससे भी आसान उपायकी आवश्यकताको सभी महसूस करते हैं इसमें क्या सन्देह! सभी रोगोंका प्रतिबंध करनेकी क्षमता रखनेसे शरीर शोधन चिकित्साको ही सर्वोपरि स्थान देना ठीक प्रतीत होता है।

मैलका संचय होना सभी रोगोंकी नींव है

मानव शरीरमें मैल जम जाता है और यही आगे चलकर समूची बीमारियोंका कारण बन जाता है। अतएव रोगोंके हटाने तथा रोग पैदा होनेमें रुकावट करनेका सच्चा विश्वसनीय एवं मौलिकरूपसे निर्दोष साधन, शरीरमें इकट्ठा होनेवाला मैल दूर करना याने शरीर शोधन है। शरीरके बाह्य विभागपर जमनेवाली मलिनताको हटाकर शरीर साफ सुथरा रखना न्यूनाधिक प्रमाणमें सर्वत्र प्रचलित है। लेकिन हठयोगी लोगोंके अतिरिक्त अन्य कोई इस बातकी जानकारी नहीं रखते कि मानव देहके आन्तरिक भागोंको भीतर निर्मल कैसे रखें।

हठयोग

यह तो एक बडा पुराना शास्त्र है और इसमें शारीरिक शक्तियाँ बढानेकी बहुतसी युक्तियाँ अथवा क्रियाएँ विद्यमान हैं। इसके आठ विभाग किये हुए हैं जिनमें प्रथम भागको शरीरशोधन नाम दिया है। इसमें कई क्रियाओंका समावेश है पर तीन क्रियाएँ नितान्त सरल और आसान हैं। इनके उपयोगसे शरीर बडी अच्छी दशामें रखा जा सकता है; पहले तो रोगही नहीं होनेपाता और कहीं एकाध समय हुआ तो भी प्रबल नहीं बन जाता। इसकी मददसे शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक निरोगिता बडी सुगमतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है।

जनतामें इसभाँतिकी चिकित्साके बारेमें अज्ञान फैला हुआ है। कारण यही कि बीमारी हो जानेपर उसका इलाज करना सभी साधारणतया जानते हैं पर इस कल्पनासे बहुतही थोडे लोक परिचित हैं कि रोगका उद्भव जडमूल

हे असंभव कर देना भी होनेवाली बात है।

प्रचलित चिकित्सा प्रणालीके दोष

इस समय जो दवाइयोंसे बीमारीका इलाज करनेकी प्रथा जारी है उसमें कुछ दोष हैं। रोगका निदान समझ-लेना, उचित दवाइयोंका प्रबंध करना तथा उनका अनुपात ठहराना आदि अनेक बातोंमें भूलें हुआ करती है। कुछ दवाइयाँ स्वादमें बडी अप्रिय प्रतीत होती हैं तो कुछ औष-धोंकी महक कष्ट देनेवाली और कइयोंका प्रभाव शरीरपर बुरा हुआ करता है।

शरीरशोधन चिकित्सा

यह तो बडी सादी है और इसमें ऊपर कहे हुए दोष नहीं पाये जाते हैं। इसका प्रमुख तत्त्व अत्यन्त सरल है अर्थात् समय समयपर शरीरमें एकत्रित होनेवाले मलको बाहर निकाल देना। ऐसा करनेके उपाय भी पूर्णतया निर्धारित ही हैं अर्थात् सुलभधौति, सुलभबस्ति एवं सुलभ नेति ये तीन ही हैं।

इनमें प्रथम किस उपायका सहारा लेना यह निश्चित करना भी बिलकुल आसान है। उसी तरह पाँच वर्षकी अवस्थावाले छोटे बालकबालिकाओंसे लेकर वृद्धोंतक सभी इनसे लाभ उठा सकते हैं। इनसे इलाज करना शुरु करते ही दर्द घटने लगता है और आराम प्रतीत होने लगता है।

मल किसे कहें ?

बिलकुल संक्षिप्त ढंगसे न्यूनत्तम शब्दोंमें कहना हो तो शरीरके पोषणार्थ जिनका उपयोग नहीं ऐसी चीजोंका शरीरमें इकट्ठा होना मल है। विभिन्न कारणोंसे तथा अलग अलग स्थानोंमें ये वस्तुएँ शरीरमें रह जाती हैं। ऐसा होनेसे शरीरके प्रतिदिनकी कार्य प्रणालीमें रुकावट उठ खडी हो जाती है। शरीरके बाहरी शकलमें और अंगोंमें एवं रचनामें भेद दीखने लगता है, रुधिरमें बिगाड होता है तथा शरीरके विविध विभागोंमें बीमारियाँ पैदा होने लगती हैं।

अन्य चिकित्साओंमें भी शरीरशोधन पाया जाता है

सभी चिकित्सक लोगोंके कार्यक्रममें शरीरशोधनको स्थान है। रेचक औषध तथा एनीमा ऐसे दो साधन विख्यात हैं। पेटंट मेडिसिनके व्यवसायमें निरत लोग फ्रूटसाल्ट, क्रूशन साल्ट, लिव्हरसाल्ट सदृश शरीरशोधक दवाइयोंको बेचकर करोडों रुपये कमा चुके हैं पर इनसे जो प्रभाव पैदा होता है वह थोडी देरतक ही टिकता है, मूल कारण हटता नहीं।

जीवनशक्ति

शरीरमें ही एक ऐसी योजना है कि, जो सभी शारीरिक क्रियाओंको भलीभाँति चला लेती है और जिसे जीवन-शक्ति या संरक्षण.योजना ऐसा नाम दिया जा सकता है। इस शक्तिका एक कार्य है शरीरमें इकट्ठे होनेवाले मैलको दूर कर देना और वमन, जुकाम, खाँसी आदिका आवि-र्भाव इसी कार्यके परिणामके रूपमें है। लेकिन कभी कभी हम गलत तरीकोंसे दोनों लक्षणोंको दबा लेते हैं जिससे यह मल शरीरमें रह जाता है।

शरीरके भीतर क्रियाएँ

ध्यानमें रहे कि शरीरान्तर्गत बडी महत्त्वपूर्ण क्रिया प्रचलित है। पचन प्रणालीकी प्रक्रिया और शरीरको सुस्थ एवं कार्यक्षम बनाये रखनेकी क्रिया दोनोंसे देहमें मलका उत्पादन हुआ करता है। पचन क्रियासे पैदा होनेवाले मल तो सभी जानते हैं, पर दैनंदिन व्यवहारमें पैदा होनेवाली शारीरिक क्षतिकी पूर्ती समय समयपर करनेके कार्यमें अर्थात् पुराने घटकोंको दूर करके नये घटकोंको उनके स्थानापन्न करनेमें जीर्ण पेशियाँ मलके रूपमें ही शरीरसे बाहर निकला करती हैं। शरीर शोधनचिकित्साके अत्यन्त उपयुक्त होनेमें अब शायद ही किसीके दिलमें सन्देह रहे।

सुखोपभोग लेलेनेकी तीव्र लालसा

प्रत्येक मानवके अन्तस्तलमें विविध इच्छाएँ विद्यमान हैं जिनमें कुछ तो बडी ही तीव्र रहती हैं। सुखभोग पानेकी साध अत्यंत प्रबल एवं अमर है जो कि सभी प्राणियोंमें मौजूद है। जिसे सुखकी आवश्यकता न प्रतीत हो ऐसा मानव शायद ही इस अवनीतलपर मिले। जब दिलमें सुख भोगनेकी चाह उठ खडी होती है तो उसे फलीभूत करनेके लिए दो अन्य साधनोंकी आवश्यकता रहती है। प्रथमतः, जिन वस्तुओंकी प्राप्ति या उपभोगसे हमें सुखकी

प्राप्ति होती है वे सभी चीजें मिल जायँ और दूसरे, अपना निजी शरीर है जो कि आरोग्यसंपन्न, सुदृढ तथा विषयोपभोग लेनेकी क्षमता रखनेवाला चाहिये। इस संसारमें विषयोंकी तनिक भी कमी नहीं है और उन सभीकी संख्या निर्धारित करना कठिन तो जरूर है तथा ध्यानमें रहे कि विषयोंका उपयोग लेलेनेकी शक्ति किसी भी मानव में अत्यन्त सीमित है।

विषयोंकी अनुकूलता

कुछ लोग इतने भाग्यसंपन्न दीखते हैं कि, उन्हें प्रतिकूलतासे जूझनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है और सभी वस्तुएँ सुगमतासे उन्हें मिल जाती हैं। ऐसे लोग धनाढ्य परिवारमें जन्म लेते हैं; साफसुथरे मकान, वैभव, भूमि आदि बातें यथेष्ट मिल जाती हैं। अगर इस श्रेणीके भाग्यशाली पुरुष उपभोगके साधन बने हुए निजी शरीर को सुव्यवस्थित ढंगसे रखलें तो वे निस्सन्देह विराट सुख का उपभोग लेंगे। पर ऐसे भी लोग अत्यधिक संख्यामें देखे जाते हैं कि उन्हें जन्मसे लेकर प्रतिकूल परिस्थितियों से लगातार मुठभेड करनी पडती है अतः घोर परिश्रम करके ही आवश्यक वस्तुओंको पाना उनके भाग्यमें लिखित है। इस कारण पहले ज्ञानार्जन, पश्चात् अनुकूल व्यवसाय का चुनलेना, बादमें द्रव्य प्राप्ति इस क्रमसे परिश्रमपूर्वक विषयोंकी अनुकूलता पायी जा सकती है।

सामर्थ्यसंपन्न शरीरका महत्त्व

सुखोपभोगके लिए मानवी शरीरका जो महत्त्व है वह किसी भी दशामें उपेक्षणीय नहीं क्योंकि जिस तरह विषयभोगके लिए शरीरकी आवश्यकता है वैसेही विविध वस्तुओंके प्राप्त करनेमें भी वह अनिवार्य है। बाल्यावस्थामें शिक्षा पाते समय यदि बार बार बीमार पडना पडे तो समाधानकारक ढंगसे पढाईके समाप्त होनेमें बडी भारी रुकावट एवं बाधा उत्पन्न होगी। व्यापार धंधा प्रचलित करते वक्त अगर बीचमेंही रोगोंका शिकार होना पडे तो बेशक व्यवसायमें भीषण क्षति उठानी पडेगी। कहनेका आशय यही कि उचित वस्तुओंके बटोरनेमें प्रारम्भमें ही 'मूले कुठारः' होगा तो फिर भला उपभोगका ख्यालही कैसे करें?

सामर्थ्यशाली शरीरके दो विभाग

ध्यानमें रहे कि मानवी शरीरमें दो तरहकी शक्तियाँ विद्यमान हैं। (१) स्नायुशक्ति जिसे बढानेके लिए साधन प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं। स्नायुशक्ति विकासकी शिक्षा देनेके लिए व्यायामशाला एवं आखाडे पर्याप्त रूपसे खुले हैं और विविध क्रीडाओंके द्वारा भी इस शक्तिको विकसित किया जा सकता है। अतः इस संबंधमें अधिक लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। रही दूसरी (२) जीवन-शक्ति जिस के संबंधमें बहुतसे लोग तनिक भी जानकारी नहीं रखते। जहाँ कुछ भी ज्ञान या कल्पना नहीं वहाँ उसके संरक्षण या उस पर निर्भर रहनेकी भला कौन सोचें? इसीकारण जीवनशक्तिके बारेमें अधिक कहना असंभवसा प्रतीत होता है। शरीरको कार्यक्षम एवं निरोग रखना जीवनशक्तिका ही कार्य है और जब कभी रोगके कीटाणु शरीर पर हमला कर पाते हैं तो उनसे अविराम लड कर उन्हें हतबल करके शरीरकी समुचित रक्षा जीवनशक्ति ही करती है। पंचमहाभूत, उद्भिज एवं खनिज विषबाधा, औषधयोजनामें हुई भूल, अपघातके कारण हुए विध्वंस, मानसिक व्यथासे होनेवाली क्षति इत्यादि विविध ढंगोंसे शरीरमें जो बिगाड पैदा होता है उसे हटाना जीवनशक्ति पर ही सुतरां निर्भर है।

स्नायुशक्तिकी नींव यही जीवनशक्ति ही है एवं इसके ठीक रहते रोगोंका शरीरपर आक्रमण सफल नहीं हो सकता और एकाध मौकेपर रोग शरीरमें पैदा भी हुए हों तो उन का बढ जाना सुतरां असंभव है। तभी कह सकते कि शरीर स्वास्थ्य संपन्न है और चूँकि स्वास्थ्य ही शरीरकी आधार शिला है इसलिए प्रत्येक मानवका यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह अपने स्वास्थ्यके प्राप्त करने एवं उसे अक्षुण्ण बनाये रखनेमें सदैव सतर्क एवं सचेष्ट रहे।

स्वास्थ्य और मोहकता (सुन्दरता)

मोहकतारूपी महनीय अट्टालिकाकी बुनियाद स्वास्थ्य ही है, पर खेद है कि अनेक लोग इस बातसे सुतरां अपरिचित रहते हैं और स्वास्थ्यको स्थायीरूपसे पानेकी कोशिश न करते हुए सिर्फ कृत्रिम उपायोंसे अपने शरीरोंको मोहक बनानेमें तत्पर रहते हैं। हाँ, कृत्रिम तरीकोंसे शरीरमें कुछ अंशतक मोहकता या सुन्दरताका आभास पैदा करना संभव है लेकिन यदि स्वास्थ्य और सौंदर्यसे शरीर वंचित रहे तो सुखोपभोगकी आशा करना केवल मृगतृष्णिका मात्र है।

स्वास्थ्य प्राप्त करलेनेके तरीके

जनता भ्रमसे समझती है कि दवाइयोंके उपचारोंसे स्वास्थ्यलाभ किया जा सकता है तथा आज दिन स्वास्थ्य-संपादनके सर्व सम्मत राजमार्ग प्रचलित भी नहीं हैं। यद्यपि यह सच है कि औषधोंके खा लेनेसे रोग नष्ट होते हैं तो भी यह ध्यानमें रखना अतीव आवश्यक है कि केवल दवाइयोंके प्रयोगसे स्वास्थ्य प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रभाव-शाली और सुनिश्चित उपाय तो एकमात्र शरीरशोधन चिकित्सा ही है।

प्रचलित चिकित्साकी अपेक्षा सुगम चिकित्साकी अभिलाषा

यह तो निर्विवाद है कि, सुखोपभोग पानेका साधन मानवी देहही है। शरीर यदि रोगोंके चँगुलमें फँस जाए या बीमारीका शिकार बने तो सुखोपभोग लेनेके स्पृहणीय कार्यको शरीर सँभाल नहीं पाता, फलतः वह बेकार बना रहता इतनाही नहीं किन्तु उसी शरीरकी ओरसे दुःख एवं विपदाओंको झेलनेका अवसर आ जाता है। यह अनुभव सबको है और ठीक समयपर यदि रोगोंका इलाज न किया जाय तो बढता बढता वही रोग मानवको मौतके कराल मुँहमें ठूँस देता है इस कारण भी चूँकि सभी लोग मौतसे कोसों दूर रहना चाहते हैं, मानवजाति विगत सहस्रों वर्षों से रोगनिवारक एवं रोग प्रतिबंधक उपायोंके ढूँढ लेनेमें अत्यन्त परिश्रम एवं लगनसे संलग्न है। इस अथक परि-श्रमसे चलाये अन्वेषणकार्यमें अभीतक केवल रोगनिवारक उपायोंकी जानकारी पानेमें बहुत कुछ यश प्राप्त हुआ है पर रोगप्रतिबंधक उपाययोजनामें बहुतही कम सफलता मिली है। रोगोंका आक्रमण हो चुकनेपर दौडधूप करके रोगोंका उपचार करना वैद्यक शास्त्रका एक पहलू है तथा पीडाहरण एवं राष्ट्रसंवर्धनकी दृष्टिसे आवश्यक भी है तो भी वाञ्छनीय नहीं। रोगके प्रवर्तित होनेपर कई दिनोंतक उसके बुरे परिणाम शरीरको घेरे रहते हैं, उसी रोगसे विविध एवं विभिन्न उपद्रव फैलते हैं और जनताका आरोग्य भी खतरेमें रहता है। इसीलिए हरएकको जानलेना चाहिए कि कैसे रोगका प्रतिबंध किया जाय, किसभाँति रोगको जडमूलसे विनष्ट करनेकी आयोजना सुविधापूर्वक कार्यान्वितकी जा सकती है। रोग प्रतिबंधक द्रव पदार्थ सूईद्वारा शरीरमें डालकर रोग रोकनेका एक उपाय है जिसका प्रचार समूचे आधुनिक सभ्य संसारमें अधिकाधिक हो रहा है। शीतला, प्लेग वगैरहका प्रतिकार इसी तरीकेसे किया जाता है लेकिन ये उपाय क्षणिक हैं कारण कुछ ही कालके पश्चात् चेचक फिर फूट निकलता है तथा प्लेगका टीका छहः महीने से अधिक प्रभावकारी नहीं रहता। इसलिए यदि हमें इन साधनोंसे भी अपेक्षाकृत अधिक सुकर, कम कष्ट पहुँचाने-वाले, स्वयं घरमें करनेयोग्य और नैसर्गिक साधन मिल जायँ तो वही अत्यधिक स्पृहणीय होगा। निस्सन्देह सभी लोग यही चाहते हैं।

शरीरशोधन चिकित्सा

मानव जातिने रोग निवारक एवं रोगप्रतिबंधक उपाय ढूँढनेमें खूब प्रयत्न करके हरएक रोगके लिए विभिन्न दवाइ-योंका आविष्कार किया पर अपने ही शरीरमें जो मलसंचय होता है उसे हटानेकी जो क्षमता रोगनिवारक तथा रोग-प्रतिबंधक नैसर्गिक योजनामें है उस ओर हठयोगीजनके सिवा अन्य किसीका ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। इस योज-नामें शरीरशोधन प्रमुख स्थान रखता है जिसका अर्थ-शरीरको धोकर साफ सुथरा करना है। इसके बाहरी तथा आन्तरीय दो प्रकार हैं। बाह्य शोधनसे, उदा० स्नान, दन्तधावन, मुखमार्जन आदि, सभी परिचित हैं और भीतरी शोधन जिसमें स्वेदन, मलमूत्रविसर्जनका अन्तर्भाव है कोई नयी बात नहीं किन्तु उदर, मलाशय एवं मस्तिष्कके खोखले भाग धोकर स्वच्छ रखनेकी हठयोगमय शरीर-शोधन क्रियाको शायद सहस्रोंमें एक भी जान लेता या नहीं इसमें सन्देह है।

रोग दूरीकरण चिकित्सा

विविध कारणोंसे शरीरमें रोग या दोष पैदा होते हैं जिन्हें दूर हटाकर शरीरको आरोग्ययुक्त, कार्यक्षम एवं विषयसेवन करनेकी क्षमतासे पूर्ण दशामें रखनेके लिये औषधोपचारादि योजनाएँ आवश्यक हैं। इन्हींके शास्त्रको आयुर्वेद, वैद्यकशास्त्र नाम दिया जाता है। वर्तमानकालमें भारतमें चार प्रमुख चिकित्साएँ प्रचलित हैं जिनमें आयुर्वेद युनानी, वैद्यक तथा ॲलोपाथी तीनों लगभग समान है। चौथी होमियोपाथी अत्यंत विभिन्न है। इन चार चिकित्सा-ओंके अतिरिक्त नैसर्गिक या प्राकृतिक चिकित्साके नामसे विविध चिकित्साएँ न्यूनाधिक प्रमाणमें जारी हैं। जल-चिकित्सा, सूर्यकिरणचिकित्सा, लंघनाचिकित्सा, दुग्ध-चिकित्सा, मानसोपचार, इलैक्ट्रो-कल्चर आदि नाम धारण करनेवाले प्रकार इसमें अन्तर्भूत हैं।

(अकोलाके मराठी द्विसाप्ताहिक ' मातृभूमि 'से अनूदित)

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टिका मौलिक वा आदिधर्म है

खण्ड ८

अल्लाह गैबकी बातें बताते हैं तथा ह० मुहम्मद सा० और मुसलमान हिंदुओंके सदृश ही इन्हें समझने समझानेका प्रयत्न करते हैं ! वे चमत्कार दिखाने, जादू--टोना, फल--ज्योतिष, झाड--फूंक, मंत्र--जंत्र, करने करानेमें भी हिंदुओंके समान हैं !! अतः आर्य जाति दोजखी नहीं है। कुर्आनके मुस्लिम भाष्यकारोंके लिये विचारणीय प्रश्न।

(लेखक– श्री० गणपतराव बा० गोरे, औंध, जि० सातारा)

प्रश्न– आपकी लेखमाला तो धार्मिक नींवपर हिन्दू--मुस्लिम एकता सिद्ध करनेके लिये लिखी जा रही थी, परन्तु खण्ड ७ में आपने एक ओर तो कृष्णको काहिन रूपमें इस्लामी साहित्यमें विद्यमान दिखलाया, और दूसरी ओर उसे कुर्आन ६७।५ द्वारा जिन्नोंका मित्र सिद्ध करा कर दोजखकी आगमें झौंकाया ! आर्य लोग तो खगोल--ज्योतिष तथा फल--ज्योतिष शास्त्रके आदि प्रकटकर्ता माने जाते हैं, परन्तु आप कुर्आनके प्रमाणसे इन्हें नरकमें डलवाते हैं !! ऐसी बातें तो हैं हिन्दू--मुस्लिम विरोधकी बुनियाद ! बताइये इसमें मिलाप किस प्रकार आया ?

उत्तर– भोले भ्राता ! आप फिर भूल गये कि काहन वा कृष्ण बहुरूपिया है, मायावी है, योगेश्वर है। स्वयं मुसलमान भी उसे जादूगर जानते और जिन्नों द्वारा अल्लाह के गुप्त भेदोंको प्राप्त कर लेनेवाला मानते हैं ! जो काहन अल्लाहकी तारोंरूपी अग्निकी गदाको दूरबीन द्वारा आकाशसे पृथ्वीपर उतार लाया, क्या उसे आप समझते हैं कि कुर्आन ६७।५ के भाष्यकारोंसे घबराया ? और उनका अर्थ सत्य है यह आपको किसने समझाया ? अब देखिये कि जो फलज्योतिष चमत्कार जादू-टोना, मंत्र--जंत्र, झाड--फूंक मुस्लिम अर्थकारोंको नहीं भाया उसीको ह० मुहम्मद साहेबने अपनाया !! क्या ही अद्भुत है यह काहनकी माया, कि जो उसे न माने वही उसके प्रभावमें आया !!!

प्यारे ! हमें केवल यही नहीं देखना है कि कुर्आनने क्या कहा है। हम तो साथ साथ यह भी देखना चाहते हैं कि कुर्आनकी आज्ञाको ह० मुहम्मद साहेब और मुसलमानोंने कहां तक अपनाया है।

अब आगे हम सिद्ध करेंगे कि ह० मुहम्मद साहेब और मुसलमान फल-ज्योतिष, चमत्कार, जादू-टोना, मंत्र जंत्र हिन्दुओंके सदृश ही मानते हैं ! इतनी बात सिद्ध होनेके पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की मौलिक एकता स्वयं-सिद्ध हो जायगी !

(१) अल्लाह गैबको बताते हैं ! ह० मुहम्मद साहेब गैबको जानते हैं !! मुसलमान फल--ज्योतिषको मानते हैं !!!

खण्ड ७ में पाठक पढ चुके हैं कि कुर्आन ६७।५ के आधारपर कुर्आनके भाष्यकार मुनाज्जिम= फल-ज्योतिषिको नास्तिक और दोजखकी आगमें जलनेवाला समझते हैं ×। परन्तु आश्चर्य है कि स्वप्नोंके फल बतानेमें न हुजूरने पाप समझा और न मुसलमानोंने ! हदीस बुखारीके पारा २८ में एक पुस्तक किताबु तअ्बीर अरूया [स्वप्नोंके फल बतानेवाली किताब] है, जिसके कुछएक उदाहरण निम्न प्रकार हैं–

१. अबू कतादहने कहा हुजूर [ह० मु० साहेब]ने आज्ञा

× देखो वैदिक धर्म अगस्त अंक पृ० ४१३–१४

की है कि अच्छा स्वप्न अल्लाहकी ओरसे है और बुरा स्वप्न शैतानकी ओरसे है। अतः जो व्यक्ति ऐसी बात देखे जो इसको बुरी मालूम हो तो चाहिए कि बाएं ओर तीन वार थुतकारे, और शैतानसे रक्षा मांगे, क्योंकि फिर वह (स्वप्न) इसको क्षति न पहुंचाएगा। और निःसंदेह शैतान मेरी सदृश नहीं बन सकता। बुखारी जिल्द ३ हदीस १९९४ ॥

२. ह० अबू हरीरः कहते हैं हुजूरने फर्माया कि जिसने मुझको स्वप्नमें देखा वह शीघ्र ही ‡ मुझको जागतेमें भी देखेगा (अर्थात् कियामतमें मेरी शफाअत × और जियारत+ से सन्मानित होगा)। और शैतान मेरी सूरत नहीं बनता है। बु० जि० ३ ह० १९९२ ॥

पाठको! क्या यह फल- ज्योतिषियोंके समान परोक्ष वा गैबकी बातें बताना नहीं है?

३. अब्दुल्ला बिन उम्रसे रवायत है कि हूजूरने फर्माया मैंने स्वप्नमें देखा कि दूधका (भरा हुआ प्याला मेरे पास लाया गया। मैंने इसमेंसे पिया यहां तक कि मैंने अपने नखोंसे पेट भर पीने (के प्रभाव) को निकलते हुए देखा। फिर मैंने अपना झूठा उम्र बिन खिताबको दिया। हूजूर के गिर्द जो सहाबा थे उन्होंने अर्ज किया कि हे रसूल अल्लाह! इसकी आपने क्या तअबीर [फल] फर्माई है? फर्माया-इल्म [ज्ञान। अर्थात् स्वप्नमें दूध पीना ज्ञान प्राप्तिका पूर्व चिह्न है]। बु० जि० ३ ह० २००५॥ हम पूछते हैं कि क्या यह फलज्योतिष या गैबमें हाथ डालना नहीं?

४. ह० आइशा फर्माती हैं रसूल अल्लाह...ने मुझसे फर्माया मैंने तुमसे विवाह करनेसे पूर्व दो समय तुमको स्वप्नमें देखा था। मैंने फिरिश्तेको देखा कि तुमको हरीर❀ के एक टुकडेमें उठाये हुए है। मैंने इससे कहा कि खोल! इसने जो खोला तो तुम थीं। मैंने कहा यदि यह बात खुदाकी ओरसे है तो वह इसे अवश्य करेगा। [आगे इसी प्रकार दूसरे स्वप्नका वर्णन है]। बुखारी जि०३ ह० २०१०॥

५. अब्दुल्ला बिन उम्र हूजूरका मदीनेका ख्वाब [स्वप्न] बयान करते हैं कि आपने फर्माया कि मैंने देखा जैसे कि एक काली स्त्री बाल बिखेरे हुए मदीनेसे निकल कर महीअःमें जा पडी है (हूजूर फर्माते हैं मैंने इसकी तअबीर यह ली कि मदीनेकी वबा [महामरी] महीअःमें जिसको हुजफः कहते हैं, भेजी गई है)॥ बुखारी जि० ३। हदीस २०३२॥

पाठको! अगस्त अंकके पृ० ४१३-१४ पर कुर्आन ६७।५ के भाष्यकारोंका निम्न मत आप पढ चुके हैं कि—

१. आकाशीय चर्चा लेनेवाले, अल्लाहके गैबका अनुमान लगानेवाले, ज्योतिषि, काहिन, साहिर [जादूगर] ये सब काफिर वा नास्तिक हैं। उनको इहलोकमें मारनेके लिये अल्लाहने तारों रूपी अग्निकी गदा बनाई है, और उन्हें परलोकमें जलानेके लिये दोजखकी आग तय्यार कर रखी है।

२. हदीसने कहा कि काहिनोंकी बात सत्य नहीं होती। खुदाकी सत्य बातको जिन्न लेकर भागता है और अपने मित्र काहिनको सुनाता है। फिर ये लोग इसके साथ १०० बातें झूटी मिला कर बयान करते हैं।

३. अब उपर्युक्त हदीस सं० १४९४ में माना गया है कि जिन्नोंद्वारा ही अल्लाहकी गुप्त बातें नहीं खुला करतीं, **अपितु अल्लाह स्वयमेव गैबकी बातें स्वप्नद्वारा मनुष्योंको बताया करते हैं!!! अर्थात् अल्लाह अपने बंदोंसे कोई बात गुप्त रखा ही नहीं करते !!!** अब इसमें सत्यासत्य क्या है, सो मुसलमान भाष्यकार बतावें।

इस कथन पर कुर्आनके मुस्लिम भाष्यकार कदाचित हम पर क्रुद्ध होंगे, परन्तु हम उनसे फिर भी सन्मान पूर्वक पूछेंगे कि—

क- चोरीका माल बेचनेवाला और लेनेवाला दोनों न्यायानुसार दण्डनीय हैं। अब यदि गैबकी बातें बतानेवाला अल्लाह दोजखी नहीं, तो गैबकी बात जाननेवाला मनुष्य दोजखी क्यों? इस पर कोई कहेगा कि गैब की बात कोई चोरीका माल है कि अल्लाह उसे बतानेके कारण दोजखी बने? इसका उत्तर भी यही है कि यदि चोरीका माल नहीं तो मनुष्य उसे ग्रहण करनेसे दोजखी क्यों बनेगा?

---

‡ 'शीघ्र' शब्द पर विचार करनेसे क्रियामतका अर्थ मृत्यु होता है प्रलय नहीं।

× सिफारश = Intercession = मध्यस्थी.

+ तीर्थयात्रा = Pilgrimage. ❀ हरीर = रेशमी वस्त्र।

ख- प्रश्न- काहिनोंको गैबकी बातें जाननेकी बुद्धि किसने दी और क्यों दी ?

उत्तर- अल्लाहने दी और गैबकी बातें जाननेके लिये ही दी !!!

ग- कुछ वर्ष पूर्व रेल, तार, ग्रामोफोन, हवाई जहाज, बोलपट, निस्सारथी विमान, निस्सारथी मोटारकार ये सभी गैब [परोक्ष] की बातें थीं। क्या मुस्लिम भाष्यकार समझते हैं कि इनके आविष्कारक केवल आविष्कार करनेके कारण ही दोजखमें जायेंगे ?

घ- उपर्युक्त पांच हदीसोंमें क्या स्वयं ह० मुहम्मद साहेबने गैबकी बातें नहीं बताई हैं ? फिर इसी प्रकारकी बातें प्रत्यक्ष नक्षत्रोंके गणित तथा उनकी युतिओंके हिसाब से बतानेवाला काहिन वा ज्योतिषि दोजखी क्यों ? **काहिन** के अन्य अर्थ हैं Soothsayer= भविष्य बतानेवाला **नवी**= Prophet; **पुजारी**= Priest ꠸ ।

ङ- क्या स्वयं मुसलमानोंमें आज असंख्य **मुनज्जिम** [फलज्योतिषि], **रमाल** [भविष्य बतानेवाले] **फाल खोलनेवाले** * [शकुन बतानेवाले], **साहिर** [जादूगर] आदि विद्यमान नहीं ? फिर **काहिनों** पर ही कुफ्रकी फत्वा क्यों ?

पाठको ! कुर्आनके भाष्यकार चाहें सो लिखें। हमें प्रसन्नता इस बातकी है कि, स्वयं अल्लाह अपनी गैबकी बातें अपने बंदोंसे नहीं छिपाते ! २. ह० मुहम्मद साहेब और उनके मुस्लिम अनुयायी गैबकी बातें जाननेमें पाप नहीं मानते !! **अतः अल्लाह, उनके रसूल, और मुसलमान ये तीनों वैदिक धर्मियोंसे सहमत हैं ! क्या यह हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं ? और देखिये !**

(२) ह० मुहम्मद साहेब स्वयं चमत्कार दिखाते थे !

कुर्आन ७।१०५ से १२० तक पढनेसे विदित होता है कि ह० मूसाको अल्लाहने चमत्कार दिये और उन्होंने फिरओनके जादूगरोंको अपने चमत्कारोंसे परास्त किया। इसी प्रकार अल्लाहने ह० ईसाको भी चमत्कारी बनाया था— देखो कुर्आन २।२५३ इनके विपरीत कुर्आन ह० मुहम्मदके लिये कहता है कि—

और (हे पैगम्बर ! कई लोग तेरे सम्बन्धमें) कहते हैं कि इस (गृहस्थी) पर उसके पालनकर्ताकी ओरसे चमत्कार क्यों नहीं उतरे ? (हे पैगम्बर ! इन लोगोंको) कह कि चमत्कार तो अल्लाहके पास हैं। और मैं तो केवल स्पष्ट रीतिसे भय दिखानेवाला हूं। २९।५०

अर्थात् ह० मुहम्मद साहेब कुर्आनके भाष्यकारोंके अनुसार बेमुअजिजा [अचमत्कारिक] नबी थे। परन्तु उन्होंने अपनी आयुमें कई चमत्कार दिखाये हैं, ऐसा स्वयं बुखारी के हदीसोंसे प्रमाणित होता है ! यथा—

१. वर्षा कराना तथा रोकना-- ह० अनिसका कथन है कि शुक्रवारके दिन मदीनेमें रसूल अल्लाह खुतुबा [व्याख्यान] पढ रहे थे कि एक व्यक्तिने निवेदन किया कि अकाल पड चुका है हुजूर खुदासे वर्षाकी प्रार्थना करें। उस समय आकाशमें कोई घटा न थी। हुजूरने आकाशकी ओर दृष्टि डाली और वर्षाकी प्रार्थना की।... इतनी वर्षा हुई कि मदीनेके नाले वह निकले, और दूसरे शुक्रवार तक बरावर बरसता रहा।... फिर उसी व्यक्तिने...प्रार्थना की कि रसूल अल्लाह हम तो डूब गये। खुदासे प्रार्थना कीजिए कि वर्षा रुक जाए। हुजूर सुनकर हंस दिये और दो तीन बार फर्माया, इलाही ! हमारे आसपास बरसे हम पर न बरसे ! एकदम बादल फटकर मदीनेके दाएं बाएं जाने लगा। आसपास बरसता था और मदीने पर न बरसता था। यह रसूल अल्लाहका चमत्कार था, जो खुदातालाने लोगोंको दिखाया था § बुखारी जि० ३। ह० १०८७॥

२. बुखारी जि० ३ हदीस १४५४ में मुजाहिदका कथन

꠸ न्यू रायल डिक्शनरी.

* नजूमी = One who foretells by bibliomancy (New Royal Dictionary).

§ मुसलमान नमाज प्रार्थना आदि पश्चिमकी ओर मुख करके किया करते हैं। यही हदीस सं० १३४६ में पुनरुक्त हुई है, और वहां लिखा है कि **हुजूरने यह वर्षाकी प्रार्थना किब्ले [पश्चिम] की ओर मुख करके नहीं की थी !!!**

है कि हुजूरने एक प्याला दूध कई लोगोंको पेटभर भरकर पिलाया। फिर मुझे पेट भर कर पिलाया और अंतमें आपने भी पीलिया !!!

३. जबकीकुछ रोटियां ८० व्यक्तियोंको खिलाना- बुखारी जि० ३ हदीस ३७४ संक्षेपतः इस प्रकार है-

ह० अनिस कहते हैं... कि उम सलीमने जबकी कुछ रोटियां निकालीं...... रसूल अलाहने रोटियोंको तोडनेकी आज्ञा दी... इसके बाद रसूल अल्लाहने जो पढना चाहा पढा और फर्माया दस आदमियोंको खानेकी आज्ञा देदो। जब वे पेटभर खाकर चले गये, तो हुजूरने दस और आदमियोंको बुलवाया। वे भी पेट भर कर चले गये, तो हुजूरने फर्माया और दसको बुलाओ। अन्तमें सब आदमी पेटभर खाकर चले गये। ये सब मिलकर अस्सी आदमी थे!!!

४. थोडेसे पानीसे १४०० आदमियोंने वजू किया और पिया। बुखारी जि० ३ ह० ६४४ में ह० जाबर बिन अब्दुला कहते हैं कि... असरकी नमाज [सायं संध्या] का समय आगया था और कुछ बचे हुए पानीके सिवा हमारे पास पानी न था। इसीको एक पात्रमें डालकर रसूल पाककी सेवामें लाया गया। हुजूरने पात्रमें हाथ डालकर उंगलियां फैला दीं, और फर्माया वजू करनेवालो आओ! खुदाकी ओरसे बरकत [बढती] होगी। ह० जाबर कहते हैं मैंने देखा कि पानी हूजूरकी उंगलियोंके बीचमेंसे फूटकर निकल रहा था। लोगोंने इससे वजू किया और पी भी लिया।...... सालिम कहते हैं मैंने ह० जाबरसे पूछा- उस दिन तुम सब कितने आदमी थे ? फर्माया कि एक सहस्र चार सौ! कुछ रवायतोंमें १५०० की संख्या आई है।

५. कब्रवालोंका दुःख हटाया- ह० इब्ने अबास कहते हैं कि रसूल अल्लाह दो कबरोंकी ओरसे जा रहे थे। फर्माया इन दोनोंपर अजाब [दुःख] हो रहा है, और किसी बडी बातके कारण नहीं। एक व्यक्ति तो अपने मूत्रसे नहीं बचता था, और दूसरा चुगलियां खाता फिरता था। फिर अपने खजूरकी एक हरी टहनी [शाखा] मंगाकर बीचमेंसे चीर कर एक टुकडा एक कब्रपर और दूसरा टुकडा दूसरी कब्रपर गाड दिया और फर्माया आशा है कि जबतक ये सूख न जायेंगे, इनपर दुःखकी कमी रहेगी।

प्रश्न १- कुर्आन २२।७ आदिके अनुसार तो मुसलमान कब्रोंमेंसे कियामतके दिन उठाए जायंगे ओर तभी उन्हें सदाका दोजख वा बहिश्त मिलेगा। अब उनपर कब्रोंसे ही दुःखका आरंभ किस प्रकार होने लगा ?

उत्तर- यह बात मुस्लिम विद्वानोंसे ही पूछनी चाहिए।

प्रश्न- कुर्आन ३५।१८ तथा ६।१६५ में लिखा है कि कोई मनुष्य किसी दूसरेका बोझ हलका कर नहीं सकता। इसके विपरीत ह० मुहम्मद साहेबने उन दो कब्रोंवाले मुसलमानोंका बोझ हलका कर दिया! अब कुर्आनको सच्चा माना जाय वा हदीसको ?

उत्तर- इस का उत्तर भी मुस्लिम विद्वानोंसे ही पूछना उचित है।

प्रश्न कुर्आन ६।७० आदि अनेक स्थानोंपर लिखा है कि, कियामतके दिन ही अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार सुख दुःख मिलेगा और उस दिन कोई किसीका सहायक अथवा मध्यस्थ न बन सकेगा! परन्तु उक्त हदीसके अनुसार तो ह० मुहम्मद साहेब कब्रोंमें पडे हुए मुसलमानोंको कियामतसे पहिले ही थोडीसी सहायता पहुंचा सके। अब सत्य कुर्आनको माना जाय वा हदीस को ?

उत्तर- इसका निर्णय भी मुसलमान ही करें तो ठीक। हमें तो इस लेखमें इतना ही दिखाना अभिप्रेत है कि जिन बातोंको काहिनोंद्वारा किये जाने पर मुस्लिम भाष्यकार घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, उन्हीं बातोंका ह० मुहम्मद साहेब तथा मुसलमानोंके जीवनसे घनिष्ठ संबंध है! और ये सब हम इस्लामी साहित्यसे ही सिद्ध कर रहे हैं !! जिसे प्रत्यक्ष अनुभव लेना हो वह पीरोंके मकबरोंके मुजावरोंसे पूछें। आज हजारों पीर भारतमें सच्ची झूठी करामात [चमत्कार] के बल पर ही पूजे जा रहे हैं !! परन्तु इतना होते हुए भी काहिनों पर कुफ्रका फत्वा लगा हुआ है !!! और देखिए—

(३) ह० मुहम्मद साहेब स्वयं झाड़-फूंक, मंत्र-जंत्र किया करते थे !

१. मंत्र फूंकना- ह० आइशा फर्माती हैं कि मृत्युकी बीमारीमें रसूल अल्लाह अपने ऊपर सूरत फलक और सूरत नास दम किया करते थे। परन्तु जब दुःख अधिक बढ गया तो मैं (पढ कर) आपके ऊपर दम किया करती थी

और बरकतके कारण हुजूरका हाथ पकड कर आपके शरीर पर फेर दिया करती थी। मअमर कहते हैं मैंने जहरीसे पूछा कि हुजूर किस प्रकार दम किया करते थे? उत्तर दिया कि दोनों हाथों पर दम करके मुख मुबारक पर फेर लिया करते थे॥ बुखारी जि० ३ ह० ७३२॥

हिन्दू लोग भी इसी प्रकार मंत्रोंद्वारा झाड-फूंक किया करते हैं।

२. सर्पदंशका मन्त्र- ह० अबू सईद खिद्री कहते हैं सहाबाका एक दल यात्राको निकला। एक अरबी कबीले के पास उतरे, परन्तु उन्होंने आतिथ्य सत्कार न किया। अकस्मात उस कबीलेके सरदारको सर्पने काटा।... कबीलेवालोंने सहाबासे आकर पूछा कि क्या तुममेंसे किसीके पास कोई उपाय है? एक सहाबी बोले जी हां! मैं अफ-सुंगर [मंत्र जंत्र करनेवाला = Charmer] हूं। परन्तु हमने तुमसे भोजन मांगा था और तुमने न दिया। अतः खुदाकी शपथ मैं तुम्हारे लिए मन्त्र नहीं पढूंगा, अब तक कि मेरी उजरत [उपहार] न ठहरालो। कबीलावालोंने बकरियोंके एक झुण्ड देने पर सन्धि करली। सहाबी आकर अल्हम्दु लिल्लाहि रब्बिल् आलमीन् + पढ कर थू थू करने लगे।... सरदार चलने फिरने लगा।... कबीलावालोंने उजरत् पूरी पूरी देदी। ... रसूलपाककी सेवामें उपस्थित होकर सारा माजरा सुनाया। सरकारने फर्माया कि तुमको कैसे मालूम हुआ कि यह मन्त्र है? तुमने ठीक किया। इन [बकरियों] को बांट लो और एक भाग मेरा भी निश्चित् कर लो॥ बुखारी जि० ३ ह० ७४६

इस देशके लाखों हिन्दू मुसलमान मन्त्र द्वारा सर्प विष उतारते हैं!

३. क्रोध उतारनेका मंत्र- बुखारी जिल्द ३ हदीस ११६० में ह० सुलेमान बिन सरदकी रवायत पढनेसे प्रतीत होता है कि, ह० मुहम्मद साहेब क्रोधको शान्त करानेके उद्देश्यसे क्रोध करनेवालेसे निम्न मन्त्र पढवाया करते थे-

अऊजु बिल्लाहि मिनश्शैतानिर्रजीमि

अर्थ- मैं पत्थरोंसे मारकर भगाए हुए शैतानके प्रभावसे बचनेके लिए अल्लाहकी शरण लेता हूं। (I betake me for refuge to Allah against the accursed devil [Md. Ali]

कैसा सुन्दर मन्त्र है! यह वाक्य मुसलमानोंकी नमाजमें भी आता है, और दैनिक व्यवहारमें क्रोध आनेपर मुसलमान उचारा भी करते हैं। परन्तु ऐसा ही मन्त्र यदि अन्य-मतावलंबी कहे तो उसे मुसलमान काहिन, दोजखी, और नास्तिक कहेंगे!!!

४. जादू और विषका तोड- ह० सैद कहते हैं कि हूजूर पाकने आज्ञाकी कि जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रातःकाल कुछएक उजवा खजूरें खा लेगा उसको उसदिनभर न विष क्षति पहुंचा सकेगा और न जादू॥ बु० जि०३ ह० ७६५॥

टीप- ' उजवा ' एक प्रकारकी उत्कृष्ट खजूर है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि स्वयं ह० मुहम्मद साहेब मन्त्र-जन्त्र, झाड-फूंक किया करते थे और उनका अनुकरण करते हुए प्रायः सभी भारतीय मुसलमानोंका इन बातोंपर क्रियात्मक विश्वास है। उनके लाखों पीरों, फकीरों और मुल्लाओंका तो झाड-फूंक, गंडा-तावीज व्यवसाय बन चुका है!! परन्तु यही काम यदि इसाई वा हिन्दु करें तो वे काफिर और दोजखी बन जाते हैं!!!

(४) ह० मुहम्मद साहेब लोगोंको झाड-फूंक करनेका पर्वाना [LICENSE] दिया करते थे

१. ह० आइशा फर्माती हैं रसूल अल्लाहने मुझे आज्ञा की थी कि नजर [दृष्टि] लगनेका मन्त्र पढा जाय॥ बु० जि० ३ ह० ७३५॥

हिन्दू स्त्रियां बच्चों परसे लवण और लाल मिर्च तीन बार उतार कर चूल्हेमें डाल कर जलानेमें बच्चोंकी दृष्टि उतरना मानती हैं! देखिए! अरबी-हिन्दू संस्कृतिमें कितनी समानता है!

२. ह० जैनब फर्माती हैं कि रसूल अल्लाहने मेरे घरमें एक लडकीके मुख पर दाग देखकर फर्माया, इस पर झाड-फूंक करो, क्योंकि इसको नजर लगी है॥ बु० जि० ३ ह० ७३६॥

+ कुर्आन १।१ शब्दार्थ- सब स्तुति अल्लाहके लिए है जो सब संसारका पालन करने हारा है।

३. अस्वद कहते हैं मैंने ह० आइशासे बिच्छू काटनेके मन्त्रकी आज्ञा पूछी। फर्माया कि हर विषैले जन्तुके काटने के मन्त्रकी रसूल अल्लाहने इजाजत [Permission] देदी है॥ बु० जि० ३ ह० ७३८॥

४. ...... ह० अनिस कहते हैं कि रसूल अल्लाहने अन्सारके एक घरानेको इजाजत देदी थी कि बिच्छूके विष और कानकी बीमारीके लिये झाड- फूंक किया करें......॥ बु० जि० ३ ह० ७१७॥

इतने उदाहरणोंसे सिद्ध होता है कि ह० मुहम्मद साहेब हिन्दूओंके समान ही जादू--टोना, मंत्र-जंत्र, झाड--फूंकके प्रभावको मानते थे, और दुःख निवारणार्थ ये सब कुछ करने की आज्ञा देते थे! अब कुर्आनके भाष्यकार ही बताएं कि उनका क्रियात्मक जीवन हिंदुओंके सदृश था, वा उनके किये हुए कुर्आनके भाष्यानुसार?

(५) स्वयं ह० मुहम्मद साहेब पर भी जादू चल गया !!

बुखारी जिल्द ३ हदीस ७६२ में ह० आइशाका कथन है कि "रसूल अलाह पर जादू किया गया था, यहां तक कि आपको खयाल होता था कि मैं अपने अहले हरम [स्त्रियों] के घरों में हो आया हूं, यद्यपि आप आते नहीं थे। सफियान कहते हैं कि यह सहिर [जादू] बडा कठिन होता है।" [आगे दो व्यक्तियोंका स्वप्नमें आकर ह० मुहम्मद साहेबको ऐसा बतानेका उल्लेख है कि उनपर लुबेद आसम नामक व्यक्तिने एक कुंएके भीतर जादू किया है, जो विस्तार भयसे हम अक्षरशः नहीं दिखाते]

"फिर हुजूरवाला उस कुंए पर गये और उस वस्तुको निकलवाया और फर्माया कि यही कुंआ मुझे स्वप्नमें दिखाया गया था। इस कुंएका पानी मेंहदीके पानीके सदृश [लाल रंगका] था, और वहांके खजूरके वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे जैसे भूतोंके सिर। ह० आइशा फर्माती हैं मैंने निवेदन किया कि फिर आपने इसका ऐलान [विज्ञप्ति] क्यों न किया? फर्माया खुदाने तो मुझे स्वास्थ्य प्रदान किया। अब मैं नहीं चाहता कि किसीकी शरारत [उपद्रव] का ऐलान करूं [ढंढोरा पीटूं]"

यही हदीस सं० ७५९ तथा ७६३ में अल्प भेदसे आई है। पिछलीमें कहा है--

'इसके बाद हुजूरने उस [जादू] को दबा देनेकी आज्ञा दी और आज्ञाका पालन किया गया।'

इसपर हमें केवल इतना ही कहना है कि यदि ह० मुहम्मद साहेब ऐसी महानात्मा पर भी जादू अपना प्रभाव डाल सकता है, तो अवश्य उसका अस्तित्व है- वह केवल वहम = Superstition वा बातिल परस्ती = झूठा धर्म= Attachment to false religion नहीं है।

(६) काहिन वा आर्य जाति दोजखी नहीं है। कुर्आनके मुस्लिम भाष्यकारोंके लिये विचारणीय प्रश्न

१. यदि चमत्कार दिखाना, गैबकी बातें जानना, फल ज्योतिष बताना, जादू-टोना, झाड-फूंक, मन्त्र-जन्त्र, गंडा-तावीज करना पाप होता तो अल्लाहने ह० मूसा ह० ईसा, ह० मुहम्मद, अनेक पैगंबरों और हारूत मारूत आदि अनेक मलायकोंको ऐसी बातें सिखाईं क्यों?

२. और सीखनेके पश्चात् जब ह० मुसा, आदि सभी पैगम्बर तथा मलायक उक्त बातें करके गुनहगार न बने और जब कोई मुस्लिम मौलवी आज भी सहस्रों मुस्लिम पीरों, फकीरों और मुल्लाओंको ये सब कार्य करते हुए देख कर काहिन, काफिर, शैतान, दोजखी आदि कहनेका साहस कर नहीं सकता, तो क्या ये सारी उपाधियां हिन्दुओं ईसाइयों आदिके लिये ही सुरक्षित [Reserved] रखी गयी हैं?

३. यदि हिन्दू आदि ही दोजखी ठहराये गये हैं, तो मौलवी साहेब बताएं कि निम्न हदीसोंका हिसाब कहां तक उन्हें ठीक जंचता है?

क. ह० सहल बिन सैद कहते हैं कि रसूल पाकने आज्ञा की कि मेरी उम्मत [मुसलमानों] में से ७०,००० आदमी एक दूसरेको पकडे हुए एक दूसरेके पीछे जन्नत [स्वर्ग] में प्रवेश करेंगे। उनके मुख १४ वीं रातके चांदके समान चमकते होंगे। बुखारी जि० ३ ह० १५४२॥ यही हदीस १५५३ तथा १५४१ में भी है॥

मुसलमान हिजरी सनके १४ वें शतक अर्थात् आजसे ३७ वर्षोंके भीतर भीतर ही कियामत [प्रलय] का आना मानते हैं ! आज पृथ्वी पर मुसलमानोंकी संख्या २८००००००० है। अतः लग भग इसी संख्यामें से ७०००० मुसलमान स्वर्गको सिधारेंगे। हिसाब करने पर प्रतीत होगा कि ४००० मुसलमानोंमें से केवल एक मुसलमान ही जन्नतमें जायगा !!! शेष ३९९९ किस स्थानमें रहेंगे यह मौलवी साहेब ही बताएं, जब कि दोजख और बहिष्तके सिवा उनके यहां तीसरा स्थान ही नहीं ?

ख. ह० अबु हरीरा कहते हैं हुजूर...ने आज्ञा की थी कियामतके दिन सबसे पहले ह० आदम ... को बुलाया जायगा और उनकी सन्ततिको उनके सामने किया जायगा। सब लोग एक दूसरेको देखते होंगे। आज्ञा होगी कि ये तुम्हारे बाप आदम हैं। ह० आदम निवेदन करेंगे कि इलाही मैं उपस्थित हूं। आज्ञा होगी कि अपनी औलाद [संतति] में से दोजखका भाग निकाल लो ! आदम प्रार्थना करेंगे कि इलाही किस हिसाबसे निकाल लूं। आज्ञा होगी कि हर १०० आदमियोंमें से ९९ आदमी ! सहाबाने यह सुनकर अर्ज किया कि हे रसूल अल्लाह ! जब हमारे हर सैंकडेमें से ९९ निकाल लिये जायँगे तो फ़िर हममें से बाकी ही कितने रहेंगे × ? फर्माया मेरी उम्मत और उम्मतोंके मुकाबलेमें ऐसी है जैसे काले बालोंमें श्वेत बाल। बु० जि० ३ ह० १५३० ॥ अर्थात् जिस प्रकार काले बालोंमें कोईकोई श्वेत केश होता है इसी प्रकार मुसलमानों में से भी कोई एक आध दोजखमें जायगा– शेष सब जन्नत में ही जायेंगे !! परन्तु हदीसें स्पष्ट हिसाब लगाकर बताती हैं कि मुसलमान ४००० में से १ और ह० आदिम की सन्तति अर्थात् आर्य लोग [क्योंकि सृष्टिके आदि में आर्य ही उत्पन्न हुए थे] १०० में से १ जन्नतमें जायँगे !!! अर्थात् आर्य लोग मुसलमानोंसे ४० गुणा अधिक स्वर्गमें जाएंगे !!!

अब कुर्आनके भाष्यकार ही बताएं कि आर्योंकी संतति हिन्दू जाति, वा काहिन लोक किस प्रकार दोजखी ठहराये जा सकते हैं ? साम्प्रदायिक पक्षपातकी भी कोई हद हुआ करती है। (क्रमशः)

× इस प्रश्नसे विदित होता है कि सहाबा [ह० मुहम्मद सा० के साथी] अपनेको ह० आदमकी ही संतति समझते थे शेख सादी सा० का भी यही मत था, यथा–

बनी नोह ऐजाए यक्दीगरंद। कि दर आफरीनश् ज यक् जोहरंद ॥

अर्थ– मनुकी संतति सब एक दूसरेके अंग हैं क्योंकि उनकी सृष्टि एकही तत्व [ह० आदम] से हुई है। यहूदी, ईसाई भी अपनेको ह० आदमकी ही सन्तति समझते हैं ! भिन्न भिन्न पैगम्बरोंको माननेके कारण आदि पिता नहीं बदल सकता ! ! ! आर्य लोग भी सारी पृथ्वीके मनुष्योंको एक ही पिताके पुत्र समझते हैं।

निज स्वत्व, स्वतन्त्रता-प्राप्ति×

(लेखक- पं० वासिष्ठजी)

अपहरण करनेवाले से अपना स्वत्व प्राप्त करने के लिए उत्तम साधन यही है कि अपहरण करनेवाले में हम मानवी न्याय जागृत कर दें। उसमें आत्मीयता जगा दें। यदि हम ऐसा नहीं कर सकते तो यह हममें आत्मीयता की कमी है। उसने जो हमारा अपहरण किया है वह हमारे ही वंशपरम्परा के कुपथ्यों का कुफल है। हम ही अपनी ओर से प्रमत्त निरपेक्ष रहे हैं। भूल हमारी है। आगे इस क्रमको रोकने के लिये हम हिंसाद्वारा उसमे प्रतिहिंसा के अंकुर न बोवें। गई भूल का प्रायश्चित्त हो चुका है। अब आगे के लिये हम आत्मीयता (उन्त) को अपने में केन्द्रित करें। हम अपने को मातृत्व की आकर्षणशक्ति से विभूषित करें। हम अपहरण-कर्ता की उद्दता को अपने पुरखों की भूलका प्रायश्चित्त मानें और स्नेहमयी मातृदृष्टिसे देखें जिस प्रकार मां हितचिन्तन में बालककी उद्धत चेष्टाओं को देखती है। हम अपहरण करनेवालोंको आत्मज मानकर अपना लें। पुत्र द्वारा अपहरण किया हुआ धन मांका ही है। एक दिन आत्मज को चेतना होगी, उसकी आत्मा मांको मांके रूपमें पहचानेगी, उस दिन पूत का धन ही नहीं पूत भी मां का हो जायगा। किन्तु यह मार्ग कठिन चिरकाल अपेक्षित है। हम उतावलेपन में चटपट काम बनानेवाले मार्ग को ग्रहण करना चाहते हैं। वास्तव में इसका मूल कारण है हममें भी गैरियत का होना।

शीघ्रता का फल कार्य की सिद्धि नहीं अपितु दिखाई देनेवाले धूंवे का एक मायावी महल है। प्रथम तो यह सम्भव हो ही नहीं सकता कि हम मानसिक अहिंसक रहते हुए उतावलेपन में कर्म की हिंसा को स्वीकार कर लें। उतावलेपन में कर्म की हिंसा तभी स्वीकार होगी, जब मानसिक चित्रपटपर हिंसा अंकित हो चुकेगी। और मानसिक हिंसा कितनी हेय है यह हम पहले ही तर्क तुलापर तोल चुके हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि अपना स्वत्व प्राप्त करनेके लिए हम अपने मन को काबूमें रखकर मानसिक अहिंसक रहते हुए अपहरणकर्ता के प्रति कर्म हिंसा को उपयोग में ला सकते हैं तो इस जल्दबाजी में चार विषवृक्ष उत्पन्न होंगे जिनका बीज वीतराग के कर्म की हिंसा ही होगी।

(१) अपहरण करनेवाले यदि पराजित हो गये तो वे अपने वंशजोंके हाथमें प्रतिकारको सौंपकर अपने साथ प्रतिहिंसाको ले जायेंगे।

(२) यदि वे जीत गये तो पराजितोंपर नाना प्रकारके अमानुषी अत्याचार करेंगे।

(३) उन अत्याचारोंको न सहकर पराजितोंकी दृढतम मानसिक अहिंसा भी लुप्त हो जायगी और वे मानसिक अहिंसक धैर्य खोकर शीघ्र ही क्रूर, क्रोधी, भीरू, कायर, कपटी आदि बनकर सर्वनाशमें लीन हो जायेंगे।

(४) अपहरण करनेवालोंके हार जाने पर स्वत्व को प्राप्त करनेमें सफल विजेता अहंकारसे फूलकर पराजितोंपर अट्टहास करेंगे और इस प्रकार उनकी मानसिक अहिंसा लुप्त होकर गैरियत के विद्वेष को मूर्त कर देगी।

आज पृथिवीके विजेता विजित राष्ट्रोंमें ये ही चार विषवृक्ष फल-फूल रहे हैं। जो देश, जाति अथवा राष्ट्र कभी दास था उसने स्वत्व प्राप्त करनेके लिए इस कर्महिंसा को अपनाया। विजयी होकर दासतासे मुक्त हुआ तो उसने हिंसक, डाकू बन कर दूसरोंको दासतामें बांधना शुरू कर दिया। जो वेदना उसे असह्य थी, जो गुलामी उसे अपमानजनक प्रतीत होती थी उसी अपयश, उसी वेदनाको वह अपने बन्धनकर्ताके ऊपर ही नहीं बल्के अपनेसे बलहीन समस्त देशों, जातियों एवं राष्ट्रोंके ऊपर लादने लगा। जब तक पृथिवी पर देश, जातीयता व राष्ट्रीयता आदिकी गैरियतके भाव फलते फूलते रहेंगे तबतक स्वार्थजनित हिंसाके तान्डव नृत्य भी होंगे।

कितनी लज्जाकी बात है कि प्रत्येक देश, जाति एवं राष्ट्र इस हिंसाकर्मको जो पराजितके गलेमें दासताकी रस्सी बांधता है, जिन्दादिली कहता है। यदि कहीं भूमण्डलके तमाम मनुष्योंपर इस परराष्ट्र-विध्वंस रूपी जिन्दादिलीका भूत

× "अहिंसा" लेखका (वैदिक धर्म जुलै १९४४ पृ० ३५१) अगला भाग।

सवार हो जावे तो नरसंहारकी यह सर्वव्यापी जिन्दादिली भी तबतक निरन्तर चलती रहेगी जबतक भूतलपर कटते मरते मनुष्यकी संख्या एक वा शून्य तक न पहुंच जावेगी।

हमारे अपने देशमें कभी समय था जब राष्ट्रीयता, जातीयता पोष्य होते हुए भी सिंहासनारूढ होकर मनुष्य मात्रका शिरोभूषण नहीं थी। उस समय पारिवारिक, जातीय एवं राष्ट्रीय मोह व स्नेहके ऊपर न्याय, सत्य तथा आत्मीयताका तिलक था जिसकी पूजा एवं मानप्रतिष्ठाके लिए "वसुधैव कुटुम्बकम्" की शिक्षा मनुष्य मात्रका अलंकार बनाई जाती थी। आज जिस "वसुधैव कुटुम्बकम्" को साम्यवाद बलात् लोगोंपर लादना चाहता है वह कभी भारतीयोंका पूजनीय इष्ट था। उसीका यह परिणाम हुआ कि जब निर्वाहको ढूंढनेवाले हूण, शक आदिने भारतपर आक्रमण किया तो वे विजयी होकर भी भारतीयोंके "वसुधैव कुटुम्बकम्" में घुल मिल गये। संस्कृति, वेशभूषा सबमें यहींके हो रहे। राष्ट्रीयताके मोहमें भारतीयोंने शक, हूण आक्रमणकारियोंको रोका। वे अशिक्षित तथा विनयशून्य थे साथही निर्वाहके लिए चिन्तित। भूखा गंवार, सम्पन्न सभ्यको सम्पत्तिका सुखभोग करते कब सहन कर सकता था। उधर सम्पन्न सभ्योंमें साम्पत्तिक मोह था। वे भिक्षा दे सकते थे अपहरण नहीं करा सकते थे। भारतकी सम्पन्नताही भारतीयोंकी सम्पत्ति थी। युद्ध हुआ, बर्बर, गंवार, भूखे हूण, शक सम्पन्न भारतीयों पर विजयी हुए, किन्तु संकीर्ण राजव्यवस्थासे आगे भारतीय गृहस्थोंका उदार "वसुधैव कुटुम्बकम्" था जिसमें न्याय, दण्ड व भिन्नताके स्थानमें आत्मीयता, मानवता व स्नेह था, अतः वे सब भारतीयोंमें घुल मिल गये। किन्तु जबसे मनुष्य तथा प्राणी मात्रके प्रति आत्मीयताकी न्यूनता होकर जातीयता, मजहब व राष्ट्रीयता का मिथ्या मोह भक्तिके नामसे प्रतिष्ठित किया जाने लगा है तबसे "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना नष्ट हो गई है और मानवताके प्रति गैरियत घर करती जा रही है।

मनकी अहिंसा मुख्य सिद्धि है और कर्मकी अहिंसा गौण। यदि अपना स्वत्व प्राप्त करनेवालेने मनकी सिद्धि प्राप्त करली है; जो सबसे कठिन साधना थी उसे पूरा कर लिया है तो वह तुच्छसी कर्मकी अहिंसा को नष्ट नहीं करेगा जब कि वह जानता है की शीघ्र सफल होनेका प्रलोभन स्वप्न सुखकी तरह कल्पित व क्षणिक है और वह, उसका जीवन तथा अबाधि अनन्त हैं।

अपहरण करनेवालेसे अपना स्वत्व व स्वाधीनता प्राप्त करना सबसे कठिन कार्य है। स्वत्वसे भी कठिन स्वाधीनता प्राप्त करना है। हिंसा या अहिंसा दोनों मार्ग ही पराधीनके लिए कठिन हैं, क्योंकि स्वाधीनता हरण करनेवाले हिंसक शासक, हिंसा के समस्त साधनोंसे शासितोंको वंचित कर देते हैं तथा उनके संगठन व हिंसामय प्रयत्नोंको पनपने तक नहीं देते। इतना ही नहीं शासक शासितोंको प्रेम, संगठन, दुर्गुण-त्याग, परोपकारादिसे सदाचारी तक बननेसे रोकते हैं। वे उनकी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नतिको पनपने देना भी पसंद नहीं करते और उन्हें छिन्नभिन्न, दुर्दशाग्रस्त रखनेके लिए उनमें वैर, विरोध, छल-कपट आदिका प्रचार कराया जाता है। ऐसी शोचनीय परिस्थितिमें न हिंसामय साधनोंसे छुटकारा आसान होता है, न अहिंसामय उपायोंसे। शान्ति और व्यवस्था के नामपर समाजके शुभचिन्तकोंके उन प्रयत्नोंको रोक दिया जाता है जिनके द्वारा वे समाजको दुर्व्यसनोंसे पृथक् करके सदाचारकी ओर ले जाते हैं। एक ओर उनके प्रचारकार्यको बन्द किया जाता है तो दूसरी ओर दुर्व्यसनों, दुराचारका प्रचार करनेके लिए गुण्डों, वेश्याओंको गुप्त सहायता व प्रोत्साहन दिया जाता है। स्वतन्त्र होनेके लिए उत्सुक, हिंसामय मार्गको अपनानेवाले क्रान्तिकारियोंका अत्यन्त दारुण दमन किया जाता है तथा शान्तिमय उपायोंको अपनानेवाले अहिंसावादियोंकी परोपकार वृत्ति को रोका जाता है। यदि वे छल कपट, चोरी, हत्या, वैर, दुराचार, मादक द्रव्यों तथा अन्य सामाजिक कुरीतियोंके त्यागका प्रयत्न करते हैं तो मानवताके नाते प्रत्यक्षरूपसे बुरा न कहकर परोक्षरूपसे उनके मार्गमें कांटे बोये जाते हैं। छल-कपट द्वारा उनको चोरी आदिके कल्पित अभियोगोंमें फंसाकर दण्डित किया जाता है।

हम व्यक्तिगत जीवनमें भी देखते हैं कि घृणित स्वार्थके लिए, शराब को बुरा मानते हुए भी कलाल और वेश्या पैसेवालों को शराब पिलाकर धन हरनेके स्वार्थमें अन्धे होकर, सहन नहीं कर सकते कि कोई उनके शिकार धनपतियोंको मद्यसेवन के व्यसनसे मुक्त करके उनके स्वार्थसाधनमें बाधक बने।

विदेशी शासकोंका लक्ष्य है कि वे पशुओंकी तरह

शासित मानवोंका उपयोग करके अपने अन्तस्तलकी व्याधियों (काम, लोभ, मद, अहंकारादि) को पाले पोसें। वे शासितों को वस्त्र पहनना सिखाते हैं, सभ्य ईसाई बनाने के लिए नहीं बल्कि अपनी मिलोंका कपडा बेचने के लिए। वे उन्हें साक्षर बनाते हैं, मानसिक विकासके लिए नहीं बल्कि शासकोंके कुत्सित रस्म रिवाजोंका अनुचर बनकर उनकी व्यसनपूर्ति, व परवित्त-हरणमें सुलभ उपकरण बनानेके लिए। उन्हें नशे-बाज, लम्पट बनाया जाता है अपने देशके कारखानोंका विष नशा तथा कूडा करकट इन लम्पटोंके हाथ बेचकर पैसा बटोरनेके लिए। उनके विषमें तो विष है ही, किन्तु अमृतमें भी विष है। सुधार में भी छद्म विकार, घृणित स्वार्थ छिपा रहता है। यही कारण है जहां अहिंसावादी वैर-द्वेषके त्यागका प्रचार करते हैं वहां छद्म प्रयत्नोंसे जनताको विचार स्वातन्त्र्यका अधिकार देकर साम्प्रदायिक दंगे करा दिये जाते हैं और इस अशान्तिके उत्तरदायित्वको वैर, द्वेष को मिटानेमें प्रयत्नशील उन अहिंसावादियोंपर थोपकर उनके प्रभावको नष्ट करके उनको असफल कर दिया जाता है। अतः परतन्त्रके लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके वास्ते हिंसामय तथा अहिंसामय दोनों मार्ग ही कठिन हैं। दोनोंको रोका, निष्फल किया जाता है, लेकिन तीसरा मार्ग तो है ही नहीं, इसलिए इस अहिंसा-मार्ग से ही स्वतन्त्रता प्राप्त करना अन्ततोगत्वा लाभदायक है; क्योंकि मनुष्यको स्वशरीर, परिवार, संप्रदाय, जातीयता, देश, संपत्ति आदि सब पदार्थोंसे निज आत्माकी सुखशांति ही अधिक प्रिय है। निज आत्माकी सुखशांति व पवित्रताके लिए ही यह संसार है। इसीके लिए परिवार, बन्धुबान्धव, धन-सम्पत्ति, देश और राष्ट्र हैं। यदि आत्मा ही क्षुब्ध, त्रस्त और अशांत बन गई या बनी रही तो क्या स्वाधीनता मिली? उपकर्ता को परतन्त्र बनाकर उपकरणोंकी स्वतन्त्रता से लाभ? उपकर्ता को मलीन-तुच्छ, हीन बनाकर उपकरणोंकी पवित्रता व सुरक्षा से प्रयोजन? साध्यको विकृत करके साधनोंकी शुद्धिका उद्देश? सचमुच प्रत्यक्षको मुक्त करनेके लिए परोक्षको पराधीन कर दिया जाता है। आज योरोपके स्वतंत्र राष्ट्रोंमें यह परोक्ष परतंत्रता ही विषवमन कर रही है। वहां शरीर, परिवार, बंधु-बान्धव, संप्रदाय, देश, राष्ट्रीयता सब स्वतंत्र हैं किन्तु इन सबकी प्राणभूत आत्मा परतंत्र है, विषयाधीन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार के अत्यन्त दारुण पाशसे शासित की जा रही है। ये पांच विदेशी शत्रु उसकी छातीपर मूंग दलकर उससे मनमानी करा रहे हैं।

काम, क्रोधादि विदेशी शत्रु आत्माको दासी बनाकर स्वतन्त्र होने कब देते हैं? ये शत्रु शासक बन कर शासित आत्माके समस्त सुप्रयत्नोंको निष्फल करनेमें लगे रहते हैं। कामक्रोधादि विदेशी शत्रुओंसे छुटकारा पानेके निमित्त किं कर्तव्य-विमूढ होकर आत्मा हिंसामय मार्गको ग्रहण करती है। कामवासनासे छुटकारा पानेके लिए उसकी हत्या करनेपर कटिबद्ध हो जाती है। कामको भस्म करनेके लिये शिव (क्रोध) का तीसरा नेत्र खोलकर उसकी हत्या कर डालती है। पर क्या इससे काम मर जाता है? कामवासना मरती नहीं, अपितु अल्प कालके लिये जख्मी सी हो जाती है। वह जख्मी भी नहीं होती बल्कि क्रोधके उग्र विषके आ जाने पर उसकी विष-वेदना अप्रतीत सी होने लगती है। इस प्रकार आत्मा विषको विषसे न मारकर दो विषोंकी व्यथामें पड जाती है। इसी प्रकार किं-कर्तव्यविमूढ आत्मा स्वतन्त्र होनेके लिये, इन विदेशी शत्रुओं से छुटकारा पानेके निमित्त कभी कामकी, कभी क्रोधकी और कभी लोभ-मोहादिकी हत्या करती है। विषको विषसे मारनेकी चेष्टा करती है। विषस्य विषमौषधम् को अपनाती है किन्तु विष विष मिलकर दूहरे विष हो जाते हैं। हिंसित तो हत होता ही नहीं किन्तु हिंसक ही विकृत व्यथित हो जाता है। कामवासना द्वारा लोभकी हत्या कराई जाती है। लोभ तो मरता नहीं किन्तु विद्वेष उत्पन्न हो जाता है। आत्मा निर्लोभी न बनकर विद्वेषी बन जाती है। लोभ और कामसे मद, अहंकारकी हत्या कराई जाती है, मद, अहंकार तो मरते नहीं, किन्तु ग्लानि, तुच्छता आ जाती है। विष, हिंसा, विकारसे विष, हिंसा विकारकी ही वृद्धि होती है।

अहिंसाका मूल उद्देश है शत्रुको मित्र, विषको अमृत बनाना। जबतक विदेशी शासक तथा कामक्रोधादि शत्रु मित्र न बनेंगे तबतक स्वदेशकी, अन्तस्तलकी स्वतन्त्रता प्राप्त न होगी। विदेशी शत्रुओंको मित्र न बनाकर उन्हें शत्रु रखते हुए हिंसा द्वारा स्वदेश को स्वतंत्र कर भी लिया, तो वह स्वतंत्रता रूस की स्वतंत्रताकी तरह खतरेमें पडी रहेगी। काम-क्रोधादिको मित्र न बनाकर उन्हें जख्मी करके उनको शत्रु रखते हुए हिंसा द्वारा अन्तस्तलको इनसे मुक्तसा मान भी लिया तो वह भ्रान्त विश्वास खतरे में पडा रहेगा। शत्रु अपनी नवजात संतति (ग्लानि, निराशा, विद्वेष, तुच्छता, हीनता, कातरता) की

सहायता से हिंसक आत्माकी कष्टकर खबर लेगा। विदेशी-शत्रु अवसर खोजकर स्वतंत्र हुए राष्ट्रोंसे हिंसा का बदला लेने के लिए या उनको उनकी हिंसा का दण्ड देनेके लिए नवजात सन्धियों, मित्रों को बटोर कर हिंसा द्वारा पुनः स्वतंत्र को परतन्त्र बनाकर छोडेंगे। बिना आत्मीयता के मैत्री होगी नहीं।

जबतक दो राह द्वैतभाव, तेरमेर रहेगी तबतक आत्मीयता आ नहीं सकती और इन दोराहों, द्वैतभाव, तेरमेर के दूर होते ही पांचों शत्रु केवल एक प्रेम, आत्मीयता में जावेंगे। बदल कर प्रेम, आत्मीय हो जाना ही मैत्री होगा। आत्मीयता का एक मात्र लक्षण है " **जीवो और जीने दो।** "

अहिंसात्मक युद्ध

प्रत्यक्षरूपसे जार और जारका वंश रूससे मिटा दिया गया था, किन्तु परोक्षरूपसे वह विषसंग्रह कर रहा था। जारके आत्मीय न होते हुए भी योरोप के वे राष्ट्र, जो जारकी तरह संकीर्ण स्वार्थों (लोभ, मोह, मद, अहंकारादि) में जकडे हुए थे, साम्यवादियों के ही नहीं बल्के साम्यवादकी अच्छाइयों के भी शत्रु बन गये थे। साम्यवादियों ने उनके क्रोधोन्मत्त शंकित अन्तस्तलों को मित्र बनाने का आत्मीय प्रयत्न नहीं किया। फलतः वे अविश्वास तथा आशंकावश आत्मरक्षा के लिए साम्यवादियों पर टूट पडे, क्योंकि उन्हें अपने साम्राज्यवाद के नाश का खतरा था और इस साम्राज्यवादसे उन्हें ममता थी। जबतक दुर्गुणों से ममता है तबतक उनकी रक्षा करने की उत्कट अभिलाषा रहती ही है। हिंसामार्ग अपनानेवाले बोलशेविकों ने अन्तस्तलों के विश्वास को नहीं बदला, बल्कें हत्याओं द्वारा बलात् अपरिग्रह को उन मानवों पर लाद दिया, जिनके अन्तस्तल पूंजीवाद के पुजारी थे और इस बलात् अपरिग्रह की स्थापना के बादभी उन्होंने सामिप्य में अपरिग्रह की स्थापना के प्रयत्न को स्थगित कर दिया। स्वयं रोगमुक्त होकर पडौसी संक्रामक रोगियों से निरपेक्ष हो गये। उनके इस बलात् अपरिग्रहसे पडौसियों को अपना ईमान (विश्वास) खतरे में मालूम होने लगा और आजतक वे साम्यवाद को अपने लिए खतरा समझे हुए हैं।

ममता विकार है, दोष है और अज्ञानके कारण ही यह ममता है। हमारे शुभ चिन्तकका कर्तव्य है कि वह ज्ञानसे हमारे अन्तस्तलकी ममताको दूर करे न कि बलात् हमारी ममताके आधार, हमारी प्रिय वस्तुओंको हरण कर ले वा नष्ट कर दे। हमें धन, सम्पत्ति, संतानादिसे ममता-मोह है। हमारे अन्तस्तलसे इस ममत्वको दूर न करके हमारी धन, सम्पत्ति, सन्तानादिको छीन कर वा नष्ट करके हमारी ममताको दूर नहीं किया जा सकता। जबतक ममता रहेगी हम अपहरण व नाशकर्ताके प्रति वैर रखेंगे और अवसर पाते ही बदला लेंगे। यही कारण है कि आज योरोपमें हिंसामय प्रयत्नोंसे बलात् उपार्जित प्रत्यक्ष, स्थूल स्वतन्त्रताके होते हुए भी वहां की जनता मानसिक परतन्त्रता की वेदना भोगती हुई प्रत्यक्ष, स्थूल स्वतन्त्रताको खोती जा रही है।

हम कह आये हैं कि अपनी खोई हुई स्वाधीनताको प्राप्त करनेके लिए हमें अपनेमें आत्मीयताको केन्द्रित करनेकी जरूरत है, किन्तु बन्दीकर्ता बन्दीको ऐसा अवसर देता कहां है। बन्दीमें इतनी आध्यात्मिक शक्ति नहीं कि वह शासकको मित्र बना ले। हिंसामार्गसे स्वार्थी शासक शत्रु बन जायगा और उसका जो परिणाम होगा वह हम पहले कह आये हैं।

शासक शत्रु लोभसे अत्यन्त आक्रान्त है। अहंकारने उसमें एक विचित्र उलट फेर कर दी है। वह शासितोंको निकृष्ट और अपनेको श्रेष्ठ मानता है, इसीलिये वह शासितोंकी न्याययुक्त बात पर भी कर्णपात नहीं करता। वह शासितोंके देशमें उनकी सम्पत्तिसे कुपथ्य कर रहा है। उसको मित्र बनानेके लिए उन तमाम साधनों द्वारा शासित प्रयत्नशील रहें जिनकी चर्चा हम पहले कर आये हैं, किन्तु साथ ही साथ उसको कुपथ्योंसे वंचित करनेसे भी न चूकें। रोगीको जबतक कुपथ्य मिलते रहेंगे कोई औषधि कारगर न होगी। समस्त देशवासी जो अबतक शासकोंके लिए कुपथ्य जुटाते रहे हैं अब उसके कुपथ्योंमें आहुति न बनें। उसके लोभ और अहंकारको ईंधन न दें। इस ज्वालाको दूर करनेके लिए असहयोग और बहिष्कारको बडी दृढता और तल्लीनतासे अपनावें।

आध्यात्मिक चिकित्सकोंसे पूछें कि काम क्रोधादि शत्रुओंसे छुटकारा पानेका कौनसा मार्ग है। आध्यात्मिक चिकित्सक इन शत्रुओंसे अन्तस्तलको मुक्त करनेके लिए दो मार्ग बताते हैं। अन्तस्तलकी एक शक्ति है, प्रगति है, चेष्टा है। उस शक्ति, प्रगति, चेष्टाको पथ्य, उपचार, रचनामें लगाना अन्तर्मुखी चिकित्सा है। उस शक्ति, प्रगति, चेष्टाको कुपथ्योंके मिटानेमें

लगाना बहिर्मुखी चिकित्सा है। शक्ति-धाराका जल पथ्य वा कुपथ्यमेंसे एकमें वा दोनोंमें जायगा, तीसरा मार्ग है ही नहीं। और जबतक रोगमुक्ति नहीं होती अन्तस्तलकी प्रगति रुक नहीं सकती। अतः उनको अपनी समस्त शक्ति, प्रगति, चेष्टाको दो भागोंमें बांट देना चाहिये। (१) उनकी शक्तिका कोई अंग शत्रुके कुपथ्यमें सहायक न हो। वे अपने तन, मन, धनको शासकके उपभोगमें न आने दें, उसे हर वस्तुसे वंचित कर दें, यही असहयोग है। असहयोग और बहिष्कार एकही कार्यके दो रूप हैं। असहयोग उसके घृणित लोभके पोषक कुपथ्यको रोकेगा तथा बहिष्कार उसके मद-अहंकारके पोषक कुपथ्यको।

हम मानते हैं कि दूसरोंको अधीन रखनेवाला शासक शत्रु भयानक रोगी है। उसके कोढने शासितोंके रक्तमें भी दोष पैदा कर दिया है। उसकी लोभजनित लूटने उनमें द्वेष, क्रोध, ग्लानि, निराशा, हताशा भर दी है। उसके मद अहंकारने उनमें हीनता, तुच्छता, उत्पन्न कर दी है। उसके कुपथ्योंसे वे भी कुपथ्यसेवी हो गये हैं। उसमें तो गैरियत थी ही उनमें भी गैरियत-विद्वेष आ गये हैं। इतना ही नहीं कभीका कंगला, भिखमंगा, जिसके देशमें महीने भरका भी अन्न पैदा नहीं होता, ऐसा विदेशी भी तो शासक बनकर शासितोंका खून पी पीकर फूल रहा है और जिनके देशमें इतना पैदा होता है कि वे एक वर्षकी पैदावारको कई वर्ष खा सकते हैं ऐसे बेचारे शासित भी एक जून रूखा सूखा भोजन नहीं पाते। ऐसे शासितोंको अपनी आत्मा उस आततायी शासककी आत्मासे अधिक प्रिय है। उनको अपना शरीर शासकके शरीरसे अधिक प्यारा है, क्योंकि शत्रुका इलाज करनेसे पहले उनको स्वयं रोगमुक्त होना जरूरी है, क्योंकि रोगी वैद्य न किसीकी चिकित्सा कर सकता है और ना ही कोई रोगीसे चिकित्सा कराता है। पराधीन किसीको कैसे स्वतन्त्र करा सकता है? कामक्रोधके आधीन प्राणी किसीको इन विकारोंसे मुक्त नहीं कर सकता।

पराधीनोंने अपने मन आत्माकी चिकित्सा अपने शरीर अस्पतालमें करनी है और शरीरको निरोग, स्वस्थ, समर्थ व दीर्घजीवी रखनेके लिये उनको उपकरणोंकी, निर्वाह की जरूरत है जो उनके शरीरके स्वदेशसे मिल सकते हैं। उनका देश विदेशीके आधीन है, न तो कोई विदेशी उनको अपना देश देनेको उद्यत है और नाही कोई विदेश उनके शरीरोंके लिए प्राकृत, अनुकूल, स्वाभाविक भूमि है जहां ले जाकर वे अपने शरीर अस्पतालोंको निरोग, स्वस्थ, समर्थ व दीर्घजीवी रख सकें। विदेशी उनके देशसे उस निर्वाह का अपहरण कर रहे हैं, जिसको खोकर उनके शरीर अस्पताल, रोगी, निकम्मे, अशक्त तथा अल्पायु होते जा रहे हैं और विदेशी उसी निर्वाह से अपने मन, आत्मा तथा शरीरको कुपथ्य दे रहे हैं। लोभग्रस्त शासक शत्रु उनके शरीर, मन व आत्मा तकको कुपथ्य दे देकर निकम्मा करनेमें तल्लीन है, ताकि शासित अपनी चिकित्सा करके शासकोंको कुपथ्योंसे वंचित न कर दें। पराधीन देशके निवासी विश्वामित्र "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की आत्मीय भूमिकामें रहकर भी शासकों वा अन्योंकी कोई चिकित्सा तबतक नहीं कर सकते जबतक वे स्वयं निरोग न हो जावें, वे हित करना चाहकर भी किसीका कोई हित नहीं कर सकते, क्योंकि महाभयंकर रोगी शासकोंका सामिप्य उनके लिए घोर, दुःखदाई खतरा बना रहेगा। अबतक इस विदेशी शासकके कोढने शासितोंको अनेक रक्तरोगोंमें ग्रस्त कर लिया है। वे बिचारे सब सद्गुणोंसे वंचित होकर भीरू, कापुरुष बनते जा रहे हैं। अब तक शासितोंने विदेशी शासन कोढीको अपने घरसे न निकाल कर अपना बहुत अपघात किया है। और ऐसा होना ही चाहिये था क्योंकि कभी किसी आततायीसे, किसी शासकसे किसी पराधीनको लाभ नहीं हो सकता। यदि वह कोई सहायता करता भी है तो वह साहाय्य हित-भावनासे नहीं अपितु छद्म स्वार्थभावनासे की जाती है। जिस तरह किसी आश्रयहीना भूखी स्त्रीको भोजनवस्त्रकी सहायता देनेमें कामुक पुरुषका घृणित स्वार्थ छिपा रहता है, उसी तरह शासनलोलुप विदेशी शासक शासितोंकी जो भलाई वा सहायता करते हैं उनके मूलमें विषही छिपा रहता है।

चतुर चिकित्सकों के अनथक परिश्रम से जब परतन्त्र देशवासियोंको यह निश्चय हो गया कि:—

(१) शासक स्वार्थ में अन्धा होकर शासितों के सर्वनाश पर तुला है। (२) वह भयानक संक्रामक रोगों में ग्रस्त है। (३) उसका सामिप्य शासितों में रोगविष फैला रहा है। (४) वह अपनी स्वार्थपरता के लिए छद्म प्रयत्नों से शासितों को निर्वाहवंचित कर रहा है।

(५) उनमें दुराचार, तुच्छता, वैरभाव आदिका विष देकर शासितोंको रोगी बना कर निकम्मा करता जा रहा है।

भगवद्गीता क्यों लिखी गयी ?

(लेखांक ३)

(लेखक– प्राध्यापक वि० ब० आठवले M. Sc., F. R. G. S (London) हंसराज प्रागजी ठाकरसी कालेज, नासिक)

(अनुवादक– श्री. द० ग० धारेश्वर, बी. ए. औंध)

प्रथम लेखमें मैं इस निर्णयपर पहुँच गया कि आधुनिक प्रणालीसे गीताका लेखनकाल ईसाके पूर्व ३००० है ऐसा बतलाया जा सकता है तथा द्वितीय लेखमें मैंने यूं सुलझाने की चेष्टा की कि व्यासजीको वेदव्यास क्यूंकर कहा जाता है और गीताके सुलेखक कृष्णद्वैपायन व्यासजीने किस साहित्य-संभारका निरीक्षण किया था एवं उसका परिणाम गीतामें किस भाँति दिखाई देता है इसपर कुछ प्रकाश भी डाला गया। अब सोचना उचित है कि व्यासजीने गीतालेखनकी धुरा कैसे एवं क्यों उठाली थी।

अठारह दिनोंतक कुरुक्षेत्रमें भीषण समर प्रचलित रहा और तदुपरान्त युधिष्ठिरको राज्यकी प्राप्ति हुई। युद्धके पश्चात् राज्याभिषेकके पहले अश्वमेध यज्ञ संपन्न हुआ था जिसमें दुपहरके समय दो बजेसे पाँच बजेतकका काल 'पारिप्लवार्थ' समझा जाता था। पारिप्लवार्थका तात्पर्य है छुट्टी का समय या खाली वक्त। इस यज्ञके लिए बडे बडे विद्वान् एकत्रित हुआ करते थे अतः इस दुपहरकी वेलामें विभिन्न आख्यानोंका कथन, काव्यगायन, ऐतिहासिक जानकारीका बखान एवं आध्यात्मिक चर्चा आदि प्रवर्तित होना सुतरां स्वाभाविक था। विशेषरूपसे तो ऐसी प्रथा जारी थी कि जिसका राज्याभिषेक संपन्न होने जारहा हो उसे उसके राज-परिवारका पिछला इतिहास बतलाया जाय। '**पुरोधसां च मुख्यं**' प्रदपर अधिष्ठित होनेवाला पुरुष ही स्यात् इस ऐतिहासिक कथनकी धुरा उठाता हो क्यों कि ऋग्वेदके दशम मण्डलके ६३ वे सूक्तमें भी मनुके पौत्र ययातिके यज्ञ में विश्वे देवाः की सराहना करते हुए ययातिके पुरोहित गयः प्लातने ययातिके पितामहने जो यज्ञ किया था, उसका निर्देश किया है। आधुनिक भाषामें कहना पडे तो, '**मुनीनां अप्यहं व्यासः**,' इस तरह विद्वत्ताके कारण विख्यात होने से व्यासजी उस राज्याभिषेकके समय यज्ञमें प्रमुख पुरोहित या Poet laureate राजकविके पदपर विराजमान जरूर होंगे और प्रायः राजपरिवारका पिछला इतिहास लिखनेका कार्य इन्हें सौंपा हो इसमें संशय नहीं। ठीक अठारह दिनोंतक नीतिपूर्वक युद्ध चलानेके उपरान्त जयकी प्राप्ति हुई इस लिए '**जयनामेतिहासः**' ऐसा नाम इस ग्रन्थको दिया और इसे अठारह पर्वोंमें विभक्त कर डाला। निर्देश है कि इस इतिहासके लेखनमें व्यासजीको तीन वर्ष लगे। अब मेरे सामने यह प्रश्न नहीं कि 'महाभारत' दहीमेंसे मन्थन कर इस 'जय' मक्खनको किस भाँति विभिन्न निकाल दिखादूँ, पर यह अवश्य बतला सकता हूँ कि जिस व्यासजीने यह जय ग्रन्थ लिख डाला उसीने अध्यात्म–धर्म–नीतिशास्त्र प्रतिपादक गीताग्रन्थ स्वतंत्ररूप से लिखा जिसे महाभारतमेंसे अलग अनाजमेंसे शिलाखंड की नाईं पृथक् किया जा सकता है।

महाभारतके भीष्मपर्वान्तर्गत पचीसवे अध्यायसे लेकर गीता ग्रन्थका प्रारंभ होता है। गीताके '**अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्**' सदृश श्लोकोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, वह युद्धका पहला दिन था और '**प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते**' अर्थात् युद्ध छिडनेके प्रारम्भमेंही अर्जुनका मन स्वजनोंका ख्याल करके व्यथित हुआ। पर भीष्मपर्वके १४ वे अध्यायमें निर्देश मिलता है कि, शरजालमें पडे रहकर भीष्मपितामह अपने दिन गिना रहे हैं। नौ दिन अविराम लडनेपर भीष्मके बाणजालोंसे जकडे जानेके पश्चात्के अध्यायमें '**बलं भीष्माभिरक्षितं**' ढंगसे फिर आओ मेरे पीछे करलेना विसंगत जान पडता है। कहनेका आशय यही कि अठारह अध्यायोंवाले इस पुरातन ग्रन्थको सौतिके अपने महाभारतमें समाविष्ट करते समय जो भूल हुई वह ज्योंकि त्यों रह गयी।

अब देखना चाहिए कि, '**जय**' नामक एक विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थ विद्यमान था तथा स्वतन्त्ररूपसे गीता ग्रन्थ भी अस्तित्वमें आया था इस संबन्धमें स्वयं गीतासे

इसमें कौनसा प्रमाण उपलब्ध होता है। व्यासजीनेही 'गुह्यतमं शास्त्रं' ऐसा गीताके लिए कहा है तथा इस समूचे संलापको '**धर्म्यं संवादं आवयोः**' कहकर निर्दिष्ट किया है। इतिहास बतलाना 'जय' ग्रन्थका उद्देश्य था और धर्मशास्त्र बतलानेके लिए गीता ग्रन्थकी रचना हुई। अर्थातही दोनों ग्रन्थोंके विषयोंमें एवं उद्देश्यमें विभिन्नता होनेसे पृथक् दो ग्रंथोंका लिखा जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं तथापि ध्यानमें रहे कि विषयोंकी विभिन्नताके कारण दोनों ग्रंथोंके स्वतंत्रतया बनाये जानेपर भी यह बतलाया जा सकता है कि, दोनों पुस्तकोंके रचयिता एकही हैं।

जय नामक इतिहासका आद्य श्लोक

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

इस भाँति है और गीताका अंतिम श्लोक भी-

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीः विजयः भूतिः ध्रुवा नीतिः मतिर्मम॥

इस तरह होकर पूर्वोक्त श्लोकसे अच्छी प्रकार मेल खाता है। जय पुस्तकके अठारह पर्व हैं और गीता भी १८ अध्यायोंमें विभक्त है। दोनों ग्रन्थोंके विषय विभिन्न होनेपर भी युद्धके पश्चात् ही दोनोंकी रचना होनेसे जय, वासुदेव एवं अर्जुनका युगल और दोनों ही ग्रन्थोंके अठारह अन्तर्विभाग समान हुए। यह स्पष्ट हुआ होगा कि यह समानता एक ही लेखकके लिखेजानेसे दोनोंमें उत्पन्न हुई है। अब सोचें कि गीताके लिखनेका प्रयोजन या कारण क्या था और इस प्रश्नका उत्तर पानेके लिए ढूँढना पडेगा कि गीतामें जिस विषयका प्रतिपादित किया जा चुका है वह कौनसा है? पंद्रहवे अध्यायके अन्तमें स्वयं गीता ही बतलाती है कि 'गुह्यतमं शास्त्रं' ऐसा नाम इस विषयके लिए दिया है। फलश्रुति भी गीताने यों बतलायी है कि जो इस शास्त्र की जानकारी प्राप्त कर लेगा वह कृतकृत्य हो सकेगा। सोलहवे अध्यायमें कहा है कि शास्त्रका हेतु कौनसा है जैसे-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिं॥
तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ गीता

मानवमात्रकी दशा ऐसी है कि '**नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्**' अथवा '**शरीरयात्रा अपि च ते न प्रसिध्येत् अकर्मणः**' इसलिए विवश हो कर्म करना ही पडता है और कभी कभी कर्मके संबंधमें मनमें ऐसा सन्देह उठ खडा होता है कि क्या यह कर्म किया जाय अथवा वह कर्म ठीक है। ऐसे संशयके मौकेपर शास्त्रप्रामाण्यके आधारसे निर्णय कर लेना चाहिए। व्यवसायनिर्णय केवल बुद्धिकी रुचि या अरुचिपर निर्भर नहीं रह सकता और उसी तरह उस कर्मका विधिविधान समझकर फिर कर्म करना पडता है। कर्म तथा उसकी गतिका परस्परसंबंध बतलानेके लिए गीताशास्त्रका निर्माण हुआ है। गीताका कथन है '**गहना कर्मणो गतिः**' '**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।** '**तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि**' याने कर्मकी गतिका भली भाँति पथ प्रदर्शन करनेके लिए गीता लिखी गयी। गीतामें जिस विषयका सोचविचार किया गया है उसीसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

'जय' नामक इतिहासमें तो केवल राजपरिवारका ही विवरण पाया जाता है पर कर्म एवं उसकी गतिका विचार तो समूचे मानव समाजके लिए है। यह तो मानी हुई बात है कि, '**वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः**' मुनिवरको ही अखिल मानव संघके लिए शास्त्रका विधिविधान बतलानेका अधिकार प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि जो कर्मफलासक्त होते हों उनमें निर्भीकता भला कैसे रह सकती है? चूँकि मुनि निःसंग होते हैं अतः वे मानवजातिके 'नर एवं नराधिप' अथवा 'प्रजा तथा प्रजापति' दोनों घटकोंके लिए बिना किसीकी भी पराधीनता स्वीकारे उनका 'कार्य अकार्य' कौनसा है इस सम्बन्धमें निर्णायक सम्मति देनेकी क्षमता रखते हैं। कृष्ण द्वैपायन प्रथितयश विद्वान् तो थे ही, इसलिए राजा युधिष्ठिरजीने जिस प्रकार जय इतिहासके लिखदेनेका कार्य उनके अधीन कर दिया, वैसे ही इस भाँति अनुमान करनेमें शायद भूल न होगी कि मानवजातिके लिए अध्यात्मविद्याकी बुनियाद पर 'नीति एवं' धर्मके आचरणशास्त्रकी सुमनोहर अट्टालिका खडी कर विधिविधानकी शास्त्रपूत चर्चा करनेहारे ग्रन्थरत्नके निर्माणका उत्तरदायित्व भी उन्हीं के कंधोंपर रखा गया था।

गीतामेंही व्यासजीकी निर्भीकताका प्रबल प्रमाण उपलब्ध हैं जैसे, राजा एवं प्रजाका सम्मिलित रूपही समाजका निर्माण करता है और गीतामें सिर्फ नरेशोंके लियेही उपदेश दिया गया हो ऐसी बात नहीं, अपितु साफ तौरसे

उत्तर देनेकी चेष्टा की गया है कि प्रजाजनोंके भी कुछ अनिवार्य कर्तव्य हैं।

राजर्षियोंकी परंपरासे प्रचलित आचरणका मर्म जिस कर्मयोगमें विहित था उसे भूल जानेसे क्षत्रियोंमें विद्यमान ईश्वरभाव विनष्टसा हो चला और वे भी 'क्लीब' बन गये थे। मोहवश 'कुलधर्म एवं जातिधर्मोंको शाश्वत तथा सनातन समझकर जो स्वभावनियत '**युद्धे चाप्यपलायनं**' था उसे भी तिलाञ्जलि दे अर्जुन जैसे रणबाँकुरे योद्धाकी भी मनःस्थिति '**मां अशस्त्रं शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्रः रणे हन्युः तन्मे क्षेमतरं भवेत्**' इस ढंगकी हीनदीन हो चुकी थी। ऐसे वीरोंको बतलाकर कि '**ईश्वरः सर्वभूतानां ...**' भलीभाँति नेत्रोद्घाटन कराया कि '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।**' इसके अतिरिक्त निर्भयतापूर्वक अन्य प्रजाजनोंको भी साफ़ तौरसे ऐसा बतलानेमें झिझक नहीं दर्शायी कि '**तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः**' अथवा '**भुञ्जते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात्**' या '**नायं लोको अस्ति अयज्ञस्य**'। मानवसमाज राजा तथा प्रजा दोनोंके मिलनसे बनता है और गीतामें ऐसा कहीं भी नहीं कहा है कि सिर्फ नरेश अपने कर्तव्यको पूर्ण करलें; बस ठीक, प्रजाका कोई खास कर्तव्य नहीं।

'**यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।**' '**कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्।**' इस भाँति श्रेष्ठ लोगोंपर वैयक्तिक दृष्टिकोणसे अधिक उत्तरदायित्वका भार रहता है, तथापि ध्यानमें रखनेयोग्य बात है कि, धर्मग्लानिकी सारी जिम्मेवारी संपूर्णतया नृपतिमंडल या उच्चपदाधिष्ठित लोगोंपर ही नहीं रखी है। यदि प्रजासे कोई भूल हुई हो तो समूचे समाजको उसका प्रायश्चित्त भोगना पडता है जिसका स्वरूप '**अभ्युत्थानं अधर्मस्य**' ऐसा बताया है। '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं**' ऐसा तो श्रीकृष्ण महाराजका ही कथन है इसलिए, चाहे नरेशोंके दुराचरणोंसे या समाजमें विद्यमान दुष्ट लोगोंके बुरे कृत्योंमें वृद्धि होनेसे समाजकी धर्मग्लानि हुई हो, भगवान् कृष्ण कहते हैं--

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

इससे विदित होगा कि, 'यथा राजा तथा प्रजा' इस ढंगकी एकांगी शिक्षा गीतासे नहीं मिलती है। नेता एवं जनता ही समाजरूपी रथके अर्थात्‌ही दो पहिये हैं। यदि दोनों पहिये एकही दिशामें चलते हों तो असंशय यह महान् समाज-रथ सुचारुरूपसे प्रगतिपथपर अविरत गतिसे बढता चलेगा, पर अगर कहीं विरुद्ध दिशामें ये चक्र घूमने लगें तो बेशक समूचा रथ औंधा हो गिर पडेगा ऐसा डर अधिक है। कर्मयोगके उदात्त रहस्यको नरेश भूल गये। उस रहस्यका प्रतिपादन जैसे गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा वैसेही दूसरोंके लिए भी वह था।

'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**
सहजं कर्म सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भाः हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।'

ऊपरके विवेचनसे ज्ञात होगा कि, समाजको शिक्षा देनेके हेतु युधिष्ठिरजीने मुनिवर कृष्णद्वैपायनजीको गीतालेखनका कार्य सौंप दिया था। गीताका स्पष्ट मत ऐसा दीख पडता है कि समाजका संगठन बारंबार बिगड जाता है और उसे अविच्छिन्न ढंगसे हमेशाके लिए अक्षुण्ण बनाये रखना असंभव है। ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं कि, भारतीय समरके अवसर पर दुर्मति दुर्योधन तथा उसकी हाँमें हाँ मिलानेवाले कुछ प्रजाजनोंके कारण सामाजिक संगठनमें जो ढीलापन पैदा हो चुका था उसे दूर करके संगठन सुदृढ करनेके लिए गीताका अवतार हुआ था। जो गीताग्रन्थ आज लगभग ५००० वर्षोंसे अमर समर बनकर रहा है उसके सुलेखक '**स्थितधी मुनिः**' जिस युगमें विद्यमान थे एवं जिन विख्यात व्यक्तियोंके मध्य संलापरूपसे यह प्रकट हो चुका उन शूर तथा स्थितप्रज्ञ अर्जुन और वासुदेवके रहते हुए भी लडाईके भीषण मौकेसे छुटकारा पाना असंभव हुआ। इसलिए, सामाजिक अपराधोंका प्रायश्चित्त भोगना जातिके लिए अनिवार्य है और महान् शक्तियोंको भी सामाजिक विपत्तियोंका हटाना असंभव है। गीताके सिखावनसे यही ध्वनि निकल आती है, लेकिन यह कोई उसका प्रमुख अंश नहीं। यद्यपि चक्रनेमिक्रमसे समाजकी धर्मग्लानि या धर्मकी प्राणप्रतिष्ठा पुनः पुनः होती रहे तो भी इस सामाजिक उथलपुथलसे भयभीत न होकर चाहे जैसी जटिल हालत मुँहबायें खडी हो जाय पर व्यक्ति उससे जूझ कर '**इह एव तैः जितः स्वर्गः**' इस पदको पहुँच सकता है ऐसा निश्चितरूपसे कहना ही गीताका प्रमुख उपदेश है। गीता क्यों लिखी गयी इस सवालका उत्तर ऊपर दिया है।

गीताका लेखक कौन, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए व्यासजीकी विद्वत्ता तथा बुद्धिमत्ता ऐसे दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दूसरे और तीसरे लेखमें विद्वत्ताके बारेमें विचार किया गया है। अब अग्रिम लेखमें व्यासजीकी बुद्धिमत्ता पर कुछ प्रकाश डालनेकी चेष्टा की जायगी।

वेदवेदिका

(६)

ऋग्वेदे तु गायत्र्यादीनि छन्दांऽसि प्रसिद्धानि । तासामृचां अन्यासां च यजुर्वेदेऽपि तान्येव छन्दांऽसि भवन्ति । तदिदं तैत्तिरीयब्राह्मणवचनेनैव गम्यते । 'गायत्र्या गायत्री छन्दः' इति (ना० उ० १९।३५) 'गायत्रीभिरुप तिष्ठते... यदेतं तृचमन्वाह सन्तत्यै' इति (तै० सं० १।५।८।७) अत्र गायत्री ऋचस्तु- 'सम्पश्यामि प्रजा अहम् (तै० सं० १।५।६।१) उप त्वाऽग्ने दिवेदिवे' इति च । 'देवो वः सवितोत्पुनातु०'(तै० सं० १।१।५।१) साविव्यर्चा, पच्छो गायत्रिया त्रिःषमृद्धत्वाय' इति (तै० ब्रा० ३।३।४) 'विश्वे देवस्य नेतुः० (तै० सं० १।२।२।६) 'ऋचा जुहोति, यज्ञस्योद्धत्यै अनुष्टुभा जुहोति विश्वे देवस्य नेतुरित्याह' इति (तै० ब्रा० ३।१।२) 'विश्वे देवस्य नेतुरित्यनुष्टुभोत्तमया जुहोति' इति (तै० सं. ५।१।९) "सꣳस्रावभागाः स्थेषा बृहन्तः०" (तै० सं० १।१।१३।१४) "सꣳस्रावभागाः स्थेत्याह । वैश्वदेव्यर्चा० त्रिष्टुग्भवति" (तै० ब्रा० ३।३।६) 'वाजस्य मा प्रसवेन० ।' (तै० सं० १।१।१३।१) "अथ स्रुचावनुष्टुग्भ्यां वाजवतीभ्यां व्यूहति" (तै० ब्रा० ३।३।९) ।

एवमेव क्वचिदतिच्छन्दसोऽपि निर्देशो भवति- "अभि त्यं देवꣳसवितारमोण्योः० ।" (तै० सं० १।२।६।२) "अभि त्यं देवꣳसवितारमित्यतिच्छन्दसर्चा मिमीते ।" इति (तै० सं० ६।१।९।९)

तदेतद्दिग्दर्शनमात्रं किञ्चिदेवोपन्यस्तम् । एवं सर्वासामपि ऋचां छन्दांऽसि विनियोगसङ्ग्रहे निर्दिष्टानि सायनभाष्ये विद्यन्ते । तानि विज्ञाय तत्रतत्र विनियोगावसरे उच्चारणीयानि । एवं ऋचां गायत्र्यादीनि छन्दांऽसि सर्वेषामप्यभिमतान्येव । यजुर्मन्त्राणां तु अप्रसिद्धान्येव छन्दांऽसि, नापि कुत्रचिदुल्लिखितानि, ऋचामिव यजुषां छन्दोव्यवस्था नास्तीति, भावः ।

"अनियताक्षरपादानि यजूꣳषि भवन्ति" इति सूत्रेण यजुषां छन्दोनिबन्धननियमाभावात् तेषां छन्दःस्वरूप-

---

ऋग्वेद में गायत्री आदि छन्द प्रसिद्ध ही हैं। उन और दूसरे ऋचाओंके छन्द यजुर्वेद में भी वे ही होते हैं। यह बात तैत्तिरीय ब्राह्मण के वचन से ही ज्ञात हो जाती है। 'गायत्र्या गायत्री छन्दः' (ना. उ. १९।३५) 'गायत्रीभिरुपतिष्ठते...यदेतं तृचमन्वाह सन्तत्यै' (तै. सं. १।५।८।७)

यहाँपर गायत्रीका वर्णन है आगे ऋचायें देखिये 'सम्पश्यामि प्रजा अहम्' (तै० सं० १।५।६।१)

'उप त्वाऽग्ने दिवे दिवे' 'देवो वः सवितोत्पुनातु०'
(तै० सं० १।१।५।१)

साविव्यर्चा, पच्छो गायत्रिया त्रिःषमृद्धत्वाय' (तै० ब्रा० ३।३।४) 'विश्वे देवस्य नेतुः० (तै० सं० १।२।२।६) 'ऋचा जुहोति, यज्ञस्योद्धत्यै अनुष्टुभा जुहोति विश्वे देवस्य नेतुरित्याह' (तै. ब्रा. ३।१।२) 'विश्वेदेवस्य नेतुरित्यनुष्टुभोत्तमया जुहोति' (तै. सं. ५।१।९) 'सꣳस्रावभागाः स्थेषा बृहन्तः०' (तै, सं. १।१।१३।१४) सꣳस्रावभागाः स्थेत्याह वैश्वदेव्यर्चा० त्रिष्टुग्भवति' (तै. ब्रा. ३।३।६) 'वाजस्य मा प्रसवेन० ।' (तै. सं. १।१।१३।१) 'अथ स्रुचावनुष्टुग्भ्यां वाजवतीभ्यां व्यूहति' (तै. ब्रा. ३।३।९)।

इसी प्रकार कहीं कहींपर अतिच्छन्दों का भी निर्देश मिलता है। जैसे- 'अभि त्यं देवꣳसवितारमोण्योः०'। (तै. सं. १।२।६।२)

'अभि त्यं देवꣳसवितारमित्यतिच्छन्दसर्चा मिमीते।'
(तै. सं. ६।१।९।९)

यह तो थोडे उदाहरणरूपमें ही प्रमाण लिखे गये हैं। सारी ऋचाओंके छन्द सायणभाष्यके विनियोगोंमें वर्तमान हैं। उनको जानकर वहाँ वहाँ विनियोगके अवसरपर उनका उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार ऋचाओंके गायत्री आदि छन्द सर्व सम्मत हैं। यजुर्मन्त्रोंके तो छन्द अप्रसिद्ध ही हैं उनका कहीं उल्लेख भी नहीं है। ऋचाओंके समान यजुः-मंत्रोंकी छन्द-सम्बन्धी व्यवस्था नहीं है। यही मेरे कहनेका तात्पर्य है।

'यजुओंके अक्षर एवं चरणोंकी संख्या निश्चित नहीं है' इस सूत्रके अनुसार कुछ लोगोंकी राय है कि यजुर्मन्त्रोंपर छन्दके निर्बंधरूपी नियम लागू नहीं हैं अतः उनके छन्दका स्वरूप जानलेना

विज्ञानमशक्यसम्पादं छन्द एव नास्तीत्यपि केषाञ्चिदभिप्रायः। अत एव केवलं "यजुश्छन्दः" इति पठनपद्धतिर्विद्यते इति प्रतीयते। अपि च यजुषामपि छन्दोनियमसत्त्वे सूत्रभेदेन अनेकधा मन्त्रविभागेन कर्मणि विनियोगः न शास्त्रीयतामर्हति।

तद्यथा- "इषे त्वोर्जे त्वेत्याह, इषमेवोर्जं यजमानेऽव रुन्धे" इति ब्राह्मणोद्धृते एकस्मिन् मन्त्रप्रतीके आपस्तम्बो मन्त्रद्वयं परिकल्प्य, तद्विनियोगं पृथगेव विदधाति। 'इषे त्वेति शाखां छिनत्ति, ऊर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि' इति। बौधायनस्तु अत्र ब्राह्मणानुरोधेन एकमेव मन्त्रं कल्पितवान् 'इषे त्वोर्जे त्वेति शाखां छिनत्ति' इति। उभयमपि प्रमाणम्। उभयथाप्यनुष्ठानपद्धतिर्विद्यते। तत्र कथं छन्दोनिर्णयो भवेत्। एवं सहस्रशः स्थानेषु विद्यते। तस्मात् यजुषां छन्दोनियम एव नास्तीति वक्तव्यमापतति, तन्निर्णायकप्रमाणाभावात्। नूतने निर्णये तु अप्रामाण्यात् अव्यवस्थादिदोषापत्तेश्च।

वस्तुतस्तु- यजुर्मन्त्राणामपि छन्दोनियमोऽस्त्येव, एकाक्षरमारभ्य यजुश्छन्दः प्रवृत्तम्। तथा च पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्- 'छन्दः। गायत्री। दैव्येकम्' इति। अत एव 'ओं' इत्येकाक्षरस्य प्रणवमन्त्रस्य याजुषं दैवी गायत्रीछन्दो निर्दिष्टम्। '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। अग्निर्देवता ब्रह्म इत्यार्षम्। गायत्रं छन्दं परमात्मं सरूपम्।**' इति (ना० उ० १९।३३) 'प्रणवस्य ब्रह्मा, ब्रह्मा दैवी गायत्री' इति च (आ० परिशिष्टे) '**ओमिति प्रतिपद्यते एतद्वै यजुः**' (तै० आ० २।११) इति च प्रणवस्य यजुष्ट्वं स्पष्टमेवाम्नातम्।

ऋचां तु '**अष्टाक्षरा गायत्री**' इति नियमः। सा च एकपदा क्वचिद् द्विपदा त्रिपदा च भवति। तत्रापि क्वचित् एकस्मिन् अक्षरे अक्षरद्वये च न्यूनेऽधिके च 'निचृद् भुरिक् विराट् स्वराड्' इति गायत्र्याः विशिष्टसंज्ञा प्रसिद्धा। एतेन ऋचामेकाक्षरा दैवी गायत्री छन्दो न भवतीति सिध्यति। तथा च 'छन्दः। गायत्री। दैव्येकम्। आसुरी पञ्चदश। प्राजापत्याऽष्टौ। यजुषां षट्। साम्नां द्विः। ऋचां त्रिः। द्वौ द्वौ साम्नां वर्धेत। त्रींस्त्रीनृचाम्। चतुरश्चतुरः प्राजापत्यायाः। एकैकं शेषे। तान्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यः। चतुरश्चतुरः समाम्न्य एकैका ब्राह्मयः प्राग्यजुषामार्ष्य' इति। इति पिङ्गलनागप्रणीते वेदाङ्गभूते छन्दःशास्त्रे प्रतिपादितं वैदिकं छन्दोलक्षणम्। तच्च विस्तरशः उत्तरत्र उल्लिख्यते।

असंभवही है। शायद इसी कारण सिर्फ, '**यजुश्छन्दः**' इतनीही पठनकी प्रणाली मौजूद रही हो ऐसा जान पडता है। यदि यजुओं के भी छन्दके नियम हों, तो भी सूत्र विभिन्न होनेसे कई तरीकोंसे मंत्र विभाग करके कर्म करते हुए विनियोग करना शास्त्रीयताके विरुद्ध ही है। उदाहरणके तौरपर देखिए–

ब्राह्मणके उद्धृत 'इषे त्वोर्जे त्वा ऐसा कहता है, अन्न और ऊर्जको यज्ञकर्तामें रख देता है' इस ढंगके एक मंत्रप्रतीकमें आपस्तम्ब दो मंत्रोंकी कल्पना करके उनका विनियोग भी अलगही बताता है जैसे, 'इषे त्वा कहकर डालीको तोड डालता है और ऊर्जे त्वा कहके उसे बुहारकर साफसुथरी बना देता है।' लेकिन बौधायनने यहाँपर ब्राह्मणके पीछे चलकर एक ही मंत्रकी संभावना कर रखी है जैसे, 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा कहके शाखाके टुकडे करता है।' ध्यानमें रहे कि दोनोंका प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि अनुष्ठान करनेकी प्रणाली दोनों तरीकोंसे प्रचलित है। तब भला छन्दका निर्णय कैसे हो? यही प्रकार सहस्रों स्थानोंमें पाया जाता है। अतः कहना तो यही पडता कि यजुर्मन्त्रोंके बारेमें कोई छन्दका नियम नहीं पाया जाता क्योंकि वैसा निर्धारित करनेको कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता है। अच्छा, अगर नया निर्णय बनालें तो उस की प्रामाणिकता नहीं रहेगी और अव्यवस्था वगैरह दोष पैदा होंगे।

वास्तवमें देखा जाय तो यजुर्मन्त्रोंके भी छन्दनियम विद्यमान हैं, यजुका छन्द एक अक्षरसे माना जाता है और पिंगलके सूत्रमें वैसे कहा है। इसीलिए 'ओं' इस एकाक्षरवाले प्रणवमन्त्रका यजुःरूपमें दैवी गायत्रीछन्द बताया है। देखो ना. उ. १९।३३ और तै. आ. २।११ इस तरह प्रणव यजुः है ऐसा साफ बताया है।

अब, ऋचाओंके संबंधमें ऐसा नियम है कि, 'आठ अक्षरवाली गायत्री' है और वह एक चरणवाली तथा कहीं कहीं दो या तीन चरणवाली होती है। उसमें भी कहीं एकाध समय एक अक्षर या दो अक्षरोंके कमज्यादह होनेपर 'निचृद् भुरिक् विराट्, स्वराट्' ऐसे नाम गायत्रीको दिये जाते हैं इससे यही सिद्ध होता है कि ऋचाओंके लिए एक अक्षरवाले दैवी गायत्री छन्दकी संभावना नहीं। पिंगलनागके बनाये और वेदके अंग माने हुए छन्दः शास्त्र में वैदिक छन्दोंके लक्षण बताये हैं जिसका आगे विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।

एवं ऋगादिमन्त्राणां ' ऋषिदैवतच्छन्दाँसि ' एतानि त्रीण्येवान्तरङ्गानि भवन्ति । तस्मादृष्यादिज्ञानेनैव तदुच्चारणपूर्वकमेव वेदमन्त्रविनियोगो विहितः । अन्यथा यातयामतादोषापत्तेः । अतएव शुक्लयजुर्वेदकात्यायनसर्वानुक्रमणीसूत्रे ऋग्वेदे प्रसिद्धानामृचां तत्र दर्शितान्येव ' ऋषिदैवतच्छन्दाँसि । निर्दिष्टानि ' समिधाग्नेऽष्यश्चतस्रो गायत्र्यः । समिधा विरूप आङ्गिरसः' इत्यादीनि । ऋग्वेदे तु अप्रसिद्धानां केषांचिदमूपाणां यजुर्मन्त्राणामपि ऋष्यादीनि तैत्तिरीयसायनभाष्ये विनियोगसङ्ग्रहवार्तिकमुखेन लिखितानि । तत्सर्वं विज्ञाय यथाशास्त्रमेव वेदाध्ययनादिके कृते सर्वं श्रेयस्करं भवेदिति शास्त्राभिप्रायः।

देवताविचारः ।

' देवता ' तु मन्त्राधिष्ठात्री दिव्यवस्तुस्वरूपा सा च मन्त्रार्थरूपैवेति शास्त्रतत्त्वम् । मन्त्रार्थरूपदेवतास्वरूपज्ञानमन्तरेण प्रयुक्तो मन्त्रो निरर्थकः क्वचिदनर्थकश्च भवति । यद्यपि ' अमन्यमानाँ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र ' (ऋ० १।३३।९ [उत्तरार्धः]) इति मन्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि मन्त्रशक्त्यैव फलं संस्स्यतीत्यापाततः प्रतीयते, तथापि फलसिद्धौ शब्दशो मन्त्रार्थज्ञानेऽन्यथा सिद्धेऽपि मन्त्राधिष्ठातृदेवताध्यानं तु अत्यन्तमावश्यकमेव । तथा च मन्त्रवर्णः– ' ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥' इति (ऋ० १।१६४।३९) मन्त्राधिष्ठातृदेवताज्ञानाभावे मन्त्रप्रयोगानर्थक्यम् । तज्ज्ञाने एव सार्थक्यमित्युक्तं भवति ।

'यस्तित्याज सखिविदँ सखायं । न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति । यदीँ शृणोत्यलकँ शृणोति । न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्' इति । (तै० आ० १।३।१) अत एव ' यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्साक्षादेव तद्देवतां प्रीणाति प्रत्यक्षाद्देवतां यजति ' (ऐ० ब्रा० ३।८) इति सर्वेष्वपि यज्ञीयकर्मसु हवनादिषु मन्त्राणां विनियोगे तत्तन्मन्त्रदेवताध्यानं विहितं, तच्च ज्ञानमन्तरा न सम्भवति, अन्यथाऽनर्थोऽपि श्रूयते– 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति ' इति (छां० उ० १।१०।९)

इसीतरह, ऋचा वगैरह मंत्रोंके तीनही अन्तरंग ' ऋषि, देवता एवं छन्द ' ऐसे होते हैं अतः ऋषि इत्यादि बातोंकी जानकारी प्राप्त करके मंत्रोंका उच्चारण करते हुए उनका विनियोग निश्चित किया है, नहीं तो मंत्रोंका बासीपन दोष उत्पन्न होगा । इसी कारणसे ऋग्वेदमें विख्यात ऋचाओंके दर्शाये ऋषि, दैवत छन्दही शुक्ल यजुर्वेदके कात्यायन सर्वानुक्रमसूत्रमें बताये हैं । जो कुछ ऋचावत् प्रतीत होनेवाले यजुर्मन्त्र ऋग्वेदमें नहीं पाये जाते हैं उनके भी ऋषि वगैरह तैत्तिरीयपर लिखे सायणभाष्यमें लिखे हैं । शास्त्रका आशय इतना ही है कि उस संपूर्ण विषयकी जानकारी प्राप्त करके शास्त्रानुकूल ढंगसे वेदाध्ययन किया जाय तोही सारा कार्य हितकारक हो जायगा ।

देवताके संबंधमें विचार

शास्त्रका यही सिद्धान्त है कि देवता मन्त्रकी अधिष्ठात्री, दिव्य रूपमय है और वह मंत्रार्थसे अभिन्नही है । मंत्रके अर्थसे अभिन्न देवताका स्वरूप जानें बिना यदि मंत्रका प्रयोग किया जाय तो वह बेकार है और कहीं अनर्थ भी पैदा करता है। यद्यपि ऋ० १।३३।९ के दूसरे भागसे ऐसा ऊपर ऊपरसे प्रतीत होने लगता कि मंत्रके अर्थका ज्ञान न होनेपर भी सिर्फ मंत्रशक्तिसे ही फल मिलेगा, तो भी सफलता पानेमें मंत्रकी अधिष्ठात्री देवताका ध्यान अनिवार्य ही है भलेंही शब्दशः मंत्रार्थका ज्ञान विपरीत हो जाय । इस संबंधमें ऋ. १।१६४।३९ वाँ मंत्र देखनेयोग्य है जिसमें बतलाया है कि, ऋचाके अक्षरोंमें सभी देव बस चुके हैं, इस बातसे जो अपरिचित है वह भला ऋचासे कौनसा लाभ उठायेगा पर जो इसे जानते हैं वेही इसतरह बैठते हैं । मतलब यही कि मंत्रकी अधिष्ठात्री देवता का ज्ञान न हो तो मंत्रके प्रयोग करनेमें कुछ भी लाभ नहीं और उस देवताकी भली प्रकार जानकारी हो तोही सभी तरहकी सफलता मिलती है ।

ऋ० १०।७१।६ में कहा है जो मित्रताको जाननेवाले मित्रको छोडदे उसकी वाणीमें भी कोई भजनीय अंश नहीं रहता और वह जो कुछ सुनले सब बेकार है तथा पुण्यका मार्ग वह नहीं जान सकता ।' यह मंत्र तै. आ. १।३।१ में है । इसीलिए ऐ. ब्राह्मण ३।८ में कहा है ' जिस देवताके लिए हवि लिया हो उसका ध्यान करले, जब कि वषट्कार करना हो, यह वास्तवमें उस देवताको संतुष्ट करना है, मानों प्रत्यक्ष उस देवताका यजन करना है ।' इस तरह, सभी यज्ञसंबंधी कर्मोंमें, हवन आदिमें विनियोग करते समय उस उस मंत्रके देवताका ध्यान करना अनिवार्य है । बिना देवताके ज्ञानके वैसा करना असंभव है क्योंकि उसके अभावमें अनर्थ होता है ऐसा सुना गया है जैसे छान्दोग्य (१।१०।९) में कहा है

कथं देवता मन्त्रार्थरूपा भवितुमर्हति ? मन्त्रार्थस्तु कश्चिदभिप्रायरूपः स्तुत्यादिरूपश्च, देवता तु दिव्या ज्योतिराद्यात्मिका मन्त्रैरुपास्या भवति । अत्र देवता तु मन्त्रार्थाद् भिन्नैवेत्याशयः । अत्रोच्यते– यद्यपि प्रत्येकशः शब्दात् तदर्थाच्च देवता भिन्नैवेति वक्तुं शक्यं, तथापि समग्रमन्त्रार्थस्वरूपैव तदधिष्ठात्री देवतेत्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यं भवेत् । कुत एतत् ? उच्यते– मन्त्रशरीरा देवता मन्त्रैरेव गम्या च । तेन 'वाच्यवाचकयोरभेदः' इति न्यायेन मन्त्रावयवभूतानां अग्नीन्द्रादित्यादिशब्दानां वाच्यार्थरूपास्तेऽग्न्यादयो देवताः, तद्वाचकशब्दसमूहसङ्ग्रथित एव मन्त्रः । तस्मान्मन्त्रार्थरूपैव देवतेति सम्पद्यते ।

तद्यथा– '**तत्सवितुर्वरेण्यं–**' इति– 'यः अस्माकं धियः प्रेरयेत्, तस्य सवितुर्देवस्य तद्वरेण्यं तेजो ध्यायामः' इति प्रत्येकशः शब्दार्थस्य स्तुत्याद्यभिप्रायरूपत्वेऽपि सवितृतेजसो ध्याने तद्वस्तुज्ञानमेव प्रधानम् । अपि च '**अमन्यमानाँ॒ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र**' इत्यत्रापि इन्द्रदेवतासम्बोधनेन स्तुता, तत्र तन्मन्त्राधिष्ठितेन्द्रदेवताज्ञानमन्तरेण तद्वचनमेव न सङ्गच्छते । तस्मात् ऋषिच्छन्दोदैवतानि तानि मन्त्रेमन्त्रे विद्यात् । इति श्रुतिवचनमेव शरणम् ।

तदेतत् तत्र तत्र मन्त्रविनियोगेषु देवतानिर्देशपूर्वकं तत्तद्देवताकमन्त्रविधानं ब्राह्मणे बहुधोपलभ्यते । 'उदु त्यं जातवेदसम्० । चित्रं देवानाम्० । (तै० सं० १।४।४३।१-२) **सौरीभ्यामृग्भ्यां गार्हपत्ये जुहोति॰** (तै० सं० ६।६।१।४) '**अग्न आयूँ॑षि पवसे० ।**' (तै० सं० १।५।५।७) '**आग्निपावमानीभिरुप तिष्ठते०**' (तै० सं० १।५।७।९) 'उदु त्यं जातवेदसम्० ।' (तै० सं० १।१।८।७) **सौर्यर्चा कृष्णाजिनं प्रत्यानह्यति० ।** (तै० सं० ६।१।१।१।९) 'युञ्जते मनः०' (तै० सं० १।२।१३।१) '**सावित्रियर्चा हुत्वा हविर्धाने प्र वर्तयति० ।**' (तै० सं० ६।२।९।२) '**इदं विष्णुः० इरावती०।**' (तै०सं० १।२।१३।४-५) '**वैष्णवीभ्यामृग्भ्यां वर्त्मनोर्जुहोति ।**' (तै० सं० ६।२।९।५) '**सोमो जिगाति गातुवित्० ।**' (तै०सं० १।३।४।५) '**सौम्यर्चा प्र पादयति०** ' (तै० सं० ६।३।२।१२) '**उरु विष्णो वि क्रमस्व० ।**' (तै० सं० १।३।४।४) **वैष्णव्यर्चा हुत्वा यूपमच्छैति**' (तै०सं० ६।३।३।१) '**विष्णोः कर्माणि पश्यत०**' तद्विष्णोः

' हे प्रशंसक ! जो देवता प्रस्तावसे जुडी हुई है उसे यदि न जानते हुए तू उसकी स्तुति करने लगे, तो तेरा सर टूट जायगा । '

देवता मंत्रके अर्थरूपमें कैसे हो सकती हैं ? मंत्रार्थ या तो उस वाक्यका अभिप्राय होता है या किसी देवताकी स्तुति । परन्तु देवता द्यौ-लोकमें रहनेवाली, प्रकाश-स्वरूप और मंत्र द्वारा उपास्य होती है । यहाँ देवता मंत्रके अर्थसे भिन्न है । हमारा उत्तर यह है– यद्यपि प्रत्येक शब्द और अर्थसे देवता भिन्न ही है तथापि मंत्रोंकी अधिष्ठात्री देवता सम्पूर्ण मंत्रार्थस्वरूप ही होती है यह अवश्य स्वीकार करना होगा । यदि पूछें, ऐसा क्यों ? तो सुनिये– मंत्र देवताका शरीर है और देवता मंत्रसे ही जानी जाती है । इसलिये वाच्य और वाचकमें अभेद होनेसे मंत्रोंके अङ्गभूत अग्नि इन्द्र आदित्य आदि शब्दोंके अर्थ अग्नि आदि देवताएँ अग्नि इन्द्र आदित्य आदि शब्दरूप ही हैं । अग्नि आदि देवताओंके वाचक शब्दोंका समूह ही मन्त्र कहलाता है । इस कारण मंत्रोंके अर्थको ही देवता कहते हैं ऐसा सिद्ध होता है ।

उदाहरण देखिये– '**तत्सवितुर्वरेण्यम्** ' इस मंत्रमें जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे, उस सविता देवके उस श्रेष्ठ तेजको हम ध्यान में देखते हैं ' यद्यपि प्रत्येक शब्दका अर्थ स्तुत्यादि है तथापि सविताके तेजके ध्यानमें उस वस्तुका ज्ञान करना ही प्रधान बात है । ' **अमन्यमानाँ॒ अभिमन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र** ' इस मन्त्र में भी इंद्र देवको सम्बोधन करके ही स्तुति की गई है क्योंकि वहाँ इन्द्रदेवताके ज्ञान विना वह स्तुति ही संगत नहीं होती । अतः ' मंत्रोंके ऋषि छन्द और देवताओंको मनुष्य जाने ' श्रुतिके इस वाक्यका आश्रय हमें अवश्य लेना पडेगा ।

यह देवता निर्देशपूर्वक मंत्र विधान मंत्रोंके विनियोगोंमें ब्राह्मण ग्रन्थोंमें बहुत पाया जाता है । ' **उदु त्यं जातवेदसम्०** ' इत्यादि (उदाहरण ऊपर देखिये) ऋचाओंकी देवताएं ऋग्वेदादि प्रसिद्ध हैं । परन्तु '**इषे त्वोर्जे त्वा०** ' इत्यादि यजुर्वेदस्थ मंत्रोंके दैवत इन मंत्रोंमें दिखाई न देनेसे प्रसिद्ध नहीं हैं । गुप्त हैं । इस कारण आहुति डालनेके पश्चात् देवताके उद्देशसे त्यागका कथन करते समय ' मन्त्रोक्त देवताके लिए यह हवि है इसपर मेरा अधिकार नहीं ' याजुष यज्ञोंके त्यागमें उच्चारणकी ऐसी पद्धति बन गई है ।

तब अप्रसिद्ध देवतावाले यजुर्वेदीय मन्त्रोंकी नवीन देवता शास्त्रीय कैसे मानी जायेगी ? इसका उत्तर सुनिये– मंत्रोंकी देवता मन्त्रोंमें ही रहती है । शेष भाग उसीसे कल्पित होता है और वह मंत्रस्थ शब्द लिङ्गसे ही जाना जाता है । ' जो लिङ्गसे उक्त होती है, वही

परमं पदम्० (तै०सं० १।३।६।१२-१३) 'वैष्णव्यर्चा कल्पयति द्वाभ्यां कल्पयति०'(तै०सं० ६।३।४।१०-११)अस्तभ्नाद् द्यामृषभः०' (तै० सं० १।२।८।५) 'वारुण्यर्चा सादयति०' (तै० सं० ६।१।११।६) 'मनो ज्योतिर्जुषतां० बृहस्पतिस्तनुतामिमं नः।' (तै० सं १।५।३।७) 'बृहस्पतिवत्यर्चोप तिष्ठते०।' (तै० सं० १।५।४।७) 'उदुत्तमं वरुणपाशमस्मत्०' (तै० सं० १।५।११।१०) शुनःशेपमाजीगर्तिं वरुणोऽगृह्णात्। स एतां वारुणीमपश्यत्, इति ऋचां तु ऋग्वेदादिषु प्रसिद्धानि दैवतानि। यजुर्मन्त्राणां तु 'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्यादीनां दैवतानि न प्रसिद्धानि। अत एव आहुतिदानानन्तरं वक्तव्ये देवतोद्देशके त्यागे 'मन्त्रोक्तदेवताया इदं न मम' इत्येव याजुषाणां त्यागोच्चारपद्धतिर्विद्यते।

एवं सति तेषां यजुर्मन्त्राणामप्रसिद्धदेवताकानां नूतना दैवतकल्पना कथं शास्त्रीयतामर्हति? अत्रोच्यते– मन्त्रे एव प्रतिष्ठितं तद्दैवतम्। तज्ज्ञानमेवावशिष्टं, तत्तु मन्त्रस्थ शब्दलिङ्गादेवावगम्यते। 'या लिङ्गोक्ता सैव मन्त्रदेवता।' इति स्पष्टमेवोपदिष्टं सूत्रे। 'यल्लिङ्गं सा देवता (ऋ० सर्वा० १।१।३९) इति च। अत एव बहुदेवताकस्य मन्त्रस्य सामान्यतः समासेन च वैश्वदेवत्वम्। विभागेन तु विशेषेण अनेकदेवताः लिङ्गोक्ता एव दर्शिताः। तद्यथा कुत्सदर्शने 'तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः' इति सूक्तान्तिमस्य अर्धर्चस्य उभयथा निर्देशः। तथा च ऋक्सर्वानुक्रमसूत्रम् '**इमं षोळश कुत्स आग्नेयं० तन्नो मित्रोऽर्धर्चो लिङ्गोक्तदेवतो यद्दैवत्यं वा सूक्तम्**' इति (ऋ० सर्वा० सू० १।९४) 'अस्तु श्रौषळेकादश वैश्वदेवी मैत्रावरुण्याश्विन्यस्तिस्रः ऐन्द्र्याग्नेयी मारुत्यैन्द्राग्नी बार्हस्पत्या वैश्वदेवी,० वैश्वदेवमेतत्, एवमन्यासामपि सूक्तप्रयोगे वैश्वदेवत्वं, सूक्तभेदप्रयोगे यल्लिङ्गं सा देवता' इति च (ऋ० सर्वा० १।१३९)

सत्यमेवेदं, श्रुतं सर्वं ज्ञातं च, विदितमेवेदं सर्वं अस्माकमपि, किमन्यत् ?– ऋचामेवेदं यजुषां तु का कथा? तत्रापि एवमेव युज्यते। कथं तत्? मन्त्रलिङ्गादेव यजुषामपि देवता अवगम्यते।

मंत्रकी देवता है' सूक्तमें ऐसा स्पष्ट वर्णित है। 'जिस देवताके लिये जो शब्द संकेत है, वही उसकी देवता है।' (ऋ. सर्वा. १।१।३९)। इसलिए जिस मंत्रमें बहुत देवतायें हैं उसकी देवता प्रायः) 'विश्वे देव' मानी जाती है। जहाँ विभागसे अनेक देवता दिखाई जाती हैं वहाँ लिङ्गोक्त ही होती हैं। जैसे कुत्सके देखे हुए 'तन्नो मित्रो व६०' सूक्तके अन्तिम इस आधी ऋचामें दोनों प्रकारकी देवताएँ निर्दिष्ट होती हैं। ऐसा ही ऋक्सर्वानुक्रम सूत्रमें भी कहा गया है 'इमं' सूक्त सोलह ऋक्का है इसका कुत्स ऋषि और अग्नि देवता है... अन्तिम मंत्रकी आधी ऋचाकी देवता लिङ्गोक्त है अथवा सूक्तकी देवता ही इसकी भी देवता है।' (ऋ. स. सूत्र १।९४)। 'अस्तु श्रौषट् यह एकादश ऋचावाला सूक्त है। इसमें विश्वेदेव, मैत्रावरुण, तीन मंत्रोंपर अश्विदेव इन्द्र, अग्नि, मरुत्, इन्द्राग्नी, बृहस्पति और विश्वे देव देवताएँ हैं। यह सूक्त विश्वेदेवका है इसी प्रकार अन्य ऋचाओंकी भी सूक्तप्रयोग में, विश्वे देव देवता होती हैं। जब सूक्तकी भिन्न भिन्न ऋचाओं की देवता कही जाती है तब लिङ्गोक्त देवता ही देवता मानी जाती है।' (ऋ. सर्वा. १।१३९)।

यह सत्य है। हमने सुनकर, जान लिया। इतना तो हमें भी पता है, परन्तु यह तो ऋग्वेदका नियम है, यह नियम यजुर्वेदमें नहीं लगता? यदि कोई ऐसा कहे तो हम कहेंगे कि यजुर्वेदमें भी यही नियम चलता है क्योंकि मंत्रलिङ्गसे ही यजुःकी भी देवताओंका ज्ञान होता है।

जैसा कि '**इषे त्वोर्ज्जे त्वा**' इस मंत्रमें इष् शब्द अन्न वाचक प्रसिद्ध है। इस कारण इसकी देवता इष् (इट्) है। क्या अन्न भी देवता हो सकती है? यदि ऐसा है तो पत्थर भी देवता होनी चाहिये। यदि कोई ऐसा पूछे तो हमारा उत्तर है– हाँ। अन्न आदि कूटनेके साधन ऊखल आदि यदि पत्थरके बने हों तो वे भी देवता होते हैं। शुनःशेप ऋषिवाले सूक्तमें उलूखल भी देवता है। 'हे ऊखल! तू तो प्रत्येक गृहमें काम आता है, तू जयशीलोंकी दुन्दुभिके समान इस घरमें अत्यन्त प्रकाशमान् वरदान बोल दे।' (ऋ० १।२८।५)। अन्न देवता ही नहीं, साक्षात् ब्रह्म ही है। 'उसने अन्नको ब्रह्म जाना क्योंकि अन्न ही भूतोंमें ज्येष्ठ है।' ऐसा श्रुतिमें कहा गया है। 'अन्नकी निन्दा न करे, अन्नका पराभव न करे' इस प्रकार अन्नकी निन्दाका प्रतिषेध कहा गया है। यही नहीं, वेदमें अन्नकी अनेक बार स्तुति की गई है। 'मैं बडे धारक बलवान अन्नकी प्रशंसा करता हूँ।' (ऋ. १।१८७।१) 'हे अन्न! बडे देवोंका मन तुझमें ही रखा हुआ है। (ऋ. १।१८७।६) तथा यह भी सब लोग अनुभव करते ही हैं कि प्राणियोंका

तद्यथा ' इषे त्वोर्जे त्वा ' इत्यस्मिन् इट् शब्दः अन्नवाचकः प्रसिद्धः, तेनास्य ' इट् ' एव देवता भवति । किम्-अन्नमपि देवता भवितुमर्हति ? अथ किम् ?– तर्हि पाषाणमपि दैवतं भवेत् ? ओम् । अन्नधान्यादिकरणोपकरणभूतं उलूखलादिरूपं अश्मापि दैवतं भवति । तथा च शुनःशेपार्षेयो मन्त्रवर्णः ।

' यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे । इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ इति (ऋ० १।२८।५)

न केवलं दैवतात्मकं तदन्नं अपि तु साक्षाद् ब्रह्मात्मकमेव । ' अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम् ' इति च श्रुतिवचनात् । अतएव ' अन्नं न निन्द्यात् अन्नं न परि चक्षीत ' इति अन्ननिन्दादिप्रतिषेधोऽपि श्रूयते । अन्नस्तुतिस्तु वेदे बहुधैवोपलभ्यते । ' पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् । ' (ऋ० १।१८७।१) ' त्वे पितो महानां देवानां मनो हितम् । ' इति (ऋ० १।१८७।६) सर्वदा सर्वत्रापि सर्वेऽपि अन्नगतप्राणा एव प्राणभृतः, इति सर्वेषामनुभवसिद्धम्, अस्मिन् युगे तु तद्विशेषतः इति वक्तव्यम् । तत्रापि इदानीं सर्वैरपि प्रतिदिनमनुभूयते ' सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः ' इति प्राचामभियुक्तवचनं प्रसिद्धम् । तस्मादस्मिञ्जगति जीवनमेव सर्वपुरुषार्थमूलसाधनभूतम् । ' जीवन् भद्राणि पश्यति ' इति न्यायात् । अन्नेन जीवनं, जीवनेन बलं, बलेन प्राणशक्तिः । प्राणेन बलवृद्धिः । प्राणेन बलेन चायुः । एवं चिरायुषा धर्मकर्मादिसमृद्धिः । तेनैव सर्वपुरुषार्थसिद्धिश्च भवितुमर्हति । अत्र जीवनाधारभूतमन्नमेव प्रधानं मूलभूतं च तदिदं शास्त्रदृष्ट्यैव सिद्धम् । लोकदृष्ट्यापि ज्ञायते । अत एव सा भगवती विश्वसञ्जीवनभूता जगज्जननी अन्नपूर्णाम्बिकैव सर्वेषां प्राणभृतां शरणं सर्वार्थसाधनसमर्थेति सिद्धम् ।

तत्रापि- सर्वेषां प्राणिनां मातृदुग्धमेव प्रथमं जीवनमिति प्रत्यक्षम् । तथापि मातुः शरीरस्य रोगवियोगादिविपत्तिनिमित्तेन माता तु केवलं गर्भधारिणी जन्मदात्री, अथवा निजबालकानामेव जननीति निश्चीयते । तदिह विशेषतः अनाथ बालकानां, तथा इतरेषां सर्वेषामपि लोकानां जीवनं पशूनां दुग्धेनैव भवितुमर्हति ।

तत्रापि सर्वेषां पशूनां दुग्धादपि माधुर्यादिसर्वरसातिशयेन स्थैर्यबलायुरारोग्यसत्वशुद्धिसत्वबुद्ध्याद्यभिवर्धकगुणेन च गव दुग्धमेव परमं श्रेष्ठं इति सर्वत्रानुभवसिद्धम् । ' प्रायः पयोऽत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ' इति वाग्भटस्य अष्टाङ्गहृदये स्पष्टतरं वचनम् । एवं गोमूत्रगोमयादिभिरपि बीजक्षेत्रादौ शरीरे च सर्वदोषनिवृत्त्या शुद्धिक्रियया च संस्कारविशेषः आधीयते इत्यपि सिद्धम् । इति सर्वेषां प्राणिनां विशेषतो मानवजन्तूनां सुखजीवनस्थितौ गौर्मातैव मुख्या आधारभूतेति सर्वथा सम्पद्यते । तदिदं ' आप्यायध्वमघ्न्या देवभागमूर्जस्वतीः पयस्वतीः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्माः ' इति यजुषा सिद्धम् । अत एव धान्यदुग्धाद्यन्नस्य परंतत्वमुपनिषत्सु श्रूयते ।

प्राण अन्न पर निर्भर है । आज तो, ' सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः ' अर्थात् सारे कार्य चावलके दाने पर आश्रित हैं, पूर्वजोंकी यह उक्ति प्रतिदिन अनुभवमें आ रही है । जीवन ही सारे पुरुषार्थसाधनोंका मूल है क्योंकि मनुष्य ' जीवन् भद्राणि पश्यति ' जीवित रहे तो अनेक सुख भोगता है । अन्नसे जीवन, जीवनसे बल और बलसे प्राण-शक्ति प्राप्त होती है । प्राणसे पुनः बलकी प्राप्ति और प्राण और उसीसे आयुकी वृद्धि होती है। दीर्घ आयुसे धर्मकर्मादि बढते हैं और उसीसे सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। अन्न जीवनका आधार होनेसे प्रधान और मूल है यह बात शास्त्र और लोक दोनों दृष्टियोंसे सत्य सिद्ध होती है। अतः विश्वपोषक जगत्–जननी अन्नपूर्णा ही प्राणियोंका आश्रय और सब कामनाओंके सिद्ध करनेमें समर्थ है ।

उन अन्नोंमें माताका दूध ही सर्वश्रेष्ठ, बालकोंका प्रथम जीवन है। रोग वियोग आदि अवस्थाओंमें पशुओंका दूध ही काम आता है । माता तो अपने बालकोंकी ही जननी है, परन्तु पशु सबकी जननी हैं । पशुओंमें भी गायका दूध पुष्टि-बल आरोग्यादिका दाता होनेसे सर्वश्रेष्ठ है वाग्भटके अष्टाङ्ग हृदयमें ' प्रायः पयोऽत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् । ' अर्थात् गायका दूध प्रायः जीवनदाता और रसायन है । ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार गोमूत्र और गोबर आदिसे खेतमें शुद्धि और शरीरमें भी सारे दोषोंकी निवृत्ति और शुद्धिकी क्रियासे विशेष संस्कार प्राप्त होता है। सब प्राणियों, विशेषतः मनुष्योंके सुख और जीवनकी रक्षामें गौ माता मुख्य आधार है । ' हे गौओं ! बढो, तुम देवोंका भाग हो, ऊर्ज वाली, पयवाली, प्रजावाली, रोगरहित और क्षय रहित होकर वृद्धि

' यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् ॥
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ।
कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा ॥ यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन ।
स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवति ॥ ' इति (बृ० उ० १।५।१)

अत्र- ' एकमस्य साधारणं ' इति सर्वसाधारणं धान्यादिकमन्नं निर्दिष्टम् । 'पशुभ्य एकं प्रायच्छत्' इति च दुग्धनिर्देशः। अनयोरुभयविधयोरेवान्नयोः सर्वाण्यपि अन्नान्यन्तर्भूतानि । यद्यपि ' पशुभ्य एकं ' इत्यनेन पशुसामान्यशब्देन सर्वेषां पशूनां दुग्धं ग्रहीतुं शक्यं, तथापि गवां दुग्धमेव प्राधान्येनोद्दिष्टमिति उत्तरत्र व्याख्यानादवगम्यते । ' पशुभ्य एकं प्राय-च्छदिति तत्पयः, पयोह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति, ' इत्यादि सामान्यतो निर्देशः ' तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद् यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयति ' इति (बृ० उ० १।५।१)

अत्र जीवनस्य पशुसामान्यदुग्धे उपयुक्तेऽपि नित्याग्निहोत्रादौ गोदुग्धमेवोपयुक्तम् ' पयसा नित्यहोमः ' इति विधाने गोदुग्धमेवोद्दिष्टम् ' ' यस्याग्निहोत्रस्य गौरुपावसृष्टा वास्येत० दुह्यमानोपविशेत् तामभिमृश्य जपेत् ' यस्माद् भीषा निषीदसि ' इत्यत्र अग्निहोत्रार्थे दुग्धदोहने गोरेव निर्देशात् (ऐ०ब्रा० ५ पं० प्रायश्चित्तप्र०)। एवं विश्वसञ्जीवनकारणभूतं धान्यदुग्धादिरूपमन्नं यज्ञार्थं यज्ञश्च अन्नार्थकः इति वैदिकं तत्वम् । अत एव विश्वजीवन यज्ञमन्तरा केवलं स्वोदरपोषणा-र्थवान्नोपयोगः शास्त्रनिषिद्धः ।

" मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ " इति । (ऋ० १०।११७।६)
" तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः । अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ॥ इति च

को प्राप्त हो ' इत्यादि यजुर्वेदमें भी कहा गया है । उपनिषदोंमें भी धान्य और दुग्धादि अन्नकी महत्ता सुनी जाती है- ' प्रजापतिने मेधा और तपसे जो सात अन्न उत्पन्न किये उनमेंसे एक सर्व साधारण, सबके खाने योग्य कर दिया । दो देवोंको दिया, तीन अपने लिये रखा, एक पशुओंमें भर दिया । प्राणयुक्त निष्प्राण सारा जगत् उसमें ही है । ये अन्न सदा खाये जाते हैं तो भी कम क्यों नहीं होते ! ' जो अक्षिति (पुरुष) को जानता है वह प्रतीकसे (मुखसे) अन्न खाता है । वह देवोंके पास जाता है ऊर्ज् (अन्न या रस) से जीता है । ' (बृ. उ. १।५।१)

यहाँ साधारण अन्न से, अन्न जिसे सब लोग खाते हैं, उसकी ओर संकेत है । पशुओंके लिये जो अन्न दिया; वह दूध है । इन दोनों में ही सारे अन्न अन्तर्भूत हो जाते हैं । यद्यपि पशु शब्द से पशु-सामान्यका ग्रहण सम्भव है तथापि आगे चलकर गौ के दूधका ही निर्णय मिलता है । ' पशुओंके लिये एक अन्न दिया वह दूध है, मनुष्य पशु उसी से ही जीते हैं ' यहाँ सामान्य निर्देश है और यहाँ भी ' ऐसा कहते हैं । एक वर्ष तक दूधसे यज्ञ किया और मृत्यु को जीत लिया, मनुष्य ऐसा न समझे कि जिस दिन यज्ञ करेगा, उसी दिन मृत्यु को जीत लेगा ' (बृ. उ. १।५।१) दूधका सामान्य ही निर्देश है । परन्तु अग्निहोत्र में ' दूध से सदा हवन करे ' ऐसे विधान में गाय का दूध ही उपयोगी है । ' जिसके अग्निहोत्रकी गाय छूट कर बोले अथवा दुहने के समय बैठ जाय वह उसको स्पर्श कर ' यस्माद् भीषा निषीदसि ' यह मंत्र जपे । यह ऐतरेय ब्रा. पं. ५ के प्रायश्चित्त प्रकरणका वाक्य है । यहाँ अग्निहोत्र में गाय के दोहनका ही वर्णन है । इस प्रकार विश्वपोषक धान्य-दुग्धादि रूप अन्न यज्ञ के लिये और यज्ञ अन्नके लिये है यही वैदिक सिद्धान्त है । अतः विश्वपोषक यज्ञ के अनुष्ठान विना केवल पेट भरने के लिये अन्न का उपयोग शास्त्रनिषिद्ध है ।

ऋग्वेद १०।११७।६ में कहा है ' वह अज्ञानी पुरुष व्यर्थ ही अन्न पाता है, मैं सच कहता हूँ वह अन्न पा लेना उसके लिए हत्या के तुल्य है; जो न मित्रको और न अर्यमाको पुष्ट करता है वह सिर्फ अपने लिएही पकाकर अकेला खानेवाला निरा पाप मूर्ति बन बैठता है ' और स्मृतिका भी कथन है ' जो कोई देवोंके दिये हुए अन्न पदार्थोंको विना दूसरोंको दिये स्वयं ही खाले वह चोरही है तथा जो अपने लिए अन्न पकावे यह सिर्फ पापको खा जाता है । ' इस से यही सिद्ध हुआ कि अन्नसे यज्ञ संपन्न होता है, यज्ञके द्वाराही अन्न संपदाकी वृद्धि हो जाती है और इस भाँति दोनोंके सहयोगसे

स्मृतिः । एतेन अन्नेन यज्ञसिद्धिः, यज्ञमुखेनैवान्नसम्पत्तिः, तदेतदुभययोगेनैव प्राणसञ्जीवनात् विश्वप्रतिष्ठेति सिध्यति।

" यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः । अन्नाद्भवन्ति भूतानि० " इति । (गीता ३।१४)

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (इति च मनुः)

एवं श्रुत्यादिवचनानां क्रोडीकरणेन शास्त्रदृशा तदर्थविमर्शेन च अन्नस्य विश्वसञ्जीवनैककारणत्वात्, तादृशान्नसम्पदभ्युदये विश्वदेवयज्ञस्यैव प्रधानसाधनत्वेन निश्चयाच्च, तादृशविश्वयज्ञमुखेन यज्ञरूपस्य परमपुरुषस्य प्रसादाद्, अन्नसम्पत्त्या विश्वसञ्जीवनार्थं प्रवृत्तोऽयं यजुर्वेदो, यज्ञप्रधानः, इत्युन्नीयते । तदेतत् " इषे त्वा " इति अन्नदेवतोद्देशकयजनमुखेनारम्भादेव सिध्यति ।

तदेतत् सर्वमपि एतत्प्रथमानुवाकार्थविमर्शनात् स्पष्टं भवति । ' इषे त्वोर्जे त्वा० श्रेष्ठतमाय कर्मणे० आप्यायध्वमघ्न्या देवभागम् । ' (इन्द्राय भागम्) ' ऊर्जस्वतीः पयस्वतीः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्माः० । ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात० यजमानस्य पशून् पाहि । ' इति यजुर्भिः एतदर्थमेवान्नमुद्दिश्य अन्नपतिं प्रार्थयन्ते पूर्वं ऋषयो मन्त्रमुखेन ।

' अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ इति (तै० ४।२।३।१; वा० य० ११।८३)

अत एव विश्वसञ्जीवनाय यज्ञाय धान्यगोदुग्धादि जीवनीयान्नात्मकप्रधानसम्पदभ्युदयार्थं सर्वदा सर्वत्रापि समानं एकरूपेण प्रतिष्ठितं सर्वेषामपि स्वतन्त्रसञ्जीवनोपायभूतं स्वानुष्ठितं कृषिगोसेवादिकं लौकिकं साधनमपि ऋषयो मन्त्रमुखेनोपदिशन्ति।

' अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ ' इति (ऋ० १०।३४।१३)
' दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान् ' ' अनड्वाँश्च मे धेनुश्च म आयुर्यज्ञेन कल्पताम् । ' इत्यादि

ही प्राणधारणा होनेसे अखिल विश्वकी प्रतिष्ठा है । गीताके तृतीय अध्यायके चतुर्थ श्लोकमें कहा है " यज्ञसे पर्जन्यकी उत्पत्ति होती है, मेघसे अन्न पैदा होता हैं और अन्न से प्राणिमात्र जीवित रहते हैं । " मनुमहाराज कहते हैं " अग्नि में डाली हुई आहुति ठीक तरह सूर्यमंडलको पहुँचती है और सूर्य से वर्षा होती है, वारिशसे अन्न उत्पन्न होता है, पश्चात् प्रजाओं का धारण होता है । " इस भाँतिके श्रुति वचनोंको इकट्ठा करने से और शास्त्रीय दृष्टिसे उसके अर्थपर सोचने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अन्नही विश्वके संजीवनका मौलिक एक कारण है, इसीलिए उसभाँतिके अन्नकी वृद्धि करनेमें विश्वदेव यज्ञही प्रधानसाधन है सो निश्चित हो चुका, अतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि वैसे विश्वयज्ञके द्वारा यज्ञरूप परमात्मा को प्रसन्न करके, अन्नकी वृद्धिद्वारा विश्वके जीवनको जारी रखनेके लिए जो यह यजुर्वेद अस्तित्वमें आया है वह यज्ञप्रधान है । यह तो, ' इषे त्वा ' इस तरह अन्न देवता को लक्ष्यमें रखकर यजन के शुरु करनेसे प्रथम ही निर्धारित होता है ।

यह सभी इसके प्रथम अनुवाक के अर्थचिन्तनसे स्पष्ट हो जाता है । इसीकारण "इषे...पाहि ।" इन यजुर्मन्त्रों से अन्नको लक्ष्य में रखकर पूर्वकालीन ऋषि मन्त्रद्वारा अन्नके स्वामिसे प्रार्थना कर लेते हैं जैसे, वाजसनेयी संहिताके ११।८३ में और तै. ४।२।३।१ में " हे अन्न के स्वामिन् ! हमें निरोगी एवं बलयुक्त अन्न दे डाल, खूब अन्नदान करनेवाले की वृद्धि कर दे तथा हमारे चौपायों एवं मानवों में ऊर्जस्विता रख दे । "

इसी कारण, विश्वके संजीवनके लिए तथा यज्ञके लिए भी अनाज, गायका दूध वगैरह जीवनोपयोगी अन्नसे युक्त वैभवकी प्रथम वृद्धि हो जाय अतः हमेशा सभी जगह बराबर एकही स्वरूप में उपलब्ध और सबके लिए स्वतंत्रतापूर्वक निर्वाहका साधन बने हुए तथा स्वयं निष्पन्न किये जानेवाले कृषिकर्म, खेतीबारी गोपालन जैसे लौकिक मार्गका भी उपदेश ऋषि लोग, मंत्रमें दे डालते हैं जैसे, ऋ० १०।३४।१३ में ' द्यूतक्रीडा न कर, खेती जरुर कर, संतुष्ट होकर स्वार्जित धनसे रममाण हो जा; देखो, ऐसा करनेसे गोधन मिलता है तथा सुगृहिणी मिल जाती हैः यह मतिशील सविता मुझको यही बतलाता है । ' वैसेही ' दूध देनेवाली गाय, बोझ ढोनेवाला बैल, मुझको बैल और गाय मिल जाय, यज्ञसे आयुष्य बढ जाय ' वगैरह वाक्य हैं ।

(क्रमशः)

[प्रकरण ७]

विचार और विस्तार।

अभीतक ईश्वरके स्वरूपका तथा उसके अस्तित्व विषयक प्रमाणोंका विचार हुआ। अब नीतिशास्त्रके शेष प्रथम भागमें ईश्वरका जगतसे संबंध इस रूपसे विचार होगा। अभीतककी चर्चाका उपसंहार स्पिनोझा १४ वें विधानमें इस निष्कर्षपर पहुंचकर करता है कि "ईश्वरके सिवा अन्य मूल तत्व न तो विचारमेंही आ सकता है और न स्वीकार ही किया जा सकता है।" यह मूल तत्व या ईश्वर विश्वका एकमात्र कारण है, विश्वकी यावत् वस्तुएं ईश्वरमें ही हैं। इसलिये "यह बिलकुल स्पष्ट है कि ईश्वर एक है या संसारमें मूल तत्व सिर्फ एक ही है और यह मूल तत्व नितांत निरपेक्ष अनंत है।" × इसलिये परिच्छिन्न मानव बुद्धि इसके स्वरूपका पूरी तरहसे आकलन नहीं कर सकती। + इसके पूर्ण स्वरूपका या अनंत गुणोंका आकलन तो इसकी स्वयंकी अनंत ज्ञान शक्ति ही कर सकती है। मनुष्यकी मर्यादित बुद्धि इन अनंत गुणोंमेंसे सिर्फ दो का ही आकलन कर सकती है और वे दो गुण हैं विचार और विस्तार (Thought and extension) विचार रूप वस्तु या विस्ताररूप वस्तु ईश्वरके गुण परिणाम हैं ! " *गुण-परिणामसे मतलब प्रकारोंसे है।

अब स्पिनोझाके अनुसार विश्व रचनाकी रूपरेखा इस प्रकारकी होगी। सबके आदिमें मूल तत्व या ईश्वर है। यह ईश्वर अनंत गुणोंसे युक्त है। इनमेंसे सिर्फ दो—विचार और विस्तार—हमें ज्ञात हैं। ये दो गुण अनेक प्रकारोंमें परिणमित होते हैं। यथा- (अ) अव्यवहित अनंत प्रकार (Immediate infinite modes); (ब) व्यवहित अनंत प्रकार (Mediate infinite modes) और परिच्छिन्न प्रकार (Finite modes)। विस्तारके अव्यवहित अनंत प्रकार गति और स्थिति हैं; विचारका अव्यवहित अनंत प्रकार अनंत बुद्धि तत्व है। व्यवहित अनंत प्रकार समस्त जगतातिल (The face of the whole universe) है। परिच्छिन्न प्रकारोंमें समस्त विशिष्ट वस्तुओंका समावेश होता है। मूल तत्व तथा गुण विश्वकी सक्रिय सृजनशील शक्ति है (Natura Naturaus) और गुणोंकी परिणमित समस्त प्रकारात्मक रचना प्रणाली विश्वकी सृजित शक्ति है (Natura Naturata)। प्रथम शक्तिमें ईश्वर कारणतया प्रकट होता है। दूसरीमें कार्यतया।

उपर्युक्त रचना प्रणालीमें प्रयुक्त शब्द परंपरागत दर्शनके रूढ शब्द ही हैं और उसमेंकी बहुतसी बातें मध्ययुगीन दर्शन की आलोचना द्वारा उसका परिष्कृत रूप है। स्पिनोझाका मुख्य आक्षेप यह है कि यदि ईश्वर शुद्ध सत्ता है तो ईश्वर और विश्व इन दोनोंके अंतर्वर्ती किसी भी वस्तु या वस्तुओंकी कल्पनासे कार्य कारण भावके नियमानुसार चेतनसे जडकी उत्पत्ति की सम्यक् उपपत्ति नहीं लगती। इस कठिनाईका हल स्पिनोझाने साहसपूर्ण कदम उठाकर किया; उसने विचार और विस्तारको ईश्वरके गुण मान लिये। अपने एक पत्रमें (नं ६) स्पिनोझा लिखता है।

"And on the other hand, things which they (the theologians) on account of their prejudices, regard as created, I contend to be attributes of God, and as misunderstood by them."

विस्तारको ईश्वरका गुण माननेका फल यह हुआ कि ईश्वरही विस्तार रूपसे जगतमें परिणत हुआ है। इसलिये शुद्ध ईश्वर और जड जगत्के बीचमें जो अनुल्लंघनीय खाई निर्माण हुई थी वह मिट गई। स्पिनोझाके पहिलेभी ईश्वर और जगत्के बीचमें विरोधकी यह खाई क्रमशः कम होती जा रही थी। पुनर्जाग्रति कालके दर्शनमें विशेषकर ब्रूनोमें तो यह नगण्य सी हो गई थी। परंतु इस प्रवृत्तिका पूर्ण परिपाक स्पिनोझामें जैसा है वैसा सुस्पष्ट अन्यत्र नहीं। 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' होनेसे विश्वसे बाह्य स्रष्टा ईश्वर और उसके स्वरूपसे विरोधी

× नी. शा. भा. १. वि. १४, उ. सि. १

+ तु. " यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तानुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः। रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्, कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥ —श्रीमद्भागवत ११-५-२

* नी. शा. भा. १, वि. १४. उ. सि. २

सृजित जगत् के भेदको कोई स्थान न रहा। परंतु स्पिनोझाने इस बातको पूरी तरहसे स्पष्ट करनेकी खबरदारी ली है कि यद्यपि विस्तार ईश्वरका गुण है तथापि इसके कारण ईश्वर स्वयं सशरीरी या जड नहीं हो जाता। ईश्वरको सशरीरी मानना प्राकृत जनोंकी अज्ञानयुक्त कल्पनाका फल है, कारण वे ईश्वर को भी मनुष्यकी तरह शरीर तथा गुणादिसे युक्त देखनेके अभ्यस्त हैं। हमारी मर्यादित दृष्टिमें नामरूपात्मक जगत्ही आता है, अतएव हमारे सम्मुख इस प्रकारकी शंकाएं उपस्थित होती रहती हैं। परंतु तृतीय प्रकारके ज्ञानमें तत्वदृष्टिके प्राप्त होनेपर इन शंकाओंको कोई स्थान न रहेगा, कारण तत्व दृष्टिमें सिवा ईश्वरके कुछ है ही नहीं। परिच्छिन्न बुद्धि अपनी मर्यादामेंही सब बातोंका आकलन कर सकती है। अतएव अपरिच्छिन्न स्वरूपका आकलन करनेके लिये इसे अपनी मर्यादाओं से ऊपर उठना पडेगा। तात्पर्य यह कि एक दृष्टिसे ईश्वर विचार है तो दूसरी दृष्टिसे वही ईश्वर विस्तार है। विस्तृत जगत् ईश्वरसे पृथक् या विरोधी तत्व नहीं। साकल्यके विचारसे ईश्वर ही ईश्वर है। ईश्वर सबमें है और सब ईश्वरमें है। ईश्वरके कारण सबको अर्थवत्ता है, ईश्वरके अभावमें कुछ भी नहीं।

ईश्वर अनंत परिपूर्णतासे युक्त है, अपनी इस अनंत परिपूर्णतामें हम ईश्वरको नहीं जानते, परंतु उसका ज्ञात अंश भी हमें उन गुणोंके द्वारा ज्ञात है जो स्वयं मूल तत्व नहीं परंतु जिन्हें बुद्धि मूल तत्त्वके 'इव' समझती है। परंतु फिर भी प्रकृतिके द्वारा हम ईश स्वरूपका मर्यादित ही क्यों न हो परंतु निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये ईश्वरका स्वरूप समझनेके लिये भौतिक जगत्का स्वरूप जान लेना जरूरी है।

एरिस्टॉटल तथा मध्ययुगमें शुद्ध विचारके रूपमें ईश्वर सक्रिय तत्व (Active Principle) समझा जाता था। विचार माने ही विचारकी क्रिया समझी जाती थी। परंतु इन के तथा इनके साथही डेकार्टके मतसे भी विस्तार या जड द्रव्य हमेशा निष्क्रिय ही है। उसको बाह्य कारण द्वारा गति मिलती है। गतिका यह आदि कारण स्वयं अचल आदि चालक जड द्रव्य से विलक्षण ईश्वरही है। स्पिनोझा जहांतक ईश्वरकी सक्रिय विचार शक्तिसे संबंध है, इन दार्शनिकोंसे सहमत है। परंतु जड द्रव्यकी निष्क्रियता उसे मंजूर नहीं। इसी बातको लेकर उसने डेकार्टकी एक पत्रमें आलोचना की है। स्पिनोझा के मतमें जैसे विचार ईश्वरका एक गुण है वैसे ही विस्तार भी है। अतएव वह निष्क्रिय न होकर विचारकी तरह सक्रिय ही है। उसकी सक्रियता विचारकी सक्रियतासे यत्किंचित् भी कम नहीं। जिस प्रकार विचारकी क्रिया विचार है उसी प्रकार विस्तारकी क्रिया गति है। जिस प्रकार विचारकी शक्ति बाह्य कारणजन्य नहीं है, उसी प्रकार विस्तारकी गति भी बाह्य कारणजन्य नहीं है। वह तो उसके सहज स्वभावकी प्रेरणासेही गतिशील है। विचार और विस्तारके इन्हीं क्रियात्मक रूपोंको स्पिनोझाने 'अव्यवहित अनंत प्रकार' (Immediate Infinite Modes) यह संज्ञा दी है।

विचारके अव्यवहित अनंत प्रकारका स्पिनोझाने 'ईश्वरीय विचार' (idea Dei), निरपेक्ष अनंत बुद्धि, विचारकी अनंतशक्ति, इत्यादि नामोंसे निर्देश किया है। स्पिनोझा एरिस्टॉटल और यहूदी दार्शनिक मेमोनाइडीजके साथ इस बातमें सहमत है कि ईश्वरमें विचारका कर्तृत्व, विचारकी क्रिया और विचारका विषय अभिन्न और एकरूप है। × कुछ विद्वानोंने 'ईश्वरीय विचार' को विचारका व्यवहित अनंत प्रकार माना है कारण उनके मतसे 'समस्त जगतीतल' (the face of the whole universe) विस्तारका व्यवहित अनंत प्रकार है। परंतु प्रो. वॉल्फसनका मत है कि प्रकार-प्रणालीको अधिक सम्मिताकार (Symmetrical) बनानेकी कृत्रिम आवश्यकता ही इस पक्षका एकमात्र समर्थन है। स्पिनोझाके ग्रंथोंमें इस बातके लिये कोई आधार नहीं, इतना ही नहीं, इस बातके विरुद्ध प्रमाण विपुल हैं।

विस्तारके अव्यवहित अनंत प्रकारका स्पिनोझाने दो तरहसे उल्लेख किया है (१) गति (२) गति और स्थिति (Motion and rest)। एरिस्टॉटल और मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी तरह स्पिनोझा 'स्थिति' को गत्यभाव मात्र न मानकर शक्तिका स्वतंत्र भावात्मक रूप मानता है जो कभी गतिमें और कभी स्थितिमें अवस्थांतरित होती रहती है।

पाश्चात्यदर्शनेतिहासमें ईश्वरकी आद्य अव्यवहित कृतिको 'ईश्वर पुत्र' यह संज्ञाभी बीच बीचमें मिलती रही है। फिलो (Philo) ने तो इससे भी आगे बढकर अव्यवहित कृतिको

× Phil. of Spinoza by wolfson vol I. p. 240

ईश्वर पुत्र कहनेके बाद व्यवहित कृतिको ईश्वर पौत्र कहा है। × ईसाई धर्मशास्त्र में तो यह पुत्र अत्यंत सम्मानित हुआ है। इस परंपरा का अनुसरण करके स्पिनोझाभी गति और बुद्धि इन दोनों अनंत प्रकारोंको ईश्वरपुत्र, ईश्वरकी अव्यवहित कृति इत्यादि संज्ञाएं देता है।

स्पिनोझाके ईश्वरमें भौतिक अभौतिकका भेद न होनेपरभी ईश्वर भौतिक विश्वसे सर्वथा एकरूप नहीं है। वह उससे अतीत है। ईश्वरकी सकलता (Wholeness) अखंड एक रस है; परंतु विश्वके रूपमें परिवर्तित उसकी सृजित शक्तिकी सकलता (Wholeness) समाहृत स्वरूपकी (Aggregate whole) है इस दृष्टिसे सच्ची सकलता ईश्वरकी ही है। भौतिक विश्वकी समष्टि जो ईश्वरके गुणोंकी क्रियाओंका परिणाम है, ईश्वरका व्यवहित अनंत प्रकार है। व्यवहित कहनेसे अव्यवहित प्रकारोंसे उसकी व्यावृत्ति विवक्षित है। इस व्यवहित अनंत प्रकारको स्पिनोझा समस्त जगतीतल (the face of the whole universe) कहता है। इस समष्ट्यात्मक विश्वमें तत्तत्वस्तुएं अनंतरूपसे परिवर्तनशील हैं तथापि समष्टिका आकार और बाह्य रूप वैसा ही रहता है, क्योंकि विशिष्ट वस्तुओंमें गति और स्थितिके अनुपातमें व्यतिक्रम नहीं होने पाता। इस समष्टिमें व्यवस्थिति, अन्योन्याश्रय कारणशृंखला अबाधित क्रमसे दृग्गोचर होती है। यह प्राकृतिक रचनाक्रम जिस प्रकार ' विस्तार ' का, उसी प्रकार ' विचार ' का और ' विचार तथा विस्तार ' दोनोंका व्यवहित अनंत प्रकार कहा जा सकता है। अनंत प्रकारों और विशिष्ट वस्तुओंमें एक महत्वपूर्ण अंतर है। अनंत प्रकार शाश्वत और अविक्रिय हैं और सदैव उसी स्थितिमें रहते हैं; परंतु विशिष्ट वस्तुएं सादि और परिवर्तनशील हैं। परंतु ये अशाश्वत वस्तुएं भी उन अबाधित तथा आवश्यक विश्वव्यापी नियमों द्वारा नियंत्रित हैं जिनके प्रभावसे विश्वका कोई कोना अछूता नहीं। ये नियम अनंत प्रकारोंमें ही हैं। यद्यपि ये प्रकार स्वयं मूलतत्वके बिना गम्य नहीं, तथापि विशिष्ट वस्तुओंके लिये तो ये वही महत्व रखते हैं जो इसके लिये मूलतत्व रखता है। इनके बिना विशिष्ट वस्तुओंका आकलन नहीं हो सकता।

मध्ययुगीन दर्शनमें सत्ताके तीन भेद किये जाते थे। + (१) स्वरूपतः संभवनीय (२) स्वरूपतः संभवनीय परंतु स्वकारणसंबंधितया आवश्यक। (३) स्वरूपतः आवश्यक। प्रत्येक सकारण वस्तु प्रथम श्रेणीमें आती है; कारण उसका अस्तित्व या अस्तित्वभाव सर्वथा कारणपर अवलंबित होता है। समस्त विशिष्ट वस्तुएं इसी प्रकारकी हैं। द्वितीय प्रकारके उदाहरण समस्त ग्रहमंडल हैं जो स्वरूपतः संभवनीय होनेपर भी स्वकारणसंबंधितया आवश्यक हैं। (३) स्वरूपतः आवश्यक सत्ता एक मात्र ईश्वरकी है। स्पिनोझाने इसी सत्ता-त्रैविध्यका भिन्न शब्दोंमें अपने ग्रंथोंमें यत्र तत्र उपयोग किया है। विशिष्ट वस्तुएं अस्थिर, क्षणभंगुर या स्वरूपतः संभवनीय हैं। अनंत प्रकार स्वरूपतः संभवनीय या अशाश्वत होनेपरभी स्वकारणसंबंधितया संभवनीय या अशाश्वत नहीं हैं। ईश्वर स्वरूपतः आवश्यक सत्तावान है।

परंतु दो बातोंमें स्पिनोझाका मध्ययुगीन दार्शनिकोंसे मूलतः विरोध है और इस विरोधकी ओर वह बारबार ध्यान आकर्षित करता है। पहिली बात है ईश्वरकी ऐच्छिक कारणताके विरुद्ध आवश्यक कारणता और दूसरी बात है ईश्वरकी अभौतिकताका निषेध, यह अंतर ईश्वरकी सृजनशील शक्ति तथा सृजित शक्ति (Natura Naturaus and Natura Naturata) के वर्णनमेंभी स्पष्ट लक्षित होता है। मध्ययुगीन दर्शनके इन शब्दोंको तो स्पिनोझाने ग्रहण कर लिया परंतु इनका अर्थ आमूलाग्र बदल दिया। मध्ययुगीन दार्शनिकोंका ईश्वर जगत्का कारण है और जगत् उसका कार्य है। ईश्वरकी यह कारणता बुद्धि पुरस्सर है जो उद्देश और योजना लिये हुए है। ईश्वर अभौतिक तत्व है और जगत् उसका विरोधी भौतिक तत्व है। स्पिनोझाके अनुसार इस सृजनशील शक्ति (Natura Naturaus) में मूल तत्व तथा गुणोंका समावेश है और सृजित शक्ति (Natura Naturata) में परिच्छिन्न और अनंत दोनों प्रकारोंका अंतर्भाव होता है। यह जगत्कारण बुद्धि और हेतुपुरस्सर नहीं। यह तो एक ऐसा स्वतंत्र कारण है जो "अपने स्वभावकी आवश्यकताके अनुसारही क्रियाशील है।"* स्पिनोझाके मतसे यही सच्ची स्वतंत्रता भी है। "सृजित शक्ति (natura naturata) से मेरा अभिप्राय ईश्वरके स्वभावकी या ईश्वरके किसी एक गुणके स्वभावकी आवश्यकतासे

× Ibid p. 243 + Phil. of Spinoza by Wolfson vol. I. P. 252-53

* नी. शा. भा. १ प. ७ और वि. २९ स्व.

*

निकलने या प्राप्त होनेवाली प्रत्येक वस्तुसे है। "× स्पिनोझा जन्य वस्तुओंको मूलतत्व (Substance) नहीं कहता अतएव उसकी सृजनशील शक्तिकी परिभाषा वही है जो ईश्वरकी है। इसी प्रकार सृजित शक्ति और प्रकारकी परिभाषा एक ही है।

स्पिनोझा इस बातका साग्रह प्रतिपादन करता है कि ईश्वरके दो गुणोंका एक दूसरेके निरपेक्ष पृथकृतया आकलन किया जा सकता है। यह विधान मध्ययुगीन दार्शनिकोंके विरुद्ध प्रच्छन्न आक्षेप ही है, कारण वे आकार (Form) और जड प्रकृति (Matter) को परस्पर सापेक्ष मानते थे। इनके मतसे आकार या मूल स्वरूप शुद्ध सक्रिय जनक तत्व है। जड प्रकृति स्वयं अभावात्मक और निष्क्रिय है। इसको आकारद्वारा गति मिलती है। आकारका अस्तित्व प्रकृतिमें है और प्रकृतिको आकारके द्वारा अस्तित्व मिलता है।

"Form is said to exist in matter and matter is said to exist through form +

स्पिनोझा यह सब कुछ कतई नहीं मानता। स्पिनोझाके दर्शनमें आकार और जड प्रकृति (Form and matter) के समानार्थक शब्द विचार और विस्तार हैं। विचार और विस्तार दोनों एकही मूल तत्वके गुण हैं जिनकी मूल तत्वमें अनंत कालसे एकत्र स्थिति है। प्रत्येकका तुल्य अस्तित्व हैं। प्रत्येकके कार्यका स्वरूप स्वतंत्र है। विचारका कार्य विचारकी क्रिया है और विस्तारका कार्य गति और स्थिति है। विचार विस्तारमें किसी प्रकारकी गति उत्पन्न नहीं करता। गति विस्तारकी खुदकी क्रियाका फल है। विचार और विस्तार परस्पराश्रित नहीं हैं जिसके कारण एकको दूसरेके विना अर्थ प्राप्त न हो सके। मूल तत्व संबंधितया दोनों एक दूसरेके निरपेक्ष विचार विषय हो सकते हैं। विचारका अस्तित्व विस्तारमें उतनाही नहीं जितना कि विस्तारका अस्तित्व विचारके द्वारा नहीं। इसी आशयको प्रकट करते हुए स्पिनोझाने दसवें विधान (नी. शा. भा. १) के स्पष्टीकरणमें लिखा है कि " मूल तत्वका यही स्वभाव है कि उसका प्रत्येक गुण अपनेही द्वारा जाना जाता है क्योंकि मूलतत्वमें समस्त गुण सदासे एकत्र अवस्थित हैं, एक दूसरे के द्वारा जन्य नहीं, परंतु प्रत्येक मूल तत्वकी सत्यता या सत्ताकी अभिव्यक्ति करता है।"

परंतु एक दूसरेसे विविक्त होनेपर भी विचार और विस्तार के कारण मूल तत्वमें वह अनेकता नहीं आने पाती जो मध्ययुगीन दर्शनके आकार और प्रकृतिके कारण आती थी। इसका कारण यह है कि आकार और प्रकृतिको परस्पर विरोधी दो स्वतंत्र तत्व समझा गया था। परंतु स्पिनोझाके विचार और विस्तार दो स्वतंत्र तत्व न होकर दोनों एकही मूल तत्वके गुण हैं। दोनों मूल वस्तु 'तत्व' की बुद्धिसापेक्ष अभिव्यक्ति करते हैं। दोनोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं। दोनों मूल तत्वकी क्रिया शीलताके विभिन्न अंगों (अंग गौणार्थमें प्रयुक्त है) (aspects)की अभिव्यक्ति करते हैं जो वस्तुतः मूल तत्वमें एकही हैं। इसके परिणाम स्वरूप यद्यपि प्रत्येकका आकलन स्वतंत्र रूपसे होता है तथापि ये दो तत्व नहीं हो जाते या इनकी सत्ता पृथक् नहीं हो जाती। उनकी एक दूसरेसे स्वतंत्रतापर जोर देनेका आशय उनके परस्परावलंबित्वका निषेध करनेमें ही है, वह स्वतंत्रता प्रदान करनेमें नहीं जो मूल तत्व से पृथक् भी सत्यता प्राप्त करे, या परस्परके भेदको ही स्वतंत्र सत्ता देनेमें पर्यवसित हो जिसका अंततोगत्वा फल यह हो कि मूलतत्वकी एकता ही न रहे। गुणोंके एक दूसरेसे संबंध उसी कोटिके हैं जिस कोटिके उनके मूल तत्वसे संबंध। जिस प्रकार गुण और मूल तत्वमेंका भेद मानव मनकी कल्पना मात्र है, उसी प्रकार गुणोंका भेद भी मनः कल्पित ही है। ❀ कारण, "मूल तत्वका स्वरूप यह है कि उसका प्रत्येक गुण अपने ही द्वारा विचार विषय होता है। ठीक इसी अर्थमें दो गुण एक दूसरेसे पृथक्, एक दूसरेसे निरपेक्ष विचार विषय हो सकते हैं। " §

यद्यपि ' विस्तार ' ईश्वरका एक गुण है तथापि इसकी वजहसे ईश्वरमें, जैसा कि इस प्रकरणके प्रारंभमें कहा जा चुका है, प्राकृत जनोंकी ईश्वरविषयक मानव गुणारोपण युक्त कल्पनाकी तरह किसी भी तरहकी सदेहता या जडता अभिप्रेत नहीं। स्पिनोझा ऐसे मतकी ओर उपेक्षा भरी दृष्टिसे देखता है। "कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर भी मनुष्यकी तरह शरीर

× वही-वि. २९ स्व. प. ४,५. + Phil. of Spinoza by Wolfson vol I. p. 256

❀ Ibid p. 258 § नी. शा. भा. १ लि, १० स्व.

और मनसे युक्त है और उसमें मनोविकार (Passions) भी हैं। ये लोग सत्यसे कितनी दूर भटक गये हैं यह तो स्पष्ट ही है, परंतु मेरे पास उनके लिये सिर्फ उपेक्षा ही है कारण कि वे सब लोग जिनने दैवी स्वरूपकी ओर कुछ भी ध्यान दिया है, ईश्वरकी सदेहताका निषेध करते हैं। सदेहता परिच्छिन्नता है और नितांत निरपेक्ष ईश्वरमें इसका आरोप करना अविचारकी पराकाष्ठा है। " स्पिनोझा अपनी इस आलोचनामें मध्ययुगीन दार्शनिकोंसे एक मत है; परंतु जब वे 'विस्तार' को ईश्वरसे सर्वथा बहिर्भूत या विरोधी मानकर उसे ईश्वरद्वारा सृजित मानते हैं तब स्पिनोझाका उन से मूलतः विरोध होने लगता है क्योंकि उसके मतानुसार 'विस्तार' ईश्वरके अनंत गुणोंमेंसे एक है।

विस्तारकी अनंतताके विरुद्ध आक्षेप और उनका खंडन

१५ वें विधानके स्पष्टीकरणमें स्पिनोझा अपने विरोधियों द्वारा विस्तारको ईश्वरका गुण माननेके विरुद्ध दी हुई आपत्तियाँ उपस्थापित करके फिर उनका खंडन करता है। इन आक्षेपोंका सामान्य स्वरूप यह है कि विस्तारका स्वरूप ईश्वरके निष्कल और अनंत स्वरूपसे विसंगत तथा विरुद्ध है, कारण विस्तार या मूर्त द्रव्य सावयव और विभाज्य होनेसे अनंत नहीं। इस आक्षेपके परिहारका सामान्य स्वरूप यह है कि विस्तार का सावयव और विभाज्य होना जरूरी नहीं है, कारण ईश्वरीय गुण रूपसे विस्तार भी निरवयव, निष्कल तथा अविभाज्य ही है, यद्यपि विस्तारके परिणाम या प्रकार उपर्युक्त दोषोंसे युक्त हो सकते हैं। अतएव शुद्ध गुण रूपमें विस्तार विचारकी तरह ही ईश्वरीय स्वरूपसे विरुद्ध तथा असंगत नहीं। सामान्य लोगोंकी इस भ्रांत धारणाकी उपपत्ति स्पिनोझा विवेक ज्ञान और ज्ञानाभास या कल्पना इन दोनोंमें भेद (जो सामान्यतः ख्याल में नहीं रखा जाता,) बतलाकर करता है। विवेक या यथार्थ ज्ञानका विषय अनंत अपरिच्छिन्न वस्तु होती है, यथा गुणरूपमें विस्तार; परंतु ज्ञानाभास या कल्पनाका विषय सांत परिच्छिन्न इ० वस्तुएं ही होती हैं, यथा प्रकार रूपमें विस्तार। ज्ञान और कल्पना, तथा गुण और प्रकारमें भेद न समझनेके कारणही आक्षेपक विस्तारको परिच्छिन्न मान बैठे हैं। अब हम आक्षेपोंको देखलें।

प्रथम आक्षेप यह है कि यदि विस्तार अनंत है तो कल्पना कीजिये कि उसे दो भागोंमें विभाजित किया गया। ये दो भाग सांत होंगे या अनंत। दोनों तरहसे दोषापत्ति है, कारण, प्रथम पक्ष स्वीकार करनेसे यह मानना पडेगा कि अनंततत्व दो सांत भागोंसे बना हुआ है, परंतु यह तो अयुक्त है। द्वितीय पक्षमें एक अनंत को दूसरे अनंत से दुगना बडा मानना पडेगा परंतु यह तो और भी असंगत है।

द्वितीय आक्षेप यह है कि यदि एक अनंत रेषा फुटकी लंबाई में नापी जाय, तो वह ऐसे अनंत हिस्सोंसे युक्त होगी। वही रेषा इंचकी लंबाई द्वारा नापी जानेसे उतने ही अनंत हिस्सोंसे युक्त होगी। इसका अर्थ यह होगा कि प्रथम अनंत द्वितीय अनंत से बारह गुना ज्यादा बडा है।

तृतीय आक्षेप– मान लीजिये कि एक ही बिंदुसे दो रेषाएं खींची गईं। पहिले तो ये एक दूसरीसे निश्चित दूरीपर होंगी। परंतु यदि उनका अनंत विस्तार किया जाय तों यह निश्चित है कि यह निश्चित अंतर बढता ही जायगा और अंततोगत्वा निश्चिततासे अनिर्वाच्य ही हो जायगा। चूंकि परिमाण (Quantity)को अनंत माननेसे ये सब अनिष्ट परिणाम होते हैं इसलिये यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि विस्तारको सांत ही मानना चाहिये। सांत माननेसे वह ईश्वरका गुण न हो सकेगा। एक और आपत्ति यह है कि ईश्वर परिपूर्ण होनेसे वह निष्क्रिय (Passive) नहीं हो सकता, परंतु विस्तार चूंकि वह विभजनीय है निष्क्रिय है। इससे यह सिद्ध होता है कि विस्तार ईश्वरका गुण होनेके सर्वथा अयोग्य है।

स्पिनोझा इन आक्षेपोंका समाधान इस प्रकार करता है:- " सावधान पाठक समझ ही गए होंगे कि इन विधानों (आक्षेपों) का उत्तर मैंने पहिले ही दे दिया है कारण उपर्युक्त सब दलीलें इस धारणा पर स्थित हैं कि विस्तार सावयव है और इस धारणाका अनौचित्य मैं पहिलेही बतला चुका हूं। [वि० १२. में गुणोंके रहते हुए भी मूलतत्वकी अखंडता प्रस्थापित की गई है। १३ वें विधानके उपसिद्धांतमें मूलतत्वको स्वरूपतः अविभाज्य ही बतलाया गया है] इसके अतिरिक्त कोई भी विचारशील पुरुष यह देख सकते हैं कि उपर्युक्त अनिष्ट परिणाम, जिनके द्वारा विस्तारकी सांतता प्रस्थापित की जाती है, परिमाण (Quantity) को अनंत मानने मात्रसे न निकल कर अनंत परिमाण को मापनके योग्य और अंशघटित माननेसे ही निकलते हैं। इसलिये न्याय्य निष्कर्ष तो यही निकलता

है कि अनंत परिमाण मापनीय और परिच्छिन्न अंशघटित नहीं। वि० १२ में ठीक यही तो सिद्ध किया है। इसलिये उनके (प्रतिपक्षियोंके) द्वारा प्रयुक्त शस्त्र लौटकर उन्हींपर वार करते हैं।... ये लोग वस्तुतः अनंत, एक और अविभाज्य विस्तारको, सांत सिद्ध करनेके लिये विविक्त अंशघटित और विभजनीय मानते हैं...परंतु इस प्रकारका कथन अनर्गल प्रलाप मात्र है। यह प्रयत्न उतनाही हास्यास्द है जितना कि अनेक वृत्तोंके योग या एकत्रीकरणसे चतुष्कोण, त्रिकोण या इसी प्रकारकी भिन्न कोई आकृति बनानेका यत्न करना "×

प्रथम आक्षेपका समाधान स्पष्ट शब्दोंमें यह है कि आक्षेपक विस्तारके शुद्ध रूपमें और विस्तारके प्रकारोंमें अर्थात् अमूर्त और मूर्त विस्तारमें कोई भेद नहीं करते, इसीलिये उपर्युक्त आपत्तियां आती हैं। भारतीय दर्शनकी परिचित भाषामें हम इसी बातको इस प्रकार कहते हैं- जिस प्रकार आकाश एक निरवयव और अखंड तथा अविभाज्य है परंतु उपाधितया आकाशके घटाकाश, मठाकाश इत्यादि अनेक स्वरूप प्राप्त होते हैं और वे सांत और परिच्छिन्न होते हैं, परंतु फिरभी महाकाश एक अनंत और अविभाज्य ही रहता है। उसी प्रकार गुण रूपमें विस्तार हमेशा शुद्ध, एक, अनंत और अविभाज्य ही है। परंतु प्रकारोंमें परिणमित विस्तार विभाज्य, सांत और परिच्छिन्न है। अतएव गुण परिणामोंके दोष शुद्धगुण (विस्तार) पर आरोपित करना सर्वथा अनुचित है।

द्वितीय आक्षेप और उसका समाधान हम यहूदी अरबी दर्शन, ब्रूनो, डेकार्ट इ. में भी पाते हैं। ब्रूनोका समाधान यह है कि अनंतमें संख्या तथा मापन इ. को कोई स्थान नहीं। इस लिये अनंतका एक हिस्सा दूसरेसे बडा या छोटा कहना अर्थशून्य है। द्वितीय आक्षेपका समाधान स्पिनोझाने एक पत्रमें अच्छी तरहसे किया है जो डेकार्टके इसी आक्षेपके समाधानसे बहुत कुछ साम्य रखता है। इस समाधानमें स्पिनोझा अपने आक्षेपकोंके प्रति यह दोष लगाता है कि वे अनंत (infinite) और अनिश्चित (indefinite)के महत्व पूर्ण अंतरको भूल जाते हैं। अनंतमें तो स्वरूपतः ही किसी प्रकारकी मर्यादा नहीं है, परंतु अनिश्चित वह है जो स्वरूपतः तो अमर्याद नहीं, परंतु फिर भी जिसके अंशोंका हम निश्चित संख्या द्वारा निर्वचन नहीं कर सकते। स्पिनोझा कहता है कि यदि वे इस महत्वपूर्ण अंतरको ध्यानमें रखते तो "वे इस बातको बिना किसी उलझनके समझ लेते कि अनंत और अनिश्चित इस दोनोंमेंसे किसे छोटा और बडा कहा जा सकता है और कौन इस प्रकारकी कल्पनाओंका विषय नहीं होता।" + तृतीय आक्षेपका परिहार द्वितीय आक्षेपके समाधान द्वाराही हो जाता है। अर्थात् तृतीय आक्षेपमें कथित दोनों रेषाओंमेंका अंतर अनंत नहीं, अनिश्चित है। और इस आक्षेपके संबंधमें स्पिनोझाने अपने एक पत्रमें लिखा है कि यथार्थ ज्ञान या कल्पनामें अंतर न करनेके कारण ही ऐसा भ्रम हो जाता है।

अंतमें विस्तार निष्क्रिय है परंतु ईश्वर ऐसा नहीं, इस आपत्तिका मूलभी विस्तारकी विभाज्यतामें ही होनेसे पृथक् खंडनकी आवश्यकता नहीं। तथापि स्पिनोझाने इस चर्चाके उपसंहारमें यह कहा है कि मूल तत्व एकही है, वह अनंत और शाश्वत है और जो कुछ है सब उसीमें है इतना मान लेनेपर अमुक पदार्थ उसमें है, अमुक नहीं। यह प्रश्नही नहीं उठता। ऐसा कुछ भी नहीं जो ईश्वरके अयोग्य हो।

× नी. शा. भा. १ वि. १५ स्व.

+ पत्र १२ Quoted by Wolfson, Phil. of Spinoza vol I. P.291

[प्रकरण ८ वें.]

ईश्वरकी कारणताका स्वरूप

चौदहवें विधानमें स्पिनोझाने यह सिद्ध किया कि, मूल तत्व एकही है और वह ईश्वर है। अतएव जड प्रकृति या विस्तार स्वतंत्र तत्व न होकर मूल तत्वका गुण मात्र है। अब १५ वें विधानमें स्पिनोझा इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि विश्वमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो ईश्वरमें न हो। "जो भी कुछ है सब ईश्वरमें ही है; ईश्वरके बिना न तो किसीका अस्तित्व ही हो सकता है और न किसीकी कल्पना ही की जा सकती है।" इसी प्रकार स्पिनोझाने एक पत्रमें इसी आशयसे लिखा है कि, "पॉल (Paul) तथा अन्य प्राचीन दार्शनिकोंकी तरह मैं भी इस बातका प्रतिपादन करता हूं कि समस्त वस्तुओंकी स्थिति गति ईश्वरमें ही है।"× परंतु इसी पत्रमें इस सम्मति के साथही साथ स्पिनोझा अपना मतभेद भी व्यक्त किये बिना नहीं रहता, जिसकी सूचना उसने उसी पत्रमें "परंतु दूसरी तरहसे (Though in another way) इन शब्दों द्वारा दी है। इसका कारण यह है कि मध्ययुगीन दार्शनिक एक ओर तो सब वस्तुओंको ईश्वरमें बतलाते हैं परंतु साथही साथ प्रकृतिको ईश्वरमें माननेसे हिचकिचाते हैं। उनके मतसे ईश्वर स्वयं प्रकृति नहीं, प्रकृति ईश्वरसे (साक्षात्) उत्पन्न नहीं और ईश्वरमें नहीं। एरिस्टॉटलके मतसे तो वह ईश्वरकी सहवर्तिनी है; कुछ दार्शनिकोंके मतसे ईश्वरने उसकी उत्पत्ति अभावसे की है। अन्य दार्शनिकोंके मतसे निस्सरणके क्रमविकासमें वह किसी जगह प्रकट होती है। परंतु जो कुछ है सब ईश्वरसे है, ईश्वरमें ही है और सब ईश्वरही है यह कथन अक्षरशः सत्य तो स्पिनोझा सरीखे सर्वेश्वरवादीके मतमें ही अधिक सुसंबद्ध है। १५ वें विधानसे आगे नीतिशास्त्रके प्रथम भागके अंततक ईश्वरकी कारणताका ही विचार किया गया है जिसमें मध्ययुगीन दार्शनिकोंके ईश्वरीय कारणतासंबंधी मतोंका खंडन है। प्रस्तुत प्रकरणमें वि० १६।१८की युक्तियोंका विचार है।

एरिस्टॉटलने चार प्रकारके कारण बतलाए हैं (१) उपादान कारण (Material Cause) (२) आकाररूप कारण (Formal Cause), (३) निमित्त कारण (Efficient Cause), (४) उद्देशदर्शक या अंतिम कारण (Final Cause)। एक उदाहरणसे इनका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। एक मेज बनानेकी क्रियामें लकडीके तख्ते इ० उपादान कारण हैं। सुतार अपनी शक्ति-प्रयत्नादि सहित निमित्त कारण है। सुतारके मनमें टेबल बनानेकी विशिष्ट कल्पना या आकृति ही आकार रूप कारण है; और बनाई गई मेजका उपयोग उसका प्रयोजन या अंतिम कारण है। मध्ययुगीन दार्शनिकोंके मतसे ईश्वर अभौतिक होनेसे वह जगत्का उपादान कारण नहीं हो सकता। अतएव उसमें उपादान-कारणताको छोडकर शेष तीन कारणताएं पाई जाती हैं। स्पिनोझाके मतसे ईश्वरमें प्रयोजन या अंतिमको छोडकर शेष प्रथम तीन कारणताएं हैं। + जगत्का उपादान ईश्वर होनेसे वह प्रथम कारण है; परंतु ईश्वर में मनुष्य की तरह सहेतुक प्रवृत्तिका अभाव होनेसे वह अंतिम कारण नहीं कहा जा सकता। एरिस्टॉटल ने पहिले चार कारण बतलाकर बादमें आकाररूप कारणमें ही निमित्त और उद्देशदर्शक या अंतिम इन दो कारणोंका समावेश कर दिया; अतएव मुख्य दो ही कारण रह जाते हैं-- उपादान और आकाररूप कारण। स्पिनोझाने इससे भी आगे बढकर विस्तार या प्रकृति को ईश्वर का गुण मानकर आकार और प्रकृति (form and matter) के भेद को मिटा दिया। अतएव उसके मतमें एरिस्टॉटलकी द्विविध कारणता भी न रही। उसने सिर्फ निमित्त–कारण को प्रधानता दी। उसके मतसे यही ईश्वरकी सच्ची कारणता है। क्योंकि विचार और विस्तार इन दोनोंकी सक्रियताके द्वारा ही ईश्वर उपादान और आकाररूप कारण है। निमित्त कारणता ही सच्ची कारणता है, क्योंकि समस्त कारणताओंका उसमें अंन्तर्भाव हो जाता है। अपने "ईश्वर मनुष्य और उसका कल्याण" नामक ग्रंथके (Short treatise) एक पूरे प्रकरणमें स्पिनोझाने निमित्त कारणताके प्रचलित आठ प्रकार देकर ईश्वरकी कारणताका स्वरूप विशद किया है। इसमें नीतिशास्त्रके प्रथम भागके (१६-१८) वि० तक सात प्रकारोंका

×. Epistola 73 Quoted by Wolfson, Phil. of Spinoza vol. 1, P. 296

+. तु० वेदांत में ब्रह्म की आभिन्न निमित्त उपादानकारणता।

समावेश हो जाता है× ' और शेष एक, आठवेंका विचार २८ विधानके स्पष्टीकरण में किया गया है। ये सात प्रकार हैं– (१) व्यापक कारण (Universal cause) (२) निस्सरण (Emanative), सक्रिय (Active) या निमित्त कारण (Efficient cause) (३) प्रधान कारण (Essential cause) अर्थात् जो अपने स्वयंके द्वारा ही कारण हो। (४) आदिकारण (First, initial cause), (५) प्रमुख कारण (Principal cause), (६) स्वतंत्र कारण (Free cause), (७) अंतस्थ या अंतर्यामी कारण (Immanent cause), कारणताके ये सब प्रकार मध्ययुगीन दार्शनिक भी मानते थे, परंतु यहां पर भी स्पिनोझाका उनसे मतभेद है जो प्रत्येक प्रकारके कारणमें लक्षित होता है। इसका हम क्रमशः विचार करेंगे।

(१) व्यापक कारण

मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी दृष्टिसे ईश्वर शुद्ध सत्ता है; अतएव उससे शुद्ध वस्तुही उत्पन्न हो सकती है, और यह बुद्धितत्व है। इस उत्पत्ति-क्रममें प्रकृति कहीं दूर जाकर उत्पन्न होती है। इसलिये ईश्वर उसका साक्षात् कारण न होकर परंपरासे कारण है। परंतु स्पिनोझाकी दृष्टिसे इस अर्थमें ईश्वर व्यापक कारण न होकर विशिष्ट या मर्यादित अर्थमेंही कारण हो सकता है। व्यापक कारणमें ऐसी कोई मर्यादा नहीं। ठीक यही कारणता स्पिनोझाको विवक्षित है, क्योंकि स्पिनोझाका ईश्वर विचार तथा विस्तारके प्रकारोंका साक्षात् कारण है।

एक दूसरे अर्थमेंभी स्पिनोझाका ईश्वर अधिक व्यापक है। मध्ययुगीन दार्शनिकोंके मतसे ईश्वर उन अनंत वस्तुओंको जो उसके मनमें हैं और जिन्हें वह बना सकता है, सबको एक साथ नहीं बनाता। ईश्वर अनंत है, जगत् सांत है। परंतु स्पिनोझाके मतसे ईश्वरके अनंत गुणोंसे अनंत प्रकार उत्पन्न होते हैं, यद्यपि उनमेंसे हम केवल दो ही जानते हैं। इसलिये जगत्भी अनंत है। इसी दृष्टिसे स्पिनोझाने १६ वें विधानमें जगत्की सांतताका और जगत्को ईश्वरकी पूर्ण सत्ताकी अभिव्यक्ति न माननेका निषेध किया है; क्योंकि सांत होनेसे ईश्वर विशिष्ट कारण होगा, व्यापक कारण नहीं। परंतु जगत् सांत तो नहीं कारण, " ईश्वरीय स्वभावकी आवश्यकतासे अनंत वस्तुएं अनंत रीतिसे, जो अनंत बुद्धिकी कल्पनामें आ सकती हैं, उत्पन्न होती हैं। " इसलिये ईश्वर सच्चे अर्थमें व्यापक कारण है।

(२) निस्सरणादि कारण

मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी दृष्टिसे ईश्वर जगतोद्भवका निमित्त कारण है। परंतु यह कारणता अभौतिक कर्ताका भौतिक वस्तु पर व्यापार इस मर्यादित रूपकी है। लेकिन स्पिनोझाके मतमें भौतिक और अभौतिकका भेद नहीं, इसलिये इस निमित्त कारणतामें किसी भी प्रकारकी मर्यादा नहीं। इसी लिये उसने ईश्वरको जगत्के निस्सरणका कारण, जनक, सक्रिय कारण, निमित्त-कारण बिना किसी रोक टोकके कहा है, क्योंकि स्वयं उसीके शब्दोंमें " मैं इन सबको एकही समझता हूं। ये एक दूसरेमें मिले हुए ही हैं। "

(३) प्रधान कारण

मध्ययुगीन दार्शनिक स्पिनोझासे इस बातमें सहमत होंगे कि ईश्वर अपने स्वयंके द्वाराही प्रधानरूपसे कारण है, किसी उपाधिके द्वारा आनुषंगिक रूपसे नहीं। परंतु स्पिनोझाके अनुसार उनके पक्षमें जगत्से विषम स्वभाववान् होनेके कारण ईश्वरको आनुषंगिक कारणताही आ सकेगी, प्रधान कारणता नहीं; क्योंकि प्रधान कारणका प्रचलित लक्षण यह था कि उससे समान स्वभाववानकी ही उत्पत्ति होती है; और विषम स्वभाववान कार्यकी कारणता गौण रूपकी होती है। परंतु मध्ययुगीन दार्शनिकोंके मतसे तो कार्य जगत् कारण ईश्वरसे विषम स्वभाववान है, अतएव ईश्वरको बलात् आनुषंगिक कारणता प्राप्त होगी। यह दोष स्पिनोझाके स्वयंके पक्षमें तो लगनेका संभव ही नहीं।

(४) आदि कारण

स्पिनोझाने ईश्वरको ' नितांत निरपेक्ष आदिकारण कहा है– ' God is absolutely the first cause ' + नितांत निरपेक्षसे अभिप्राय यह है कि ईश्वर आंतरिक या बहिर्भूत

× प्रो वॉल्फसन के स्पिनोझाका दर्शन (The Philosophy of Spinoza vol I.) भाग१कें ईश्वर की कारणता The Causality of God) के आधारपर। शेष विवेचन भी इसीके आधार पर है।

+ नी. शा. भा. १ वि. १६ उ. सि. ३।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

आश्विन सं. २००१
अक्तूबर १९४४

९०-९०-९८

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९८

दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं। एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है । प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।॥)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।॥)
३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु.	।)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १॥) है ।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं । इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी ।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु. तथा डा. व्य. १॥) है । पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें । ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है ।

वेदकी संहिताएं ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ **ऋग्वेद** (द्वितीय संस्करण)	५)	डा० व्य० १।)
२ **यजुर्वेद**	२)	,, ,, ॥)
३ **सामवेद**	३)	डा० व्य० ।॥)
४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	५)	,, ,, १।)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १५) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य १८) रु. है । परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १५) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है । इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें ।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

संहिता	मूल्य	डा० व्य०
१ **काण्व संहिता** (तैयार है)	३)	डा० व्य० ।॥)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	५)	,, ,, १)
३ **काठक संहिता** (तैयार है)	५)	डा० व्य १)
४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	५)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २१॥) डा. व्य. समेत है । परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १८) रु० में दी जायंगी । डाकव्यय माफ होगा ।

- मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

क्रमाङ्क २९८

वर्ष २५ : : : : अङ्क १०

आश्विन संवत् २००१

अक्तूबर १९४४

शत्रुसेही शत्रुका विध्वंस

असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसामि धूतयः शवः ।
ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम् ॥

(ऋ. १।३९।१०)

बढिया दान देनेवाले हे वीर मरुतो ! तुम्हारा बल एवं सामर्थ्य अविकल तथा अखंड है और उसीप्रकार तुम्हारी शक्ति तथा क्षमता भी त्रुटिहीन एवं अटूट है। शत्रुदलको विचलित और डाँवाँडोल करनेवाले हे शूर मरुतो ! जो क्रोधनशील दुश्मन, ऋषियोंसे द्वेष रखता हो उसपर बाण छोडनेके समान तुम अपने किसी दूसरे शत्रुको ही झोंक दो। अर्थात् ऐसा प्रबंध करो कि तुम्हारा ही एक शत्रु या विरोधी तुम्हारे दूसरे द्वेष्टाका उच्चाटन तथा निर्दालन करे और उसकी धज्जियाँ उडादे।

विविध प्रणालियोंसे शत्रुका विनाश किया जा सकता है। अपना निजू सामर्थ्य पर्याप्त वृद्धिंगत करचुकनेपर शत्रुको चुनौती देकर प्रबल सामर्थ्यसे उसे मटियामेट कर दे। प्रतिस्पर्धा करनेवाले अपने ही एक शत्रु को प्रोत्साहन देकर ऐसे षड्यंत्रका अवलंब करे कि वह अपने दूसरे शत्रुसे लडने लगे। परिणाम यही होगा कि दोनों ही शत्रु परस्पर जूझकर एक दूसरेका गला घोंटनेकी चेष्टा करेंगे। दोनों युध्यमान शत्रुओंको शस्त्रास्त्र भेजने चाहिए ताकि वे परस्पर लडकर यथेष्ट निर्बल एवं क्षीण बनें। तभी बिना तनिक भी क्षति उठाये शत्रु विध्वंसका कार्य सकुशल संपन्न होगा। अतएव शत्रुद्वारा ही अपने दुश्मनको पछाडनेकी यह प्रणाली या नीति सर्वोपरि है।

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्

(गीता १०।३२)

सभी विद्याओंसे भी अपेक्षाकृत श्रेष्ठ विद्या अध्यात्म विद्याही है क्योंकि विविध विद्याओंमें यही ईश्वरस्वरूप है अथवा प्रत्यक्ष भगवत्स्वरूपमय ही है। अतः गीताने इस विद्याको सर्वोपरि स्थान देरखा है। परन्तु वर्तमानकालमें इस भाँतिकी उत्कृष्ट अध्यात्मविद्याकी ओर जनता घोर उपेक्षाकी दृष्टिसे देखरही है। यह दशा सुतरां वाञ्छनीय नहीं। ऐसा प्रश्न जब उठाया जाता है कि क्या सचमुच अध्यात्म-विद्यासे अपना कल्याण या हित होनेवाला है? तब कहना चाहिए कि बिलकुल ठीक; यदि इस विद्याके कारण अवश्य अपना हित होनेवाला है तो इसकी जानकारी पाना उचित है। यदि अपने कल्याणसे उसका कुछभी सरोकार न हो तो स्पष्टही उसे सीखलेनेका कोई कारण शेष नहीं रहता। अध्यात्मका ज्ञानही अध्यात्मविद्या है। अध्यात्म अर्थात् स्वभाव क्योंकि गीता ८।३ के अनुसार 'स्वभावोऽध्यात्म-मुच्यते।' स्वभाव=स्व-भाव, अपना अस्तित्व है। अध्यात्मविद्या स्व-भावकी अर्थात् अपने अस्तित्वकी विद्या है। यदि यह सत्य है तो स्पष्ट ही प्रत्येकके अस्तित्वसे यह विद्या घनिष्ट संपर्क रखती है। यदि हर एक मानवको अपने अस्तित्वका महत्त्व प्रतित हो तो निस्सन्देह अध्यात्मविद्याका महत्त्व उसे ज्ञात होगा। अपना अस्तित्व किस ढंगका है, क्या वह शाश्वत है या क्षणभंगुर है, क्या वह चिरकाल तक टिक सकेगा या नहीं, क्या यह संभव है कि उसे शाश्वत रूप अक्षुणतया मिले तथा वह सुखमय भी हो? आधुनिक समयमें हमें जो यह बारबार दुःखकी अनुभूति मिलती है वह बन्द होजाय और उसके स्थानपर शाश्वत सुखका अनुभव मिलता रहे इसलिए क्या किया जाय? इत्यादि भाँति भाँतिके प्रश्नोंका विचार अध्यात्मविद्यामें पाया जाता है इसीकारण मानवमात्रके कल्याणके लिये यह विद्या अत्यन्त उपयुक्त है।

यह बडे दौर्भाग्यकी बात है कि इस तरह मानवी जीवन को अमूल्य सहायता पहुँचनेवाली इस अध्यात्मविद्याकी ओर जिस अनुपातमें जनताका ध्यान आकर्षित होना चाहिए उस अनुपात में आज दिन वह नहीं हो रहा है। इस अज्ञानको हटाना अतीव आवश्यक है।

अध्यात्म याने अधि-आत्मा, आत्माके आधारपर जो कुछ भी विद्यमान है वह समूचा अध्यात्म है वही अपना स्व-भाव अर्थात् निज अस्तित्व है। आत्माके बिनेपर भला क्या टिका हुआ है? बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, शरीर सभी आत्माके आधारपर टिके हैं। इसके सिवा अपने भीतर विभिन्न शक्तियाँ मौजूद हैं इतना ही नहीं किन्तु अपनेसे जो कार्य निष्पन्न हो रहा है वह सारा अध्यात्मचर्चामें समाविष्ट होता है। विश्वके साथ अपना जो संबन्ध प्रस्थापित है वह भी इसी अध्यात्मसे निगडित है। अध्यात्मविद्यामें इतने विषयोंका ज्ञान भरा पडा है। आत्मा, बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, जीवन, इंद्रिय, शरीरके बारेमें जो यथार्थ ज्ञान है वही अध्यात्म ज्ञान तथा वही अध्यात्मविद्या है।

इस अध्यात्मशास्त्रमें मानसशास्त्र, जीवशास्त्र, इंद्रियज्ञान, शरीरशास्त्र, आरोग्य अक्षुण्ण रखनेके लिए आवश्यक सभी शास्त्र, वैसे ही मानवोंके पारस्परिक संबंधसे जिस व्यवहार एवं आचरणका आविर्भाव होता है उस व्यवहार-विज्ञानके प्रमुख तथा अटल सिद्धान्त सभी आ जाते हैं। अब पाठकोंको विदित होगा कि भारतीय जीवनमें अध्यात्म-ज्ञानको जो इतना सर्वोपरि महत्व दिया गया है वह सर्वथैव ठीक है।

अध्यात्मज्ञानके विना हम कुछ भी नहीं कर सकते इस लिए गीताने इस शास्त्रको 'परमात्मस्वरूप' माना है जो कि नितान्त उचित है। आज इस विद्याके संबन्धमें भीषण अज्ञान चहुँ ओर दिखाई दे रहा है इसी वजहसे सुशिक्षित, अर्धशिक्षित एवं अशिक्षित लोगोंका ध्यान इधर आकर्षित नहीं हो रहा है। वास्तवमें अगर हरएक चाहता हो कि अपना जीवन सुखपूर्ण बने तो वह अनिवार्यतया इस अध्यात्मविद्याकी जानकारी प्राप्त करे। पाठक इधर ध्यान दें।

वेदमें वर्णित ईश्वरका दर्शन

(संपादकीय)

(अनुवादक– पं० दयानन्द गणेश धारेश्वर, बी. ए., औंध)

'वैदिक धर्मका एक सिद्धान्त' शीर्षकके नीचे 'पुरुषार्थ' मासिकके नवंबरके अंकमें एक छोटासा लेख प्रकाशित हुआ था और उसमें ऐसा प्रतिपादन था कि 'वैदिक ईश्वर अदृश्य नहीं, वह हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।'. इस लेखके पढनेपर कई लोगोंको तनिक अचम्भा प्रतीत हुआ ऐसा अब तक हमारे पास पाठकोंसे आये हुए पत्रोंसे ज्ञात पडता है। इस प्रतिपादनके बारेमें पूछताछ करनेवाले सभी पत्र यहाँ देनेके बजाय, रत्नागिरी जिलेके राजापूर नामक ग्रामके निवासी श्री. वामन पुरुषोत्तम हर्डीकरजीके विस्तृत पत्रमेंसे आवश्यक भागको यहाँपर उद्धृत कर देना उचित एवं आवश्यक प्रतीत होता है। संक्षेपमें वह यूं है–

१. आपके इस कथनमें कि, वैदिक ईश्वर प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, क्या कोई गूढार्थ अथवा रूपकादि अलंकार विद्यमान है ?

२. साधुसन्त तो यही कहते आये हैं कि, जो दिखाई दे रहा है वह साराका सारा मायाजाल है और उससे भी अपेक्षाकृत अदृश्य एवं अवर्ण्य तथा अनन्त परमात्मा विभिन्न ही है। उसीका दर्शन पानेके लिए मानवको प्रयत्न करना चाहिए, आदि; क्या यह सारा सन्तोंका प्रतिपादन असत्य है?

३. ब्रह्मज्ञान तो एक न सुलझनेवाली उलझन है ऐसा मानकर साधारणजनता उससे दूर दूर चली जा रही है। आपके उक्त प्रतिपादनसे वह समस्या जटिलतर हुई है तो इसकी संगति कैसे लगायें ?

४. वेदादि ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय अगर इतनाही हो तो कर्मप्रधान गृहस्थाश्रमके उपरान्त निवृत्तिप्रधान वानप्रस्थ एवं संन्यास दोनोंकी क्या आवश्यकता शेष रही ?

५. समाजधारणा सुचारुरूपसे जारी रहे इसलिए वर्णाश्रम विषयक कर्म करना चाहिए; बहुत ठीक, लेकिन क्या ऐसा मान लेना कि वही मुक्ति पानेका साधन है, भूल नहीं होगी ?

६. व्यक्तिगत रूपसे आत्मिक उन्नति सिद्ध करनेके लिए ऋषियोंने योगसाधन भला क्योंकर किया और पौराणिक सम्राटोंने भी राज्यपर तिलाञ्जलि देकर वनवास भला किस लिए चाहा ?

७. वर्णप्राप्त कर्मके करनेसे भी मुक्ति मिल जायगी ऐसा कहें तो, क्या बिना ज्ञानके मुक्ति पाना संभव है ? दूसरी बात यह कि, क्या पत्थर फोडनेवाला श्रमजीवि मजदूर तथा दफतरमें घंटों लिखनेमें लगा हुआ बाबू अपने स्वकर्मसे ज्ञान एवं मुक्ति प्राप्त कर लेगा ? भगवद्गीताके कथनानुसार मजदूर यदि परिश्रम करता रहे तो वह भलीभाँति दो चार ज्यादह पत्थर फोड लेगा, पर भला इससे उसे परमात्म दर्शनका सौभाग्य कैसे मिलेगा और ज्ञान प्राप्तिकी भी क्या संभावना रही ? क्या परमात्म प्राप्तिके लिए विभिन्न ढंगसे प्रयत्न करना आवश्यक नहीं ?

८. मेरी रायमें तो सदाचरण एवं उपासना दो साधनोंके सहारे इस विषयकी जानकारी प्राप्त हो सकती है। आपकी इस विषयमें कौनसी राय है ?

९. महाराष्ट्रके एक सन्त शिरोमणि तुकारामने कहा है कि, 'लखकर योगी देखते आभास। वह दीख रहा है हमें आँखोंके आगे।' अर्थात् समाधिमें योगीजनको जो दिखाई देता है, क्या वह आभास ही है ? क्या ब्रह्मसाक्षात्कार आभासमात्र या भ्रमही है ?

१०. 'वैदिक परमात्मा हमें आँखोंसे दिखाई देता है' कृपया इसका अधिक स्पष्टीकरण करें। इस प्रतिपादनका भावार्थ मेरे ध्यानमें नहीं आया।

श्री. वामन पुरुषोत्तम हर्डीकरजीके पत्रमें ऊपर दिये दस प्रमुख प्रश्न पाये जाते हैं और इनके सिवा कई महत्त्व पूर्ण बातें उन्होंने लिखी हैं पर उनका विचार इस लेखमें न किया जाय तो कुछ हर्ज नहीं। ऊपर दिये दस प्रश्न भी कोई इतने सरल नहीं कि एक ही लेखमें स्पष्टतया उनकी व्याख्या या विवरण हो सके। अतः प्रत्येक सवालका विस्तारपूर्वक उत्तर न देकर संक्षेपमें मुख्य कहनेकी बात बतलाई जा सके उतनाही इस लेखमें लिखना और फिर

कभी अवकाशानुसार अन्य प्रश्नोंके बारेमें विचार करना निश्चित किया है।

ध्यानमें रखना अत्यन्त आवश्यक है कि, जैनों एवं बौद्धों के पूर्ववर्ती वैदिकधर्म और वर्तमानकालमें प्रचलित हिन्दुधर्म के बीच अँधियारी और उजालेकी नाईं बडा भारी अन्तर विद्यमान है। उपर्युक्त दसों प्रश्नोंमें गर्भित रूपसे विद्यमान शंकाको हटानेके लिए इस प्रचण्ड विभिन्नताको समझ लेना सुतरां आवश्यक है। जैनों एवं बौद्धोंने वैदिक धर्म पर जो आघात किये थे उनकी अमिट छाप सदाके लिए उस पर बैठ गयी और उनके प्रसृत अ-वैदिक मतों एवं विचारधाराओंका शाश्वत रूपसे आगे चलकर हिन्दुधर्ममें अन्तर्भाव हो गया। इसका नतीजा यही हुआ कि आज कलका प्रचलित हिन्दुधर्म सभी विभिन्न मतमतान्तरोंका अनोखा संमिश्रण बन चुका है और चाहे जो मत हिन्दुधर्ममें पाया जाता है वह तो इसका स्पृहणीय लक्षण है ऐसा कई मानते हैं। लेकिन इससे हिन्दुजातिकी जो क्षति हुई है उसे हटाना थोडेसे प्रयत्नोंसे संभव है, ऐसा नहीं जान पडता है। बुद्धोत्तर कालके आचार्य, साधुसन्त, कथाकीर्तन करनेवाले सज्जन जो कुछ आज कह रहे हैं वह इसी संमिश्रणात्मक धर्मका विवरण करनेके लिए है। यद्यपि ये अपने आप को वैदिकधर्मी कहलानेमें गौरवका अनुभव करते हैं, तथापि ये इस बातसे सुतरां अनभिज्ञसे जान पडते हैं कि, अ-वैदिक कल्पनाओंका उच्चार एवं प्रचार ये स्वयं ही बिना सोचे कर रहे हैं। इस मिलावटी धर्मका इतना गहरा प्रभाव इनके-- वक्ता तथा श्रोताओंके अन्तस्तलपर हुआ है और यह दृढमूल भी हो चुका है अतः यदि कोई कई शताब्दियोंकी परंपरासे रूढ इस धारणाके खिलाफ वेदमंत्रोंके आधार पर प्रतिपादन करने लगे तो वह इन्हें बडा ही अरुचिकर प्रतीत होता है, उसे पढनेपर इनकी आत्मा तिलमिला उठती है, पुराने संस्कारोंको भारी ठेस पहुँचनेके फलस्वरूप ये बडेही व्यथितहृदय एवं व्यग्र हो उठते हैं और सत्य वैदिक सिद्धांतोंका ग्रहण करना बडा दूभर जान पडता है। यह क्यों ? सिर्फ इसीलिए कि स्वयं वैदिक धर्मानुयायियोंके दिलपर अ-वैदिक वायुमंडलका एवं वेदविरुद्ध-धारणाओंका खूब गहरा तथा चिरस्थायी प्रभाव पडा हुआ है।

इस संबन्धमें निहायत स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए इसलिए निम्नलिखित कोष्टकमें वेदप्रतिपादित सत्य सिद्धांत एक ओर और अ-वैदिक जैनबौद्धादिकोंके मत दूसरी ओर दर्शाकर तौलनिक ढंगसे पाठकोंके सम्मुख वैदिक एवं अ-वैदिक सिद्धांतोंके बीच पाई जानेवाली चौडी खाईका स्वरूप रखना है ताकि वे जानलें कि वेदके सत्य सिद्धांतोंका स्वरूप कितना उज्ज्वल है।

वैदिक सत्य सिद्धान्त	भ्रामक अ--वैदिक मत
१. ' एकं सत् ' (ऋ. १।१६४।४६) = एक ही सच्चिदानन्दमय ब्रह्म विराजमान है।	१. शून्य (कुछ भी नहीं)
२. ' नेह नानास्ति ' = यहाँ अनेक वस्तुएँ नहीं हैं।	२. यहाँ अनेक वस्तुएँ हैं और वे परस्पर विभिन्न हैं, एकका दूसरेसे संबन्ध नहीं।
३. ' पुरुष एव इदं सर्वं ' (ऋ. १०।९०।२) = यह सारा विश्व परमात्माका ही रूप है या ईश्वर विश्वरूप ही है।	३. शून्यमेंसे सृष्टि निकली अतः वह हीन, दीन, हेय है।
४. परमात्मा विश्वरूप है इसलिए समूचा विश्व आनन्दमय है।	४. यह सृष्टि अनित्य, नश्वर, दुःख-शोक-मय है अतः त्याज्य है।
५. चूँकि विश्वरूप परमात्माका ही रूप है अतः वह आदरणीय तथा सेवनीय है।	५. दुःखशोकपूर्ण होनेसे सृष्टिका त्याग करना ठीक है (विविध उपायोंसे देहत्याग कर इस बंधनसे रिहाई पाना)
६. विश्व परमात्माका रूप है इसलिए उसमें जन्म लेना बंधनकारक नहीं, इससे परमात्मामें निवास करना स्पष्ट एवं प्रकट होता है। जीव एवं शिवमें इसभाँति अभेद	६. जन्म बंधनरूप है, जिससे जन्मही न होने पाय ऐसा करना ठीक है और वही मुक्तिका साधन है। शरीर पिंजडा है, इसमेंसे जल्द छूटना चाहिए (कठोर उपवासादि

वैदिक सत्य सिद्धान्त

देखना, महसूस करना और तदनुरूप कर्म करना ही कृत-कृत्य होना है।

७. परमात्माके बीच अपना निवास स्पष्ट होता है अतः जन्म लेना अपना स्वभाव ही है। बन्धन तो नहीं लेकिन यही कृतकृत्यताके लिए आवश्यक है।

८. जन्म देनेहारा गृहस्थाश्रम अतीव आदरणीय, नारीका स्थान महत्त्वपूर्ण क्योंकि वही ब्रह्मके अंशको धारण कर प्रकटीभवनमें सहायता देती है।

९. मानवी शरीर सप्तऋषियोंका पवित्र आश्रम है (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । वा. यजु. ३४।५५)

१०. मानवी शरीर ३३ देवताओंका निवासस्थल एवं मन्दिर है।

११. सात ऋषियोंके आश्रम एवं ३३ देवताओंका मंदिर, नरदेहको जन्म देनेवाली नारी देवी है, अतः गृहस्थाश्रम पवित्र, दस बालकोंको जन्म देना (दशास्यां पुत्राना-धेहि ' । ऋ.)

१२. नरदेहमें ३३ देवोंके तथा विश्वव्यापी सारी दिव्य शक्तियोंके अंश हैं। योगसाधनद्वारा इस दिव्य वैभवका अनुभव ले लेना तथा इसे बढाना। दीर्घ जीवनकी प्राप्ति करना।

१३. जीवका शिवमें परिणत होना (अहं ब्रह्मास्मि) अत्यन्त महान् सर्वोपरि सामर्थ्य मुझमें है ऐसी अनुभूति पाना।

१४. गर्भवास अनिवार्य, आवश्यक एवं आदरणीय। गर्भमें सभी दिव्य अंश आ जायँ इसलिए गर्भधारणाके समय प्रार्थना करना (देखो गर्भाधान मंत्र) इसके लिए कई अनुष्ठान करना, इच्छानुसार गुणवान पुत्र उत्पन्न करना और आगामी पुश्त गुणोंमें अधिकाधिक गुणसंपन्न करना।

१५. जन्मका अर्थ शरीर पाना है जो कि विश्वरूपी परमात्माके शरीरका एक अंश है अतः उससे अपना परमात्मामें बसना स्पष्ट और प्रकट होता है इसलिए जन्म श्रेष्ठ

भ्रामक अवैदिक मत

साधनोंसे देह कृश करना है)

७. कर्मफलोंका भोग होता रहे इसलिए जन्म है, शरीर बंधनरूप है, जन्म न हो तो अच्छा, जन्म एवं शरीरको देखनेसे जी ऊब जाय तो ठीक, देहपर निगाह डालकर लँबी साँस खींचनी चाहिए क्योंकि वह मलरूपी है।

८. नारी शरीरको जन्म देती है इसीलिए वह तिरस्कर-णीय, उसी कारण गृहस्थाश्रम पापमूलक एवं त्याज्य है नारी पापकी खान, उससे दूर भागना, भिक्षु बनना ठीक, गृहस्थी न बने तो ठीक, संतान न पैदा हो ऐसा करना, मरणकी राह देखता रहे।

९. मनुष्यका शरीर पूयविण्मूत्रका गोला है, भला विष्ठा के भरे गृहमें कौन ज्यादह देर ठहरेगा? शरीरको शौचकूपकी उपमा देनेसे वहाँसे तुरन्त भाग जानेकी कल्पना पैदा होगी।

१०. शरीर पापमूलक है, गन्दगीका भाण्डार है।

११. पापमूलक नरदेहको जन्म देनेवाली नारी पापकी मूर्ति है, वही सभी पापों तथा दुःखोंका आदिस्रोत है अतः उसका दर्शन दूरतः त्याज्य है।

१२. नरदेह सिर्फ मलिनता एवं पूयविण्मूत्रका गोला है अतः इस बंधनको जितना जल्द हो सके दूर करना निहायत जरुरी है। देहकी कृशता बढे ऐसे उपायोंको काममें लाना तपस्या है।

१३. शून्यसे जीवका आविर्भाव हुआ अतः अन्तमें वह निष्क्रिय एवं शून्य बन जाय, निष्क्रियता ही साध्य है।

१४. सभी दुःखोंका आदिस्रोत गर्भवास है इस कारण वह तिरस्करणीय जो कुछ भी गर्भवासके लिए कारणीभूत वह सारा हेय मानना।

१५. जन्मकी वजहसे शरीर मिलता है और शरीरके कारण दुःखका भोग करना पडता है, अतः जन्म बुरा है और जन्म देनेवाली नारी पापरूपिणी है जिसका स्मरणतक

वैदिक सत्य सिद्धान्त

है और जन्मदात्री माता स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है।

१६. प्रवृत्तिके कारण कर्म करना पडता जिसे ईश्वर तथा जीवका अनन्य संबंध जानकर तदनुरूप करना उन्नतिके लिए सहायक होता है। (न कर्म लिप्यते नरे । वा० यजु० ४०।२) शरीरके कारण कर्म किया जाता है अतः वह उन्नतिके लिए मदद करता है इस कारणसे यह आवश्यक है कि विशिष्ट मेधाबुद्धिसंपन्न संतान पैदा की जाए।

१७. समूचा विश्व एक ही सत्ता है (एकं सत्) यहाँ विभिन्न सत्ताओंके लिए स्थान नहीं। सबका मिलकर एक ही सत्तामें परिणत होनेसे मुक्ति सबकी मिलकर एक होगी। इसी कारणसे, हर एक पुश्त अधिक प्रगतिशील हो ऐसी सतर्कता रखनी आवश्यक है। समाज विशिष्ट दिशामें उन्नतिशील हो यह सबके लिए अनिवार्य कर्तव्य है। अकेले की प्रगति नहीं हो सकती है, व्यक्ति और समाज परस्पर सुसंबद्ध है। उनका हितसंबंध एक दूसरेसे निगडित है।

१८. हरएक यहाँपर यज्ञीय जीवन बिताये, क्योंकि यज्ञ करनेके लिए ही जन्म हुआ है अतः यथाशक्ति यज्ञका प्रचलन जीवनभर अक्षुण्ण रहे।

१९. इस विश्वमें प्रत्यक्ष स्वर्गधाम उतर आए इसलिए नीरोगिता पूर्ण दीर्घजीवन पाना चाहिए और आजन्म यज्ञीय जीवन व्यतीत करे।

२०. परमात्मा विश्वरूपी है और उसीकी उपासना, सेवा करना ठीक है।

२१. (सहस्रशीर्षा पुरुषः) इस परमात्माके सहस्रों मस्तक, हजारों हाथ, सहस्रों पेट एवं सहस्रों पैर हैं (जो प्राणी दिखाई देते हैं वे सभी विश्वरूपी परमात्माके चिन्ह या विभिन्न रूप हैं।

२२. (ब्राह्मणोऽस्य मुखं०) इस परमात्माके मुख ब्रह्मज्ञानी, बाहु वे क्षत्रिय जो कि प्रजाको क्षतिसे बचाते हैं तथा कृषिगोरक्षवाणिज्यमें निरत वैश्य परमेश्वरका मध्यभाग और निरे श्रमजीवि उसके पैर हैं। इसी नारायणकी सेवा करना मुक्तिका साधन है।

२३. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जिसमें समाविष्ट हैं वह जनता ही नारायण है। जहाँ जिसकी आवश्यता हो

भ्रामक अवैदिक मत

करना अनिष्ट है।

१६. प्रवृत्ति होनेसे कर्म हुआ करते, कर्मसे दोष पैदा होते हैं जिनसे पापोंका निर्माण होता है और पापफल भोगनेके लिए शरीरधारण करना पडता है। यही कारण है कि प्रवृत्ति ही बुरी है तथा शरीर भी एक बंधन ही तो है। इस कारण वही मुक्तिका साधन है जो शरीर प्राप्तिको ही रोक दे। सत्प्रवृत्ति एवं असत्प्रवृत्ति दोनों बुराइयाँ हैं कारण दोनोंके फल भोगनेके लिए शरीर धारण अनिवार्य है जो कि निरा बंधन ही है।

१७. हरएक जीव भिन्न है। एक जीवका दूसरे जीवसे कोई संबंध नहीं, अतः हरएक अपनी निजी उन्नति करता रहे, दूसरेकी चिंता काहेको ? कौन किसका सखा है? जीव अकेला आया, अकेला ही जायगा। इस प्रकृतिकी धर्मशाला या सरायमें विवश हो ठहरना पडा है यहाँसे आगे निकलना है, अतः प्रस्थान करनेकी जल्दी करनी चाहिए।

१८. यज्ञादि कर्म निरा पागलपन है, यज्ञ याने कर्म, लेकिन कर्म ही बंधनकारक है इसलिए कोई उस झंझटमें न पडे।

१९. इस दुःखमय संसारमें छनभर भी निवास करना अयोग्य है; घरबार छोड दो, सर्वस्व त्याग दो, देह क्षीण करो, जल्द शरीरत्याग कर दो।

२०. संसार दुःखपूर्ण और हेय है। जो दिखाई दे रहा है वह दुःखका कारण है तथा क्षणभंगुर भी है।

२१. विभिन्न देहोंमें कर्मफलका उपभोग लेनेके लिए जीव आये हैं, वे सभी विविध दुःख भोगते रहे हैं यह देख विचारशील मानवको खिन्न होना चाहिए।

२२. सभी लोग बंधनमें पडे हुए हैं संसार एक महान् कारागृह है जिसमें पूर्वकर्मोंके भोक्ता पडे हैं यह संसार असार है। यह सृष्टि हानिकारक है इसलिए उस विषयमें उदासीनता दर्शाना ही मुक्तिकी पहली सीढीपर पैर रखना है।

२३. परमात्मा, ईश्वर नामक कोई है ही नहीं तो ईश्वर सेवा कहाँ की ? हर कोई विभिन्न है और अपनेअपने रास्ते

वैदिक सत्य सिद्धान्त	भ्रामक अवैदिक मत
वहाँ उसकी पूर्ति करके परमात्माकी सेवा करना हरएकका कर्तव्य है, सेवा करना ही उपासना है।	पर चले। यहाँ एक दूसरेका संबंध ही क्या ?
२४. विचारशील मानव ही समझ पाता है कि इस विश्वरूप परमात्माकी आवश्यकता किस तरह पूर्ण की जा सकती है ? वैसा करके ही परमात्माको संतुष्ट रखा जा सकता है और यह जानना कि उपासना तथा सेवासे इसे प्रसन्नता हुई या नहीं अत्यन्त आसान काम है।	२४. भाइयो, यह संसार नश्वर है, विनाशी है। आगे की तैयारी करो, इस सारहीन संसारमें क्या मिलेगा ? यहाँके मोहमें न फँस जाना, वर्ना शोक दुःख पीछे पडेंगे। अतः सांसारिक बातोंमें उदासीन बनना ठीक।
२५. विश्वरूप परमात्मा (गीता० ११ वाँ अध्याय) आनन्दमय है। (पुरुरूपः इन्द्रः) ऋ.।	२५. संसार दुःखरूप है जिसका त्याग करनेसे सुख मिलेगा। भला कारागृहमें सुख कैसे ?
२६. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च (बृ. उ.) एक ही ब्रह्मके दो रूप हैं, एक साकार तथा दूसरा निराकार। मूर्त तथा अमूर्त मिलकर एक ब्रह्म है वही विश्वरूप बन गया है।	२६. पंचमहाभूत विभिन्न हैं। अमूर्त परमात्मा नामक कोई नियंता नहीं है। सब मिलकर एक सत्ता नहीं। हरएक जीव अलग है।
२७. प्रकृति, जीव, ईश्वर मिलकर ‘एक सत्’ है या एक सत्के ही ये तीन रूप हैं।	२७. संसार स्थूल है जो कि दुःखमय है, जीव जिस किसी ढंगसे पैदा होता है। ईश्वर कोई है ही नहीं।

ऊपर दिया हुआ कोष्टक पूर्ण नहीं है क्योंकि सिर्फ बानगीके तौरपर यह दिया गया है अतः वह संक्षिप्त है। इसमें किन्हीं जगहोंपर मंत्र दिये हैं तो अन्य स्थानोंमें नहीं दिये और चूँकि सभी जैनबौद्धों एवं तत्सम मतोंसे परिचित हैं इसलिए उनके आधारवचन नहीं दिये हैं।

इस ऊपर दिये हुए कोष्टकके देखनेसे पाठकोंके दिलमें यह बात भलीभाँति पैठगयी होगी कि सत्य वैदिक सिद्धान्तों तथा अन्य प्रचलित अ-वैदिक मतोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। बौद्धोंके पश्चात् जितने दर्शनकार हुए वे सभी ‘दुःख-जन्म-दोष-मिथ्याज्ञानानां उत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः।’ इसी सिद्धान्तपर सुदृढ विश्वास रखते थे। मिथ्या ज्ञानसे दोष पैदा होता है, दोषकी वजहसे जन्म लेना पडता है और जन्म लेनेका मतलब यही कि अविरत दुःख भोगते रहना। इस भाँति यह मानव-जन्म दुःखोंसे लबालब भरा है। आज यही धारणा हरजगह प्रचलित है। और इसी सिद्धान्तको बारंबार दोहराना व्याख्याताओं एवं उपदेशकोंका प्रमुख कर्तव्य बन बैठा है !!!

अब तनिक जन्मविषयक वैदिक धारणाको देखिए, वह ऊपरकी कल्पनासे कितनी विभिन्न दिखाई देती है। ब्रह्मका अंश तथा ३३ देवताओंके अंश मिलकर उचित स्थान खोजनेमें लगे हैं कि अवतार लेकर यज्ञ किया जासके। ठीक जगह निश्चित होनेपर वे उसमें प्रवेश करते हैं। यही गर्भका प्रारंभ है। यह धारणा अत्यन्त पवित्र है और पापसे कोसों दूर है। इन ३४ देवोंका निवासस्थान अर्थात् ही मानवी शरीर है जिसे देवताओंका मन्दिर या ऋषियोंका आश्रमभी कहा है। यहाँपर शतसांवत्सरिक सत्र या यज्ञ प्रचलित है या जारी रखना है। हाँ, रोग आदि अनेक राक्षस या दानव उस यज्ञमें रोडे अटकानेके लिए हरतरहसे कोशिश करते हैं परन्तु उनका जबर्दस्त प्रतिकार करके इस शत वार्षिक यज्ञको सानन्द एवं सकुशल निष्पन्न करना देवों एवं ऋषियोंका आद्यकर्तव्य है। ठीक उसीतरह, यह उच्चकोटिका देव मन्दिर बने तथा सर्वोपरि आश्रम हो जाय ऐसा उत्तरदायित्व इन साधकोंपर रखा है।

इसके साथकी दूसरी कल्पना, जिसके कि चँगुलमें हमारी जनता इस कदर बुरीतरह फँसगयी है कि उसे छोडना महाकठिन कर्म जानपडता है, अर्थात् ही ‘मानवी देह गन्दगीका घर’ है। इस विचारप्रणाली के फलस्वरूप यदि जनता शरीरसे ऊबजाए तो कौन अचरजकी बात है ? जब कि वैदिक कालमें यह धारणा जन साधारणमें प्रचलित

थी कि परमात्माकाही रूप यह सारा विश्व है, धीरेधीरे वह विलुप्त हुई और आजदिन अगर जनता किसी एक विचारधारासे प्रबलतया प्रभावित है तो वह यही कि जगत् असार अशाश्वत तथा दुःखमय है। इस नितान्त अवैदिक कल्पनाके फंदेमें जनमानस यहाँतक अटकगया है कि मूल वैदिक विचारकी ओर आँख खोलकर देखना भी किसीको पसंन्द नहीं।

वेदकालमें जब छात्रगण आठवे वर्षमें गुरुगृह चले जाते तो 'पुरुष सूक्त' पढलेते थे। आज उसी अवस्थाके छात्र शालामें जाकर 'क्षणभंगुर संसार' का पाठ पढते हैं। असंशय, वेदकालीन विद्यार्थियोंको पुरुषसूक्तके मंत्र समझना कठिन न था। **'पुरुष एव इदं सर्वं'** मंत्रका धीरगंभीर ध्वनिसे पठन करते ही तुरन्त वे बडी आसानीसे समझते थे कि 'यह समूचा विश्वही साक्षात् पुरुष या परमात्मा है।' मूर्त और अमूर्त के अभिन्नत्वको बतानेवाला 'पुरुष' शब्द बडाही उत्कृष्ट है। इस पदने दर्शाया कि प्रकृति एवं चेतनमें एकता है। जैसे 'ब्रह्म' पदसे जतलाया कि मूर्त + अमूर्त= एक सत् है, जैसे मधुरिमा + खाँड = एक शक्करका ढेला बनता है वैसे ही प्रकृति + पुरुष = एक सत् है और यह उसी पुरुषका रूप है। वैदिकयुगके बालक आठवे वर्षही इस बातसे भली भाँति परिचित हुआ करते।

लेकिन आजकी हालत क्या है? क्या बालक क्या बूढे सभीपर संसारकी दुःखमयता तथा असारताकी धुन सवार है। इसी विचारकी बदौलत इन साधकोंपर जो इसी अवनीतलपर स्वर्गधाम बनानेका उत्तरदायित्व था वह हटगया और सारशून्य संसारके बारेमें घोर उदासीनता जनतामें छा गयी। पाठक ध्यानमें रखें कि वेदोत्तरकालीन हीन विचार प्रवाहकी बदौलत जो जनमानसमें उथलपुथल हुई उससे लगभग हमारे सारे जीवनपर बुरा परिणाम ही हुआ।

पुरुष अर्थात् परमात्मा और यह विश्व उसीका प्रत्यक्ष रूप है जोकि हरकोई देख सकता है। परमात्माका यह प्रत्यक्ष विश्वरूप अपने चतुर्दिक् विराजमान है और मैं उसीका एक अंश हूँ (देखो गीताका वचन, **"ममैव अंशो जीवभूतः सनातनः"**) मैं परमात्मासे विभिन्न नहीं किन्तु अनन्य भाग हूँ। इसकी जानकारी होनेसे अंश अपना कार्य यथाशक्ति संपूर्णकी सेवाके लिए करता रहे। बस इसीका नाम यज्ञ है और अनन्यभावसे संपन्न होनेपर यह बडाही प्रभावशाली साधन सिद्ध होसकता है। वेदकालमें मानवको परमात्मासे अपना अनन्यत्वसंबंध ऊपर दिखलाये ढंगसे शिक्षा प्राप्त होनेसे ज्ञात होता है। पर आज दिन बिलकुल उल्टा प्रकार दीख पडता है।

यह विचारणीय है कि हिन्दुजातिके सभी देवदेवता अतीतमें मानवरूपसे अवतरित हुए हैं उदाहरणार्थ राम, कृष्ण आदि यह जाननेपरभी वर्तमानमें हिन्दुजाति यह माननेको तैयार नहीं कि आधुनिक मानव-समाजभी उसी-तरह उपास्य नारायण है। भक्त अर्जुनने प्रत्यक्ष शरीरधारी भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा कैसे की थी? उनके निर्धारित राष्ट्रीय कार्यमें खुद भाग लेकरही तो वीर अर्जुनकी श्रीकृष्णोपासना पूर्ण हुई। भक्त हनुमानजीने भी मानवदेह धारण करनेवाले भगवान श्रीरामचंद्रजीके उस कालमें बतलाये राष्ट्रीय कार्यमें हाथ बँटाकरही रामोपासना की थी। यह पूर्वेतिहास सर्व विश्रुत है। लेकिन आज कोई इस बातपर श्रद्धा नहीं रखता कि वर्तमान युगमें भी ऐसी उपासना की जासकती है। अर्जुन एवं हनुमानजीके कालमें लोग प्रत्यक्ष देहधारी तथा हलचल करनेवाले परमात्मासे बोलते, मतभेद प्रकट करते और अवसरपर सहकारिता भी करते थे। उनके प्रवर्तित महान राष्ट्रीय आन्दोलनमें सक्रिय सहानुभूति दर्शाते एवं उसेही अपना परम कर्तव्य समझते। पर आजकी हिन्दुजाति, कई सहस्र वर्ष पूर्व कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण लेकिन इसीलिए आजदिन कुछभी हलचल न करते हुए देवोंकी उपासना करनेमें तल्लीन है। यह तो नितरां असंभव है कि अतीतमें जो लोकसेवाका कार्य उन्होंने आँका था, उसकी पूर्ति करनेमें, वे अपना तनमनधन लगादें; तथापि तत्सदृश कार्यमें अपना हाथ बँटानेकी भी तैयारी नहीं दिखाई देती है। इतनाही क्यों, वैसा करना भक्तिकाही रूप है इतना मानलेना भी असंभव प्रतीत होता है।

अतीतमें लोगोंने अपने उपास्य देवतासे किसतरह बर्ताव रखा था, उसका यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे निरीक्षण किया जाय तो भी, वर्तमानकालके लोगोंको अपने सत्यकर्तव्यका परिचय पाना सुगम होगा और सच्चे

मार्गका दर्शनभी होगा । लेकिन बडे दौर्भाग्यसे, ऐतिहासिक दृष्टिसे देवोंके चरित्रका निरीक्षण न हो तो ठीक ऐसी प्रवृत्ति जनतामें रूढ है जिससे वह सत्यमार्गसे अधिकाधिक दूर जारही है ।

श्री. हर्डीकर महोदयजीने प्रश्न उठाया है कि, साधु-संतोंके वचनोंका क्या किया जाय; उसके बारेमें इतना कहना ठीक होगा कि प्रायः सभी संतोंने माना है विश्व ही परमात्माका साक्षात् रूप है । तुकारामने जैसे कहा कि–

'समूचा संसार सुखमय करूँ । विश्वको-उबारूँ लीलयैव ।' वैसेही अन्य संतोंने कहा है अर्थात् वे निःसंशय चाहते थे कि संसार सुखमय बने तथा उसकी सिद्धताके लिए वे सचेष्ट भी थे । देखिए, तुकाराम जैसे सन्त क्या कहते हैं–

विष्णुमय विश्व धर्म वैष्णवोंका ।
कवच धर्यो सर्वेश्वर- पूजनका ।
समूचा ब्रह्मरुप, नहीं सूना स्थल ।
कहत तुका नाद । समूचा हुआ गोविन्द

मुकुन्दराज कहते हैं–

कहै मुकुन्दराज समूचा वह गोविन्द ।

बस, इसीभाँति सभी संतोंको विश्वरूप परमात्माका परिचय प्राप्त हुआ था । संत रामदासजीने कहा कि 'श्रोतागण है ईश्वरका रूप ' तथा ' कुत्ता बनकर गुर्राता है ' कहके सूचित किया कि सभी भूत उसीके रूप हैं । कबीर भी कहते हैं कि "लाली मेरे लालकी जित देखों तित लाल, लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गइ लाल" विश्वरूप परमात्माके संबन्धमें संतोंके अन्तस्तलमें सन्देह कभी था ही नहीं, हाँ सभी वैदिक कल्पनाएँ उनकी वाणीमें नहीं पाई जाती हैं ।

गर्भवासजन्य दुःख एवं पीडाका बखान करते हुए संत रामदासजी लिखते कि गर्भस्थ शिशुके मुँहमें कीडे कृमि घुस जाते हैं आदि । लेकिन, यद्यपि समर्थ रामदास तथा दूसरे कई संतोंकी बानीमें इस ढंगका धिनौना वर्णन पाया जाता है तो भी वह सरासर झूठा है । पाठकोंको अगर सन्देह प्रतीत हो तो वे वैद्यकीय ग्रन्थोंमें बतलाया गर्भका विवरण देखलें या विश्रुत वैद्यों या डॉक्टरोंसे पूछ लें । गर्भकी रक्षा इतने अनोखे एवं आश्चर्यजनक ढंगसे की जाती है कि उधर विष्ठा, मूत्र या कृमि पहुँच ही नहीं पाते । यदि वैदिक भाषामें इसका विवरण करना हो तो यों होगा । साक्षात् ब्रह्मका प्रत्यक्ष अंश अपने साथ ३३ देवताओंको लेकर अवतीर्ण होनेवाला है अतः उसका संरक्षण सुचारुरूपसे जितना भी किया जा सके उतना करनेके लिए सर्वोपरि श्रेष्ठ आयोजना की गयी है । जैसे यदि अपने घर कोई नरेश पधारे तो मानव हर किस्मका साफसुथरापन रखनेके लिए जीजानसे परिश्रम करने लगेगा; ठीक उसी प्रकार, गर्भमें राजाओंके भी राजाका अंश पुत्र रूपसे प्रकट होनेवाला है इसीलिए उसकी हिफाजतमें तनिक भी न्यूनता या त्रुटिका रहना नितांत असंभव है ।

पर, असलमें बात यही थी कि, 'पापमूलक जन्म है' ऐसाही बताना संतोंका उद्देश्य था । शरीर कारागृहतुल्य है या एक पिंजडा है, बस और अधिक कुछ नहीं । यही कारण है कि, गर्भवास एक महान् एवं रोंगटे खडे करनेवाला दुःख पैदा करता है ऐसा माननेके सिवा सन्त और कर ही क्या सकते ?

इस विषयपर ज्यादह लिखना आवश्यक नहीं जानपडता, सिर्फ यही बतलाना है कि, संतवाणीकी भलीभाँति जाँच करनी चाहिए, हरएक वचनको ठीक परखलेना चाहिए। यदि कोई ऐसा प्रतिपादन करने लगे कि वेदवचनों तथा वैदिक सत्य सिद्धांतों और संतवाणीके मध्य पूर्ण सामंजस्य है तो वह निराधार है इतनाही बतला देना है ।

बीजही वृक्षमें परिणत होता है जो कि पुष्पित हो अन्तमें फलभारसे लदा हुआ दीख पडता है । सभी इस बातसे परिचित हैं । यहाँ दो अवस्थाएँ, याने प्रथम (१) बीजावस्था और दूसरी (२) पुष्पफलयुक्त वृक्षकी स्थिति है । अब विचारशील पाठक तनिक सोचकर देखलें कि इन दो स्थितियोंमें ' बीज ' की दशा ठीक है या ' पुष्पफलभारावनम्र वृक्ष ' का पद अधिक स्पृहणीय एवं गौरवास्पद है ? सबको यह विदित है कि मानव सदैव फलोंसे लदे हुए पेडकी ही उपासना एवं अभिलाषा करता है और मिट्टी खोदकर उसमें छिपे पडे बीजके निकट जानेकी चेष्टा कदापि नहीं करता है ।

ध्यानमें रहे कि ब्रह्म, परमात्मा या ईश्वर बीज है और उस बीजसे निष्पन्न पुष्पित एवं फलित वृक्ष अर्थात् ही यह दृश्यमान विश्व है। बीजका विस्तार या विकास वृक्ष है जिसे हम बीजका अधःपतन नहीं कहसकते । उसीतरह

ब्रह्ममें विद्यमान बीजवत् शक्तियोंका विस्तार 'विश्वरूप' है। विश्व तो उनका व्यक्तीकरण या प्रकटीकरण है। अतएव निस्सन्देह साधकके लिए विश्वरूपही उपास्य है जोकि नितान्त स्वाभाविक है। सच पूछा जाय तो साधक भला किसलिए और क्योंकर मूल बीजकी ओर दौडता चला जाय। यह समीकरण इसतरह दिखाया जासकता है–

ब्रह्म = गुप्त विश्वशक्ति
विश्व = प्रकट ब्रह्मशक्ति

यह ध्यानमें रखना अत्यन्त आवश्यक है कि विश्वरूप बनजानेपर ब्रह्मने अपना निजी सत्त्व बिलकुल नहीं गँवाया है, जो वास्तवमें था उसे प्रकट किया, विस्तृत बनाया, प्रभावमय हो जाय इस ढंगका सृजन करके बताया। अर्थात् यह सुतरां स्पष्ट है कि ब्रह्म जिसप्रकार आनन्दमय है, ठीक उसीप्रकार विश्व भी आनन्दमयही है और साधकका यह आद्य कर्तव्य है कि उस आनन्दको प्राप्त करे।

अतएव विश्वका वर्णन करते समय हीन, दीन, दुःखमय, अपूर्ण, त्याज्य, दोषपूर्ण आदि विशेषणोंका प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं पर यही दीखपडता है कि प्रायः सभी आचार्योंने विश्वके लिए उपर्युक्त ढंगके विशेषण काममें लाये हैं; किसीने मिथ्या कहा, किसीने बंधनरूप बताया, अन्य किसीने जाला या फंदा है ऐसा दर्शाया तो एकने पूछा कि 'यह हुआही नहीं। उसकी खबर भला तू क्यों पूछे?' यह सत्य वैदिक तत्त्वज्ञानसे किसी भी तरह मेल नहीं खाता। भगवद्गीताने कितना स्पष्ट कहा कि– 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' (गी० १२।५) याने 'अव्यक्त ब्रह्मकी उपासना अशक्य या कष्टतर है और व्यक्त ब्रह्मकीही उपासना मानवके लिए शक्य है' तथापि अभीतक व्यक्त ब्रह्मको हेय एवं परिहरणीय समझलेनेका साहस किया जाता है!!!

पूर्णमिदं, पूर्णमदः

'(इदं) यह विश्व भी पूर्ण है और (अदः) वह ब्रह्म भी पूर्ण है' क्यों? क्योंकि यह ब्रह्मका ही रूप है। भला इससे भी स्पष्टतम भाषामें कौन कैसे बतलाये? और इतने स्पष्ट एवं निस्संदिग्ध ढंगसे कहनेपर भी यदि विश्वरूपमें परिणत ब्रह्म या परमात्माको त्याज्य मान लेना हो तो भला उनको कौन समझा दे? देखिए गीतामें कहा है–

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।'
(गी० ९।११)

'मानवी शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माकी अवहेलना मूढ अर्थात् अज्ञानी लोग करते हैं।' आज दिन सर्वत्र यही अवहेलना या तिरस्कृति प्रचलित है। कहनेका आशय यही कि नरमें विद्यमान नारायणका अपमान हर किसी स्थानमें रूढ है और क्याही बडे अचम्भेकी बात है, नारायणका अपमान एवं तिरस्कार मानवकृतिद्वारा प्रतिपल जारी रहनेपर भी नारायणको प्रसन्न करनेके लिए मन्दिरोंमें ऊँची आवाजमें प्रार्थनाएँ की जाती हैं!!!

सब कोई दर्शनसौभाग्य प्राप्त कर सकें इसीलिए परमात्माने 'विश्वरूप' धारण किया है लेकिन अचरजकी बात यही है कि विश्वरूपको ही जनताने त्याज्य ठहराया और वह अदृश्यका साक्षात्कार हो जाए इसलिए घोर परिश्रम उठा रही है। जो अदृश्य है, भला उसका दर्शन भी कैसे हो? वह दृश्य तो नहीं होगा पर साधकोंको उसीके साक्षात्कार की अमर साध लगी है। 'गंगानदी सुस्त मानवके निकट चली आयी, आलसी मनुष्य उसे देखकर दूर भागने लगा' पवित्र गंगानदी नितान्त हमारे निकट है, उसके शीतल छींटे शरीरपर प्रतिपल गिर पडते हैं पर खेदकी बात है साधकगण उसे ही गन्दी नालीका जल मान कर सुदूर अज्ञातकी ओर भागते दीख पडते हैं। इनके उद्धारके लिए गंगानदी भला क्या कर ले?

विष्णुसहस्रनामके बिलकुल प्रारम्भमें ही 'विश्वं विष्णुः' कहा है याने 'विश्व ही साक्षात् विष्णु है।' ऐसा कहनेपर भी प्रतिदिन स्नान कर चुकनेपर विष्णुसहस्रनामका पठन करनेवाले लोग अगर विश्वको विष्णु न मानें तो फिर विष्णुसहस्रनामके लेखक भी इन्हें और अधिक स्पष्टरूपसे कैसे बतलाये?

पुरुष एव इदं सर्वम् (ऋग्वेद)
आत्मा वा इदं सर्वम्। (उपनिषद्)
सर्वं खलु इदं ब्रह्म। "
वासुदेवः सर्वम्। (गीता)

इस प्रकार, सभी श्रेष्ठ वैदिक ज्ञाताओंने स्पष्ट एवं अतिसरल शब्दोंमें बताया कि 'सर्वही आत्मा है, सर्वही देव है' इसमें जो 'सर्व' शब्द है उसका सच्चा आशय है

'यह समूचा विश्व ' ऐसा स्पष्ट है, उसमें कोई वस्तु छूटनेवाली नहीं है। प्रतिदिन पुरुषसूक्त पढनेवाले तथा गीता पाठ किये विना अन्नजलका ग्रहण न करनेवाले महानुभाव भी यदि हरदिन उपर्युक्त वचन पढते हुए भी विश्वरूपी परमात्माका निरादर ही करना ठान लें तो इसका क्या उपाय किया जाय, समझमें नहीं आता।

वेदप्रतिपादित सत्य एवं सनातन धर्मकी केन्द्रभूत कल्पना 'विश्वरूपी परमात्मा' यही है। इसका तात्पर्य 'विश्वके रूपमें परमात्मा है' ऐसा नहीं किन्तु 'विश्वरूप परमात्माही है' ऐसा है। विश्वमें परमात्मा है ऐसा तो सभी मानते हैं लेकिन इसका यह अर्थ है कि परमात्मा भिन्न है और विश्वका रूप विभिन्न है, वह अन्य किसीका रूप है। यह द्वैत भाव बतलानेवाला अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है। 'विश्वरूप परमात्मा ही है' यही अद्वैत भाव व्यक्त करनेवाला अर्थ लेना चाहिए। इसीका स्पष्टीकरण हो जाय इस हेतुसे भगवद्गीताका ग्यारहवाँ अध्याय लिखा गया। यह सचमुच बडे ही अचम्भेकी बात है कि उस अध्याय पर भाष्य और स्पष्टीकरण लिखनेवालोंने भी विश्वका रूप त्याज्य ठहरा कर ऐसा कहा कि विश्वका त्याग किए विना परमात्माका दर्शन होगा ही नहीं।

शकर या चीनीकी एक गुडिया बनाई जाय तो शक्कर और गुडियाका दर्शन एक ही समय हो जाता है। सुवर्णके कटक वलय जैसे आभूषण तैयार किये जायँ तो गहनों पर दृष्टि डालते ही सुवर्ण एवं आभूषण दिखाई देते हैं। मिट्टी के घडे बनाने पर मिट्टी तथा घडा उसीवक्त दिखाई देते हैं। ये दृष्टान्त समझनेमें अति सुगम हैं और ठीक वैसे ही ब्रह्म या सत् या आत्मा विश्वरूप हुआ है। इसी वजहसे विश्वकी ओर दृष्टिपात करते ही उसी वक्त विश्व तथा ब्रह्मका दर्शन होना चाहिए और ठीक वैसे ही हो रहा है। पर उपदेशक, कीर्तन प्रवचनकार तथा कथा कहनेवालोंने समय असमय पर विश्व त्याज्य तथा बंधनकारक है ऐसा दृढतापूर्वक प्रतिपादन किया था इसलिए सभी लोगोंपर विश्वका त्याग करनेकी धुन सवार है। इसका शोकजनक परिणाम यही हुआ कि दीखनेपर भी नहीं दीखता और समझमें भी नहीं आता। यही आजकी हालत है।

अनेक आचार्योंने तत्वज्ञानसे व्यवहारको अलग कर रखा है। वे साग्रह प्रतिपादन करते हैं कि सिर्फ बूढे लोग ही तत्वज्ञानके बारेमें चर्चा करते रहें क्योंकि तत्त्वज्ञान कार्यरूप में परिणत हो ही नहीं सकता, व्यवहारमें उतर ही नहीं सकता। पर यह अत्यन्त अयोग्य है। आचरणमें उतर आये इसीलिए सत्य वैदिक तत्त्वज्ञानका सृजन हुआ है। यदि उस वेदप्रतिपादित सत्य तत्त्वज्ञानकी बुनियाद पर व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रके पारस्परिक संबंधका महल खडा किया जाय तो ही विश्वभरमें स्वर्गीय सुख शान्तिका साम्राज्य फैल सकता है। मानवी व्यवहार एवं जीवनको आनन्दरूप बनानेके लिए जिस वैदिक तत्वज्ञानका सृजन दूरदर्शी एवं प्रतिभासंपन्न ऋषियोंने किया था वही अव्यवहार्य है ऐसा पश्चात्वर्ती आचार्योंने बताना शुरु किया। इससे अधिक विपर्यास भला और कौनसा किया जा सकता है? यह तो ठीक ऐसा ही हुआ है जैसे कि देवता मानवको अमृत देदे लेकिन भ्रान्तिवश उसे विष समझकर वह मिट्टीमें डाल दे। प्रत्यक्ष दृश्यमान विश्वरूपी परमात्माको त्याज्य मान कर मानवजाति परमात्माको ढूँढनेमें व्यर्थ समय खो रही है। इतना ही क्यों, परमात्मा तो कभी नहीं दिखाई देगा और स्यात् कहीं एकाध मौके पर दीख पडे तो जन्मजन्मान्तरोंके बीतने पर संभवतः परमात्मप्राप्तिका सौभाग्य मिल जाय ऐसा भी धर्म प्रचारक कहने लगे हैं। फिर भला 'पुरुष एव इदं सर्वं' या 'विश्वं विष्णुः' या 'वासुदेवः सर्वं' आदि वचनोंने क्या कहा?

वैदिक धर्मके प्रमुख सिद्धान्तसूत्रकी दशा आज इस प्रकार है। वैदिक धर्ममें यदि जाननेयोग्य कोई बात हो तो यही है। इसका भली भाँति ज्ञान होनेपर शेष सारा ज्ञान स्वयमेव होजाना संभव है पर इसी सिद्धान्तके घोर अंधकारमें रहनेसे केवल भ्रान्ति जनक मतमतान्तरोंकी मिलावट ही दीखपडती है।

आजकल मूलभूत परमात्म विषयक कल्पनाकाही इतना विचित्र विपर्यास होनेसे, मुक्ति, मोक्षके साधन, पुनर्जन्म या आवागमन, उपासना आदि सभी बातोंका विपर्यास हो चुका है। अब वैदिक धर्मियोंका प्रमुख कर्तव्य यही होना चाहिए कि वर्तमानकालमें प्रचलित शुद्धाशुद्ध मिलावटी विचारधाराका ठीक तौरसे जाँचपडताल करके शुद्ध सत्य सनातन वैदिक विचार प्रणाली कौनसी है और दूसरे अवैदिक

मत कौनसे हैं सो निर्धारित करलें। अन्य सभी अनावश्यक विचारोंको हटाकर, केवलमात्र वैदिक कल्पनाएँ ही निश्चितरूपसे शुभफलदायी हैं अतः उनपर सोचकर आचार व्यवहारमें भी परिणत करनेका प्रयत्न होना चाहिए।

यद्यपि हमने ऊपर अवैदिक कल्पनाओंको जैनबौद्ध कहकर निर्दिष्ट किया तथापि हम इस बातसे परिचित हैं कि आजकल प्रचलित अन्य वेदविरुद्ध मतमतान्तरोंमें उपलब्ध कई विचार धाराएँ जैनबौद्धोंके पहले भी अतिपुरातनकालसे प्रचलित थीं। बुद्धोत्तर संसारमें निर्मित ग्रन्थोंपर बौद्ध विचारधाराका बडाही जबर्दस्त प्रभाव पडा था इसीलिए और वह प्रभाव आजतक ज्यों के त्यों अटल, अडिग एवं अक्षुण्ण बनबैठा है तथा स्थानस्थानपर बडा कष्टदायक भी प्रतीत होता है इसलिए भी हमने अवैदिक मतोंको साधारण रूपसे जैन बौद्धमत नाम दे रखा है। यहाँपर यह प्रश्न तनिक भी महत्त्वपूर्ण नहीं कि अवैदिक मत इस व्यक्तिविशेषका है या उस विशिष्ट प्रस्थापकका है। वर्तमानयुगमें हमारे सम्मुख एक ही महान समस्या उठखडी हुई है और वह है ' उन्नत एवं प्रगतिशील बननेके लिए प्रबल एवं उत्साहवर्धक सत्य वैदिक सत्यज्ञानका अंगीकार किया जाय अथवा आज दिनके रूढ मिलावटी मतमतान्तरोंके दिगन्तव्यापी कोलाहलमें किंकर्तव्यमूढ बन बैठें ? इस महत्व पूर्ण प्रश्नके बारेमें हमारी स्पष्ट और असंदिग्ध राय यही है कि इन दिनों प्रचलित मतोंके कशमकशमें जनता अपना कोई निर्णय नहीं करपाती जिससे वह हक्का--बक्का या भौचक सी रहगयी है। उसके सम्मुख सरल, उज्वल एवं स्फूर्तिदायक वैदिक तत्त्वज्ञान स्पष्ट शब्दोंमें रखना चाहिए ताकि सत्य वैदिक सिद्धान्तके उजालेमें जनता प्रगतिकी राहपर अविरत गतिसे आगे बढती रहे। वेशक, यह कार्य सुतरां बीहड एवं महा कठीन है क्योंकि इसका जीजानसे प्रतिकार एवं विरोध करनेके लिये पुराने तथा नये दोनों दलोंके प्रतिस्पर्धी सुसज्ज होकर खडे हैं। उनके आघातोंको झेलते हुए सरल भाषा में सत्य वैदिक सिद्धान्तोंकी जानकारीका प्रसार जनतामें करना अवश्यमेव अत्यन्त कठिन कार्य है।

यहाँपर इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कार्यकी कठीनताको महसूस करते हुए भी अपने उदयोन्मुख तथा प्रगतिकी सुदीर्घ राहपर दृढनिश्चयपूर्वक आगे बढनेके लिए कटिबद्ध राष्ट्रका उदय शीघ्र संपन्न हो जाए इसीलिए यह कार्य करना सुतरां आवश्यक है।

इस लेखमें वह प्रमुख कल्पना पाठकोंके सम्मुख रखनेकी भरसक कोशिश की गयी है जिससे अनेक प्रश्नोंके उत्तर दिये जा सकते हैं। यदि यह विचारप्रणाली ठीक प्रकार ज्ञात हुई तो प्रारम्भमें दिये हुए प्रायः सभी सवालोंका उत्तर मिलजायगा। यदि कहीं वैसे न हुआ तो भविष्यमें प्रश्नोंत्तरोंका मार्ग उन्मुक्त रखा है।

पातञ्जल योग आश्रम रेहलू जिला काङ्गडा पंजाब प्रान्तके सम्बन्धमें

श्रीमान् स्वामी ओमानन्दजी महाराज कीर्ति प्रसिद्ध योगीराजने जनताके लाभके लिये पातञ्जल योग आश्रम रेहलू जिला कांगडामें वडे अच्छे स्थान पर स्थापित करना मान लिया है। इसके लिये ५४ कनालके लगभग भूमि भी स्वर्गीय राणा शिवसिंह राजपूतकी स्त्री श्रीमती निहातू देवीजीने दान कर दी है। इसके उचित प्रबन्ध आदिके लिए श्रीस्वामी १०८ जी ने एक कमेटी वनाई है। इस योग आश्रममें ठहरनेके नियम भी छपे हैं। यह स्थान पठानकोट रेलवे स्टेशनसे ४१ मील पहाडकी ओर दरयाके किनारे मोटर सडक शाहपुरसे दो मील उत्तरकी ओर स्थित है। जो कोई श्रीस्वामीजी महाराजसे योगसाधनके लिये लाभ उठाना चाहें, वे वहां आकर उनसे मुफत लाभ उठा सकते हैं; और जो कोई उस आश्रममें ठहरने के लिये कुटियाएं बनवाना चाहें, या इसके विषय में कुछ ज्ञात करना चाहें वे मन्त्रि पातञ्जल योग आश्रमसे निम्नलिखित पते पर पत्रद्वारा ज्ञात कर सकते हैं।

जैशीराम बी. ए. एलएल. बी. वकील, मंत्री पातञ्जल योग आश्रम धर्मशाला (जिला कांगडा) पंजाब !

गीतामें किस विषयका प्रतिपादन है ?

(लेखांक ४)

(लेखक– प्राध्यापक वि० व० आठवले M. Sc., F. R. G. S (London) हंसराज प्रागजी ठाकरसी कालेज, नासिक)

(अनुवादक– श्री. पं० द० ग० धारेश्वर, बी. ए. औंध)

गीता इतिहास नहीं किन्तु शास्त्र है ऐसा तीसरे लेखमें बताया जा चुका है और यह शास्त्र इसलिए लिखा गया था कि, कर्म एवं ' कर्मज फल ' के बीच कौनसा संबन्ध प्रस्थापित है तथा इस कर्मगतिका फल किसे और क्यों भोगना पडता है व उसी प्रकार कर्म एवं गतिका इसभाँति त्रिकालाबाधित संबन्ध प्रस्थापित होनेपर भी ' यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिः यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते । ' इस ढंगसे कर्म करके भी ' लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ' ऐसे सुतरां पृथक् रहना असंभव नहीं, इत्यादि बातोंकी चर्चा करनेके लिये अवसर मिले ।

इस लेखमें आगे चर्चा की जायगी कि, ' वीतरागभय–क्रोधः स्थितधीः?' मुनिवर व्यासजीने सिर्फ ७०० श्लोकोंमें ही 'कवियों की बुद्धिको भी कुंठित करनेवाली कर्मगतिकी जटिल उलझनको किसतरह सुलझाया । कई विषयोंकी चर्चा करनेपर भी इतने थोडेसे श्लोकोंमें ही सबका अन्तर्भाव करना सचमुच व्यासजीकी बुद्धिमत्ताकी कुशलता व्यक्त कर देता है। आंग्ल कवि गोल्डस्मिथने जैसे कहा कि How such a small head could carry all he knew ' वैसे ही गीताको पढ लेनेपर अचम्भा प्रतीत होने लगता है कि, व्यासजीने भला इतने छोटेसे ग्रन्थमें इतने व्यापक तथा जटिल विषयको किसतरह समाविष्ट किया है । समझनेमें सुगमता हो इसलिए और एक ही समय कई विषयोंका विवेचन करनेसे गडबडझाला होनेकी संभावना है इस कारण भी, प्रारंभमें एक एक विषय लेकर सोचें कि गीतामें उसकी चर्चा किसभाँति की है और अन्तमें, गीताने इन सबका समन्वय किस ढंगसे किया है इस प्रश्नकी ओर मुडना होगा ।

आगे तालिकामें बतायाही है कि इस लेखमें किस अनुक्रमसे विषयोंका विवेचन किया जायगा पर उसके पहले यह ठीक प्रतीत होता है कि कुछ बातोंका स्पष्टीकरण हो जाय । गीता की टीका लिखते हुए अन्य लोगोंने इस बातपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है कि उपनिषद् आदि ग्रन्थों तथा गीतामें विद्यमान अध्यात्मचर्चाके मध्य सामंजस्य किसप्रकार है । गीतामें जिस तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन हुआ है वह क्या है इस एकही विषयपर यथेष्ट चर्चा हुई परन्तु इन विषयों या प्रश्नोंका विवेचन किसीनेभी नहीं किया कि, ' चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं ' ऐसा किसलिए गीतामें कहा है, जिस भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजीकी समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ' ऐसी प्रतिज्ञा थी उन्होंने उसी गीतामें ' ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां ' गुणकर्मोंका बँटवारा करते हुए १८।४१ इस भाँति क्योंकर विषम ' बताया ? एक स्थानमें गीतामें कहा है कि ' सत्वं रजः तमः इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः' पर ' ये चैव सात्विकाः भावाः राजसाः तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान् ...' इसतरह अपने ऊपर कर्तृत्व भार लेलिया किन्तु उनका सृजनभार प्रकृतिके अधीन नहीं किया, भला इसकाभी कुछ कारण तो है ? अध्यात्म विद्या (ब्रह्मविद्या) की चर्चा करते हुए भला क्योंकर–

' सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।'
' एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः । '
' अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति । '
' क्षिपाम्यजस्रं अशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु '

इस भाँतिके विचार प्रकट किये हैं, इसकी चर्चा भी किसीने नहीं की । इसी कारण अग्रिम लेखोंमें मैं ऐसा दर्शाने का प्रयत्न करूँगा कि ऊपर दर्शाये ढंगके विरोधी प्रतिपादनोंके बारेमें गीताके ही शब्दोंमें उन सवालोंका उत्तर दिया जा सकता है । गीताके वचनोंके आधारपर ही गीताके कथनोंका समर्थन किया है ।

इस लेखमें प्रमुखतया यही बात बतलानी है कि, किसी

भी अन्य प्रमाण ग्रन्थोंका आधार लेकर गीताने अपने सिद्धांत एवं प्रतिपादन प्रस्तुत नहीं किये हैं क्योंकि गीता तो स्वतन्त्र तथा स्वयंपरिपूर्ण शास्त्र ही तो है। हाँ, गीता में दूसरोंके मतों या सिद्धान्तोंका निर्देश मिलता है पर साथ ही उन धारणाओं और सिद्धांतोंके बारेमें गीता ही अपनी अनुकूल या प्रतिकूल राय स्पष्ट कर देती है। 'यह भी मत ठीक है और उस मतको भी गलत साबित नहीं कर सकते' ऐसे ढंगके धुँधले एवं परिवर्तनशील तथा गंगा गये गंगादास, जमना गये जमनादास ढंगके उत्तर गीता सुतरां नहीं देती है। यह बतलाया गया है कि, गीतामें स्पष्ट तौरपर किस संबन्धमें समन्वय कर दर्शाया है। इसीलिए इन लेखोंमेंसे एक लेख 'गीतामें उपलब्ध दूसरोंके मत और उनपर गीताका निजी 'निश्चितं मतमुत्तमं' ऐसे शीर्षकके नीचे लिखा गया है।

अब यही ठीक प्रतीत होता है कि गीताके पहले अध्याय से ही सोचनेका सूत्रपात किया जाय। जो आधुनिक ढंगसे गीतापर सोचनेके अभ्यस्त हैं वे एक प्रमुख आक्षेप यूं उठाते हैं कि पाठकोंके सम्मुख गीताने किसी भी एक विषय को सुसंगत प्रणालीसे नहीं रखा है। एक अध्यायको समाप्त करके दूसरे अध्यायको पढते समय पिछले अध्यायका अगले अध्यायसे जो संबंध रहता है और जिसे दर्शाना आवश्यक है, वह स्वयं गीताने नहीं दर्शाया। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग सभी योगोंकी मानों खिचडीसी गीतामें कर रखी है। गीतामें तो हर किसीको अपना वाञ्छित योग मिलसकता है और ऐसा नहीं दीखपडता कि आखिर गीताकाभी तो अपना कोई खास निजी मत है। जिस गीतामें श्रीशंकराचार्यजीको अद्वैतमत एवं ज्ञान योगकी प्रमुखता दीखपडी उसी गीताका अर्थ श्रीरामानुजाचार्यजी विशिष्टाद्वैतपरक करके बताते हैं। वल्लभाचार्यजीने यूं सिद्ध करदिया कि गीतामें द्वैतमतका प्रतिपादन है और कुछही वर्ष पहले लोकमान्य तिलक महोदयजीने अपने विख्यात गीता रहस्यमें लिखा कि, गीतामें ज्ञानयोगकी प्रधानता सुतरां नहीं किन्तु कर्मयोगका विशदीकरणही गीताका मूलभूत उद्देश है। इससे हम एकही निष्कर्षपर पहुँच सकते कि गीतामें सब कुछ विद्यमान है तथा वह मानों योग एवं मतोंका सिर्फ विश्वकोष या एनसायक्लोपीडिया है। गीता स्वयं अपना मत कुछ भी नहीं रखती है। गीताकी रचनामें जो यह लचीलापन दिखाई देता है कि हरकोई चाहे जिस विषय को उसमेंसे चुनलेता है वह गुण तो नहीं किन्तु अवगुण ही है ऐसा कहें तो क्या हर्ज ?

इन सभी आक्षेपोंका यथोचित उत्तर देनेके लिए विभागशः प्रश्नरूपसे आक्षेप प्रस्तुत करके उसका समर्पक उत्तर दिया है। इन कई प्रश्नोंमेंसे प्रथम अध्यायका आक्षेप बताकर उत्तर देंगे।

आक्षेप इसतरह है-जिस ग्रन्थमें विचारों तथा पारिभाषिक शब्दोंकी सुसंगति दीखपडे उसेही शास्त्र ऐसा नाम दिया जासकता है। गीताके प्रथम अध्यायमें अर्जुन प्रश्नोंकी झडी लगाता है कि 'युद्धमें वीर मारे जाते हैं, कुलका क्षय होता है जिससे कुलीन नारियाँ बिगड जाती हैं; नारियोंका चारित्र्य ठीक न रहा तो वर्णसंकर पैदा होता है जिसके परिणामस्वरूप समूचा वंश नरकमें जा गिरता है, पिंडोदक क्रियाके लोप हो जानेसे उनके पितर भी पतित होते हैं और सनातन कुलधर्म एवं शाश्वत जातिधर्म मटियामेट हो जाते हैं... देखो न, सामाजिक संगठन पर महासमरके कैसे कैसे भीषण परिणाम हुआ करते हैं, भला उन्हें हम कैसे हटायें ?' अर्जुन के पूछे इन प्रश्नोंका उत्तर समूची गीतामें कहीं भी नहीं उपलब्ध होता है और कुलधर्म जातिधर्म एवं वर्णधर्म सदृश शब्दोंका पुनरुच्चार तक गीता में नहीं तो भला उनका उत्तर कैसे उपलब्ध होगा ? अच्छा, प्रश्न उठानेमें आखिर भूल कौनसी हुई, सोभी श्रीकृष्ण भगवान् ने नहीं बताया।

जो सवाल उठाया था उसका उत्तर सिर्फ यही दिया गया कि '**क्लैब्यं मा स्म गमः।**' तथा '**प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**' भला जो '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं**' ऐसे गिडगिडाकर शरण आया हो, उसे केवल '**गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः**' इतना कहकर जलेपर नमक छिडकना भगवान् श्रीकृष्णको सुतरां नहीं सुहाता। जो उलझन तीव्रतासे अर्जुनके अन्तस्तलमें उठ खडी हुई उसे उसने साफ तौरसे प्रश्नरूपमें व्यक्त कर दिया। सीधे पूछे सवालका 'चुप्पी साध तो ले, बुद्धू, तेरी अकल मारी गयी' इस ढंगका जवाब देनेसे उत्तरदाताकी बुद्धिकी कलई खुल जाती है। सिवा इसके, जिन प्रश्नोंका

उत्तर ही न देना हो उनका उल्लेख प्रथम अध्यायमें भला क्यूं कर किया ? वास्तवमें देखें तो अध्यात्मचर्चा गीताका प्रमुख प्रयोजन, और इधर पहले अध्यायमें भीषण महासमरका बवँडर तथा अर्जुनके गलितगात्र हो बैठ जानेका राग भला किस लिए अलापा है ? दूसरे अध्यायसे प्रथम अध्यायका लेशमात्र भी संबंध नहीं । जिस ग्रन्थका सूत्रपात होते ही इतनी विसंगतता दीख पडे भला उसके अग्रिम निरूपणमें सुसंगति एवं एक वाक्यता कैसे और किधरसे आ सके ? जो गीताके प्रारम्भमें ही उपलब्ध नहीं वह आगे चलकर मिलेगा ऐसी आशा करना व्यर्थ है ।

अच्छा, तनिक आगेके अध्याय देख लीजिए, वहाँ भी यही हाल दिखाई देता है । द्वितीय, तृतीय और आठवे ग्यारहवे एवं अठारहवे अध्यायमें अर्जुनको गीता उपदेश देती है 'युद्ध कर ' वही चौथे अध्यायमें **'छित्त्वैनं संशयं योगं आतिष्ठोत्तिष्ठ '** वैसे ही छठे अध्यायमें **'तस्मात् योगी भवार्जुन '** इस ढंगसे भस्मचर्चितांग योगी बन बैठनेकी सूचना करती है । इस भाँतिके एक दूसरेके अत्यंत विरुद्ध प्रतिपादनोंके मारे शास्त्रश्रोताका समाधान होना तो दूर रहा, गुत्थी और अधिक जटिलतर होगी । दूसरे अध्यायमें बेशक कहडाला **'देही नित्यमवध्योऽयं... '** तो इस ज्ञानामृतका नतीजा यही कि अर्जुनकी उलझन गंभीरतम हो उठी । तीसरे अध्यायका यह वाक्य **'व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे '** अर्जुनकी किंकर्तव्य मूढतापर स्पष्ट आलोकरेखा डालता है । पंचम अध्यायमें भी फिर अर्जुन ' कर्मसंन्यास भी ठीक है तथा कर्मयोग भी कोई बुरी बात नहीं ऐसे तरीकेसे दोनोंका पृष्टपोषण नहीं चाहिए ' इसी आशय का प्रश्न करता है । प्रत्यक्ष श्रीकृष्णचन्द्र जैसे महामहिमशाली योगीराज वक्ता बने तथापि जो शास्त्र छठे अध्यायतक अर्जुनकी समस्या हल न कर सका उस शास्त्रके पठनसे अन्य साधारण कोटिके लोगोंका दिल गीताके निश्चित उपदेशकी जानकारी न होनेसे अधिक संशयग्रस्त होगा तो कौन आश्चर्यकी बात ? मतलब यही कि जैसे प्रथम तथा दूसरे अध्यायमें किसी प्रकारकी संगति नहीं वैसे ही अग्रिम अध्यायोंमें भी अनुक्रमसे विचार प्रदर्शन नहीं किया गया है ।

इन उपर्युक्त आक्षेपोंका उत्तर अब देना ठीक प्रतीत होता है । अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आक्षेप है प्रथम तथा द्वितीय अध्यायकी संगति करके बताना । मैं ऐतिहासिक गवेषणामें निरत था अतः मेरे ध्यानमें यह बात आयी कि पहले अध्यायमें ही व्यासजीकी सच्ची कुशलता झलक पडती है । आज तक ऐतिहासिक दृष्टिसे गीताका निरीक्षण करनेकी प्रवृत्ति किसीने नहीं दर्शायी जिसका परिणाम यही हुआ कि पहले अध्यायकी पर्याप्त उपेक्षा हुई है । अत्यंत उच्च कोटिके चिकित्सक एवं बुद्धिशाली श्रीमदाद्यशंकराचार्यजीने भी इस प्रथम अध्यायको ध्यान देने योग्य नहीं समझा ऐसा स्पष्ट दीख पडता है । उन्होंने २।११ श्लोकपरसे ही टीका लेखन शुरु किया । इस विख्यात कृष्णार्जुन संवादकी कोई ऐतिहासिक पार्श्वभूमि भी तो है या नहीं उसकी तनिक भी छानबीन या पूछताछ नहीं की । चूँकि वे ज्ञानप्रधान तत्त्वद्रष्टा थे इस कारण ऐसे प्रश्नोंकी चिकित्सा करना उन्हें निरर्थक प्रतीत होनेसे केवल गीतामें जो तत्त्वज्ञान है उसी पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर दिया । वे लिखते हैं **'अर्जुनं निमित्तीकृत्य आह भगवान्'** ज्ञानसुधाकी वर्षा करनेके लिए अर्जुन निमित्तमात्र बना। भगवान् श्रीकृष्ण की लालसा थी कि समूची जनताके लिए ज्ञानोपदेश किया जाय, युद्ध, अर्जुन सभी नाममात्रके लिए हैं । सच पूछा जाय तो गीतामें ' निमित्त ' शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थमें किया है । **' मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् '** ' कौरवोंका वध करनेमें तू निमित्त बन जा ' इस सन्दर्भमें यह शब्द गीतामें प्रयुक्त हुआ है नकि अर्जुनको ज्ञानोपदेश करनेके लिए ' तू निमित्तमात्र है ' ऐसा कहा । इतनी बात सच है कि इन महापुरुषोंने ऐतिहासिक विभागकी बडी उपेक्षा कर डाली है और उन्होंने उधर क्यों ध्यान नहीं दिया इसका विचार करना बेकार है।

व्यासजी कलावान् कवि थे, इसकारण अध्यात्म जैसे गूढ विषय प्रस्तुत करते हुए भी उन्होंने ऐतिहासिक जानकारीमें उलट पलट न हो जाए इसके लिए कितनी सतर्कता दर्शायी यह सोचनेयोग्य है। किसी विषयको ठीकतरह पाठकोंके सामने दो प्रणालियोंसे रखसकते हैं । पहला तरीका 'काल्पनिक संलाप कहा जा सकता है– गुरु एवं शिष्यके मध्य बातचीत शुरु करके प्रश्नोत्तर रूपमें विषय विवेचन करले ।' 'सॉक्रेटिससे प्लेटोका संलाप ' ग्रन्थ इस प्रणालीसे लिखा

गया है और चूँकि यह वार्तालाप काल्पनिक है इस कारण, तर्कशास्त्र विशुद्ध दृष्टिबिन्दुसे उसमें प्रश्नोत्तर लिखना संभव है तथा विचारोंका क्रमभी भलीभाँति सँभाला जा सकता है।

दूसरा प्रकारभी संलापमयही है पर उसे सिर्फ काल्पनिक न रखते हुए इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों एवं ऐतिहासिक घटनाओंकी पार्श्वभूमिपर वह लिखा जा सकता है। इसमें लेखक की कुशलताकी सच्ची परख होती है क्योंकि ऐतिहासिक घटना को चुनलेनेसे पार्श्वभूमिका चित्रण ज्योंका त्यों करना ही पडता है और काल्पनिक ऊँची उडानोंमें निरत होना सुतरां असंभव है। इस पार्श्वभूमिका ग्रहण करनेमें दोष सिर्फ यही रहता है कि तार्किक दृष्टिसे विशुद्ध प्रणालीसे विषयोपन्यास नहीं किया जा सकता है। लेकिन यूं अनुमान करलेना भूल होगी कि ऐसे दोषोंकी वजह उस संलापमें गूँथे हुए सिद्धान्तभी अशुद्ध या गलत हैं। व्यासजीने इन दोषोंको देखते हुए भी अपना विषय पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा ऐतिहासिक घटनाओंको चुनलिया। समाजधर्मको स्पष्ट करनेके लिए संलापके ढंगपर लिखा हुआ प्लेटोका ' रिपब्लिक ' नामक एक ग्रंथ है जिसमें अत्यन्त तर्क शुद्ध ढंगसे विषय समझाया गया है पर यदि देखने लगे कि कितने लोग उसे पढकर अर्थबोध पासकते हैं तो विदित होगा कि विद्वान पंडितोंके अतिरिक्त दूसरा उससे लाभ नहीं उठासकता। समाजधर्म का विवेचन करनेवाला ग्रंथ यदि साधारण जनसमाजके लिए दुरूह एवं अज्ञेय रहा तो ऐसा ग्रंथ रहे या न रहे एक ही बात है। हाँ, काल्पनिक संवाद प्रणालीके कारण वह बासी तथा जीर्ण प्रतीत होता है सो अलग है।

पर गीतापर दृष्टिपात कीजिए तो ज्ञात होगा कि व्यासजीने इस वार्तालापको ऐतिहासिक घटनाकी भित्तिपर ऐतिहासिक व्यक्तियोंके मध्य चित्रित किया अतः आज पाँच सहस्र वर्षोंसे यह समाजधर्मका संलापग्रन्थ अजरामर बन गया है। क्या अज्ञ और क्या सुज्ञ सभी कृष्णार्जुनके युगल से परिचित हैं इसीकारण बडे प्रेमसे उनके संभाषणको काव्यरूपमें पढ लेते हैं। सुज्ञ लोग उसमें विद्यमान आध्यात्मिक रसका आस्वाद लेते हैं तो इधर भक्तजन भी गीतामें उपलब्ध भक्तिरसमें डुबकियाँ लेते हैं। यदि कोई ग्रन्थ आबालवृद्ध जनताकी निगाहमें आदरणीय रहा तो वह भगवद्गीता ही है।

इस असाधारण लोकप्रियतामें सफलता पाकर भी अध्यात्मचर्चाके प्रारम्भमें ही ऐतिहासिक घटनाको चुनलेने में व्यासजीकी करामात कैसे व्यक्त हुई है सो देखें। यह हमेशा ध्यानमें रखना चाहिए कि गीतामें बातचीतके ढंगसे विषयका प्रतिपादन किया है और ऐतिहासिक पार्श्वभूमिपर संलापलेखनका चित्रण हुआ है। जो यह महत्त्वपूर्ण प्रथम आक्षेप है कि गीताका प्रथम अध्याय दूसरे अध्यायसे तनिक भी संबंध नहीं रखता, उसकारण, गीताके विषयप्रतिपादन में अत्यधिक विसंगति दीख पडती है, उसका उत्तर देना है। मीमांसकोंने ग्रन्थका विषय तथा सुसंगति निश्चित करनेके लिए जो लक्षण बताया है वह यूं है–

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासः अपूर्वता फलं।
अर्थवादोपपत्ती षट् लिंगं तात्पर्यनिर्णये।

उपक्रम एवं उपसंहार मिलकर एक लक्षण होता है। संलापमय प्रतिपादनप्रणालीमें जिसने पहले प्रश्नको पूछना शुरु किया हो वहीं विषयप्रारंभ हुआ ऐसा समझना ठीक और उस प्रथम प्रश्नमें अग्रिम सभी विषयोंका साररूपसे अन्तर्भाव रहे तथा जिसने प्रश्न उठाया उसीको स्वीकृति देनी चाहिये कि मेरे पूछे सवालोंका उत्तर मिल जानेसे मुझको समाधान हुआ। संलापप्रणालीमें सुसंगत ढंगसे विषयप्रतिपादन किया गया या नहीं इसका निर्णय होनेके लिए उपर्युक्त लक्षण गीतापर घटता या नहीं सो देख लेना ठीक। अर्जुनके ' कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः;' 'शिष्यः तेऽहं शाधि मां त्वा प्रपन्नं यच्छ्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूहि तन्मे ' इस प्रश्नसे गीता का वार्तालाप शुरु हुआ है। अर्थात् ' धर्मसंमूढचेताः ' की दशा प्राप्त होनेसे प्रश्न पूछा गया था और अठारहवे अध्याय के अन्तमें अर्जुनने ही जवाब दिया है—

नष्टो मोहः स्मृतिः लब्धा त्वत्प्रसादात् मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

चूँकि धर्मसंमूढत्व विनष्ट हुआ इससे साफतौर पर विदित हुआ कि धर्म एवं अधर्मकी चर्चा इस गीतामें है। वैसे ही शास्त्रीय लक्षणोंसे दर्शाया कि विषयकी सुसंगति भी दीख पडती है। इसके अतिरिक्त खुद व्यासमुनिने ही

इस संपूर्ण संलापको ' धर्म्यं संवादं आवयोः ' ऐसा नाम दिया है। अर्थात् ही ' गीताका विषय अज्ञात है, सो क्यों ' इस शंकाका उत्तर गीताके ही शब्दोंमें देना हो तो ' इदं तु ते गुह्यतमं... धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययं प्रवक्ष्यामि ' यह गीताके मध्य भागका वचन पेश किया जा सकता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि जो ' धर्म्यं गुह्यतमं,' सुखपूर्वक करनेयोग्य तथा शास्त्रविधानोक्त आचरण है उसे स्पष्ट बतलाना गीताका प्रमुख विषय है।

अब इस प्रश्नका विचार करना चाहिये कि, व्यासजीने प्रथम अध्याय क्यों लिखा तथा उसीमें किस भाँति उनकी कुशलताकी झाँकी मिल जाती है। यद्यपि यह सत्य है कि, ' धर्मसंमूढचेताः ' बन जानेसे अर्जुनने जो प्रश्न पूछा था उससे विषयका प्रारंभ हुआ तो भी, ऐसी कल्पना करना कि अर्जुन सदृश धीर एवं शूर पुरुष अचानक आकाशसे उतर॰पडा तथा धर्म संमोहमें उसका दिल अटक गया, सिर्फ कलाका विडंबन ही है। यदि कोई चित्रकार किसी सुन्दर कमलको नील गगनकी पार्श्व भूमिपर लटकाया हुआ दर्शाये तो निस्सन्देह कलाको बडी भारी ठेस पहुँचती है, इसलिए कमलपुष्पके इर्दगिर्द जल, काई वगैरह दर्शाना अनिवार्य है। कवि कुलगुरु कालिदासका कथन विख्यात है ' सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं।' किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि ' यही बतलानेके लिए गीताशास्त्र लिखा गया। अर्जुन सदृश धीर, वीर नर मोहपाशमें पड सके ऐसी पार्श्व भूमिका चित्रण करना चाहिये था इस कारण, जो समर छिड चुका वही ऐतिहासिक पार्श्वभूमिके लिए उपयुक्त मान काममें लाया गया।

(२) क्या गीता द्वैतका प्रतिपादन करती है या अद्वैतका ?

एकबार मैं गीतापर किये कुछ अनुसन्धान तथा गवेषणापूर्ण लेख को साथ ले मेरे मित्र श्री शुक्ल शास्त्रीजीको दर्शानेके लिए श्रीक्षेत्र त्र्यबंकमें उनके यहाँ पहुँचा। श्रीशास्त्रीजीने शांकर वाङ्मयका पर्याप्त अध्ययन किया है, वे मुझसे पूछने लगे ' आपकी रायमें गीता द्वैतवादी है अथवा अद्वैत वादी है ? मैंने कहा, ' आपने द्वैत एवं अद्वैत शब्द प्रयुक्त किये हैं अतः मैं चाहता हूँ कि, वे शब्द गीतामें किधर आये हैं सो आप मुझे बतलायें, पश्चात् मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूँगा।' गीताके ४० या ५० महत्त्वपूर्ण शब्द कृष्ण-द्वैपायन व्यासजीने कहाँ, कितने बार तथा किस अर्थमें प्रयुक्त किये हैं इस विषय पर मैंने गवेषणा की है इस लिए, आपके सुझाये द्वैत एवं अद्वैत शब्द ही यदि गीतामें नहीं पाये जाते हैं तो भला मैं कैसे निश्चयपूर्वक उत्तर दूँ कि गीता द्वैतवादी है या अद्वैतका प्रतिपादन करती है ? शास्त्रीजीको कुछ जवाब न सूझा। तब मैंने कहा ' आपको उलझनमें डालनेके लिए मैंने ऐसा नहीं कहा। देखिए न गीता में भलेही द्वैत एवं अद्वैत शब्द न हों, लेकिन आप अगर मुझको इतना दर्शासकें कि उन शब्दोंका आशय व्यक्त करनेवाले दूसरे कौनसे शब्द गीताने बर्ते हैं तो मैं उन पर सोचकर आपके प्रश्नका उत्तर देदूँगा। मैं आपसे शास्त्रीय ढंगपर चर्चा करना चाहता इसलिए द्वैताद्वैत आदि शब्दोंका अर्थ प्रथम यदि मेरे ध्यानमें आजाए तो सोच विचारके बाद मैं उत्तर दे सकूँगा।'

हाँ, द्वन्द्व एवं निर्द्वन्द्व ऐसे शब्द गीतामें हैं और मैंने उनका विचार किया है, तो आपका कथन क्या यही है द्वन्द्व=द्वैत और निर्द्वन्द्व=अद्वैत ?'

इस प्रश्नको सुनकर शास्त्रीजी हाँ या ना कुछ भी उत्तर न दे सके। द्वन्द्वका अर्थ द्वैत नहीं, इतना मान लेनेपर द्वैत शब्दसे मेल खानेवाला दूसरा कोई शब्द ही सिवा द्वन्द्वके पाया नहीं जाता। ऐसी दशामें पहले उठाया हुआ सवाल कि क्या गीता द्वैतवादी है अथवा अद्वैतवादी ? अर्थशून्य बन जाता है। अन्ततोगत्वा लाचार हो इतना स्वीकार करना ही पडा कि द्वन्द्व=द्वैत और निर्द्वन्द्व याने अद्वैत। इसपर मैंने यूँ कहा, द्वन्द्व = द्वैत, ऐसा नहीं हो सकता; देखिए न, द्वैत शब्दका ' द्वैतैः ' ऐसा, बहुवचनी प्रयोग तो कोई नहीं करसकता परन्तु ' द्वन्द्वैः सुखदुःखसंज्ञैः ' इस भाँति अनेकवचनी ' द्वन्द्वैः ' पद रखकर गीता द्वन्द्वकी व्याख्या करती है। द्वैतैः ऐसा प्रयोग हो तो द्वैतोंका अनेकत्व मानना पडता है। गीताकी रायमें द्वन्द्वोंका अस्तित्व है। लगभग २७ तरहके द्वन्द्व गीताने दिये हैं। ' मात्रास्पर्शा

शीतोष्णसुखदुःखदाः ' ' इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ' होनेपर भी यदि उनके अधीन न होते हुए ऐसे द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति अर्थात् तितिक्षा को प्रबल करें तो ही ' द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छ त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ' की स्थिति प्राप्त हो सकती है।

इस स्थितिकोही 'निर्द्वन्द्वो हि सुखं बंधात् प्रमुच्यते ' अर्थात् स्थितप्रज्ञत्त्व या 'एषा ब्राह्मी स्थितिः, नैनां प्राप्य विमुह्यति ' ऐसा गीता कहती है। द्वन्द्वोंका अस्तित्त्व मिटाना असंभव है पर द्वन्द्वोंका अस्तित्त्व रहनेपर भी द्वन्द्वजन्य मोहको हटाना संभव है। ' जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयं। ' महाराष्ट्रके विख्यात संत रामदासजी ने बडे मार्मिक ढंगसे इसी भावको व्यक्त किया है जैसे " समूचे सैन्यको मारकर खुद नरेश बननेकी चाह है पर सैन्य के रहतेही राज्य चलाना सो कैसे विदित नहीं,वैसेही इसके रहतेही विचारसे देह अस्मिता गल जाय।"

भावनाके अर्थमें वेदान्तमें द्वैत अद्वैत शब्दोंका प्रयोग है और गीतामें इस कल्पनाको साधनप्रकारके तौरपर भावना मानकरही ले लिया है। जैसे ' पश्यन् शृण्वन्,.... । नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत त्वत्त्ववित् ' यहाँपर ध्यानमें रखने योग्य बात है कि ' मन्येत ' अर्थात् उस ढंगकी भावना रखनेके लिए कहा है नकि ' कर्म न कर ' ऐसा कहा है।

' अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्। ' यहाँपर सच है कि अद्वैत पदके अर्थकी जानकारी होती है पर जिस तरह यह वाक्य अद्वैत अर्थकी सूचना देनेवाला है वैसेही ' ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ' यह वाक्य भी न केवल सूचनात्मक रूपमें रामानुजाचार्यके अंश अंशीभावकी झाँकी देता है किन्तु ' अंश ' पदका ही प्रयोग करता है।

अतः ' अंश ' ऐसे पदके प्रयोगसे ही कहा जा सकता कि गीता अद्वैत भावसे सहमत है और विशिष्टाद्वैतके भी विरुद्ध नहीं। ध्यानमें रहे कि ' ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस अद्वैत सिद्धांतके ' मिथ्या ' शब्दको गीताने जगत्को लागू नहीं किया और केवल दो स्थानोंपर ही, मिथ्याचारः स उच्यते ' ' मिथ्यैष व्यवसायस्ते ' पद गीतामें पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि, गीतामें ' मिथ्या ' पद संसार या जगत्के लिए नहीं है।

दूसरा एक महत्त्वपूर्ण विषय जिसकी उपेक्षा हुई है इस तरह है– गीताभाष्यमें श्रीशंकराचार्यजीने द्वैत एवं अद्वैत पदोंका प्रयोग सिर्फ एकही बार केवल तेरहवे अध्यायमें किया है तथा अन्य सभी स्थानोंमें द्वन्द्व ऐसा गीताका पद रखा है। ब्रह्मसूत्रभाष्यके समय द्वैत एवं अद्वैत ऐसे नये शब्दोंको रखकर अद्वैत सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। द्वैत अद्वैत यह तो नये ढंगकी शुरु की हुई परिभाषा है इस लिए गीताके सिद्धान्त इसके अनुकूल हैं ऐसा कहना गलत है। जिस परिभाषाका प्रचार गीताके कालमें था ही नहीं क्या उसके अनुकूल गीताके सिद्धान्त हैं ऐसा पूछना भी बेकार है।

अहिंसा

(ले०- श्री. पं० वासिष्ठजी)

तब !

तब परतन्त्र देशवासियोंका एक मात्र कर्तव्य है कि वे केवल अपनी सोचें। बिस्तरसें पडा हुआ रोगी रोग मुक्तिकी सोचे। भूखा मुट्ठीभर चनोंकी सोचे मेहमानको दावत देनेकी स्कीमको स्थगित करदे। अपने प्राण बचाने की फिक्र करे दुनियाके बन्धुत्वका मजनूँ बननेका यह अवसर नहीं है। काम, क्रोध, लोभ, अहंकारमें उन्मत्त होकर शासक उनके घरोंको लूट रहे हैं, लूटका लिए हुए बचे खुचे को फूंक रहे हैं। इस अग्निकाण्डकी लपटें शासितोंका सर्व नाश कर रही हैं। यह वक्त आग बुझानेका है, जहां आग नहीं लगी वहां रक्षा करनेका है, आततायियोंकी अग्निवर्षा को रोकनेका है। प्रेम, बन्धुत्व स्थापना, गले लगानेका यह अवसर नहीं है।

क्रोधातुर जब मारपीटपर कटिबद्ध हो जाता है तो समझदार लाठी डण्डोंको छिपा देते हैं या तोड डालते हैं। डाकू जब लूटने आता है तो धन छिपा दिया जाता है। रोगीके पाससे, उसकी पहुंचसे वे तमाम वस्तुएं, खाद्य पदार्थ हटा दिये जाते हैं जो उसके लिए कुपथ्य हैं और जिनके लिए वह लालायित है। कातिलकी तलवारको छिपा देना, उसे कुंठित कर देना, तोड देना या तलवारके मार्गमें ऐसा अवरोध खडा कर देना कि उससे प्राणिवध असम्भव हो जाय, हिंसा नहीं है, रक्षा है। आक्रमण हिंसा है रक्षा हिंसा नहीं। अतः असहयोग और बहिष्कार द्वारा शासकको उन तमाम साधनोंसे वंचित करता रहे जो उनके नाशके लिए उपकरण बनाये जा रहे हैं, जिनके द्वारा वे शासनचक्र चला रहे हैं। कोढी, पागल की चिकित्सा करनेका विचार वे तब कर सकेंगे जब स्वयं पागलके संक्रामक रोगकी चपेटसे बचनेका पूरापूरा बन्दोबस्त कर लेंगे। परतन्त्र देशका यह सर्व प्रथम कर्तव्य था कि वह शासक शत्रुओंकी चिकित्सा करके उन्हें मित्र, बन्धु बनानेके प्रयत्नसे पूर्व ही अपने आपको शासितोंके संक्रामक रोगसे बचानेके लिए असहयोग व बहिष्कारको काममें लाता रहता। इससे दो लाभ होते। वह खुद रोगकी लपेटमें न आता और कुपथ्यसे वंचित रह कर शासक अपनी कुचेष्टाओं द्वारा शासितोंका सर्वनाश व अपना पतन न कर सकता। चीनका पराधीन हुआ भाग आज ऐसी ही स्थितिसे गुजर रहा है। चीनका यह कर्तव्य है कि वह असहयोग और बहिष्कारद्वारा शत्रुशासकके कुकर्म में किसी प्रकारसे नाम मात्र भी सहायक न बने ताकि चीन की कोई वस्तु शत्रुके, विदेशीके कुपथ्यसेवनमें काम न आ सके।

किन्तु पराधीन देशकी दशा चीनसे कहीं बदतर है। वह धनलोलुपकी मनचाही करके अपना बहुत कुछ नष्ट कर चुका है और स्वयं भी अनेक दुष्ट रोगोंका अड्डा बन गया है। जो कुछ खो चुका है उसकी पूर्ति तो वह कर लेगा यदि उसने निरन्तर चलनेवाले क्षयको रोक दिया किन्तु सबसे चिन्ताजनक बात है उसकी सन्तानका भूखों मरना, दुष्ट, भयानक, संक्रामक रोगोंका अड्डा बनाया जाना और रोग का जीर्ण होकर उग्र और याप्य हो जाना। यह उसके जीवन मरणका प्रश्न है; बन्धुत्व स्थापित करने, शत्रुको मित्र बनाने, पागलकी चिकित्सा करनेका समय नहीं। उसे जरूरत है अपने प्राण बचानेकी। जान है तो जहान है। बची खुची दृष्टि रह गई तो वह किसी अन्धेकी चिकित्सा कर लेगा। अतः पराधीनको असहयोग और बहिष्कारसे भी आगे बढना है।

सन्निपातज रोगी पागलसा बन कर तमाम कुपथ्योंको अपनाता है तब घरके उपचारक हेतु विपरीत चिकित्सा करनेसे पूर्व रोगीको कुपथ्य देना ही बन्द नहीं करते बल्कि घरकी उन तमाम चीजोंको जो कुपथ्यमें रोगी चाहता है उसकी नजरोंसे दूर कर देते हैं यदि इतने पर भी रोगी कुपथ्यकी ओर अग्रसर होता है तो घरके लोग कुपथ्यकारक वस्तुओंको नष्ट कर देते हैं परन्तु रोगीके हाथों तक नहीं पहुंचने देते। शरीर पोषक दूधको फेंक देते हैं क्योंकि वह सन्निपातमें कफको कुपित करता है। शराबीकी शराबकी बोतलें तोड दी जाती हैं ताकि शराबी नशेमें उल्लू होकर घरभर

को तंग न करे। चाकूको फेंक दिया जाता है ताकि नशेमें उन्मत्त किसीको जख्मी न करदे।

यदि मदान्ध शासकने परोक्ष कत्लेआम बोल दिया है, प्रत्यक्ष दुर्भिक्ष व सर्वनाश खडा कर दिया है। पराधीन आत्मरक्षा करे, आत्मघात न होने दे। पराधीन देशवासी अपनी प्राण रक्षाके लिए और हित भावनासे इस बलात् घुसे हुए मदान्ध विदेशी शासकको लंघन दें, उपवास करावें। उसकें मुंह तक, हाथ तक कुछ न पहुंचने दें। घरके उपयोगी चाकूको आगमें जला देना पाप या हिंसा नहीं यदि रोगी उस चाकूसे किसीको जख्मी करने पर तुला हो या उससे वैसी आशंका हो।

घरके सब चाहते हैं, प्राणपणसे चेष्टा करते हैं कि रोगी निरोग हो जावे। किन्तु जब रोगी रोग मुक्त न होकर पागलपनसे असाध्य हो जाता है। घरवालोंको मानसिक, कायिक रोगी करने लगता है, उन्हें मारता पीटता है तो घरवाले असफल हो जाने पर निराश होकर नाशसे बचनेके लिए प्राण रक्षाके निमित्त पागलको पागल खाने भेज देते हैं। असाध्य रोगीकी आसन्न मृत्युकी कामना करने लगते हैं उभय पक्षके कल्याणके लिए। महात्मा गांधी जैसे अहिंसाके पुजारी तक असाध्य रोगी बछडेको कष्ट मुक्त करनेके लिए गोलीसे मरवा डालते हैं। फिर मदान्ध शासक, जो न तो परिवारका अंग ही है और नाही तटस्थ उदासीन व्यक्ति, ऐसी असाध्य रोग भूमिकामें पड कर किस चिकित्साके योग्य है विचारना चाहिये। यह अभागा रोगी तो शतसहस्र भुजाओंसे रोगोंको फैला रहा है। दुर्भिक्ष, वैर, विरोध, नीचता, तुच्छता, निराशा, हताशा, फूट, छल, कपट, क्षय आदि कौनसा संक्रामक रोग नहीं जो इस मदान्ध रोगीने विचारे शासित परतन्त्र देशवासियोंमें न फैला दिया हो। इस स्वार्थ लोलुपने परतन्त्र राष्ट्रोंके मनुष्यको मनुष्य भी नहीं माना। मोलको खरीदे हुए कुत्ते, घोडे व दूसरे जीवोंको यह भरपेट आहार देता है। उन्हें दूध तक पिलाता है किन्तु शासित मनुष्योंको पशुसे भी हीन समझता है। अपने पालतू कुत्ते पर १०० रु. मासिक खर्च करता है किन्तु एक पढे लिखे शासित देशके नौकर को २० रु. मासिक भी नहीं देता। सौभाग्यसे किसी परतन्त्र देशकी जनताकी संस्कृति, चैतन्यता, होश हवास ही ऐसी ढाल रही है जिससे इस हृदयहीनको खुले मैदान आधीनोंके आखेट करनेका वैसा साहस न हो सका जैसा साहस अमरीका अस्ट्रेलिया व अफरीकाके मूल निवासियोंके आखेट करनेमें हो गया था।

मुहेमें कालख न लगे इस भयसे वह शासितोंको गुलामों की तरह बाजारमें नीलाम न कर सका। काश मानवोंके क्रय विक्रयकी प्रथा आज जीवित होती तो यह विदेशी शासक इस कारोबारका सबसे सम्पन्न व्यापारी बनता।

काम क्रोधादि विदेशी शासक शत्रुओंने स्वदेश शरीर पर अधिकार किया हुआ है। वे चिरकालसे आत्मा, मन, शरीरको रुग्ण विकृत कर रहे हैं। अब उनको मित्र बनाने, उनकी चिकित्सा करनेकी क्षमता भी नहीं रही। वे बडे वेग से रोग प्रसार कर रहे हैं। अब चिकित्साका न अवसर है और नाही स्वयं रुग्ण हो जानेके कारण चिकित्सक चिकित्सा कर सकता है। इस समय जरूरत है बचेखुचेको बचानेकी, बचाकर अपनी चिकित्सा करनेकी। अतः मन आत्माको तत्काल लंघन व रेचनसे काम लेना चाहिये। असहयोग और बहिष्कारद्वारा उक्त विदेशी शत्रुओंको लंघन दे। कोई वस्तु, जिसके द्वारा वे कुकर्म, कुपथ्य करके आत्मा, मन, शरीरका अपघात करते हैं, उन तक न पहुंचने दे, यही लंघन है। जो उनके पास पहुंच चुका है उसे शरीर स्वदेश में नष्ट कर दें, यही रेचन है ताकि वे प्राप्त व प्राप्त होनेवाले पदार्थोंसे वंचित हो जावें। कुपथ्य वंचित करके फुरसतमें पथ्य औषधि दे।

जब घरवाले घरके किसी सदस्यके रोगी होनेपर उसके संक्रामक रोगसे अपनी व समस्त परिवारकी रक्षा करते हैं, उसके विकृत मन, मास्तिष्ककी कुचेष्टाओंसे अपने घरकी वस्तुओंको बचाते हैं। उस रोगीको उन तमाम चीजोंसे वंचित कर देते हैं जो उसके रोगमें कुपथ्यका काम कर रही हैं तो शासित अपने शासकसे भी तो अपनी जानो माल बचावे जो कभी भी उनके परिवारका अंग नहीं बना, सदा ही गैर दुश्मन बना रहा। पर हत्या पाप है लेकिन आत्महत्या महापाप है। दूसरोंको कुकर्मी बनाना नीचता है लेकिन खुद कुकर्मी बन जाना महानीचता है।

सुविचारोंका रंग तब तक नहीं चढ सकता जब तक कुविचारोंको लानेवाली धाराको न रोक दिया जावे और जो कुविचार आ चुके हैं उन्हें धो न डाला जावे। अतः

असहयोग और बहिष्कारद्वारा कुपथ्यके पोषक आहार, उपकरण, वस्त्र, अन्नादिकी धाराको रोककर तथा प्राप्त वस्तुओंको नष्ट करके कुपथ्य वंचित करे। बादमें पथ्य, औषधिद्वारा रंगनेकी बात सोची जावेगी। जब तक शराबीके मुंहमें शराबकी धारा पहुंचती रहेगी तब तक उसके कानोंमें सदुपदेशका एक शब्द भी न पहुंच सकेगा। जब तक शराबी शराबके नशेमें है तब तक उसके सामने गीता पाठ करना अपनी मूर्खताका श्वांग दिखाना है। सर्व प्रथम चिकित्सा है उसे शराबसे वंचित करनेकी। यदि कपडेमें मैल गहरा घर कर गया है तो धोबी चिन्ता न करे चाहे कपडा धोते धोते फट जावे। न धोने पर भी कपडा गल ही जाता। रोगकी असाध्य उग्र अवस्थामें लंघन चलते रहने पर भी यदि सन्निपात रोगी मर जावे तो वैद्यने हिंसा नहीं की। उसकी अल्पशक्तिकी त्रुटि है जो रोगके असाध्य, उग्र कोपकी तुलनामें न्यून थी जिसके लिए "को अत्र दोषः" को ढूंढना ही शेष है वह भी मृत रोगीका अन्तिम संस्कार कर देनेके उपरान्त, दूसरे रोगियोंके कुपथ्यों पर हल्ला बोल देनेके पश्चात् फुरसत व शान्तिके समय।

लेकिन इस आसन्न मृत्यु आपत्कालमें परतन्त्र देशकी जनता तो चिकित्सक नहीं है और नाही चिकित्सा कर सकती है। उसे तो अपने प्राण बचाने हैं। यह हिंसा नहीं है। उनकी सम्पत्ति है, उनके देशकी वसुधा है। वे उसे शत्रुके, विदेशी कुकर्मी शासकके कुकर्ममें आहुत करना नहीं चाहते। मेरे मकानको कोई मुझसे छीनना चाहता है मुझे चाहिये कि मैं मकान छिनवानेके बजाये अपने मकानको फूंक दूं। यदि मेरे मकानको कोई कुकर्मके लिए छीनता है तब तो अपने मकानको फूंक देना मेरे लिए और भी जरुरी हो जाता है। मैं और मेरा परिवार तो भूखों मर रहा है और मेरे खेतके अनाजकी शराब बनाकर शासक नंगा नाच कर रहा है तब मेरा कर्तव्य है कि मैं शासकके कब्जेमें गये अपने अनाज, मकान सबको फूंक डालूँ ताकि उसे चान्द्रायण व्रत, रोजेसे रहकर होश आवे, शराबका नशा मिटे और फिर उसे समझाया जावे। जब मेरे घरकी रोटियें खाकर मेरे घरमें शासक जूआ, चोरी, व्यभिचार हत्या कर के उसे बूचड खाना बनाये हुए हैं तब मेरा अपने घरको न फूंकना कुकर्म न रोकनेकी घोर हिंसा है।

❀

विदेशी कौन

हमने विदेशी शासनपर प्रकाश डालते हुए 'विदेशी' शब्दका उपयोग किया है किन्तु विदेशी है कौन? इस पर पूरा प्रकाश नहीं डाला है। शरीर देशकी चर्चा करते हुए तो हमने शायद कई जगह लिखा है कि काम क्रोधादि विजातीय, बाहरी, विदेशी आक्रमक हैं किन्तु पार्थिव देशके निमित्त, जिसका मन्तव्य और संसर्ग वर्तमान राजनीतिसे लगा है, **विदेशी कौन है?** इसपर प्रकाश नहीं डाला है।

शरीर देशकी तरह पृथिवीका कोई विभक्त भाग ही देश माना जाता है, चाहे यह विभाक्ति प्राकृत हो, भौगोलिक हो अथवा कृत्रिम। शरीर देशमें आये हुए काम क्रोधादि विदेशी हैं क्योंकि वे इसके प्राकृत अनुकूल अंग नहीं हैं, विकार करनेवाली बाहरी सत्ता हैं। विषाक्त, मादक, राजस तामस खाद्य व पेय पदार्थ विजातीय तथा विदेशी हैं क्योंकि वे किसी भी प्राकृत जीवन-रत बालकको ग्राह्य नहीं होते। किन्तु यदि क्रमशः सतत प्रयोगसे बालकका सब कुछ प्राकृत विषाक्त, राजस, तामसमें रूपान्तरित किया जाकर विदेशी बनाया जा चुका है। स्वदेशकी मूल निवासनी प्राकृत प्रकृतिका उन्मूलन करके विषाक्त, राजस, तामस विदेशीका उपनिवेश बना दिया गया है तो ये बाहरी काम क्रोधादि स्वदेशी नहीं तो उपनिवेशितों (जो आकर बसे हैं) के बन्धु बान्धव कहलाते ही हैं।

किसी देशविशेषमें विदेशी स्वदेशी बन गये और स्वदेशी हत्या स्थलीकी बलि बना दिये गये। सत्व निर्वासित कर दिया गया और असुरने मानव-कायापर आधिपत्य जमा लिया। अमरीका व अस्ट्रेलिया ऐसे ही देश हैं जहां रेड इंडियन आदि उन देशोंके मूल निवासी स्वदेशी थे किन्तु विदेशियोंने उनका शिरोच्छेदन कर भूतलसे उन्हें मिटा दिया था कुछको रूपान्तरित कर उपनिवेश अंग बना लिया।

किन्तु ऐसे भी देश हैं जहां देशी विदेशीकी समस्या जूझ रही है। पार्थिवदेश मुख्य रूपमें एक भौतिक स्थूल समस्या है और इसी स्थूल समस्याकी लागडाटकी रचना राजनीतिने की है। इस स्थूल समस्याके गर्भमें ही सूक्ष्म समस्या भी छुपी बैठी है। और सूक्ष्मके भीतर अति सूक्ष्म मौजूद है।

(क) देशकी अति स्थूल व स्थूल प्रकृतिकी मांग है कि देशके मूलनिवासी अपने पार्थिव स्थूल शरीरको निरोग, दीर्घायु, पुष्ट बनानेके लिए अपने देशकी उपजका यथेष्ट भाग अपने उपयोगमें लावें।

(ख) देशकी स्थूल व सूक्ष्म वासनामय प्रकृतिकी मांग है कि देशके मूलनिवासी अपनी तृप्तियोंके लिए अपने देशकी उपजका यथेष्ट भाग अपने उपयोगमें लावें।

(ग) देशकी सूक्ष्म और अति सूक्ष्म सत्ताकी मांग है कि वह देशके मूल निवासियोंको अनुभूति, कल्पना और ज्ञानकी अनन्त धारामें प्रवाहित करा दें।

किन्तु विदेशी इसके विपरित योजना बनानेमें सहस्रबाहु बना हुआ है।

(क) वह शासित देशकी उपजको अपने लिए अपने देशके लिए हडपना चाहता है। उसकी सहस्रबाहु योजना के परिग्रहसे जो बच जाये वह मूल निवासियोंके जलपानके लिए पर्याप्त समझा जाना चाहिये।

(ख) विदेशीकी वासनामय मांग भी शासित देशके भोगोंको प्रचुर मात्रामें बटोरकर विखरे हुए अवशेष पर मूल निवासियोंको संतोष कराना चाहती है।

(ग) कहीं देशके मूलनिवासी अनुभूति, कल्पना, शक्ति व ज्ञानकी अनन्त धारामें प्रवाहित होकर विदेशी दबावको उलट न दें इस भयसे विदेशी सत्ता उन्हें एक भीत, तमावृत गर्तमें अटकाना ही अपने लिए इष्ट समझती है।

किन्तु सब विदेशियोंकी मनोवृत्ति ऐसी नहीं होती। उन में भी बहुत थोडे व्यक्ति, अधिकांश वे लोग, जो शासन चक्र चलाते हैं ऐसे होते हैं जो शायद सब प्रकारसे सब ओरसे कर्तव्यवश परिशोषणको अपनाते हैं। शासित देश के मूल निवासियोंमें भी सब स्वदेश परिवारका सामूहिक हित नहीं सोचते। उनमेंसे अनेक वासनामय संकीर्ण संकुचित स्वार्थमें पडकर " ख " श्रेणीके सहयोगी बन जाते हैं।

अतः " विदेशी " वह प्राणी है जो देशके मौलिक, प्राकृत विकास, स्वतन्त्र वृत्तिका व्याघात करके वासना, भोग लिप्साकी पूर्तिमें देशका सब कुछ लुटानेमें लगा रहता है। भले ही ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे देशसे आया हो या शताब्दियोंसे देशका ही स्वदेशी मुखिया, राजाधिराज या साधारण प्रजा रहा हो। दूर देशवासी द्वारा शासित किसी भी हतभाग्य देशके वे समस्त मूल निवासी, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे विदेशी शासनचक्रके सहयोगी, समर्थक, सहायक अथवा अनुमोदक बने हुए हैं, एक प्रकारसे विदेशी ही हैं। यदि विदेशी लुटेरे हैं तो वे ऐसे लुटेरे हैं जो विदेश को लूट रहे हैं किन्तु ये मूल निवासी (Native) वे लुटेरे हैं जो अपने ही घरको लूट रहे हैं, अपना ही मांस नोच नोच कर खा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें विदेशीसे स्वदेशी अधिक भयानक है जो स्वदेशका शोषण कर रहा है। इसलिए " विदेशी " वही है जो देशकी उपर्युक्त प्राकृत मौलिक मांगोंकी प्रतिक्रिया कर रहा हो चाहे वह सात समन्दर पारसे आया हो या सहस्रों वर्षोंसे स्वदेशमें बसनेवाले किसी मूल निवासी (Native) का रक्तवीज हो।

पृथिवी पर जहां कहीं भी विदेशी शासनका पाश पड़ा हुआ है वहांके विदेशी शासक दिन रात यही घोषणा करते रहते हैं कि वे मूल निवासियोंको सभ्य, संस्कृत, समुन्नत व ज्ञानी बनानेमें तन, मन, धनसे सलग्न हैं किन्तु महान् आश्चर्य यह फूट पडता है कि सैकडों वर्षोंके प्रयत्नसे सभ्य, सुसंस्कृत, समुन्नत बना हुआ शिक्षित समुदाय ही विद्रोही हो जाता है। वह ही इस बातका आन्दोलन करता है कि विदेशी-शासन-प्रणाली का मूल उद्देश्य विश्वास घात करके शोषण करना है।

यदि सचमुच विदेशी सरकारोंका उद्देश्य छल, कपटपूर्ण है और वे अपनी वासनाओंके वशीभूत होकर दूसरोंका शोषण करते हुए अपने अहंकारकी तुष्टिके लिए तथा मान प्रतिष्ठाकी रक्षाके निमित्त दुनिया में अपनेको " दूधका धुला " सिद्ध करके धूर्त प्रचारका आश्रय ले रहे हैं तो हमें कुछ नहीं कहना है क्योंकि इतिहासकी पुनरावृत्ति इसका समाधान कर लेगी। शासित जातियें या तो आयरलैण्डकी तरह आलोकित होंगी या अमरीका रेड इण्डियनोंकी तरह नष्ट।

किन्तु यदि इन विदेशी शासकोंका उद्देश्य महान् है तो इन्हें चाहिये कि वे भागवत् सत्तासे कुछ सीखें। बलात् दूसरोंको समुन्नत, सभ्य, ज्ञानी बनानेके उन्मादमें न बहकें। यदि बलात् सुधार प्राकृत और माननीय होता तो अब तक भगवानने पृथिवीके समस्त मानवोंको ऋषि, मुनि देवता

बना लिया होता।

जो शासक अनथक परिश्रम करके शासितोंको यह न सिखा सके कि वे (शासित) उनके उपकारको स्वीकार करके कृतज्ञता प्रकाशन करदें, वे (शासक) हजार शताब्दियोंमें भी किसी शासित जातिको समुन्नत न कर सकेंगे। शासितोंद्वारा बारबार यह कहे जाने पर "हमपर दया करो हम तुम्हारे द्वारा शिक्षित समुन्नत होना नहीं चाहते" शासक यदि विदेश पर सवार है तो इसका यही रहस्य है कि वह शासक या तो मूर्ख है या निर्लज्ज छद्म स्वार्थी। मूर्ख तो उसे इसलिए नहीं माना जा सकता कि किसी देश पर शासन करना मूढताकी शक्तिका काम नहीं है। मूढता तो हमेशा शासित हुआ करती है। विदेशी जनता निश्चेष्टताके तमोगुणसें डूब कर जडताको प्राप्त हो चुकी थी। जडता मूढताका पर्याय है। यदि शासक जाति मूढ होती तो वह स्वयं शासक न बनकर शासित बनती। इसलिए शासकको मूर्ख तो नहीं अलबत्ता छद्म स्वार्थी कहा जा सकता है।

अतः शासकके लिए दो ही मार्ग हैं। एक वह मार्ग है जिसमें शासक व शासित मिलकर एक हो जावें, फलें, फूलें और अमर बनें। शासक शासित भाव निर्मूल हो और साथ ही अबतकके सब द्वैत भाव, द्वन्द्व लुप्त हो जावें। इस प्रकार उभय शक्तिमें युक्त हो जावें। दूसरा वह मार्ग है जिसमें शासक तमावृत शासितको नष्ट करके उसके शवपर अपनी कुछ आयु वृद्धि करले या शासकके सतत् प्रहारोंसे प्रतिहत होकर सुप्त तथा तमावृत शासित जाति जीवन-मृत्युकी समस्याको लेकर जागृत हो उठे तथा शासकको निर्वीर्य करके जीवनके पथपर अग्रसर हो। दूसरे मार्गकी इन दो भूमिकाओंमें दूसरीमें शासककी मृत्यु व शासितका पुनर्जन्म है किन्तु पहलेमें शासितकी मृत्यु तत्कालीन है और शासककी कालान्तरमें क्योंकि शासितोंको मिटाकर दुर्दमनीय लोलुप रजोगुण शासकोंको थकाकर जडतामें तमावृत करेगा और इसीका नाम है इतिहासकी पुनरावृत्ति। यूनान व रोम साम्राज्य उग्र रजोगुणके कर्मी बने और थककर तामस गुहामें आकर प्राणशून्य हो गये।

हमने शरीरकी चर्चा करते हुए विदेशी शब्दका उपयोग किया है। आजकलके विदेशी शासक कहते हैं (शायद उनके कथनमें सत्य हो) कि वे शासितोंके शुभचिन्तक हैं। यदि वे हैं किन्तु उनके या शासितोंके दुर्भाग्यसे शासित उनसे चिकित्सा करानी नहीं चाहते या शासितोंके शरीरमें कोई ऐसा दोष आगया है कि शासकोंकी अमोघ औषधि नहीं पचती। गुडुच्यादि क्वाथ भी विषका ही काम करते हैं। ऐसी अवस्थामें चिकित्सकका कर्तव्य है कि वह रोगीको अपनी अमृत तुल्य दवा देकर मूर्ख न बने। और यदि रोगी चिकित्सकपर विश्वास नहीं करता, उससे चिकित्सा कराना नहीं चाहता तो बुद्धिमान चिकित्सकको चाहिये कि वह अपने घरका रास्ता ले। बलात् शासितोंको भव-सागर से पार उतारनेका पागलपन न करे। सुधारसे पहले सुधरनेवालोंमें विश्वासोत्पादन करले। शासकको, चिकित्सकको यह नहीं भूलना चाहिये कि जब शरीरमें दोषोंका कोप बढ रहा है तब शमन करनेवाली औषधि भी दोषोंको कुपित ही करेगी। लंघनके बाद शमनकारक औषधि शान्ति दे सकती है। यदि शासतोंमें अविश्वासका दोष कुपित हो रहा है तो शासकका सुधार व शुभ चिन्तनका शमनकारी क्वाथ विकारको बढायेगा, घटायेगा नहीं। यदि शासक विदेशीपनको त्याग कर स्वदेशी बन जावे, राजत्वको त्याग कर प्रजामें समा जावे तो शासक शासितका विषम द्वैतभाव लुप्त हो जावे। विदेशी स्वदेशीका द्वन्द्व मिट जावे और सुधार व शुभ चिन्तनके शमनकारी क्वाथके विना ही अविश्वासका दोष शान्त हो जावे।

साम्प्रदायिक युगोंमें भगवतेच्छाको पीछे हटाकर निम्न-श्रेणीके वासना लोलुप मानवोंने बलात् मनुष्य जातिको अपने सम्प्रदायके कृत्रिम प्रकाशमें लानेका पागलपन किया जो एक पैशाचिक जन संख्या वृद्धिके अन्धकारमें खो गये। दूसरोंको प्रकाशमें तो क्या लाते अपने अति क्षुद्र प्रकाशको भी हाथसे गंवा बैठे। वर्तमान युगमें वासना लोलुप मानव राष्ट्रीय राजनीतिके सम्प्रदायके लिए छद्म भाषाद्वारा यह घोषणा कर रहे हैं कि वे मनुष्य जातिके कल्याण के लिए अथक कर्मी बने हुए हैं। यदि उनकी इस छद्म भाषाको सरल सच्ची भावना मान लिया जाये तो भी उनके लिए यही सद् मार्ग है कि वे अपने इस अमृत प्रसादको तबतक बांटनेको उत्सुक न हों जबतक मनुष्य जाति हर्षावेशमें इसके स्वागतके लिए न दौड पडे। सत्यका बलात् इन्जेक्शन नहीं किया जाता। प्रत्येक वस्तु बलात्कारसे विष बन जाती है।

उपाय और अपाय

किसी कार्यकी सिद्धिके लिए जो मार्ग निर्धारित किया जाता है उसे उपाय कहते हैं। सफलताके प्रलोभनमें हम ऐसे निमग्न होते हैं कि उपायको सर्वथा अव्यर्थ मान लेते हैं और निकट पार्श्वके अपायपर दृष्टिपात करना भी नहीं चाहते क्योंकि सफलताकी धुनमें हमें यह विश्वास ही नहीं होता कि उपायके पडौसमें अपाय भी हो सकता है।

चाहे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता हो या सार्वजनिक हमें उपाय से पहले अपायको देखना चाहिये। प्रायः मानव स्वभावकी यह आदत होती है कि, वह अपने हितकी अपेक्षा द्वेष वश अपने विरोधीका अहित अधिक चाहता है। हम भी प्रायः अपने हितपर उतना लक्ष्य नहीं रखते जितना अपने विरोधी के अहितपर। कभी कभी तो द्वेषवश हम अपने हितको सर्वथा भुलाकर विरोधीके अहितकी ही कामना करने लगते हैं, यहाँ तक कि विरोधीकी अहित कामना करते हुए हम कुछ अपना भी अहित सहन करनेको उद्यत हो जाते हैं। अपने विरोधीको अन्धा देखनेके प्रलोभनमें स्वयं अपनी एक आंख खोना बुरा नहीं समझते। यही कारण है कि, द्वेषवश अपने स्वातंत्र्यसे हटकर हम कभी कभी अपने बन्धन कर्ता शासककी हानिकी चिन्तामें निमग्न हो जाते हैं परन्तु यह तो खरा, निंदित द्वेष है। यदि हम इसको कोई महत्व न भी दें तो भी हमें अपायको कदापि उपेक्षित नहीं करना चाहिये। सांपको मरवानेके लिए नेवलेको आमन्त्रित करना किसी भी समझदार पक्षीके लिए हितकर नहीं।

लक्ष्य है स्वतंत्र होना, स्वातंत्र्य अपहरण करनेवालेका नाश नहीं और यह स्वतन्त्र होना भी है इस भावी स्थिति को ध्यानमें रखते हुए कि वह स्वातन्त्र्य निरापद अक्षुण्य रहेगा। प्रक्रियामें यदि किसीका कुछ अनिष्ट हो जाये तो वह लक्ष्यका अंग नहीं।

जिसने अपना स्वत्व खो दिया है, जो पराधीन है, वह अशक्त है। यदि असहयोगादि किसी क्रिया शैलीसे वह अपना स्वत्व, स्वतन्त्रता प्राप्त कर भी ले तो भी उसके लिए उस स्वतन्त्रताको बनाये रखना कष्ट साध्य है और कभी कभी असाध्य जब तक उसके चारोंओरका वातावरण पूर्ण शान्त न हो। इसलिए उसे स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके साथ साथ चार आंख रहकर यह भी प्रयत्न करते रहना चाहिये कि कहीं कोई पडौसी समर्थ भेडिया उस व्याघ्रसे छिटके हुए आखेटको न दबोच ले। पराधीनता बुरी है किन्तु एकके चंगुलसे छूटकर दूसरेके चंगुलमें फंसना उससे भी बुरा है। इससे तो बेहतर है कि पहलेकी आधीनतामें रहकर ही स्वाधीनताका उपाय सोचे। शासकसे द्वेष करके जल्द बाजीमें अपायकी उपेक्षा करना दुर्बलका बैर है जो शासितका जितना नाश करता है उतना शासकका नहीं।

किसीके स्वत्व वा स्वाधीनताका अपहरण

जो स्थिति अपने लिए हेय है वह दूसरेके लिए श्रेय नहीं हो सकती। जब हम अपनी स्वाधीनता, स्वत्वको खोना नहीं चाहते तब हमें दूसरोंके स्वत्व, स्वाधिनताको हरण करनेकी हिंसामय भावनाको अपने पास तक न आने देना चाहिये किन्तु यदा, कदा मनमें काम लोभादि हिंसक गडबडी करके हमसे कुपथ्य करा ही लेते हैं। हम दूसरेकी स्वाधीनता व स्वत्वको हरण करके उसको दुःख ही पहुचावेंगे। उसे हमारे इस व्यवहारसे दुःख ही होगा। उसके मनमें प्रतिहिंसाका अंकुर उत्पन्न हो जावेगा जो पूर्व कथित चार विष वृक्षोंकी सृष्टि करेगा।

प्रायः काम, लोभादिके वशीभूत होकर हम पर स्वत्व हरण जैसी मलीन अभिलाषाओंकी ओर प्रेरित होते हैं। यदि हम निर्वाहादिके लिए चिन्तित और व्यग्र हैं तो हमें सम्पत्ति शालियोंके सामने अपनी आवश्यकताको, अभिलाषाको रखना चाहिये। उनकी न्याय्यबुद्धिको जागृत करना चाहिये। मान प्रतिष्ठाकी कल्पित थोथी भावनासे मुक्त रहकर उनको अपना बन्धु मान कर याचना करनी चाहिये। अपनेको तुच्छ मान कर याचना करना आत्म ग्लानि है किन्तु मानप्रतिष्ठाके वशीभूत होकर याचना न करना मद, अहंकार है। आत्मग्लानि मद, अहंकार तीनों ही आत्मघातक रोग हैं। हमें यह भी विचारना चाहिये कि यदि हमारे पास धन हो तो क्या हम लुटना चाहेंगे। अपहरण स्वीकार करेंगे। रोग पूंजीपतिके मनमें है उसे हम नहीं निकालते बल्के उस रोगके वश होकर संग्रहीत पूंजी का अपहरण करते हैं। बीजोंका ढेर तो हमने पूंजीपतिके अन्तस्तलमें छोड ही दिया। हमने रोगबीजको न मिटाकर वैरबीजको बोया है। एक आपत्तिको बढा कर दो मुसीबतें पैदा कर दीं। जरा हम अपने अन्दर भी तो ढूँढें वहां भी पूंजीपतिका लोभ सिंहासन पर विराजमान है। वहां भी

पूंजीवादका मोह है। हम रोगी होकर किस मुंहसे दूसरे रोगियों पर छींटें मारते हैं।

आज यह कहा जाता है कि पूंजीपतियोंका धन हमारे ही श्रमका अपहरित संग्रह है। यह सत्य होने पर भी यह निश्चय करना असंभव है कि धनकी किस मात्रासे पूंजीवाद माना जावे और कौन पूंजीवादका पोषक उपकरण है क्यों-कि चार पैसे मजदूरी पानेवालेकी दृष्टिमें एक रुपया मजदूरी लानेवाला पूंजीपति है, बडा न सही, छोटा साहुकार तो है ही। जिस तरह साम्राज्य वादियोंका एक छोटासा चौकीदार भी साम्राज्य वादका स्तम्भ होनेसे साम्राज्यवादी माना जाता है उसी तरह पूंजीपतिका एक नन्हासा कर्मकारी पूंजी वादका शस्त्र तो है ही। दूसरे उस व्यवस्थाके दोषका उत्तरदायित्व पूंजीपति पर नहीं समाज पर है। पूंजीपति को लूटनेसे गरीबी वा पूंजीवाद नष्ट नहीं हो सकता केवल पूंजीकी स्थानान्तर परिवृत्ति हो जायगी। पूंजीपति गरीब और लुटेरा पूंजीपति बन जायगा।

यदि पूंजीपतिका धन हमारा ही श्रमार्जित है तो उस पूंजीवादमें हम भी निमित्त हैं। हम बहु संख्यक गरीबोंने एक लोभी पूंजीपतिके पूंजीवादके लिए आहूतियें संग्रह कीं। जिस लोभके वशीभूत पूंजीपतिने पूंजीवादसे नाता जोडा उसी पूंजीवादकी छोटी मोटी विभूतियोंपर लुब्ध होकर हम उसके पूंजीवादमें उपकरण बने। हम लुटना नहीं चाहते तो हम लुटें क्यों? हमने लोभ वश, बेवसीसे या किसी अन्य कारणसे अपने श्रमिकको पूंजीपतिको दे दिया है या उसने अपहरण कर लिया है तो हम अपने उस श्रमिकको मांगले। असफल होनेपर असहयोग और बहिष्कारको काम में लावें। पूंजीपतिपर पुनः विश्वास न करके अपने श्रमिक का (मजदूरी) का अपहरण रोक दें। व्यवहारिक दुनियामें जो हमारा द्रव्य हमें वापस नहीं करता हम उसपर विश्वास न करके उसको सहयोग देना वन्द कर देते हैं।

पूंजीपतिकी तरह लोभके वशीभूत होकर अपने श्रमिक (मजदूरी) का अपहरण कराकर हम अपने श्रमिकसे कहीं अधिक द्रव्यको हथियानेकी मलीन मनोवृत्तिको त्याग दें। जिस आत्मीय भावसे हमने 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' सीखना है जिस सदाचारसे हमने 'मातृवत् पर दारेषुः' सीखना है उसी सत्य न्यायसे हम 'लोष्ठवत् पर द्रव्येषु' सीखें। यह सत्य सिद्धान्त हम गरीब श्रमिकोंके लिए ही नहीं अपितु मनुष्य मात्रके लिए है, उस पूंजीपति के लिए भी है जिसे हमने पूंजीपति बनाकर आत्मरोगी कर दिया है। पूंजीपति आकाशसे पूंजीपतिके रूपमें नहीं टपका था। वह लुटिया डोर लेकर बाजारमें उतरा था। घोर परिश्रम करनेपर (भले ही उसका यह परिश्रम घृणित स्वार्थ कुकर्म ही क्यों न रहा हो) ही वह पूंजीपति बना। क्यों न हम भी उतना ही परिश्रम निस्वार्थ भावसे सुकर्म पथमें करें और अपने श्रमिक (मजदूरी) का अपहरण रोक दें तो पूंजीवाद अल्पकालमें बादलकी परछाईंकी तरह स्वतः लुप्त हो जायगा। उसकी पूंजी स्वतः खिंचकर हम श्रमिकों में व्याप्त हो जायगी और हमें यह पता भी न लगेगा कि कब और किस प्रकार पूंजीपति श्रमिक बनकर हमारे परि-वारका अंग बन गया।

दूसरेका स्वत्व व स्वतन्त्रता हरण करना ही जब एक निंदित हिंसा कर्म है तब उसके अनुष्ठानके लिए हिंसा या अहिंसाकी व्यवस्था ही क्या ! उसके लिए तो अहिंसामय साधन भी हेय है, हिंसामय साधन तो महा पातक है।

अपने स्वार्थ, विनोद आदिके लिए किसीके द्वेषी न होकर भी कभी कभी मद, अहंकार, आलस्य आदिके वश होकर अपनी कामना, मनोरंजनके निमित्त हम ऐसे कर्म कर डालते हैं जिससे दूसरोंको दारुण व्यथा होती हैं। यह माना कि कभी कभी मनकी दुर्बलताके कारण दूसरे व्यक्ति भी तिलका ताड मानकर हमारी तनिकसी भूलको घोर कुकर्म ठहरा कर दुःख मान लेते हैं और हमें अपना शत्रु समझकर दारुण दुःख देनेसे नहीं चूकते। फिर भी हमें चाहिए कि हम मनोरंजनसे भी सतर्क रहें और ध्यान रक्खें कि कहीं हमारे इस मनोरंजनसे, इस हास्य विनोदसे किसीका अन्तस्तल कबाब तो नहीं बन रहा है, भीमकी विनोदमय क्रीडा उद्दण्डता बनकर, द्रौपदीका परिहास व्यंग बनकर दुर्योधनके अन्तस्तलमें प्रतिहिंसा की ज्वाला तो नहीं फूंक रहे हैं।

[२] (क) कडवी विषाक्त औषध, बलात् पथ्य अथवा शल्य कर्मसे जो कष्ट होता है उसके सम्बन्धमें हमारे सामने दो प्रश्न आते हैं। (१) क्या कोई ऐसी चिकित्सा शैली नहीं है जिसमें विषाक्त औषध तथा शल्यकर्मकी आवश्यकता न हो ?

(२) क्या कोई ऐसी एकाग्रता शैली नहीं है जिससे मनको पीडा न हो। इसका उत्तर यही है कि ऐसी चिकित्सा शैलिएं सम्भव हैं किन्तु उन्हें चिकित्सक नहीं जानते या वे चिकित्सा शैलियें रोग मुक्तिमें विलम्ब चाहेंगी। वे सब काल अपेक्षित हैं। इससे हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि ये सब उपचार एक लम्बी अवधि चाहते हैं किन्तु उस विलम्बमें फल पूर्ण और निर्दोष होता है। इस शीघ्रतामें फल अधूरा और दोष पूर्ण होता है। इस जल्दीके प्रलोभनने चिकित्सकको पूर्ण अनुभवी नहीं बनने दिया, वह अभीतक त्रुटिपूर्ण है और उसकी त्रुटियें रोगियों को बराबर कष्ट दे रही हैं।

यदि चिकित्सामें कर्म की हिंसा हेय न होती तो कमसे कम कष्ट हो ऐसे नये नये आविष्कार न किये जाते, रोगी भी कष्ट दायक सर्जनसे हटकर कम कष्ट कर चिकित्सकों की शरण न लेते; ओपरेशनमें क्लोरोफार्मका उपगोग चालू न किया जाता।

दूसरेको कमसे कम कष्ट हो, इसी पवित्र अहिंसा भावनाको लेकर आज कष्ट इतनी न्यूनता पर ला दिया गया है कि जहां प्राण दण्डके अपराधी धीरे धीरे जीवित जलाये जाया करते थे वहां वे विद्युत–धारा प्रयोगसे क्षणभरमें समाप्त कर दिये जाते हैं ताकि इन्हें नाम मात्र ही कष्ट हो। दण्ड न्याय है क्रोधके वेगका प्रतिकार नहीं। क्रोध जनित प्रतिहिंसा जब दण्डके बहाने प्रदर्शित की जाती है तब वे क्रोधोन्मत्त दण्डदाता दण्डकी दुहाई देकर अपराधियोंको बुरी तरह सताया करते हैं। जब अपराधी अपने अपराधका समुचित दण्ड न्यायाधीशकी क्रोध रहित व्यवस्थासे पाता है तब वह अपने हृदयमें निज अपराधका प्रायश्चित कर सकता है किन्तु न्यायाधीशके क्रोधकी प्रतिहिंसासे सताया जाकर वह अपने अपराधका प्रायश्चित्त न करके न्यायाधीश को श्राप दिया करता है जो उसकी आत्माको परम्परा तक ले जानेवाली प्रतिहिंसासे पतित करता रहता है। परिणाम स्वरूप यह दण्ड अपराधीके लिए सुधारक न बनकर संहारक बन जाता है।

इसलिए मनसे सर्वथा द्वेष रहित रहकर हित भावनासे प्रेरित रोगीको कष्ट दायक हिंसाकर्म निर्दोष नहीं है। यह त्रुटिपूर्ण है जो चिकित्सककी अपूर्णता, अपरिपक्वता सिद्ध करता है। यद्यपि चिकित्सककी इस कर्महिंसाने रोगीको एक बडी हानिसे बचा कर छोटी हानि पहुंचाई है परन्तु प्रायः छोटी हानियें बडी हानियोंकी भूमिका बन जाया करती हैं।

जीवन चर्याकी भूलका दण्ड रोग था। रोग दण्डको भोग कर भूलका प्रायश्चित्त हो जाता। रोग-दण्डको नष्ट करनेके लिए चिकित्सा की गई ताकि शरीर कमसे कम कष्ट अनुभव करते हुए रोग मुक्त हो जावे। इस चिकित्सामें दण्ड भोग (रोगकष्ट) को कम करनेके लिए विष प्रयोगोंसे शरीरके ज्ञान तन्तुओंको मूर्छित किया जाता है जिससे रोगी व दूसरे मनुष्योंको यह उदाहरण मिल जाता है कि जीवन चर्याकी भूलके परिणाम स्वरूप रोग दण्डके कष्टसे बचा जा सकता है। इसलिए वे जीवनचर्याकी भूलसे बचनेके लिए जंगली पशुओंकी तरह सतर्क नहीं रहते। साथ ही यह विषप्रयोग न उन्हें कष्टसे मुक्त करता है न रोगसे बल्के नये रोगोंको शरीर पर लाद देता है जो एक न एक दिन भूल पर भूल होनेके कारण भयानक रोगकष्टके रूपमें फूट पडते हैं और अन्तमें रोगीके शरीरको अत्यन्त दयनीय स्थितिमें लाकर नष्ट कर देते हैं।

चिकित्सक और रोगी सब तात्कालिक विधान चाहते हैं क्योंकि हिंसा कर्मकी अशांतिने सबके हृदयोंमें चंचलता, असहिष्णुता उत्पन्न करदी है जिसके कारण सब चटपट दुःखसे छुटकारा पाना चाहते हैं। हिंसाने उनके धैर्य व आत्मविश्वासको नष्ट कर दिया है। मतमतान्तरोंमें भी थोडेसे प्रायश्चित कुछ दान पुण्यकी हास्यास्पद प्रथा इस धैर्यहीन जल्दबाजीने ही डाली है किन्तु प्राकृत नियम आद्योपांत यथार्थ रहकर ही चालू रह सकता है।

हम यह ऊपर स्पष्ट कर चुके कि कष्टदायक चिकित्सा पद्धतिसे हमें जो लाभ होता है वह या तो क्षणिक होता है या होता ही नहीं, केवल बाह्य रूपसे लाभसा प्रतीत होता है। हम आज इसीका यह परिणाम देखते हैं कि चिकित्सक कष्टदायक विषाक्त चिकित्सा प्रयोगोंके नये नये आविष्कार करते जा रहे हैं ताकि उनकी चिकित्सा रोगीके रोग कष्टको शीघ्रतम दूर करदे। रोगको निर्मूल करना उनका लक्ष्य नहीं है। यह उत्तर दायित्व विचारे शरीरके ऊपर ही लाद दिया जाता है।

यदि चिकित्सकोंका यही उद्देश्य बना रहता कि वे सुख-कर, प्राकृत साधनोंकी ढूंढ तलाशमें लगे रहते और कष्टकर विषाक्त चिकित्सा शैलीको सदाके लिये विदा कर देते तो हिंसामये विषाक्त चिकित्सा शैली आरम्भमें अल्पकालके लिए आपद्धर्म मानी जा सकती थी किन्तु तब भी इससे अकल्याण ही होता क्योंकि मानव स्वभावका इतिहास बताता है कि, जहां आपद् कालमें धर्मके स्थानपर आपद धर्मको अनुमति मिली वहां मानव स्वभावने धर्मको विदा किया और आपद कालके बीत जानेपर भी धर्मको प्रतिष्ठित करनेके लिए उद्यत नहीं हुआ।

[२] (ख) भर्त्सना, ताडना, धिक्कार तथा कटु वाक्योंसे कोई कुपथसे नहीं हटता। हठ, दुराग्रह, क्रोध, प्रतिहिंसा ही इनका परिणाम होते हैं। अपवाद स्वरूप जो कुपथसे बचते हैं उनके मनमें प्रतिहिंसा, दुष्टता उत्पन्न हो जाती है जो कालान्तरमें अपने नग्नरूपमें कार्यक्षेत्रमें उतर आती है।

[२] (ग) दण्ड, कारावाससे किसी विरले साधुका सुधार भले ही हो जावे। अपराधी तो द्वेष, हिंसा, छल छिद्रोंसे ही परिपक्व होता है।

[३] प्राण दण्डसे दण्ड पानेवालेको कोई लाभ नहीं होता। यदि प्राण दण्ड द्वारा वैसे हत्या काण्डोंसे वह वंचित कर दिया गया है तो उस हिंसा वृत्तिको जन्मान्तरमें ले गया है।

वास्तवमें हमारे हिंसा कर्मके समस्त विधान अपराधीके सुधार अथवा कल्याणके लिए हैं ही नहीं। हममें जल्दबाजी और अदूरदर्शिता है जिसके कारण हम प्रत्यक्षको हटा देना ही सुधार समझते हैं। हम अपने सामनेकी गन्दी वस्तुको फेंक देना ही गन्दगीकी इतिश्री मानते हैं किन्तु हम यह नहीं सोचते कि हमारी फेंकी हुई गन्दगी जहां जाकर गिरेगी वहांपर भी कोई है। उसे भी गन्दगी अप्रिय है और वह भी गन्दगीको फेंकेगा। इस प्रकार यह फेंका फेंकीका क्रम हमारे ही ऊपर आकर पडेगा। यही कारण है कि चौगान की गेंदकी तरह एक दूसरेपर फेंकी जाकर हिंसा एक स्वभाव बन गई है। हम हिंसकको अपने सामनेसे हटा देना चाहते हैं। हम अपना और समाजका कल्याण इसीमें समझते हैं। हमारी दशा शहरके उन मनुष्योंकी तरह है जो एक दूसरेके शत्रु तो नहीं हैं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति विष्ठाकी दुर्गंध से बचनेके लिए अपने घरकी विष्ठाको अपने घरके दरवाजेसे फेंक रहा है जिसका परिणाम यह हुआ है कि अब हर दरवाजेपर दूसरे द्वारा फेंका हुआ विष्ठा बुरी तरह भिनक रहा है। यही हमारी कर्महिंसाका विधान है मनसे अहिंसक रहते हुए भी।

शारीरिक रोगोंकी तरह काम क्रोधादि मानसिक रोग हैं। मानसिक रोगियोंकी चिकित्साके लिए परम प्रवीण आध्यात्मिक चिकित्सकोंकी जरूरत है जो धैर्यसे चिरकाल तक चिकित्सा चला सके। रोगका वेग सुनते ही कत्लेआम का हुक्म देनेवाले नीम मुल्ला, जो निदान तक नहीं कर सकते, उपयुक्त चिकित्सक नहीं हैं। मसीहा वही है जो रोगके मूल कारण दोषोंको शांत कर दे। मानसिक रोगीका वध करनेसे रोगी रोग मुक्त नहीं हो सकता, मारा जाकर भी वह रोगको साथ ले जाता है। जन्मान्तरमें प्रतिहिंसाके अतिरिक्त अपने कुसंकल्प बलसे मानवताके मनस्तत्वको क्षुब्ध करता रहता है।

शारीरिक रोगकी तरह क्रोधादि रोग भी प्राणीकी भूल का परिणाम हैं। जब हम भूलोंके परिणाम शारीरिक रोगों से छुटकारा पानेके लिए रोगीका वध न करके रोगकी विपरीत क्रिया (भैषज प्रयोग) करते हैं तब क्रोधादि रोगोंमें भी विपरीत क्रियाका अनुसरण करना ही हमारे लिए कल्याणकारी है। क्रोध, वैर और द्वेषको दूर करनेसे बेहत्तर भी कोई चिकित्सा हो सकती है जो हत्यारेका कल्याण करे? अपराधी हैं काम, लोभ, मोह, मद, क्रोध, द्वेष और वैर, हत्यारा नहीं। पागलका उपयुक्त दण्ड है चिकित्सा द्वारा पागलपनका उन्मूलन और वह होता है भैषज (विपरीत क्रिया) द्वारा। इसी प्रकार हत्यारेका दण्ड है भैषज (विपरीत क्रिया) द्वारा उसे क्रोध, वैर व द्वेष मुक्त करना।

ईश्वरको सर्वज्ञ, न्यायकारी व सर्वशक्तिमान माननेवालों को हिंसा कर्मके औचित्यके लिए कोई बहाना रह ही नहीं जाता। भगवान् अपनी सर्वज्ञतासे जानते हैं कि कब कौन किसीको सता रहा है। वह न्यायकारी है, सतानेवालेको दण्ड अवश्य देंगे। वह सर्वशक्तिमान हैं, सतानेवाला उनके न्यायदण्ड (संशोधन) से बच नहीं सकता। तब न्याय

को, जिसे हम अल्पज्ञ जीव ठीक ठीक जानते भी नहीं, अपने हाथमें लेकर अपराधीको दण्ड देने लग जाना ईश्वरके साथ विद्रोह या उनकी विभूतिमें शंका करना है। साथ ही हमारा अत्यन्त प्राञ्जल दण्ड विधान भी अपराधीका संशोधन न करके अपघात ही करता है, चिरकालीन इतिहासने हमें यही आंकडे दिये हैं और इसका कारण है अपराध निर्मूलनके उद्देश्यके स्थानमें अपराधीको त्रास द्वारा आतंकित करनेकी प्रति हिंसा भावना।

किन्तु जिनको ईश्वर और जीवके अस्तित्वमें विश्वास नहीं उन जड वादियोंके लिए, यदि वे मानसिक क्रोध, वैर और द्वेषकी व्यथासे बचकर सुखी रहना चाहते हैं, जरूरी है कि वे पर अहित कामनाकी हिंसासे बचें। यदि वे जडवादी अपने जीवनमें किसीसे संताप पाना पसंद नहीं करते, मित्रोंकी मैत्रीसे सुख शांति चाहते हैं तो वे कर्मकी हिंसाके त्यागसे वैर विरोध घटावें, पर पीडासे बढावें नहीं। जिनको वे बुरा समझते हैं वे भी किसीके मित्र हैं जिनको वे सुख दे रहे हैं। अतः जडवादी, उन कारणोंको दूर करके जिन्होंने विरोध उत्पन्न किया है, अमित्रोंको भी मित्र बनावें। इसीमें कल्याण है।

मनुष्य ही नहीं प्राणीमात्रकी मैत्री कायम करनेके लिए यदि मनुष्य जाति अविराम अनथक परिश्रम करके सहस्त्रों नहीं लाखों वर्ष भी लगादे और सफल हो जावे तो समझना चाहिए कि, मानवजातिने संसारमें सबसे अधिक मुनाफेके व्यापारको सफल कर लिया। किन्तु अपनी सौ वर्षकी आयु कूतनेवाला मनुष्य, इस एकमात्र सर्व श्रेष्ठ व्यापारमें अपने जीवनसे दस वर्ष भी लगाना नहीं चाहता। दस तो क्या एक वर्ष लगानेको भी तैयार नहीं है और जल्दबाजीमें अपनी व अरोगी कहे जानेवाले, किन्तु रोग कीटाणुओंसे भरपूर, दूसरे संगियोंकी दुर्गंधिसे क्षणिक रक्षाके लिए न्यायाधीशकी कुर्सीपर बैठकर हिंसकरूपी विष्ठाको हिंसाकी कमानपर रखकर अनिश्चित स्थानपर जहां पहलेसे ही किसीका द्वार है, फेंक देता है और वह भी मनसे अवैरी रहते हुए। इस प्रकार मानसिक रोगीको रोग मुक्त न करके विष्ठाकी तरह एक अनिश्चित स्थानपर, जहां पहलेसे ही किसीका द्वार है, कर्मकी हिंसा द्वारा फेंक देना, दर दर हिंसा विष्ठाको बखेरना है। रोगोंका प्रचार व प्रसार करना है।

सन् १८४२ से सन् १९४१ की अवधिमें इस व्यापारका चिट्ठा (Balance sheet) बांधनेके लिए हमें इस युगके सर्वोन्नत योरोपको देखनेकी जरूरत है। योरोपमें भी हम केवल सोवियट रूसको देखना चाहते हैं। सन् १८४२ से सन् १९४१ तक इन सौ वर्षोंमें राष्ट्रीयताके व्यापारमें सुधाररूपी मुनाफेके लिए कितनी हिंसायें हुई व हो रही हैं? ३१ दिसम्बर सन् १९४१ को गिने जानेवाले सौ वर्षोंके आंकडोंके आधारपर हम हिंसा प्रतिपक्षियोंसे पूछना चाहते हैं कि इन लाखों नरबलियोंके बाद १ जनवरी सन १९४२ व १ जनवरी सन १८४२ में क्या अन्तर है? मानवजीवनकी आन्तरिक व बाहरी शान्ति कितनी स्थिर व स्थायी हो गई है?

मानव जातिके प्राचीनतम साहित्य में अपराधीकी हिंसाका कहीं उल्लेख नहीं अपराधोंके उन्मूलनका विधान है जिसको दोष हिंसाके नामसे पुकारा गया है। भैषज (विपरीत क्रिया) द्वारा कारणको दूर करना ही अपराध वध कहलाता है। इतिहासज्ञोंका कहना है "ज्यों ज्यों अपराधोंकी भीषणता बढती गई दण्डकी भीषणता भी बढाई जाने लगी"। किन्तु यह सत्य होनेपर भी कारण कार्यके समझनेकी भ्रांति है। दण्डने ही प्रतिहिंसा वश अपराधको बढाया। इस प्रकार दण्डसे अपराध, अपराधसे दण्ड, प्रतिहिंसा वश बढते बढते भीषणता, अति भीषणताको प्राप्त हो गए। मानवताने दोष वधको छोडकर दोषी वध अपना कर प्रतिहिंसाका अविराम चक्र चला दिया।

युद्ध और संग्रामके जितने पर्याय हैं उनका अर्थ प्राणी वध वा प्राणी हिंसा नहीं है। किसी प्रकारकी दो शक्तियोंकी तुलनाका नाम युद्ध है और मिलकर चलनेका नाम संग्राम। अनेक प्राणियोंके, किसी एकके आदेशमें रहकर, नियमित रूपसे चलनेसे उस समूहका नाम सेना पडा है। मार काट, हिंसाका अर्थ किसीसे सिद्ध नहीं होता। किन्तु जब मानवताने युद्ध, संग्राम, सेनापर हिंसा कर्म लाद दिया तो उन्हें औचित्यकी सीमामें लानेके लिए शब्दार्थ बदलने पडे। दूसरेको डरानेवाले भयानक अर्थवाची 'वीर' शब्दको प्रतिष्ठित किया। निर्भीक व साहसी शब्द अपना अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते थे किन्तु मानवताको ऐसे विशेषणकी जरूरत थी जो हिंसा कर्ममें निर्भीक और साहसी रहे। ऐसे

बलवान पुरुषको भयानक अर्थवाले वीर शब्दसे अलंकृत किया। पशुबल प्रतिपक्षी पुरुष समूहकी तूती बोलने लगी और अपमान जनक भयानक अर्थवाची 'वीर' शब्दकी पूजा होने लगी। जो कभी अपमान जनक था वही 'वीर' शब्द आदर सूचक बन गया। हिंसावादी दलने अपनी शक्तिके बलात्कारसे 'धर्मवीर' 'कर्मवीर' 'दानवीर' शब्द रचकर भयानक अर्थवाची 'वीर' शब्दको विभिन्न क्षेत्रोंमें भी आदरसे विभूषित किया। मध्ययुगमें, राजा राजकुमारोंके पार्श्वमें सखा, विट, चेटक तथा विदूषकोंके अतिरिक्त धूर्त व शठ भी होते थे जो राजाओं तथा राज–कुमारोंकी नीचतम कामनाओंको धूर्तता व शठतासे पूरा करके भरपूर धन, सम्पत्ति व प्रतिष्ठा पाते थे। बादशाहों व शाहजादोंके सख्यमें भी ख्वाजा, दरवानके अतिरिक्त दरोगा भी होते थे जो शाहोंकी घृणित इच्छाओंको हर प्रकारकी घृणित रीतिसे पूरा करके यथेष्ट धन व प्रतिष्ठा पाते थे और नाना प्रकारके दरोग (छल कपट) करके 'दरोगाजी' कहकर प्रतिष्ठित किये जाते थे। आज वही दरोगा (झूंठा) शब्द, जो घोर अपमान जनक अर्थवाची है 'जी' सम्मानसे अलंकृत होकर 'दरोगाजी' के नामसे हर किसीको उपाधिके लिए वांछनीय हो रहा है। ठीक ऐसा ही प्राचीन 'वीर' शब्द है। आगे चलकर 'हिंसा द्वारा दूसरेको दबानेवाला' अर्थवाची 'सिंह' शब्द भी राजनीतिज्ञोंने अपने समूहमें अलंकृत किया। उन्होंने विपक्षियोंके सद्गुणोंको दुर्गुण घोषित किया। 'रक्षक' अर्थवाची 'राक्षस' शब्दका दूषित अर्थोंमें प्रयोग किया। आज भी दूसरे देशको लूटनेका नाम 'विजय;' विजित देशवासियोंका थककर बेबसीसे काल-यापन करनेका नाम 'राजभक्ति'; अपनी खोई हुई स्वतं-त्रताको प्राप्त करनेके लिये आन्दोलनका नाम 'विद्रोह' कहा जाता है। इस हिंसा उन्मादमें पडकर राजनीतिज्ञोंने भाषापर भी पर्याप्त अन्याय किया है।

प्राचीनशब्दकोषमें 'कातर' शब्द है जिसका अर्थ है 'मछली' जो जलमें तैरती है। अलंकारिक भाषामें यही 'कातर' शब्द अश्रु जलमें तैरनेवाले नेत्रोंकी एक भूमिका को लेकर करुणाभावके लिए प्रयुक्त हुआ है। यह करुणा भाव (कातरता) स्नेह, प्रेम, मोह द्वारा ही उत्पन्न होता है। मोह एक मानसिक विकार है। क्रोधादिकी तरह यह भी नैसर्गिक नहीं, नैमित्तिक है। इसलिए यह भी क्रोधकी तरह त्याज्य है किन्तु मोह हेय होनेपर भी क्रोध जैसा घृणित नहीं माना जाता क्योंकि मोहमें आत्मीयता होती है, गैरि-यत और द्वेष नहीं। 'करुण' अर्थवाची इसी 'कातर' शब्दसे 'कायर शब्द बनाया गया जिसे दुःसाहसी हिंसा वादियोंने अपमान जनक अर्थमें प्रयुक्त किया। मोहसे भीरुता उत्पन्न होती है और इस भीरुताको ही उग्र लोगोंने 'काय-रता' पुकारा है किन्तु क्रोध जनित अपनी क्रूरताको 'वीरता'।

भीरुता क्यों उत्पन्न होती है ? यह जाननेके लिए हमें मोहको जानना जरूरी है। मोहित प्राणीका मोह कुछ परिमित प्राणियों अथवा वस्तुओंपर होता है। वह मोहवश उनमें विकार देखना नहीं चाहता। इसलिए विकार आशंका से वह घबरा जाता है। घबराहटका कारण होता है विकार कर्ताको अपनेसे समर्थ समझना या अपनेको रक्षाके लिए असमर्थ मानना। मोहित समर्थ होनेपर भी तब घबरा जाता है जब उसे विकार कर्तासे भी मोह हो। जब यह मोह अपना विस्तार बढाकर सर्वव्यापी हो जाता है तब एक बहुत ऊँची भूमिका बन जाती है। उस भूमिकामें सब कुछ प्रिय हो जाता है। मौलिक रूप व विकृत तथा विकार कर्ता सबमें मोह हो जाता है।

वर्तमान व भविष्य सब प्रिय लगने लगते हैं जो सम-दर्शिताको प्राप्त कर देते हैं। किन्तु क्रोध द्वेष (गैरियत) को आरम्भ करता है और वह बढते बढते विश्व गैरियतमें परि-णत हो सकता है जिसका स्वरूप है एक अविराम अशान्ति, घोर व्यथा। क्रोधी दूसरोंसे द्वेष करता है किन्तु जब अपने ऊपर क्रोध आ जाता है तब वह अपने आपसे भी द्वेष करने लगता है। द्वेषसे क्रूरता (हिंसा) होती है। क्रोधी अपने द्वेषियों पर तथा अपने ऊपर भी क्रूरता करने लग जाता है। विनाश ही उसका चरम लक्ष्य बन जाता है क्योंकि उसमें आत्मीयता लुप्त हो जाती है और द्वेष (गैरि-यत) व्याप्त। किन्तु मोहित अपने प्रियोंकी सहाय्य करता है। भ्रान्तिसे अथवा शक्ति न्यूनतासे वह भ्रान्त मार्ग ग्रहण करले यह बात दूसरी है। मोहितको अपना शरीर प्रिय है इसलिए शरीरको विकारसे बचानेके लिए वह भाग जाता है क्योंकि उसे अपनी शक्ति न्यून प्रतीत होती है।

क्रोधीमें निर्भयता आ जाती है क्योंकि द्वेष (गैरियत)

के विषने प्रेमको, आत्मीयताको नष्ट कर दिया है। जितनी वस्तुओं वा प्राणियोंके प्रति उसके हृदयमें द्वेष (गैरियत) बढता जायगा उतनी वस्तुओं तथा प्राणियोंके योगक्षेम, रक्षा के प्रति वह निर्मम, निर्मोही होकर निर्भीक बनता जायगा। जब उसे अपनेसे भी द्वेष हो जावेगा तब आत्मविकारसे बचनेकी आत्मरक्षाके स्थानमें आत्मघात, आत्महत्याको अपनावेगा। उस समय जब उसे आत्मप्रेम न होगा तो आत्मविकारसे बचनेकी ममता भी न होगी बल्के आत्मघात की उत्कट धुन होगी। अतः क्रोधीकी क्रूरतासे मोहितकी भीरुता कम बुरी है यद्यपि हिंसावादीने इसे कातरतासे कायरता बिगाडकर अट्टहास किया है।

क्रोध, मोह और प्रेम

मोह एक भ्रान्त ममता है और प्रेम एक ज्ञानयुक्त स्नेह। प्रेममें वास्तविक हितकामना होती है और मोहमें एक भ्रान्ति पूर्ण परन्तु लक्ष्य दोनोंका आत्मीयताको लिए हुए होता है। प्रेम सर्व प्रियताकी ओर चलता है और मोह एकाकी मनमें। इसीलिए मोहितको भी गैरियत रहती है। प्रेम द्वेष (गैरियत) को स्थान नहीं देता किन्तु क्रोध द्वेष का उद्गम है। वह सीमित मोहको सर्व व्यापी प्रेममें परिणत न करके उस अल्पको भी भस्मसात करनेके लिए कटिबद्ध रहता है। मोहित अपने आंशिक द्वेषको नष्ट करके सर्वव्यापी प्रेमकी भूमिकामें जा सकता है किन्तु क्रोधी अपने मनस्तत्वमें निवासित आंशिक मोहको नष्ट करके क्रूर कालकूट ही बनता है। प्रेम सर्व मित्र, मोह आंशिक मित्र तथा क्रोध सर्व शत्रु है। इसीलिए मोह करुणा, अनुकम्पा व सहानुभूति अर्चित करता है किन्तु क्रोध व क्रोधीसे सबको द्वेष व विराग रहता है। क्रोधी क्रोधोन्मादमें ही निर्भीक रहता है। क्रोध उतरते ही क्रोधी अत्यन्त कायरतापूर्ण मुद्रामें बदल जाता है।

मोह और क्रोध विकारपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। मोह जनित कातरता (कायरता) उतनी हेय नहीं जितना इसे हिंसावादियोंने बदनाम किया है।

यह बतलाया जा चुका है कि, 'युद्ध' दो व्यक्तियोंकी किसी प्रकारकी शक्ति तुलनाका नाम है। जब यह शक्ति तुलना दो व्यक्तियोंसे बढकर दो पक्षोंमें चली गई तब द्वन्द्व युद्ध शब्द बना। जहां दो व्यक्तियोंमें शक्ति-तुलना करते हुए क्रोध आया तो उस्तादोंने पृथक् कर दिया क्योंकि उन का उद्देश्य द्वेष, वैर जनित हिंसा नहीं था। यह नियम वाक् युद्धमें भी पाया जाता है। किन्तु जब हिंसा वादियोंने इसी 'युद्ध' शब्दको हत्या कर्ममें प्रयुक्त कर इसे यौगिकसे रूढ कर दिया तब ये युद्ध धार्मिक माने जाने लगे और यश कर्ता प्रचारित किये गये तथा इन युद्धोंकी नर हत्याएं स्वर्गारोहणकी सीढियें मानी गईं।

इतिहास और अहिंसा

राजनीतिज्ञोंके साथ साथ इतिहासज्ञोंका भी यही मत है कि, व्यवस्था और राज्य हिंसा द्वारा ही चलाये गए हैं और यही मार्ग सदा चलेगा क्योंकि यह प्राकृत है और इतिहास इसमें प्रमाण है।

इतिहासज्ञ ही इतिहासोंको भ्रान्त मानते हैं। अतः **'हिंसा द्वारा ही व्यवस्था बनी है और बन सकती है'** मानना भी भ्रांति है। इसके अतिरिक्त राज्य हिंसावादियों द्वारा चलाए गए हैं तथा इतिहास उनके प्रतिपक्षियों द्वारा लिखे गये हैं अतः उनका अपने मार्गको ठीक मानना कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु इन इतिहासज्ञोंने भी जब जब उग्रतासे युक्त होकर नैसर्गिकताकी भूमिकामें प्रवेश किया है, हिंसाको हेय ही माना है। अतः मानव जातिके प्रमाण भूत प्राचीन इतिहास पुराण मानना चाहिये तो कवि कल्पना अलंकार हैं जिनका अर्थ नर हत्या द्वारा विजय व्यवस्था, शांति न होकर कुछ भिन्न ही है या हिंसावादी राजनीतिज्ञोंने क्रूरता द्वारा सफलताकी भ्रांतिमें अयथार्थको यथार्थ घोषित किया है। इतिहास और राजनीति हिंसावादियोंके ताण्डव नृत्यके कारनामे हैं अतः उनमें अहिंसा की नैसर्गिकताको ढूंढना प्रज्वलित अग्नि ज्वालासे शीतल जल धार प्राप्त करना है। राजनीतिज्ञोंने ही हिंसाको व्यवस्था व शांतिका साधन मानकर उसको अपनाया है अतः उनके कारनामोंमें हिंसाका ही बाहुल्य मिलेगा, अहिंसाका नहीं। रही सफलताकी बात सो प्राणियोंके मनस्तत्वमें हिंसाकी क्रूरता द्वारा द्वेष, वैरकी अग्नि प्रज्वलित करके उसको क्रूरता पूर्ण पशुबल द्वारा आतंककी राखसे ढक देनेको यदि शीतलता शांति कहा जाय तो राजनीतिज्ञ सचमुच सफल हुए हैं।

किंतु राखसे ढकी हुई, भीतर ही भीतर सुलग कर आग भीषण रूपसे भडकी है। उसने भीतर ही भीतर उभय पक्ष को सुलगाया और भडककर सबको राख करडाला है। राजनीतिज्ञोंने आग नहीं बुझाई, आग लगाई है और फिर भडकी हुई आगको राखसे दबाया है। जलनेवालोंने भी जलकर जलानेवालोंको जलाया है। वैर और द्वेषसे उन्मत्त होकर उन्होंने भी राखसे दबाया है बुझाया नहीं। यह जलने जलाने और राखसे दबानेका क्रम अबतक चल रहा है। जलतोंको स्नेह जलसे न बुझाकर आतंककी राखसे दबानेका नाम राजनीतिज्ञोंने व्यवस्था और शांति रखा है।

मुर्दा मांसको खाकर कुछ जीव वनस्पतिकी तरह प्राणी जगतके लिए वायुशुद्धिका प्रत्युपकार करते थे किन्तु जब क्रोधोन्मत्त होकर एक मानवने दूसरे मानवका वध किया तो मरनेवालेने प्रतिहिंसा वश मारनेवालेसे बदला लेनेके लिए मुर्दा मांस भक्षक प्राणीकी योनिको ग्रहण किया क्योंकि शरीर मनस्तत्वका स्थूल रूप है। (प्राणी इस जीवनमें या जन्मान्तरमें वहीं जायगा जहां उसकी मनोकामनाको पूर्ण करनेके साधन उपलब्ध हो सकें। प्राणी बदला लेनेके लिए इस जीवनमें वा भावी जीवनोंमें 'बदले' को सफल करनेवाली भूमिकाको खोज कर प्राप्त करते हैं) और तब मुर्दा मांसाहारी, वायु शुद्धि करनेवाला, मानव मित्र 'केशरी' अपने पुराने वैरीको मारकर 'सिंह' कहलाने लगा।

आज प्रतिहिंसा क्रम एकसे अनेकोंमें घूम कर असंख्योंमें घूम रहा है। प्रतिहिंसासे बौखलाकर प्राणियोंने उन वृक्षों का रूप धारण कर लिया है जो पशुपक्षियोंको खाया करते हैं। राजनीतिज्ञोंकी हिंसाएँ, चाहे वे वीरताके नाम पर हों या विजयके; चाहे आत्मसम्मान देश, जाति व धर्मकी रक्षाके लिए हों या व्यवस्था व शान्तिके नाम पर, हिंसितमें प्रतिहिंसा उत्पन्न करेंगी। बदला लेगा और जरूर लेगा और यह असंख्य प्राणियोंका बदलाक्रम, घोरहिंसा, घोर अव्यवस्था विश्वयुद्धको ही नहीं अपितु "एकको एक खाये" को प्रत्यक्ष कर रहा है चाहे हम अपने आप व संसारको धोखा देनेके लिए इसे व्यवस्था, न्याय, अधिकार व शान्ति के नामसे घोषित करते फिरें।

देशभक्ति

देशभक्तिकी अपनी कोई भूमिका है किन्तु सभ्योंने इस में भी अनर्थका कोढ लगा दिया है। आज विदेशोंसे वैर रखना भी देशभक्तिका अंग है। दूसरे देशोंको हानि पहुंचा कर स्वदेशका भला करना आज देशभक्ति बन गया है। पूंजीवाद व साम्राज्यवाद इसी कोढके दो रूप हैं।

गैरियतने आज राष्ट्रीयताको मजहबसे भी भयानक बना दिया है। जब सम्प्रदायके नाम पर सम्प्रदायवालोंमें तलवारें चलती थीं तो विजित अपने सम्प्रदायको छोडकर विजेता के सम्प्रदायमें जाकर प्राण बचा सकता था किन्तु इस राष्ट्रीयताने यह असम्भव कर दिया है।

राष्ट्रीयतामें दो देशोंके मानव मानव नहीं रहे अपितु दो भिन्न प्रकारके जीव हो गये हैं जो अदल बदल नहीं सकते।

जिस तरह सांप नेवला नहीं बन सकता और नेवला सांप। उसी तरह अंगरेज जापानी नहीं हो सकता और जापानी अंगरेज। सांप और नेवलेकी तरह अंगरेज जापानी एक दूसरेको मारें और यदि संधि करलें तो सुलहकर लेने पर भी सांप सांप रहे और नेवला नेवला। संधि होनेपर भी गैरीयत बराबर बनी रहे एकता न हो जावे। यही तो राष्ट्रीयताका सुन्दर आदर्श हैं।×

मेरे खेतमें मेरे परिवारके निर्वाहसे अधिक अन्न पैदा

× सेवा ग्राममें एक जापानी महाशय रहते थे जो गिरफ्तारकर लिए गए हैं। वह केवल जापानी होनेके अपराधमें पकडे गये हैं। और यदि बन्धन कर्ताकी कृपा हुई तो उन्हें वध भी किया जा सकता है। जापानी महाशय अपनी चमडी उतार कर भी अंगरेज नहीं बन सकते। किसी धर्मको ग्रहण करना या त्यागना मनुष्यकी अपनी इच्छापर निर्भर है किंतु किसी देशमें जन्म लेना या न लेना भगवान्‌की व्यवस्था है अपने वशकी बात नहीं। शायद भगवानकी भूलपर ही जापानी अंगरेजको और अंगरेज जापानीको पकडते हैं। रही अपराधकी बात, सेवा ग्रामके जापानी महाशयं अपराधी सिद्ध हो सकें यह असम्भव ही होगा। जो हो राष्ट्रीयताका निर्माण भगवानकी भूलोंका दण्ड मनुष्यको देनेके लिए किया गया है!

होता है किन्तु मेरे पडौसीके ऊसर खेतकी पैदावार उसके परिवारके लिए पर्याप्त नहीं। न्याय इसीमें है कि, मैं अपने निर्वाहसे फालतू अन्नको पडौसीके परिवारको देदूं। मैं इसके लिए उद्यत हूं किन्तु पडौसी मेरे खेतको लूट लेता है। मेरे परिवारके निर्वाह योग्य अन्न भी नहीं छोडता वह उस लूट को ज़िंदा दिली, वीरता कहता है। सब उसे कुलोन्नतिका स्तम्भ मानते हैं। उस लूटसे वह नाना प्रकारके विलासमय ठाठ संग्रह करके उन्नत प्रतिष्ठित, सम्पन्न बन जाता है। उसके विलासमय आतंककारी ठाठसे चका चौंध होकर मैं भी उस जैसा बननेको उन्नति मान लेता हूं और यह भाव दृढकर लेता हूं कि मुझे उस जैसा ही बनना चाहिये।

घरसे मीमांसा आरम्भ की जाती है तो पता लगता है कि, घर लुट रहा है। यह जानकर लूटनेवालेके प्रति द्वेष बढ जाता है। द्वेषकी इस वृद्धिसे मेरे खेतको लूटनेवाले मेरे पडौसीकी लूट-वृत्ति तो नष्ट होती नहीं वल्के एक वैर उस में और बढ जाता है। हिंसा द्वारा हत्याएं होने लगती हैं। यदि लुटेरा पडौसी विजयी होता है तो वह मेरे परिवारको भूतलसे ऐसा मिटा देता है जैसे सभ्य योरोपीयनोंने अमरीकाके मूल निवासी रेड इण्डियनोंको मिटा दिया। और यदि मैं विजयी होता हूं तो पडौसीको मिटाकर उसके ऊसर खेतपर अपना महल बनाता हूं तथा उसके परिवारके बचे हुए प्राणियोंको अपना सेवक। यह सब होता है उन्नतिके लिए। क्या यह उन्नति है? इस प्रकार मैं और मेरा पडौसी परिवारके सब प्राणियोंके सहित वैरसे ओतप्रोत होकर जीते हैं, और हिंसा नृत्यके लिए उसी वैरको जन्मांतरमें ले जाते हैं। खेतका बृहद्रूप है देश और इसी मनोवृत्तिका बृहद्-रूप है देशभक्ति। किन्तु हम कभी नहीं सोचते कि यह पृथिवी ही हमारा देश है और इसकी यथार्थ रक्षा ही देश-भक्ति है। जिस तरह भाइयोंने पडौसियोंने गैर बनकर खेत बाटे हैं उसी तरह परिवारोंने वढकर पृथिवीको देशोंमें बांटा है और बाँटते जा रहे हैं। उर्वरा भूमिके सशक्त मानव अपने देशके मानसिक रोगियों, निर्बलों तथा निर्दोषोंको अपराधी मानकर निकम्मे ऊसर देशोंमें निर्वासित कर देते हैं। निर्वासनके अपमान, निर्वाह न्यूनतासे दुःखी होकर निर्वासित अपराधी तथा निर्दोष प्रतिहिंसा वश समान स्वार्थके लिए संगठित हो उर्वर देशोंपर आक्रमण करते हैं और यह क्रम चलता रहता है। उभय पक्ष इस प्रतिहिंसा पूर्तिके लिए देशभक्तिको निमित्त बनाते हैं।

एक शानदार अट्टालिकामें सौ मानवोंका परिवार रहता है और उसके पार्श्वकी एक झोंपडीमें चार प्राणियोंका। दैवयोगसे झोंपडीके परिवारमें सन्तान वृद्धि होकर सौ प्राणी हो जाते हैं और अट्टालिकावाले परिवारमें संतान वृद्धि न होकर केवल चार प्राणी रह जाते हैं किन्तु वे चार प्राणी अब भी अट्टालिका-किलेको घेरे बैठे हैं जब कि पडौसीके बढे हुए सौ प्राणियोंको ३ हाथ जगह मिलनी भी दुर्लभ हो रही है। झोंपडीके बढे हुए प्राणी अट्टालिकामें जायें और अट्टालिकाके चार प्राणी अपनी जरूरतसे अधिक स्थान को उनके लिए खाली करदें, यही उचित व्यवस्था व न्याय है। मेरे साथके दस मुसाफिर जब गाडीसे उतर गये तब दूसरी गाडीमें बढे हुए नये मुसाफिरोंको मेरी गाडीमें आने का पूरा अधिकार है। यही व्यवस्था पृथिवीके लिए उपयुक्त है। यह संसार एकका नहीं सबका है। घटना बढना एक परिवर्तन मात्र है। स्वदेश परदेश किसीकी अधिकृत भूमिका नहीं। यही पवित्र साम्य भूमिका आधुनिक साम्यवादकी उद्गम है।

देशप्रेमके संकुचित स्वार्थसे मोहित होकर आज हिटलर भगवानसे प्रार्थना करते हैं " मैं सर्वशक्तिमानसे इसके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता कि वह हमारी पूर्ववत् रक्षा करे और मैं तब तक जीवित रहूं जब तक जर्मन जनताके भाग्य संघर्षके लिए उस सर्व शक्तिमानकी दृष्टिमें मेरा जीवित रहना जरूरी है " ‡

क्या सर्वशक्तिमानकी दृष्टिमें जर्मन जनताके हितके अतिरिक्त इस पृथिवीके अन्य मानवोंका हित नहीं है? क्या सर्वशक्तिमान जर्मन जनतासे भिन्न दूसरे मानवोंका हित नहीं चाहते? सर्वशक्तिमान किसकी सुने? पृथिवी पर आज प्रतिहिंसा विनिमय (Exchange) बन रही है।

‡ I have no requests to the Almighty except that He should watch over us in the past and grant that I may live as long as is necessary in His eyes for the fateful struggle of the German people.
BERLIN 26-4-S2

न्याय और दण्ड

एक युवक शराबके नशेमें उन्मत्त होकर अपनी बहन पर बलात्कार करना चाहता है। परिवारवाले उसे बांध लेते हैं और शीतल जलादि उपचारोंसे उसके नशेको दूर करनेकी चेष्टा करते हैं। शराबीकी माता और पत्नी नशेमें उल्लू उस शराबीको स्नेह व करुणाकी उस दृष्टिसे देखती हैं जिस दृष्टिसे मां दुर्बल क्रोधसे आक्रान्त बालककी उद्धताको देखा करती है। अगले दिन भाईको लज्जित व सचेत करनेके लिए बहन कहती है "भइया! तू कल मेरा सर्वनाश करनेपर उतारु हो गया था तुझे लाज नहीं आती।" भाई फूटफूटकर रोने लगता है। परिवारवालोंने गुंडेपनके कारण शराबीका वध क्यों नहीं किया? इसका कारण दो बातोंमें निहित है, एक आत्मीयता और दूसरी शराबीको नशेमें आपेसे बाहर मानना। दोनों भूमिका सत्य हैं। परिवारवालों को शराबीसे आत्मीयता है और वे इस बातको जानते हैं कि शराबी अपने आपेमें नहीं है,नशेमें उल्लू है। ठीक यही अवस्था न्यायालयके अपराधीकी है किन्तु न्याय और दण्ड के बहानेसे अपराधीका वध कर दिया जाता है क्योंकि न्याय प्रतिपक्षियोंमें अपराधीके लिए आत्मीयता नहीं है और वे उसकी अपराध भूमिकाको आपेसे बाहर, बेबस होना नहीं मानते। ये दोनों बातें ही न्याय पक्षवालोंके लिए कलंककी बात हैं। अपराधीने जो कुछ किया है वह एक विकृत भूमिकामें पडकर और न्याय पक्षवालोंने उसमें आत्मीयता न रखकर उस पर घोर अन्याय किया है। कहां तक कहें, संशोधन और निर्मलता लानेवाले न्याय और दण्डको हिंसावादियोंने ऐसे भ्रान्त विचारोंमें बदला है कि उसकी दासतामें जकडी जाकर मानवता घुट घुटकर रोई है। आत्मीयता तकको वध कराया गया है। न्यायाधीशने न्याय व दण्डके भ्रान्त अर्थोंकी महत्तामें विमोहित होकर अपने प्यारे पुत्र तकको मानसिक रोगोंकी भूलोंके लिए वध कराया है, रोग मुक्त नहीं किया। यदि आज किसीकी घडी के भूलोंमें मैल आ जानेसे घडी गलत समय बताकर अपने मालिकके समय विभाग (प्रोग्राम) में भयानक गडबडी कर दे और न्याय व दण्डके भ्रान्त अर्थोंमें फंसा हुआ घडीका मालिक घडीको घडीसाजको न देकर रेलकी पटरीके नीचे रखकर चूर चूर कर डाले तो हम उसे पागल कहते हैं। किन्तु ऐसा ही पागलपन करनेवाले न्यायाधीश को किसीने पागल नहीं कहा।

जिसे हिंसावादियोंने न्याय और दण्ड माना है और हत्या कर्मको न्याय दण्डमें लाकर औचित्यकी सीमामें मिला लिया है यदि हम हत्याओं द्वारा सिद्ध होनेवाला वैसा न्याय करने ही लग जावें तो हम मानवोंके लिए न्यायाधीश बन कर मानव वध, प्राणीवधके अतिरिक्त जीवनभर कोई काम ही शेष नहीं रह जाता। इन प्राण दण्डोंके लिए भी हम, समस्त भूमण्डलके मानव पर्याप्त नहीं होते। जन्मांतरके वैर, प्रतिशोधके उन्माद वश जो हत्याएं चेतन जगतमें हो रही हैं; वैरके, जन्म जन्मांतरकी पीडाओंके जो बदले चुकाये जा रहे हैं उन्हें हम न्यायकारी बनकर अपराध ही घोषित कर सकते हैं क्योंकि एक मानवका वध होनेपर हत्या करने-वालेको अपराधी घोषित कर हमने प्राण दण्ड दिया है।

यदि हम न्याय प्रिय हिंसावादी मानव चरित्र व मानवों में घुसें, मानवेतर प्राणियोंमें घुसें तो हमें पता लगेगा कि प्रत्येक किसी न किसीकी हत्या कर रहा है। चिऊंटी जल्मी कीडेको काट काटकर खा रही है। मानव मानवका अहित चिन्तन कर रहा है। रणमें लाखों मनुष्य हत्याएं कर रहे हैं। अहित चिन्तनके साथ साथ प्रत्यक्ष अहित हो रहा है। नगर, गांव, सम्पत्ति, जीवनोंका आधार अन्त, सब कुछ नष्ट किया जा रहा है। राष्ट्रीयता, स्वदेश प्रेम, पूंजीवाद, साम्राज्य-वाद, आत्मगौरव, स्वदेशाभिमान, मजहब, जातीयता या विकासवाद, इन सबके नामपर मानवको मानव खा रहा है। कीडीसे कुंजर तक सब हत्याओंमें जुटे हैं, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे। आओ, हम न्याय करें, अपराधियोंको दण्ड दें, कारावास भेजें, वध करें! क्या हम ऐसा कर सकेंगे?

कोकीन खानेवालेको हम अपराधी मानकर बंदीगृहमें ठूंस देते हैं। अनैसर्गिक व्यभिचारीको हम जेल भेजते हैं क्योंकि वे आत्मक्षय कर रहे हैं किन्तु आत्मक्षयके साथ साथ पर क्षय करनेवालोंको हम जानकर भी सजा नहीं देते। पति-पत्निका पत्नि पतिका व्यभिचारसे आत्मक्षय व पर क्षय करने में रत है; गरीबोंको गन्दी कोठरियोंमें रहनेके लिए विवश करके उन्हें घोल घोल कर मारा जाता है। न्यायाधीश कुछ नहीं कर सकते उनका न्याय दम तोड देता है। नन्हे भूखे चोरों और डाकुओंको जेल व काले पानीमें सडाया जाता

है किन्तु निरपराध नागरिकोंके घरोंको फुंकवानेवाले महात्मा हिटलर, मुसोलिनी, चर्चिल व टोजोका न्याय करनेमें जर्जों की न्यायप्रियता लुप्त हो जाती है। रंगूनके उन नागरिकों का, जो न टोजोके मित्र थे न चर्चिलके शत्रु, न्याय करनेके लिए मानवोंकी कौनसी अदालत तैयार है ? किस अपराध में उन निर्दोषोंकी सम्पत्तिको फूंककर विध्वंस किया गया ? शत्रुके अपराध परमित्रको दण्ड ! मूर्ख राजाओंकी उस बर्बरतासे क्या यह बीभत्स नहीं है जब बापके अपराधपर बेटेको दण्ड मिलता था ? हिंसावादी न्यायधीश क्या न्याय कर सकते हैं ? क्या वे इसका उत्तर दे सकते हैं ? न्याय और दण्डके फेरमें पडे हुए वे इसे चेतन जगतके बदला चुकानेका अविराम क्रम भी नहीं कह सकते।

इन समस्त विकारों, परिवर्तनों तथा चेष्टाओंमें हम एक ही बात देखते हैं कि किसीकी भूलको दूर न करके भूले हुओंको दूसरी भूलों द्वारा दण्ड देकर उन्हें अन्य भूलोंमें भटकाया जा रहा है और इस भूल अनुष्ठानको औचित्यमें लाया गया है आत्मसम्मान, उन्नति, विकासकी प्राप्तिके लिए। परिणाम इसका यह हो रहा है कि मानवता एक अविराम व्यथाके नीचे घुट रही है, दम तोड रही है और आत्मसम्मान, उन्नति, विकासकी प्राप्तिके स्थानमें हम अपमान, अवनति और संकोच बटोर रहे हैं।

आज भूतलपर देशभक्ति, राष्ट्रीयतके नामपर जो नर संहार हो रहे हैं ये पुरानी जन्म जन्मांतरोंकी हिंसाओंके बदले चुकाये जा रहे हैं। राष्ट्रीयता, स्वदेशभक्ति, स्वजाति उन्नति, वैदेशिक अत्याचार तो निमित्तमात्र हैं। अपनी पराजयका बदला लेनेके लिए विजित मरकर विजयीके देशमें पैदा हुए हैं; अपनी विजयरूपी हिंसाका दण्ड भोगनेके लिए विजयी मर कर विजितोंके देशमें उत्पन्न हुए हैं। त्रस्त, पददलित जातियों, भिन्न भिन्न देशोंकी प्रजाओंके मानव शासक व शोषकोंसे बदला लेनेके लिए प्रतिहिंसाकी ज्वाला लेकर मरे हैं वे त्रस्तों किन्तु उठनेमें तल्लीन देशोंमें जाकर जन्म ले रहे हैं वैरका लेखा चूकती करनेके लिए। प्रतिहिंसाके समान स्वार्थने उन्हें सगा बना दिया है। चोरे चोरे मौसेर भाई बन गये हैं। यह वैरका बदला चुकाया जा रहा है देशभक्ति, स्वतन्त्रता प्राप्ति, साम्राज्य रक्षाको निमित्त बनाकर।

वास्तवमें जीवोंके जन्म जन्मांतरकी वैर जनित हिंसाएं प्रतिहिंसाको खुलखेल रही हैं और यह लेन देन सब चालू रखना चाहते हैं। यदि स्वदेश, परदेश, मजहब, अधिकार, प्रतिष्ठा, जातीयता एवं राष्ट्रीयता प्रभृति शब्दोंको, जिनकी आडमें नर संहार हो रहे हैं, हटा दिया जाय तो अन्तमें पता लगेगा कि जीव जीवसे पिछला बदला चुका रहा है और भुगतान देनेवाला उसे पिछले ऋणकी बेबाकी न मानकर भविष्यके लिए उधार देना समझकर अन्तस्तलके वही खातेमें लिख रहा है भावी जीवनमें वसूल करनेके लिए।

इसका अन्त ?

इसका अन्त कैसे हो ? कर्मका फल तो भोगना ही पडेगा। इसका अन्त है क्षमा और प्रायश्चित्तमें। जिसने हमें हानि पहुंचाई है हम उसे क्षमा करदें। कोई अज्ञानसे ही भूल करता है। चाहे वह भूल अनजानेकी हो या क्रोधादि विकारोंसे संतप्त होनेके कारण। इसलिए उसे क्षमा करके समझाना ही उपयुक्त उपचार है। जैसेको तैसा करके भूलों का क्रम बांध देना, भूलोंको संसारमें ओतप्रोत करना है।

कर्मका फल अवश्यंभावी है। उसकी विकृत मनोवृत्तिसे हमें जो व्यथा और क्षोभ हुआ है वही तो कर्म फल है। उस क्षोभ व व्यथाका संशमन प्रतिकारसे नहीं क्षमासे ही हो सकता है। फल तो विपक्षीकी विकृत मनोवृत्तिमें बीज रूपसे विद्यमान् था ही। अब तो उसके प्रभावका संशमन करना है। जिन्होंने कभी प्रतिकार किया है और कभी क्षमा भी वे जानते हैं, विकार, व्यथा, क्षोभका शमन क्षमामें ही था प्रतिकारमें नहीं। और यदि हमने भूल की है तो क्षमा मांग लेना या हमारी भूलसे जिसे हानि वा कष्ट हुआ है उसके विकृत मनकी प्रतिकारपूर्ण अभिलाषाओंको अपनी भूलोंका दण्ड मान कर सहर्ष स्वीकार कर लेना प्रायश्चित्त है। किसीको व्यथा पहुंचानेके निमित्त जो विकार हमें मलीन कर चुका है वह तब मिट सकता है जब हम दुराग्रह व हठको त्याग कर सत्यको, अपनी भूलको स्वीकार कर लज्जित हो जावें और यदि कोई पीडा, वेदना या व्यथा भी सहनी पडे तो उसे विकारका संशमन करनेवाली अमृत औषधि समझें। प्रायश्चित्त सदा ही स्वर्गीय, सत्य शिव तथा सुन्दर है। इस प्रायश्चित्तसे जहां हम निर्मल होंगे वहां भावी भूलोंसे भी बचेंगे। हमारे द्वारा त्रस्तका मन भी

क्रोध मुक्त होकर हमारे प्रति सुहृद हो जायगा। उभय पक्ष का कल्याण होगा।

जिसको मैंने पीटा था वह मारकी पीडासे बौखलाकर मुझे पीटने आया है। यदि मैं सिर झुकाकर अपना सिर पिटनेके लिए आगे करदूँ तो वह मुझे क्षमा करके या पीट कर लेखाचूकती कर लेगा और फिर आगेके लिए हिंसा का, वैरका लेन देन बन्द हो जायगा। क्या हम अपने घर के क्रोधोन्मत्त बालकसे पिटकर उसकी मनो कामना पूरी करके उसके क्रोधको निर्मूल नहीं करते? यदि हमको मारनेके लिए कटिबद्ध व्यक्ति मरकर कलको हमारा पुत्र बने और अपने क्रोध विकारमें हमें पीटनेकी हठ करे तो क्या हम अपने बालक पुत्रके नन्हें हाथोंसे पिटकर उसकी मारने की मनोकामना पूरी करके उसके क्रोधको शान्त नहीं करेंगे? जो कलको हमारा पुत्र होनेवाला है वह आज गैर क्यों? क्या हमें विश्व रचनाकी एकता, अभिन्नता, मैत्री, सहयोगकी त्रिकाल सत्य दार्शनिकतामें विश्वास नहीं?

जब हम वैर करके वैरियोंसे नहीं बच सकते, जिनसे द्वेष करके हम दूर रहना चाहते हैं वे प्रतिहिंसा, वैर वश उतनेही चिमटकर हमें तपाते हैं तो हम क्यों न उन्हें प्रेमसे शीतलताके लिए आलिंगन करें! ताप न हममें है न उनमें यह तपानेवाली चीज तो वैर और द्वेष ही है। जब तक वैर था वे सांप व लाठीवाले बने रहे और जब वैरका स्थान प्रेमने ले लिया वे बाप और बेटा बन गए। फिर भी हम वैरके वशीभूत होकर निरपराध सांपके भागनेपर भी लाठी मारने से न चूकें। सदा भूलका पहाड तिलकी ओटमें छिपा रहा।

पृथिवी हमारा देश है और हम इसकी सन्तान। मानवता हमारा धर्म है और प्रेम हमारा जीवन। हम सब प्रेमसे, अवैरमें, स्नेहमें वेदनासे मुक्त जीवें, फलें, फूलें और संध्याके आ जानेपर सो जावें फिर नये जीवनमें जागनेके लिए। यही हमारे जीवनका उद्देश्य हो। मनुष्य ही नहीं प्राणी–मात्र, प्रकृतिका परमाणु मात्र, हम सब एक हैं, सहयोगी हैं, मित्र और साथी हैं इसे हम समझें और मानें। सब कुछ हमारा है और मंगलमय है, यह कभी न भूलें। दूसरोंने क्या किया है, क्या कर रहे हैं और क्या करना चाहिए? यह जाननेके लिए हम अपना समय क्यों नष्ट करें? क्यों क्षुब्ध हों? हमें क्या करना चाहिए यह जानना ही हमारे लिए पर्याप्त है हम फूल बोवें, फूल बीननेके लिए। कांटा खाकर भी कांटा बोना किसीको शोभा नहीं देता।

यह असम्भव है!

हां, प्रतीत तो ऐसा ही होता है। मैलने वस्तुको इतना ढक लिया है कि वस्तु प्रतीत ही नहीं होती किन्तु वस्तु बहुत बडी है और मैलका आवरण अत्यल्प। जब तक हटाने की चेष्टा नहीं की जाती सब कुछ आवरण ही प्रतीत होता है किन्तु स्वाभाविकतासे निमित्तमें आ फंसना ही इस बात का प्रमाण है कि, स्वाभाविकमें पुनः लौट जाना सम्भव ही नहीं सहज संभव है। अग्निका निमित्त प्राप्त करनेमें परिश्रम करना पडा है तब जलको अग्निके निमित्तसे परिवर्तन प्राप्त हुआ है। किन्तु इस उष्णता निमित्तको जलसे दूर कर देने के लिए किसी परिश्रम, नवयोजनाके अनुष्ठानकी जरुरत नहीं, केवल उष्णता प्राप्त करनेके लिए किये जा रहे परिश्रम को स्थगित कर देना ही पर्याप्त है।

जल स्वतः अपनी स्वाभाविक शीतल भूमिकामें पहुंच जायगा। हिंसा निमित्तसे अहिंसा, अक्रोध, अवैरकी नैसर्गिकतामें पहुंच जाना असम्भव नहीं सहज सम्भव है क्योंकि सदाही प्राणी अक्रोधकी नैसर्गिकतामें रहता है, क्रोध निमित्त तो अल्प कालीन ही होता है। इसलिए नैसर्गिकतामें लौट जाना सहज सम्भव है क्योंकि श्रम करनेके श्रम त्याग सरल होता है। परन्तु हमने भ्रमसे यह मान लिया है कि यह असम्भव है। शराबी समझ बैठा है कि शराब छोडा और प्राण गये। दूसरी कठिनाई है हमारा निमित्तमें लय हो जाना। हमने निमित्तको ही स्वभाव मान लिया है। मैलको, खोटको ही कंचन समझने लग गये हैं।

जितनी दूर हम निमित्तमें, खोटमें उतर गये हैं उतना पीछे हमें लौटना पडेगा और जितने अधिक दूर हम आगे हैं उतनी दूर लौटनेमें हमें परिश्रम, कठिनताको अपनाना पडेगा। वह कठिनता दीर्घकालकी होगी, परिश्रम विशेष की नहीं क्योंकि जल जितना अधिक उष्ण हुआ है उतनेही अधिक कालमें शीतल होगा।

हमने आनेमें भी तो घोर परिश्रम किया था अब लौटनेमें सहज परिश्रमसे क्यों मुंह मोडें? हम श्रम करते करते थक गए हैं सो बात भी नहीं है। पतनकी ओर जानेमें, निमित्तोंमें लय होनेके लिए हम अब भी श्रम कर रहे हैं, तब हम अपनेको थका हुआ कैसे मानलें? थक जाते तो पतनके गर्तकी ओर द्रुत गतिसे बढते जानेके बजाये जहांके तहां बैठ जाते। हम सोचें, पिछली स्मृतिको बटोर कर सोचें कि

हमने इन नशों, कुत्सित वासनाओंमें लय होनेके लिए दूसरोंको तडपा तडपाकर मारनेमें आनन्द माननेका अभ्यास करनेके लिए अपने शारीरिक यन्त्रों, मनों तथा आत्माओं को कितना व्यथित किया है !

क्या तम्बाकूके धूंवेकी पहली दमकशीने हमें शर्बतके घूँटका मजा दे दिया था ? क्या हमें आरम्भमें उल्टियें नहीं हुईं थीं ? जी नहीं मचलाया था ? लेकिन हमने हट करने शर्त बांधकर दमकशीका अभ्यास किया था। क्या वही हठ, वही शर्तबन्दी अब उस विष-त्यागके लिए नहीं की जा सकती ?

कितनी दुर्भाग्यकी बात है कि परिश्रम किये बिना ही, परीक्षण करनेसे पहले ही हम उसे असम्भव, महाकठिन घोषित करने लग गये हैं। इतिहासज्ञ, राजनीतिज्ञ तथा मानवोंके अग्रणी सोचें उन्होंने मानवोंको क्रोध, वैर और द्वेष त्यागका अभ्यास कब, किस प्रकार और कितने काल तक कराया ? बीचमें उपस्थित हो जानेवाली विघ्न बाधाओं को कैसे दूर किया ? कहां और कब कैसे भूलें हुईं और उन्हें कैसे सुधारा ? सर्व मैत्री, विश्व बन्धुताको ओतप्रोत करनेके लिए क्या क्या अनुष्ठान किये ? आत्मसम्मान, आत्म-गौरव, जाति, देश, मान प्रतिष्ठाकी रक्षाके बहाने वीरता, कायरता, क्रोध, वैर, मारकाट आदिमें जितनी वेदनाएं हम मानवोंने भोगी हैं क्या उतनी वेदनाएं हमने क्रोध, वैर, द्वेषको निर्मूल करनेके कार्य क्षेत्रमें भोगीं ? और फिर क्या परिणाम निकला ? इतिहास और राजनीतिसे हमें कुछ उत्तर नहीं मिलता। उत्तर मिले भी कैसे ! वहां परीक्षण किया किसने है, यों ही असम्भव घोषित कर डाला है।

यदि हम इसे कठिन भी कहें तो भी इस कठिन मार्ग को अपनाये बिना हमारा निस्तारा नहीं। हम वेदनाओंसे छुटकारा नहीं पा सकते। वेदनाओंमें फंसे रहकर हम वेद-नाओंकी ही सृष्टि करेंगे। निमित्तोंसे हमारी व्यथागठरी उत्तरोत्तर बोझल ही होगी, हल्की नहीं। अतः कठिन हो या सरल, सफलता मिले या नहीं, हमें अब निमित्तोंसे छुटकारा पानेके लिए हठसे, शर्त बन्दीसे जुट जाना चाहिए ताकि हमारी व्यथागठरी निमित्तोंके बोझसे हल्की होते होते निमित्त मुक्त हो जाये। यदि कुछ भी न हुआ तो बढता हुआ बोझ तो बन्द हो ही जावेगा।

विकासवादी हमारी इस मीमांसाको स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं ' संसार संघर्षका नाम है, एकको एक मारकर अपना जीवन विकसित करता है ' यदि ऐसा है तो यह परिवार, देश, जाति, न्याय, अपराधी, दण्ड, व्यवस्था, समाज और राष्ट्र क्या है ? यह एकत्वसे अनेकता क्यों बनी ? ' एकको मारकर दूसरा अपना विकास करता है ' यह नियम घरसे ही आरम्भ क्यों नहीं किया गया ? माता पिताने अपनी ही परिवारको मारकर अपनेको विकसित क्यों नहीं किया ? परिवारोंने पडौसी परिवारोंको मारकर अपने को विकसित क्यो नहीं किया ? और यह एक दूसरेको मार कर विकसित होनेका अन्तिम चरम लक्ष्य, क्या विकासका अंतिम उद्देश्य है ? निर्बल, अपूर्ण तथा असमर्थ विजातियों और विदेशियोंकी हत्याओंके बाद विकासका दूसरा क्षेत्र सामने आता है। वह है अपने स्वजातियों, स्वदेशियोंकी हत्याएं करके विकासमार्गमें आगे बढना। स्वजाति व स्वदेश के मानवोंकी हत्या करने बाद विकासका तीसरा क्षेत्र सामने आता है और वह है अपने परिवारवालोंसे प्रतिद्वन्द्वितामें आगे बढकर सफल (survive) होना क्योंकि विकासवादीके पुत्रका उससे अधिक योग्य होना विकासवादीके विकासमें बाधक है। अपने परिवारका दीप बुझाकर विकासवादी अब सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा है। विकासवादियोंके विकास के लिए पांचों पांडव व छटे माधव देश विदेशके मानवों, अपने भाई भतीजे व पुत्रपौत्रोंका वध करके व करवा कर विजयी बनकर सफल हुए हैं। ये छहों भी तलवार लेकर आपसमें लडें और उन छहोंमें जो विजयी हो वही सर्वोच्च Survival of the fittest माना जावे। सबको मार-कर अन्तिम विजय प्राप्त करनेवाला वह छटा प्राणी अब क्या करे ? क्या अब अपने आपको विजय करके विकासका अन्तिम रंगत (Finishing touch) पूरा कर दे ? यदि ऐसा है तो अब आत्म हत्या करनेकी जरूरत है क्योंकि यह विकास हत्याओंसे ही शुरु हुआ है। मानवोंको संसारसे मिटाकर मिटानेवाले रुद्रका सर्वोच्च विकास हुआ है किन्तु अब विजयीके लिए अपनेसे भी ऊपर उठकर पूर्ण विकसित होना शेष है। अतः आत्महत्या करके वह दिग्विजयी अपने को भी विजित करले !

किन्तु यह काम तो वह शुरूमें ही कर सकता था। तब दूसरोंको मारकर उसने संसारको श्मशान क्यों बनाया ? और तब वह बलवान, श्रेयस किससे हुआ ? तुलनाके लिए जब कोई शेष ही नहीं बचा। विजयोल्लासका अहंकार किस को दिखावे जब देखनेवाला न कोई अपना है और न विजित किया हुआ कोई प्रतिद्वन्द्वी। कृष्ण, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवके निधन हो जानेपर युधिष्ठिर विकासके सर्वोच्च शिखर पर बैठे रो रहे हैं शायद आत्महत्याके लिए ! अतः न्यून बलवालोंको मिटाकर विकसित होनेका अर्थ है संसारको श्मशान बना कर अन्तमें आत्महत्या करना ! और फिर ?... ?

(क्रमशः)

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टि का मौलिक वा आदिधर्म है

(लेखक- श्री० गणपतराव वा० गोरे, औंध, जि० सातारा)

खण्ड ८

[सितंवर अंकसे चालू]

कुर्आन ६९।४२ में 'काहिन'का अर्थ 'पैगम्बर!' काहिन = कृष्णके अनुयायी वा आर्य। ६९।४२का सत्यार्थ। ह० मुहम्मद सा० और राजा भोजका युद्ध। गैबकी बातें जानना कुर्आन तथा वैदिक धर्म दोनोंके अनुसार प्रशंसनीय है। ६७।५ के अर्थपर प्रकाश।

खण्ड ९

पौराणिकों, यहूदियों, ईसाईयों तथा मुसलमानों में वैदिक सूर्योपासना।

कन्कार्डन्स तथा बाइबलमें नन्दी पूजा, नन्दी पूजामें सूर्योपासना; हारून = अरुण, मूसा = गरुड; सोने का बछडा वा अण्डा = सूर्य। बकरा, घोडा, अण्डाभी गौसे उत्पन्न!! सूर्योपासनाही पौराणिक यहूदी तथा ईसाई मतोंकी आधार-शिला है। अदिति वा उषाही कुमारी मरियम है !!!

७. काहिन = पैगम्बर !

हमने काहिन शब्दके दूषणावह अर्थ अगस्त अंकके पृ० ४१२-१३पर कोशकारों तथा मौ०मुहम्मद अली कृत कुर्आन-के फुट नोट२५३०द्वारा दिखाए थे। सितम्बर अंक पृ०४५० पर काहिनके भूषणावह अर्थ 'नबी=Prophet; भविष्य बताने वाला=Soothsayer; पुजारी=Priest' बताये गये हैं। ऐसेही अर्थ कुर्आन ६९।४०-४२ से प्रकट होते हैं-

[कुर्आनके विषयमें अल्लाह मनुष्योंको दीखने तथा न दीखनेवाली वस्तुओंकी शपथ खाकर कहते हैं कि] यह कुर्आन निःसन्देह एक सन्माननीय दूत (जिब्रील) की वाणी है।४०। और यह किसी कवि का काव्य + नहीं, परन्तु तुम अत्यन्त अल्प विश्वास करते हो। ४१। और यह किसी काहिन का वचन (भी) नहीं, परन्तु तुम अत्यन्त थोडा मनन करते हो। ४२।

+ काहिन आदिके समान कवियों और चित्रकारों को भी इस्लामी साहित्यमें पापी समझा गया है, यथा-

(१) ह० अब्दुल्ला बिन उम्र कहते हैं कि रसूल पाकने आज्ञा की कि जो लोग तस्वीरें [चित्र=मूर्तियां] बनाते हैं, कियामतके दिन उनको अजाब [दुःख] दिया जायगा। उनसे कहा जायगा कि जो वस्तुएं तुमने बनाई हैं, उनमें जान भी डालो ॥ बुखारी जिल्द ३ ह० ९४२ ॥ [अपनी प्रजा के चित्र बनानेवालों पर जो अल्लाह इतना क्रुद्ध होता है वह उसकी प्रजा गाय बकरी आदिके मारनेवालों पर कितना क्रोध करता होगा इसका अनुमान मुसलमानों को ही लगाना चाहिए ! क्या कियामतके दिन उनसे भी नहीं कहा जायगा कि जिस मेरी प्रजाको तुमने मारा था उसमें जान डाल कर जिन्दा कर दिखाओ ?]

(२) ह० अबु हरीरा कहते हैं कि हुजूरवाला ने आज्ञा की आदमीके पेट में इतनी पीप भर जाना कि इसके पेटको खाजाए, इससे बेहतर है कि शअरों (काव्यों) से पेट भरा हो। (बुखारी जि० ३ ह० ११४८)

[आज हिन्दुओं के समान मुसलमानोंमें भी सहस्रों चित्रकार और कवि सन्माननीय बने हुए हैं !]

पाठकोंने अगस्त अंकमें ६७।५ का अर्थ पढा है। इसमें शैतान का बहुवचन शयातीन अरबी शब्द है और शैतान को मुसलमान अपना वैरी समझते हैं। इसी कारण उसके अर्थ भी बुरे करते हैं। परन्तु ६९।४२ में जो काहिन शब्द आया है उसके अर्थ भिन्न भिन्न भाष्यकारोंने निम्न प्रकार किये हैं-

१. हाफिज नजीरउद्दीन कृत उर्दू कुर्आनके अनुसार-

काहिन= १. हाजिराती= बद रूहों वा दुष्ट आत्माओंपर आज्ञा चलानेवाला Commander of evil spirits

,, = २. आमिल = हाकिम = Ruler; जादू-टोना, झाड फूंक, मन्त्र जन्त्र करनेवाला। योगाभ्यासी।

२. ख्वाजा हसन निजामी कृत हिन्दी कुर्आनमें 'काहिन' का अर्थ ज्योतिषी वा काहिन किया गया है।

३. अबुल हसन कृत सिन्धी कुर्आनमें अरबी शब्द काहिन को काहिन ही लिखा गया है।

४. ह० रफी उद्दीन कृत उर्दू कुर्आन में काहिन = सयाना = जादू-टोना, झाड फूंक मन्त्र जन्त्र करनेवाला लिखा गया है। Knowing = जाननेवाला।

५. मौ० मीर मोहंमद याकूब खान कृत मराठी कुर्आन में काहिन का अर्थ (१) भविष्य वक्ता और (२) मांत्रिक बताया गया है।

६. मौ० मुहम्मद अली कृत आंग्ल भाष्यमें काहिन = Sooth-sayer, नजूमी, पेशीन-गो, फाल-गो, ज्योतिषी, भविष्य वक्ता, कहा है। Sooth = सूथ शब्द संस्कृत का सत्य शब्द है! न्यू रायल डिक्शनरीमें सूथ शब्दके अर्थ हैं Truth; Reality = हकीकत, रास्ती, हक सत्य। अतः Sooth-sayer का शब्दार्थ होगा सत्य वक्ता। काहिन = कृष्णको सत्यवक्ता आर्य लोग तो मानते ही हैं। हमें प्रसन्नता है कि स्वयं मुसलमान भाष्यकारके भाष्यसे भी वे सत्यवक्ता ही सिद्ध हो रहे हैं! काहन = कृष्ण को आर्य लोग दुष्टोंका दलनकर्ता मानते हैं। कुर्आन के भाष्यकारने उसे हाजिराती कहा। काहन = कृष्ण को आर्य योगेश्वर मानते हैं, कुर्आन का भाष्यकार भी उसे लगभग योगाभ्यासी ही कहता है। काहन को हिन्दुओंने बुद्धिमान माना तो मुसलमान भाष्यकारने उसे सयाना समझा। काहन वा कृष्ण को भविष्य वक्ता और मांत्रिक तो हिन्दु मुसलमान दोनोंही मानते हैं।

अब मुस्लिम भाष्यकार ही बताएं कि क्या ये सब गुण काहिन को पैगम्बर = Prophet = भविष्यवक्ता सिद्ध नहीं करते? वे ही बताएं कि क्या काहिन होना भूषण-वह नहीं? क्या ऐसे काहिनों, कवियों, चित्रकारोंको हिन्दु मुसलमान आजतक सन्मानके दृष्टिसे नहीं देखते आये? अवश्य! बस इसीमें हिन्दु-मुस्लिम-संस्कृति की एकता झलकती है!

८. काहिन = कृष्णके अनुयायी वा आर्य

प्रश्न- अगस्तके अंकमें आपने कुर्आन २।२१३ का अर्थ करते हुए जिस प्रकार कान अन्नासुका अर्थ कृष्णके अनुयायी वा आर्य किया था इसी प्रकार ६९।४२ में आये हुए काहिन शब्द का अर्थ क्या होना चाहिए?

उत्तर- यहां भी वही अर्थ लेना उचित है! ऐसा करनेसे एक तो २।२१३ से अर्थ सुसंगत हो जाता है। दूसरा कुर्आन और हदीस का विरोध मिट जाता है। तीसरा ज्योतिषियों आदि पर कोई लाञ्छन नहीं आता।

प्रश्न- आपने तो मुस्लिम भाष्यकारोंके ही अर्थोंद्वारा काहिन को लगभग पैगम्बर ही सिद्ध कर डाला। अब आप कहते हैं कि काहिन का अर्थ आर्य होना उचित है! सत्य क्या है?

उत्तर— अब ६९।४२ का अर्थ होगा "यह [कुर्आन] कृष्ण के अनुयाई अथवा आर्य का वचन नहीं..." हिन्दु-धर्म को उखाडकर उसकी जगह इस्लाम की स्थापना करने-वालेका यही कहना सुसंगत है कि कुर्आन किसी आर्य का वचन नहीं है।" मुस्लिम भाष्यकारोंके अर्थ भविष्य-वक्ता वा ज्योतिषी, वा जादु-टोना करनेवाला लिया जाय तो कुर्आन और हदीस का विरोध होता है। कुर्आन इन कामोंका निषेध करता है और हदीस इन्हें वैध बताती है। काहिन का अर्थ आर्य करनेसे कुर्आन और हदीसका यह विरोध मिट जाता है!

प्रश्न— इसका अर्थ यह हुआ कि ह० मुहम्मद सा० के समयमें ही आर्यों और मुसलमानोंकी टक्कर हुई थी,

तभी तो कुर्आनके ६९।४२में अल्लाह कहते हैं कि वह (ह० मुहम्मद सा०) काहिन नहीं ! क्या इस टक्करका उल्लेख किसी अन्य पुस्तकमें भी है ?

९. ह० मुहम्मद सा० और राजा भोजका युद्ध ।

उत्तर— १.जुलै अंक पृ० ३५८ की पाद टीप देखनेसे पता पडेगा कि स्वयं ह० मुहम्मद सा० जिस कुरेश जाति में उत्पन्न हुए वह आर्यजाति ही थी । फिर इन्होंने दीन इस्लाम चलाया । इसी कारण हिन्दुओं=काहिनों और मुसलमानोंका युद्ध हुआ ।

२. अब दूसरा प्रमाण लीजिए–

"जित्वा गान्धारजान् म्लेच्छान् काश्मीरान् अर्वान् शठान् । ... एतस्मिन्नन्तरे म्लेच्छः शिष्य शाखासमन्वितः । महामद इति ख्यातः॥
(भविष्यपुराण। प्रतिसर्ग पर्व । अ० ३।२)

अर्थ— उस [राजा भोज] ने गांधार (काबुल-कंधार), कश्मीर और छली दुष्ट अरबवासियों को विजय किया ... इसी बीचमें ' महामद ' (मुहम्मद) नाम का म्लेच्छ अपने बहुतसे शिष्योंसहित बहुत प्रसिद्ध हो गया था ... ९ ॥

... समीक्षा ... राजा भोजदेव छठी शताब्दीमें हुए । उन्होंने दिग्विजय की । उस समय अरबके लोक सब शिव के उपासक थे । वे हिन्दु-धर्म के माननेवाले थे। मक्कामें महाकालेश्वर का मंदिर था। उसी समय मोहम्मद सा० ने अपने मौजजों (मायाओं) से अरब में अपना बडा भारी शिष्यदल एकत्र कर लिया था ।'' +

इस समीक्षासे तो हमारे ही विचारोंका समर्थन होता है। राजा भोज तथा ह० मु० सा० समकालीन थे और इनमें युद्ध हुआ ! हुजूर मौजजे = करामातें दिखाते थे, ऐसा लिखकर भविष्य पुराणने हदीस का ही समर्थन नहीं किया, अपितु हिन्दु-मुस्लिम-संस्कृति की एकताका भी !

१०. गैबकी बातें जानना कुर्आन तथा वैदिक धर्म दोनोंके अनुसार प्रशंसनीय है ! । ६७।५ का अर्थ ।

प्रश्न— गैब की बातें यद्यपि ह० मुहम्मद सा० जानते और मन्त्र-जन्त्र को मानते थे, तथापि उनका यह क्रियात्मक जीवन कुर्आनके तो विरुद्ध है ना ?

उत्तर- मुस्लिम अर्थकारोंके अर्थोंसे ऐसा विदित होता है, परन्तु हम उन्हें सत्य नहीं समझते । कारण ये हैं–

१. कुर्आन ६७।५ में अल्लाह स्वयं कहते हैं कि हमने तारोंको बनाया ही इसलिए है कि मनुष्योंमें जो शैतान अर्थात् अत्यन्त चतुर लोग हैं वे इनसे कुछ समझ सकें ! [शैतान की पूरी व्याख्या आगे की जायगी]

२. यदि हसन निजामी सा० के ६७।५ के अर्थानुसार आकाश पर मनुष्योंका चढना अल्लाहको बुरा लगता होता तो वह कुर्आन सूरत सं० ७० में अल् मआरिज=Ways of ascent to God× =अल्लाहकी ओर चढ जानेके मार्ग न बताता! और वायुयानमें उडकर ऊपर चढनेवालोंको उल्कापातसे मार गिराता ! !

३. फिर तो बहिश्तमें जाना भी पाप समझा जाता, क्योंकि वह भी ऊपरी आकाशमें है !!!

४. यदि मुनज्जिम=फल ज्योतिषि बुरा होता, तो कुर्आनकी सूरत सं ५३ का नाम अन्नज्म = The star = तारा और सं० ८५ का नाम अल् बुरूज=तारे न रखा जाता। और अल्लाह तारोंकी शपथें भी न खाता [देखो ८५ १, ५३।१ आदि]

५. कुर्आनके आरंभमें ही लिखा है कि·· " यह पुस्तक [कुर्आन] जिसमें कोई सन्देह नहीं, उन संयमी लोगों को सन्मार्ग दिखाती है, जो लोग गैबी [इन्द्रियातीत] बातों पर विश्वास रखते हैं ...॥'' २।२-३॥

' गैबी ' शब्द पर मराठी कुर्आन की टीप- ''जो बातें इन्द्रियोंकी आकलन-शक्तिके बाहर हैं उन्हें गैब या

+ ' सार्वदेशिक ' देहली फरवरी १९४४ के अंकमें श्री पं० जयदेवजी शर्मांके लेखसे ।
× मौ० मुहम्मदअलीका अनुवाद ।

अदृष्ट कहते हैं, और ये अन्तर्ज्ञान वा बुद्धिसे जानी जाती हैं। उदाहरणार्थ परमेश्वर और उसके गुण विशेषण, परलोक, नरक, स्वर्ग आदि।"

अब पाठक स्वयं विचारे कि जब बुद्धिद्वारा स्वयं गुप्त रहनेवाले अल्लाह को जान लेना पाप नहीं, तो प्रत्यक्ष दीखनेवाले तारोंके गुणधर्म जानना किस प्रकार पाप गिना जा सकता है? अतः अर्थकारोंके अर्थ अशुद्ध हैं, यही सिद्ध होता है।

खण्ड ७ वें तथा ८ वें को पढनेके बाद पाठक फिर एक बार अनुभव करेंगे, कि कुर्आनका भाष्य किसी संस्कृत तथा अरबीके निष्पक्ष पण्डित द्वारा होना चाहिए।

प्रश्न- यदि आप ऐसा सिद्ध कर सकें कि वैदिक धर्म भी परोक्ष की बातें जानने की आज्ञा देता है, तो फिर कुर्आन और वैदिक-धर्म इस विषयमें सम्मत समझे जाएंगे।

उत्तर- परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्ष द्विपः। (गोपथ कण्डिका ३९)

अर्थ- (प्रत्यक्ष द्विपः) जो आंख से दीखता है, उस [नश्वर जगत्] से द्वेष करनेवाले तथा (परोक्षप्रियाः) गैब वा अदृष्टसे प्रेम करनेवाले (हि) निश्चयसे (देवाः इव भवन्ति) देवोंके समान [ज्ञानी] बन जाते हैं। (३९)

शतपथमें है- परोक्षकामा हि देवाः॥ अर्थात् गैब वा छिपी बात की कामना करनेवाले ही देवता कहलाते हैं।

परमात्माके रहस्योंको जानना देवों का काम है! रेल तार विमानादिके बनानेवालोंको वै० धर्ममें देवता माना गया है, दोजखी नहीं योगदर्शन विभूति पाद- सूत्र २४,२६,२७ में क्रमशः दूरका ज्ञान होना, नक्षत्रोंकी स्थिति जानना तथा उनकी गतिको समझना सिखाया गया है।

वेद कतीब [किताब = कुर्आन] कहो मत झूटे झूटा जो न विचारे॥ (गुरु-ग्रन्थ)

खण्ड ९

पौराणिकों यहूदियों ईसाईयों तथा मुसलमानोंमें वैदिक सूर्योपासना।

प्रश्न- आप गत एप्रिल, जून तथा जुलै के अंकोंमें यहूदियों, ईसाइयों तथा मुसलमानों के ग्रंथोंमें शिव और उमाके दर्शन करा चुके हैं। आप अपने लेखोंमें अनादि वैदिक धर्मकोही सृष्टिका मौलिक वा आदिधर्म समझते हुए यह सिद्धकर रहे हैं कि सेमेटिक जातियां भी किसी समय हिन्दुओंके देवी देवताओंको माना करती थीं। यदि ऐसी बात है तो शिव और उमा के साथ उनके वाहन नन्दी [बैल] का जो घनिष्ठ संबंध पुराणकारोंने बताया है, क्या उसका उल्लेख भी सेमेटिक जातियोंके धार्मिक साहित्यमें कहीं आया है? हिन्दु-जाति तो गो-बैलकी पूजा करती और उन्हें माता-पिता समझती है!! परंतु क्या आप सेमेटिक जातियोंके धर्मग्रंथोंसे गो-बैल का किसी कालमें पूजा जाना सिद्ध कर सकते हैं?

१. बाइबलके कन्कार्डन्समें नंदीपूजाका वर्णन।

उत्तर- यदि हमारी वैदिक धर्मके आदिधर्म और आर्य-जातिकी आदि-जाति होनेकी कल्पना सत्य है, तो इस धर्म और जातिके कुछेक चिन्ह बादकी उत्पन्न हुई जातियों में पाया जाना संभव है। जो जाति आज इस्राईल, यहूदी अथवा Jew = जीव-जाति के नामसे प्रसिद्ध है, उसमें नन्दीपूजा कई शताब्दियों तक प्रचलित रह चुकी है। बाइबलके कन्कार्डन्समें CALF [नन्दी वा गौ का बछडा] शब्द के नीचे लिखा है -

'बछडा वा गौ आदि का बच्चा जिसे दूध पिलाकर, वृक्षोंकी डालियां खिलाकर, गोष्ठोंमें पालकर मोटा ताजा बनाकर, एक वर्षकी आयु होनेपर बलिदान किया जाता रहा, वह एक उत्तम खाद्य पदार्थ समझा जाता था। यह बछडा मिस्र देशमें पूजा जाता था। यह देखकर इस्राईल जाति अधीर हो गई। उन्होंने अपने राजा हारून (Aaron)×

×Aaron (Hebrew Enlightened; Illumined) was the first high priest of Israel of the family of kohath the second son of Levi the third son of Jacob; he had Miriam for an elder sister and Moses for a younger brother; his father's name was Amram and his mother's Jochebed. Born B. C. 1574, died B. C. 1451 aged 123 years

(From Ana. Concordance to the Bible)

पर एक ऐसा नन्दी बनानेका जोर लगाया कि जो उनके आगे आगे चलता रहे। उसने ऐसा नन्दी स्त्रियोंके आभूषणोंसे तय्यार किया। वह बछडा अग्निमें ढाला गया। खोदनेवाले उपकरणों द्वारा उसे आकारमें लाया गया। उसके लिये वेदी (Altar) बनाई गई, और बडे धूम-धामसे उसकी पूजा आरंभ हुई। जेरोबोम (Jeroboam B. C. 970) राजाने ऐसे दो सोनेके नन्दी बनाये थे, जिन्हें उसने अपने राज्यके सीमा नगरों बेथेल तथा दान (Bethel and Dan) में स्थापित किया। इनके लिये राजाने वेदियां बनवाईं, पूजारी रखे, और इनपर बलिदान चढाए जाने लगे। यद्यपि एक पैगम्बरने इस प्रथाको झुट-लाया, तथापि इस्राईलके प्रत्येक एक दूसरेके पीछे आने-वाले राजाने इस प्रकारकी नन्दी-पूजाको सुस्थिर रखा। यह इस्राईल का महान् पाप बना और इसीके कारण उन्होंने दुःख उठाया, असिरिया (Assyria) में लाये गये और अन्तमें नाम-शेष होकर मर गये (Perished in oblivion).

२. बाईबलमें नन्दी-पूजाका वर्णन

जब लोगोंने देखा कि मूसाको पर्वतसे उतरनेमें विलम्ब हुआ तब वे हारूनके पास इकट्ठे होकर कहने लगे, कि अब हमारे लिये ऐसा देवता बना जो हमारे आगे आगे चले। क्योंकि उस पुरुष मूसाको जो हमें मिस्र देशसे निकाल ले आया है, न जाने क्या हुआ।१। हारूनने उनसे कहा, तुम्हारी स्त्रियों और बेटे बेटियोंके कानोंमें जो सोनेकी बालियां हैं, उन्हें तोड़कर उतारो (break off)+ और मेरे पास ले आओ।२। तब सब लोगोंने अपने कानों की स्वर्ण मुद्राओं को तोडकर उतारा (brake off), और हारूनके पास ले आये।३। और हारूनने उन्हें उनके हाथ से लिया और टांकीसे घडके (fashioned it with graving tool)* एक बछडा ढालकर बनाया। तब वे कहने लगे कि, हे इस्राईल! तेरा परमेश्वर जो तुझे मिस्र देश से छुडा लाया है, वह यही है।४। यह देखकर हारूनने उसके आगे एक वेदी बनवाई, और यह प्रचारा कि कल येहोवा के लिये पर्व होगा।५। सो दूसरे दिन लोगोंने प्रातःकाल उठकर होमबलि चढाए (offered burnt offerings) और शान्तिका प्रसाद ले आए (brought peace offerings)। फिर बैठकर खाया पिया और उठकर खेलने लगे ॥६॥ (निर्गमन अध्याय ३२)

३. नन्दीपूजामें सूर्योपासना।

हिन्दुओं तथा इस्राईलोंकी नन्दी पूजामें सूर्यपूजा किस प्रकार छिपी हुई है सो अब देखिए–

आगे आगे चलनेवाला देवता सूर्य वा अग्नि ही है सूर्य नाम पडा ही इसलिए कि वह (संरति आकाशे सूर्यः) आकाश में सदा चलता ही रहता है। और पृथ्वी पर सूर्य का प्रतिनिधि है अग्नि जिसका अर्थ है अग्रणी=

+हारूनने समझा था कि न इस्राईल लोग सोने की बालियां कानों में से तोड तोड कर निकालेंगे और न उनके लिए देवता बनेगा! परन्तु उसका यह विचार असत्य ठहरा। यह कानोंमें बालियां पहननेवाले इस्राईल भी हिन्दु ही थे !!!

*बालियों (golden ear-rings) को प्रथम टांकी से घडना और फिर बछडा ढाल कर बनाना किसी सुवर्ण-कार की समझ में न आयेगा! अतः यह बात कुछ संदिग्ध सी दीखती है। आगे २४ वीं आयतमें स्वयं हारून ह० मूसाको यही बात निम्न शब्दों में समझाते हैं, जो सत्य प्रतीत होते हैं--

" तब मैंने उनसे कहा जिस जिसके पास सोने के गहने हों, वे उनको तोडकर उतारें। सो जब उन्होंने उन्हें मुझ को दिया और मैंने उन्हें आगमें डाल दिया, तब यह बछडा निकल पडा (निर्गमन ३२।२४) इसका आंग्ल अनुवाद ऐसा है-- And Isaid unto them, whosoever hath any gold let, them break it off. So they gave it me: then I cast it into the fire and there came out this calf (Exodus 32:24)

अर्थात् हारूनने तो गहनों (आभूषणों) को केवल अग्निमें डाल दिया था। अग्नि ने स्वयमेव ही सुवर्ण को लगा कर बछडा [वृषभ] बना दिया!! तत्पश्चात् उसे टांकीसे घडकर पूरे आकार में लाया गया होगा।

नेता=Leader । अतः आगे आगे चलनेवाला यही सूर्य देवता है ।

हारून और मूसा=अरुण और गरुड = प्रकाश और अन्धेरा=रज और तम = सत् और असत् ये सब आपस में भाई भाई हैं ।

१. अरबी का हारून तथा बाइबल का आरोन [Aaron) ये दोनों शब्द संस्कृत के अरुण शब्द के अपभ्रंश है । 'अरुण' का अर्थ है उषा-कालका लाल रंग का प्रकाश जो अग्नि के सदृश दीखता है । 'अरुण' सूर्य का भी नाम है । 'अरुण' गरूड के बडे भाई का नाम भी है×। बाइबल का 'आरोन' संस्कृत का बिगाड है, इस का प्रमाण यह है कि कन्कार्डन्सके Index Lexicon में जहां इब्रानी यूनानी आदि शब्दोंके अर्थ दिये गये हैं, वहां Aaron शब्दही नहीं । +

२. अरबीका मूसा तथा बाइबलका मोसेस (Moses) ये दोनों शब्द भी संस्कृत के मुष् धातु से बने हैं, जिसके अर्थ हैं चुराना लूटना, उठा लेजाना, ग्रहण लगाना, ढांकना। इसी से मोषः शब्द बना, जिसके अर्थ हैं, चोर, लुटेरा, उठालेजानेवाला = Thief, robber, remover । पुराणोंमें गरुडको विष्णु वा सूर्यको उठाले जानेवाला [विष्णुका वाहन] माना गया है । अतः मूसा = गरुड !!

३. रात्रि वा अन्धेरा सूर्यको ढांक देता है वा चुरा ले जाता है । अतः मूसा = मोषःका अर्थ हुआ छिपानेवाला या चोर । साथही अरुण वा हारून = प्रातःकाल का लाल उजाला और मोषः वा मूसा सायंकालका काला अन्धेरा सिद्ध हुआ । अरुण = हारून रज है तो मोषः = मूसा तम है । इनका आपसमें ऐसा विचित्र सम्बन्ध है, मानो दिन और रात, सृष्टि और प्रलय, सत् और असत्, एक दूसरेमें से ही उत्पन्न× होते रहते हैं ।

४. अलंकार की विचित्रता और बढ जाती है, जब हम देखते हैं कि जिस प्रकार वेदने सत् और असत् का बन्धुपन * ठहराया है उसी प्रकार अरुण तथा गरूड = हारून तथा मूसा भी आपसमें भाई भाई हैं । ※

४. बाइबलका सोने का बछडा = वेदका सोनेका अण्डा = सूर्य

निर्गमन ३२।१४ के अनुसार सोनेका बछडा हारूनने अग्नि में ढाल कर निकला और फिर उसकी हवन द्वारा पूजा आरंभ हुई । वेदने इसे सोने का अण्डा = सूर्य कहा हैं, और उससे सृष्ट्युत्पत्ति निम्न प्रकार बताकर उसकी हवनद्वारा पूजा करना भी सिखाया है-

हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ऋषि । कः (प्रजापतिः) देवता।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (ऋ. १०।१२१।१)

अर्थ- [जिस प्रकार प्रतिदिन सूर्योदयसे पूर्व उषाकाल आता है, उसी प्रकार सृष्ट्युत्पत्तिसे पूर्व भी कई लाखों वर्षों का उषाकाल× अरुण = हारून आया था । इस उषा

× देखो आपटे कृत कोश ।

+ इसी प्रकार बाइबलका मोसेस = MOSES शब्द भी Index Lexicon में नहीं दिखाया गया है । सिद्ध हुआ कि यह शब्द भी संस्कृत के मोषः शब्द का ही बिगाड है ।

मुष् = To steal; to rob; to remove; to eclipse; to cover (Apte)

× अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः । (अ० १०।८।२३)

(अहो रात्रे) दिन तथा रात, सृष्टि तथा प्रलय (अन्यो अनस्य रूपयोः प्रजायेते) एक दूसरेके रूपमेंसे उत्पन्न होते हैं।

* सतो बन्धुमसति (ऋ० १०।१२९।४)

(असति) असत्में (सतः) सतका (बन्धुं) भाईपन है ।४। 'बन्धु' शब्दका यौगिक-अर्थ 'संबंध रखनेवाला' इतना ही है।

※ देखो कन्कार्डन्स का उपर्युक्त फूट-नोट ।

× ज्योतिर्विज्ञान, भूगर्भशास्त्र तथा भूतविद्याके अनेकों प्रमाणोंसे प्रभावित होकर आज यहुदी और ईसाई लोग बाइबलके नये नये अर्थ करके सृष्टि उत्पत्ति की प्राचीनताको मान रहे हैं, और सृष्टिको-उत्पन्न हुए ७००० वर्ष हुए इस सिद्धान्त को छोड रहे हैं । जज रुदर्फर्ड कृत पुस्तक CREATION देखिए- [शेष पृ० ५१९ पर]

रूपी अग्निमें वह सोनेका बछडा = अण्डा पकता वा बनता रहा। तत्पश्चात् जब वह बछडा वा अण्डा अरुणाग्निमें ढल कर तयार हुआ * तो मन्त्र कहता है कि] (हिरण्यगर्भः) वह सोनेका अण्डा (समवर्तत) [आकाश में अपनी कील पर] चक्कर काटने लगा [began to revolve round its axis] (भूतस्य जातः) फिर वह चराचर सृष्टि को उत्पन्न करके (एकः पतिः आसीत्) उस का एक ही स्वामी बन बैठा। (सः पृथिवीं उत इमां द्यां दाधार) उसने [हमारी] पृथिवीको और इन (मंगल बृहस्पति आदि आठ] ग्रहों को धारण किया है। अतः (कस्मै देवाय) उस प्रजापालक देव की हम (हविषा विधेम) हवन-यज्ञ करके उपासना करें ॥१॥

सूर्यकी उपस्थितिमें ही प्रातःसायं हवन करनेका विधान है, रातको नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि हवन सूर्यके लिये ही किया जाता है। इसी कारणसे हिन्दुओंमें रातके मरे हुए को प्रातःकाल जलानेकी प्रथा है। बाइबलके निर्गमन ३२।५-६ से भी पता चलता है कि पूर्वकालमें इस बछडेकी पूजा यहूदी भी होमसे करते थे।

५. बकरा, घोडा, अंडा भी गोसे उत्पन्न

वेदने सूर्यको अनेक गुणवाची नामोंसे पुकारा है। उसे सोनेका अण्डाही नहीं अपितु बकरा,× घोडा,+ और बैल वा बछडा भी कहा है और इन अवस्थाओंमें उत्पा इनकी माता होनेसे अनेकों स्थानोंमें गो कहलाई है। गो शब्दके संस्कृतमें तथा आंग्ल आदि भाषाओंमें बडे व्यापक अर्थ हैं, अतः हम बकरी, घोडी, ऊंटनी, गधी आदिको भी गो कह सकते हैं! और यदि उषा से अण्डा = Nebula उत्पन्न होता है, तो ' उषा 'को मुरगी = Hen कहना भी अनुचित नहीं !! इस विचार का समर्थन आंग्ल भाषाके कोशसे भी होता है, यथा- COW = Female of any bovine animal, especially of the domestic species. female of elephant, rhinoceros, whale, seal, etc. (the Concise Oxford Dictionary)

६. वैदिक सूर्योपासनाही पौराणिक, यहूदी तथा ईसाई मतोंकी आधारशिला है।

वेद के परमात्मा का सूर्य के गुणोंसे प्रत्यक्ष होता है, इसलिए उपनिषदादिमें सूर्य को ही ' प्रत्यक्ष ब्रह्म ' कहा गया ।.। है। इसी सत्य को लेकर पौराणिकोंने आपने मत प्रचलित किये, यथा-

---

The scriptures together with subsequent facts which are indisputable proofs beyond a doubt indicate that the seventh day or epoch of creation mentioned in Genesis, covers a period of seven thousand years of our time. If then we assume that each of the creative days was of the same length we must conclude that the period of time that elapses from the beginning of the creative work to the end thereof is a period of 49000 years. (Creation by Judge J. F. Rutherford P. 24)

* इसीको वेदमें अन्यत्र भी कहा है कि- तपसस्तन् महिना जायतैकम् ॥ ऋ० १०।१२९।३॥ अर्थात् उस समय (तपसः महिना) अग्निके महत्त्वसे (तत् एकं जायत) वह एक पदार्थ [बछडा, अण्डा, सूर्य, बैल, घोडा, वा बकरा जो भी कहो] बन गया ॥३॥ उपनिषद् कहता हैं- स तपस् तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् (तै० उ० २।६।१) (सः) उस परमेश्वरने (तपस्) अग्निको (तप्त्वा) तपाकर उससे (इदं सर्वम्) यह सारा चराचर जगत् (असृजत्) बनाया ॥१॥ इसी हिरण्यगर्भ वा सोनेके अण्डेको पाश्चात्य खगोल-ज्योतिषियोंने उसमें से ९ वा ७ ग्रहोंके फूटकर अलग होनेसे पूर्वकी अवस्थाको लक्ष्य करके NEBULA = नेब्यूला कहा है॥× अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो ॥यजु० १३।५१॥ (अग्नेः) अग्निकी (शोकात्) उष्णतामें से एक (अजः) बकरा (अजनिष्ट) उत्पन्न होगया॥५१॥ यह बकरा भी सूर्यही है!

+ कालो अश्वो वहति सप्त रश्मिः : ॥ अ० १९।५३।१ ॥ (सप्तरश्मिः) सात रंगके किरणोंवाला (कालः अश्वः) काल वा समय रूपी घोडा (वहति) चलता रहता है ॥१॥

।.। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि (तै० उ० १।१।१)

१. वेद में सूर्य को ' वृषभ+ = बैल, नन्दी कहा है, इसलिये शैवोंने नन्दी को शिव [परमात्मा] का वाहन बनाया।

२. वेदमें सूर्यके लिये सुपर्ण [गरुड = Eagle] शब्द* आया है, अतः वैष्णवों ने गरुड को विष्णु [व्यापक] भगवान् का वाहन ठहराया।

३. अथर्व वेद तथा यजुर्वेद में सिंह शब्द सूर्य के लिए आया है। वैदिक परिभाषा में परमात्मा की ' माता अथवा देवी ' भी कहा है। अतः देवीरूप से परमात्माको उपासना करनेवालों ने सिंह = सूर्य को दुर्गादेवीका वाहन निश्चित किया। और उसे सिंह-वाहिनी की पदवी दी। पारवतीदेवी [शिव-शक्ति] को भी उन्होंने सिंह-याना अथवा सिंह-रथा कह कर पुकारा। शिव को भी उन्होंने सिंहदंष्ट्रः [सींहके जबडेवाला] समझा। अर्थात् परमात्मा की मातृ और पितृ दोनों शक्तियां सूर्य-देव से प्राप्त हो सकती हैं, ऐसी वैदिक कल्पना है।

४. इस्राईल जाति ने वेद की आरुणाग्नि में से सोने के बछडे [सूर्य = हिरण्यगर्भ] को ढाल कर निकाला, इस वैदिक सिद्धान्त का विवरण ऊपर आचुका है। वेदमें इस आरुणाग्निके ही पर्याय गो, अदिति, अघ्न्या, उषा, अनाद्य, अवध्य आदि अनेक नाम हैं। कुर्आनके सूरत बकर आयत ७१ में जिस गो की कुर्बानी करने के लिये ह० मूसा ने इस्राइल जाति को कहा था वह यही अघ्न्या गो [The cow which cannot be slaughtered] है! अरबीमें भी इसी मुसल्लमः× अर्थात् सदा सलामत रहनेवाली Ever safe, imperishable = अजर कहा है! फिर भला ऐसी गोकी कुर्बानी किस प्रकार हो सकती थी? परन्तु अज्ञानियोंने वेद के इस रहस्य को न समझते हुए चतुष्पाद गो प्राणी को पकड कर काट डाला और तब से गो की कुर्बानी का आरंभ हुआ। यह विषय विस्तार से आगे यथाक्रम खोला जायगा।

५. इसी सूर्य को लक्ष करके पुराणोंने राम को १४ कला और कृष्णको १६कला सम्पूर्ण विष्णु=सूर्यका अवतार बनाया।

७. अदिति वा उषाही कुमारी मरियम है!!!

ईसाइयोंने इसी कृष्ण-अवतारकी छायापर Christ = कृष्त = ख्रिस्त वा ईसेकी स्थापना की और उसे कुमारी मेरी [Virgin Mary] के उदरसे परमात्माके वीर्य [शक्ति] द्वारा उत्पन्न हुआ पुत्र घोषित किया! यह सारा ढांचा भी अथर्ववेद १३।२।९ के आधारपरही खडा किया गया है, जिसका एक अर्थ हम टीपमें बता चुके हैं। उसमें जो अदितेः वीरः शब्द आया है, उसका दूसरा अर्थ है ' कुमारीका वीर पुत्र '! अदिति का जहां एक अर्थ है The Goddess Aditi, mother of Adityas, वहां उसका दूसरा अर्थ है Entire; unbroken [APTE], अर्थात् अदिति = अक्षता; अक्षत-योनिः = कुमारी=Virgin. अब हम अदितिको ही मेरी [Virgin Mary = मरियम] कहेंगे! फिर समझमें आजायगा कि अदितिसे सूर्योत्पत्तिके वैदिक अलंकारको कुमारी मरियमके उदरसे ह० ईसाकी उत्पत्तिपर किस उत्तमतासे बटाया गया है !!! अब बातइये कि ईसाई मतकी आधारशिला वेद है वा नहीं? परंतु इस मौलिक वैदिक रहस्यको स्वयं ईसाइयोंने ही भुला दिया। फिर क्या था? न केवल कुर्आनने ही उनपर आक्षेप किये, न केवल विज्ञानियोंनेही इसे विज्ञानद्वारा झुटलाया, अपितु आश्चर्य तो यह है कि वेदके पुनरुद्धारक ऋषि दयानन्दकी दृष्टि भी इस रहस्यको भांप न सकी! ओ३म् की अपार दया है कि एक तुच्छ व्यक्ति के हृदयमें लगभग ५००० वर्षोंसे कालाग्नि में दग्ध हुआ यह यहूदी ईसाई सिद्धान्त पुनरपि अपने मौलिक तेजको प्राप्त करके चमक उठा है! यही नहीं, अपितु इसके साथही अनेक पौराणिक, यहूदी तथा मुस्लिम सिद्धान्त भी एक स्वरसे साक्ष दे रहे हैं कि **' कट्टर पंथियो ! व्यर्थ का वैर विरोध छोड दो! वैदिक धर्मही हम सबों का मौलिक वा आदि धर्म है!'**

+ वृषभो न तिग्मश्टङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् ॥ अ० २०।१२६।१५ ॥

* दिव्यः सुपर्णः स वीरोऽख्यदृदितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा॥ अ० १३।२।९॥

अर्थ- (स दिव्यः सुपर्णः) उस चमकते हुए गरुड (अदितेः वीरः) उषा गोके वीर पुत्र [सूर्यने] (विश्वा भुवनानि व्यख्यत्) सब भुवनोंको प्रकाशित किया है ॥९॥

× महफूज = Preserved; सलामत=Safe; समूचा=Entire, Whole (The New Royal Dictionary.)

किसीभी रीतिसे परावलंबी नहीं। परंतु निस्सरण सिद्धांतके अनुसार अनेक बुद्धितत्वोंके अनंतर जगत्की उत्पत्ति हुई है, ईश्वरसे सन्निकृष्टतया नहीं। इसलिये वह इस मतमें नितांत निरपेक्ष कारण नहीं कहा जा सकता। परंतु स्पिनोझाका ईश्वर तो अपने स्वभावकी आवश्यकतासे ही सब कुछ साक्षात् उत्पन्न करता है, अतएव उसकी नितांत निरपेक्ष आद्य कारणतामें कोई बाधा नहीं।

५-६ प्रमुख तथा स्वतंत्र कारण।

ईश्वर प्रधान और स्वतंत्र कारण भी है। इनका विचार करनेके पहिले 'स्वतंत्र' और 'आवश्यक' इन शब्दोंके अर्थ समझ लेने चाहिये। स्पिनोझाने स्वयं इनके अर्थ बतलाए हैं। 'वही वस्तु स्वतंत्र है जिसका अस्तित्व केवल अपने स्वभावकी आवश्यकतासे होता है, और जिसकी क्रिया एकमात्र अपनेही द्वारा नियत होती है। इसके विपरीत वह वस्तु आवश्यक है या कहिये कि विवश है जिसका अस्तित्व और कार्यमें प्रवृत्ति किसी दूसरी वस्तुके द्वारा एक निश्चित और नियत रूपसे निर्धारित होती है।× जो अपने स्वयंके द्वारा अर्थात् स्वरूपतः आवश्यक हो वही स्वतंत्र है और जो अपने कारणके द्वारा आवश्यक हो वह आवश्यक या विवश है। इसलिये अन्यत्र स्पिनोझा कहता है, 'सच्ची स्वतंत्रता आदि कारणके पदपर ही हो सकती हैं, इसको छोडकर अन्यत्र नहीं।'* विधान १७ तथा उसके उपसिद्धांतोंमें स्वतंत्रताका यही अर्थ बतलाया है। 'ईश्वर केवल अपने स्वभावगत कारणोंसे ही कार्यमें प्रवृत्त होता है, अन्य किसीके द्वारा विवश किया जाकर नहीं।' 'ईश्वर स्वरूपकी परिपूर्णताके अतिरिक्त कोईभी बाह्य या आंतरिक कारण ऐसा नहीं है जो ईश्वरको कार्यमें प्रेरित कर सके।' 'ईश्वर ही एकमात्र स्वतंत्र कारण है क्योंकि सिर्फ ईश्वरही एकमात्र अपने स्वभावकी आवश्यकतासे अस्तित्ववान है, और एकमात्र अपने स्वभावकी आवश्यकतासे कार्य करता है। इसलिये एकमात्र स्वतंत्र कारण है।

प्रथम अपने सिद्धांतोंका प्रतिपादन करके १७ वें विधानके स्पष्टीकरणमें स्पिनोझा मध्ययुगीन दार्शनिकोंसे अपना विरोध असंदिग्ध शब्दोंमें प्रकट करता है, क्योंकि वे ईश्वरको प्रधान और स्वतंत्र कारण तो मानते थे परंतु उनके मतसे ईश्वरकी कारणता उसकी इच्छा, शक्ति या बुद्धिका फल है, यद्यपि ईश्वरमें ये अभिन्न हैं। ईश्वरकी कारणताके संबंधमें उपस्थित होनेवाली समस्त कठिनाइयोंका हल ये लोग इसी इच्छा या शक्ति या बुद्धिका आश्रय लेकर करते थे। प्रत्येक कठिनाईका अर्थ यही कहकर लगाते थे कि ईश्वरेच्छा ऐसी ही है या उसकी बुद्धिने यही निश्चय किया है। परंतु स्पिनोझाकी ईश्वरीय कारणताकी कल्पनामें इच्छा और योजनाको कोई स्थान नहीं। इच्छा योजनादिके निकल जानेसे अभावसे जगदुत्पत्ति (creation exnihils) का संभवभी उतना ही कम होगया जितना कि 'ईश्वर द्वारा त्रिकोणका ऐसा बनाया जाना जिसके तीन कोणोंका योग दो समकोणोंके योगके बराबर न हो।'+

अब स्पिनोझा इसी प्रश्नके दूसरे पहलू का विचार करता है। मध्ययुगीन दार्शनिकोंने ईश्वरमें इच्छा और योजना इसलिये मानी थी कि उसमें इन दोनोंके अभावकी कल्पना अयुक्त है, कारण यह अभाव ईश रूपमें अपूर्णताका द्योतक होगा; क्योंकि इनके मतसे यदि ईश्वर अपने स्वभावकी आवश्यकतानुसार प्रवृत्त होता तो वह अपनी पूरी शक्तिके साथ अनंत रचना करता और इससे श्रेष्ठतर रचना न कर सकता; परंतु इच्छा और योजनापूर्वक उसने सांत और परिच्छिन्न स्वरूपकी रचना की है। वह इससे अधिक और श्रेष्ठतर रचनाएं कर सकता है, इससे उसकी अनंत शक्ति और परिपूर्ण स्वभावका पता चलता है। १७ वें विधानके स्पष्टीकरणमें इसी मतको उद्धृत करके स्पिनोझाने इसका खंडन किया है। इस खंडनका मुख्य जोर इस बात पर है कि ये लोग ईश्वरकी परिपूर्णता बनाए रखनेके पीछे उसकी सर्व शक्तिमत्ताको ही एक तरहसे छोड देते हैं।

"Therefore in order to make a perfect God, they are compelled to make him incapable of doing all those things to which his power extends and anything more absurd than this, or more opposed to God's omnipotence I do not think can be imagined." अर्थात् "ईश्वर की परिपूर्णता बनाए रखनेके पीछे वे उसे उन सब बातों को जो वह

× वही भा. १ प. ७ * Short Treatise, quoted by Wolfson Phil. of Spinoza Vol. I p. 311

+ नी. शा. भा. १, वि. १७ स्व.

अपनी शक्तिसे कर सकता है, कर सकनेमें असमर्थ बतलानेके लिये विवश हैं और इससे अधिक अयुक्त या ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ताके विरुद्ध बातकी कल्पना नहीं की जा सकती। ”

मध्ययुगीन दार्शनिक ईश्वरमें इच्छा, बुद्धि इत्यादि प्रस्थापित करके बादमें यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि ये मनुष्यकी इच्छा, बुद्धि इत्यादि से सर्वथा भिन्न हैं। दोनोंकी इच्छा, बुद्धि इत्यादिमें अक्षरसाम्य मात्र है, परंतु अर्थमें पूर्ण वैषम्य है या जैसा कि स्पिनोझाने स्वयं कहा है– “ इनमें उत्तर तथा दक्षिण ध्रुवका अन्तर है और दोनों में उतनाही मेल है जितना कि 'Dog' अर्थात् ‘ श्व ’ नक्षत्र पुंजमें और भौंकने वाले ‘ Dog ’ श्व नामके जानवरमें। ” इसके अतिरिक्त वे यह भी मानते हैं कि ईश्वरमें इच्छाशक्ति और बुद्धि पृथक् नहीं। इस पर स्पिनोझाका आक्षेप यह है कि यदि इन शब्दोंका मनुष्यकी इच्छा और बुद्धिसे कोई साम्य नहीं और यदि ईश्वरमें ये एक ही हैं तो क्या ये शब्द निरर्थकसे नहीं हैं और क्या हम ईश्वर की कृतिको उसके स्वभावके अनुसार होनेवाली नहीं कह सकते ? तात्पर्य यह कि ईश्वर स्वरूपसे अपृथक् शाश्वत इच्छा और योजनापूर्वक सृष्टिरचना इनका कोई मेल नहीं।

मध्ययुगमें इच्छा और योजनाका विरोध दिखलानेवाला शब्द ‘ आवश्यक ’ के समान ‘ यदृच्छा ’ भी था। यदृच्छा या संयोग एपिक्युरस (Epicurus) तथा उसके अनुयायियोंका मत था। इनके मतसे जगत् का कोई कर्ता या कारण नहीं। सब कुछ तत्वोंके यादृच्छिक संयोग और विभाग से होता है। स्पिनोझा इच्छा और योजनावादियों को और उन सब को जो जगत् को ईश्वरके स्वभाव की आवश्यकताका परिणाम नहीं मानते, इसी यदृच्छावादियोंकी कक्षामें डालता है।

“... it is also clear that he who asserts that the world is the necessary effect of the divine nature also absolutely denies that the world was made by chance; He, however, who asserts that God could have refrained from creating the world is affirming, albeit in other words, that it was made by chance ×

अर्थात् “ यह भी स्पष्ट है कि जो जगत् को दैवी स्वभाव का आवश्यक परिणाम मानता है, वह यदृच्छासे जगदुत्पत्तिका सर्वथा निषेध करता है; परंतु, जो यह कहता है कि ईश्वर जगदुत्पत्ति किये बिना भी रह सकता था, वह चाहे दूसरे शब्दों में ही क्यों न हो, यदृच्छासे ही जगदुत्पत्तिका प्रतिपादन करता है। ” तात्पर्य यह कि ईश्वरमें इच्छा का आरोप, कारणता के निषेध और यदृच्छाके स्वीकार के तुल्य ही है।

७. अंतस्थ या अंतर्यामी कारण।

१८ वां विधान यह है– “ईश्वर समस्त वस्तुओंका अंतस्थ कारण है, बाह्य कारण नहीं। बाह्य कारणता के निषेधसे स्पिनोझाका आशय यह है कि ईश्वर न तो देशतः बाह्य कारण है और न हि पृथक् अभौतिक कारण। अंतस्थ या अंतर्यामी कहनेका अभिप्राय यह है कि समस्त वस्तुएं ईश्वरमें उसी तरह है जिस तरह व्याप्य वस्तुएं व्यापक तत्वमें होती हैं। इसलिये ईश्वरको अंतस्थ कारण कहने मात्रसे ईश्वरका वस्तुजातकी समष्टि (Aggregate totality of all things) से ऐक्य नहीं हो जाता, एरिस्टॉटलके अनुसार अंतस्थ कारणताका मुख्य लक्षण कार्यसे अपृथकता है। अंतस्थ कारण की व्याख्या स्पिनोझाने निषेधात्मक शब्दोंमें इसी प्रकार की है। “ जो अपनेसे बाहर कुछ भी कदापि उत्पन्न नहीं करता” और जिसमें ‘ कार्य अपने कारणके साथ इस प्रकार एकीभूत रहता है कि वे दोनों मिलकर एक समूची वस्तु होती है। ”+ ईश्वर समस्त वस्तुजातका उसी प्रकार अंतस्थ कारण है जिस प्रकार पराजाति अपरा जाति का या अपराजाति विशिष्ट व्यक्तियोंका अंतस्थ कारण है। यद्यपि सामान्य की सत्ता विशिष्टोंसे पृथक् नहीं है तथापि तार्किक दृष्टिसे वह विशिष्टोंके योगसे तादात्म्यापन्न भी नहीं, कारण स्पिनोझाके मतसे सामान्य बुद्धि द्वारा परिकल्पित है।

× Short Treatise quoted by Wolfson: Phil. of Spinoza. pp. 323-324

\+ Epistola 54 quoted by Wolfson in Philosophy of Spinoza vol. I. p. 318

यहांपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रकार जातसे ईश्वरका संबंध यदि इस प्रकारका है जिस प्रकारका सामान्यका विशेषोंसे तो सामान्यकी तरह, जिसका अस्तित्व तार्किक प्रत्ययात्मक (conceptual) है, ईश्वरभी बुद्धिद्वारा परिकल्पितही होगा (ens rationis), वास्तविक सत्तावान नहीं (ens reale)। परंतु ऐसा होनेसे स्पिनोझाके ईश्वरसिद्धि-विषयक समस्त प्रयत्न विफल हो जाएंगे। अपने 'ईश्वर, मनुष्य और उसका कल्याण' नामक ग्रंथमें स्पिनोझाने इसी प्रश्नका विचार करके इसका समाधान यह किया है कि ईश्वरका अस्तित्व बुद्धिद्वारा ग्राह्य है, परिकल्पित नहीं, जैसा कि हमारे मनमें ईश्वरकी पर्याप्त (Adequate) कल्पनापर स्थित सत्ताविषयक प्रमाणोंमें बतलाया जा चुका है। ईश्वर स्वयं तो वास्तविक सत्ता ही है (ens reale), उसके गुण बुद्धिद्वारा परिकल्पित अवश्य हैं। ईश्वर वेदांतके ब्रह्मके समान सत्सामान्य है, कल्पित सामान्य नहीं। इस प्रकार ईश्वर समस्त वस्तुओंका अंतस्थ कारण होनेसे उनसे अपृथक् होते हुए भी उनसे विविक्त और अधिक व्यापक है, वस्तुजात या विश्वकी समष्टिसे एकरूप नहीं। एकरूप तो वह केवल अपने ही साथ है। अतएव ईश्वर एक ओर जहां प्रकार जातकी दृष्टिसे उनका अंतस्थ कारण है, वहां दूसरी ओर वह स्वयंकी दृष्टिसे अपना स्वयंभू कारण है, या दूसरे शब्दोंमें, जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है ईश्वरीय स्वरूपमें समस्त कारणोंका चाहे वे आंतरिक हों चाहे बाह्य, निषेध है। इस प्रकार सकलता दो भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त है। एक तो ईश्वरकी वह निरंश सकलता जो अंशोंका कारण होते हुए भी उससे अतीत है और दूसरी समष्ट्यात्मक विश्वकी सकलता जो अंश घटित है। प्रथम सकलता अंशोंसे प्रागस्तित्ववान है, परंतु द्वितीय अंशोंसेही बनी है।

स्पिनोझाने ईश्वरकी कारणतामें इच्छा-योजनादिका खंडन करके यह प्रतिपादित किया है कि वह अपने स्वभावकी आवश्यकतासे ही क्रियावान है। तथापि वह चिन्मय कारण (Conscious cause) है। लेकिन जिस प्रकार चिन्मय होने मात्रसे उसमें इच्छा योजनादि होना जरूरी नहीं है उसी प्रकार उसमें स्वभावकी आवश्यकताका अभाव होना भी जरूरी नहीं है। विचार ईश्वरका एक गुण है, यह इसी बातका द्योतक है, ईश्वर स्वयं ज्ञानमय है, तथापि उसमें योजना तथा उद्देशका अभाव है।

[प्रकरण ९]

स्थायित्व, समय, और नित्यत्व

(Duratian, Time, and Eternity)

स्थायित्व और समय

अपने 'आध्यात्मिक विचार' (Cogitata metaphysica) नामक ग्रंथमें स्पिनोझाने स्थायित्वकी व्याख्या इस प्रकार की है:– " स्थायित्व वह गुण है जिसके द्वारा हम जन्य वस्तुओंके अस्तित्व की उस रूपमें कल्पना करते हैं जिसमें ये वस्तुएं अपनी वास्तविक विद्यमानताका निर्वाह करती है । "

"Duration is the attribute under which we conceive the existence of created things in so far as they persevere in their actuality. "

परिभाषाके ' वास्तविक विद्यमानता ' इस पदसे दो बातें अभिप्रेत हैं । पहिली बात यह है कि स्थायित्व की कल्पना के लिये अस्तित्व आवश्यक है, गति नहीं (समयके लिये, गति आवश्यक है) कारण स्थायित्व गति से बिलकुल स्वतंत्र है। डेकार्टने भी यही कहा था कि वस्तु चाहे चलरूपमें हो, चाहे अचल रूपमें, उसमें स्थायित्व एक ही प्रकारका होता है; चल वस्तुओंका स्थायित्व अचल वस्तुओंके स्थायित्वसे भिन्न नहीं होता । दूसरी बात यह है कि जिन वस्तुओंमें अस्तित्व नहीं होता, उनमें स्थायित्व भी नहीं होता; उदाहरणके लिये कल्पना सृष्टिकी वस्तुएं और बौद्धिक प्रत्यय । अस्तित्व शब्द से भी यह भाव प्रकट हो जाता परंतु ' वास्तविक विद्यमानता ' कहने से वैचारिक अस्तित्व की व्यावृत्ति विवक्षित है । उसी ग्रंथमें स्पिनोझा कहता है "स्थायित्व वस्तुओंके अस्तित्वका परिणाम है, उनके तत्व् (essence) का नहीं । 'तत्व' से अभिप्राय किसी वस्तुके मानस प्रत्यय् (Concept) से है, फिर चाहे उस वस्तुका अस्तित्व हमारे मनके बाहर हो या न हो । 'अमुक वस्तुका अस्तित्व है ' इसका इतना ही अर्थ है कि हमारे मनमें उस वस्तुकी जो कल्पना है उसकी प्रतिरूप वस्तु हमारे मनसे बाहर भी है । उस वस्तुकी कल्पना उसका 'तत्व' है, बाह्य सत्यता उसका अस्तित्व है । वस्तुकी कल्पना तो मनमें आती है, परंतु अस्तित्व मनके निरपेक्ष ही होता है। मन इस अस्तित्वका आकलन वास्तविक विद्यमानतामें तत्पर, तया ही करता है, अन्य रूपसे नहीं कर सकता । जिस गुणके द्वारा इस वास्तविक विद्यमानताका आकलन होता है, वह गुण ही स्थायित्व है । ' स्थायित्व उन्हीं वस्तुओंके संबंधमें कहा जाता है जिनके अस्तित्व और तत्वमें भेद किया जा सके;' अर्थात् जिनका अस्तित्व स्वरूपतः आवश्यक न होकर किसी कारण द्वारा जन्य हो । [अतएव ईश्वरके संबंधमें हम स्थायित्व नहीं कह सकते, कारण ईश्वरके तत्व और अस्तित्वमें भेद नहीं, उसका अस्तित्व तो स्वरूपतः आवश्यक है ।] इसलिये यद्यपि देवदूतादि या स्वर्गादिकी ईश्वरद्वारा उत्पत्ति अनंत कालसे भी मानी जाय, तो भी उन्हें स्थायित्व ही प्राप्त हो सकेगा, नित्यत्व नहीं । वेदांतदर्शनमें भी आब्रह्मस्तंब पर्यंत सब जन्य होनेसे विनाशशील है, त्रिकालाबाधित नहीं। किसीका अस्तित्व क्षणभंगुर है, तो किसीका सुदीर्घ काल तक, जैसे ब्रह्मादिके १००० वर्ष । त्रिकालाबाधित सिर्फ ब्रह्म ही है। स्पिनोझाकी दृष्टिसे भी जैसा कि हम इसी प्रकरणमें देखेंगे, सिर्फ ईश्वरही त्रिकालाबाधित है ।

स्पिनोझाने स्थायित्वको अस्तित्वका गुण या प्रकार या परिणाम कहा है । अब प्रश्न यह है कि इनका संबंध किस प्रकारका है। इस संबंधमें तीन मत प्रचलित थे। (१) ये दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं । (२) इनमें वही भेद है जो मूलतत्व और उसके प्रकारमें या जो दो प्रकारोंमें होता है । (३) एक दूसरेसे विविक्त होते हुए भी ये अपृथक् हैं; दोनोंमें भेद सिर्फ बुद्धिसापेक्ष है। डेकार्टने तृतीय पक्षका अंगीकार किया है और स्पिनोझाने भी इस विषयमें डेकार्टका ही अनुसरण किया है। 'इससे (स्थायित्वकी व्याख्या इ. से) यह स्पष्ट मतलब निकलता है कि स्थायित्वका किसी भी वस्तुके संपूर्ण अस्तित्वसे भेद सिर्फ बुद्धिद्वारा किया जाता है, क्योंकि किसी भी वस्तुका स्थायित्व जितने अधिक परिमाणमें निकाल लिया जायगा उतनेही (अधिक) परिमाणमें आप उसका अस्तित्व कम करलेंगे ।'× प्रो. वॉल्फसन गुणोंको

× Cogitata metaphysica

बुद्धिद्वारा आरोपित या कल्पित माननेके लिये इस अवतरणको अप्रत्यक्षतया पोषक मानते हैं।

" This is an indirect corroboration of our interpretation of Spinoza's attribute as something purely subjective. " 1

उपर्युक्त अवतरणमें अस्तित्वको ' संपूर्ण ' यह विशेषण दिया गया है। इस विशेषणसे एक और बात ध्वनित की गई है। वह यह कि अस्तित्वका, अतएव स्थायित्वका अंश भी हो सकता है। तथापि यह अंश स्थायित्वकी अखंडता भंग नहीं करता जैसा कि स्पिनोझाने अपने ' आध्यात्मिक विचार ' नामक ग्रंथमें कहा है, ' स्थायित्वके विचारमें इस बातकी ओर ध्यान देना चाहिये कारण नित्यताके विचारमें इसका उपयोग होगा कि उसे न्यूनाधिक तारतम्य लगता है, मानो वह अंशघटित हो, और वह केवल अस्तित्वका गुण है, तत्वका नहीं।" मानो या 'इव कार' द्वारा स्थायित्वकी अविच्छिन्नताकी सूचना दी गई है। परंतु यह कल्पित अंशही स्पिनोझाकी समयकी व्याख्याका बीज है। अतएव स्पिनोझाके अनुसार किसी वस्तुके स्थायित्वके अंशकी हम कल्पना कर सकते हैं। परंतु इस कल्पित अंशका निश्चय करनेके लिये हम इसकी तुलना नियत तथा निश्चित गतिवान वस्तुओंके स्थायित्वसे करते हैं और इसी तुलनाका नाम समय है।"–

"...in order to determine this we compare it with the duration of those things which have a fixed determinate motion and this comparison is called time. "2

नीतिशास्त्रमें भी स्पिनोझाने कहा है, 'इसमें किसीको संदेह नहीं कि हमें समयकी कल्पना (इसीलिये) आती है चूंकि हमें कुछ पिंडोंके दूसरे पिंडोंसे कम, अधिक या समान वेगसे गतिमान होनेकी कल्पना है।' 3 इस प्रकार स्पिनोझाके मतानुसार समय और स्थायित्व तत्वतः एकही हैं; समय वस्तुओंका स्थायित्वसे भिन्न न तो कुछ नया धर्मही है और न वह स्थायित्वमें कुछ नई बात ही जोडता है। समय स्थायित्वका गतिद्वारा आकलित निश्चित अंशमात्र है। "इसलिये समय वस्तुओंका परिणाम नहीं है वरन् विचारका प्रकार मात्र है या जैसा कि हमने कहा है विचारिक सत्ता रखता है; वह स्थायित्वका बोध या प्रकाशन करानेवाला विचारका प्रकार मात्र है।'4 इस तरह स्थायित्व अस्तित्वका प्रकार है और समय स्थायित्वका प्रकार है।

समयकी कल्पनाकी बुद्धिगतता और बुद्धिनिरपेक्ष सत्यताके विषयमें हम कह सकते हैं कि समय किसी अंशमें वास्तविक (Real) है और किसी अंशमें बुद्धिगत (Ideal), चूंकि अस्तित्व मन-सृजित नहीं, अतएव स्थायित्व तथा समय वास्तविक हैं। परंतु किसी अंशतक मनकी कल्पना होनेसे वे बुद्धिगत भी हैं, या काल्पनिक हैं; तथापि सर्वथा काल्पनिक नहीं।

इस प्रकार स्थायित्वके दो प्रधान लक्षण कहे जा सकते हैं जो एक ओर तो उसकी नित्यत्वसे (Eternity) व्यावृत्ति करते हैं, और दूसरी ओर परिच्छिन्न समयसे। पहिला लक्षण यह है कि स्थायित्वके विषयका अस्तित्व संभाव्य कोटिका होना चाहिये, जो अपने निमित्त कारण ईश्वरपर आश्रित होता है (दूसरे शब्दोंमें उपर्युक्त उत्पत्तिशील या जन्य वस्तुसे ही तात्पर्य है)। यह लक्षण स्थायित्वका नित्यत्वसे भेद बतलाता है, कारण नित्यत्वका विषय स्वरूपतः आवश्यक वस्तु है। दूसरा लक्षण यह है कि स्थायित्व अमर्याद, अपरिमित और अनिश्चित होता है। इस लक्षणसे परिच्छिन्न समयकी व्यावृत्ति सूचित की गई है। नीतिशास्त्रमें स्थायित्वकी व्याख्यामें प्रयुक्त ' अनिश्चित ' पदमें इन दोनों लक्षणोंका समावेश हो जाता है। स्थायित्वकी अनिश्चित अविच्छिन्नता या सातत्य (Continuation) है।"

" Duration is the indefinite continuation of existence. " 5

चूंकि स्थायित्वके विषय स्वरूपतः अनावश्यक अस्तित्ववान वस्तुएं होती हैं इसलिये ' मैं उसे अनिश्चित कहता हूं, क्योंकि अस्तित्ववान वस्तुके स्वरूप द्वारा उसका निश्चय नहीं होता।"6 और भी स्थायित्व अपरिमित, अमर्याद और किसी वस्तुका

1. Philosophy of Spinoza by Wolfson Vol. I. P. 352.
2. Cogitata metaphysica 3. नी. शा. भा. २ वि. ४४ स्प. 4. Cogitata metaphysica, 1-4
5. १ नी. शा. भा. २ प. ५ 6. वही, स्प.

पूर्ण अस्तित्व है, आंशिक नहीं; इस लिये भी स्पिनोझा उसे अनिश्चित कहता है, क्योंकि 'निमित्त कारण द्वारा यह निश्चित नहीं किया जा सकता; निमित्त कारण वस्तुओंको अस्तित्व तो जरूर प्रदान करता है, परंतु उसे निकाल नहीं लेता।"× यह निमित्त कारण ईश्वरही है। इस अवतरणका गर्भितार्थ यह है कि यदि स्थायित्व अनिश्चित नहीं होता तो इसका अर्थ यह होता कि ईश्वर उसका अस्तित्व कम कर लेता है, क्योंकि स्थायित्व कम होनेसे अस्तित्व भी कम होता है।

नित्यत्व

पाश्चात्य दर्शनेतिहासमें 'नित्यत्व' दो अर्थोंमें प्रयुक्त होता चला आ रहा है। प्लेटोके अनुसार नित्यत्वका अर्थ समयका विरोधी है, जिसमें समस्त कालिक संबंधोंका अभाव है। वेदांतमें भी नित्यत्वको 'कालपरिच्छेदाभाव' कहा है। परंतु एरिस्टॉटल के मतसे नित्यत्वका अर्थ सिर्फ अनंत काल है। पहिले प्लेटोके दर्शनमें शाश्वत तत्वोंका विशेषण इस रूपसे 'नित्य' शब्द प्रयुक्त होता था, परंतु अंततोगत्वा विशेषणने विशेष्यका स्थान ले लिया और नित्य शब्द नित्य तत्वका सूचक बन गया। इतनाही नहीं 'नित्यत्वमें नित्यत्वके अन्य सब लक्षणोंका समावेश हो गया। स्पिनोझाका मत प्लेटोके मतसे मिलता है। ईश्वरके संबंधमें नित्य शब्दका अर्थ सिर्फ अनंत काल नहीं है, प्लेटोके नित्यत्वकी तरहही वह काल असंस्पृष्ट होनेके साथही ईश्वरके समस्त स्वरूप लक्षणोंका सूचक मुख्य उपलक्षण+ हैं, जिसके द्वारा ईश्वरेतर समस्त पदार्थोंकी व्यावृत्ति होती हैं। चूंकि ईश्वर ध्रुव है, अन्य सब अस्थिर है, अतएव नित्यत्वका अर्थ भी अटलता, अविकारिता, अविभाज्यता इ० है। इसी प्रकार नित्यत्वसे ईश्वरका आवश्यक अस्तित्व भी ध्वनित होता है, अर्थात् ईश्वरमें तत्व और अस्तित्व अभिन्न हैं।

नित्यत्व सिर्फ अनाद्यनंत काल या स्थायित्व ही नहीं है। 'इसलिये समय या स्थायित्व, चाहे वह अनाद्यनंत ही क्यों न हो, के द्वारा इसका वर्णन या अर्थबोध न हो सकता।'* जगत्के संबंधमें नित्यत्वका उपयोग सदोष है। जगत्के संबंधमें हम अनाद्यनंत कालका व्यवहार कर सकते हैं, परंतु नित्यत्वका नहीं। इसी प्रकार अस्तित्वशून्य वस्तुओंके संबंधमें भी नित्यत्वका उपयोग भ्रांतिमूलक है। यह आक्षेप डेकार्टके उस कथनपर है जिसमें उसने स्वयंसिद्ध मानस प्रत्ययोंको (Concepts of the mind) नित्य सत्य कहा था। स्थायित्व और नित्यत्वमें इतना साम्य है कि दोनों अस्तित्ववान वस्तुओंसे संबंध रखते हैं। परंतु नित्यत्व स्वरूपतः आवश्यक अस्तित्ववान वस्तु जो एकमात्र ईश्वर है, उसीसे संबंध रखता है जब कि स्थायित्वके विषय संभाव्य अस्तित्व-कोटिकी वस्तुएं ही हैं। यह आवश्यक अस्तित्ववान् वस्तु जिसका तत्व अस्तित्व-गर्भित होता है, स्वयंभू कारण या कारण रहित या अनंत अर्थात् अन्य कारणद्वारा अनिश्चित होती है। इसलिये स्पिनोझा नित्यत्वकी व्याख्या इस प्रकार करता है:- 'नित्यत्व वह गुण है जिसके द्वारा हम ईश्वरके अनंत अस्तित्वका आकलन करते हैं।'‡ अनंत पदका अर्थ कारणराहित्य है जिसके द्वारा सकारण वस्तुओंकी व्यावृत्ति सूचित की गई है। नीतिशास्त्रमें नित्यत्वकी व्याख्यामें इसी बातको स्पष्ट किया गया है:- 'नित्यत्वसे मैं स्वयं अस्तित्वको ही समझता हूं जिसका बोध शाश्वत वस्तुकी परिभाषा मात्रसे आवश्यक रूपसे होता है।'

"By Eternity I understand existence itself so far as it is conceived necessarily to follow from the definition alone of the eternal thing."

ईश्वरका नित्य अस्तित्व अन्य वस्तुओंके अस्तित्वसे सिर्फ इसी बातमें भिन्न नहीं है कि उसका अस्तित्व और तत्व एक है, परंतु उसका ज्ञान और प्रकटीकरण भी अन्य वस्तुओंके अस्तित्वसे अपनी विशेषता रखता है। स्पिनोझाके अनुसार किसी वस्तुका अस्तित्व तीन तरहसे जाना जाता है। (१) इंद्रियजन्य ज्ञानद्वारा, (२) बौद्धिक ज्ञानद्वारा, और (३) अंतःप्रज्ञाद्वारा। अन्य वस्तुओंका ज्ञान प्रथम दो प्रकारोंसे होता है, परंतु शाश्वत सत्यों और स्वयंसिद्ध बातोंका ज्ञान तृतीय प्रकारसे होता है। परंतु इन शाश्वत सत्यों और नित्य ईश्वरमें एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि ईश्वरमें तत्व और अस्तित्व दोनों हैं, यद्यपि ये अभिन्न हैं परंतु शाश्वत सत्योंमें तत्वमात्र है, अस्तित्व नहीं।

मध्ययुगीन दर्शनमें स्थायित्व ईश्वरका गुण है या नहीं यह विवादास्पद विषय था; परंतु स्पिनोझा ईश्वरके संबंधमें इसका स्पष्ट ही निषेध करता है।

× वही, स्प०, + उपलक्षणका लक्षण इस प्रकार है। 'स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम्' या 'स्वार्थबोधकत्वे सतीतरार्थ बोधकत्वम्।' नी. शा. भा. १ प. ८ स्प.

* Cogitaea Metaphysica ‡ नी. शा. भा. १ प. स्प.

[प्रकरण १०]

प्रकार

अभीतक ईश्वरके स्वरूप अर्थात् ईश्वरके सृजनशील या स्रष्टा रूपका (Natura Naturaus)का वर्णन हुआ। अब विधान १९–२९ तक ईश्वरके सृजितरूप (Natura Naturata) का वर्णन है। प्रकारोंका स्थूल रूपसे वर्णन 'विचार और विस्तार' के प्रकरणमें किया जा चुका है, तथापि इन विधानोंमें शेष बातें विस्तारसे कही गई हैं।

ईश्वरके संबंधमें 'नित्य' शब्द तीन बातोंका द्योतक है। (१) स्वरूपतः आवश्यक अस्तित्वका अभेद (२) अविकारित्व (Immutability) (३) नित्य सत्यका अंतःप्रज्ञाद्वारा अव्यवहित रूपसे ज्ञानविषय होना। इन्हीं तीन बातोंको निम्न विधानों में बतलाया गया है। (१) 'ईश्वर और ईश्वरके समस्त गुण नित्य हैं।'1 इस विधानके प्रमाणमें स्पिनोझा कहता है कि 'ईश्वर आवश्यक अस्तित्ववान मूल तत्व है जिसका स्वरूपही अस्तित्वमूलक है।'' ईश्वरीय तत्वके व्यंजक होनेके कारण गुण भी नित्य ही हैं। 'ईश्वरका तत्व और अस्तित्व एकही है' ।2 (२) जो नित्य होता है वह अविकारी भी होता है, 'इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर और उसके समस्त गुण अविक्रिय हैं।'3 (३) 'ईश्वरके तत्वके समान उसका अस्तित्व भी शाश्वत सत्य है।'4 और शाश्वत सत्य अंतःप्रज्ञाद्वारा गम्य होता है।

ईश्वरके अनंत गुणोंसे अव्यवहित प्रकार निकलते हैं और ये प्रकार अपने कारण गुणोंके समान अनंत और नित्य होते हैं।5 परंतु प्रकारोंका नित्यत्व ईश्वरके नित्यत्व की तरह उपर्युक्त तीनों अर्थोंसे युक्त नहीं हो सकता। प्रथमार्थ में वे नित्य नहीं हो सकते, कारण प्रकारोंका स्वरूपतः आवश्यक अस्तित्व नहीं है, अर्थात् उनका तत्व और अस्तित्व एक नहीं है। इसी प्रकार वे शाश्वत सत्य की तरह अंतःप्रज्ञात्मक अव्यवहित ज्ञान के विषय नहीं, क्योंकि उनका ज्ञान स्वकारण–सापेक्ष है। नित्यत्वसे अभिप्राय जैसा कि, स्पिनोझाने इस विधान (२१)के प्रमाणमें स्वयं कहा है, स्थायित्वसे है। इस मर्यादित अर्थमें वे अविकारी भी कहे जा सकते हैं। इसी तरह प्रकारोंकी अनंतता से तात्पर्य कारण राहित्यसे नहीं, क्योंकि ईश्वर उनका कारण है। प्रकार अपनी तरहके अनंत हैं, नितांत निरपेक्ष अनंत नहीं। ये ईश्वरकी भांति नित्य और अनंत नहीं, तथापि इनको उपर्युक्त मर्यादित अर्थमें नित्य और अनंत कहनेसे इनका विशिष्ट वस्तुओंसे या परिच्छिन्न प्रकारोंसे भेद सूचित किया गया है। दूसरा कारण यह भी संभव है, जैसा कि प्रो. वॉल्फसनने सूचित किया है कि यह मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी ओर आलोचनात्मक संकेत है, क्योंकि वे कार्यकी अनंतताको स्वीकार नहीं करते थे।

इस प्रकार अव्यवहित प्रकारोंको विशिष्ट या मर्यादित अर्थमें अनंत और नित्य बतलाकर अगले विधान (२२)में स्पिनोझा इन अव्यवहित प्रकारोंसे निकलनेवाले व्यवहित प्रकारोंको भी अनंत और नित्य कहता है। अबतक स्पिनोझाने स्पष्ट रूपसे प्रकार और उनके विभेदोंका उल्लेख न करके सिर्फ सामान्य रूपसे अप्रत्यक्षतया उनका वर्णन किया था। इसलिये २३ विधानमें यह वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। प्रकार अनंत और नित्य हैं, उनके दो भेद हैं अव्यवहित और व्यवहित ।6 इनसे अगले तीन विधानोंमें स्पिनोझा स्वयं असंदिग्धरूपसे प्रकारोंके नित्यत्वका ईश्वरके नित्यत्वसे भेद दिखलाता है। इन विधानोंका आशय यह है कि यद्यपि प्रकारोंको नित्य कहा गया है, तथापि इनमें ऐसी कोई बात नहीं जो स्वरूपतः आवश्यक हो। इसके विपरीत ये अपनी उत्पत्ति स्थिति तथा क्रियादिमें अपने कारण ईश्वरद्वारा निर्धारित हैं। इन बातोंमें ये अपने निमित्त कारण अंतस्थ कारण, और स्वतंत्र कारण ईश्वरपर सर्वथा अवलंबित है। विधान २४ में ईश्वरको इनकी उत्पत्ति तथा स्थितिका निमित्त कारण कहा गया है क्योंकि 'ईश्वरद्वारा जन्य वस्तुओंका तत्व अस्तित्वसे युक्त नहीं होता।'

---

(1) नी. शा. भा. १ वि. १९, (2) वही, वि. २०, (3) वही, वि. २० उ. सि. २, (4) वही, वि. २० उ. सि. १
(5) वही वि. २१, (6) यद्यपि इनके नामोंकी ओर यहां अप्रत्यक्ष संकेत है, तथापि अपने पत्रमें स्पिनोझाने इनका उल्लेख किया है।

इसका यह मतलब नहीं कि इनका अस्तित्व ही नहीं होता। इसका अर्थ सिर्फ इतनाही है कि इनका स्वरूपतः अस्तित्व न होकर अपने अस्तित्वके लिये ये अपने कारणपर अवलंबित होते हैं; या इनकी सत्ता स्वरूपतः न होकर कारणकी सत्ताही इनकी सत्ता होती है। यह भाषा वेदांतकी भाषासे बिलकुल मिलती जुलती है। 'ईश्वर इनकी उत्पत्तिका ही कारण नहीं, है, इनकी स्थितिका भी कारण है।'× अगले विधान (२५) में ईश्वरको इनका अंतस्थ कारण होनेकी ओर संकेत किया गया है। 'ईश्वर केवल इनके अस्तित्वका ही निमित्त कारण नहीं है, इनके तत्वका भी निमित्त कारण है।' क्योंकि यह तो असंभव है कि अस्तित्वका कारण एक हो और तत्वका दूसरा, क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त अन्य कारणका निषेध तो पहिलेही किया जा चुका है।+ तत्वका कारण अंतस्थ कारण होता है क्योंकि प्रकारोंके कारण रूप ईश्वर या ईश्वरीय गुणोंकी व्यापक सत्ता होनेसे वही इनकी पराजाति है; अतएव ईश्वर अपनी व्याप्य वस्तुओंके तत्वका अंतस्थ कारण है। यही प्रकारोंके संबंधमें गुणोंकी अंतस्थ कारणता है। विधान २६ के अनुसार प्रकार अपने स्वतंत्र कारण ईश्वरपर अवलंबित हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं स्वतंत्र कारण स्वरूपतः आवश्यक अस्तित्ववान होता है और अपने स्वयंके द्वारा कार्यमें अवधारित होता है, किसी बाह्य सत्ता द्वारा नहीं। परंतु प्रकार स्वतंत्र न होनेसे अन्य कारण द्वारा कार्यमें निर्धारित होते हैं। 'जो वस्तु एक विशिष्ट प्रकारसे कार्य करनेमें नियम बद्ध है वह अवश्य ही ईश्वर द्वारा नियत है (अन्वय)। और जो इस तरह ईश्वर द्वारा नियत नहीं वह स्वयं अपने आपको कार्यमें निर्धारित नहीं कर सकती।' (व्यतिरेक)*

यहां तक तो मध्ययुगीन दार्शनिकोंसे स्पिनोझाका मतैक्य है। परंतु विरोध तब आता है जब वे इतना स्वीकार करनेके बाद भी मनुष्यके इच्छा स्वातंत्र्यका स्वीकार करते हैं। इन दार्शनिकोंने मनुष्यकी स्वतंत्र इच्छाको ईश्वरकी सर्व शक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञतासे अविरोधी बतलानेका प्रयत्न किया था। परंतु स्पिनोझाके मतसे यदि मनुष्यको अपनी इच्छामें स्वतंत्र माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि ईश्वर द्वारा निर्धारित बातोंमें मनुष्य व्यतिक्रम कर सकता है। ईश्वरकी सर्व शक्तिमत्ता और सर्वज्ञता बनाए रखनेके लिये यह मानना पडेगा कि वह प्रत्येक भावी घटनाका कारण है और उसके पूर्वज्ञानसे युक्त है। वि. २७ का उद्देश यही बतलानेका है। 'जो वस्तु ईश्वर द्वारा किसी कार्यको विशिष्ट रूपसे करनेके लिये निर्धारित की गई है, वह अपने आपको उससे मुक्त नहीं कर सकती।'

यहांतक तो अव्यवहित और व्यवहित अनंत और नित्य प्रकारोंका वर्णन हुआ। परंतु सभी प्रकार अनंत और नित्य नहीं हैं। हमारे अवलोकनमें आनेवाली वस्तुएं वैयक्तिक स्वरूप की हैं जो न तो अनंत पूर्णत्वसे युक्त है और न स्थायित्वकी दृष्टिसे ही नित्य हैं। वे तो अपूर्ण और नित्यही हैं। परंतु स्पिनोझाके मतसे 'व्यक्तिगत वस्तुएं ईश्वरीय गुणोंको एक नियत और निश्चित रूपसे व्यक्त करनेवाले ईश्वरीय गुणोंके परिणाम या प्रकारोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं।'❀ इससे यह भी उपलक्षित होता है कि ईश्वर परिच्छिन्न प्रकारोंके भी अस्तित्व और तत्वका कारण है इसी प्रकार ईश्वर अनित्य परिछिन्न प्रकारोंकी क्रियाका भी कारण है। सारांश यह कि वैयक्तिक वस्तुएं भी ईश्वर कारणक हैं और अपने अस्तित्व तत्व और व्यापारादिमें ईश्वर द्वारा ही निर्धारित हैं।

यहांपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वस्तुओंका कारण अनंत है तब कार्यजातमें परिच्छिन्नता कहांसे आई ? निस्सरणवादियोंकी आलोचना करते समय स्पिनोझाने उनके मतमें यही मुख्य आपत्ति बतलाई थी कि अभौतिक ईश्वरका कार्य भौतिक कैसे हो सकता है और इस आपत्तिका कारण करनेके लिये उसने विस्तारको ईश्वरका गुण मानकर भौतिक अभौतिकके भेदको उडा दिया था। इसके अतिरिक्त, अव्यवहित और व्यवहित प्रकारोंके विवेचनमें स्पिनोझाने ऊपर यही प्रतिपादित किया है कि कार्य कारणके समानही होना चाहिये और इसलिये उसने उभयविध प्रकारोंको भी नित्य और अनंत कहा। ऐसी परिस्थितिमें स्पिनोझाके सम्मुख निस्सरणवादियोंकी वही अभौतिकसे भौतिककी उत्पत्तिवाली पुरानी आपत्ति, 'अनंतसे सांत और परिच्छिन्नकी उत्पत्ति' इस रूपमें उपस्थित होती। एक तरहसे यह स्पिनोझाके दर्शनका मर्मस्थल है या अधिक व्यापक दृष्टिसे विचार करें तो यह कहना पडता है कि एकसे अनेककी उत्पत्ति सभी प्रकारकी अद्वैतवादी विचार प्रणालियोंका मर्मस्थल है। यदि मूलतत्व निर्विकार, अखंड, निर्विशेष हुआ तो यह आपत्ति और भी बढ जाती है।

× नी. शा. भा. १ वि. २४ उ. सि. + वही, वि. १५. * वही. वि. २६ ❀ वि. २५ उ. सि. नी. शा. भा. १.

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

पुस्तक	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता	मू. ५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद ”	३)	।॥)
४ अथर्ववेद ”	५)	१)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥)
४ मंत्रसमन्वय तथा मंत्रसूची	३)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	२)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ वै. प्राणविद्या ।	॥)	=)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	१)	।-)
५ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति	६)	१।)
अक्षरविज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मूल्य	डा.व्य.
देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	।॥)
३ देवताविचार	≡)	≡)
४ अग्निविद्या	१॥)	१।)
बालकधर्मशिक्षा		
१ भाग १ -) तथा भाग २ =)		=)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद् १)		।-)
१ वेदपरिचय- (परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	।॥)
३ गीता-लेखमाला ५ भाग	४)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ मायानन्दी भगवद्गीता भाग१	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	२)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औंध.

विषयसूची।

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक २९९

दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं। एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है। प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताओंके मंत्र हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु.	।॥)
२ **इंद्रदेवता**	३३६३	३७६	३) रु.	।॥)
३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु.	।)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १॥) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु. तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असंभव ही है।

वेदकी संहिताएं।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

१ **ऋग्वेद** (द्वितीय संस्करण)	५)	डा० व्य० १।)
२ **यजुर्वेद**	२)	,, ,, ॥)
३ **सामवेद**	३)	डा० व्य० ।॥)
४ **अथर्ववेद** (द्वितीय संस्करण)	५)	,, ,, १)

इन चारों संहिताओंका मूल्य १५) रु. और डा. व्य. ३) है अर्थात् कुल मूल्य १८) रु. है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० १५) रु० है, तथा डा० व्यय माफ है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १५) पंद्रह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेद की निम्नलिखित चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

१ **काण्व संहिता** (तैयार है)	३)	डा० व्य० ।॥)
२ **तैत्तिरीय संहिता**	५)	,, ,, १)
३ **काठक संहिता** (तैयार है)	५)	डा० व्य १)
४ **मैत्रायणी संहिता** ,,	५)	,, ,, १)

बेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, डा. व्य. ३॥) है अर्थात् २१॥) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १८) रु० में दी जायंगीं। डाकव्यय माफ होगा।

- मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

क्रमाङ्क २९९

वर्ष २५ : : : : अङ्क ११

कार्तिक संवत् २००१

नवंबर १९४४

वीर सैनिकोंकी क्षमता एवं लोकप्रियता

वव्रासो न ये स्वजाः स्वतवसः इषं स्वरभिजायन्त धूतयः ।
सहस्रियासो अपां नोर्मय आसा गावो वन्द्यासो नोक्षणः ॥

(ऋ. १।१६८।२)

" शत्रुदलको विचलित और विकंपित करनेवाले जो वीर सैनिक, समूची जनताकी रक्षा भलीभाँति करने का कठिन व्रत स्वयंस्फूर्तिसे निभाते हुए अपने बलको विकसित करके प्रजाको अन्न तथा प्रकाश यथेष्ट मात्रामें मिले इसलिए चारों ओर प्रकट होते हैं उनके प्रति अपना आदर और प्रेम व्यक्त करनेके लिए उमडती हुई सरिताकी लहरोंकी नाईं सहस्रोंकी संख्यामें लोग इकट्ठे होते हैं और वे चाहते हैं कि पूजा करनेयोग्य गायों तथा बैलोंके समान वे वीर पुरुष भी सदैव उनके निकट रहें । " अर्थात् जनता यही चाहती है कि ऐसे बलिष्ठ, सामर्थ्यसंपन्न और स्वयंसेवक बने हुए वीरोंसे उसका कभी बिछोह न हो ।

जनताके प्रेमपात्र बननेके लिए सर्वप्रथम कठिनाइयों एवं विरोधीदलसे ठीक तरह उसकी रक्षा हो ऐसा प्रबंध करना अत्यन्त आवश्यक है । प्रजाके समुचित संरक्षणका सवाल यदि समाधानकारक ढंगसे हल हो सके तो सचमुच अनोखी लोकप्रियता प्राप्त करना असंभव नहीं । इस आवश्यक कार्यको सुचारुरूपसे संपन्न करनेके लिए जो वीर स्वयंसेवक अन्तस्फूर्तिसे आगे बढते हैं उनको चाहिये कि वे अपने भीतर विद्यमान बलका संपूर्ण विकास करें तथा इतने सामर्थ्यवान हों कि सारे ही उनके शत्रु डगडग हिलने लग जायँ । विरोधीदलको इस भाँति लडखडाते छोडकर शूर स्वयंसेवक जनताके लिए अत्यावश्यक अन्न तथा प्रकाशकी न्यूनता न होनेपाय इस हेतु चतुर्दिक प्रकट होते रहें । तभी तो संरक्षण, अन्नसामग्री तथा प्रकाशकी अविरत कामना करनेवाली जनताके दिलमें ऐसे वीरोंके प्रति विराट आदर तथा तीव्र सम्मानका आविर्भाव हुआ करता है और उसे व्यक्त स्वरूप देनेके लिए सहस्रोंकी संख्यामें लोग एकत्रित होने लगते हैं । उस अपार जनसमुदायको देखनेपर प्रतीत होता है कि मानों उमडती हुई सरिताके पृष्ठभाग पर लोल लहरोंका प्रतिपल प्रकटीकरण होता हो । पूजा पानेयोग्य गो-धनको जिस तरह लोग अपने समीप रखना चाहते हैं वैसेही ऐसे दिव्य, वीर स्वयंसेवकोंके निकट रहना जनताको अभीष्ट है ।

वेदाध्ययन करनेकी अभिनव एवं अभूतपूर्व सुविधा

मानवजातिका आद्य तथा अतिपुरातन साहित्य वेदोंमें है। उस वैदिक साहित्यके संबंधमें भाँतिभाँतिकी निराधार धारणाएँ आजदिन जनता में प्रचलित हैं। प्रायः जनता ऐसा मानती है कि वेदोंको पढकर लाभ होना तो दूर रहा, वेद-पठन सिर्फ व्यर्थ समय गँवाना है। वेदों के बारेमें जो भ्रान्तिमय कल्पनाओंका जाल फैला हुआ दीख पडता है उसे हटानेका एकमात्र उपाय अर्थात् स्वयंही वेदोंके पढनेका प्रारम्भ करना है।

वेदोंसे परिचित होनेके लिए दूसरों पर निर्भर रहना ठीक नहीं क्योंकि उस दशामें हम दूसरोंके दृष्टिकोणको ही जानलेंगे। वेदोंमें जो कुछ भी कहा है उसे भलीभाँति समझनेकेलिये केवल कुछ अन्य और अत्यन्त सीमित संख्यामें पाये जानेवाले वेदाभ्यासकोंकी वेदके ज्ञान या संदेशके बारेमें कौनसी राय है सो जानलेना ही पर्याप्त नहीं।

सबसे श्रेष्ठ उपाय तो यही है कि लोग स्वयं वेद पढनेलगें और देखें कि वारंवार वैदिक सूक्तों एवं मंत्रोंका मननपूर्वक अध्ययन करनेसे तथा अपने अनुभव और वेदमंत्रोंके कथनके मध्य जो कुछ भी सामञ्जस्य हो उसे ढूंढनेसे वे किस निष्कर्षपर पहुँचते हैं। वेदोंको उठाकर स्वयं पढलेना और उस स्वाध्यायके परिणामस्वरूप अपना मन किसतरह प्रभावित होता है सो देखना भी अत्यन्त आवश्यक है।

पर आज जनता इस विचारधारासे अत्यन्त प्रभावित हुई दीखपडती है कि वेद बडे ही दूरूह हैं, कितनी भी मगजपच्ची क्यों न करें लेकिन उसमें सफलता मिलेगी नहीं। सिवा इसके आधुनिक युगके अति संघर्षमय जीवनमें उतना समय भी कहाँसे लाएँ?

इसलिए वर्तमानकालमें यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि जनताको स्वयं ही वेदका अध्ययन करना सुगम जान पडे और थोडे ही समयमें वैदिक विचारधारासे भली-भाँति परिचित होना संभव हो इसभाँतिके सुविधाजनक ग्रन्थोंका निर्माण तथा प्रकाशन किया जाय। तभी यह संभव है कि जनता वेदके पढनेमें दिलचस्पी लेने लगे। वेदके अध्ययन एवं वैदिक दृष्टिकोणको समझनेमें अत्यधिक सुगमता तथा सुविधाका प्रबंध करनेवाले ग्रन्थोंका प्रकाशन न हो तो आधुनिक युगमें वेदोंके प्रति जनताका ध्यान आकर्षित कर लेना सुतरां असंभव है।

यह अत्यन्त हर्ष एवं संतोषकी बात है कि वेदसंहिताओंके पढनेमें मन प्रवृत्त हो इस ढंगसे वैदिक संहिताओंके मुद्रण तथा प्रकाशनकार्यको सफलतापूर्वक समाप्त करके अब स्वाध्यायमण्डलने दैवतसंहिताके भी दो विभाग मुद्रित करके प्रकाशित किये हैं जिससे, अबतक वेदाध्ययन करनेमें और वैदिक विचारप्रवाहकी झाँकी पानेमें जो कठिनाइयाँ प्रतीत होती थीं वे प्रायः दूर हट गयी हैं ऐसा कहनेमें तनिक भी सन्देह नहीं। इस दैवतसंहिताका प्रथम भाग, जिसमें अग्नि, इन्द्र, सोम तथा मरुत् देवताका प्रभावोत्पादक वर्णन करनेवाले चारों वेदोंमें उपलब्ध सभी मंत्रोंका पृथक् संग्रह विविध उपयुक्त सूचियोंसमेत प्रस्तुत है, जनताके सम्मुख लगभग दो वर्षोंसे रखा है और सभी विद्वानोंने मुक्तकंठसे इसकी सराहना की है। इसके द्वितीय विभागको देखनेकी उत्सुकता भी वेदप्रेमी विद्वान जनतामें पर्याप्तरूपसे विद्यमान है और इसका भी मुद्रण पूर्ण हो दो मासके अन्दर ही यह दूसरा भाग वेदाभ्यासनिरत सज्जनोंके करकमलोंमें रखा जायगा। इस विभागमें अश्विनौ, आयुर्वेद, उषा, अदिति, आदित्य (मित्रावरुण, सविता, पूषा, सूर्य आदि) रुद्र एवं विश्वेदेवाः के सभी मन्त्र इकट्ठे करके विभिन्न तथा यथेष्ट सहायता देनेवाली सूचियोंसमेत मुद्रित किये हैं। सूचियोंसहित मन्त्रसंग्रहोंके छप चुकनेपर सरल हिंदी भाषामें उनके अनुवाद, भावार्थ तथा टिप्पणियोंके साथ छपानेका प्रयत्न भी जारी है। मरुद्देवता मंत्रोंके अनुवादके पश्चात् अब अश्विनौ देवताके मंत्रोंका अनुवाद भावार्थ, मानवधर्म और टिप्पणीसमेत मुद्रित हो रहा है। इसके १४४ पृष्ठ मुद्रित हो चुके हैं। सोम, इन्द्र और उषा मंत्रोंके अनुवाद प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

दूरदर्शी, प्रतिभासंपन्न तथा विभिन्नतामय एकताका अनुभव लेनेवाले वैदिक सुकवियों तथा द्रष्टा ऋषियोंने मरुत्, अश्विनौ, उषा, सोम, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओंके वर्णन करते हुए सुविशाल एवं व्यापक दृष्टिकोणसे वैयक्तिक, सामाजिक एवं विश्वके जीवनके संबंधमें जो सुविचार व्यक्त किये हैं उनका भलीभाँति परिचय पाना अत्यन्त सुगम हुआ है इसलिए वेदप्रेमी पाठकोंसे विनति है कि वे सुशीघ्र दैवतसंहिताका प्रतिदिन अध्ययन करना प्रारंभ करके जीवनविषयक वैदिक दृष्टिकोणको समझलें और वैदिक सत्य प्रकाशसे अन्तस्तलको आलोकित करें।

द० ग० धारेश्वर

मरुतोंकी लोकप्रियता, प्रभावशाली वीरता एवं उनके कार्य

(लेखक श्री॰ पं॰ दयानन्द गणेश धारेश्वर बी. ए. स्वाध्यायमंडल, औंध)

वीर मरुतोंकी असाधारण क्षमता, शूरता एवं लोक सेवासे वैदिक सुकवि तथा द्रष्टा ऋषि अत्यन्त प्रभावित होकर किस तीव्र उत्कंठासे ऐसे सामर्थ्यसंपन्न वीरोंके समुदायको अपने निकट आनेके लिए आमंत्रण देते हैं तथा किस असीम लगनसे उनका आदर सत्कार करलेते हैं यह निम्न मंत्रों एवं मंत्रभागोंमें स्पष्टतया दर्शाया है।

...आगात मरुतो माप भूतन। ऋ० ७।५९।१०

...इदं हविर्मरुत: तज्जुजुष्टन। ऋ० ७।५९।९

'हे वीर मरुतो! हमारे निकट चले आओ, दूर न रहो; देखो, यह हविर्भाग रखा है अत: हे मरुतो! उसका आदरपूर्वक स्वीकार करके प्रसन्न बनो।'

युष्मान् उ नक्तमूतये युष्मान् दिवा हवामहे।
युष्मान् प्रयत्यध्वरे ॥ ऋ० ८।७।६

'हे मरुतो! हम तुम्हेंही रात्रीके समय अपने संरक्षणार्थ बुलाते हैं तथा दिनके समय भी तुम्हें इधर आनेके लिए पुकारते हैं और हिंसा रहित यज्ञमें तुम्हेंही बुलाना हमें अभीष्ट है।' इस मंत्रमें यह स्पष्टरूपसे झलकता है कि मरुतोंके असाधारण सामर्थ्यसे वैदिक कवि किस भाँति प्रभावित हुए थे। चाहे रात्रीकी वेला हो अथवा दिवसका काल हो या लोकहितकारी यज्ञ आदि प्रचलित हुए हों, प्रतिभासंपन्न एवं द्रष्टृगुणयुक्त वैदिक सुकवियोंको वीर मरुतोंके प्रबल दलको अपने पास पधारनेके लिए निमंत्रण देनेका स्मरण बराबर बना रहता था।

आ गन्ता मा रिषण्यत...मापस्थाता समन्यवः।
ऋ० ८।२०।१

'मननशक्तिसे युक्त मरुतो! तुम आओ; क्रोध, हिंसा न करो तथा हमसे दूर न रहो।'

आ यात मरुतो दिव आन्तरिक्षात्...उत माव स्थात परावतः। ऋ० ५।५३।८

'हे मरुतो! तुम द्युलोकसे या अन्तरिक्षसे हमारे पास चले आओ और तुम दूरही न खडे रहो।' अर्थात् उपासकों एवं भक्तोंके निकटतम संपर्कमें रहकर अविरतरूपसे उनकी सेवा करना मरुतोंके लिए एक साधारणसी बात थी ऐसा इससे विदित होता है।

...देवास उप गन्तन। ऋ० ८।७।२७

'हे देवतारूपी मरुतो! हमारे निकट पधारो।'

मरुतो यद्ध वो दिवः सुम्नायन्तो हवामहे।
आ तू न उप गन्तन। ऋ० ८।७।११

'हे मरुतो! जब कि हम सुखकी इच्छा करते हुए तुम्हें द्युलोकसे इधर पधारनेके लिए पुकारते हैं तो तुम शीघ्रही हमारे समीप चले आओ।'

गन्ता नूनं नोऽवसा यथा पुरेत्था कण्वाय बिभ्युषे। ऋ० १।३९।७

'हे मरुतो! जिस भाँति तुम पहले भयभीत कण्वके निकट अपनी संरक्षण योजनासे सुसज्ज हो चले गये थे ठीक इसी प्रकार आज हमारे समीपभी संरक्षणसाधन-सज्जा साथ लेकर पधारो।'

असामिभिर्मरुत आ न ऊतिभिर्गन्ता।...
ऋ० १।३९।९

'हे मरुतो! हमारे पास तुम अविकल, सर्वांगीण एवं संपूर्ण संरक्षणकी आयोजनाओंका ख्याल रखकर चले आओ।'

अस्माकमद्य विदथेषु बर्हिरा वीतये सदत पिप्रियाणाः। ऋ० ७।५७।२

'हे मरुतो! तुम प्रसन्नचेता बनकर आज हमारे यज्ञोंमें सोमरसके सेवनार्थ अथवा उत्पादनक्रिया, प्रगतिशीलताके बारेमें मार्गदर्शनके लिए कुशासनपर बैठ जाओ।'

...भ्राजदृष्टयः आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय मरुतः समन्यवः। ऋ० २।३४।५

'चमकीले हथियार साथ रखनेवाले हे मरुतो! जैसे हंस पंछी कतार बनाकर उडते हुए अपने निवासस्थानोंमें चले जाते हैं ठीक वैसेही मन्युयुक्त तुम वीर सैनिक शालिय

पूर्ण ढंगसे पंक्तिबद्ध बनकर हमारे समीप, मधुयुक्त सोमरसके पानसे हर्ष मिलजाए इस हेतु चले आओ।'

इमा वो हव्या मरुतो ररे हि...मो ष्वन्यत्र गन्तन।
आ च नो बर्हिः सदत... ऋ० ७.५९।५,६

हे मरुतो! तुम्हारेलिए मैं इन हविर्भागोंको देरहा हूँ देखो न, तुम अन्य किसी जगह न चले जाओ और हमारे बिछाए दर्भमय आसनपर बैठजाओ।' वीर मरुतोंके सान्निध्यकी लालसा वैदिक कविके अन्तस्तलमें किस भाँति उमड रही थी सो इस मंत्रमें साफसाफ दीखरहा है।

आ नोऽवोभिर्मरुतो यान्तु...। ऋ० १।६७।२

'हमारी यही लालसा है कि संरक्षणक्षम साधनोंसे युक्त हो वीर मरुतोंका दल हमारे निकट पहुँचजाय या चला आय।'

तान् वो महो मरुत...हवामहे। ऋ० २।३४।११

'उन महनीय विख्यात वीर मरुतोंको हम बुलाते हैं।

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो...सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतम्। मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः॥
ऋ० १।८५।६

'हे मरुतो! शीघ्रतापूर्वक जानेहारे घोडे तुम्हें इधर पहुँचा दें, तुम दर्भके आसनपर बैठजाओ, देखो न तुम्हारे बैठनेके लिए विस्तीर्ण लंबा चौडा स्थान बना रखा है अतः हमारी विनति है कि तुम मधुरिमामय सोमरस युक्त अन्नका सेवन करके हर्षित बनो।'

एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वान् हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः। उपेमा यात मनसा जुषाणा यूयं हि ष्ठा नमस इद् वृधासः॥ ऋ० १।१७१।२

'हे देवतारूपी मरुतो! देखो, यह तुम्हारे लिए नमन युक्त स्तोत्र हमने अन्तःकरणपूर्वक तैयारकर मनकी लालसाके साथ रखा है इसलिए मनःपूर्वक इसका स्वीकार करते हुए तुम इसके समीप चले आओ क्योंकि तुमही तो निश्चयपूर्वक नमनको वृद्धिंगत करनेवाले हो।' अर्थात् वीर मरुतोंके दलमें इतनी क्षमता विद्यमान रहती है कि उपासक एवं भक्तगण हठात् नम्र हो उनको प्रमाण करते हैं।

आ नो ब्रह्माणि मरुतः समन्यवो...सवनानि गन्तन। ऋ० २।३४।६

'हे मरुतो! हमारे किये स्तोत्रोंके निकट एवं सवनोंमें तुम मन्युयुक्त अर्थात् उत्साही बनकर आजाओ।'

त्यान् नु पूतदक्षसो दिवो वो मरुतो हुवे।...
त्यान् नु ये वि रोदसी तस्तभुर्मरुतो हुवे।...
त्यं नु मारुतं गणं गिरिष्ठां वृषणं हुवे।
अस्य सोमस्य पीतये। ऋ० ८.९४।१०-१२

'मैं उन पवित्र बलवाले मरुतोंको द्युलोकसे इधर बुलाता हूँ, जिन्होंने द्यावापृथिवीको स्थिर बना डाला उन्हें मैं पुकारता हूँ, उस वीरमरुतोंके संघको जो बलवान बनकर पर्वतपर निवास कर रहा है मैं यहाँ आनेके लिए कह रहा हूँ, कारण यही कि इस सोमको वे पी जायँ।'

ओ...धृष्णिराधसो यातनान्धांसि पीतये।
ऋ० ७।५९।५

हे मरुतो! तुम संघर्षमें धनसंपदा प्राप्त करनेवाले हो अतः सोमरसोंको पीनेके लिए इधर चले आओ।'

इसभाँति वीर मरुतोंके संघको अपने निकट आदरपूर्वक बुलाकर तथा सोमरसके प्रदानसे उनका सुस्वागत एवं आवभगत करचुकनेपर वैदिक मंत्रोंके द्रष्टा सुकवि उनसे क्या माँगते हैं और किस ढंगसे अपनी अनिवार्य आवश्यकताओंका बखान उनके सम्मुख करते हैं यह जाननेके लिए निम्नलिखित मंत्रभाग देखलीजिए-

सुभागान्नो देवाः कृणुत सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄन् मरुतो वावृधानाः। ऋ० १०।७८।८

'हे देवतारूपी मरुतो! हम जैसे स्तोताओंको तुम ऊँचे पदपर रखते हुए या हमारा विकास करते हुए ऐसा प्रबंध करदो कि हम अपने निकट अच्छे भागोंको तथा सुन्दर रत्नोंको रखसकें।'

....यन्मरुतो विश्ववेदसो दिवो वहध्वे...ते मन्दसाना धुनयो रिशादसो वामं धत्त यजमानाय सुन्वते। ऋ ५।६०।७

'सब कुछ जतलानेहारे हे मरुतो! जो तुम द्युलोकसे दूसरी जगह यात्रा करने लगते हो, वे हर्षित होते हुए, शत्रुदलको विकम्पित करनेवाले तथा दुश्मनोंको मटियामेट करनेहारे तुम वीर, कार्य निष्पन्न करनेहारे यजमानके लिए सुन्दर, बढिया धन धरदो।'

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः। ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु॥ अथर्व० ६।२२।२

'सुवर्णहार धारण करनेवाले हे मरुतो! तुम आन्दोलन जारी रखते हो तो कल्याणकारक ओषधियोंका तथा दुग्धमय जलोंका प्रबंध करदो, हे नेता मरुतो! जिधर तुम मधुका सेचन करते हो वहाँपर ऊर्जं एवं अच्छी बुद्धि पनप उठे ऐसी व्यवस्था करदो।'

मृळत नो मरुतो मा वधिष्टनाऽस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्तन॥ ऋ० ५।५५।९

'हे मरुतो! हमें सुखी रखो, मत मारो और हमें बहुत सा सुख देदो।'

गोमदश्वावत् रथवत् सुवीरं चन्द्रवद्राधो मरुतो ददा नः। ऋ० ५।५७।७

'हे मरुतो! हमें अच्छी वीरता युक्त, गोधन एवं वाजिधनसे परिपूर्ण, रथयुक्त तथा चन्द्रतुल्य आल्हाददायक धन देडालो।'

अस्मभ्यं तद् धत्तन यद् व ईमहे राधो विश्वायु सौभगम्॥ ऋ० ५।५३।१३

'तुम वीरोंसे जो हम चाहते हैं उसे हमें देडालो, वह चीज, जिसकी माँग हम पेश करते हैं धन, संपूर्ण दीर्घ जीवन तथा अच्छा ऐश्वर्य है।'

आ वो...रुद्रा अवो वृणीमहे। ऋ० १।३९।७

'शत्रुदलको रुलानेवाले हे मरुतो! आपसे हम संरक्षणकी इच्छा करते हैं।'

...मरुतो...आ यो नो अभ्व ईषते। वि तं युयोत शवसा वि ओजसा वि युष्माकाभिरूतिभिः॥ ऋ० १।३९।८

'जो हथियार हमपर आगिरता हो उसे तुम बलपूर्वक और ओजगुणसे तथा तुम्हारी संरक्षण आयोजनाओंसे अलग करदो।'

ऋषिद्विषे मरुत...इषुं न सृजत द्विषम्। ऋ० १।३९।१०

हे मरुतो! जो ऋषिलोगोंका द्वेष करता हो उसपर तुम शत्रुको बाणकी नाईं छोडदो।' जिससे दोनोंही धराशायी बनें।

आ नो रयिं मदच्युतं पुरुक्षुं विश्वधायसम्। इयर्ता मरुतो दिवः॥ ऋ० ८।७।१३

'हे मरुतो! हमारे लिए तुम द्युलोकसे सबका धारण करनेहारे, अधिकलोगोंकी तृप्ति करनेवाले अतः आनन्द टपकाने वाले धनवैभवको प्रेरित करो।'

चर्कृत्यं मरुतः पृत्सु दुष्टरं द्युमन्तं शुष्मं मघवत्सु धत्तन।...ऋ० १।६४।१४

'हे मरुतो! तुम वीर सैनिक, धनिक लोगोंमें ऐसा बल प्रस्थापित करो कि जो अत्यन्त क्रियाशील, सेनाओंमें जिसे लाँघना शत्रुके लिए बडा दूभर प्रतीत होता हो और खूब जगमगानेवाला हो।' निस्सन्देह, यह माँग वैदिक ऋषियोंकी दूरदर्शितापर अच्छा प्रकाश डालती है, ऐसा तनिक सोचनेपर विदित होगा।

नू ष्ठिरं मरुतो वीरवन्तमृतीषाहं रयिमस्मासु धत्त। ऋ० १।६६।१५

'हे मरुत् वीरो! तुम सचमुच अब हममें स्थायी, वीरोंसे युक्त एवं शत्रुओंके दाँत खट्टे करनेकी क्षमतासे पूर्ण धनसंपदाको रखदो।' वैदिक कवि चाहते थे कि धनवैभव अटल रहे, वैभवकी वृद्धिके परिणामस्वरूप वीरतामें तनिक भी न्यूनता न हो और दुश्मनोंका पराभव करनेका सामर्थ्य बढनेलगे।

या वः शर्म...सन्ति...दाशुषे यच्छताधि।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम्॥ ऋ० १।८५।१२

'हे बलिष्ठ मरुतो! तुम्हारे निकट जो सुख मौजूद हैं उन्हें दानी पुरुषको तुरन्त देडालो तथा हमारेलिए भी उन सुविधाओंका प्रदान करदो और अच्छी वीरतासे परिपूर्ण धन हमें देदो।' धनवैभवके साथ वीरता अक्षुण्ण रहे ऐसी माँग अत्यन्त उचित जान पडती है।

यज्ञैर्वा...विप्रस्य वा मतीनाम्। मरुतः श्रृणुता हवम्।...विध्यता विद्युता रक्षः।...ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि। ऋ० १।८६।२,९,१०

'हे मरुतो! हमारी पुकारको, चाहे वह यज्ञोंद्वारा या बुद्धिमान पुरुषकी बुद्धियोंसे निर्मित स्तोत्रोंसे की गयी हो,

तुम जरूर सुनलो। तुम जगमगानेवाले हथियारोंसे राक्षस को विद्ध करदो तथा जिसे हम चाहते हैं उस ज्योतिका निर्माण करो।'

...यद् वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं...अस्मासु तन्मरुतो ...दिधृता यच्च दुष्टरम्॥ ऋ० १।१३९।८

'हे मरुतो! तुम्हारा जो हरएक युगमें अनूठा एवं नया वैभव हो और जिसकी थाह पालेना दुश्मनके लिए अति कठिन हो वह हममें रखदो।' वैदिक सुकवियोंकी नावि-न्यप्रियता स्पष्ट झलकती है।

यूयं न उग्रा मरुतः सुचेतुनाऽरिष्ट ग्रामाः सुमतिं पिपर्तन। ऋ० १।१६६।६

'हे उग्रस्वरूपवाले मरुतो! तुम उत्तम चेतनासे युक्त हो ग्रामोंको सुरक्षित रखते हो इसलिए हम चाहते हैं कि हमारी सुबुद्धिको तुम परिपुष्ट करते चलो।'

आरे सा वः...मरुतः...शरुः। आरे अश्मा यमस्यथ। ऋ० १।१७२।२
आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु। ऋ० ७।५६।१७

'हे मरुतो! तुम्हारा हथियार हमसे दूर रहे, जिस पत्थरको तुम फेंकते हो वह भी हमसे दूर रहे; तुम्हारा वह हथियार जो गौओं तथा शत्रुदलके नेताओंका वध करता हो, हमसे दूर रहे।' वैदिक कवि आशा करते हैं कि वीर मरुतोंके हथियार उन्हें क्षति न पहुँचायँ।

चित्रो वोऽस्तु यामः...मरुतो अहिभानवः।
...ऊर्ध्वान् नः कर्त जीवसे। ऋ० १।१७२।१,३

'अहीन तेजवाले हे मरुतो! तुम्हारा अभियान अनूठे ढंगका बनारहे और हमें उच्चपदाधिष्ठित करो ताकि हम जीवित रहें।'

अग्निश्रियो मरुतो...आ त्वेषमुग्रमव ईमहे वयम्। ऋ० ३।२६।५

'हे अग्नितुल्य कान्तिसे जगमगानेवाले मरुतो! हम आपसे ऐसा संरक्षण चाहते हैं जो तेजः पुञ्ज एवं दुश्मनों के दिलमें धडकन पैदा करनेवाला हो।'

व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिरग्नेर्भामं मरुता-मोज ईमहे। ऋ० ३।२६।६

'हम मरुतोंके हर समुदाय एवं विभागकी भलीभाँति प्रशंसा करके चाहते हैं कि अग्निका तेज एवं मरुतोंका ओज हमें भी प्राप्त होजाय।'

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैति...स्पर्ध-माना। तां विध्यत तमसापव्रतेन...। अथर्व० ३।२।६

'हे मरुतो! वह जो दूसरे शत्रुओंकी सेना चढाऊपरी करती हुई हमारे निकट चली आती है उसे तुम अंधेरेसे विद्ध करो जैसे कि वे लोग कुछ भी कार्य कर न सकें।'

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु। अथर्व० ५।२४।६

'मरुत् वीर पहाडोंपर आधिपत्य रखे हुए हैं वे मुझको बचाएँ।'

...मरुतः...उरुक्षयाः सगणाः...ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः...। अथर्व० ७।७७।३

'वीर मरुत् विशाल घरोंमें, बृहदाकार अट्टालिकाओंमें निवास करते हुए हमेशा गणोंके साथ याने झुंड, समुदाय बनकर कार्य करते हैं अतः हमारी चाह है कि वे हमसे पापके फंदे काटकर दूर फेंकदें।'

आशूनिव सुयमानह्व ऊतये...पुरो दधे मरुतः... शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्च-न्त्वंहसः। अथर्व० ४।२७।१,२,३

'मैं भलीभाँति नियमन करनेवाले मरुतोंको जो कि शीघ्रगामीके तुल्य हैं, संरक्षणकार्यको सुचारुरूपसे चलाने के लिए इधर बुलाता हूँ; मैं उन मरुतोंको अग्रपूजाका सम्मान देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि वे वीर सैनिक शान्तिदायक एवं सुखकारक बनें और हमें पापसे छुडाएँ।'

यूयमुग्रा मरुतः...इन्द्रेण युजा प्रमृणीत शत्रून्। अथर्व० १३।१।३

'हे मरुतो! तुम दुश्मनोंके अन्तस्तलमें धडकन पैदा करनेवाले हो इसलिए मैं विनति करता हूँ कि तुम प्रभु इन्द्रके साथ रहकर शत्रुदलको मटियामेट करदो।'

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सह-ध्वम्। अथर्व० ३।१।२

'हे मरुतो ! तुम उग्र स्वरूपवाले हो इसलिए ऐसे मौकेपर तुम अटलरूपसे खडे हुए हो इस कारण, सामने चढाई कर आगे बढो, शत्रुसैन्यको धराशायी बनादो और दुश्मनोंके आघातोंको झेलना शुरु करो।

...नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः। ऋ० ५।५७।८

'हे नेता मरुतो ! तुम विशाल धनऐश्वर्य साथ रखनेवाले, अमरपदतक पहुँचे हुए एवं ऋत जाननेवाले हो इस लिए हमारी प्रार्थना है कि तुम हमें सुख देते रहो।'

यूयमस्मान् नयत वस्यो अच्छा निरंहतिभ्यो मरुतो गृणानाः। जुषध्वं नो हव्यदातिं यजत्रा वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ऋ० ५।५५।१०

'हे मरुतो ! हम तुम्हारी प्रशंसा करते रहते हैं अतः पापोंसे परे तुम हमें धनसंपदाके प्रति लेचलो, हे पूजनीय मरुतवीरो ! हमारी जो हविर्भागकी देन है उसका स्वीकार करलो तथा कुछ ऐसा प्रबंध करदो कि हम धनोंके अधिपति बनजायँ॥'

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः...हिरण्यरथा सुविताय गन्तन। इयं वो अस्मत् प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न...उत्सा उदन्यवे॥ ऋ० ५।५७।१

'शत्रुदलको बिलखनेमें प्रवृत्त करनेवालो एवं प्रभु इन्द्रके साथ रहनेवालो मरुतो ! तुम सुवर्णके निर्मित रथोंमें बैठकर हमारी भलाई होजाए इसलिए समीप पधारो क्योंकि, जिस भाँति प्यासके मारे अकुलाते हुए अतः जल पीनेकी इच्छा रखनेवालेके लिए झरने अतिप्रिय प्रतीत होते हैं ठीक उसी तरह यह हमारी बुद्धिसे बनाई हुई स्तुति तुममेंसे हरएकको आकर्षक जानपडती है।

यो नो मरुतो...जिघांसति...तपिष्ठेन हन्मना हन्तना तम्। ऋ० ७।५९।८

'हे मरुतो ! जो कोई हमारा वध करनेकी इच्छा करता है उसे तुम अत्यन्त गर्म किए हुए याने खूब तपाये हुए या खूब परिताप देनेवाले हथियारसे मारडालो।

...मरुतो...अनवद्यासः शुचयः पावकाः। प्र णोऽवत सुमतिभिर्यजत्राः प्र वाजेभिस्तिरत पुष्यसे नः। ऋ० ७।५७।५

'हे मरुतो ! तुम अनिन्दनीय, विशुद्ध एवं पवित्रतामय वायुमंडलका सृजन करनेहारे हो और हमारी ऐसी विनति है कि तुम पूजनीय वीर अपनी अच्छी बुद्धियोंसे योजनाएँ बनाकर हमारी खूब रक्षा करो और हमारी पुष्टि होजाए इसलिए अन्न सामग्रियोंसे हमें बढाओ।'

ऋधक् सा वो मरुतो दिद्युदस्तु यद् व आगः पुरुषता कराम...अस्मे वो अस्तु सुमतिश्चनिष्ठा॥ ऋ० ७।५७।४

'हे मरुतो ! यद्यपि हम मानुषसुलभ प्रवृत्तियोंके कारण आपका कुछ अपराधभी कर बैठें तथापि वह तुम्हारा जगमगानेवाला शस्त्र हमसे पृथक् रहे; आपकी अनुकूल बुद्धि हमारे लिए यथेष्ट अन्न देनेवाली बनजाए।

बृहद्वयो मघवद्भ्यो दधात जुजोषन्निन्मरुतः सुष्टुतिं नः।...प्र णः स्पार्हाभिरूतिभिस्तिरेत॥ ऋ० ७।५८।३

'हे मरुतो ! हमारी सुन्दर स्तुतियोंका स्वीकार करते हुए तुम धनिकोंको बडा प्रचंड अन्न भाण्डार देडालो और स्पृहणीय संरक्षणयोजनाओंसे हमारी वृद्धि करते रहो।'

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्षु...गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन। ऋ० ७।१०४।१८

'हे मरुतो ! तुम प्रजाओंके मध्य निवास करो और राक्षसोंको पकडकर उन्हें चकनाचूर करदो।'

...इदं सूक्तं मरुतो जुषन्त। आराच्चिद् द्वेषो वृषणो युयोत यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ऋ० ७।५८।६

'हे बलिष्ठ मरुतो ! इस हमारे भलीभाँति कहे हुए कथनका स्वीकार करो और द्वेषभावको दूर हटाते हुए तुम हमेशा कल्याणकारक साधनोंसे हमारी रक्षाका कार्य जारी रखो।'

प्र यद् वहध्वे मरुतः पराकात्...आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोत। ऋ० १०।७७।६

'हे मरुतो ! जो तुम सुदूरदेशसे यात्रा करते आरहे हो तो हमारी यह विनति है कि तुम गुप्तरूपसे मौजूद द्वेषको दूरसेही हटादो।'

ऊपर दिये हुए ये मंत्र एवं मंत्रभाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनसे वैदिक सुकवियोंकी आकांक्षाओं तथा लालसाओंपर और वीर मरुतोंकी असाधारण एवं आश्चर्यजनक क्षमतापरभी यथेष्ट प्रकाश पडता है। यदि हमें यह जानकारी मिलनी हो कि, वेदकालीन प्रतिभासंपन्न लोग क्या चाहते थे, तो इसकेलिए इससे बढकर अधिक उपयुक्त और क्या हो सकता कि ऋषियोंकी की हुई प्रार्थनाओंका मनन करनेलगें ? इन प्रार्थनाओंसे जहाँ एक ओर ऋषियोंकी इच्छाएँ स्पष्टरूपसे व्यक्त हुआ करती हैं, तो दूसरी ओर उधर देवताओंकी योग्यताकी भी बडी अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। इसीलिए इन प्रार्थनाओंका अध्ययन जितना गहरा होसके उतना करना चाहिए।

अब, इन वीर अतएव देवतारूपी मरुतोंके कार्यकलाप, स्वरूप एवं सामर्थ्यके बारेमें क्या कहा है उसपर तनिक दृष्टिपात करना चाहिए। निम्न मंत्रविभागोंको पढलेनेसे मरुतोंकी असामान्य कार्यक्षमता एवं अतिविस्तृत कार्यक्षेत्र की झाँकी भलीभाँति मिलसकती है।

रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे...ऋ० १।८५।१

'मरुतोंने सचमुच द्युलोक एवं भूलोकको अपने विस्तार, विकास एवं वर्धनके लिए अनुकूल बनाया।'

दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः.. ऋ० १।८५।२

'इन रुद्रवत् प्रतीयमान मरुतोंने द्युलोकमें अपनेलिए स्थान बनालिया है।' अर्थात् ये कभी निम्नस्तरमें रहना पसंद नहीं करते अपितु हमेशा अत्युच्च पदपर विराजमान बने रहते हैं। 'सततमूर्ध्व' यही इनका घोषवाक्य है।

तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना, नाकं तस्थुः, उरु चक्रिरे सदः ऋ० १।८५।७

'वे मरुत वीर अपनी शक्ति बढाकर महत्त्वपूर्ण तेजसे बराबर बढते चले तथा सुखमय स्थानपर बैठगये और अपने पदको विशाल, विस्तृत एवं चौडा बनानेमें सफल हुए।

ते जज्ञिरे दिवः...रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः। ऋ० १।६४।२

'निर्दोष, प्राणशक्तिका दान करनेवाले एवं रुद्रके पुत्र और मरनेके लिए उद्यत वे वीर मरुत् द्युलोकसे उत्पन्न हुए याने सभी दिव्य गुणोंका विकास उनमें दीखपडता है।

...साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः। ऋ० १।६४।४

'वे नेताके गुणोंसे युक्त वीर मरुत् स्वकीय धारण शक्तिसे युक्त हो द्युलोकसे उतरपडे या वे वीर एकसाथही अपनी धारणक्षम सामर्थ्यसे उच्चपदसे व्यक्त हुए अथवा जनताको दीखपडे।'

साकं जाताः सुभ्वः साकं उक्षिताः श्रिये चिदा प्रतरं वावृधुर्नरः॥ ऋ० ५।५५।३

'नेतृगुणोंसे विभूषित वे मरुत् भलीभाँति पैदा होकर एक साथही दीक्षित होकर मिलकर या एक अवस्थावाले बनकर जनताके सामने प्रकट हुए और अपनी शोभासंपन्नता एवं श्रीवृद्धिके लिए खूब बढने लगे।'

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः। ऋ० ५।५९।६

'वे वीरमरुत् कठिनाइयोंके स्तरको तोडकर ऊपर उठनेवाले बनकर तथा साम्यवादको कार्यरूपमें परिणत करते हुए अपने महत्त्वपूर्ण कार्यसे विशेष ढंगसे बढने लगे।' मरुतोंमें वर्गभेद नहीं के बराबर था और किसी भी प्रकार की विषमताके लिए इनके संगठनमें स्थान नहीं था। पूर्ण समता अस्तित्वमें आनेके कारण मरुतोंके संघमें ईर्ष्याद्वेष या पारस्परिक चढाऊपरीका नितान्त अभाव था और इसीलिए वे अभीष्ट सिद्धिके लिए अपनी सारी शक्ति केन्द्रित कर सकते थे।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ऋ० ५।६०।५

'इन मरुतोंमें न कोई ऊँचा है न कोई निम्न श्रेणीका है, अपितु ये सभी भाईभाईके समान बर्ताव रखते हुए मिलकर अपने अच्छे भाग्यके लिए बढते गये, एकत्रित होकर विकासके लिए सचेष्ट बने रहे।'

श्रिये श्रेयांसस्तवसो रथेषु सत्रा महांसि चक्रिरे तनूषु। ऋ० ५।६०।४

'वास्तविक हितके लिए कार्य करनेवाले ये मरुत् बलिष्ठ हो रथोंमें बैठकर श्रीवृद्धिके लिए हमेशा शरीरोंसे बडे विराट कार्य करते रहे।' ये मरुत कभी निठल्ले नहीं बैठते किंतु सदैव प्रचंड कार्य पूर्ण करके दिखलाते अतः इनकी श्रीवृद्धि कभी रुकती नहीं थी।

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ॥ अथर्व० ४।२७।७

'इन मरुतोंका सैन्य बडाही प्रखर एवं सहिष्णुता संपन्न है यह बात सबको विदित है और यह मरुतोंका संघ रणभूमिमें शत्रुदलके दिलमें धडकन पैदा करनेवाला है।' इसी कारणसे मरुतोंकी धाक वैदिक युगमें अटल बनचुकी थी। अस्तु, विश्वभरमें ये वीर मरुत् कैसी भीषण खलबली मचाते थे, मरुतोंका आन्दोलन कितना प्रखर एवं व्यापक बनता था और समूचा संसार मरुतोंका लोहा किस भाँति मानता था इसका सजीव एवं प्रभावशाली चित्रण निम्न मंत्रभागोंमें देखलीजिए—

वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद् रेजते पर्वतश्चित्। पर्वतश्चिन्महि वृद्धो बिभाय दिवश्चित् सानु रेजत स्वने वः। यत् क्रीळथ मरुतः ऋष्टिमन्त आप इव सध्र्यञ्चो धवध्वे॥ ऋ० ५।६०।२,३

'हे भयानक मरुतो! तुम्हारी हलचल शुरु होतेही घने जंगल तक काँपने लगते हैं, तुम्हारी भीषण चढाईके मारे यह भूमि तक डोलने लगती है और पर्वततक डाँवाँडोल होते हैं; बहुत बडा एवं चिरकालसे अस्तित्वमें रहा हुआ पहाडभी सहमउठता है, तुम्हारी भीषण दहाड होनेपर उस आवाजसे द्युलोकका ऊँचा विभाग भी मानों कंपित हो उठता है, हे शस्त्रधारी मरुतो! जब तुम विश्वके रंगमंचपर अपनी क्रीडाका सूत्रपात करलेते हो और प्रचंड जलसमूहकी नाईं मिलकर दौडने लगते हो तो समूचा विश्व उक्त ढंगसे विचलित हो उठता है।'

वि ये भ्राजन्ते... ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा। ऋ० १।८५।४

'जो मरुत् वीर हथियारोंको धारण कर खूब जगमगाने लगते हैं और अपनी ओजस्वितासे अटल एवं अडिग वस्तुओंको भी हटादेने या अपदस्थ करलेने तथा पदभ्रष्ट करनेका गुरुतर कार्य अक्षुण्णरूपसे जारी रखते हैं।'

दृळहा चिद् विश्वा भुवनानि पार्थिवा प्रच्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना। ऋ० १।६४।३

'ये मरुत् अपनी शक्तिसे सारे भुवनोंको, भलेही वे सुदृढ हों तथा भूमिपर विद्यमान हों या द्युलोकमें पाये जाते हों, लेकिन अपने स्थानपरसे हटा देते हैं।' स्पष्ट हुआ कि विश्वकी कोई चीज इन मरुतोंकी राहमें रोड़े नहीं अटका सकती है। इसी कारणसे

भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो...। ऋ० १।८५।८

'सारे भुवन मरुतोंके दलसे भयभीत होते हैं।' क्योंकि ये साहसी वीर मरुत्

बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप... ऋ० १।८५।३

'समूचे आक्रमणकारियोंको मार दूर भगाते हैं।' और—

...मरुतो धृष्णवोजसो मृगा न भीमाः...
अग्नयो न शुशुचानाः...ऋ० २।३४।१

'इन मरुतोंका बल शत्रुदलको दहलानेवाला है, ये मरुत मृगोंके समान भयानक होते हैं तथा अग्निकी लपटोंके तुल्य जगमगाने लगते हैं' अर्थात् जैसे धधकती आगको लाँघनेका साहस किसीमें नहीं पाया जाता वैसे ही भला किसमें इतनी मजाल कि मरुतोंके निकट चले जायँ।

...मरुतो...प्र वेपयन्ति पर्वतान् यत् यामं यान्ति वायुभिः। ऋ० ८।७।४

'ये मरुत वीर, वेगपूर्वक बहनेवाले वायुओंके साथ जब अभियान करते हैं अर्थात् प्रबल आँधियोंके समान जब मरुतोंका आक्रमण शुरु होता है तब ये पहाडोंकोभी खूब हिला देते हैं यानें मरुतोंके विद्युत् युद्धसे पर्वतभी काँप उठते हैं।'

उत च्यवन्ते अच्युता ध्रुवाणि।... ऋ० १।१६७।८

'और ये मरुत् स्थिर एवं अडिग रूपसे अवस्थित शत्रुओंको या अन्य वस्तुओंको गिरादेते हैं।'

अरेणवस्तुविजाता अचुच्यवुर्दृळहानि चिन्मरुतो भ्राजदृष्टयः। ऋ० १।१६८।४

'कलंकरहित, विशाल क्षेत्रसे उत्पन्न एवं जगमगानेवाले हथियार धारण करनेवाले ये मरुत् स्थिर, सुदृढ दुश्मनोंकोभी हिलाचुके हैं।'

मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन।
गिरीँरचुच्यवीतन॥ ऋ० १।३७।१२

'हे मरुतो! जो तुममें बल मौजूद है वह सचमुच लोगोंको तथा पहाडोंकोभी पदभ्रष्ट करनेकी क्षमता रखता

है।' याने स्थावर या जंगम वस्तुओंसे विरोध हो या चेतन अथवा जड पदार्थोंसे प्रतीकार होनेलगे, वीर मरुत् दोनोंको उखाडफेंकदेनेका सामर्थ्य रखते हैं।' इसीलिए वैदिक ऋषि मरुतोंसे कहते हैं कि-

असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसामि धूतयः शवः। ऋ० १।३९।१०

'अच्छे दानशूर एवं शत्रुदलको विकम्पित करनेवालो हे मरुतो! तुम्हारा बल अधूरा नहीं और तुम संपूर्ण, अविकल ओजस्विताका धारण करते हो।' इसीसे तुम

विश्वा इत् स्पृधो मरुतो व्यस्यथ।...ऋ० ५।५५।६

'हे मरुतो! सभी स्पर्धा करनेवाले दुश्मनोंको तुम दूर फेंक देते हो।'

उग्रं व ओजः स्थिरा शवांसि...मरुद्भिर्गणस्तुविष्मान्। ऋ० ७।५६।७

'हे मरुतो! तुम्हारी ओजस्विता उग्रस्वरूपवाली है तथा तुम्हारे बल स्थायी हैं, नष्ट होनेवाले नहीं; मरुतोंके कारण संघ बलिष्ठ दिखाई देता है।'

...यदेजथ स्वभानवः। अच्युता चिद् वो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः। भूमिर्यामेषु रेजते॥ ऋ० ८।२०।४,५

'हे मरुतो! जब तुम अपने तेजसे युक्त होकर आन्दोलन करते हो, तो तुम्हारे बलपूर्वक अभियानके फलस्वरूप, अटल होनेपरभी पहाड, पेड चिल्ला उठते हैं तथा पृथ्वी तुम्हारी हलचलमें काँपउठती है।'

...स्थिरा चिन्नमयिष्णवः। ऋ० ८।२०।१

'तुम मरुत तो स्थिर प्रतीत होनेवालोंको भी झुकानेकी क्षमता पर्याप्त रूपमें रखते हो।'

अपारो वो महिमा वृद्धशवसः...ऋ० ५।८७।६

'हे मरुतो! तुम्हारा बल एवं सामर्थ्य बढाचढा हुआ है अतः तुम्हारी महिमा असीम है।' तुम जैसे बढते हुए सामर्थ्यवाले वीरोंके महत्त्वका पार लगाना मानवोंके लिए कठिन है।

मरुतोंके दलमें ऐसी अनूठी क्षमता थी इसीलिए मंत्रद्रष्टा वैदिक कविगण उनसे अत्यन्त अधिक मात्रामें प्रभावित होकर मरुतोंका मुक्तकंठसे गुणगान करते हुए कहते हैं-

युवा स मारुतो गणस्त्वेषरथो अनेद्यः। शुभंयावाप्रतिष्कुतः॥ ऋ० ५।६१।१३

'वह नवयुवक वीरमरुतोंका दल अनिन्दनीय, तेजस्वी रथ साथ रखनेवाला, अच्छे कार्यके लिए यात्रा करनेवाला एवं कहींभी न रुकनेवाला या न हटाया हुआ समुदाय है।'

मयोभुवो ये अमिता महित्वा वन्दस्व विप्र तुविराधसो नॄन्। ऋ० ५।५८।२

'जो वीर मरुत् अपरिमेय महिमा रखनेके कारण जनताके सुखकी वृद्धि करनेवाले हैं उन विशाल संपत्ति साथ रखनेवाले नेता मरुतोंको प्रणाम, हे ज्ञानी पुरुष! तू करले।' अर्थात् सुखसुविधाका सृजन करनेहारे, विस्तृत पैमानेपर धनवैभव बढानेवाले एवं अपरंपार महत्त्वसे अलंकृत नेता वीरोंका प्रणाम सभी लोग करते हैं।

न पर्वता न नद्यो वरन्त वो यत्राचिध्वं मरुतो गच्छथेदु तत्। उत द्यावापृथिवी याथना परि... ऋ० ५।५५।७

'हे मरुतो! जहाँ तुम जाना चाहते उधर अवश्यही चले जाते हो क्योंकि न पहाड और न नदियाँ तुम्हें आगे बढनेसे रोकलेती हैं तथा तुम द्युलोक एवं भूलोकमें चतुर्दिक् यात्रा करने लगते हो।' मरुतोंकी अप्रतिहत प्रगतिका बखान है।

धूनुथ द्यां पर्वतान् दाशुषे वसु नि वो वना जिहते यामनो भिया। कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः...। ऋ० ५।५७।३

'हे मरुतो! तुम अपनी शक्तिसे पहाडों तथा द्युलोककोभी हिला देते हो ताकि उस आन्दोलनसे दानी पुरुषको धन मिलजाए और तुम्हारे अभियानके भयसे वनप्रदेश तक विकम्पित हो उठते हैं; मातृभूमिकी सेवा करनेहारे तुम वीर समूची पृथ्वीको क्षुब्ध करडालते हो।' अर्थात् मरुतोंका आन्दोलन कोई नगण्य साधारणसी बात नहीं अपितु उसका प्रभाव दिगन्तव्यापी एवं विश्वके कोनेकोनेमें अपनी अमिट छाप डालनेवाला होता है। इस वर्णनसे

स्पष्ट हुआ कि जब वीर मरुतोंका प्रबलतम संगठित दल हलचल या आन्दोलनका सूत्रपात करलेता तो संसारके एक छोरसे ले दूसरे छोरतक खलबलीका प्रभाव फैलजाता और जगत्का कोई कोना मरुतोंके प्रमाथी तथा सर्वंकष व्यक्तिमत्त्वसे अछूता न रहनेपाता ।

वर्षाके द्वारा जनसेवा

वर्षाका प्रारम्भ करके यथेष्ट जल प्रदान द्वारा ग्रीष्म संतप्त भूमंडलका ताप हरण करना मरुतोंके व्यापक एवं लोकोपयोगी कार्यक्रममें अन्तर्भूत था ऐसा निम्न निर्देशोंसे प्रतीत होता है—

...शूरा इव प्रयुधः प्रोत युयुधुः...सूर्यस्य चक्षुः प्र मिनन्ति वृष्टिभिः ॥ ऋ० ५।५९।५

'ये शूर मरुत् प्रकर्षसे लडनेवाले हो वीरोंकी नाईं खूब जूझनेलगे और अब अविरत जलधाराओंसे मानों भगवान् सूर्यको ढकसे देते हैं ।' अर्थात् खूब मूसलाधार वर्षा होरही है ।

आ वो यन्तूदवाहासो अद्य वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति । अयं यो अग्निर्मरुतः समिद्धः एतं जुषध्वं कवयो युवानः ॥ ऋ० ५।५८।३

'मरुतोंके भेजे हुए मेघ, जोकि जलोंको इष्टस्थानपर पहुँचा देते हैं, आज इधर चले आयँ तथा वे सभी मरुत् इधर उपस्थित रहें जो वर्षाको प्रेरित करते हों, हे मरुतो ! देखो न, यह जो अग्नि हमने प्रज्वलित कररखा है उसके निकट बैठकर क्रान्तदर्शी एवं युवक तुम मरुत् उससे लाभ उठाना शुरु करो ।' इस प्रतिपादनसे यह स्पष्ट हुआ कि मरुतोंका एक दल वर्षा पैदा करने जैसे अति उपयुक्त कार्य करनेमें तनमनसे जुटजाता और जब यथेष्ट जलवर्षा हो जाती तो वे मरुत् अपने भक्तोंके धधकाये हुए अग्नि के इर्दगिर्द बैठने लगते ताकि शीत निवारण हो जाए ।

पुरुद्रप्साः ...सुदानवस्त्वेषसंदृशः...सुजातासः ...जनुषा...अमृतं नाम भेजिरे । ऋ० ५।५७।५

'अपने साथ यथेष्ट जलबिन्दुओंको रखकर ये अच्छे दानी, दीप्त मुखाकृतिवाले, उत्तम परिवारमें उत्पन्न मरुत् अमृत मय नामको प्राप्त होगये ।' याने पर्याप्त बारिश पैदा करनेसे, अत्यन्त उदार बननेसे और भव्य स्वरूप रखनेसे मरुतोंका नाम अमर होगया ।

*

आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः । वि पर्जन्यं सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः ॥ ऋ० ५।५३।६

'नेतापदपर आसीन तथा भलीप्रकार दान करनेवाले मरुतोंने दानीके लिए द्युलोकसे जब जल भाण्डार याने मेघको टपकाना शुरु किया तो मानों ये द्युलोक एवं भूलोकके पीछे मेघको छोडदेते हैं तब मरुभूमिकी ओर जलधाराएँ जाने लगती हैं ।' वर्षा करनेमें तनिकभी कृपणता नहीं और जहाँ जलकी तीव्र आवश्यकता प्रतीत होती है ऐसे मरुस्थलोंमें वर्षाको प्रवृत्त करना मरुतों की विशेषता है । यही बात निम्न मंत्रमें दर्शायी है—

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् । सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥
अथर्व० ४।१५।४

'हे मेघ ! अलग अलग गरजनेहारे मरुतोंके संघ तेरे निकट आकर गायन करना शुरु करें पश्चात् मूसलाधार वर्षा करनेवाले मेघोंसे उत्पन्न जलप्रवाह पृथ्वीपर गिरते रहें ।'

उदीरयत मरुतः समुद्रतः...नभ उत्पातयाथ ।
...नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ।

'हे मरुतो ! तुम समुद्रसे जल ऊपर ले चलते हो तथा आकाशमें उस जलसमूहको घुमाते रहते हो तब गरजते मेघसे खलबली मचानेवाली जलधाराएँ भूमंडलको तृप्त करदें ।'

अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवः पृथिवीमभि ये सृजन्ति । ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति...मरुतो वर्षयन्ति... । अथर्व० ४।२७।४,५

'जो मरुत समुन्दरमेंसे जलोंको द्युलोकमें पहुँचाते हैं और वहाँसे फिरसे भूमंडलपर गिरादेते हैं, जो मरुत जलोंके साथ प्रभुत्व प्रस्थापित करते हुए घूमते हैं और बारिश करते हैं ।'

मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु...संयन्तु पृथिवीमनु...प्रावन्तु... । अथर्व० ४।१५।७,८,९,

'मरुतोंके टपकाये मेघ वर्षा करने लगें, पृथ्वीपर गिरकर उसकी यथेष्ट रक्षा करें ।'

उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा...
ऋ० ५।५५।५

'हे मरुतो ! तुम समुन्दरमेंसे जल ऊपर उठाते हो और पश्चात् वृष्टि करना प्रारंभ करदेते ।'

...चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम... । ऋ० १।८५।५

'वे मरुत् जलोंसे भूमिको चमडेकी तरह नर्म एवं गीली बना देते हैं ।'

...वातान् विद्युतस्तविषीभिरक्रत । दुहन्त्यूधर्दिव्यानि...भूमिं पिन्वन्ति पयसा... ऋ० १।६४।६

'वे मरुत् अपनी शक्तियोंसे आँधियों तथा बिजलियोंका सृजन करचुके हैं; आकाशस्थ जलभाण्डारोंका दोहन करते हैं तथा जलसे भूमिको परिपुष्ट बनाते हैं ।'

पिन्वन्त्यपो मरुतः सुदानवः...उत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम् ॥ ऋ० १।६४।६

'भलीभाँति दान देनेवाले मरुत् जलोंको बढाते हैं तथा क्षीण न होनेवाले एवं गरजते हुए जल भाण्डारका (मेघ) दोहन करते हैं ।'

ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभिः । उत्सं दुहन्तो अक्षितम् ॥ ऋ० ८।७।१६

'जो मानों जलकी बूँदोंसे शुरु करके, न घटनेवाले झरनेको दुहते हुए द्यावापृथिवीको बारिशसे परिपूर्ण करते हैं ।'

दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन ।
यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति ॥ ऋ० १।३८।९

'ये मरुत्, जल पहुँचानेवाले मेघकी सहायतासे जबकि पृथ्वीको विशेष ढंगसे नर्म करते हैं तो दिनके समयभी मानों अन्धकार बनाते हैं ।' इस प्रकार ये वीर मरुत्, जल एवं वर्षाके अभावसे पीडित भूविभागोंका कष्ट दूर करनेके लिए तथा बारिशकी न्यूनता कम करनेके हेतु वर्षाका बडा अच्छा प्रबंध करदेते हैं । अपने अन्दर विद्यमान अनूठे सामर्थ्यसे मरुत् वीर, जोकि वैदिक सुकवियोंकी निगाहमें देवतातुल्य दीख पडते थे, लोकसेवाको सुचारुरूपसे संपन्न करलेते थे इस कारणसे वैदिक ऋषियोंने मुक्तकण्ठसे मरुतोंके अनोखे सामर्थ्यका वर्णन किया है जिसकी बानगी निम्न मंत्रोंमें दिखाई देती है ।

परा ह यत् स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु । वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम् ॥
ऋ० १।३९।३

'हे नेता बने मरुतो ! जो तुम अटल प्रतीत होनेवाले शत्रुको मार पछाड देते और भारी दुश्मनको परावृत्त करडालते तो पहाडी दिशाओं एवं भूमिके घने जंगलोंको भी पार करके आगे बढते हो ।' ऐसे प्रबल एवं प्रभावी सामर्थ्यके सामने क्या मजाल कि कोई शत्रु टिकसके क्योंकि

नहि वः शत्रुर्विविदे अधि द्यवि न भूम्यां रिशादसः । ऋ० १।३९।४

'हे शत्रुदलविध्वंसक मरुतो ! न तो द्युलोकमेंही और नाही भूमंडलमें तुम्हारा कोई दुश्मन मौजूद रहने पाया है ।'

अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम् ।
अरेजन्त प्र मानुषाः ॥ ऋ० १।३८।१०

'मरुतोंकी वज्रतुल्य गाजसे सारे मानव तथा समूचे पृथ्वीपरके घर खूब डाँवाँडोल होने लगे ।'

आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः । ऋ० १।३९।६

'हे मरुतो ! तुम्हारे अभियानकी बात सारी पृथ्वी सुनचुकी है अतः मानव भयभीत हुए इसमें क्या अचरज?'

वि द्वीपानि पापतन्...यदेजथ स्वभानवः ।
ऋ० ८।२०।४

'हे मरुतो ! तुम अपने निजी तेजसे पूर्ण बनकर जब हलचल मचाते हो तो टापूतक गिरपडते हैं ।'

प्र ये महोभिरोजसोत सन्ति विश्वो वो यामन् भयते... । ऋ० ७।५८।२

'जो मरुत् अपनी ओजस्विता एवं महनीय तेजोंसे जनताके सामने खडे रहते हैं; इसलिए तुम्हारे अभियानमें सभी सहमजाते हैं ।'

नेतावदन्ये मरुतो यथेमे भ्राजन्ते रुक्मैरायुधैस्तनूभिः । ऋ० ७।५७।३

'जैसे ये मरुत् सुवर्णविभूषित आयुधों तथा शरीरोंसे जगमगाने लगते हैं वैसे दूसरे नहीं सुहाते हैं।' अर्थात् वीर मरुतोंकी कान्ति सबसे बढकर है।

मध्वो वो नाम मारुतं यजत्रा प्र यज्ञेषु शवसा मदन्ति। ये रेजयन्ति रोदसी चिदुर्वी पिन्वन्त्युत्सं यदयासुरुग्राः। ऋ० ७।५७।१

'हे पूजनीय मरुतो! तुम्हारा नाम मधुरिमासे पूर्ण है जो तुम यज्ञोंमें अपने बलसे खूब हर्षित हो जाते हो; जब उग्ररूपवाले तुम अभियान करने लगते हो तो विशाल द्यावापृथिवीकोभी विकम्पित करदेते और झरनेको जलपूर्ण बनाडालते।'

युष्मोतो विप्रो मरुतः शतस्वी...युष्मोतः सम्राळुत हन्ति वृत्रं प्र तद्वो अस्तु धूतयो देष्णम्॥
ऋ० ७।५८।४

"हे मरुतो! तुम्हारी संरक्षणछत्रछायामें रहनेवाला ज्ञानी पुरुष सैकडों की संख्यामें धन पालेता है तथा जिस सम्राटको तुम्हारी रक्षाका लाभ मिल गया वह शत्रुका वध कर डालता है अतः हे शत्रुको हिलानेवालो! तुम्हारी वह देन हमें अधिक मात्रामें मिल जाय।"

इस भाँति वीर तथा देवतारूपी मरुतोंके अनोखे बल तथा अविरत लोकसेवासे प्रसन्न होकर वैदिक द्रष्टा उनके संबंधमें निम्नलिखित ढंगसे पूछताछ करते हैं—

क्व वः सुम्ना नव्यांसि मरुतः क्व सुविता।
को३ विश्वानि सौभगा॥ ऋ० १।३८।३

'हे मरुतो! तुम्हारे नये सुख, नयी भलाइयाँ एवं सुविधाएँ भला किधर रखो हैं और तुमसे प्राप्त होने योग्य सभी सौभग कहाँ हैं?' वैदिक ऋषियोंकी उत्सुकता स्पष्ट दीखपडती है।

कदा गच्छाथ मरुत इत्था विप्रं हवमानम्।
मार्डीकेभिर्नाधमानम्॥ ऋ० ८।७।३०

'हे मरुतो! इस भाँति पुकारते हुए और याचना करते हुए ज्ञानी पुरुषके निकट अपने सुखदायक साधनोंसे भला तुम कब जाओगे?'

क्व नूनं सुदानवो मदथा...ब्रह्मा को वः सपर्यति।
ऋ० ८।७।२०

'हे अच्छे दानी मरुतो! तुम भला किस जगह हर्षित हो रहे हो? कौन ब्रह्मा तुम्हारी पूजा करता है?' मरुतोंके पधारनेमें देरी होनेसे उत्सुकता कितनी बढजाती थी इसका उदाहरण उक्त मंत्रोंमें दिखाईदेता है। उसी प्रकार

कस्मा अद्य सुजाताय रातहव्याय प्र ययुः।
एना यामेन मरुतः॥ ऋ० ५।५३।१२

'आज मरुत् वीर इस यात्रासे भला किस भलीभाँति उत्पन्न तथा हव्यभागका दान करचुकनेवालेके समीप चले गये हों।'

को वेद नूनमेषां यत्रा मदन्ति धूतयः। ऋतजाता अरेपसः॥ ऋ० ५।६१।१४

'इनके बारेमें भला कौन जानकारी रखता हो ताकि उससे हम पूछलें कि ये ऋतके लिए उत्पन्न, निर्दोषी तथा शत्रुदलको डाँवाँडोल करनेवाले वीर मरुत् कहाँ आनन्द मना रहे हैं।

कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवानः को अध्वरे मरुत आ ववर्त। श्येनाँइव ध्रजतो अन्तरिक्षे केन महा मनसा रीरमाम॥ ऋ० १।१६५।२

'ये युवक मरुत् किसके स्तोत्रोंका आदरपूर्वक स्वीकार करबैठे हैं तथा अहिंसामय यज्ञमें भला कौन इन मरुतोंको अपनी ओर प्रवृत्त करसका? जब बाज पंछीकी तरह अन्तरिक्षपथमेंसे ये मरुत चले जाते हैं तो भला हम किस महनीय विचारसे इन्हें इधरही रममाण करलें?'

कद्ध नूनं...पिता पुत्रं न हस्तयोः दधिध्वे...।
ऋ० १।३८।१

'जिस भाँति पिता अपने पुत्रको निज हाथोंसे उठालेता है ठीक वैसेही तुम भला कब हमें हाथोंसे उठालोगे?'

क्व नूनं...गन्ता दिवो, न पृथिव्याः।...
ऋ० १।३८।२

'भला अब किधर जाना चाहते? तुम द्युलोकसे जरूर इधर आनेके लिए प्रस्थान करो लेकिन इस पृथ्वीसे दूसरी जगह न चले जाओ।' क्योंकि पृथ्वीपर जनसेवाका कितना बृहत्, विराट तथा प्रचंड कार्यक्रम पड़ा है, सभी

जानते हैं।

एतान् रथेषु तस्थुषः कः शुश्राव कथा ययुः।
ऋ० ५।५३।२

'रथोंमें चढे हुए इन वीर मरुतोंके बारेमें भला किसीने सुन लिया है और ये कैसे चले गये?

वीर मरुतोंके समीप पधारनेके संबंधमें वैदिक ऋषियोंके अन्तस्तलमें कैसी तीव्र उत्कंठा जागृत थी सो ऊपर दिये हुए मंत्रोंसे अतिस्पष्ट हुआ और अब ऐसे महामहिम् शाली मरुतोंकी स्तुति करनेके लिए वेदमें क्या कहा है उसपर निगाह डालनी चाहिए—

क्रीळं वः शर्धो मारुतं...रथेशुभं। कण्वा अभि प्र गायत॥ ऋ० १।३७।१

'हे कण्व परिवारके पुरुष! तुम मरुतोंके उस संघका खूब स्तोत्रगायन करो जो खिलाडी तथा रथोंमें सुहाता है।'

वन्दस्व मरुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम्।...
ऋ० १।३८।१७

'तेजः पुञ्ज, सराहनीय एवं अर्चनीय मरुतोंके समुदाय को प्रणाम करो।'

प्र शंसा...क्रीळं यच्छर्धो मारुतम्।...
ऋ० १।३७।५

'मरुतोंके क्रीडासक्त समूहकी प्रशंसा करो।'

यूनः...नविष्ठया वृष्णः पावकाँ अभि सोभरे गिरा गाय।... ऋ० ८।२०।१९

'हे सोभरे! तू इन युवक, बलिष्ठ एवं पवित्रतामय वायुमंडल बनानेवाले मरुतोंके लिए अत्यन्त नयी वाणीसे गायन करना शुरु कर।'

तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा।
ऋ० ५।५२।१३

'हे ऋषिवर! अपने भाषणसे उस मरुत् समुदायका अभिवादन एवं दिलबहलाव कर।'

ध्यानमें रहे कि मरुतोंकी स्तुति यूंही नहीं की जाती है पर उनमें वैसी सराहनीय एवं असाधारण क्षमता मौजूद है अतएव वेदमें मरुतोंकी प्रशंसाका निर्देश पाया जाता है। मरुतोंकी अनूठी शक्ति तथा अचम्भा उत्पन्न करनेयोग्य कार्य कलापका बखान फिरएकबार देख लीजिए—

ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः...। य उग्रा...अनाधृष्टास ओजसा...ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः...ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते...य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्...आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा...मरुद्भिरग्न आगहि।
ऋ० १।१९।१-८

'जो सभी देवतारूपी, द्रोह न करनेवाले तथा महान भुवनको जाननेहारे हैं; जो अपनी ओजस्वितासे कभी आक्रान्त नहीं बनते तथा शत्रुदलके दिलमें भय संचार करनेकी क्षमता रखते हैं; जो श्वेतवर्णवाले या निष्कलंक, घोर शरीरसंपदा धारण करनेवाले, भले क्षत्रिय एवं दुश्मनोंको मटियामेट करनेवाले हैं; जो देवतारूपी हो द्युलोकके सुखमय एवं कान्तिमय स्थलमें विहार करते हैं; जो पहाडोंकी मालिकाको हटा देते हैं और जल प्रपूर्ण समुद्रको लाँघ पार आगे बढते हैं; जो अपने किरणोंसे एवं ओजगुणसे समुद्रकोभी मानों तिरस्कृत करडालते हैं ऐसे उन मरुतोंके साथ, हे जनताके नेता! तू इधर चला आ।'

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः...। ऋ० १०।७८।२
...अग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः।... ऋ० १०।७८।३
अग्नयो न स्वविद्युतः। ऋ० ५।८७।३
अग्नयो न शुशुचाना। ऋ० २।३४।१

'जो मरुत् वक्षःस्थलोंपर सुनहले आभूषण धारण कर जगमगाहटसे अग्निके तुल्य प्रतीत होते हैं और अग्निकी लपटोंके तुल्य कान्तिमान होते हैं, अग्नियोंके तुल्य जो स्वकीय तेजसे विशेषतया जगमगाते हैं और पवित्र भी बनते हैं।'

सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्थां सूर्याय यातवे।
ते भानुभिर्वितस्थिरे॥ ऋ० ८।७।८

'ये वीर मरुत् इतने ओजगुणसे परिपूर्ण हुआ करते कि किरण जालका सृजन करते तथा सूर्य रश्मियोंके गमनार्थ मार्ग बनाते हैं और अपने तेजोंसे विशेष रूपसे विशेषतया अवस्थित दीखपडते हैं।'

ये...ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरञ्जिभिः। अजायन्त स्वभानवः॥ ऋ० १।३७।२

'जो वीर मरुत् साथमें हथियार कुठार तथा आभूषण लेकर स्वकीय तेजसे युक्त हो जनताके सम्मुख प्रकट हुए हैं।' 'स्वभानवः' पद सूचित करता है कि मरुतोंका तेज एवं शोभा नैसर्गिक है, कृत्रिम बिलकुल नहीं।

त्यं चिद् घा दीर्घं पृथुं मिहो न पातममृध्रम्।
प्र च्यावयन्ति यामभिः॥ ऋ० १।३७।११

'उस लंबे, मोटे, अविकल तथा जलको थामे हुए मेघकोभी ये मरुत् अपने आक्रमणोंसे या गतियोंसे जल-बरसानेके लिए गिरा देते हैं।' इससे स्पष्ट है कि बरसात होनेके लिये अनुकूल हालत ये मरुत् अपनी हलचलोंसे बनाते हैं।

सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः।
मिहं कृण्वन्त्यवाताम्॥ ऋ० १।३८।७

'यह सच बात है कि ये तेजस्वी, बलिष्ठ एवं रुद्रके पुत्र मरुत् मरुभूमिमें भी पवनकी गति रुकजानेपरभी जल-वृष्टि करना शुरु करते है।' मरुतोंका यह सामर्थ्य सचमुच विलोकनीय है।

मरुतोंकी प्रभावजनक वीरता तथा सामर्थ्य भलीभाँति चित्रित करनेके लिए वेदमें जो विशेषण लगाये हैं उनका विचार अब करना चाहिए। निम्न विशेषण मरुतोंकी तेजस्विता सूचित करते हैं जैसे, 'त्विषीमन्तः' 'त्वेष-संदृशः' 'त्वेषाः' 'भ्राजमानाः' 'भ्राजत्-जन्मानः' 'विद्युत्-हस्ताः' 'विद्युन्महसः' 'स्व-भानवः' 'स्वराजः' 'स्व-विद्युतः' 'स्वरोचिषः' 'सूर्य-त्वचसः' 'अग्नि-श्रियः' 'चित्र-भानवः' 'स्था-रश्मानः' इन विशेषणोंको पढतेही पाठकोंके दिलमेंभी तेजःपुञ्ज सैनिकदलका चित्र उठ खडा होता है अतः अपना आशय ठीक तरह पाठक या श्रोताके अन्तस्तलमें पैठानेके लिए ये विशेषण अच्छी प्रकार चुने गये हैं।

मरुतोंमें विद्यमान शूरता एवं सर्वंकष और प्रमाथी बलकी सूचना देनेके लिए निम्न विशेषणोंका चयन देखने योग्य है जैसे, 'अगृभीत-शोचिषः' 'अ-दाभ्याः' 'अधृष्टासः' 'अनन्त-शुष्माः' 'अनवभ्र-राधसः' 'अनानताः' 'अ-भीरवः' 'अमवन्तः' 'उग्रासः' 'उग्राः ओजोभिः' 'असामिशवसः' 'रभसा उद्‌ओजसः' 'उद्‌भिदः' 'घोराः' 'घोर-वर्पसः' 'घोषिणः' 'धृष्णवः ओजसा' 'धृष्णवोजसः' 'भीमाः' 'भीमसंदृशः' 'वातस्वनसः' 'नमयि-ष्णवः।'

मरुतोंकी बुद्धिमत्ता तथा नेता बननेकी क्षमताकी सूचना निम्न विशेषणोंसे मिलती है-

'गिरः सूनवः,' 'कवयः,' 'ऋत-ज्ञाः,' 'जुषाणाः मनसाः,' 'दिवः नरः,' 'दिवः पुत्रासः,' 'दूरे-दृशः,' 'मनीषिणः,' 'अरेपसः,' 'अ-रेणवः' तथा 'अ-मर्त्याः,' 'सु-जाताः,' 'सुनीतयः,' 'अ-भीरवः,' 'अनवद्याः,' 'स्तोतॄन् वावृधानाः' 'स्वयुक्ताः,' 'स्वयुजः,' 'स्व-राजः' 'अन्तः अवद्यानि पुनानाः'

मरुतोंके सैनिक जीवनपर निम्न विशेषणोंसे प्रखर प्रकाशपुञ्जका प्रबल प्रक्षेपण अनायासही हो जाता है—

'सुरथाः,' 'स्वश्वाः,' 'तस्थिवांसः रथेषु,' 'ऋष्टिमन्तः' 'अखिद्रयामानः,' 'अ-कनिष्ठासः,' 'अ-चरमाः,' 'क्रीळयः' 'प्रक्रीळिनः,' 'विदथेषु जग्मयः' 'जिगत्नवः,' 'स-नीळाः,' 'समोकसः' 'वज्र-हस्ताः,' 'सहन्तः' 'स्पन्द्रासः,' 'स्पन्द्रासः धुनीनां,' श्रिया समिश्लाः, 'सुभगासः' 'स्वायु-धाः' 'वाह्रोजसः'

मरुतोंके दलमें जो बल मौजूद है उसके बारेमें पूरापूरा ज्ञान पाना असंभव है अर्थात् असीम एवं अनंत सामर्थ्य मरुतोंमें है ऐसा निम्न मंत्रमें सूचित किया है—

नही नु वो मरुतो अन्त्यस्मे आरात्ताच्चिच्छवसो अन्तमापुः। ऋ० १।१६७।९

'हे मरुतो! तुम्हारे अन्दर विद्यमान बलकी थाह न समीपसे न दूरसेही हम पासके हैं।'

मरुतोंके मार्गमें कहीं भी रुकावट नहीं होती है और विश्वभरमें जिधर चाहे उधर ये चले जाते हैं, प्रगति करते हैं तथा अपने असीम बलसे सभी विघ्नोंको हटाते हैं, चकनाचूर करडालते हैं ऐसी सूचना निम्न मंत्रमें दी है।

प्रवत्वतीयं पृथिवी मरुद्भ्यः प्रवत्वती द्यौर्भवति प्रयद्भ्यः। प्रवत्वतीः पथ्या अन्तरिक्ष्याः प्रवत्वन्तः पर्वताः... ऋ० ५।५४।९

' मरुतोंके लिए समूचा अवनितल सुखपूर्वक जाने योग्य है तथा प्रकर्षसे आगे बढनेवाले मरुतोंके लिए अंबर तकभी निर्विघ्न एवं आसानीसे गति करनेयोग्य बनजाता है और अन्तरिक्ष मार्ग तथा पहाडभी उनकी राहमें रोडे नहीं अटकाते हैं। इसका कारण यह है कि—

'यन्मरुतः सभरसः...सूर्य उदिते मदथ...सद्यो अस्याध्वनः पारमश्नुथ। ऋ० ५।५४।१०

' हे मरुतो ! जो तुम समानरूपसे कार्यभार उठाते या सँभालते हुए सूर्योदय होनेपर हर्षित होते हो; इसलिए तुरन्तही तुम इस मार्गके अन्तपर पहुँचजाते हो।'

प्रयज्यवो मरुतो...बृहद् वयो दधिरे रुक्मवक्षसः। ईयन्ते अश्वैः सुयमेभिराशुभिः।...ऋ० ५।५५।१

' प्रकर्षसे यजनीय कर्म करनेवाले मरुत् सैनिक सुवर्णजटित मालाओंको गलेमें पहने हुए प्रचण्ड अन्नभाण्डार साथमें रखलेते हैं और भलीभाँति नियंत्रित एवं शीघ्रगामी घोडोंपर चढकर प्रगतिपथपर अविराम आगे बढते चलेजाते हैं।'

ये आशु अश्वाः अमवद् वहन्त उतेशिरे अमृतस्य स्वराजः। ऋ० ५।५८।१

' जो निजी शक्तिके बलबूतेपर विराजमान होकर शीघ्र गतियुक्त घोडे साथ रखकर बलपूर्वक गन्तव्यस्थान तक पहुँचते हैं और अमरपनपर प्रभुत्व प्रस्थापित करलेते हैं।' इसीलिए वैदिक सुकवि कहते हैं—

अपारो वो महिमा वृद्धशवसस्त्वेषं शवोऽवतु... ऋ० ५।८७।६

' हे बढीचढी शक्तिवाले मरुतो ! तुम्हारी महिमा सचमुच असीम है इसलिए यही प्रार्थना है कि वह तेजस्वी बल संरक्षणकार्य करता रहे।'

स्वयं दधिध्वे तविषीं...बृहन्महान्त उर्विया वि राजथ। उतान्तरिक्षं ममिरे व्योजसा...। ऋ० ५।५५।२

' हे मरुतो ! तुम स्वयंही सामर्थ्यका चयन कर धारण करते हो अतएव बडेभारी होकर अत्यन्त विस्तृत ढंगसे व्यापकरूपमें विराजमान होते हो और ओजस्वितासे अन्तरिक्षको व्याप्त करलेते हो।'

इसभाँतिके अपार महिमा विभूषित मरुतोंके दलको समीप आनेके लिए वैदिक शब्दोंसेंही प्रार्थना व्यक्त करके और वेदकेही शब्दोंसे उनकी सराहना करनेकी सूचना करके इस लेखको समाप्त करते हैं।

...गणं....अद्य मरुतामव ह्वये दिवश्चित् रोचनादधि। ऋ० ५।५६।१

' आज मैं मरुतोंके गणको जगमगाते द्युलोकसेभी इधर नीचे अवनीतलपर पधारनेके लिए बुलाता हूं।' क्योंकि द्योतमान अंबरतलसे भी अपेक्षाकृत इस अवनीतलपरही उनके लिए महान कार्य विद्यमान है।

वृष्णश्चन्द्रान्न सुश्रवस्तमान् गिरा वन्दस्व मरुतो अह। ऋ ८।२०।२०

ये ते नेदिष्ठं हवनान्यगमन् तान् वर्ध भीमसंदृशः ऋ० ५।५६।१

मयो भुवो ये अमिता महित्वा वन्दस्व विप्र तुविराधसो नॄन्। ऋ० ५।५८।२

' अत्यन्त यशस्वी, बलिष्ठ, आल्हाददायक मरुतोंका भाषणके साथ अभिवादन कर; जो वे उग्र मुखाकृतिवाले बुलानेपर अत्यन्त समीप आते हैं उनकी बधाई कर; हे ज्ञानी ! जो मरुत् असीम महत्त्वसे युक्त हैं उन विशाल वैभववाले नेताओंको प्रणाम कर।

अहिंसा

(ले०- श्री. पं० वासिष्ठजी)

हमारी दुनिया

नन्हासा मैलका स्तर स्वर्णपर चिपटा हुआ है इसलिए हमें स्वर्ण दिखाई नहीं देता। हमारे चर्मचक्षु न देख सकें किन्तु एक स्थान है जहां मैलके स्तरकी सीमा समाप्त है। उससे आगे कंचन ही कंचन है। मैल चिपटा हुआ होकर भी स्वर्णसे पृथक् है। नन्हे आवरणके कारण न दिखाई देनेवाले स्वर्णको मैल समझकर हम क्यों फेंके? आत्मा कंचन है और मानसिक विकार नन्हासा मैलका आवरण। हम उस कंचनमय आत्माका तिरस्कार करें उस नन्हेसे विकारके स्तरके अटपटे मनके कारण? और वह मैल भी तो बुरा नहीं है। घी अमृत है, भोजनमें स्वाद, पुष्टि, जीवन और रसायनके लिए किन्तु गन्दगी है वस्त्रों पर पुतनेके बाद। वह निकम्मी धूल कमलपुष्पकी पंखडी पर पराग बनी सज रही है किन्तु कपडों पर पुते घृतसे लगकर महा गन्दगीमें भिनकती है। खाद बन कर वही मैल लता पत्र, पुष्प और फलोंको नवजीवन दे रहा है। कौन बुरा है? क्या बुरा है? केवल किसीका अपने स्थानमें न होना ही बुराई है, विष है।

लम्बाई चौडाई विहीन अदृश्य निराकार बिन्दु समूहने अदृश्य किंतु लम्बाईवाली रेखाको बनाया। अदृश्य किंतु लम्बाईवाली समानान्तर रेखा समूहसे लम्बाई चौडाई-वाला अदृश्य स्तर (आयतन) बना। अदृश्य किन्तु लम्बाई चौडाईवाले समानान्तर स्तर समूहसे घनता बनी जो देखी भी गई और छुई भी। सामने असत्यकी रचना की और वह असत्य भी सत्य बना। यह संसार उन्हीं निराकार बिंदुओंका साकार मूर्तिमान रूप है। सम्भवसे असम्भवता पैदा हो गई है। जलमें खांड घुल गई है, घुल जानेपर भी खांडके परमाणु जल परमाणुओंसे पृथक हैं। वे पृथक है किंतु घुले मिले हैं। यह सच झूठ है और झूठ भी सच है। विलोडन क्रिया द्वारा दही की हिंसा हो रही है दही मिटती जा रही है तक्र और नवनीत जन्म ले रहे हैं। माताकी आत्माकी हिंसा हो रही है वह वेदना भोग रही है नवजीवनके प्रजननके लिए। संघर्ष में, प्रगतिमें पुरातन बदलकर नूतन बन रहा है। कैसी सुंदर हिंसा हो रही है!

आत्मीयताके रंगमें रंगे हुए, आर्द्रतासे, सरसतासे विनीत, लचकीले दम्पति, रति तरंगमें नव जीवनको ला रहे हैं अपना क्षय करते हुए। बीज मिटकर नवजीवनका निर्माण कर रहा है। ब्रह्मचर्यका विनाश हो रहा है, व्यय हो रहा है नवजीवनके निर्माणके लिए क्योंकि कालान्तरमें प्रत्येक वीर्यवान् जीर्ण होकर निर्वीर्य बन जायगा क्यों न वह वीर्य (शक्ति) निर्माणके लिए नव जीवन बनादे। इसी रंग मंचके एक कोनमें किसी ऊर्ध्वरेताने भौतिक वीर्यसे भौतिक नव जीवन न बनाकर उसे किसी आध्यात्मिक नव जीवनमें आहुत कर दिया है, हवन कर दिया है क्योंकि उस मेधावी भौतिक वीर्यने भी कालान्तरमें, जीवन संध्यासे पहले निर्वीर्य बन जाना है। ब्रह्मचर्य लुटाया जा रहा है नव जीवन व आध्यात्मिक जीवनोंके निर्माणके लिए।

सब कुछ बन रहा है किन्तु हम नहीं देख पाते क्योंकि सब चोराचोरी बन रहा है। यदि हम सब कुछ देख सकते हैं तो सचमुच हम आंख चुराये बैठे हैं। देखते हुए भी नहीं देखते। जादुमें, उस जादुगरकी रचनामें चोरीका ही तो मजा है। यह चोराचोरी, आंख मिचौनी ही तो हमें आत्मीयताकी सरसतरंगोंमें खिला रही है। जननीने, भोली गायने अद्भुत श्रमसे दूध बनाया वत्सोंने सब चुरा लिया। एक एक बूंद करके वृक्षोंने फलोंकी अद्भुत रचना की और हम योंही चुरा बैठे विना वृक्षोंकी अनुमतिके। वह हरि हैं चित चोर हैं हम चोरे हैं। सब ओर चोरी ही हो रही है।

मैंने चारों तरफसे सब कुछ समेट लिया है, सब बटोर लिया है। यह सब मेरा है; सारा जगत् मेरा है। सारे प्राणी मुझमें हैं, मेरे खजानेमें, भण्डारमें, गहरे गहरे भौंरोंमें संजोये रखे हैं। और वे सब कुछ समेटनेमें लगे हैं। तनिकसी जरूरतवाला मैं सारे संसारको समेटे बैठा हूं। यह महाकाय, अनन्त परिग्रह कितना पुनीत है! उस

चोरीसे, हिंसासे, झूठसे और वीर्यनाशसे भी ! कितनी सुन्दर है वह यमनिष्ठा और कितना शिव है यह यम भंग ! सचमें झूठ और झूठमें सच ओतप्रोत हो रहा है !

अरे क्रोध ! अरे वैर ! आओ मुझे इतना उत्तेजित करदो कि मैं रकीबोंको न रहने दूं । मैं रकाबतको मिटादूं । सारे संसारको, जड चेतनको, समस्त मानवोंको, प्राणियोंको अपनेमें करलूं, अपना करलूँ। आग बनकर सबको अंगार बना डालूँ ताकि किसीको, जडको या चेतनको, मुझ जैसा बननेके लिए युद्धकी जरूरत न रहे। विषमता मिट जाये । जल बिंदु बनकर सबको तरल करलूं। प्रवाही होकर बहा ले जाऊं और एक तरंग बनूं जिसका न ओर हो न छोर ।

सभ्यताओंने कभी जिस भूमिकाको निकृष्ट माना था भविष्यमें किसी सभ्यताने उसे ही श्रेष्ठ मान लिया । जिस दुश्चरित्राको समाजने बहिष्कृत किया था निकृष्ट मानकर, जिससे हमने घृणा की थी और द्वेष वश जिसके पतन पर दूसरी स्त्रियें सपत्न भावसे हर्ष मानती थीं, अपनेको उच्च, कुलीन, सती समझकर अहंकार करती थीं । वही पतिता वेश्याओंकी सभ्य दुनियामें वेश्यावृत्तिके आधिक्य द्वारा समुन्नत मानी जा रही है । वेश्यावृत्तिमें पिछडी हुई उसकी दूसरी बहनें उससे द्वेष कर रही हैं ।

लुटेरों, बदमाशोंमें भी यही प्रतियोगिता चल रही है। बडे डाकूसे, बदमाशसे पिछडा हुआ डाकू, बदमाश द्वेष कर रहा है पाप प्रतियोगितामें आगे बढनेके लिए । मैं किस प्रतिद्वन्द्वीसे द्वेष करूं ? किससे घृणा करूं ? श्रेष्ठसे या निकृष्टसे ? कुछ समझमें नहीं आता ! सभ्यताएं तो बदल रही हैं । आजकल विना असत्य, स्तेय, हिंसा व परिग्रहके कोई सभ्य, सज्जन बन ही नहीं सकता । सदाचार और जंगलीपन पर्याय हो गये हैं ।

इसलिए हे क्रोध ! हे वैर ! आओ और मुझे सहारा दो ताकि मैं निकृष्टता या श्रेष्ठतामें अग्रगामी व पिछडे हुओंको अपनेमें मिला लूं ताकि पतितों पर अट्टहास करने और श्रेष्ठों से रश्क करनेकी व्यथा नष्ट हो जावे । पिछडे हुवोंके प्रति अहंकार और अग्रगामियोंके प्रति रश्क न रहे श्रेष्ठता व निकृष्टताकी भूमिकाओंमें । रूप, कुरुप, ऊंच नीच, स्वाद अरुचि, कोमल कठोर, मधुर कर्कश, पाप पुण्यका भेदभाव मिट जाए । सर्वत्र समता छा जावे ।

कवि कल्पना

यथार्थवादी इसे कवि कल्पना मानकर हंसते हैं परन्तु उन्हें खुद पता नहीं कि संसारमें इस कल्पना, इस कविता के अतिरिक्त और है ही क्या ? यथार्थ वादियोंका यथार्थ वाद भी एक कल्पना ही है । वे, उनकी यह काया, परिवार देश, जाति, राष्ट्रीयता आदि क्या उनके हैं ? क्या यह सम्पत्ति उनकी है ? जीवनसे पहले क्या ये सब उनके थे और मृत्युके बाद उनके रहेंगे ? जडवादीके लिए तो यथार्थ ही मान्य है ! जीवनसे पहले वह खाक था और मृत्युके बाद वह खाक हो जायगा । तब यह जीवन, परिवार, जाति व राष्ट्र उसके लिए कल्पनासे क्या कुछ अधिक है ? उसका सारा परिश्रम परिणामशून्य आन्दोलनके लिए हो रहा है।

लम्बाई चौडाई विहीन निराकार अदृश्य कल्पित बिन्दु समूह एक कल्पना है और इसी कल्पनासे बनी हुई बिंदु समूहवाली लम्बाई युक्त अदृश्य रेखा भी एक कल्पना ही है । इस अदृश्य कल्पित रेखा समूहने लम्बाई चौडाईवाले अदृश्य स्तर (आयतन) की रचना की है । यह स्तर भी एक कल्पना ही है। इसी कल्पित आयत समूहसे घनता बनी है जिसे देख भी सकते हैं और छू भी। यह सारा जगत इसी कल्पित घनताकी नाना कल्पित विभूतियें हैं। फल फूल, पत्तियें, वन उपवन, नाना प्रकारके प्राणियोंकी सुन्दर, असुन्दर अद्भुत प्रतिमाएं और हम मानवोंकी अकुशल वा कलापूर्ण समस्त रचनाएं सब कल्पना हैं, भावमयी कविता हैं । ये सब उसी अदृश्य निराकार बिन्दु समूहकी दृश्यमान साकार घनता हैं ।

कागज, है, रंग है और उपकरण किन्तु चित्रकारकी भावनाने कल्पित बिन्दुओंसे नाना प्रकारके, अनेक भावनाओं के चित्र बना डाले हैं ! अदृश्य निराकार कल्पित बिन्दुओंमें भावनाएं फूटकर दृश्य कैसे बन गई ? यह समस्या वैज्ञानिक, दार्शनिक व यथार्थवादीकी शक्तिसे बाहर है । भावनाओंकी तरंगोंमें खेलता हुआ जो रूप चित्रमें झांकी दे रहा है वह रंगमें कहां छिपा है यथार्थवादी ढूँढें तो ! यह सब कविता है ! कल्पना ! कोरी कल्पना ! सफेद झूठ ! यथार्थ भी एक नाटक ही है और नाटक ही यथार्थ है ! इस नाटकमें, इस झूठमें और इस कल्पनामें ही हमारा सब

कुछ तरंगित हो रहा है, सरस ठाठें मार रहा है क्योंकि इस में एकता, विशिष्ट सहयोग है जिसे चित्रकारकी भावना, कल्पना, कविता जानती है, यथार्थवादीका यथार्थवाद नहीं। इस कविताको आत्मीयताके विना नहीं समझ सकते। चित्र में घुस जानेसे, उसकी रमणीयताकी रतिमें घुल जानेपर कविता जानी जा सकती है।

कागज पर रंग तो कोई भी पोत सकता है। यह संसार एक कल्पित कवितामय चित्र, चित्रशाला है जिसका कागज रंग रौगन व गृह अदृश्य लम्बाई चौडाई विहीन निराकार बिंदुओंका समूह मात्र है। चीर फाडसे, विश्लेषणसे रूप, रस, गन्ध, ध्वनि आदिकी खोज नहीं मिल सकती। वहां तो हाड, मांस, त्वचा, मलमूत्रादि ही मिलेंगे और फिर विश्लेषणकी अगली क्रियाओंमें ये भी लुप्त होते जायेंगे। संसार चित्र चीरने फाडनेकी चीज नहीं। इसकी पत्ती पत्ती कविता है, रमणीय है, आत्मीय है और सत्य है किंतु है सब कल्पना, कोरा झूठ ! हमारे कानोंके परदे जो न सुन सके रेडियोंके पर्दोंने सुना दिया। आंखोंने कुछ दिखाया और कलाकारोंके लेन्सोंने कुछ और ही। हमारी आंखोंने हमें जो दिखाया दूसरे प्राणियोंको उनकी आखोंने उससे भिन्न दिखाया। वाक् चित्रोंकी धवल चादर पर हम साकार जीवन जीवनियां देख सुनकर हर्ष विषादमें डूबते और तिरते हैं किंतु वहां है कुछ भी नहीं। इसीलिए यह सब झूठ है किन्तु सब सत्य ! × हम सब कवि हैं, चित्रकार हैं। कल्पनामें लय हो जाना किन्तु डूबना नहीं, हमारी भावना है। भावनाओंमें डूब जाना किन्तु खुद भावना न बनना ही हमारी चित्रकारी है और फिर घुलते मिलते चित्र-मय होकर रंगमें, बिंदुओंमें समा जाना हमारी भावनाओं का, तरंगोंका प्रवाह है। केवल मेल, स्नेह, प्रेम ही इसकी आत्मा है, एकके लिए नहीं, अनेकके लिए नहीं अपितु सब के लिए, जड चेतन सारे संसारके लिए !

श्री गणेश

इसका श्री गणेश, आरम्भ कैसे हो, कहां से हो, यह जाननेके लिए हम चित्रकारसे पूछें। चित्रकार अपनी कल्पनाओं, भावनाओंको रंगमें घोलनेके लिए पहले खुद घुलता है। हम खुद घुलें। घरसे ही आरम्भ करें। स्वार्थी बनकर अपने मजेके लिए ही सरस, लचकीले, भावुक बनें। इस लचक और सरसताको परिवारमें फैलाएं। पडौस और गांव में छितरायें। आगे बढे और देशमें फैलाएं। जो हमारे स्नेह की, प्रेमकी भावनाओंमें न घुले उसे हम रोगी जानकर उसकी चिकित्सा करें, मां बनकर रोगीको जिगरका टुकडा समझते हुए। वाक् चित्रपटकी सफेद चादरके छाया चित्रों में भी तो हम घुलकर हर्ष विषादमें डूबते हैं। इन यथार्थों में क्यों न निमग्न हों ? देशसे दूर देशोंमें जावें। (स्वदेश से परदेशमें नहीं क्योंकि अपना तो सभी स्वदेश है परदेश कुछ भी नहीं, परदेशी कोई नहीं। दूरदेश गया मांका लाडला, घरमें रहनेवाले बेटेसे, मांको अधिक याद आता है।

हम संसारकी मां बनकर सारे मानवोंको पुत्रकी भावनाओंमें भरें। अपने दूसरे आत्मजोंको, मानवेतर प्राणियोंको पुत्र जानें। अपने विशाल वात्सल्यमें चेतनको ही नहीं जड को भी भरलें। यदि कोई लाडला मांके स्नेहशील, अनथक प्रेमोपचार करने पर भी रोगमुक्त होकर मां ! मां ! भाई ! भाई ! कह कर न लिपटे तो हम मां बने हुए दुनियाको लाल ! लाल ! कहते हुए अवसानकी संध्यामें निमग्न हो जावें आगामी प्रातः वेलामें उठकर रोगी लाडलोंकी देख भाल करनेके लिए। जगदम्बे ! तूने हमें लाड लडाया है। जगत जननी ! माता ! हमें अपनी विश्व सन्तानकी सच्ची मां तबतक बनाती रहो जबतक वे लाडले तेरी तरह मां, विश्वमाता न बन जावें।

क्या होगा, हम इसे सोचें ही क्यों ? मांका सारा आनंद वात्सल्यमें, मां बनी रहनेमें है। हम मां बने रहें। वात्सल्य में रंगे रहें। जो कुछ होना है होवे।

या माता सर्वभूतेषु नमस्तस्यै नमो नमः।

× जो सब पर मोहित है वही निर्मोही है। जो सबसे विरक्त है वही अनुरागी है। किसी पर अनुरक्त और किसीसे विरक्त होकर जिसने ' यह तेरा है, ' यह मेरा है ' पुकारा वही यहां खोया गया है।

भगवद्गीतापर नया प्रकाश

(वेदसेही इसका उद्भव हुआ है)

(लेखक-- प्राध्यापक ग० अ० धारेश्वर, बी. ए. भूतपूर्व संस्कृत उपाध्याय, उस्मानिया विश्वविद्यालय दक्षिण हैद्राबाद)
(अनुवादक--श्री. पं० द० ग० धारेश्वर, बी. ए., औंध)

हिन्दुजातिके लिए वेद ही अत्यन्त प्राचीनतम, पवित्र एवं विश्वसनीय स्वतः प्रकाश है, और इसीसे उत्तरकालीन हिन्दु सभ्यताके उपनिषद् गीता, रामायण सदृश जो कुछ भी प्रबल, सुन्दर, चेतोहर एवं स्थायी अवशेष हैं उनका सृजन हुआ था। परन्तु खेदसे कहना पडता है कि आधुनिक विद्वान् लेखक, यद्यपि ऐसा करना सर्वथैव उचित है तथापि इस बातको पूर्णतया तथा स्पष्टतया स्वीकार करते ही नहीं। इन प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें इतने विचार एवं महत्वाकांक्षापूर्ण कल्पनाएँ न केवल समान्तर अपितु अत्यन्त सदृश तथा समान रूपमें पाये हैं कि जो कोई भी विचारशील पुरुष निष्पक्षपात भावसे देखने लगे उसे स्पष्टतया प्रतीत होगा कि वेद ही एकमेव इन सभी रचनाओंके लिए स्फूर्तिके प्रमुख आदिस्रोतके रूपमें कार्य करता रहा है। पश्चात्-वर्ती ये सभी ग्रन्थ वेदोंके इतने अधिक कृतज्ञ हैं कि अब समय आगया है कि जनताके सम्मुख यह बात स्पष्टरूपसे रखी जाय।

उपनिषदों तथा गीतापर लिखनेवाले लोगोंने इस बात की पूर्ण उपेक्षा की है कि ये ग्रन्थ वेदके सुतरां ऋणी हैं। वेदके इस अमूल्य करभारको मान्यता देना तो दूर ही रहा बहुतोंने तो उपनिषद् एवं गीताके कुछ अंशोंका विपरीत अर्थ करके यों बतलानेकी चेष्टा की है कि वेदकी उनमें निंदा की गयी है और वैदिक सिद्धांतोंके विरुद्ध ही उन ग्रन्थोंमें उपदेश दिया है। गीता तथा उपनिषदकी सराहना करनेवाले ये लोग यों समझ बैठे हैं कि वेदकी अपेक्षा ये ग्रन्थ अत्यधिक उत्कृष्ट हैं क्योंकि वेद, उनकी रायमें, आध्यात्मिक दृष्ट्या हीन एवं अपरिपक्व तथा निरे कर्मकांडसे भरा पडा है। इस भाँति इन लोगोंने जनताको भ्रांत दशामें रख मिथ्या बातोंसे उसका दिल भरके दोहरी भूल की है। वास्तवमें उनका यह कर्तव्य था कि वे उन प्राचीन ग्रन्थों का तौलनिक अध्ययन करके उनमें पायी जानेवाली सभी उदात्त कल्पनाओं तथा दृश्यमान श्रेष्ठ आदर्शों एवं विचारों का, जो समान हों, संग्रह करते जिससे यह साबित हो जाता कि गीता एवं उपनिषद् किस तरह यथा संभव वेदका ही अनुसरण करते हुए अनेक वैदिक सिद्धांतोंका विस्तारीकरण कर सनातन वेदके अटल सत्योंपर केवल भाष्य या टीकाके रूपमें ही वे जनताके सामने हैं। वैदिक अटल एवं नित्य सनातन तत्त्वोंका अधिक स्पष्टीकरण ही उनका प्रमुख उद्देश्य था। पर ऐसा न करके उन्होंने वेदकी उपेक्षा एवं निन्दा करनेके मिथ्या मार्गका ही अनुसरण किया है जो कि संपूर्णतया अन्यायपूर्ण एवं अनुचित है और लोगोंमें ऐसी भ्रांति फैल चुकी है कि, उपनिषद् एवं गीता मानवजातिके अति प्राचीनतम धर्मग्रन्थ अर्थात् वेदके विरुद्ध सिद्धांतोंका प्रतिपादन करते हैं जो कि वास्तविकताके विरुद्ध है।

चालीस वर्ष बीत गए हैं जब कि हमें केवल गीताका ही ज्ञान था और वेदके बारेमें कुछ भी जानकारी नहीं रखते थे। उस समय, गीतापर लिखे हुए भाष्यों तथा टीका-लेखों अनुवादोंको पढते समय हमें अचंभा हुआ कि गीताके कुछ श्लोकोंका वेदविरुद्ध अर्थ कर बतलाया गया है; इससे हमें वेद पढनेकी प्रेरणा हुई ताकि स्वयमेव देखलें कि यह आरोप कहाँतक वास्तविकतापर निर्भर है। विगत चालीस वर्षोंसे हम इन प्राचीन एवं मध्य युगीन पवित्र ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते आए हैं और हमें इस बातसे सानन्दाश्चर्य हो गया कि अनेक चारुतम, उच्चकोटिके विचार तथा आदर्श वेदमें स्पष्टरूपेण विद्यमान हैं जो कि सचमुच बीज-रूप हैं और जिनसे अर्वाचीन कालमें उपनिषद, गीता तथा रामायण सदृश ग्रन्थोंका निर्माण होनेमें स्फूर्ति मिली थी। वास्तवमें हमें यों पता लगा कि जैसे चन्द्रमा तथा सूर्यके बीच जो संबंध विद्यमान है ठीक उसी प्रकार इन अर्वाचीन ग्रन्थों तथा वेदके मध्य परस्पर सम्बंध दृश्यमान है और

वेद ही स्वयं सूर्यवत् स्वतः प्रकाश है। कुछ वर्ष पहले उस्मानिया विश्वविद्यालयके Extension Lectures में हमने दो लेख पत्ररूपमें प्रकाशित किये थे, एक वेद एवं उपनिषद् पर और दूसरा वेद तथा गीता पर। दूसरे लिपि बद्ध व्याख्यानको Osmania Research Journal के दूसरे Volume में स्थान मिला है यद्यपि वह कुछ संक्षिप्त सा प्रतीत होता है। उसमें हम स्पष्टतया बतला चुके हैं कि गीता, जैसा कुछ गीताभक्त दर्शाते हैं उस तरह वेद का विरोधी न होकर प्रमुखतया वेदमार्गका अनुसरण करनेवाली है।

'रामायणसे हमें क्या शिक्षा मिलती है ?' शीर्षक लेखमें हमने जैसा बतलाया कि वेदमें वर्णित इन्द्र एवं वृत्र के मध्य युद्धका ही मानों यथावत् प्रतिविम्ब रामरावण युद्ध में पडा हुआ है यद्यपि यह कुछ अधिक विस्तृत स्वरूपमें है ठीक उसी प्रकार यहाँ पर हम यह बतलाना चाहते हैं कि गीतामें जो यह कल्पना मिलती है कि श्रीकृष्ण एवं अर्जुन दोनों एक रथपर आरूढ हो संसारसमरमें हो गुजरते हैं वह सचमुच वेद्में उपलब्ध इस कल्पना पर निर्भर है कि, इन्द्र एवं कुत्स (आर्जुनीके पुत्र) दोनों एक ही रथपर चढकर संसार कलहमेंसे निकल कर स्वर्ग पहुँच गये। गीता तथा वेदमें उपलब्ध दोनों धारणाओंमें सचमुच इतना प्रबल सादृश्य है कि हम निस्सन्देह यों कह सकते हैं कि गीतामें विद्यमान कल्पना वैदिक दृष्टान्तसे ही ली गयी है, हाँ यह अधिक मात्रामें विस्तृत तथा किंचिन्मात्र परिवर्तित की गयी है; यह महाभारतकी कथामें ठीक तरह बैठ जाय इस हेतुसे ऐसा किया है।

श्री० अरविन्द घोषजी अपने 'गीतापर निबंध' पुस्तक में इसका स्पष्ट उल्लेख करते हैं। हम उन्हींके शब्दोंमें वह यहाँ पर उद्धृत करना ठीक समझते हैं। "जीवात्मा एवं परमात्मा एक रथमें बैठ महान युद्धमें हो निकल कर एक उच्चतम आदर्श की ओर, जिसे पानेमें अथक परिश्रम करना पडता है, पहुँच जाते हैं, यह दृश्य हमें वेदमें भी देखने मिलता है। हाँ, यहाँ पर यह केवल शुद्ध काव्यमय तथा प्रतीकात्मक है। यहाँ दिव्य आत्मा अर्थात् ही इन्द्र है जो अमरत्व एवं प्रकाशमय विश्वका अधिपति है, जो मानवी अन्वेषक मृत्यु, संकीर्णता, अंधःकार एवं असत्यके परिणामों से जूझ रहा है उसकी सहायताके लिए दिव्य ज्ञानकी शक्ति नीचे उतर आती है, युद्ध उन आध्यात्मिक शत्रुओंसे हो रहा है जो हमारे उच्चतम विश्वमें प्रवेश करनेसे हमें रोकते हैं, अत्युच्च सत्यके प्रकाशसे जगमगाते हुए विशाल जीवन-स्तरको, जो ज्ञानमय एवं संपूर्ण आत्माके अमरपन तक ऊँचा उठता है और जिसका इन्द्र अधिपति है, आदर्श या ध्येयके रूपमें उपस्थित किया है।

यहाँ पर कुत्स मानवी आत्माका प्रतिनिधिरूप है जो, जैसा उसका नाम सूचित करता है, सदैव द्रष्टाके ज्ञानका अन्वेषण करता है और वह अर्जुन या आर्जुनीका पुत्र है जिसका कि अर्थ है शुभ्रत्व; उसकी माताका नाम है श्वित्रा। अर्थात् कहनेका अभिप्राय है कि वह सत्वगुणसे परिपूर्ण एवं प्रकाशमय अतः शुद्ध जीवात्मा है जिसे अविछिन्न रूपसे दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब वह रथ, यात्राकी अंतिम मंज़िलतक पहुँचता है जहाँ पर इन्द्रका गृह विद्यमान है, मानवी कुत्स यहाँ तक अपने दिव्य सहचरसे एकरूप बन जाता है कि शची या इन्द्र पत्नी, जो वास्तवमें सत्यसे परिचय रखनेवाली है, वही उनमें विद्यमान विभिन्नताको जतलाती है। यह वास्तविक मानवी जीवनके आधारपर रचा हुआ दृष्टान्तमात्र है इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। ऐसा चित्रित कर दिखाया है कि ज्ञानके बढते हुए प्रकाशके फलस्वरूप मानव शाश्वत दिव्यतासे धीरे धीरे एकरूप हो जाता है।

पर गीताका प्रारंभ क्रियासे होता है और अर्जुन ज्ञानी नहीं अपितु योद्धा एवं क्रियाशील पुरुष है नाकि द्रष्टा या विचारशील पुरुष।' यह बिलकुल सत्य है कि कुत्स ऋषि या द्रष्टा था और गीतामें वर्णित अर्जुन ऋषि नहीं था तथापि इस तनिक विभिन्नताको अलग करनेपर वेद तथा गीतामें जो दृष्टांतमय कथा है उसमें शेष बातोंका सादृश्य इतने आश्चर्य कारक ढंगसे प्रेक्षणीय है कि वेदसे ही गीतामें यह उद्धृत किया गया है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। अर्जुनके समान कुत्स भी क्रियाशील है यद्यपि अर्जुन कुत्स जैसा ऋषि नहीं था।

गीताके अनेक मनोमुग्धकारी गुणोंमें, जिससे पाठक प्रभावित हो जाते हैं, एक अतिकरुणरसपूर्ण वह है कि, प्रारंभिक दृश्य ही ऐसे नाटकीय ढंगसे चित्रित किया है कि

हठात् मनको आकर्षित कर लेता है। क्या दर्शाया है, कि युद्धभूमिमें दो विशाल सेनाएँ आमनेसामने खडी हैं और मध्यमें अर्जुन तथा कृष्ण खडे हो वार्तालाप कर रहे हैं। अर्जुन रथपर बैठा हुआ है और कार्यशील पुरुष है एवं कृष्ण भी रथ हाँकनेवाला तथा उपदेशकके नाते कार्य कर रहा है। एक अतिभीषण तथा महान् समरके सूत्रपात होनेके पहले ही यह दृश्य पाठकोंके सामने उपस्थित किया है अतः निस्संकोच करुण रसका पर्याप्त उद्रेक हो जाता है। यदि हम इतना ध्यानमें रखें कि यह करुण रसपूर्ण एवं अत्यंत प्रभावशाली दृश्य भी गीताने ऋग्वेदसे ही उद्धृत किया है तो इस अनुकरणकर्ताके प्रति हमारे मन जो आदर के भाव हैं उन्हें द्विगुणित कर उस मौलिक ऋग्वेद कथा या दृष्टांतके प्रति दर्शाने चाहिए कि जिसमें यह बतलाया है किस तरह इन्द्र तथा कुत्स आर्जुनेय एक रथपर आरूढ हो रणभूमिमेंसे (जीवन–संग्राम) स्वर्गकी ओर प्रयाण करते हैं।

इतना ही नहीं किन्तु इस निकट साम्यके अतिरिक्त गीताके कृष्णार्जुनसंलाप तथा ऋग्वेद कथित कृष्ण तथा अर्जुन अभिनेताओंके मध्य दूसरा बडा ही अद्भुत साम्य है। यह अच्छीतरह ज्ञात है कि, किस प्रकार वेदमें कृष्ण तथा अर्जुन शब्दोंसे काव्यमय ढंगपर रात्रि एवं दिनका बोध होता है जैसे उस आध्यात्मिक काव्य अर्थात् गीतामें कृष्णार्जुन शब्दोंसे आध्यात्मिक अर्थ या अभिप्रायकी सूचना मिलती है'। 'अहः कृष्णं' का अर्थ है रात्रि और 'अहः अर्जुनं' से तात्पर्य है दिवस। इस संसारमें रात्रीके पश्चात् दिन तथा दिनके उपरांत रात्री ऐसे-दृश्यसे जो महान् कार्य सिद्ध हो जाता है ठीक वही कार्य गीता एवं वेदके उपदेशोंसे सिद्ध होता है। भगवद्गीताके कृष्ण तथा अर्जुनके मध्य जो संबन्ध प्रस्थापित है वही रात्री एवं दिनके बीच कार्य करता हुआ हमें दीखता है। प्रकृतिके कार्यकलापमें रात्रीका कार्य वही है जो कृष्णने गीतामें कर दिखाया है अर्थात् निरुत्साहसे पूर्ण एवं थकेमाँदे अर्जुनको उत्साहित, उमंगभरे तथा प्रबल रूपसे कार्यक्षम कर रखा है, निराश अर्जुनमें तीव्र स्फूर्तिका संचार कर दिया है।

हममेंसे हरएकको अनुभवसे ज्ञात है कि रात्रीमें कितनी कठिन समस्याएँ हल हुईं, कितनी नई सूचनाएँ मिलीं, कितने रोगोंकी चिकित्सा हुई तथा कितने नये उपदेश मिले। इस भाँति जीवनार्थ इस महान कलहमें रात्रीका हमें तथा चिंतित और गलितगात्र जीवोंके लिये वही उपयोग होता है जैसे गीताके कृष्णका अर्जुनके लिए हुआ था। इतना ही क्यों अपितु अंधःकारपूर्ण रात्रीकी बदौलत हमें ज्योतिपशास्त्रकी उपलब्धि हुई। इस चर्चासे विदित होगा कि रात्री, अंधःकार अनिष्ट बात तथा विपत्ति ये सभी मानवजातिके (अर्जुन-स्थानीय) महान शिक्षक (कृष्णस्थानीय) है।

यदि हम अपनी विद्या तथा ज्ञानका विहंगावलोकन कर लें तो विदित होगा और हम इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि दूसरोंके तथा हमारे अज्ञान तथा मौर्ख्यसे हमें अधिक ज्ञान की तथा बुद्धिमत्ताकी प्राप्ति हुई नकि हमारे एवं अन्य लोगोंकी बुद्धिमानीसे। वास्तवमें हमारे चारों ओर जो अज्ञान एवं मौर्ख्य प्रसृत है उसीसे हमें बुद्धिमत्ताकी अपेक्षा अधिक शिक्षा मिली है। दुःखान्त घटनाओंके बारेमें भी यही हालत है। मानव भूल जाता है कि सचमुच शोकांत घटनाओंसे कितना ज्ञान प्राप्त हुआ या वह पा सकता है। बुराई सचमुच मानवजातिको महान शिक्षा प्रदान करनेवाली वस्तुओंमें एक है यद्यपि मनुष्य इधर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। **द्वन्द्वमयोऽयं संसारः** अर्थात् हमारी दुनिया इसीलिए प्रचलित है कि यहाँ प्रकाश–अंधियारी, सुख-दुःख, प्रीति-द्वेष, बुद्धिमत्ता-मूर्खता आदि युगल अस्तित्वमें हैं और गीता तथा वेदमें प्रतिपादित कृष्णार्जुन युगलसे तुलना करनेयोग्य हैं।

पाठक ध्यानमें रखें कि महाभारतमें पाये जानेवाले गीता-आख्यानका एक आध्यात्मिक अर्थ यों हो सकता है; विचार-शील विदुर, लालिमारहित पंडु नरेश तथा अंध धृतराष्ट्र स्पष्टरूपसे सांख्यप्रतिपादित सत्त्व, रज एवं तम गुणोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। अंध धृतराष्ट्रके शासनकालमें अर्थात् जब मानवी अंतस्तलमें तमोगुण अत्यधिक प्रबल हो उठता है तब महाभारत संग्रामका प्रारंभ होता है। 'धृत-राष्ट्र' ऐसा नाम ही बडी सुन्दरतासे इसकी सूचना देता है कि जो शासन प्रबंधको अपने अधीन कर बैठा है तथा ऐसे इस प्रबल तमोगुणके बहुतसे पुत्र (मूर्खता एवं कुविकारके कारण पैदा होनेवाले बुरे तथा कालेकलूटे मनोभाव) फीके पण्डुके (रजोगुण) कुछ पुत्रोंसे मरणान्तिक युद्धमें लगे

रहते हैं। संसारमें मानवोंके सभी कृत्योंसें इसकी झलक देखने मिलती है। हीन मनोविकारोंका प्रतिनिधित्व कौरव करते हैं और मानवजातिके अन्तस्तलको प्रभावित करनेवाले उच्चकोटिके मनके आवेग सूचित करनेवाले अर्थात् ही पाण्डव हैं। ऐसे इस महाभीषण समरप्रसंगमें जब कि मानवके मनका निम्न एवं कालिमामय स्तर (कौरव भाग) उसके उच्च एवं श्रेष्ठ स्तरको (पाण्डव भाग) पददलित करने लगता है तब कृष्ण, याने विवेक, सदसद्विवेकशक्ति एवं दिव्य वाणी या अन्तर्ज्ञान, पाण्डवों अर्थात् परले दर्जेके श्रेष्ठ गुणोंको सहायता पहुँचता है ताकि वे निम्नकोटिके मनोविकारोंको दबा सकें और पुनरपि मानवी अन्तस्तलमें शुभगुणोंका विराट् तथा अखंड साम्राज्य प्रस्थापित हो जाय। आध्यात्मिक काव्यके रूपमें गीताका यही आध्यात्मिक आशय है। इस आशयतक पहुँचनेमें हमें खुद गीतामें प्रयुक्त '**धर्म-क्षेत्र, कुरु-क्षेत्र, गो-विन्द, कृष्ण, हृषीकेश, अर्जुन, गुडाकेश, धृत-राष्ट्र**' जैसे शब्दोंसे बडी सहायता मिलती है। **कृष्ण** अर्थात् जो अपनी ओर खींचले, अपनेमें तल्लीन करदे, आकर्षित करे स्पष्टरूपसे मानवी विवेक या बुद्धिकी ओर संकेत करता है। **हृषीकेश**= इन्द्रियोंका स्वामी या अधिपति; **गो-विन्द** = बुद्धिमान; पाण्डव तथा अर्जुन शब्दोंका गूढार्थ ऊपर बताया गया है। **गुडाकेश**का आशय है जागरुक, सतर्क एवं विचारशील जो अर्जुनका एक नाम है। **धर्म-क्षेत्र** = वह स्थान जहाँ अपना कर्तव्य भलीभाँति संपन्न किया जा सके और **कुरु-क्षेत्र** = वह जगह जहाँ विविध कार्य करने पडते हैं साफ तौरसे संसार एवं मानवी देह या बाह्य परिस्थिति की ओर अंगुलिनिर्देश करते हैं। इन थोडेसे लेकिन अतीव महत्वपूर्ण शब्दों के आधार पर यों प्रतिपादन करना असंभव नहीं कि बडे सुन्दर ढंगसे दृष्टान्तका उपयोग करके अध्यात्मकी शिक्षा देनेवाला काव्य गीता है जिसमें भीषण संग्रामके महत्त्वपूर्ण अवसर पर प्रयत्नशील पर हताश बने हुए अर्जुनको (मानवी जीवात्मा) भगवान कृष्णने (विवेक, अन्तर्ज्ञान या सदसद्विवेक शक्ति) जो अत्यन्त उपयुक्त उपदेश दिया था वह ग्रथित है। ध्यानमें रहे जब मानवजातिके अधिक विभाग पर तमोगुणकी (धृत-राष्ट्र) कालीकलूटी, अंध एवं अनिष्ट शक्तियाँ अपना अधिकार जमा लेती हैं तब अनेक कौरवों तथा कुछ इनेगिने पाण्डवोंके मध्य (आध्यात्मिक दृष्ट्या, मानव-हृदयको आन्दोलित करनेवाले बहुतसे निम्नकोटिके भाव, आवेग तथा कुछ थोडेसे उच्चतम ख्यालात एवं विचार) प्रखर समराग्नि प्रज्वलित हो उठती है और ऐसे ही अवसर पर श्रीकृष्णके मननीय उपदेशकी महती आवश्यकता प्रतीत होती है। रामायण जैसे महाकाव्यमें भी जो प्रमुख नाम पाये जाते हैं उनके आधार पर एक बडाही सुन्दर आध्यात्मिक भाव प्रकट होता है जिसका स्पष्टीकरण '**रामायणसे हमें कौनसी शिक्षा मिलती है?**' नामक पुस्तकमें हमने किया है और महाभारतके गीता आख्यानमें भी यही दीख पडता है। हमारी धारणा है कि यह कोई काकतालीय न्यायसे हुई बात नहीं किन्तु ज्ञानपूर्वक रचना है।

यहाँ पर हमें यही बताना है कि गीताकी रचनामें वेद का कितना बडा हाथ रहा है तथा किस प्रकार वेदनिर्दिष्ट, एक रथपर चढकर संसार-समर-क्षेत्रमेंसे स्वर्गकी ओर बढते हुए इन्द्र एवं कुत्सके चारु दृष्टान्तप्रचुर आख्यानको परिवर्तित करके महाभारतमें नाट्यपूर्ण एवं करुणरसके उद्रेकमें सहायक पार्श्वभूमि पर समूचे गीता आख्यानकी निर्मिति की गयी है, और संभवतः वेदमें दिन एवं रात्रिका संकेत करने के लिए 'अर्जुन' एवं 'कृष्ण' शब्दका जो प्रयोग किया है, उसीसे गीतालेखकको उन्हीं शब्दोंका व्यक्तिनामके तौर पर आदान करनेकी सूझी हो।

अधिकांश कल्पनाओंका आदान एवं चयन वेदसे ही किस भाँति गीतामें दीख पडता है सो बतानेके लिए विस्तृत लेखकी आवश्यकता है और हमने 'उस्मानिया विश्वविद्यालयके रीसर्च जर्नलके द्वितीय विभाग १९३४ में '**वेद और गीता**' शीर्षक लेख लिखकर यह दर्शाया है।

गीताका प्रमुख प्रयोजन कौनसा है? इस प्रश्नका उत्तर विभिन्न लोग विविध तरीकोंसे देते हैं जैसे, तिलकमहोदयकी रायमें अन्य सभी बातोंसे भी कर्मका महत्व अपेक्षाकृत अधिक है ऐसा बताना गीताको अभीष्ट है तो महात्मा गांधीजीकी धारणा है कि अनासक्ति पर अधिक बल देनेके हेतु गीताका सृजन हुआ है। अन्य कुछ ऐसा भी समझते हैं कि ज्ञानका महत्व अत्याधिकरूपसे गीतामें पाया जाता है तो कई लोग यूं मानते हैं कि भक्तिको गीताने अधिक

मूल्यवान बना दिया है। कुछ लोगोंकी कल्पनाके अनुसार संन्यासका प्रतिपादन गीतामें दृष्टिगोचर होता है तो कई कहते हैं ध्यानका महत्त्व गीताने सुझाया है।

परन्तु प्रत्येक अध्यायके अन्तमें स्वयं गीता ही उपनिषत् योगशास्त्र तथा ब्रह्मविद्या नामोंसे अपनेको संबोधित करती है और ध्यानमें रखना चाहिए कि गीताके मुख्य उद्देश्यके ढूँढ लेनेमें ये तीनों नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा बिना इनके काम नहीं चल सकता है। इन नामोंके सहारे ऐसा कहा जा सकता है कि, मानवको श्रद्धा, कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, प्रपत्ति, अनासक्ति, संन्यास, प्रवृत्ति, निवृत्ति सभी योगोंके सामञ्जस्यमय प्रयोगसे किस भाँति ब्रह्मकी प्राप्ति संभव है सो बताना गीताका ध्येय है। इस भाँति गीताके दृष्टिकोणसे जीवनध्येयकी प्राप्तिके लिए उपर्युक्त दसों योगों का स्वीकार मानवको अवश्य है। अतः गीताका प्रयोजन वेदके तुल्य ही सीमित नहीं किन्तु सबका समावेश करनेवाला है और सभी दशयोगों पर समानरूपसे बल देता है। कारण यही कि मानवजातिकी सभी शक्तियों एवं गुणों के सामञ्जस्ययुक्त विकासके लिए उन योगोंकी आवश्यकता है। इस संबंधमें गीता अविचलभावसे वेदके पीछे पीछे चलती है। अतएव श्रीशंकराचार्यजीका यह कथन सर्वथैव उचित है 'बहुतकालसे भूले हुए तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्तिरूपसे द्विविध रूपमें विद्यमान अतिपुरातन वैदिक धर्मका ही पुनरुपदेश गीतामें पाया जाता है।' वेद एवं गीतामें आशयसाम्य तथा समान कल्पनाएँ पायी जाती हैं और अगले विस्तृत लेखमें हम उस विचारसमताकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करनेकी चेष्टा करेंगे।

मरुत् देवताका आधिदैवत स्वरूप

[लेखक- पं० ऋभुदेव शर्मा 'साहित्याऽऽयुर्वेदभूषण' 'शास्त्राचार्य,' भूतपूर्व आचार्य येडशी- श्रीश्यामार्यगुरुकुल, औंध]

वेदमें ऋषियोंके स्तोत्र हैं। वे स्तोत्र उन्हींके बनाये हुए हैं या किसी अन्य के, आज मैं इस विवादमें नहीं पडता। ऋषियोंके स्तोत्र किसी न किसी देवताके निमित्त होते हैं। ऐसा कोई भी मन्त्र नहीं जिसका कोई स्तोता ऋषि न हो। जिन-जिन देवताओंकी स्तुति की जाती है वे देवताएँ उन मंत्रोंके ऊपर लिखी होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक मंत्रके ऊपर कोई न कोई देवता होती है।

सामान्य विचार यह है कि देव स्वर्गमें रहते हैं। पौराणिक, जैन, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम, जो परलोकपर विश्वास रखते हैं, सभी सम्प्रदाय परमेश्वर का स्थान ऊपर स्वर्गमें बताते हैं। हम किसी एक छोटेसे बच्चे से, जो कुछ अपने बडोंकी बात-चीत समझ लेता है, पूछते हैं स्वर्ग कहाँ है? या भगवान् कहाँ है? तो वह अंगुलि ऊपर उठाकर झटिति बोलता है ' ऊपर '। ईश्वर विश्वासी जनता भगवान्को स्वर्गमें रहनेवाला मानती है। स्वर्ग तो देवोंकी पुरी है, वहाँ अमर लोगोंका स्थान है। जो लोग मृत्यु के कठोर हाथों से बचना चाहते हैं,, शरीरको जरा-व्याधि से बचाना चाहते हैं वे जरा-व्याधि-रहित, मृत्युको दूर रखनेवाली अमर-पुरीको क्यों न चाहेंगे? जिन्हें वेदभी अमृत और स्वर्गवासी बताता है वे देव जनताके पूज्य हैं और उन्हींके स्थानमें जाकर जनता अमर और दिव्य बनना चाहती है।

संसारकी बहुत बडी संख्या देवोपासक है। परन्तु उनके देव आकाशके स्वर्गमें रहते हैं। वे जनताके कल्याण के लिये स्वर्गसे पृथिवीपर उतरते हैं, भक्त समर्पित वस्तु-जात पा, प्रसन्न होकर पुनः स्वर्गमें चले जाते हैं। किन्हींके मत में वे देवलोग पृथिवीपर अवतार धारण करते हैं। वे मनुष्य पशुपक्षी कोई भी रूप बना सकते हैं। हमारे देशमें अधिक अवतार विष्णु या शिवके हुए हैं। वे अवतार कभी अंश रूप और कभी पूर्णरूपमें होते हैं। परन्तु सबमें भेद है। देव और अवतार विषयक अनेक भ्रान्त धारणाएँ संसार में प्रचलित हैं परन्तु वे निर्मूल नहीं हैं। वेदमें मूल कुछ और था, लोकमें कुछ और हो गया।

जिन्होंने अग्नि आदि देवोंको स्वर्गमें माना है, पृथिवी और अन्तरिक्षके देव उनके अंश हैं। मानो उन्हीं देवोंने पृथिवीपर अवतार लिया है। यहाँ अवतार शब्दसे पौराणिक अवतार न समझिये। अवतारका अर्थ अंश है, पूर्ण-वस्तुका छोटा भाग। किसी महान् पदार्थसे निकला हुआ लघुरूपही अंश कहलाता है। हमारा शरीर माता-पिताके शरीरका अंश है साथ ही पृथिवी का। पृथिवीस्थ अग्नि सूर्याग्निका अंश है। अंश अपने मूल स्थानसे पोषकतत्व प्राप्त करता है जैसे गर्भस्थ बालक माता के शरीर से, उत्पन्न होनेपर माता के दूधसे और बडा होनेपर पार्थिव ओषध्यादि से। पृथिवीके पदार्थोंमें जो कुछ अग्नि है वह उसे सूर्यसे प्राप्त होता है। ऐसे लोगोंके मतमें, देवों का स्वर्ग ही स्थान है, यह सिद्ध हो जाता है। देव स्वर्ग (द्युलोक) में ही रहते हैं, अन्यत्र नहीं यह निश्चित उनका मत है।

कुछ लोग देवोंको सर्वत्र मानते हैं। देवही सृष्टि बनाते, उसका धारण और पालन करते हैं। वेही सृष्टिका संहार भी करते हैं। वे तीनों लोकोंमें फैले हुए हैं। बहुत क्या, यह सृष्टि ही देव-रूप है। उन्हींके ये नानारूप हैं। सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, नक्षत्र ओषधि, वनस्पति आदि सब पदार्थ देवरूप हैं। देवोंके ही देह हैं। ऐसे लोगोंके दो भेद हैं। कुछ लोग इन देवोंको चेतनाधिष्ठित मानते हैं, कुछ लोग जड, अचेतन। चेतन माननेवाले वे लोग हैं जो इनकी पूजा करते हैं। अग्निकी पूजा, सूर्यको नमस्कार, नदियोंकी पूजा ये ऐसे लोगोंके ही कार्य हैं। अचेतन माननेवाले लोग चेतन-आत्मा भिन्न मानते हैं। वे ईश्वरकी उपासना और योगद्वारा आत्म-दर्शन करते हैं।

चाहे इन देवोंको चेतन मानें या अचेतन, सम्पूर्ण सृष्टि देवरूप है, देव-देह है यह तो मानना ही पडेगा।

अब प्रश्न उठ खडा होता है कि वेदका क्या सिद्धान्त है? जहाँ सूर्य और तारे चमकते हैं वह नभोमण्डल देव-स्थान है अथवा यह अखिल सृष्टि-देह? वेदमें देवोंके वर्णन दोनों प्रकार से पाये जाते हैं, अतः दोनों ठीक हैं—

१. प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्। ऋ० १।५९।६॥

प्रब्रवीमि तन्महित्वं महाभाग्यं वृषभस्य वर्षितुरपां यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः वृत्रहणं मेघहनं सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः। दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन् रसा, उपदासयति कर्माणि,तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन्नवाधूनोदपः काष्ठा अभिनच्छम्बरं मेघम्॥ (निरु० ७।६।३)

मैं जलोंकी वर्षा करनेवाले अग्निके उस महाभाग्यको कहता हूं वर्षा की कामना वाले पूर्तिके योग्य मनुष्य जिस मेघके हन्ताका सेवन करते हैं। वैश्वानर अग्निने रसोंके नष्ट करनेवाले अथवा कर्मोंके बाधक उस दस्युको मारा। उसने जलमें गति उत्पन्न की और मेघका वध किया।

(२) स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्। तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः। ऋ० १०।८८।१०

स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निमजनयञ्छक्तिभिः कर्मभिः। द्यावापृथिव्योः पूरणं, तमकुर्वंस्त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः॥ (निरु० ७।७।२८)

देवोंने द्यौ और पृथिवीके भरनेवाले जिस अग्निको दिव् लोकमें कर्म और स्तोत्रसे उत्पन्न किया। उस (कम्) सुखरूप अग्निको (त्रेधाभावाय) तीन भाग अर्थात् दिव्, अन्तरिक्ष और पृथिवी तीन स्थानोंमें रहनेके लिये विभक्त (अकृण्वन्) किया। वही अग्नि (सूर्य) सब रूपों वाली ओषधियोंको (पचति) पकाता है।

इन दो प्रमाणोंसे अग्नि का द्यौ लोकमें होना सिद्ध होता है। ये दो ही नहीं, देवोंको स्वर्गमें बतानेवाले मंत्र वेदमें बहुत हैं।

जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः। जाते जाते विद्यत इति वा॥

(निरु० ७।५।१९)

जातवेदाः का जातवेदाः नाम क्यों? इसलिए कि यह उत्पन्न पदार्थों को जानता है अथवा उत्पन्न प्राणी इसे जानते हैं अथवा वह जात-जात (प्रत्येक उत्पन्न वस्तु) में विद्यमान है।

इस प्रकार ऋषि लोग अग्न्यादि देवोंकी व्यापकता भी स्वीकार करते हैं। वेद के कुछ मंत्र देखिये—

(१) अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु। दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। (ऋ० ३।२९।२)

(गर्भिणीषु) गर्भिणी माताओंके गर्भ में (सुधितः) उत्तम प्रकारसे स्थापित (गर्भ इव) गर्भ के समान (जातवेदाः) जात-जात में विद्यमान अग्नि मथी जानेवाली (अरण्योः) दो अरणिओंमें (निहितः) छिपा हुआ है। वह (अग्निः) अग्नि (जागृवद्भिः) सदा जागरूक, (हविष्मद्भिः) हावियोंवाले (मनुष्येभिः) मनुष्योंसे (दिवे दिवे) प्रति-दिन (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है।

अरणी में अग्नि दिखाई नहीं देता, परन्तु विद्यमान है। मथने पर प्रकट होता है, यही उसका प्रमाण है। नहीं होता तो मथने पर गीली जलवाली अरणियोंके समान इन शुष्क अरणियोंसे भी प्रकट नहीं होता। अरणियोंके दृष्टान्तसे संसार के सब पदार्थों को समझ लेना चाहिये। न्यूनाधिक मात्रामें अग्नि सर्वत्र है अतः उसका जातवेद नाम सार्थक है।

(२) प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥'

(यजु० ३१।१९)

(प्रजापतिः गर्भे अन्तः चरति) यह प्रजापालक अग्नि सृष्टिके प्रत्येक पदार्थके भीतर विचर रहा है। (अजायमानः बहुधा वि जायते) स्वरूप से अजन्मा होता हुआ बहुत प्रकार से प्रकट होता है। (धीराः तस्य योनिं परि पश्यन्ति) ध्यानशील उसके निवासस्थान को जानते हैं।

(विश्वा भुवनानि तस्मिन् ह तस्थुः) सारे उत्पन्न पदार्थ उस अग्निमें-व्यापक अग्निमें ही ठहरे हुए हैं।

यहां अग्निका सब भूतोंमें व्यापक होना स्पष्ट ही है।

(३) एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः सऽउ गर्भेऽअन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥
(यजु० ३२।४)

(एषः देवः सर्वाः प्रदिशः अनु) यह प्रजापति देव अग्नि सब प्रदिशादिशाओं में वर्तमान है। (पूर्वः ह जातः) वह सृष्टि के आदिमें उत्पन्न हुआ और (सः उ गर्भे अन्तः) वही आज भी सब के भीतर कार्य कर रहा है। (सः एव जातः) वही आजतक सृष्टि में उत्पन्न होता रहा है और (सः जनिष्यमाणः) वह आगे भी उत्पन्न होता रहेगा। (हे जनाः ! सर्वतः मुखः प्रत्यङ् तिष्ठति) हे मनुष्यो ! वह सब ओर मुखवाला प्रजापति अग्नि प्रति पदार्थ में व्यक्ताऽव्यक्तरूप में स्थित हो रहा है।

इस मंत्रमें किसी सर्वतोमुख देवका वर्णन है। पूर्वापर सम्बन्ध जोडनेसे वह देव प्रजापति सिद्ध होता है। प्रजापति अग्नि का नाम है। अतः इस अग्निकी सर्व व्यापकता सुतरां सिद्ध हो जाती है।

अग्नि की भांति पार्थिव, आप्य, वायवीय, तैजस और आकाशीय तत्व भी व्यापक हैं। जिन तत्वोंसे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश बने हैं, वे तत्व सब में पाये जाते हैं उनके विना सृष्टि का कोई पदार्थ अपनी सत्ता नहीं रख सकता। इन तत्वोंके न्यूनाधिक्यसे विचित्र सृष्टि बनती है। सूर्य पार्थिव द्रव्य है, पृथिवीके विना स्थूलता नहीं आती तथापि उसमें उष्णता और प्रकाश दिखाई देने से वह आग्नेय पदार्थ है। वायु में जल, धूम और अग्नि का अंश होने पर भी वह वायु-तत्व से बना है वायु भी स्थूल और सूक्ष्म है। इसका ज्ञान हमें उसके वेग से होता है। आकाशका भी स्थूल-रूप शब्द द्वारा ज्ञात होता है। मूल में एक रस होने पर भी कार्य में स्थूल और सूक्ष्म भाव अवश्य होता है।

अधिदैवत मरुत् वायु है। वे स्थूल और सूक्ष्म दोनों भाव रखते हैं। हम उन्हें उनके कार्य द्वारा पहचान सकते हैं। हम आज वेद द्वारा उनके कार्यका विवेचन करना चाहते हैं।

निरुक्तके मतमें वायु अन्तरिक्ष-स्थानी देव है। इसीलिये—

अथातो मध्यमस्थाना देवगणाः।
तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति ॥
(निरु० ११।२।१३)

अर्थात् मरुत् मध्यम स्थानी देवगणोंमें प्रथम स्थानमें आते हैं।

मरुत् आकाश चारी हैं। उनका सम्बन्ध द्यौ अन्तरिक्ष और पृथिवी तीनों लोकों से है। इस दृष्टिसे मरुतोंपर विचार कीजिये।

(१) ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते।
(ऋ० १।१९।६)

अर्थ— जो देव स्वर्गके प्रकाशमान द्यौ स्थान में रहते हैं। नाकके ऊपर दिवमें मरुतोंका स्थान है। नाक और द्यौ एकार्थक हैं फिर इन दोनों पदोंके देनेकी आवश्यकता ज्ञात होनी चाहिये। क्या दिव में नाक नामक कोई स्थान है या दिवको ही नाक नाम से विशिष्ट किया है। निरुक्त में-

नाक आदित्यो भवति। नेता रसानां; नेता भासां, ज्योतिषां प्रणयः। अथ द्यौः। कमिति सुख नाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते।
(निरु० २।४।१४ ॥)

नाक सूर्य का नाम है। क्योंकि वह रसों और प्रकाशों का नेता और ज्योतिष्मान लोकों का नायक है। वह इन को आगे ले जाता है, चलाता है।

द्यौ लोक भी नाक है क्योंकि वहां दुःख नहीं है। कम्=सुख, नकम्=दुःख, न +अकं=सुख का स्थान।

दीप्तिमान होने से द्यौ लोक दिव और वहां दुःख न होने से उसका नाम नाक पड गया। स्वः द्यौ नाक ये एक ही वस्तुके अनेक नाम हैं परन्तु-

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ (यजु० १६।६७)

उव०- दिवःनाकस्य पृष्ठमारूढः। नाकस्य पृष्ठाच्च स्वरादित्याख्यं ज्योतिः अगाम् आगतः।

*

मैं पृथिवीसे अन्तरिक्ष पर चढा। अन्तरिक्षसे दिवके ऊपर चढा। दिवसे नाक के पृष्ठ पर और नाकके पृष्ठ से ऊपर स्वर्ग की ज्योति को जा पकडा।

इस मन्त्रमें दिवसे ऊपर नाक का स्थान और नाकके धरातलसे ऊपर स्वर्ग का प्रकाश कहा गया है। तब मरुत् जहां रहते हैं वह स्थान दिव में कहीं ऊपर है। अन्तरिक्षके पास ही ऊपर दिव है जहां इन्द्र और वृत्र का युद्ध होता है। यह स्थान वही हो सकता है जहां मेघ रहता है और वायु का भी प्रभाव अधिक होता है। इस दिव के पास ही ऊपर नाक है जहां वायु और सूर्यकी किरणोंका अधिक घनिष्ट सम्बन्ध होता है। बस मरुत् यहीं रहते हैं और यहींसे इन्द्र की सहायता करते रहते हैं। यहां से ऊपर आदित्य का लोक है जहां सूर्य चमकता है! वह सचमुच प्रकाश स्थान है। सूर्य तक प्रायः सब देवों की वस्ती हैं।

(२) य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम् ॥ (ऋ० १।१९।७)

जो मरुत् देव पर्वतोंको हिलाते और जलवाले समुद्रको नीचे गिराते हैं।

मरुत् पर्वत (मेघों) को अपनी पीठपर बिठाकर इधरसे उधर ले जाते हैं। आकाशमें मेघ पर्वताकार उडते दिखाई देते हैं ये पवनकी पीठपर बैठकर इतस्ततः भ्रमण करते रहते हैं। ये मरुत् (वायु) इन्हें इधर-उधर क्यों ले जाते हैं? इसलिये कि इनके द्वारा सर्वत्र पानी बरसे। इसी मंत्रमें यह बात भी प्रकट कर दी गई है। जल का समुद्र आकाश में ऊपर मुँहवाला है इसलिए पानी पृथिवी पर नहीं गिर रहा। ये मरुत् उस पात्रको तिरछा करके मानो पानी उँडेल रहे हैं। इस मन्त्रका एक दूसरा पक्ष भी है। मरुत् पर्वत (पहाडों) को उखाडते हैं और पृथिवीस्थ सागर को तिरछा बहाते हैं। मरुतों के हाथ नहीं हैं, उनके पास पत्थर तोडने का कोई उपकरण नहीं है फिर भी ये पर्वतकी शिलामें दरारें डाल देते हैं यह प्रत्यक्ष है। गीली भूमिका रस खींच कर उसमें फांक डालना यह तो सभी समझ सकते हैं परन्तु सीमेंट की भित्ति और पहाडकी चट्टानोंमें स्वयं मनुष्याकर्तृक चीर पडना यह कुछ कठिनाई से समझा जायेगा।

प्रत्येक वस्तुके बाहर भीतर वायु विद्यमान हैं। यह वायु किसी वस्तुके भीतर वाले वायुको लगातार सहायता देकर उसे बलवान् बनाता रहता है। वायुकी उष्णता उस वस्तु के स्नेह को, जो वस्तुके प्रत्येक कण को जोडता है सोखती है। रस सूखने से कणों का पारस्परिक बन्धन ढीला पडता जाता है और बलवान् वायु अपने परिमाण को अधिकाधिक बढा कर उस बन्धन को अतिशय तोड देता है फिर वह दरार अधिक बढ जाती है। यह मरुत् निराकार भगवान् का हाथ है। भगवान इसीके द्वारा सृष्टि को बनाता और बिगाडता है। भगवानका यह हाथ सर्वत्र फैला हुआ है। अपने शरीर में ही देखिये, रुधिरको सारे शरीर में चलाने, विचारों को दौडने और दोषों (वात पित कफ) को सम या विषम करने में इन मरुतों का कितना हाथ है! इन मरुतोंका काम तोडना फोडना है। ये रुद्र के बेटे हैं या ये स्वयं संहारक रुद्र हैं। वायु समुद्र में तरङ्ग उठाता है। इससे समुद्र कभी स्थिर नहीं रहता। जब तरङ्ग तीर की ओर दौडते आते हैं तब सचमुच प्रतीत होता है कि किसीने समुद्र जैसे बडे जल-पात्र को तिरछा कर दिया हो। सारे समुद्रको क्षुब्ध करना वायु का ही काम है। क्षोभ के अन्य कारणोंमेंसे बडा कारण यह है।

मरुत् समुद्र के जल को अदृश्य (तिरः) भी करते हैं और फिर मेघ के रूपमें प्रकट कर देते हैं।

(३) उग्रा हि पृश्निमातरः ॥ (ऋ० १।२३।१०)

पृश्नि माता वाले मरुत् जिनका स्वभाव उग्र है।

मरुतों की माता पृश्नि है। पृश्नि शब्द का अर्थ आदित्य द्यौ और पृथिवी है। ये मरुत् इनमेंसे किसको माता मानते हैं इसका अन्वेषण करना पडेगा। 'पृश्निं वोचन्त मातरम' ऋ० ५।५२।१६, पृश्नि मरुतों की माता है यह तो इस मन्त्रसे भी प्रतीत होता है। आचार्य सायण एक स्थान पर मरुतों की माता पृश्नि को पृथिवी कहते हैं और इस मन्त्र में द्यु देवता। पृश्नि का मुख्य अर्थ आदित्य और द्यु होनेसे वही इनकी माता है। इन्द्र और वृत्रका युद्ध इनकी मातृ भूमि दिव्में ही होने से इनको पराक्रम दिखानेका अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। इन्द्र वृत्रको जल वर्षाने के लिये मारता है। उस समय इन्द्रका साथ

देकर मरुत् भी यही कार्य करते हैं—

(४) हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा ।
मा नो दुःशंस ईशत ॥ (ऋ० १।२३।९)

हे उत्तम दानशील मरुतो ! बलवान मित्र इन्द्रके साथ मिलकर वृत्र को मारो। जिससे वह बुरी भावनावाला वृत्र हम पर शासन न कर सके ।

(५) हस्काराद्विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः ।
मरुतो मृडयन्तु नः ॥ (ऋ० १।२३।१२)

जो मरुत् देव प्रकाश करनेवाले और स्वयं प्रकाश युक्त अन्तरिक्ष से विद्युसे- उत्पन्न हुए हैं। वहां से जन्म लेनेवाले वे, वृत्रसे हमारी रक्षा करें और हमारा भय मिटा कर हमें सुखी करें ।

(६) सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः।
मिहं कृण्वन्त्यवाताम् ॥ (ऋ० १।३८।७)

बलवाले तेजस्वी रुद्रपुत्र मरु प्रदेशमें भी वायुके विना पानी बरसा देते हैं यह सत्य ही है ।

मरुत् व्यापक अग्निसे प्रेरणा पाते हैं इस कारण उनमें तेज और शक्ति दोनों रहती है । ऐसे प्रदेश, जहां पानी की आशा नहीं होती, मेघको चुप चाप वहां उडा ले जाते हैं और उस मरुप्रदेशमें भी पानी बरसा आते हैं। आंधीका वेग अधिक हो तो पानी वर्षने के लक्षण सब को स्पष्ट दीखने लगते हैं परन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब वायु नहीं चलता और पानी बरस जाता है इससे सिद्ध होता है कि स्थूल वायु के न होने पर सूक्ष्म वायु कार्य करता है और वह इससे अधिक शक्ति रखता है। उस वायुमें विद्युतकी मात्रा अधिक होनेसे अग्नि या उष्णता भी अधिक होती है । वायु चलने पर ग्रीष्म ऋतु में भी शीतलता कुछ न कुछ मिलती ही है। जब वायु शान्त होता है तब उससे उष्णता प्रकट होती है ।

(७) दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन ।
यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति ॥ (ऋ० १।३८।९)

जब मरुत् देव पृथिवीको गीली करते हैं उस समय पानी ढोनेवाले मेघसे दिनमें भी अन्धकार फैला देते हैं ।

पृथिवीको गीला करना पानी वर्षाने का लक्षण है। पानी वर्षने से पहले और उस समय मेघ छाये रहते हैं। काले-काले विशाल पर्वत समान मेघ सारी दिशाओंमें सूर्यके प्रवेशको रोक देते हैं। सब ओर अन्धकार ही अंधकार फैल जाता है । इन काले मेघों को लानेवाले मरुत् ही हैं । ये अन्धकार फैलाते हैं और मेघको हटाकर फिर प्रकाश भी करते हैं ।

(८) अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम्।
अरेजन्त प्र मानुषाः ॥ (ऋ० १।३८।१०)

इन मरुतोंकी गर्जनासे पृथ्वी के सारे घर और उनमें रहनेवाले मनुष्यादि प्राणी कांप उठते हैं ।

बिजली तडकती और मेघ में घोर कडकड गडगड शब्द होता है । यह सब मरुत् की क्रिया से ही होता है। मेघस्थ वायु ही विभिन्न मेघ-खण्डों को परस्पर लडा कर और बिजलीमें तीव्रता उत्पन्न कर उन्हें तडकाता और चमकाता है ।

(९) परा ह यत् स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु ।
वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम्॥
(ऋ० १।३९।३)

हे चलानेवाले मरुतो ! जब तुम स्थिर वस्तु को उसके स्थानसे हिलाते हो और भारी वस्तु को भी ऊपर उठा देते हो तब चलते समय पृथिवीके वृक्षोंको हिलाकर एक दूसरे से पृथक कर देते हो और पर्वतोंके प्रान्तोंको भी तोड देते हो ।

वायुके झोंके से वृक्ष हिलते हैं। यदि वृक्ष घने हों और वायु को जाने का मार्ग न मिले तो वह उनको इधर उधर झुका कर अपना मार्ग बना लेता है। यदि वृक्षकी शाखा के नीचे से चलता है तो उन को उपर उठा कर नीचे से निकल जाता है । यदि पहाड दिवार बन कर खडे हों तो उन्हें तोडता चाहता है ।

(१०) प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन् ॥ (ऋ० १।३९।५)

मरुत् देव पर्वतों को कँपाते और वनस्पतियोंको एक दूसरेसे पृथक करते हैं ।

सारांश यह कि मरुत् केवल अन्तरिक्ष में ही नहीं, पृथिवीपर भी कार्य करते हैं । वेद उनको अदृश्य नहीं, दृश्य ही मानता है और उसने उनके जितने कार्य बताये हैं वे सब प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं ।

(११) त्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे वज्रिणे मधु।
उत्सं कबन्धमुद्रिणम् ॥ (ऋ० ८।७।१०)

द्यौ आदि माताओंने इस वज्रधारी मरुद्गणके लिये तीन जलाशय दूध दिये। पृथिवी पर कूप, अन्तरिक्षमें मेघ और द्यौ में वर्षा का स्थान।

मरुतोंकी तीन मातायें हैं और वे तीन स्थानोंसे मरुतों को दूध पिलाती हैं। द्यौसे वृष्टि होती है वेद इसे स्वयं स्वीकार करता है-

दिवः कोशमचुच्यवुः ॥ (ऋ० ५।५३।६)

मरुतोंने दिवसे जल अथवा मेघको नीचे गिराया। मेघ और कूँएँमें जल रहता है। मरुत् इन जलोंको पीकर पुष्ट होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। वायु की शक्ति जल और तेज से बढती है। हम वैशाख और ज्येष्ठकी आंधी को देखते हैं उसमें धूलका अंश अधिक होता है, गर्मी भी होती है परन्तु उसमें भारीपन नहीं होता। वह आंधी धूलि उडाकर वृक्षों को वेग से हिलाती है परन्तु उससे वृक्षों को उतनी हानि नहीं होती जितनी हानि वर्षाके छोटेसे झोंके से। वायु जल पीता है और वही उस जल को मेघ शरीर से उगल भी देता है।

(१२) ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभिः।
उत्सं दुहन्तो अक्षितम् ॥ (ऋ० ८।७।१६)

जो मरुत् मेघ के रूपमें जल के बिन्दु बन कर वृष्टियों से पृथिवी को पीटते हैं जिस समय वे अक्षय जल वाले मेघ को दुहते हैं।

मेघ का आधार वायु है। वायु न हो तो मेघ आकाश में किसके आधार पर ठहरेगा? किस के आधार पर भाप जम कर मूर्त रूप धारण करेगी? जलके बिन्दु वायुके शरीरमें पिरोये जाते हैं और बहुत मोटे और भारी होनेपर वायु के हिलने से नीचे गिर जाते हैं। गिरते समय भी वायु के आश्रित होने से वे सीधे नहीं गिरते हैं। तिरछे गिरते हैं। वायु जल को अपने शरीर पर जमाता है और जमे हुए जल को दुह कर मानों स्वयं पृथिवी पर बरसाता है। वायु ही मेघ से गिरे हुए जल बिन्दु का रूप धारण करके आकाश और पृथ्वीको पीटता हुआ बरसाता है। आकाश उसे जाने से नहीं रोकता। पृथिवी उसकी मार चुप-चाप सह लेती है।

मरुतोंका वर्णन चेतनवत् मनुष्य जैसा पाया जाता है। उनका रथ पर चढना, गले में हार पहनना, पांव में जूता हाथमें अस्त्र-शस्त्र, उन्हें वीरके रूपमें प्रकट करता है। इस वर्णनमें उनका अधिदैवतरूप छिप जाता है। देवताओं का ऐसा सजीव वर्णन वेदकी अपनी विशेषता है। ये देव उपास्य हैं, चाहे देव ही देव की उपासना करते हों, इसलिये इनका सजीव वर्णन आवश्यक है। इस सजीव वर्णन को देखकर हमें इनका अधिदैवत रूप नहीं भूलना चाहिये। ये उस वायु के, जो हमारे शरीरमें प्राण और विश्व शरीरमें वायुके रूपमें व्यापक है, विशेष रूप है। अदृश्य वायु संघरूपमें कितना अद्भुत कार्य करता है। मरुतोंके वर्णन का यही आशय है।

हम वायुके इन गुणोंसे विज्ञानकी उन्नति करें। भिन्न भिन्न स्थान और पदार्थमें वायुके कार्यों को देखें। ऐसा क्यों होता है, यह सोचें तो हमारा विज्ञान बढ सकता है। सृष्टिमें नियम है, यह अनियमित नहीं कही जा सकती। हम इन नियमों को पकड लें तो हम भी पदार्थों की नई सृष्टि कर सकते हैं। पदार्थका सूक्ष्म गुण उसके स्थूल कार्य में भी आता है। वेदने प्रकृतिके स्थूल पदार्थोंकी व्याख्या करके उनके गुणोंका बोध कराया है। गहराईतक पहुँचकर लाभ प्राप्त करना हमारा काम है।

इन्द्रियका प्रामाण्य

(लेखिका- पं० वाजिनी देवी ' विद्याविभूषिता ' धर्मपत्नी पं० ऋभुदेव शर्माजी, औंध)

हम प्रतिदिन आंखसे देखते कानसे सुनते नाकसे सूंघते, जीभसे रस लेते और त्वचासे स्पर्श करते हैं। मनुष्यसे लेकर पशु पक्षी तक इन्हीं इंद्रियोंसे काम लेते दिखाई देते हैं। इंद्रियमें दोष हो या असावधान हो तो बात और है, परन्तु निर्दोष इन्द्रियवाले सभी प्राणियोंको अपने अपने इन्द्रियसे प्रायः एकसा ही ज्ञान होता है। एक पशु किसीके हाथमें दण्ड देखकर मनुष्यके समान ही भयभीत होता है। इसी प्रकार पक्षी भी हाथको ऊपर उठते देखकर मारनेकी सूचना पा लेते हैं और तत्काल पंख उठाकर उड जाते हैं। कहींपर कोई मीठा पदार्थ रखा हो तो मनुष्यके समान चींटियाँ भी उसे उठा ले जानेकी चेष्टा करती हैं। इन सब उदाहरणोंके विद्यमान रहते हमें मानना पडेगा कि इन्द्रिय ज्ञानके साधन हैं और निर्दोष अवस्थामें अपनी सीमाके भीतर सत्य ज्ञान ही प्रकाशित करते हैं। इसकी पुष्टि वेदमें अनेक मंत्रोंमें मिलती है। जैसे—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्ष--
भिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशे-
महि देवहितं यदायुः ॥ (यजु. अ. २५ मं. २१॥)

हे देवो ! हम अपने कानोंसे भद्र सुनें, और हे यजनीय देवो ! हम अपनी आंखोंसे कल्याणकर रूप ही देखें। हम सदैव स्थिर रहनेवाले अङ्गों (इन्द्रिय गण) और रोगरहित शरीरसे तुम्हारी स्तुति करते हुए देवोंको प्राप्त आयु भोगें।

इस मन्त्रमें कानसे सुनने और आंखसे देखनेका धर्म कहा गया है इसी प्रकार अन्य मंत्रोंमें भी इन इंद्रियोंके अपने अपने कार्य स्पष्ट वर्णित हैं। अतः यदि वेद वाक्य असत्य नहीं तो अवश्य ही मानना चाहिए कि, इंद्रिय ज्ञान के साधन हैं और जिस इंद्रियका जो कार्य है वह उसे कर रहा है। यह संसार जो सत्य प्रतीत हो रहा है यह सत्य ही है। यह भ्रम या मिथ्याभास मात्र नहीं है। यदि हमारे इंद्रिय हमका वैसा ही ज्ञान नहीं कराते जैसा कि संसारके पदार्थ हैं तो हमारे इंद्रियगणमें कोई दर्शनव्यवस्था नहीं होती, पर हम देखते हैं कि आंखसे रूप-दर्शन ही होता है श्रवण नहीं। कानसे शब्द श्रवण ही होता है रूप-दर्शन नहीं। रसना रसका ही ज्ञान कराती है रूप या शब्दका नहीं। यह व्यवस्था बताती है कि, अपने विषयोंके साथ इंद्रियोंका स्वाभाविक संबन्ध है। यह सम्बन्ध क्यों है यह भी एक दार्शनिक विषय है। आंखसे रूप देखा जाता है और रूप अग्निका गुण है, कानसे शब्द सुना जाता है और शब्द आकाशका गुण है। नासिकासे सुगंध, दुर्गन्धका ज्ञान होता है और गन्ध पृथिवीका गुण है। रसना (जीभ) से रसका ज्ञान होता है और रस जलका गुण है त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से स्पर्श का ज्ञान होता है और स्पर्श वायु का गुण है। यद्यपि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके अनेक अवान्तर भेद हैं तथापि वे सब इन्हींके भीतर आ जाते हैं। वैशेषिकमें गुणोंकी गणना २४ (चौबीस) है, परन्तु वे सारे गुण नौ द्रव्योंके भीतर ही समाविष्ट हो जाते हैं। भूत पांच हैं और प्रत्येकका एक एक इंद्रियके साथ सम्बन्ध है। आंख अग्नि तत्त्वसे बनी है अतः वह रूपको ग्रहण करती है। कान आकाश तत्त्वसे बना है अतः वह शब्दको ग्रहण करता है। नासिका पृथिवी तत्त्वसे बनी है अतः वह गन्धको ग्रहण करती है रसना जल तत्त्वसे बनी है अतः वह रसको ग्रहण करती है। त्वगिन्द्रिय वायुसे बना है अतः वह स्पर्शको ग्रहण करता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि इंद्रिय सूक्ष्म हैं। इन गोलकों का (इंद्रियके स्थानोंका) नाम इंद्रिय नहीं है और ये इंद्रिय भी स्थूल भूतोंके कार्य नहीं हैं ये सूक्ष्म भूतोंसे ही बने हैं। अग्नि शुष्क काष्ठमें शीघ्र प्रवेश कर जाता है इस कारण कि उसमें अग्निकी अधिकता और जल की न्यूनता है। पत्थर पर जलका प्रभाव शीघ्र नहीं होता इसलिए कि उसमें जलकी न्यूनता और अग्नि तत्त्वकी अधिकता है। परन्तु जल मिट्टीको शीघ्र गीलाकर देता है इस कारण कि जलकी अधिकतासे उसमें मृदुता है। इन उदाहरणोंसे पता चला कि भिन्न भिन्न तत्त्वोंके गुण अपने समान गुणवाले तत्त्वोंपर ही शीघ्र प्रभाव डाल सकते हैं। यदि

किसी पदार्थमें अग्निकी मात्रा अत्यन्त न्यून है तो अग्नि उसे शीघ्र जला नहीं सकता। हम औषधियोंका प्रभाव भी शरीर पर पडता देखते हैं। शीतल रोगोंमें शीत प्रकृति औषधि हानिकर है और उष्ण प्रकृति ओषधि हितकर है। अर्थात् ओषधिगत जल शरीरके जलको बढाता और ओषधिगत अग्नि जलको जलाता है। प्रकाश अधिक हो तो आंखकी शक्ति बढ जाती है और वह दूर तक और स्पष्ट देखने लगती है। इसी प्रकार अन्य इंद्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिए। बाह्य पदार्थोंका शरीरगत पदार्थोंसे संबंध है इसीलिए अन्नसे शरीरका मांस बढता और पुष्ट होता है। जलसे शरीरमें रक्तकी वृद्धि होती है और शरीरमें शांति आती है। वायुवाले स्थानमें मनुष्य जीवित रहता और मात्रासे कम वायु मिलने पर अशक्त या मुमूर्षु हो जाता है इसी सम्बन्धके कारण ये इंद्रिय अपने अपने विषयका ग्रहण करते हैं। इंद्रियोंके नाना होनेसे ये तत्त्व भी नाना हैं अर्थात् ५ इन्द्रिय और ५ ही तत्त्व। यदि पाँचसे अधिक तत्त्व होते तो उनके इन्द्रिय भी पांचसे अधिक होते। अधिक नहीं हैं अतः भूत भी पांचसे अधिक नहीं। हम प्रत्येक पदार्थमें इन पांच भूतों का ही मिश्रण पाते हैं आज तक किसीने इनसे अधिक या कम भूतोंका दर्शन नहीं किया।

जब सूक्ष्म भूत पांच हैं, उनसे बने इंद्रिय भी पांच हैं और वे विषयोंके ग्रहणके लिए ही बनाये गये हैं तब इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे ज्ञानमें साधन हैं और इनसे जाना गया ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। इसीलिए न्यायदर्शनमें **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'।** १।१।४॥ अर्थात् इंद्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। यहाँ पर प्रत्यक्ष ज्ञानमें इंद्रिय साधन हैं। इसी प्रकार सब दर्शनोंने इंद्रियको ज्ञानका साधन माना है।

और इनकी प्रामाणिकता स्वीकार की है। जहां भ्रम होता है वहां इंद्रियके कारण नहीं। इंद्रियके दोष या द्रष्टाकी असावधानी आदि से। ऐसी असावधानीसे उत्पन्न भ्रमके संशोधनके लिए अनुमान, उपमान, और शब्द प्रमाणोंका प्रयोग किया जाता है। यदि इन प्रमाणोंसे प्रत्यक्ष शुद्ध निकला तो प्रत्यक्ष प्रमाण अशुद्ध नहीं ठहरता। अतः शुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाणके लिए इन्द्रियोंकी प्रामाणिकता स्वीकार करनी आवश्यक है।

डाक्टर आंबेडकरजी अपना पद छोड़ दें

(वायसराय महोदयकी कार्य कारिणी समितिके सदस्य माननीय डा० आंबेडकरजी, अत्यन्त विद्वान होने पर भी दौर्भाग्यसे भारतीय संस्कृतिके मूलाधार वेदोंके बारेमें तथा गीता सदृश ग्रन्थोंपर अपना मत देते समय निष्पक्षपात दृष्टिकोणको बिलकुल ताकपर रख देते हैं और निराधार एवं निरर्गल प्रलाप करना शुरु करते हैं। मद्रास नगरके विख्यात अड्यार स्थानसे प्रकाशित होनेवाले 'Conscience' नामक साप्ताहिकके सितंबर २९ के अंकमें थियोसोफिकल संसारके प्रथितयश नेता डॉ. जी. एस. अरुंडेल महोदयजीने अंबेडकरजीके निन्दाप्रचुर वक्तव्यका घोर प्रतिवाद करते हुए निम्नलिखित ढंगसे लिखा है।)

" निस्सन्देह डाक्टर आंबेडकरजीको यह अधिकार है कि वे अपनी रुचिके अनुसार धारणाएँ बनालें। यह दौर्भाग्यकी बात है कि वे इस समय वायसरायकी कार्यकारिणी समितीके एक सदस्यके पदपर विराजमान हैं। चूँकि वे ऐसे अत्युच्च पदपर अधिष्ठित हैं इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि, देशकी धार्मिक जनताको मिथ्याकलंक दूषित आक्रमणोंसे बचानेके हेतु जो भी नियम जारी कर रखे हैं, उनके भंग करनेका पातक वे अपने सरपर न लें, और नाही जनताके मध्य संभाषणसंचारादि करते समय, दूसरोंके धार्मिक मंतव्योंके प्रति गौरव, आदर एवं सम्मान का पूर्ण अभाव दर्शाकर अपने पदको अपमानित ही कर लें। ऐसा करनेसे भय है कि कहीं शांतताभंगको प्रोत्साहन मिले जिससे युद्धकार्यके प्रचलित रहनेमें रुकावट खडी हो जाय।

हिन्दु जातिके पवित्र धर्मग्रन्थोंके विरुद्ध आंबेडकरजीने असभ्यतापूर्ण एवं भद्दे ढंगसे जो विषवमन किया है वह इतना अपमानजनक तथा घृणित है कि वायसरायमहोदय उसकी ओर जरूर ध्यान दें। यदि संभव हो तो कार्यकारी मंडलके सदस्य पदपरसे आंबेडकरजीको तुरन्त हटा देना चाहिये या हो सके तो भारत-रक्षा कानूनके अनुकूल उन पर अभियोग भी चलाया जाय। यह दूसरीही कार्य वाही उचित जँचती है ताकि वे अधिक संख्यावाले अपने देश बांधवोंके चिरसंचित धार्मिक धारणाओंके खिलाफ निन्दा पूर्ण अभिभाषण करना बंद कर दें।

यदि कोई साधारण पुरुष वैसेही कहनेलगे जैसे कि डा. आंबेडकरजी हालहीमें मद्रास शहरमें दी हुई वक्तृताओंके अवसरपर कह रहे थे, जब कि वे वेदों तथा भगवद्गीता के प्रति अपमान, तिरस्कार एवं कुत्साके भाव उगल रहे थे तो शीघ्रही वह कानूनकी निगाहमें दण्डनीय ठहरता जो सर्वथैव उचित होता इसमें संशय नहीं।

क्या हम ऐसा समझने लगें कि जो पुरुष राजप्रतिनिधि की परिषदका सदस्यपद अलंकृत करने लगे वह सभी नियमों एवं कानूनोंसे अछूता रहसकता है तथा उसपर नितान्त प्राथमिक मर्यादा तथा आदरके पालन करनेका कुछ भी उत्तरदायित्व नहीं रहता है?

हां, उचित समयपर यह हमारा संशय दूर होगा और यद्यपि इस समय डॉक्टरसाहब, जहां कहीं भी वे यात्रा करते हैं वहां सरकारी यात्राकी सभी सुविधाओंको इसी कारणसे प्राप्त करके असभ्यतापूर्ण भाषण देनेमें तनिक भी आनाकानी नहीं करते हैं तथापि जब ये महाशय, सम्राटके प्रजाजनोंके कोट्यवधि लोग जिस धर्म को पवित्रतम मानते चले आये हैं उसके विरुद्ध तीव्र तौहीनसे भरे वचन कहते हों तो सचमुच वायसराय महोदय अगर उनके प्रति सहिष्णुता दर्शाना चाहें तो उसकी कुछ सीमाभी तो चाहिये।

यदि ऐसी दुर्घटना न होती तो इसपर विश्वास रखना असंभव है पर चूँकि इस ढंगका उत्पात हो चुका है और मुझे यह कहते लज्जा आती है कि मद्रासके समाचारपत्रों में ऐसे विधानोंको यथेष्ट प्रकाशन मिल चुका है यद्यपि उन्हें चाहिये था कि वे ऐसे कथनोंको प्रसृत करनेसे इनकार करते। हाँ, यह संभव है कि उनकी रायमें यह अच्छी बात हो जाती कि डाक्टरसाहबकी पूरी तरह कलई खुल जाय।

हमें इस बातकी उत्सुकता है कि, कब जल्दही वायसरायमहोदयजी अपने कार्यकारी मंडलकी ओरसे उचित कार्यवाही शुरु करके हिन्दुजातिकी जो यह असहनीय अप्रतिष्ठा की गयी है उसके लिए आवश्यक क्षति-पूर्ति कर देंगे? ऐसा करनेसे वे असंशय धार्मिक जनताको उन पुरुषोंके आक्रमणोंसे बचायेंगे जो जीवनकी मर्यादाओंकी तनिक भी जानकारी न रखते हैं।"

सांख्ययोग

(लेखक– श्री ओमानंदजी तीर्थ, पातंजल योग आश्रम, रेहलू, जि. कांगडा, पंजाब)

परमात्मा (चेतन तत्व) के निर्गुण शुद्ध स्वरूपका वर्णन उपनिषदोंमें विस्तार पूर्वक किया गया है इसलिए उपनिषदोंको वेदान्त कहते हैं। ज्ञानका अन्त अर्थात् जिसके जानने के पश्चात् कुछ जानना शेष न रहे। योग और सांख्यमें उस के जाननेके साधन विशेष रूपसे बतलाये गये हैं इसलिए सांख्य और योग ही प्राचीन वेदान्त फिलासफी है यथा–

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां
यो विदधाति कामान्। तत्कारणं सांख्ययोगा-
धिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः॥
(श्वेता० ६।१३)

नित्योंका नित्य चेतनोंका चेतन जो अकेला ही बहुतोंकी कामनाओंको पूरा करता है। उस देवको जो (सृष्टिका निमित्त कारण है) जो सांख्य और योगद्वारा ही जाना जा सकता है उसको जान कर सारी फांसोंसे छूट जाता है।

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्य
तयः शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।
(मु० ३ खं० २ मं० ६)

वेदान्तके विज्ञानका उद्देश्य जिन्होंने ठीक ठीक निश्चय कर लिया है और जो यति जन संन्यास सांख्य और योग से शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे सारे सब उत्तम अमृतको भोगते हुए मरनेके समय ब्रह्म लोकोंमें स्वतन्त्र हो जाते हैं।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता अ० ३।३)

हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्य लोकमें मैंने पुरातनकाल में (कपिलमुनि और हिरण्यगर्भरूपसे) ये निष्ठायें बतलाई हैं। (कपिलमुनिद्वारा बतलाई हुई) सांख्य योगियोंकी निष्ठा ज्ञान योगसे होती है और (हिरण्यगर्भ रूपसे बतलाई हुई) योगियोंकी निष्ठा निष्काम कर्मयोगसे होती है। यथा–

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता अ० ५।४।५)

सांख्य और योगको पृथक् पृथक् अविवेकी लोग ही जानते हैं न कि पंडित लोग। इन दोनोंमेंसे एकका भी ठीक अनुष्ठान कर लेने पर दोनोंका फल मिल जाता है। सांख्य योगी जिस शुद्ध परमात्मरूपका लाभ करते हैं योगी भी उसीको पाते हैं। जो सांख्य और योगको एक जानता है वही तत्त्ववेत्ता है। किन्तु इन दोनोंमें सांख्य किंचित् कठिन है। यथा–

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ५।६)

महाभाग। बिना योगके सांख्य साधन रूपमें कठिन हैं। योगसे युक्त होकर मुनि शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं।

सांख्य और योग दोनों आरम्भमें एक ही स्थानसे चलते हैं और अन्तमें एक ही स्थान पर मिल जाते हैं किन्तु योग बीचमें थोडेसे मार्गसे घुमाववाली पक्की सडकसे चलता है और सांख्य सीधा कठिन रास्तेसे जाता है। यथा–

सांख्य और योगमें बहिर्मुख होकर संसार चक्रमें घूमनेके कारण अविद्यास्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तथा सकाम कर्म बतलाये गये हैं और इसी क्रमानुसार अन्तर्मुख होनेके साधन अष्टाङ्ग योग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है।

योगद्वारा अन्तर्मुख होना–

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार ये पांच बहिरंग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। ये तीनों धारणा ध्यान समाधि भी असम्प्रज्ञात समाधि (स्वरूपावस्थित) के बहिरङ्ग साधन हैं। उसका अन्तरङ्ग साधन

नेति नेति रूप पर वैराग्य है जिसके द्वारा चित्तसे अलग आत्माको साक्षात्कार करानेवाली विवेकख्याति रूप सात्विक वृत्तिका भी निरोध होकर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपावस्थिति का लाभ होता है।

सांख्यद्वारा अन्तर्मुख होना–

अष्टाङ्ग योगके पहिले पांच बहिरङ्ग साधन सांख्य और योगमें समान है किन्तु जहां योगमें सालम्बन अर्थात् धारणा-ध्यान समाधि द्वारा किसी विषयको ध्येय बना कर अन्त-र्मुख होते हैं वहां सांख्यमें निरालम्बन विना किसी विषय को ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होते हैं। उसमें धारणा ध्यान और समाधिके स्थानमें चित्त और उसकी वृत्तियां दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं इसलिए 'गुण ही गुणोंमें वर्त्त रहे हैं' इस भावनासे आत्माको चित्तसे पृथक् अकर्ता केवल शुद्ध स्वरूपमें देखना होता है। 'ये आत्मसाक्षात्कार करानेवाली विवेक ख्याति रूप एक गुणोंकी ही सात्विक वृत्ति है'। इस प्रकार पर वैराग्य द्वारा इस वृत्तिके निरोध होने पर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपावस्थितिको प्राप्त होते हैं।

योगमें उत्तम अधिकारियोंके लिये असम्प्रज्ञात लाभका विशेष उपाय। ईश्वर प्रणिधान

यह ओ३म्की मात्राओं द्वारा उपासना है अर्थात् ओम्के अर्थोंकी भावना करते हुए वाणीसे जाप करना एक मात्रा-वाले अकार ओम्की उपासना है। इसमें स्थूल शरीरका अभिमान रहता है इसलिये स्थूल शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा विश्व है वह उपासक होता है और स्थूल जगत् के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा विराट् है वह उपास्य होता है।

ओ३म्के मानसिक जापमें अकार उकार दो मात्रावाले ओम्की उपासना होती है। इसमें सूक्ष्म शरीरका अभि-मान रहता है इसलिए सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे जो आत्मा की संज्ञा तैजस है वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा हिरण्यगर्भ है वह उपास्य होता है। जब मानसिक जाप भी सूक्ष्म होकर केवल ओम्का ध्यान ही रह जावे तो यह अकार, उकार, मकार तीनों मात्रावाले पूरे ओम्की उपासना है। इसमें कारण शरीरका अभिमान रहता है। इसलिए कारण शरीरके सम्बन्धसे आत्माकी जो संज्ञा प्राज्ञ है वह उपासक होता है और कारण जगत्के सम्बन्धसे जो ईश्वरकी संज्ञा परमात्मा है वह उपास्य होता है। जब यह तीन मात्रावाली ध्यान रूप वृत्ति भी निरुद्ध हो जावे तो अमात्र विराम रह जाता है। यह कारण शरीर और कारण जगत् दोनोंसे परे शुद्ध परमात्म प्राप्ति रूप स्वरूपावस्थिति है जो प्राणिमात्रका अन्तिम ध्येय है।

सांख्यमें उत्तम अधिकारियोंके लिये असम्प्र-ज्ञात समाधि लाभका विशेष उपाय 'ध्यानं निर्विषयं मनः'--

इसके द्वारा जो वृत्ति आवे उसको हटाना होता है। अन्तमें सब वृत्तियां रुक जानेपर इस निरोध करनेवाली वृत्तिका भी निरोध करके स्वरूपावस्थितिको प्राप्त करना होता है। योगका भक्तिका लम्बा मार्ग सुगम है। यह सांख्यका ज्ञानका छोटा मार्ग उससे कठिन है।

कार्यक्षेत्रमें सांख्य और योगका व्यवहार

'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' योग ४।७ योगियोंका कर्म न पापमय होता है न पुण्यमय। क्योंकि योगीके लिए तो पापकर्म सर्वथा त्याज्य ही है, और कर्तव्य रूप पुण्यकर्म आसक्ति लगाव ममता और अहंताको छोडकर निष्काम भावसे करता है। इसलिए बन्धनरूप न होनेसे अकर्म रूप ही है। साधारण अयोगी लोगोंके कर्म पाप, पुण्य और पापपुण्यसे मिश्रित तीन प्रकारके कर्म होते हैं। यह सूत्र सांख्य और योग दोनोंके लिए समान है किन्तु योगी कर्म और उसके फलको परमात्माके समर्पण करके आसक्तिको त्यागते हैं और सांख्ययोगी गुण गुणोंमें वर्त्त रहे हैं आत्मा अकर्ता है इस प्रकार इसके लगावसे मुक्त रहते हैं। योगकी उपासना अर्थात् भक्तिका मार्ग लम्बा किंतु सुगम है सांख्यका ज्ञानका मार्ग छोटा किन्तु कठिन है यथाः—

योगियोंका कार्यक्षेत्रमें व्यवहार–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता अ० ५।१०,११,१२)

अर्थ- कर्मोंको ईश्वरके समर्पण करके और आसक्तिको छोडकर जो कर्म करता है वह पानीमें पद्मके पत्तेके सदृश पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥ योगी फलकी कामना और कर्तापनके अभिमानको छोडकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, मन, बुद्धि और इंद्रियोंसे कर्म करते हैं। ॥ ११ ॥ योगी कर्मके फलको त्याग कर परमात्म प्राप्ति रूप शांतिको लाभ करते हैं। अयोगी कामनाके अधीन होकर फलमें आसक्त हुआ बंधता है ॥ १२ ॥

सांख्य योगियोंका कार्यक्षेत्रमें व्यवहार

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म विभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तत इति मत्वा न सज्जते ॥
(गीता ३।२८)

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
(गीता ५।८-९)

हे महाबाहो ! गुणविभाग (अर्थात् सत्व, रज और तम तीनों गुणोंके जो बुद्धि, अहंकार, इंद्रियादि ग्रहण और पांचों विषयादि ग्राह्य रूप) और कर्मविभाग (अर्थात् उनकी परस्परकी चेष्टायें) तत्त्वसे जाननेवाला गुण गुणोंमें वर्त रहे हैं (अर्थात् ग्रहण और ग्राह्य रूप तीनों गुणोंके परिणामोंमें ही विभाग हो रहा है आत्मा अकर्त्ता है) ऐसा जान कर कर्म और उनके फलोंमें आसक्त नहीं होता ॥१८॥ तत्त्ववेत्ता सांख्य योगी देखता, सुनता, छूता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, सांस लेता हुआ, पकडता हुआ, आंख खोलता हुआ और मीचता हुआ भी ऐसा ही समझता है कि, मैं कुछ भी नहीं करता हुआ युक्त हूँ, सब चेष्टाओंमें केवल इंद्रियें ही अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त हो रही हैं। (आत्मा इनका द्रष्टा, इनसे पृथक निर्लेप हैं) ॥ ८,९

सांख्य और योगकी उपासना

परमात्माका शुद्ध स्वरूप तीनों पुरुष और तीनों लिङ्गोंसे परे है। किन्तु व्यवहार दशामें उसका संकेत किसी न किसी लिंग और पुरुष द्वारा ही हो सकता है।

योग द्वारा उपासना--

योग द्वारा उसकी उपासना अन्य आदेश अर्थात् प्रथम और मध्यम पुरुष द्वारा की जाती है।

प्रथम पुरुष द्वारा-

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
(ईशो० १।१ यजु ४०।१)

यह जो कुछ स्थावर और जङ्गम जगत् है वह ईश्वरसे आच्छादनीय है अर्थात् सबमें ईश्वरको व्यापक समझना चाहिए। उसका त्याग भावसे भोग करना चाहिये। अर्थात् ईश्वर समर्पण करके व्यवहार करें। लालच न करो, अर्थात् आसक्ति न होने दो। धन किसका है ? अर्थात् किसीका नहीं।

मध्यम पुरुष द्वारा-

त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बन्धुश्च
सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव।
त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

आप ही माता हैं, आप ही पिता हैं और आप ही सखा हैं, आप ही द्रव्य हैं। हे देवोंके देव आप ही मेरे सब कुछ हैं।

सांख्य द्वारा उपासना

सांख्य द्वारा उसकी उपासना अहंकारादेश अर्थात् उत्तम पुरुष द्वारा और आत्मादेश अर्थात् आत्मा द्वारा की जाती हैं। यथाः-

उत्तम पुरुष द्वारा-

अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
(गीता. १०।२०)

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित आत्मा हूं। मैं ही सब भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप हूं।

आत्मा द्वारा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो बहिश्च ॥ ९ ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो बहिश्च ॥ १० ॥ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न

लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः। एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः॥११
(कठो. अ. २ व. ५)

जिस प्रकार एक ही अग्नि नाना भुवनोंमें प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप हो रही है इसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा नाना प्रकारके रूपोंमें प्रतिरूप हो रहा है और उसके बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु नाना भुवनों में प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप हो रहा है उसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा नाना प्रकारके रूपोंमें प्रतिरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है। जिस प्रकार सूर्य सब लोकोंका चक्षु होकर भी आखोंके बाह्य दोषसे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा लोकके बाह्य दुःखोंसे लिप्त नहीं होता क्योंकि वह उनसे बाहर है।

प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष और आत्मा क्रमशः एक दूसरोंसे अधिक समीपताके सूचक हैं किन्तु कर्म और भक्ति प्रधान योग साधारण मनुष्योंको ज्ञान प्रधान सांख्यसे अधिक आकर्षक और सुगम प्रतीत होता है। पर भक्ति और कर्म भी अपनी अन्तिम सीमा पर पहुंच कर ज्ञानका रूप धारण कर लेते हैं। यथाः-

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ (ऋ. ८।४४।२३)

अर्थ- हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! यदि मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाये तो तेरा आशीर्वाद संसारमें सत् हो जावे। इस प्रकार सांख्य और योगमें बीचके मार्गमें थोडासा ही अन्तर है।

भक्तके भगवान्

(लेखक– श्री० रुलियाराम कश्यप, एम्. एस्‌सी.)

आज कलकी मित्र मण्डलीकी चर्चा गत खण्डमें छेडी गयी थी उसको तो इसमें भी चलाऊंगा ही परन्तु आजकल उन सबके शिरोमणि भगवान् आप बने हुए हैं। यद्यपि वे निराकार हैं परंन्तु बागमें निराकार रहते हुए भी मेरे घर का काम साकार होकर कर गए। घरमें निराकार रहते हुए भी मेरा शहरका काम साकार होकर कर गए। कैसे ? इस का उत्तर अतीव रोचक निम्न प्रकार जानिये।

(१) एक दिन मैं मंझलेभाईसाहिबके बडे पोते तथा अपनी दोनों मंझली पुत्रियोंको लेकर बागकी सैरको गया। पहिले तो बडे भाई साहिबके बडे पोतेने पहिले ही टोका था कि मेंह तो पड रहा है सभी कहां गए। पर हम उस समय मेंह न देखकर चले ही गये बागमें जोरोंकी मूसलाधार बारिश कोई १½ घंटाभर हुई, घरमें हमारी छतसे पानी खूब चूया, घर आनेपर हमें खूब जली कटी सुननी पडीं। अगले प्रातः मैं फिर अपने भगवान्‌से वार्तालाप करने बागमें पहुंचा। वहां फिर बारिश प्रारम्भ होने लगी। मैंने कहा पानी बन्द करें नहीं तो कलकी तरह हमारे साथ फिर होगी। फिर ख्याल आया कि यदि मेरी इस विनतीसे मेरी भक्तिमें कचापन दिखाई पडता है तो मैं यह प्रार्थना नहीं करता, आपकी जो इच्छा है वही मैं भी चाहता हूं अस्तु भगवान्‌ने किनमन-कानी अर्थात् बारीक बूंदाबांदी रक्खी। घर आया तो पता लगा कि हमने तो मेंहसे पहिले ही ऊपर छतके छेक बन्द कर दिये थे क्यूंकि एक प्रजापति (कुम्हार) दो गर्दभ (गधे) लेकर आया था पांच पांच आने मांगता था (स्यात् साढे चार चार आने) हमने कहा साढे तीन तीन आने (स्यात् तीन आने ही देंगे) वह लौटने लगा पर साथवाले टिब्बेपरसे ही फिर आवाज देकर कहने लगा, अच्छा लेलो। हमने दोनों ले लिये। कुछ मिट्टीसे छतके छेक मेहतरकी ओर अपनी बच्चिया बन्द कर आयीं शेष यह पडी है।

मैंने कहा, इसको कहते हैं भगवान् स्वयं आकर भक्तोंके काजोंकी देखभाल करता है। धन्यवाद है उस प्रभुका कि बागमें निराकार रूपमें मुझसे प्रेम वार्त्तालापमें मग्न है और घर पर प्रजापति गर्दभराज पृथिवी माताके साकार रूपमें आकर तथा उन मेहतरकी तथा अपनी बच्चियोंका रूप धार हमारी टूटी छत कहीं आज फिर न टपक पडे इसका प्रबन्ध करता है।

अब समझ पडती है कि, घन्ने भक्तका रहसेरा भी कुछ ऐसा ही करामाती निराकार साकार भगवान् होगा।

(२) दूसरी घटना गत रविवार २ अप्रैल सन १९४४ ईसवीकी है। हमारे बडे भाई साहिबके छोटे सालेके लडकेके मुण्डनके सम्बन्धमें हम सब घरोंको उनके यहां रोटी थी। मैंने गृहिणी तथा बच्चियोंको वहां भेज दिया आप इस कारण न गया कि बढा हुआ हरनिया टांगेमें जानेसे कहीं मुझे सख्त दुखी न कर दे। घर पर रहकर मैं अपनी छत का टूटा परस्तर ' इंटे ' लोहा आदि छतसे नीचे गिराने लग गया कि कहीं कोई टुकडा समय कुसमय गिरकर हम निवासियोंमेंसे किसीको घायल न कर दे। जब कभी घर खाली सा होता है तो मैं ऐसा कर लिया करता हूं क्यूंकि घरकी चिडियां मुझे ऐसे आगामी भयकी सूचना इस प्रकार दे दिया करती हैं कि वह स्वयं गिरनेवाली छत से लटक लटक कर उसे गिरानेका यत्न करने लग जाती हैं; मेरा ऐसा भी वहम है कि मेरी चिडियां भी स्यात् मेरी लडकियां ही हैं जो मर चुकी हैं और मेरी लडकियां भी चिडियां ही हैं जो जन्म चुकी हैं, लडकियां नीचे कमरोंमें रहती हैं चिडियां ऊपर छतोंमें रोशनदानोंमें रहती हैं, अस्तु!

छतसे कुछ कण गिरकर मेरी आंखमें पडा, मेरा अश्रु कपोल परसे होकर नीचे गिरा। मैं अनजान इसका तात्पर्य क्या जानूं ? तभी कुराडी खटखटायी गयी, मैंने कहा कौन है ? लडकी बोली ' मैं पिताजी ' एक और आवाज आयी ' दरवाजा खोलना जी '। दरवाजा खोलनेपर नवागतने

पूछा 'यह बच्ची आपकी है' मैं हैरान। मैंने कहा 'पर आप इसे कहांसे पकड लाये' (क्यूंकि मुझे वह मुसलमान सा लगा)। उत्तर मिला 'कश्मीर बाजारमें यह रोती भटक रही थी, दो तीन लडके कहते थे इसे ठाने ले चलो फिर लडकीने भी बतलाया कि एक सिक्ख भी यही कहे कि ठाने ले चलो। लडकी डरी कि वहां तो मारा करते होंगे, इस नवागतने कहा जब बच्ची सब पता बताती है तो ठाने क्यों जावे, मैं इसे अभी घर पहुंचा आऊंगा; लडकीने अपना मकान हाल रोड एक गली, पिताका नाम रलियाराम दफ्तर घरके पास ही जहां जाते हैं सब बता दिया उसने उन लडकोंसे छुडाकर थोडी दूर पैदल फिर साईकल पर बिठा हवाकी तरह साईकल चलाया। जहां यह गिरने लगे आप उतर इसको ठीक करके बिठा फिर आगे चल इस प्रकार हाल रोडपर आ अनेक गलियां वहां ढूंढ लडकीके न करने पर फिर आगे माल रोडपर पहुंच वहां पक्के फुट पाथ के प्लेटफार्म पर उतार फिर उसके कहने पर सामनी गलीके अन्दर आ फिर मेरे घर उसे पहुंचा कर पूरी तसल्ली कर करवा कर यह कह कि इसकी माताको शहरमें खबर भिजवा दें तब वापिस गया।

इधर तो भगवान् ऐतवारके दिन एक खिलौनेके सौदागरका भेस बनाकर उस दिन उसकी दुकान बन्द करा उसे काश्मीरी बाजारमें ले जा मेरी भूली भटकी बच्चीको वहांसे निकाल घर छोड कर गया, दूसरी ओर उसके आनेके पहिले उसके भोजनका प्रबन्ध करके गया वह कैसे ?

अष्टमीवाले दिन कन्या जिमाई जाती है हमने सनीचर वार यह कर लिया। सामने एक मित्रकी कन्या हम भूल गये उन्होंने रविवारको मनायीं। उनका मुंडू आया "सामने घरवाले बाबूजी दोनों मुन्नियोंको बुलाते हैं मैंने उनको सुबारक दिया और कहा कि एक जगह रोटी थी वहां पर इधर उधरकी सब मुन्नियां गयी हुई हैं, वह चला गया। थोडी देरके बाद दो परोसे लेकर फिर आया, आठ पूरियां दो भावे हलवा चने पकौडी इत्यादि जो कन्या जिमानेमें दिया जाता है वह न लेनेसे उन मित्रजीका निरादर होता सो मैंने वह रखवालीं।

इसके पीछे वह नवागत बच्ची को लेकर आया।

जब जब यह घटना याद आती है तो हैरानी होती है कि कैसे मुझे घर पर रक्खा कि भूली बच्ची आयेगी उसे संभालेगा। कैसे कैसे पडौसी मित्रमें प्रेरणा की कि उसकी रोटी भेजे, कैसे खिलौनेवालेको दुकानके बदले कश्मीरी बाजार भेजा कि बच्चीको घर पहुंचाओ।

विचित्र लीला है उस भगवान् की कि—

"तोडता है मकान निज कश्यप।
रक्षा करता वहां प्रभु देखा॥"

मैं तो यह घटनाएँ जहां भी सुनाता हूँ हर कोई यह कह उठता है कि **धन्य है वह भगवान्।**

अब मित्र मंडलीका कुछ थोडासा प्रसंग और लिखता हूं।

कल एक लखपति भक्त भरपूर सिंघको मिलनेकी सलाह थी बागमें। मैं अपनी मंडलीमें बैठ एक पंडितजीको वेद-मन्त्र सिखा लौटकर इस भक्तको ढूंढ निराशसा हो अपनी मस्तानी चालमें लौटा आ रहा था। मलकाके बुतसे बहुत इधर आकर अचानक चाल बडी शानसे तेजी और फुरतीमें हो गयी जैसे हवा ही उडाये ले जा रही हो जब उस चौंकके पास पहुंचनेको था जहांसे घरको गली जाती है सामने वह भक्त दिखाई पडा कुछ कदम तेज चल उससे मिल प्रेमालम्ब किया।

यदि ठीक समय पर मस्ताना चाल हवाई चालमें परिणत न होती तो भक्त न मिलनेसे दिलमें ख्याल बना रहता यही वह भगवान् है जो दो दिलोंमें सांझा व्याप कर उनको मिलाता है।

(२) एक दिन मैं खाना खाकर हटा वहीं बैठा शरीर झूलने लग गया कुछ समझ न पडी क्यों, कोई डेढ घन्टे पीछे ख्याल आया संत बूड सिंह बुला रहे हैं कि आकर किताब ले जाओ, मैंने गृहिणीसे यह बात कही तो घर पर जो सबसे बडी लडकी (उससे बडी तो ससुराल है) वह बोल उठी कि टेलीफोन आयी है। मैंने कहा "यह टैलीफोनसे भी बढ कर है।" मैं तुरन्त उनके दफ्तर गया आगे वह घरको जाने ही लगे थे, यदि मैं पांच मिंट भी देर करता तो मुश्किल होती। पूछने पर पता लगा कि एक बार प्रातः ११ बजेके लगभग दूसरी बार कोई दो ढाई बजे स्मरण किया था, मैंने कहा ११ बजे तो बागमें न जाने मैं किन बातोंमें मस्त हूंगा, २-ढाई वाला अनुभव हो गया।

बस यही शक्ति जो दो दिलोंको परस्पर जोडती उस

भगवान्‌के कुछ कुछ समीप ले जाती है।

(३) एक वहां दर्शन सिंघ मित्र आया करते हैं, अच्छे तीस चालीस हजारकी आसामी हैं, वह दो बार वर्षाके सम्बन्धमें कह चुके हैं कि आज तो नहीं कल हो तो हो दोनों बार उस दिन नहीं अगले दिन खूब हुई।

(४) कल एक मुसलमान नेक प्रोफेसर इसी प्रकार हमें वर्षासे निर्भय करने लगा कि, अभी दो तीन घन्टे तो होती नहीं फिर हो तो हो; सो यह आठ साडे आठ बजेकी बात थी, वर्षा कहीं आधी रातके भी दूर पीछे हुई।

इस प्रकार भगवद्भक्तोंके मुंहसे निकली वाणी कई बार सर्वथा सच्ची हो जाती है।

(५) भरपूर सिंघने कहा कि यदि आप टिक कर बैठें तो यहीं अमरीका देखें आप कविताको झल खिलारते रहते हैं। एक दिन उसे मैंने मिलना था। घर गया दफ्तर गया फिर घर गया अगले प्रातः फिर घर गया फिर लौट कर अपने घरकी गलीके सिरेके बाहर माल रोडपर उकता कर थककर ठहर गया जो कहीं न मिला था थोडी देरमें बागसे साई-कल पर लौटता उस बेवक्त वहीं सडकपर मिल गया।

बस सब ख्याल छोडकर निश्चल होकर भगवान्‌की प्रतीक्षा करो, अपने आप वहीं तुमको यदि भक्त जानेंगे तो भगवान् आहीं मिलेंगे।

आर्या-शतकम्

(श्रीमदप्पय्य दीक्षित विरचितम्, श्रीराघवशर्मकृत-टीकोपेतम्)

(संपादक तथा प्रकाशक- प्राध्यापक श्री० ना० अ० गोरे, M. A- १२ विष्णुसदन, ३२७ सदाशिवपेठ, पूना २)

पूनाके विख्यात सर परशुरामभाऊ कालेजमें संस्कृत एवं अर्धमागधीभाषाके अध्यापक श्री. नारायणरावजी गोरे, एम. ए. बडे सुन्दर ढंगसे संस्कृतभाषाकी अच्छी पुस्तकें सम्पादित कर जनताके सामने रखनेमें सिद्धहस्त हैं। वर्तमान-कालमें ग्रन्थसम्पादनकी जो प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनके प्रयोगसे नये नये संस्कृत ग्रन्थ मुद्रित करके प्राध्यापकजी उन्हें प्रकाशित कर रहे हैं। आज हमारे सम्मुख 'आर्या-शतक' नामक नयी पुस्तक विद्यमान है जिसकी रचना मद्रदेशके प्रथितयश विद्वान् श्रीमदप्पय्यदीक्षितजीके कर-कमलोंसे हुई है। बडी सरल तथा मोहक संस्कृतभाषामें श्लोकरचना की गयी है और उन पर जो टीका लिखी गयी है वह भी नितान्त सुबोध एवं रसीली गीर्वाणभाषामें मद्रविश्वविद्यालयके ख्यातनामा डाक्टर ह्वी राघवन् एम. ए. पी. एच. डी. की लिखी हुई है। पाठक चाहे जिस आर्या को पढलें, असंशय उनका चित्त हर्षोत्फुल्ल हो उठेगा। शिवजीकी स्तुति पर सरल श्लोक लिखे गये हैं जिनकी सरल एवं कान्त पदावलि सहृदय पाठकोंका दिल अवश्य अपनी ओर खींच लेगी। जो पाठक सरल संस्कृत भाषामें लिखी भावपूर्ण कविताका रसास्वादन करना चाहें वे अवश्य एक बार इस पुस्तकको मँगाकर पढें। मूल्य १-४-० तथा डाकव्यय पृथक् है। बानगीके तौर पर यहाँ पर कुछ ललित आर्याओंको उद्धृत करना उचित जँचता है—

धनदे सखित्वमेतत् तव यत् तत्रास्ति विस्मयः क इव। मयि निर्धने तदास्तां त्रिजगति चित्रं कियद्भावी ॥ ३९॥

चेतःकीर विहारं परिहर परितः स्वयं प्रयत्नेन। अत्तुं कालविडालो धावति शिवपञ्जरं प्रविश ५४

निर्व्याधि मे शरीरं निराधि चेतः सदा समाधि-परम्। कुरु शर्व सर्वदा त्वं नान्यं कामं वृणे कश्चित् ॥ ९९ ॥

शिव शङ्कर स्मरारे किञ्चित्प्रणयमस्ति तत्क-थय। वञ्चनमेव करिष्यसि किंवा कालान्तरे प्रीतिम् ॥ ८५ ॥

त्वयि तुष्टे रुष्टे वा शिव का चिन्ता स्वदुःखभङ्गे मे। उष्णं वानुष्णं वा शमयति सलिलं सदैवाग्निम् ॥ ७६ ॥

अनादि वैदिक धर्म ही सृष्टि का मौलिक वा आदिधर्म है

(लेखक- श्री॰ गणपतराव बा॰ गोरे, औंध, जि॰ सातारा)

खण्ड ९

[अक्तूबर अंकसे चालू]

पौराणिकों, यहूदियों, ईसाइयों, तथा मुसलमानोंमें वैदिक सूर्योपासना।

(८) यौगिक [व्युत्पत्तिक, इतिहासकी वा Etymological अर्थोंसे ही वैदिक रहस्य खुलते हैं। गुणकर्म स्वभाव की समानता का सम्बन्ध ही सत्य सम्बन्ध है। उषा मेरी = Mary मर्यमके एकत्व पर प्रकाश। वेद की उषा। चतुर्भुजा, अष्टभुजा, सरस्वती, इला उषा के रूप हैं। उषा उपासना और उसका फल। वेद के पुल्लिंग शब्द ' मर्य ' का कुर्आन में स्त्रीलिंग ' मर्यम् ' बनना और स्त्रीलिंगी शब्द 'योषा' का बाइबल में पुरुषलिंगी ' यीषा ' वा ' ईसा ' बनना। उषा ने सूर्य का और मर्यम ने ईसा का राज्याभिषेक किया। मेरी = उषा। यौगिक अर्थों द्वारा अथवा गुण-कर्म-स्वभावानुसार सम्बन्ध जोडनेके महत्व को वेद, लेङ्गिश देवमाला, कुर्आन, ह० मुहम्मद, तथा ऋषि दयानन्दने स्वीकार किया है। इस्माईल = अष्माईल = हजरल् अस्वद Black stone = शिवलिंग को मुसलमान पूजते हैं ! क्या लिंगायत जाति यहूदियों और मुसलमानों की पूर्वज नहीं ? क्या लिंगायत जातिके ब्रह्मा (Abraham) तथा सारा द्वारा ही यहुदियोंमें खतनेकी प्रथा स्थापित नहीं हुई ? ऋषि दयानन्द की वर्ण व्यवस्थामें सन्तान परिवर्तन !

८ यौगिक अर्थोंसे ही वैदिक रहस्य खुलते हैं। गुण-कर्म-स्वभाव की समानता में ही सच्चा संबंध है।

प्रश्न- अक्तूबर अंककी धारा ७ में आपने ह० ईसा की माता मर्यम को वेद की उषा वा अदिति समझा है, और धारा १ की टीप में हारूनकी बडी बहिन मर्यम को भी उषा कहा है ! अब ह० ईसा को उत्पन्न हुए, आज १९४४ वर्ष और हारून को उत्पन्न हुए उक्त टीपानुसार ही १५७४+१९४४=३५१८ वर्ष होते हैं। फिर भला ईसा की माता मर्यम और हारूनकी बडी बहिन मर्यम ये दोनों मर्यमें एक कैसे हो सकती हैं, और फिर दोनों ही उषा किस प्रकार बन सकती हैं।

उत्तर- उसी प्रकार जिस प्रकार आजसे सेकडों वर्ष पूर्व कवि भवभूति द्वारा लिखे हुए, उत्तर राम चरित्र नाटकमें कोई व्यक्ति सीता का पार्ट संस्कृत भाषामें करता हुआ 'सीता' कहलाता था और आज भी एक सर्वथा भिन्न व्यक्ति रामायण के हिन्दी भाषाके नाटकमें सीताका पार्ट करता हुआ 'सीता' ही कहलाता है ! फिर चाहे वह पुरुष हो वा स्त्री! ऐसे नाम गुण कर्म स्वभाव की समानता के कारण ही दिये जाते हैं ! (और देखो पोट धारा ८)

२. धारा १ की टीपमें स्वयं कन्कार्डन्सने हारून = Aaron का अर्थ Enlightened, illumined अर्थात् प्रकाशित वा ज्ञानी ऐसा किया है। ये दोनों गुण सूर्य वा अरुणमें हैं। अतः गुणकर्म, स्वभावानुसार अरुण तथा ईशा वा सूर्य, तथा ह० हारून और ह० ईसा एक ही हैं- चाहे उनके पार्थिव अस्तित्व में १५७४ वर्षों का अन्तर है इसी प्रकार ईसा की माता, तथा हारून की बहिन ये दोनों मर्यमें भी गुण कर्मसे एक ही हैं।

३. उक्त टीपमें ही मरियम्, हारून, तथा मूसा के बाप

का नाम अमरम् (Amram) बताया गया है। यह संस्कृत का अमरं वा अमरणं शब्द है। आप्टे के कोशमें अमर नाम वायु का भी है। अतः सिद्ध हुआ कि मरियम आदि वायुसे उत्पन्न हुए! अर्थात् उषा, सूर्य और अंधकार ये तीनों वायुसे उत्पन्न हुए। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है!

४ वेदमें उषाका स्वरूप

ऋग्वेद मं० १० सूक्त ४० का देवता अश्विनौ है। हमारा निजी अभिप्राय है कि यहां अश्विनौ का अर्थ × प्रातः और सायंकाल की दो उषाएं है। मन्त्र २ में मर्य न योषा शब्द आते हैं जो उच्चारमें मर्यम तथा ईसा वा यीषा से मिलते जुलते हैं। मन्त्र का हमारा अर्थ देखिए-- कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना, कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। को वां शयुत्रा विधवेव देवरं, मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ (ऋ० १०।४०।२)

अर्थ— (अश्विनौ) हे प्रातः सायं की उषाओ! आप दोनों (दोषा कुहस्वित् वस्तोः) रात को भला कहां चले जाते हो? (कुह अभिपित्वं करतः) कहां से आगमन करते हुए (कुह उषतुः) कहां निवास करते हो? [यदि आप विधवाएं हैं तो] (विधवा देवरं इव) विधवा और उसके देवरके समान (वां) आप दोनोंके [अपने देवरोंके साथ एकत्र होनेके] (को शयुत्रा) शयन स्थान कहां है? [और यदि आप कुमारियां हैं तो] (मर्यं न योषा) जिस प्रकार युवा पुरुष युवा स्त्री के साथ (सधस्थ आ कृणुते) समान स्थानी होकर रहता है, उस प्रकार (को वां शयुत्रा) आप दोनों के वे एकत्र रहने के गृह कहां हैं?॥ २॥

भावार्थ- इस मन्त्रमें सूर्य और उषा का विधुरविधवा अथवा युवा कुमार-युवा कुमारी का अलंकारिक सम्बन्ध दर्शाया गया है। प्रातः काल की उषा मानो कुमारी है। जिसे वरनेके लिये सूर्य रूपी कुमार पीछे से दौडते आते हैं, और पृथ्वी के क्षतिजपर सूर्य के पहुंचते ही उषा सूर्य देव के गले लिपट कर प्रतिदिन उससे स्वयंवर विवाह कर लेती है! अब उषा का अस्तित्व नहीं रहता मानो वह सूर्य देव की अर्धाङ्गिनी और सहधर्मिणी बन जाती है। इनका गृहस्थ दिन भर चलता है और सायंकालको सूर्य के अस्त होते (मृत्यु पाते) ही मानो उषा देवी विधवाके रूपमें प्रकट होती है और रातभर मानो अकेली रहती है!! परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह कि दूसरे प्रातःकाल पुनः वही उषा देवी कुमारी बनके पूर्व की ओर से उठती है और सूर्य देव भी पुनर्जन्म को प्राप्त करके पुनः युवा बनकर पृथ्वीके क्षितिज पर उषाका पानीग्रहण कर लेते हैं!

इस दैनिक दृश्य को दिखाकर मनुष्यको वास्तविक ज्ञान देनेके लिये मन्त्रमें पूछा गया है कि हे उषाओ! आप विधवाएं हैं वा सुहागनें? यदि विधवाएं हो तो आप देवरों को किस स्थानमें प्राप्त करती हो? और यदि विवाहिता हो तो पतियोंके साथ किस घरमें एकत्र रहती हो? आप प्रातः सायं प्रकट कहांसे होती हो और रात्रिमें कहां जाकर विश्राम करती हो?

५. उषाका उत्तर— १. वैदिक अलंकारोंको मनुष्यों ने भिन्न भिन्न दृष्टिकोणसे देखा है। मन्त्रोंमें ही कहीं मैं सूर्य की माता बनी हूं और कहीं सूर्य की पुत्री! ऋग्वेद ७।७६।३ में बताया गया है कि मैं स्वयं सूर्य पर आसक्त होकर उसके पीछे दौड रही हूं! ब्रह्मा का कहीं कामवश होकर अपनी पुत्रीके पीछे भागना + दिखाया गया है!! परन्तु मैं तो सबको सुखदायी नैसर्गिक देवी हूं। न मैं विधवा हूं न विवाहिता। मैं तो अदिति, रोहिणी उषा मर्यम् वा मेरी [Mary] नामक सदा अक्षत योनिः= कुमारी हूं। सृष्ट्युत्पत्तिमें दृश्य पदार्थोंमें सर्व प्रथम मैं ही उत्पन्न हुई थी। पश्चात वायुके वरदानसे सूर्य नामक

× अश्विनौ=देवोंके दो वैद्य=The two physicians of gods. harbingers of dawn=उषाके अग्रदूत।

+ पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् ॥ ऋ० १०।६१।७॥ अर्थ- [ब्रह्मा रूपी] पिता अपनी लडकीके पीछे भागा ॥७॥ यह कथा भागवत पु० स्कन्ध ३ सृष्टि प्रकरणमें आयी है। सृष्टि करते करते ब्रह्माजीने वाक्=सरस्वतीको भी उत्पन्न किया। ब्रह्मा नाम वायू का है। मनुष्य शरीरमें रहनेवाले ब्रह्मा = वायुसे वाणी उत्पन्न होती है और मनुष्य शरीरके बाहर जो ब्रह्मा = वायु है, उसीमें समा जाती है! यही ब्रह्मा का अपनी लडकी को पकडना है!!!

पुत्र मुझे उत्पन्न हुआ × आप भूल न जायें इसलिये परमात्मा यह चित्र प्रतिदिन प्रातःकाल आपको दिखाते रहते हैं। न मैं रात को कहीं ठहरती हूं, न दिन को। ब्रह्मचारिणी हूं और सदा ब्रह्म में विचरती रहती हूं, मेरे उदर से जो सूर्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है वह भी ब्रह्मचारी है + इसी प्रकार मर्यम् और ईसा दोनों ब्रह्मचारी थे !

२. रातदिन चलते रहनेके कारण वेदने मुझ रोहिणी लालरंग की गौ अथवा केवल गो भी कहा है। मैं बडी तेज चलती हूं। २४ घंटोंमें सारी पृथ्वी का एक चक्कर लगा लेती हूं। इसी प्रकार मेरा ब्रह्मचारी पुत्र सूर्य भी; गो के बछडे के समान, सन्मान पूर्वक मेरे पीछे पीछे लग भग २ घंटों की दूरीपर चलता आता है। हम दोनों यदि दिन रातमें एकक्षण भी कहीं ठहर जाएं, तो पृथ्वी की प्रलय आजाए !

३-५. यदि भागवत पुराण २।२।८ में विष्णु, (सूर्य) को चारों दिशाएं उत्पन्न करनेके कारण चतुर्भुजः कहा है, तो मैं भी चतुर्भुजा कहलाती हूं। यदि भा० पु० ६।४।२६में विष्णु को अष्टभुजः कहा है, तो मैं भी अष्टभुजा देवी कहलाती हूं। यदि महाभारत अनुशासन पर्व १४७।३ में सूर्य को दशबाहुः कहा है, तो मैं भी दशों दिशाओं * को उत्पन्न करनेके कारण दशभुजा देवी के रूपमें विशेषतः बंग देश में पुजी जाती हूं। ये मेरे तीनों रूप वैदिक हैं ☙ परन्तु दुःख यही है कि यौगिक अर्थों को भुला देने के कारण हिंदु लोग न मेरे वास्तविक स्वरूपको जानते हैं और न उसकी यथा योग्य उपासना करते हैं। मेरे प्रतिदिन प्रातःकालके अनायास सर्वत्र उपलब्ध होने-वाले नैसर्गिक रोहित स्वरूप को छोड कर वे पाषाणादि की मूर्तियों की पूजा किया करते हैं ! मैं हर खुले स्थानमें उपलब्ध हूं। घर की खिडकीयों से भी पूर्व की ओर देखी जा सकती हूं, परन्तु हिन्दू मुझे मिन्दिरोंकी बन्द कोठडि-योंमें ढूंढते हैं !! इस झूठी उपासना करने का फल यह निकला कि चेहरे पीले पड गये और शारीरक बल और तेज जाता रहा ! अब भी यदि कोई सूर्योदयसे तीन घंटे पूर्व उठकर स्नानादि से निवृत्त होकर पूर्वाभिमुख होकर खुली हवा में बैठे और मेरे लाल रंगके प्रकाश ╿ को

+ देखो ब्रह्मचारी सूक्त अथर्व ११।५

× अजीजनन् सूर्यं यज्ञमग्निम्। ऋ० ७।७८।३ (सूर्य और अग्निको उत्पन्न किया)

* दसदिशाएं- १. प्राची = पूर्व = East; २. आग्नेय = पूर्व-दाक्षिण कोण = South east, ३. दक्षिण = South; ४, नैर्ऋत्य = दक्षिण पश्चिम कोण = South west, ५. प्रतीची = पश्चिम = west, ६. वायव्य = पश्चिम-उत्तर कोण = North-west, ७. उदीची = उत्तर = North, ८. ईशान्य = उत्तर-पूर्व कोण = North-East, ९. ध्रुवा वा ध्रुवायाः = नीचे की दिशा = under feet, १०. ऊर्ध्वा वा ऊर्ध्वायाः = ऊपर की दिशा = over head.

☙ चित्रेत्र प्रत्यदर्श्यायत्यऽन्तर्दशसु बाहुषु (ऋ० ८।१०१।१३)

इस मन्त्र का देवता उषा सूर्य प्रभा वा है।

अर्थ- यह उषा विश्वके भीतर दसों बाहुओं अर्थात् दस दिशाओंमें चली आती हुई अत्यन्त अनूठीसी लोगोंको दीखपडी।

╿ या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः। रूपं रूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ (अ० १।२२।३)

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि। यथा यमरपा असदथो अहरितो भुवन् (अ० १।२२.२)

अर्थ- (या देवत्याः) जो चमकीली (रोहिणीः) उषा काल की लाल किरणें हैं, (उत) और (याः रोहिणीः गावः) जो लाल रंग की गौवें हैं, उनसे (रूपं रूपं) कुरूप को सुरूप तथा (वयः अवयः) अल्प आयुवाले को आयु प्राप्त होती है। अतः हे रोगी ! (त्वा) तुझको (ताभिः) उनके बीचमें (परि दध्मसि) मैं रख देता हूं ॥ ३ ॥ (दीर्घ-आयुत्वाय) लम्बी आयु की प्राप्ती के लिये (त्वा) तुझको (रोहितैः वर्णैः) सूर्यके लाल रंगोंसे (परि) चारों ओर (दध्मसि) धारण करता हूं। (यथा) जिससे [वह तू रोगी] (अरपाः असत्) निरोग हो जाए (अथो) और (अ-हरितः) पीले-पनसे रहित (भुवत्) हो जाए ॥२॥

☙

अपने शरीर पर लें, तो उसे मैं थोडे ही दिनोंमें ज्ञान और स्वास्थ्य रूपी धनसे मालामाल कर दूं यही मेरी वैदिक उपासना है ।

६–७ अनादि वैदिक संस्कृतिके (सरस्) प्रवाहसे युक्त होनेके कारण मैं ही सरस्वती × हूं । ज्ञानकी प्राप्ति भाषा के बिना नहीं होती । अतः मैं ही अनादि वेदकी भाषा = + इल = इडा वा इळा देवी हूं । निरन्तर प्रवास करते रहनेके कारण मुझे गौ भी कहा गया है । परन्तु यौगिक अर्थोंके लुप्त हो जानेके कारण अब मुझे उषा वा रोहिणी रूपमें कोई नहीं पहचानता ! *

८. उषा उपासनाकी फलश्रुति । जो भी मेरी उपासना सूर्योदयसे २ घंटे पूर्व तय्यार होकर करेगा, ऐसे उपासकोंको मैं स्वास्थके साथ, व्यवहार कुशल बनानेके लिये ज्ञान तथा उत्तम और अक्षय वाणीसे भी सुशोभित कर देती हूं * । मेरे उपासकको शीघ्र सोने और उषा काल (मेरे उदय होने) से पूर्व जागनेका अभ्यास हो जाता है, और इतने से ही वह उत्तम स्वास्थ्य, विपुल धन और उत्तम बुद्धिकी प्राप्ति कर लेता है !!!

Early to bed and early to rise,
Makes a man healthy, wealthy and wise

९. वेदमें मर्यम् वा मेरी तथा यीषा, वा ईसा

प्रश्न- मर्यम् तथा ईसा नाम कहीं वेदमें भी आये हैं?

उत्तर- ऊपर दर्शित ऋ. १०।४०।२ में आए हुए मर्य तथा योषा शब्दोंमें बाइबल तथा कुर्आनके मर्यम् तथा ईसाकी झलक पाई जाती है । वेदसे कुर्आन आदिमें जाते हुए अन्तर केवल इतना पडा, कि वेदका पुरुषलिंगी शब्द कुर्आनादिमें जाकर स्त्री–लिंगी मर्यम् बन गया, और वेदका स्त्री-लिंगी योषा शब्द बाइबलादिमें पुरुष-लिंगी ईसा वा यीषा बन गया !!! दोनोंके शेष गुण–धर्म समान रहे ।

वेदके ' मर्य ' शब्दका पुरुष–लिंगसे स्त्री–लिंग बनना— बाइबलका Miriam मिरियम् तथा कुर्आन मर्यम ये दोनों शब्द संस्कृतके मृ धातुसे निकले हैं, जिसका अर्थ है मरना = To die. मर्य शब्दके पुरुषलिंगसे स्त्रीलिंग बननेकी विचित्र कथा कुर्आनसे निम्न प्रकार खुलती हैः—

कुर्आन ३।३४ से ज्ञात होता है कि मर्यमकी माताने उसे उत्पन्न करनेसे पूर्व ही संकल्प किया था कि " जो (पुत्र) उत्पन्न होगा उसे मैं संसार–मुक्त करके हे येहोवा ! तुझे समर्पण करूंगी " [और यह भी मनमें संकल्प किया कि उसका नाम मर्य धरूंगी–ले०] परन्तु उत्पन्न हुई लडकी ! अतः प्रसविताने कहाः–

'... हे मेरे पालनकर्ता ! (अब मैं क्या करूं ?) मुझे तो लडकी उत्पन्न हुई ! और लडका लडकीके समान (दुर्बल) नहीं होता । और मैंने इस लडकीका नाम मर्यम रखा है !... ' ‡ ॥ ३।३५ ॥ पाठको हमारे मोटे किये हुए शब्द मर्यमकी माताके भावोंको स्पष्ट कर रहे हैं। लडकीके उत्पन्न होने पर उसे शोक हो रहा है कि, ' यद्यपि किये हुए संकल्पके अनुसार मैं इस लडकीका पुरुषलिंगी वैदिक नाम मर्य * रख रही हूं, तथापि क्या यह कभी लडके

× सरस्वती = A cow; Name of Durga; Goddess of speech and learning; speech; अर्थात् गौ; दुर्गा; विद्या तथा वाणीकी देवी; वाणी [आपटे]

+ इला = A cow = गौ; Speech = वाणी; Earth = पृथ्वी [आपटे]

* इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो–भुवः ॥ (ऋ. १।१३।९ ॥)

* विश्वं जीवं चरसे बोधयंती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः ॥ (ऋ. १।९२।९ ॥)

अर्थ– वह उषा (विश्वं जीवं) जीव मात्रको (चरसे) व्यवहार करनेके लिये (बोधयन्ती) ज्ञान प्रदान करती हुई (विश्वस्य मनायोः) सब मनसे युक्त प्राणियोंकी (वाचं) वाणीको (अविदत्) अक्षय (Inexhaustible) बना देती है ॥ ९ ॥

‡ मराठी कुर्आनसे अनुवादित । * शंका–मर्य नाममें क्या आकर्षण था, कि मर्यमकी माता लडकी जनने पर भी उसे छोड न सकी ? समाधान–मर्य = Mortal man = मरण धर्मी पुरुष, यह एक नम्र नाम है जिसके उच्चारण करते ही इहलोककी नश्वरता तथा परलोकका विचार सामने आ जाता है ।

के समान बलवान् होकर धर्म-प्रचारका कार्य कर सकेगी ?' परन्तु उसे क्या पता था कि–

नारी निन्दा ना करो, नारी नरकी खान।
नारीसे नर ऊपजें ध्रुव प्रह्लाद समान॥

और महात्मा ईसा भी इसी नारीसे उत्पन्न हुए ! अस्तु। जब मर्यम तीन वर्षकी हुई तब उसकी माताने उसे मंदिर पर अर्पण कर दिया और वह १२ वर्षकी आयु तक मंदिरमें सेवा करती रही। इस अवसरमें मर्यमके चमत्कारिक होनेके प्रमाण भी प्राप्त हुए। मर्य शब्दके पुलिंगसे बाइबल तथा कुर्आनमें जाकर स्त्रीलिंग बननेकी यह प्रामाणिक कथा है।

वेदके स्त्रीलिंगी ' योषा ' शब्दका बाइबलमें पुलिंग बनना

प्रश्न– जिन प्रकार आपने वेदके पुलिंग शब्द **मर्य** को कुर्आनके प्रमाणसे स्त्रीलिंगी सिद्ध किया, उसी प्रकार वेद का स्त्रीलिंगी शब्द **योषा** बाइवल और कुर्आनमें जाकर पुरुषलिंगी कैसे बना सो अब सिद्ध कीजिए। तभी आप की बात मानी जा सकेगी।

उत्तर– जैसे वेदमें उषाको सूर्यकी माता माना गया है, उसी प्रकार बाइबल तथा कुर्आनमें भी मर्यमको ईसाकी माता माना गया है। माता पिताके गुण सन्तानमें उतरते हैं, यह भी सर्व तन्त्र सिद्धान्त है। धारा ४ में हम दिखा चुके हैं कि उषा अपने उपासकोंको स्वास्थ, दीर्घायु, व्यवहार कुशलता, धन, ज्ञान, वाणी, बुद्धि आदिसे मालामाल कर देती है। ये सभी गुण सूर्यके उपासक सूर्यसे भी प्राप्त कर सकते हैं। क्यों ? इसलिए कि उषा देवीने अपनी विविध-गुणी लाल किरणोंसे ही तो अपने पुत्रका अभिषेक × (Anointation) किया है !

पुरातन कालमें राजाओंका अभिषेक कदाचित् शरीरपर सुगंधित घी आदि मलनेसे होता था। सूर्यको ऋ. ८।५९।४ में **घृतपुरुष** (चमकीले शरीरवाला) और कई स्थानों पर **घृतपृष्ठ** भी कहा है। ऋ. ४।१०। ६ में अग्नि वा सूर्यको **ते तनूररेपाः घृतं न पूतं** अर्थात् तेरा गतिमान शरीर घी के समान पवित्र है, ऐसा कहा है। सूर्यके शरीरपर यह घी किसने लगाया ? उषाने !

संकृतमें **मृष्** धातुका अर्थ है चुपडना। मृष्ट = Purified= पवित्र किया हुवा, वा Besmeared = चुपडा हुआ (आपटे)

अब ऋग्वेद १।१२३।११ का वचन है– **सुसंङ्काशा मातृमृष्टेव योषा।**

अर्थ– (मातृमृष्टा) माता द्वारा अनुलेपन की गई (anointed = अभिषेक की गयी) (सुसंकाशा योषा इव) सुदर्शनीय युवा स्त्रीके समान [उषा]।

यहांका स्त्रीलिंगी **योषा** शब्द बाइबलमें जाकर किस प्रकार पुलिंग बन कर ईसाके अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हैं, सो अब देखिये—

" मर्यम वही थी जिसने प्रभू [ईसा] पर सुगंध तेल लगाया (Anointed the lord with ointment-) और उसके चरणोंको अपने बालोंसे पोंछा...॥ " योहन ११।२॥ पाठको ! अब ऐसा सिद्ध होता है कि बाइबलके योहन ११।२ का आधार ऋग्वेद १।१२३।११ है। वेदका स्त्रीलिंगी **योषा** बाइबलमें आकर **यीषू यीषा** वा **ईसा** पुरुषलिंगी शब्द बन गया है।

" मर्यमका अपने केशों + से सूर्य [अपने पुत्र] के चरण पोंछना " इस वाक्यका अर्थ है " उषाका अपनी किरणोंसे सूर्यके चलनेके साधनोंको शुद्ध और पवित्र बनाना। " वैज्ञानिकोंका कथन है कि सूर्य काले रंगका है, परन्तु वह

× अभिषेकः Coronation or installation (of kings) = संस्कार करके वा राज्याभिषेक करके सिंहासन पर बिठाना (आपटे) उषाने सृष्ट्युत्पत्तिके समय अपने पुत्र सूर्यको एक ब्रह्मदिन (४, ३२००००००० मानवी वर्षों) तक राज्य करने के लिये अभिषेक किया है ! वह दिनके १२ घंटों तक राज्य करने (चमकने) का अभिषेक प्रतिदिन किया करती है। इसी वैदिक अलंकार पर आचरण करते हुए यहूदियों तथा ईसाइयों की उषा वा मर्यम ने भी सूर्य के अवतार ईसा का यहूदियों पर धार्मिक राज्य करनेके लिये ईसाके २९ वें वर्षमें अभिषेक किया था। परन्तु यहूदियोंने उसे शीघ्र ही मरवा डाला !

+ केशः = A ray of light= प्रकाशकी किरण, विष्णु वा सूर्यकी उपाधि। दुर्गादेवीकी उपाधि जिसे केशिनी भी कहते हैं (आप्टे) ऊपर हमने दुर्गा और मर्यमको एक ही समझा है। यहां भी उसीकी पुष्टि होती है।

एक चमकीली वायुसे सदा आवृत्त रहनेके कारण चमकता रहता है। वेद इसी चमकीली वायु (Gas) को उषा कहता है।

परंतु पाठको सावधान ! उषा-सूर्यका मर्यम- ईसासे मिलान करते करते अकस्मात हम **अंजनाहनुमानके** सम्मुख आ खडे हुए हैं ! उपर्युक्त वर्णनमें हनुमान-अभिषेक = **हनुमान पर तेल-सिन्दुर चढानेकी झलक दीख रही है !!!** आगे चलकर रहस्य खुलेगा।

७ बाइबलका मेरी (Mary) शब्द भी उषा वाचक है !

प्रश्न — मर्यम शब्दके समान क्या बाइबलका **मेरी** (Mary) शब्द भी वेदसे वा संस्कृत साहित्यसे लिया गया है ? क्या यह इब्रानी, यूनानी आदि भाषाओं का शब्द नहीं ?

उत्तर — निःसंदेह मेरी शब्द भी संस्कृत का है ! यह संस्कृत का **मारी** शब्द है जिसका आपटे कृत अर्थ है — Pestilence personified, (the goddess presiding over plagues and identified with Durga). अर्थात् संस्कृतमें **मारी नाम है विनाशकी देवीका**, वह देवी जो प्राण घातक रोगों पर अपना अधिकार चलाती है, अर्थात् **दुर्गादेवी**। यही संस्कृत शब्द **मारी** बाइबलका मेरी = Mary बना है। मेरीके उदरसे उत्पन्न होनेके कारण ही ह० ईसा भी मरे हुओंको जिलाते थे, कोढियोंका कोढ दूर कर सकते थे, और अन्धोंको नेत्र दे सकते थे !! वेदने भी उषाको स्वास्थ और ज्ञानादिकी देवी समझा है- देखो उप धारा ४।

२ **मर्यम** के समान ही यह **मेरी** शब्द भी संस्कृतके **मृ** धातुसे बना है, जिसका अर्थ है **नाश होना वा मरना**। यदि हम मर्यम तथा मेरीको इस नश्वर जगतका उपादान कारण प्रकृति भी समझें, तो भी सूर्य वा ईशा का प्रकृतिसे उत्पन्न होना शास्त्र-शुद्ध ठहरता है।

श्री आपटेके कोशमें ' मरः शब्दका अर्थ वेदमें मृत्यु= Death होता है ' ऐसा लिखा है।

प्रश्न- यदि आप **मर्यम** तथा मेरी को **विनाश** तथा मृत्युके अर्थोंमें लेकर इन्हें संस्कृत शब्द सिद्ध करेंगे, तो उषा शब्दके स्वास्थ और दीर्घायुष्य देनेवाले अर्थोंसे विरोध उत्पन्न होगा ! आपको तो मर्यम वा मेरी का ऐसा अर्थ बताना चाहिए जो उषा के अर्थोंसे मिलता जुलता हो।

उत्तर- १. हमारा अभिप्राय केवल इतना ही दिखानेका था, कि **मर्यम** तथा **मेरी** संस्कृतके शब्द भी हो सकते हैं। जो मृत्यु पर शासन चला सकती है, वह जीवन वा स्वास्थ भी दे सकती है ! अतः मर्यमको दुर्गा समझनेसे भी कोई आपत्ति नहीं आती।

२. बाइबलके कन्कार्डन्सके अन्तमें जो अनुक्रमणिका-कोश (Index Lexicon) दिया हुआ है, उसमें न Miriam शब्द है और न Mary इससे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि ये दोनों शब्द यूनानी, इब्रानी, अथवा अरामी (Hebrew or Aramaic) भाषाके नहीं हैं !!! अतः ये **संस्कृतके ही हैं।**

३. हां, पुराने करारकी अनुक्रमणिकामें **मरेः**= Mareh शब्द आया हैं जो कि निम्न अर्थोंमें पुराने करारमें उपयुक्त हुआ है-- Mareh (मरेः) = Appearance = रूप, दृश्यके अर्थोंमें पुराने करारमें ३७ वार उपयुक्त हुआ है। Countenance = मुद्रा, चेहराके अर्थोंमें ११ वार। Sight = दृश्य, नजाराके अर्थोंमें १८ वार। Vision= आभास, छाया, स्वप्नके अर्थोंमें ११ बार।

' उषा ' भी तो एक मनोरंजक दृश्य ही है। अतः यदि **' मर्यम ' वा ' मेरी ' का धातु यह ' मेरः= Mareh ' इब्रानी वा यूनानी शब्द समझा जाय तो भी ये दोनों शब्द निःसंदेह उषाके पर्यायवाची समझे जा सकते हैं।**

प्रिय पाठको ! आप अब देख चुके कि किस प्रकार यौगिक अर्थोंके उपयोग करनेसे हमने **सहस्रों वर्षोंकी विछडी हुई वेद, बाइबल तथा कुर्आनकी क्रमशः उषा, मेरी और मर्यम रूपी तीन पूज्या स्त्रियोंका एकत्व सिद्ध करके दिखाया ! यही नहीं ! आगे चल कर हम ऐसा सिद्ध करेंगे कि अंजना देवी = हनुमानकी माता भी यही तीनों हैं !!**

८. योगिक अर्थोंसे गुणकर्मस्वभावानुसार संबंध जोडनेके महत्वको वेद, लेट्टिश, देवमाला, कुर्आन, ह० मुहम्मद सा०, और ऋषि दयानन्दने स्वीकार

किया है।

उदाहरणार्थ १. वेदने कहा एषा दिवो दुहिता ॥ ऋ. १।१२४।३ अर्थात् वह [उषा] सूर्यकी कन्या है ॥ ३ ॥

लेट्टिश देवमाला (Lettish mythology) में उषा (Dawn) को Diewo Dukte (दीवो दुक्ते) = God-daughter = देव पुत्री कहा है × !

२. ऋग्वेद १।१२३।५ में उषाको भगस्य स्वसा अर्थात् सूर्यकी बहिन कहा हैं।

कुर्आन १९।२८ में ईसाकी माता मर्यमको उख्त हारून = हारून [अरुण] की बहिन कहा है! मूसाकी बहिन इसलिए नहीं कहा कि मर्यमके यौगिक अर्थ वा गुण-कर्म-स्वभाव हारूनसे मिलते हैं मूसासे नहीं ! मौ० मु० अली फुटनोट ४१२ में इसका कारण यूं लिखते हैं—

' ... प्रायः किसी जातिको उसके किसी महान पूर्वजके नामसे ही पुकारा जाता है, जिस प्रकार ह० इस्माईलके✱ अनुयायियोंका नाम केदार ×और ह०इस्राईलके अनुयायियोंका नाम इस्राईल पड चुका है। ... मरियम ३ से १२

× From ' Max Muller's Contribution to the science of Mythology ' P. 432. यह लेट्टिश देवमाला लेट्ट, लिथुआनिया, तथा प्राचीन प्रुश्या (Lettish, Lithuanian, old Prussian) के लोगोंकी संयुक्त देवमाला है। इसमें ऋग्वेदके शब्दोंका पाया जाना हमारी इस धारणाका बल पूर्वक समर्थन है कि, अनादि वै० धर्म ही सृष्टिका मौलिक वा आदि धर्म है।

✱ यह अरबी शब्द इस्माईल, जो बाइबलमें इश्माएल (Ishmael) लिखा जाता है, संस्कृतका अश्माईल शब्द है! अश्मा = पत्थर + ईल = देव = पाषाण-देव = शिवलिंग, ऐसा इसका अर्थ है। मक्केमें मुलसमान इस शिवलिंगको हज करते समय चूमा करते हैं ! इसका अरबी नाम है हजरल् अस्वद। अरबी शब्द हजर् का अर्थ है पाषाण वा पत्थर और अस्वद का अर्थ है काला। अतः हजरल् अस्वद्का अर्थ हुआ काला पत्थर = The Black-stone। यह अस्वद् शब्द भी संस्कृतके अश्वेत शब्दका बिगाड है।

× क्या यहूदियों तथा मुसलमानोंके पूर्वज भारतीय लिंगायत नहीं ? मुसलमानोंके शिव-पूजक होनेका यह दूसरा प्रमाण है, जो कि बाइबल यशायाह ४२।११ से भी प्रमाणित होता है। भारतीय हिंदू हिमालय पर्वत पर जिस केदारनाथके दर्शन करनेको जाया करते हैं उसीसे अरबी मुसलमानोंका मौलिक संबन्ध है, यह बात स्वयं कुर्आन और बाइबलसे आज सहस्रों वर्षोंके पश्चात् केवल मात्र ईश्वरीय अनुकंपाके कारण सिद्ध हो रही है ! लिंगायत जातिका एक सुप्रसिद्ध केदारमठ है। यह लिंगायत जाति दक्षिण भारतमें रहती है। यहूदी तथा मुसलमानोंमें जो खतना (Circumcision) की रसम पाई जाती है वह किसी प्राचीन कालमें इस लिंगायत जातीमें थी, ऐसा हमारा अनुमान कई वर्ष पूर्वसे चला आता था क्यों ? इसलिये कि आपटेके कोश अनुसार आयतनं = Shed of sacrifice पशुओंको बलिदान करनेकी जगह ऐसा भी है। इसपर हमें विचार आया कि लिंग+आयतनंका अर्थ होना चाहिए लिंग बलिदान वा लिंगका खतना ! संस्कृतमें आ का अर्थ है चारों ओर और यत = Restrained = रोका या दबाया हुआ; Limited = मर्यादित किया हुआ; Curbed स्वाधीन किया हुआ [आपटे] अतः हमने सोचा कि, पुरुष लिंगको चारों ओर काटकर मर्यादित करनेवाली जातिका नामही लिंगायत होना चाहिये ! मुम्बईके सेठ शूरजी वल्लभदासने जो वैदिक सम्पत्ति की भूमिका लिखी है, उसके निम्न शब्द हमारे उक्त विचारकी पुष्टि करते हैं, यथा—

' इसी तरह अभी हालकी खोजके अनुसार कल्पक नामी पत्रमें श्रीयुत रामास्वामी अय्यर लिखते हैं कि पैलिस्टाइन प्रदेशमें बसनेवाले यहूदी भारतवासी ही हैं ! वे दक्षिण (मद्रास प्रान्त) से ही जाकर वहां बसे हैं। उनमें जो खतनाका रिवाज पाया जाता है, वह भी दाक्षिणात्योंका ही है। दाक्षिणात्योंके खतनाकी बात वात्स्यायन मुनिने काम सूत्रमें भी लिखी है-

दाक्षिणात्यानां लिंगस्य कर्णयोरिव व्यधनं बालस्य। (का. सूत्र ७।२।१५ ॥)

अर्थ- दक्षिणमें रहनेवाले लोगोंमें (बालस्य लिंगस्य) बच्चोंके शिश्नोंको कानकी तरहँ काटनेका रिवाज है ॥ १५ ॥

वर्षकी आयु तक मंदिरमें अर्पित (Devoted to the temple) थी। इससे पता चलता है कि वह पुजारिन थी (belonged to the priestly class)।...... पुजारी बनना हारूनकी सन्तानका ही विशेष अधिकार बन चुका था। ...... इसी दृष्टिकोणसे ह० मुहम्मद सा० ने एक बार कहा था ' मेरे पिता इब्राहीमकी प्रार्थना '। ह० ईसाको भी उन्होंने " ह० दाऊदका पुत्र कहा है... '

कुर्आन के १९।२८ में आये शब्दों उक्त हारून को समझाते हुए फुट नोट १५४२ में मौ० मु० अली लिखते हैं :-

" अरबी का उक्त शब्द आंग्ल भाषाके पर्याय Sister के समान रक्त संबंध तक ही कदापि सीमित नहीं रहता .... इब्ने जरीर कहते हैं कि एक बार ह० मुहम्मद सा० की पत्नी सफिय्या ने उनसे कहा कि स्त्रियें मुझे कहती हैं कि 'तू यहूदन है और दो यहूदियोंकी बेटी है'। हजरतने फर्माया कि 'तूने क्यों न कहा कि निःसन्देह मेरा पिता हारून है और मेरा चचा मूसा है और मैं मुहम्मदकी पत्नी हूं ' ? "

पाठको इतने प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेद का ही अनुकरण करके कुर्आन तथा ह० मुहम्मद साहेबने गुण कर्म स्वभावके संबंधको रक्त संबंधसे भी अधिक दृढ माना है। गुणकर्मस्वभावानुसार वर्णव्यवस्था का यही मूल है।

३. ऋषि दयानन्दने तो सत्यार्थ प्रकाश स० ४ में यहांतक लिख दिया है कि गुरुकुलके आचार्यों द्वारा वर्ण-प्राप्ति होजानेके पश्चात् जो जो कुमार कुमारी जिस जिस वर्णको प्राप्त कर चुकी हो, उस उस पिता माताके हवाले कर देनी चाहिये !!!

अर्थात् युवा होनेके पश्चात् यदि एक ब्राह्मणका लडका शूद्र-वर्ण को प्राप्त हो तो उसे किसी शूद्रके घर भेजदेना चाहिये। और यदि किसी शूद्र मातापितासे उत्पन्न लडका ब्राह्मण-वर्ण को प्राप्त कर ले तो उसे किसी ब्राह्मण गृहस्थको सौंप देना चाहिये ! ऐसा करनेसे वर्ण-सङ्कर कभी न होगा।

ऋषि दयानन्द ही गत ५००० वर्षोंमें वेदके प्रथम पुनरुद्धारक हुए हैं। वेदके शब्दोंके यौगिक अर्थ लेनेसे ही वेदका सत्यार्थ प्राप्त होता है, ऐसा आपका विश्वास था। उनके चरण चिन्हों पर चलनेके कारण ही इस लेखमाला द्वारा सहस्रों वर्षोंके रूढीअर्थोंमें दबे हुए सत्य पुनः प्रकाशित होकर आर्यों, यहूदियों, ईसाइयों, तथा मुसलमानोंके मौलिक एकत्वका दर्शन करा रहे हैं। लिंगायत शब्द एक जाति वाचक ही रूढ हो चुका था, परंतु यौगिक अर्थोंका पता लगानेसे लगभग ३८०० वर्षोंके छुपे हुए भेद, यहूदियोंकी उत्पत्ति और खतनेका प्रारंभ--प्रकट हो गये !!

४. बाईबल उत्पत्ति अ० १७ में लिखा है कि यहोवाने अब्रहमसे वाचा बांधी थी, कि मैं तुझको और तेरी सन्तान को कनान का राज इस शर्त पर देता हूं, कि तू अपने पुत्र इसहाकसे आरंभ करके अपनी जातिमें खतना करवानेकी प्रथा डाले। यहोवा = परमेश्वरका मनुष्य रूप धारण करके अब्रहमसे बातें करना यहूदी भले ही मानें ! हम तो अब इसे ब्रह्मा नामक लिंगायत की यहूदी वा जीव (Jew) जातिमें खतनाकी रस्म प्रस्थापित करनेकी एक चालाकी समझते हैं।

इसी तरह पैलिस्टाइन नाम भी गुजरातके पालीताणा ग्राम परसे ही रखा गया है "॥ वै० सम्पत्ति, ' प्रकाशकका निवेदन ' से। इसके पढनेसे हमारा विचार अधिक दृढ होगया है कि अरबी मुसलमानोंके पूर्वज भी भारतीय लिंगायत जातिके थे ! संस्कृतमें फांसी देनेवाले = Hangman को शूलायतनः कहते हैं। फिर भला खतना करने करवानेवाला लिंगायतनः क्यों न समझा जाय ?

शंका- भारतीय लिंगायत खतना नहीं करवाते ! फिर भला वे यहूदियों वा मुसलमानोंके पूर्वज क्योंकर बन सकते हैं !

समाधान- अनुमान है कि प्राचीन कालमें करवाते थे ! बादमें एक बुरी रस्म समझ कर त्याग दिया है। देखिए ! ह० ईसा २५ दिसंबरको एक यहूदी कुलमें उत्पन्न हुए। १ जनवरीको उनका खतना कराया गया। परन्तु ज्ञान प्राप्ति होने पर उन्होंने इस प्रथाके विपरीत प्रचार किया, और फल यह निकला कि ईसाई लोगोंने इसे कुप्रथा समझ कर त्याग

(कवर पृष्ठ ३ पर देखो)

इसके विपरीत यदि मूलतत्वको परिणामी माना जाय तो और भी दूसरी आपत्तियां आती हैं जो मूलतत्व परही आघात करती हैं। इस आपत्तिका वारण करनेके लिये शांकर वेदांतमें माया या अज्ञानकी ओट लेकर विवर्तवाद× का स्वीकार किया गया है। परंतु यहां पर भी मूलाज्ञान या अध्यासको अनादि कह कर छोडना पडता है। स्वयं मूलाज्ञानकी उपपत्ति नहीं लग पाती और उसके विषयमें तो प्रश्न है। एक लम्बी प्रश्नमालिका का उत्तर देते देते जब अज्ञानका कारण पूछा गया तब स्वयं श्री शंकराचार्यने यही उत्तर दिया—

अज्ञानं केन भवतीति चेत् ? न केनापि। अज्ञानं नाम सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्ति। अहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्।+

इस उत्तरसे बहुतसे लोगोंका समाधान हो जाता है। परंतु ऐसे लोगोंकी संख्या भी कम नहीं जिन्हें यह उत्तर मूल प्रश्नका समाधानकारक हल मालूम न होकर प्रश्नको टालनेके समान मालूम पडता है।

स्पिनोझा इस आपत्तिसे भली भांति परिचित था। अपने 'ईश्वर, मनुष्य और उसका कल्याण' नामक ग्रंथमें उसने यह प्रश्न उठाया है। "अंतःस्थ कारणका परिणाम स्वकारणके रहते नष्ट नहीं हो सकता और अनेक वस्तुओंका नाश तो दिखाई देता है; तब ईश्वर समस्त वस्तुओंका कारण कैसे हो सकता है?" नीतिशास्त्रमें भी इस आपत्तिका उल्लेख है- "जो परिच्छिन्न और नियत अस्तित्ववान् है वह किसी भी ईश्वरीय गुणके निरपेक्ष स्वभावसे जन्य नहीं हो सकता कारण उससे जो भी कुछ उत्पन्न होता है वह नित्य और अनंत ही होता है।"* दोनों स्थलोंपर उत्तरभी एकसा दिया गया है जिसका आशय यह है कि ईश्वर अव्यवहित प्रकारोंका अत्यंत सन्निकृष्ट कारण है, परंतु व्यवहित प्रकारोंका अपनी तरहका सन्निकृष्ट कारण है, परंतु व्यक्तिगत वस्तुओं या विशिष्ट प्रकारोंका वह विप्रकृष्ट कारण है। परंतु २८ वें विधानके स्पष्टीकरणमें स्पिनोझाने इस बातकी सूचना दे रखी है कि "विप्रकृष्ट कारणसे ऐसा कारण नहीं समझना चाहिये जिसका अपने कार्यसे संबंधही न हो, क्योंकि अंततोगत्वा समस्त वस्तुएं ईश्वरमें हैं, ईश्वरपर आश्रित हैं, और ईश्वरके बिना न तो रह ही सकती हैं और न उनकी कल्पना ही की जा सकती है। अतएव विप्रकृष्टका तात्पर्य सन्निकृष्टसे भेद दिखलाने भरमें है; इसको ईश्वरसे बाहर या ईश्वरसे निरपेक्ष बतलानेमें नहीं। विशिष्ट वस्तुओंकी कारणतामें एक और भी विशेषता है। "वैयक्तिक वस्तु या सांत और अन्यावलंबी अस्तित्ववान् वस्तु तबतक न तो अस्तित्वमें आ सकती है और न कार्यमें प्रवृत्त हो सकती है जबतक वह दूसरे कारणके द्वारा जो स्वयं सांत और अन्यावलंबी हो, अपने अस्तित्व और कार्यमें निर्धारित न की जाय। ऐसे ही यह सांत और अन्यावलंबी कारण भी तब तक अस्तित्वमें नहीं आ सकता और कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, जबतक वह किसी ऐसे दूसरे कारणके द्वारा अपने अस्तित्व और कार्यमें नियत न किया जाय, जो स्वयं सांत और अन्यावलंबी हो। इसी प्रकार कार्य-कारणकी यह परंपरा अनंत है।" सारांश यह कि परिच्छिन्न वस्तुएं अन्य परिच्छिन्न वस्तुओं द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे जन्य हैं। ये परिच्छिन्न कारण असंख्य हैं और कार्य-कारणकी असंख्य परंपरासे युक्त हैं। परिच्छिन्न कारणोंकी यह अनंत परंपरा व्यवहित अनंत प्रकारमें है; व्यवहित अनंत प्रकार अव्यवहित अनंत प्रकारोंमें और अव्यवहित अनंत प्रकार गुणोंके द्वारा ईश्वरमें हैं।

अनंतसे सांतकी ओर संक्रमणके इस क्रमविन्यास और निस्सरणवादियोंके क्रमविन्यासमें, जिसका स्पिनोझाने खंडन किया था आपाततः कोई भेद नहीं। भेद इतना ही है कि इनके मत में ईश्वर केवल विचाररूप है, परंतु स्पिनोझाके मतसे वह विचार और विस्तार उभय रूप है। स्पिनोझा की दृष्टिसे परिच्छिन्न वस्तुओंकी कार्य-कारण-परंपरा अनंत है, परंतु निस्सरणवादियोंके मतमें वह सांत है। बस, शेष भेद संज्ञाओंके हैं जो गौण हैं। दोनोंके मतमें क्रमसे अभौतिक से भौतिककी उत्पत्तिमें और अनंतसे सांतकी उत्पत्तिमें मध्यवर्ती कारणोंकी एक शृंखला है जो दोनोंको जोडती है। परंतु इस प्रकारके उत्तर से तो मूल प्रश्नका समाधानकारक उत्तर नहीं मिलता। हम यह नहीं जान पाते कि परिच्छिन्नता या जड प्रकृति आई कैसे?

× विवर्तः "पूर्वरूपापरित्यागेनासत्यनानाकारप्रतिभास इति।" विवर्तवादः "अधिष्ठानस्वरूपमपरित्यज्य दोषवशाद्रूपान्तरेण प्रतीतस्य कथनम्।" + आत्मानात्मविवेक- शंकराचार्यकृत। * नी. शा. भा. १ वि. २८ पु.

प्रो. वॉल्फसनने जगत्की उत्पत्ति संबंधी भिन्न वादों- जिनमें जगन्मिथ्यात्व भी एक है- की परीक्षा करके उन्हें अग्राह्य बतलाया है× क्योंकि उनके मतानुसार उनमेंसे एक भी स्पिनोझाके मतोंसे मेल नहीं खाता। अंतमें उनने स्पिनोझा को अभिप्रेत मत देनेका प्रयत्न किया है।+ वह इस प्रकार है- "स्पिनेझाने निस्सरणवादियोंके पारिभाषिक शब्दोंका (यथा आवश्यक परिणाम, प्रकार मूल तत्वके स्वरूपकी आवश्यकतासे निकलते हैं इत्यादि) उपयोग किया है जब कि उसको बिलकुल भिन्न अर्थ विवक्षित था। निस्सरण वादियोंके मतसे ईश्वरसे बुद्धितत्वसे प्रारंभ करके परिच्छिन्न वस्तुओंमें समाप्त होनेवाली शृंखला वास्तवमें निकलती है; परंतु स्पिनोझा जब यह कहता है कि अव्यवहित प्रकार ईश्वरसे निकलते हैं तब उसे निस्सरणवादियोंकी तरह 'निकलना' विवक्षित नहीं। उसे सिर्फ इतनाही बतलाना है कि प्रकार मूल तत्वमें इसी तरह समाए हुए हैं जिस तरह अनुमायक वाक्यों (Premises) में निगमन (Conclusion) समाया हुआ रहता है, या त्रिकोणके गुणधर्म उसकी परिभाषामें रहते हैं।

स्पिनोझाके दर्शनमें अनंतसे सांतका वस्तुतः निस्सरण नहीं होता; अनंत मूलतत्व स्वभावतः ही सबको अपनेमें समाए हुए हैं। मूल तत्वसे बाहर कोई वस्तु नहीं, फिर चाहे वह परिच्छिन्न हो या अपरिच्छिन्न। अनंत मूलतत्वमें अव्यवहित अनंत प्रकार हैं, अव्यवहित अनंत प्रकार व्यवहित अनंत प्रकारोंको धारण किये हुए हैं; व्यवहित अनंत प्रकार अपनेमें असंख्याक परिच्छिन्न प्रकारोंका अंतर्भाव किये हुए हैं और परिच्छिन्न प्रकार कार्य कारणकी अनंत शृंखला द्वारा बद्ध हैं। व्यापकतम, सर्वांतर्भावी और सर्व समावेशक मूलतत्वकी इस प्रकारकी कल्पनामें ऐसा प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि अनंतसे परिच्छिन्न वस्तु आई कैसे? यह प्रश्न उतनाही अर्थशून्य है जितना कि 'मूल तत्व किस प्रकार अस्तित्वमें आया' यह प्रश्न। मूलतत्व अपने आपका स्वयंभू कारण है और स्वभावतः ही उसमें तीन श्रेणीके प्रकार रहते हैं-अव्यवहित, व्यवहित और परिच्छिन्न। वस्तुएं अस्तित्वमें किस प्रकार आती हैं इसका औचित्य सिर्फ परिच्छिन्न प्रकारोंमें हो सकता है, और स्पिनोझाके अनुसार इसका उत्तर यह है कि एक परिच्छिन्न प्रकार दूसरे परिच्छिन्न प्रकारके अस्तित्वका कारण होता है; दूसरा तीसरेके अस्तित्वका, यहांतक कि कार्य-कारणकी यह अनंत शृंखला व्यवहित और अव्यवहित प्रकारोंद्वारा अंततोगत्वा ईश्वरमेंही समाई हुई है। इस प्रकारकी विचार-प्रणालीमें कार्य-कारण भाव (Cause and effect) और हेतुहेतुमद्भाव (Ground and consequent) में अंतर नहीं; कार्यकी कारणसे कालिक उत्पत्ति नहीं।

प्रो. वोल्फसन द्वारा निदर्शित मत स्पिनोझाकी ज्यामिति पद्धतिसे मेल रखता है. इसमें संदेह नहीं, परंतु यह इतनी आसानीसे स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की व्यवस्थामें कोई कठिनाई या प्रश्न ही नहीं उठता। वेदांत मतपर दी जानेवाली प्रश्नको टालनेकी आपत्ति और भी बलवत्तर रूपसे इस प्रकारकी व्यवस्था में दी जा सकती है। साथही ऐसी अनेक आपत्तियां उपस्थित होती हैं जिनसे वेदांत मत मुक्त है। इन सबका विस्तृत विवेचन यहां संभव नहीं और इतना आवश्यक भी नहीं। प्रस्तुत हमारा उद्देश स्पिनोझा के दार्शनिक मतोंको अधिक अच्छी तरहसे समझना है। अतएव हम इस प्रश्नको बिलकुल भिन्न दृष्टिकोणसे और भिन्न प्रकाशमें देखना चाहते हैं और इस दृष्टिकोणका समर्थन हम स्पिनोझाकी आध्यात्मिक भूमिकामें ही पाते हैं। तात्त्विक विषयोंके विचारमें ज्यामिति पद्धतिके अवलंबका अधिकसे अधिक मूल्य एक प्रक्रियाका है। साथ ही हमें यह न भूलना चाहिये कि ज्यामिति-पद्धतिके अनुसार विचारकी यह प्रक्रिया एक विशिष्ट परिस्थिति और विशिष्ट कालके प्रभावसे जन्य है। तात्त्विक क्षेत्रमें प्रक्रिया सिर्फ एक साधन है जो अपने साध्य पारमार्थिक सत्य का निस्संदिग्ध ज्ञान करानेमें पर्यवसित होती है या होनी चाहिये। किसी भी प्रक्रियाका तात्पर्य स्वयंमें न होकर अपने अभीष्टकी सिद्धिमें होता है। साधनसे अधिक किसीभी प्रक्रियाका मूल्य नहीं हो सकता। इसी दृष्टिसे 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के विशाल दृष्टिकोणको रखनेवाले हमारे परमतसहिष्णु दर्शनोंमें कहा गया है—

> यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
> सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता॥
> (वार्तिककार)

इससे भी आगे बढकर हम कह सकते हैं कि किसी भी प्रक्रियाका तात्त्विक अनुभूतिसे तत्वतः कोई संबंध नहीं होता।

× Philosophy of Spinoza by Wolfson, pp. 391-397. + Ibid pp. 397-399

प्रक्रिया तो दार्शनिक अनुभूति द्वारा आकलित तत्वके बाह्य प्रकटीकरणका एक साधनमात्र है। अतएव यदि किसी भी प्रक्रियामें बाह्यतः दोष आते दिखाई पड़ें तो हमें दोषोंसे दृष्टि हटाकर उस प्रक्रियाके मूलमें रहनेवाली अनुभूतिके अंतस्तलकी थाह लेनी चाहिये, जहां उन दोषोंको कोई अवकाश नहीं।

इस संबंधमें दूसरी महत्वकी बात है प्रक्रिया द्वारा निर्धारित चरम सत्यकी दृष्टिसे समस्त वस्तुओंका मूल्यांकन या उनकी सत्ताका निर्धारण; क्योंकि तात्विक दृष्टिसे इस प्रकारका नीरक्षीर-विवेक तत्वज्ञानका प्रधान उद्देश्य है। अतएव जगदुत्पत्तिकी उपपत्ति लगानेवाली प्रक्रियाओंसे भी अधिक महत्वपूर्ण बात है जगत्की सत्ताका निर्णय या पारमार्थिक दृष्टिसे जगत्का मूल्य (Ontological status of the universe), बस, किसी भी दार्शनिक प्रक्रियाके संबंधमें येही बातें महत्वकी होती हैं। एक तो उस प्रक्रिया द्वारा निर्धारित पारमार्थिक सत्यका स्वरूप और दूसरी बात है इस पारमार्थिक सत्यके परिज्ञान द्वारा इतर समस्त वस्तुओंका सत्ताकी दृष्टिसे मूल्यमापन। इसी दृष्टिसे हमें भिन्न वादोंकी परीक्षा करके यह निर्धारित करना चाहिये कि किस प्रणालीसे स्पिनोझाके दार्शनिक विचार अधिक मिलते जुलते हैं। इस प्रश्नके उत्तरके साथही जगदुत्पत्ति-विषयक प्रश्नका हल प्राप्त करनेमें भी सहायता होगी। इसी दृष्टिसे हम प्रो. वॉल्फसनकी स्पिनोझाके संबंधमें जगन्मिथ्यात्वको अग्राह्य बतलानेवाली युक्तियोंका विचार करेंगे। अन्य वादोंको यथा उद्गमन निस्सरणवाद (Emergent Emanation), यहूदी झिमझिम (zim zum) या संकोचवाद (contraction), या प्रकृतिवादको तो स्वयं प्रो. वॉल्फसनने ही अग्राह्य बतलाया है; अतएव उनकी परीक्षाकी यहां आवश्यकता नहीं। विवाद सिर्फ स्पिनोझाके संबंधमें जगन्मिथ्यात्ववादकी ग्राह्याग्राह्यताके विषयमें है। अतएव इसी वादके विषयमें हम विचार करेंगे।

स्पिनोझाकी दृष्टिसे जगत्की सत्ताका विचार करते समय हमें उसकी आध्यात्मिक भूमिका या 'बुद्धिका सुधार' इस ग्रंथमें असंदिग्ध रूपसे प्रदर्शित उसकी दार्शनिक प्रवृत्तिके मुख्य अभीष्टको न भूलना चाहिये। स्पिनोझा केवल बौद्धिक या तार्किक विचारसे संतुष्ट होनेवाला दार्शनिक न था। यह बात ठीक है कि सुसंबद्ध शास्त्र रचनाके लिये उसे अग्रपूजाका मान प्राप्त है, तथापि इन विचारोंका मूल उसकी अध्यात्मिक अनुभूतिमें ही है। उसकी भाषा अध्यात्मका मर्म जाननेवाले अनुभवी की भाषा है। वह आध्यात्मिक अनुभूतिके अंतरंगमें प्रविष्ट था। उसका वैराग्य उत्कट था और मुमुक्षा तीव्र कोटिकी थी। वह खूब सोच विचार कर इस निश्चय पर पहुंचा था कि नित्य या शाश्वत वस्तुके चिंतनसेही हमें परम शांति मिल सकती है। नित्यताकी कसौटीपर उसने जगत्के समस्त पदार्थोंको लगाकर देखा, परंतु ईश्वरके अतिरिक्त उसे नित्य अतएव परम प्रेमास्पद कुछ भी न दिखाई दिया। इससे हम सामान्य रूपसे यह समझ सकते हैं कि वह ईश्वर और जगत्को एकही कोटिका नहीं समझता था। परंतु जगत्की सत्ताके निर्णयके लिये स्पिनोझाने इससे भी सबल प्रमाण उपस्थित किये हैं।

ईश्वरके स्वरूप और नित्यत्वके विचारमें हम देखही चुके हैं कि ईश्वर स्वरूपतः आवश्यक अस्तित्ववान् है। अतएव मूलतत्व एकही हो सकता है। जगत् मूलतत्व या दूसरे शब्दोंमें पारमार्थिक सत्य नहीं। इसी प्रकार अपने "आध्यात्मिक विचार" (Cogitata metaphysica) नामक ग्रंथमें उसने सत्ताका विचार करते समय ईश्वरको स्वरूपतः आवश्यक अस्तित्ववान् कहा है। कुछ वस्तुएं स्वकारण सापेक्ष अस्तित्व कोटिकी हैं या अपने कारणकी सत्तासेही सत्तावान् हैं। कुछ वस्तुएं स्वरूपतः असंभव हैं और शब्दमात्र हैं यथा समभुज चतुष्कोण वृत्त (Square circle) या किमीरा (Chimera) नामका असंभव प्राणी। भारतीय दर्शनमें इस अंतिम कोटिकी वस्तुओंको अत्यंत असत् या तुच्छ कहा गया है जिनका अस्तित्व कालत्रयमें नहीं, यथा शशशृंग, वंध्यापुत्र, या खपुष्प। ये सब विकल्प वृत्तिके विषय हैं, और विकल्प वृत्तिका लक्षण है-'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' यह लक्षण स्पिनोझाके असत्के लक्षणसे मिलता है। स्पिनोझाके अनुसार जगत्की स्वरूपतः आवश्यक सत्ता नहीं, वह तो एकमात्र ईश्वरकी ही है। वेदांतमें भी ब्रह्म या परमार्थवस्तु एकमात्र सत् है। स्पिनोझाका ईश्वर नितांत कालासंस्पृष्ट है, ब्रह्म भी दिक्कालाद्यनवच्छिन्न है। जगत् वेदांत और स्पिनोझा दोनोंकी दृष्टिसे त्रिकालाबाधित नहीं। स्पिनोझाकी दृष्टिसे परिच्छिन्न प्रकार तो अस्थिर और नाशवान् हैं ही। रहे अनंत और नित्य प्रकार। उनके विषयमें भी हम अधिकसे अधिक यह कह सकते हैं कि उनमें स्थायित्व है, वह नित्यत्व नहीं जो ईश्वरका है। वेदांतमेंभी स्वर्गादि या ब्रह्मादिको आप्रलय स्थायित्व है, परंतु त्रिकालाबाध्यत्व या नित्यत्व नहीं। उसी प्रकार वेदांत और स्पिनोझा दोनोंकी दृष्टिसे जगत् असत्

*

या शशशृंग या समभुज चतुष्कोण वृत्तकी तरह नहीं। स्पिनोझा के मनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोणके लिये पर्याप्त आदर था, अतएव वह जगत्को असत् नहीं कह सकता था। वेदांतमें भी समस्त विचार अनुभव अविरोधी होनेसे जगत् असत् नहीं। इस प्रकार वेदांत और स्पिनोझाके दर्शन दोनोंमें जगत् जहां एक ओर सद्विलक्षण है, वहां दूसरी ओर वह असद्विलक्षण भी है। जगत्की सत्ता व्यावहारिक है। व्यवहार दशामें जगत् सत्य ही है, उसको 'ब्रह्मज्ञानेतर अबाध्यत्व' है× क्योंकि बंध मोक्षकी उपपत्ति वेदांत और स्पिनोझा उभयत्र जगत्के इसी व्यावहारिक सत्यको लेकर की गई है। परंतु दोनों जगह व्यावहारिक सत्य मानेही पारमार्थिक सत्य नहीं। ठीक यही तो वेदांतका विवक्षित मिथ्यात्व है।

अब हम यह देखेंगे कि प्रो. वॉल्फसन द्वारा स्पिनोझाके दर्शनमें जगन्मिथ्यात्वके विरुद्ध उद्भावित आपत्तियां इस मिथ्यात्वके प्रतिकूल न होकर इसके अनुकूल ही हैं; या दूसरे शब्दोंमें बाधक तथा उपस्थापित प्रमाण उपर्युक्त पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त मिथ्यात्वके साधक ही हैं। प्रो. वॉल्फसनके पक्षमें हम अभी इतना कह सकते हैं कि उनकी आपत्तियां इलियाटिक दार्शनिकों (Eleatics) और विभिन्न पाश्चात्य प्रत्ययवादी (Idealists) दार्शनिकोंको सम्मत जगद्भ्रम या मिथ्यात्वके विरुद्ध हैं। इनकी परीक्षा स्थलसंकोचके कारण अभी नहीं की जा सकती। अभी हमें सिर्फ इतना ही दिखलाना है कि वेदांतके जगन्मिथ्यात्व और सर्वेश्वरवाद तथा स्पिनोझाके जगत्की सत्ता-विषयक मत और सर्वेश्वरवादमें अधिक अंतर नहीं। प्रो. वॉल्फसन परिच्छिन्न प्रकारोंके मिथ्यात्वके विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह देते हैं कि स्पिनोझा ईश्वरीय गुणोंको तो बुद्धि सापेक्ष कहता है, परंतु प्रकारोंका अस्तित्व स्वयं मूल तत्वकी तरह हमारे मनसे बाहर वास्तविक बतलाता है। परंतु वह "मूलतत्वकी सत्यता और प्रकारोंकी सत्यतामें भेद सिर्फ इतनाही बतलाता है कि मूल तत्वकी सत्यता स्वरूपकी आवश्यकताके कारण है जब कि प्रकारोंकी सत्यता मूल तत्वके अस्तित्वके कारण। परिच्छिन्न प्रकार उसके लिये अनंत और नित्य प्रकारोंसे किसी तरह कम सत्य नहीं।"

"He considered the modes as something having reality outside the mind like substance itself, and as being unlike the attributes which he considered only as aspects under which substance appears to our mind. The only difference that Spinoza finds between the reality of substance and the reality of modes is that the former is one to the necessity of its own nature whereas the latter is one to the existence of substance. The finite modes are no less real to him than the infinite and eternal modes." *

हमें इस संबंधमें यह कहना है कि जिस भेदको प्रो. वॉल्फसन इतना नगण्य समझते हैं, उसी भेदसे मूलतत्वको जहां एक ओर पारमार्थिक सत्यता प्राप्त होती है, वहां दूसरी ओर इसी आपाततः नगण्य दीखनेवाले भेदसे केवल परिच्छिन्न प्रकारोंको ही नहीं, किंतु अनंत और नित्य कहे जानेवाले प्रकारोंको भी वेदांतका विवक्षित मिथ्यात्व प्राप्त होता है। यह परमार्थ वस्तुके और जगत्के स्वरूपकी ओर देखनेसे स्पष्ट ही है। जो अपनी सत्ता या अस्तित्वके लिये पराश्रित है वह परमार्थ सत् नहीं, असत् भी नहीं; इसलिये बलात् सदसद्विलक्षण या मिथ्या है। मिथ्या कहने मात्रसे इसकी व्यावहारिक सत्ता का निषेध नहीं होता, यह न भूलना चाहिये।

'मिथ्यात्व' से प्रायः अच्छे अच्छे विचारक चमक उठते हैं, कारण वे मिथ्यात्वसे उसके आपाततः दीखनेवाले अर्थ असत् को समझ बैठते हैं। वेदांतमें जगत्की व्यावहारिक सत्ताका निषेध नहीं किया गया है। निषेध सिर्फ उसकी पारमार्थिक सत्ताका है। वेदांतदर्शनका तात्पर्य जगन्मिथ्यात्वमें न होकर ब्रह्मसत्यत्वमें है। वेदांत हमें अपने आपको सांतसे अनंतकी ओर, परिच्छिन्नसे अपरिच्छिन्नकी ओर ले जानेका मार्ग बतलाता है। और स्पिनोझाके 'नीतिशास्त्र' का तात्पर्य यदि हम कुछ समझ सके हैं तो वह वेदांतकी इस शिक्षासे अधिक दूर नहीं। स्पिनोझाको 'ईश्वर प्रेमोन्मत्त' (God intoxicated) कहनेका अर्थ भी हम यही समझते हैं। स्पिनोझा

× "देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः। लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्।"

* The Phil. of Spinoza, vol. I, p. 393

के अधिकतर आलोचकोंने यह कहा है कि स्पिनोझा जगत् को असत्य नहीं कह सकता, कारण बंध मोक्षके लिये ही उसे जगत्को सत्य मानना पडेगा। इसका अर्थ हम सिर्फ इतना ही समझते हैं कि स्पिनोझा जगत् की व्यावहारिक सत्ताका निषेध नहीं करता। परंतु स्पिनोझाका एक भी आलोचक यह नहीं कह सकता कि स्पिनोझाकी दृष्टिसे जगत् की सत्ता उसी कोटिकी है जिस कोटिकी परमार्थ वस्तु की सत्ता।

अब आप कहेंगे कि स्पिनोझा सर्वेश्वरवादी है, परंतु वेदांतमें तो जगन्मिथ्यात्ववादका पुरस्कार किया गया है। इसके संबंधमें हम इतना ही कहना चाहते हैं कि वेदांत भी परा-कोटिका सर्वेश्वरवाद है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' 'आत्मैवेदं सर्वं' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' इत्यादि ऐसे अनेक वाक्य हैं जो शुद्ध सर्वेश्वरवादका प्रतिपादन करते हैं। प्रखर अद्वैत (Rigorous Monism) स्पिनोझा और वेदांत दोनोंको सम्मत है। वेदांतमें भी ब्रह्मकी सत्ता ही जगत्की सत्ता है। ब्रह्म ही जगत्का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। ब्रह्म ही जगत् रूपसे परिणत हुआ है। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय ब्रह्ममें ही है। परंतु ब्रह्मका शुद्ध स्वरूप बनाए रखनेके लिये ब्रह्मकी जग-द्रूपमें इस परिणतिकी उपपत्ति विवर्तवादके द्वारा की गई है, जिससे जहां एक ओर अधिष्ठानकी सत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है, वहां दूसरी ओर जगदुत्पत्तिकी भी उपपत्ति लग जाती है। इस तरहसे सर्वेश्वरवाद और जगन्मिथ्यात्ववादका विरोध नहीं। वेदांतका ब्रह्म और स्पिनोझाका मूलतत्व ही जगत् हुआ है, यह निर्विवाद है। विवाद सिर्फ इस बातमें है कि वह किस प्रकार हुआ है। वेदांत कहता है कि विवर्तरूपसे या पद्धतिसे; स्पिनोझा कहता है कि ज्यामिति पद्धतिसे।

हम पहिलेही बतला चुके हैं कि प्रक्रियामें हमारा तात्पर्य नहीं। अतएव हमारे सम्मुख प्रश्न इतना ही है कि क्या हम स्पिनोझाके दार्शनिक विचारोंकी सुसंगति बनाए रखते हुए भी उसकी दृष्टिसे विवर्तवादको समर्थनीय बतला सकते हैं? शायद थोडी बहुत खींचातानी करनी पडे जो प्रायः स्पिनोझा के प्रत्येक आलोचकको किसी न किसी रूपमें करनी पडी है, क्योंकि स्पिनोझाके विचार जैसे चाहिये वैसे निस्संदिग्ध नहीं हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि वेदांतकी पूरी प्रक्रिया केवल स्पिनोझा में ही नहीं, किंतु अन्यत्र कहीं भी पाना दुर्लभ है। परंतु यह बात तो सभी प्रक्रियाओंके संबंधमें कही जा सकती है। परंतु हम इतना कह सकते हैं कि परमार्थ वस्तुका जैसा स्वरूप हम स्पिनोझामें पाते हैं उसके अनुरूप वाद तो उसके विचारोंका अधिक सुसंगत रूपसे अर्थ लगानेकी दृष्टिसे विवर्त पद्धतिका सर्वेश्वरवादही हो सकता है। यहांपर हमें स्पिनोझाकी ज्यामिति-पद्धतिके अनुसार प्रतिपादित जगद्व्यवस्थाको एक ओर रखकर उसके अनुभवमें इस वादके अनुकूल संकेत ढूंढने चाहियें; क्योंकि स्पिनोझाके संबंधमें यह कहा गया है कि उसके अनुभव जिस तरहके थे उनको व्यक्त करनेकी पद्धति उनके अनुरूप नहीं थी। परंतु यदि अनुभवीका अनुभव अपना कुछ मूल रखता है, विशेष कर आध्यात्मिक क्षेत्रमें तो उसके सच्चे विचारोंका मर्म हमें इसी अनुभवमें ढूंढना चाहिये। प्रक्रिया बाहरी चीज है जो कृत्रिम बंधनोंमें विचरण करती है, परंतु अनुभव समस्त बंधनोंसे ऊपर उठकर वस्तुस्वरूपका यथार्थ आकलन करता है, इसीलिये वह अनुभवीके अंतस्तलका सच्चा प्रतिबिंब होता है। स्पिनोझाके इस अनुभवको ध्यानमें रखकर हम यह कह सकते हैं कि यह अनुभव वेदांत सिद्धांतसे विशेष दूर नहीं। वैसे तो आध्यात्मिक अनुभवके संबंधमें यह कहा गया है कि समस्त अनुभवी एकही भाषा बोलते हैं। इस संबंधमें पहिली बात जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह यह कि गुण बुद्धि द्वारा आरोपित हैं। समस्त प्रकार इन्हीं गुणोंके परिणाम। अतएव क्या ये भी उतनेही आरोपित या कल्पित नहीं? यदि नहीं तो क्या यह अर्धजरती न्याय नहीं है? यदि प्रकार भी कल्पित माने जायँ तब ज्यामिति–पद्धति शब्दमात्र रह जाती है और इसके स्थानपर विवर्तवादही आ जाता है, कारण ज्यामिति-पद्धतिकी आवश्यकता भी उतनीही बुद्धिगत (Subjective) या कल्पित होगी। परंतु यह विषय विवाद्य होनेसे हम अधिक निश्चयात्मक संकेत देखें।

यह निश्चयात्मक संकेत हमें स्पिनोझा द्वारा प्रदर्शित ज्ञानके तीन प्रकारोंमें मिलता है, जिनका विचार अगले खंडमें किया जायगा। प्रथम प्रकारके या अविचारित सिद्ध ज्ञानमें हम जगत्की वस्तुओंको उनके कारणसे स्वतंत्र समझते हैं; परंतु यह ज्ञान सदोष अतएव त्याज्य है। द्वितीय प्रकारके ज्ञानमें हम विवेकका आश्रय लेकर वस्तुओंको उनके यथार्थ रूपमें देखने लगते हैं, तथापि यह ज्ञान परोक्ष होता है। तृतीय

प्रकारका ज्ञान अंतःप्रज्ञात्मक है और यही सबसे अधिक प्रमाण-भूत भी है। इस अपरोक्ष, अव्यवहित ज्ञानको पाते ही हम 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' देखने लगते हैं। यह ज्ञान वह पूर्णातिपूर्ण तत्वसाक्षात्कार है जिसके प्राप्त होते ही हम परा शांतिको प्राप्त हो जाते हैं।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।+ या
नैतद्विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥ ×

वेदांतमें भी ज्ञानके तीन प्रकारोंके अनुसार जगत्कारण माया का तीन प्रकारसे बोध कहा गया है। लौकिक दृष्टिसे वह सत्य है। परंतु यह ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त, सदोष और त्याज्य है। यौक्तिक दृष्टिसे वह अनिर्वचनीय है। यह ज्ञान यथार्थ है लेकिन परोक्ष अतएव मध्यम श्रेणीका है। श्रौत दृष्टिसे वह कालत्रयमें असती या तुच्छा है। यह बोधतत्व वस्तुके अपरोक्ष साक्षात्कारके अनंतर ही होता है। यही प्रमाण भूत चरम दृष्टि है।

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः ॥
(पंचदशी ६।१३०)

इस चरम दृष्टिके अनुसार जगत्के स्वरूपका निर्णय सचा निर्णय है। इस दृष्टिके द्वारा परमार्थ वस्तुका ज्ञान होनेपर कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता। समस्त प्रश्न इसके पहिले अज्ञानकी दशामें उत्पन्न होते हैं।

परंतु चरम दृष्टिका यह निर्णय स्पिनोझाके अधिकांश विद्वान् आलोचकोंको मान्य नहीं। बिना अनुभवके मान्य होना भी तो कठिन है। सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेगेल (Hegel) को इस बातका श्रेय है कि उसने स्पिनोझाके दर्शनको नास्तिकवाद कहनेवाले जाकोबी (Jacobi) के विरुद्ध आवाज उठाकर उसे जगन्मिथ्यात्ववाद (Acosmism) कहा। परंतु यह कहकर भी हेगेल और स्पिनोझाके अधिकतर आलोचकोंने हेगेलका अनुसरण करके मूल तत्व और प्रकारोंके संबंधमें दोष दिखलानेके लिये उस रूपकका हवाला दिया है जिसमें उसने स्पिनोझाके मूलतत्वको शेरकी वह गुफा कहा है जिसकी ओर सब पदचिह्न ले जाते हैं; परंतु जहांसे एक भी वापिस लौटकर नहीं आता।

"Spinoza's absolute is the lion's den to which all tracks lead and from which none return."

इनका इस रूपकसे मुख्य आशय यह है कि प्रकारोंका अस्तित्व और आकलन बिना मूल तत्व के नहीं हो सकता, यह तो ठीक है, परंतु मूल तत्वसे प्रकारोंकी उत्पत्तिमें हम वह आवश्यकता नहीं पाते जो आवश्यकता प्रकारोंके लिये मूल तत्वकी है। इस प्रकार प्रकारादि सब मूलतत्वमें पर्यवासित होकर रह जाते हैं। इस विषयमें स्पिनोझाके पक्षमें हम यह कह सकते हैं कि समस्त दर्शनशास्त्रका ध्येय मूल तत्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही है। नामरूपात्मक जगत्से तो हमारे विचारका प्रारंभ होता है, परंतु जब हम हमारे दार्शनिक विचारके चरम लक्ष्य मूल तत्व तक पहुंच जाते हैं, तब सब विचार विराम पा जाते हैं। उस चरम स्थितिसे फिर लौटने की जरूरत ही नहीं। जब हम बौद्धिक विचारसे ऊपर उठकर अनुभवके क्षेत्रमें प्रवेश करते हैं, तब जैसे जैसे हमारा परमार्थ वस्तुविषयक ज्ञान बढता जाता है, वैसे वैसे हमारे समस्त अज्ञानकालीन संशयादि दूर होते जाते हैं; यहांतक कि परमार्थ वस्तुका साक्षात्कार होते ही—

भिद्यते हृदय-ग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

यह अवस्था प्राप्त हो जाती है। इसका मर्म अनुभवी ही जान सकते हैं। स्पिनोझा अपनी इस आध्यात्मिक अनुभूतिके बलपर परमार्थ वस्तुके विषयमें निस्संदिग्ध हो चुका था। अतएव केवल बौद्धिक धरातल पर उत्पन्न होनेवाले प्रश्न उसके मनमें कुछ विकल्प उत्पन्न नहीं कर सकते थे। इस दृष्टिसे समस्त प्रक्रियाओंका मूल्य अज्ञानावस्थामें ही है और उनकी सार्थकता परमार्थ वस्तुका निश्चय करा देनेमें ही है। अज्ञानावस्था में या वैचारिक धरातल पर तो स्पिनोझा प्रकारोंकी मूल तत्वसे ज्यामिति-पद्धतिका आश्रय लेकर उपपत्ति करता ही है। यह विचारप्रणाली हमारे यहां इतनी सुपरिचित है कि इसमें हमें आपत्तिजनक कुछ भी नहीं मालूम होता। परंतु पाश्चात्य देशोंकी विचारप्रणाली हमारी विचारप्रणालीसे भिन्न

+ श्रीमद्भगवद्गीता अ० ७, उत्तरार्ध श्लोक २ × श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अ० २९ श्लोक ३२

तरहकी होनेसे वहां यह प्रश्न इतनी तीव्रतासे उपस्थित हो तो इसमें विशेष आश्चर्य नहीं।

अर्डमान (Erdmann) प्रभृति कुछ आलोचकोंने प्रकारोंका मूल तत्वसे वही संबंध बतलाया है जो समुद्र और उसकी तरंगोंमें है। प्रकारोंका अस्तित्व मूल तत्वमें उसी प्रकार है जिस प्रकार विशिष्ट लहरोंका अस्तित्व समुद्रमें। प्रकारोंका ज्ञान मूल तत्वसे उसी प्रकार होता है जिस प्रकार लहरोंका स्वरूप समुद्रके द्वारा जाना जाता है। इस दृष्टांतका उपयोग भगवान् श्री शंकराचार्यने भी किया है। इस दृष्टांतसे भी हेगेलके उपर्युक्त रूपकके अतिरिक्त, स्पिनोझाका अद्वैत मत समझनेमें पर्याप्त सहायता होगी। कुछ आलोचकोंकी दृष्टिसे यह दृष्टांत भी उचित नहीं, क्योंकि वे प्रकारोंको सत्य समझते हैं, परंतु प्रकार पारमार्थिक सत्य नहीं, यह तो हम देख ही चुके हैं।

वैचारिक दृष्टिसे स्पिनोझाकी प्रक्रिया सर्वथा निर्दोष है, यह बात नहीं।

"So that the boldest speculative system leaves behind it unanswered questions" अर्थात् "इस प्रकार इस अत्यंत साहसपूर्ण वैचारिक रचनानेभी (स्पिनोझाका दर्शन) अपने पीछे अनुत्तरित प्रश्न छोडे हैं" परंतु हमारा सवाल यह है कि ऐसी कौनसी प्रक्रिया या वैचारिक रचना है जिसने एक भी प्रश्न अनुत्तरित नहीं छोडा है और जिससे सबका समाधान हो जाता ? हमें देखना सिर्फ इतना ही है कि इन त्रुटियोंके कारण उसका मूल उद्देश तो विफल नहीं होता ? इस संबंधमें भी निर्णय सुन लीजिये।

These objections against Spinoza's system however, do not affect his fundamental endeavour, nor the main tendency of his thought, but are for the most part occasioned by the dogmatic procedure which he adopted."

अर्थात् "तथापि स्पिनोझाकी रचनाके विरुद्ध ये आपत्तियां न तो उसके मूलभूत प्रयत्न (अद्वैत) में और न उसके विचार की मुख्य प्रवृत्ति में ही कोई बाधा पहुंचाती हैं परंतु जिस आग्रहात्मक पद्धतिका उसने अंगीकार किया उसके कारण ये उपस्थित होती हैं" इस संबंधमें इससे अधिक कुछ कहना निरर्थक है।

इस लंबी चर्चाके बाद पुनश्च हम अपने मूल विषयकी ओर बढते हैं। अनंत प्रकारोंसे अगणित सांत प्रकार उत्पन्न होते हैं। 'विचार'के सांत प्रकार विशिष्ट व्यक्तियोंमें दीख पडनेवाली विशेष विशेष बुद्धियां और इच्छाएं हैं। बुद्धि स्वयं अनंत होते हुए भी उसके विशिष्ट रूप अनित्य हैं। विस्तारके अनंत प्रकार गति और स्थिति तो नित्य हैं परंतु उत्पत्ति, स्थिति, तथा नाशमान पिंडोंमें दिखाई देनेवाली विशिष्ट गति या हलचल या स्थिति ये सब विस्तारके सांत प्रकार अनित्य हैं। बुद्धि, गति या स्थिति स्वयं अविनाशी और चिरस्थायी हैं, परंतु उनके विशिष्ट आविर्भाव तिरोभाव अनित्य हैं।

अनंत और सांत, नित्य और अनित्य प्रकार अपने अस्तित्व, तत्व और क्रियादिमें ईश्वरद्वारा निर्धारित हैं। इसलिये वि. २९में स्पिनोझा कहता है, "प्रकृतिमें आकस्मिक या यादृच्छिक कुछ भी नहीं है। समस्त वस्तुएं अपने अस्तित्व और व्यापारादिमें एक नियत रूपसे दैवी स्वभावकी आवश्यकता द्वारा निर्धारित हैं।"

इस विधानके प्रमाण और स्पष्टीकरणमें तीन बातोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया गया है- (१) संयोग या यदृच्छाका निषेध या आकस्मिक वस्तुओंका निषेध अर्थात् उन वस्तुओंका निषेध जिनका कोई कारण नहीं। (२) चूंकि निसर्गमें यदृच्छाका अभाव है और प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व और कार्यमें किसी कारण द्वारा अवधारित है, अतएव प्रकृतिमें स्वतंत्रताका अभाव है। स्वतंत्रता यहांपर अपने परिभाषिक अर्थमें विवक्षित है जिस के अनुसार स्वतंत्र वही है जो अपने अस्तित्व और कार्यके लिये स्वभावतःही अन्यकारणनिरपेक्ष है। (३) निसर्गस्थ समस्त कारणोंका मूल या आदिकारण एकही है और वह है दैवी स्वभावकी आवश्यकता। अंतमें स्पिनोझा उपसंहाररूपसे यावत् प्रकारोंका, परिच्छिन्न, अपरिच्छिन्न, व्यवहित, अव्यवहित इ. का विरोध मूल तत्व और उसके गुणोंसे यह कहकर बतलाता है कि प्रकार सृजित रूप हैं (Natura Naturata) और गुण स्रष्टा या सृजनशील हैं (Natura Naturans)।

[प्रकरण ११]

आवश्यकता और निष्प्रयोजनता ।

पिछले प्रकरणके अंतमें कही हुई बातें यथा निसर्गमें आकस्मिकताका अभाव, प्रत्येक वस्तुका कारणद्वारा निर्धारित होना, और सब कारणोंका मूल ईश्वरमें होना मध्ययुगीन दार्शनिक भी स्वीकार करते; परंतु साथही वे दो ऐसी बातें मानते हैं जिनका स्पिनोझाने भरसक खंडन किया है। ये दो बातें हैं-(१) ईश्वरीय कारणतामें योजनाका होना और मानवीय कार्योंमें किसी हदतक इच्छा स्वातंत्र्य। अगले सात विधानों तथा परिशिष्टमें स्पिनोझानें ईश्वरमें किसी भी प्रकारकी योजनाको असमर्थनीय बतलाया है और मानवीय इच्छा-स्वातंत्र्यका खंडन द्वितीय भागके अंतिम दो विधानोंमें किया है (इस निबंधका १६ वां प्रकरण)। मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी दृष्टिसे ईश्वरीय योजनाके वाचक शब्द हैं जीवित्व (life), ज्ञान (knowledge), इच्छा (will), शक्ति (power) इ.। इन्हीं शब्दोंको लेकर स्पिनोझाने ईश्वरीय कृतिको योजना रहित और आवश्यक बतलाया है। १७ वें विधानमें इस प्रकारके खंडनकी दिशा बतलाई जा चुकी है। फिर इन्हीं शब्दोंका अपना अर्थ देकर स्पिनोझा पुनश्च ईश्वरीय कृतिको आवश्यक सिद्ध करता है। यही विधान ३०-३४ का विषय है।

स्पिनोझा जीवित्व (life) का अंतर्भाव शक्तिमेंही करके तीन शब्दोंका विचार करता है। १७ वें विधानमें उसने तीनों शब्दोंकी ईश्वरीय स्वरूपमें एकता होनेसे ईश्वरीय कृतिको आवश्यक बतलाया था। प्रस्तुत स्थलमें उसने अपने विपक्षियों की धारणाओंका सयुक्तिक खंडन किया है। इस खंडनकी प्रथम युक्ति यह है कि ये तीनों शब्द एकही श्रेणीके नहीं हैं। शक्ति तो ईश्वर-स्वरूप है, परंतु इच्छा और बुद्धि ईश्वरके प्रकार मात्र हैं। ये दोनों विचाररूप ईश्वरीय गुणके अव्यवहित प्रकार हैं। बुद्धि विचारका प्रकार होनेसे वह ईश्वरीय तत्वका आकलन नहीं कर सकती। अतएव उसके ज्ञानके विषय ईश्वरीय गुण और उसके परिणाम हैं। इसी आशयसे वि. ३० में स्पिनोझा कहता है—

" क्रियात्मक बुद्धि, चाहे वह सांत हो या अनंत, ईश्वरीय गुण और गुण परिणाम मात्रका आकलन कर सकती है, अन्य किसीका नहीं।" बुद्धिको ' क्रियात्मक ' यह विशेषण देकर स्पिनोझाने मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी क्रियामें अप्रवृत्त किंतु क्रिया की संभाव्य शक्तिसे युक्त बुद्धि (potential intellect) का निषेध सूचित किया है। स्पिनोझाके मतसे क्रियाशील बुद्धि शक्तिका ही नाम बुद्धि है।

" I do not here by speaking of intellect in function admit that there is such a thing as intellect in potentiality. "+

बुद्धि और इच्छा प्रकार होनेसे सृजित कोटि की हैं, परंतु शक्ति ईश्वरीय तत्वसे अभिन्न होनेसे सृष्टा कोटि प्रविष्ट है। " कार्यमें रत बुद्धि (Intellect in function) चाहे सांत हो या अनंत, इच्छा कामना प्रेमादि के सहित सृजित शक्ति से ही संबंधित है न कि सृजनशील शक्ति से।" इच्छा का ईश्वरीय स्वरूपमें निषेध और उसकी प्रकारोंकी कोटि में गणना करनेका पर्यवसान मध्ययुगीन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय इच्छास्वातंत्र्यके निषेध में होता है। ईश्वरको सच्चे अर्थमें स्वतंत्र मानते हुए भी स्पिनोझाके मत से यह स्वतंत्रता इच्छाकी स्वतंत्रता नहीं कही जा सकती, कारण इच्छा ईश्वरीय तत्वसे बहिर्भूत है। वि. ३२ में ईश्वरमें इच्छाका असंभव बतलाया गया है- " इच्छाको स्वतंत्र कारण नहीं कहा जा सकता; वह तो सिर्फ आवश्यक कारण है।" इच्छा तो बुद्धिके समान अनंत अव्यवहित प्रकार मात्र है जो अपने कारण विचारका परिणाम है। विचारका प्रकार होनेसे वह अपने कारण विचार द्वारा उसी प्रकार निर्धारित है जिस प्रकार किसी व्यक्तिकी परिच्छिन्न इच्छा एक अनंत कारण परंपरा द्वारा निर्धारित है। अपनेसे बाह्य कारणवान् होनेसे ही इच्छाको स्वतंत्र कारण नहीं कहा जा सकता; उसे तो आवश्यक ही कहा जा सकता है।

+ १ नी. शा. भा. वि.३१स्प.

दिया ! बादमें ह० मुहम्मद साहिबने इसे यहांतक अपनाया कि अरब तथा ईरानमें स्त्रियें भी खतना करवाकर खातूने कहलाने लगीं ! ! भारतीय विजयके बाद हिन्दुओं द्वारा असभ्य कहलाये जानेके डरसे मुसलमान बादशाहोंने स्त्रियोंका खतना करवाना छोड दिया और केवल पुरुषोंका जारी रखा ! ! ! इसी प्रकार लिंगायत जातिने भी पडोसी हिन्दुओंके कारण पुरुषोंका खतना कराना बंद कर दिया होगा ।

ऐतिहासिक प्रमाण— यदि न्यायदर्शन तथा वेदान्त दर्शनके भाष्यकार और काम सूत्रोंके रचयिता एक ही वात्स्यायन ऋषि हैं, तो वे महाभारतकार व्यास ऋषिके समकालीन थे । युधिष्ठिरके राज्याभिषेकसे जो युधिष्ठिरी सम्वत आरंभ हुआ उसका आज सन १९४४ में ५०४४ वां वर्ष है । यहूदियोंने जो अपना संवत सृष्ट्युत्पत्ति या ह० आदमकी उत्पत्तिसे आरंभ किया है, उसका आज ५१४८ वां वर्ष है । [पं० लेखराम कृत तारीखे दुनियाके आधार पर ।] इससे भी भारतीय लिंगायतोंका यहूदियोंका पूर्वज होना सिद्ध हो सकता है । कैसे ? कन्कार्डेन्स के अनुसार यहूदी जातीको उत्पन्न करनेवाले तथा उनमें खतना की प्रथा स्थापित करनेवाले ह० इब्राहीम थे, जो आजसे ३९४० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए और ३७६५ में स्वर्गवास हुए । अधिक आश्चर्य इस बातका है इब्राहीम (बाइबलका अब्रहम), तथा उनकी पत्नी सारा दोनों क्रमशः ब्रह्मा और सारा संस्कृत शब्द हैं !!

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.

मार्गशीर्ष सं. २००१
दिसंबर १९४४

विषयसूची।

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

सहसंपादक
पं. दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।

क्रमांक ३००

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

पुस्तक	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद-संहिता	मू. ५)	डा.व्य. १)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद "	३)	।॥)
४ अथर्ववेद "	५)	१)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
६ मैत्रायणी सं०	५)	१)
७ काठक सं०	५)	१)
८ दैवत-संहिता १ म भाग	५)	१॥)
मरुद्देवता-(पदपाठ, अन्वय, अर्थ)		
१ समन्वय, मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	मू. ६)	१॥)
२ मंत्र-संग्रह तथा हिंदी अनुवाद	४)	१)
३ हिंदी अनुवाद	३)	॥।)
४ मंत्रसमन्वय तथा मंत्रसूची	३)	॥)
संपूर्ण महाभारत	६५)	
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
संपूर्ण वाल्मीकि रामायण	३०)	६।)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
गीता-समन्वय	१॥)	॥)
,, श्लोकार्धसूची	।=)	=)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।	२४)	४॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
छूत और अछूत (१-२ भाग)	१॥।)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ वै. प्राणविद्या ।	॥)	=)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ योगसाधनकी तैयारी ।	१)	।-)
५ सूर्यभेदन-व्यायाम	॥।)	=)
यजुर्वेद अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)
वैदिक संपत्ति (समाप्त है)	६)	१।)
अक्षरविज्ञान	१)	।=)

पुस्तक	मूल्य	डा.व्य.
देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	॥।)
३ देवताविचार	≡)	≡)
४ अग्निविद्या	१॥)	१।)
बालकधर्मशिक्षा		
१ भाग १ -) तथा भाग २ =)		=)
२ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	॥।)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
९ वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
१० वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
११ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१२ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१३ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
उपनिषद्-माला।		
१ ईशोपनिषद् १) २ केन उपनिषद् १।)		।-)
१ वेदपरिचय- (परीक्षाकी पाठविधि)		
१ भाग १ ला	१॥)	॥)
२ ,, २ रा	१)	॥)
३ ,, ३ रा	१)	॥)
२ वेदप्रवेश (परीक्षाकी पाठविधि)	४)	॥।)
३ गीता-लेखमाला ५ भाग	४)	१॥)
४ गीता-समीक्षा	=)	-)
५ सायानन्दी भगवद्गीता भाग १	१)	।=)
६ सूर्य-नमस्कार	॥)	=)
७ ऋगर्थ-दीपिका (पं. जयदेव शर्मा)	३)	॥)
८ Sun Adoration	१)	।=)

क्रमाङ्क ३००

वर्ष २५ : : : : अङ्क १२

मार्गशीर्ष संवत् २००१

दिसँबर १९४४

मानवके कर्तव्य

परि चिन्मर्तो द्रविणं ममन्याहृतस्य पथा नमसा विवासेत् ।
उत स्वेन क्रतुना सं वदेत श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात् ॥

(ऋ. १०।३१।२)

" मनुष्यको चाहिये कि वह द्रव्यार्जन करनेके सभी मार्गोंपर पूर्णतया सोचते हुए मनन करने लगे तथा नम्र हो अटल सत्य नियम एवं यज्ञके अनुकूल जनसेवा करना प्रारंभ करे और अपने कार्यकलापके बारेमें जनताके सम्मुख भलीभाँति भाषण करले पश्चात् शाश्वत हितकारक बलका मनःपूर्वक स्वीकार करे " अर्थात् आर्थिक प्रगतिके संबंधमें विचार करता हुआ मानव जनता जनार्दनकी सेवा करके कर्मण्य बने तथा जिससे आत्यन्तिक कल्याण हो जाय ऐसी शक्तिका संचय करता रहे ।

अपनी आर्थिक दशा सदैव समाधानकारक ढंगसे प्रगतिशील रहे तथा निर्धन दशामें रहनेका मौका कभी न आ जाय इसलिए हर मानवके लिए यह अनिवार्य है कि वह धन पानेके जितने भी तरीके हों उन पर भलीभाँति सोचले तथा जो मार्ग धनाढ्य बननेमें सहायक प्रतीत हो उसका अनुसरण करे। जब यथेष्ट वैभव एवं धनके बटोरनेमें उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हो तो वह जनसेवाके अनिवार्य एवं गुरुतर कार्यभार की पूर्तिमें तन मन धनसे जुट जाय। विविध यज्ञ प्रवर्तित करके अटल सत्य नियमोंका भंग न होनेपाय इस ढंगसे अपनेसे जो बडे हों उनका सत्कार, जो अपने समकक्ष हों उनसे हिल मिलकर रहना तथा जो निम्न श्रेणीके हों उन्हें दान देना सतत जारी रखे। इस प्रकार वैभवशाली बनकर वह नम्रतापूर्वक लोक-सेवामें निरत रहे, कभी गर्वोद्धत न बने। अपना कोई कार्यक्रम तैयार करके या अपने वैशिष्ट्यपूर्ण कार्यको संपूर्ण करके वह जनताके सम्मुख भलीभाँति संभाषण करले अर्थात् कर्मण्यतापूर्वक वावदूक बननेका प्रयत्न करे, कार्य कुछ भी नहीं किन्तु सुदीर्घ वक्तृता झाडनेमें निरत ऐसी दशा न होनेपाय। जिस बलके प्राप्त करनेसे वास्तविक हित हो, न केवल प्रारंभमें ही किन्तु अन्तमें भी कल्याण हो ऐसा बल मानवको मनःपूर्वक स्वीकारना चाहिये। जो शक्ति, जो सामर्थ्य प्रथमतः हितका आभास मात्र देदे लेकिन अन्तमें हानिकारक ठहरे उसका स्वीकार मानवको नहीं करना चाहिये।

आधुनिक युगमें वेदका अध्ययन और
दैवत-संहिताका महत्त्व

प्रायः देखा जाता है कि नव्यशिक्षित तथा आधुनिक वैज्ञानिक युगसे प्रभावित जनता वेदके अध्ययनको निरुप-युक्त एवं अनावश्यक मानने लगी है। शिक्षित समुदायमें वेदमें प्रदर्शित विचारधाराकी ओर घोर उपेक्षाभाव दीख पडता है और आंग्लविद्याविभूषित विद्वन्मण्डलीमें यह धारणा प्रचलित है कि आधुनिक, प्रगतिशील एवं दूरगामी उथलपुथलसे प्रतिपल प्रभावित मानवसमुदायको भला वेद-सदृश अतिप्राचीन युगके अवशेष रूप साहित्यके पढ लेनेसे क्या लाभ हो सकता है। वेदको पढकर उसमें प्रदर्शित जीवनविषयक दृष्टिबिन्दु तथा विचारप्रवाहको भलीभाँति समझलेनेकी आशा करना दुराशामात्र एवं व्यर्थकी माथा-पच्ची नहीं तो और क्या है; क्योंकि साधारणतया ऐसी कल्पना प्रचलित है कि वेदाध्ययन नितान्त क्लिष्ट तथा वेद-संहिताएँ बडी दुरूह हैं।

यद्यपि यह सच है कि पदावलीकी दुर्बोधता एवं किन्हीं अंशोंमें व्याकरणकी जटिलता वेदाभ्यासेच्छुक सज्जनोंके सम्मुख उठखडी होती है तथापि इसे हटाना सहजसाध्य है। समूची वैदिक संहिताओंमें लगभग २०,२२ सहस्र मंत्र विद्यमान हैं और जिस दशामें वे संहिताग्रन्थोंमें इतस्ततः बिखरे पडे हैं उस हालतमें वे अगर आधुनिक शिक्षित समुदायको बीहड एवं दुरूह प्रतीत होने लगें तो यह नितांत आवश्यक है कि तुरन्त ही इस कठिनता एवं अवास्तव गूढताको मिटाकर वेदाध्ययन अति सुबोध तथा वैदिक सभ्यताकी झाँकी पाना अत्यन्त सुगम हो जाय ऐसे ग्रन्थ तैयार कर प्रकाशित किये जायँ। तभी वर्तमान युगमें वेदका स्वाध्याय निरुपयोगी नहीं किन्तु सुतरां आवश्यक है ऐसा ख्याल शिक्षासंपन्न जनतामें प्रसृत हो सकता है। वेदाध्यय-नकी उलझन सुलझायी जाय इसी हेतुसे दैवत-संहिताका निर्माण स्वाध्यायमण्डलने किया है।

इस संहितामें एक एक देवताके सभी उपलब्ध मन्त्रोंका संग्रह है अतः वैदिक देवताका परिचय पानेकी इच्छा करने-वाले वेदप्रेमी सज्जनोंको किसी भी देवताके वर्णनपरक समूचे मंत्रोंको थोडे ही समयमें पढलेना सुगम होगा।

ध्यानमें रहे कि हरएक देवताका वर्णन करनेके लिए वेदमें प्रायः विशिष्ट ढंगके शब्दोंका ही प्रयोग वारंवार किया हुआ दीख पडता है। उदाहरणार्थ, यदि अग्निदेवताको लिया जाय और उसके २००,२५० मंत्रोंको एकबार पढलें तो अग्नि-देवताका बखान करनेके लिए किन पदोंका तथा विशेषणोंका प्रयोग किया है सो विदित होता है और तदुपरान्त आगे चलकर उस देवताके शेष मंत्रोंका अर्थ समझलेना अतीव सुगम हो जाता है। केवल परंपरागत संहिताओंके अध्ययनके लिए जहाँ १०,१२ वर्षोंकी अवधि लगती थी वहाँ इस दैवत-संहिताके अध्ययनसे तीन चार वर्षोंमें वेदज्ञ बनना कोई असंभव बात नहीं। एक एक देवताके एकत्रित मंत्रोंके स्वाध्यायसे कितने अल्प समयमें वेदकी जानकारी हो सकती है यह देखनेयोग्य है तथा आधुनिक संघर्षमय एवं शीघ्रता की अपेक्षा रखनेवाली जीवनयात्रामें यह लाभ कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं। दूसरे, विशिष्ट देवताके मंत्रोंका अध्ययन एवं परिशीलन करनेसे राष्ट्रीय संगठनके बारेमें विशिष्ट कार्यक्रमका ज्ञान सुशीघ्र प्राप्त किया जा सकता है; जैसे सैनिकशिक्षाका ज्ञान मरुद्देवतामंत्रोंमें, अश्विनौदेवतामंत्रोंमें आरोग्यरक्षा, चिकित्साविज्ञान एवं शस्त्रक्रियाकी जानकारी, इन्द्रदेवताके मंत्रोंमें राज्यशासन, शत्रुप्रतिकार, युद्धमें विजयी बनना, शत्रु दलपर चढाई करना आदि विषयोंका ज्ञान हो सकता है। औषधिवनस्पतियों एवं आयुर्वेदके मंत्रोंके पठनसे औषधिविज्ञान पाना संभव है।

यदि इसीभाँति अन्यान्य देवताओंके मन्त्रसंग्रह पढकर विविध विषयोंकी निश्चित जानकारी होने लगे तो आधुनिक तीव्र जीवनार्थ कलहमें उससे लाभ उठाना संभव है जोकि कदापि उपेक्षणीय नहीं। बंबई विश्वविद्यालयने इस दैवत-संहिताके दूसरे विभागके प्रकाशनार्थ ५०० रुपयोंकी सहायता देकर गुणग्राहिताका परिचय दिया है। यह विभाग इस वर्षके अन्तमें प्रकाशित होगा।

निर्विवादरूपसे वैदिक सभ्यताको मानवेतिहासमें अपने ढंगका महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होनेसे उससे आलोकित वैय-क्तिक, सांघिक या राष्ट्रीय जीवन किस भाँतिका था सो जानना अत्यन्त आवश्यक हुआ है क्योंकि भारतीयोंके जीवन पर पाश्चिमात्य विविध विचारधाराओंके प्रखर, प्रबल एवं सर्वंकष प्रहार शुरु हुए हैं जिनके फलस्वरूप भारतीय जनता आन्दोलित, विचलित एवं व्यथित हुई दिखाई दे रही है। इसीलिए आज वैदिक संहिताओंका ध्यानपूर्वक अध्ययन प्रारम्भ कर अतिप्राचीन युगके भारतीय पूर्वज एवं द्रष्टा ज्ञानी कैसी विचारधारा रखते थे, किन आपत्तियोंका वे धैर्यपूर्वक सामना करनेकी क्षमता रखते थे, किस तरह उन आपदाओं के जटिल जालको उन्होंने तोड फेंक दिया और क्या उन वैदिक द्रष्टाओंके विचारसमूहसे क्रान्तिमय एवं परिवर्तनशील युगके भारतीय लाभान्वित हो सकते हैं आदि बातें जानना नितान्त आवश्यक हुआ है।

—द० ग० धारेश्वर

मधुच्छन्दस् मन्त्रमाला*

(लेखांक २)

(लेखक- श्री० नलिनीकान्तजी, श्री अरविंदाश्रम, पांडिचरी)
(अनुवादक- श्री० पं० धर्मराजजी वेदालङ्कार, शास्त्री,)

(२) उपक्रमणिका

तो फिर वेदको समझनेका मार्ग क्या है? प्राचीन कालकी समस्त रचनाओंको ठीक ठीक समझनेका जो मार्ग है वही मार्ग वेदको समझनेका भी है। वह मार्ग आखिर कौनसा है ? सबसे पहले तो अपने सारे पूर्व ग्रहों-पहलेसे बनाए विचारों-को छोडकर मूल वेदके साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। टीका तथा भाष्य करनेवालोंने तथा व्याकरण और अलङ्कार शास्त्रके ज्ञाताओंने सम्पूर्ण प्राचीन पुस्तकोंके चारों ओर इतना झाड झंकार खडा कर दिया है कि उसमेंसे होकर रास्ता निकालनेके प्रयत्नमें ही सारा उत्साह क्षीण हो जाता है, अन्दर जाकर वेदमंदिरमें प्रविष्ट होनेकी तो बात करना ही व्यर्थ है। इसीलिये हम देखते हैं कि वेदके सम्बन्धमें हमारा जो थोडा बहुत परिचय है, वह मूल वस्तुके साथ न होनेसे सीधा परिचय नहीं है, उसे गौण परिचय ही कह सकते हैं। टीकाकार और भाष्यकार सहायक हो सकते हैं, इससे अधिक उनका महत्त्व नहीं है, यदि सहायक प्रधान पदको प्राप्त कर ले तो वह वास्तविक कार्यमें बाधा पहुंचानेवाला होता है। मूल ग्रन्थसे परिचय प्राप्त करनेके पश्चात् हमारे लिये यह जानना आवश्यक है कि वेदके मौलिक भाव क्या हैं और वैदिक ऋषियोंका दृष्टिकोण क्या था ? वेदमन्त्रोंपर विस्तृत विचार करते हुए टीकाकारोंके ग्रन्थोंका भी अनुशीलन किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि हम आरम्भसे ही टीका हाथमें लेकर बैठें, मूल काव्यको छोडकर यदि समालोचकों के वितण्डावादमें फंस जावें, तो हम अपने उद्देश्यको छोडकर अनिवार्य रूपसे मार्गभ्रष्ट हो जाएंगे। अत एव सर्व प्रथम टीका आदिसे किसी प्रकारकी मदद न लेते हुए हमें केवल मूल वेदके साथ परिचय प्राप्त करनेका प्रयत्न करना पडेगा। केवल वेदके विषयमें ही क्यों, सभी ग्रन्थोंके विषयमें यह बात लागू है। यदि किसी काव्यके रसका आस्वादन करना है तो उसकी आलोचना पहलेसे नहीं पढनी चाहिए, बल्कि मूल काव्यके साथ पहले साक्षात् परिचय प्राप्त करना चाहिये। आजकल काव्यरसिकोंकी कमीका कारण भी यही है। कालिदास और शेक्सपिअरके मूल ग्रन्थोंसे हमें उतना परिचय नहीं होता जितना इन ग्रन्थोंकी विविध समालोचनाओंसे !

अस्तु, वेदके सामान्य मौलिक भावको जाननेकी प्रणाली क्या है ? वह है, ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलना। वेदमें हमें स्थान स्थानपर विशेष ध्यान देनेसे ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जिनका अर्थ सूर्यकी रोशनीके समान स्पष्ट है, इन्हीं स्थलों को पकडकर हम चलेंगे और इनके प्रकाशमें अर्ध स्पष्ट तथा सर्वथा अस्पष्ट स्थलोंके अर्थको भी अन्धकारसे बाहर निकालनेका प्रयत्न करेंगे। वेदमें सिर्फ दो चार ही नहीं, प्रत्युत कितने ही ऐसे मन्त्र वाक्य या पद हैं, जो आधुनिक भावों के द्योतक प्रतीत होते हैं, वर्तमान विचारधारासे वे बिल्कुल मिलते जुलते हैं। इन सब स्थलोंमें जो स्पष्ट अर्थ दिखाई देता है, उसे स्वीकार कर लेना ही युक्तियुक्त है, वेदके नाम पर या रचनाकी प्राचीनताका विचार करते हुए सहज एवं स्वाभाविक अर्थको छोडकर क्लिष्ट और कल्पित अर्थोंको निकालनेमें कोई सार्थकता नहीं है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति' 'तद्विष्णोः परमं पदं दिवीव चक्षुराततम्' अथवा

* (इस लेखमालाका प्रथम लेख आषाढमासके 'वैदिक धर्म' में प्रकाशित हुआ था, अब यह दूसरा लेख है)

'बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् '– क्या वेदके ये सब वाक्य अस्पष्ट हैं ? इन स्थलोंमें केवल अर्थमें ही परिष्कार और प्राञ्जलता नहीं है, अपितु जिन भावोंके द्वारा ऋषियोंके उद्गार अनुप्राणित हैं, वे भाव भी उतने ही परिष्कृत और प्राञ्जल दिखाई देते हैं। इन सब स्थलोंमें (जैसा कि पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं) शैशवावस्थामें विद्यमान अथवा प्राकृतिक पदार्थों तक ही पहुंच रखनेवाला या इसी प्रकार यज्ञादि कर्मकाण्डमें रमण करनेवाला मानव मन हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत यहां हमें परिपक्व तथा प्रज्ञालोकसे प्रदीप्त मनकी सूक्ष्म अनुभूतिसे परिपूर्ण साधनाके दर्शन होते हैं। एक और ऋचाको उदाहरण रूपसे लें–

> चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां
> यज्ञं दधे सरस्वती।
> महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना,
> धियो विश्वा विराजति ॥

क्या इसका अर्थ भी दुर्बोध है ? थोडासा ध्यान देनेपर यहां भी हम तत्त्वसाक्षात्कारकी गहरी अनुभूतिको पा सकते हैं। सायणाचार्यने अपने भाष्यमें इस तथा इसके साथकी अन्य ऋचाओंमेंसे बडे विचित्र ढंगसे याज्ञिक और प्राकृतिक व्याख्या निकालनेका असफल प्रयत्न किया है जिसे देखकर हंसी आती है और दुःख भी होता है। 'सरस्वती' को हम ज्ञानकी अधिष्ठातृ देवताके रूपमें जानते हैं। इसके अतिरिक्त 'सरस्वती' के साथ 'धियावसु' (धी है धन जिसका) 'धियो विश्वा' 'सूनृत' (ऋत तथा अमृत– साधारण लोग भी इन भावोंसे अपरिचित नहीं है) 'सुमति आदि शब्दोंका प्रयुक्त होना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। 'धी' शब्दका अर्थ 'बुद्धि' या 'ज्ञान' सर्व विदित है। किन्तु सायणाचार्यका काम इस अर्थसे नहीं चला, उसने इसका अर्थ किया 'कर्म,' और भावार्थ दिखलाया 'वर्षण कर्म'।

एक और स्थानपर मित्र और वरुणके सम्बन्धमें कहा गया है कि ये दोनों देवता अपनी 'घृताची धी' की साधना करते हैं (धियं घृताचीं साधन्ता ऋ. १–२–७)। तो क्या यहां भी 'धी' का अर्थ घृतवाली वृष्टि ही है ? नहीं, सायण के मत में 'धियं घृताचीम्' का अर्थ है 'ऐसी वृष्टि जो जलकी वर्षा करे' यहां 'घृत' का अर्थ है जल ! 'घृत' शब्दमें 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातु है, 'घृत' में दीप्त्यर्थक घृ धातु को सायणने स्वयं एक जगह (१–१५–६ स्वीकार किया है। 'धियं घृताचीम्' का सीधा सरल अर्थ देखा जाय तो वह वृष्टि न होकर 'उज्वल ज्योतिर्मय बुद्धि' यह है। लेकिन सायणाचार्यने 'घृत' के अनेक अर्थोंमेंसे जल और वृष्टिको ही अधिक पसन्द किया है, और जहां 'दीप्ति' अर्थ किया है, उस स्थलको देखकर यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि यह दीप्ति केवल बाह्य प्रकाशमात्र नहीं है, प्रत्युत यह 'आभ्यन्तर ज्योति' को सूचित करती है। इसी स्थलमें 'अग्निका' विशेषण है 'घृतपृष्ठ' ! इस विशेषणके अतिरिक्त अग्निका एक और विशेषण है 'मनोयुज' -अर्थात् मनके साथ रहनेवाला। विश्वामित्र ऋषिके एक मन्त्रमें यही तथ्य कुछ परिवर्तित शब्दोंमें प्रगट किया गया है— 'वैश्वानरं मनसा अग्निं निचाय्य'; यहां अग्निको मनके द्वारा आधान करनेका उल्लेख है। ऋग्वेदके प्रथम सूक्तमें आये हुए कई विशेषणोंमेंसे भी अग्निका स्वरूप पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। वहां एक विशेषण 'कविक्रतु' है। 'क्रतु' का अर्थ सायणाचार्यने ही 'कर्म' 'क्रिया' आदि किया है, हमारी दृष्टिमें इसका अर्थ है 'कर्मशक्ति' या 'क्रियाशक्ति', ग्रीक भाषाका 'क्रतोस्' (Kratos) यही है। 'कविक्रतु' में क्रतु शब्द का वास्तविक अर्थ है 'कर्मशक्ति अथवा सर्जन प्रतिभा'। 'कवि' का 'स्रष्टा' अर्थ सब जानते हैं। सब देवताओंको और उन मनुष्योंको जिन्होंने देवोंका प्रत्यक्ष किया है, वेदमें 'कवि' और 'मनीषी' शब्दों द्वारा स्मरण किया गया है। 'कविक्रतु अग्नि' का अर्थ है 'दृष्टि युक्त कर्मशक्तिवाली अग्नि'। 'अग्नि' का यह रूप हमें दैनिक व्यवहारमें काम आनेवाली 'आग' से दूर ले जाकर अध्यात्मक्षेत्रकी ओर प्रेरित करता है, अतएव इससे बचनेके लिये सायणने 'क्रतु' का अर्थ 'क्रान्त' करके 'कविक्रतु' का अर्थ किया है 'यज्ञका निष्पादन करनेवाली अग्नि'। सायणाचार्यकी भाष्यशैलीका अनौचित्य दिखलानेके लिये एक और उदाहरण हम यहां लेते हैं। 'तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्।' इस गायत्री मन्त्रसे हम सब परिचित हैं। इस मन्त्रका सरल और

युक्तियुक्त अर्थ यह है कि देव (अर्थात् ज्योतिर्मय-दिव् द्योतने) सविताके तेजको हम सब वरण करते हैं, अपनी 'धी' में उसका धारण करते हैं, इस 'धी' को सविता देव हमारी ओर प्रेरित करें। क्या यह अनुमान करना सङ्गत नहीं है कि इस मन्त्रमें 'धी' का प्रेरक जो ज्योतिर्मय सविता है वह साधारण सूर्य नहीं है। केवल अनुमान ही क्यों, उपनिषद्ने तो 'सत्य प्रसवाय' (छान्दोग्य ६।५।१९) कह कर 'सविता' का अर्थ 'सत्यका प्रेरक' किया है, प्रतिदिन उदय अस्त होनेवाला सूर्य सत्यका प्रेरक कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त 'ज्ञानसूर्य' 'ज्ञानज्योति' शब्दोंसे हम सर्वथा अपरिचित नहीं हैं। इस प्रकारकी उपमाओं और रूपकोंका प्रयोग हम अनेकवार करते हैं। वैदिक ऋषि भी जब इन्हीं रूपकोंका व्यवहार करें तो क्या वे केवल प्राकृतिक अर्थको ही सूचित करेंगे? क्या मन्त्रमें सविताके साथ 'धी' का वर्णन केवल अतिशयोक्तिमात्र है। अन्तमें हम एक अन्य उदाहरणको उद्धृत किए बिना इस विषयको नहीं छोडना चाहते। सीधे सादे भावको क्लिष्ट कल्पना द्वारा कितना विकृत किया जा सकता है, इसका नमूना इसमें मिलेगा। वेदपर भाष्यकारोंके हाथसे कितना अधिक अत्याचार हुआ है, इसका दिग्दर्शन भी इस उदाहरण द्वारा हो जायगा। वेदके लिये वेदमें ही शब्द आया है, 'अमृतस्य वाणी' इन दो शब्दोंसे वेदका हार्द प्रत्येकके लिये स्पष्ट हो जाना चाहिए, किन्तु आचार्य सायणने विदित है 'अमृतस्य वाणी' का क्या अर्थ किया है? उसने लिखा है 'अमृतस्य वाणी उदकस्य धारा' अर्थात् अमृत की वाणीका मतलब है पानीका स्रोत!!! इससे अधिक अनर्थ और क्या हो सकता है?

हमारे कहनेका सारांश यह है, कि वेदमें तात्विक ज्ञान, आध्यात्मिक साक्षात्कार और यौगिक अनुभूतिका वर्णन है। वेदका मूल भाव या रहस्य इन्हींमें मिलेगा। इस दिशाको लेकर चलनेसे हम देखेंगे कि कितनी सरलता और संगतिके साथ वेदका अर्थ अपने आप ही प्रगट होता चला आता है। इतना अवश्य मानना पडेगा कि किन्हीं विशेष स्थलोंमें शब्दशः अर्थका अनुसंधान करते हुए कुछ दुरूहता और अनिश्चयात्मकता प्रतीत हो सकती है। किन्तु यदि दृष्टिकोण ठीक हो तो इस कठिनाइके होते हुए भी समस्त वेदके या वेदके किसी बडे हिस्सेके मौलिक भावको ग्रहण करनेमें बाधा नहीं पड सकती। वेदके अन्दर विद्यमान तत्वज्ञानको उपलब्ध करनेसे ही यह आसानीसे समझमें आ सकता है कि हिंदू लोग वेदकी अन्य सब ग्रन्थोंकी अपेक्षा क्यों अधिक प्रतिष्ठा करते हैं।

ऊपर ऊपरसे देखनेपर वेदमें चित्तको भ्रान्त करनेवाला दृश्य मिलता है। हम आधुनिक लोग जिन्हें अध्यात्म और तत्वज्ञानके सूचक कह सकते हैं, ऐसे शब्द वाक्य या पूरे मन्त्र वेदमें इधर उधर बिखरे हुए दिखाई देते हैं। उनके साथ बीचमें याज्ञिक ऐतिहासिक भौगोलिक और सामाजिक– कितनी ही प्रकारकी बातें गुथी हुई हैं। अब प्रश्न यह होता है कि, इन सबके बीचमें मूल क्या है और शाखा क्या है? दूसरे शब्दोंमें कौनसी चीज मुख्य है और कौनसी गौण? पाश्चात्य विद्वान् वेदमें उपलभ्यमान तत्वज्ञान और अध्यात्मको मुख्यता और महत्त्व नहीं देना चाहते क्योंकि ऐसा करनेसे सृष्टिके सम्बन्धमें उनके माने हुए सिद्धान्त अपने उच्चासनसे गिरते हुए दिखाई देते हैं। उनका कथन है कि, प्रकृतिकी पूजा करते करते और प्राकृतिक देवताओं की आराधना करते हुए ऋषियोंके मुखसे सहसा बीचमें दो चार तत्त्वज्ञानके वाक्य निकल पडे हों तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। कभी कभी शिशुके मुखसे भी बडी बातें निकल पडती हैं, लेकिन उन बडी बातोंका शिशु अपने आप नहीं समझ रहा होता। यही हाल वैदिक ऋषियोंका भी है। जो थोडी बहुत आध्यात्मिक चर्चा उन्होंने अपनी तोतली आवाजमें कहीं कहीं की है, उसके पीछे उनकी अनुभूति नहीं है, (They did not mean what they said) यदि हम आधुनिक लोग वेदके गहन अरण्यमें गम्भीर एवं सूक्ष्म दार्शनिक धाराका आविष्कार करें, तो इसे 'प्राचीन पुरुषके मनके ऊपर जबरदस्ती आधुनिक मन का आरोपण करना' कहा जायगा। लेकिन योरपीय विद्वान् अपनी विशिष्ट धारणाके अनुसार चलते हुए भी समस्त वेदकी एक सुसम्बद्ध व्याख्या करनेमें अशक्त रहे हैं। जिस पद्धतिका अनुगमन करते हुए प्रोफेसर मैक्समूलरने 'परमहंस' शब्दका अनुवाद Great Goose किया है, उस पद्धतिसे शाब्दिक अनुवाद करते हुए निश्चय ही किसी निश्चित परिणामपर नहीं पहुंचा जा सकता। इस पद्धतिको

छोडकर क्या किसी अन्य मार्गको अपनाना इस अवस्थामें उचित नहीं है ?

सायणाचार्यने स्वयं याज्ञिक व्याख्या की है, किन्तु यह कभी नहीं कहा कि याज्ञिक व्याख्याके अतिरिक्त और कोई व्याख्या नहीं हो सकती। उन्होंने स्पष्ट रूपसे कहा है कि वेदका आध्यात्मिक अर्थ भी हो सकता है। केवल इतना ही नहीं, अनेक स्थलोंमें विकल्प रूपसे आध्यात्मिक व्याख्या की भी है। ऋग्वेद १-१६-८ में किसी और व्याख्याकी सम्भावनाको न देखकर उन्होंने केवल आध्यात्मिक अर्थ ही प्रतिपादित किया है। यह भी विचारणीय है कि, सायणाचार्य याज्ञिक व्याख्यामें ही वेदका प्रधान तात्पर्य स्वीकार करते थे; याज्ञिक कर्मकाण्डको समाजमें पुनः प्रतिष्ठित करनेके उद्देश्यसे उन्होंने वेदका आश्रय लिया था, अत एव वेदमें याज्ञिक अनुष्ठानको प्रदर्शित करना उनके लिये अनिवार्य था। केवल सायणाचार्यके भाष्यमें ही नहीं, बल्कि वेदके सबसे पुराने व्याकरण अर्थात् निरुक्तमें भी वेदके आध्यात्मिक अर्थकी ओर संकेत करनेवाले अनेक निर्देश मिलते हैं। यहां एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। निरुक्तकारने इन्द्रके जहां और अनेक अर्थ दिये हैं वहां एक यह भी अर्थ है– शरीर मध्यवर्ती प्राणभावेन क्षेत्रज्ञसंज्ञकः;' इस अर्थके अनुसार ' इन्द्र ' ' आत्मा ' का वाचक है।

सचाई यह है कि वेद एक कवितात्मक पुस्तकमात्र नहीं है, अपितु आध्यात्मिक साधनाकी विविध दशाओंके वर्णनसे परिपूर्ण एक पवित्र ग्रन्थ है। वेदकी खूबी अलङ्कार और ध्वनिसे सुसज्जित पद्योंमें न होकर उसके मन्त्रोंमें है– मन्त्र (मत्रि गुप्त परिभाषणे) का अभिप्राय है कि उसमें कुछ गुप्त सूक्ष्म तथा गहन एवं आभ्यन्तर अनुभूति अङ्कित है ! अध्यात्म साधनासे सर्वथा शून्य व्यक्तिके लिये वेदके समझनेका यत्न करना अनधिकार चेष्टा है। शूद्रके लिये वेदाध्ययनके निषेधका कारण भी यही है। विचारशक्ति और परिमार्जित बुद्धि— केवल इतनेसे वेदका रहस्य हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता। इसके लिये परिशुद्ध तथा ग्रहणशील (Receptive) अन्तःकरणकी आवश्यकता है। ऊहापोह या तर्कवितर्क द्वारा हम वैदिक भाषाकी गुत्थियोंको सुलझाना चाहते हैं, परन्तु हृदयगुहामें स्थित अन्तरंग भावोंको अभिव्यक्त करनेवाली वैदिक शैली किस प्रकार बोधगम्य हो सकती है, न तो यह जानते हैं और नहीं जाननेकी चेष्टा करते हैं। जिस सूक्ष्म साधनाकी बुनियादपर वेद प्रतिष्ठित हैं उस साधनाकी उपेक्षा करके हमारी तर्कबुद्धि हमें मार्गभ्रष्टकर इधर उधर भटका रही है। उपनिषत्कार बहुत पहले ही कह गये हैं– ' नैषा तर्केण मतिरापनेया ' अर्थात् वैदिक ज्ञान तर्क द्वारा गम्य नहीं है। शास्त्रमें भी ' तर्काप्रतिष्ठानात् ' द्वारा इसी तथ्यकी सम्पुष्टि की गई है।

वेदको समझनेके लिये यदि किसी ग्रन्थसे सहायता लेनी है तो सबसे पहले उपनिषद्का पारायण करना चाहिये। कारण यह है कि उपनिषद्का आधार तत्त्वसाधना है और इस साधनाका साक्षात् सम्बन्ध वैदिक साधनाके साथ है। वेदके सजीव भावोंको प्रदर्शित करनेवाला व्याख्या ग्रन्थ या भाष्य उपनिषद् ही है। सभी इस बातको जानते और मानते हैं कि उपनिषद् आध्यात्मिक उपलब्धि तत्त्व–साक्षात्कार तथा सूक्ष्म अनुभूतिपर आश्रित भावोंसे ओतप्रोत है। इस उपनिषद्में स्पष्टही कहा है, – ' सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति (कठ)। ' × हम पहले ही कह चुके हैं कि उपनिषत्कार ऋषि अपने आर्ष दर्शनका प्रकथन करते हुए वेदमन्त्रोंको प्रमाणरूपसे उद्धृत करते जाते हैं, और वेदको एकमात्र प्राकृतिक या याज्ञिक कर्मकलापका ग्रन्थ नहीं समझते, अन्यथा तत्त्वज्ञानके प्रकरणमें उनके द्वारा वेदमन्त्रोंका उल्लेख किया जाना निरर्थक होता। जीवात्मा और परमात्मा अथवा प्राकृतिक और दिव्य सत्ताके वर्णनके प्रसङ्गमें मुण्डकोपनिषद्में 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्लोक आया है। यह सारा श्लोक ऋग्वेदके दीर्घतमा ऋषिके एक मन्त्रसे लिया गया है। ईशोपनिषद्का अन्तिम श्लोक है, ' अग्ने नय सुपथा राये ', यह हूबहू ऋग्वेदके अगस्त्य ऋषिके मन्त्र (१-१८९-१) से मिलता है। इस प्रकार अनेक मन्त्रोंको उपनिषत्कारोंने वेदसे उद्धृत किया है।

× सायणाचार्यने यहां ' सर्वे वेदाः ' से वेदके एक अंश उपनिषद्का ग्रहण किया है। किन्तु ' सर्व ' का अर्थ क्लिष्ट कल्पना द्वारा ' एक अंश ' क्यों ? शङ्कराचार्यने भी वेदको केवल कर्मकाण्ड अर्थात् बाह्य यज्ञानुष्ठान परक समझा है, सायणाचार्य द्वारा ' सर्वे वेदाः ' की विकृत व्याख्याका कारण भी यही है।

जहां उपनिषद्के श्लोक और वेदके मन्त्रमें थोडा अन्तर है, वहां भी ऐसा लगता है कि दोनोंका अन्तरीय हार्द एक ही है, दोनोंको अनुप्राणित करनेवाली आभ्यन्तर दृष्टि समान है। उपनिषद्की प्रसिद्ध उक्ति है– 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।' हम सब जानते हैं कि इसमें वेदके ही निम्न मन्त्रकी प्रतिध्वनि है:–

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्
देवं देवत्रा सूर्यम् अगन्म ज्योतिरुत्तमम्।
(ऋ. १-५०-१०)

उपनिषद्के—

'हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो' इत्यादि (छांदोग्य)' इस श्लोकका प्रतिरूप भी वेदमें इस रूपमें मिलता है–

'हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा' (ऋ. १०-१२९-४)

अथवा—

'इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये
धियो मर्जयन्त' (ऋ. १-६१-२)

इस ऋचामें इन्द्रका मन और मनीषाके साथ वर्णन क्या उसके मानसिक तत्त्व (Psychological personality,) होनेको सूचित नहीं करता? इसके अतिरिक्त अग्निके बारेमें विश्वामित्र ऋषिके मन्त्रोंसे अनेक बातोंका उल्लेख किया जा चुका है (वैश्वानरं मनसाग्निं निचाय्य इत्यादि), क्या इन सबकी व्याख्या कठोपनिषद्में निम्न रूपसे नहीं की गई?

स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्।+

यहां 'निहितं गुहायाम्' शब्द ध्यान देने योग्य है। उपनिषद्में जहां जहां 'गुहाहितम्' 'गह्वरेष्ठम्' 'हृदये सन्निविष्टः' इत्यादि तुल्यार्थक शब्द पाए जाते हैं। वेदमें इन्हीं शब्दोंके अन्तर्गत भावका द्योतन करनेवाले 'अन्तः समुद्रे हृद्यन्तः' 'परमं पदम्' 'परमे व्योमनि' 'परमे पराकात्' 'परमे परार्धे' 'सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्' इत्यादि पद उपलब्ध होते हैं।

एक ही प्रकारकी भाव व्यञ्जनासे परिपूर्ण शब्दावली वेद और उपनिषद्में प्रचुर रूपसे प्राप्त होती है जिसका परिगणन करना कठिन है। सत्यम् ऋतम् अमृतम् बृहत् धी ज्योति आदि शब्दोंका वेदमें केवल प्राकृतिक अर्थ था और सबसे पहले उपनिषत्कारोंने इन शब्दोंका आध्यात्मिक अर्थ किया– ऐसा कहना सर्वथा निराधार है। उपनिषद्ने वेदके शब्दोंका ही ग्रहण किया है, भावोंका नहीं; वेदके शब्दोंमें केवल जडवाद है, उपनिषद्ने सूक्ष्म आध्यात्मिक भावोंको स्वयं ही वैदिक शब्दोंमें भर दिया है, ऐसा अनुमान करनेका कारण किन्हीं पूर्वग्रहों (Prejudices) से ग्रस्त होना ही है।

उपनिषद्ने वैदिक शब्दों और वाक्योंका व्यवहार बहुलतासे तथा अधिक सुसङ्गत भावसे किया है। यह माननेको बाध्य होना पडता है कि, उपनिषद्ने स्वयंही कोई नये अर्थ नहीं जोडे। सिवा इसके वेदकी रचनाशैली तथा भाव प्रकाशनकी रीतिभी ध्यान देने योग्य है। वेदके प्रत्येक मन्त्रमें प्रत्येक वाक्यमें और प्रत्येक शब्दमें गहरी तत्त्वानुभूतिकी जो मूर्च्छना है, उसे हमारे देशके वैयाकरण और योरपके भाषा पंडित अपने स्थूल उपायोंसे ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं।

उपनिषद्को छोडकर यदि हम पौराणिक युगमें आ जायँ तो वहां भी महाभारत इत्यादिमें अनेक बातें हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। बहुतसे नाम स्थान तथा कथानक केवल रूपकमात्र नहीं हैं, किसी तात्विक वस्तुको प्रतिपादित करनेका इनका अपना विशेष ढंग है। यहां हम ऐसे दो प्रसङ्गोंका उल्लेख करेंगे। पौराणिक मतमें सूर्यकी पत्नीका नाम 'संज्ञा' है, सूर्यका यदि वैदिक अर्थ 'सत्यकी प्रसूति' लिया जाय, तो सूर्यपत्नीका नाम संज्ञा क्यों है, यह समझमें आ सकता है। इसी तरह पुराणमें विष्णुके निवास स्थानका नाम गोलोक है। गौका यदि वैदिक अर्थ 'ज्योति' या 'उच्च ज्ञानका प्रकाश' कर लिया जाय तो 'देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै' महाभारतके इस वाक्यका अर्थ सरल हो जाता है, अन्यथा देवोंके ऊपर पशुरूप

+ यहां 'स्वर्ग' केवल पौराणिक स्वर्ग अर्थात् Paradise नहीं है, इस स्वर्गमें अमृतत्व विद्यमान है– 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते'। शङ्कराचार्य अवश्य यह स्वीकार न करेंगे कि यह अमृतत्व सच्चिदानन्दका अमृतत्व है, किन्तु उपनिषद्के उद्धृत श्लोकसे कुछ आगे ही आता है– 'मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते'।

गौके होनेका तात्पर्य समझमें नहीं आ सकता।

सावित्री और सत्यवान्की कहानी बहुत विख्यात है। सावित्री और सत्यवान्- ये दोनों नाम ही क्या अपने यौगिक अर्थ द्वारा किसी तात्त्विक भावको सूचित नहीं कर रहे ? वेदके अनुसार सत्य सूर्यका दूसरा नाम सविता है। पुरुष और स्त्रीके रूपमें, सत्यवान् पुरुष है और उसकी 'शक्ति' सावित्री है। सत्यकी शक्ति मृत्युपाशसे- अर्थात् जडता अन्धकार और अज्ञानताके बन्धनसे सत्यका उद्धार करती है, यह प्रत्येक साधकका निजी अनुभव है। हमारे कहनेका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि, पुराणकी सब बातों का अवश्य कुछ न कुछ गूढार्थ होना ही चाहिए। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि, पुराणके आधारमें या उसकी Back ground में वेद और उपनिषद् द्वारा प्रोक्त तात्त्विक रहस्य विद्यमान है जो कि पत्र पुष्प फलसे सुशोभित होकर तथा कल्पना और कविताका आवरण ओढकर साधारण लोगोंके मनोरञ्जनके लिए सुबोध कथा कहानीके रूपमें पुराणों द्वारा प्रगट हुआ है।

यह सब होते हुए भी पुराणको वेदके भाष्यके रूपमें नहीं लिया जा सकता है। उपनिषद्को भी सम्पूर्ण रूपसे वेदका भाष्य नहीं माना जा सकता। असलमें वेदका भाष्य तो वेद स्वयं ही है। वेदको वेदकी सहायतासे ही समझना होगा। यद्यपि उपनिषद् वेदके अत्यंत निकट है, तथापि दोनोंमें पार्थक्य विभेद भी कम नहीं है। वेदमें प्रकृतिवाद है और उपनिषद्में उसकी प्रतिक्रिया (Reaction) अध्यात्मवाद है- दोनोंमें इस प्रकारका विषम सम्बन्ध न मानकर हम कह सकते हैं कि, वेद और उपनिषद् एक ही अध्यात्मवादके दो भिन्न भिन्न प्रकरण हैं। दोनोंमें इतना अन्तर अवश्य स्वीकार करना पडेगा।

हम पहले ही कह चुके हैं कि वेदके सरल और स्पष्टतम स्थलोंसे आरम्भ करके हमें धीरे धीरे कठिन तथा अस्पष्ट स्थलोंके अर्थको खोज निकालना होगा। वेदके अर्थका अनुसन्धान करते हुए हम वेदकी नस नसमें बहनेवाली आध्यात्मिक तथा तात्त्विक अनुभूतिकी धाराका भी अवलोकन करनेका प्रयास करेंगे। × सबसे अधिक परिश्रम हम वेदके केन्द्रीय भावको पहिचाननेमें करेंगे। जो व्यक्ति केवल बुद्धिविलासके लिए अथवा प्राचीन कालके लोगोंके रहन सहनके विषयमें सामान्य उत्सुकताको तृप्त करनेके लिये बिना किसी ऊंचे उद्देश्यसे वेदका अध्ययन करेंगे, वे वेदके रहस्यको किसी हदतक जान पाएंगे-इसमें सन्देह है। वैदिक ऋषि वेदमें ही अपने बारेमें कह गए हैं-

'ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि'

अर्थात् वे सत्यधर्मके जाननेवाले थे, वे देवताओंके साथ सत्यधर्मका आदानप्रदान करते थे। इस सत्यधर्मकी प्राप्तिके लिये जिनके अन्दर कोई जिज्ञासा या उत्कण्ठा नहीं है, उनके सामने वेद मन्त्रोंका आना 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनम्' के समान है।

× हम आगे जो व्याख्या करेंगे उसे आध्यात्मिक व्याख्या न कहकर 'तात्त्विक व्याख्या' कहना उचित होगा। 'आध्यात्मिक' शब्दसे सहसा उपनिषद्के ब्रह्मवादका बोध होता है। वेद पूर्ण रूपसे ब्रह्मवाद नहीं है। सांख्यशास्त्रके २४ तत्त्वों के समान वेदमें सृष्टि जीव आदि समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंके स्वभाव, पारस्परिक सम्बन्ध तथा कार्य प्रणालीका वर्णन है। अपराको परा तत्त्वमें रूपान्तरित करके किस प्रकार अपने वशमें किया जाता है, यह भी वेदमें बतलाया गया है।

पूषा देवताका परिचय

(लेखक- श्री. पं० दयानन्द गणेश धारेश्वर, बी. ए., औंध)

प्रथम यह देखना ठीक होगा कि, पूषाके बारेमें कौनसे भाव वैदिक सुकवि तथा द्रष्टा ऋषिके अन्तस्तलमें उत्पन्न होकर उसे आलोकित करते हैं और उससे किस ढंगकी वे प्रार्थना करते हैं, जिससे पूषाकी योग्यतापर स्वयमेव प्रकाश-पुञ्जका प्रक्षेपण होगा। निम्न मन्त्रमें बृहस्पतिका पुत्र शंयु ऋषि उच्चस्वरसे उद्घोषित करता है कि-

परो हि मर्त्यैरसि समो देवैरुत श्रिया।
अभि ख्यः पूषन् पृतनासु नस्त्वमवा नूनं यथा पुरा॥ (ऋ. ६।४८।१९)

' हे पूषन्! तू मानवोंसे भी आगे बढा हुआ है और शोभा संपन्नता एवं श्रीवृद्धिमें तू देवोंके समकक्ष है; अतः हम तुमसे विनति करते हैं कि जैसे पहले वैसे ही तू अब भी जगमगाता रह और सेनाओंमें हमारी रक्षाका कार्य प्रचलित रख। ' इस मन्त्रसे सुस्पष्ट होता है कि पूषाको अतिमानवकोटितक पहुंचनेमें सराहनीय एवं विराट सफलता प्राप्त हो चुकी है और वह देवतारूपी बनकर युद्धोंमें शत्रु-सेनाओंसे जूझते समय पूर्ववत् तेजस्वी बनकर जनताकी रक्षा अक्षुण्ण रूपसे करनेमें निरत भी है।

देवताके स्पृहणीय पदपर आरूढ होनेपर और अतएव अति-मानव (Super-human) की दशा प्राप्त करनेपर पूषा जनसेवाके प्रचण्ड कार्यको पूर्ववत् ही अथक रूपसे जारी रखता है, क्योंकि घोर पुत्र ऋषि कण्व स्पष्टतया उससे कहता है कि-

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति।
अप स्म तं पथो जहि॥ (ऋ. १।४२।२)

' हे पूषन्! जो कोई पाप-मूर्ति, भेडिये जैसे क्रूर या लोभाविष्ट बनकर और बुराइयोंसे परिपूर्ण होकर हमें आज्ञा देनेका साहस करता हो, उसे तू हमारे गन्तव्य मार्ग परसे मार दूर भगा दे। ' ऋषिकी यह अदम्य लालसा इस मन्त्रमें स्पष्ट झलकती है कि उसका मार्ग निष्कंटक रहे और दुरात्माके शासनकी छत्रछायामें दिन बितानेका दुःखद अवसर कभी न आनेपाय, तथा और भी देखिए-

अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्।
दूरमधि स्रुतेरज॥ (ऋ. १।४२।३)

' हमारे शत्रु बने हुए, चुरानेवाले और कुटिलताओंका चयन करनेमें निरत उस दुष्टको तू हमारी राहमेंसे उठाकर दूर फेंकदे। ' इसमें भी उपर्युक्त तीव्र अभिलाषा की ही झाँकी दीख पडती है।

पूषाकी लोकसेवातत्परता एवं कार्यकुशलतासे प्रभावित होकर वैदिक द्रष्टा उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं जैसे, गाथिन् विश्वामित्रका निवेदन है कि-

इयं ते पूषन्नाघृणे सुष्टुतिर्देव नव्यसी।
अस्माभिस्तुभ्यं शस्यते॥ (ऋ. ३।६२।७)

' चतुर्दिक् जगमगानेवाले हे पूषन्! देवतारूपी हे प्रभो! तुम्हारे लिए इस अत्यन्त नयी तथा सुन्दर स्तुतिका पठन हम कर लेते हैं। ' इससे सूर्यप्रकाशवत् सुस्पष्ट हो गया कि वैदिक सुकवि जब कभी देवतारूपी शक्तियों तथा व्यक्तियोंकी सराहनीय सहायतासे सुप्रसन्न हो उठते तो केवल पुरानी बातोंका ही पिष्टपेषण या अतीतका ही चर्वितचर्वण न करके नूतनतम स्तोत्रोंका सृजन बडी लगनसे कर लेते तथा उन नयी प्रशंसा प्रचुर कविताओंका बखान भी ऊँची आवाजमें करनेसे न चूकते। वैदिक मन्त्रद्रष्टा सिर्फ पुरानी विचारधाराओंको ही दोहराकर सन्तुष्ट न होते किन्तु अपनी अप्रतिम प्रतिभासम्पन्नताकी बदौलत प्रतिपल प्रतीयमान नवीनतासे अतिरमणीय काव्योंका सृजन भी तुरन्त कर देते थे। इसी ऋषिका यह कथन भी सुननेयोग्य है कि-

तां जुषस्व गिरं मम वाजयन्तीमवा धियम्।
वधूयुरिव योषणाम्॥ (ऋ. ३।६२।८)

' मेरे उस प्रशंसापूरित संभाषणका आदरपूर्वक स्वीकार करले और अन्न एवं बलकी कामना करनेहारी बुद्धि तथा क्रियाकी सुरक्षाका सुप्रबन्ध करदे। मेरे अभिभाषणका अभिनन्दन करते समय और संरक्षणकी व्यवस्था करते वक्त भी तू वैसी ही तत्परता, उत्सुकता दिखादे जैसे कि वधु

अर्थात् युवतीके सहवासकी इच्छा करनेवाला नवयुवक अपनी प्रेयसीके प्रति दर्शाने लगता है।

घोरपुत्र कण्व ऋषि भी कहते हैं—

न पूषणं मेथामसि सूक्तैरभि गृणीमसि ।
वसूनि दस्ममीमहे ॥ (ऋ. १।४२।१०)

'हम पूषाको कभी क्षति नहीं पहुँचाते हैं, न कभी उन की निन्दा ही करते हैं किन्तु सदैव भलीभाँति कहे भाषणों से सम्मुख खडे रहकर उनकी प्रशंसा ही करते हैं क्योंकि उस दर्शनीय पूषासे हम धनवैभव पानेकी इच्छा करते हैं।' पूषा भक्तोंकी आर्थिक प्रगतिपर पर्याप्त ध्यान देता है ऐसा इससे विदित होता है।

दिवोदासपुत्र परुच्छेप मुक्तकण्ठसे कहते हैं—

प्रप्र पूष्णस्तुविजातस्य शस्यते महित्वमस्य
तवसो न तन्दते स्तोत्रमस्य न तन्दते।
अर्चामि सुम्नयन्नहमन्त्यूतिं मयोभुवम्।
विश्वस्य यो मन आयुयुवे मखो देवः...॥
(ऋ. १।१३८।१)

'विशाल रूपसे प्रकट हुए पूषाकी खूब सराहना की जाती है, इसके बलकी महिमा घटती नहीं और अतएव इसका स्तोत्र भी कभी क्षीण नहीं होता। मैं सुख पानेकी लालसा अपने हियमें रखता हूँ इसलिए, अपने समीप सदैव संरक्षण के साधन रखनेवाले तथा सुखदायक पूषाकी पूजा करता हूँ क्योंकि जो यज्ञका प्रवर्तन करनेवाला देवतारूपी पूषा सभी लोगोंके मनको केंद्रित करनेकी क्षमता रखता है उसका सत्कार अवश्य किया जाय।' इस मन्त्रसे साफ तौरपर झलकता है कि पूषाके निकट तनिक भी संकीर्णता नहीं है, विशालता एवं व्यापकताकी अमिट छाप वह सब पर डालता है, उसके बल तथा सामर्थ्यका महत्त्व सतत वृद्धिशील है, असीम है; जनताके सुखका प्रबंध करता हुआ वह संरक्षण साधनोंसे सुसज्ज होकर अनुयायियोंके निकट चला जाता है तथा यज्ञोंको जारी रखकर द्योतमान पूषा सबके मनको अपनी ओर केंद्रित करके भक्तोंकी अविराम पूजा तथा आवभगत प्राप्त करता है। तथा और भी सुनिए—

अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ...अश्वस्यतां...। ओ षु त्वा ववृतीमहि स्तोमेभिर्दस्म साधुभिः। नहि त्वा पूषन्नति-मन्य आघृणे न ते सख्यमपह्नुवे ॥
(ऋ. १।१३८।४)

'हे पूषन्! तू दानी एवं क्रोधरहित होकर सभी हम अन्नकी और यशकी कामना करनेवाले इसभाँति लाभान्वित हों इस कारण अवश्य हमारे समीप रह जा। हे दर्शनीय या शत्रुविध्वंसकर्ता पूषन्! निर्दोष स्तोत्रोंसे तुझको हम अपने अनुकूल बनाते हैं; हे दीप्तिमन्! तुझको छोडकर मैं अन्य किसीको मानता ही नहीं और न तेरी मित्रताका त्याग ही करता हूँ या उसे छिपाता हूँ।' अर्थात् ही, पूषा समीप यदि न रहे तो किसी भी तरह लाभ उठाना असंभव है इसीलिए सभी भक्तगण उसके सांनिध्यके लिए इतने लाला-यित हैं और सुन्दर स्तोत्रोंसे उसे अपनी ओर आकर्षित करके अखंड मित्रता एवं अनन्य भक्तिका प्रदर्शन करते हैं। वैदिक द्रष्टाओंके स्तोत्रसे पूषा किस प्रकार प्रभावित होता है सो निम्न मन्त्रमें बताया है–

प्र हि त्वा पूषन्नजिरं न यामनि स्तोमेभिः कृण्वे ऋणवो यथा मृधः...। हुवे यत्त्वा मयोभुवं देवं सख्याय मर्त्यः। अस्माकमांगूषान् द्युम्निनस्कृधि वाजेषु द्युम्निनः कृधि ॥
(ऋ. १।१३८।२)

'हे पूषन्! जिस प्रकार यात्रा करते समय शीघ्रगामी घोडेको तैयार करते हैं उसी तरह मैं स्तोत्रोंद्वारा तुझको जनसेवाकार्य निभानेके लिए और शत्रुदलके प्रति अभि-यान करनेके लिए भी अत्यंत सुसज्ज करता हूँ। मैं साधारण मानव तुझ जैसे देव बने हुए और इसीलिए सुखदायकको मैत्रीके लिए समीप आनेके लिए बुलाता हूँ तो इसका आशय यही कि तू हमारे बनाये स्तोत्र सुनकर धनवर्षा करना शुरु करदे और तथैव युद्धोंमें हमें तू धनाढ्य बनाये।' स्पष्ट हुआ कि वैदिक सुकवियों एवं सूक्तोंके द्रष्टा ऋषियोंके अव्याज- मनोहर स्तोत्रोंको सुनकर पूषा उनको सहायता पहुंचाने एवं रणांगणमें हिंस्र शत्रुदलपर चढाई करनेके लिए कटिबद्ध होता है और जब कभी जनता उच्चस्वरसे काव्य गायन करती रहे तो पूषा उसपर यथेष्ट वैभवकी मानों वर्षासी करने लगता एवं युद्धके अवसरपर अपने शूर योद्धाओंको धनदानसे सन्तुष्ट कर देता।

बृहस्पतिपुत्र भरद्वाजका यही कथन है कि-

पूषन्नु प्र गा इहि यजमानस्य सुन्वतः।
अस्माकं स्तुवतामुत ॥ (ऋ. ६।५४।६)

' सोमरसके निचोडनेमें लगे यज्ञकर्ताकी तथा स्तुति करनेवाले हम लोगोंकी गायोंके पीछे पीछे हे पूषन्! तू अनुगमन कर। ' जिससे उनकी रक्षा भलीभाँति हो जाए। गोपालन एवं कृषिकर्ममें निरत जनताकी प्रार्थना इस ढंगकी होती है।

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ (ऋ. ६।५४।९)

' हे पूषन्! तेरे निर्धारित व्रतका यथावत् पालन करते समय हमें कभी क्षति न उठानी पडेगी यह निस्संशय क्योंकि हम तो इधर तेरे प्रशंसक बन बैठे हैं। ' भला जो स्तोताओंकी रक्षा न कर सके वह देव कैसे ?

घोरपुत्र कण्वऋषि पूषाके सम्मुख निम्नलिखित ढंगसे अपनी माँग पेश करते हैं-

त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्यचित्।
पदाभि तिष्ठ तपुषिम् ॥ (ऋ. १।४२।४)

' हे पूषन्! तू किसी भी बुरी बातें कहनेवाले तथा मनमें एक और बाहर एक कहनेवाले कपटी मानवके परितापदायक शरीरको पददलित करदे। '

आ तत् ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे।
येन पितॄनचोदयः ॥ (ऋ. १।४२।५)

' हे दर्शनीय, एवं ज्ञानसम्पन्न पूषन्! जिस संरक्षणकी बदौलत तू पितरोंको प्रेरित कर चुका उस रक्षाकी आयोजनाको हम अपने लिए भी स्वीकार करते हैं। '

अधा नो विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम।
धनानि सुषणा कृधि ॥ (ऋ. १।४२।६)

' सभी सौभाग्योंसे युक्त तथा सुवर्णविभूषित हथियार साथ रखनेवाले हे पूषन्! अब तू हमारे लिए धनसंपदाको सुगमतापूर्वक देने योग्य बनादे। '

अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु।...
अभि सूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने।...
शग्धि पूर्धि प्र यंसि च शिशीहि प्रास्युदरम्।...पूषन्निह क्रतुं विदः ॥ (ऋ. १।४२।७-९)

' हे पूषन्! जो हमें बाधा पहुँचानेके उद्देश्यसे हमारे निकट आनेकी कोशिश करते हों उन्हें तू हमसे दूर ले चल हमारे लिए सुन्दर मार्गोंको सुगमतासे जाने योग्य बनादे। ' जिधर सुन्दर घासफूस उगती रहे उधर तू हमें ले चल तथा मार्गमें नयी बीमारी कभी न होनेपाय ऐसी सुव्यवस्था तू कर। तू हमें शक्ति संपन्न कर, हमारे भाण्डारोंको परिपूर्ण कर तथा और अधिक दान देता रह, हममें ढीलापन न हो ऐसा प्रबंध कर और हमारे उदर मिष्टान्नसे भरे रहें ऐसा कर, तू हे पूषन्! इधर हमें करनेयोग्य कार्य बतादे। '

गाथिन् विश्वामित्रकी अदम्य लालसा है कि-

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।
स नः पूषाविता भुवत् ॥ (ऋ. ३।६२।९)

' जो पूषा सभी भुवनोंको विशेष रूपसे स्पष्ट देखता है और उन्हें सामूहिक रूपमें भी निरख लेता है ऐसा वह हमारा संरक्षक बने। ' इस मन्त्रमें व्यापक दृष्टिकोणकी झाँकी स्पष्ट दीख पडती है और सीमित दृष्टिकोण तो सुतरां नहीं। पूषाकी क्षमता इतनी बढी चढी है कि वह सभी भुवनोंको, जिन्हें अंग्रेजी भाषामें Spheres या Domains कह सकते हैं, विश्लेषण (Analysis) और संश्लेषण (Synthesis) दोनों तरीकोंसे जाँचकर देख लेता है। वह विभिन्नतासे भी परिचित रहता है और एकताको भी आँखोंसे ओझल होने नहीं देता है। एकत्व तथा विभिन्नत्वसे भलीभाँति परिचित रहना ही ज्ञानकी पराकाष्ठा है। ऐसे संपूर्णज्ञानी प्रभु या नेताकी संरक्षण छत्रछायामें रहनेकी जो इच्छा वैदिक सुकवि तथा प्रतिभासंपन्न द्रष्टाने व्यक्त की है वह सर्वथैव सराहनीय है।

बृहस्पति पुत्र शंयु नामक द्रष्टा कहता है—

दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम्। अच्छिद्रस्य दधन्वतः सुपूर्णस्य दधन्वतः ॥ (ऋ. ६।४८।१८)

' हे पूषन्! छेदरहित तथा लबालब भरे हुए दधियुक्त बर्तनके समान तेरी मित्रता बाधा शून्य बन जाय। ' जैसे त्रुटिहीन एवं अखंड बर्तन दहीसे छलकता रहे तो सभी उसे पानेकी चाह करते हैं वैसे ही समूची जनता पूषाकी हितकारक एवं निर्बाध मित्रता हासिल करनेके लिए उत्कंठित बनी रहे। और भी सुनिए।

आ मा पूषन्नुप द्रव शंसिषं नु ते अपिकर्ण

*

आघृणे । अघा अर्यो अरातयः ॥
(ऋ. ६।४८।१६)

' चकाचौंध करनेवाली दीप्तिसे चतुर्दिक् विभूषित हे पूषन् ! तू मेरे निकट चला आ, तुझको सुनाई दे इस ढंगसे मैं प्रशंसा करूँगा और जो पापमय, कृपण, लाग-डाँट करनेवाली और हमले चढानेवाली जनता हो उसे तू बाधा पहुँचा दे।'' शत्रुविध्वंसनके प्रचण्ड कार्यको सफलतापूर्वक निभानेपर भक्तसे प्रशंसित होना कोई कठिन बात नहीं है।

मा काकम्बीरमुद् वृहो वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनशः । मोत सूरो अह एवा चन ग्रीवा आद-धते वेः ॥
(ऋ० ६।४८।१७)

" विविध पंछियोंको आश्रय एवं भरण देनेवाले वनके अधिपतितुल्य बडे भारी पेडको, हे पूषन् ! तू उखाड न फेंक दे पर जो कहनेयोग्य नहीं ऐसी बुराइयोंको जरूर तू विनष्ट कर डाल और जिस तरह पंछियोंको फंदे डालकर पकड लेते हैं वैसे शूर शत्रु हमें जाल फेंककर जकड न ले ऐसा प्रबंध कर। '' बुराइयोंको मटियामेट करना तथा कपटी दुश्मनोंके छक्के छुडाना देवतारूपीके लिए अनिवार्य कर्तव्य है, नकि महान् जनसमूहको आसरा देनेवाले किसी प्रभुको उन्मूलित करना।

अब बृहस्पतिपुत्र भरद्वाजकी बतलायी आवश्यकताओंका विवरण देख लीजिए—

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय ।
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः ॥ (ऋ० ६।५३।३)

हे दीप्त पूषन् ! जो कोई भी दान देनेकी अभिलाषा मन में न रखे उसे भी तू दान देनेमें प्रवृत्त करले तथा लेनदेन में निरत पुरुषका मन भी विशेष तरह नर्म बन जाए ऐसी सुव्यवस्था कर दे। '' समाजमें यदि दानी पुरुषोंकी संख्या घट जाय तो भीषण आर्थिक विषमताका सृजन होकर समूचे समाजकी हालत चिन्ताजनक होती है इसलिए साम्पत्तिक वैषम्यको हटानेके उद्देश्यसे उक्त मन्त्रमें बताया है कि पर्याप्त धनार्जन कर लेने पर भी यदि कोई दानी बननेसे मुँह मोडले तो उसका स्वार्थमग्न एवं कठोर दिल तनिक नर्म बने और वह अविरत दानधारा बहाकर समाजसेवा करनेमें प्रवृत्त हो ऐसी प्राणपणसे चेष्टा शुरु की जाय और इस महनीय कार्यको देवतापद पर आरूढ पुरुष पूर्ण करना स्वीकार करले यही अत्यन्त स्पृहणीय है। यही भाव निम्न मन्त्रोंमें अधिक बलपूर्वक बताया है—

परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे ।
वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम् ।
आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे ।
अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥ (ऋ० ६।५३।५-७)

' हे विद्वन् या क्रान्तदर्शी पूषन् ! तू आरा नामक हथियारके समान तीक्ष्ण एवं प्रभावजनक वाणीसे व्यापारी लोगोंके हृदयोंको पूर्णतया विद्ध करडाल, लोभाविष्ट व्यापारीके अन्तस्तलको मर्मभेदक भाषणसे प्रभावित कर तथा प्रिय प्रतीत होनेवाला धन दूसरोंको देदूँ ऐसी इच्छा तू पैदा कर और व्यापारद्वारा धन संग्रह करनेवालोंके मनको अपनी तेजस्वी वाणीसे तू विशीर्ण करदे, अपने प्रेरक संभाषणकी अमिट छाप उनपर तू डालदे पश्चात् उन्हें हमारे अधीन करदे।' वैदिक कविने स्वार्थी एवं धन लुब्ध लोगोंके सख्त दिलको दयार्द्र बनानेका कार्य पूषाके हवाले कर दिया है। आजदिन संसारमें पूँजी पतियोंकी ही तूती बोल रही है तथा धनोत्पादनमें निरत जन साधारणके हितके लिये धनिकोंसे अविरत लडकर सुविधाएँ प्राप्त करनेके विकट कार्यका बोझ उठानेवालोंको पूषाका स्तुत्य कार्य समझना कठिन नहीं इसलिए मजदूरों तथा श्रमिकोंके नेता तनिक पूषाके इस कार्यपर दृष्टिपात करें। निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्षि आघृणे ।
तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु ॥
(ऋ. ६।५३।८)

' हे दीप्तिमन् पूषन् ! तू जिस आराको, जो कि अन्नको उचित स्थानपर भेजनेके लिए संकेत करती है, अपने हाथमें धारण करता है उससे तू समस्त धनिक एवं व्यापारमें निरत श्रेणीके दिलपर अमिट रूपसे सामाजिक हितकी बातें लिखदे और उनके घनीभूत मनको तितरबितर करदे।' अन्नका वितरण जनतामें अविषम भावसे हो जाय इसलिए पूषा अधिकार निदर्शक दण्ड हाथमें लेकर कार्य करता है ऐसा विदित होता है तथा इस यष्टिके बारेमें निम्न मन्त्रमें कहा है कि—

या ते अष्ट्रा गोओपशाऽऽघृणे पशुसाधनी ।
तस्यास्ते सुम्नमीमहे ॥ (ऋ. ६।५३।९)

' हे दीप्तिमन् पूषन् ! जो तेरी अरा है वह लापता हुए पशुओंको इकट्ठा करती है तथा गायोंको सुख पहुँचाती है हम उससे सुखकी कामना करते हैं। ' उससे हमें कहीं क्षति न उठानी पडे यही इच्छा है।

निम्न प्रार्थनाएँ भी विचारणीय एवं विलोकनीय हैं-

वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि ।
साधन्तामुग्र नो धियः ॥ (ऋ. ६।५३।४)

' हे उग्रस्वरूपवाले ! अन्न तथा बलका चयन करनेके लिए तू मार्गोंको विशेष ढंगसे चुनले और ऐसी निष्कण्टक एवं निर्बाध राहकी योजना करते समय हिंसक आजायँ तो उनका वध करदे तथा ऐसी आयोजनाका सूत्रपात कर कि हमारी क्रियाओं और बुद्धियोंको सतत सफलता मिलती रहे। ' मानव जातिको अन्नका संग्रह करते समय बीहड रास्तेको तय करना पडता है तथा प्रबल विरोधियोंका जबर्दस्त मुकाबला करना और बार बार असफलताओंके सम्मुखीन होना उसके भाग्यमें बदा है इसलिए भरद्वाज महामुनि पूषासे सादर कहते हैं कि, वह अबाध मार्ग, शत्रुदल का उच्चाटन तथा स्पृहणीय सफलता तीनोंकी प्राप्तिमें तत्पर रहे।

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये ।
धियें पूषन्नयुज्महि ॥ (ऋ. ६।५३।१)

' हे पूषन् ! हे मार्गके अधिपति ! हम तो कर्म तथा अन्न प्राप्तिके लिए तुझको ही नियुक्त करते हैं मानों हम रथको तैयार कर रहे हैं। ' जिस प्रकार अन्न लानेके लिए और किसी क्रियाको पूर्ण करनेके लिए पहले रथको सुसज्ज करना पडता है ठीक वैसे ही पूषाको ही प्रथम उसमें लगने की प्रेरणा इस मन्त्रमें की है। तथा और भी—

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम् ।
वामं गृहपतिं नय । (ऋ० ६।५३।२)

"हे पूषन् ! मानवोंके हितकारक धनके तथा वीर, सुन्दर और जिसने दक्षिणाका दान किया है ऐसे घरमालिकके निकट तू हमें ले चल।" पूषाका नेतापन स्पष्ट झलकता है।

उत नो गोषणिं धियं अश्वसां वाजसामुत ।
नृवत् कृणुहि वीतये ॥ (ऋ० ६।५३।१०)

" गोधन एवं वाजिधन तथा अन्न और बलका दान करनेवाली क्रिया तथा बुद्धिको हमारे उपभोगके लिए तू मानवयुक्त बनादे। " अर्थात् हम केवल अपने लिए ही उत्पादनको सीमित न रखें किन्तु अन्य मानवोंका भी उस में हाथ रहे। इस प्रार्थना से Social consciousness अर्थात् सांघिक या सामुदायिक मनोवृत्ति स्पष्ट होती है। संपत्तिके उत्पादनमें समूचे मानवसमाजको हाथ बँटाना पडता है इसलिए वह किसी वर्गतक सीमित न रहे, उस पर किसी विशिष्ट श्रेणीका एकाधिकार प्रस्थापित होने न पाय पर समूचा समाज उससे लाभान्वित हो ऐसा आशय इस मन्त्रमें झलकता है।

पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः ।
पूषा वाजं सनोतु नः ॥ (ऋ० ६।५४।५)

" पूषा हमारी गौओंके पीछे पीछे चले, पूषा हमारे घोडोंकी रक्षा करे और पूषा ही हमें अन्न तथा बलका दान करे। " गोधन एवं वाजिधनकी रक्षा भली प्रकार हो तथा अन्न पर्याप्त मात्रामें रहे, बस यही मानवसंघकी दुर्दमनीय आकांक्षा है जो अभीतक समाधानकारक ढंगसे तृप्त नहीं हुई है इसलिए इस अतिप्राचीनतम प्रार्थना या अभिलाषा का महत्त्व अभीतक वैसे ही अक्षुण्ण है। निम्न मन्त्रमें भी यही मतलब दर्शाया है—

माकिर्नेशन्माकीं रिषत् माकीं सं शारि केवटे ।
अथारिष्टाभिरागहि ॥ (ऋ० ६।५४।७)

" हमारे गोधनमेंसे एक भी गौ विनष्ट न हो जाय, एक भी हिंस्र पशुसे क्षति न उठाए और एक भी किसी गड्ढेमें पडकर बिखरे न जाय; पश्चात् हे पूषन् ! तू अक्षत, अहिंसित गौओंके झुंडके साथ हमारे निकट चला आ। "

शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसम् ।
ईशानं राय ईमहे ॥ (ऋ० ६।५४।८)

" जिसका ज्ञान एवं धन कभी विनष्ट नहीं होता है तथा जो प्रभुत्त्व प्रस्थापित कर चुका है और जो गतिशील है एवं भक्तों और अनुयायियोंकी प्रार्थना ध्यान देकर सुनता है उस पूषासे हम धनोंको पानेकी लालसा करते हैं। " इसमें पूषाकी योग्यता पर बडी सुन्दर आलोकरेखा डाली गयी है। अतिमानव एवं देवपदको प्राप्त करके पूषा गर्वित नहीं होता है किन्तु जनताके कथनको सुन लेता है। शासक

तथा प्रभुपदपर चढे हुए लोगोंको इससे बोध लेना चाहिए। वह गतिशील है अर्थात् इतना महनीय पद प्राप्त करके पूषा चुपचाप नहीं रहता है किन्तु इस परिवर्तनीय संसारमें जो प्रतिपल प्रगतिशील रहता है वही जीवित है और जो प्रगतिसे मुँह मोडकर चुप्पी साध लेता है उसका पतन अवश्यंभावी है इस कारण वह सतत हलचल करता है, आन्दोलनोंका सृजन करता है। उसी प्रकार उसका वैभव भी कभी विनष्ट नहीं होता क्योंकि उसकी रक्षामें वह सदैव सतर्क एवं सचेष्ट रहता है। ऐसे अत्यंत सुयोग्य देवतारूपी पूषासे रमणीय धन पानेकी लालसा जो वैदिक कविने व्यक्त की है वह उसके द्रष्टापन पर प्रकाश डालती है।

रथीतमं...ईशानं राधसो महः।
रायः सखायमीमहे ॥ (ऋ० ६।५५।२)

" रथियोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ, महनीय धन पर प्रभुत्व प्रस्थापित करनेवाले तथा मित्रवत् बर्ताव करनेवाले पूषासे हम धन पाना चाहते हैं। " धनकी माँग पूषाके सम्मुख क्यों पेश की जाती है इसका कारण निम्न मन्त्रमें बताया है-

रायो धारास्याघृणे वसो राशिः ...।
धीवतोधीवतः सखा ॥ (ऋ० ६।५५।३)

" हे दीप्तियुक्त पूषन् ! तू तो संपत्तिका अविरल प्रवाह ही है और धनराशि तुझसे अभिन्न है तथा तू प्रत्येक बुद्धिमान पुरुषका मित्र है। "

यदद्य त्वा पुरुष्टुत ब्रवाम दस्र मन्तुमः।
तत् सु नो मन्म साधय ॥ (ऋ० ६।५६।४)

" हे दर्शनीय, ज्ञानसंपन्न तथा बहुतोंसे प्रशंसित पूषन् ! आज जो हम तुझसे भाषण कर रहे हैं तो वह हमारा अभिलषित भलीभाँति सिद्ध कर। "

इमं च नो गवेषणं सातये सीषधो गणम्।
आरात् पूषन्नसि श्रुतः ॥ (ऋ० ६।५६।५)

" और हमारे इस संघको तू लाभके लिए गायोंके ढूँढनेमें सफलता देदे क्योंकि हे पूषन् ! तू सुदूर देशमें भी विख्यात है। " पूषाको दिगन्तव्यापी यश मिला है क्योंकि वह जनसेवामें लगातार निरत है।

आ ते स्वस्तिमीमह आरेअघामुपावसुम्।
अद्या च सर्वतातये श्वश्च सर्वतातये ॥
(ऋ० ६।५६।६)

' हम तुझसे आज कल्याणकी कामना करते हैं जो धन समीप रखता है और पापको सुदूर भगा देता है ताकि यज्ञ सकुशल संपन्न हो तथा कल भी सानन्द एवं निर्विघ्न यज्ञकी समाप्ति हो जाए इसलिए उसीकी चाह व्यक्त करते हैं।'

जनसेवाको पूषा यद्यपि सुचारुरूपसे संपन्न करता है तथापि वह निरपेक्षता नहीं दर्शाता है अर्थात् जनतासे कुछ लेकर ही उसकी सेवा करता है जैसे,

यो अस्मै हविषाविधन्न तं पूषाऽपि मृष्यते।
प्रथमो विन्दते वसु ॥ (ऋ. ६।५४।४)

' जो पुरुष इसके लिए हविसे सेवा करने लगता है उसे पूषा तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचने देता और वह हविका दान करनेवाला प्रथम श्रेणीका धनाढ्य बन जाता है। ' देवतारूपी शक्तियों एवं व्यक्तियोंसे जनता सुख सुविधा एवं सेवाओंका अत्यंत स्पृहणीय सुप्रबंध चाहती है पर द्रष्टा वैदिक सुकवि चेतावनी देता है कि वह उचित हविकी आहुति देनेकी ओर प्रथम ध्यान दे। यथायोग्य हविकी आहुति डालने पर ही देवतारूपी व्यक्ति तथा शक्ति सुप्रसन्न होकर मानवको यथेष्ट सुविधा एवं सेवा मिले ऐसी व्यवस्था कर डालती है। आँग्लभाषामें No pains, no gains में जो आशय है वही उपर्युक्त मन्त्रमें भी है।

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥ (ऋ. ६।५४।१)

' हे पूषन् ! तू उस विद्वान्से हमारी अच्छी मुलाकात करदे जो शीघ्र ही सरलतया उपदेश देता है तथा जो निश्चयपूर्वक यही है ऐसा कहता हो। ' जिसके मनमें संदेह नहीं है, जिसका ज्ञान निश्चित है तथा जो विद्वान् होकर अविलम्ब जनताको सरल ढंगसे समझाता है ऐसे महापुरुषके संपर्कमें जनसाधारण आ सकें ऐसी व्यवस्था करना पूषाके कार्यक्रममें अन्तर्भूत था। आजदिन भी इस सूचनाका महत्त्व है क्योंकि सुयोग्य विद्वान् कभी कभी जनतासे दूर रहते हैं, दैनंदिन जीवन प्रणालीसे दूर एकान्तमें रहना प्रायः विद्वानोंको प्रिय लगता है इसलिए लोकसेवाका बीडा उठानेवाले पूषा सदृश लोकसेवकोंसे जो यह निवेदन किया है वह महत्त्वपूर्ण है। उसी प्रकार-

समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति।
इम एवेति च ब्रवत् ॥ (ऋ. ६।५४।२)

' पूषाकी सहायतासे हम उससे मिलें जो घरोंके संबंधमें हमें शिक्षा देता है और कहता है येही तुम्हारे लिए रहने-योग्य हैं। ' इस उपदेशका महत्त्व वर्तमानकालमें ठीक तरह ध्यानमें आता है क्योंकि सभी देशोंमें तथा विशेषतया भारतमें देखा जाता है कि क्या नगरोंमें क्या ग्रामोंमें मानवोंके रहने योग्य घरोंकी बडी न्यूनता दीख पडती है इसलिए जो निश्चयपूर्वक कह सके कि, येही मकान तुम्हारे योग्य हैं, उससे परामर्श करना ठीक है।

पूषाकी अनूठी क्षमताके बारेमें कहा है कि–

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते।
नो अस्य व्यथते पविः॥ (ऋ० ६।५४।३)

" पूषाके रथका पहिया रुकता नहीं, इसका भाण्डार कभी घटता नहीं और इसका साधन कभी कुंठित नहीं बनता है। " ऐसे ही महामहिममय पोषक प्रभुसे वैदिक द्रष्टा प्रार्थना करते हैं कि–

परि पूषा परस्तात् हस्तं दधातु दक्षिणम्।
पुनर्नो नष्टमाजतु॥ (ऋ० ६।५४।१०)

' पोषक अन्न देनेमें निरत प्रभु अपने दाहिने हाथको आगे धरदे ताकि हम निश्चिन्त एवं निर्भय हों कि आगे बढनेमें तनिक भी आशंका करनेकी जरूरत नहीं; पश्चात् वह फिरसे हमारा जो कुछ भी विनष्ट या लापता अथवा गायब हुआ हो उसे प्राप्त कर हमारी ओर भेजनेका प्रबंध करदे। '

एहि... आघृणे सं सचावहै। रथीर्ऋतस्य नो भव॥ (ऋ. ६।५५।१)

" हे चतुर्दिक् प्रदीप्त पूषन्! आओ तो सही, हम एक दूसरेसे मिल जायँ, आपसे हमारा बिछोह न हो बस यही एकमेव लालसा हमारे हियमें अविरत उठती है, हम चाहते हैं कि आप हमारे ऋतके आगे ले चलनेवाले बनें। ' वैदिक द्रष्टाओंके प्रवर्तित ऋतको (यज्ञ, अटल नियम) जनतामें फैलानेका गुरुतर कार्यभार पूषा सहर्ष उठाता है। इसीलिए वेदमें कहा है–

पूषणं न्वजाश्वमुप स्तोषाम वाजिनम्।...
(ऋ. ६।५५।४)

" अन्न तथा बलका भाण्डार साथ रखे हुए और शीघ्रगामी घोडों पर बैठ घूमनेवाले पुष्टिका प्रबंध करनेवालेकी समीप जाकर सराहना तो करलें। " लोकसेवा अथकरूपसे की जाय तो भक्तोंके अन्तस्तलमें स्तुति करनेकी लालसा स्वयमेव उठ खडी होती है। पूषाकी यात्राका वर्णन निम्न मन्त्रमें चित्रित किया है। जैसे–

आजासः पूषणं रथे... ते जनश्रियं। देवं वहन्तु बिभ्रतः (ऋ. ६।५५।६)

" जनताके मध्य रहकर सेवा करनेसे जिसकी श्रीवृद्धि हुई है, जो देवतारूपी पूषा है उसे रथ पर बैठनेके बाद ले चलते हुए वे शीघ्रगामी घोडे इधर पहुँचा दें। "

पूषाके नेतृत्वका सुन्दर एवं सजीव वर्णन देवश्रवा यामायन नामक वैदिक द्रष्टाने इस भाँति किया है–

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्। स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्॥
(ऋ० १०।१७।५)

" पूषा इन सभी दिशाओंको जानता है, इसलिए वह हमें उस मार्गपरसे चलाये जो अत्यन्त ही भयरहित हो। जनताके हितका प्रबंध करनेवाला, पूर्णतया प्रदीप्त एवं सभी तरहकी वीरताओंसे अलंकृत पूषा बिना किसी भूलके प्रकर्षसे जानकारी प्राप्त करता हुआ हमारा अग्रगन्ता बने। " इस मन्त्रसे स्पष्ट हुआ कि जनताको किन किन दिशाओंमें प्रगति करनेकी रही है इसका यथावत् ज्ञान पूषा प्राप्त करता है तथा जो मार्ग न्यूनातिन्यून डरसे युक्त हो उसी परसे आगे बढनेकी सूचना वह देता है और स्वयं सभी वीरोंको साथ लेकर पूरी तरह जगमगाता हुआ ज्ञानसंपन्न बनकर सुखसुविधाओंका यथेष्ट दान करता हुआ गलती न करके पूषा जनताके अग्रभागमें खडा रहता है। जहाँ नेतृत्वकी धुरा पूषा सदृश नेताके कंधे पर रखी हो वहाँ जनताकी प्रगति बिना किसी रुकावटके होगी इसमें क्या संशय ?

तथा और भी देखिए–

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः। उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्॥ (ऋ० १०।१७।६)

' मार्गोंमें जो सर्व श्रेष्ठ मार्ग है वहाँ पूषाका प्रादुर्भाव हुआ है, वैसे ही द्युलोक तथा भूलोकके भी श्रेष्ठतम मार्ग पर पूषा अपना दर्शन देता है ताकि जनताका ध्यान उधर

आकर्षित हो जाए; दोनों लोकोंके उस प्रियतम स्थानमें जहाँकि लोग मिलजुलकर रहते हैं पूषा उच्च कोटिका ज्ञान प्राप्त करता हुआ जनताके हितके अनुकूल तथा बुराईके प्रतिकूल संचार करता है । ' इससे स्पष्ट हुआ कि पूषाके नेतृत्वकी धाक विश्वके एक कोनेसे ले दूसरे कोनेतक बैठ गयी है । इसी बातका निर्देश इसभाँति है-

पूषा... प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।...
पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्... ।
(ऋ. १०।१७।३-४)

' भुवनका संरक्षक, अत्यंत विद्वान् पूषा है जिसके पशु कभी गुम नहीं होते ऐसा वह पूषा प्रकृष्टपथ पर सबसे पहले तेरी रक्षा करे । '

...' पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो.... ।
(ऋ. ६।७५।१०)

' ऋतको बढानेमें तत्पर हम लोगोंकी बुराईसे रक्षा करना पूषाके अधीन हो । ' भरद्वाज ऋषिकी माँग है-

विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु । (ऋ. ६।५८।१)

' निज धारणक्षम शक्तिसे युक्त हे पूषन् । तू सभी माया-ओंकी रक्षा करता है इसलिए हमारी आकांक्षा है, तेरी देन इधर हितकारक बने । ' कारण यही है कि-

अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यो धियंजिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः । अष्ट्रां पूषा शिथिरामुद्वरी वृजत् संचक्षाणो भुवना देव ईयते ॥
(ऋ. ६।५८।२)

' शीघ्रगतिवाले घोडे साथ रखनेवाला, पशुओंका पालन करनेवाला, अन्नयुक्त घरोंका प्रबंध करनेवाला, बुद्धियोंको प्रेरणा देनेवाला, समूचे भुवनमें जिसकी अमिट छाप बैठी हुई है ऐसा वह देवतारूपी पूषा ढीली पडी हुई यष्टिको दृढतापूर्वक ऊपर उठाकर धारण करता हुआ भुवनोंपर निगाह फेरता हुआ संचार करता है । ' और

पूषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः ॥ (ऋ. ६।५८।४)

' ऐश्वर्यवान्, दर्शनीय तेजवाला, अन्नका पति पूषा अच्छा बंधु है, वह द्युलोकसे भी इधर पधारे तथा भूमंडलके किसी विभागमें हो तो वहाँसे भी हमारे निकट चला आय । '

यद्यपि पूषा असीम सामर्थ्य एवं कार्यक्षमतासे युक्त है तो भी वह कभी कभी इन्द्र तथा सोमसे मिलकर विविध कार्य कलापका सृजन करता है और उनका सहयोग पाकर जनताकी अपार सेवा करलेता है । इन्द्र तथा पूषाके मिल कर जनसेवाके विराट कार्यको सफलतापूर्वक निभालेना वैदिक द्रष्टा इसभाँति चित्रित करते हैं—

उत घा स रथीतमः सख्या सत्पतिर्युजा ।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ (ऋ० ६।५६।२)

" और भी एक बात देखनेयोग्य है कि वह सज्जनोंका पालक तथा रथविद्यामें अतिविख्यात प्रभु इन्द्र निश्चयसे मित्र बने हुए पूषाके सहयोगसे वृत्रोंका-रुकावटोंका वध कर डालता है । " जनसेवा निर्विघ्न हो इस हेतु वृत्रवधका प्रचण्ड कार्य इन्द्र सकुशल समाप्त करता है और इसमें उसे पूषाका सहयोग एवं मित्रतापूर्ण बर्ताव प्राप्त है ।

यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः ।
तत्र पूषाभवत् सचा ॥ (ऋ० ६।५७।४)

" जिस समय अत्यन्त प्रबल प्रभु इन्द्रने हलचल करने-वाले बडे भारी जलसमूह भूमंडलपे पहुँचाये तो उस समय वहाँ पूषा सहयोग दे रहा था । " इसीकारण बृहस्पति पुत्र भरद्वाज कहते हैं-

इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये ।
हुवेम वाजसातये ॥ (ऋ० ६।५७।१)

" हम लोग अन्नके प्रदान, हित तथा मित्रताके संबंधको दृढ करनेके लिए इन्द्र और पूषाको बुलाते हैं । "

उत् पूषणं युवामहेऽभीशूँरिव सारथिः ।
मह्या इन्द्रं स्वस्तये ॥ (ऋ० ६।५७।६)

" बडे भारी हितसंबंधको अक्षुण्ण रखनेके लिए हम इन्द्र और पूषाको कार्यमें वैसे ही उद्युक्त करते हैं जैसे कि एक रथ हाँकनेवाला घोडोंको चलनेमें प्रवृत्त करनेके हेतु लगामों को हिलाता है । "

तां पूष्णः सुमतिं वयं वृक्षस्य प्र वयामिव ।
इन्द्रस्य चा रभामहे ॥ (ऋ० ६।५७।५)

" हम लोग इन्द्र तथा पूषाकी उस विख्यात हितकारक बुद्धि या कामनाको अपने लिए उसी तरह आलंबन साधन

मानते हैं जैसे कि पंछी पेडकी उत्कृष्ट डालीके सहारे बैठकर निश्चिंत हो जाते हैं । ' वृक्षकी बढिया टहनी जिस तरह पंछियोंके लिए आकाशमार्गमें अवलंबनका श्रेष्ठ साधन बनती है, ठीक उसी प्रकार जीवन यात्रामें जनताका आधार-स्तंभ इन्द्र और पूषाकी ' सुमति ' ही है ।

सोममन्य उपासदत् पातवे चम्वोः सुतम् । करम्भमन्य इच्छति ॥ (ऋ. ६।५७।२)

' बर्तनोंमें निचोडकर रखे हुए सोमरसको पीनेके लिए उस देवतायुगलमें एक अर्थात् इन्द्र समीप आ बैठा है तो दूसरा याने पूषा करम्भ नामक खाद्य पदार्थकी इच्छा करता है । ' जनसेवाके बृहत् कार्यको पूरा करके या उसके पहले इन्द्र सोमरसको पीलेना चाहता है तो इधर पूषाको भी दहीमें सत्तू मिलाकर सेवन करना अभीष्ट है । ज्ञात होता है कि निर्वेतन सेवा करना देवताओंको अभीष्ट नहीं था । सोमरस पुरोडाश, करम्भ सदृश खाद्यपेय यथेष्ट मात्रामें देनेपर ही जनताको पूषा, इन्द्र, मरुत्, अश्विनौ जैसे देवोंसे स्पृहणीय सहायता तथा सुखसुविधाओंकी प्राप्ति होना संभव है। ध्यानमें रहे कि इन चीजोंको कमसे कम लेकर निःस्वार्थ-भावसे जनसेवा करनेका निर्देश इन देवताओंके सूक्तमें नहीं मिलता है ।

य एनमादिदेशति करम्भादिति पूषणम् । न तेन देव आदिशे ॥ (ऋ. ६।५६।१)

' करम्भ खानेवाला है ऐसा जो मानव इस पूषासे अपनी माँग पूरी करनेको कहता है वह दूसरे देवतासे प्रार्थना नहीं करता है । ' पूषासे सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति होनेपर दूसरे देवताकी प्रशंसा करने या प्रार्थना करनेका कोई कारण भक्तके लिए नहीं रहता है ।

सोम तथा पूषाके बारेमें गृत्समदका कथन है कि–

सोमा पूषणा जनना रयीणां... जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ... ॥ (ऋ. २।४०।१)

' पूषा और सोम धनोंके उत्पादक हैं तथा समूचे भुवनके संरक्षक भी बने हैं । '

दिव्यन्यः सदनं चक्र उच्चा पृथिव्यामन्यो अध्यन्तरिक्षे । तावस्मभ्यं पुरुवारं पुरुक्षुं रायस्पोषं वि ष्यतां नाभिमस्मे ॥ (ऋ. २।४०।४)

द्युलोकके अत्युच्च विभागमें एकने अर्थात् सोमने अपना निवासस्थान बना लिया है तो दूसरा भूमंडलपर और अन्तरिक्षमें रहता है, वे दोनों हमें बहुतोंके स्वीकरणीय, बहुत कीर्तिसे युक्त पशुसमुदायका, जो कि आनन्द या वैभवका केन्द्र है, दान करें । ' इसमें पूषाका तथा सोमका सहयोग-पूर्ण कार्य बताया है । एक उच्च द्युलोकमें रहता है तो दूसरा मध्य विभागमें और निम्नस्तरमें रहता है । मानव-समाजमें भी अरिस्टोक्रॅट, (उच्च श्रेणी) बूर्ज्वा (मध्य-वित्त) तथा प्रोलॅटरियट (श्रमजीवि) ऐसे तीन स्तर पाये जाते हैं । वैदिक देवताके विशाल एवं व्यापक दृष्टिकोणका यह अति सुन्दर परिचय है कि वे किसी एक विभाग या स्तरमें ही अपनेको सीमित नहीं करते किंतु सभी श्रेणियोंके निकट संपर्कमें रहकर लोकसेवाके शाश्वतिक एवं स्पृहणीय कार्यको जारी रखते हैं ।

विश्वान्यन्यो भुवना जजान विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति । सोमापूषणाववतं धियं मे युवाभ्यां विश्वाः पृतना जयेम ॥ (ऋ. २।४०।५)

' एक सभी भुवनोंको उत्पन्न कर चुका है तो दूसरा समूचेको देखता हुआ संचार करता है (श्रमविभागका क्या ही सुन्दर वर्णन है); हे सोम एवं पूषन् ! मेरी क्रियाको संरक्षणछत्रछायामें धरदो; तुम दोनोंकी सहायता पाकर हम समूची शत्रुसेनाओंपर विजयी बनेंगे । '

... इमौ तमांसि गूहतामजुष्टा... ॥ (ऋ. २।४०।२)

धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्वो रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु... । (ऋ. २।४०।६)

ये दो पूषा एवं सोम असेवनीय अन्धःकारोंको गुप्त कर रखें याने जनतामें फैलने न दें; विश्वको प्रेरित करनेवाला पूषा बुद्धिको प्रेरणा दे तथा धनोंका मालिक सोम हमारे मध्य धनको रखदे । '

ऋग्वेदके दशममंडलमें २६ वे सूक्तमें प्रजापति पुत्र विमद द्रष्टा पूषाके संबन्धमें कहता है–

अस्माकमूर्जा रथं पूषा अविष्टु माहिनः । भुवद्वाजानां वृध इमं नः शृणवद्धवम् ॥ (ऋ. १०।२६।९)

' महत्त्वपूर्ण पूषा अपने बलसे हमारे रथका संरक्षण करे

और वह अन्नोंकी वृद्धि करनेमें तत्पर रहे तथा हमारी इस पुकारको सुनले।' भक्तोंके वाहनको सुरक्षित रखना, अनुयायियोंके लिए अन्नकी समृद्धि करनेमें सचेष्ट रहना और उपासकोंके बुलानेपर उधर ध्यान देना पूषाके कार्यक्रममें समाविष्ट है।

प्र ह्यच्छा मनीषाः स्पार्हा यन्ति नियुतः।
प्र दस्रा नियुद्रथः पूषा अविष्टु माहिनः॥
(ऋ. १०।२६।१)

'पूषाके प्रति हमारी स्पृहणीय एवं मननपूर्वक तैयार करके नियोजित की हुई प्रशंसापूर्ण कविताएँ चली जाती हैं (अर्थात् हम सोच विचार कर पूर्व संकेतके अनुसार स्पृहणीय और स्तुतिमय रचनाएँ तैयार कर चुकनेपर पूषाके निकट भेज देते हैं) ताकि वह महनीय तेजसे युक्त दर्शनीय पूषा जिसका रथ सदैव सिद्ध रहता है हमारे संरक्षणके कार्यको प्रकर्षतया निभाले।'

यस्य त्यन्महित्वं... अयं जनः। विप्र आ वंसद्धीतिभिश्चिकेत सुष्टुतीनाम्॥(ऋ. १०।२६।२)

"जिस पूषाके उस विख्यात महत्वको यह ज्ञानी पुरुष अपने कर्मोंसे अपने अनुकूल बना लेता है, वह सुन्दर स्तुतियोंको ठीक तरह समझ लेता है।" अर्थात् भक्तोंकी चारु प्रशंसामय काव्योंके मर्मको जानकर पूषा उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है।

स वेद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा। अभि प्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति॥ (ऋ० १०।२६।३)

"सोमकी तरह प्रबल पूषा भक्तोंकी स्तुतिमय सुन्दर रचनाओंके रहस्यको जानता है और सुरूपवान होकर गोशालामें जिस तरह गौओंके समूह प्रवेश करते हैं ठीक वैसे ही जनताके मध्य धनधान्यकी वर्षासी करता है।"

मंसीमहि त्वा वयमस्माकं देव पूषन्।
मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्॥
(ऋ० १०।२६।४)

"हे द्योतमान, दानशूर पूषन्! हमारी इच्छाओंकी पूर्तिके साधन बने हुए और अपनी स्पृहणीय लोकसेवासे ज्ञानियोंको सिर हिलानेमें प्रवृत्त करनेवाले तुझको हम मान्यता पूर्वक प्रशंसित करते हैं।"

प्रत्यर्धिर्यज्ञानामश्वहयो रथानाम्। ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः॥
(ऋ० १०।२६।५)

"वह पूषा यज्ञोंके प्रत्येक अर्धभागको लेनेवाला, रथोंमें घोडे जोतकर प्रगति करनेवाला, द्रष्टा, मानवोंके हितकारक कार्योंमें लगा हुआ और ज्ञानी पुरुषके कष्टको दूर भगाकर उसका मित्र बननेवाला है।"

इनो वाजानां पतिरिनः पुष्टीनां सखा।
... यो अदाभ्यः॥ (ऋ० १०।२६।७)

"यह पूषा अन्नोंका अधिपति तथा पुष्टिकारक औषधियोंका परिचय रखनेवाला है अतः प्रभु है और जो कभी कठिनाइयों या शत्रुओंसे दबनेवाला भी नहीं है।" पौष्टिक औषधिवनस्पतियोंकी जानकारी रखकर और विकट परिस्थितियोंसे तथा विरोध करनेवालोंसे न दबाये जाकर पूषा अन्नोंपर अधिकार प्राप्त कर लेता है इसलिए उसे जनता प्रभु कहती है।

आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः।
विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥
(ऋ० १०।२६।८)

'हे पूषन्! तू सभी याचकोंका मित्र है; कभी अपने प्रण या पदसे हटाता नहीं तथा सेवाके लिए उत्पन्न है; इसलिए शीघ्रगतिवाले घोडे तेरे रथको हमारी ओर ले चलें।' पूषामें अटलपन है, जनसेवाके लिए ही वह मानों उत्पन्न है और उन सभी लोगोंका, जोकि किसी न किसी वस्तुको पानेकी अभिलाषा मनमें रखते हैं, पूषा मित्र है। इसी कारणसे वैदिक द्रष्टा चाहता है कि पूषाके रथभारको जल्द जानेवाले घोडे उनके समीप ले चलें।

कण्व परिवारमें उत्पन्न मेधातिथिका कथन है कि–
पूषा राजानमाघृणिरपगूळ्हं गुहा हितं।
अविन्दत् चित्रबर्हिषम्॥ (ऋ. १।२३।१४)

'प्रदीप्त पूषाने दूर छिपे हुए, किसी गुहामें रखे हुए और अनूठे दर्भवाले विराजमान सोमवनस्पतिको प्राप्त किया।' इसलिए पूषासे प्रार्थना की गयी है कि–

आ पूषन् चित्रबर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः।
आजा नष्टं यथा पशुम्॥ (ऋ. १।२३।१३)

'प्रदीप्त बने हे पूषन्! धारण करनेवाली और अनोखे

कुशोंसे युक्त सोमवल्लीको द्युलोकसे अर्थात् अत्यंत ऊँचे पहाडकी चोटीपरसे तू इधर लादे और हे गतिशील या आन्दोलन करनेवाले ! जिस तरह गुम हुए पशुको लोग ढूँढकर पाते हैं वैसे ही तू उस सोमवल्लीको इधर पहुँचादे।' सोमवल्ली दुर्गम पहाडकी ऊँची चोटीपर पायी जाती है जिसे प्राप्त करके मानवोंकी पहुँचके भीतर रखना पूषाका विख्यात कार्य है।

ऊपर लगभग ७५ मन्त्र दिये हैं जिन्हें ध्यानपूर्वक पढनेसे पूषाके संबंधमें अच्छी जानकारी प्राप्त हो सकती है और मानवजातिके लिए जो महनीय कार्य पूषाने किया उससे भलीभाँति परिचित होनेपर वैदिक ऋषियोंकी ही अमर एवं अप्रतिम वाणीसे निम्न प्रकार पूषासे प्रार्थना करके इस लेखको समाप्त करते हैं।

घोरपुत्र कण्वऋषिकी प्रार्थना है—

सं पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो नपात्।
सक्ष्वा देव प्र णस्पुरः ॥   (ऋ० १।४२।१)

"हे द्योतमान ! विशेष ढंगकी मुक्तिको अक्षुण्ण रखनेवाले हे पूषन् ! हम भली प्रकार मार्गक्रमण करके आगे बढें तथा पापको भी लाँघकर निकलें ऐसा प्रबंध कर पश्चात् हमारे आगे ऐसा रह कि कभी बिछोह न होने पाय।"

दिवोदासपुत्र परुच्छेपकी प्रार्थना निम्न प्रकार है—
यस्य ते पूषन्त्सख्ये विपन्यवः क्रत्वा चित् सन्तोऽवसा बुभुज्रिरे इति क्रत्वा बुभुज्रिरे।
तामनु त्वा नवीयसीं नियुतं राय ईमहे।
अहेळमान उरुशंस सरी भव वाजेवाजे सरी भव ॥   (ऋ० १।१३८।३)

हे पूषन् ! तेरी जिस विख्यात मित्रताको प्राप्त करके विशेष ढंगसे प्रशंसा करनेवाले लोग कार्य करचुकनेपर ही तेरी संरक्षण छत्रछायामें विविध भोग लेसके हैं और इस भाँति कर्मण्यताके सहारे सुखोपभोग कर सके हैं उस तेरी ही प्रतिपल नया स्वरूप धारण करनेवाली रक्षाकी आयोजना प्राप्त करके हम तुझसे कोव्यवधि धनोंकी प्राप्ति करना चाहते हैं तथा अन्तमें अपनी चिरसंचित आकांक्षा व्यक्त करते हैं कि तू प्रसन्नचेता बनकर, व्यापक रूपसे उपदेश अभिभाषण देता हुआ अप्रतिहत ढंगसे आगे बढ और प्रत्येक युद्ध या संग्रामके अवसरपर अटल, अडिग हो अग्रगन्ता बन।

तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥   (अथर्व० १६।९।२)

" अग्निने-अग्रगन्ता वीर नेताने वही बात कही है और निश्चयपूर्वक सोमका भी वही कथन है; सुकृतके लोकमें मुझको पूषा रखदे--पुण्यभवनमें मैं जासकूँ ऐसी व्यवस्था पूषा करदे।"

संस्कृत भाषाकी वैज्ञानिक चारुता तथा दार्शनिक गंभीरता

(लेखक- प्राध्यापक गणेश अनंत धारेश्वर, बी. ए.
भूतपूर्व संस्कृत उपाध्याय उस्मानिया विश्वविद्यालय हैद्राबाद दक्षिण)
अनुवादक- श्री. पं. द. ग. धारेश्वर, बी. ए.

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ (ऋ० १।४।१)

" अपनी सहायता एवं जानकारीके लिए हम प्रतिदिन सुन्दर स्वरूपोंके सृजनकर्ता, अच्छे कृत्य करनेवाले तथा लालित्य एवं चारुताके प्रदानकर्ताको समीप बुलाते हैं। "

भौतिक विज्ञानके विविध क्षेत्रोंमें भव्य सफलता प्राप्त होनेके कारण आधुनिक युगके मानव अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं और अपना मस्तक ऊँचा करते हैं। चारुता एवं उपयोगितासे परिपूर्ण महान् कार्योंके सफलतापूर्वक संपन्न होनेसे यदि आधुनिक मानव गर्वित हो उठे तो कोई अचम्भेकी बात नहीं; यह तो नितान्त उचित एवं न्यायान्वित है। भला विज्ञान तथा कलाका भी आखिर दूसरा क्या आशय हो सकता है? विचार, उच्चार एवं आचरणमें उपयुक्तता और शोभाही वास्तवमें विज्ञान एवं कला है। परमात्माके लिये वेदमें ' सुरूप-कृत्नु ' अर्थात् सौंदर्यके निर्माण कर्ता एवं अनूठे तथा आश्चर्यजनक कार्य कहनेहारा ऐसा पद प्रयुक्त किया है। हर एक सुन्दर विचार, हरएक आभामय उच्चार तथा प्रत्येक लालित्यपूर्ण कृत्य परमात्मासे अभिन्न तथा दिव्य है क्योंकि विश्वरूपमें अपने असीम सामर्थ्यकी झाँकी दर्शानेहारे सर्वोपरि सामर्थ्य एवं सुन्दरताके आदिस्रोत " एकं सत् " परमात्माका अंशही सुन्दरतासे व्यक्त होता है भलेही वह किसी भी रूपमें हो। चूँकि यह समूचा विश्वरूप परमात्माका ही स्वरूप है अतः जो कोई सुन्दर विचारका चिंतन करे, चारु कल्पनाका उच्चार करे अथवा सुन्दर कार्यको संपन्न करे वह परमात्मासे अभिन्न एवं दिव्य है। ध्यानमें रहे कि उपयोगिता, चारुता तथा आभा परमात्मा ही है। इसी कारण जिस आधुनिक मानवने विज्ञान, कला, उपयोगिता एवं शोभाके लिए यथेष्ट परिश्रम उठाया है उसका सम्मान करना सर्वथैव उचित है और उसके दिलमें कुछ अभिमान भी हो तो वह अनुचित नहीं कहा जा सकता है। गौरव एवं सराहना पानेका उसे पूर्ण अधिकार है। अतः आधुनिक मानवके कार्य एवं उसकी क्षमताकी अवहेलना करना पापही है।

किन्तु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि अतिपरिचयके कारण मनमें तिरस्कार एवं उपेक्षाके भाव उठ खडे होते हैं। इस कथनमें भलेही भूल रहे या यह सही हो लेकिन यह सच है इसमें संशय नहीं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कलतक जो वस्तु सुन्दर मानी जाती थी वही आज अ-सुंदरसी प्रतीत होने लगती है और आज दिन जो ललित दिखाई दे संभव है निकट भविष्यमें उसकी आभा घटती रहे। अतः यह सुतरां संभव है कि आगामी युगकी पुश्त, आधुनिक युगको वैज्ञानिक क्षेत्रमें तथा कलाकृतियों एवं सौंदर्यवर्धनमें जो महनीय सफलता मिली है, उसके प्रति उपेक्षा एवं तिरस्कारके भाव दर्शाने लगे। किन्तु जैसा पहले हम कह आये हैं, आधुनिक मानवकी क्षमता एवं कार्यशक्तिकी निन्दा करना पाप है।

यदि ऊपरके प्रतिपादनमें कोई भूल न हो, तो आधुनिक लोगोंको ध्यानमें रखना चाहिये कि प्राचीन युगके मानवने विज्ञान कला एवं चारुताके जो महनीय कार्य कर दिखाये हैं उनकी अवहेलना करना भी उतनाही पापमय है यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिये कि वास्तवमें, विज्ञान सिर्फ वर्तमान मानवके मस्तिष्ककी ही उपज हो, ऐसी बात नहीं। जिस भांति हम वर्तमान युगके लोग अपेक्षा करते हैं कि आगामी पुश्त हमारे कार्योंको आदरकी दृष्टिसे देखे और हमारी योग्यताका मूल्य जानके, ठीक उसी तरह हमें चाहिये कि पुरातन कालीन मानवके कार्य कलापको हम यथोचित सम्मान दें तथा गौरव प्रदान भी

करें। इतना ही क्यों, किन्तु हमारा सिद्धान्त ही ऐसा रहे कि जितनाही कोई अधिक पुरातन हो उतना ही वह ज्यादा सम्मान पानेका अधिकारी है। हमारा विश्वास है कि इस प्रतिपादनका विरोध शायदही कोई करे क्योंकि यह न्यायानुमोदित एवं सत्य है। अन्य बातोंकी समता होनेपर ऐसा कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि प्राचीन युगकी चारु कलाकृतिको वर्तमान में उत्पादित रम्य कलाकृतिसे भी अपेक्षाकृत अधिक सम्मान देना योग्य है। इसपर अधिक बल देनेकी कोई आवश्यकता नहीं जान पडती है।

अपने ही भारत देशपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि प्राचीन भारत न केवल काव्य, दर्शन एवं धर्मका ही आदि स्रोत रहा किन्तु विज्ञान, कला एवं सौंदर्यका भी निर्माता रहा। आज दिन संसारमें यदि कोई वैज्ञानिक लिपी जारी है तो वही है जिसे सहस्रों वर्ष पूर्व प्राचीन भारतने आविष्कृत किया तथा जिसकी शिक्षा भगवान बुद्ध को बाल्यावस्थामें दी गयी थी। यह तो हरकोई जानता है कि अत्यन्त उपयुक्त दशमलव संख्या प्रणाली जो आज संसारभरमें प्रचलित है वह प्राचीन भारतकी ही देन है। इतनाही नहीं लेकिन प्राचीन भारतके मानवके उच्चार विचार एवं आचारमें जो भी कुछ उपयुक्त दीखपडता है वह साराका सारा विज्ञान, चारुता, कला, लालित्य, उपयुक्तता एवं सहजतासे अनुप्राणित था। हर कोई बात, चाहे वह नामकरणमें हो या अंकगणनामें हो, वर्णमालामें हो या भाषामें हो अथवा समाजशास्त्र तथा सामाजिक धार्मिक संस्थाओंमें (जैसे वर्णाश्रम धर्म) हो पर वह अत्यन्त सुन्दर वैज्ञानिक बुनियाद पर टिकी हुई प्रतीत होती है। सचमुच प्रारम्भसेही प्राचीन भारतीयका मस्तिष्क एक अति सहज एवं श्रेयस्कर वैज्ञानिक सांचेमें ढला था। प्राचीन भारतका आर्य अपनी उच्च जातिका अत्युच्च आदर्श था क्योंकि वह विज्ञानका द्रष्टा था, दर्शनकी अनुभूति पाता था और काव्यमय भाषामें विचार प्रकट करता था। उसकी निगाहमें तो सब कुछ प्रकाश, चारुता, प्रेम, आनन्द, जीवन तथा लावण्यसे ओतप्रोत था। क्यों? सिर्फ इसीलिए कि 'पुरुष एव इदं सर्वं' वचनसे सुतरां प्रभावित हो वह सबके आदिस्रोत विश्वरूप तथा पुरुरूप परमात्माका दर्शन हरवस्तुमें पाता था, 'एकं सत्' की जानकारीसे उसे हर चीज परमात्मासे अभिन्न प्रतीत होती थी। वह सौंदर्यका सर्वतोपरि दर्शन पाता था तथा उसके समूचे जीवनमें धर्म अनुस्यूत था।

इस छोटेसे लेखमें हम संस्कृत भाषाके पदोंमें जो दार्शनिक गंभीरताकी झलक दीखपडती है तथा वैज्ञानिक मनोहरताकी झांकी दिखलाई पडती है उसका तनिक दिग्दर्शन करना चाहते हैं। जो बात हमें अति अनूठीसी प्रतीत हुई उसके सम्बन्धमें कुछ सूचक ढंगसे प्रतिपादन करके देखना चाहते हैं कि अधिक सुयोग्य विद्वानोंके लिए यह विषय दिलचस्प प्रतीत होता है या नहीं। प्रारम्भमें गीर्वाण धातुओंसे विचार करना शुरू करके पश्चात् पदोंकी ओर मुडना चाहिये।

१ संस्कृत भाषाके धातुओंकी उत्कृष्ट वैज्ञानिक व्यवस्था

क्या संस्कृत भाषाके धातुओंकी रचना वैज्ञानिक ढंगपर हुई थी? यदि उनमें वैज्ञानिक रचनाक्रम दीखपडे तो वह किस भांतिका है? कुछ समयसे हमारा ध्यान इन प्रश्नोंकी ओर आकृष्ट हुआ था। उदाहरणके लिए निम्न धातुओंके युगल ध्यान पूर्वक देख लीजिए-

(१) मद-दम; (२) मन-नम, (३) सह-हस, (४) पत-तप, (५) रम-मर, (६) रक्ष-क्षर, (७) लक्ष-क्षल, (८) मुच-चुम्ब।

इन आठों द्वन्द्वोंमें महत्त्वपूर्ण बात यही कि अक्षर या वर्णोंको उलटा कर देनेसे अर्थ तथा आशय भी बिलकुल उलटा हो जाता है। इन युगलोंके अर्थ तथा भावपर सतर्कतापूर्वक ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक धातुका वर्णविपर्यास करनेसे तात्पर्य भी ठीक विरुद्ध निकलता है तथा उलटी कल्पनाकी प्रतीति होती है। उपर्युक्त द्वन्द्वोंके अर्थ इस भांतिके हैं-

(१) हर्षित होना, मतवाला बनना– नियंत्रण करना, रोकना,

(२) सोचना. विमर्श करना– झुकजाना, नम्र होना,

(३) सहन, बरदाश्त करना– हँसदेना, (४) गिरना, उठना (५) रममाण होना, दिल बहलाना– मौतके मुँह

में समाना, (६) रक्षा करना, बचाना-- चूजाना, गलजाना (७) देखलेना, ध्यानमें लाना- घुल जाना, मिटाना (८) छोडदेना- चिपक जाना ।

(१) ये दोनों धातु आंग्ल भाषामें (mad-tame) इस तरह पाये जाते हैं। गीर्वाण भाषामें मद का अर्थ है खुश होना; खुशीके मारे मतवाला बनना, हर्षके कारण पागलसा बनना और इधर दम का आशय है हिला हुआ कर देना, पालतू बनाया जाना,रोकलेना, नियंत्रणमें रखना। अब पाठकोंके ध्यानमें यह बात तुरन्त आजायगी कि नियंत्रित करने, रोकनेकी कल्पना हर्षित होने, खुशी मानने या मतवाले बननेके ठीक बरखिलाफ है। आनन्द एवं मतवालेपनका आशय है कि किसी नियंत्रकका अभाव या न्यूनता है। अतः स्पष्ट हुआ कि वर्णोंके वैपरीत्यसे आशयभी विपरीतही दीखपडता है। बस यही नियम अन्य युगलोंके बारेमें कार्य करता है। उदाहरणार्थ-(२) में मनन करने तथा झुकनेके भाव हैं अर्थात् नम्र होने एवं शीश नवानेके खिलाफ सोचनेकी क्रिया है क्योंकि प्रायः जब हम सोचते नहीं या सोचविचार करने योग्य दशा में नहीं रहते तभी तो हम झुकजाते हैं,हमारा माथा नम्र हो उठता है। साफ प्रतीत हुआ कि अपने विचारके अभावसे ही हम उच्च प्रतीत होनेवाले विचारके सम्मुख नम्र होने लगते हैं। जब मानवमें हीन निम्न कोटिकी विचारशून्यता या मूर्खता मौजूद रहती है तो इसका परिणाम केवल हीन एवं जघन्य कोटिकी पराधीनताही है। इसपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि हम सर्वत्रही देखते हैं किसतरह मौर्ख्य याने मननशक्तिके अभावसे मानव दूसरोंके अधीन हो जाते हैं। भारतकी (वा किसीभी अन्य देशकी) पराधीनता या माथा नवानेकी प्रवृत्तिका कारण प्रमुखतया यही है कि भारतीय जनतामें उन्मुक्त, बलवत्तर स्वतंत्र मौलिक विचारोंका प्रायः अभावसा हो चला। यदि अब हमारी ऐसी लालसा हो कि भारत पुनरपि स्वतंत्रताकी सुखद छत्रछायामें संचार करने लगे तो हमारा यह अनिवार्य कर्तव्य है कि भारतवासियोंमें निर्बाध, सुदृढ, मौलिक एवं स्वतंत्र विचारधाराका अविरत प्रवाह जारी रहे ऐसा सुप्रबंध करने लगें। जबलौं विचारशून्यता याने मूर्खता प्रचलित रहेगी तबतक दूसरोंके सम्मुख विनम्र होने, शीश झुकाने या माथा टेकनेकी प्रवृत्ति अर्थात् ही पराधीनता प्रबलतया प्रचालित रहेगी। महत्वपूर्ण तथा ध्यानमें रखने योग्य बात है- विचार करना, मनन करते रहना नम्र होने, शीश झुकानेके अभावका पर्याय है तथा झुकना विचारशक्तिका अभाव सूचित करता है।

तृतीय द्वन्द्वमें भी यही दिखाई देता है कि मानव तभी हँस देना शुरु करते हैं जब कि वे किसी तरह अपने को नियंत्रित नहीं करपाते, उमडनेवाले भावोंपर दबाव नहीं रख सकते हों। जिस समय मानव अपने मनपर दबाव नहीं डाल सकता या रोक नहीं सकता तब मुस्कराना या ठठाकार हँसना शुरु करता है (४) यहां भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कल्पना प्रतीत होती है और इसी कल्पनासे प्रभावित होकर हम इस विषयकी ओर आकर्षित हो गये। भारत देशका पतन क्योंकर हुआ इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर हम सोचने लगे। भारतका पतन किसलिए हुआ और अब किस ढंगसे उसका उत्थान हो सकता है, बस यही सवाल हमारे अन्तस्तलको प्रतिपल पीडित एवं आन्दोलित करनेलगा। कुछ सोचनेपर ' पत-तप ' द्वन्द्वके रूपमें उस प्रश्न का उत्तर हमें सूझा। भारत का पतन इसीलिए हुआ कि, भारतीयोंमें तपः- अनुशासन का शोचनीय अभाव रहा। जिस समय पत् × तप् ऐसा विरोध हमारे सामने उठखडा तभी हमारा दिल संस्कृत भाषाके अन्य धातुओंकी ओर आकृष्ट हुआ तथा ख्याल आया कि क्या गीर्वाण भाषाके दूसरे धातुओंमें भी वर्ण व्यत्याससे अर्थ वैपरीत्य दृष्टिगोचर होता है या यह सिर्फ काकतालीय न्यायकी बात है ? 'तपः' का अर्थ है उष्णता, गर्म करदेना, तपोमय जीवन बिताना, अनुशासन जिसे आंग्ल भाषामें डिसिप्लिन कहते हैं। जब कोई वस्तु उष्ण करदी जाय तो वह फैल जाती है या ऊपर उठनेलगती है इसतरह यह द्वन्द्वभी विरुद्ध कल्पनाओंको धारण किये हुए हैं।

(५) इस युगलमेंभी वही तत्त्व कार्य करता है जैसे, रम्- आनंदित होना तथा मर्- मौतके कराल मुखमें कवलित होना। यही सिद्ध हुआ कि बाह्य संसारमें जब मानवका मन रममाण नहीं होता तभी वह मृतकतुल्य होता है। मानव तभीतक वास्तवमें जीवित रहते हैं जबतक वे अपने चतुर्दिक् विद्यमान सृष्टिसे प्रेरित जीवनप्रद एवं

आनन्ददायक आन्दोलनों हलचलों एवं उत्तेजनोंसे प्रभावित होनेकी क्षमता रखते हैं। इसलिए वास्तविक मृत्यु वही है जब अपनी परिस्थितिमें आनन्द मिलना बंद होता है। यह द्वन्द्वभी हमें बडी अच्छी शिक्षा देता है जैसे, क्या मानव वास्तविक अर्थमें जीवित रहना चाहते हैं ? तो उन्हें चाहिये कि वे अपनी परिस्थितियोंमें एवं वायुमंडलमें यथासंभव आनन्द एवं हर्ष प्राप्त करना सीख लें।

(६) रक्ष=बचाना, सुरक्षित करना और क्षर्=गल जाना, विनष्ट होना। अक्षरः अविनाशी। यदि संरक्षण न किया जाय तो विनाश अवश्यभावी है। उदाहरणार्थ, हम भारतीयोंके विनाश या पतनकोही लें। किस कारणसे ऐसा हुआ ? भारतवासी अपने हितोंकी रक्षा नहीं करते किन्तु अपनेही कर्तव्यको दूसरे लोग समाप्त करें ऐसी इच्छा करते हैं। वे इतने आलस्ययुक्त एवं अज्ञ बन बैठे हैं कि अपनेही हितोंको अन्य लोगोंकी संरक्षणछत्रछायामें बिना आनाकानीके रखदेते हैं। जो कार्य उन्हें स्वयं कर लेना था उसे पूर्ण करनेमें वे दूसरोंकी राह देखते बैठे हैं कि कब उनसे वह संपन्न हो जाय। यही भारतीयोंके क्षीणत्व एवं पतनका कारण है। हमें उचित है कि अपनी रक्षा करना हम सीखलें और अपने हितोंको सुरक्षित एवं अक्षुण्ण बनाये रखें यदि हम चाहें कि पतन तथा क्षीणत्वकी राहमें रोडे अटकाये जायँ।

(७) यह द्वन्द्वभी जिसमें लक्ष निहारना, देखना, क्षल=धुलजाना अन्तर्भूत है, उसी अर्थ वैपरीत्यके तत्वका द्योतक है। भारतमें हरसाल कहीं न कहीं भीषण वर्षाके परिणाम स्वरूप विध्वंसक बाढके आनेके समीचार प्रायः समाचार पत्रोंमें छप जाया करते हैं तथा उनसे सभी चिन्ह किस तरह धुल जाते हैं सो भी सुस्पष्ट है अतः इसपर अधिक लिखना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है। (८) यह द्वन्द्व भी, जिसका भाव है चिपकना, छोडना उपर्युक्त तत्वका ही अनुसरण करता है और इस पर भी विशेष लिखनेकी जरूरत नहीं। आग्ल भाषामें इसके लिए (cleave-leave) पद हैं। इन सभी उदाहरणोंमें अक्षरोंके पलटदेनेसे भाव के पलटनेका दृश्य दीखपडता है।

अब देखना चाहिये कि निम्नलिखित धातु युगलोंके दोनों घटकोंके प्रदर्शित भावोंके बीच कौनसा सम्बन्ध प्रस्थापित है। (१) दिव्-विद्=प्रकाशित होना- जानलेना, (२) यज्-जय्=पूजन करना- जीतलेना, (३) सर-रस = आगे बढना- द्रवित होना, (४) शक्-कश् = शक्ति संपन्न होना- शब्द करना, (५) धर्-रध् = धारण करना- समाप्त करना, (६) हन्-नह् = प्रहार करना- बाँधना, (७) वन-नव = ढूँढना- नया, (८) हर-रह = ले जाना, अलग करना।

उपर्युक्त उदाहरणोंमें ऐसा दिखाई देता है कि एक कल्पनाकी उपस्थिति दूसरी कल्पनाको ला खडी करती है जैसे. (१) में यह स्पष्ट है कि प्रकाश ज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक होता है तथा कईबार उसका कारण बनता है; यह यहांतक सच है कि सभी भाषाओंमें दोनों शब्द एक दूसरेके पर्यायके तौरपर बर्ते जाते हैं। विशेषतया संस्कृत भाषामें देव एवं वेद (परमात्मा या द्योतमान और सत्य या विद्या) दोनों पद एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परस्पर संबंध को प्रदर्शित करते हैं। देव का अर्थ है तेजस्वी, प्रकाशमान परमात्मा और वेद्से मतलब है पावन विद्या; ध्यानमें रहे दोनोंके मध्य अत्यन्त घनिष्ट संपर्क विद्यमान है। परमेश्वर (देव) जो कि भौतिक बौद्धिक एवं अध्यात्मिक प्रकाश का आदिस्रोत है वही वेदका भी जिसमें भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विद्याओंका समावेश हुआ है, मूल उत्स एवं कारण है। इस भाँति दिव् तथा विद् दोनों धातु दर्शाते हैं कि प्रकाश एवं ज्ञानके मध्य घनिष्ठ तथा शाश्वतिक संबंध है। इसी तरहका संबंध जय तथा यज अर्थात् विजय एवं पूजनके बीच मौजूद है। इसी तौलनिक सापेक्ष तत्वके द्योतक सर और रस हैं, जिनका कि अर्थ गति एवं द्रवमयता है। आरंभमें जिन धातुओंको हमने रखा था उनमें वैपरीत्य सिद्धान्तका दिग्दर्शन था तो इस विभाग में सापेक्षता, सगोत्रताकी झलक दिखाई देती है। अब उदाहरणके लिए चर्-रच् (गति तथा व्यवस्था, रचना) को लीजिए तो दोनो तत्वोंकी झांकी देखने मिलेगी। दूसरे शब्दोंमें यूं कह सकते कि व्यत्यास तथा अन्य सापेक्षत्वके मध्य रखने योग्य यह द्वन्द्व है।

इन तीनों प्रकारके धातुओंमें दृश्यमान इस विलोकनीय एवं अनूठे दृश्यका स्पष्टीकरण भला कैसे कियाजाय ? सुविधाके लिए व्यत्यास वर्ग, अन्यसापेक्ष वर्ग एवं अन्त

र्वर्ती वर्गमें इन्हें रखें तो ठीक । हमारा ख्याल है कि एक उच्चतर तत्वके सहारे इन तीनों आपाततः अकथ प्रकारोंका समन्वय किया जासकता है और वह तत्व कारणत्वताका है; सो कैसे ?

भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों तरीकोंसे कारणत्वताका पता लगसकता है क्योंकि कोई वस्तु अपने अस्तित्व से या अभावसे दूसरी वस्तुका सृजन करसकती है। प्रथम पक्षमें जबकि एक वस्तुका अस्तित्व दूसरीका निर्माण करता है तो अन्यसापेक्ष वर्गमें समाविष्ट वस्तुओंका स्पष्टीकरण होता है और जिस समय वस्तुके अभावसे दूसरी वस्तुकी निर्मिती होती है या कार्यका दर्शन होता तब व्यत्यास वर्गके धातु मिलते हैं। उदाहरणकेलिए अपनेपर नियंत्रण या रोकका अभाव हर्ष एवं मतवालेपनका सृजन करता है तथा रममाण होना बंद हुआ कि मृत्युका आगमन होता है । अपने मनमें प्रबल वेगसे उमडनेवाले भावोंको दबाना या शान्त करना असंभव हुआ कि बलात् मानव ठठाकर हँसने लगता है । उचित मात्रामें तपः या अनुशासनका हितकारक प्रबंध न हो तो पतनका प्रारम्भ होने लगता है वगैरह । इनके कारण व्यत्यासकक्षाके धातुओंका प्रकटीकरण हुआ । अब दूसरी ओर देखें तो विदित होता है कि प्रकाश विद्यमान हो तो ज्ञान प्राप्तिमें बडी भारी सहायता मिलती है और सभी इस बातको जानते हैं कि जब कोई विजयी बनता है तो सभी उसका पूजन करने लगते हैं याने विजय या सफलता सम्मान और गौरवका सृजन करती है। यहांपर अन्य सापेक्ष धातु दीख पडते हैं ' खन्-नख = खोदना-नाखून द्वन्द्व इसी श्रेणीका है, शायद प्राचीन युगमें नाखूनों या नाखून जैसे साधनोंसे खोदना जारी रहता हो । किन्तु यह रच-चर युगल बीचकी श्रेणीका है। रच् = व्यवस्था करना, अपनी जगहपर चीजोंको रखदेना और चर् = गति, आगे बढना, यह भली भांति ज्ञात है कि व्यवस्थाके लिए किन्हीं अंशोंतक गति और कुछ एक सीमातक स्थिरता, अचंचलता आवश्यक है । केवल मात्र गति या निरी स्थिरतासे किसी भी तरह की व्यवस्था नहीं हो सकती जोकि गमन एवं स्थैर्यके सामञ्जस्यसे प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार संस्कृत भाषामें तीन प्रकारके धातु उपलब्ध होते हैं जो किसी न किसी रूपमें विद्यमान कारणता तत्व पर निर्भर हैं ।

धातुओंका इस भांति दिग्दर्शन करचुकनेपर पदोंकी ओर मुडना ठीक प्रतीत होता है । नमूनेके लिए इन शब्दोंका चयन हम पाठकोंके सम्मुख रखते हैं। (१) सत् (२) सत्य (३) गति (४) कृष्ण (५) श्वेत (६) आत्मा (७) जगत् (८) ध्रुव (९) सुख और (१०) दुःख ।

संस्कृत पदावलीकी दार्शनिक चारुता

(१) सत् पद अस् धातुसे जिसका भाव है अस्तित्ववान होना, निकला है । यही प्रथम अर्थ है और गौण अर्थमें उत्कृष्टता श्रेष्ठता या भलाई बताता है। एकही सत् शब्दके ये दो अर्थ एक गंभीर वैज्ञानिक या अधिक निर्दोष पूर्ण ढंगसे कहना हो तो एक भव्य दार्शनिक सचाईकी ओर अंगुलि निर्देश करते हैं । यह शब्द सूचित करता है कि प्राचीन आर्योंकी यह अनुभूति थी या उनका वैसा निश्चय हो चुका था कि अस्तित्व अवश्यमेव उत्कृष्ट एवं भलाईसे पूर्ण होना चाहिये और कोई भी वस्तु सहजहीमें बुरी नहीं हो सकती है । जिसकी सत्ता है, जिसका अस्तित्व वास्तवमें है वह निस्सन्देह श्रेष्ठ है, उसमें बुराईकी आशंका करना बेकार है । सत् एक है और वह उत्कृष्ट है, बस यही भाव आर्य जातिमें था ।

भारतके प्राचीन आर्य अस्तित्वकी भलाईपर अटल विश्वास रखते थे, उनकी निगाहमें भलाई, श्रेष्ठता और अस्तित्व या सत्ता परस्पर अभिन्न कल्पनाएं थीं । हमें तो यहां कमसे कम अतिगंभीर वैज्ञानिक या दार्शनिक अथवा धार्मिक किंवा आध्यात्मिक सचाई ' सत् ' शब्दमें छिपी पडी दिखाई देती है । बुराईका वास्तवमें अस्तित्व नहीं है वह तो सिर्फ ऊपर ऊपरसे आभास मात्र ही है और वह न तो वास्तविक ही है और नाही शाश्वतिक ही है । बुराई है ऐसा जो प्रतीत होता है वह सचमुच या अन्ततोगत्वा अपनेको भलाई सिद्ध कर देगी । भलाई शाश्वत टिकनेवाली है किन्तु बुराई क्षणिक तथा निरी प्रतीयमान है । हमारा ख्याल है कि इस एकही ' सत् ' शब्दके इन दो अर्थोंसे जो ध्वनित होता है उससे अधिक ऊँची उडान लेना न विज्ञान, न दर्शन, न धर्म और न नीतिशास्त्रके लिए ही संभव है ।

विज्ञानसे विदित होता है कि मैल सिर्फ दुरुपयुक्त एवं

अनुचित ठौरपर रखी हुई वस्तु है, जब कोई चीज ऐसी जगह पायी जाती है जिधर उसे रहना ठीक नहीं तो उसे मल संज्ञा प्राप्त होती है, दूसरे शब्दोंमें यूं कहा जा सकता कि वह वस्तु मैल है जो अभीतक काममें नहीं लायी गयी हो तथा उपयुक्त बनायी जानेकी राह देखती हो। एक संस्कृत सुभाषितमें यही बात बतलायी गयी है- वर्णमाला का एक भी अक्षर ऐसा नहीं कि जो पवित्र श्लोक या मंत्र में घटकावयव बननेकी क्षमता न रखता हो, जिसमें औषधिगुण न हो ऐसी वनस्पति भी नहीं और निरुपयुक्त मानव भी कोई नहीं किन्तु इनसे काम लेनेवाला दुर्लभ है 'योजकस्तत्र दुर्लभः।' इससे स्पष्ट होता हैं कि साधारण भाषामें हम जिसे बुरा या भला कहते हैं वह उस वस्तुके सदुपयोग या दुरुपयोगपर निर्भर है और मल, रोग या बुराई वास्तवमें वस्तुनिष्ठ नहीं अपितु व्यक्तिनिष्ठ है। अर्थात्, उपयोग में लानेवाले व्यक्तिके अभावमें कोई वस्तु 'बुरी या बेकार' हो सकती है और अगर काम लेनेवाला व्यक्ति मिल जाए तो वहीं चीज 'अच्छी' होगी। अब हम एक अत्यन्त गम्भीर दार्शनीक सवालके सम्मुखीन हुए हैं। क्या कोई सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, सभी सद्गुणोंसे मण्डित, प्रकृति का या सृष्टिका अधिष्ठाता तथा विश्वका उपयोग करनेवाला आत्मा है या नहीं? प्राचीन वेदकालीन आर्य विश्वास रखते थे कि ऐसा आत्मा है जिसे ब्रह्म, पुरुष, सत् आदि नाम दिये गये हैं और जो इस विश्वरूपमें अपने आपको ढालकर रहा है, जैसे कि निम्न मंत्र सूचित करते हैं—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्॥ (अथर्व १०।८।१,२)

"उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमन हो जो संपूर्ण प्रकाश- संपूर्ण ज्ञान- संपूर्ण आनंदमय होकर अतीतमें हुए, भविष्य में होनेवाले तथा वर्तमानमें दृश्य विश्वके रूपमें अभिव्यक्त होकर अधिष्ठाता बना है। यह सारा विश्व उस सर्वाधार का ही रूप है।"

पुरुष एव इदं सर्वं यत् भूतं यत् च भव्यम्।

(ऋ० १०।९०।२; अथर्व १९।६।४)

एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।
(ऋ० १।१६४।४६)

"यह सारा दृश्यमान विश्व, जो भूतकालमें था तथा जो भविष्यमें होगा वह पुरुष ही है" अर्थात् पुरुषके सिवा दूसरा कुछ न है, न था और न होगा। 'वह सत् एक है जिसे ज्ञानी लोग विविध ढंगोंसे वर्णन करते हैं। प्राचीन आर्योंकी धारणा था कि एक सत्, पुरुष या ब्रह्मका केवल $\frac{1}{4}$ भाग ही इस विश्वरूपमें व्यक्त हुआ है तथा होगा जैसे निम्न मंत्रमें कहा है —

पादोऽस्य विश्वा भूतानि। त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः। पादोऽस्येहाभवत्पुनः॥
(ऋ० १०।९०।३,४)

"इस पुरुषका $\frac{1}{4}$ भाग ही सभी भूतोंमें दृश्यमान है और इस का $\frac{3}{4}$ भाग अमरपनसे युक्त द्युलोकमें उच्च स्तरमें विद्यमान है पुरुष का $\frac{3}{4}$ भाग ऊँचा उठ चुका है तथा उसका $\frac{1}{4}$ विभाग ही इस विश्वके रूपमें बार बार व्यक्त होता है।" मतलब यही, समूचा विश्व परम आत्मा एकं सत्का छोटासा हिस्सा है जो दिखाई दे रहा है और इससे भी बडा भाग अदृश्य रूपमें मौजूद है।

जब वेदकालीन आर्योंका यह दृढ विश्वास था कि भलाई, प्रकाश, ज्ञान आनन्दसे सुपूर्ण एकं सत् है तथा उसीके एक छोटेसे अंशकी अभिव्यक्ति विश्वरूप द्वारा हुई है तब यह समझना सुगम है कि समूचे अस्तित्वकी अंतिम भलाईपर उसका अवश्यमेव विश्वास होगा। अतः वह, उच्चस्वरसे उद्घोषित करता है—

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते॥
(अथर्व १०।८।२९)

उपनिषदोंमें भी यही भाव पाया जाता है तथा वे घोषित करते हैं 'सत्यमेव जयते।' दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि, मिथ्यात्वपर अन्तमें सचाईका ही विजय होगा तथा बुराई भलाईसे परास्त होगी इसपर प्राचीन आर्योंका अटल विश्वास था। वे पूर्णतया आशावादी थे। एक छोटेसे 'सत्' पदने यह बताया है और संपूर्ण विज्ञान तथा दर्शन, समूचे धर्म तथा नीतिशास्त्र, सर्व ज्ञान एवं

अनुभूति और पूर्ण शान्ति एवं आनन्द के मूल उत्सके समीप हमें पहुँचाया है।

यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है और हम आगे चलकर देखेंगे कि संस्कृत भाषामें कितने ही ऐसे छोटे छोटे शब्द हैं जो बडे सुन्दर ढंगसे सृष्टिके इसी तरह गम्भीर सत्योंकी तहतक पहुँचाते हैं। छोटेसे 'सत्' शब्द के आशय के महत्वको भलीभांति समझनेके लिए सृष्टिमें होनेवाले किसी प्रत्यक्ष दृश्यका निर्देश करना ठीक होगा।

जिसे मल, रोग, दुःख व्याधि आदि नामोंसे पुकारते हैं उनकी तहमें जाकर यदि हम उनके स्वरूपका विचार करने लगें तो हमें अचम्भा होगा कि 'सत्' शब्दके दोनों अर्थोंमें जो मूलभूत सत्य निहित है वही फिर प्राप्त होता है। वह है संपूर्ण अस्तित्वका अन्तिम भलापन। हमारे पाठकोंके दिलमें यह प्रश्न अवश्य उठखडा होगा कि 'भला जब हम अपने चतुर्दिक इतनी अधिक बुराई या दुःख पाते हैं तो यह कैसे संभव है कि हम 'सत्' पदमें अन्तर्निगूढ भव्य सचाईपर विश्वास रखनेलगें? इसका समाधानकारिक उत्तर देनेके लिए खुद प्रकृतिमें होनेवाली कुछ वास्तविक घटनाओंकी ओर उनका ध्यान आकर्षित अति उपयुक्त प्रतीत होता है। सृष्टिमें ये कौनसी घटनाएँ हैं?

यदि हम सृष्टिमें प्रतीयमान विविध दृश्यों तथा गतिविधियोंका ध्यानपूर्वक निरिक्षण करने लग जायँ तो हमें निर्विवाद रूपसे यत्रतत्र नियम, व्यवस्था, चारुता, नियमित व्यय और भलेपनका अटूट साम्राज्य दीख पडता है। प्रकृतिके सभी कार्यकलापोंमें भलेपनका अंतर्निगूढ आत्मा, अदृश्यरूपसे विद्यमान व्यवस्थाका भाव, नियमका गहन संचार, छिपे ढंगसे कार्य करनेवाली अल्पव्ययिताका बीज, सुन्दरताका संभवनीय केन्द्र, अलक्षित रूपसे मौजूद वास्तविकता या सचाईका मूल तथा आनन्दका अकथ सारमर्म हमें प्रतीत होने लगते हैं। इसे ही अन्य शब्दोंमें देव, ब्रह्म या परमेश्वर भी कहते हैं। यह छोटासा 'सत्' शब्द बताता है कि, हमारे चतुर्दिक् सततरूपसे जो आंख मिचौनीका खेल विशाल विश्वरूपमें हो रहा है उसमें प्राचीन आर्योंको परमात्माकी झांकी मिल गयी थी। यह समूचा विश्वरूप परमात्माका ही रूप है इस सम्बन्ध में वैदिक आर्योंके दिलमें तनिक भी संशयरेखा का प्रादुर्भाव नहीं था, देखो ये वेदवचन **'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति,' 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' 'एकं तदङ्गं अकृणोत् सहस्रधा।'**

न केवल यही शब्द किन्तु वेदमें अदिति, ऋत वगैरह कई शब्द हैं जो इसी को सिद्ध करते हैं। अब कुछ ऐसे उदाहरण देना ठीक जँचता है कि जिनसे मानवके चारों ओर विशुद्धता, अल्पव्ययिता, बेकार चीजोंका उपयोग करना सदृश जो प्राकृतिक क्रियासमूह अविरतरूपसे जारी है उस की जानकारी हो जिससे ठीक विदित होगा कि, यद्यपि मानव सुलभ भूलसे हम परमेश्वरीय नियमोंका भंग करते रहते हैं तो भी समूची सृष्टिमें भलेपनका आत्मा अविराम गतिसे कार्य कर रहा है।

जब मानव किसी जगह थूँकते हों या किसी अन्य ढंग से स्थान गन्दा करडालते हैं तो अगर मनुष्य उस मलको न निकाल फेंकदे उस हालतमें पाठकोंने देखा होगा कि प्रकृतिमें चींटी, मक्खी, कृमि सदृश अ-मानव कार्य साधन मौजूद रहता है जो धीरे धीरे उस मलीनताको हटानेमें अथवा अहितकारक न हो इस तरीकेसे बदलनेमें किंवा किसी अत्यन्त उपयुक्त चीजके सृजनमें निरत रहता है। चींटियां मक्खियां, छोटे छोटे डैनोंवाले कीट, कृमि, मेंढक, चीमगादड, उलूक, सियार, गिद्ध, वनस्पतियां एवं वृक्ष हमेशाही निरुपयुक्त वस्तुओंके विशोधन, उपयोग तथा अधिकसे अधिक लाभ देने योग्य बनानेमें संलग्न हैं। हम भलेही उधर ध्यान दें या न देखें किन्तु इसी तरहकी बडी अचम्भेमें डालनेयोग्य क्रियाएँ हमारे चारों ओर सृष्टि में लगातार जारी रहती हैं। बाह्य सृष्टिमें इस अक्षुण्णतया प्रचलित, आश्चर्यकारक संशोधक एवं उपयुक्तताप्रचुर क्रियाओंके संबंधमें भौतिक विज्ञान ही बताता है ऐसी बात नहीं किन्तु विख्यात वैद्यकशास्त्रनिष्णात पुरुष यह भी कहते हैं कि सजीव एवं सेन्द्रिय प्राणी जातके शरीरोंके भीतरभी कई इसी तरहकी अति आश्चर्यजनक प्राकृतिक क्रियाएँ संतत प्रचलित हैं। जो समाज शास्त्रवेत्ता हैं वे भी कहते हैं कि समूचे मानव संघमें इसी भांतिकी वा इससे भी अधिक विलक्षण समाज शास्त्रविषयक 'प्रतीयमान घटनाएँ प्रतिपल प्रचलित रहती हैं।

इसतरह यह शाश्वतिक सचाई हमारे मानस क्षितिजको आलोकित किये बिना न रहेगी कि समूचे विश्वमें भलाईसे अनुस्यूत आत्मा (एकं सत्) काही दर्शन होनेसे जिधर देखें उधर उसीके अक्षुण्ण कार्यकलापकी झाँकी मिलती है और यह वेद प्रोक्त एकं सत् ही सतत जागृत हो अखिल विश्वको अपने उच्चतम, पावन, दिव्य सामञ्जस्यसे आन्दोलित कररहा है। संसारमें जो कभी उत्क्रांतिके सहारे तो कभी विलयके द्वारा, कभी रचनात्मक ढंगसे तो कभी विध्वंसके तरीकेसे वस्तुओं एवं प्राणियोंका सृजन होरहा है वह एकं सत् में या ब्रह्ममें अन्तर्निगूढ विविध शक्तियोंका ही अप्रतिकरणीय तथा विजयी विकास है। इस छोटेसे सत् शब्दने यह सारा हाल बताया है। निस्सन्देह यह सारा विश्व एकं सत् काही विविधता एवं विचित्रतामय ढंगसे ढला हुआ रूप है तो भला बुराई, दुःखके लिए स्थान कहाँ ?

(२) सत्य शब्द सत्सेही निष्पन्न है और इसका तात्पर्य है, वह जो अस्तित्वयुक्त एवं भला हो उससे घनिष्ठतम संपर्कमें रहनेवाला। अत: सत्यका अर्थ है सचाई, वास्तविकता, वास्तविक बातें जिनकी जानकारी होनेसे अन्तमें हमारी भलाई अक्षुण्ण बनती है। प्रगतिके लिए यह अत्यन्त अनिवार्य है कि सचाई तथा वास्तविक बातोंकी जानकारी मिले। यदि सत्यका ज्ञान हमें न हो तो न्यायपूर्ण बर्ताव करना हमारेलिए असंभव है और न्यायसे दूर रहें तो स्वतंत्र भला हम कैसे बनें तथा स्वतंत्रतासे कोसों दूर रहनेपर सुख एवं भलेपनसे दिन बिताना संभव नहीं। इसतरह यह स्पष्ट है कि सुख तथा भलमनसत प्राप्त करनेके लिए हम सत्यसे परिचित हों, न्यायान्वित आचरण हमारा हो तथा हम स्वतंत्र बने रहें।

(३) गति=आगे बढना, ज्ञान। संस्कृत भाषाज्ञ सभी इस बातसे परिचित हैं कि गीर्वाण भाषामें जो धातु गति प्रगतिकी सूचना देते हैं वे ज्ञानके भावकोभी अपने साथ लिए होते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहसकते कि गति एवं मति दोनोंही सतत परस्पर जुडी दीखपडती हैं। वास्तवमें संस्कृत भाषाके धातुओंसे गति तथा मतिके मध्य जो यह घनिष्ठ संबंध प्रस्थापित दीखपडता है वह प्रकृतिके मूलभूत तथा गंभीर सत्यकी ओर संकेत करता है। भला प्रकृतिका यह गंभीर दार्शनिक सत्य क्या है ? जहाँ जहाँ गति (प्रगति, संचलन, चलन वलन, आन्दोलन) दृश्यमान होती है वहाँ वहाँ निश्चित जानिये कि उसकी बुनियाद मति (इच्छाशक्ति, अनुभूतिविज्ञता, जानकारी, विद्या) की सुदृढ भित्तिपर रखी हुई है। वैसेही जिधर प्रबल इच्छासामर्थ्य, ज्ञानशक्ति, बोध हो उधर अवश्यमेव प्रखर प्रगतिशीलता, आन्दोलन एवं संचलन दृष्टिगोचर हुए बिना न रहेगा। बस यही प्रकृतिकी गंभीर दार्शनिक सचाई है। असल बात यही है कि अगर प्रकृतिमें अन्तर्निगूढ मति न रहती तो गतिका दर्शन असंभव होता और गतिके अभाव में मति विलुप्तही होती है। 'बिना कष्टके लाभ नहीं' इस कथनसेभी यह कथन कहीं अधिक सत्य है कि 'बिना इच्छा शक्तिके आन्दोलन नहीं और आन्दोलन नहीं तो इच्छाशक्ति ठिठुर जाती है।

इस मूलभूत दार्शनिक सत्यसे, जो प्रकृतिमें कार्य कर रहा है, प्राचीन भारतके आर्य भलीभांति परिचित थे ऐसा संस्कृत भाषाके गतिवाचक धातुओंसे सूर्य प्रकाश तुल्य सुस्पष्ट होता है। वे अच्छी तरह जानते थे कि विद्या बोध, ज्ञान या मतिके अभावमें किसी भी तरहकी प्रगति, संचलन या गति नितांत असंभव है तथा प्रगति, गति, आन्दोलनके बिना मति अस्तित्वमें नहीं रह सकती है। यदि सर्वोपरि कार्यकर्ता न होता, विश्वरूपमें प्रकट होनेवाली चेतन इच्छा शक्ति संचालनका कार्यभार न उठाती तो सृष्टिमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें संचलनकी शक्ति रहती, अर्थात् क्या मजाल कि सृष्टिकी कोई चीज हलचल करसके ? प्राचीन भारतीय आर्योंकी अटल धारणा थी कि अन्तर्निगूढ संचालक, पथ प्रदर्शक, अन्तर्यामिन् तथा सर्वोपरि बुद्धि शक्तिका कार्य जारी न रहता तो भला अग्निमें क्या मजाल कि वह किसी चीजको दग्ध करडाले, बयार भला कैसे बहती, उमडती सरिताओंकी अविरत गति अवरुद्ध होती तथा वृक्ष वनस्पति, पेडोंका बढना रुक जाता। वेद, गीता, उपनिषदोंमें इसी भव्य सिद्धान्तकी शिक्षा दी गयी है और एक वैदिक ऋषि मुक्त कण्ठसे उद्घोषित करता है कि –

'नहि त्वदारे निमिषश्च नेशे' अर्थात् तेरी सहायताके बिना मैं आंखोंकी पलकतक हिलानेमें असमर्थ हूँ।

परमात्माकी मानों आज्ञा एवं प्रेरणाके वशीभूत होकरही अग्नि, वायु, प्रकाश सदृश सभी प्राकृतिक दृश्य अपना कार्य करते हैं, इस सचाईको केनोपनिषदमें बडी सुन्दर दृष्टान्तमय कथा द्वारा हमारे सामने रखा है।

आगे बताया जायगा कि आत्मा शब्द भी बडे अच्छे ढंगसे जीवनके दो प्रमुख तत्वोंको याने ज्ञान और कर्म को स्पष्ट कर देता है। सचमुचमें ज्ञान एवं कर्म जीवात्मा के दो डैने हैं जिसके सहारे वह स्वर्गकी ओर बढने लगता है। इसी कारण वेदमें जीवात्माको सुपर्ण नाम दिया है। मानवीदेहमेंभी ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय विद्यमान हैं जो इसी तथ्यको अत्यधिक स्पष्ट कर देता है। सबके जीवनके लिए ज्ञान तथा कर्म अत्यावश्यक हैं। इसका वास्तविक अर्थ है कि ज्ञान एवं कर्म परस्पर अटूट एवं अविभाज्य ढंगसे जुडे हैं। सत्य बात तो यह है कि क्रिया के संग इच्छा और इच्छाके साथ क्रिया सतत पायी जाती है। संस्कृत धातुओं तथा पदोंके अध्ययनसे इस अनूठे तथा गंभीर दार्शनिक सचाईकी प्राप्ति हमें होती है जो सभी प्राकृतिक दृश्यों तथा क्रियाओंमें छिपी रहती है।

हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि समूची सृष्टि आन्दोलनों एवं हलचलोंसे नितान्त पूर्ण है और इसका कारण ढूँढते ढूंढते हम अंततोगत्वा इस तत्वके निकट पहुँचते हैं कि सृष्टिका अधिष्ठाता सर्वोपरि इच्छाशक्तिसंपन्न है, सारी सृष्टि जीवनसे परिपूर्ण है, क्रियासे अनुस्यूत है और यह प्रकृतिके मूलमें मानों अवस्थित अतर्क्य ज्ञान बोध चेतन या इच्छा अथवा मतिका दृश्य परिणाम है किंवा ऐसा कह सकते हैं कि ब्रह्म या गुप्त विश्वशक्ति ही विश्व या प्रकट ब्रह्म शक्तिमें परिणमित हुई है। सत् या सर्वोपरि अस्तित्ववान चित् अथवा सर्वोपरि मति और आनन्द किंवा सर्वोपरि आत्यन्तिक दुःखाभाव सच्चिदानन्द ही का एक छोटासा अंश यह समूचा विश्व है अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि विश्वमें सर्वत्र असीम जीवन एवं हलचल दीखपडे। इसी सर्वोपरि चेतनकी झांकी हमें विश्वभरके सतत प्रचलित आन्दोलनोंमें मिलती है।

इसे अधिक स्पष्ट करनेके लिए विश्वकी गतिके स्वरूपको सोचना ठीक है। विश्वकी गति (Cosmic Motion) भला क्या है ? इसका सृजन कैसे हुआ है ? इसका प्रथम या अन्तिम कारण क्या है ? विज्ञान हमें बतलाता है कि मैटर या जड और शक्तिके अभावमें गतिका होना असंभव है। शक्तिके कारणही जड वस्तु गतिमान बनती है इसलिए गतिके रूपको जाननेके लिए हमें जानना चाहिए कि जड क्या वस्तु है और शक्ति किस चिडियाका नाम है। जडकी व्याख्या यूं की गयी है कि जो स्थलके किसी सीमित भागमें रहे, जो गतिहीन हो तथा जो स्वयंही अपनी स्थिति या गतिको बदलनेमें अक्षम है। शक्तिकी व्याख्या है, किसी वस्तुकी स्थिति या गतिको जो बदलदे उसे शक्ति कहना ठीक है और गतिकी व्याख्या है स्थलपरिवर्तन। दर्शनके क्षेत्रमें ये व्याख्याएँ हमें विज्ञानके साधारण उद्देश्योंसे परे नहीं लेचलती हैं। उदाहरणार्थ, यदि आप विज्ञानसे जानलेना चाहें कि 'शक्ति क्या है ?' विज्ञान अवाक् रहता है। हाँ; विज्ञान केवल शक्तिका वर्गीकरण करसकता है जैसे वैद्युत शक्ति, चुंबक शक्ति Thermal, atomic, molecular, molar, gravitational & Cosmic इत्यादि; और इस वर्गीकरणके सहारे शक्तिके कुछही परिणामोंका बखान करसकता है। इससे अधिक कुछ करदिखानेमें विज्ञानको सफलता अभीतक नहीं मिली है। और तो और, दर्शनकोभी जीवनशक्ति मानसशक्ति, इच्छाशक्ति, आत्मिक शक्ति के बारेमें कुछ अधिक स्पृहणीय सफलता मिली हो ऐसी बात नहीं। नैतिक शक्ति, विचार बल, सामाजिक बल ऐसे शब्द प्रयोग भी अधिकतया धुँधले तरीकेसे किये जाते हैं। वर्तमानकालका विज्ञान तथा दर्शन अधिक प्रगति नहीं दर्शा सके हैं। अस्तु।

भारतका इस विषयमें क्या कथन है ? प्राचीन भारत इस निष्कर्षपर पहुँच गया था कि समूची गतिका आदिस्रोत चेतनशक्ति है जो परमात्माका एक गुण होनेके कारण उसीके अंशभूत अन्य जीवोंका भी गुण है। हम भलेही चुंबक विद्युत जैसे नाम दे डालें किन्तु संस्कृत धातुओं तथा शब्दोंमें जिसकी अभिव्यंजना हुई है उस प्राचीन भारतीय विचारकी सचाई माननी पडेगी कि गतिका मूल उत्स मतिमें ही अन्तर्हित है अर्थात् मति न हो तो गति कैसे ? अन्ततोगत्वा गतिका कारण मतिमें ही ढूँढना पडेगा तथा मतिका अस्तित्व हो, गति जरूर

कहीं न कहीं प्रकट होगी, यहांतक प्राचीन भारतीय विचार की उडान थी।

जैसे आधुनिक विज्ञानविशारदोंने चुंबकीय शक्ति, वैद्युत शक्ति, जीवशक्ति आदि नामोंका आविष्कार किया है, ठीक उसी तरह प्राचीन भारतीय विचार धारामें ऐसे नाम पाये जाते हैं अग्नि, इन्द्र, रुद्र, प्राण, वायु, सोम, मरुत् जो प्रकृतिकी विविध शक्तियोंकी सूचना देते हैं, तथा प्राचीन कालमें देव अर्थात् द्योतमान समझे जाते थे। और जिस तरह आधुनिक कालमें वैज्ञानिक अन्तकरणको विविध प्राकृतिक शक्तियोंके कार्यकलापमें विरोध नहीं अपितु बडाही सुन्दर सामञ्जस्य प्रतीत होता है, ठीक वैसेही प्राचीन वैदिक सूक्तोंके द्रष्टा ऋषियोंके सुविशाल एवं विभिन्नता और विविधतासे अनुस्यूत एकता तथा संपूर्णताकी भव्य अनुभूतिसे आलोकित अन्तस्तलमें अग्नि इन्द्र सदृश विभिन्न देवोंके उपयुक्त कार्य समूहमें विरोध नहीं किन्तु बडी चारु व्यवस्था एवं सामञ्जस्यकी प्रतीति का प्रादुर्भाव हुआ था।

हाँ, एक बडी भारी विभिन्नता प्राचीन एवं आधुनिक दृष्टिकोणके बीच पायी जाती है। आधुनिकोंकी विचारधारा के अनुसार प्राकृतिक शक्तियां चेतनरहित सिर्फ अन्ध शक्तियां हैं जो निरे यान्त्रिक ढंगसे कार्य कर रही हैं परन्तु प्राचीन ऋषिमुनियोंका विश्वास था कि एकमेव सर्वोपरि चेतन या एकं सत् के विभिन्न प्रकटीकरण इन देवोंके रूप में हुए हैं जैसे ' एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वं ' सदृश वेदवचनोंसे सुनिश्चित है। उसी तरह ' द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ' 'त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म एतत् ' वाक्योंसे स्पष्ट होता है कि एक ही सत्-चित्-आनन्द मय ब्रह्म या परमात्माकी असीम शक्तियोंका विकास और स्वरूप इस दृष्टिगोचर विश्व तथा इसके समूचे विविध कार्योंमें दीखपडता है, देखो यजुर्वेद मन्त्र ३२।१

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥

गीतामें भी ' ... ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति ... इस तरह यही विचार पाया जाता है।

मानवी शरीरोंका निरीक्षण करनेपर प्रतीत होता है कि ऐच्छिक एवं अनैच्छिक दो प्रकारकी हलचलें विद्यमान हैं। कुछ आन्दोलनोंको हम अपनी इच्छापर निर्भर पाते हैं तो कई संचलन मानवी इच्छाके दायरेके बाहर हैं। जिस हल-चलको मानवेच्छा नियंत्रित नहीं करसकती उसे सहज ज्ञान या सहानुभूति जन्य क्रिया नाम दिया जाता है। अच्छा, तो यह Instinct या सहज प्रेरणा भी आखिर क्या है? यह अधिक कुछ नहीं किंतु शिलीभूत बोध (Petrified Crystalized Consciousness) है तथा संभवतः उप-बोधत्व (Subconsciousness) का ही अंश हो। इस तरह ऐच्छिक और अनैच्छिक सभी शारीरिक हलचलोंका सृजन अन्तमें सीधे या शिलीभूत चेतन या बोधद्वारा ही होता है। मानव देहका यह दृष्टान्त विश्व (परमात्माका शरीरपर) भी लागू हो सकता है। विश्व भरमें जो भी कुछ हलचल या आन्दोलन हो वह अंतिम अवस्थामें विश्व चैतन्य या सर्वोपरि चेतन परमात्मा पर निर्भर है। जिस तरह हमारे शरीरमें होने वाली कोई भी हलचल किसी भी ढंगके चैतन्यसे या आत्मासे ही निष्पन्न होती है ठीक उसी तरह विश्वमें दीख नेवाली हलचल परम आत्मा पर निर्भर है। क्योंकि परमा-त्माका देह यह समूचा विश्व है और विश्वभरमें जो गति दीखपडती है वह तथा सभी प्राकृतिक घटनाएं उसी परमात्माके द्वारा प्रेरित एवं नियमित हैं।

इसी कारण वेदमें परमात्माको 'सवितर ' याने सर्वो-परि प्रेरक नियामक, अथवा पथप्रदर्शक या उत्स कहकर पुकारा है। संसारकी समूची क्रियाओंका मूल स्रोत एवं प्रारम्भबिन्दु परमात्माही है। ध्यानमें रहे कि इस महान सचाईकी ओर संस्कृत भाषाके छोटे छोटे शब्द और धातु अंगुलिनिर्देश करते हैं।

इस प्रश्नका विचार मनीषियों एवं विचारकोंने दो दृष्टिकोणोंसे किया है। एक दृष्टिकोण निम्न कोटिका है अतः जडवादी कहा जासकता है जो जडसे प्रारंभ करता हुआ ऊपर उठता जाता है और प्रतिपादन करता है कि जडसेही सभी दृश्य तथा जीवन, विचार, बोधभी निस्सृत है क्योंकि जडकी संभवनीयता अति अद्भुत है। जडवस्तुसेही उत्क्रांतिकी विविध दशाओंमें उष्णता, विद्युत, चुंबकत्व, चेतन

शक्ति, इच्छाशक्तिके कारण उत्पन्न विविध जागतिक शक्तियाँ निस्सृत हैं । इस दृष्टिकोणके अनुसार मन, इच्छा, विवेक, चेतनत्व सभी जडकेही विभिन्न स्तरोंपर होनेवाले विभिन्न आविर्भाव हैं । दूसरे शब्दोंमें उच्चताकी ओर धीरे धीरे उत्क्रान्त होनेवाला भौतिक द्रव्यही विकसित होता हुआ चेतनका निर्माण करता है; अतः इच्छाशक्ति या चेतनतत्व भौतिक वस्तुके परमाणुओंकी विशिष्ट ढंगकी रचनाके परिणामस्वरूप होनेवाली विलक्षण गतिकाही परिणाम है ।

दूसरा दृष्टिकोण बिलकुल इसके विरुद्ध प्रतिपादन करता है कि आत्मा या चेतनही मूल या आदितत्व है जिससे बोध, इच्छाशक्ति, मन, विवेकका सृजन होता है जो आगे चलकर संसारकी समूची गतिका निर्माण करता है । इन दो आत्यन्तिक विचारोंके मध्य सांख्य तत्वका दर्शन हमें होता है जिसके अनुसार भौतिक द्रव्य स्वयंही गति निर्माण करनेमें और प्राकृतिक दृश्योंकी निर्मितिमें नितान्त असमर्थ है यदि उसे आत्माका सहयोग या साहचर्य प्राप्त न हो । सांख्यदर्शनका यह प्रतिपादन द्वैतकी पुष्टि करता है और उपर्युक्त दोनों अद्वैतका अनुसरण करते हैं । किन्तु संस्कृत भाषाके धातुओं तथा शब्दोंका विचार करनेसे विदित होता है कि चित् शक्ति ज्ञान या बोध और गति या हलचल या आन्दोलन दोनोंही एक दूसरेसे घनिष्ठतया निगडित हैं, क्योंकि जड और चेतन एकही सत्के दो पहलू हैं ।

तीन प्रकारके वाद प्रचलित हैं; एक यूं मानता है कि गतिका ही एक परिणाम चेतन या इच्छा शक्ति है तो दूसरा प्रतिपादन करता है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें चेतनही सभी भांतिकी गति या आन्दोलनका जन्म दाता है और तृतीयका यह मत है, गतिमानता और चेतन या इच्छाशक्ति दोनोंही परस्परावलंबित हैं । इनके सम्बन्धमें अधिक चर्चा न करते हुए हम पाठकोंका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना चाहते हैं कि ज्ञान और क्रिया (मति तथा गति) एक दूसरेकी सहायता करते हैं तथा दोनोंके मध्य अभेद्य साहचर्य है । ज्ञान न हो तो भला क्रिया कैसे हो सकती है और क्रियाके लोप होनेसे ज्ञान प्राप्ति भी स्थगित होती है । प्रत्येक दूसरेकी सहायताही करता हो ऐसी बात नहीं किंतु प्रत्येक दूसरेके अस्तित्वके लिये अनिवार्य है । तृतीय मत इस भांति अन्य दोनों एकांगी मतोंका समन्वय करता है और इसीका संकेत हमें उन सभी गीर्वाण भाषाके धातुओंमें, जिनका कि अर्थ गति या आन्दोलन है, मिलता है क्योंकि वेही मति या ज्ञानके भावको वहन करते हुए प्रतीत होते हैं । संस्कृत धातुओं तथा तज्जन्य शब्दोंसे प्रदर्शित यह अटूट एवं अभेद्य साहचर्य कितना गंभीरतम है ।

(४) श्वेत और (५) कृष्ण ये दो शब्द यद्यपि सफेद और काला इतनाही अर्थ बताते हैं तो भी उनमें कुछ अत्यन्त विलोकनीय कल्पनाएँ अन्तर्हित हैं जो आधुनिक वैज्ञानिक युगके लोगोंके ध्यानको उत्तेजित तथा आकर्षित कर सकते हैं । श्वेत शब्द श्वि धातुसे निष्पन्न है और कृष्ण शब्द कृष् धातुसे निकला है । अतः कह सकते कि श्वेत वर्ण वह है जो फूलकर कुप्पा हुआ हो और कृष्ण वर्ण वह है जो सूर्यकिरणोंको अपनी ओर खींचले, अपनेमें रखले, विलीन कर दे । मूल धात्वर्थ देखनेसे इन दो शब्दोंका, रंगोंका मानों सृजन तथा किरणोंको खींचना रूपी दो प्राकृतिक घटनाओंका बतलाना स्पष्ट है । सफेद रंगको श्वेत इसलिए कहते हैं कि वह सभी वर्णयुक्त किरणोंको समानरूपसे उलटा फेंकता है इस कारण फूला हुआ सा प्रतीत होता है । अँग्रेजी भाषा का white शब्द श्वेत का सजातीय है । काला रंग सूर्य किरणोंको अपनी ओर खींचकर विलीन करता है यह स्पष्ट है । संभव है कि भारतके प्राचीन आर्य इस बातसे परिचित थे ।

इस कृष्ण शब्दका विचार करते हुए एक अत्यन्त विचारणीय विषयका निर्देश किये बिना नहीं रहा जाता । क्या श्रीकृष्ण भगवान् सचमुच काले रंगके थे जैसे कि कहा जाता है ? हमारा उत्तर है कि वे काले तो नहीं थे, कमसे कम अर्वाचीन युगमें जैसे कि उनका वर्णन एवं चित्रण किया जाता है, श्रीकृष्णचन्द्रजी साँवले या श्यामवर्णी नहीं थे । संभव है कि काश्मीरस्थ आर्य लोगोंके श्वेत वर्णसे भी अपेक्षाकृत श्रीकृष्णजी किन्हीं अंशोंमें श्यामलतनु हों क्योंकि वे तनिक उष्ण वायु मण्डलवाले यमुन नदीतटके भूविभागोंमें निवास करनेहारी आर्य जातिमें उत्पन्न हुए थे । अतः उसे कृष्ण कहने लगे तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं । दूसरा कारण कि क्यों उन जैसे

योगी राजको उसभाँतिके सूचक नामसे संबोधित करते थे, यही था कि उनका वैयक्तिक महत्त्व एवं आकर्षणशीलता बडी ही विलोकनीय थी। जैसे चुंबकमणि लोहको अपनी ओर खींच लेता है ठीक उसीतरह श्रीकृष्णजी अपने अलौकिक व्यक्तिमत्त्वसे सभीको अपनी ओर आकृष्ट करनेकी सराहनीय क्षमता रखते थे। अपने अत्युच्च मानसिक एवं बौद्धिक तथा आत्मिक सामर्थ्यकी बदौलत वे हर किसीको जो उनके निकट पहुँचे हठात् आकर्षित करलेते थे।

इस भाँति दोनों कारणोंके फलस्वरूप महामहिमशाली गीतोपदेशक भगवान् वासुदेवजी श्रीकृष्ण नामधारी हुए। हाँ, पश्चात्वर्ती कालमें विष्णुके सभी अवतारोंको कृष्णवर्णी या नीलवर्णी चित्रित करनेकी धुनसी सवार हुई थी क्योंकि वह आकाशके व[illegible] जुलता था। अतः न केवल श्रीकृष्णचन्द्रजीही किन्तु रामचन्द्रजी एवं विष्णुके अन्य अवतारभी आधुनिक चित्रोंमें नील तथा श्यामलतनु दर्शाये जाते हैं। बुद्ध भगवान् विष्णुके नवम अवतार समझे जाते हैं इस कारण यदि गौतमबुद्ध भी श्यामलकाय बतलाये जायँ तो आश्चर्य नहीं।

(६) आत्मा शब्द अद्=खाना और अत्=घूमना धातुओंसे निष्पन्न है। वह आत्मा है जो हलचल करता है, क्रियामें तल्लीन है, जानता है, खा लेता है और आनन्द पाता है। इस शब्दसे आत्माकी भली प्रकार व्याख्या होती है आत्मा या जीव क्रियाशील चेतन सत्ता है जो तुरन्त परिस्थितियोंसे प्रभावित होता है, जो मनोवेगों एवं भावोंसे परिपूर्ण है तथा जो संवेदनशील, बोध प्राप्त करनेहारा, इच्छाशक्तियुक्त, विचारशील, क्रियावान् होता हुआ विविध ढंगसे अपनी अभिव्यंजना करता है। संक्षेपमें हम इसे विश्वका कर्मण्य, व्यक्तिनिष्ठ तत्त्व या सत्ता कह सकते हैं। संसारमें हमें कर्मण्य तथा कर्माश्रय या निष्क्रिय दो तत्त्व मिलते हैं। अद्वैत वादियोंकी धारणाके अनुसार ये दो नितान्त विभिन्न सत्ताएं नहीं किन्तु सिर्फ एक ही सत्ताके दो पहलू या ध्रुव हैं। हाँ, द्वैतियोंकी रायमें दोनों बिलकुल अलग तथा विभिन्न हैं। आत्मा शब्द बताता है कि यह नाम क्रियावान, चेतन तत्त्वके लिए प्रयुक्त है जिसे जीव या Spirit भी कहते हैं। इससे यह भी ध्वनित होता है कि जीवात्माके दो प्रमुख लक्षण हैं अर्थात् कर्म करना तथा ज्ञान पाना। ज्ञान और कर्म, जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है, दो डैने हैं जिनके सहारे जीवात्मा स्वर्गकी ओर यात्रा करने लगता है। जीवकी अभिव्यक्तिके ये दोनों ढंग या तरीके हैं।

(७) जगत् शब्द गम्=जाना धातुसे उत्पन्न है। इसलिए इस पदसे पता चलता है कि संसार सतत गतिशील है या प्रतिपल परिवर्तनशील है। इसी पदसे दूसरी भी एक अतिसुन्दर कल्पना सुझायी गयी है। गम् धातुका द्विगुणित रूप यह जगत् शब्द है इसलिए स्पष्ट ही यह संसार ताल बद्ध, अनुकालिक या चक्रनेमी क्रम ढंगवाले नियम तथा व्यवस्था के अधीन है। इस तरह यह जगत् शब्द बडे सुन्दर ढंगसे सृष्टिमें प्रतीयमान ताल बद्ध और चक्रनेमी क्रमसे होनेवाले आन्दोलन तथा परिवर्तनकी सूचना देता है। जिस संसारमें हम रहते हैं वह गति, आन्दोलन, परिवर्तन, क्रमपूर्व रचना तथा लय बद्धतासे नितान्त अनुस्यूत है और यही संसारकी विशेषता है। जगत् शब्दसे हमें यह शिक्षा मिलती है।

(८) जगत्से निकट संपर्कमें रहनेवाला शब्द ध्रुव है जिसका धात्वर्थ द्विविध है, गति तथा स्थिरता या अविचलभाव। किन्तु साधारणतया लोग स्थैर्य या अविचलत्व दर्शानेके लिए ध्रुव शब्दका प्रयोग करते हैं और समझते हैं कि पहला अर्थ दूसरेके विरुद्ध तथा विसंगत है। लेकिन दोनों कल्पनाओंको यह शब्द एकही समय अत्यन्त सुन्दर ढंगसे वैज्ञानिक सचाईसे बतलाता है। इसका वास्तविक अर्थ है अविरत गतिसे निष्पन्न स्थिरता या दाढर्य अर्थात् अविराम गति हो तोही सच्ची स्थिरता प्राप्त होती है। ज्योतिष शास्त्रमें जो गतिमान समता कही जाती है वह यही है। खगोलशास्त्रके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि सभी आकाशस्थ गोल इसके बडे अच्छे उदाहरण हैं और उन ग्रहगोलोंका स्थैर्य तथा अस्तित्व भी उनकी अविराम गतिपर ही निर्भर है। ध्रुव शब्द भी ठीक इसी गतिसे अनुप्राणित स्थैर्यका, जिसे (Moving equilibrium) कहते हैं, प्रतिपादन करता है। इसतरह दोनों ही अर्थ न केवल सुसंगत हैं किन्तु प्रकृतिके महत्त्वपूर्ण तथा गंभीर सत्यको बतलाते हुए वैज्ञानिक तथ्य

से पूर्ण सामंजस्य रखते हैं। ऋग्वेद १०।१७३।४ में यह शब्द पांच बार रखा है जैसे,

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥

अर्थात् सूर्य, भूमि, ये पहाड तथा सारा यह विश्व सुदृढ स्थिर तथा अविचल हैं क्योंकि वे सतत गतिमान हैं और इसी तरह मानवोंका नरेश भी (जिसे प्रजा नरेशपदको विभूषित करनेके लिए चुनलेती है वह अविरत क्रिया एवं अथक कार्यसे ही उसे अक्षुण्ण रखसकता है) जिस नृपतिका चुनाव हालहीमें हुआ है उसे इस तरह चेतावनी दी है। नूतन निर्वाचित नरपालको आशीर्वाद देनेके लिए यह मन्त्र प्रयुक्त है। यह बिलकुल ठीक है कि ऐसे अतिगंभीर अवसरपर जो आशीर्मन्त्र उच्चारित किया जाय उस में हितकारक चेतावनी और उपदेशका अन्तर्भाव रहे। यहां ध्यानमें रखनेयोग्य प्रमुख बात यही कि जगत् पदसे सूचित अर्थमें और ध्रुव पदसे बताये आशयमें पूर्ण सामंजस्य है। ये दोनों शब्द उपर्युक्त मन्त्रमें विद्यमान हैं जिस का सम्मिलित भाव है " सतत प्रगतिमान, अविराम परिवर्तन युक्त व्यवस्थापूर्ण तालबद्ध विश्व अविचल एवं स्थिर है क्योंकि इस विश्वमें अविरत तालबद्ध गति पायी जाती है। " यह भाव कितना सच तथा कैसे गंभीर है।

(९) सुख और (१०) दुःख) शब्दोंका यौगिक अर्थ देखा जाय तो बडा उत्कृष्ट आशय प्रतीत होता है। सु+ख अर्थात् वह दशा जिसमें इन्द्रिय सुस्थितिमें रहें; इसके विरुद्ध इन्द्रियोंकी हालत बुरी हो तो दुःख पैदा होता है। अतः एक मनोवैज्ञानिक सचाईका बोध इन दो शब्दोंसे होता है। अच्छे या बुरे इन्द्रियोंके कारण सुख तथा दुःखकी निर्मिति होती है। शरीरका सुदृढत्व ही हमें सुखी बनासकता है, [illegible] सुखका तो यह प्रमुख साधन है। इ[illegible] लिए शारीरिक सुदृढता सुतरां आव[illegible] अस्तु, सरल संस्कृत धातुओं और शब्दोंके सतर्कतापूर्वक अध्ययनसे हमें कितनी शिक्षा मिलती है यह अतीव विलोकनीय एवं विचारणीय है।

भगवद्गीताका पुनर्नामकरण कैसे हो ?

(लेखक– प्राध्यापक वि० व० आठवले M. Sc., F. R. G. S (London) हंसराज प्रागजी ठाकरसी कालेज, नासिक)

(अनुवादक– श्री. पं० द० ग० धारेश्वर, बी. ए. औंध)

ऊपर दिया शीर्षक पढते ही पाठक प्रश्न उठायेंगे कि, अनादिकालसे भगवद्गीता नाम प्रचलित रहा है तो भला अब क्यों इस नामको बदलकर दूसरा अभिधान देडालनेकी आवश्यकता आपडी है ? इस प्रश्नका उत्तर हम यूं देते हैं– मुझको गवेषणाके उपरान्त ऐसा विदित हुआ कि, ईसाके पूर्व ३१०० के लगभग युधिष्ठिरजीके राज्याभिषेकके अवसरपर कृष्णद्वैपायन व्यासजीने 'धर्म्य संवाद' के स्वरूपमें एक शास्त्रीय काव्य ग्रन्थकी रचना करडाली। राजा एवं प्रजाके संमिलित रूपमें जो चातुर्वर्ण्यमय समाज अस्तित्वमें आचुका उसके लिए 'इष्टकाम-धुक्' बन जाय अतः आचार या वर्तनके विधि निषेधमय नियम स्पष्ट बतलाना उसका आशय था तथा पूर्वकालमें वह 'हरिगीता' नामसे प्रसिद्ध था। आज हम देखते हैं कि प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ऐसा वाक्य दीख पडता है पर पहले 'हरिगीतासु अध्यात्मविद्यायां योगशास्त्रे' इस ढंगका वाक्य या संकल्प विद्यमान था। भला यही वाक्य पहले कैसे मौजूद था और उसमें परिवर्तन किसने किया तथा किसी विशेष व्यक्तिने ही वह किया है इसके लिए प्रमाण क्या है आदि प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए यह लेख लिखा जारहा है।

जिस गीताके नाममें तथा अध्यायोंके अन्तमें पाये जानेवाले वाक्योंमें परिवर्तन हुआ उस ग्रन्थके कुछ भाग जरूर प्रक्षिप्त रहने चाहिए, ऐसा संशय अवश्य पैदा होगा। बहुत क्या कहें, जर्मन प्राध्यापक श्री. गार्बेजीकी धारणाके अनुसार गीतामें प्रक्षिप्त श्लोकोंकी संख्या १७० तक पहुँचती है। श्री. भारद्वाजजीने 'गीता–रचनांतर' नामक पुस्तक लिखी है जिसमें बताया है कि, इस समय गीतामें ७०० श्लोक जिस क्रमसे पाये जाते हैं उससे विभिन्न क्रम प्रारम्भमें रखा था तथा यह भी सूचित किया है कि वह क्रम कैसे हो। मद्रासके शुद्ध धर्ममण्डलकी ओरसे २६ अध्यायवाली गीता छपी है जिसमें ७४५ श्लोक हैं। अग्रिम लेखमें ऐसे सभी प्रश्नोंका समयानुसार उत्तर देकर सिद्ध करूँगा कि, इस समय जो प्रचलित ७०० गीताश्लोक उपलब्ध हैं वे सारेके सारे पाण्डवोंके समकालीन मुनिवर कृष्णद्वैपायन व्यासनेही लिखे थे। उनमें एक भी श्लोक प्रक्षिप्त नहीं है। ७०० श्लोकोंसे युक्त और अठारह अध्यायोंमें विभक्त गीताकी मौलिक रचना व्यासजीके करकमलोंसे ही हुई है। उसमें अपनी रचना घुसेडनेका साहस किसीने नहीं किया। गीताके २६ अध्याय थे ऐसा प्रतिपादन करना असंभव है क्योंकि उसके अध्याय १८ ही थे। वैसे ही जो ढेड श्लोक कहता है कि, गीतामें ७४५ श्लोक मौजूद थे, वही खुद प्रक्षिप्त है। इस लेखमें तो मैं केवल गीताके बारेमें ही मुझको जो कुछ कहना है उसे पूर्णतया कह दूँगा।

पहले तो यों सोचना ठीक होगा कि, गीताके नाममें अथवा श्लोकोंमें परिवर्तन या प्रक्षेप करनेका साहस किसमें हो सकता है। व्यासजीने जिस 'जय' नामक इतिहासको लिख डाला उसमें समरके प्रारंभमें गीता लिखकर अर्जुनका मोह नष्ट हो चला ऐसा दर्शानेपर युद्धका समाचार घुसेडना संभव है। अथवा यह भी संभव है कि, इतिहास ग्रन्थके नाते जय ग्रन्थका निर्माण किया हो और धर्म एवं मोक्षकी चर्चा करनेके लिए पृथक् गीताग्रन्थका लेखन किया गया हो।

युधिष्ठिरके पश्चात् लगभग सौ वर्ष बीत गये हों जब कि अर्जुनके प्रपौत्र जनमेजयके चलाये अश्वमेधमें उनके प्रमुख पुरोहित वैशंपायनने जो भारत इतिहास बतलाया तब यह संभव था कि जयग्रन्थको बढा चढाकर प्रवचन किया हो। ऐसी दशामें गीतामें प्रक्षेप घुस गये हों ऐसा माना जा सकता है और अन्तमें ईसाके लगभग ३०० वर्ष पूर्व सूत लोम हर्षणके पुत्र उग्रश्रवा या सौतिने नैमिषारण्यमें शौनक-सत्रमें जिस एक लक्ष श्लोकवाली महाभारत–संहिताका निवेदन किया उसमें भी गीताका नाम बदलना तथा गीतामें नये श्लोक घुसेडना असंभव नहीं। इन सभी संभावनाओंका

विचार करके देखना ठीक होगा कि किस निर्णयपर हम पहुंच जाते हैं।

महाभारतके आदिपर्वमें जो प्रथम अध्याय है उसमें २७५ श्लोक विद्यमान हैं। धृतराष्ट्रके नामसे जो २२० वाँ श्लोक है तथा संजयके नामसे जो (२२२–२५१) तीस श्लोक हैं उनके अतिरिक्त २४४ श्लोक सौतिके ही हैं। ९८–९९,१०२-१०३ में सौतिका कथन है ' यज्ञमें दुपहरके समय खाली वक्त रहता है (कर्मान्तरेषु यज्ञस्य) इस कारण नरेश जनमेजय एवं दूसरे ऋषियोंने वैशंपायनसे बार बार प्रश्न पूछना शुरु किया जिससे २४ सहस्र भारत संहिताका निवेदन हो गया। उसमें उपाख्यानोंका अभाव था। ' ' पर अब जो मैं एक लक्ष संहिताका प्रवचन कर रहा हूँ वह उपाख्यानोंसे युक्त है। ' उग्रश्रवाके इस निजी श्लोकसे यह स्पष्ट होता है कि वैशंपायन-कथित संहितामें (२४०००) लगभग तिगुनी पूर्ति उपाख्यान रूपसे सौतिने करडाली। याने स्वयं सौतिने नये ७२००० श्लोकोंका सृजन किया। अब हमारे सामने यह प्रश्न नहीं कि इन ७२००० श्लोकोंको कैसे चुनकर अलग करलें पर हाँ, इतना निश्चयपूर्वक कह सकते कि, स्वयं महाभारतकारने ही जिन अध्यायोंको उपाख्यान नाम देरखा है वे वैशंपायनके न होकर सौतिके नये बनाये हैं। उदाहरणार्थ, आदिपर्वका दूसरा अध्याय ३४६ श्लोकोंका है जिसमें स्वयं सौतिने सौ पर्वोंके नाम गिनाये हैं और कुछ पर्वोंके लिए ' उपाख्यान ' नाम देडाला है; जिससे साफ जाहिर होता है कि जिस विभागको स्वयं सौति ही उपाख्यान नामसे पुकारता है वह वैशंपायनकृत नहीं किन्तु सौतिका ही नये ढंगसे लिखा हुआ है। महाभारत १–२–६५ ' उलूकदूतागमनं पर्वामर्षविवर्धनं ' अंबोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम्। ' भीष्मपर्वमें युद्धका सूत्र पात होता है और उसके पहले उद्योगपर्व पाँचवा है जिसमें १९६ अध्याय हैं। इनमें १७३–१९६ इन अंतिम २४ अध्यायोंको अंबोपाख्यान नामसे पुकारा है। इस आख्यानके ७९९ श्लोक हैं। अब यह स्पष्ट होता है कि उसमें जिस शिखंडीकी कथाका निर्देश है वह वैशंपायनकी कही नहीं किन्तु सौतिकी मनगढन्त रचना है।

' गीता क्यों लिखी गयी ' शीर्षकवाले लेखमें गीताके अन्तर्गत प्रमाणोंके बल बूतेपर मैंने यूं अनुमान निकाला था कि इतिहास बतलानेके लिए व्यासजीने जय नामक ग्रन्थकी रचना करडाली और अध्यात्म शास्त्रका विवरण करनेके उद्देश्यसे स्वतंत्र रूपसे गीता नामक ग्रन्थका सृजन किया। भारतके सौतिकृत श्लोकोंसे इस अनुमानकी ही पुष्टि होती है जैसे, जनमेजय नरेशको वैशंपायनने २४००० श्लोक युक्त संहिता बतला दी जिसमें कौनसे विषयोंका अन्तर्भाव था सो स्वयं सौतिनेही महा० १–१–१०० श्लोकमें तालिका बनाकर कहा है ' द्वैपायनजीने इस ग्रन्थमें कुरुवंशके विस्तार, गान्धारीकी धर्मपरायणता, विदुरकी प्रज्ञा, कुन्तीका धैर्य भलीभाँति बखान किया है। ' इस भारताख्यानमें अगर अध्यात्मशास्त्र मौजूद रहता तो जरूर उस महत्त्वपूर्ण भागका उल्लेख किया जाता। चूँकि अर्जुनको किये उपदेशका उल्लेख भारत इतिहासमें नहीं पाया जाता है इसलिए ऐसा अनुमान करनेमें कोई विशेष भूल न होगी कि, वैशंपायनने जिस आख्यानका प्रवचन किया उस इतिहासमें गीताका समावेश नहीं हुआ था। हाँ, इस अनुमानपर कोई ऐसा आक्षेप उठा सकता है कि, उस फेहरिस्तमें इस शास्त्रका नाम जरूर आजाय ऐसा नियम भला थोडेही है। अनुल्लेखका प्रमाण ग्राह्य नहीं माना जा सकता है। लेकिन मुझको ऐसे खोखले अनुमान पर निर्भर रहनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है क्योंकि आगे चलकर १५० श्लोकोंके पश्चात् २५२ वे श्लोकमें यकायक धृतराष्ट्र तथा संजयके संलापका निर्देश सौतिने किया है तथा २५३ वाँ श्लोक यूं लिखा है ' अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनो अब्रवीत्। विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः। ' मतलब यही कि ' अत्र ' याने धृतराष्ट्र एवं संजयके बीच होनेवाले संलापके रूपमें कृष्णद्वैपायनजीने पुण्यकारक उपनिषद् कहडाली। क्योंकि गीर्वाण भाषामें ' उपनिषद् ' शब्द स्त्रीलिंगी माना जाता है और वह ' इतिहास ' शब्दके तुल्य पुलिंगी नहीं है इसलिए ' पुण्या ' विशेषण लगाया है। स्पष्ट दीख पडता है कि सौतिने गीताके लिए ही स्वतन्त्रतया ' उपनिषद् ' शब्द लगाया है; इतना ही नहीं किन्तु वह ऐसा भी साफ साफ कहता है, वह उपनिषद् विद्वान्, कविसत्तम वगैरह लोगोंमें अत्यंत विख्यात है। २५६ वे श्लोकसे ले २६० श्लोक तक पाँच श्लोकोंमें सौति यह भी कहता है कि इस उपनिषद् में किस विषयकी चर्चा की गयी है जैसे —

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यते अत्र सनातनः।
स हि सत्यं ऋतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥२५६॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः
॥ २५७ ॥ असच्च सदसच्चैव यस्मात् विश्वं
प्रवर्तते । सन्ततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्ममृत्युपुन-
र्भवः ॥ २५८ ॥ अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूत-
गुणात्मकम् । अव्यक्तादि परं यच्च स एव
परिगीयते ॥ २५९ ॥ यत्तद्यतिवराः मुक्ताः
ध्यानयोगबलान्विताः । प्रतिबिम्बमिवादर्शे
पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥ २६० ॥

'अत्र' इसभाँति स्पष्ट उल्लेख करनेसे विदित होगा कि, गीताका ही यह संक्षिप्त वर्णन है। कुछ पाश्चात्य पंडितोंका कथन है कि, गीताकी रचना सौतिकी की हुई हो जिसका उत्तर यही दिया जा सकता कि स्वयं सौतिका ही यह कथन है कि उनके कालमें यह ग्रन्थ अत्यन्त विश्रुत बन चुका था। यदि सौतिका काल ईसाके पूर्व ३०० मान लिया जाय तो उस युगमें यह संलापमय ग्रन्थ उपनिषदोंके समकक्ष समझा जाता था ऐसा भी सुस्पष्ट होता है।

निस्सन्देह, सौतिने गीताके लिए 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' ऐसा कहना शुरु किया क्योंकि ऊपर दर्शाया गया है कि सौतिके २५६ वे श्लोकमें 'भगवान् वासुदेवः' पद पाया जाता है तथा 'उपनिषत्' पद भी सौतिकाही प्रयुक्त है।

उपर्युक्त अवतरणसे साफ जाहिर होता है कि सौतिके समय भारतमेंके कुछ भागको इतिहास कहते थे तथा उसीमें जो भगवद्गीताका भाग था उसे उपनिषत्के समान गौरवपूर्ण मानते थे। खुद सौतिनेही १-१-२६८ में यूं कहकर कि

कार्ष्णं वेदं इमं विद्वान् श्रावयित्वार्थमश्नुते।
भ्रूणहत्यादिकं चापि पापं जह्यादसंशयम् ॥

कृष्णद्वैपायनजीकी इस अनूठी रचनाको 'कार्ष्ण वेद' उपाधि देकर वेदतुल्य मान्यता दी है। हमारे यहाँ वेदोंको जो श्रेष्ठ एवं सर्वोपरि स्थान दिया जा चुका है उसकी जडमें यह धारणा प्रचलित है कि वेदान्तर्गत ऋचाएँ मन्त्रशास्त्रमें समाविष्ट होती हैं और मंत्रोच्चारणके सुन लेनेसे सारे पापोंके ढेर हट जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि, चूँकि सौतिने यूं फल श्रुति बतलायी है इस कार्ष्णवेदके पुण्य श्रवणके फलस्वरूप भ्रूणहत्याका पाप विनष्ट होता है इस कारण सम्भवतः उस कालमें मन्त्रशास्त्रकी नाई गीताका उपयोग जारी हो। महाभारतमें ऐसा निर्देश भी दृष्टिगोचर होता है कि श्राद्ध करते समय गीतापठन किया जाय (१-६२-३७); बहुत क्या कहें, श्राद्ध संकल्पमें—

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना ॥'

मन्त्र लिया गया है। मन्त्रशास्त्रकी एक विशेषता ऐसी है कि यदि यथोचित ढंगसे उसका उच्चार किया जाय तो ही कार्य सफल होता है, नहीं तो वह मन्त्र बेकार होता है। यही कारण है कि, पुस्तकके आधारसे गीताका पढलेना न सीखकर दूसरेसे ऊँची आवाजमें पढवाकर गीता पाठ करना चाहिये ऐसी पुरानी परंपरा है। गीताकी हस्तलिखित प्रतियोंमें जितने पाठभेद पाये जाते हैं उनकी अपेक्षा बहुत कम पाठभेद गीताका कंठस्थ पठन करनेवालोंमें दीख पडते हैं। इसका कारण यही कि, गीता, वेद जैसे ही गौरवास्पद मानी जाती हैं।

सौतिके पर्वसंग्रह-पर्वके १-२-२४६ श्लोकसे विदित होता है कि, गीता विभागको ही कार्ष्णवेद कहा गया है। वह श्लोक यूं है—

कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः।
मोहजं नाशयामास हेतुभिः मोक्षदर्शिभिः ॥

इतिहासमें पाये जानेवाले एक विशिष्ट विभागको ही लोग वेद तुल्य मानने लगें यह तो असंभवसा प्रतीत होता है अतः हमारा यह अनुमान बलवत्तर होता है कि, वेदके समकक्ष इस ग्रन्थकी रचना व्यासजीने स्वतन्त्ररूपसे की होगी। जय नामक इतिहासके श्रवणसे कौनसा फल मिलता है सो १-६२-२० में बताया है और वह गीता श्रवणजन्य सुफलसे सुतरां विभिन्न है।

जय नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।
महीं विजयते राजा शत्रून् चापि पराजयेत् ॥

सिवा इसके, बडे बडे यज्ञोंमें ही परिप्लवार्थ याने खाली वक्त इन इतिहास आख्यानोंका निवेदन किया जायेगा। किन्तु श्राद्ध सदृश कर्म तो हरकिसीके घर प्रायः हमेशा

*

होते रहते हैं इसलिए और साधारण जनसमाजके लिये ही गीताका उपदेश किया गया इसलिए भी उसी ग्रन्थको सर्वमान्यता मिल गयी तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

स्वर्गारोहणपर्वके पञ्चम अध्यायमें भी इन दो विभागोंके लिए ' जय नामेतिहासोऽयं ' और 'कार्ष्णवेदं पवित्रं चेदमुत्तमम्' इसभाँति दो विभिन्न और स्वतंत्र पदोंका प्रयोग किया है। सौतिने स्पष्ट बखान किया है कि कितने शुचिर्भूत होकर तथा कितनी बडी भारी तपश्चर्या कर चुकनेपर इस वेद समान, महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की गयी। वह वर्णन ऐसा है–

सर्वज्ञेन विधिज्ञेन धर्मज्ञानवता सता। अतीन्द्रियेण शुचिना तपसा भावितात्मना॥ ऐश्वर्ये वर्तता चैव सांख्ययोगवता तथा। नैकतंत्रविबुद्धेन दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा॥ कृष्णेन मुनिना विप्र निर्मितं सत्यवादिना॥

व्यासजीको इतिहासके लिखनेमें तथा इस वेदके सृजनमें पूरे तीन वर्ष लगे ऐसा उसका कथन है; देखो यह श्लोक–

त्रिभिः वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं चकार भगवानृषिः॥

अबतक ' सौती उवाच ' शीर्षकसे जो जानकारी मिल गयी उसका विचार हुआ। अतः इससे आगे ' वैशंपायन उवाच ' शीर्षकके नीचे कौनसी जानकारी मिलती है सो देखनी चाहिये। १–६२–२० में वैशंपायनजीका कथन है ' जयनामेतिहासोऽयं ' लेकिन २३ वे श्लोकमें बतलाते हैं–

धर्मशास्त्रं इदं अर्थशास्त्रं इदं परम्।
मोक्षशास्त्रं इदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

ध्यानमें रहे कि यहाँपर स्वतन्त्र नपुंसकलिंगी ' शास्त्र ' पदका प्रयोग है, अर्थात् अनुमान यही निकलता है कि, इतिहास विभाग पृथक् था और यह शास्त्र अलग था।

शान्तिपर्वके ३४६ वे अध्यायमें ये श्लोक पाये जाते हैं।

एवं एष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासं विधिकल्पितः॥११॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि।
को हि अन्यः पुरुषव्याघ्र महाभारतकृद्भवेत्॥१२॥
धर्मान् नानाविधान् चैव को ब्रूयात् तं ऋते प्रभुः॥

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासं विधिकल्पितः॥
(शां. ३४८–५३)

शान्तिपर्वके अध्याय ३३४–३५१ तक नारायणीय आख्यान है जिसे उपाख्यान नाम मिलनेसे यूं मानलेनेमें कोई हर्ज नहीं कि वैशंपायनजीके कथित २४००० संहितामें इसका प्रथमतः अन्तर्भाव हो। इसमें दो धर्मोंका निर्देश किया दीख पडता है– एक ' महान् धर्मः ' है तो दूसरा ' यतीनां चापि धर्मः ' के नाते विख्यात है। ये दोनों अर्थात् ही क्रमशः ' योगिनां निष्ठा ' तथा ' सांख्यानां निष्ठा ' से सूचित होते हैं और गीतामें ' यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य ' ऐसा जो श्लोक है उसे ध्यानमें रखकर ' विधिकल्पितः ' पद रखा है अतः स्पष्ट ऐसा अनुमान निकाला जा सकता है कि यह निर्देश गीताशास्त्रका है तथा उस शास्त्रको ' हरिगीता ' अभिधान प्राप्त था। इसेही वैशंपायनने धर्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र कहके पुकारा था ऐसा भी ऊपर बताया जा चुका है।

यह स्पष्ट हुआ कि गीताके लिए सौतिने उपनिषद्, वेद, भगवद्गीता इन नामोंका प्रयोग किया और वैशंपायनने उसीके लिए हरिगीता, धर्मशास्त्र नाम देरखा। चूँकि गीतामें उपनिषत् पद नहीं पाया जाता है इसलिए वह आदर सूचक भलेही रहे किन्तु वह सौतिका प्रयुक्त होकर प्रारम्भमें मौजूद न था यह सच है। हाँ, गीतामें अर्जुनके भाषणमें ' भगवान् ' पद १०।१४,१७ में पाया जाता है पर ' हरिः ' पद भी दो बार गीतामें ही दीख पडता है जैसे, ' महायोगेश्वरो हरिः ' ११।९ ' रूपमत्यद्भुतं हरेः ' १८–७७। ' हरि ' पद ' महायोगेश्वर ' विशेषणसे युक्त है अतः ऐसा निस्सन्देह कह सकते कि यह पद ' भगवान् ' पदसे भी अपेक्षाकृत अधिक सूचक है। मूलमें ' हरिगीता ' नाम प्रचलित था। मेरा यह आग्रह बिलकुल नहीं कि वर्तमानमें जो ' भगवद्गीता ' नाम जारी है उसे छोडकर ' हरिगीता ' नामका ही प्रयोग करना शुरु करें, सिर्फ पुराने जमानेमें कौनसा नाम रखा था सो दर्शाया।

गीताको उपनिषत् न कहते हुए वैशंपायनजीने धर्मशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र सदृश नामोंका उपयोग किया वह गीतामें

दृश्यमान परिभाषासे अधिक मेल खाता है क्योंकि स्वयं गीता ही अपनेको ' गुह्यतमं शास्त्रं ' संबोधित करती है तथा इस समूचे संलापग्रन्थको ' धर्म्य संवाद ' नाम दे डालती है।

अब तनिक यह सोचना ठीक होगा कि, शांतिपर्वमें १९१९ श्लोकोंवाला जो नारायणीय आख्यान दीख पडता है क्या उसका व्यासकृत होना संभव है या नहीं। यह आख्यान व्यास कृत तो नहीं किन्तु वैशंपायनका कहा अवश्य है; इसके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रमाण यही है कि- समूची हरिगीतामें व्यासजीने किसी भी स्थानपर श्रीकृष्णको ' नारायण ' कह नहीं पुकारा या अर्जुनको ही ' नरोत्तम ' संबोधनसे विभूषित किया; पर नारायणीय आख्यानमें प्रमुख पद कोई हो तो ' नारायण ' यही है। याने निर्विवादतया वैशंपायनजीने ' नर, नारायण ' पदोंका प्रयोग करना शुरु किया। अखिल वैदिक साहित्यमें किसी भी स्थानपर ' नारायण ' नहीं है। पिछले एक लेखमें यह दर्शाया जा चुका है कि, गीतामें वैदिक वाङ्मयका उल्लेख विस्तृत रूपमें उपलब्ध होता है। हाँ, इससे एक अतीव महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकल आता है कि महाभारतके हरएक पर्वके प्रारम्भमें जो यह श्लोक—

> ' नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
> देवीं सरस्वतीं चैव (व्यासं) ततो जयमुदीरयेत्॥ '

व्यासकृत कहके रखा जाता है वह वास्तवमें वैशंपायनजीका रखा हुआ है नकि व्यासजीका रचा है। 'पुण्यपत्तनस्थ भाण्डारकर प्राच्य संशोधनमन्दिरने प्रचलित 'व्यासं' पाठको हटाकर ' चैव ' पाठको स्थानापन्न किया है। ध्यानमें रहे कि, चूँकि यह श्लोक वैशंपायनविरचित है अतः उन्होंने व्यासजीको नमन किया तो उचित जँचता है। ' चैव ' पाठमें दूसरा एक दोष यह है कि ऊपरकी पंक्तिमें एक बार यह पद आचुका तथापि निरर्थक दूसरी पंक्तिमें फिरसे रखना ठीक नहीं प्रतीत होता है।

' नारायण ' पद वेद तथा पुरातन दशोपनिषदोंमें कहीं भी नहीं पाया जाता है। व्यासजीकी गीताके पश्चात् स्यात् नारायणीय उपनिषत्का लेखन हुआ हो। संभवतः वैशंपायनने वह लिख डाला हो। इस उपनिषत्के आधारपर सौतिका नारायणीय आख्यान बनाया जाना संभव दिखाई देता है। हो सकता है कि खुद वैशंपायनजीने ही उसकी रचना की हो। पर यह निश्चित है कि वह व्यासकृत सुतरां नहीं।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि, वैशंपायनजीने एक भी प्रक्षिप्त श्लोक गीतामें नहीं घुसेड दिया क्योंकि ' नारायण ' पद वैशंपायनजीका ' पेटन्ट ' है इस कारण श्रीकृष्णचन्द्रके लिए संबोधनरूपमें नारायण और अर्जुनको संबोधित करनेके हेतु नरोत्तम विशेषण सहजहीमें प्रयुक्त होता। महाभारतमें अर्जुनको ' फाल्गुन ' कहके पुकारा है जो कि वैशंपायनजीका ही दिया हुआ है। गीतामें तो व्यासजीने अर्जुनके लिए उस नामका प्रयोग कभी नहीं किया।

एक प्रश्न यूं उठखडा होता है कि, इस समय महाभारतान्तर्गत भीष्मपर्वमें गीता जिस तरह पायी जाती है वैसी ही वह क्या व्यासजीने ही अपने जय नामक ग्रन्थमें रखी हो या यह अध्यात्मशास्त्रका एक पृथक् ही ग्रन्थ व्यासजीने लिखा पर सौतिने उसे महाभारतके भीष्मपर्वमें जोड दिया? देखना होगा कि इस सवालका निश्चित उत्तर किस भाँति दिया जा सकता है। लोग साधारणतया समझते हैं कि गीतामें केवल श्रीकृष्ण एवं अर्जुनके मध्य हुए वार्तालापको ही स्थान है और वह बातचीत भीषण समरके सूत्रपात होनेके पहले ही हो चुकी इसलिए भीष्मपर्वमें युद्धके प्रारंभमें गीताको स्थान देकर अर्जुनका मोह कैसे विनष्ट हुआ सो दर्शाकर लडाई छिड गयी ऐसा कहनेमें कोई हर्ज नहीं; उल्टे उसी जगह गीताको स्थान देना उचित है ऐसी धारणा करलेना स्वाभाविक है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। गीताका संलाप अकेला नहीं किंतु द्विविध है याने एक संलापमें दूसरा संलाप पिरोया गया है। धृतराष्ट्र तथा संजय के बीच प्रवृत्त वार्तालापसे गीताका सूत्रपात या प्रारंभ हुआ है और अन्तमें भी संजयके वाक्यसे ही उसकी समाप्ति हुई है। कृष्णार्जुन संलाप तो इसीके अन्तर्गत है तथा प्रमुख संलाप नहीं।

इसी कारणसे मूलमें विभिन्नरूपसे विद्यमान गीताको महाभारतमें स्थान देते समय सौति एक कठिनाईके सम्मुखीन हुए और गीताके विख्यात होनेसे उसमें हस्तक्षेप

करना या काटछाँट करलेना असंभव हुआ । तब शिखंडीके इतिहासमें परिवर्तन करके और पिछले अध्यायमें और कुछ हेर फेर करके गीता जोडदी गयी; यही बात मुझको सप्रमाण सिद्ध करनी है । हाँ, शार्मण्य प्राध्यापक श्री. गार्बेकी राय ठीक इसके विरुद्ध है । वे मानते थे कि, जब मूल भारतमेंसे गीताको अलग निकाला तो किसीने प्रथम अध्यायमें १–१९ नये श्लोक घुसेड दिये । इस लेखमें मैं सहज ही दर्शाऊँगा कि प्रारंभिक १९ श्लोक व्यासजीके ही हैं; अन्य किसीके नहीं । यह नितान्त असंभव है कि, उनमें दृश्यमान परिभाषा सौतिकी या किसी अन्यकी हो सके ।

वैशंपायन एवं व्यासके मध्य रहनेवाली विभिन्नता दर्शाने के लिए जैसे ' नारायण ' तथा ' फाल्गुन ' पदोंका आधार मिला उसी तरह व्यासजीके ' पेटन्ट ' पदों और सौतिके ' पेटन्ट ' पदोंके बीच मौजूद अलगावको दिखाया जा सकता है । इसलिए गीतामें व्यासजीने किस परिभाषाका प्रयोग किया सो पहले देखकर पश्चात् सौतिकी प्रयुक्त परिभाषाकी ओर मुडकर देखना ठीक होगा । ' धृतराष्ट्र उवाच ' में समाविष्ट 'कुरुक्षेत्रे समवेताः मामकाः पाण्डवाः युयुत्सवः' से लेकर ही व्यासजीकी परिभाषाका सूत्रपात होता है । धृतराष्ट्र एवं पण्डु दोनोंका पूर्वज अर्थात् ही कुरु है । किनके बीच लडाई छिड गयी इस सम्बन्धमें गीताकी निर्धारित परिभाषा यही कि धार्तराष्ट्र तथा पाण्डवोंके मध्य महासमर छिड गया । हम साधारणतया यूं मान बैठते हैं कि, कौरव–पाण्डवोंमें भीषण भिडन्त हुई लेकिन यह गीताकालकी परिभाषासे मेल नहीं खाता; कारण यही कि कुरु तो धृतराष्ट्र और पण्डु दोनोंका पूर्वज ठहरा । याने ऐसा नहीं कहा जा सकता कि, कौरव अर्थात् धृतराष्ट्रके ही पुत्र थे । यही वजह है कि, गीतामें आठ वार ' पाण्डवाः ' के मुकाबलेमें ' धार्तराष्ट्राः ' पद प्रयुक्त हुआ है । इतना ही नहीं किन्तु दूसरे, छठे तथा चौदहवे अध्यायमें अर्जुनके लिए ' कुरुनन्दन; ' दसवे अध्यायमें ' कुरुश्रेष्ठ; ' चौथे–अध्यायमें ' कुरुसत्तम; ' और ग्यारहवे अध्यायमें ' कुरुप्रवीर ' इस भाँतिके संबोधनोंका प्रयोग किया गया है । भीष्मपितामहको भी ' कुरु वृद्धः पितामहः ' कहा याने धृतराष्ट्रकी अपेक्षा अवस्थामें और पदमें भीष्माचार्य बडे थे ऐसा सहजहीमें ' पितामह ' शब्दसे सुझाया । दूसरे, पाणिनीय व्याकरणसे भी व्यासजीकी परिभाषा बहुत पूर्वकालीन ठहरती है और इसके लिए प्रमाण, ' समवेतान् कुरुन् ' में कुरु पदके अनेक वचनी ' कुरून् ' से कुल दर्शानेके लिए प्रयत्न किया है । इसी कारण समूची गीतामें ' कौरव ' ऐसा पद उपलब्ध नहीं होता । व्यासजीका ही दूसरा एक महत्त्वपूर्ण शब्द प्रयोग अर्जुनको ' कौन्तेय ' और युधिष्ठिरको ' कुन्तीपुत्रो ' विशेषण लगाना है । गीतामें २५ बार ' कौन्तेय ' पद पाया जाता है । माताके नामसे पुत्रको संबोधित करना वेदकालीन पुरानी प्रथाकाही द्योतक है । इसी तरह ' कुतस्त्वा कश्मलमिदं ' अथवा ' अहं त्वा सर्वपापेभ्यः ' ' क्लैब्यं मा स्म गमः ' जैसे कई उदाहरण पुरानी परिभाषाके सूचक कहे जा सकते हैं ।

अब सौतिकी परिभाषा देख लीजिए– भीष्मपर्वके प्रारंभिक तीन श्लोक यूं हैं—

जनमेजय–

कथं युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।

वैशंपायन–

यथा युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
ते अवतीर्य कुरुक्षेत्रं पाण्डवाः सहसोमकाः ।
कौरवाः समवर्तन्त जिगीषन्तो महाबलाः ॥

इससे साफ जाहिर होता है कि, ' धार्तराष्ट्राः ' परिभाषा पीछे पड गयी और ' कुरुपाण्डव, कौरव ' ऐसी शैली शुरु हुई । कुछ लोग पूछेंगे कि शायद वैशंपायनजीने यह परिभाषा शुरु की हो; लेकिन वैसी बात नहीं क्योंकि उस दशामें वैशंपायनजीने जनमेजयके लिए ' कुरुपुंगव ' पद न रखा होता । अतः विदित होगा कि, जहाँ ' कुरुपाण्डव, कौरव, कौरव्य ' ऐसे प्रयोग हों वे अवश्य ही सौतिके हैं ऐसा कहनेमें कोई हर्ज नहीं । सौति प्रयुक्त दूसरी एक परिभाषा यूं है– युधिष्ठिरको ' धर्मराज, धर्मसुत, धर्मपुत्र ' कहके संबोधित करना भीमको वायुपुत्र कहना, अर्जुनको इन्द्र पुत्र बतलाना । आदिपर्वके ६३ वे अध्यायमें उपरिचर नरेशका उपाख्यान पाया जाता है जिसमें बतलाया है कि, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल एवं सहदेवकी उत्पत्ति क्रमशः यमधर्म, इन्द्र, वायु, एवं अश्विनी कुमारसे हुई । उपाख्यानोंको सौतिने रखा इस विषयमें सौतिका ही वचन

पीछे उद्धृत किया जा चुका है।

ऊपर दर्शायी सौतिकी परिभाषा गीताके अठारहों अध्यायोंमें कहीं भी नहीं दिखाई देती है। अब तो सुस्पष्ट हुआ होगा कि सौतिने महाभारत में गीताको स्थान देते समय यद्यपि गीताके अध्यायके संकल्पमें परिवर्तन किया हो, तो भी मूलमें तनिक भी हेरफेर नहीं किया। एकाध बार ऐसा जान पडे कि परिभाषाके परिवर्तनके सम्बन्धमें इतना सोच-विचार भला क्योंकर किया पर बात ऐसी है कि, एक समय की परिभाषा दूसरे कालकी परिभाषासे हिलमिल जाए तो कभी कभी अर्थका अनर्थ हो जाता है। उदाहरणार्थ, गीतामें जो यह श्लोक है–

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।

उसका लोकमान्य तिलकजीने जो अनुवाद किया है उस में 'धार्तराष्ट्राः' पदको 'कौरव' के पर्याय समझ लिया है। उस श्लोकका अनुवाद ऐसा है 'उस घोषके मारे कौरवोंके अन्तस्तल विदीर्ण हुए,' याने कौरवोंकी छाती फटने लगी। गीताकी परिभाषाके मुताबिक कौरव अर्थात् भीष्म, अर्जुन वगैरह सभी आते हैं। गीताका कथन है कि भीष्माचार्यने शंख फूँकना शुरु किया और प्रत्युत्तरके तौरपर पाण्डव दलके सभी लोगोंने अपने अपने शंख बजाये। दुर्योधन सदृश धार्तराष्ट्रोंके निकट 'नीतिरस्मि जिगीषतां' ढंगसे कोई नैतिक आधार नहीं था इसी करण वे बडे ही विचलित एवं व्यथितहृदय हुए; बस यही बतलाना गीताका उद्देश्य था। रूढिवश हम कौरव पदका अर्थ धार्तराष्ट्र ऐसा ही करते हैं; बात बिलकुल सच है किन्तु यह कोई भी स्वीकार करेगा कि 'धार्तराष्ट्राः' इस पारिभाषिक पदको कौरवोंके पर्याय वाचक समझ 'कौरवाः' अनुवाद करना भूल होगा।

अब इस प्रश्नका विचार करना चाहिये कि महाभारतमें गीताको रखतेसमय सौतिने पिछले अध्यायमें परिवर्तन क्यों तथा कैसे किया। ध्यानमें रहे कि गीतापर सोचते समय 'धृतराष्ट्र उवाच' सेही उसका प्रारंभ करना चाहिये, नाकि कृष्णार्जुन संलापसे क्योंकि उतनेसे काम नहीं चलता। कारण यही कि गीतामें संजयके श्लोक पूरे चालीस हैं जो प्रथम, द्वितीय, ग्यारहवे तथा अठारहवे अध्यायोंमें विभक्त हुए हैं। प्राध्यापक गार्बेकी धारणाके अनुसार पहले अध्यायके १९ और अंतिम अध्यायके ५ श्लोक प्रक्षिप्त मानकर काम नहीं चल सकता क्योंकि संजयके शेष १७ श्लोक निरालंब दशामें रह जाते हैं।

लेकिन क्या करें; धृतराष्ट्र तो अन्ध ठहरा अतः कुरुक्षेत्र-पर– समरांगणपर लडाईके भँवरमें उसे ले आना असंभव था। याने धृतराष्ट्रके साथ ही संजय महाशय भी हस्तिनापुरमें अटक गए। इसमेंसे राह ढूँढनेके लिए सौतिको यह मन गढन्त कथा भाग जोडना पड़ा कि व्यासजीने संजयको दिव्यदृष्टि सम्पन्न करडाला। भीष्मपर्वके पहले १० अध्यायोंको जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व ऐसा नाम दिया है। यद्यपि इस पर्वको उपाख्यान नाम नहीं मिला तो भी इन अध्यायोंमें 'कुरुपाण्डव' ऐसा प्रयोग कई बार दीख पडता है इसलिए निर्विवादतया यह पर्व सौतिका लिखा है। इस पर्वके दूसरे अध्यायको 'व्यास–दर्शन–नाम' कहा गया है। व्यासजीने धृतराष्ट्रसे ही पूछा था कि 'यदि तुम चाहो तो मैं तुझको दिव्यदृष्टि सम्पन्न करदूँ' पर धृतराष्ट्रने अस्वीकार किया और यह कारण बतलाया कि 'ज्ञातियोंमें जो रोमाँचकारी हत्याकाण्ड मच जायगा उसे मैं न देख सकूँगा।' तदुपरान्त संजयको दिव्यदृष्टिका वरदान मिला और ऐसा सुप्रबंध किया कि वह युद्ध समाचारोंको (War-news) अप्रतिहतरूपसे बतलाता जाय।

इस दिव्यदृष्टिके सम्बन्धमें सौतिने यद्यपि अपनी कल्पना शक्तिसे काम लिया तथापि निस्सन्देह उसमें जो चतुराईका प्रदर्शन किया वह सचमुच सराहनीय है क्योंकि गीताके ही 'व्यासप्रसादात्' श्रुतवान् एतद्गुह्यं अहं परं' इस वचनका उपयोग सौतिने किया है। व्यासजीने 'कृष्णकी तरफसे अर्जुनको दिव्यदृष्टि दिलवाकर विश्व–रूप–दर्शनका सौभाग्य प्राप्त कराया ही था और अब उन्हींके **प्रसाद** शब्दको लेकर संजयके दिव्यदृष्टिवाले बननेका कथा भाग जोड दिया। सिर्फ यही कथाविभाग जोडना पडता तो अधिक कुछ बिगडता नहीं उल्टे, सौतिकी कुशलताकी प्रशंसाही की जाती; लेकिन उतनेसे ही भारतमें गीता जुडने नहीं पाती है।

भारतमें गीताको स्थान देते समय प्रमुख कठिनाई गीताके निम्नलिखित एक दूसरेके विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दो श्लोकोंसे जान पडती है–

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
(गी. १-१०)
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।
(गी. १-२१)

वास्तवमें तनिक भी विरोध नहीं क्योंकि दुर्योधनने शरारती तरीकेपर ऐसा कहा है। उसी प्रकार, भीष्मके निकट न जाते हुए दुर्योधन क्यूंकर द्रोणाचार्यजीके समीप चला गया आदि प्रश्नोंका स्पष्टीकरण दूसरे लेखमें स्वतन्त्र तया करके बताया है। प्रथम श्लोकमें दुर्योधन कहता है कि, भीष्मने हमारी सेनाकी रक्षा करनेका भार उठा लिया है ' और दूसरे ही श्लोकमें वही कहता है ' तुम सब मिलकर भीष्मकी रक्षा करते रहो । '

यह कठिनाई लोकमान्य तिलकजीके ध्यानमें आ चुकी थी, इस कारण इन श्लोकोंपर भाष्य लिखते समय उन्होंने लिखा " सेनानायक भीष्माचार्यजी तो बडे पराक्रमी एवं किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं थे; तो भी सब ओरसे तथा सभी तरीकोंसे उनकी रक्षा की जाय ऐसा कहनेका कारण दुर्योधनने दूसरी जगह बतलाया है कि, मैं शिखंडी पर शस्त्रप्रहार नहीं करूँगा ऐसा भीष्मका निर्धार हो चुका था इस कारण शिखंडीकी ओरसे भीष्मको क्षति पहुँचनेकी संभावना थी, यही कारण है कि सभी उनके संरक्षणमें सतर्क, सचेष्ट बने रहें। अतिबलिष्ठ मृगराज केसरीको संरक्षण न मिले तो भेडिया शायद सिंहको मौतके मुँहमें झोंक दे इसलिए शृगालतुल्य शिखंडीसे सिंहको मरणान्तिक प्रहार न मिले ऐसा प्रबंध करो।" शिखंडीको छोड दूसरे किसीसे भी मुठभेड करनेकी अकेले भीष्ममें क्षमता थी और वे दूसरे की सहायताके लिए मुँह ताकनेवाले न थे। शिखंडीपर प्रखर आयुधका प्रबल प्रहार करनेसे भीष्माचार्यजी क्यों आनाकानी करते थे इसका कारण यूं बताया गया कि-

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखंडिनम् ।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्मात् वर्ज्यो रणे मम ॥
(भीष्मपर्व १५।१५।२०)

शिखंडी पहले नारीके रूपमें संचार करता था किन्तु पश्चात् नररूपधारी बन गया। यह वृत्तान्त अंबोपाख्यानमें दिया गया है। हम पीछे बतला आये कि अंबोपाख्यान मूलमें नहीं था पर सौतिका रचा हुआ है। पहले अध्यायका मर्म ध्यानमें न आनेके कारण यह विरोध दृष्टिगोचर हुआ; बादमें उसे हटानेके लिए शिखंडीको नाहक क्लीब बना डाला। देखिए, गीताने उच्चस्वरसे उद्घोषित किया कि ' शिखंडी च महारथः; ' इतना ही नहीं किन्तु भीष्माचार्यजीके सिंहनादके उपरान्त जिन्होंने प्रत्युत्तर देनेकी तीव्र लालसासे स्वयं उत्साह एवं उमंगसे शंख फूँकना प्रारंभ किया उनकी तालिकामें शिखंडीका नाम दर्ज है। अतः यह उपाख्यान गीतामें दी हुई जानकारीके बरखिलाफ है। इसीलिए काल्पनिक भी है और इतिहासके नाते उसका विचार करना उचित नहीं इसमें क्या संशय ?

प्रतीत होता कि भीष्मपर्वमें पीछेसे गीता जोडदी गयी हो और इसके लिए दूसरा प्रमाण यूं है- भीष्मपर्वका पहला उपपर्व १० अध्यायोंवाला है और दूसरा भूमिपर्व नामक उपपर्व ११-१२ याने दो अध्यायोंवाला है। इन बारहों अध्यायोंका लडाईसे तनिक भी सरोकार नहीं। दूसरे अध्यायमें सिर्फ संजयको वरदान देनेका समाचार दिया है। यकायक १३ वे अध्यायमें संजयके रणभूमिमेंसे लौट आनेका दृश्य चित्रित किया है।

अथ गाल्वगणिः विद्वान् संयुगात् एत्य भारत ।
आचष्ट निहतं भीष्मं भरतानां पितामहम् ॥

उन्होंने आकर भीष्मके शरजालमें जकडे जानेका संवाद सुनाया—

हतो भीष्मः शान्तनवो भारतानां पितामहः ।
शरतल्पगतः सोऽद्य शेते कुरुपितामहः ।
सः शेते निहतो राजन् संख्ये भीष्मः शिखंडिना।

इस १३ वे अध्यायसे ले ४२ वे अध्यायतक ३० अध्यायोंको भगवद्गीता-पर्वमें समाविष्ट किया है। प्रत्यक्ष गीता का पहला अध्याय अर्थात् ही भीष्मपर्वका २५ वा और भगवद्गीता पर्वका बारहवा है। अर्थात् भगवद्गीताके पहले ही १२ अध्याय भगवद्गीता-पर्वमें आते हैं। अगर भगवद्गीता पर्वके विभागके नाते प्रारंभसे ही भगवद्गीता रहती तो भगवद्गीताके प्रथम अध्यायके अन्तमें ' भीष्मपर्वणि भगवद्गीतापर्वणि... १३ अध्यायः ' इस ढंगका संकल्प रहना चाहिये था; पर वैसा भी नहीं है। भगवद्गीताके पहले अध्यायके अन्तमें ' भीष्मपर्वणि भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां...' ऐसा संकल्प पाया जाता है।

गीताके पहलेके भगवद् गीतापर्वके १२ अध्यायोंके संकल्प इस तरह हैं– (१) भीष्ममृत्यु श्रवण (२) धृतराष्ट्र–प्रश्न (३) दुर्योधनदुःशासनसंवाद (४) सैन्यवर्णन (५) सैन्यवर्णन (६) सैन्यवर्णन (७) पाण्डवसैन्यव्यूह (८) सैन्यवर्णन (९) युधिष्ठिर अर्जुनसंवाद (१०) कृष्णार्जुन-संवाद (११) अर्जुनने दुर्गास्तोत्रका पठन किया (१२) धृतराष्ट्र संजय संवाद

भीष्मपर्वके २ अध्यायमें संजयके दिव्यदृष्टियुक्त होनेपर उसे रणभूमिमें जानेका कोई कारण न रहा पर तेरहवे अध्यायमें रणांगणसे लौटकर संजय समाचार देता है कि, भीष्माचार्यजी शरपञ्जरमें जकडे गए हैं। सर्वविदित है कि दसवे दिन भीष्माचार्यजी बाणजालावनद्ध हुए। भीष्माचार्यजीके पतनके पश्चात्के तृतीय अध्यायमें (१५;१५-२०) श्लोकोंमें, 'भीष्मका संरक्षण करो' इसभाँति २५ वे अध्यायमें दुर्योधनने कहा था उसका समर्थन 'शिखंडीपर मैं शस्त्र प्रहार न करूँगा' ऐसे भीष्म बोले थे ' वगैरह कहके किया है और २४ अध्यायमें धृतराष्ट्र संजयसे पूछ रहे हैं कि कहो किसने पहले अस्त्र प्रक्षेप करना शुरु किया।' जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वके दूसरे अध्यायमें जो दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई उसका कुछ भी उपयोग नहीं किया।

इस चर्चासे इतना स्पष्ट होगा कि भीष्मपर्वमें भगवद्-गीताका समावेश सुतरां नहीं था। हाँ, किसी न किसी तरह कोशिश करके उसे वहाँ रख देनेका प्रयत्न किया लेकिन वह सारी चेष्टा थिगली लगानेके समान हुई। इसमें यही समाधानकी बात है कि, सौतिने मूल गीताको तनिक भी ठेस न लगे ऐसी सतर्कता रखी।

अब देखना चाहिये कि, गीतामें आए हुए 'सर्पाणा-मस्मि वासुकिः,' 'अनन्तश्चास्मि नागानां,' 'ऐरावतं गजेन्द्राणां' 'गन्धर्वाणां चित्ररथः' ऐसे निर्देशोंमें सौतिने कितना विकार पैदा किया, इस प्रश्नका उत्तर क्या है। सर्प याने साँप यही धारणा प्रचलित है पर वैसा नहीं। नाग अर्थात् भीषण जहरीले साँप और गजेंद्र याने हाथी ऐसा हम मानते हैं किन्तु हो सकता है कि उस समयके नरेशोंके परिवारोंके उपनाम उनके ध्वजचिन्होंके कारण नाग, सर्प तथा गजेन्द्र हुए हों, क्योंकि गीतामें अर्जुनको 'कपिध्वजः' कहा है अर्थात् ही पाण्डवोंकी पताका वानर-चिन्हांकित थी। हाँ, भावुकताके सहारे यद्यपि ऐसा मान सकते कि राम-अवतार युगके हनुमानजी अर्जुनके रथपर बैठे अपनी वज्रतुल्य दहाडसे शत्रु दलके दिलमें धडकन पैदा करते थे, किन्तु उसे ऐतिहासिक सचाई साबित करना गलत है।

आदिपर्वका प्रथम अध्याय याने अनुक्रमणीपर्व, और दूसरा अध्याय अर्थात् पर्वसंग्रह पर्व तथा तृतीय अध्याय जिसे पौष्यपर्व कहा है। इसके प्रारंभके १७० तक अंकयुक्त श्लोक हैं पर सचमुच वे श्लोक नहीं लेकिन गद्य भाग हैं। हाँ, अन्तिम अठारह याने १७१–१८८ वास्तविक श्लोक हैं तथा पौष्यपर्व यहींपर समाप्त होता है। पौष्यपर्वके प्रारंभमें ऐसी जानकारी दी है।

परीक्षित्के सुपुत्र जनमेजयजीने अपने श्रुतसेन, उग्रसेन एवं भीमसेन नामवाले तीनों भाइयोंके साथ कुरुक्षेत्रमें दीर्घसत्रका सूत्रपात किया। वहाँपर एक कुतियाने उसे शाप देडाला। उस सत्रकी समाप्तिपर हस्तिनापुर लौटकर जनमेजयजी एक सुयोग्य पुरोहितजीकी तलाशमें रहने लगे, ताकि वे उनके पीछे पडी पापकृत्याको मिटा सके। एक बार आखेट करनेकी लालसासे जनमेजयजी वनमें घूमते थे जब कि किसी आश्रममें श्रुतश्रवा नामक ऋषिवरसे मुलाकात हुई। वे मुनिवर जनमेजयजीसे कहने लगे 'सर्पी' गर्भोत्पन्न मेरा सोमश्रवा (आस्तिक) पुत्र बडाही तपस्वी है; आप कृपया उसे पुरोहितपद पर अधिष्ठित करदीजियेगा, बस वह आपको पापकृत्याके चँगुलसे छुडायेगा।' जनमेजयजीने पुरोहितको अपने भाइयोंके हवाले कर दिया और पश्चात् 'तक्षशिला' जाकर उस देशपर अपना अधिपत्य जमा दिया।'

अब अन्तिम याने स्वर्गारोहणपर्वके पंचम अध्यायके ३० वे श्लोकमें सौतिका लिखा समाचार यूं है–'यज्ञमें अवकाश रहते समय वैशंपायनजीने जनमेजयजीसे कहा कि 'मैंने अब तक कुरुओं और पाण्डवोंका समूचा चरित्र आपको बतलाया।' यह सुनकर नरेश अचम्भेमें आगये। उन्होंने यज्ञकी समाप्ति करडाली और आस्तिक नामक पुरोहित पर प्रसन्न होकर तक्षक नागको रिहा किया तथा अन्य भी नागोंकी मुक्तता करडाली एवं स्वयं वह तक्षशिलासे हस्तिनापुर वापिस चला आया।' (एनसायक्लोपीडिया ब्रिटा-

निकामें लिखा है कि, तक्षिला Taxila नामक नगरी बहुत पुरानी थी और वहाँकी खुदाईमें पायी जानेवाली चीजोंका आलेख्य दिया है। पाण्डवोंके पश्चात्की पहली सदीके भीतर ही जनमेजयजीका काल आता है अतः ईसाके लगभग ३१०० वर्ष पहले युधिष्ठिरजी थे तथा खिस्तपूर्व ३००० के करीब जनमेजयजीका काल होता है। अर्थात् यह नगरी उस समय विख्यात थी।

इन दोनों समाचारोंमें तक्षशिला ऐसा महत्वपूर्ण नगर नाम पाया जाता है। खैबर घाटीके सीमान्त प्रदेशके निकट यह विश्रुत नगर मौजूद था। नाग परिवारमें स्यात् तक्षक नामक पुरुष हो जिसने इस नगरकी नींव डालकर शहर बसाया था। परीक्षित् नरेशको तक्षक नागने डंक मारा ऐसी आख्यायिका चालू है किन्तु ध्यानमें रहे कि वह नाग सर्प नहीं था लेकिन तक्षक नामक किसी सामन्तने षड्यंत्रसे परीक्षित्को जहर देडाला तथा उसे मौतके कराल गालमें झोंक दिया, यही वास्तविक घटना हो सकती है। ऐसी भी किंवदन्ती प्रचलित है कि, कश्यप नामक एक ब्राह्मण परीक्षित्पर किये विष प्रयोगपर औषधोपचार करने चला था परन्तु तक्षक महोदयने उसे प्रचुर धन देकर परावृत्त किया। जब जनमेजयजीको विदित हुआ कि ' तक्षकके हाथों अपने पिताजीका वध हो चुका तो उसने सर्प तथा नागकुलोंपर प्रखर प्रमाथी प्रहार करना शुरु किया। कुरुक्षेत्रमें प्रवर्तित सर्पसत्रसे इस विध्वंसका सूत्रपात हुआ। जान पडता है कि, कुरुक्षेत्रके निकटवर्ती खाण्डव वनमें समाये भूविभागपर सर्पपरिवारका प्रभुत्व प्रस्थापित था।

यहाँपर ' सत्र ' पदका मतलब यही कि उस सर्प जाति पर प्रलयंकारी भीषण चढाई या धावा किया गया। १०५७ वे अध्यायमें तालिका दी है कि इस रोमांचकारी सर्पसत्रमें किनकी आहुति डाली गयी जिसमें ' वासुकी ' परिवारके अमुक पुरुष ऐसा प्रारंभ है। अब ध्यानमें आयेगा कि गीतामें ' सर्पाणां अस्मि वासुकिः ' यह नाम किसका है। नागकुलका मूल नाम ' शेष ' दिया है और शेषकाही दूसरा नाम अनन्त है याने ' अनन्तश्चास्मि नागानां ' वचन स्पष्ट हुआ। जिस शेषके साथ श्रीकृष्णजीका सरोकार था ऐसा बताते हैं वह शेष अर्थात्ही नागपरिवारका प्रमुख नरेश। इसके धृतराष्ट्र तथा तक्षक दो पुत्र थे। कुरुक्षेत्रमें बहती हुई ' इक्षुमती ' नदीके तटपर महद्युम्न नामक ग्राम पर तक्षकका प्रभुत्व प्रस्थापित था। नाग घरानेमें ऐरावत ऐसा नाम पाया जाता है। यह बताया जा चुका है कि कुरुक्षेत्रके समीपवर्ती खाण्डव वनमें इनकी सत्ता थी। अतः विदित होगा कि ' ऐरावतं गजेन्द्राणां ' काल्पनिक नहीं।

ऊपर समाचार दिया गया है कि कुरुक्षेत्रके समीप खाण्डववनस्थ सर्पकुलकी धज्जियाँ उडाकर पश्चात् जनमेजयजी तक्षशिलाकी ओर मुडे। वहाँ नागकुलका उच्चाटन करनेमें सफल हुआ। तक्षकनाग शायद कहीं भागकर किसी नरेशके शरणमें गया हो। तक्षकने परीक्षित् नरेशके प्राणपखेरुओंको सदाके लिए उडानेमें परिश्रम किया था इसकारण अगर तक्षक जनमेजयका कोपभाजन बने तो स्वाभाविक है। जिस नरेशकी संरक्षणछत्रछायामें तक्षक सुखसे कालयापन करनेगया था उसीपर जिस वक्त जनमेजयने धावा बोल दिया तब वह राजा (इन्द्र) भयभीत हुआ और उसने तक्षकके संरक्षणकी धुरा उठानेसे इनकार किया। तब असुरक्षित होकर अन्तमें आत्मसमर्पण एवं शरणागति स्वीकारनेके लिए तक्षक लाचार हुआ अतः उसे जीवदान मिला। जनमेजयजीने तक्षकको आसरा देनेहारे नृपतिको आक्रान्त एवं पददलित करडालनेकी घुडकी देदी इसलिए अपने यहाँ ' तक्षकाय स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा ' कहावत जारी हुई। आस्तिकजीकी मध्यस्थताके कारण तक्षकको प्राणभिक्षा मिली। यह आस्तिक अर्थात् ही श्रुतश्रवा ऋषिका पुत्र ' सर्पी ' गर्भोत्पन्न सोमश्रवाजी हैं। कुरुक्षेत्रकी लडाईमें सरमा नामक कुतियाके शाप देनेका निर्देश है। शायद इसका आशय हो कि पागल कुत्तेके काट खालेनेसे जनमेजयजीको विषबाधा हुई थी और चूंकि आस्तिकजीने उसका इलाज किया था अतः जनमेजय भूमिपाल उसपर खुश थे। आस्तिककी धमनियोंमें सर्पवंशका रक्त बहता था इसकारण उसकी विनति सुनकर तक्षकको प्राणभिक्षा देडाली तो यह सर्वथैव उचित है। जिससमय तक्षशिलापर जनमेजयमहीपालका चतुर्दिक् आक्रमण हुआ तब चिकित्सा करनेके हेतु आस्तिकजी, प्रतीत होता है, उनके साथ हो लिये। कारण यही कि कुरुक्षेत्रमें सर्पजातिको ठुकराकर जनमेजय नृपतिं तक्षशिलाकी ओर जानेलगे ऐसा ऊपर कहा है। तक्षक तथा अन्यभी कई नागोंको छोडदिया और वापिस

हस्तिनापुर जनमेजयनरेश लौट आये, यह भी इतिहासके अनुकूल है।

तक्षशिलाके परे जो भूविभाग था उसे गान्धार या गन्धर्वदेश कहते थे। युधिष्ठिरजीके समय वहाँपर चित्ररथ नामक भूपालका राज्य था; इसीलिए 'गंधर्वाणां चित्ररथः' नाम भी मनगढन्त गन्धर्वलोकसे नहीं लिया यह बात ध्यानमें आयेगी।

मौसलपर्वमें कहा कि ३६ वर्ष युधिष्ठिरजीके राज्यशासन कर चुकनेपर उल्टे लक्षण दिखाई देने लगे 'प्रत्यग्गूहुः महानद्यः' जैसे और ठीक उसीवक्त युधिष्ठिरजीको संवाद मिला कि परस्पर जूझकर यादवजाति धराशायिनी हो गयी, कृष्णजीने भी देहत्याग कर डाला और द्वारका नगरी समुद्र के उमडते तरंगोंमें विलीन हुई। इतना सुनलेनेपर पाण्डव विरक्तसे बन गये और राज्यशासनप्रबंध परीक्षित्‌जीके हवाले करके तीर्थयात्रा करने निकले। जब वे पच्छिमकी ओर यात्रा करते चले तो समुद्रमग्न द्वारकानगरीका दर्शन उन्हें हुआ ऐसा वर्णन है। स्पष्ट ही है कि युगप्रलय हो जानेकी जो जानकारी हमें उपलब्ध है उससे यह समाचार मेल खाता है। भीष्मपर्वमें व्यासदर्शनका अध्याय घुसेडकर सौतिने तीसरे अध्यायमें 'प्रतिस्रोतो महानद्यः' आदि एक प्रलय-कालीन दृश्यका चित्रण किया है। युधिष्ठिरके देखे विपरीत निमित्तोंका तथा प्रलयकालका पुराना वर्णन भीष्मपर्वके प्रारंभ में सौतिने डाला हो। व्यासजीने भी इधर गीतामें अर्जुनके कथनमें 'निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि' वाक्य रखा है। ऐसा दिखाई देता है कि इन्हीं विपरीत निमित्तोंको युधिष्ठिर, अर्जुनके युद्धोत्तर ३६ वर्ष पश्चात् देखे 'विपरीत निमित्तों' से जोडकर सौतिने वहाँपर यह वर्णन रखा। इतना ही क्यों, खुद सौतिको इस बातका पता था कि दो स्थानोंपर यही वर्णन उससे हुआ है क्योंकि सौतिकी धारणा यूं बनी कि प्रलय दो बार हुआ। इस विधानके लिए प्रमाण है १६-२-१७-१८

एवं पश्यन् हृषीकेशः संप्राप्तं कालपर्ययम्।
त्रयोदश्यां अमावास्यां तान् दृष्ट्वा प्राब्रवीदिदम्॥
चतुर्दशी पंचदशी कृतेयं राहुणा पुनः।
प्राप्ता वै भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयाय नः।
इदं च तत् अनुप्राप्तं अब्रवीत् यत् युधिष्ठिरः।
पुरा व्यूढेषु अनीकेषु दृष्ट्वोत्पातान् सुदारुणान्॥

'प्रतिस्रोतो महानद्यः' जैसे उत्पात या दुर्घटनाका तात्पर्य लेखांक प्रथममें, जो जून मासके 'वैदिक धर्म' में प्रकाशित हुआ है, स्पष्ट करदिया है। ऐसी घटनाएँ ३६ वर्षोंके अन्तरसे नहीं हुआ करती हैं। अस्तु; व्यासजीने गीताका लेखन स्वतंत्ररूपसे किया परंतु सौतिने उसे भारतग्रन्थमें स्थान दिया और गीताका मूलनाम 'हरिगीता' बदलकर 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां'...... इस ढंगका नया संकल्प लिखडाला। इससे अधिक गीतामें तनिकभी कहीं परिवर्तन नहीं किया है। हाँ, शिखंडीको नारीसे नरपद्पर चढाया, वासुकी, अनंत, ऐरावतको सचमुच साँप, नाग, हाथी समझकर उनकी उत्पत्तिकी कई कथाएँ घुसेडदीं वगैरह ऐतिहासिक बिगाड खूब करडाला इसमें क्या संशय? सौति तथा जनमेजयके युगमें २५०० वर्षोंका अन्तर मौजूद था इसकारण यह विकृति जान बूझकर की हो ऐसी बात नहीं लेकिन मूलभूत जानकारीके अभावमें उसे जोडनेकी कोशिश करनेसे हुई ऐसाभी स्पष्ट हुआ जोकि बिल्कुल स्वाभाविक है।

गीताका मूल संकल्प कौनसा था सो अब देखना चाहिये। यह तो स्पष्ट है कि गीतामें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दोंमें ही गीताका संकल्प लिखा जाना चाहिये था। जो शब्द प्रयोग स्वयं गीतामें नहीं पाये जाते हैं उनका प्रयोग गीताके संकल्प लेखनमें होना असंभव है। सौतिका 'ब्रह्म-विद्यायां' शब्द प्रयोग देखा जाय तो ज्ञात होता है कि यद्यपि गीतामें ब्रह्म शब्द है तो भी ब्रह्मविद्या ऐसा संयुक्त पद गीतामें नहीं है। अध्यात्मविद्या, राजविद्या ऐसे पदोंमें गीता 'विद्या' पद रख देती है और कहीं भी 'ब्रह्म' पदसे उसका जोडना नहीं दीख पडता। हाँ, विद्याविनयसंपन्ने' श्लोकमें अलग ही 'विद्या' शब्दका प्रयोग है पर यहाँके 'विद्या' शब्दको दूसरे स्थानमें उपलब्ध 'ब्रह्म' शब्दसे संयुक्त करके 'ब्रह्म विद्या' शब्द प्रयोग करना गीताकी परिभाषाके विरुद्ध होगा। सिवा इसके गीताने ही 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' ऐसा समीकरण रखा है। ध्यानमें रहे कि 'ब्रह्मविद्या विद्यानां' ऐसा नहीं किया। उपनिषदोंकी परिभाषाके अनुकूल ब्रह्म-विद्या नाम ठीक जान पडे लेकिन गीताकी परिभाषापर उसे लागू करना उचित नहीं।

*

उपनिषत्में कहा है कि समित्पाणिः होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियके निकट जाना चाहिए। प्रश्नोपनिषत्में यह वर्णन दीख पडता है 'सुकेशा सदृश ऋषि परब्रह्मको ढूँढनेके लिए भगवान् पिप्पलादके समीप हाथमें दर्भ लेकर चले गए। तब पिप्पलादने उनसे कहा 'और एक साल तक ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, तप आदिमें समयका सदुपयोग करो, पश्चात् मेरे निकट फिर सवाल पूछनेके लिए चले आना।'

इधर गीतामें देखें तो विदित होगा कि शस्त्रसंपातका सूत्रपात होनेपर वीर अर्जुन हाथमें धनुष्य धारण कर सुसज्ज होता है। याने साफ जाहीर हुआ कि रण बाँकुरा अर्जुन समित्पाणिः सुतरां नहीं था। जब धीर अर्जुन भी 'शिष्य-स्ते अहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इसभाँति विनति करता है उस वक्त उसके हाथमें शस्त्र नहीं दीख पडता है। वीर अर्जुनने उस विख्यात हथियारको छोड दिया ऐसा कहनेकी अपेक्षा यूं कहना अधिक उचित जँचता कि, ऐसे गलितांग धैर्यशून्य एवं क्लीबदशामें पहुँचे योद्धाके हाथमें छिनभर भी रहना स्वयं गाण्डीव धनुष्यको ही बहुत बुरा लगा इसलिए वह खुदही अर्जुनके दुर्बल हाथोंसे खिसकने लगा (स्रंसते), इधर भगवान् श्रीकृष्णजी भी श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ नहीं थे और अर्जुनके पूछे प्रश्नसे ब्रह्मजिज्ञासाका तनिक भी सरोकार नहीं। यह बात सच है कि कार्पण्यदोषके मारे अर्जुन 'धर्मसंमूढचेता' बन गये थे। ऐसी दशामें जो संलाप हुआ हो उसे ब्रह्मविद्या नामसे भला कैसे पुकारें? श्रीकृष्णचंद्रजीने अर्जुनसे ऐसा भी नहीं कहा कि 'एक वर्षके पश्चात् मेरे पास चला आ, मैं तुझको सब बतला-ढूँगा।' अश्वमेधपर्वमें अनुगीता नामक एक पर्व है जिसमें अर्जुनने पूर्ण शांतिसे यह प्रश्न पूछा था 'जो आपने युद्धके मौकेपर मुझको उपदेश सुनाया था उसीको कृपया पुनः कह दीजिए' तो श्रीकृष्णजीका यह उत्तर मिला 'योगयुक्त बनकर मैंने वह उपदेश किया था, अब वैसे पुनः बतलाना संभव नहीं।' पश्चात् अनुगीताका प्रवचन हुआ। स्यात् अनुगीता ब्रह्मविद्या कहलायी जासके लेकिन इससे हमारा कुछ सरोकार नहीं। निश्चित बात यही है कि हरिगीता बिलकुल ब्रह्मविद्या नहीं।

व्यासजीनेही स्वयं अपने काव्यमें निजग्रन्थका नाम तथा अपनाही ग्रन्थकर्तृकत्वभी किस चतुराईसे ग्रथित किया है सो देखना चाहिये। हम बतला चुके हैं कि गीताका संलाप द्विविध है। इस दोहरे संलापके कारण तटस्थ संजयमहा-शयकी ओरसे 'व्यासप्रसादात् श्रुतवान्' अपना नाम सुझागये। व्यासजीद्वारा जो सुनलिया उसे 'एतत् गुह्यं' ऐसा विशेषण लगाया। १५ वे अध्यायके अन्तमें 'गुह्यतमं इदं उक्तं शास्त्रं मया' वही विशेषण शास्त्र शब्दके लिए लागू किया तथा श्रीकृष्णजीके मुखारविन्दसे मैं यह कह रहा हूँ ऐसा कहलवाया। किन्तु दसवे अध्यायमें 'वृष्णीनां वासु-देवोऽस्मि' और 'मुनीनामप्यहं व्यासः' याने मैं तथा वासुदेव एक तथा अभिन्न ऐसा समीकरण देकर निश्चित किया कि उन्होंने स्वयंही उस शास्त्रका लेखन किया। ग्यारहवे अध्यायके प्रारंभमें अर्जुनके मुखसे 'मदनुग्रहाय परमं गुह्यं अध्यात्मसंज्ञितम्' इस श्लोकमें इस शास्त्रका नाम सुझाया। इसी 'अध्याय-संज्ञा' विभूषित गुह्यको 'अध्यात्मविद्या विद्यानां' पद देडाला। इसी विद्याकी सूचना देनेके लिए नवम अध्यायमें राजविद्या पदका प्रयोग किया गया। तृतीय अध्यायमें 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्य-स्य अध्यात्मचेतसा। युध्यस्व' ऐसाही कहडाला। तेरहवे अध्यायमें 'अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं' का ही कथन किया। पंध्रहवे अध्यायमें फिर कहा कि 'अध्यात्म-नित्याः' इसलिए निश्शंक यूं कहा जा सकता कि गीताने अपने लिए पारिभाषिक नाम 'अध्यात्मविद्या' ऐसा ही रखा। 'ब्रह्मविद्या' से भी 'अध्यात्मविद्या' नाम अपेक्षा-कृत अधिक व्यापक है क्योंकि स्वभाव=अध्यात्म इस तरह का समीकरण गीतामें दीख पडता है। गीताका कथन है कि 'चार वर्णोंके स्वभाव तथा उनके कर्म मुझसे विनिर्मित हुए हैं।' यदि ब्रह्मविद्या ऐसा शब्द प्रयोग करें तो, गीतामें सिर्फ ब्राह्मणोंकी भावनोंका ही ख्याल रखा है, ऐसा सीमित अर्थ करना पडेगा। परन्तु अध्यात्म शब्दमें सभी वर्णोंके स्वभावोंका अन्तर्भाव होनेसे 'अध्यात्मविद्या' नाम गीता को अधिक सुयोग्य है।

हाँ, यद्यपि महात्मा गांधीजीने गीताके लिए 'अनासक्ति-योग' नाम चुनलिया तो भी ध्यानमें रखना चाहिये कि समूची गीतामें 'अनासक्ति' शब्द एक बार भी प्रयुक्त नहीं है। मतलब यही कि, गीतामें पाये जानेवाले योग शब्दको लेकर उसका नये 'अनासक्ति' पदसे गठबंधन

करके नव नाम निर्मिति करना गलत नहीं तो और क्या है? शायद इसपर कोई यूं कहने लगे कि अनासक्ति याने असक्ति जो कि गीतामें कई बार प्रयुक्त है, तो हमारा यही उत्तर है कि; हाँ, यह बात सच है गीताने दस बार ' असक्त ' शब्द का प्रयोग किया है लेकिन ' असक्तयोग ' ऐसा किसी भी जगह नहीं कहा है। अगर कहीं इस तरहका शब्दप्रयोग किया होता तो स्यात् ' अनासक्तियोग ' नाम उचित ठहरता। पर आप ध्यानमें रखियेगा कि जो है नहीं वह, अगर होता तो अच्छा ऐसा युक्तिवाद करना सुतरां बेकार प्रतीत होता है। सिवा इसके गीतामें ' असक्त-बुद्धिः ' ' असक्तात्मा ' ऐसे सामासिक शब्दोंमें असक्त पद रखा है। योग पदपर लिखते हुए हमने दर्शाया कि समासमें प्रयुक्त होनेपर विशिष्ट आचरण ऐसा योग शब्दका आशय होता है। बुद्धिका विशेषण बतानेके लिए गीताने असक्त शब्द रखा है। अतः ' अनासक्ति ' शब्द बुद्धिका विशेषण भले ही हो लेकिन ' योग ' क्रियाका विशेषण अनासक्ति कैसे हो सकता है? यह नितान्त असंभव है क्योंकि अनासक्ति या निर्लिप्तता कोई क्रिया तो है नहीं। जब स्वयं गीता अपने लिए अध्यात्मविद्या नाम चुन लेती है तो भला हम क्यूंकर ' ब्रह्मविद्या, ' ' अनासक्तियोग ' जैसे मनगढन्त नामोंका चयन तथा ग्रहण करें?

जिस प्रकार अनेक विद्याओंमेंसे राजविद्याके लिए ' अध्यात्मविद्या ' नाम रखा है वैसेही विविध क्रियाओंमें राज (क्रियाको) गुह्यको योग संज्ञा देकर गीताने विभूषित किया है, (तं विद्यात्... योगसंज्ञितं) इसलिए ' महायोगेश्वरो हरिः ' के शब्दोंमें गीताका पुनर्नामकरण करना हो तो ' हरिगीतासु अध्यात्मविद्यायां योगशास्त्रे ' ऐसा कहना उचित जान पड़ता है।

(२) श्रीमद्भगवद्गीतामें ' योग ' शब्द

गीतामें ' योग ' शब्द कितने बार प्रयुक्त हुआ इस संबंधमें निश्चित संख्या निर्धारित करचुकनेपर पश्चात् सोचें कि उसका क्या अर्थ है। प्रारंभमें शायद ऐसा प्रतीत होगा कि सिर्फ शब्दोंकी गिनती करने लगें तो विदित होगा कि कितने बार यह गीतामें बर्ता गया है, उसमें संख्या ठहराने का कोई उपयोग नहीं। पर वास्तविक बात ऐसी नहीं क्योंकि प्रत्येक अध्यायके अन्तमें ... ' योगशास्त्रे ... अमुकयोगो नाम ' इस ढंगसे दोबार अर्थात् ३६ बार ' योग ' शब्दकी आवृत्ति हुई है। यदि ये नाम व्यासजीकेही दिये होते तो उनका विचार करना ठीक होता अन्यथा उन पदोंकी गिनती करनेसे कुछ उपयोग नहीं। ऐसा दिखाना संभव है कि ये नाम व्यासजीके दिये नहीं हैं और जो कोईभी इन नामोंका देनेवाला हो उसने भलीभाँति सोचा भी नहीं।

जनसाधारणकी ऐसी धारणा है कि गीताके हरएक अध्यायमें एकएक योगका विवरण किया गया है तथा अठारह अध्यायोंमें अठारह विभिन्न योग बतलाये हैं। प्रथम अध्यायमें एकवारभी योग शब्दका दर्शन नहीं होता, इतनाही नहीं किन्तु ' योगीराज ' श्रीकृष्ण भगवान्‌के मुखसे ' पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून् ' इन चार पदोंके अतिरिक्त अधिक कुछभी भाषण नहीं पाया जाता है। इस कारण, अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णजीने इस पहले अध्यायमें किसी एकाध योगका उपदेश किया हो ऐसा अनुमान सुतरां नहीं निकाला जासकता अतः ऐसी दशामें भला यह कैसे संभव है कि पहले अध्यायके लिए व्यासजीने ' अर्जुन विषादयोगो नाम ' सुझाया हो। हाँ ऐसा कोई शायद कहसके कि अध्यात्मकी ओर ध्यान आकर्षित करनेके लिए विषाद या विरक्ति पहली सीढीही तो है न, इसलिए इस दृष्टिबिन्दुसे ' विषादयोग ' ऐसा ठीक जँचता। लेकिन, यह बात ध्यानमें तुरन्त आयेगी कि ' अर्जुन-विषाद-योग ' ऐसा नाम बिलकुल अनुचित है। इससेभी बडी भारी भूल सोलहवे अध्यायके नामकरणमें हुई है। षोडशतम अध्यायके लिए ' दैवासुरसंपत्-विभागयोगो नाम ' ऐसा कहा है जिससे विदित होता है कि ' आसुर संपत् ' नामक एक योग मौजूद है। पर इधर गीताही मुक्तकंठसे उद्घोषित करती है कि आसुरी संपत्ति पतनकी ओर ले चलती है। इसीकारण उसे योग कहना नितान्त भूल है।

पाठकोंके ध्यानमें अब यह बात भलीप्रकार पैठगयी होगी कि किसी दूसरे अज्ञात व्यक्तिने बिना सोचे ही इसभाँति अध्यायोंके नाम लिख डाले हैं। अब खुद गीतामें जहाँ ' योग ' शब्दका प्रयोग मिलता है उधर मुडना ठीक है।

अध्यायोंका नामकरण व्यासजीने नहीं किंवा अतः उसमें विद्यमान 'योग' पदका कुछ भी ख्याल न करते हुए कहना पडेगा कि गीतामें पूरे सौ बार ' योग ' पदका पुनरावर्तन हुआ है । अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यही है कि सौ बार पाये जानेवाले इन शब्दोंमें योग शब्दकी प्रथमा या द्वितीया विभक्तिका बहुवचन (योगाः और योगान्) एक बार भी नहीं दिखाई देता है । हाँ, तृतीया विभक्तिका एकवचन एवं अनेकवचन (योगेन और योगैः) दोनों मिल जाते हैं । लेकिन इसमें भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि सिर्फ ' योगेन ' ऐसा पृथक प्रयोग नहीं है किन्तु उपपदयुक्त प्रयोग जैसे ' ध्यानयोगेन, कर्मयोगेन, अनन्येनैव योगेन, ज्ञानयोगेन, सांख्ययोगेन, अभ्यासयोगेन, भक्तियोगेन ' पाये जाते हैं ।

चूँकि तृतीया विभक्ति करणार्थी है और करण आचरण का मार्ग बताता है इसलिए ' योगेन ' इस एकवचनी पद का अर्थ मार्गसे ऐसा लेना ठीक है । इसकारण, अमुक मार्ग से या उस विशिष्ट तरीकेसे, इसभाँति नामनिर्देश करनेकी आवश्यकता रहती है । परन्तु ' योगैः ' इस अनेकवचनी तृतीया विभक्तिके पीछे उपपद लगानेकी कोई आवश्यकता नहीं अतः गीताका कथन है—

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तत् योगैः अपि गम्यते । एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सः पश्यति ॥

अब ज्ञात होगा कि योग अथवा ' योगः ' पदका अर्थ अलग है और ' योगेन ' पदका मतलब दूसरा ही है । आचरण अथवा मार्ग या तरीका इस अर्थमें तृतीया विभक्ति का प्रयोग है तो उस आचरणसे मिलनेवाला स्थान बतलाने के लिए प्रथमा तथा द्वितीया विभक्तिका प्रयोग है । ध्यानमें रहे कि मार्ग अनेक या विभिन्न भले ही रहें पर पहुँचनेकी जगह या ' परं धाम ' एक ही है इस कारणसे ' योगाः' किंवा ' योगान् ' ऐसे अनेकवचनी पदोंका प्रयोग नहीं किया है । निस्सन्देह, इसमें व्यासजीकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्दकुशलता व्यक्त हो रही है । शब्द न बढाते हुए केवल विभिन्न विभक्ति शब्दको लगाकर ही अर्थभेद दर्शाना सचमुच अप्रतिम कला है इसमें सन्देह नहीं ।

ऊपर किये प्रतिपादनसे स्पष्ट होगा कि स्थिति दर्शानेके लिए ' योगं ' या ' योगः ' पदका प्रयोग किया गया और मार्गकी सूचना देनेके लिए ' योगैः ' पद रखा । इसीकारणसे गीतामें ' समत्वं योग उच्यते ' तथा ' योगः कर्मसु कौशलं ' इसतरह ' योग पदकी दो व्याख्याएँ दी गयी हैं । समत्वकी व्याख्या स्थितिदर्शक है ।

इहैव तैर्जितः सर्गः येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

' कर्मसु कौशलं' इस व्याख्यामें कर्म पद पाया जाता है इसलिए यह व्याख्या मार्ग या आचरण ही दर्शाती है ।

' योग ' पद एक होनेपर भी दो व्याख्याएँ क्यों दी गयीं इसका उत्तर दिया जा चुका है । इनके सिवा तीसरी भी एक व्याख्या है जो ' यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते । तं विद्यात् दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम् । इस तरह है । साम्यकी व्याख्या के मध्य जो विभिन्नता विद्यमान है वह केवल अंशात्मकही है भिन्नजातित्वकी सुतरां नहीं (The difference is of degree and not of kind) इसलिए यद्यपि गीतामें योग पदकी तीन व्याख्याएँ हों तथापि अर्थ भेदके लिहाजसे प्रमुख दोही व्याख्याएँ हैं ।

गीतामें जो यह ' योग ' पद उपलब्ध है उसके आचरणात्मक तथा विचारात्मक दोनों अर्थ निश्चित हुए । गीतामें योग याने मार्ग कितने कहे हैं इस प्रश्नकी ओर अब मुडना ठीक होगा । गीताके तेरहवे अध्यायके २४ वे श्लोकमें -

ध्यानेनात्मनि पश्यति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

स्पष्टरूपसे ' ध्यान, ज्ञान, कर्म, भक्ति ' इसभाँतिके चार मार्ग हैं ऐसा कहा है । यहाँपर ' केचित्, अन्य, अपर, अन्ये तु ' इन चार पदोंके स्वतन्त्र प्रयोगसे विदित होगा कि ये मार्ग स्वतन्त्र हैं और इनमें एक निम्न कोटिका तथा दूसरा उच्चकोटिका ऐसा भेद नहीं ।

ये चारों मार्ग स्वतन्त्र हैं इसके लिए दूसरा प्रमाण यह है कि, इन चारों मार्गोंपरसे यात्रा करनेवालोंकी निगाहमें प्राप्तव्य स्थान एकही है तथापि उन मार्गोंपरसे पहुँचने-

वालोंके लिए चार विभिन्न नाम गीतामें प्रयुक्त किये हैं। ध्यानसे सिद्ध बनने पर ' जितात्मा ' कहा है, कर्मयोगी मानवको ' स्थितप्रज्ञ ' नाम दिया, भक्तियोगद्वारा सिद्धि पानेपर ' प्रियभक्त ' विशेषण लगाया तो ज्ञानयोगकी सहायतासे जो सफल बने उसे ' गुणातीत ' कहा है। छठवे अध्यायके २९-३०-३१-३२ इन चार श्लोकोंमें 'ईक्षते, **पश्यति, समं पश्यति, भजते** ' चार स्वतंत्र क्रियापदों के प्रयोग दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं किन्तु इस हर-एक प्रणालीके लिए चार पदोंके युगल भी रखे हैं।

आत्मा परमात्मा	माया ब्रह्म
ईश्वर परमेश्वर	पुरुष पुरुषोत्तम

ध्यान प्रणालीके लिए विचारार्थ ' आत्मा परमात्मा ' युगल है। ब्रह्म, मायाकी दृष्टि रखकर ज्ञानी पुरुष विचार करेगा। जो कर्मयोगी हो वह ईश्वर परमेश्वर दृष्टिकोणसे सोचना शुरु करेगा और पुरुष पुरुषोत्तमकी अनन्यैनेत योगेन उपासना श्रद्धापूर्ण दिलवाला करता है।

ध्यानके कारण कुछ महानुभव परमात्मस्वरूपमें भलेही अपने आत्माको विलीन करें, ज्ञानी लोग ' ज्ञानानां ज्ञान-मुत्तमं ज्ञात्वा ' गुणातीत होकर परब्रह्मस्वरूप भलेही बनें किंवा ' ईश्वरभावसे ' प्रेरित क्षत्रिय ' समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरं ' से जनकादि तुल्य ' कर्मणैव हि संसिद्ध ' हों अथवा भक्तगण परा श्रद्धाकी वजह अनन्ययोगसे पुरुषो-त्तमकी भक्ति करते रहें, सबका आशय एक ही है।

स्वाधीनता, स्वतंत्रता किसे कहें ?

कुछ मास पहले ब्रिटेनके अत्यन्त संचारशील प्रधान मंत्री श्री चर्चिल महोदयने इटलीमें संचार करके वहाँसे लौटते समय इटालियन जनताको बोधामृत पिलानेके लिए जो अभिभाषण दिया था उसमें वे कहने लगे—" इटलीके निवासी लोगो ! ध्यानमें रखना कि फिर कभी तुम फैसिस्ट शासकोंके चँगुलमें न फँस जाओ । पहले एकबार तुम उनके फंदेमें पड़गये थे और उसीकारण तुमसे जो अन्यायाचरण हुआ उसका किन्हीं अंशोंतक प्रायश्चित्त करनेके हेतु दुष्परिणाम भोगना तुम्हें अनिवार्य है । लेकिन अब तुम फिर स्वतंत्रताका उपभोग ले रहे हो और आगे चलकर तुम सतर्क एवं सचेष्ट रहो कि वह स्वाधीनता तुमसे न छीन लीजाय ।

स्वतंत्रताका मूल्य अविरत जाग्रत रहनाही है और इसे चुकाये विना स्वतंत्रता भला कैसे मिलेगी ? जो मानवसंघ अपनी स्वाधीनता अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए सतत जाग्रत रहता है वही उसे प्राप्त कर सकता है । ध्यानमें रखो कि जिस समय यह सावधानता नहीं रहेगी और मानव परावलंबी होने लगे कि तुरन्त समझना चाहिये कि उसकी स्वतंत्रता मिट गयी ।

स्यात् आप मुझसे यह सवाल करें कि भला यह स्वाधीनता क्या चीज है ? स्वतंत्रता किस चिडियाका नाम है ? बहुत अच्छा, मैं उसके कुछ लक्षण आपके सामने पेश करूँगा । शान्तता प्रधान युगमें जिस देशमें स्वतंत्रता देवीका सिंहासन अटल रहे वहाँपर अधिकारारूढ शासकसमुदायसे यदि जनताका मतभेद हो तो उसे साफ बतलाने, उसपर समालोचना करने तथा उसके विरुद्ध अपनी राय देनेका मार्ग पूरी तरह उन्मुक्त रहे । उसी प्रकार उस शासन या सरकारको पदभ्रष्ट करके दूसरे शासनको उसके स्थानापन्न करनेके लिए वैधानिक प्रबंध बना रहे । वैसेही किसीभी दल या पक्षोपपक्षसे सरोकार न रखनेवाले न्यायालय वहाँपर अस्तित्वमें रहें और उनपर सरकारी दबाव सुतरां न रहे । इधर जनमतके गुंडेपनकाभी उनपर तनिकभी दबाव न रहना चाहिये । वे न्यायालय उदारधी होकर तथा सिर्फ मानवी हितको सतत दृष्टिपथमें रखते हुए न्यायशासन प्रबंधको सुचारुरूपसे चलायें । चाहे कोई निर्धन हो या धनाढ्य रहे, सरकारी अफसर हो अथवा कोई साधारण सा आदमी हो, सबको सभी जगह हमेशाही समान न्याय मिलता रहे और विषमतापूर्ण व्यवहार सुतरां न रहे । सरकारसे संबंध रखनेवाला अपना कर्तव्य जो कोई समाधानकारक ढंगसे निष्पन्न करले वह उन्मुक्त रूपसे अपने वैयक्तिक अधिकारोंका उपभोग ले सके ऐसा सुप्रबंध होना चाहिये । ऐसा बिलकुल न हो कि चाहे जो पुलिस अफसर आवे और चाहे जिसके कान पकडकर कहने लगे कि, चलो तुम अब हवालातमें ।

जहाँ ऐसी शासनप्रणाली हो उधरही स्वतंत्रतादेवीका अनिर्बन्ध संचार जारी रहता है । "

क्या भारतमें इसका शोचनीय अभाव नहीं है ?

(पूनेका ' काळ ' दैनिक ८-९-४४)

वैदिक-धर्म

[मासिक-पत्र]

२५ वें वर्षकी विषयसूची

जनवरी १९४४

फर्वरी १९४४

मार्च १९४४

अप्रैल १९४४

मई १९४४

जून १९४४

जुलै १९४४

अगस्त १९४४

सितम्बर १९४४

अक्तूबर १९४४

नवंबर १९४४

दिसेंबर १९४४

" ईश्वर स्वतंत्र इच्छासे कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता । " × इच्छा उसके तत्वसे गति और स्थितिके समानही बहिर्भूत है ।

मध्ययुगीन दार्शनिकोंको ईश्वरीय इच्छा स्वातंत्र्यसे यह भी अभिप्रेत था कि ईश्वर यदि चाहता तो विश्वको दूसरी तरहका और उसके वर्तमान स्वरूपसे बिलकुल भिन्न रूपका बना सकता था । वि. ३३ में स्पिनोझा इसी मतका खंडन करता है। "ईश्वर द्वारा निर्मित वस्तुएं जिस प्रकार और क्रमसे उत्पन्न हुई हैं उससे भिन्न कदापि उत्पन्न नहीं की जा सकती थीं । "

इस विधानके स्पष्टीकरणमें स्पिनोझा 'आवश्यक' (Necessary), असंभव (Impossible), संभव (Possible) और यादृच्छिक (Contingent) इन शब्दोंका अर्थ बतलाकर यदृच्छाका निषेध करता है । " मैं यह मध्यान्हके सूर्यसे भी अधिक स्पष्टरूपसे बतला चुका हूँ कि वस्तुओंको यादृच्छिक कहनेका कुछ भी समर्थन नहीं है । कोई भी वस्तु अपने तत्व (Essence) की दृष्टिसे आवश्यक कही जाती है या अपने कारणके संबंधसे, क्योंकि किसी वस्तुका अस्तित्व या तो उसके तत्व और परिभाषासे आवश्यक होता है या उसके निमित्त कारणके द्वारा । ऐसेही कारणोंसे कोई वस्तु असंभव कही जाती है अर्थात् वह जिसका तत्व या जिसकी परिभाषा विरोध मूलक हो यथा समभुज चतुष्कोण (Square circle), या जब इस प्रकारका कार्य उत्पन्न करनेवाला कोई बाह्य कारण स्वीकार न किया जाय । परंतु कोई भी वस्तु हमारे ज्ञानकी अपूर्णताको छोडकर किसीभी दृष्टिसे यादृच्छिक नहीं कही जा सकती । कोई भी वस्तु जिसके विषयमें हम यह नहीं जानते कि उसका तत्व विरोध मूलक है या नहीं, या यह जानते हुए भी कि वह विरोध मूलक नहीं है, तथापि उसके अस्तित्वके विषयमें हमें संदेह होता है क्योंकि (उसका) कारण-क्रम हमसे ओझल रहता है; मैं कहता हूं कि ऐसी वस्तु हमें आवश्यक या असंभव नहीं मालूम हो सकती । अतएव हम उसे संभव या यादृच्छिक कहते हैं । "

स्पिनोझाका मध्ययुगीन दार्शनिकोंके प्रति मुख्य आक्षेप यह है कि ये कुछ वस्तुओंको असंभव तो स्वीकार करते हैं, परंतु प्रकृतिमें सर्वथा आवश्यक कुछ भी स्वीकार नहीं करते । उनकी दृष्टिसे सब कुछ संभव या यादृच्छिक है क्योंकि उनके मतसे प्रत्येक वस्तु पूर्व कारणोंके बिना भी ईश्वरीय इच्छा मात्रसे परिवर्तित हो सकती है, या अस्तित्वमें आ सकती है । इनके विरुद्ध स्पिनोझा यह प्रतिपादन करता है कि प्रकृतिमें सिर्फ आवश्यक और असंभव वस्तुएं ही हैं । लेकिन सर्वथा संभव या यादृच्छिक कुछभी नहीं ।

इस विधानके द्वितीय स्पष्टीकरणमें स्पिनोझाने इसी विधानके समर्थनमें मुख्यतः तीन युक्तियां दी हैं जिनमेंसे प्रथम १७ वें विधानसे बहुत कुछ साम्य रखती है । इसके द्वारा मध्ययुगीन दार्शनिकोंकी इस धारणाका खंडन किया गया है कि ईश्वर वर्तमान जगत्से परिपूर्ण जगत्की रचना कर सकता था । इन दार्शनिकोंके अनुसार ईश्वरने अपनी बुद्धिमें स्थित परिपूर्णताकी कल्पनाको पूरी तरहसे कार्य रूपमें परिणत नहीं किया । यदि यह माना जाय कि ईश्वरने सब पूर्णता इसी जगत्में रख दी तो यह मानना पडेगा कि वह इससे पूर्णतर जगत् नहीं बना सकता और ऐसा कहनेमें स्वयं ईश्वरकी परिपूर्णतामें बाधा पहुंचती है । स्पिनोझा इस मतका खंडन यह कहकर करता है कि ईश्वरकी परिपूर्णतासेही हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि ईश्वरने जो कुछ बनाया है वह पूर्णतम स्वरूपका है; क्योंकि यदि ईश्वर ऐसा नहीं करता तो यह मानना पडेगा कि या तो वह ऐसा करनेमें असमर्थ था या 'नैर्घृण्य'से उसने ऐसा नहीं किया । दोनों विकल्प अस्वीकरणीय हैं, अतएव जगत् पूर्णतम ही है ।

द्वितीय युक्तिद्वारा स्पिनोझाने मध्ययुगीन दार्शनिकोंके इस मतका कि इच्छा ' ईश्वरीय तत्वसे संबंध रखती है ' अभ्युपगम करके यह सिद्ध किया है कि वस्तुएं उपलब्ध क्रम और प्रकारसे भिन्न तरहकी उत्पन्न नहीं की जा सकती थीं । पूर्वपक्ष संक्षेपमें यह है कि ईश्वरीय इच्छा ईश्वरके समनित्यस्थित है (Co-eternal with God) परंतु जगत् नहीं; कारण इच्छाका अर्थ ही कभी करने या कभी न करनेकी ऐच्छिकता या योग्यता है । इस योग्यतामें दोनोंमेंसे कोई भी पक्ष निश्चय द्वारा स्वीकार करनेकी क्रियाका समावेश होता है । ईश्वरमें यह निश्चय बाह्य कारण निरपेक्ष होनेसे उसके तत्वमें कोई फरक नहीं पडता । स्पिनोझाका इसपर आक्षेप यह है कि ईश्वरमें उपलब्ध क्रम और प्रकारसे ही वस्तुओंको बनानेका निश्चय कब हुआ ? इसमें तीन विकल्प संभव हैं । (१) वस्तुओंको उत्पन्न करनेसे कुछ ही पहिले; (२) अनंत कालसे यह ईश्वरके साथ नित्यस्थित है (Co-eternal) और ईश्वरीय

× नी. शा. भा. १ वि. ३२ उ. सि. १

इच्छासे भी अपरिवर्तनीय है; (३) अनंतकालसे ईश्वर समनिलास्थित होते हुए भी वस्तुओंकी उत्पत्तिके पहिले ईश्वरीय इच्छा द्वारा उसका बदला जाना संभव है । इन तीनों मतोंकी समीक्षा करके स्पिनोझा या तो उनको असमर्थनीय बतलाता है या यह बतलाता है कि विपक्षियोंके ठीक प्रतिकूल सिद्धांत निकलता है । प्रथम विकल्प तो स्पिनोझाके विपक्षियोंको भी अस्वीकरणीय है, क्योंकि उत्पत्तिसे पहिले समय ही नहीं था, तब पहिले पीछे कहांसे हो । यदि दूसरा पक्ष ठीक है तो यह इष्टापत्ति ही है क्योंकि यह तो विपक्षियोंके ठीक विरुद्ध है । इसका परिणाम तो यही होगा कि वस्तुएं उपलब्ध क्रम और प्रकारसे भिन्न नहीं उत्पन्न की जा सकती थीं; यह क्रम और प्रकार अपरिवर्तनीय हैं । अब रहा सिर्फ तीसरा विकल्प । इसमें स्पिनोझाने चार आपत्तियां दी हैं । (१) यह माननेसे कि उत्पत्तिके पहिले ईश्वरीय इच्छामें परिवर्तन हो सकता था, यह माननेकी आपत्ति आती है कि उसकी बुद्धिमेंभी बदल हो सकता है, कारण ईश्वरमें इच्छा और बुद्धि एक हैं । (२) यदि उत्पत्तिके पहिले ईश्वरकी इच्छामें परिवर्तन संभव था तो उत्पत्तिके बाद भी यह संभव मानना पडेगा (३) ईश्वर अपनी बुद्धि या इच्छामें परिवर्तन कर सकता है ऐसा माननेसे ईश्वरीय बुद्धिको संभाव्य (Potential) या अव्यक्त माननेकी आपत्ति आती है, कारण इसका अर्थ यह होता है कि यह परिवर्तन संभवनीयतासे वास्तविकतामें आता है । परंतु स्वयं विपक्षीभी ईश्वरीय बुद्धिको अव्यक्त या संभवनीय तो नहीं मानते थे (४) विपक्षियोंके अनुसार ईश्वरीय इच्छा और बुद्धि ईश्वरीय तत्वसे अभिन्न है । अतएव इच्छाको परिवर्तन क्षम माननेके फलस्वरूप ईश्वरीय तत्वको भी परिवर्तनीय माननेकी आपत्ति आती है ।

अंतमें तृतीय युक्तिमें स्पिनोझा प्रस्तुत प्रश्नके समस्त पहलुओंको एकत्रित करके कहता है, " ईश्वरद्वारा निर्मित वस्तुएं भिन्न क्रम या प्रकारसे उत्पन्न नहीं की जा सकती थीं; ईश्वरने उन सब वस्तुओंको बनाया है जो उसकी बुद्धिमें थीं; और उतनीही पूर्णताके साथ बनाया है जितनी पूर्णताके साथ वे उसकी बुद्धिमें थीं । " इन तीनों बातोंका समावेश स्पिनोझा ' आवश्यकता ' इस एक शब्दमें कर देता है जिसका अर्थ है– वस्तुएं जैसी हैं उनसे भिन्न नहीं हो सकती; जितनी हैं उनसे अधिक नहीं हो सकतीं; और जितनी पूर्ण हैं उनसे अधिक पूर्ण नहीं हो सकती । इस आवश्यकताके विरोधियोंको उसने दो वर्गोंमें विभाजित किया है । प्रथम वर्गमें वे हैं जो सब कुछ केवल ईश्वरकी इच्छा पर या किसी उदासीन ईश्वरकी इच्छा पर या ईश्वरकी मरजीपर या प्रसन्नतापर अवलंबित समझते हैं । इनके मतसे वस्तुएं स्वयं न तो पूर्ण हैं न अपूर्ण, भली हैं न बुरी । वे जैसी हैं केवल ईश्वरीय इच्छासे ही वैसी हैं । यदि ईश्वर चाहता तो उन्हें भिन्न तरहकी बना सकता था । दूसरे वर्गमें वे हैं जो यह समझते हैं कि ईश्वर प्रत्येक वस्तु अच्छेके लिये ही बनाता है । ' अच्छा ' यह उद्देश दर्शक कारण है (Final Cause)। स्पिनोझा ईश्वरीय इच्छाको अपरिवर्तनीय बतलाकर प्रथम पक्षका अस्वीकार करता है। ईश्वरीय इच्छा ईश्वरीय पूर्णतासे भिन्न नहीं हो सकती; परंतु वस्तुएं भिन्न तरहकी होनेके लिये ईश्वरीय इच्छाकोभी भिन्न तरहकी मानना पडेगा । अतएव यह मत त्याज्य है । दूसरे मतका तो वह और भी कडे शब्दोंमें खंडन करता है, और प्रथम पक्षसे भी इसे अधिक गर्ह्य बतलाता है । द्वितीय मतसे तो प्रथम मत " सत्यके अधिक समीप है कारण इस (द्वितीय) मतको माननेवाले ये लोग ईश्वरसे बाहर उससे स्वतंत्र एक ऐसी वस्तु खडी कर लेते हैं जिसे ईश्वर अपनी कृतिके लिये आदर्श समझता है या जिसकी प्राप्ति इसका निश्चित ध्येय होता है । ऐसा मानना ईश्वरको भाग्य या दैवायत्त करनेके तुल्य ही है जो मूर्खताकी पराकाष्ठा है; कारण ईश्वरको हम समस्त वस्तुओंके तत्वका आदि और स्वतंत्र कारण दिखला चुके हैं । इन बेठिकानेके ऊटपटांग सिद्धांतोंका खंडन करके मैं अपने समयका अपव्यय नहीं करना चाहता। " इस कडी आलोचनाके पीछे जैसा कि प्रो. वाल्फसन ने बतलाया है * एक लंबा इतिहास है । यहूदी धर्मगुरु (Rabbis रब्बी) और दार्शनिक यह मानते थे कि " ईश्वरने तोरा (Torah) या मूसा (Moses) के नियमोंकी ओर देखा और जगत् को बनाया ।

"God looked into The Torah and created the world "

इनके मतसे तोरा ही सृष्टि रचनाका प्रयोजन है । इसी प्रकार यहूदी दार्शनिक फिलो (Plilo)शब्द ब्रह्म 'Logos' या बुद्धि 'Wisdom' को सृष्टिरचनाका साधन मानता था ।

* Philosophy of Spinoza, vol. I pp. 418-20.

स्पिनोझाका इसपर मुख्य आक्षेप यह है कि ईश्वरको तोरा या बुद्धि या शब्दके आधीन मानना स्टॉईक्स पंथीय (Stoics) दार्शनिकोंकी भांति भाग्य या अदृष्टके आधीन माननेसे कुछ कम नहीं।

स्पिनोझा अदृष्टको विश्वव्यापी आचिंत्य नियमोंके अर्थमें मानभी लेता उदा० समस्त वस्तुएं और क्रियाएं जहांतक वे ईश्वरीय स्वभावकी आवश्यकताका अनुसरण करती हैं, किसी अर्थमें दैवायत्त कही जा सकती हैं। परंतु वह ईश्वरको नितांत स्वतंत्र और दैवकी सत्तासे सर्वथा अस्पृष्ट रखना चाहता था। उसके मित्रादि इस सूक्ष्म भेदको न समझ सके; अतएव अपने पत्रोंमें स्पिनोझाने अनेक बार इस विषयको स्पष्ट किया है। 'वह सोचता है कि मैं ईश्वरकी स्वतंत्रताका अपहार करता हूं और उसको दैवाधीन बनाता हूं; परंतु यह साफ झूठ है, क्योंकि जितने आग्रहके साथ सब लोग ईश्वरको स्वभावतःही निजबोध रूप मानते हैं उतनेही आग्रहके साथ मैं भी इस बातका प्रतिपादन करता हूं कि समस्त वस्तुएं ईश्वरीय स्वभावका अटल आवश्यकताके साथ अनुसरण करती हैं।'

"He thinks that I take away God's liberty, and subject Him to fate. This is entirely false. For I assert that all things follow with inevitable necessity from the nature of God just as all assert that it follows from the nature of God that He understands Himself."×

बुद्धि और इच्छाके असदृश शक्तिको स्पिनोझा ईश्वरीय तत्वसे संबंध रखनेवाली या तदभिन्न ही मानता है। 'ईश्वरकी शक्ति स्वयं उसका तत्वही है' (वि. ३४)। शक्तिका अर्थ स्पिनोझाके अनुसार स्वयंके अस्तित्वकी योग्यता और स्वसत्तासे दूसरोंको अस्तित्व प्रदान करनेकी क्षमता रखनाही है। इसलिये इस विधानके प्रमाणमें स्पिनोझा ईश्वरीय शक्तिकी व्याख्या इस प्रकार करता है। 'ईश्वरीय शक्ति जिसके द्वारा वह स्वयं और अन्य वस्तुएं (अस्तित्ववान) हैं और कार्यशील हैं, उसके तत्वसे अभिन्न है।' अंतमें स्पिनोझा वि. ३५ में पुनश्च कहता है कि ईश्वरने स्वबुद्धिस्थ समस्त वस्तुओंको बनाया है। 'ईश्वरीय शक्तिमें जो भी कुछ हो सकता है वह आवश्यक रूपसे अस्तित्ववान है।'

उद्देशदर्शक या अंतिम कारण।
(Final causes)

यदृच्छा वादियों और ईश्वरकी स्वैर इच्छा (Arbitrary will) माननेवालोंके मतोंके खंडनके अवसर पर स्पिनोझाने प्रसंगोपात्त उद्देशदर्शक कारणकी ओर संकेत मात्र किया था। परंतु इसका विस्तृत रूपसे खंडन उसने प्रथम भागके अंतमें किया है।

वि. ३६ में वह उद्देशदर्शक कारणका निषेध इस प्रकारके कारणको निमित्त कारण बतलाकर करता है। जब दो घटनाएं एकके पीछे दूसरी आती हैं, तब इसका अर्थ यह नहीं कि एक दूसरीका प्रयोजन है। एक दूसरीका निमित्त कारण तो अवश्य है, क्योंकि प्रथम घटनाके आवश्यक स्वभावसे दूसरी घटना प्राप्त होती है। 'ऐसा कोई कारण नहीं जिसके स्वभावसे कुछ कार्य न होता हो।'+(वि. ३६) 'तथा कथित उद्देशदर्शक कारण मानवीय इच्छाके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। ... रहनेके लिये घरकी इच्छा होती है और यह इच्छा उद्देशदर्शक कारण समझी जाती है जब कि वास्तवमें यह विशिष्ट इच्छा निमित्त कारणके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।'*

स्पिनोझाके पहिले उद्देशदर्शक कारणका निषेध फ्रांसिस बेकनने किया था। परंतु बेकनने पदार्थ विज्ञान शास्त्रके क्षेत्रसे इसका निर्वासन करके अध्यात्मशास्त्रमें इसकी उपयुक्तताको स्वीकार किया था। लेकिन स्पिनोझाने आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी इसके लिये कोई स्थान न रखा। नीतिशास्त्रके प्रथम भागके अंतमें, परिशिष्टमें, स्पिनोझा प्रथम सामान्य लोग क्या क्या गलत सलत समझ बैठे हैं इसका उल्लेख करके फिर उनका खंडन करता है। 'इस प्रकारके समस्त मतोंका मूल सर्व साधारण लोगोंकी इस समझमें है कि निसर्गमें समस्त वस्तुएं मनुष्यकी तरहही कुछ न कुछ उद्देश लेकर काम करती हैं। इसमें तो किसीको सन्देहही नहीं होता कि ईश्वर स्वयं समस्त वस्तुओंको एक निश्चित उद्दिष्ट और लक्ष्यकी ओर ले जाता है (क्योंकि यह कहा जाता है कि ईश्वरने सब वस्तुएं मनुष्यके लिये बनाई हैं और मनुष्यको इसलिये बनाया है कि वह उसकी

× Epistola 43

+ नी. शा. भा. १ वि. ३६   * नी. शा. भा. ४ उपोद्घात

*

आराधना करे)।"

इस लम्बे विवेचनको स्वयं स्पिनोझाने तीन अंशोंमें विभाजित किया है। प्रथम अंशमें लोग इस बातमें इतने विश्वासप्रवण क्यों हैं यह बतलाया है। दूसरे अंशमें इस धारणाको युक्तिसे भ्रांत बतलाया है। तृतीय अंशमें इस विश्वासने किन किन गलत-फहमियोंको जन्म दिया है इसका विचार किया है।

१. 'इस बातमें किसीको विवाद नहीं होगा कि सब मनुष्य वस्तुओंके कारणोंका अज्ञान लिये हुए ही जन्मते हैं, और सबको अपने लिये उपयोगी बातें प्राप्त करनेकी अभिलाषा रहती है, और इसका उन्हें ज्ञान भी रहता है। उनकी इच्छाका और अभिलाषाओंके इस ज्ञानका पहिला फल यह होता है कि वे अपने आपको स्वतंत्र समझने लगते हैं और अपने अज्ञानके कारण स्वप्नमें भी उन कारणोंका विचार नहीं आता जो उनको इन अभिलाषाओं और इच्छाओंके मूलमें हैं। दूसरा फल यह होता है कि वे अपनी सारी चेष्टाएं किसी प्रयोजनके लिये ही–जो उनको उपयोगी और अभिलषित हो– समझने लगते हैं। इस प्रकार वे घटनाओंके प्रयोजनको जानना चाहते हैं और इस जानकारी के साथही उनके सब संदेह मिट जाते हैं। यदि इन प्रयोजनोंका मूल बाहर न मिला तो वे हठात् अपनी ओर दृष्टि डालते हैं और उस घटनाका प्रयोजन स्वयंकी दृष्टिसे देखनेकी कोशिश करते हैं। इस प्रकार वे दूसरोंके विषयमें अपने स्वभावसे निर्णय कर लेते हैं। भीतर और बाहर उपयोगिताकी इस तलाशके कारण उदा. आंखें देखनेके लिये हैं, दांत चर्बण करनेके लिये, सूर्य प्रकाशके लिये इ. वे समस्त प्रकृतिको इन सुविधाओंको प्राप्त करनेका साधन समझ बैठते हैं। चूंकि ये सुविधाएं उनकी स्वयंकी बनाई हुई नहीं हैं इसलिये आगे चलकर वे किसी ऐसे कर्ता या शास्तामें विश्वास करते हैं जो मनुष्यकी भांति स्वतंत्र है और इन सब बातोंकी रचना मनुष्यकी सुविधाकी दृष्टिसे करता है। इस शास्ताकी कल्पना वे अपने स्वभावके अनुसार ही करते हैं, जिसके फलस्वरूप वे यह समझते हैं कि ईश्वरने सब कुछ मनुष्यके उपयोगके लिये बनाया है ताकि वह (मनुष्य) ईश्वरकी आराधना अभ्यर्चना द्वारा ईश्वरसे बंधा रहे। इसलिये प्रत्येकने ईश्वरकी पूजाके भिन्न भिन्न प्रकार निकाल लिये जिनका उद्देश यह है कि ईश्वर औरोंसे उन्हें अधिक प्रेम करे और समस्त प्रकृतिको उनकी अंधी वासनाओं और कभी न अघाने-वाली तृष्णाके तृप्त्यर्थ लगा दे। होते होते ये दुराग्रह अंध विश्वासका रूप धारण करके मानव मनमें बद्ध मूल हो गये हैं। इसलिये प्रत्येकने उद्देशदर्शक कारणोंको समझने समझानेका खूब उत्साहसे यत्न किया है। परंतु अपने इस यत्नके द्वारा कि प्रकृति कुछ भी काम व्यर्थ नहीं करती– मनुष्यकी दृष्टिसे– मानो वे यही सिद्ध कर सके हैं कि प्रकृति ईश्वर, और मनुष्य सबके सब पागल हैं। कृपया इसके परिणामकी ओर तो ध्यान दीजिये। प्रकृतिमें सुविधाओंके साथ उन्हें कुछ असुविधाएं मिलना भी जरूरी हैं यथा आंधी, तूफान, भूकम्प, रोगादि। यह सब देखकर उनने यह कह डाला कि मनुष्यके प्रमादके कारण या आराधनाकी किसी त्रुटिके कारण ईश्वरीय कोपकाही यह फल है। यद्यपि प्रतिदिन असंख्य उदाहरणों द्वारा अनुभव इस बात का प्रतिरोध करके यह दिखलाता है कि सुदैव या दुर्दैव धार्मिक अधार्मिक सबके सिर समान रूपसे आते हैं, तथापि ये अपना बद्धमूल दुराग्रह न छोडकर अपने अज्ञानकी रक्षा करते हैं; परंतु इस विचार जालको नष्ट करके नये सिरेसे विचार नहीं करते। वे इस बातकी दुहाई देते हैं कि ईश्वरका निर्णय मानव बुद्धिकी समझसे बाहर हैं। शायद अपने इस सिद्धांतके द्वारा वे सत्यका मुंह सदाके लिये बंद कर दिये होते यदि गणित शास्त्रने आकृतियों (Figures) उद्देशदर्शक कारण निरपेक्ष गुणधर्म और तत्वादिके विवेचन द्वारा यथार्थताकी दूसरी कसौटी उपस्थित न की होती।

(२) " अब मैं पहिले प्रश्नका पर्याप्त विचार कर चुका। इससे अधिक विस्तार पूर्वक यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रकृतिका कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं होता और उद्देशदर्शक कारण मनुष्यके मन गढंत मात्र हैं। यह उन सब विधानोंसे स्पष्ट है जिन में मैंने यह बतलाया है कि प्रकृतिमें प्रत्येक वस्तु एक प्रकारकी आवश्यकताके साथ और अत्यंत पूर्णता लिये हुए होती है।"

द्वितीय विभागमें स्पिनोझाने उद्देशरूप कारणके खंडनकी चार युक्तियां दी हैं। पहिली युक्ति यह है कि जो लोग उद्देश या प्रयोजनको साधनोंके पूर्ववर्ती मानते हैं वे " प्रकृतिको एकदम उलट पुलट कर देते हैं, " कारण वे ईश्वर द्वारा अव्यवहित रूपसे उत्पादित वस्तुओंका अस्तित्व अंतमें उत्पन्न की हुई वस्तु-ओंके लिये बतलाते हैं। " जो वस्तुतः कारण है वह इस मतमें कार्य और जो कार्य है वह कारण समझा जाता है। जो निसर्गतः प्रथम है वह इस मतमें अंतिम है और जो सर्वोच्च और अत्यंत पूर्ण है वह अत्यंत अपूर्ण है। " (२) यह मत ईश्वरकी पूर्णताकोही निकाल लेता है क्योंकि यदि ईश्वर किसी

उद्देशके लिये काम करता है तो अवश्यही वह उस वस्तुको चाहता है जिसकी उसमें न्यूनता है।... ये लोग जगदुत्पत्तिसे पहिले ईश्वरके अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई उद्देश बतलानेमें असमर्थ हैं जिसको लेकर ईश्वर कार्य करे। अतएव उनको यह मानना पडेगा– स्पष्टही वे माननेके लिये बाध्य हैं– कि ईश्वरमें उन बातोंकी न्यूनता थी जिनकी प्राप्तिके लिये उसने साधन बनाए; और भी आगे, उसने उनकी इच्छा की। (३) तीसरी युक्ति संप्रदाय वादियोंके ईश्वरीय संयोगके सिद्धांत (Theory of the concurrence of God) का खंडन करती है।

उदा. "यदि छत परसे किसीके सिरपर एक पत्थर गिरता है और उसके प्राण हरण हो जाते हैं तो ये लोग अपने नये तरीकेसे यह सिद्ध करेंगे कि वह पत्थर उस मनुष्यकी जान लेनेके लिये ही गिरा; क्योंकि यदि ईश्वरीय इच्छासे वह उसी उद्देशको लेकर नहीं गिरता तो केवल संयोगसे इतनी घटनाएं एक साथ कैसे उपस्थित हो सकती थीं? (और प्रायः घटनाओंके ऐसे संयोग तो अनेक होते हैं)। शायद आप यह उत्तर देंगे कि यह घटना दूसरी बातोंके कारण हुई है, यथा हवा वह रही थी, और वह मनुष्य उस रास्तेसे जा रहा था। परंतु ये लोग इस बातपर अड जाएंगे कि हवा क्यों बह रही थी और वह मनुष्य उस रास्तेसे उसी समय क्यों जा रहा था... इसका भी आप जबाब देंगे तथापि वे एक कारणके बाद दूसरे कारणके विषयमें प्रश्नोंका पीछा पकड लेंगे जब तक कि आप ईश्वरेच्छाकी ओट न लेलेंगे या दूसरे शब्दोंमें अज्ञान के उस शरण स्थान की (४) चौथी युक्ति योजना पूर्वक रचनाके विरुद्ध है जिसका प्रमाण मनुष्य शरीरकी बनावटके रूपमें दिया जाता है। "जब वे मनुष्य शरीरकी बनावट या गढनको गौरसे देखते हैं तब वे दंग रह जाते हैं और इतने बडे कला पूर्ण कार्यके कारणोंसे अनभिज्ञ होनेके कारण इस निर्णयपर पहुंचते हैं कि इसकी रचना यांत्रिक स्वरूप (Mechanical) की न हो करके दैवी और अलौकिक चातुरी द्वारा हुई है।"

इससे आगेकी पंक्तियाँ आत्मवृत्तात्मक हैं (Autobiographical)। "इसलिये जो कोई चमत्कार या करामातोंके सच्चे कारण खोजना चाहता है और प्रकृतिस्थ असाधारण बातों या प्राकृतिक चमत्कारकी ओर मूर्खकी नाई टकटकी न बांधकर एक बुद्धिमान मनुष्यकी भांति समझनेकी कोशिश करता है, वह उन लोगोंके द्वारा जिनको सामान्य लोग देवता और प्रकृतिका अर्थ लगानेवाले समझकर पूजनीय मानते हैं, अधार्मिक नास्तिक ठहराया जाकर बदनाम किया जाता है। ऐसे मनुष्य यह जानते हैं कि अज्ञानके दूर होनेके साथ ही वह अचरज (Wonder) भी निकल जायगा जो उनकी 'आप्तता' या 'अधिकार (Authority)को सिद्ध करने और उसको बनाए रखनेका एक मात्र साधन है।"

तृतीय विभागमें स्पिनोझाने यह बतलाया है कि उद्देशरूप कारणकी कल्पनाने और इस विश्वासने कि सब वस्तुएं मनुष्यके लिये ही बनाई गई हैं दूसरी अनेक कल्पनाओंको जन्म दिया है यथा अच्छा बुरा, क्रम व्यतिक्रम, व्यवस्था अव्यवस्था, सुरूप कुरूप इ.। इसी प्रकार मनुष्यके स्वतंत्र कर्ता होनेकी कल्पनाने निंदा स्तुति पापपुण्यादिको उत्पन्न किया है। इसके खंडन द्वारा स्पिनोझा यह प्रस्थापित करना चाहता है कि अच्छा बुरा इत्यादि अपने भिन्न रूपोंमें मनुष्य सापेक्ष है। ये सब कल्पनाएं किसी भी वस्तुका यथार्थ स्वरूप न बतलाकर अपना शुद्ध कल्पनामयरूप तो अवश्य बतलाती हैं। "प्रत्येक मनुष्य अपने मस्तिष्ककी हालतके अनुसार ही वस्तुओंके विषयमें निर्णय करता है या अपनी कल्पनाके विभिन्न रूपोंको ही यथार्थ वस्तुएं समझ बैठता है।" स्पिनोझाका मुख्य आक्षेप यह है कि लोग निरी कल्पनाओंमें उलझते हैं परंतु अपनी विचारशक्ति या विवेकको काममें नहीं लाते। यदि वे विवेकसे काम लें तो इन कल्पनाओंसे ऊपर उठकर गणितशास्त्र द्वारा प्रदर्शित दृष्टिकोणकी यथार्थताका उन्हें निश्चय हो जायगा।

बहुतसे आक्षेपक इस युक्तिवादका अवलंब करते हैं कि यदि सब बाते नितांत परिपूर्ण ईश्वरके स्वभावकी आवश्यकतासे होती हैं तो प्रकृतिमें इतनी अपूर्णताएं क्यों हैं? स्पिनोझा इनका खंडन यह कहकर करता है कि "वस्तुओंकी परिपूर्णताका लेखा उनके स्वयंके स्वभाव और शक्तिसेही कूतना चाहिये; वस्तुओंकी न्यूनाधिक पूर्णता मनुष्यके लिये उनकी अनुकूलता प्रतिकूलता या आल्हादकता अनाल्हादकताके अनुसार नहीं है।"

"जो लोग यह पूछते हैं कि ईश्वरने सभी मनुष्योंको ऐसा ही क्यों न बनाया कि वे सिर्फ विवेकका अनुसरण करते, उनके प्रति मेरा उत्तर है, इसीलिये कि ईश्वरके पास पूर्णताकी श्रेष्ठतमसे लगाकर निकृष्टतम तक हरेकश्रेणीको बनानेकी सामग्री की न्यूनता नहीं थी, या अधिक यथार्थ शब्दोंमें चूंकि उसकी प्रकृतिके नियम इतने विस्तीर्ण हैं कि वे अनंत बुद्धिकी कल्पनामें जो भी कुछ आ सकता है, उस सबको उत्पन्न करनेके लिये पर्याप्त हैं।

[प्रकरण १२]

शरीर और मन

' नीतिशास्त्र ' के प्रथम भागमें तात्विक विषयका निरूपण करके अब स्पिनोझा परिच्छिन्न विषयोंके विचारकी ओर अग्रसर होता है। द्वितीय भागका उपक्रम वह इन शब्दोंमें करता है। " अब मैं ईश्वरीय स्वभावके उन अनंत आवश्यक परिणामोंमेंसे कुछ परिणामोंके विचारकी ओर बढता हूं... जो हमें मानवीय मन तथा उसके निरतिशय सुखके ज्ञानके मार्गपर मानो हाथ पकड कर ले जाते हैं। ' इससे यह स्पष्ट होता है कि स्पिनोझाका तत्वज्ञान केवल बौद्धिक विचारात्मक न होकर पूर्ण रूपसे व्यावहारिक है। उसका उद्देश सिर्फ बौद्धिक जिज्ञासाकी तृप्ति न होकर तत्वज्ञानके द्वारा परम पुरुषार्थकी प्राप्तिही उसे अभीप्सित है। उसके तात्विक ग्रंथोंके समस्त अंग इसी मूल उद्देशमें पर्यवसित होते हैं। स्पिनोझाके संबंधमें यह कहा गया है कि उसको छोडकर अन्य कोई दार्शनिक अध्यात्म शास्त्र, नीतिशास्त्र, मानसशास्त्र और पदार्थ विज्ञानशास्त्रको एक दूसरेमें इतनी उलझनके साथ नहीं गूँथता।

'But no philosopher interweaves metaphysics, ethics, psychology and physics so inextricably as Spinoza. ×"

परंतु आपाततः दीखनेवाली यह उलझनभी एक निश्चित क्रमसे अपने अभीष्टकी ओर बढती हुई दिखाई देती है। पदार्थ विज्ञानशास्त्र, मानसशास्त्र, तर्कशास्त्र-- शरीरका सिद्धांत, मनका सिद्धांत और ज्ञानका सिद्धांत- ये सब प्रथम आचारशास्त्र (Theory of conduct) में मिलकर फिर अपने उद्देशकी भव्य झांकी दिखलाते हैं।

" Physics, psychology, logic, theory of body, theory of soul, theory of knowledge- meet together and culminate in theory of conduct. They are all systematically interconnected.+ "

तात्विक क्षेत्रमें साधनाकी दृष्टिसे स्पिनोझा मुख्यतः ज्ञानमार्गी है। विशुद्ध कर्मशीलता, भावनाओंका परिष्कार, नीतिमत्ता, सदाचार संपन्नता इ. सब यथार्थ ज्ञान द्वारा संपादनीय हैं। वेदांतकी तरह यहां भी प्रथम वस्तुके परोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति होती है जिससे अशास्त्रीय, अशोधित या मलिन बुद्धिके समस्त दोषोंका, समस्त एकांगिताओंका परिमार्जन होता है और साक्षात्कारात्मक चरम ज्ञानके लिये मार्ग खुल जाता है, जो स्वरूपतः ही पूर्णातिपूर्ण है। इस चरम ज्ञानके साथही चरम सुख और चरम शांतिकी प्राप्ति तथा मानवजीवनकी इतिकर्तव्यता की पूर्ति गोवत्सन्यायसे हो जाती है। यही ज्ञानकी परानिष्ठा है। जो इसको प्राप्त कर लेता है वही स्थितप्रज्ञ और मुक्त होता है। परंतु इस मोक्षरूपी सुमेरुके अत्युच्च शिखरपर पहुंचनेके पहिले स्वयं मनुष्य, उसके शरीर तथा मनका स्वरूप, उसके भ्रम-प्रमादादि, यथार्थ ज्ञान द्वारा उनकी निवृत्ति और मनकी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रसुप्त क्षमता इ. का विचार कर लेना आवश्यक है। इस खंडको ' वैज्ञानिक ' संज्ञा देनेका कारण यह है कि इसमें प्रतिपादित विषय मुख्यतः मनुष्यशास्त्र, मानसशास्त्र तथा भौतिक शास्त्र या विज्ञानसे संबंध रखते हैं।

ईश्वर और जीव

मनुष्य निसर्गका एक ऐसा पिंड है जिसमें ब्रह्मांडकी प्रतिकृति समाई हुई है। ' यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे ' (Microcosm and macrocosm) की यह कल्पना भारतकी तरह यूनानी तथा मध्ययुगीन दर्शनमें भली भांति प्रचलित थी। अतएव स्पिनोझाको भी यह पूर्ण रूपसे अवगत थी। नीतिशास्त्रके दूसरे भागके १-१३ विधानोंकी रचना स्पष्टही इस कल्पनाके आधार पर है। ❀ वि. १-९ में ब्रह्मांड (macrocosm) का विचार है और वि. १०-१३में पिंड या व्यष्टि मानवका विचार करके दोनोंके साम्यासाम्यका विवेचन किया गया है।

× The Ethics of Spinoza by Joachim p. 123 + Spinoza by Leon Roth p. 115.

❀ Philosophy of Spinoza, Vol. II. by Wolfson, pp. 7-8

ईश्वरमें विचार और विस्तारका स्वरूप

प्रथम भागमें कही हुई बातोंको दोहराकर स्पिनोझा द्वितीय भागके प्रथम विधानमें कहता है। "विचार ईश्वरका एक गुण है या ईश्वर विचार रूप वस्तु है।" ईश्वर विचार रूप है यह कहनेकी आवश्यकता स्पिनोझाको इसीलिये जान पडी कि ईश्वरमें कोई गुणगुणीभाव स्थापित न कर ले। गुणोंका ईश्वरमें स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे तो बुद्धि द्वारा आरोपित हैं। ईश्वर और विचार अभिन्न रूप हैं। इस विधानको स्पिनोझाने सत्तामूलक (ontological) तथा कार्यकारणभाव मूलक उभयविध प्रमाणोंसे सिद्ध किया है। जैसा कि हम तात्विक खंडमें देख आए हैं (प्रकरण ६)। प्रथम प्रमाणका स्वरूप यह है कि चूंकि हमारे मनमें अनंत विचार रूप सत्ताकी स्पष्ट और सुव्यक्त कल्पना है अतएव इसी अव्यवहित ज्ञानसे इसका अस्तित्व सिद्ध है। दूसरे प्रमाणका स्वरूप यह होगा कि चूंकि हमारे सम्मुख व्यक्तिगत विचार होते हैं अतएव इन विचारोंका आद्य विचार रूप कारण अवश्य होना चाहिये।

विचारके समानही "विस्तार ईश्वरका गुण है या ईश्वर विस्ताररूप वस्तु है।" विशिष्ट विस्तृत वस्तुओंका अस्तित्व भी ईश्वरमूलकही है। "इस विधानके प्रमाण उपर्युक्त विधानके समानही हैं।"×

अगले विधानोंमें ईश्वरका जगत्से संबंध तथा ईश्वरमें जगत् के ज्ञानके स्वरूपका विचार किया गया है। "ईश्वरमें अपने स्वयंके तत्वकी ही कल्पना नहीं है, किंतु उन सब वस्तुओंकी भी है जो उसके तत्वसे आवश्यकतया निकलती हैं।"+ इस विधानके स्पष्टीकरणमें स्पिनोझाने उन मध्ययुगीन दार्शनिकोंके मतोंका खंडन किया है जो ईश्वरकी शक्तिको स्वेच्छाचारी राजाओंकी शक्तिके समान स्वैर मानते थे। ऊपर हम देख चुके हैं कि स्पिनोझा इनका समावेश यदृच्छावादियोंमेंही करता है। स्पिनोझाके अनुसार स्वतंत्र इच्छा माननेसे यह आपत्ति आती है कि सृष्टि उत्पन्न करनेके पहिले ईश्वर अपनी शक्तिको काममें नहीं लाया था। "यह समझना कि ईश्वर अपनी शक्तिको या कार्य रूपमें अपने तत्वको काममें नहीं लाता यह कहनेके बराबर है कि ईश्वर अस्तित्वसे शून्य है।" "इस तरह ये लोग ईश्वरको मनुष्यके समान समझ कर उसमें अनेक दोषोंका बरबस आरोप करते हैं। क्योंकि शक्तिको काममें न लानेका अर्थ यह भी हो सकता है कि ईश्वरके सामने ऐसी कठिनाइयां थीं जिनको वह हल नहीं कर सकता था।" "स्पिनोझा यहांपर भी यही कहना चाहता है कि जगत् ईश्वर से आवश्यक रूपसे निकला है, इच्छा या योजनापूर्वक नहीं। "जितनी आवश्यकतासे ईश्वर निजबोध रूप है उतनी आवश्यकतासे ही वह अनंत बातें अनंत प्रकारसे करता है, क्योंकि उसमें अनंत गुण हैं। जिस प्रकार उसे अपने आपका ज्ञान है उसी प्रकार अपनेसे निकली हुई समस्त वस्तुओंका ज्ञान भी है।'

परंतु 'ईश्वरको विशिष्ट या परिच्छिन्न वस्तुओंका ज्ञान है' इस कथनमें परिच्छिन्न वस्तुओंके स्वरूपके कारण तीन आपत्तियां आती हैं जिनका विचार अब किया जायगा।

पहिली आपत्ति यह है कि ईश्वर तो निष्कल है, वह अनंत प्रकारोंको कैसे जानता है? क्या वस्तुओंकी अनेकताके कारण ईश्वरके ज्ञानमेंभी अनेकता नहीं आती? इस आपत्तिका समाधान चतुर्थ विधानके अनुसार यह है कि ईश्वरका यह ज्ञान एक और अखंड है, इसलिये ईश्वरमें अनंत वस्तुओंकी एकही कल्पना है। यद्यपि यह एक कल्पना 'विचार' का अव्यवहित प्रकार मात्र है, तथापि यह ईश्वरीय तत्वका आकलन सिर्फ 'विचार' इस गुणकी मर्यादामें ही न करके विस्तार तथा अन्य अनंत गुणोंके द्वारा भी करती है। इसी प्रकार यह ईश्वरीय तत्वसे निकलनेवाली समस्त वस्तुओंका– फिर चाहे वे विचारके प्रकार हों या विस्तारके या अन्य अज्ञात गुणोंके प्रकार हों– आकलन करती है। इसका मतलब यह होता है कि विचार अपनी क्रियाशीलतामें विस्तार तथा अन्य गुणों और उनके प्रकारोंका आकलन करता है। परंतु इस प्रकारका आकलन ईश्वरके लिये ही संभव है। मनुष्यके द्वारा इन गुणोंका आकलन बिलकुल भिन्न तरहका होता है। गुणोंका हम जो आकलन करते हैं वह तो प्रत्येक गुणका स्वतंत्र रूपसे अन्य गुण निरपेक्षही कर सकते हैं। ईश्वरको हम विचार या विस्तार इन दो विविक्त रूपोंमेंही देख सकते हैं। हमारे लिये इन दो स्वतंत्र गुणोंसे दो प्रकार मालिकाएं आवश्यक रूपसे निकलती हैं; विचार रूप ईश्वरसे सिर्फ विचारके प्रकार निकलते हैं विस्तार रूप ईश्वरसे विस्तार मात्रके प्रकार निकलते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंसे तत्तत्प्रकार निकलते हैं। ईश्वर किसी भी गुणसे निकलनेवाले

× नी. शा. भा. २ वि. २ + वही, वि, ३

प्रकारोंका कारण उसी गुण रूपमें है, अन्य गुण रूपमें नहीं।×

परंतु ईश्वरमें ये गुण एक दूसरेसे पृथक् नहीं हैं। विचार रूप तत्व और विस्तार रूप तत्व वस्तुतः एक ही है; कभी हम उसे विचार रूपमें देखते हैं तो कभी विस्तार रूपमें, परंतु उभय रूपमें देखी जानेवाली वस्तु एकही होती है। इसी तरह विस्तारका प्रकार और उस प्रकारका विचार दो रूपोंमें व्यक्त की जानेवाली एकही वस्तु है। गुण या प्रकार रूपमें विचार और विस्तार एकही वस्तुके दो रूप होनेके कारण एकके साथ दूसरा लगा हुआ ही रहता है। "विचारोंका क्रम और संबंध वही होता है जो क्रम और संबंध वस्तुओंका होता है।"+

"The order and connection of ideas is the same as the order and connection of things."+

एक दूसरेपर पारस्परिक क्रिया न करते हुए भी शरीर और मन, चूंकि वे आपाततः दो दीखनेवाले गुणोंके परंतु मूलमें एकही वस्तुके प्रकार हैं अतएव वे ऐसे ढंगसे सहनियमित हैं (Co-ordinated) कि उनकी क्रियाओंमें भी पूर्ण सहचार होता है। यद्यपि विशिष्ट गुणोंके प्रकारोंका कारण तत्तद्गुणोपहित ईश्वर होता है तथापि गुण और प्रकार ईश्वरमें तत्वतः भिन्न नहीं हैं। भिन्नता या पृथकता तो वैचारिक मर्यादामेंही है।

जब वस्तुओंको विचारके प्रकाररूपतया देखा जाता है तब वस्तुओंका क्रम और उनके कारणोंका संबंधभी विचार इस गुण रूपसेही समझा जाना चाहिये। इसी प्रकार जब वस्तुओंको विस्तारके प्रकाररूपतया देखा जाता है तब उन वस्तुओंका क्रम तथा उनके कारणोंके संबंधका विचार भी विस्तार इस गुण रूपसेही किया जाना चाहिये।

इसी विधान (७) के स्पष्टीकरणमें स्पिनोझा कहता है कि विस्तारका प्रकार और उस प्रकारका विचार एकही वस्तुकी दो भिन्न रूपोंसे या दोन भिन्न गुणोंके द्वारा अभिव्यक्ति है, इस बातकी कुछ धुंधली, अस्पष्टसी कल्पना यहूदी दार्शनिकोंकी इस उक्तिमें मिलती है कि ईश्वर, उसकी बुद्धि, तथा उस बुद्धिके विषय एकही हैं। 'यथा प्रकृतिमें जो वृत्त (Circle) है और ईश्वरमें अस्तित्ववान वृत्त की जो कल्पना है वह भिन्न गुणोंके द्वारा अभिव्यक्त की हुई एकही वस्तु है।" वृत्तकी कल्पनाका ईश्वर विचार रूपसे कारण है और स्वयं वृत्तका विस्तार रूपसे कारण है।

'ईश्वरको विशिष्ट वस्तुओंका ज्ञान होता है' यह कहनेमें दूसरी आपत्ति यह है कि विशिष्ट वस्तुओंका प्रागभाव होता है, फिर उत्पत्ति होती है, फिर लय होता है। अतएव यह मनना पडेगा कि ईश्वरको वस्तुओंका उनकी उत्पत्तिसे पहिले भी ज्ञान है। परंतु इसका मतलब तो यह होता है कि ईश्वरको उन वस्तुओंकाभी ज्ञान है जिनका अस्तित्वही नहीं और अस्तित्वविहीन वस्तुओंका ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है क्योंकि यहां ज्ञेयकाही अभाव है। औरभी, यदि ऐसी वस्तुको अस्तित्व प्राप्त हो जाय तो ज्ञाताके तत्वमें भी बदल मानना पडेगा। स्पिनोझाके अनुसार इस आपत्तिका समाधान यह है कि सर्व प्रथम हमें स्वरूपतः अस्तित्वहीन या असत् वस्तुओंमें (यथा समभुज चतुष्कोण वृत्त या शशशृंग) और भावी अस्तित्व-क्षम वस्तुओंमें अंतर करना चाहिये। जिस प्रकार असत् वस्तुओंकी उत्पत्ति न कर सकनेके कारण ईश्वरकी सर्व शक्तिमत्ता भंग नहीं होती उसी प्रकार इस तरहकी वस्तुओंके ज्ञानाभावसे उसकी सर्वज्ञतामें बाधा नहीं पहुंचती। रहीं भावी अस्तित्व क्षम वस्तुएं या उनके तत्व। इनका ज्ञान तो ईश्वरको होता ही है कारण इनका ज्ञान ईश्वरकी अनंत कल्पनामें उसी प्रकार है जिस प्रकार ये वस्तुएं या इनके तत्व ईश्वरके गुणोंमें समाए हुए॰ हैं। ये वस्तुएं जब अस्तित्वमें आती हैं या जब इनकी स्थिति होती है, तब इनकी कल्पनाओंका भी अस्तित्व होता है, उनकी स्थिति होती है।

ईश्वरको विशिष्ट वस्तुओंकाभी ज्ञान होता है, कारण इन सबका एकत्रित समावेश ईश्वरकी अनंत कल्पनामें होजाता है। ईश्वरका ज्ञान इन वस्तुओंसे जन्य है यह बात नहीं; स्वयं इन वस्तुओंकी उत्पत्ति ईश्वरकी कल्पनासे है।

ईश्वरको विशिष्ट वस्तुओंका ज्ञान होनेमें तीसरी आपत्ति यह है कि अनंत ईश्वरको परिच्छिन्न वस्तुओंका ज्ञान किस प्रकार होता है। इसका उत्तर उसीके समान है जो अनंतसे परिछिन्नकी उत्पत्तिके विषयमें दिया जा चुका है। प्रत्येक व्यक्तिगत वस्तुकी कल्पनाका प्रत्यक्ष कारण दूसरी व्यक्तिगत वस्तुकी कल्पना है, दूसरी का तीसरी, इस प्रकार कार्य कारणकी

× नी. शा. भा. २, वि. ५-६ + वही वि. ७ ॰ वही, वि. ८

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध.